Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आस्था के चरण

डॉ० नगेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust

आस्था के चरण

डॉ० नगेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आस्था के चरण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आस्था के चरण

○○

डॉ॰ नगेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

Acc No. 34727
Cost Rs 50.00
Date

AASTHA KE CHARAN : Dr. NAGENDRA
Price : Rs. 50.00

H 80.9
N 13 A

मूल्य : पचास रुपये
प्रथम संस्करण : १९६८

आवरण : हरिपाल त्यागी

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२/३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक : हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अपने प्रियजन-परिजन
के
उस अंतरंग वृत्त को
साभार
जिनके स्नेह का शोषण कर
मेरी रचना-शक्ति निरन्तर पुष्ट
होती रही है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुक्रम

आत्म-निरीक्षण १

खण्ड १

(क) अनुसंधान	रचना-वर्ष	
१. अनुसंधान का स्वरूप	१९५३	४५
२. अनुसंधान और आलोचना	१९५९	५२
३. हिन्दी में शोध की कुछ समस्याएं	१९५५	६५
४. आधुनिक साहित्य और अनुसंधान	१९६५	७०
५. नवीन शोध-विज्ञान और हिन्दी-साहित्य के अनुसंधान में उसकी उपयोगिता	१९६६	७३

(ख) सिद्धांत		
१. मेरी साहित्यिक मान्यताएं—१	१९६६	८०
२. मेरी साहित्यिक मान्यताएं—२	१९६६	८६
३. मेरी साहित्यिक मान्यताएं—३	१९६६	९१
४. साहित्य का धर्म	१९६०	९५
५. साहित्य के मानदण्ड	१९५४	९७
६. साहित्य का स्तर	१९६५	१००
७. साहित्य में आत्माभिव्यक्ति	१९४६	१०३
८. साहित्य की प्रेरणा	१९४३	१०८
९. साहित्य में कल्पना का उपयोग	१९३९	११४
१०. कविता क्या है ?	१९६०	११८

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

११. सौंदर्यानुभूति का स्वरूप	१९६६	१२३
१२. काव्य-बिम्ब : स्वरूप और प्रकार	१९६६	१३३
१३. भारतीय काव्यशास्त्र में बिम्ब-विषयक संकेत	१९६६	१४५
१४. मनोविज्ञान में बिम्ब का स्वरूप	१९६६	१५०
१५. बिम्ब-रचना की प्रक्रिया	१९६६	१६३
१६. ये उपमान मैले हो गए हैं !	१९६६	१६८
१७. काव्य-बिम्ब और काव्य-मूल्य	१९६६	१७७
१८. नव-निर्माण : साहित्य की व्यापकता के उपादान	१९५०	१८२
१९. साहित्य और समीक्षा	१९४०	१८६
२०. नाटक का प्रेक्षक और समीक्षक	१९६४	१९२
२१. कहानी और रेखाचित्र	१९४९	२००
२२. भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र	१९४८	२०६
२३. आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के संदर्भ में	१९६४	२१७

खण्ड २

(क) प्रवृत्तियां : हिन्दी-कविता

१. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियां	१९५०	२२५
२. छायावाद	१९४३	२२९
३. राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता	१९५०	२३५
४. गांधी-दर्शन और काव्य	१९५०	२४८
५. वैयक्तिक कविता	१९५०	२५२
६. प्रगतिवाद	१९४४	२६५
७. प्रयोगवादी कविता	१९४८	२७३

(ख) प्रवृत्तियां : हिन्दी-साहित्य

१. भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता	१९५७	२८१
२. ब्रज-भाषा का गद्य (टीका-साहित्य)	१९५३	२८७
३. हिन्दी में हास्य की कमी	१९४२	२९२
४. हिन्दी-उपन्यास	१९४१	२९६
५. स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी-साहित्य	१९५४	३०४
६. हिन्दी का अपना आलोचनाशास्त्र (संभावनाएं)	१९५५	३१२
७. आलोचना की आलोचना	१९४०	३१८
८. आधुनिक हिन्दी-काव्य के आलोचक	१९४०	३२१
९. स्वतन्त्रता के पश्चात हिन्दी-आलोचना	१९५६	३२९

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खण्ड ३

(क) कृतिकार

१. तुलसी और नारी	१९५२	३३९
२. रीतिकाल के कवि-आचार्यों का योगदान	१९५७	३४५
३. केशवदास का आचार्यत्व	१९५३	३५२
४. विहारी की बहुज्ञता	१९५३	३६३
५. मैथिलीशरण गुप्त का काव्य : एक मूल्यांकन	१९६५	३६८
६. कवि सियारामशरण गुप्त	१९४९	३८०
७. पन्त का नवीन जीवन-दर्शन	१९४७	३९१
८. भगवतीचरण वर्मा के काव्य-रूपक	१९५५	४०६
९. बच्चन की कविता	१९५०	४१०
१०. यौवन के द्वार पर	१९४०	४२२
११. गिरिजाकुमार माथुर	१९६२	४३१
१२. प्रसाद के नाटक	१९४०	४३९
१३. गुलेरीजी की कहानियां	१९४०	४४६
१४. प्रेमचन्द	१९४९	४५१
१५. वाणी के न्याय-मन्दिर में	१९३९	४५९
१६. डॉ० श्यामसुन्दरदास की आलोचना-पद्धति	१९४६	४६६
१७. आचार्य शुक्ल और डॉक्टर आई० ए० रिचर्ड्स : एक तुलनात्मक अध्ययन	१९४०	४७३
१८. दिनकर के काव्य-सिद्धान्त	१९४३	४७९
१९. महादेवीजी की आलोचक-दृष्टि	१९४४	४८३
२०. हाली के काव्य-सिद्धान्त	१९६३	४८८
२१. टी० एस० इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद	१९४६	५०४
२२. फ़ॉयड और हिन्दी-साहित्य	१९५३	५११
२३. रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव	१९६१	५१६
२४. हिन्दी-साहित्य पर नेहरू का प्रभाव	१९६४	५२५

(ख) कृति

१. कामायनी के अध्ययन-अध्यापन की समस्याएं	१९६०	५३२
२. कामायनी का महाकाव्यत्व	१९६०	५३८
३. कामायनी का अंगी रस	१९६०	५४५
४. कामायनी में रूपक-तत्त्व	१९४९	५५३
५. कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि	१९६०	५६३
६. जय भारत	१९५२	५७२
७. हिमकिरीटिनी और वासवदत्ता	१९४२	५७६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

८. दीप-शिखा	१९४४	५८१
९. उन्मुक्त	१९४०	५८७
१०. कुरुक्षेत्र	१९४६	५९३
११. उर्वशी	१९६१	५९९
१२. इरावती	१९५३	६१०
१३. त्यागपत्र और नारी	१९३९	६१६
१४. सुखदा	१९५३	६२१
१५. अज्ञेय और शेखर	१९४२	६२५
१६. राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास	१९४६	६३१
१७. 'वोल्गा से गंगा' और 'बिल्लेसुर बकरिहा'	१९४३	६३६
१८. पंतजी की भूमिकाएं—(क) पल्लव का प्रवेश	१९५४	६४२
(ख) गद्य-पथ		६५०
१९. दीप-शिखा की भूमिका	१९५९	६५४
२०. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल	१९५३	६५८

खण्ड ४

(क) चित्र

१. कवीन्द्र के प्रति	१९४१	६६३
२. राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद	१९६६	६६५
३. दद्दा : महान् व्यक्तित्व	१९६५	६७४
४. दादा : स्वर्गीय पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	१९६०	६८२
५. श्रीमती महादेवी वर्मा	१९६६	६८९
६. कवि सियारामशरण गुप्त के अंतिम दिन	१९६३	६९७
७. रेडियो में पंतजी का आगमन	१९६०	७०३
८. प्रोफ़ेसर सी० बी० महाजन	१९६६	७०७
९. बीबी—होमवती देवी : एक संस्मरण	१९५१	७१३
१०. मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन	१९५४	७१८
११. आत्म-विश्लेषण (शिकायत है नगेन्द्र को डॉ० नगेन्द्र से)	१९६६	७२३

(ख) समस्याएं

१. साहित्य की शिक्षा (अभिभाषण–१)	१९६१	७२७
२. राष्ट्रीय संकट और साहित्य : शासन और हिन्दी (अभिभाषण–२)	१९६२	७३७

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आत्म-निरीक्षण

मेरे प्रकाशक का अनुरोध है कि मैं अपने इस 'सम्पूर्ण निबंध-संग्रह' की प्रस्तावना लिखूं। प्रस्तावनाएं लिखना मेरा व्यवसाय है, पर अपने ग्रंथ की प्रस्तावना लिखना आत्म-परीक्षा से कम नहीं है। यों, मैं आत्म-परीक्षा का भी अनभ्यस्त नहीं हूं, प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति को आत्म-परीक्षण का रोग होता है और मैं अक्सर इससे परेशान रहता हूं। पर वह आत्म-परीक्षण अप्रकाशित ही रहता है, जब कि यह आत्म-परीक्षण प्रकाशन के लिए है। अपनी दुर्बलताओं की चोट मन में सहकर बाहर से स्वस्थ और सबल बने रहने का दम्भ करना आसान है, पर उन दुर्बलताओं और उनकी यातना को व्यक्त करना अपने-आप में एक विषम यातना है। उधर, अपनी उपलब्धियों पर आत्मचिंतन के क्षणों में विचार कर आगे के लिए उनसे प्रेरणा प्राप्त करना भी सहज प्रक्रिया हो सकती है, पर इन उपलब्धियों और इनसे प्राप्त आत्म-परितोष की अभिव्यक्ति को, चाहे वह कितनी ही विनम्र क्यों न हो, पाठक कैसे सह लेगा; क्योंकि संतों के इस देश में तो सिद्धांत में आत्म-निन्दा की और व्यवहार में पर-निन्दा की ही प्रथा है। इसलिए काम यह कठिन है, और शायद अनुचित भी, पर ज़िन्दगी में बहुत-से कठिन और अनुचित काम किए हैं—एक यह भी सही।

भारतीय योग-साधना में परकाया-प्रवेश का विधान है—जिसके अनुसार साधक योग-बल से दूसरे की काया में प्रवेश कर उसके अनुभवों का समभागी बन जाता है। दूसरे के शरीर में आँख बचाकर घुस जाना और उसके अर्जित कर्म-फल का भोग कर लेना दुष्कर होने पर भी घाटे का सौदा नहीं है। पर योग में एक और भी क्रिया का विधान है जो कहीं अधिक कठिन है—वह है अपने भोक्ता अहं को—अपने प्रमातृ रूप को—द्रष्टा अहं से बाहर करके देखना। मेरा आलोचक अब तक परकाया-प्रवेश का तो काफ़ी अभ्यस्त हो चुका है, पर आज उससे क्या काम चलेगा? आज तो मुझे अपने आलोचक को निबन्धकार से पृथक् कर उसका विचार करना है। 'चिदम्बरा' या 'उर्वशी' के स्रष्टा के मन में घुसकर उसके रंगीन अनुभवों का भोग कर लेने में क्या हानि थी? पर अपने व्यक्तित्व के एक अंग को अलग कर तटस्थ भाव से उसका विचार करना कृच्छ्र साधना है और आज मैं पूरी ईमानदारी से उसी का उपक्रम कर रहा हूं।

१. समीक्षात्मक निबंध का स्वरूप

आदत से मजबूर होकर सिद्धांत-विवेचन से ही आरम्भ करता हूं। 'समीक्षात्मक निबंध' का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है जो उसे एक ओर 'ललित निबंध' और दूसरी ओर 'समीक्षा' से पृथक् करता है। 'ललित निबंध' में निबंध-कला का लालित्य प्रमुख होता है और वस्तु-तत्त्व प्रायः गौण रहता है या कम-से-कम कला-तत्त्व का सापेक्षिक महत्त्व अधिक रहता है। समीक्षा अथवा 'समीक्षात्मक लेख' में विषय का प्रतिपादन प्रमुख होता है और कला-तत्त्व प्रायः नगण्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रहता है : प्रतिपादन शैली के वैशद्य से अधिक कला-तत्त्व उसके स्वारूप्य को बाधित करने लगता है।—इधर 'समीक्षात्मक निबंध' में वस्तु-तत्त्व और कला-तत्त्व का सामंजस्य रहता है, विषय का निरूपण आरम्भ से अंत तक उसका लक्ष्य रहता है, इसमें संदेह नहीं, परन्तु वह निबंध की कला में वेष्टित रहता है। 'समीक्षात्मक निबंध' रूप की दृष्टि से निबंध का ही एक भेद है, और सही शब्दों में, विचार-प्रधान निबंध का ही एक भेद है, जिसका विषय प्रत्ययात्मक चिंतन का अंग न होकर साहित्य-चिंतन का ही अंग होता है। उसकी रचना भी 'ललित निबंध' की ही तरह की जाती है—उसमें रचनाकार का व्यक्तित्व निरंतर सक्रिय तथा सजग रहता है। उसका विषय-विवेचन वस्तुपरक न होकर आत्मपरक होता है; निबंधकार की सर्जक कल्पना उसे एक विशिष्ट रूप-आकार प्रदान करती है। जिस प्रकार विचार-प्रधान निबंध सर्जनात्मक चिंतन को अपने सीमित कलात्मक आयामों में रूपायित करता है, इसी प्रकार समीक्षात्मक निबंध भी अपने संक्षिप्त कलेवर में सर्जनात्मक आलोचना को कला-रूप प्रदान करता है। इस प्रकार वह लेख न होकर कृति होता है।

जिस प्रकार प्रबंध-कवि के लिए मुक्तक काव्य की रचना आवश्यक होती है, इसी प्रकार समालोचक के लिए भी क्रमबद्ध विवेचना से विराम पाने के लिए मुक्तक आलोचना लिखना प्रायः अनिवार्य हो जाता है। उसके सामने मुक्तक आलोचना के प्रायः तीन वैकल्पिक माध्यम रहते हैं। वह या तो साहित्य के किसी विषय या कृति को लेकर 'ललित निबंध' लिखता है जिसमें कला-तत्त्व प्रमुख और वस्तु-तत्त्व केवल निमित्त रूप से रहता है, या फिर वह 'समीक्षात्मक लेख' लिखता है जिसमें विषय का वस्तुपरक निरूपण या विवेचन ही लक्ष्य होता है—लेख के रूप-सौष्ठव आदि की चिन्ता उसे नहीं रहती। इन दो के अतिरिक्त तीसरा विकल्प है 'समीक्षात्मक निबंध', जिसमें विषय के युक्तियुक्त प्रतिपादन के साथ कृति का रूप-सौष्ठव भी विद्यमान रहता है : यहां आलोचक का मूल प्रयोजन तो विषय-विवेचन ही होता है, परन्तु वह अपनी कृति की रूप-रचना के प्रति भी प्रायः उतना ही सचेत रहता है।

समीक्षा-रसिक इन तीनों विकल्पों का आवश्यकता और सुविधा के अनुसार प्रयोग करता है।

२. *गद्य की ओर*

मेरे साहित्यिक जीवन का आरम्भ कविता से हुआ। सन् १९३२-३३ से १९३७-३८ तक मैं कविता ही लिखता था और अपने सीमित वृत्त के भीतर कवि-रूप में मेरा अपना स्थान बन गया था। वृत्ति से अध्ययनशील होने के कारण अंगरेज़ी और हिन्दी आलोचना-साहित्य का अच्छा ज्ञान मैं तब तक अर्जित कर चुका था, पर निबंध अथवा समीक्षा लिखने की ओर मेरी विशेष रुचि नहीं थी। निबंध परीक्षा के समय ही प्रायः लिखे थे। भाषा पर अधिकार, कविता में प्रवृत्ति होने के कारण, तब भी अच्छा ही था और निबंध का विषय कल्पनात्मक होने पर परीक्षा में अच्छे अंक भी मिल जाते थे, पर कुल मिलाकर निबंध-रचना के प्रति मेरे मन में कोई विशेष उत्साह नहीं था। विचार-प्रधान निबंधों से मुझे डर लगता था और विषय के युक्तियुक्त प्रतिपादन का अभ्यास एकदम नहीं था। आज जब मेरा आलोचक मेरी निबंध-कला पर यह आक्षेप करता है कि तर्कपूर्ण प्रतिपादन के प्रति मुझे अत्यधिक मोह है तो विधि की विडम्बना पर हँसी आती है। सन् १९३६ में मैंने अंगरेज़ी में एम० ए० किया था और उसके कुछ दिन बाद ही हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एम० ए० की तैयारी शुरू कर दी थी। उसी वर्ष—सन् १९३६ के अन्त में, आगरा की एक साहित्य-गोष्ठी के लिए, अपने अंगरेज़ी के प्राध्यापक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के अनुरोध पर, पंतजी की काव्य-कला पर एक निबंध लिखा था। यही एक प्रकार से मेरा पहला समीक्षात्मक निबंध था। यों उससे पूर्व भी मैं दो समीक्षात्मक निबंध लिख चुका था, पर उनका उपयोग कभी नहीं हुआ। सन् १९३४ के मध्य में जब मैं बी० ए० के द्वितीय वर्ष का विद्यार्थी था, हिन्दी के प्रतिष्ठित निबंधकार और आलोचक बाबू गुलाबराय के सहयोग से मैंने हिन्दी के सात आधुनिक कवियों पर समीक्षात्मक निबंध लिखने की योजना बनाई थी : ये सात कवि थे—हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रत्नाकर, प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी। मेरे साथ बाबूजी की यह सहयोजना आगरा के अनेक साहित्यकारों को विचित्र-सी लगी थी। यद्यपि बाबूजी में यह गुण था कि वे वय और ज्ञान के गौरव-भार को सहज भाव से उतारकर, छोटे-से-छोटे आदमी के बराबर खड़े होकर काम कर सकते थे, फिर भी उपर्युक्त योजना में मेरा सहयोग नगण्य नहीं था। वास्तव में, बाबूजी का मुख्य विषय दर्शन था; दर्शन का आधार लेकर वे रस-शास्त्र की ओर प्रवृत्त हुए और फिर वहां से साहित्य की ओर उन्मुख हुए। अतः दर्शन और शास्त्र पक्ष तो उनका अत्यन्त पुष्ट था, पर कवित्व-कला के विवेचन में वे मुझ पर ही निर्भर करते थे। वे मेरी अतिशय रोमानी प्रवृत्ति को संयत रखते थे और मैं काव्य के विचार-तत्त्व से आगे उसके रमणीय तत्त्वों के अनुसंधान में उनकी सहायता करता था। इसके अतिरिक्त लेखन-कार्य का दायित्व मुझ पर ही था—यानी लेखन-शैली प्रायः मेरी अपनी ही थी : बाबूजी संशोधन बराबर करते थे पर वाक्य-रचना मेरी अपनी रहती थी। इस प्रकार दो लेख लिखे गए—पहला महादेवी वर्मा पर और दूसरा मैथिलीशरण गुप्त पर। समीक्षात्मक निबंध-रचना का यह मेरा पहला अभ्यास था जिसका शुभारम्भ बाबूजी के समन्वयशील व्यक्तित्व के स्निग्ध प्रभाव में हुआ था। ये दोनों लेख कभी प्रकाशित नहीं हुए—आरम्भ में इसलिए नहीं कि मेरी योजना इन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की थी, बाद में मैंने इन्हें इस योग्य नहीं समझा। पर इस संदर्भ में एक बात मुझे आज भी याद है। द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक काव्य के प्रति मेरा दृष्टिकोण अत्यन्त असहिष्णु था। 'भारत-भारती' के विषय में मैंने अपनी मनोवृत्ति के अनुसार यह लिखा था कि राष्ट्रीय महत्त्व चाहे उसका कितना भी हो, कवित्व-कला की दृष्टि से वह मूल्यहीन है। बाबूजी ने कहा : यह वाक्य कुछ अधिक अभिधात्मक और कठोर हो गया है; इसकी जगह यह लिखना चाहिए कि 'भारत-भारती' का राष्ट्रीय महत्त्व उसके कलात्मक मूल्य से कहीं अधिक है। जब मैथिलीशरण गुप्त पर लेख पूरा हो गया, तो बाबूजी कहने लगे : अगर यह लेख तुम मेरे साथ न लिखते तो इसका स्वर काफ़ी उग्र होता—'भारत-भारती' की तो ख़ैर हो नहीं थी।—और यह ठीक ही था। आज मेरे साहित्यिक मित्र, जो मेरे स्वभाव और सामान्य व्यवहार में मेरी वाणी की उग्रता से भी परिचित हैं, जब कभी पूछते हैं कि अपने लेखन में तो आप प्रतिपक्ष के विरुद्ध इतने कठोर नहीं होते, तो मुझे 'गुरूणां गुरुः' बाबूजी का वह मित्र-सम्मित उपदेश अनायास ही याद आ जाता है।

पंत की काव्य-कला पर मेरा वह निबंध भी अपने मूल रूप में कहीं नहीं छपा; लगभग दो वर्ष के भीतर वही 'सुमित्रानन्दन पंत' का रूप धारण कर पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। निबंध के उपशीर्षक ही प्रायः पुस्तक के परिच्छेदों के रूप में पल्लवित हुए। पंत की काव्य-कला के विषय में मेरी मूल धारणाएं और स्थापनाएं पुस्तक में भी वही थीं जो निबंध में। पंत सौन्दर्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के कवि हैं; पंत के काव्य में सबसे पहला स्थान कल्पना का, दूसरा चिंतन का और तीसरा भाव या अनुभूति का है; नवीन काव्य-भाषा के निर्माण में पंत का योगदान सर्वाधिक है; आदि मान्यताएं सबसे पहले उस निबंध में ही व्यक्त हुई थीं: पुस्तक में भी वे यथावत् रहीं और मेरी प्रयोग-भीरुता के कारण आज भी बहुत-कुछ वैसी ही हैं। मेरा एक निष्कर्ष यह भी था कि प्राणों का आवेग क्षीण होने के कारण पंत जी महान् काव्य की सृष्टि करने में असमर्थ रहे हैं। इस पर काफ़ी गरमागरम बहस हुई थी। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि का मत था कि मैंने पंत जी के साथ न्याय नहीं किया। 'सुमित्रानन्दन पंत' का आशा से कहीं अधिक स्वागत हुआ। 'ऐकेडेमी' पत्रिका में श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने लिखा: कविता की गतिविधि के साथ-साथ हिन्दी-आलोचना की तर्ज़-अदा भी किस तरह बदल रही है, यह पुस्तक इसका उज्ज्वलतम प्रमाण है; श्री कन्हैयालाल सहल ने 'साहित्य-संदेश' में एक पूरा लेख लिखकर यह मत व्यक्त किया कि इसमें आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति का विकसित रूप मिलता है। सबसे अधिक अप्रत्याशित घटना यह घटी कि आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास के संशोधित संस्करण में छाया-वाद पर पहली 'ठिकाने की पुस्तक' मानकर इसका स्वागत किया। मैं आज पूरी ईमानदारी के साथ स्वीकार करता हूं कि मुझे ऐसी आशा स्वप्न में भी नहीं थी। इतिहास में उल्लेख की सूचना मुझे पहली बार आगरा में मिली। उस दिन 'ग्रैंड ट्रंक' से रात के लगभग दस बजे मैं साहित्य-रत्न-भंडार पहुंचा था। मुझे देखते ही मेरे कृपालु मित्र और प्रकाशक श्री महेन्द्र जी ने कहा: बधाई है, शुक्ल जी ने अपने इतिहास में बड़े ही सुन्दर शब्दों में तुम्हारी पुस्तक की प्रशंसा की है। मैं तुरंत ही उसे देखना चाहता था, परंतु भाई महेन्द्र जी ने आग्रह किया कि बहुत देर हो गई है—अब तो खाना-वाना खाकर सो जाओ, सवेरे देख लेना। एक तो उनके स्नेहपूर्ण आग्रह के कारण और दूसरे अपने अधैर्य को व्यक्त न करने के विचार से मैं चुप तो हो गया और यथाक्रम भोजन आदि से निश्चिंत होकर साहित्य-रत्न-भंडार के ही एक कक्ष में लगे हुए अपने बिस्तर पर चला गया; पर रात में जब मुझे नींद ही नहीं आई, तो मजबूर होकर भण्डार की बिजली जलाई और कुछ देर तक प्रयत्न करने के बाद शुक्ल जी के इतिहास की प्रति आलमारी से निकाल कर हड़बड़ी के साथ उसमें अपना नाम खोजने लगा। 'नई आलोचना' वाला प्रकरण जल्दी ही मिल गया, लेकिन उसमें मेरी पुस्तक का उल्लेख नहीं था। मैंने बार-बार आंखें गड़ा कर इस प्रकरण की एक-एक पंक्ति पढ़ डाली, पर वहां नाम होता तो मिलता। चार-छह पृष्ठ इधर-उधर के भी देखे, फिर भी कोई नतीजा नहीं निकला। आखिर मन मारकर बिस्तर पर चला गया। नींद आने का सवाल ही क्या था? लेकिन, इतने में ही महेन्द्र जी, जो भंडार के बराबर सहन में सो रहे थे, उठकर आए और बोले: भंडार की बिजली अभी किसने जलाई थी? यह सुनकर मुझे शर्म तो बड़ी आई पर अंत में उन्हें असली राज़ बताना पड़ा। वे हँसकर कहने लगे—तुम भी, यार, अजब आदमी हो; इतनी ही परेशानी थी तो उसी समय देख लेते। मैंने खिन्न स्वर में कहा—देखूं कहां, मेरा तो नाम ही नहीं है। इस पर महेन्द्र जी ने आश्वस्त भाव से वह प्रति खोली और अभीष्ट संदर्भ निकाल कर मेरे सामने रख दिया: वास्तव में मेरी पुस्तक का उल्लेख 'नई आलोचना' के अंतर्गत न होकर 'छायावाद' के प्रसंग में किया गया था। महेन्द्र जी तो जाकर तुरंत सो गए, लेकिन मुझे फिर भी नींद नहीं आई—इस बार खुशी के मारे!

इस सद्यःस्वीकृति का प्रभाव अनिवार्य था। कविता की देवी की आराधना में पूर्ण निष्ठा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के साथ पिछले पाँच-छह वर्षों से निरन्तर कर रहा था, पर वह कभी मुझसे इतनी प्रसन्न नहीं हुई थी। वास्तव में, उस समय कवि के कीर्ति-प्रसार के जो दो मुख्य साधन थे वे दोनों ही मुझे अनुपलब्ध थे—एक था किसी प्रसिद्ध पत्रिका का संबल और दूसरा कवि-सम्मेलन में रंग जमानेवाला स्वर-वैभव। सप्तकों के सम्पादन और प्रकाशन का रिवाज तब तक नहीं चला था। यों, मेरी कविताएं अनेक प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपती रहती थीं, परन्तु नियमित रूप से प्रमुख पृष्ठ पर मेरी कृतियों का विज्ञापन करनेवाली पत्रिका सुलभ नहीं थी। उधर कवि-सम्मेलनों में 'बच्चन' और सोहनलाल द्विवेदी का रंग था—गिरिजाकुमार माथुर का भी प्रभाव बढ़ रहा था। वहां मेरी दाल नहीं गल सकती थी। एक बार फ़िरोज़ाबाद में कवि-सम्मेलन हुआ जिसमें मैंने भी शायद अपनी 'नारी' कविता पढ़ी थी। मुझे भी सामान्यतः अच्छी दाद मिली, पर सेहरा सोहनलाल जी के ही सिर रहा। इस पर एक बुज़ुर्ग, जो कभी मेरे पिताजी के सहयोगी रह चुके थे, बड़े ही गम्भीर भाव से मुझसे कहने लगे, "आप अपना स्वास्थ्य सुधारिए; कविता आपकी सोहनलाल की रचना से अच्छी थी, पर आवाज़ में दम न होने से वे बाज़ी मार ले गए।" —स्वास्थ्य की चिन्ता मुझे भी थी, उन दिनों मेरा वज़न औसत से थोड़ा कम था। पर कवि-सम्मेलन को फ़तह करने के लिए स्वास्थ्य-सुधार का यह उपदेश मुझे ग्राह्य नहीं हुआ; और, कवि-सम्मेलनों में बाज़ी अपने हाथ नहीं लगी।

इधर रंग दूसरा था। पहली कृति का ही हार्दिक स्वागत हुआ। शांतिप्रिय उस समय के जाने-माने आलोचकों में थे, सहल जी भी विद्वान् अध्यापक के रूप में अपने वृत्त में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। इनकी उन्मुक्त प्रशस्तियों का मेरे लिए बड़ा मूल्य था और उनसे मेरे आत्म-विश्वास में निश्चय ही वृद्धि हुई; पर जब शुक्ल जी ने अपने इतिहास में प्रमाणपत्र के साथ मेरा नाम दर्ज कर दिया तो मुझे लगा जैसे जन्म के साथ ही मेरे आलोचक को अमरत्व की सिद्धि हो गई हो। यह नशा निश्चय ही बड़ा गहरा था :

साक़ी ने अपने हाथ दिया भरके जामे सोज़
इस ज़िन्दगी के क़ैफ़ का टूटा ख़ुमार आज।

—और, कविता का ख़ुमार सचमुच ही धीरे-धीरे टूटने लगा। बाद में, दो-चार झटके लगने पर कभी-कभी कविता की याद आ जाती थी, जैसे विदेश में अपमान मिलने पर अनायास घर की याद आ जाती है। पर ऐसा कम ही हुआ, और फिर मनःस्थिति भी बदलने लगी। कविता मेरे लिए कुछ आवश्यकता से अधिक आत्मपरक बनती जा रही थी—व्यक्तिगत जीवन के रागद्वेष और उनसे तुष्ट या रुष्ट अहंकार ही मेरी कविता के मूल विषय बनकर रह गए थे। बाद में सामाजिक चेतना की वृद्धि के साथ, जीवन के अंतरंग अनुभवों की अभिव्यक्ति में असुविधा का अनुभव होने लगा और प्रयत्न करने पर भी मैं केशवदास का-सा साहस बटोरने में असमर्थ रहा। परार्थ या परमार्थ से सम्बद्ध विषयों के साथ इतना गहरा लगाव कभी था नहीं कि उनको कविता में व्यक्त करने की प्रेरणा होती। बाह्य जीवन के विषय में मेरा जो दृष्टिकोण और मूल्य बनते जा रहे थे उनमें बुद्धि-तत्त्व की मात्रा बढ़ने लगी थी, अतः उनकी अभिव्यक्ति के लिए आलोचनात्मक गद्य का माध्यम अधिक सुगम और अनुकूल पड़ा। बीच में, सन् १९४५ से १९५० तक कुछ प्रगीत रचनाएं लिखीं जो थोड़ी-सी पुरानी कृतियों के साथ 'छन्दमयी' में प्रकाशित हुईं—इसके बाद कविता मानो यह कह कर मुझसे विदा हो गई कि शुद्ध स्वानुभूति के क्षणों में जब तुम्हारा मन बुद्धि के अहंकार से मुक्त होकर मुझे याद करेगा,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के कवि हैं; पंत के काव्य में सबसे पहला स्थान कल्पना का, दूसरा चिंतन का और तीसरा भाव या अनुभूति का है; नवीन काव्य-भाषा के निर्माण में पंत का योगदान सर्वाधिक है; आदि मान्यताएं सबसे पहले उस निबंध में ही व्यक्त हुई थीं : पुस्तक में भी वे यथावत् रहीं और मेरी प्रयोग-भीरुता के कारण आज भी बहुत-कुछ वैसी ही हैं। मेरा एक निष्कर्ष यह भी था कि प्राणों का आवेग क्षीण होने के कारण पंत जी महान् काव्य की सृष्टि करने में असमर्थ रहे हैं। इस पर काफ़ी गरमागरम बहस हुई थी। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि का मत था कि मैंने पंत जी के साथ न्याय नहीं किया। 'सुमित्रानन्दन पंत' का आशा से कहीं अधिक स्वागत हुआ। 'ऐकेडेमी' पत्रिका में श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने लिखा : कविता की गतिविधि के साथ-साथ हिन्दी-आलोचना की तर्ज़-अदा भी किस तरह बदल रही है, यह पुस्तक इसका उज्ज्वलतम प्रमाण है; श्री कन्हैयालाल सहल ने 'साहित्य-संदेश' में एक पूरा लेख लिखकर यह मत व्यक्त किया कि इसमें आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति का विकसित रूप मिलता है। सबसे अधिक अप्रत्याशित घटना यह घटी कि आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास के संशोधित संस्करण में छाया-वाद पर पहली 'ठिकाने की पुस्तक' मानकर इसका स्वागत किया। मैं आज पूरी ईमानदारी के साथ स्वीकार करता हूं कि मुझे ऐसी आशा स्वप्न में भी नहीं थी। इतिहास में उल्लेख की सूचना मुझे पहली बार आगरा में मिली। उस दिन 'ग्रैंड ट्रंक' से रात के लगभग दस बजे मैं साहित्य-रत्न-भंडार पहुंचा था। मुझे देखते ही मेरे कृपालु मित्र और प्रकाशक श्री महेन्द्र जी ने कहा : बधाई है, शुक्ल जी ने अपने इतिहास में बड़े ही सुन्दर शब्दों में तुम्हारी पुस्तक की प्रशंसा की है। मैं तुरंत ही उसे देखना चाहता था, परंतु भाई महेन्द्र जी ने आग्रह किया कि बहुत देर हो गई है—अब तो खाना-वाना खाकर सो जाओ, सवेरे देख लेना। एक तो उनके स्नेहपूर्ण आग्रह के कारण और दूसरे अपने अधैर्य को व्यक्त न करने के विचार से मैं चुप तो हो गया और यथाक्रम भोजन आदि से निश्चिंत होकर साहित्य-रत्न-भंडार के ही एक कक्ष में लगे हुए अपने बिस्तर पर चला गया; पर रात में जब मुझे नींद ही नहीं आई, तो मजबूर होकर भण्डार की बिजली जलाई और कुछ देर तक प्रयत्न करने के बाद शुक्ल जी के इतिहास की प्रति आलमारी से निकाल कर हड़बड़ी के साथ उसमें अपना नाम खोजने लगा। 'नई आलोचना' वाला प्रकरण जल्दी ही मिल गया, लेकिन उसमें मेरी पुस्तक का उल्लेख नहीं था। मैंने बार-बार आंखें गड़ा कर इस प्रकरण की एक-एक पंक्ति पढ़ डाली, पर वहां नाम होता तो मिलता। चार-छह पृष्ठ इधर-उधर के भी देखे, फिर भी कोई नतीजा नहीं निकला। आख़िर मन मारकर बिस्तर पर चला गया। नींद आने का सवाल ही क्या था? लेकिन, इतने में ही महेन्द्र जी, जो भंडार के बराबर सहन में सो रहे थे, उठकर आए और बोले : भंडार की बिजली अभी किसने जलाई थी? यह सुनकर मुझे शर्म तो बड़ी आई पर अंत में उन्हें असली राज़ बताना पड़ा। वे हँसकर कहने लगे—तुम भी, यार, अजब आदमी हो; इतनी ही परेशानी थी तो उसी समय देख लेते। मैंने खिन्न स्वर में कहा—देखूं कहां, मेरा तो नाम ही नहीं है। इस पर महेन्द्र जी ने आश्वस्त भाव से वह प्रति खोली और अभीष्ट संदर्भ निकाल कर मेरे सामने रख दिया : वास्तव में मेरी पुस्तक का उल्लेख 'नई आलोचना' के अंतर्गत न होकर 'छायावाद' के प्रसंग में किया गया था। महेन्द्र जी तो जाकर तुरंत सो गए, लेकिन मुझे फिर भी नींद नहीं आई—इस बार ख़ुशी के मारे!

इस सद्यःस्वीकृति का प्रभाव अनिवार्य था। कविता की देवी की आराधना में पूर्ण निष्ठा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के साथ पिछले पाँच-छह वर्षों से निरन्तर कर रहा था, पर वह कभी मुझसे इतनी प्रसन्न नहीं हुई थी। वास्तव में, उस समय कवि के कीर्ति-प्रसार के जो दो मुख्य साधन थे वे दोनों ही मुझे अनुपलब्ध थे—एक था किसी प्रसिद्ध पत्रिका का संबल और दूसरा कवि-सम्मेलन में रंग जमानेवाला स्वर-वैभव। सप्तकों के सम्पादन और प्रकाशन का रिवाज तब तक नहीं चला था। यों, मेरी कविताएं अनेक प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपती रहती थीं, परन्तु नियमित रूप से प्रमुख पृष्ठ पर मेरी कृतियों का विज्ञापन करनेवाली पत्रिका सुलभ नहीं थी। उधर कवि-सम्मेलनों में 'बच्चन' और सोहनलाल द्विवेदी का रंग था—गिरिजाकुमार माथुर का भी प्रभाव बढ़ रहा था। वहां मेरी दाल नहीं गल सकती थी। एक बार फ़िरोज़ाबाद में कवि-सम्मेलन हुआ जिसमें मैंने भी शायद अपनी 'नारी' कविता पढ़ी थी। मुझे भी सामान्यतः अच्छी दाद मिली, पर सेहरा सोहनलाल जी के ही सिर रहा। इस पर एक बुजुर्ग, जो कभी मेरे पिताजी के सहयोगी रह चुके थे, बड़े ही गम्भीर भाव से मुझसे कहने लगे, "आप अपना स्वास्थ्य सुधारिए; कविता आपकी सोहनलाल की रचना से अच्छी थी, पर आवाज़ में दम न होने से वे बाज़ी मार ले गए।" —स्वास्थ्य की चिन्ता मुझे भी थी, उन दिनों मेरा वज़न औसत से थोड़ा कम था। पर कवि-सम्मेलन को फ़तह करने के लिए स्वास्थ्य-सुधार का यह उपदेश मुझे ग्राह्य नहीं हुआ; और, कवि-सम्मेलनों में बाज़ी अपने हाथ नहीं लगी।

इधर रंग दूसरा था। पहली कृति का ही हार्दिक स्वागत हुआ। शांतिप्रिय उस समय के जाने-माने आलोचकों में थे, सहल जी भी विद्वान् अध्यापक के रूप में अपने वृत्त में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। इनकी उन्मुक्त प्रशस्तियों का मेरे लिए बड़ा मूल्य था और उनसे मेरे आत्म-विश्वास में निश्चय ही वृद्धि हुई; पर जब शुक्ल जी ने अपने इतिहास में प्रमाणपत्र के साथ मेरा नाम दर्ज कर दिया तो मुझे लगा जैसे जन्म के साथ ही मेरे आलोचक को अमरत्व की सिद्धि हो गई हो। यह नशा निश्चय ही बड़ा गहरा था :

साक़ी ने अपने हाथ दिया भरके जामे सोज़
इस ज़िन्दगी के क़ैफ़ का टूटा ख़ुमार आज।

—और, कविता का ख़ुमार सचमुच ही धीरे-धीरे टूटने लगा। बाद में, दो-चार झटके लगने पर कभी-कभी कविता की याद आ जाती थी, जैसे विदेश में अपमान मिलने पर अनायास घर की याद आ जाती है। पर ऐसा कम ही हुआ, और फिर मनःस्थिति भी बदलने लगी। कविता मेरे लिए कुछ आवश्यकता से अधिक आत्मपरक बनती जा रही थी—व्यक्तिगत जीवन के रागद्वेष और उनसे तुष्ट या रुष्ट अहंकार ही मेरी कविता के मूल विषय बनकर रह गए थे। बाद में सामाजिक चेतना की वृद्धि के साथ, जीवन के अंतरंग अनुभवों की अभिव्यक्ति में असुविधा का अनुभव होने लगा और प्रयत्न करने पर भी मैं केशवदास का-सा साहस बटोरने में असमर्थ रहा। परार्थ या परमार्थ से सम्बद्ध विषयों के साथ इतना गहरा लगाव कभी था नहीं कि उनको कविता में व्यक्त करने की प्रेरणा होती। बाह्य जीवन के विषय में मेरा जो दृष्टिकोण और मूल्य बनते जा रहे थे उनमें बुद्धि-तत्त्व की मात्रा बढ़ने लगी थी, अतः उनकी अभिव्यक्ति के लिए आलोचनात्मक गद्य का माध्यम अधिक सुगम और अनुकूल पड़ा। बीच में, सन् १९४५ से १९५० तक कुछ प्रगीत रचनाएं लिखीं जो थोड़ी-सी पुरानी कृतियों के साथ 'छन्दमयी' में प्रकाशित हुईं—इसके बाद कविता मानो यह कह कर मुझसे विदा हो गई कि शुद्ध स्वानुभूति के क्षणों में जब तुम्हारा मन बुद्धि के अहंकार से मुक्त होकर मुझे याद करेगा,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तो मैं फिर आ जाऊंगी।

३. पहला लेख—पहला निबन्ध

जैसा कि मैं अभी उल्लेख कर चुका हूं, मैंने अपना पहला स्वतन्त्र गद्य-लेख सन् १९३४ में महादेवी वर्मा पर लिखा था। बाद में चूंकि मैंने उसे रद्द कर दिया, इसलिए उसके विषय में यह चर्चा करना अब सार्थक नहीं है कि वह लेख था या निबंध। 'पंत की काव्य-कला' शीर्षक लेख भी अपने मूल रूप में कभी नहीं छपा। प्रायः उसी के आस-पास सन् १९३७ में मेरे दो लेख 'साहित्य-संदेश' के प्रारम्भिक अंकों में प्रकाशित हुए थे—पहले का विषय था 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' और दूसरे का था 'हिन्दी के टीकाकार'। पारिभाषिक दृष्टि से इन्हें निबन्ध कहना उचित नहीं होगा क्योंकि इनमें तथ्य-निरूपण ही प्रधान था—अपने सीमित आकार में ये शायद पूरे लेख भी न होकर लघुलेख मात्र थे। स्वभावतः इनमें विषय का गंभीर सांगोपांग विवेचन नहीं था, पर मुझे स्मरण है कि मेरी आलोचना के वे दोनों गुण—स्पष्टता और परिशुद्धता, जिनका उल्लेख मेरे उदार समीक्षक प्रायः करते हैं, इन लेखों में भी न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य थे। अपनी तरफ़ से मैंने इन लेखों में पूरे संतुलन से काम लिया था। 'इतिहास' वाले लेख में यद्यपि मैंने 'मिश्रबन्धु-विनोद' के साथ अधिक से अधिक न्याय करने का प्रयास किया था, फिर भी पं० शुकदेवबिहारी मिश्र ने बाबू गुलाबराय से शिकायत की थी कि आपके पत्र में हमारे इतिहास की निन्दा की गई है। टीकाकारों के प्रसंग में मैंने 'बिहारी-रत्नाकर' को सर्वाधिक वैज्ञानिक और 'संजीवनी भाष्य' को सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक टीका माना था। इन दोनों लेखों को, कदाचित् इनके संक्षिप्त रूप के कारण, मेरे किसी निबंध-संग्रह में स्थान नहीं मिला।

हिन्दी में एम० ए० करने के बाद सन् १९३७ के मध्य में मैंने अपने मन की प्रेरणा से एक स्वतंत्र निबंध लिखा जिसका शीर्षक था 'छायावाद'। यही वास्तव में मेरा प्रथम समीक्षात्मक निबंध था: इसमें एक ओर जहां विषय-प्रतिपादन के सम्बन्ध में पूर्ण सतर्कता बरती गयी थी, वहां निरूपण-शैली और रूप-सौष्ठव पर भी उचित ध्यान दिया गया था। यह निबंध उस समय 'हंस' में प्रकाशित हुआ था जब प्रेमचन्द जी की मृत्यु के बाद जैनेन्द्र जी कुछ दिनों तक उसका सम्पादन कर रहे थे। आगे चलकर यह 'सुमित्रानन्दन पंत' पुस्तक के प्रथम परिच्छेद के रूप में प्रकाशित हुआ और बाद में सन् १९४३ में 'छायावाद की परिभाषा' नाम से जब इसी विषय पर मेरा एक अन्य निबंध प्रकाश में आ गया तो स्वतंत्र निबंध के रूप में इस पहली रचना का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। आज यह 'सुमित्रानन्दन पंत' की भूमिका के रूप में ही जीवित है—किसी निबंध-संग्रह में इसका समावेश नहीं है। 'आस्था के चरण' में संकलित निबंधों में सबसे पहली रचना है 'साहित्य में कल्पना का उपयोग'। यह निबंध मैंने सन् १९३९ में रिचर्ड्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपॅल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' से प्रेरित होकर लिखा था। उस समय रिचर्ड्स भी नए आलोचक ही समझे जाते थे। अंगरेज़ी एम० ए० के पाठ्यक्रम में तो उनका कोई स्थान था ही नहीं, अंगरेज़ी आलोचना के विकास-क्रम में या समसामयिक अंगरेज़ी आलोचना के संदर्भ में भी उनका उल्लेख मुश्किल से होता था। परंतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य में रहस्य-प्रवृत्ति के विरुद्ध अपने मत का पोषण करने के लिए रिचर्ड्स के तर्कों को अत्यंत प्रामाणिक रूप से उद्धृत कर हिन्दी-पाठक के मन में उनके प्रति एक विशिष्ट आकर्षण उत्पन्न कर दिया था। मुझे स्वयं शुक्ल जी का यह मत ग्राह्य नहीं था कि रहस्य-प्रवृत्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

काव्य के सहज धर्म के अनुकूल नहीं है, और इस दृष्टि से रिचर्ड्स के प्रति भी कोई विशेष संभ्रम का भाव मेरे मन में नहीं था। फिर भी, मैं उनके ग्रंथ को पढ़ना चाहता था और एक दिन जब किसी पुस्तक-विक्रेता के यहां उसकी एक पुरानी प्रति मुझे मिल गई तो मैं कॉलेज की लाइब्रेरी के लिए उसे ख़रीद लाया और अवकाश मिलते ही उसके अध्ययन में प्रवृत्त हो गया। विषय एवं शैली दोनों की ही दृष्टि से पुस्तक कुछ कठिन है और मैंने अत्यंत मनोयोग के साथ उसका विधिवत् पारायण किया। उसके हाशियों पर मैंने कुछ संकेत-शब्द भी स्थान-स्थान पर अपनी तथा अन्य पाठकों की सुविधा के लिए लिख दिए थे। यह प्रति श्रीराम कॉलेज ऑफ़ कॉमर्स की लाइब्रेरी में थी—आज है या नहीं, मैं नहीं जानता। पर आठ-दस वर्ष पूर्व जब डॉक्टर आई० ए० रिचर्ड्स दिल्ली विश्वविद्यालय में आए थे और मैं उनसे बात कर रहा था तो कॉलेज के एक पुराने सहयोगी ने हँसकर कहा था : "डॉ० रिचर्ड्स, हमारे देश में आपके कैसे-कैसे क़द्रदान हैं, इसके प्रमाणस्वरूप मैं आपको अपनी लाइब्रेरी से 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' की वह प्रति दिखाना चाहता हूं जिसके हाशियों पर जगह-जगह नगेन्द्र जी की टिप्पणियां और शब्द-संकेत अंकित हैं।"—इस समय मुझे यह तो याद नहीं है कि मैंने क्या लिखा था; शायद रिचर्ड्स के अनेक शब्दों के हिन्दी-पर्याय भी मैं कहीं-कहीं लिखता गया था, क्योंकि मैं रिचर्ड्स के काव्य-सिद्धांतों पर हिन्दी में लेख प्रस्तुत करना चाहता था। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि मैंने उस पुस्तक का प्रायः पाठ्यग्रन्थ की तरह अध्ययन किया था। 'साहित्य में कल्पना का उपयोग' शीर्षक निबंध में मैंने रिचर्ड्स के तद्विषयक विवेचन से केवल प्रेरणा ही नहीं ली थी, वरन् उनके मूल विचारों को आधार रूप में भी ग्रहण किया था। यह निबंध 'वीणा' में छपा था : साथ में मेरे किशोर काल का एक चित्र भी था जिसमें चेहरे पर छोटी-छोटी मूंछें थीं। अपने उस फ़ोटो के साथ प्रकाशित यह निबंध मुझे अच्छा लगा था और मैं उसे सँभाल कर रखना चाहता भी था, पर मेरे एक सहयोगी श्री प्रह्लादकृष्ण, जो बड़े मस्त जीव थे (भगवान उनकी आत्मा को शांति दे, अब वे संसार में नहीं हैं), मेरी मूंछों को गवारा न कर सके और उन्होंने चित्र के ऊपर पेंसिल से निशान बना दिए थे।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर, आप निम्नोक्त रचनाओं में से जिसे भी चाहें मेरा प्रथम समीक्षात्मक निबंध मान सकते हैं :

१. **महादेवी वर्मा**—रचना-काल १६३४ ई०, जो स्वतंत्र लेख के रूप में लिखा गया, पर बाद में बालकृति मानकर रद्द कर दिया गया।
२. **पंत की काव्य-कला**—रचना-काल १६३६ ई०, जो स्वतंत्र निबंध के रूप में लिखा गया, परन्तु अपने मूल रूप में प्रकाशित न होकर 'सुमित्रानन्दन पंत' पुस्तक का आकार धारण कर प्रकाश में आया।
३. **हिन्दी-साहित्य के इतिहास**—रचना-काल १६३७ ई०, जो निबंध न होकर वस्तुतः एक लघु-लेख था और उसी रूप में 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित हुआ।
४. **छायावाद**—रचना-काल १६३७ ई०, जो स्वतंत्र निबंध के रूप में लिखा गया और उसी रूप में 'हंस' में प्रकाशित भी हुआ, परंतु अंत में 'सुमित्रानन्दन पंत' का पहला परिच्छेद बनकर अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व खो बैठा।
५. **साहित्य में कल्पना का उपयोग**—रचना-काल १६३६ ई०, जो स्वतंत्र निबंध के रूप में लिखा गया और पहले 'वीणा' पत्रिका में, फिर १६४४ ई० में 'विचार और अनुभूति' में स्फुट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निबंध के रूप में ही प्रकाशित हुआ—और अब 'आस्था के चरण' के अंतर्गत निबंध सं० ८ के रूप में प्रस्तुत है।

मैं स्वयं '**छायावाद**' को अपना पहला समीक्षात्मक निबंध मानता हूं—मानना चाहता हूं, जिसे मैंने प्रतिपाद्य विषय और निबंध के रूप-सौष्ठव, दोनों के प्रति सावधान होकर लिखा था।

४. रचना-प्रसंग

'सम्पूर्ण संग्रह' में सन् १९३९ से लेकर १९६७ तक के ९६ निबंध संकलित हैं। इनमें सर्वप्रथम रचना है 'साहित्य में कल्पना का उपयोग' और अब तक की अंतिम रचना है 'राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद'। यह संग्रह ४ खंडों में विभक्त है : खण्ड एक : (क) अनुसंधान और (ख) सिद्धांत; खण्ड दो : प्रवृत्तियां : (क) हिन्दी-कविता और (ख) हिन्दी-साहित्य; खण्ड तीन : (क) कृतिकार और (ख) कृति, और खण्ड चार : (क) स्मृति-चित्र तथा (ख) समस्याएं।

खण्ड-१ के निबंध सिद्धांतपरक हैं। (क) भाग के निबंधों में अनुसंधान के स्वरूप, प्रविधि और हिन्दी-अनुसंधान की मुख्य समस्याओं का तात्त्विक विवेचन है। वर्तमान शताब्दी के मध्य में—पांचवें दशक में—हिन्दी-अनुसंधान के क्षेत्र में खासी चहल-पहल होने लगी थी। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के नेतृत्व में इलाहाबाद स्कूल तब तक काफ़ी सक्रिय हो चुका था और हिन्दी में अनुसंधान की रूपरेखा क्रमशः स्पष्ट होने लगी थी। मैं सन् १९४६ में डी० लिट्० कर चुका था और तब तक हिन्दी में ८-१० शोध-प्रबंध डी० लिट्० और डी०फ़िल० के लिए स्वीकृत हो चुके थे। डी०लिट्० के प्रबंध तो प्रायः अनुसंधाताओं के अपने पुरुषार्थ के परिणाम थे जिनमें प्रत्येक ने अपने दृष्टिकोण से शोध की रूपरेखा और विधि-विज्ञान की संकल्पना की थी, परंतु डी० फ़िल० के प्रबंधों के लिए विश्वविद्यालय की ओर से विधिवत् निरीक्षण की व्यवस्था की गई जिसके फलस्वरूप अनुसंधान के स्वरूप और प्रविधि-प्रक्रिया आदि की भी हिन्दी-क्षेत्रों में काफ़ी चर्चा होने लगी। इसका शुभ परिणाम यह हुआ कि हिन्दी का शोधार्थी शोध के विधि-विज्ञान से परिचित होने लगा और अनुसंधान में व्यवस्था तथा प्रामाणिकता आदि गुणों का समावेश हुआ; अशुभ परिणाम यह हुआ कि शरीर की साज-सज्जा पर इतना अधिक बल दिया जाने लगा कि आत्मा का तेज घटने लगा—तथ्य-संकलन के मोह में तत्त्व-चिन्तन क्षीण होने लगा। इस 'वैज्ञानिक अनुसंधान' के परिणाम जब सामने आए तो लगा कि उनमें क़ायदे-क़ानून की पूरी पाबन्दी तो है पर विचार-विवेचन का स्तर सामान्य आलोचना-ग्रंथों से भी निम्नतर है। इस पर स्वभावतः काफ़ी टीका-टिप्पणी हुई। तब यह तर्क दिया गया कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। यह तर्क मुझे ग्राह्य नहीं हुआ और ऐसा लगा जैसे किसी सामान्य दोष का परिमार्जन करने के लिए एक मौलिक दोष का पोषण किया जा रहा है। तब तक मेरी चार आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं और हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में मेरा थोड़ा-बहुत स्थान भी बन चुका था। उधर डी० लिट्० के लिए मेरा अपना शोध-प्रबंध भी तैयार हो चुका था। तटस्थ भाव से आज मैं कह सकता हूं कि उसमें तत्त्व-चिन्तन काफ़ी था, पर शोधविज्ञान से अपरिचय होने के कारण प्रविधिगत दोष भी सर्वथा स्पष्ट थे—खासकर संदर्भ-लेखन आदि की व्यवस्था एकदम अपूर्ण थी। परन्तु इस सबके बावजूद उसे जो स्वीकृति और सम्मान मिला उससे मैं आश्वस्त हो गया कि अंततः मूल्यांकन गंभीर विचार-विश्लेषण का ही होता है, प्राविधिक दोषों का महत्त्व प्रायः टंकण के दोषों से बहुत अधिक नहीं है। यह निश्चय ही मेरी ज़्यादती थी; फिर भी इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शोध के क्षेत्र में जिस ढंग से तथ्य-संकलन और विधि-विज्ञान का अतिमूल्यन और गम्भीर चिन्तन का अवमूल्यन होने लगा था उसके विरुद्ध मेरे मन में अत्यंत तीव्र प्रतिक्रिया हो रही थी। अपने इन विचारों को लिपिबद्ध करने का अवसर मुझे सन् १९५३ में मिला जब मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग का कार्यभार सँभालने के बाद अनुसंधान के स्वरूप पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया। इसमें डॉ० वी० के० आर० वी० राव, डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी तथा अन्य कई वरिष्ठ प्राध्यापकों ने भाग लिया। शोध के सम्बन्ध में मेरा पहला निबंध 'अनुसंधान-का स्वरूप' इसी संगोष्ठी के निमित्त लिखा गया था। इसमें मैंने तथ्यान्वेषण तथा प्रविधि-प्रक्रिया के उचित महत्त्व को स्वीकार करते हुए तथ्याख्यान को ही अनुसंधान का प्राणतत्त्व माना है : "प्रस्तुत प्रसंग में भी, जहां अनुसंधान का मूल लक्ष्य है ज्ञान का सीमा-विस्तार, वास्तविक महत्त्व निस्संदेह ज्ञान का ही है; क्योंकि ज्ञान की सीमा का विस्तार वस्तु या तथ्य नहीं कर सकता, वस्तु या तथ्य का सम्बन्ध-ज्ञान कर सकता है।" शोध के विषय में मेरा दूसरा निबंध है 'हिन्दी में शोध की कुछ समस्याएं' जो १९५५ में भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग-अधिवेशन, की एक निबंध-गोष्ठी के अध्यक्षीय भाषण के रूप में लिखा गया था। इसके लगभग चार वर्ष बाद दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की ओर से एक अखिल भारतीय शोध-संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें हिन्दी के मूर्धन्य विद्वानों ने अनुसंधान के विभिन्न तत्त्वों और प्रश्नों पर विचार किया : 'अनुसंधान और आलोचना' की रचना इसी संगोष्ठी के संदर्भ में हुई थी। इसका प्रतिपाद्य विषय संक्षेप में इस प्रकार है : यद्यपि अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं, फिर भी आलोचना के अभाव में अनुसंधान जड़ बन कर रह जाता है। अतः आलोचना अनुसंधान नहीं है, यह नारा ग़लत है—साहित्य के क्षेत्र में, वास्तव में, आलोचना अनुसंधान की उच्चतर भूमिका है। 'आधुनिक साहित्य और अनुसंधान' एक वैचारिक परिसंवाद का अंग है जो 'हिन्दी अनुशीलन' की ओर से आयोजित किया गया था। इस वर्ग का अंतिम निबंध है 'नवीन शोध-विज्ञान और हिन्दी-साहित्य के अनुसंधान में उसकी उपयोगिता' जिसकी रचना सन् १९६६ में, उदयपुर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित अनुसंधान-गोष्ठी के उद्घाटन-भाषण के निमित्त, की गई थी। इसमें मैंने पश्चिम में विकसित नवीन शोधविज्ञान के स्वरूप और प्रविधि का विवेचन करने के उपरान्त साहित्य के अनुसंधान में उनकी सीमित उपयोगिता को रेखांकित किया है। इस प्रकार इन पांच निबंधों की रचना लगभग तेरह वर्षों की अवधि के भीतर हुई है। इस अवधि में मेरे अनुभव और ज्ञान का विकास हुआ है, ऐसा अनुमान करना शायद बहुत ग़लत न होगा। शोधविज्ञान का पाठ्यक्रम में अंतर्भाव हो जाने के बाद अपने व्यवसाय की परिधि के भीतर नवीन अनुसंधान-पद्धतियों के साथ मेरा सैद्धांतिक और व्यावहारिक सम्पर्क बराबर बढ़ता गया है, परन्तु मेरे विचार का मूल सूत्र अविच्छिन्न ही रहा है। अनुसंधान के विषय में मेरी धारणा आज भी यही है : "हिन्दी-साहित्य के शोधार्थी के लिए शोधविज्ञान और इसकी क्रियाविधि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना लाभप्रद है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु उसके प्रयोग में विवेक से काम लेना भी उतना ही आवश्यक है। पश्चिम के देशों में विशेषकर उन देशों में जिनके पास अपार भौतिक साधन हैं, इन साधनों का उपयोग करने का लोभ इतना बढ़ता जा रहा है कि उससे गम्भीर चिंतन को ख़तरा पैदा होने लगा है। प्रत्येक क्षेत्र में अनुसंधान का विधि-विज्ञान अधिकाधिक यांत्रिक होता जा रहा है और ऐसा लगता है जैसे सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान मानव-चेतना की क्रिया न होकर भौतिक क्रियाओं का संघात मात्र है। इसलिए साहित्य के अनुसंधाता को सतर्क

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होकर इस यंत्र-व्यूह में प्रवेश करना चाहिए—और कुछ ऐसे सिद्ध मंत्र हैं जिनका ध्यान बराबर रखना चाहिए।"

(—शोधविज्ञान और हिन्दी साहित्य में उसकी उपयोगिता)

इन निबंधों में कहीं-कहीं मेरी वाणी उग्र हो गई है। परंतु इतनी दाद मैं आपसे चाहूंगा कि हिन्दी-अनुसंधान पर यांत्रिक विधि-विज्ञान का जो आक्रमण हो रहा था, उसका अवरोध करने में मेरा यह उग्र स्वर भी थोड़ा-बहुत सहायक अवश्य रहा है।

(ख) भाग में संकलित निबंधों में साहित्य के मूल तत्त्वों और प्रश्नों का विवेचन है। इनमें पहले निबंध की रचना, जैसा कि मैं अभी निवेदन कर चुका हूं, सन् १९३९ में हुई थी। इसके बाद वर्तमान शती के पांचवें दशक में चार निबंध और लिखे गए—'साहित्य और समीक्षा', 'साहित्य की प्रेरणा', 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र' और 'नवनिर्माण : साहित्य की व्यापकता के उपादान'। 'साहित्य और समीक्षा' (१९४० ई०) 'हंस' के तत्कालीन सम्पादक श्री शिवदानसिंह चौहान के आमंत्रण पर उसके किसी विशेषांक के लिए लिखा गया था। उन दिनों प्रगतिवाद का मोर्चा जमने लगा था। स्वर्गस्थ प्रेमचन्द जी भारत में प्रगतिशील आंदोलन के प्रवर्तकों में से थे, उनके दोनों सुपुत्रों—श्रीयुत श्रीपतराय और श्री अमृतराय के विचार भी प्रगतिशील थे। अतः अनायास ही 'हंस' हिन्दी के प्रगतिशील आन्दोलन का मुखपत्र बन गया। शिव-दानसिंह उस समय नवयुवक ही थे और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ उनका दूसरों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्पर्क था। फिर भी, उनका दृष्टिकोण संयत और रचनात्मक था। संस्कारों के अभाव में जहां उनके अनेक सहयोगियों का—विशेषकर डॉ० रामविलास शर्मा का, दृष्टिकोण उच्छृंखल और ध्वंसात्मक बन गया था, वहां शिवदानसिंह के स्वर में शुभ संकल्प और भद्र अभिव्यक्ति, दोनों का ही, उचित संयोग था। इसलिए अपने वर्ग के बाहर भी, ऐसे लेखकों के साथ जो जीवन के स्वस्थ मूल्यों में विश्वास करते थे, उनके साहित्यिक सम्बन्ध अच्छे थे। बाबू गुलाबराय और मुझ जैसे कुछ व्यक्तियों को उन्होंने 'प्रगतिवाद के मित्र' वर्ग में रखा था। 'हंस' के उस विशे-षांक में उन्होंने इसी नाते साहित्य और समीक्षा के विषय में मेरे विचार प्रकाशित करने का आग्रह किया था, जो उक्त निबंध के रूप में व्यक्त हुए। 'साहित्य की प्रेरणा' (१९४३ ई०) की रचना शुद्ध अंतःप्रेरणा के फलस्वरूप हुई थी। उस समय फ्रॉयड की चर्चा हिन्दी में काफ़ी होने लगी थी और मेरा भी रुझान उधर हो रहा था। प्रस्तुत निबंध में व्यक्त इस अभिमत के आधार पर कि ललित साहित्य की सर्जना में कामवृत्ति की प्रेरणा प्रमुख है, मेरे बार-बार इन्कार करने पर भी, लोग मुझे वर्षों तक फ्रॉयडवादी आलोचक मानते रहे। 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' (१९४६ ई०) एक प्रकार से 'साहित्य की प्रेरणा' का पूरक निबंध है। इसमें मैंने कतिपय आक्षेपों का निराकरण करने के लिए अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण किया है। प्रगतिवाद के आन्दोलन के साथ साहित्य में सामाजिक चेतना पर अत्यधिक बल दिया जाने लगा था। मैंने अपने एका-धिक लेखों में सामाजिक चेतना की अपेक्षा आत्माभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हुए प्रगतिवाद के मूल सिद्धांत का उसी के आधार पर खण्डन किया था। इस पर काफ़ी उग्र विवाद हुआ और मुझे लगा कि पक्ष-विपक्ष का विचार करते हुए अपने मंतव्य को और स्पष्ट करना चाहिए। यह निबंध उसी का परिणाम था। अपने शोध-प्रबंध से मुक्त होकर १९४८ ई० में मैंने 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र' शीर्षक लेख लिखा। रीतिकाव्य के अध्ययन के समय मैं व्यावहारिक आलोचना से सैद्धांतिक आलोचना की ओर आकृष्ट हो चला था। भारतीय काव्यशास्त्र का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सम्यक् परिचय प्राप्त कर लेने के बाद मैंने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के स्रोत-ग्रंथों का अंगरेज़ी के माध्यम से अध्ययन किया और दोनों के मूलवर्ती समान तत्त्वों से प्रेरित होकर उक्त लेख लिखा। यह वास्तव में मेरे परवर्ती तुलनात्मक अध्ययन की रूपरेखा थी। यहीं मुझे अपने इस विश्वास का बीज मिला कि भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह यहां के काव्यशास्त्र भी एक-दूसरे के पूरक हैं और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक संश्लिष्ट आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज सम्भव है। ये दोनों लेख पहले दिल्ली के शनिवार-समाज में पढ़े गए थे, और फिर सीधे पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुए : पहला 'विचार और अनुभूति' में और दूसरा 'विचार और विवेचन' में। 'कहानी और रेखाचित्र' (१९४९ ई०) लिखने की प्रेरणा भी शनिवार-समाज की एक गोष्ठी की परिचर्चा से ही मिली थी। पहले दिन की परिचर्चा कुछ बिखर गई थी—मैं भी अपनी बात ठीक ढंग से नहीं कह पाया था। अतः उसी परिचर्चा के संदर्भ में अपने विचारों को संकलित करने का संकल्प मेरे मन में हुआ और एक काल्पनिक प्रसंग की उद्भावना कर प्रतिवेदन या रिपोर्ताज के रूप में मैंने इस निबंध की रचना की। कल्पना के सक्रिय होते ही शास्त्रीय तर्क-बंध अपने-आप ढीले पड़ गए और मेरी विनोदवृत्ति को थोड़ा अवकाश मिल गया। प्रसंग इस गंभीर भूमिका के साथ बांधा गया था कि प्रायः सभी ने उसे सही मान लिया और अनेक मित्र डॉ० शैलेन्द्रमोहन जौहरी के बारे में पूछताछ भी करने लगे। जहां तक मुझे स्मरण है, स्वयं जैनेन्द्र जी भी चक्कर में आकर कहने लगे थे कि आदमी तो जानदार मालूम देते हैं—उन्हें लिखना चाहिए। पर इतने ही में वे महिला, जिन्हें प्रस्तुत निबंध में दिल्ली दरवाज़े पर छोड़ने का उल्लेख है, हँस पड़ीं और रहस्य खुल गया। 'नवनिर्माण : साहित्य की व्यापकता के उपादान' रेडियो-वार्ता के रूप में प्रसारित हुआ था। स्वतंत्र भारत में वह नवनिर्माण का युग था—और आकाशवाणी की ओर से 'नवनिर्माण' के विभिन्न पक्षों का सर्वेक्षण करने के उद्देश्य से एक वार्तामाला का आयोजन किया गया था. जिसमें मुझे साहित्य के क्षेत्र में नवनिर्माण की दिशाओं और सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए आमंत्रित किया गया था। वार्ता तो संक्षिप्त थी, पर यह मूल रचना का अविकल रूप है।

शताब्दी के छठे दशक में केवल तीन सैद्धांतिक लेख लिखे गए : 'साहित्य के मानदण्ड' (१९५४ ई०), 'कविता क्या है?' (१९६०ई०) और 'साहित्य का धर्म' (१९६०ई०)—, यद्यपि भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का व्यवस्थित एवं गंभीर अध्ययन मैंने इसी अवधि में किया था। इस अध्ययन का परिणाम 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, ग्रंथ-२' के रूप में प्रकाशित हुआ, जो 'रस-सिद्धांत' का पूरक ग्रंथ है। उक्त लेखों में से 'साहित्य के मानदण्ड' और 'साहित्य का धर्म' वास्तव में वक्तव्य हैं जो मैंने क्रमशः नागरी-प्रचारिणी-सभा की हीरक-जयन्ती पर एक साहित्य-गोष्ठी में और संत विनोबा के सान्निध्य में अमृतसर में आयोजित 'भारती संगम' के एक विशेष सत्र में दिए थे। तीसरा निबंध 'कविता क्या है ?' रेडियो-वार्ता के रूप में लिखा गया था। इस दृष्टि से वर्तमान दशक की भूमिका कहीं अधिक उर्वरा रही है जिसमें अब तक मैं 'रस-सिद्धांत' के अतिरिक्त बारह स्वतंत्र सैद्धांतिक निबंधों की रचना कर चुका हूं। इनमें 'साहित्य का स्तर' (१९६० ई०) दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की विचार-गोष्ठी का अध्यक्षीय वक्तव्य है और 'नाटक का प्रेक्षक और समीक्षक' (१९६४ ई०) कलकत्ता की 'अनामिका' संस्था द्वारा आयोजित 'नाट्य महोत्सव' की एक विशेष संगोष्ठी का। निबंध-संग्रह में ये दोनों वक्तव्य आरम्भ और अन्त के औपचारिक अंशों को निकालकर ही प्रकाशित किए गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के संदर्भ में' (१९६४ ई०) 'आलोचना' के एक विशेषांक के लिए लिखा गया था। यों तो आधुनिकता के प्रति मोह कोई नवीन प्रवृत्ति नहीं है—समय-समय पर चिंतन के विभिन्न क्षेत्रों में इसका स्वर गूंजता रहा है, परन्तु आज इसका जयघोष कुछ अधिक प्रखर हो गया है। आज से लगभग ३० वर्ष पूर्व प्रगतिशील आंदोलन भी युग का ही झण्डा लेकर आगे बढ़ा था; मुझे याद है कि सन् १९४० के आस-पास प्रगतिशील लेखक एक-दूसरे का अभिनन्दन प्रायः इन शब्दों में किया करते थे : 'ऐसा ही लिखते चलो, मित्र! युग तुम्हारे हाथ में है।'—'इन कविताओं में युग बोल रहा है।' धीरे-धीरे उनका स्वर मंद पड़ता गया और युग-बोध का एकाधिकार जब नये लेखकों के हाथ में आ गया तो युग-बोध के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या की आवश्यकता पड़ने लगी। 'आलोचना' का उक्त विशेषांक कदाचित् इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर प्रकाशित किया गया था। इसमें हम जैसे अनाधुनिक लेखकों को भी साग्रह आमंत्रित किया गया। मेरी अपनी सौन्दर्य-कल्पना में युग-बोध अथवा प्राचीन या नवीन भाव-बोध जैसी अलग-अलग प्रवृत्ति-रेखाएं कभी नहीं रहीं। फिर भी, इन आन्दोलनों की गतिविधि का निरीक्षण तो मैं अपने ढंग से करता ही रहा हूं, अतः इस अवसर का लाभ उठाकर मैंने 'आधुनिकता' की नवीनतम धारणाओं के संदर्भ में अपने विचारों को इस लेख में समाकलित करने का प्रयत्न किया। मेरा मत है कि आधुनिकता जीवन और चिंतन की विधि है, मूल्य नहीं है। शेष निबंध दो मालाओं के अंतर्गत आते हैं : पहली माला के अंतर्गत 'मेरी साहित्यिक मान्यताएं' (१९६५ ई०) से सम्बद्ध तीन निबंध हैं और दूसरी के अंतर्गत छह निबंधों में काव्य-बिम्ब के स्वरूप, प्रकार तथा मूल्य आदि का विवेचन है। 'मेरी साहित्यिक मान्यताएं' नाम से 'आकाशवाणी' ने एक वार्तामाला का कार्यक्रम बनाया था जिसमें एक वार्ता के लिए मुझे भी आमंत्रण मिला था। विषय मुझे अनुकूल लगा और रेडियो के आमंत्रण को निमित्त बनाकर मैंने परस्पर-सम्बद्ध तीन निबंध लिखे जिनका उपयोग कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में आयोजित 'श्री घनश्यामदास बिड़ला व्याख्यान-माला' के अंतर्गत किया गया। इस निबंध-माला में आत्मनिरीक्षण के द्वारा मैंने अपनी उन धारणाओं को यथातथ्य रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो पिछले १० वर्षों की साहित्य-साधना के फलस्वरूप क्रमशः निर्मित होती रही हैं और जो आज मेरे साहित्यिक दृष्टिकोण का मूल आधार बन गई हैं। ये, वास्तव में, मेरी मान्यताएं हैं जिनमें अध्ययन-मनन और साथ ही स्वतंत्र चिंतन के परिणाम अंतर्भुक्त हैं। अभी किसी समीक्षक ने शिकायत की थी कि इन निबंधों में अनेक परम्परागत धारणाओं की आवृत्ति है। मुझे लगा जैसे ये सज्जन 'मान्यता' और 'स्थापना' में भेद नहीं कर पाये। मान्यता न स्थापना का पर्याय है और न उद्भावना का। जिस प्रकार जीवन में कोई व्यक्ति सर्वथा मौलिक या परम्परा से भिन्न विश्वास लेकर नहीं जी सकता, इसी प्रकार साहित्य में भी यह दावा कौन कर सकता है कि उसकी प्रत्येक मान्यता मौलिक है। हो सकता है, कुछ व्यक्ति यह दावा कर सकते हों कि उनका हर विश्वास—प्रत्येक जीवन-मूल्य नया है; परन्तु दुर्भाग्य से मैं अपनी गणना ऐसे मौलिक व्यक्तियों में नहीं करता। अपने इन निबंधों में मैंने इस बात पर बल दिया है कि सत्य तो चिरंतन है—वह नया-पुराना नहीं होता, उसको सिद्ध करने की विधि मनुष्य की अपनी होती है और वही उसकी मौलिक उपलब्धि होती है। इन निबंधों में मैंने कुछ ऐसे प्रश्नों का अपने ढंग से समाधान करने का प्रयत्न किया है जो मेरे ग्रंथ के प्रकाशन के बाद रस-सिद्धांत के सम्बन्ध में गंभीर रुचि के विचारकों ने उठाए थे—जैसे, 'क्या रस-सिद्धांत एक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विकासशील काव्य-सिद्धांत है ?'—या 'रस के प्रसंग में तारतम्य का क्या अर्थ है ?'—आदि। इनमें से तीसरा निबंध आलोचना के स्वरूप और प्रक्रिया आदि से सम्बद्ध है जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि साहित्यिक आलोचना किस अर्थ में सर्जनात्मक होती है। ये तीनों निबंध एक प्रकार से आत्मचिंतन या आत्म-निरीक्षण के परिणाम हैं और इनमें मैंने पूरी ईमानदारी के साथ आत्मान्वेषण का प्रयत्न किया है। काव्य-बिम्ब से सम्बद्ध सभी लेख सन् १९६६ में लिखे गए हैं। वर्तमान काव्य में बिम्ब की बड़ी चर्चा है—इस युग में यूरोप और अमेरिका में जो अनेक काव्यान्दोलन होते रहे हैं, उनमें किसी न किसी प्रकार से बिम्ब पर बल दिया गया है, काव्य-शास्त्र के ग्रंथों में भी बिम्ब-विधान का विवेचन-विश्लेषण प्रमुख रहता है और अनेक स्वतंत्र पुस्तकें केवल काव्य-बिम्ब पर ही लिखी गई हैं। इधर मेरे मन में भी रस, वक्रोक्ति और रीति आदि के बाद अलंकार-सिद्धांत का अध्ययन करने की वासना बनी हुई है। अतः पश्चिम के नवीन आलोचनाशास्त्र का पर्यालोचन करते हुए मुझे काव्य-बिम्ब का स्वरूप-विवेचन करने की प्रेरणा हुई। वास्तव में मुझे लगा कि पश्चिम का आलोचक आज बिम्ब के महत्त्व से इतना आक्रांत है और वह न केवल मनोविज्ञान एवं दर्शन की, वरन् नृतत्त्वशास्त्र तथा भौतिकविज्ञान आदि की प्रतिपत्तियों में भी इतनी बुरी तरह उलझ गया है कि काव्य-बिम्ब का मूल बिम्ब ही एकदम अस्त-व्यस्त हो गया है। अतः इस माला का पहला लेख तो मैंने एक प्रकार से आत्मबोध के लिए ही लिखा है। यह लेख पहले जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय की ओर बाद में दिल्ली विश्व-विद्यालय की एक संगोष्ठी में पढ़ा गया। वहां इसके विषय में जो प्रश्नोत्तर हुए उनसे प्रेरित होकर फिर मैंने अन्य निबंधों की रचना की और इस प्रकार काव्य-बिम्ब के मौलिक तत्त्वों का एक संक्षिप्त किन्तु सान्द्रित अध्ययन प्रस्तुत करने का अवसर अनायास ही हाथ आ गया।

खण्ड-२ के दो भाग हैं : (क), में सात निबंध हैं जिनमें आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है। इनमें 'छायावाद' शीर्षक निबंध की रचना सबसे पहले हुई थी। सन् १९४० के आसपास प्रगतिवाद का आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा था—'नई कविता' की तरह उसकी भी सीधी टक्कर छायावाद के साथ ही थी, यानी वह भी छायावाद के अभावों और दोषों के आधार पर ही अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध कर रहा था। अतः पत्र-पत्रिकाओं और साहित्य-गोष्ठियों में प्रायः इन दोनों की तुलनात्मक परिचर्चा हुआ करती थी। सन् १९४३ में हिन्दी-साहित्य-परिषद्, मेरठ की ओर से आयोजित एक विशेष गोष्ठी में छायावाद और प्रगतिवाद की उपलब्धियों का आकलन किया गया। डॉ० रामविलास शर्मा, श्री शिवदानसिंह चौहान, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ने प्रगतिवाद का पक्ष प्रस्तुत किया था और मैंने तथा कतिपय अन्य मित्रों ने छायावाद का। इस निबंध का वाचन उसी गोष्ठी में हुआ। वातावरण में काफ़ी उत्तेजना पैदा हो गई थी। निबंध के अंत में मैंने लिखा था: "जिस कविता ने नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर एक बृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया; जिसने वस्तु-मात्र पर अटक जानेवाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और सरल-से-सरल भाव-वीचियों को पकड़ सकें; जिसने जीवन की कुंठाओं को अनन्त रंग वाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया, जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम-कटाक्ष प्रदान किए; जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छायाचित्रों से जगमग कर दिया; और, अंत में जिसने 'कामायनी' का समृद्ध रूपक, 'पल्लव' और 'युगांत' की कला, 'नीरजा' के अश्रु-गीले गीत, 'परिमल' और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'अनामिका' की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है!" (विचार और अनुभूति, पृष्ठ ६०)। इसके बाद एक वाक्य और भी था—'उस पर चर्चा करने से पहले आलोचक को गुलाबजल से आचमन कर लेना चाहिए'; परन्तु प्रकाशन के समय इसको मैंने निकाल दिया था, क्योंकि तब तक वह बौद्धिक उत्तेजना समाप्त हो चुकी थी। इस शृंखला का दूसरा निबंध है 'प्रगतिवाद' (१९४४ई०) जो हिन्दी कविता की इस नई प्रवृत्ति के स्वरूप को अपने तथा दूसरों के लिए स्पष्ट करने के उद्देश्य से, स्वतंत्र रूप में, लिखा गया था। उस समय स्वभावतः इस नवीन साहित्य-चेतना का स्वरूप अस्पष्ट था : क्रांति मात्र का उद्घोष करनेवाली प्रत्येक कविता प्रगतिवाद के मंच से प्रचार की हक़दार बन सकती थी। कुछ दिन तक 'नवीन' और 'दिनकर' भी इसी शिविर के अंग माने जाते थे, परन्तु धीरे-धीरे शुद्ध प्रगतिवादी लेखक इन्हें फ़ासिस्टवादी कवि कहने लगे। अपने इस लेख में यद्यपि मैंने पूरी ईमानदारी के साथ प्रगतिवाद की शक्ति और सीमा का निर्देश किया था, फिर भी इससे कुछ उग्रपंथी लेखक अत्यन्त रुष्ट हो गए थे। 'प्रयोगवादी कविता' (१९४८ ई०) की रचना भी स्वतंत्र लेख के रूप में हुई थी और 'शनिवार समाज' की एक गोष्ठी में शायद श्रीमती सत्यवती मल्लिक के घर मैंने इसे पहली बार पढ़ा था। उस समय तक छायावाद की विरोधी प्रवृत्ति दो धाराओं में विभक्त होने लगी थी—प्रगतिवाद की 'अनगढ़ सामाजिक चेतना' से असंतुष्ट होकर अनेक कवि-लेखक शुद्ध साहित्य की परिधि के भीतर ही अपनी क्रांतिकारी शक्तियों को आजमाने लगे थे और एक नई चेतना का उदय हो रहा था। ये कवि 'प्रयोग' शब्द का प्रयोग बार-बार करते थे और वस्तु तथा शिल्प दोनों में उसके महत्त्व पर ज़ोर देते थे। अज्ञेय के सम्पादकत्व में 'तार-सप्तक' कई वर्ष पूर्व निकल चुका था और एक वर्ग के भीतर हिन्दी-कविता में यह प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती जा रही थी। 'प्रयोगवादी कविता' शीर्षक निबंध इसी नव-प्रवृत्ति की रूपरेखा को स्पष्ट करने के लिए लिखा गया था। 'प्रयोग' शब्द तब तक हिन्दी-साहित्य के वायुमण्डल में तो व्याप्त हो चला था, फिर भी काव्य की प्रवृत्ति-विशेष के लिए यह नाम स्थिर नहीं हुआ था। इसीलिए मेरे उक्त निबंध पर चर्चा के समय जैनेन्द्रजी तथा दो-एक अन्य प्रतिष्ठित लेखकों ने यह व्यंग्य किया था कि आलोचक लोग पहले तो हवा में भूत खड़ा कर लेते हैं और फिर उस पर निशाने लगाते हैं। प्रस्तुत निबंध में मैंने संकेत किया था कि इन नई कविताओं में रस नहीं है—शायद तभी से रस-सिद्धांत के विरुद्ध नये कवियों ने एक संगठित मोर्चा बना लिया है, जो आज तक सक्रिय है। सन् १९४९-५० के आस-पास आकाशवाणी के अधिकारियों के समक्ष आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियों पर व्याख्यान देने के लिए मैंने एक प्रारूप तैयार किया था जो बाद में लघु-लेख में परिणत होकर 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां' लेखमाला की भूमिका बन गया। इस लेख में अंकित रूपरेखा के अनुसार उसी वर्ष क्रमशः 'राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता' (१९५० ई०) और 'वैयक्तिक कविता' (१९५० ई०) तथा 'गांधी-दर्शन और काव्य' की रचना हुई। 'वैयक्तिक कविता' का वाचन 'शनिवार समाज' की एक गोष्ठी में हुआ था जहां दिल्ली के कुछ गीतकार उपस्थित थे और 'गांधी-दर्शन तथा काव्य' का उपयोग मैंने वर्षों बाद एक गांधी-सभा में किया था।

(ख) भाग में संकलित नौ निबंधों के रचना-काल की परिधि प्रायः दो दशकों तक प्रसरित है। इनमें से पहला लेख 'आलोचना की आलोचना' (१९३९-४० ई०) सत्येन्द्रजी के अनुरोध पर उनके सम्पादकत्व में प्रकाशित 'साधना' पत्रिका के विशेषांक के लिए लिखा गया था। मेरा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुमान है कि शुक्लोत्तर हिन्दी-आलोचना की प्रवृत्तियों पर यह पहला विश्लेषात्मक निबंध था। शुक्लोत्तर आलोचना में मेरा भी अपना थोड़ा-बहुत स्थान बन चुका था, अतः आगरा की एक अंतरंग मित्र-गोष्ठी में यह चर्चा उठी कि इस विवेचन में मेरे योगदान का उल्लेख किस प्रकार हो। उस समय तक शिष्टाचार के प्रायः प्राचीन मूल्यों की ही प्रतिष्ठा थी जिनके अनुसार लेखक के द्वारा अपना उल्लेख अनुचित ही माना जाता था। 'अज्ञेय' की कविता की वस्तुपरक तटस्थ प्रशस्ति करने का अधिकार जैसा आज 'वात्स्यायन' को प्राप्त है वैसा 'अयोध्यासिंह उपाध्याय' को 'हरिऔध' की कविता का मूल्यांकन करने का नहीं था। यह विनयाचार मुझ-जैसे यशःप्रार्थी लेखक को महंगा अवश्य पड़ता, पर सत्येन्द्र जी ने आरम्भ में एक सम्पादकीय टिप्पणी के द्वारा इस समस्या का अंशतः समाधान कर दिया था। इसके कुछ ही महीने बाद मैंने 'हंस' के 'हिन्दी-कविता अंक' के लिए 'आधुनिक हिन्दी-काव्य के आलोचक' (१९४० ई०) शीर्षक से एक और निबंध लिखा जो 'आलोचना की आलोचना' के पूरक रूप में 'विचार और अनुभूति' में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष रेडियो-वार्ता के निमित्त 'हिन्दी-उपन्यास' (१९४० ई०) की रचना हुई। अपनी रोचक शैली के कारण मेरा यह निबंध अत्यंत लोकप्रिय हुआ—स्वर्गीय डॉ० अमरनाथ झा ने एक पत्र में इस प्रकार की आलोचना-शैली की प्रशंसा की थी। प्रस्तुत निबंध को इस रूप में लिखने की प्रेरणा मुझे रेडियो के एक अधिकारी के व्यंग्य-वाक्य से मिली थी जो अकसर यह कहा करते थे कि हिन्दी की आलोचना बड़ी भारी होती है। 'हिन्दी में हास्य की कमी' (१९४४ ई०) भी एक रेडियो-संवाद का ही विस्तृत रूप है। इस लेख के प्रोफ़ेसर मेरे मित्र श्री (अब डॉक्टर) हरिवंश कोचर हैं जो उस समय दिल्ली के सेंट स्टीफ़ेन्स कॉलेज में संस्कृत-हिन्दी के प्राध्यापक थे। दो व्यक्ति मिलकर एक लेख नहीं लिख सकते—यह मानकर कोचर साहब ने लेखन का पूरा भार मुझ पर ही छोड़ दिया था और सरल स्वभाव से परिसंवाद के एक पात्र की भूमिका मात्र अदा करना स्वीकार कर लिया था। 'ब्रजभाषा का गद्य (टीका-साहित्य)' (१९५३ ई०) के मूल में भी रेडियो की ही प्रेरणा थी—और यही बात 'स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी आलोचना' (१९५६ ई०) के विषय में भी सत्य है; परन्तु इन दोनों के कुछ अंश ही रेडियो से प्रसारित हुए थे, क्योंकि ये लेख रेडियो-वार्ता के सामान्य कलेवर की अपेक्षा काफ़ी बड़े हैं। 'स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी-साहित्य' की रचना 'आजकल' के एक विशेषांक के लिए की गयी थी। बाद में आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन कर इसी के आधार पर १९६५ ई० में मैंने अंगरेज़ी में एक लेख प्रस्तुत किया : 'नेहरू-युग में हिन्दी साहित्य का विकास', जिसका वाचन 'भारती संगम' द्वारा आयोजित नेहरू-व्याख्यान के रूप में पंजाब विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में किया गया। 'हिन्दी का अपना आलोचनाशास्त्र : संभावनाएं' भारतीय हिन्दी परिषद् की विचारगोष्ठी का अध्यक्षीय भाषण है। परिषद् के जयपुर-अधिवेशन में मुझसे इस विषय का प्रवर्तन करने के लिए कहा गया था; बाद में मनोनीत अध्यक्ष की अनुपस्थिति में मैंने अध्यक्ष-पद ग्रहण किया और डॉ० भगीरथ मिश्र ने विषय-प्रवर्तन किया। प्रश्न यह था—और यह प्रश्न डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने उठाया था, कि क्या हिन्दी-आलोचना में जिन आधारिक काव्य-सिद्धांतों का प्रयोग होता है वे सभी संस्कृत और अंगरेज़ी के काव्यशास्त्र से उधार लिए हुए हैं या हिन्दी के आलोचकों ने भी कुछ मौलिक सिद्धांतों की उद्भावना की है जिनके आधार पर हिन्दी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र की प्रकल्पना की जा सकती है। मैं समझता हूं कि यह प्रश्न हिन्दी में पहली बार उठाया गया था और मेरा उक्त निबंध इसके उत्तर का पहला प्रयास है। प्रस्तुत प्रश्न के दो पहलू हैं। एक तो यह कि काव्यशास्त्र काव्य का दर्शन है और दर्शन का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वरूप देश-प्रदेश, भाषा, जाति आदि से परिबद्ध नहीं होता, अतः भारतीय काव्यशास्त्र को भी हिंदी-काव्यशास्त्र, बंगला या मराठी काव्यशास्त्र में विभक्त करके देखना शास्त्र के स्वरूप को ही खण्डित करना होगा; और दूसरा यह कि जब प्रत्येक समृद्ध भाषा के साहित्य का अपना व्यक्तित्व है तो उसके अपने काव्यशास्त्र के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना भी तर्कसम्मत है। ये दोनों ही दृष्टि-बिन्दु अपने-अपने ढंग से ठीक हैं और मैंने इन दोनों का समन्वय कर समस्या का समाधान उपस्थित किया है। 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' (१९५७ ई०) 'भारतीय वाङ्मय' ग्रंथ की भूमिका का मूल अंश है। इस ग्रंथ में भारत की बारह प्रमुख भाषाओं के अपने-अपने साहित्य पर अधिकारी विद्वानों के लेख एकत्र संकलित हैं, जिनके आधार पर भूमिका में मैंने इस मौलिक स्थापना को सप्रमाण सिद्ध किया है कि विभिन्न भाषाओं के माध्यम से अभिव्यक्त भारतीय साहित्य की आत्मा एक ही है। इस लेख का भी अंगरेज़ी अनुवाद मैंने 'भारती संगम' की एक विशेष संगोष्ठी में प्रस्तुत किया था। 'रीतिकाल के कवि-आचार्यों का योग-दान' (१९५७ ई०) हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग ६ का उपसंहार-लेख है।

खण्ड-३ का आकार सबसे बड़ा है। इसके पहले भाग : कृतिकार : में २४ निबंध संकलित हैं जिनके रचना-काल की परिधि प्रायः उतनी ही है जितनी कि मेरे आलोचक की आयु—अर्थात् इस वर्ग के आरम्भिक लेख उस समय लिखे गए थे जब मैंने लिखना शुरू किया था और बाद के लेख अभी दो-एक वर्ष पूर्व की रचनाएं हैं। सबसे पहली रचना है 'वाणी के न्याय-मन्दिर में' (१९३९ ई०)। रेडियो ने एक नया कार्यक्रम आरम्भ किया था जिसका नाम उन्होंने अपनी भाषा में रखा था 'अदबी अदालत में'। अश्कजी उस समय दिल्ली स्टेशन पर काम करते थे और शायद यह योजना उन्हीं की थी। इसमें कुछ-एक प्रसिद्ध पात्रों के द्वारा अपने स्रष्टा कलाकारों के विरुद्ध अभियोग उपस्थित करने का रूपक बांधा गया था—और, इस प्रकार यह समीक्षा का या व्याज-समीक्षा का ही एक रूप था। इसी क्रम में मुझे 'ज्ञानशंकर बनाम प्रेमचन्द' पर एक फ़ीचर लिखने के लिए आमंत्रित किया गया था। विषय मुझे पसंद आया और मैंने अभिलेख तैयार कर लिया। भाषा की समस्या सामने आयी क्योंकि उस समय रेडियो पर हिन्दी के नाम पर उर्दू का ही प्रसारण होता था, परन्तु थोड़े-से बहस-मुबाहसे के बाद वह हल हो गई। इसमें निर्णय प्रेमचन्द के विरुद्ध दिया गया है।—प्रेमचन्द के प्रति मेरे मन में भी कम आदर भाव नहीं था, पर मुझे ऐसा लगता था और आज भी लगता है कि उनमें प्राणों की वह ऊर्जा और आत्मा की वह गहराई काफ़ी मात्रा में नहीं है जो उदात्त कला की सृष्टि करती है। उक्त रूपक में ज्ञानशंकर बड़े निर्भीक शब्दों में प्रेमचन्द के विरुद्ध यह आरोप लगाता है। इससे प्रेमचन्द के भक्तों में काफ़ी रोष फैला था और उन्होंने मेरे निबंध-संकलन की कटु आलोचना कर इसका प्रतिशोध भी किया था। लगभग दस वर्ष बाद सन् १९४९ में प्रेमचन्द पर मैंने फिर एक स्वतंत्र लेख लिखा और सम्पूर्ण श्रद्धा के बावजूद प्रायः अपने पूर्व-निर्णय की ही आवृत्ति की। रूपक 'विचार और अनुभूति' में तथा लेख 'विचार और विवेचन' में प्रकाशित हुआ था। 'प्रसाद के नाटक' और 'आचार्य शुक्ल और डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स' सन् १९४० की कृतियां हैं। 'प्रसाद के नाटक' की रचना स्वतंत्र रूप में हुई थी पर बाद में वह 'आधुनिक हिन्दी-नाटक' का एक परिच्छेद बन गया। प्रारंभिक निबंध होने पर भी शैली तथा विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से मुझे यह आज भी प्रिय है। 'आचार्य शुक्ल और डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स' शीर्षक निबंध 'साहित्य-संदेश' के शुक्ल-अंक के लिए लिखा गया था। आचार्य शुक्ल के निधन के उपरांत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'साहित्य-संदेश' ने श्रद्धांजलि के रूप में एक विशेषांक निकालने की योजना बनाई जिसमें मेरा काफ़ी सहयोग था—जैनेन्द्र जी, स्वर्गीय नलिन, शर्मा आदि ने मेरी ही व्यक्तिगत प्रार्थना पर अपने लेख लिखे थे। मूल योजना के अनुसार मुझे शुक्लजी की आलोचना के किसी अन्य पक्ष पर लिखने के लिए आमंत्रित किया गया था, परन्तु मैंने अपनी इच्छा से उक्त विषय पर लिखने का निर्णय किया। मैंने यह लेख बड़े परिश्रम से, बड़े साफ़ और संतुलित ढंग से, लिखा था परन्तु उस समय तक रिचर्ड्स का विशेष प्रचार न होने के कारण 'शुक्ल-अंक' की समीक्षाओं में उसकी चर्चा कम ही हुई : अधिकांश व्यक्तियों ने यही कहा कि रिचर्ड्स को हमने पढ़ा नहीं है। सैद्धांतिक आलोचना के स्तर पर शुक्लजी का विवेचन भी अत्यंत युक्तियुक्त एवं विवेकपुष्ट होता था, पर रिचर्ड्स की दृष्टि मुझे अधिक प्रखर और मर्मभेदी प्रतीत हुई। उधर व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में स्थिति सर्वथा भिन्न थी : शुक्लजी के सिद्धांत जहां काव्य की चर्वणा से उद्भूत हुए थे, वहां रिचर्ड्स ने अपने काव्य-सिद्धांत मनोविज्ञान के अध्ययन से प्राप्त किए थे : और इससे बड़ा अन्तर पड़ गया—समृद्ध साहित्यिक संस्कारों के अभाव में रिचर्ड्स की व्यावहारिक आलोचना सहृदय-चेतना की प्रतिक्रियाओं का समाकलन न होकर मनोविज्ञान की 'केस-हिस्टरी' के अधिक निकट पहुँच जाती है। अपने निबंध में मैंने ये दोनों तथ्य पूर्ण आत्मविश्वास के साथ व्यक्त किए—और आज भी मेरा मूल मंतव्य प्रायः यही है। 'गुलेरी जी की कहानियां' (१९४१ ई०) में उसी समय प्रकाशित कहानी-संकलन के आधार पर गुलेरी जी की कहानी-कला की आलोचना की गयी है। तब तक सामान्य धारणा रही थी कि गुलेरी जी ने केवल एक ही कहानी 'उसने कहा था' लिखी है, परन्तु इस संग्रह के माध्यम से दो और कहानियां सामने आईं जो गुण की दृष्टि से उतनी सफल न होने पर भी, प्रकृति में अधिक भिन्न नहीं थीं : गुलेरी का स्वस्थ जीवन-दर्शन और प्रबल भाषा, दोनों का ही पूर्वाभास इनमें मिलता था। इन्हीं के आसपास एक अन्य निबंध 'यौवन के द्वार पर' लिखा गया, जिसकी काफ़ी चर्चा रही। इसमें एक काल्पनिक परिसंवाद के माध्यम से दिनकर, अंचल और नरेन्द्र की काव्य-प्रतिभा का विवेचन प्रस्तुत किया गया। महादेवी के बाद कवियों की जो नई पीढ़ी उभर रही थी, उनमें ये कवि अपना विशिष्ट स्थान बनाते जा रहे थे। वात्स्यायन जी उन दिनों मेरठ में रहते थे और दिल्ली काफ़ी आते-जाते थे—इसे पढ़कर उन्होंने मुझे सलाह दी थी कि अपने आचार्यत्व के आतंक से मुक्त होकर मुझे इस तरह की रचनाएं और भी लिखनी चाहिए। कई अन्य मित्रों के भी पत्र आए और साहित्य-गोष्ठियों में अच्छी चख़ रही थी। दो-एक सीधे-सादे बन्धु इस गोष्ठी की घटना को सच भी मान बैठे। पं० सोहनलाल द्विवेदी का उन दिनों अच्छा प्रभाव था, परन्तु मैंने अपने इस लेख में उनसे 'वॉक आउट' करा दिया था। इस पर उन्होंने अपनी नई कविता-पुस्तकें 'वासवदत्ता' आदि मेरे पास भेजीं और पत्र में लिखा : "इन पुस्तकों के न होने से शायद आप मेरे 'यौवन के द्वार' तक नहीं पहुँच पाए; आशा है अब यह बाधा नहीं रहेगी।"

इस भाग में और भी छह निबंध ऐसे हैं जिनकी रचना रेडियो के निमित्त से हुई थी।—'महादेवी की आलोचक दृष्टि' (१९४५ ई०) 'दीपशिखा' (१९४४ ई०) का पूरक निबंध है। 'दीपशिखा' की समीक्षा भी मैंने रेडियो पर ही की थी जिसमें उसके गीतों में मांसल अनुभूति के अभाव की शिकायत की गयी थी। उसी के अंतर्गत 'दीपशिखा' की महत्त्वपूर्ण भूमिका के विषय में फिर कभी चर्चा करने का संकेत भी था। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' के प्रकाशन के बाद मैंने अपने उस संकल्प की पूर्ति की। 'तुलसी और नारी' का प्रसारण सन् १९५२ में हुआ था

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और इसके पक्ष-विपक्ष में बहुत-कुछ वाद-विवाद भी हुआ था। 'दिनकर के काव्य-सिद्धान्त' (१९४४ ई०) उनके निबंध-संग्रह 'मिट्टी की ओर' की संश्लेषात्मक आलोचना है। 'केशवदास का आचार्यत्व', 'बिहारी की बहुज्ञता,' 'फ्रायड और हिन्दी साहित्य' विश्वविद्यालय-कार्यक्रम के अंतर्गत प्रसारित हुए थे। 'केशवदास का आचार्यत्व' की रचना रिपोर्ताज शैली में हुई है, इसमें उल्लिखित सभी नाम वास्तविक हैं, यद्यपि घटना काल्पनिक है। प्रसारण से पहले मैं हिन्दी-विभाग की एक गोष्ठी में इसका वाचन कर चुका था। इस गोष्ठी में मेरी उस एम० ए० कक्षा के सभी विद्यार्थी उपस्थित थे जिनका उल्लेख प्रस्तुत निबंध में किया गया है। शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में फ्रॉयड की चर्चा हिन्दी में बड़े ज़ोर से होने लगी थी। फ्रॉयड के सिद्धान्त ऊपर से जितने सरल प्रतीत होते थे, अपने वास्तविक रूप में वे उतने ही सूक्ष्म और जटिल थे। काव्य में रस-तत्त्व के प्रति आग्रह होने के कारण स्वभावतः मैं उनकी ओर आकृष्ट हुआ और अपने दो-एक लेखों में मैंने काव्य के मूल में काम की प्रेरणा का अनुमोदन किया। बस फिर क्या था, लोग मुझे फ्रॉयड का अनुयायी मानने लगे और इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय के साथ मेरी गणना हिन्दी के मनोविश्लेषणवादी आलोचकों में करने लगे। इसमें संदेह नहीं कि फ्रॉयड के मनोदर्शन के प्रति मेरा आकर्षण था और मैंने अत्यन्त रुचिपूर्वक उनके ग्रन्थों का अध्ययन किया था—साथ ही इसमें भी संदेह नहीं कि मेरे रागात्मक दृष्टिकोण को, जो जीवन और काव्य में मानवीय एवं रागात्मक मूल्यों को नैतिक मूल्यों की अपेक्षा अधिक प्रभावी मानता था, फ्रॉयड के दर्शन से अवश्य ही बल मिला था; परन्तु फ्रॉयड की अतिवादी और एकांगी दृष्टि का मैं क़ायल नहीं था और उनके जीवन-दर्शन की सीमाएं बहुत जल्दी ही मेरे मन में स्पष्ट हो गई थीं। हां, उनकी विश्लेषण-पद्धति का लाभ मैंने अवश्य लिया, परन्तु वह भी एक सीमा के भीतर ही। फिर भी यार लोग मुझे फ्रॉयड के साथ बांधते रहे। फ्रॉयड का दुर्भाग्य यह रहा कि हिन्दी के लेखक उसका जितना समर्थन या विरोध करते थे, उतना अध्ययन नहीं करते थे। हिन्दी में फ्रॉयड पर प्रामाणिक सामग्री आज भी अत्यन्त स्वल्प मात्रा में उपलब्ध है। इस लेख में मैंने पहले तो अपने विषय में फ्रॉयड-भक्ति के आरोप का निर्भ्रान्त रूप से खण्डन किया, फिर फ्रॉयड के मूल सिद्धांतों का सारांश प्रस्तुत करते हुए संकेत रूप से हिन्दी-साहित्य पर उनके प्रभाव का उल्लेख किया। मेरी धारणा है कि फ्रॉयड के मूल सिद्धांत, हिन्दी-साहित्य पर उसके प्रभाव और उसके जीवन-दर्शन के विषय में मेरे अपने दृष्टिबिन्दु को स्पष्ट करने में इस लघुलेख ने निश्चय ही सहायता की, यद्यपि इसके बाद भी एक अर्धशिक्षित महिला-लेखिका ने, जिन्होंने न मेरे साहित्य को ढंग से पढ़ा है, और न जिनमें फ्रॉयड को पढ़ने-समझने की बुद्धि है, अपने एक लेख में यह लिख मारा कि मेरी काव्य-दृष्टि फ्रॉयड के काम-सिद्धांत से आगे नहीं गई।

शेष निबंधों में 'श्यामसुन्दरदास की आलोचना-पद्धति' की रचना 'साहित्य-संदेश' के 'श्यामसुन्दरदास-अंक' के लिए की गई थी। हिन्दी-साहित्य-जगत् में उन दिनों 'साहित्य-संदेश' का विशेष स्थान था और उसके अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषांक प्रकाशित हो चुके थे। डॉ० श्यामसुन्दर-दास (१९४६ ई०) की अपनी सीमाएं थीं—और सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनके सहयोगी थे; फिर भी मुझे लगता था कि उनका उचित मूल्यांकन नहीं हुआ। डॉ० श्यामसुन्दरदास का व्यक्तित्व बड़ा ही तेजस्वी था : उनमें संयोजन और प्रशासन की क्षमता तो अद्भुत थी ही, साथ ही बौद्धिक क्षमता और साहित्यिक मेधा भी कम नहीं थी। अतः 'साहित्य-संदेश' का प्रस्ताव मुझे अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हुआ और मैंने बड़ी निष्ठा के साथ, किन्तु सन्तु-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लन की रक्षा करते हुए, उनके कर्तृत्व की समीक्षा प्रस्तुत की। 'टी० एस० इलियट का काव्य-गत अव्यक्तिवाद' शीर्षक निबंध भी इसी अवधि में लिखा गया। हिन्दी-साहित्य में उस समय रोमानी कवियों का प्रभाव प्रायः समाप्त-सा हो चुका था और ऐसी साहित्यिक प्रतिभाएं बुद्धि-जीवी वर्ग में लोकप्रिय होती जा रही थीं जो यूरोप में रोमानी काव्य-चेतना के विरोधी आन्दोलन का नेतृत्व कर रही थीं। इलियट इनके अग्रणी थे और हिन्दी में उनके काव्य तथा काव्य-सिद्धांतों की बड़ी चर्चा थी : अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में परम्परा और प्रयोग आदि से सम्बद्ध उनके विचारों को अपने कई लेखों का आधार बनाया था। इस प्रकार इलियट का अध्ययन उस समय के आधुनिक साहित्य-बोध का एक आवश्यक प्रमाण माना जाता था। अंगरेज़ी विभाग के मेरे दो युवा सहयोगी श्री समर सेन और श्री अमलेन्दु दास इलियट के बड़े भक्त थे और कॉलेज में कुछ वर्ष पूर्व श्री बलवन्त भट्ट की प्रेरणा से 'शेक्सपियर सोसाइटी' का नाम 'इलियट सोसाइटी' कर दिया गया था। उसी में दास ने 'इलियट के काव्य-सिद्धांत' विषय पर एक लेख पढ़ा। इलियट के काव्य का अवलोकन मैं कर चुका था और उनके समीक्षात्मक लेखों का भी अध्ययन कर चुका था। उनका काव्य तो समर्थकों के सभी तर्कों के बावजूद, एक सीमा से आगे, मेरे गले नहीं उतरा, परन्तु उनकी आलोचना ने मुझे काफ़ी प्रभावित किया। यों उनके मूल सिद्धांत से मेरा मतभेद था और आज भी है, पर उनके सिद्धांत-प्रतिपादन में मुझे विवेक का दृढ़ आधार मिला। अपने मित्र दास के उस लेख से प्रेरित होकर—उसके जवाब में मैंने अपना लेख लिखा जिसमें इलियट के अव्यक्तिवादी सिद्धांत की आलोचना की। मुझे लगा कि अपने सिद्धांत में इलियट भाव के भोक्ता और स्रष्टा के सूक्ष्म आध्यात्मिक सम्बन्ध को पकड़ पाने में असमर्थ रहे हैं। अपने इस विचार का पल्लवन मैंने गत वर्ष फिर 'मेरी साहित्यिक मान्यताएं—१' में किया है। यह निबंध कॉमर्स कॉलेज के होस्टल में आयोजित 'शनिवार-समाज' की एक गोष्ठी में पढ़ा गया था जिसमें अंगरेज़ी के भी अनेक विद्वान् आमंत्रित किए गए थे। 'पंत का नवीन जीवन-दर्शन' में 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' के आधार पर पंतजी की काव्य-दृष्टि के नवोन्मेष का अभिनन्दन किया गया है। 'ज्योत्स्ना' के बाद जब पंतजी की काव्य-कला में, बाह्य-जगत् के साथ निकटतर संपर्क के फलस्वरूप, मांसल रंग उभरने लगे तो उनके अन्य प्रशंसकों की भांति मुझे भी सन्तोष हुआ। परन्तु जब वे मार्क्सवाद के रंग में रंगकर 'युगवाणी' के गीतगद्य लिखने लगे तो उतनी ही निराशा हुई। 'ग्राम्या' की कला में रस का समावेश तो हुआ, फिर भी मेरा विश्वास यही था कि कवि अपनी प्रकृत भूमि को छोड़ जिस क्षेत्र में भटक गया है वह उसके लिए कठिन है और अनजान भी—

कठिन भूमि कोमलपदगामी !

अतः जब 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' में कवि की कल्पना फिर अपने परिचित स्वर्णलोक में विचरण करने लगी तो मेरे विश्वास को बल मिला और मैंने इस स्वाभाविक परिवर्तन का स्वागत किया।

सन् १६४८ में मैंने सियारामशरण गुप्त पर एक पुस्तक का सम्पादन करने की योजना बनाई थी। मेरी ही तरह सियारामशरण गुप्त के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनेक प्रशंसक यह मानते थे कि उनका उचित मूल्यांकन नहीं हुआ— अतः मेरे प्रस्ताव का सभी ने सहर्ष अनुमोदन किया और एक वर्ष में ही ग्रंथ तैयार हो गया। दद्दा ने मेरे विशेष अनुरोध पर 'अनुज' शीर्षक से सियारामशरण पर अत्यंत स्निग्ध-सरस संस्मरण-लेख लिखा। मेरा निबंध 'सियारामशरण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गुप्त की कविता' (१९४९ ई०) इसी संदर्भ में लिखा गया था। इसमें एक स्थापना यह है कि कवि ने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है और शृंगारादि के प्रसंग में उनके अतिशय संयम पर मैंने कुछ व्यंग्य भी किए हैं जो कदाचित् अधिक मुखर हो गए हैं। स्वभावतः सियाराम जी को मेरे ये कथन अधिक रुचिकर नहीं हुए और एक दिन बातचीत में उन्होंने मेरे तर्कों का व्यंग्यपूर्वक प्रतिवाद किया, क्योंकि वाक्‌संयम के पक्ष में भी तो उतना ही कहा जा सकता है। इसी बीच में दद्दा, जो इस विवाद में बड़ा रस ले रहे थे—और वे प्रायः इस प्रकार के हर विवाद में रस लेते थे, बोल उठे, "तुमने लेख तो बड़े प्यार से लिखा है पर कुछ बातें बे-अक़ली की कही हैं।" सब लोग हँस पड़े और विवाद समाप्त हो गया। कई वर्ष बाद, जब सियाराम जी भी थे, मैं अपने किसी लेख या शायद इंटरव्यू का एक अंश पढ़कर सुना रहा था जिसमें मैंने यह स्वीकार किया था कि अपनी पुरानी शृंगार-मुखर कविताओं को मैं प्रायः अपने छात्रों से बचा कर रखने का प्रयत्न करता हूं। दद्दा भला कब चूकने वाले थे, फ़ौरन सियाराम जी की ओर देखकर कह उठे : "चलो, अब तो अक़ल आ गई।" 'बच्चन की कविता' (१९५० ई०) की रचना इसके लगभग एक वर्ष बाद हुई थी। सन् १९५० में, जब 'कवि-भारती' का सम्पादन चल रहा था, मैंने व्यवस्थित रूप से आधुनिक कवियों की समस्त कृतियों का अध्ययन किया था। बच्चन की आरंभिक रचनाएं 'मधुशाला' आदि, जिनकी मेरे किशोर-काल में बड़ी धूम थी, मुझे बिलकुल अच्छी नहीं लगती थीं और उनके प्रेमियों से मेरी अकसर झड़प हो जाती थी। आगरा की एक गोष्ठी में बच्चन पर एक लेख पढ़ा गया : मैंने बड़े स्पष्ट शब्दों में उस लेख की प्रतिपत्तियों और उनके समर्थन में उद्धृत बच्चन की पंक्तियों की आलोचना की। नई हवा उन दिनों चलने लगी थी और नये लोग बच्चन के प्रशंसक थे : श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के नेतृत्व में नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, रांगेय राघव आदि ने मुझे घेरा, माचवे जी इधर-उधर दोनों तरफ़ थे। मैं भी डटा ही रहा; वास्तव में, 'गूंजी अब मदिरालय में लो पियो पियो की बोली' जैसी सपाट कविता की दाद देनेवालों पर मुझे कभी क्रोध आता था और कभी रहम। बाबू गुलाबराय जी की राय मांगी गई तो उन्होंने कहा कि कविता अभिधात्मक अवश्य है, फिर भी इसमें जीवन है। मुझे याद नहीं कि उस समय बाबू जी के भोलेपन पर मुझे रहम आया या उनके समन्वयवाद पर क्रोध; पर गोष्ठी में मैं प्रायः अकेला रह गया और प्रकाशचन्द्र जी ने यह फ़ैसला दे दिया कि मेरे आर्यसमाजी संस्कार उक्त कविता के रसास्वादन में बाधक हो रहे हैं : 'सिन्स दाऊ आर्ट ए प्यूरिटन, देअर विल बी नो केक्स एंड एल्स'—'चूंकि आप आर्यसमाजी हैं, इसलिए लोग शराब और क़बाब से तौबा कर लेंगे।' मैं स्थिति की विडम्बना पर मन ही मन हँसने लगा—मैंने तो आर्यसमाज से इसलिए मुंह मोड़ लिया था कि 'सत्यार्थप्रकाश' में 'रघुवंश' और 'रामचरितमानस' को अपाठ्य ग्रंथ क़रार दे दिया गया है। 'निशा-निमंत्रण' के प्रकाशन के बाद बच्चन की कविता मेरे घट में उतरने लगी; 'एकांत संगीत' की अनेक रचनाएं भी मुझे अत्यंत प्रिय लगीं। मित्र लोग कहने लगे : 'टाइम इज़ ए ग्रेट हीलर'; परन्तु मेरी कसौटी अब भी वही थी; बच्चन की कविता ही उसके अनुकूल अर्थात् अनुभूति-प्रवण होने लगी थी और 'मधुशाला' मुझसे अब भी उतनी ही दूर थी। सन् १९५० में बच्चन के सम्पूर्ण काव्य को आद्योपान्त पढ़ने के बाद मैंने उसका एक संश्लेषात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया। अपने ढंग से मैंने बच्चन के साथ पूर्ण न्याय किया था। उनके काव्य के मूल तत्त्व अनुभूति की प्रबलता और उससे अनुप्राणित अनेक कृतियों की मैंने मुक्त कण्ठ से शुभाशंसा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की थी, परन्तु साथ ही अनुभूतिशून्य वाचाल रचनाओं की उतने ही स्पष्ट शब्दों में निन्दा भी। सब मिलाकर मेरे निबंध का स्वर बच्चन के पक्ष में ही है और मैं समझता था कि उन्हें पसंद आएगा, पर लेख-प्रकाशन के कुछ समय बाद जब पंत जी ने मुझे लिखा कि आपने बच्चन की बड़ी कठोर आलोचना की है—वह बड़ा दुखी है, तो मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ। दिल्ली में एक दिन भेंट होने पर जब उस लेख की चर्चा आयी तो बच्चन जी ने कहा, "हां, सुना है कि आपने कोई लेख लिखा है पर मैंने पढ़ा नहीं है।" 'भगवतीचरण वर्मा के काव्य-रूपक' (१९५५ ई०) का रचना-प्रसंग बड़ा रोचक है। शायद सन् १९५२–५३ के आस-पास भगवती बाबू ने तीन काव्य-रूपक लिखे थे : महाकाल, द्रौपदी और कर्ण, जिनका पाठ दिल्ली की काव्य-गोष्ठियों में कई बार मैंने सुना था। इनमें 'द्रौपदी' और 'कर्ण', विशेषकर 'कर्ण', अत्यंत प्रबल रचना है। अनेक श्रोताओं के साथ मैंने भी अत्यंत उच्छ्वासमयी वाणी में उसके औदात्य की प्रशंसा की। कदाचित् इसी से प्रभावित होकर भगवती बाबू ने मुझसे एक दिन कहा, "ये तीनों नाटक 'त्रिपथगा' के नाम से प्रकाशित हो रहे हैं और मैं चाहता हूं कि तुम इसकी भूमिका लिख दो।" इस प्रस्ताव पर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ क्योंकि उन जैसे वरिष्ठ कृतिकार के लिए भूमिका की क्या आवश्यकता हो सकती थी। मैंने यही उनसे कहा भी, परन्तु वे मचल गए और मैंने यह कहकर अनुरोध स्वीकार कर लिया कि भूमिका तो क्या, मैं एक संक्षिप्त आलोचना लिख दूंगा। एक सप्ताह का समय भी उन्होंने मुझे मुश्किल से दिया और मैंने बड़े प्रेम से एक संक्षिप्त समीक्षा लिखकर उनकी सेवा में प्रस्तुत कर दी। मैंने देखा कि उसे पढ़कर भगवती बाबू अधिक प्रसन्न नहीं हुए, इसलिए स्थिति का अनुमान कर मैंने उनसे फिर आग्रह किया कि मेरे वक्तव्य को भूमिका के रूप में न देकर वे परिशिष्ट के रूप में ही जाने दें और यदि वे समझते हों कि इसमें उनके कृतित्व के प्रति पूर्ण न्याय नहीं हुआ तो इसे बिलकुल ही छोड़ा जा सकता है। परन्तु वे आग्रह-पूर्वक उसे ले गए और कह गए कि पुस्तक छपते ही प्रकाशक मेरे पास उसकी प्रति भेज देंगे। बात आई-गई हो गई और मैं उसे भूल भी गया। महीनों बाद एक दिन कोई विक्रेता, पुस्तकालय के लिए मंजूर कराने के विचार से, बहुत-सी पुस्तकें मेरे पास लाया। इनमें 'त्रिपथगा' भी थी, पर मेरी भूमिका उसमें न आगे थी, न पीछे। सामान्यतः मुझे इस घटना पर रोष आ सकता था, लेकिन इस समय भी भगवती बाबू की बाल-चातुरी पर मुझे उसी तरह हँसी आ गई जिस तरह कई महीने पहले उनके बाल-हठ पर कुतूहल हुआ था।

'रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव' (१९६१ ई०) पंजाब के भाषा-विभाग के आमन्त्रण पर एक विशेष अभिभाषण के रूप में लिखा गया था। वह रवीन्द्रनाथ की जन्मशती का वर्ष था—देश के प्रत्येक भाग में राष्ट्रीय स्तर पर विश्वकवि का जय-जयकार हो रहा था। यह तो वास्तव में गौरव का विषय था कि कवि का इस प्रकार स्तवन हो, परन्तु इस समारोह के अतिशय उल्लास के पीछे मुझे यह आशंका हुई कि कहीं इससे अन्य भारतीय भाषाओं की विभूतियों का अवमूल्यन न होने लगे।—इसका एक कारण यह था कि तरह-तरह से रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का आकलन तो हो रहा था, और शायद अतिरंजनापूर्ण रीति से हो रहा था, पर रवीन्द्रनाथ के कवि-व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले तत्त्वों के विषय में कोई जिज्ञासा व्यक्त नहीं की जा रही थी। यह उत्साह इतना अधिक बढ़ गया था कि लोग धीरे-धीरे ऊबने लगे और विदेशी दर्शक इन समारोहों के आयोजकों को 'टैगोर के अलमबरदार' कहने लगे थे। ऑल इंडिया रेडियो में भी भारतीय साहित्य के विभिन्न रूपों पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का आकलन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करने के लिए एक सर्वभाषा-समारोह हुआ जिसकी उपन्यास-गोष्ठी का अध्यक्ष मैं था। मैंने हिंदी-उपन्यास को आधार बनाकर भारतीय उपन्यास पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का बड़ी ही मुखर भाषा में निषेध किया। बात भी ठीक थी : शरत् का तो प्रभाव था, पर रवीन्द्रनाथ का उपन्यास के क्षेत्र में कोई विशेष प्रभाव नहीं था। मेरे वक्तव्य के बाद तख़्ता पलट गया और सभी भाषाओं के प्रवक्ताओं ने अपने-अपने साहित्य के संदर्भ में यही बात कही। कुछ लोगों ने तो यह भी कहा कि इस प्रकार के विषय का चयन ही ग़लत है क्योंकि इसके पीछे ज़बरदस्ती प्रभाव ढूंढ़ निकालने की चेष्टा हो सकती है। इसका समारोह के अधिकारियों ने प्रतिवाद किया और वातावरण में थोड़ी उत्तेजना आ गई। मेरे उक्त निबन्ध की रचना इसी संदर्भ में हुई थी जिसमें रवीन्द्रनाथ के गौरव के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त करने के साथ ही रवीन्द्र भक्तों को उनके प्रभाव के विषय में आवश्यकता से अधिक उत्साह न दिखाने का परामर्श दिया गया था क्योंकि उससे तथ्यों को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करने की आशंका हो सकती थी।—'हिन्दी साहित्य पर नेहरू का प्रभाव' इसके विपरीत संदर्भ में लिखा गया था। नेहरू की मृत्यु के बाद एक दिन उनके व्यापक प्रभाव की चर्चा करते-करते कुछ मित्रों ने यह विचार व्यक्त किया कि सब मिला कर हिन्दी के लिए नेहरू का प्रभाव अहितकर ही रहा। नेहरू के जीवनकाल में मैं भी उनके स्वभाव और प्रभाव की अनेक सीमाओं की आलोचना किया करता था। यद्यपि उनके धर्म-निरपेक्षता के सिद्धांत का मैं बड़ा क़ायल था, फिर भी मुझे ऐसा लगता था मानो हिन्दू-धर्म और हिन्दी के प्रति उनके अवचेतन मन में अकारण ही एक प्रकार के विद्वेष का भाव विद्यमान था, जो मौक़े-बेमौक़े उभर आता था। लेकिन नेहरू का व्यक्तित्व इतना बड़ा था और उनके सामने दूसरे लोग इतने बौने लगते थे कि उनके दोष-दर्शन के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता था। नेहरू की मृत्यु के बाद तो देश में ऐसा सन्नाटा छा गया था कि मैं उनके सभी दोष भूल गया। अतः मैंने मित्रों के तर्क का प्रतिवाद किया और उनके तथा उन जैसे अनेक लोगों के भ्रम का निराकरण करने के लिए यह निबंध लिखा। निबंध मूलतः अंगरेज़ी में लिखा गया था, पहले वह एक फ़ैशनेबल क्लब में पढ़ा गया, बाद में शिक्षा-मन्त्रालय की प्रसिद्ध पत्रिका 'कल्चरल फ़ोरम' में प्रकाशित हुआ। उसका यह हिन्दी-अनुवाद एक-आध महीने बाद मैंने ही किया था।

'हाली के काव्य-सिद्धांत' (१९६३ ई०) 'मुक़द्दम-ए-शेर-ओ-शायरी' के हिन्दी-अनुवाद की भूमिका है जो साहित्य अकादमी के अनुरोध पर लिखी गयी थी। अकादमी का ग्रन्थ तो अभी-अभी प्रकाशित हो पाया है, परन्तु मैं इस लेख का प्रकाशन पहले हिन्दी 'आजकल' में, फिर इसके अनुवाद का प्रकाशन उर्दू 'आजकल' में और अंत में मूल लेख का उपयोग 'आलोचक की आस्था' में कर चुका था। दिल्ली विश्वविद्यालय के अंजुमन-ए-उर्दू में भी एक बार मैंने इसका वाचन किया था और उर्दू के कई विद्वानों ने यह धारणा व्यक्त की थी कि हाली का ऐसा सूक्ष्म-गहन मूल्यांकन उर्दू में भी नहीं हुआ। यद्यपि यह वाक्य उर्दू के साहित्यकारों की उदारता का परिचायक था, फिर भी इससे हिन्दी-आलोचना के स्तर के विषय में मेरे आत्म-विश्वास में वृद्धि हुई थी, इसमें संदेह नहीं। 'गिरिजाकुमार माथुर' शीर्षक निबन्ध भी 'हिन्दी के लोकप्रिय कवि' माला के अन्तर्गत गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-संचयन की भूमिका है। राजपाल एण्ड संस के निदेशक श्री विश्वनाथ जी ने मेरे सामने पहले तो मैथिलीशरण गुप्त के लिए प्रस्ताव किया था, परन्तु मैंने उनके स्थान पर सियारामशरण गुप्त को चुना। बाद में,

34727

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जब व्यावसायिक कारणों से 'साहित्य-सदन' ने इसके लिए अनुमति देने से इंकार कर दिया तो मैंने अपनी इच्छा से गिरिजाकुमार माथुर की कविताओं का संचयन तैयार करना स्वीकार कर लिया। हिन्दी के नवोदित कवि डॉ० कैलाश वाजपेयी ने, जो उन दिनों गिरिजाकुमार के निकट सम्पर्क में थे, इस कार्य में सहयोग दिया। उन्होंने माथुर के व्यक्तित्व का चित्र प्रस्तुत किया और मैंने उनके कृतित्व का आकलन किया। मेरे अनुरोध पर प्रकाशक इस बात के लिए राज़ी हो गए कि डॉ० वाजपेयी का नाम भी मेरे साथ सम्पादक के रूप में दिया जाए। गिरिजाकुमार माथुर की कविता के प्रति मेरे मन में आरम्भ से ही अनुरक्ति थी, अतः मैंने बड़े चाव से कृतियों का संचय कर उनकी कवित्व-कला का मूल्यांकन प्रस्तुत किया। आगे चलकर इस निबंध का अंतर्भाव 'आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियां' में कर दिया गया। इससे नई कविता के वृत्त में थोड़ी-सी हलचल पैदा हो गई थी: डॉ० जगदीश गुप्त ने मेरी इस शुभाशंसा को नई कविता की विजय माना और डॉ० माचवे ने अज्ञेय की सापेक्षता में माथुर के प्रति मेरे पक्षपात पर असंतोष व्यक्त किया था। इस वर्ग का अंतिम निबन्ध है 'मैथिलीशरण गुप्त का काव्य' (१९६५ ई०) जो कवि की मृत्यु के पश्चात् 'दद्दा : महान् व्यक्तित्व' के पूरक रूप में लिखा गया था। इसका उपयोग मैंने एक बार कवि के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर आगरा विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित विस्तार-भाषण-माला और बाद में कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में 'श्री घनश्यामदास बिड़ला व्याख्यानमाला' के अंतर्गत किया था। सन् १९६५ में जब दिल्ली विश्वविद्यालय ने कवि-चित्र के अनावरण के अवसर पर मुझसे एक विशेष व्याख्यान देने की मांग की, तो मैंने इसी के आधार पर 'मैथिलीशरण गुप्त : एज़ ए पोएट' शीर्षक से एक अंगरेज़ी निबन्ध पढ़ा था। उन दिनों 'रस-सिद्धांत' पर बड़े ज़ोरों से विवाद चल रहा था—उससे मेरा तथा अन्य विवादियों का ध्यान विकृष्ट करने के लिए अनेक नए साहित्यकारों ने सलाह दी कि अब मुझे फिर व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में लौट आना चाहिए।

प्रस्तुत खण्ड के द्वितीय भाग में कृतियों की समीक्षा है। पहले पांच निबंध 'कामायनी' से सम्बद्ध हैं और पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। इस लेख-माला का प्रास्ताविक निबंध है 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएं'। इसका वाचन दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित एक अंतर्-विश्वविद्यालय संगोष्ठी में किया गया था जिसका विषय था 'हिंदी-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की समस्याएं'। इसी निबंध के प्रसंग में 'कामायनी' के पाठ-शोध के विषय में विवाद चल पड़ा था। 'कामायनी' के मूल संस्करण में पाठ की कुछ अशुद्धियां रह गई हैं जिनका सम्बन्ध अधिकतर विरामचिह्नों से है। उसमें विरामचिह्नों के प्रयोग के विषय में एकरूपता नहीं है। काव्य-ग्रन्थ के संदर्भ में विरामचिह्नों के प्रयोग के विषय में दो सामान्य पद्धतियां हो सकती हैं। एक विधि तो यह है कि वाक्य के स्वरूप की चिन्ता किए बिना छन्द के निश्चित क्रम से पूर्णविराम और अर्धविराम या एक पाई '।' और दो पाई '॥' लगा दी जाएं, और कोई चिह्न न हो—पाठक अपनी बुद्धि से यथास्थान विराम की कल्पना करता चले। मुद्रण की आरंभिक स्थिति में प्रायः यही होता था। दूसरी विधि यह है कि विरामचिह्न-प्रयोग की विकसित प्रणाली का विधिवत् पालन किया जाए। 'कामायनी' में दुर्भाग्य से ये दोनों विधियां मिल गई हैं—कहीं तो वाक्य-रूप के आधार पर और कहीं छंद-विधान के आधार पर विरामचिह्न लगाए गए हैं। इस विषय में या तो यह मानकर चला जाए कि प्रसाद स्वच्छन्दतावादी कवि थे और ऐसा कवि विरामचिह्नों के बंधनों को स्वीकार नहीं करता, या फिर नियमानुसार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पूर्णविराम, अर्धविराम, उद्धरण-चिह्न, समास-चिह्न आदि का पालन करना चाहिए। इन दोनों विकल्पों को एक साथ ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह अपने आप में एक अत्यन्त साधारण-सी बात है, और मूल कारण चाहे कुछ भी रहा हो, 'कामायनी' के अध्ययन-अध्यापन की सुविधा की दृष्टि से इस अव्यवस्था का परिहार होना चाहिए। इससे प्रसाद के प्रति किसी प्रकार का असम्मान व्यक्त नहीं होता। जहां तक 'कामायनी' के शोधकर्ताओं का सम्बन्ध है, उनके लिए उसकी पाण्डुलिपि की फ़ोटो-प्रतियां सुलभ हो जानी चाहिए।—शेष निबन्धों में, 'कामायनी में रूपक-तत्त्व' की रचना सबसे पहले सन् १६४६ में हुई थी। विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में 'कामायनी' का विधिवत् अध्यापन आरम्भ करने से वर्षों पूर्व जब 'कामायनी' का प्रकाशन ही हुआ था, मैं कई स्थानों पर उसके विषय में अनेक व्याख्यान दे चुका था। रेडियो में आने के बाद वह क्रम टूट गया और मुझे प्रायः उसका मलाल होता था। सन् १६४६ में एक बार फिर मुझे अपने उन व्याख्यानों की आवृत्ति करनी पड़ी। इस निबंध को मैंने उसी समय लिपिबद्ध किया था। अन्य निबंधों में मेरे कामायनी-विषयक बीस वर्षों के चिन्तन का नवनीत संकलित है। 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएं' में जो मौलिक प्रश्न मैंने उठाए थे, उनका यहां क्रमशः समाधान किया गया है। 'कामायनी' जैसे महनीय काव्य के संदर्भ में, आकार की दृष्टि से ये निबंध अत्यन्त लघुकाय हैं, परन्तु मेरा विनम्र विश्वास है कि इनमें 'कामायनी' के अध्ययन के नवीन सूत्र विद्यमान हैं जिनके आधार पर मौलिक अनुसंधान हो सकता है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के कुछ समय बाद पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने रेडियो-समीक्षा करते हुए मेरी विवेचना-पद्धति पर आक्षेप किए थे : यह समीक्षा उनके एक नए लेख-संग्रह में छपी है। उनकी आपत्तियां इस बात का प्रमाण हैं कि शैक्षिक-साहित्यिक राजनीति से अवरुद्ध दृष्टि किस प्रकार अपने घेरे से बाहर देखने में असमर्थ हो जाती है; जो व्यक्ति आज भी इड़ा और कुमार के सांकेतिक विवाह—सिम्बॉलिक मैरिज—की बात कर कामायनी-विषयक अध्ययन के अपूर्व विकास-विस्तार की ओर से आँखें मूंदे हुए हो, उसके पास आत्मतोष के लिए छिद्रान्वेषण के अतिरिक्त अन्य क्या उपाय शेष रह जाता है? इनमें से एक निबंध 'कामायनी का महाकाव्यत्व' तेलुगु में अनूदित होकर 'कामायनी' के तेलुगु-रूपान्तर की भूमिका के रूप में साहित्य अकादमी से प्रकाशित हो चुका है।

'कामायनी' के अतिरिक्त, इस भाग में लगभग २० अन्य कृतियों की समीक्षाएं हैं। इनमें से 'उन्मुक्त,' 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' की समीक्षाएं बिना किसी निमित्त के लिखी गई थीं और ये क्रमशः 'साहित्य-संदेश' (१६४० ई०), 'प्रतीक' (१६४८ ई०) और 'आजकल' (१६६१ ई०), में प्रकाशित हुई थीं। इनके पीछे नवप्रकाशित गौरव-ग्रन्थों के अध्ययन के उपरांत अपनी प्रतिक्रियाओं को समाकलित करने का विचार ही मुख्य था। 'शेखर : एक जीवनी' (१६४२ई०), 'दीपशिखा' (१६४४ ई०), 'सुखदा' (१६५३ ई०) और 'इरावती' (१६५४ ई०) की रचना भी प्रायः इसी तरह हुई, परन्तु बाद में 'आकाशवाणी' के पुस्तक-समीक्षा-कार्यक्रम में उनका प्रसारण हुआ था। 'शेखर : एक जीवनी' का प्रकाशन हिन्दी-उपन्यास के इतिहास में निश्चय ही एक घटना थी। यों तो प्रकाशन से पूर्व ही उसकी काफ़ी चर्चा हो चुकी थी, पर प्रकाशन के बाद हिन्दी-जगत् में उसका बड़े समारोह के साथ स्वागत हुआ और उस पर अनेक समीक्षाएं प्रकाशित हुईं। धीरे-धीरे जब उसका यश फैलने लगा तो हमारे अन्य उपन्यासकार जो 'अज्ञेय' की पीठ ठोंक रहे थे, सावधान होने लगे और यह प्रवाद फैलने लगा कि 'शेखर' एक प्रबल रचना तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अवश्य है, परन्तु उसे 'उपन्यास' नहीं कहा जा सकता। इसी विवाद की पृष्ठभूमि में मैंने 'शेखर: एक जीवनी' का अध्ययन किया और उससे प्रभावित होकर उक्त समीक्षा लिखी जो पहले 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित और फिर रेडियो से प्रसारित हुई। प्रगतिवाद के कोलाहल के बीच सन् १९४४ में 'दीपशिखा' के प्रकाशन से मेरे आत्मविश्वास को बड़ा बल मिला था, पर साथ ही मुझे यह देखकर निराशा भी हुई थी कि महादेवी की अनुभूति क्रमशः चिंतन के भार से दबती जा रही है। 'दीपशिखा' की समीक्षा में मेरे मन का वह द्वन्द्व साफ़ झलकता है और इसके लिए मुझे महादेवी जी की एक मीठी झिड़की भी खानी पड़ी थी जिसका उल्लेख मैंने अपने संस्मरण 'श्रीमती महादेवी वर्मा' में किया है। 'इरावती' (१९५४ ई०) की समीक्षा का रचना-प्रसंग मुझे याद नहीं है। शायद यों ही एक दिन प्रसाद का यह 'हंसगीत' (स्वान सांग) मेरे हाथ में आ गया था और इसमें 'कामायनी' के आनन्दवाद की गद्यमयी व्याख्या देखकर बड़े मनोयोग के साथ मैंने इस अधूरे उपन्यास का अध्ययन किया था। समीक्षा की बात क्यों मेरे मन में आई, यह स्मरण नहीं है। बाद में रेडियो से पुस्तक-समीक्षा का संविदा प्राप्त होने पर मैंने इसका प्रसारण किया था। प्रायः ऐसा ही 'सुखदा' के प्रसंग में हुआ। काफ़ी वर्षों तक मसीहाई करने के बाद जैनेन्द्र जी ने सन् १९५२ में आखिर 'सुखदा' उपन्यास लिख ही डाला। उसकी एक प्रति उन्होंने मुझे दी और यह वायदा ले लिया कि मैं उसे अवश्य पढ़ूंगा। मैंने भी स्वीकार कर लिया कि निश्चय ही उसे पढ़ूंगा और यदि उपन्यास अच्छा लगा तो उसकी समीक्षा भी करूँगा। जैनेन्द्र जी के कथा-साहित्य के अनेक प्रशंसकों की तरह मैं भी चाहता था कि वे सुकरात का सत्संग छोड़कर शरत् की सोहबत करना फिर शुरू कर दें। अतः जब उन्होंने 'सुखदा' उपन्यास लिखा, और अच्छा लिखा, तो उसकी समीक्षा करना मेरा नैतिक कर्तव्य हो गया। यह निबंध शनिवार-समाज में पढ़ा गया और आकाशवाणी से भी पुस्तक-समीक्षा-क्रम में प्रसारित हुआ। जैनेन्द्र जी का लघु उपन्यास 'त्यागपत्र' सन् १९३७ में निकला था। तब तक जैनेन्द्र जी में काफ़ी आत्मविश्वास आ गया था और इस रचना की बड़ी चर्चा हुई थी। इसी के आसपास सियारामशरण गुप्त का उपन्यास 'नारी' प्रकाशित हुआ था। उपन्यास पढ़ने में मेरी रुचि प्रायः नहीं थी; फिर भी जैनेन्द्र जी के सम्पर्क और आग्रह से मैंने इन दोनों कृतियों का अध्ययन किया और मुझे लगा मानो ये दोनों लेखक, जो परस्पर अभिन्न मित्र थे, एक-दूसरे में अपने अभाव की पूर्ति खोज रहे हों। कुछ इसी प्रकार की भावना से प्रेरित होकर मैंने उक्त दोनों कथा-कृतियों की तुलनात्मक समीक्षा की थी। यह निबंध जैनेन्द्र जी के घर पर एक गोष्ठी में पढ़ा गया था जिसमें अश्क भी मौजूद थे। इसमें दो-एक वाक्य इस प्रकार थे : 'अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुंह की रंगत को बिगाड़ता हुआ तकलीफ़ के साथ ज़हर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे ? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी भाव-परिवर्तन के, गम्भीरता के साथ, ज़हर को गट-गट कर जाए तो आपको कैसा लगेगा ? मृणाल की आत्मयंत्रणाएं कुछ ऐसी ही हैं।''—मुझे याद है कि अश्क ने इन्हें सुनकर पहले मेरी ओर और फिर जैनेन्द्र जी की ओर देखकर ज़ोर का क़ह-क़हा लगाया था। 'हिमकिरीटिनी और वासवदत्ता' (१९४२ ई०) तथा 'जयभारत' (१९५२ ई०) की समीक्षाएं भी पहले स्वतंत्र रूप में लिखी गई थीं और फिर प्रसारित हुईं। 'जयभारत' की आलोचना दद्दा ने स्वयं सुनी थी और कुछ प्रतिकूल टिप्पणियों के बावजूद उन्हें वह अच्छी लगी थी। सियारामशरण भी उन दिनों यहीं थे; उन्हें मेरा यह वाक्य बहुत पसंद आया था कि 'वे (मैथिलीशरण गुप्त) द्वापर, त्रेता, सतयुग जहां कहीं भी गए हैं, अपने युग को साथ ले गए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं।' 'हिमकिरीटिनी' की आलोचना शायद उसके कवि को पसंद नहीं आई थी। उस समय भी पं० माखनलाल चतुर्वेदी की गणना हिन्दी के वरिष्ठ एवं श्रेष्ठ कवियों में होती थी, परन्तु उनकी रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी थीं। स्वभावतः 'हिमकिरीटिनी' के प्रकाशन का हिन्दी-जगत् ने स्वागत किया और मैंने भी बड़े चाव से इस नव-प्रकाशन और उसके माध्यम से 'एक भारतीय आत्मा' के काव्य की समीक्षा का उपक्रम किया। पर 'हिमकिरीटिनी' का विधिवत् अध्ययन करने के बाद मेरे उत्साह में विशेष वृद्धि नहीं हुई। इसमें सन्देह नहीं कि उसकी अनेक कविताओं में हिन्दी की रोमानी काव्य-प्रवृत्ति के रमणीय संकेत मिलते थे; उसके अनेक चित्र नए-नए रंगों से जगमग थे और उसकी अनेक वचन-भंगिमाएं वक्रता-वैदग्ध्य से चमत्कृत थीं, फिर भी उनका बिखराव मुझे ग्राह्य नहीं हुआ। अन्विति के अभाव में जीवन और कला दोनों का ही सौन्दर्य खण्डित हो जाता है—ऐसी मेरी धारणा रही है; और इन कविताओं में अन्विति-सूत्र जगह-जगह टूटा हुआ था। अन्विति के इसी अभाव के कारण आज भी 'नई कविता,' जो 'हिमकिरीटिनी' के कवि को अपना अत्यन्त प्रतापी पूर्वज मानती है, मेरे गले नहीं उतरती। श्री सोहनलाल द्विवेदी की 'वासवदत्ता' का स्वर एकदम विपरीत था। उसकी अभिव्यक्ति सरल और अभिधात्मक थी : लगता था मानो अपनी बात को सीधे और स्पष्ट शब्दों में कहे बिना उसके कवि को संतोष ही नहीं होता था। छायावाद का युग समाप्त होते-होते हिन्दी-साहित्य में जो प्रगतिशील शक्तियां उभर कर आईं उनमें राहुल सांकृत्यायन का स्थान अन्यतम है। राहुल जी महापंडित होने के साथ-साथ महाप्राण भी थे। सन् १९४२-४३ में वे एक बार दिल्ली में मेरे घर पधारे थे और उस समय प्रगतिशील संघ तथा शनिवार-समाज की ओर से कॉमर्स कॉलेज होस्टल में, जिसका कि उन दिनों मैं अधीक्षक था, उनका साहित्यिक अभिनंदन किया गया था। उनका कहानी-संग्रह 'वोल्गा से गंगा' और दो उपन्यास 'सिंह सेनापति' तथा 'जय यौधेय' प्रायः तभी प्रकाश में आए थे। इस समय प्रगतिवाद के दूसरे शक्ति-स्रोत थे—निराला जी, जो गद्य और पद्य दोनों में अपनी प्रखर सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। उनकी गद्य-रचना 'बिल्लेसुर बकरिहा' तभी प्रकाशित हुई थी। रेडियो के आमंत्रण का लाभ उठाकर मैंने एक बार 'वोल्गा से गंगा' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' की समीक्षा साथ-साथ प्रसारित की थी और दूसरी बार 'सिंह सेनापति' तथा 'जय यौधेय' की। आज से १०-१५ वर्ष पूर्व आकाशवाणी के हिन्दी-विभाग ने कुछ नवीन वार्ताक्रमों का आयोजन किया था जिसमें 'काव्य की भूमिकाएं' वार्तामाला के अंतर्गत मैंने 'पल्लव' और 'दीपशिखा' की भूमिकाओं की समीक्षा की थी। 'पल्लव' की भूमिका को मैं उसी प्रकार छायावाद का घोषणापत्र मानता हूं जिस प्रकार पश्चिम के आलोचक 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका को स्वच्छन्दतावाद का जयघोष मानते हैं। मेरी धारणा है कि हिन्दी में काव्यशिल्प का ऐसा जीवंत विवेचन न इससे पहले हुआ है और न बाद में। 'दीपशिखा' की भूमिका में मैंने अपनी इस मान्यता की आवृत्ति की है कि रहस्य-प्रणय की अनुभूति महादेवी या वर्तमान युग के किसी भी कवि की मूल प्रेरणा नहीं हो सकती। महादेवी जी ने अपने वक्तव्यों में मेरी अथवा मेरे सह-चिन्तक अन्य आलोचकों की इस स्थापना के विरुद्ध, प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में, जो तर्क उपस्थित किए हैं उनका इस निबंध में युक्तिपूर्वक प्रतिवाद किया गया है। 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में डॉ० हज़ारी-प्रसाद द्विवेदी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक आलोचना-ग्रंथ की समीक्षा है।

खण्ड-४ के एक भाग में दस स्मृति-चित्र हैं और दूसरे में दो अभिभाषण। मेरा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुमान है कि प्रत्येक साहित्यकार, चाहे वह सर्जक कलाकार हो या चिंतनशील आलोचक, जीवन में अपने या दूसरों के थोड़े-बहुत संस्मरण अवश्य ही लिखता है। उसके व्यक्तित्व का शुद्ध मानव-पक्ष इसके लिए उसे प्रायः बाध्य कर देता है, और चूंकि इस प्रकार की रचनाओं में बुद्धि तथा कल्पना को उतना आयास नहीं करना पड़ता, इसलिए लेखक को थोड़ा विश्राम भी मिल जाता है। अपनी जीवन-यात्रा के अंतिम चरण में, जब कभी अवकाश मिलता, दद्दा बड़े ही मनोयोग के साथ संस्मरण लिखना शुरू कर देते थे। जिन व्यक्तियों या घटनाओं ने हमें जीवन में प्रभावित किया है उनके भावनात्मक ऋण से मुक्ति पाने का वास्तव में यही उपाय है। मेरे इन संस्मरणों के पीछे भी कुछ ऐसी ही प्रेरणा रही है। मेरा सबसे पहला संस्मरण है 'बीबी : स्वर्गीया होमवती देवी' जो सन् १९५१ में उनकी मृत्यु के कुछ ही समय बाद श्री मोहनसिंह सेंगर द्वारा सम्पादित 'नया समाज' में छपा था। इसके बाद प्रायः ऐसी ही मनःस्थिति में 'दादा : स्वर्गीय पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन' (१९६० ई०) और 'कवि सियारामशरण गुप्त के अंतिम दिन' (१९६३ ई०) की रचना हुई। इन तीनों दिवंगत आत्माओं के साथ मेरा घनिष्ठ आत्मीय संबंध था, और यद्यपि तीनों की ही मृत्यु जिस प्रकार लम्बी बीमारी के बाद हुई थी उसे देखते हुए मन काफ़ी तैयार हो चुका था, फिर भी इनके अभाव की रिक्तता महीनों तक बनी रही और एक अवधि पूरी हो जाने के बाद ही मैं अपनी भावनाओं को बिम्बित कर पाया। 'दद्दा : महान् व्यक्तित्व' (१९६५ ई०) की रचना के समय मैंने अपनी भावना को अधिक संयत कर लिया था और रागात्मक संसर्गों को प्रायः बचाकर व्यक्तित्व-विश्लेषण पर ही अधिक ध्यान रखा था। प्रस्तुत निबंध मैंने यह मानकर लिखा था कि मैथिलीशरण गुप्त मेरे या अन्य परिजनों के आत्मीय मात्र न होकर इतिहास की विभूति थे; फिर भी रागी मन अपने अभ्यास के कारण उनकी स्नेह-मधुर स्मृतियों में बार-बार लिपटता ही रहा। जैसा कि मैं अन्यत्र लिख चुका हूं, मैथिलीशरण गुप्त के दिल्ली-प्रवास में मैं प्रायः नित्य ही उनसे मिलता था—और मेरे साथ मेरे सहयोगी या परिवार के सदस्य भी बहुधा रहते थे। अतः मेरी तरह वे सब लोग भी मैथिलीशरण-परिवार के साथ सम्बद्ध हो गए थे। स्वभावतः, पहले सियारामशरण जी, फिर स्वयं दद्दा की मृत्यु का आघात इन सबको सहना पड़ा, और इन्होंने भी अपने-अपने ढंग से संस्मरणों के रूप में बापू और दद्दा को आंसुओं का अर्घ्य समर्पित किया था। बापू के निधन के बाद 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में जब डॉक्टर सावित्री सिन्हा का मार्मिक संस्मरण छपा था तो दद्दा ने अत्यंत शोक-विगलित स्वर में उन्हें लिखा था—'हम लोगों के स्नेह-सम्बन्ध का दण्ड आपको भी भोगना पड़ा।' दो वर्ष बाद दद्दा के निधन पर भी इन लोगों ने वैसे ही दर्दभरे स्मृति-चित्र आंके। सावित्री सिन्हा के कई संस्मरण पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए—एक संस्मरण मेरी छोटी लड़की प्रतिमा ने भी लिखा। उन्हें देखकर मेरी कल्पना आंसुओं से भीग कर सोचने लगी कि दद्दा यदि इन्हें पढ़ते तो क्या उत्तर देते। प्रोफ़ेसर सी० वी० महाजन मेरे गुरु थे। बी०ए०, एम०ए० में उन्हीं के चरणों में बैठ कर मैंने अंगरेज़ी-साहित्य का अध्ययन किया था और उनके प्रति मेरे मन में विशेष संभ्रम का भाव था। एक दिन अचानक ही सवेरे अंगरेज़ी के अखबार में पढ़ा—'सी० महाजन का निधन!—हृदय की गति सहसा रुक गई।' मेरा मन विषाद से भर आया। अनेक करुण-मधुर स्मृतियां सहसा उभर आईं—पहले दिन उन्होंने बिना आंख उठाए मेरे प्रवेश-पत्र पर लिख दिया था : 'एडमिट—सी० एम०;' एक दिन क्लास में ठीक उत्तर न देने पर अपने कमरे में बुलाकर अंगरेज़ी में झिड़का था : 'नगेन्द्र, ऐसा लगता है कि तुमने आजकल पढ़ना-लिखना बिलकुल छोड़ रखा है';

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एम०ए० की परीक्षा देने के बाद जब मैं किसी फ़ार्म पर दस्तखत कराने के लिए, समय लिए बिना ही, उनके दफ़्तर में चला गया था तो अभीष्ट आदेश देते हुए उन्होंने झल्ला कर कहा था : 'लाइए, कॉलेज का काम चाहे ठप्प हो जाए, पर आपकी गाड़ी नहीं छूटनी चाहिए !' आदि-आदि। कुछ दिन बाद जब आगरा गया तो सेंट जॉन्स कॉलेज के एक अध्यापक ने कॉलेज-पत्रिका के 'महाजन अंक' के लिए मुझसे लेख मांगा। मैं तो चाहता ही था, अतः तुरन्त उनके प्रस्ताव का स्वीकार कर लिया। यह संस्मरण मैंने पूरी निष्ठा के साथ परिश्रमपूर्वक लिखा; पर तब तक पत्रिका का अंक प्रायः छप चुका था—वैसे भी, निबंध कुछ बड़ा हो गया था और उसमें कुछ ऐसे प्रसंगों का उल्लेख था जो कॉलेज की पत्रिका में नहीं छपने चाहिए थे। अंत में, वह 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुआ। इस संस्मरण के लिए जब महाजन साहब के चित्र की मांग हुई, तो आगरा के श्री जगदीशप्रसाद अग्रवाल के सौजन्य से उसकी पूर्ति की गयी—क्योंकि मेरे पास ग्रुप-फ़ोटो तो कई थे, पर महाजन साहब का अकेला चित्र नहीं था। निबंध प्रकाशित होने के कुछ समय बाद मुझे ऐसे अनेक मित्रों का साधुवाद प्राप्त हुआ जिनके मन में मेरी ही तरह महाजन साहब के प्रति स्नेह और श्रद्धा की भावना थी। इस शृंखला का अंतिम संस्मरण है 'राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद'। भारत के प्रथम राष्ट्रपति के साथ नैकट्य-लाभ करने का अयाचित सौभाग्य मुझे प्राप्त हो गया था। उस नैकट्य में और भी वृद्धि हो सकती थी, परन्तु मैंने अत्यन्त सतर्क होकर लोभ का संवरण किया, यद्यपि मन ही मन मैं अपने को उनके परिवार का अंग मानने लगा था। दस वर्ष का कार्य-काल समाप्त कर जब वे दिल्ली से चले गए तो फिर उनके दर्शन का अवसर नहीं आया; बस एक दिन मोटे-काले अक्षरों में पढ़ा—'भूतपूर्व राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद का स्वर्गवास'। मन को लगा जैसे परिवार का अधिपति हमारे बीच से उठ गया हो। उसी दिन हमारे घर में छोटी बच्ची का मुण्डन-संस्कार था जिसे परिवार के लोगों ने मेरे प्रस्ताव पर आगे के लिए स्थगित कर दिया। इस पर एक स्नेही जन ने कहा कि परिवार में मृत्यु होने पर ही इस प्रकार के शुभ संस्कार स्थगित किए जाते हैं। किन्तु, मैंने उत्तर दिया कि यह मृत्यु भी परिवार में ही हुई है। राजेन्द्र बाबू की मृत्यु के बाद कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मुझे उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने का अवसर ही नहीं मिला। यह भार मेरे मन पर बराबर बना रहा और अभी कुछ महीने पहले मैंने संस्मरण लिखकर इससे मुक्ति पाई है।

'रेडियो में पंत जी का आगमन' (१९६० ई०) और 'श्रीमती महादेवी वर्मा' (१९६६ ई०) की रचना हिन्दी के दो मूर्धन्य कवियों के षष्टिपूर्ति-पर्व पर प्रकाशित अभिनन्दन-ग्रंथों के लिए हुई है। पंत जी ने सन् १९६० में वर्तमान शताब्दी के साथ षष्टि-प्रवेश किया था और उनके अभिनन्दन का आयोजन दिल्ली में ही हुआ था। इस अभिनन्दन-अनुष्ठान के दस सदस्य थे जिनमें सबसे बड़े थे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और शायद सबसे छोटा था मैं। छोटा होने के नाते इस अभिनन्दन-ग्रंथ को, जिसका सही नाम है 'श्रीसुमित्रानन्दन पंत : स्मृति-चित्र' समर्पित करने का सौभाग्य भी मुझे ही मिला। उस समय छोटा-सा वृत्त-चित्र भी तैयार किया गया था—और कई सप्ताह बाद मित्रों से यह सुन कर कि ग्रंथ-समर्पण का वह चित्र बड़ा ही सुन्दर है, मैं—अस्वस्थ होने पर भी—आग्रहपूर्वक उसे देखने गया था। मेरा यह निबंध व्यक्तिगत स्नेह-संस्मरण होने के साथ-साथ आकाशवाणी तथा हिन्दी के सांस्कृतिक इतिहास का एक प्रामाणिक अभिलेख भी है। अब भी जब कभी पंत जी मेरी कार में बैठते हैं, तो कह उठते हैं : 'अरे भाई ! डॉ० नगेन्द्र को बताते चलिए, नहीं तो ये खुद रास्ता भूल जाएंगे और दोष देंगे हमें।' श्रीमती महादेवी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वर्मा का स्मृति-चित्र उनके एक अभिनन्दन-ग्रंथ में छपा है जो अभी-अभी श्री सुमित्रानन्दन पंत के सम्पादन में प्रकाशित हुआ है। जिस रागात्मक तर्क से पंत जी के अभिनन्दन-ग्रंथ के सम्पादक मैथिलीशरण गुप्त थे, उसी तर्क से महादेवी के अभिनन्दन-ग्रंथ के सम्पादक पंत जी हैं और यह देखकर मन को सहज संतोष होता है कि हिन्दी में अभी मधुर संबंधों का विघटन नहीं हुआ।

'मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन' तथा 'शिकायत है नगेन्द्र को डॉ० नगेन्द्र से'—ये दोनों आत्म-संस्मरण हैं। पहला आकाशवाणी ने प्रसारित किया और दूसरा 'काम्बिनी' में विशेष लेख के रूप में प्रकाशित हुआ था। एक में विश्लेपण से पुष्ट आत्म-संस्मरण हैं और दूसरे में संस्मरणों पर आधृत आत्म-विश्लेषण। अभी इस दूसरे लेख के बारे में एक समीक्षक ने आपत्ति की थी कि मैंने शिकायत के बहाने अपनी तारीफ़ ही की है। उन्होंने अपनी समीक्षा में ऐसी ही शिकायत पंत जी के बारे में भी की है। वास्तव में, बात इतनी बेजा नहीं है। यहाँ मैंने अपने स्वभाव की कुछ बड़ी कमज़ोरियों को स्पष्ट शब्दों में विवृत किया है, परन्तु यह भी ठीक ही है कि मैं अपने प्रति निर्मम नहीं हुआ, क्योंकि दुर्बलता के प्रति, चाहे वह दूसरे की हो या अपनी ही क्यों न हो, निर्मम होना साहित्यकार का धर्म नहीं है। फिर भी, जिन लोगों को सारी दुनिया से ही शिकायत हो उनके मन का परितोष कौन कर सकता है?

इस खण्ड के दूसरे भाग में मेरे दो अभिभाषण संकलित हैं। इनमें से एक 'भारतीय हिन्दी परिषद्' के अध्यक्ष-पद से सन् १९६० के अंत में कलकत्ता विश्वविद्यालय में और दूसरा सन् १९६२ में मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में दिया गया था। पहले भाषण में विशेष रूप से जिस समस्या का विवेचन किया गया है वह है 'साहित्य की शिक्षा'। भारत की नई शिक्षा-व्यवस्था में भौतिक-विज्ञान और सामाजिक-विज्ञान आदि की शिक्षा पर विशेष बल दिया जा रहा है, और वह ठीक ही है; परन्तु भाषा तथा साहित्य की शिक्षा की जिस प्रकार उपेक्षा की जा रही है, उसका औचित्य सिद्ध करना कठिन है। अभी एक उच्चतर शिक्षा-संस्थान की साधारण सभा में मैंने देश की वर्तमान शिक्षा-योजनाओं में साहित्य तथा भाषा की उपेक्षा का प्रश्न उठाया था। मेरा तर्क यह था कि आज हमारे देश के कर्णधार जब ऐहिक विकास की बात करते हैं, तब तो उनके सामने भौतिक-विज्ञान, उद्योग-विज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि के संवर्धन का प्रश्न आता है, और जब वे आध्यात्मिक विकास की बात सोचते हैं तो उन्हें दर्शन एवं धर्मशास्त्र की चिंता होने लगती है। इन दोनों स्थितियों में, भाषा तथा साहित्य, जो ज्ञान-विज्ञान के सभी अंगों के अनिवार्य माध्यम हैं, अनायास ही उपेक्षित हो जाते हैं। अपने अभिभाषण में मैंने इस ज्वलन्त समस्या पर बल दिया है। इसके साथ ही, अध्यापन-व्यवसाय की शक्ति और सीमा का भी यहां सहज आत्मविश्वास के साथ विवेचन किया गया है। मेरे इन विचारों का अध्यापक-समाज में आम तौर पर स्वागत हुआ था, परन्तु एक पत्रकार, जो अपने पत्र को पीले लेखों के बल पर चलाते हैं, अकारण ही लाल हो गए थे। बाद में, उनके वृत्त के एक सदस्य ने मुझे बताया कि उस लेख के मूल में विचारों के प्रति सहमति-असहमति का प्रश्न तो गौण था—प्रमुख था परिषद् के एक भूतपूर्व सभापति के मन पर मरहम लगाने का आग्रह, जो कलकत्ता-समारोह की सफलता से आहत हो गया था। असल बात क्या थी, यह भगवान जाने! पर मेरा विचार है कि उस भाषण से अध्यापक वर्ग के आत्मविश्वास को बल मिला, जिसके फलस्वरूप परिषद् को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। अलीगढ़-अधिवेशन के भाषण में मूलतः दो प्रश्न उठाए गए थे: (१) राष्ट्रीय संकट और साहित्यकार का दायित्व, (२) शासन की हिन्दी-नीति।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस दूसरे प्रश्न का विवेचन करते हुए मैंने यह प्रस्ताव किया था कि जब तक हममें इतनी ताक़त नहीं आ जाती कि हम शासन को उखाड़ फेंकें, तब तक परस्पर विश्वास और सहयोग-सद्भाव की नीति ही श्रेयस्कर है। इस पर डॉ० धर्मवीर भारती का एक लम्बा लेख 'कल्पना' में प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने बड़ी उच्छ्वासमयी वाणी में मेरे प्रस्ताव का विरोध करते हुए सहयोग-वादियों की नियत पर भी संदेह प्रकट किया था। विपक्ष की भी प्रतिक्रिया कम ज़ोरदार नहीं थी—उधर से कहा गया कि राष्ट्रीय सरकार के हाथ विश्वास सौंपने की अपेक्षा उन विघटनकारी तत्त्वों के हाथ विश्वास बेचना ज़्यादा ख़तरनाक है जिनकी बौद्धिक ताबेदारी हमारे ये नए दोस्त कर रहे हैं। मुझे इस विवाद में पड़ना उचित नहीं लगा और मैंने उत्तेजना के कई अवसर आने पर भी उत्तर देना आवश्यक नहीं समझा।

—विभिन्न परिस्थितियों में लिखे गये विभिन्न प्रकार के इन निबंधों की रचना का संक्षेप में यही इतिवृत्त है।

५. *वर्गीकरण*

इन निबंधों का वर्गीकरण कई प्रकार से हो सकता है: (१) विषय की दृष्टि से; (२) आलोचना के अंगों की दृष्टि से, और (३) रूपविधा की दृष्टि से। मेरे ये प्रायः सभी निबंध समीक्षात्मक हैं—दो-चार को छोड़कर सभी का विषय साहित्यिक आलोचना है, व्यक्तिगत संस्मरण भी प्रायः साहित्यकारों से ही सम्बद्ध हैं, जिनमें भावना के साथ-साथ मेरी आलोचक-वृत्ति भी निरंतर प्रबुद्ध रही है। फिर भी, इन दोनों के दो पृथक् वर्ग माने जा सकते हैं: (१) समीक्षात्मक निबंध, (२) संस्मरण। अंतिम खण्ड में जो दो अभिभाषण हैं वे भी कुछ सामयिक संदर्भों को हटा देने पर समीक्षात्मक निबंधों के वर्ग में आ जाते हैं। समीक्षात्मक निबंधों में आलोचना के सभी अंगों का यथावत् अंतर्भाव है—कुछ में कृति की समीक्षा है, अनेक निबंधों में कृतिकार के कर्तृत्व का मूल्यांकन है, कुछ में साहित्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण है और कुछ में ऐतिहासिक क्रम का संधान भी; काफ़ी संख्या ऐसे निबंधों की है जिनमें सिद्धांत-विवेचन है और यह सिद्धांत-विवेचन वस्तु एवं रूप—आत्मा और शरीर—दोनों से सम्बद्ध है; साथ ही, जो अनुसंधान को आलोचना का अंग मानते हैं, उनके लिए अनुसंधान का तात्त्विक विवेचन भी है। सामान्यतः आलोचना के भी ये ही अंग हैं: कृति की वस्तुरूपात्मक समीक्षा, कृतिकार के व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन, अतीत एवं आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण, साहित्य के विभिन्न रूपों के विकास-क्रम का अध्ययन, और सिद्धांत-विवेचन। जो आलोचक अपने धर्म को निष्ठापूर्वक स्वीकार करता है, उसके सामान्यतः ये ही कर्त्तव्य-कर्म हैं। अपने विषय में मैं सहज भाव से कह सकता हूं कि मैंने आलोचना के कार्य को निष्ठा के साथ ग्रहण किया है, अतएव मेरी समीक्षा में आलोचना के ये सभी अंग या पक्ष यथाविधि अंतर्भुक्त हैं।

इन निबंधों में यों तो साहित्य के अनेक रूपों का विवेचन है: काव्य के अतिरिक्त आलोचना, कथा-साहित्य अर्थात् उपन्यास, कहानी और नाटक को भी विषय रूप में यथा-स्थान ग्रहण किया गया है; फिर भी स्वभाव की प्रेरणा से काव्य के प्रति और व्यवसाय के अनु-रोध से आलोचना के प्रति मेरा पक्षपात स्पष्ट है। काव्य के प्रति इस पक्षपात के दो मुख्य कारण हैं—एक तो यह कि मेरे साहित्यिक जीवन का आरंभ कविता से हुआ है, अतः कविता ही मेरे प्रथम प्रणय का आलम्बन रही है और 'प्रथम प्रणय' के प्रति पक्षपात स्वाभाविक है; दूसरा

Sri Pratap Singh Library

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कारण यह है कि कविता साहित्य का मर्म है, इसलिए उसके विवेचन में साहित्य के मूल तत्त्व का विवेचन स्वभावतः ही निहित रहता है। यही कारण है कि कला अथवा रस के साहित्य के मौलिक तत्त्वों एवं सिद्धांतों का विवेचन प्रायः कविता के आधार पर ही होता रहा है, क्योंकि कविता ही प्रतिनिधि कला है, वही साहित्य का प्रतिनिधि रूप है। आलोचना मेरे साहित्यिक जीवन का व्यावसायिक कर्म है—व्यवसाय शब्द का प्रयोग मैं यहां नियमित कर्तव्य-कर्म के अर्थ में ही कर रहा हूं, जिसमें हानि-लाभ की गणना निहित नहीं है। अतः आलोचना के व्यावहारिक रूप के ही नहीं, उसके सैद्धांतिक पक्ष के साथ भी मेरा साहित्य-चिंतन व्यक्त-अव्यक्त रूप से सहज सम्बद्ध है और इसी क्रम में मैंने हिन्दी की आलोचना, आलोचक, आलोचनाशास्त्र आदि के विषय में अनेक निबंधों में विचार किया है। उपन्यास-कहानी में मेरी अधिक रुचि नहीं रही; इसलिए कथा-साहित्य मेरे विशेष अध्ययन तथा चिंतन-मनन का विषय नहीं रहा और इसी अनुपात से वह मेरे विवेचन का भी विषय कम ही रहा है।

संस्मरणों का विषय भी प्रकारान्तर से साहित्य ही है। मैंने जिन व्यक्तियों के सम्बन्ध में संस्मरण लिखे हैं वे प्रायः सभी साहित्यकार हैं: मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, नवीन, पंत, महादेवी आदि तो विश्रुत साहित्यकार हैं ही; डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का भी ज्ञान के साहित्य में अपना योगदान है और प्रो० महाजन मेरे साहित्य-गुरु थे। यह ठीक है कि प्रत्येक संस्मरण में मैंने व्यक्तित्व अथवा मानव-तत्त्व की विवृति का ही प्रयत्न किया है; फिर भी साहित्य का परिवेश तो बराबर बना ही रहा है, और यह परिवेश आत्म-संस्मरणों में भी नहीं छूट सका। रूपविधा की दृष्टि से प्रस्तुत रचनाओं में से अधिकांश 'समीक्षात्मक निबंध' की कोटि में ही आती हैं। विषय इनका समीक्षा, या और भी सही शब्दों में, साहित्य-समीक्षा है, और आत्म-तत्त्व के—अर्थात् विषय-प्रतिपादन में जागरूक वैयक्तिक दृष्टिकोण तथा रचना-विधान में रूप एवं अभिव्यंजना के प्रति सजगता के—सद्भाव के कारण इन्हें लेख न मानकर निबंध ही मानना अधिक संगत होगा। यह ठीक है कि विषय का महत्त्व इनमें कहीं कम नहीं हुआ अर्थात् समीक्षा-तत्त्व कभी गौण नहीं बना, परन्तु आत्म-तत्त्व में तारतम्य होता रहा है—कुछ निबंधों में इसकी मात्रा निश्चय ही कम और कुछ में अधिक हो गयी है; अतः विधा की दृष्टि से ये निबंध क्रमशः इसी अनुपात से 'ललित निबंध' और 'लेख' के निकट पहुँच जाते हैं। 'हिन्दी-उपन्यास', 'यौवन के द्वार पर', 'कहानी और रेखाचित्र', 'साहित्य की प्रेरणा' आदि में लालित्य स्पष्टतः अधिक है और 'रीतिकाल के आचार्यों का योगदान', 'हाली के काव्य-सिद्धांत', 'मनोविज्ञान में बिम्ब का स्वरूप' में वस्तु-तत्त्व का आधार अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ है। जैसा कि मैंने अभी संकेत किया, निबंध में लालित्य का प्रेरणाधार है—आत्म-तत्त्व, जिसे प्रसिद्ध निबंधकार जॉन्सन ने 'मन की तरंग' कहा है। शास्त्रीय समीक्षा में आलोचक जहां विषयवस्तु पर सीधा आघात कर तत्त्व के उद्‌घाटन में प्रवृत्त होता है, वहां समीक्षात्मक निबंध में उसे मन की तरंग से खेलने का भी थोड़ा-बहुत अवकाश रहता है। मन की तरंग का अर्थ है कल्पना और भावना का विलास जो अनेक प्रकार से और अनेक रूपों में व्यक्त होता है। स्वप्न, कल्पित संवाद, पत्र, परिचर्चा, गोष्ठी-प्रसंग, प्रत्यक्ष वर्णन (रिपोर्ताज) आदि मन की तरंग के ही विविध रूप हैं और निबंधकार के मन पर जब शास्त्र का अनुशासन शिथिल हो जाता है तो वह थोड़ा-बहुत इनमें रमण करने लगता है। मेरे अनेक निबंधों के रचना-प्रसंगों में यही हुआ है। 'हिन्दी-उपन्यास' में विषय का विवेचन स्वप्न-कथा के व्याज से क़िया गया है; 'यौवन के द्वार पर' तथा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'कहानी और रेखाचित्र' में प्रत्यक्ष वर्णन (रिपोर्ताज) का माध्यम ग्रहण किया गया है; 'साहित्य की प्रेरणा' में गोष्ठी-प्रसंग की कल्पना की गई है और 'केशवदास का आचार्यत्व' में पत्र का आधार लिया गया है। कुछ समीक्षकों ने इनके आधार पर मेरे निबंधों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है, परन्तु मेरी अपनी धारणा है कि ये 'मन की तरंग' की माध्यम-विधियां मात्र हैं—स्वतन्त्र विधाएं नहीं हैं। इनके विषय में एक बात और स्पष्ट है—और वह यह कि विषय का विवेचन किसी भी स्थिति में गौण नहीं बनता : मन की तरंग विवेचन में स्फूर्ति और ताज़गी तो अवश्य पैदा कर देती है, पर वह इतनी उद्दाम कभी नहीं हो पाती कि सम्पूर्ण विषय को ही बहाकर ले जाए। मेरा दृष्टिकोण उस कर्मचारी का-सा रहता है जो एकनिष्ठ होकर काम करता है, पर बीच-बीच में दिल और दिमाग़ को तरोताज़ा करने के लिए सिगरेट या कॉफ़ी का शौक़ भी कर लेता है—या उस छात्र का-सा रहता है जो दत्तचित्त होकर अध्ययन करता हुआ बीच-बीच में रेडियो का गाना भी सुन लेता है। लक्ष्य या विवेचन-केन्द्र से उच्छिन्न होकर कल्पना या जल्पना के क्षेत्रों में विचर जाना, चाहे वे कितने ही रमणीय क्यों न हों, मेरे विचार से, समीक्षक के लिए उचित नहीं है। इसलिए मेरे प्रत्येक निबंध में विषय के प्रति निष्ठा आपको अनिवार्यत: मिलेगी और यह निष्ठा ही, वास्तव में, विचार की अन्विति का मूल आधार है। विषय के प्रति इसी निष्ठा के कारण समीक्षकों को शिकायत रही है कि मेरे निबंधों में विचार एवं तर्क की कड़ियाँ इतनी ज़्यादा कस जाती हैं कि निबंध का सौष्ठव छिन्न-भिन्न हो जाता है अथवा मैं अपने निबंधों में जिस लालित्य-बंध की योजना करता हूं उसका निर्वाह अन्त तक नहीं हो पाता। ये दोनों ही शिकायतें अपने ढंग से ठीक हो सकती हैं; पर मैं इन्हें दूर करने की आवश्यकता नहीं समझता। 'समीक्षात्मक निबंध' में लालित्य की योजना वहीं तक होनी चाहिए जहां तक कि उससे विवेचन का क्रम भंग न हो—लालित्य-बंध यदि अपने-आप में इतना प्रमुख हो जाए कि निबंधकार विषय को भूलकर उसी की साज-संवार में लग जाए तो वह 'समीक्षात्मक निबंध' की बाधा ही बन जाएगा, क्योंकि 'समीक्षात्मक निबंध' और 'ललित निबंध' की शिल्प-बिधि एक नहीं होती हैं।

६. *रचना-प्रक्रिया*

निमित्त और प्रेरणा : हो सकता है कि समीक्षात्मक निबंध की प्रेरणा शायद उतनी स्वत:स्फूर्त एवं बलवती न हो जितनी कि कविता, कहानी या नाटक की, हालांकि अब कविता आदि के संदर्भ में भी अंत:प्रेरणा की प्रकल्पना उतनी रोमानी नहीं रह गई जितनी कि पिछले युगों में थी; फिर भी आन्तरिक प्रेरणा की आवश्यकता तो इसके लिए भी होती ही है। अनेक लेखक प्रेरणा और निमित्त में भेद नहीं कर पाते और इस प्रकार तरह-तरह की भ्रांत धारणाओं के शिकार बन जाते हैं। रीतिकाव्य के मूल्यांकन में इस प्रकार की भ्रांति प्राय: होती रही है और नीतिवादी आलोचक राजाश्रय को निमित्त कारण के स्थान पर प्रेरक कारण मानकर रीति-कवियों की सौन्दर्य-चेतना के साथ अन्याय करते रहे हैं। मेरे निबंधों के निमित्त कारण तो अनेक रहे हैं, जैसे साहित्यिक गोष्ठियां, रेडियो का आमंत्रण, विशेष अभिभाषण, पत्र-पत्रिकाओं की मांग, साहित्यिक मंच या आन्दोलन का आह्वान, उत्तम प्रकाशन का अभिनन्दन, उच्चतर अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसंधान की आवश्यकताएं आदि-आदि; परन्तु प्रेरणा एक ही रही है : साहित्य के मर्म का उद्‌घाटन या शब्द-अर्थ में निहित सौन्दर्य के साक्षात्कार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

द्वारा 'आत्म-लब्धि।' अर्थ और यश मेरी साहित्य-साधना के, अधिक से अधिक, निमित्त ही रहे हैं, प्रेरणा कभी नहीं बने। वैसे भी, मैंने केवल अर्थ के लिए प्रायः नहीं लिखा—(अर्थ-लाभ नहीं किया, यह मैं नहीं कह रहा) क्योंकि अर्थ-व्यवस्था के अन्य नियमित साधन मुझे उपलब्ध रहे हैं। जिन विषयों में मेरी रुचि नहीं रही, उनको मैंने अस्वीकार कर दिया है और यदि कभी कुछ लेख, वार्ता या वक्तव्य मैंने आंतरिक प्रेरणा के बिना किसी प्रकार के बाहरी आकर्षण या दबाव से लिखे भी हैं, तो उन्हें रद्द कर दिया है। इस प्रकार मेरी रचना के निमित्त और प्रेरणा में निश्चित भेद रहा है। निमित्त तो केवल एक अवसर प्रदान करता रहा है, उसके बाद निमित्त की न कोई सत्ता रही है और न प्रभाव। फिर जो कुछ लिखा गया है वह विषय के साथ मेरी साहित्यिक चेतना के जीवन्त सम्पर्क का ही परिणाम है जिसमें निमित्त कारण अथवा नैमित्तिक परिस्थिति का लवलेश भी नहीं रहा। इसका प्रमाण यह है कि आवश्यक सूचना के अभाव में यह अनुमान करना असम्भव है कि इनमें से कौन-सी रेडियो-वार्ता है और कौन-सा संगोष्ठी का अध्यक्षीय वक्तव्य, कौन-सा विशेष व्याख्यान है और कौन-सा स्वतन्त्र निबंध—क्योंकि सब की एक ही प्रेरणा रही है और प्रायः एक ही रचना-प्रक्रिया। निमित्त कारण अथवा परिस्थिति तो मेरे लिए किसी विषय-विशेष के चिन्तन और विवेचन का व्याज मात्र रही है। अवसर की मांग को स्वीकार कर प्रत्येक स्थिति में मैंने अपने विशेष दृष्टिकोण से और उसी की अनुवर्ती अपनी विशेष पद्धति से विषय का, निरपवाद रूप से, प्रतिपादन या विवेचन किया है। न रेडियो-वार्ता के लिए मेरा दृष्टिकोण या विवेचन-क्रम बदलता है, न किसी शोध-समारोह के उद्घाटन-भाषण के लिए और न किसी पत्रिका के आमन्त्रण पर लिखे निबंध या लेख के लिए। और, इसीलिए एक ही निबंध का रेडियो पर, संगोष्ठी में या पत्रिका के लिए उपयोग करने में मुझे कभी कठिनाई नहीं हुई। रेडियो-वार्ता पत्रिका में यथावत् प्रकाशित हो सकी है, उद्घाटन-भाषण का प्रसारण रेडियो पर किया जा सका है, संगोष्ठी में स्वतन्त्र निबंध का वाचन करने में कोई कठिनाई नहीं हुई और ये सभी रचनाएं अन्ततः समीक्षात्मक निबंधों के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हो गई हैं। तकनीक के विशेषज्ञ इस पर आपत्ति कर सकते हैं, पर जो शिल्प-विधि को केवल माध्यम मानते हैं, उनको मेरी बात अटपटी नहीं लगेगी।

चिंतन-क्रम : विषय का निर्माण हो जाने के बाद चिंतन-क्रम आरम्भ हो जाता है। विषय सामने आते ही कच्छा बांधकर उस पर टूट पड़ना अपनी आदत में शुमार नहीं है। विषय को सिद्ध करने के लिए मैं वीरगाथा काल के तरीके अख्तियार नहीं करता—यानी अपहरण या बलात्कार में मेरा विश्वास नहीं है, रीतिकाल की पूर्वराग-प्रणाली या आधुनिक युग की पूर्व-चर्या-पद्धति मेरे लिए अधिक अनुकूल रहती है। मैं विषय को 'हाथ लगाने से' पहले उसके साथ परिचय और सम्पर्क बढ़ाने का प्रयास करता हूं। उसके लिए अनेक बार अध्ययन तथा सामग्री-संकलन की भी अपेक्षा होती है और मैं पूरी निष्ठा के साथ उसमें प्रवृत्त हो जाता हूं। मेरा अध्ययन स्पष्टतः चयनात्मक ही होता है : विषय से सम्बद्ध ग्रंथों और लेखों की तालिका एकत्र करने का न मेरे पास समय है, न उसकी कोई आवश्यकता होती है और न मेरी उसमें रुचि है। अतः मैं केवल प्रामाणिक सामग्री का ही आश्रय लेता हूं। सामग्री-संग्रह में मैं अधिक से अधिक श्रम करता हूं, अधिकारी विद्वानों की सहायता लेने में किसी प्रकार का आलस्य या संकोच नहीं करता और संचय करने के बाद फिर उसका सम्यक् रूप से मंथन कर लेता हूं। इस प्रकार मेरे अध्ययन में विस्तार की अपेक्षा घनत्व पर अधिक बल रहता है और वह अद्यतन होने की अपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रामाणिक अधिक होता है। नवीन सामग्री की मैं उपेक्षा नहीं करता, परन्तु 'नई से नई सूचना' के प्रति मेरे मन में अनावश्यक आकर्षण भी नहीं रहता। अतिवादी और असंतुलित विचारों को आधुनिकता के नाम पर स्वीकार करने का मेरे लिए प्रश्न ही नहीं उठता। जो लोग अपने लेखों या वक्तव्यों में 'टाइम' के साहित्यिक परिशिष्ट या 'एनकाउन्टर' के ताज़ा अंक में प्रकाशित किसी लेख का सही या ग़लत हवाला देकर पाठक या श्रोता को चकित करने का प्रयास करते हैं, उनकी बाल-बुद्धि पर मुझे हँसी आती है। जहां किसी विषय पर तथ्य-संकलन की अपेक्षा रहती है, वहां मैं अपने अध्ययन की सामग्री का सम्यक् उपयोग करता हूं, परन्तु जहां ऐसी आवश्यकता नहीं होती वहां मैं इसका प्रयोग या तो अपने चिंतन के उद्दीपन के लिए या फिर अपनी धारणाओं के पोषण के लिए ही करता हूं। इस अध्ययन से निश्चय ही मुझे कई लाभ होते हैं : प्रामाणिक सामग्री की उपलब्धि और उसके द्वारा ज्ञानवर्धन होता है, अधिकारी विद्वानों की चिंताधारा से परिचय होता है, अपने चिंतन के लिए उद्दीपन मिलता है और महान् प्रतिभाओं के संघर्ष में आकर आत्मविश्वास जगता है।—और, इन सबका प्रभाव मेरी निबंध-रचना पर पड़ता है। केवल सामग्री-संकलन के आधार पर मैं निबंध नहीं लिखता; जिस लेख में मेरा चिंतन उद्दीप्त होकर सृजन के बिन्दु पर नहीं पहुंचता, उसे मैं संकलन में नहीं रखता।

इस प्रकार अध्ययन भी विषय के साथ सम्पर्क बढ़ाने का एक अत्यन्त उपयोगी साधन है। जब विषय के और मेरे बीच सौहार्द स्थापित हो जाता है तो फिर वह मेरे मन में और मेरा मन उसमें रम जाता है। केवल लिखने-पढ़ने के समय ही नहीं, अवकाश के सभी क्षणों में प्रायः मैं उसी का चिंतन करता रहता हूं और एकाध दिन में धीरे-धीरे उसकी रूपरेखा बनकर मेरी कल्पना में तैयार हो जाती है जिसे मैं लिपिबद्ध कर लेता हूं।

विवेचन-प्रक्रिया—रूपरेखा तैयार हो जाने के बाद उस पर कार्यान्वियन का उपक्रम करना होता है जिसमें युक्ति-प्रमाणपूर्वक विषय का विवेचन रहता है। विवेचन का आरम्भ मैं प्रायः भूमिका के साथ करता हूं। यह भूमिका अत्यन्त संक्षिप्त होती है, कभी-कभी तो इसमें दो-एक वाक्य ही होते हैं। इसका उद्देश्य एक प्रकार से पाठक के साथ परिचय भर करना होता है जिससे कि वह विषय के प्रति उन्मुख हो जाए। लम्बी भूमिकाएं लिखने में मेरा विश्वास नहीं है, उनसे विषयान्तर होने का डर रहता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि विषय जल्दी ही पकड़ में नहीं आता; ऐसी स्थिति में भूमिका का कलेवर बढ़ जाता है, परन्तु विषय के साथ सीधा सम्पर्क हो जाने पर मैं उसे तुरन्त ही छांट देता हूं। विषय का विवेचन पूर्व-निश्चित क्रम से ही चलता है और उसमें प्रकारान्तर से प्राचीन शास्त्रार्थ की हेतु-निगमन-दृष्टांत शैली का अनुसरण रहता है : पहले समस्या की उपस्थापना या विषय का स्वरूप-निर्णय, फिर उसके विविध अंगों का विशदीकरण—समस्या के संदर्भ में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का सर्वांग-निरूपण, इसके बाद अपनी प्रतिक्रियाएं और उनके आलोक में विषय की समीक्षा—अंत में, निष्कर्ष एवं समाहार। प्रत्येक निबंध में विषय-विवेचन का प्रायः यही क्रम रहता है, यह दूसरी बात है कि किसी में यह व्यक्त रहता है और किसी में अव्यक्त। मेरे 'प्रत्येक पैरा में विचार ठूंस-ठूंसकर भरे हों' या नहीं, परन्तु अपने विवेचन की अन्विति की रक्षा के लिए मैं इस अनुशासन का पालन नियमतः करता हूं क्योंकि मेरा विश्वास है कि बिखराव किसी भी रचना का गुण नहीं हो सकता और समीक्षा में तो वह निश्चय ही बाधक बन जाता है।

पूरे का पूरा लेख एक ही आसन से बैठकर लिखना मेरे लिए संभव नहीं होता—मेरा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक भी लेख इस तरह नहीं लिखा गया। एक निबंध की रचना में मुझे प्रायः एक सप्ताह या कभी-कभी और भी अधिक समय लग जाता है। मन में स्पष्ट रूपरेखा बन जाने के बाद फिर अन्विति टूटने का ख़तरा नहीं रहता, और मैं एक-एक विचार-बिन्दु पर क्रमशः कार्य करता रहता हूं। यहां चिंतन का दूसरा दौर शुरू हो जाता है और यह क्रम स्वभावतः अधिक सूक्ष्म-गम्भीर एवं सांगोपांग होता है। यहां भी स्थिति वैसी ही रहती है जैसी कि आरम्भ में थी अर्थात् केवल लिखने के समय ही नहीं, अवकाश के सभी क्षणों में मेरे चिंतन का क्रम चलता रहता है। स्नानगृह में, भोजन के समय, यात्रा के समय, ऐसी गोष्ठियों में जिनमें मेरा मन नहीं लगता मैं प्रायः अपने प्रतिपाद्य विषय-बिन्दु की चिन्ता करता रहता हूं—पहले सोते समय भी सोचता था और सोचते-सोचते सो जाने पर कभी-कभी सपने में भी यह तार नहीं टूटता था, पर अब कुछ वर्षों से नींद कमज़ोर हो जाने के कारण रात के समय में मैं इस चक्कर में नहीं पड़ता। चूंकि निबंध की रूपरेखा मन में पूरी तरह बैठ जाती है, इसलिए बीच-बीच में और बहुत से काम करते रहने में मुझे असुविधा नहीं होती, और मैं कभी भी सूत्र को फिर से पकड़ कर विवेचन को आगे बढ़ा सकता हूं। कुछ लोगों की यह धारणा है कि जो निबंध एक ही बार में नहीं लिखे जाते उनकी अन्विति भंग हो जाती है और कुछ सीमा तक यह मान्य भी हो सकता है; परन्तु मेरी रचना-प्रक्रिया में इसकी आशंका नहीं रहती। विषय के सम्पूर्ण स्वरूप को मैं रूपरेखा में बांध लेता हूं जिससे न भटकाव के लिए गुंजायश रहती है और न उलझाव के लिए। भटकाव और उलझाव को मैं विवेचन के अक्षम्य दोष मानता हूं। विषय-दर्शन के धूमिल पड़ जाने या बौद्धिक अनुशासन के शिथिल हो जाने से विवेचन में भटकाव आता है और चिंतन में गतिरोध होने से उलझाव पैदा हो जाता है जब कि विचार आगे न बढ़कर एक ही बिन्दु के चारों ओर चक्कर काटने लगता है। ऐसा तब होता है जब लेखक के पास कहने को कुछ नहीं होता। विवेचन में अंतर्विरोध भी एक बड़ा दोष है : जिन लोगों के विचार स्पष्ट नहीं होते या जिनके मन में द्विधा होती है या जो अपनी बात को ईमानदारी के साथ कहने से घबराते हैं, उनके विवेचन में अंतर्विरोध प्रायः मिलता है। लेकिन इस प्रसंग में वास्तविक अंतर्विरोध और प्रतीयमान अंतर्विरोध का भेद समझ लेना चाहिए। सूक्ष्म चिंतन की गति एकदम ऋजु-सरल नहीं होती—उसकी रेखाएं प्रायः वक्र भी होती हैं और एक-दूसरे को काट भी सकती हैं; अतः सूक्ष्म एवं तात्त्विक विवेचन में कभी-कभी, बाहर से देखने पर, अंतर्विरोध प्रतीत होने लगता है। जिसकी नज़र मोटी होती है, उन्हें बारीक तथ्यों का भेद स्पष्ट दिखाई नहीं देता और ऐसे समीक्षक सूक्ष्म चिंतन में प्रायः अंतर्विरोध देखने लगते हैं। दोष-दर्शी समीक्षक इस प्रकार के मिथ्यारोप लगाने की कला में सिद्धहस्त हो जाते हैं। आज से पचीस वर्ष पूर्व हिन्दी के एक उग्र आलोचक को, जब कि वे प्रगतिवाद के नए जोश में हिन्दी-साहित्य के अखाड़े में पैतरे दिखा रहे थे, हरएक के विचार और लेखन में अंतर्विरोध दिखाई पड़ता था। वास्तव में ऐसे लोगों को, जो राजनीतिक या साहित्यिक मतवाद से ग्रस्त होते हैं, हर समस्या का समाधान पहले से ही प्राप्त होता है; उन्हें सत्य की उपलब्धि के लिए गहन चिंतन की व्यस्त प्रक्रिया में उतरने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, इसलिए हर तथ्य उन्हें पूर्वसिद्ध एवं स्पष्ट प्रतीत होता है और हर बारीक बात उलझी हुई लगती है। यह तथाकथित अंतर्विरोध वास्तविक न होकर प्रतीयमान ही होता है: उदाहरण के लिए 'अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं' और 'अनुसंधान आलोचना नहीं है : यह नारा ही ग़लत है'—इन दोनों वक्तव्यों में अंतर्विरोध न होकर तथ्य के दो सूक्ष्म रूपों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की विवृति मात्र है। पहले में दोनों के एकांत अभेद और दूसरे में उनके एकांत पार्थक्य का निषेध है। मुझे अपने चिंतन और विवेचन में प्राय: इस प्रकार के परस्पर-विरोधी तथ्यों में होकर गुज़रना पड़ा है क्योंकि तत्त्व-चिंतन की प्रक्रिया का यह अनिवार्य अंग है। किन्तु जहां तक संभव हुआ है मैंने अपने विचार में उलझन नहीं आने दी : अपनी बात को कभी काटा नहीं है और न किसी के भय या लिहाज़ में आकर 'रामाय स्वस्ति तथा रावणाय स्वस्ति' का वाचन किया है। इतना ही नहीं, मेरी विचार-सरणि में भी कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि मैंने साहित्य-सत्य की साधना ही की है, उसके साथ प्रयोग नहीं किये।

निबंध के आरम्भ में मैं प्राय: अनिवार्य रूप से विवेच्य विषय का स्वरूप-निर्णय कर लेता हूं। सैद्धांतिक निबंधों में तो पदार्थ-निर्णय आवश्यक होता ही है, अन्य निबन्धों में भी मूल विषय के स्वरूप को आरम्भ में स्पष्ट कर लेना मेरे विवेचन का सहज अंग है। जिन निबंधों में समस्या प्रमुख रहती है उनमें मैं समस्या के भाव और अभाव पक्ष को तोलकर प्रखर रूप में सामने रख लेता हूं जिससे उस पर सीधा आक्रमण करने में सुविधा रहती है। जहां विषय सामान्य होता है, वहां भी अपने प्रतिपाद्य का स्वरूप स्पष्ट कर लेने से विवेचन का क्रम ठीक बन जाता है। हां, स्वरूप-निर्णय की विधि में निश्चय ही कुछ न कुछ वैचित्र्य रहता है जो निबंध के लिए शिल्प की दृष्टि से अनिवार्य है, अन्यथा उसमें एकरसता आ सकती है। स्वरूप-निर्णय के लिए एक तो प्राचीन शास्त्रार्थ की परिचित विधि है जिसमें जिज्ञासा या प्रश्न से विवेचन प्रारम्भ होता है : "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा !"—या "रस इति कः पदार्थ : ?" शास्त्रीय निबंधों में मैंने प्राय: इसी का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में प्रयोग किया है। "इन कविताओं की प्रेरणा तुमको कहां से मिलती है, कवि ?" (साहित्य की प्रेरणा) : यहां जिज्ञासा प्रश्न-वाचक वाक्य के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त की गई है। अन्यत्र उसका उपस्थापन परोक्ष रूप से किया गया है : 'दुर्भाग्य से बिम्ब के स्वरूप-विश्लेषण में इतने विविध दृष्टिकोण और प्रविधि-भेद उलझ गए हैं··· कि बिम्ब का स्पष्ट बिम्ब—इमेज की सही इमेज—जिज्ञासु के मन में स्पष्ट नहीं हो पाती। + + + मैंने ये निबंध मूलत: आत्मबोध के लिए ही लिखे हैं—यदि इनसे अन्य जिज्ञासुओं का भी, जो मेरी ही तरह कठिनाई का अनुभव करते हों, परितोष हो सका, तो मेरा प्रयास और भी अधिक सार्थक हो जाएगा।" (काव्य-बिम्ब : पृष्ठ ३)। कहीं-कहीं जिज्ञासा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म—प्राय: प्रच्छन्न हो गया है : "मैं व्यवसाय से आलोचक हूं, अत: आपके मन में यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आलोचना के विषय में मेरी मान्यताएं क्या हैं? किन्तु वास्तविकता यह है कि आलोचना के विषय में मैंने सबसे कम सोचा है।" (मेरी साहित्यिक मान्यताएं—१)।—ज़ाहिर है कि यह भेद केवल शब्दों का है, अर्थ का नहीं है। जहां किसी समस्या का समाधान प्रमुख रहता है, वहां मैं आरम्भ में ही समस्या के मूल रूप को उभार कर रख देता हूं : "क्या काव्य-बिम्ब को हम मूल्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करने के लिए यह निर्णय करना होगा कि क्या बिम्ब के आधार पर हम किसी कवि की उपलब्धि या काव्यकृति-विशेष का मूल्यांकन अथवा विभिन्न कृतियों के काव्य-मूल्य के तारतम्य का निर्णय कर सकते हैं?" (काव्य-बिम्ब और काव्य-मूल्य : पृष्ठ ५७) परन्तु, जहां न पदार्थ-निर्णय करना होता है और न समस्या का समाधान, ऐसे निबंधों में भी मेरे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि मैं प्रतिपाद्य को, किसी न किसी रूप में अपने और अपने पाठक के सामने रख दूं : "दद्दा निश्चय ही महान् व्यक्ति थे—प्राय: उसी अर्थ में और उसी अनुपात में जिसमें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कि मैथिलीशरण गुप्त महान् कवि थे।" (दद्दा : एक महान् व्यक्तित्व)

स्वरूप-निर्णय के उपरांत विषय के विविध अंगों का विशदीकरण करना आवश्यक हो जाता है। मेरी प्रवृत्ति आरम्भ से ही वैशद्य की ओर रही है। इसके लिए पदार्थ के स्वरूप-निर्णय के साथ ही विषय का सांगोपांग विवेचन भी अनिवार्य हो जाता है। प्रत्येक अंग का निरूपण किए बिना मुझे लगता है कि बात अधूरी रह गई और अधूरी बात को लेकर जो निष्कर्ष या निर्णय किए जाएंगे वे एकांगी रहेंगे—उनसे खण्डित सत्य की ही उपलब्धि सम्भव हो सकेगी। इसलिए मैं यथासम्भव विषय के सभी अंगों का विचार कर तब आगे बढ़ता हूं। समस्या के संदर्भ में यह आवश्यक हो जाता है कि उसके विभिन्न पहलुओं को—पक्ष-विपक्ष को—स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर दिया जाए। पूर्वपक्ष के साथ न्याय किए बिना उत्तरपक्ष के साथ न्याय करना कठिन होता है, अतः मैं पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करने में पूरी ईमानदारी बरतता हूं—विमत के सभी तर्क एवं विकल्प उपस्थित करने के बाद ही स्वमत का सम्यक् प्रतिपादन सम्भव हो सकता है। यह तो स्वाभाविक ही है कि अपनी सहज प्रवृत्ति, परिवेश, अध्ययन-अध्यापन के फलस्वरूप जीवन और साहित्य के विषय में मेरे अपने संस्कार बन गए हैं जो दैनन्दिन के चिंतन-मनन से पुष्ट होते रहते हैं; परन्तु मैं पूर्वसिद्ध विचार लेकर निबंध-रचना में प्रवृत्त नहीं होता। मेरे विषय में यह धारणा हो सकती है, और है भी, कि मैं अपनी मान्यताओं के प्रति अत्यंत आग्रही हूं—व्यवहार और लेखन में अपनी बात को दृढ़ता के साथ कहने की मेरी आदत शायद इसके लिए ज़िम्मेदार है। परन्तु, निबंध या वक्तव्य तो चिंतन की फलश्रुति होता है और फलश्रुति में विकल्प या द्विधा की स्थिति या तो किसी ऐसे परमहंस के लिए मान्य हो सकती है जो सत् और असत् के भेद से ऊपर उठ गया है, या फिर वह किसी ऐसे विचारक का अलंकार हो सकती है जिसकी निर्णय-शक्ति कमज़ोर है अथवा जो आत्मविश्वास के अभाव में अपने निर्णय को व्यक्त करने में कठिनाई का अनुभव करता है। अभी कुछ समय पहले एक प्रबुद्ध साहित्यकार ने मुझसे यही प्रश्न किया था; वे जानना चाहते थे कि क्या मैं अपने विचार और भावना में कभी द्वन्द्व का अनुभव नहीं करता। पहले तो मैं इस अप्रत्याशित प्रश्न को सुनकर चौंक पड़ा क्योंकि अपने चिंतन और अनुभव की प्रक्रिया में मैं प्रायः द्वन्द्व की ऐसी जटिल और विषम स्थितियों में होकर गुज़रता रहता हूं कि कभी-कभी तो मुझे अपने ऊपर दया आने लगती है। परन्तु शीघ्र ही उनकी शंका का कारण मेरी समझ में आ गया। चिंतन के क्षेत्र में मेरे निष्कर्षों के अद्वन्द्व—अथवा व्यक्तिगत जीवन में मेरे व्यवहार के अद्वन्द्व से उन्हें यह भ्रांति हुई थी। अपने इस दोष को मैं पूरे दायित्व के साथ स्वीकार करता हूं क्योंकि मैं मानता हूं कि निष्कर्ष या फलश्रुति की स्थिति में द्वन्द्व की स्वीकृति मन की कायरता है। परन्तु, उस स्थिति तक पहुंचने में मुझे अपने मन को कितने प्रश्नों का उत्तर देना होता है—कितनी शंकाओं का समाधान करना पड़ता है, कितनी गुत्थियों को सुलझाना पड़ता है, यह तो मैं ही जानता हूं। यह सब केवल मन के भीतर ही होता हो, ऐसा नहीं है : प्रायः इन सभी मूल प्रश्नों और उलझनों को मैं अपने लेखन में शब्द-बद्ध करता चलता हूं। सभी शंकाओं का समाधान किए बिना किसी तथ्य को स्वीकार या स्थापित करना मेरे लिए संभव नहीं है—और जिससे मेरे अपने मन का ही परितोष नहीं हुआ उसके द्वारा अपने पाठक या श्रोता को आश्वस्त करने की दुराशा मैं कैसे कर सकता हूं ? कहने का अभिप्राय यह है कि द्वन्द्व या प्रश्न को न मैं अस्वीकार करता हूं, न उसकी उपेक्षा करता हूं और न उससे पलायन : परन्तु उसकी आत्यंतिकता में मेरा विश्वास नहीं है। वास्तव में, चिंतन में मैं प्रश्न को बड़ा महत्त्व देता हूं : हमारा अनुसंधेय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सत्य जितना ही सूक्ष्म और महत् होगा, उससे सम्बद्ध प्रश्न भी उतने ही जटिल एवं प्रबल होंगे। परन्तु द्वन्द्व सत्य नहीं है, अद्वन्द्व ही सत्य है—ऐसा मेरा विश्वास है, और इस विश्वास को मैंने गीता या सत्यार्थप्रकाश से प्राप्त नहीं किया, अपनी आनुभविक साधना से ही सिद्ध किया है। अतः परिणति में द्वन्द्व मुझे ग्राह्य नहीं है; जहां कहीं अंत में भी द्वन्द्व को स्वीकार करना पड़ा है—और ऐसा कई प्रसंगों में हुआ है—वहां मेरे अपने चिंतन की सीमा ही समझनी चाहिए अर्थात् यह मानना चाहिए कि मैं अपनी परिसीमाओं के कारण अभी तक उसे समाहित नहीं कर पाया। विनोबा भावे ने कहीं लिखा है कि हिन्दू धर्म 'भी-वादी' है और इस्लाम 'ही-वादी'। अपनी प्रवृत्ति 'ही' की ओर अधिक है और हो सकता है कि यह आरम्भ के आर्यसमाजी संस्कारों का प्रभाव हो। पूरी सतर्कता से हरएक 'भी' का परीक्षण कर लेने के बाद, फिर 'ही' को मुष्टिबद्ध कर लेने से मेरे विचार और लेखन को स्फूर्ति मिलती है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' में 'बहुधा वर्णन' के प्रति सद्भावना व्यक्त की गई है और 'विप्रों' के प्रति आदर, इसमें संदेह नहीं—परन्तु उससे 'एकम्' का महत्त्व तो कम नहीं होता।

विषय के प्रत्येक आवश्यक अंग-उपांग का, समस्या के हर पहलू का, प्रसंगानुकूल संक्षिप्त अथवा विशद विवेचन करने के उपरांत फिर मूल प्रतिपाद्य के प्रति मेरी प्रतिक्रियाएं आरम्भ हो जाती हैं। इस अवस्था में मेरे स्वभाव-संस्कार सक्रिय रहते हैं, परन्तु अपनी ओर से प्रयत्न अवश्य रहता है कि ये प्रतिक्रियाएं पूर्वाग्रह से मुक्त और स्वतंत्र रहें। अब तक जो ज्ञान का विषय था वह अनुभूति का विषय बनने लगता है—जिन तथ्यों को मैंने बुद्धि के द्वारा एकत्र और संयोजित किया था, वे अब चेतना में उतरने लगते हैं। इस प्रक्रिया में नाना प्रकार के सम्बद्ध और स्वतंत्र बिम्ब उभरने लगते हैं और चिंतन सर्जनात्मक बन जाता है। यह क्रम कुछ समय तक चलता रहता है और अंत में एक बिन्दु ऐसा आता है जहां विषय का मर्म मेरी चेतना में अनायास ही उद्भासित हो जाता है। इसी स्थल को निबंध का हृदय या मर्म-देश मानना चाहिए। यहीं आकर विषय सिद्ध हो जाता है, रचना लेख न रहकर निबंध बन जाती है—ज्ञान के साहित्य की सीमा पार कर अनुभूति के साहित्य की परिधि में पहुंच जाती है।

अंत में, एक कार्य शेष रह जाता है, और वह है इस सम्पूर्ण विवेचन का समाकलन एवं उपसंहार। विवेचन के समय पाठक के साथ थोड़ा-बहुत आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर लेने के बाद, उसे अपनी चिंतन-प्रक्रिया का सहभागी बना लेने के बाद, अकस्मात् ही बेरुख़ी के साथ उससे अलग हो जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। इसलिए निबंध के अंत में अपने पाठक से विदा लेना मेरे लिए एक प्रकार का नैतिक दायित्व बन जाता है। संदर्भ के अनुसार इसके अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। कभी-कभी तो यह विदा-संवाद अत्यंत संक्षिप्त होता है—उर्दू के 'ख़ुदा हाफ़िज़' या गुजराती के 'आओ जो' से अधिक इसका कलेवर नहीं होता, कभी-कभी स्मृति-चिह्न के रूप में मैं उसे कोई एक कल्पना-चित्र या कोमल भाव-संदेश देकर विदा करता हूं और अनेक बार ऐसा भी होता है कि एक सतर्क परामर्शदाता के समान मैं अपने मंतव्य का सारांश सूत्र-रूप में उसकी स्मृति में बांध देता हूं। इस तरह, निबंध के उपसंहार का रूप कभी मित्र-सम्मित, तो कभी अपने पेशे के अनुसार गुरु-सम्मित होता है : कांता-सम्मित के लिए निबंध में कम ही अवसर रहता है और अपना पुरुष स्वभाव उसे गवारा भी मुश्किल से करता है।

इसी संदर्भ में, दो शब्द अपनी लेखन-शैली के विषय में भी कह देना अप्रासंगिक न होगा। लेखन से अभिप्राय वाक्य-रचना या व्यापक रूप में गद्य-रचना से है। जैसा कि मैं पूर्व-प्रसंग में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कह चुका हूं, विषय के विभिन्न विचार-बिन्दुओं पर मेरा चिंतन-क्रम लेखन से पहले ही आरम्भ हो जाता है। यह चिंतन शब्दार्थमय होता है। वागर्थ की सम्पृक्ति का सिद्धांत, जिसका अध्ययन मैं स्वदेश-विदेश के आचार्यों के तरह-तरह के युक्ति-प्रमाणों के साथ अनेक बार कर चुका हूं, इस समय अनायास ही मेरी चेतना में स्पष्ट हो जाता है और मैं यह प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता हूं कि अभिव्यक्ति के बिना विचार की सत्ता नहीं होती। पर, मैं इससे भी आगे बढ़ जाता हूं और प्रस्तुत विचार-बिन्दु से सम्बद्ध प्रत्येक वाक्य की मन में रचना करता चलता हूं। उद्देश्य-विधेय की उचित व्यवस्था के साथ-साथ उपवाक्यों का समीकरण तथा सर्वनाम, विशेषण, योजक शब्द, क्रियापद आदि का यथास्थान नियोजन मैं मन में ही कर लेता हूं। इस प्रकार लिपिबद्ध होने से पहले ही एक साथ कई वाक्यों की श्रृंखला मेरे मन में बन कर तैयार हो जाती है और उन्हें काग़ज़ पर उतारने में प्रायः किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना पड़ता। प्रस्तुत संदर्भ में अभी-अभी जो वाक्य मैंने लिखे हैं, उन्हें एक दिन पहले ही प्रायः ज्यों का त्यों मन में रच लिया था। लिखने के बाद इन वाक्यों को मैं कई बार पढ़ता हूं और बार-बार मांजने में भी आलस्य नहीं करता, यद्यपि ऐसी आवश्यकता कम ही पड़ती है। वाक्य-रचना में मैं अर्थ-वैमल्य के साथ-साथ समास-गुण और सूत्रबंध का ख़ास तौर पर क़ायल हूं, रचना में शैथिल्य या बिखराव मुझे सह्य नहीं है—और उपर्युक्त गुणों का अर्जन करने के लिए मैंने काफ़ी साधना की है। मेरी साहित्य-चर्या काव्य-रचना के साथ आरम्भ हुई जिससे पदयोजना का अभ्यास मुझे थोड़ा-बहुत शुरू में ही हो गया, फिर पाठ्यक्रम में शुक्ल जी—और उधर अंगरेज़ी के प्रसिद्ध शैलीकारों—के निबंधों का सूक्ष्म-गहन अध्ययन करना पड़ा जिससे उनकी अनेक सूक्तियां अथवा सूत्र-वाक्य कंठस्थ हो गए, इसके बाद चार-पांच वर्ष तक आकाशवाणी में भाषा-संशोधन का दायित्व होने से वाक्य-रचना के वाचित और श्रुत रूपों को मांजने का क्रम चलता रहा, और अंत में शोध-प्रबंधों की भाषा को संवारने का कार्य करना पड़ा। ये सभी परिस्थितियां गद्य-रचना के 'रियाज़' के अत्यंत अनुकूल सिद्ध हुईं और साफ़ और चुस्त ज़ुबान लिखने का थोड़ा-बहुत अभ्यास हो गया।

मेरे लेखन पर अंगरेज़ी का प्रभाव निश्चय ही पड़ा है—हिन्दी-गद्य की पेशियों में अंगरेज़ी का प्रभाव भिदा हुआ है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। मैंने नियमित रूप से अंगरेज़ी से हिन्दी में अनुवाद-कार्य किया है और अनेक रचना-निपुण अनुवादकों के कार्य का अधीक्षण तथा संशोधन किया है। वैसे भी, अंगरेज़ी के साथ मेरा गहरा सम्पर्क रहा है। पाश्चात्य आलोचना और काव्यशास्त्र का मैंने विधिवत् अध्ययन-मनन किया है। अतः अंगरेज़ी का प्रभाव मेरे चिंतन और लेखन पर अनिवार्य रूप से रहा है। परन्तु पिछले अनेक वर्षों से, जैसे-जैसे भारतीय काव्यशास्त्र के साथ मेरा सम्पर्क गहरा होता गया है और मेरी चेतना उसकी धारणाओं तथा शब्दावली से व्याप्त होती गयी है, यह प्रभाव कम होने लगा है। आरम्भिक अवस्था में जो प्रभाव था अब वह संस्कार बन गया है और अंगरेज़ी से प्राप्त धारणाएं तथा शब्दावली अब मेरे सहज चिंतन का अंग बन गई हैं : अनेक धारणाएं तो भारतीय चिंतन में पग और पक गई हैं—जिनके विषय में यह संभव नहीं हुआ वे भी मेरे समाकलित साहित्य-बोध में अंतर्भुक्त हो गई हैं। अंगरेज़ी के साथ निकट सम्बन्ध होने पर भी अब अंगरेज़ी में सोचने का प्रश्न मेरे लिए नहीं उठता—अंगरेज़ी साहित्य अथवा आलोचनाशास्त्र के अंगभूत विषयों का विचार-विवेचन, प्रत्यक्ष संदर्भों के अनुवाद अथवा आवश्यक सूचना-सामग्री की उद्धृति को छोड़कर, अब मैं अपनी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही भाषा में करता हूं।

शब्द-साधना लेखन-शैली का मौलिक तत्त्व है, और यदि आप नाराज़ न हों तो मैं कहना चाहूंगा कि शब्द की मुझे अच्छी परख है। आरम्भ में छायावादी काव्य-संस्कार, फिर काव्यशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन, और बाद में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में संलग्न अनेक अभिकरणों के साथ घनिष्ठ संबंध रहने के कारण 'अनिवार्य' शब्द का संधान करने का अभ्यास मुझे काफ़ी हो गया है। मेरा प्रयत्न यही रहता है कि हरएक प्रमुख वाक्य के केन्द्रभूत शब्द ऐसे हों जो अभीष्ट अर्थ की सूक्ष्म से सूक्ष्म छाया को यथावत् व्यक्त कर सकें। देश के प्रत्येक समझदार भाषाविद् की तरह मेरा भी यही विश्वास है कि हिन्दी की शब्दावली का विकास और संवर्धन बहुत हद तक संस्कृत पर निर्भर करता है, अतः तत्सम शब्दों के प्रयोग में मेरी अधिक आस्था है। इन शब्दों का परिनिष्ठित रूप ही मैं प्रायः ग्रहण करता हूं। जिन शब्दों के अशुद्ध हिन्दी-रूपान्तर प्रचलित हो गए हैं उन्हें भी मैं प्रायः व्याकरण-सम्मत रूप में प्रयुक्त करता हूं—'उपरोक्त' के स्थान पर 'उपर्युक्त' का प्रयोग मैं नियमतः करता हूं, 'तत्व' और महत्व' को अशुद्ध मानता हूं, 'हल्' से भी बहुत नहीं घबराता; 'श्रेष्ठतम' न लिखकर प्रायः 'सर्वश्रेष्ठ'[1] लिखना ही ठीक समझता हूं। परन्तु जो शब्द हिन्दी के अविभाज्य अंग बन गए हैं, उनका बहिष्कार करना मैं अनावश्यक और अव्यावहारिक मानता हूं—जैसे 'अंतर्राष्ट्रीय' आदि। आरम्भ में मुझे इस प्रकार का आग्रह नहीं था, पर अब मैं यथासम्भव शुद्ध, व्याकरण-सम्मत शब्द का ही प्रयोग करना अधिक उपयुक्त मानता हूं क्योंकि एकरूपता का अभाव भाषा का बड़ा दोष है और शब्दों के संदर्भ में एकरूपता की रक्षा करने का सीधा उपाय है शुद्ध शब्द का प्रयोग। विदेशी शब्दों का प्रयोग भी मैं शुद्ध रूप में ही करता हूं। अपने शब्दों में हम पंचम वर्ण का आग्रह करें और अरबी-फ़ारसी या अंगरेज़ी के शब्दों के नुक़्ते हटाकर दूसरे की 'जबान' को 'जबान' या 'फ़ैशन' के 'फैसन' कर दें, यह कौन-सा न्याय है? वैसे भी, इससे स्वयं अपनी भाषा के नागर रूप की क्षति होती है। इस प्रकार शुद्धता के प्रति मेरा यह आग्रह क्रमशः बढ़ता गया है और अब मैं, जहां तक होता है, ऐसे शब्दों का प्रयोग बचाता हूं जो व्याकरण-सम्मत न हों। आज अपने पुराने लेखों को पढ़ते समय यदि कोई अशुद्ध शब्द मेरे सामने आ जाता है तो मुझे संकोच होता है। मेरे कुछ-एक आलोचकों ने यह शिकायत की है कि मैं संस्कृत-बहुल भाषा के बीच में अरबी-फ़ारसी या अंगरेज़ी के शब्द रखकर कभी-कभी समभंग कर देता हूं। पर ऐसा मैं जान-बूझकर करता हूं—चिंतन और तर्क के तनाव को दूर करने के लिए ऐसा करना मुझे अच्छा लगता है।

मेरी रचना-प्रक्रिया के ये ही कुछ अंतरंग रहस्य हैं, जो मैंने सहज-भाव से आपके सामने व्यक्त कर दिए हैं। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में काव्य-रचना के लिए जिस 'कला' का अभ्यास थोड़ा-बहुत मैंने किया था, वह गद्य-रचना में भी किसी-न-किसी रूप में चलता रहा और आलोचक के कर्तव्य-कर्म को पूरे दायित्व के साथ स्वीकार कर लेने पर भी मैं लेख न लिखकर बराबर निबंध ही लिखता रहा—आलोचना का 'आलेखन' न कर प्रायः 'रचना' ही करता रहा।

---

१. सर्वश्रेष्ठ इसलिए कि 'श्रेष्ठ' शब्द हिन्दी में 'अच्छा' का ही वाचक बन गया है: 'सबसे अच्छा' का अर्थ वह नहीं देता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

७. साहित्य-साधना के तीस वर्ष : एक दृष्टि

आज से एक युग पहले अपनी किशोर वय में जिस साहित्य-साधना का आरम्भ मैंने किया था, आज वह प्रौढ़ि पर पहुँच गई है : 'छायावाद' और 'बिम्ब-रचना की प्रक्रिया' में पूरे तीस वर्ष का अंतर है। इन तीन दशकों में घटित विकास-क्रम पर दृष्टिपात करना अपने-आप में एक अनुभूति है। मुझे लगता है कि 'छायावाद' की रचना करने के बाद एक मधुर आत्म-विश्वास जो मेरे मन में जगा था वह निरंतर बढ़ता ही गया। इस अवधि में मैंने स्वदेश-विदेश के साहित्य के अनेक रम्य प्रदेशों की यात्रा की है, पर अपनी प्रकृत भूमि—कविता—से सम्बन्ध कभी नहीं तोड़ा : मेरी साहित्य-चेतना वहीं से प्राण-रस ग्रहण करती रही है। जीवन और साहित्य में सत्य का अर्थ मेरे लिए अनुभूति का सत्य ही रहा है और साधना मेरी प्रवृत्तिमयी रही है, अतः मेरे सत्य का स्वरूप भी रागात्मक ही रहा है। बुद्धि का—उसके दोनों प्रमुख तत्त्वों—वितर्क और विवेक का—मैंने भरपूर उपयोग किया है। इड़ा के साथ गहरा सौहार्द स्थापित किया है, परन्तु श्रद्धा का अंचल नहीं छोड़ा : इड़ा के सारस्वत प्रदेश में भी मैं श्रद्धा को साथ लेकर ही गया हूं। इड़ा की शक्ति और विभूतियों का अपनी सीमाओं के भीतर पूरा लाभ मैंने उठाया है, पर कभी कोई अतिचार नहीं किया। इसलिए किसी बड़े संघर्ष या विद्रोह का सामना मुझे नहीं करना पड़ा। दो-चार बार 'आकुलि और किलात' से मुठभेड़ अवश्य हुई, लेकिन उनकी माया मुझ पर नहीं चल सकी, क्योंकि श्रद्धा बराबर मेरे साथ थी। मानसरोवर अभी कितना दूर है, यह मैं नहीं जानता; परन्तु उधर बढ़ते जाने की कामना मेरे मन में है !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खण्ड—१

(क) अनुसन्धान

(ख) सिद्धान्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(क) अनुसन्धान

अनुसन्धान का स्वरूप

हिन्दी में 'रिसर्च' के लिए अनुसन्धान, अन्वेषण, शोध तथा खोज आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। यहां स्थूलतः ये सभी शब्द प्रायः पर्याय ही माने जाते हैं परन्तु संस्कृत में इनके अर्थों में सूक्ष्म अन्तर है। अनुसन्धान का अर्थ है परिपृच्छा, परीक्षण, समीक्षण आदि। सन्धान का अर्थ है दिशा विशेष में प्रवृत्त करना या होना और अनु का अर्थ है पीछे; इस प्रकार अनुसन्धान का अर्थ हुआ—किसी लक्ष्य को सामने रख कर दिशा-विशेष में बढ़ना—पश्चाद्गमन अर्थात् किसी तथ्य की प्राप्ति के लिए परिपृच्छा, परीक्षण आदि करना। अन्वेषण का अर्थ है खोज—किसी वस्तु अथवा तथ्य को ढूंढ़ने का प्रयत्न; गवेषणा भी प्रायः यही है—खोजने अथवा ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न; व्युत्पत्ति-अर्थ इसका है 'गो का पता लगाना'। शोध का अर्थ है शुद्ध करना, साफ़ करना, स्वच्छ रूप देना। खोज के माने हैं ढूंढ़ना; अज्ञात का ज्ञान करना-कराना, लापता का पता लगाना। अतएव इस प्रसंग में हमारे समक्ष तीन तथ्य उपस्थित होते हैं: (१) अन्वेषण अथवा गवेषणा अर्थात् अज्ञात का ज्ञापन। दूसरे शब्दों में, लुप्त एवं गुप्त सामग्री को प्रकाश में लाना। (२) अनुसन्धान अर्थात् परिपृच्छा, परीक्षण-समीक्षण आदि—उपलब्ध सामग्री की जांच-पड़ताल आदि इसके अन्तर्गत आती हैं। (३) शोध अर्थात् शुद्ध करना—इसके अन्तर्गत आता है प्राप्त सामग्री का संस्कार-परिष्कार। जिस प्रकार कोई धातु-शोधक उपलब्ध खनिज पदार्थों को स्वच्छ और शुद्ध करके हमारे सम्मुख रखता है, उसी प्रकार साहित्यिक शोधकर्त्ता भी अपनी उपलब्ध सामग्री को शुद्ध करके परिष्कृत रूप में हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

इस विवेचन के परिणामस्वरूप दो बातें स्पष्ट होती हैं: एक तो यह कि हिन्दी में प्रयुक्त भिन्न-भिन्न शब्द संस्कृत-शब्दार्थ की दृष्टि से अनुसन्धान-कार्य के भिन्न-भिन्न रूपों को व्यक्त करते हैं: अन्वेषण अथवा गवेषणा से अनुपलब्ध सामग्री को उपलब्ध करने का बोध होता है, अनुसन्धान से परीक्षा-समीक्षा का और शोध से विवेचन, निर्णय, निष्कर्ष-ग्रहण आदि का। और, वास्तव में अनुसन्धान-कार्य के तीन संस्थान भी ये ही हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थिति में इस प्रसंग में एक शब्द का व्यवहार स्थिर हो जाना चाहिए; और मैं समझता हूं कि 'अनुसन्धान' शब्द को ही व्यापक अर्थ में पारिभाषिक रूप दे देना चाहिए।

'अनुसन्धान के विषय में विश्वविद्यालय भी—जहां यह कार्य नियमित रूप से होता है—प्रायः उपर्युक्त इन्हीं बातों पर बल देते हैं।

अनुसन्धान-ग्रन्थ को निम्नलिखित अनुबन्धों की पूर्ति करनी चाहिए:

१. इसमें (अनुपलब्ध) तथ्यों का अन्वेषण अथवा (उपलब्ध) तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में यह ग्रन्थ इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसन्धान किन अंशों में उसके अपने प्रयत्न का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिणाम है, तथा वह विषय-विशेष के अध्ययन को कहां तक और आगे बढ़ाता है।

(२) निरूपण-शैली आदि की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का रूप-आकार संतोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

(आगरा यूनिवर्सिटी पी-एच० डी० नियमावली)

आगे चलकर डॉक्टर ऑफ़ लैटर्स के प्रसंग में भी प्रायः इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख है, केवल एक बात नई है—वहां 'विषय के अध्ययन को और आगे बढ़ाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। डी० लिट्० की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह अनुबन्ध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयों के नियमों में भी लगभग ये ही शब्द हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय-विधान के अनुसार अनुसन्धान के तीन तत्त्व हैं :

१. अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण;
२. उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान;
३. ज्ञान-क्षेत्र का सीमा विस्तार, अर्थात् मौलिकता;
४. इनके अतिरिक्त, एक तत्त्व और भी अपेक्षित है, और वह है सुष्ठु प्रतिपादन-शैली।

इसमें सन्देह नहीं कि सामान्यतः ये चारों ही तत्त्व अनुसन्धान-कार्य के लिए आवश्यक हैं, परन्तु एक प्रश्न यह उठता है कि इन सबका सापेक्षिक महत्त्व कितना है? अर्थात्, इन चार तत्त्वों में से किसका कितना महत्त्व है? जहां तक तीन और चार का सम्बन्ध है उनकी अनिवार्यता तो स्वतःसिद्ध ही है, क्योंकि प्रत्येक अनुसन्धान-कार्य द्वारा ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार अनिवार्यतः होना ही चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है; मौलिकता तो केवल अनुसन्धान की ही नहीं, किसी भी साहित्यिक कृति, अपितु जीवन के किसी भी गम्भीर कार्य के मूल्यांकन की सबसे बड़ी कसौटी है। इसी प्रकार विषय का सुष्ठु प्रतिपादन भी प्रत्येक कृति के लिए अनिवार्य ही है। हां, यह बात अवश्य है कि मौलिकता और शैली-सौष्ठव का स्वरूप सर्वत्र एक-सा न होकर विषय-सापेक्ष ही होता है। अब पहला और दूसरा तत्त्व रह जाते हैं अर्थात् अनुपलब्ध अथवा नवीन तथ्यों का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान। इनका सापेक्षिक महत्त्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इनका सापेक्षिक महत्त्व बहुत-कुछ अनुसन्धान के विषय पर निर्भर है। यदि समग्र वाङ्मय को लें तो स्थूलतः यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक विषयों के अनुसन्धान में तथ्य का महत्त्व अधिक है, और साहित्यिक विषयों के अनुसन्धान में विचार का। कुछ विषय ऐसे भी हैं, जो विज्ञान और साहित्य के मध्यवर्ती हैं, जैसे इतिहास—और उससे सम्बद्ध नृतत्त्वशास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र आदि अनेक विषय; समाजशास्त्र तथा उससे सम्बद्ध अर्थशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि। इनमें अनुसन्धान-कार्य की स्थिति भी मध्यवर्ती माननी चाहिए, अर्थात् उसमें तथ्य और विचार दोनों का ही महत्त्व रहता है। इस प्रसंग में एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए और वह यह कि उपर्युक्त विषय-विभाजन और उससे संलग्न तथ्य और विचार का अंतर निर्भ्रान्त एवं अंतिम नहीं है। जिस प्रकार विभिन्न विषय—विज्ञान और साहित्य आदि—एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं, उसी प्रकार तथ्य और विचार भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण, विभाजन आदि में सापेक्षिक प्राधान्य ही प्रमाण रहता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्यिक अनुसन्धान

हमारा विषय साहित्यिक अनुसन्धान ही है, अतएव हम अपने विवेचन को उसी तक सीमित रखेंगे। अब तक के विवेचन से तीन बातें हमारे सामने आती हैं :

१. (क) अन्वेषण, (ख) अनुसन्धान या पुनराख्यान, (ग) मौलिकता, और (घ) प्रतिपादन-सौष्ठव। अनुसन्धान के ये चार आवश्यक तत्त्व हैं।

२. विषय और अनुसन्धान का घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थात् अनुसन्धान के स्वरूप पर अनुसन्धेय विषय का निश्चित ही प्रभाव पड़ता है। अनुसन्धान का कोई निरपेक्ष अथवा सर्व-सामान्य स्वरूप नहीं है, और परिणामतः अनुसन्धाता के लिए प्रत्येक स्थिति में कोई एक दृष्टिकोण निर्धारित कर देना सम्भव नहीं है। द्रष्टा को अपने विषय में से ही दृष्टि प्राप्त करनी होगी। एक ही दृष्टि से सभी विषयों का निरीक्षण-परीक्षण करना असंगत होगा।

३. अतएव अनुसन्धान-कार्य में अन्वेषण, आख्यान, मौलिकता और प्रतिपादन-सौष्ठव का स्वरूप एक-सा नहीं है; वह विषय के अनुसार बदलता रहता है।

इन्हीं मान्यताओं के आधार पर साहित्यिक अनुसन्धान का स्वरूप-विश्लेषण करना समीचीन होगा। अस्तु !

अन्वेषण

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, अन्वेषण का अर्थ है खोज। साहित्य में अन्वेषण के कई अर्थ और कोटियां हो सकती हैं :

१. अज्ञात का ज्ञान—अज्ञात लेखकों तथा ग्रन्थों आदि का अन्वेषण इसके अंतर्गत आता है। अज्ञात लेखकों और ग्रन्थों से तात्पर्य ऐसे लेखकों और ग्रन्थों से है जिनका अस्तित्व अभी तक अज्ञात है।

२. अनुपलब्ध की उपलब्धि—इसके अंतर्गत ऐसी सामग्री का अन्वेषण आता है जिसके अस्तित्व के विषय में तो ज्ञान है, पर जो साधारणतः प्राप्त नहीं है। हिन्दी में इस प्रकार के अन्वेषण के लिए असीम क्षेत्र है।

३. उपलब्ध का शोधन—नवीन तथ्यों के अन्वेषण द्वारा प्रचलित तथ्यों का संशोधन इसके अन्तर्गत आता है। उदाहरण के लिए तुलसी, सूर आदि के जीवन-चरित्र के विषय में इस प्रकार का संशोधन निरन्तर होता रहा है और कदाचित् उसके लिए और भी अवकाश है। इसके अतिरिक्त पाठाध्ययन, पाठ-संशोधन, संपादन भी इसी कोटि में आते हैं।

४. विचार या सिद्धान्त का अन्वेषण—किसी विचार-परम्परा का विकास-क्रम निर्दिष्ट करना इस कोटि में आता है।

५. शैली या रूपविधान-विषयक अन्वेषण—यों तो शैली या रूपविधान विचार अथवा दृष्टिकोण का ही प्रतिबिम्ब होता है और इस दृष्टि से यह रूप मूलतः विचार-विषयक अन्वेषण से भिन्न नहीं है; फिर भी साहित्य में शैली या रूप-विधान का स्वतन्त्र महत्त्व होने के कारण इसे पृथक् मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। और, साहित्य में निस्सन्देह इस प्रकार के अन्वेषण का महत्त्व है। उदाहरण के लिए, पं० पद्मसिंह शर्मा ने संस्कृत-प्राकृत से शृंगार-मुक्तक-परम्परा का उद्घाटन कर बिहारी-सतसई अथवा अन्य शृंगार-मुक्तक-काव्यों के व्याख्यान में, और इधर राहुल जी ने स्वयम्भू-रामायण आदि के साथ 'रामचरितमानस' की शैली का सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिणाम है, तथा वह विषय-विशेष के अध्ययन को कहां तक और आगे बढ़ाता है।

(२) निरूपण-शैली आदि की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का रूप-आकार संतोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

(आगरा यूनिवर्सिटी पी-एच० डी० नियमावली)

आगे चलकर डॉक्टर ऑफ़ लैटर्स के प्रसंग में भी प्रायः इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख है, केवल एक बात नई है—वहां 'विषय के अध्ययन को और आगे बढ़ाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। डी० लिट्० की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह अनुबन्ध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयों के नियमों में भी लगभग ये ही शब्द हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय-विधान के अनुसार अनुसन्धान के तीन तत्त्व हैं :

१. अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण;
२. उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान;
३. ज्ञान-क्षेत्र का सीमा विस्तार, अर्थात् मौलिकता;
४. इनके अतिरिक्त, एक तत्त्व और भी अपेक्षित है, और वह है सुष्ठु प्रतिपादन-शैली।

इसमें सन्देह नहीं कि सामान्यतः ये चारों ही तत्त्व अनुसन्धान-कार्य के लिए आवश्यक हैं, परन्तु एक प्रश्न यह उठता है कि इन सबका सापेक्षिक महत्त्व कितना है? अर्थात्, इन चार तत्त्वों में से किसका कितना महत्त्व है? जहां तक तीन और चार का सम्बन्ध है उनकी अनिवार्यता तो स्वतःसिद्ध ही है, क्योंकि प्रत्येक अनुसन्धान-कार्य द्वारा ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार अनिवार्यतः होना ही चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है; मौलिकता तो केवल अनुसन्धान की ही नहीं, किसी भी साहित्यिक कृति, अपितु जीवन के किसी भी गम्भीर कार्य के मूल्यांकन की सबसे बड़ी कसौटी है। इसी प्रकार विषय का सुष्ठु प्रतिपादन भी प्रत्येक कृति के लिए अनिवार्य ही है। हां, यह बात अवश्य है कि मौलिकता और शैली-सौष्ठव का स्वरूप सर्वत्र एक-सा न होकर विषय-सापेक्ष ही होता है। अब पहला और दूसरा तत्त्व रह जाते हैं अर्थात् अनुपलब्ध अथवा नवीन तथ्यों का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान। इनका सापेक्षिक महत्त्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इनका सापेक्षिक महत्त्व बहुत-कुछ अनुसन्धान के विषय पर निर्भर है। यदि समग्र वाङ्मय को लें तो स्थूलतः यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक विषयों के अनुसन्धान में तथ्य का महत्त्व अधिक है, और साहित्यिक विषयों के अनुसन्धान में विचार का। कुछ विषय ऐसे भी हैं, जो विज्ञान और साहित्य के मध्यवर्ती हैं, जैसे इतिहास—और उससे सम्बद्ध नृतत्त्वशास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र आदि अनेक विषय; समाजशास्त्र तथा उससे सम्बद्ध अर्थशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि। इनमें अनुसन्धान-कार्य की स्थिति भी मध्यवर्ती माननी चाहिए, अर्थात् उसमें तथ्य और विचार दोनों का ही महत्त्व रहता है। इस प्रसंग में एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए और वह यह कि उपर्युक्त विषय-विभाजन और उससे संलग्न तथ्य और विचार का अंतर निर्भ्रान्त एवं अंतिम नहीं है। जिस प्रकार विभिन्न विषय—विज्ञान और साहित्य आदि—एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं, उसी प्रकार तथ्य और विचार भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण, विभाजन आदि में सापेक्षिक प्राधान्य ही प्रमाण रहता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्यिक अनुसन्धान

हमारा विषय साहित्यिक अनुसन्धान ही है, अतएव हम अपने विवेचन को उसी तक सीमित रखेंगे। अब तक के विवेचन से तीन बातें हमारे सामने आती हैं :

१. (क) अन्वेषण, (ख) अनुसन्धान या पुनराख्यान, (ग) मौलिकता, और (घ) प्रतिपादन-सौष्ठव। अनुसन्धान के ये चार आवश्यक तत्त्व हैं।

२. विषय और अनुसन्धान का घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थात् अनुसन्धान के स्वरूप पर अनुसन्धेय विषय का निश्चित ही प्रभाव पड़ता है। अनुसन्धान का कोई निरपेक्ष अथवा सर्व-सामान्य स्वरूप नहीं है, और परिणामतः अनुसन्धाता के लिए प्रत्येक स्थिति में कोई एक दृष्टिकोण निर्धारित कर देना सम्भव नहीं है। द्रष्टा को अपने विषय में से ही दृष्टि प्राप्त करनी होगी। एक ही दृष्टि से सभी विषयों का निरीक्षण-परीक्षण करना असंगत होगा।

३. अतएव अनुसन्धान-कार्य में अन्वेषण, आख्यान, मौलिकता और प्रतिपादन-सौष्ठव का स्वरूप एक-सा नहीं है; वह विषय के अनुसार बदलता रहता है।

इन्हीं मान्यताओं के आधार पर साहित्यिक अनुसन्धान का स्वरूप-विश्लेषण करना समीचीन होगा। अस्तु !

अन्वेषण

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, अन्वेषण का अर्थ है खोज। साहित्य में अन्वेषण के कई अर्थ और कोटियां हो सकती हैं :

१. अज्ञात का ज्ञान—अज्ञात लेखकों तथा ग्रन्थों आदि का अन्वेषण इसके अंतर्गत आता है। अज्ञात लेखकों और ग्रन्थों से तात्पर्य ऐसे लेखकों और ग्रन्थों से है जिनका अस्तित्व अभी तक अज्ञात है।

२. अनुपलब्ध की उपलब्धि—इसके अंतर्गत ऐसी सामग्री का अन्वेषण आता है जिसके अस्तित्व के विषय में तो ज्ञान है, पर जो साधारणतः प्राप्त नहीं है। हिन्दी में इस प्रकार के अन्वेषण के लिए असीम क्षेत्र है।

३. उपलब्ध का शोधन—नवीन तथ्यों के अन्वेषण द्वारा प्रचलित तथ्यों का संशोधन इसके अन्तर्गत आता है। उदाहरण के लिए तुलसी, सूर आदि के जीवन-चरित्र के विषय में इस प्रकार का संशोधन निरन्तर होता रहा है और कदाचित् उसके लिए और भी अवकाश है। इसके अतिरिक्त पाठाध्ययन, पाठ-संशोधन, संपादन भी इसी कोटि में आते हैं।

४. विचार या सिद्धान्त का अन्वेषण—किसी विचार-परम्परा का विकास-क्रम निर्दिष्ट करना इस कोटि में आता है।

५. शैली या रूपविधान-विषयक अन्वेषण—यों तो शैली या रूपविधान विचार अथवा दृष्टिकोण का ही प्रतिबिम्ब होता है और इस दृष्टि से यह रूप मूलतः विचार-विषयक अन्वेषण से भिन्न नहीं है; फिर भी साहित्य में शैली या रूप-विधान का स्वतन्त्र महत्त्व होने के कारण इसे पृथक् मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। और, साहित्य में निस्सन्देह इस प्रकार के अन्वेषण का महत्त्व है। उदाहरण के लिए, पं० पद्मसिंह शर्मा ने संस्कृत-प्राकृत से शृंगार-मुक्तक-परम्परा का उद्घाटन कर बिहारी-सतसई अथवा अन्य शृंगार-मुक्तक-काव्यों के व्याख्यान में, और इधर राहुल जी ने स्वयम्भू-रामायण आदि के साथ 'रामचरितमानस' की शैली का सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्थापित कर मध्ययुगीन चरित-काव्यों के अध्ययन में एक नवीन अध्याय जोड़ दिया है।

६. साहित्यिक अनुसन्धान में अन्वेषण का एक प्रकार और भी होता है। वह है भाव, प्रसंग अथवा प्रबन्ध-कल्पना विषयक अन्वेषण। इसके अन्तर्गत अन्वेषक इस बात की खोज करता है कि परवर्ती कवि या लेखक भावाभिव्यंजना अथवा प्रसंग-विधान में अपने पूर्ववर्ती कवियों के कहां तक ऋणी हैं। कुन्तक ने कवि की दृष्टि से इस प्रकार की मौलिक नियोजनाओं का वर्णन प्रसंग-वक्रता अथवा प्रबन्ध-वक्रता के अंतर्गत किया है। प्रसंग-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता से सम्बद्ध अन्वेषण साहित्य-शोधक के लिए विशेष महत्त्व रखता है। परन्तु कदाचित् इसे अन्वेषण का एक स्वतन्त्र रूप न मान कर अंशतः विचार-सम्बन्धी अन्वेषण और अंशतः शैली-सम्बन्धी अन्वेषण के अंतर्गत ही मान लेना अधिक समीचीन होगा।

आख्यान अथवा पुनराख्यान

आख्यान का अर्थ है व्याख्या करना—स्पष्टीकरण करना, निहित अर्थ को विहित करना। तथ्य अथवा तथ्यों के आख्यान का अर्थ है उनके पारस्परिक सम्बन्धों को व्यक्त करना—दूसरे शब्दों में, तथ्यों को विचार में परिणत करना। नवोपलब्ध तथ्य का आख्यान, और पूर्वोपलब्ध तथ्य का पुनराख्यान होता है। साधारणतः सभी प्रकार के अनुसन्धान-कार्य के लिए, और विशेषतः साहित्यिक अनुसन्धान-कार्य के लिए, आख्यान अथवा पुनराख्यान का अनिवार्य महत्त्व है; क्योंकि तथ्य अपने-आप में इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, वास्तविक महत्त्व तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध-ज्ञान का है। उद्योग के क्षेत्र में वस्तु या तथ्य का महत्त्व कितना ही हो, परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में तो ज्ञान का ही महत्त्व है। प्रस्तुत प्रसंग में भी, जहां अनुसन्धान का मूल लक्ष्य है ज्ञान का सीमा-विस्तार, वास्तविक महत्त्व निस्सन्देह ज्ञान का ही है; क्योंकि ज्ञान की सीमा का विस्तार वस्तु या तथ्य नहीं कर सकता, वस्तु या तथ्य का सम्बन्ध-ज्ञान ही कर सकता है। वैसे भी यदि आप देखिए तो सभी विद्याएं अन्त में जाकर दर्शन का रूप धारण कर लेती हैं। जिनमें यह सम्भावना नहीं है, उन्हें हमारे शास्त्र में हीनतर कोटि की उप-विद्याएं माना गया है; और वास्तव में दर्शन कोई विशिष्ट विषय न होकर सत्य-विचार का एक सामान्य विधान ही तो है।

साहित्य के क्षेत्र में तो यह बात और भी अधिक घटित होती है, क्योंकि साहित्य ज्ञान के सूक्ष्मतर माध्यमों में से है। अतएव साहित्य के क्षेत्र में तो वस्तु अथवा तथ्य का स्वतन्त्र महत्त्व और भी कम तथा ज्ञान अर्थात् विचार एवं भाव का महत्त्व और भी अधिक है। यहां तो अन्वेषण का रूप भी तथ्यात्मक न होकर विचारात्मक होना चाहिए; आख्यान त[illegible]की पहली आवश्यकता है। यह आख्यान जितना मूलवर्ती और सूक्ष्म-गहन होगा, अनुसन्धान [illegible]तना ही मूल्यवान् होगा। यह सापेक्षिक मौलिकता और सूक्ष्मता ही साहित्य तथा अन्य विषयों के आख्यान का अंतर स्पष्ट कर देती है। कतिपय अन्य क्षेत्रों में साधारण आख्यान से काम चल सकता है—क्योंकि जहां आधारभूत तथ्य अथवा वस्तु मूर्त है वहां उनके पारस्परिक मूर्त-सम्बंधों का उद्घाटन पर्याप्त हो सकता है। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में, या उसके भी आगे दर्शन के क्षेत्र में, जहां आधारभूत तथ्य अमूर्त है, अथवा विचार तथा अनुभूति-रूप है, वहां बाह्य सम्बन्ध-ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त और बहुत-कुछ निरर्थक ही रहता है। साहित्य की आधारभूत सामग्री, जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है, निर्जीव और जड़ तथ्य नहीं होते, और न केवल तर्क-गम्य विचार या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सिद्धान्त ही उसके उपकरण होते हैं; उसके उपादान तो जीवन्त अनुभूतियां या अनुभूतिमूलक विचार अथवा सत्य ही होते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्यिक आख्यान न स्थूल गणनात्मक होगा और न कोरा तर्कवाद ही; उसका लक्ष्य तो मूलभूत अनुभूतियों को प्रकाश में लाकर साहित्य तथा साहित्यकार की आत्मा का साक्षात्कार ही हो सकता है। जब तक आख्याता में साहित्य की आत्मा का साक्षात्कार करने-कराने की क्षमता न हो, तब तक वह साहित्य का आख्यान करने का अधिकारी नहीं हो सकता; क्योंकि साहित्य मर्म की वाणी है, अवयवों की गणना नहीं है। अतएव जो मर्म को न छूकर केवल शरीर पर ही हाथ फेरता रहे, वह साहित्य का मर्मी नहीं हो सकता। जो अन्तर्दर्शन न कर सके वह द्रष्टा कैसे हो सकता है ! वह तो गणक ही रहेगा।

इस प्रसंग में अनायास ही मुझे अपने एक सम्मान्य मित्र का तर्क याद आ जाता है। अनुसन्धान के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने मेरी उपर्युक्त स्थापना के उत्तर में कहा था कि यह आत्मा आदि की बात वैज्ञानिक अनुसन्धान-पद्धति से बाहर है; यह तो छायावादी कल्पना है। और यह परिहास नहीं था। यह एक विशिष्ट दृष्टिकोण को व्यक्त करता है जो तथ्य को ही अंतिम प्रमाण मानता है। इस मान्यता के अनुसार अनुसन्धाता को अपनी दृष्टि निरंतर तथ्य पर ही रखनी चाहिए; उसके सभी निष्कर्ष एवं स्थापनाएं तथ्यगत (फ़ैक्चुअल) होनी चाहिए। तथ्य ही उसका मार्ग-निर्देशन करें, वह तथ्यों का मार्ग-निर्देशन न करे। इसका अर्थ यही हुआ कि अनुसन्धाता का दृष्टिकोण शुद्ध वस्तुपरक होना चाहिए; उसमें आत्मगत अथवा भावगत तत्त्वों के लिए कोई स्थान नहीं है। सामान्यतः तो यह मान्य ही होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि गवेषणा-विवेचना के लिए वस्तुपरक, निर्लिप्त दृष्टि सर्वथा वांछनीय ही है; फिर भी ये शब्द पारिभाषिक एवं धारणात्मक हैं, इनका अर्थ सर्वथा मूर्त अथवा ऋजु-रूढ़ नहीं है। इसलिए इनकी व्याख्या अपेक्षित है; वस्तुपरक अथवा तथ्यपरक दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि द्रष्टा या समीक्षक वस्तु अथवा तथ्य पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखता है; वह वस्तु या तथ्य को उसके अपने रूप में ही देखता और प्रस्तुत करता है, उस पर अपनी भावना का आरोप नहीं करता, उसमें अपने भावों या विचारों का रंग नहीं देता। वस्तुपरक समीक्षक केवल उसी को ग्रहण करता है जो उसे तथ्यों से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त होता है; वह अपनी कल्पना को तथ्यों का प्रसव नहीं करने देता। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। निर्मुक्त दृष्टि से जगत् का यथार्थ दर्शन करना विज्ञान का लक्ष्य है; विज्ञान के लिए जगत् अथवा प्रकृति या पदार्थ ही मुख्य है, आत्मा नहीं। प्रकृति ही आत्मा का अनुबन्धन (कण्डिशनिंग) करती है, आत्मा प्रकृति का नहीं। तथ्यपरक दृष्टिकोण इसी सिद्धान्त का प्रोद्भास है। इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त मान्यता में बहुत-कुछ सार[illegible]न्तु फिर भी इसका तत्त्व-विश्लेषण करना आवश्यक है, और कम-से-कम इसके अतिवाद से बचना चाहिए। पहला प्रश्न तो यह उठता है कि क्या विज्ञान का यह सिद्धान्त हमें यथावत् मान्य है कि प्रकृति ही आत्मा का अनुबन्धन करती है ? जहां तक भारतीय जीवन-दर्शन का सम्बन्ध है, इस प्रकार का सिद्धान्त प्रायः अमान्य ही है। इसका निर्वाह सांख्य भी अन्त में नहीं कर पाया। जगत् और जीवन के सभी रूपों की परीक्षा करने के उपरांत भारतीय दर्शन अंत में आत्मवाद पर ही जाकर रुका है।

उधर पाश्चात्य दृष्टि में भी अभी तक प्राधान्य आत्मवाद अथवा आदर्शवादी चिन्ता-धारा का ही है। द्रष्टा के व्यक्तित्व से असम्पृक्त दृश्य अपने-आप में जड़ है। जब तक हम अपनी आँख के रंग और प्रकाश को वस्तु के रूप पर प्रभाव डालने से नहीं रोक सकते तब तक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हमारे लिए अपने दृष्टिकोण को शुद्ध अनात्मपरक एवं निर्लेप बनाने का गर्व अनुचित है। मेरा यह तर्क साहित्य पर तो और भी अधिक लागू होता है ; क्योंकि साहित्य का तो निर्माण ही मूलतः भाव-तत्त्व अथवा आत्म-तत्त्व से होता है। अतएव साहित्यिक आख्याता के लिए रूढ़ार्थ में शुद्ध निस्संग या निर्लेप दृष्टि एक अर्थवाद के रूप में ही मानी जा सकती है। जहां दृश्य (अर्थात् साहित्य) आत्मपरक है, जहां दर्शन की प्रक्रिया आत्मपरक है—क्योंकि साहित्य का दर्शन बाह्यसंवेदनमय न होकर चेतनामय ही होता है, वहां दृष्टि, रूढ़ अर्थ में, अनात्मपरक कैसे हो सकती है ! अतएव वस्तुपरक निर्लेप निस्संग अथवा अनात्मपरक शब्दों का साहित्य के प्रसंग में रूढ़ प्रयोग असंगत है। हां, इन्हें अर्थवाद के रूप में ग्रहण करना सर्वथा समीचीन ही नहीं वरन् आवश्यक भी है। अर्थवाद के रूप में वस्तुपरक या अनात्मपरक दृष्टि से तात्पर्य यह है कि आख्याता को विषय पर अपने राग-द्वेष का आरोप नहीं करना चाहिए, अपने पूर्वग्रहों को यथासम्भव दूर रखना चाहिए—कम-से-कम उनमें लिप्त नहीं होना चाहिए तथा अपनी कल्पना का विषयानुकूल संयमन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसका एक सूक्ष्मतर अर्थ भी है—वह है अपने प्रति ईमानदारी। आत्मपरक या भावपरक दृष्टिकोण का प्रायः आत्म-प्रवंचन में स्खलन हो जाता है। वस्तुपरक दृष्टि की स्पृहा इसी स्खलन का सफल निवारण है। अतएव साहित्यिक आख्यान में वस्तुपरकता का अर्थ है—अपने प्रति ईमानदारी, संयम तथा संतुलन। उसके अर्थ को इसके आगे खींचना साहित्य के मर्म पर आघात करना है।

मौलिकता

मौलिकता अनुसंधान का प्राणतत्त्व है। परन्तु इसका स्वरूप भी विषय-सापेक्ष है और साथ ही इसकी कई कोटियाँ भी हैं। स्वरूप की विषय-सापेक्षता का अर्थ यह है कि विज्ञान और साहित्य विषयक मौलिकता प्रायः समान नहीं होती। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में जहां तथ्य का आविष्कार तथा अन्वेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वहां साहित्य के क्षेत्र में उसका उतना अधिक मूल्य नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन हस्तलिखित लेख, ग्रन्थ आदि की शोध या उसके भी आगे साहित्य-सम्बन्धी तथ्यों की शोध, का भी अपना महत्त्व है और वह अत्यन्त वांछनीय है; परन्तु वह आधार ही रहेगा, आधेय नहीं हो सकता। वह अधिक-से-अधिक दूध ही रहेगा; नवनीत नहीं बन सकता। नवनीत तो विचार ही है, जो मंथन के उपरान्त प्राप्त हो सकता है। साहित्य का अनुसन्धेय यही है और यही उसकी मौलिकता का मानदण्ड भी। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की मौलिकता का माप तथ्य का अन्वेषण-मात्र नहीं है, उसका माप है तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अन्वेषण-उद्घाटन जो अनिवार्यतः विचार-रूप ही होगा। इसलिए साहित्य के किसी गवेषणात्मक प्रबन्ध को केवल इस आधार पर अस्वीकृत करना न्याय नहीं है कि वह अन्वेषणात्मक नहीं है, आलोचनात्मक है; क्योंकि मौलिक आलोचना भी अन्वेषण ही है, वरन् यह कहिए कि साहित्य के क्षेत्र में तो आलोचना अन्वेषण का और भी उत्कृष्ट एवं मौलिक रूप है। वास्तव में उपर्युक्त तर्क ही एक असाहित्यिक तर्क है। साहित्य के क्षेत्र में इसके दो दुष्परिणाम होते हैं : एक तो यह कि इस प्रकार मूल्यों का विपर्यय हो जाता है, ग़लत चीज़ पर बल दिये जाने से सही चीज़ का महत्त्व घट जाता है। साहित्य में गणनात्मक तथ्य-संकलन ज़ोर पकड़ जाता है, मर्म-ज्ञान उपेक्षित हो जाता है। साहित्यिक अनुसन्धान की यह प्रवृत्ति अत्यन्त चिन्त्य है। दूसरा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दुष्परिणाम यह होता है कि आधुनिक साहित्य अथवा समसामयिक साहित्य इस दृष्टि से अनुसन्धेय नहीं रह जाता। 'कामायनी' या मैथिलीशरण गुप्त, पंत, निराला और महादेवी के काव्य अनुसन्धान के विषय नहीं बन सकते और वास्तव में अनेक विश्वविद्यालयों में जीवित साहित्यकारों अथवा समसामयिक साहित्य के अध्ययन पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा हुआ है। पहली प्रवृत्ति जितनी चिन्त्य है, यह दूसरी प्रवृत्ति उतनी ही उपहास्य है।

इस सन्दर्भ में दूसरा विचारणीय विषय है मौलिकता की विभिन्न कोटियां। मौलिकता की सर्वोच्च कोटि है आविष्कार। साहित्य में आविष्कार का अर्थ है नवीन सिद्धांत का आविष्कार। यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही दुष्कर भी। सिद्धांत के आविष्कर्ता अत्यन्त ही विरल होते हैं; किसी एक देश के नहीं, विश्व के साहित्य में भी इनकी संख्या सदैव नगण्य ही रहती है। प्राचीन काल में भरत, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक; उधर अरस्तू, लांजाइनस आदि, और आधुनिक युग में फ्रॉयड, क्रोचे आदि ही इस गौरव के अधिकारी हैं। द्वितीय कोटि में 'आख्यान' आता है। यहां नवीन सिद्धान्त का आविष्कार या अन्वेषण नहीं होता; किसी मान्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के आख्यान में ही मौलिक शक्ति का विकास मिलता है। किसी ज्ञात विचार या सिद्धान्त की नवीन व्याख्या एवं प्रयोग-उपयोग में भी उच्च कोटि की मौलिकता निहित रहती है। उदाहरण के लिए, अभिनवगुप्त का महत्त्व नवीन सिद्धान्त-प्रचलन पर आधृत नहीं है, आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त या भरत के रस-सिद्धान्त की गम्भीर व्याख्या में ही उनकी मौलिकता का विकास हुआ है; और संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास प्रमाण है कि अभिनवगुप्त का महत्त्व आनन्दवर्धन से कम नहीं है। विदेश के अनेक आचार्यों—और हिन्दी में शुक्लजी के लिए भी— यही कहा जा सकता है। मौलिकता की एक तीसरी कोटि भी मानी जा सकती है; परन्तु यह मौलिकता का स्थूल रूप है। तथ्यान्वेषण, पाठ-शोध, पाठाध्ययन आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। इनका भी अपना महत्त्व है; क्योंकि इनके लिए भी एक विशिष्ट मानसिक शिक्षण और श्रम तथा संलग्नता की अपेक्षा होती है। परन्तु फिर भी इन्हें मौलिकता की उच्च कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता; इनमें तथ्य-शोध ही रहता है, तत्त्व-बोध नहीं। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के प्रबन्धों को भी मौलिकता की दृष्टि से इसी कोटि-क्रम में रखा जा सकता है। मेरा अभिप्राय उन प्रबन्धों से है, जिनका प्रतिपाद्य नवीन नहीं होता, अर्थात् विचार नवीन नहीं होते, जिनमें आख्यान भी नवीन नहीं होता; परन्तु प्रतिपादन नवीन होता है। इनमें आविष्कार अथवा उद्घाटन नहीं होता, प्रकाशन-मात्र होता है। परन्तु इसका भी अपना महत्त्व है ही; कम-से-कम यह ग्रहण-शक्ति का द्योतन तो करता ही है। [illegible] साहित्य के अध्ययन में इस प्रकार के प्रबन्धों का भी अपना मूल्य है, और मौलिकता की कोटि से उन्हें बहिष्कृत नहीं किया जा सकता; भले ही उनकी मौलिकता निम्न कोटि की ही क्यों न हो।

हमारे आचार्यों ने साहित्य के तीन हेतु माने हैं: शक्ति, निपुणता और अभ्यास। इन तीनों का महत्त्व भी इसी क्रम से माना गया है: अर्थात् शक्ति का महत्त्व सबसे अधिक, निपुणता का उसके बाद और अभ्यास का सबसे बाद। मौलिकता की उपर्युक्त कोटियों को भी इन्हीं तीन गुणों के समानान्तर माना जा सकता है। आविष्कार 'शक्ति' का द्योतक है, आख्यान 'निपुणता' का और तथ्य-शोधन, पाठाध्ययन, प्रतिपादन आदि 'अभ्यास' के आश्रित हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुसंधान और आलोचना

लक्ष्य-भेद से अनुसंधान के स्थूलतः दो भेद किये जाते हैं—सोपाधि और निरुपाधि। वस्तुतः यह विभाजन सर्वथा स्थूल है : अनुसंधान के प्रयोजन, प्रक्रिया एवं उपलब्धि की दृष्टि से दोनों में मौलिक अंतर नहीं है। अर्थात् उपाधि तो केवल एक आनुषंगिक तथा व्यावसायिक सिद्धि है। उससे अनुसंधान की आत्मा उपाधि-ग्रस्त ही होती है, इसलिए उसके लिए 'सोपाधि' विशेषण ही उपयुक्त है। फिर भी, हम सभी सोपाधि ब्रह्म के ही रूप हैं, अतः अपने आवरण के अंतर्गत उपाधि-सापेक्ष रूप ही हमारे विवेचन का उचित विषय बन सकता है।

उपाधि-सापेक्ष अनुसंधान के लिए प्रायः निम्नलिखित अनुबन्धों का विधान है :

१. अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण;
२. उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान;
३. ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार, अर्थात् मौलिकता;
४. इनके अतिरिक्त, एक तत्त्व और भी अपेक्षित है और वह है सुष्ठु प्रतिपादन-शैली।

अनुसंधान के इन चार गुणों में से मौलिकता तथा प्रतिपादन-सौष्ठव तो वाङ्मय के प्रायः सभी रूपों के लिए समान हैं, नवीन तथ्यों का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन आख्यान—ये दो गुण अनुसंधान के अपने विशिष्ट धर्म हैं। विश्वविद्यालयों का विधान इन दो में से एक को अनिवार्य मानता है, इसलिए संबंधित अनुच्छेद में विकल्पवाचक 'या' का प्रयोग किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि नवीन तथ्यों का अन्वेषण तो ठीक है, किन्तु उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का आख्यान अनुसंधान के अंतर्गत क्यों माना जाए। इसका एक सीधा उत्तर यह है कि केवल आख्यान अनुसंधान नहीं है, 'नवीन' आख्यान अनुसंधान है : नवीनता ही यहां भी प्रमाण है। तथ्यों के आख्यान का वास्तविक अर्थ है तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन—उनके द्वारा व्यंजित जीवन-सत्य या मानव-सत्य का उद्घाटन। तथ्य अपने वस्तु-रूप में जड़ है, किन्तु मानव-जीवन के संदर्भ में—अर्थात् मानव-चेतना के संसर्ग से वह चैत[illegible]न जाता है : मानव-चेतना के संसर्ग से जो एक नवीन अर्थ-ज्योति उसमें कौंध जाती है [illegible] आलंकारिकों ने व्यंजना कहा है। वास्तव में तथ्यों के आख्यान का अर्थ इसी निहित व्यंजना को विहित करना है। यद्यपि व्यंजना का स्वरूप तथ्य-रूप अभिधा पर आश्रित रहने के कारण अंततः ससीम ही होता है, किन्तु अपनी सीमा के भीतर भी उसमें अनेक अर्थ-छायाओं की सम्भावना निहित रहती है। इन अर्थ-छायाओं के कारण ही तथ्य के नवीन, चिर-नवीन आख्यान की सम्भावना बनी रहती है और इसलिए अनुसंधान के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। इस दृष्टि से तथ्यों का नवीन आख्यान अथवा पुनराख्यान भी अनुसंधान के अंतर्गत आता है।

आप लोगों की सुविधा के लिए मैं, संक्षेप में, तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान का अंतर और स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूं। सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सम्बद्ध रहते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं—सत्य के इस रूप-विशेष को स्पष्ट करने के लिए आधारभूत तथ्यों की उपलब्धि आवश्यक है। इनमें से कुछ तथ्य तो विहित रहते हैं, किन्तु अनेक तथ्य प्रायः निहित रहते हैं—अथवा काल के आवरण में लुप्त हो जाते हैं और उनका अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। तथ्यानुसंधान प्रायः काल-सापेक्ष-सा बन गया है और यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि तथ्यानुसंधान प्राचीन विषयों की शोध में ही सम्भव हो सकता है। किन्तु यह साधारणतः मान्य होते हुए भी आवश्यक नहीं हैं—क्योंकि प्रत्येक विषय में अनेक निहित तथ्य भी तो होते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि तथ्यानुसंधान के सामान्यतः दो रूप हैं—(१) काल के प्रवाह में लुप्त तथ्यों का अन्वेषण, और (२) विषय में निहित तथ्यों का अन्वेषण। उदाहरण के लिए तुलसी के युग की परिस्थितियाँ, उनके जीवन की घटनाएँ, उनकी रचनाएं, उन रचनाओं की अनेक प्रतियाँ, उनके निर्माण से सम्बद्ध स्थितियाँ आदि तुलसी-विषयक अनुसंधान के अनेक बहिरंग तथ्य हैं जो काल-सापेक्ष हैं—अर्थात् काल के प्रवाह में से जिन्हें ढूंढ़कर निकालना पड़ता है। इनके अतिरिक्त तुलसी के काव्य में निहित अनेक अंतरंग तथ्य हैं—जैसे तुलसी के आत्म-कथन, दार्शनिक विचार, नैतिक विचार, शैली के तत्त्व, भाषा के तत्त्व, शब्द-समूह आदि, जो आंतरिक अन्वेषण की अपेक्षा करते हैं। दोनों अन्वेषण-प्रक्रियाएं तथ्यानुसंधान के अंतर्गत आती हैं और चूंकि प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के साहित्य के अनुसंधान में इनका न्यूनाधिक प्रयोग सम्भव है, अतः तथ्यानुसंधान की सम्भावना को प्राचीन साहित्य तक ही सीमित करना उचित नहीं है। यह ठीक है कि मैथिलीशरण गुप्त या प्रसाद की जीवन-घटनाओं की जानकारी के लिए प्राचीन राजपत्र, हस्तलेख, शिलालेख आदि की छानबीन की आवश्यकता नहीं है, उनकी रचनाओं के अनेक पाठों का तुलनात्मक अध्ययन सर्वथा अनावश्यक है, उनकी युगीन परिस्थितियों के आकलन के लिए भी गहरी खोजबीन की ज़रूरत नहीं है, परन्तु इनके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक तथ्य रह जाते हैं जिनका अन्वेषण उतना ही यत्न-साध्य है जितना तुलसी-काव्य से सम्बद्ध तथ्यों का हो सकता है। यहां तक तो हुई तथ्यानुसंधान की बात। अब इसके आगे तथ्याख्यान को लीजिए। उपर्युक्त सभी तथ्य, चाहे वे बहिरंग हों या अंतरंग, केवल आधार हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन राजपत्रों में तुलसी विषयक उल्लेख आधार मात्र हैं, वास्तविक उपलब्धि तो उनके द्वारा व्यंजित तुलसी का जीवन-चरित ही है। इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेख तथ्य हैं और उनके द्वारा तुलसी के जीवन-चरित की व्यंजना का स्पष्टीकरण इन तथ्यों का आख्यान है—यह व्यंजना अनेकरूपा हो सकती है और उसी के अनुसार आख्यान भी नवीन हो सकता है। तथ्याख्यान का यह अपेक्षाकृत स्थूल रूप है। इसके आगे तुलसी की जीवन-घटनाएं स्वयं तथ्य बन जाती हैं और फिर अनुसंधाता उनकी व्यंजनाओं का उद्घाटन करता है—अर्थात् उनके द्वारा व्यंजित तुलसी-व्यक्तित्व के गुण दोषों का प्रकाशन करता है। यह तथ्याख्यान का दूसरा सोपान है। आगे चल कर व्यक्तित्व के ये गुण-दोष स्वयं तथ्य बन जाते हैं और अनुसंधाता उनके आधार पर तुलसी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। यह बहिरंग तथ्याख्यान की प्रक्रिया है। अंतरंग तथ्याख्यान तुलसी के काव्य को केन्द्र मानकर चलता है—वह तुलसी की रचनाओं का क्रम निर्धारित करता है, उनमें निहित दार्शनिक एवं नैतिक विचारों का, उनकी शैली के तत्त्वों का, भाषा के तत्त्वों का शब्द-समूह आदि का, विश्लेषण करता है। यह सब भी वस्तुतः तथ्यानुसंधान के अंतर्गत ही आएगा—भेद केवल इतना है कि ये तथ्य बहिरंग न होकर अंतरंग हैं, किन्तु हैं ये तथ्य ही। इनका भी आख्यान उतना ही आवश्यक है, अन्यथा ये भी जड़वत् हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इनके आख्यान का भी अर्थ होगा इनकी व्यंजनाओं का स्पष्टीकरण। नहछू तथा मंगल आदि मानस की पूर्ववर्ती रचनाएं हैं और विनयपत्रिका परवर्ती––इस तथ्य की उपलब्धि महत्त्वपूर्ण है, किन्तु साधन-रूप में ही, अर्थात् इस तथ्य के द्वारा व्यंजित तुलसी के कवित्व-विकास का महत्त्व और भी अधिक है और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है इस क्रम-विकास द्वारा व्यंजित तुलसी की कवि-आत्मा का विकास। इसी प्रकार तुलसी की काव्य-शैली के तत्त्वों का विश्लेषण तथ्यानुसंधान मात्र है, इन तत्त्वों के द्वारा व्यंजित तुलसी-काव्य के स्वरूप का अनुसंधान तथ्याख्यान है: उदाहरण के लिए रामनरेश त्रिपाठी की कृति 'तुलसीदास और उनकी कविता' में तथ्यानुसंधान की प्रवृत्ति अधिक है और शुक्लजी की प्रसिद्ध रचना 'गोस्वामी तुलसीदास' में तथ्याख्यान का प्राधान्य है। तथ्यों के संकलन को देखकर सच्चा अनुसंधाता प्रश्न करेगा––इससे क्या? और फिर उनके आधार पर अपनी आंतरिक जिज्ञासा––काव्य के मर्म के उद्घाटन––में प्रवृत्त हो जाएगा। तुलसी के काव्य में साधर्म्यमूलक अलंकारों की संख्या वैषम्यमूलक अलंकारों से अधिक है––यह एक उपयोगी तथ्य है; इसकी व्यंजना यह है कि तुलसी के काव्य में वैदग्ध्य की अपेक्षा रस की प्रधानता है। आगे चलकर यह भी तथ्य हो जाता है और इस महत्त्वपूर्ण सत्य को ध्वनित करता है कि तुलसी की कविता का आस्वाद मनःशांति-रूप है, बुद्धि-चमत्कृति-रूप नहीं है। इस प्रकार एक तथ्य दूसरे सूक्ष्मतर तथ्य की व्यंजना करता हुआ काव्य के मर्म तक पहुंचने में सहायता देता है––यही तथ्याख्यान है।

विगत कई वर्षों से मेरा अनुसंधान से व्यावसायिक सम्बन्ध रहा है—अनेक विषयों के निरीक्षकों-परीक्षकों के साथ विचार-विनिमय के प्रचुर अवसर मिलते रहे हैं। इस विचार-विनिमय के अंतर्गत अनुसंधान के विषय में अनेक प्रश्न सामने आये हैं। एक बार हिन्दी के एक मान्य विद्वान् ने हमारे एक शोध-विषय 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इस पर 'थीसिस' कैसे लिखा जाएगा––थीसिस से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसंधान जिसमें प्रमुख आचार्यों की अनेकता बाधक थी। इसी प्रकार शोध-मण्डल की किसी बैठक में इतिहास के एक विद्वान् ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी-काव्य के विकास में सिख कवियों का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अंतर्गत अनुसंधाता क्या शोध करेगा? मैंने उत्तर दिया कि यह सम्पूर्ण सामग्री अभी तक सर्वथा अज्ञात है––पहला शोधकर्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा; परवर्ती अनुसंधाता उसके आधार पर अंतरंग विश्लेषण करेंगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षकों की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसंधान नहीं है––स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होंने यह मान लिया कि सिख-कवियों के ग्रन्थों का पाठानुसंधान और सम्पादन तो अनुसंधान के अंतर्गत आ सकता है किन्तु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नहीं––सर्वेक्षण तो अनुसंधान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। ये दोनों ही प्रसंग अनुसंधान के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। अंगरेज़ी का एक शब्द है 'थीसिस' जो संस्कृत न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है––इसका अर्थ है कोई मौलिक प्रस्थापना विशेष जिसको अनुगमन या निगमन विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानों के अनुसार शोध प्रबन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है––इसीलिए अंगरेज़ी में शोध-प्रबन्ध के लिए 'थीसिस' शब्द का प्रयोग ही रूढ़ हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि उत्तम शोध-प्रबन्ध में किसी न किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए, उससे अनुसंहित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। किन्तु

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसकी सम्भावना सर्वत्र नहीं है। वास्तव में इस प्रकार का अनुसंधान उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव है जहां अध्ययन काफ़ी विकसित हो चुका है; जहां प्रारम्भिक कार्य ही नहीं––व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। उदाहरण के लिए हिन्दी के सगुण भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के अनेक कवियों पर इतना कार्य हो चुका है कि इस प्रकार के प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए अब भूमि तैयार हो चुकी है और इस प्रकार का अनुसंधान-कार्य हो भी रहा है। पिछले वर्ष दो शोध-प्रबन्ध मैंने देखे––एक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक में यह प्रस्थापना की गई थी कि आचार्य शुक्ल का मूल जीवन-दर्शन है भावयोग और उनका सम्पूर्ण वाङ्मय––आलोचना, निबन्ध, कविता आदि इसी भावयोग के दर्शन से अनुप्राणित हैं। दूसरे में प्रस्थापना की गई थी कि बिहारी का काव्य ध्वनि-काव्य है और उसी के प्रकाश में सम्पूर्ण काव्य का आख्यान किया गया था। निश्चय ही यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है––यहां शोधकर्ता अनेकता में एकता के अनुसंधान का सीधा प्रयत्न करता है। अनेकता में एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है––इसी का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अतः शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक-से-अधिक निकट है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि सदा कठिन होती है, अतः यहां भी शोधक को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। इस प्रकार के अनुसंधान में यह आशंका सदा रहती है कि मूल प्रतिज्ञा ही कहीं अशुद्ध न हो या शोधक प्रतिज्ञा के प्रति दुराग्रही होकर तथ्यों को विकृत रूप में पेश न करे या उनकी विकृत व्याख्या न करने लगे। ऐसा प्रायः सम्भव है और इसीलिए यह शोध-पद्धति अधिक वस्तुपरक नहीं मानी गई। वस्तुपरक शोध-पद्धति का मूल सिद्धांत यह है कि तथ्य ही शोधक का अनुशासन करें, शोधक तथ्यों का शासन न करे। स्पष्टतः उपर्युक्त प्रणाली में दूसरी बात का ख़तरा बराबर बना रहता है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि तो ख़तरे से खाली कभी रही ही नहीं।

अनुसंधान का तीसरा प्रमुख तत्त्व है 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार'। वास्तव में यही उसका प्राण-तत्त्व अथवा व्यावर्त्तक धर्म है। नवीन तथ्यों की उपलब्धि, उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धांतों का नवीन आख्यान––ये दोनों तत्त्व इसी सिद्धि के साधन हैं। इनमें से कोई एक तत्त्व या सभी तत्त्व मिलकर अंततः ज्ञान की वृद्धि करते हैं––यह ज्ञान की वृद्धि ही वास्तव में अनुसंधान का मूल उद्देश्य है। अन्य गुण जैसे व्याख्या, विवेचन, संप्रेषण, प्रतिपादन-सौष्ठव आदि भी अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण धर्म हैं, किन्तु वे व्यावर्त्तक धर्म नहीं हैं, क्योंकि एक तो उनके अभाव में भी अनुसंधान हो सकता है और दूसरे अध्ययन के अन्य क्षेत्रों में भी उनका उतना ही वरन् इससे भी अधिक महत्त्व है। इसके विपरीत ज्ञानवृद्धि के अभाव में अनुसंधान का स्वरूप खण्डित हो जाता है[illegible] विवेचन या प्रतिपादन जो ज्ञानवृद्धि में सहायक न हो अनुसंधान की परिधि में नहीं अ[illegible]या कम-से-कम शुद्ध अनुसंधान के अन्तर्गत नहीं माना जायेगा। विचार या भाव का संप्रेषण अपने-आप में साहित्यिक अध्ययन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है––एक दृष्टि से उसका सर्वाधिक मूल्य है, किन्तु वह निरपेक्ष रूप में अनुसंधान के अंतर्गत नहीं आयेगा। अतः निष्कर्ष यह है कि ज्ञानवृद्धि ही अनुसंधान का व्यावर्त्तक धर्म है।

आलोचना

आलोचना का शब्दार्थ है सर्वांग-निरीक्षण। साहित्य के क्षेत्र में आलोचना से अभिप्राय है किसी साहित्यिक कृति का सांगोपांग निरीक्षण। इसके अंतर्गत तीन कर्तव्य-कर्म आते हैं—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

१. प्रभाव-ग्रहण, २. व्याख्या-विश्लेषण, और ३. मूल्यांकन अथवा निर्णय। आलोचना मूलतः कलाकृति द्वारा प्रमाता के हृदय में उत्पन्न प्रभाव को व्यक्त करती है, अर्थात् प्रिय-अप्रिय प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है। इसके उपरांत वह प्रतिक्रिया की प्रियता अथवा अप्रियता के कारणों का विश्लेषण करती है: सौंदर्यशास्त्र के अनुसार रूप का, मनोविज्ञान के अनुसार स्रष्टा और भावक की मानसिक परिस्थितियों का और समाजशास्त्र के अनुसार दोनों की सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करती है कि कोई कलाकृति भावक को प्रिय अथवा अप्रिय क्यों लगती है। और, अंत में इन दोनों प्रक्रियाओं के आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना के अंतर्गत ये तीन प्रक्रियाएं आती हैं—किसी न किसी रूप में आलोचना इन तीनों कर्तव्यों का निर्वाह करती है, अवधारण का भेद हो सकता है, किन्तु समालोचना में प्रायः इन तीनों में से किसी की उपेक्षा करना कठिन ही होता है।

अनुसंधान और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना दोनों की केवल जाति ही नहीं, उपजाति भी एक है। अतः दोनों में पर्याप्त साम्य है। दोनों की पद्धति बहुत कुछ समान है। व्याख्या-विश्लेषण और निर्णय दोनों में समान हैं। अनुसंधान में जो तथ्याख्यान है वही आलोचना में व्याख्या-विश्लेषण है, दोनों में विवेचन, कार्य-कारण सूत्र का अन्वेषण, परस्पर सम्बन्ध तथा अर्थ-व्यंजना आदि का उद्‌घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के संतुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति भी दोनों में प्रायः समान ही है। तथ्य-विश्लेषण के उपरांत तत्त्व-रूप में निष्कर्ष ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है—उसके बिना तथ्य-विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अतः निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्त्व अनुसंधान और आलोचना दोनों के लिए समान रूप से मान्य है, उसके बिना विचार की प्रक्रिया पूरी नहीं होती। तथ्याधार अनुसंधान के लिए तो एकांत अनिवार्य है ही, किन्तु आलोचना के लिए भी उसकी आवश्यकता का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि तथ्यों के पुष्ट आधार के बिना आलोचना में विश्वास की दृढ़ता नहीं आती।

यह सब होने पर भी अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं। मनोविज्ञान से पुष्ट संस्कृत व्याकरण का यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ का द्योतन नहीं करते—उनमें कुछ-न-कुछ भेद अवश्य होता है। अनुसंधान की मूल धातु 'धा' है, उसमें 'सम्' उपसर्ग लगाकर संधान शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है लक्ष्य बांधना, निशाना लगाना; और आलोचना की मूल धातु है 'लोचृ' अर्थात् देखना। इसी मूल धात्वर्थ के आधार पर दोनों के रूढ़ अर्थ में आगे चलकर भेद हो जाता है—एक का अर्थ हो जाता है लक्ष्य बांध कर उसके पीछे बढ़ना और दूसरे का हो जाता है पूरी तरह से देखना-परखना। यही दोनों के मौलिक भेद का आधार है। अनुसंधान में अन्वेषण पर अधिक बल है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर। यद्यपि ये दोनों तत्त्व भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं—अन्वेषण बिना निरीक्षण-परीक्षण के कृतकार्य नहीं हो सकता और इसी तरह निरीक्षण-परीक्षण के लिए भी पूर्व-क्रिया रूप में अन्वेषण की आवश्यकता प्रायः रहती है; फिर भी अनुसंधान और आलोचना का क्षेत्र पूर्णतः सह-व्यापक नहीं है। अनुसंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो शुद्ध आलोचना के अंतर्गत नहीं आते और आलोचना के भी कुछ रूपों को शुद्ध अनुसंधान मानने में वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए, जीवनचरित-विषयक अनुसंधान,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पाठानुसंधान, भाषावैज्ञानिक अनुसंधान आदि रूप आलोचना के अंतर्गत नहीं आ सकते। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इनमें आलोचना का अभाव रहता है अथवा इन क्षेत्रों का अनुसंधाता आलोचना-शक्ति एवं निर्णय की क्षमता से सम्पन्न नहीं होता : वास्तव में इन सभी क्षेत्रों में भी निरीक्षण-परीक्षण, निष्कर्ष-ग्रहण आदि उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने अन्यत्र, परन्तु आलोचना का प्रयोग यहां हम साहित्यिक आलोचना (लिटरेरी क्रिटिसिज़्म) के रूढ़ अर्थ में ही कर रहे हैं, सामान्य अर्थ में अर्थात् सामान्य निरीक्षण-परीक्षण के अर्थ में नहीं। इसी प्रकार आलोचना के कुछ ऐसे रूप भी हैं जैसे प्रभाववादी आलोचना के विभिन्न प्रकार, जो अनुसंधान की गरिमा को वहन नहीं कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्रों में पूर्ण सहव्याप्ति नहीं है।

अपने मन्तव्य को और स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक अर्थ में आलोचना के स्वरूप को और स्पष्ट कर लेना चाहिए। मुझे स्मरण है कि एक बार हमारे किसी प्रश्नपत्र में एक सवाल था—आलोचना विज्ञान है या कला ? मुझे याद नहीं उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था, किन्तु आज मेरे मन में इसका उत्तर स्पष्ट है। आलोचना (अर्थात् साहित्यिक आलोचना) कला का विज्ञान है। विशिष्ट शब्दावली में आलोचना न तो उस अर्थ में रस का साहित्य है जिस अर्थ में कविता, उपन्यास, कहानी आदि हैं और न उस अर्थ में ज्ञान का साहित्य है जिस अर्थ में दर्शनशास्त्र या मनोविज्ञान या तर्कशास्त्र हैं। यह तो अपने प्रामाणिक रूप में रस के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। विषय का प्रभाव उसके विवेचन पर सर्वथा अनिवार्य होता है—अर्थात् किसी विषय का विवेचन और उसकी विचार-पद्धति उसके आत्मभूत तत्त्वों के प्रभाव को ग्रहण किए बिना रह नहीं सकती, क्योंकि विषय के तत्त्व, उसका लक्ष्य आदि विवेचन पद्धति को भी अनिवार्यतः अनुशासित करते रहते हैं। साहित्य के तत्त्व हैं अनुभूति और कल्पना, उसका प्राण है रस। अतः साहित्य की विवेचन-पद्धति अंगभूत अनुभूति तथा कल्पना और प्राण-भूत रस के प्रभाव को बचा नहीं सकती। अतएव उसमें भी कला के तत्त्व—अर्थात् रस और उसके उपकरण अनुभूति तथा कल्पना आदि का अंतर्भाव अनिवार्यतः हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना में कला-तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है, उसमें आत्माभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है। अनुसंधान के विषय में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र—वह निश्चय ही शास्त्र है। कला की उसके लिए उतनी ही अपेक्षा है जितनी शास्त्र के लिए, क्योंकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है, एक शैली होती है जो वाङ्मय के अन्य रूपों से उसके रूप-वैशिष्ट्य को पृथक् करती है। अनुसंधान के अनुबंध-४ में निर्दिष्ट 'उपयुक्त' अ[illegible]तोषप्रद' रूप-आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नहीं। उदाहरण के लिए निब[illegible] ललित गद्य-शैली अनुसंधान के लिए न 'उपयुक्त' होगी और न 'संतोषप्रद'। निष्कर्ष यह है कि **आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवार्य गुण है, किन्तु साहित्यिक अनुसंधान में उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।**

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण, तथ्यों का वस्तुपरक आख्यान, वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं हैं, वरन् ये तो उसके प्राण-तत्त्व हैं। किसी-न-किसी प्रकार के—बहिरंग अथवा अंतरंग तथ्यों के सम्यक् अन्वेषण के बिना अनुसंधान एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। फिर, इन तथ्यों के आख्यान में अनुसंधाता की दृष्टि एकान्त वस्तुपरक होनी चाहिए जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करें, वह तथ्यों का निर्देशन न करे। यों तो आलोचना के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी निर्लिप्त दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है, किन्तु अनुसंधान के लिए वह सर्वथा अनिवार्य है। अनुसंधान का मार्ग एकांत तपश्चर्या का मार्ग है, उसके लिए अधिक कठोर संयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर बौद्धिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता कदाचित् नहीं है। आत्मरस का यत्किंचित् संस्पर्श उसके लिए एकांत वर्जित नहीं है। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए सर्वथा अनिवार्य है। संदर्भ आदि के पूर्ण विवरण, अनुक्रमणिका, परिशिष्ट, ग्रंथ-सूची, पाद-टिप्पणियां आदि की व्यवस्था इसी प्रविधि के अंतर्गत आती है। वास्तव में यह प्रविधि या शिल्प-विधान आलोचना के लिए भी अनुपयोगी नहीं है, किन्तु वहां इसका उतना अनिवार्य महत्त्व नहीं है। शुद्ध आलोचना में आलोच्य की आत्मा के साक्षात्कार के प्रति लेखक और पाठक का इतना आग्रह रहता है कि इस प्रकार के स्थूल तथ्य-विवरण की वह उपेक्षा कर सकता है। वस्तुतः इनसे उसका अवधान-भंग होने की भी संभावना हो सकती है।

अनुसंधान और आलोचना का प्रत्यक्ष उद्देश्य भी एक नहीं होता—अनुसंधान का लक्ष्य, जैसा कि हमने अभी सिद्ध किया, ज्ञान-वृद्धि है; किन्तु आलोचना का लक्ष्य है ज्ञान की अवगति। जो अनुसंधान ज्ञान की वृद्धि में योग नहीं देता वह विधानतः असफल है, किन्तु आलोचना के लिए इतना पर्याप्त नहीं है—जो आलोचना काव्य की आत्मा का साक्षात्कार नहीं करा सकती अर्थात् उसके सारभूत प्रभाव का सम्प्रेषण नहीं कर सकती, कलाकार के साथ प्रमाता का तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकती वह अपने मौलिक उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहती है। प्रत्यक्ष 'फलागम' के इसी भेद के कारण दोनों के 'आरम्भ' में भी स्पष्ट भेद हो जाता है। आलोचक का पहला धर्म है प्रभाव-ग्रहण अर्थात् आलोच्य के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया। अनुसंधाता के लिए वह आवश्यक नहीं है—प्रायः बाधक भी हो सकती है, वह अपना कार्यारम्भ तथ्य-संकलन से करता है जिसमें उसकी दृष्टि निर्लेप रहनी चाहिए। इस प्रकार अनुसंधान और आलोचना के आरम्भ और फलागम में बाह्य भेद अवश्य है।

अब तक मैंने अत्यन्त तटस्थ भाव से अनुसंधान और आलोचना के साम्य और वैषम्य का निरूपण किया है। यदि आपको आपत्ति न हो तो संक्षेप में अपने निष्कर्षों की आवृत्ति कर दूं जिससे आगे के विवेचन में सहायता मिल सके।

साम्य : (१) अनुसंधान और आलोचना एक ही विद्या—साहित्य-विद्या— के दो उपभेद हैं।

(२) दोनों की पद्धति बहुत-कुछ समान है। दोनों की प्रक्रिया में तथ्यों के संकलन—त्याग एवं ग्रहण, व्याख्यान-विश्लेषण, निष्कर्ष-ग्रहण का प्रायः उपयोग किया जाता है।

वैषम्य : (१) किन्तु अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं—धात्वर्थ के अनुसार अनुसंधान में अन्वेषण पर अधिक बल रहता है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर।

(२) अनुसंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो आलोचना के अंतर्गत नहीं आते और इसी प्रकार आलोचना के भी कतिपय रूप अनुसंधान के उपबन्धों की पूर्ति नहीं कर पाते।

(३) आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व आलोचना का अनिवार्य गुण है, किन्तु अनुसंधान में उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

(४) वैज्ञानिक तटस्थता और उसकी अनुवर्ती वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया का महत्त्व अनुसंधान के लिए अनिवार्य है—आलोचना के लिए उसका महत्त्व परिशिष्ट रूप में ही रहता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(५) अनुसंधान का प्रत्यक्ष उद्देश्य है ज्ञान की वृद्धि और आलोचना की सिद्धि है मर्म की अवगति या अनुभूति।

मुझे आशा है कि इस भेदाभेद-निरूपण से दोनों के विषय में आपकी सापेक्षिक धारणाएं और मानस-बिम्ब थोड़े बहुत स्पष्ट अवश्य हो गये होंगे। किन्तु यह तो पूर्वपक्ष है, या आप यह कह सकते हैं कि यह हमारे प्रतिपाद्य का तथ्याधार मात्र है। उत्तरपक्ष में मैं अपने से और आप से एक प्रश्न करता हूँ : क्या शुद्ध आलोचना अनुसंधान नहीं है ? यह प्रश्न एक दूसरे ढंग से भी रखा जा सकता है : क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान नहीं है ? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से भिन्न ही रहता है ? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका उत्तम आलोचना का असंदिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसंधान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूँ। यहां तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है, इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सैद्धान्तिक निबंधों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है ? अर्थात् क्या उनका शोध-मूल्य किसी प्रकार कम है ? आप कदाचित् हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। ये आलोचक हैं शान्तिप्रिय द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक हैं किन्तु आप औचित्यपूर्वक उनके सफल अनुसंधाता होने में शंका कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रिय जी की जिन रचनाओं का शोध-महत्त्व संदिग्ध है उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी, प्रभाववादी आलोचना प्रायः निम्नकोटि की आलोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय जी अपने चित्त को संयत और दृष्टि को स्थिर कर जहां आधुनिक काव्य—विशेषतः छायावाद-काव्य—के मर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं वहां उनकी आलोचनाओं का शोध-मूल्य भी असंदिग्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विवृति अपने आप में महत्त्वहीन अनुसंधान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आप से किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूंगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूं। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों के नाम लेना चाहें। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूंगा कि इस प्रकार के अकाट्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं। ऐसे प्रबन्ध, जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधृत है, उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के सन्दर्भ-ग्रन्थों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम में, और वहां के अनुकरण पर इस देश में भी, ऐसे ग्रन्थों का महत्त्व बढ़ रहा है। मैं इनका अवमूल्यन नहीं करता किन्तु ये सब तो अनुसन्धान की सामग्री या साधन मात्र हैं। हिन्दी में ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आयी है। उनसे हिन्दी-साहित्य और उसके अनुसंधाता का निश्चय ही बड़ा कल्याण हुआ है किन्तु कृपया उन्हें आदर्श अनुसंधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसंधान के प्रारूप हैं। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विचार करें तो विद्या के सभी भेदों का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है, और वह है सत्य की उपलब्धि। सत्य और तथ्य में यह भेद है कि एक केवल बोध का विषय है और दूसरा अनुभूति का। बोध का अर्थ है ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अर्थ है मर्म का साक्षात्कार। मर्म के साक्षात्कार के लिए तथ्य-बोध से आगे चलकर तथ्य के द्वारा व्यंजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की चरम परिणति है और मेरा आग्रह है कि अनुसंधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विषयक विधान के अनुबंध—२—तथ्यों या सिद्धान्तों के नवीन आख्यान—के अंतर्गत यद्यपि इसका उल्लेख विकल्प रूप में किया गया है, किन्तु उसकी शब्दावली से निर्विवाद है कि यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है। इस लक्ष्य की सिद्धि के बिना अनुसंधान केवल तथ्य-बोध का साधन होकर रह जाता है, सत्य की सिद्धि का माध्यम नहीं।—तब फिर उसकी गणना विद्या के अंतर्गत न होकर उपविद्या के अंतर्गत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रकृति और व्यवसाय दोनों से अनुसंधाता होने के नाते आपको अनुसंधान की यह अधोगति स्वीकार्य नहीं होगी।

अनुसंधान के क्षेत्र में आलोचना के इस विरोध का एक इतिहास है। लगभग १५-२० वर्ष पूर्व जब हिन्दी में अनुसंधान का कार्य विधिवत् आरम्भ हुआ, उस समय साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एकाधिपत्य था। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति में तत्त्व-दर्शन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तथ्यों की चिन्ता अधिक नहीं करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओं एवं सैद्धान्तिक निबन्धों में तथ्याधार स्पष्टतः दुर्बल है। वस्तुतः आत्मा का अनुसंधान ही उनका ध्येय रहता था—तथ्यों के संकलन और सांख्यिकी पद्धति के अवलम्बन के प्रति उनको रुचि नहीं थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन वे अपनी संक्षिप्त भूमिकाओं में कर गये हैं, परवर्ती अनुसंधाताओं के विशालकाय ग्रन्थ आज तक उनमें कोई आश्चर्यजनक अभिवृद्धि नहीं कर पाये। बिहारी, घनानन्द आदि कवियों के विषय में चिन्तन के जो सूक्ष्म तत्त्व वे अपने इतिहास में निकालकर रख गये हैं, परवर्ती अनुसंधाता अब तक तथ्यों के आधार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे हैं या विस्तार। वास्तव में मूल अनुसंधेय क्या है—तत्त्व ही न ? इस तत्त्व-शोध की सामान्यतः दो विधियां हैं : एक दर्शन की, दूसरी विज्ञान की। पहली गति ऋजु और त्वरित है—वह लक्ष्य पर सीधा आक्रमण करती है, दूसरी का आधार अधिक दृढ़ और पुष्ट है किन्तु गति मन्थर एवं विलम्बित है। दोनों के अपने गुण-दोष हैं : पहली के परिणाम शीघ्रगम्य हैं किन्तु भ्रांतिपूर्ण भी हो सकते हैं, दूसरी में भ्रांति की आशंका अपेक्षाकृत बहुत कम है, किन्तु उसमें एक बड़ी आशंका यह है कि अनुसंधाता की दृष्टि तथ्य-जाल में उलझ जाती है और तत्त्व की उपेक्षा हो जाती है—तथ्यों के तर्क के स्वाद में तत्त्व के नवनीत का स्वाद भूल जाता है। शुक्ल जी के अनुसंधान में पहली पद्धति के गुण-दोष थे। लगभग उन्हीं दिनों हमारे कुछ-एक विद्वान् विदेश से शोध-कार्य कर लौटे थे जहां वैज्ञानिक पद्धति का साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में भी यथावत् प्रयोग हो रहा था। यहां आकर इन्होंने देखा कि हिन्दी-अनुसंधान के क्षेत्र में इसका सर्वथा अभाव था, उसकी प्रविधि और प्रक्रिया अत्यन्त अपूर्ण और अव्यवस्थित थी। फलतः डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने वैज्ञानिक पद्धति को हिन्दी-शोध के क्षेत्र में भी प्रतिफलित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया और एक नवीन शोध-प्रणाली का आविर्भाव हुआ, जो प्रचलित प्रणाली के साथ संघर्ष में आने लगी। उसी संघर्ष से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। इस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पृथक्करण से लाभ और हानि दोनों ही हुए। लाभ तो यह हुआ कि अनुसंधान में तथ्यान्वेषण का महत्त्व बढ़ा—पुष्ट तथ्याधार से विवेचन में प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ। प्रविधि और प्रक्रिया में वैज्ञानिक व्यवस्थिति एवं पूर्णता आयी। दृष्टि को निस्संग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई। व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य का संयमन और उससे प्रभावित अशुद्ध निष्कर्षण की प्रवृत्ति का नियंत्रण हुआ। इससे न केवल हिन्दी-अनुसंधान का वरन् हिन्दी आलोचना का भी कल्याण हुआ, किन्तु हानि भी कम नहीं हुई। अंतर्दृष्टि अवरुद्ध होने लगी—तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्त्व कम होने लगा। अनुसंधाता शाखाओं में उलझकर मूल को भूलने लगा। विश्लेषण के स्थान पर गणना का आधिक्य होने लगा। हृदय के सुन्दर रहस्यों को व्यक्त करने के लिए यान्त्रिक परीक्षा की जाने लगी। कल्पना का नियंत्रण करने के दुराग्रह ने विचार और चिन्तन को भी क्षीण कर दिया। बाह्य रूप-विधा का गौरव इतना बढ़ा कि साहित्य का प्राण-रस सूखने लगा। साहित्य के अंतर्दर्शन को नए आलोचक छायावादी आलोचना कहने लगे। एक अतिवाद से मुक्त होकर हिन्दी-अनुसंधान एक दूसरे घातक अतिवाद का शिकार हो गया। यह प्रवृत्ति और भी अधिक चिन्त्य थी और यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहां विद्या का स्तर निश्चय ही गिर जाता। वास्तव में इस प्रवृत्ति के मूल में एक आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि-प्रक्रिया उस विषय की अपनी प्रकृति में से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि-प्रक्रिया निरपेक्ष नहीं हैं: वे सदा विषय पर ही आश्रित रहते हैं। अतः जो विद्वान् विज्ञान की निस्संग दृष्टि और एकान्त वस्तुपरक प्रविधि-प्रक्रिया का यथावत् आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते हैं वे इस मौलिक सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि रूपाकृति तो आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अतः साहित्य की आत्मा का अनुसंधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो श्रेयस्कर है जितना कि मानवात्मा के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक और सामाजिक विज्ञानों का। पर, इसके आगे बढ़ना खतरनाक होगा। उससे साहित्यिक मूल्यों का विपर्यय हो जाने की बड़ी आशंका है।

और, यह आशंका आज हिन्दी-अनुसंधान के क्षेत्र में सत्य सिद्ध हो रही है। अनुसंधान आलोचना नहीं है, इस भ्रान्त धारणा से अन्य भ्रान्तियों का जन्म हो रहा है, हिन्दी का अनुसंधाता यह समझने लगा है कि अनुसंधान का कार्य केवल अन्वेषण करना है: सत्साहित्य और असत्-साहित्य—यहां तक कि साहित्य और असाहित्य की परख से उसका क्या वास्ता? फलतः आज साहित्यिक अनुसंधान के नाम पर ऐसे वाङ्मय का संग्रह हो रहा है जो किसी भी लक्षण से साहित्य के अंतर्गत नहीं आता। मैंने भारतीय हिन्दी परिषद् की निबन्ध-गोष्ठी के सभापति-पद से यह प्रश्न उठाया था। उस समय समयाभाव के कारण मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट नहीं कर पाया था, और, सुना था कि बाद में कतिपय विद्वानों को मेरे वक्तव्य पर आपत्ति भी थी। मेरा अभिप्राय वास्तव में यह है कि साहित्यिक अनुसंधान साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए—ऐसी सामग्री को जो साहित्य के अंतर्गत नहीं आती अर्थात् जो अपनी विषयवस्तु और प्रतिपादन-शैली द्वारा सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने में सर्वथा अक्षम है, साहित्य के अनुसंधान के अंतर्गत संग्राह्य नहीं मानना चाहिए। आज हिंदी के अनुसंधाता आदिकाल, भक्तिकाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्वार्ध आदि से सम्बद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर लगाते जा रहे हैं जो साहित्य नहीं है। उदाहरण के लिए राम-काव्य अथवा कृष्ण-काव्य के कलेवर को विगत १०-१५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वर्षों में नवीनता के अन्वेषकों ने ऐसे अनेक साम्प्रदायिक ग्रंथों से भरकर फुला दिया है जो किसी भी परिभाषा के अनुसार काव्य नहीं हैं। आप कहेंगे उनका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्य है—ठीक है, मैं भी इसे मानता हूं, किंतु अनुसंधान के विषय का शीर्षक तो राम-काव्य या कृष्ण-काव्य है : रामभक्ति अथवा कृष्णभक्ति सम्प्रदायों का इतिहास नहीं है। जो स्पष्टतः अकाव्य है उस सामग्री का पृष्ठभूमि आदि का निर्माण करने के लिए उपयोग कर लीजिए, किन्तु काव्य शीर्षक के अंतर्गत उनका अनुसंधान करने की कृपा न कीजिए। आदिकाल को ही लीजिए—नाथों और सिद्धों की सैकड़ों रचनाओं का हमारे खोजियों ने साधुओं की गुदड़ियों में से निकालकर ढेर लगा दिया है—आयुर्वेद, कृषि, समकालीन राजनीति आदि से सम्बद्ध राशि-राशि ग्रंथ हिन्दी साहित्य का सीमा-विस्तार आयुर्वेद और कृषिशास्त्र तक करते जा रहे हैं। निर्गुण संतों की साम्प्रदायिक बानियां, जिनकी रचना शुद्ध साम्प्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्व के नितांत अभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-रसिक ने जिनका भूल कर भी उल्लेख नहीं किया, आज के वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप हिन्दी-काव्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल में भारतेन्दु और द्विवेदी युगों की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिन्दी साहित्य में अविकल रूप से समावेश किया जा रहा है। उधर लोकसाहित्य का आक्रमण भी ज़ोर से हो रहा है—और लोकसाहित्य तक तो कुशल थी क्योंकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक-हृदय की करुण-मधुर अनुभूतियों से उसका कुछ-न-कुछ संपर्क बना रहता था। किंतु अब तो हमारा अनुसंधान लोकवार्ता तक प्रगति करता जा रहा है—उस वार्ता तक, जिसके विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य का निर्भ्रान्त निर्णय था :

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥

भामह : काव्यालंकार, २।८७

अर्थात् सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षिगण अपने घोंसलों में जा रहे हैं—यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो वार्ता कहते हैं। अर्थात् वार्ता शब्द हमारे काव्यशास्त्र में अकाव्य का पर्याय माना गया है।

मैं एक भ्रांति का निराकरण करने के लिए दूसरी को जन्म देना नहीं चाहता। इसलिए अपने मंतव्य को थोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक क्षण के लिए भी इस प्रकार की सामग्री का अवमूल्यन करना नहीं चाहता—सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक अनुसंधान में इसका अपना विशिष्ट मूल्य है। भारत की मध्यकालीन संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने में सिद्धों, नाथों और संतों की बानियों का अपूर्व महत्त्व है—देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन पत्रकारों का चिर-आश्रित रहेगा, इसी प्रकार लोक-संस्कृति और समाजशास्त्र के लिए लोकवार्ताओं का महत्त्व अक्षुण्ण है। मध्ययुग अथवा आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में भी उपर्युक्त सामग्री अत्यंत मूल्यवान है, प्रेरक स्रोतों के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है, कवि-मानस के निर्माण के लिए तत्कालीन परिवेश की महत्ता भी असंदिग्ध है। किंतु वह तो क्षेत्र ही दूसरा है। आज तो संतकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य शीर्षक के अंतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और, इसका कारण क्या है ? केवल यह ग़लत नारा कि अनुसंधान आलोचना नहीं है—इसलिए आलोचक-दृष्टि के अभाव में अनुसंधाता काव्य के नवनीत के साथ उस 'सप्रेटा' को फिर से मिलाकर रख देता है जिसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारों ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अन्यत्र निवेदन किया है, यह सब कच्चा माल है—इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफ़ाइनरी) में साफ़ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आख़िर, काव्यानुसंधान का लक्ष्य क्या है ? काव्य-सत्य की शोध ही न ? जिस अनुसंधान में काव्यत्व अर्थात् काव्य का मूल सत्य ही खो जाए वह फिर और किसकी खोज करना चाहता है ?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हूं। कक्षा में प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय में आश्वस्त होने का प्रयत्न करता हूं कि सभी विद्यार्थी मेरे वक्तव्य को समझ गए या नहीं; मेरे वक्तव्य से उनके मन में कुछ भ्रांतियां तो उत्पन्न नहीं हो गई और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का दम्भ तो मैं कैसे करूँ ! किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहाँ उपस्थित हैं, मैं अपनी इस प्रविधि की आवृत्ति करना चाहता हूं और अनुसंधान के विषय में अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक संकेत देकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूंगा। मेरी स्थापनाएं संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१. अनुसंधान और आलोचना निश्चय ही पर्याय नहीं हैं—अनुसंधानकर्मी को यह समझकर अपने कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। इससे उसकी प्रवृत्ति तथ्यशोध के प्रति जागरूक रहेगी और उसके विवेचन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्यों पर निर्भर न रहकर स्वयं भी नवीन सामग्री के संकलन का प्रयत्न करेगा या कम-से-कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वयं करेगा। प्रत्येक शोधकर्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२. अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अंतर्गत तथ्यान्वेषण से भी काम चल सकता है। कम-से-कम पी-एच० डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किंतु यह अनुसंधान का अथ है, इति नहीं है। उसी विषय पर तथ्याख्यान और सम्यक् आलोचना के द्वारा गहनतर अनुसंधान की संभावनाएं बनी रहती हैं। वही शोधार्थी अथवा कोई अन्य उनसे यथाविधि लाभ उठा सकता है और उसे उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए ध्रुवदास के जीवनवृत्त और कविवृत्त पर शोध करने के पश्चात् वही या अन्य कई अनुसंधाता ध्रुवदास की काव्यकला, दार्शनिक भूमिका आदि पर सूक्ष्मतर अनुसंधान कर सकते हैं।

३. तथ्यान्वेषण अनुसंधान का आधार मात्र है और प्रारम्भिक रूप होने के नाते अपेक्षाकृत निम्नतर रूप भी है। डी० लिट्० के लिए इस प्रकार के शोध-कार्य की संस्तुति करने में मुझे अत्यन्त संकोच होगा, जब तब कि उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक न हो।

४. आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मैं उत्कृष्ट अनुसंधाता की कल्पना नहीं कर सकता। शोध-नियमों के अनुसार भी परीक्षक को यह प्रमाणित करना पड़ता है कि अनुसंधाता ने अपने प्रबन्ध में आलोचन-क्षमता का परिचय दिया है। सत्य-शोध के तीन संस्थान हैं—तथ्य-संग्रह, विचार और प्रतीति। उपलब्ध तथ्य को विचार में परिणत किये बिना ज्ञान की वृद्धि सम्भव नहीं है और विचार को प्रतीति में परिणत किये बिना सत्य की सिद्धि सम्भव नहीं। तथ्य को विचार-रूप देने के लिए भावन की आवश्यकता पड़ती है और विचार को प्रतीति में परिणत करने के लिए दर्शन अनिवार्य है—और ये दोनों ही साहित्यालोचन के अंतरंग तत्त्व हैं। अतः उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसंधान का उत्कृष्ट रूप है—शोधार्थी को इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय में निर्भ्रान्त रहना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसलिए मेरे तरुण मित्रो ! आप शक्ति और साधन के अनुसार अपने गंतव्य का निर्धारण कर लें। आपकी दृष्टि यदि व्यावसायिक है तो सामान्यतः अज्ञात या अर्धज्ञात कवि-लेखक के वरदान से ही तथ्यान्वेषण के द्वारा उपाधि मिल जाएगी, यदि अपनी प्रतिभा के प्रति आप जागरूक हैं और आपकी मनस्विता निम्नकोटि की सफलता से संतुष्ट नहीं हो सकती तो आपको अपनी आलोचन-शक्ति को आँजना और माँजना होगा जिससे कि आप तथ्यों की व्यंजना को समझ और समझा सकें, और इससे भी आगे बढ़कर यदि आप अनुसंधान के क्षेत्र में अमर उपलब्धि करना चाहते हैं तो निरंतर साधना के द्वारा साहित्य-दर्शन की क्षमता का विकास करना होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिन्दी में शोध की कुछ समस्याएँ

हिन्दी में शोध की सबसे प्रमुख समस्या है शोधार्थियों की वर्तमान संख्या की। अभी कुछ दिन पहले दक्षिण के एक विद्वान् हमारे विश्वविद्यालय में पधारे थे। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ अपनी भाषा और साहित्य की प्रगति का वर्णन किया। काफ़ी देर तक आदरपूर्वक सुनने के बाद मैंने उनसे पूछा कि आपके साहित्य में सभी विश्वविद्यालयों को मिलाकर कितने विद्यार्थी एम० ए० की परीक्षा में बैठते हैं, और अनुसंधाताओं की कुल संख्या कितनी है? उन्होंने बड़े गर्व से मेरी ओर देखा और उत्तर दिया: कोई तीस-चालीस छात्र एम० ए० में बैठते हैं और शोधार्थियों की संख्या आठ दस जरूर होगी। विद्वान् मित्र ने फिर यही प्रश्न मुझसे किया। मैंने कहा कि आप विश्वास कर सकें तो अपनी दोनों संख्याओं को कम-से-कम ५० से गुणा कर दीजिये। यह वर्धमान संख्या हमारे लिए यदि गर्व का कारण नहीं है तो कम-से-कम चिन्ता का कारण भी नहीं है। किन्तु यह एक समस्या अवश्य है जो समाधान की अपेक्षा करती है। सबसे पहले तो विषयों की समस्या खड़ी होती है—नित्य नवीन अनुसंधेय विषय भी तो असंख्य नहीं हो सकते। अनुसंधेय विषय से मेरा यह अभिप्राय है कि उस विषय की परिधि के भीतर तथ्य-शोध और तत्त्व-बोध दोनों के लिये ही वांछित अवकाश हो, पुनरावृत्ति न होने पाये और साथ ही उसके परिणाम भी ज्ञानवर्धक हों। दूसरी सम्बद्ध समस्या है निरीक्षकों की। इतने निरीक्षक कहां से आएं? संख्या की यह वृद्धि जिस वेग से हो रही है, पूर्ति के साधन उसके अनुपात में अत्यन्त अपर्याप्त हैं। बढ़ती हुई बेकारी ने स्थिति को और भी दयनीय बना दिया है। आजकल जो अपरिचित व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में भटकते हुए मेरे पास आते हैं, आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उनमें से प्रायः ३३ प्रतिशत नौकरी के लिए और ६७ प्रतिशत शोध-कार्य के लिये आते हैं। जब मुझ जैसे अदना आदमी का यह हाल है तो लब्धकीर्ति दिग्गजों के पास भटकनेवालों की दयनीय दशा की कल्पना आप सहज ही कर सकते हैं। जनसंख्या की वृद्धि के समान शोधार्थी-संख्या की वृद्धि का नियन्त्रण भी आवश्यक है। किन्तु यह नियन्त्रण आयोजन के रूप में ही होना चाहिए, दमन के रूप में नहीं। जहां तक विषयों का प्रश्न है, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी संख्या अनन्त नहीं हो सकती, किन्तु हिन्दी साहित्य का विस्तार काल और कार्य दोनों की दृष्टि से इतना अधिक है कि अभी तक निराश होने की कोई आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती। अभी तक राजस्थान, ब्रज, पंजाब और अवध के क्षेत्रों में इतना प्रचुर साहित्य अज्ञात पड़ा हुआ है कि सैकड़ों अनुसंधाताओं का श्रम उसमें सफल हो सकता है। इस अभाव-पूर्ति का एक और महत्त्वपूर्ण उपाय है अंतःसाहित्यिक विषयों का चयन। अंतःसाहित्यिक से मेरा आशय ऐसे विषयों से है जिन पर भारत के विभिन्न साहित्यों में परस्पर सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध है। हमारे प्राचीन और नवीन साहित्य की अनेक प्रवृत्तियां ऐसी हैं जिनका भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में समान रूप से विकास हुआ है और यह साम्य अनेक प्रकार का है: कहीं मूल स्रोत का साम्य है, कहीं विकास की सरणियां समान हैं, तो कहीं कहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परस्पर आदान-प्रदान मिलता है—ये तथ्य अत्यन्त मूल्यवान् हैं : सत्य की शोध के लिये सामान्य रूप से और भारत की सांस्कृतिक परम्परा एवं उसकी मौलिक एकता के लिए विशेष रूप से इनका महत्त्व है। इनका अनुसंधान हिन्दी-शोध के इतिहास में एक नवीन दिशा का उद्घाटन करेगा।

इसी प्रसंग से सम्बद्ध पुनरावृत्ति की समस्या भी है : हिन्दी-शोध के क्षेत्र में यह शिकायत बार-बार सुनने में आती है कि भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में एक-से विषयों पर अनुसंधान हो रहा है जिससे श्रम का अपव्यय और स्तर का ह्रास हो रहा है। इस तथ्य में सत्य का अंश है, इसमें सन्देह नहीं—किन्तु उचित आयोजन से इस दोष का परिहार हो सकता है। कई स्थानों पर एक ही विषय पर शोध होना अपने आद में दोष नहीं है : यह विषय पर निर्भर है। यदि विषय की परिधि सीमित है तो पुनरावृत्ति की आशंका हो सकती है, अन्यथा व्यापक विषयों पर तो शोध के लिए अनन्त अवकाश है— सत्य के अनेक पहलुओं का उद्घाटन भी ज्ञान के विस्तार में अमूल्य योगदान करता है। इस दिशा में शोध-संस्थानों के कार्य को आयोजित और समंजित करने की आवश्यकता है— जो विश्वविद्यालय-स्तर पर, या विभागीय स्तर पर और भी आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार पुनरावृत्ति का दोष गुण बन जाएगा, एक ही विषय के अनेक पक्षों का उद्घाटन होगा और विवेचन में गम्भीरता और सूक्ष्मता आएगी। दूसरा प्रश्न निरीक्षकों का है। यह प्रश्न निश्चय ही थोड़ा जटिल है किन्तु इसका समाधान भी असम्भव नहीं है। निरीक्षण-कार्य व्यवस्थित करने के लिए विश्वविद्यालयों को अपने अन्तर्गत अनुसंधान-कक्षों की व्यवस्था करनी चाहिए—जहां पर शोध की विधि (मेथोडौलोजी) की सामूहिक रूप से नियमित शिक्षा दी जा सके। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के बाहर के शुद्ध साहित्यिक संस्थानों और हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के हिन्दी-प्रेमी विद्वानों और स्रष्टा साहित्यकारों से भी सम्पर्क स्थापित करना एक विशिष्ट सीमा के भीतर लाभप्रद हो सकता है। ऐसे अनेक साहित्यकार आज हमारे बीच विराजमान हैं जो हिन्दी के शोध-कार्यों में अनेक दृष्टियों से अमूल्य सहयोग दे सकते हैं। उपाधि के अभाव में उनके सहयोग से अपने को वंचित करते रहना वस्तुतः श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता।

स्तर का प्रश्न और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आजकल चारों ओर से यह शिकायत आ रही है कि हिन्दी में शोध का स्तर बहुत गिर गया है और बराबर गिरता जा रहा है। इस विषय में मेरा आपसे निवेदन है कि यह आरोप सर्वथा सत्य नहीं है—परिमाण की वृद्धि के साथ एकदम 'ए-वन' माल की आशा करना संगत नहीं है, परन्तु सारा माल या अधिकांश माल घटिया है, यह कहना अन्याय है। वास्तव में इस आरोप के मूल में अनेक कारण हैं— विश्वविद्यालयों के बीच अस्वस्थ स्पर्धा-भाव, पंडितों की पारस्परिक ईर्ष्या, जेठी पीढ़ी के लोगों की अनुदारता, हिन्दीतर भाषाओं और विषयों के विद्वानों का हिन्दी के विषय में अज्ञान और उसकी प्रगति के प्रति द्वेष आदि। यदि आप स्थिर मन से स्थिति का विश्लेषण करें तो रहस्य प्रकट हो जाएगा। शिकायत करने वाले कौन लोग हैं? हर जेठी पीढ़ी के लोगों का यह अटूट विश्वास होता है कि योग्यता के जो मानदण्ड उन्होंने और उनके साथियों ने स्थिर कर दिए, वे ही अटल हैं—बाद की पीढ़ियां तो निरंतर अवनति की ओर बढ़ रही हैं। जब हर पहली पीढ़ी का मैट्रिक पास अगली पीढ़ी के एम० ए० को पढ़ा सकता है तो आज की पीढ़ी का शोध-कार्य पिछली पीढ़ी के शोधकों की दृष्टि में सर्वथा हेय हो, इसमें आश्चर्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही क्या ! इस प्रसंग में मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक यह निवेदन करना चाहूंगा कि प्रतिभा और निपुणता किसी पीढ़ी का एकाधिकार नहीं है। एक ओर यदि पिछली पीढ़ी के कुछ प्रबंध आज भी हमारे लिए आदर्श हैं तो दूसरी ओर कुछ ऐसे प्रबंधों पर भी बुज़ुर्ग लोग बड़ी-से-बड़ी उपाधि मार ले गए हैं जिनको छपाने का साहस भी आज उनको नहीं है। हिन्दीतर भाषाओं और विषयों के विद्वानों की आलोचना प्रायः अज्ञान, शंका और द्वेष से प्रेरित है। आखिर इन विषयों का भी शोध-कार्य तो सामने है—अधिकांश के लिए तो प्रकाशक ढूंढ़े नहीं मिलता और जो प्रकाशित हो गये हैं उनके स्तर से किसी प्रकार आतंकित होने का कारण हमें दिखाई नहीं देता। शेष दो कारण स्वभावजात हैं। अस्वस्थ स्पर्धा धीरे-धीरे स्वस्थ रूप धारण करती जा रही है, विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के बीच सौमनस्य स्थापित होता जा रहा है। लक्ष्य की एकता और अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का उचित विभाजन इस सौहार्द को शीघ्र ही दृढ़ कर देंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। पिछले पन्द्रह वर्ष के शोध-कार्य का निस्संग विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-क्षेत्र के प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय ने आगे या पीछे इस दिशा में पर्याप्त योगदान किया है, आगे काम करने वालों को यदि पथ-दर्शन का गौरव प्राप्त है तो पीछे बढ़ने वालों को विकास का श्रेय है। परस्पर सहयोग से और भी अधिक लाभ की आशा है। किन्तु मेरा यह आशय कदापि नहीं है कि जो कुछ हो रहा है वह सर्वथा संतोषजनक है, उसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है। स्तर से सम्बद्ध कुछ समस्याएं वास्तव में अत्यन्त गम्भीर हैं। उनके समाधान के लिए आवश्यक उपाय होने चाहिए। सबसे पहला उपाय तो है उचित निरीक्षण की व्यवस्था। अभ्यर्थियों की वर्धमान संख्या के अनुपात में निरीक्षकों की संख्या वास्तव में बहुत ही कम है। परिणाम यह होता है कि एक-एक निरीक्षक के अधीन अनेक प्रकार का शोध-कार्य हो रहा है, कहीं निरीक्षक और अनुसन्धाता में कम-से-कम पूरे ५०० मील की दूरी है और पूरी अवधि के भीतर मुश्किल से ही दो-तीन बार मुलाक़ात हो पाती है, कहीं निरीक्षक को शोध-प्रबन्ध पढ़ने का अवकाश ही नहीं है और कहीं शोधार्थी अनुभव करता है कि निरीक्षक महोदय से तो मैं ही अधिक जानता हूं ! ये परिस्थितियां वास्तव में चिंत्य हैं किन्तु इनके लिए निरीक्षक या प्राध्यापकों को दोष देना सर्वथा अनुचित होगा। विद्यार्थी की मांग इतनी अधिक है कि निरीक्षक लाचार हो जाता है। परन्तु यह लाचारी समस्या का समाधान तो नहीं है। निरीक्षक की अपनी सीमाएं होती हैं—बौद्धिक भी और शारीरिक भी। शारीरिक का अर्थ यह है कि वह अपने नैत्यिक कार्य के साथ-साथ तीन-चार से अधिक शोध-प्रबन्धों का निरीक्षण नहीं कर सकता—और बौद्धिक का आशय यह है कि निरीक्षक विशेषज्ञ ही हो सकता है, सर्वज्ञ नहीं। हमारे विश्वविद्यालयों में विवश होकर ऐसे विषय स्वीकार करने पड़ जाते हैं जिनमें निरीक्षक का कोई प्रवेश नहीं—कभी-कभी तो निरीक्षक विषय से सर्वथा अबोध होता है। एक ही निरीक्षक को आल्हखंड, कामायनी की भाषा, छायावाद, रीतिकाल और कहानी की शिल्पविधा जैसे सर्वथा असम्बद्ध विषयों का निर्देशन करना पड़ता है। कहीं-कहीं निरीक्षक का नाममात्र पाने के लिए भटकता हुआ छात्र अनेक भौतिक सीमाओं को पार कर किसी ऐसे निरीक्षक से जा टकराता है जिसके साथ सम्पर्क भी प्रायः दुर्लभ होता है। ऐसी स्थिति में सर्वत्र ऊंचे स्तर की आशा करना व्यर्थ होगा। मेरा सुझाव है कि कम-से-कम इस प्रकार के निरीक्षण-कार्य पर अवश्य प्रतिबन्ध लगना चाहिए। यह न नैतिक दृष्टि से उचित है, न शैक्षिक दृष्टि से ही। इसके अतिरिक्त पहले निरीक्षक को और बाद में परीक्षक को थोड़ी निर्ममता बरतनी चाहिए—निर्मम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परस्पर आदान-प्रदान मिलता है—ये तथ्य अत्यन्त मूल्यवान् हैं : सत्य की शोध के लिये सामान्य रूप से और भारत की सांस्कृतिक परम्परा एवं उसकी मौलिक एकता के लिए विशेष रूप से इनका महत्त्व है। इनका अनुसंधान हिन्दी-शोध के इतिहास में एक नवीन दिशा का उद्घाटन करेगा।

इसी प्रसंग से सम्बद्ध पुनरावृत्ति की समस्या भी है : हिन्दी-शोध के क्षेत्र में यह शिकायत बार-बार सुनने में आती है कि भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में एक-से विषयों पर अनुसंधान हो रहा है जिससे श्रम का अपव्यय और स्तर का ह्रास हो रहा है। इस तथ्य में सत्य का अंश है, इसमें सन्देह नहीं—किन्तु उचित आयोजन से इस दोष का परिहार हो सकता है। कई स्थानों पर एक ही विषय पर शोध होना अपने आप में दोष नहीं है : यह विषय पर निर्भर है। यदि विषय की परिधि सीमित है तो पुनरावृत्ति की आशंका हो सकती है, अन्यथा व्यापक विषयों पर तो शोध के लिए अनन्त अवकाश है— सत्य के अनेक पहलुओं का उद्घाटन भी ज्ञान के विस्तार में अमूल्य योगदान करता है। इस दिशा में शोध-संस्थानों के कार्य को आयोजित और समंजित करने की आवश्यकता है— जो विश्वविद्यालय-स्तर पर, या विभागीय स्तर पर और भी आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार पुनरावृत्ति का दोष गुण बन जाएगा, एक ही विषय के अनेक पक्षों का उद्घाटन होगा और विवेचन में गम्भीरता और सूक्ष्मता आएगी। दूसरा प्रश्न निरीक्षकों का है। यह प्रश्न निश्चय ही थोड़ा जटिल है किन्तु इसका समाधान भी असम्भव नहीं है। निरीक्षण-कार्य व्यवस्थित करने के लिए विश्वविद्यालयों को अपने अन्तर्गत अनुसंधान-कक्षों की व्यवस्था करनी चाहिए—जहां पर शोध की विधि (मेथोडौलोजी) की सामूहिक रूप से नियमित शिक्षा दी जा सके। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के बाहर के शुद्ध साहित्यिक संस्थानों और हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के हिन्दी-प्रेमी विद्वानों और स्रष्टा साहित्यकारों से भी सम्पर्क स्थापित करना एक विशिष्ट सीमा के भीतर लाभप्रद हो सकता है। ऐसे अनेक साहित्यकार आज हमारे बीच विराजमान हैं जो हिन्दी के शोध-कार्यों में अनेक दृष्टियों से अमूल्य सहयोग दे सकते हैं। उपाधि के अभाव में उनके सहयोग से अपने को वंचित करते रहना वस्तुतः श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता।

स्तर का प्रश्न और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आजकल चारों ओर से यह शिकायत आ रही है कि हिन्दी में शोध का स्तर बहुत गिर गया है और बराबर गिरता जा रहा है। इस विषय में मेरा आपसे निवेदन है कि यह आरोप सर्वथा सत्य नहीं है—परिमाण की वृद्धि के साथ एकदम 'ए-वन' माल की आशा करना संगत नहीं है, परन्तु सारा माल या अधिकांश माल घटिया है, यह कहना अन्याय है। वास्तव में इस आरोप के मूल में अनेक कारण हैं— विश्वविद्यालयों के बीच अस्वस्थ स्पर्धा-भाव, पंडितों की पारस्परिक ईर्ष्या, जेठी पीढ़ी के लोगों की अनुदारता, हिन्दीतर भाषाओं और विषयों के विद्वानों का हिन्दी के विषय में अज्ञान और उसकी प्रगति के प्रति द्वेष आदि। यदि आप स्थिर मन से स्थिति का विश्लेषण करें तो रहस्य प्रकट हो जाएगा। शिकायत करने वाले कौन लोग हैं? हर जेठी पीढ़ी के लोगों का यह अटूट विश्वास होता है कि योग्यता के जो मानदण्ड उन्होंने और उनके साथियों ने स्थिर कर दिए, वे ही अटल हैं—बाद की पीढ़ियां तो निरंतर अवनति की ओर बढ़ रही हैं। जब हर पहली पीढ़ी का मैट्रिक पास अगली पीढ़ी के एम० ए० को पढ़ा सकता है तो आज की पीढ़ी का शोध-कार्य पिछली पीढ़ी के शोधकों की दृष्टि में सर्वथा हेय हो, इसमें आश्चर्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही क्या ! इस प्रसंग में मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक यह निवेदन करना चाहूंगा कि प्रतिभा और निपुणता किसी पीढ़ी का एकाधिकार नहीं है। एक ओर यदि पिछली पीढ़ी के कुछ प्रबंध आज भी हमारे लिए आदर्श हैं तो दूसरी ओर कुछ ऐसे प्रबंधों पर भी बुज़ुर्ग लोग बड़ी-से-बड़ी उपाधि मार ले गए हैं जिनको छपाने का साहस भी आज उनको नहीं है। हिन्दीतर भाषाओं और विषयों के विद्वानों की आलोचना प्रायः अज्ञान, शंका और द्वेष से प्रेरित है। आखिर इन विषयों का भी शोध-कार्य तो सामने है—अधिकांश के लिए तो प्रकाशक ढूंढ़े नहीं मिलता और जो प्रकाशित हो गये हैं उनके स्तर से किसी प्रकार आतंकित होने का कारण हमें दिखाई नहीं देता। शेष दो कारण स्वभावजात हैं। अस्वस्थ स्पर्धा धीरे-धीरे स्वस्थ रूप धारण करती जा रही है, विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के बीच सौमनस्य स्थापित होता जा रहा है। लक्ष्य की एकता और अधिकारों तथा कर्तव्यों का उचित विभाजन इस सौहार्द को शीघ्र ही दृढ़ कर देंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। पिछले पन्द्रह वर्ष के शोध-कार्य का निस्संग विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-क्षेत्र के प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय ने आगे या पीछे इस दिशा में पर्याप्त योगदान किया है, आगे काम करने वालों को यदि पथ-दर्शन का गौरव प्राप्त है तो पीछे बढ़ने वालों को विकास का श्रेय है। परस्पर सहयोग से और भी अधिक लाभ की आशा है। किन्तु मेरा यह आशय कदापि नहीं है कि जो कुछ हो रहा है वह सर्वथा संतोषजनक है, उसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है। स्तर से सम्बद्ध कुछ समस्याएं वास्तव में अत्यन्त गम्भीर हैं। उनके समाधान के लिए आवश्यक उपाय होने चाहिए। सबसे पहला उपाय तो है उचित निरीक्षण की व्यवस्था। अभ्यर्थियों की वर्धमान संख्या के अनुपात में निरीक्षकों की संख्या वास्तव में बहुत ही कम है। परिणाम यह होता है कि एक-एक निरीक्षक के अधीन अनेक प्रकार का शोध-कार्य हो रहा है, कहीं निरीक्षक और अनुसन्धाता में कम-से-कम पूरे ५०० मील की दूरी है और पूरी अवधि के भीतर मुश्किल से ही दो-तीन बार मुलाक़ात हो पाती है, कहीं निरीक्षक को शोध-प्रबन्ध पढ़ने का अवकाश ही नहीं है और कहीं शोधार्थी अनुभव करता है कि निरीक्षक महोदय से तो मैं ही अधिक जानता हूं ! ये परिस्थितियां वास्तव में चिंत्य हैं किन्तु इनके लिए निरीक्षक या प्राध्यापकों को दोष देना सर्वथा अनुचित होगा। विद्यार्थी की मांग इतनी अधिक है कि निरीक्षक लाचार हो जाता है। परन्तु यह लाचारी समस्या का समाधान तो नहीं है। निरीक्षक की अपनी सीमाएं होती हैं—बौद्धिक भी और शारीरिक भी। शारीरिक का अर्थ यह है कि वह अपने नैत्यिक कार्य के साथ-साथ तीन-चार से अधिक शोध-प्रबन्धों का निरीक्षण नहीं कर सकता—और बौद्धिक का आशय यह है कि निरीक्षक विशेषज्ञ ही हो सकता है, सर्वज्ञ नहीं है हमारे विश्वविद्यालयों में विवश होकर ऐसे विषय स्वीकार करने पड़ जाते हैं जिनमें निरीक्षक का कोई प्रवेश नहीं—कभी-कभी तो निरीक्षक विषय से सर्वथा अबोध होता है। एक ही निरीक्षक को आल्हखंड, कामायनी की भाषा, छायावाद, रीतिकाल और कहानी की शिल्पविधा जैसे सर्वथा असम्बद्ध विषयों का निर्देशन करना पड़ता है। कहीं-कहीं निरीक्षक का नाममात्र पाने के लिए भटकता हुआ छात्र अनेक भौतिक सीमाओं को पार कर किसी ऐसे निरीक्षक से जा टकराता है जिसके साथ सम्पर्क भी प्रायः दुर्लभ होता है। ऐसी स्थिति में सर्वत्र ऊंचे स्तर की आशा करना व्यर्थ होगा। मेरा सुझाव है कि कम-से-कम इस प्रकार के निरीक्षण-कार्य पर अवश्य प्रतिबन्ध लगना चाहिए। यह न नैतिक दृष्टि से उचित है, न शैक्षिक दृष्टि से ही। इसके अतिरिक्त पहले निरीक्षक को और बाद में परीक्षक को थोड़ी निर्ममता बरतनी चाहिए—निर्मम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

न्याय चाहे न किया जाए, किन्तु कम-से-कम सदय न्याय तो करना ही चाहिए। और, इसमें अन्ततः विद्यार्थी का अहित नहीं होता। तात्कालिक सन्तोष के लिए कच्ची-पक्की रचना को स्वीकृति दे देना अपने विषय और व्यवसाय के प्रति अन्याय है, साथ ही विद्यार्थी के लिए भी अत्यन्त अहित-कर होता है क्योंकि आरम्भ से ही वह गम्भीर अनुसंधान से पराङ्मुख होकर लीपा-पोती करने की आदत डाल लेता है जो अन्त में जाकर नितान्त घातक सिद्ध होती है। आरम्भ में एक-आध वर्ष अधिक परिश्रम कर लेना विद्यार्थी के हित में पहले होता है, शिक्षा के हित में बाद में। इनके अतिरिक्त एक तीसरा ठोस उपाय है शोधपूर्व शिक्षण-क्रम की व्यवस्था। मैंने स्वयं इस उपाय का व्यवहार करके देखा है और मुझे इससे बड़ा सन्तोष है। विद्यार्थी को उसकी रुचि के अनुकूल विषय देकर निर्देशन की व्यवस्था कर देनी चाहिए और यह शर्त लगा देनी चाहिए कि सामग्री का संकलन और कम-से-कम भूमिका भाग लिख लेने के बाद ही उसका नियमित प्रवेश हो सकेगा। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो उन विद्यार्थियों की झूठी भूख मर जाती है जो किसी और कार्य के अभाव में इच्छा-अनिच्छापूर्वक शोध के लिए टूट पड़ते हैं। इस प्रकार अनधिकारी व्यक्तियों के छँट जाने से अनुशासन में भी दृढ़ता आती है। दूसरे, सच्चे शोधक को अपनी सीमा और शक्ति समझने, शोध का पूर्वाभ्यास करने और विधि-विधान का उचित ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है—उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है और लपक-झपक में उपाधि प्राप्त कर लेने की अस्वस्थ स्पृहा का शमन हो जाता है। सब मिलाकर इस पद्धति से विद्यार्थी नुक़-सान में नहीं रहता क्योंकि तीन वर्ष तो शोध-प्रबन्ध लिखने में लग ही जाते हैं।

आज वास्तव में परिस्थितियों के कारण शोध के प्रति अभीष्ट दृष्टिकोण का लोप हो गया है। इसलिए आवश्यकता यह है कि उपयुक्त वातावरण उत्पन्न कर शुद्ध बौद्धिक एवं शैक्षिक दृष्टिकोण का पुर्नविकास किया जाए। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि शोध-उपाधि का सम्बन्ध व्यावसायिक उन्नति के साथ एक उचित सीमा के भीतर ही रहना चाहिए : उत्कर्ष की कामना तो होनी ही चाहिए किन्तु उत्कर्ष की धारणा केवल आर्थिक या व्यावसायिक न होकर बौद्धिक और आत्मिक भी होनी चाहिए। यह काम अधिकारियों के करने का है—उन्हें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि पी-एच० डी० कॉलेज-शिक्षा के लिए एल० टी० की स्थानापन्न न बन जाए। इससे शिक्षा और शोध दोनों की हानि है। प्रत्येक अच्छा शोधक अच्छा शिक्षक नहीं होता, कभी-कभी वह साधारण से भी निकृष्ट अध्यापक सिद्ध होता है, इसलिए दोनों के उद्देश्य और पद्धति में भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए। शोध-कार्य के पुरस्कार को शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित कर देने के परिणाम अत्यन्त अप्रिय हो सकते हैं और हो रहे हैं—उसके लिए अलग व्यवस्था होनी चाहिए, अलग प्रतिष्ठान होने चाहिए जहां अनुसंधाता की प्रतिभा और उपलब्धि का सम्यक् उपयोग किया जा सके। इस भ्रान्ति के निराकरण से स्तर में वृद्धि असंदिग्ध है।

स्तर से सम्बद्ध एक और व्यावहारिक समस्या है पी-एच० डी० और डी० लिट्० के सापेक्षिक मूल्यांकन की। अभी तक इस विषय में बड़ी गड़बड़ रही है। पहले तो प्रायः अकेली डी० लिट्० की ही उपाधि थी—फिर पी-एच० डी० और डी० लिट्० दो उपाधियां चलने लगीं—कहीं केवल एक और कहीं तारतम्य से दोनों। आज स्थिति प्रायः स्पष्ट हो चुकी है, उत्तर भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में पी-एच० डी० प्रथम शोध-उपाधि हो गई है और डी० लिट्० उसके बाद की—जो अपने क्षेत्र में उच्चतम उपाधि है। मैं समझता हूं इस अन्तर को नियमित मान्यता प्रदान कर स्तर-भेद की उचित व्यवस्था अनिवार्यतः हो जानी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिन विश्वविद्यालयों में ऐसा नहीं है वहां भी शिक्षा-क्रम की एकरूपता की दृष्टि से ऐसा हो जाना आवश्यक है। इस व्यवस्था के बाद फिर शोध के निरीक्षण-परीक्षण का भी क्रम-भेद स्पष्ट हो जाना चाहिए। डी० लिट्० के लिए निरीक्षक की आवश्यकता नहीं है—परामर्शदाता की भी नहीं। जो दूसरे का आसरा डी० लिट्० में भी तकें उन्हें कुछ और काम करना चाहिए। मूल्यांकन की दृष्टि से भी हमारी धारणा सर्वथा निर्भ्रान्त हो जानी चाहिए : पी-एच० डी० की अपेक्षा डी० लिट्० के शोध-प्रबन्ध में विषय का विस्तार, विवेचन का गाम्भीर्य और प्रतिपादन की सर्वांगपूर्णता निश्चय ही अधिक होनी चाहिए और इसी आधार पर उसका मूल्यांकन होना चाहिए। डी० लिट्० का प्रबन्ध एक दूसरा शोध-प्रबन्ध मात्र नहीं है : वह स्पष्टतः एक गुरुतर और गंभीरतर शोधकार्य है—संस्तवन करने से पूर्व इस विषय में परीक्षक को निश्चय ही आश्वस्त हो जाना चाहिए; तभी वांछित क्रम-भेद की रक्षा हो सकेगी और दोनों का अन्तर सार्थक हो सकेगा।

अब तक मैंने एक व्यावसायिक अध्यापक और निरीक्षक की हैसियत से समस्या के व्यावहारिक पक्ष का विवेचन किया है। साहित्यिक पक्ष का विवेचन अभी शेष है, जो अन्यत्र करूंगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आधुनिक साहित्य और अनुसंधान

समसामयिक साहित्य के विरुद्ध अनुसंधान के विशेषज्ञों के मन में एक प्रकार का पूर्वग्रह आरम्भ से ही रहा है—और अब भी है। इसके दो मुख्य कारण हैं :

(१) अनुसंधान में अन्वेषण की धारणा अनिवार्यतः निहित है और चूंकि नये साहित्य के विषय में प्रायः सभी कुछ ज्ञात एवं उपलब्ध रहता है—अन्वेषण या खोज के लिए विशेष अवकाश नहीं रहता, इसलिए वह अनुसंधान के लिए उपयुक्त विषय नहीं हो सकता।

(२) समसामयिक साहित्य का स्वरूप सर्वथा अस्थिर एवं परिवर्तनशील होता है, इसलिए उसका प्रामाणिक अध्ययन सम्भव नहीं है। जिसका रूप अभी बन रहा है उसका स्वरूप-विश्लेषण आप क्या करेंगे ? और, यदि करते भी हैं तो उससे कोई विशेष लाभ नहीं क्योंकि काफ़ी सम्भावना इस बात की है कि जिस आधार को आप लेकर चल रहे हैं वह ही बदल जाए। लेखक या कवि के संदर्भ में यह तर्क और भी सही बैठता है—जब तक वह अपना कृतित्व पूरा नहीं कर लेता तब तक आप उसका मूल्यांकन कैसे कर सकते हैं ? जो कलाकार जितना ही अधिक जीवन्त और प्राणवान् होगा, अपने सर्जनात्मक जीवन में वह उतने ही नये मोड़ लेगा—नयी दिशाओं का उद्‌घाटन करेगा, नये क्षितिजों की ओर बढ़ेगा। ऐसी स्थिति में यदि आप उसके जीवनकाल में ही अनुसंधान करेंगे तो आपके निष्कर्ष खंडित एवं अपूर्ण रह जाएंगे। और इन खंडित निष्कर्षों के आधार पर अनुसंधान कैसे प्रामाणिक बन सकेगा ?

प्रस्तुत प्रसंग पर सिद्धान्त और व्यवहार दोनों की दृष्टि से विचार करना है। क्या वास्तव में समसामयिक साहित्य अनुसन्धान के लिए उपयुक्त विषय नहीं है ? इस सन्देह के मूल में, जैसा कि मैंने ऊपर संकेत किया है, यह धारणा है कि अनुसन्धान का प्राणतत्त्व अन्वेषण है : नवीन तथ्यों का अन्वेषण। हमारे एक पड़ोसी राज्य के किसी कृषिमंत्री के विषय में बड़ा मनोरंजक प्रवाद प्रचलित है। अपने विभाग के बजट में एक अच्छी-ख़ासी रक़म रिसर्च की मद में देखकर मंत्री महोदय ने सचिव से कहा—"व्हाई स्पेन्ड सो मच मनी ऑन रिसर्च : परचेज़ न्यू मैटीरियल अर्थात् इतनी धनराशि अनुसन्धान पर क्यों खर्च की जाए : नयी सामग्री खरीद लीजिए।" आरम्भ में अनुसन्धान का अर्थ बहुत कुछ ऐसा ही किया गया : यही समझा गया कि अनुसन्धान के अन्तर्गत खोयी हुई सामग्री या अनुपलब्ध तथ्यों की खोज ही मुख्य है। और चूंकि नये साहित्य के विषय में प्रायः सभी कुछ उपलब्ध रहता है, इसलिए उसे अनुसन्धान की परिधि से बहिष्कृत कर दिया गया। यह आक्षेप वस्तुतः अनुसन्धान के स्वरूप की भ्रांत कल्पना पर ही आश्रित है। आज यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह गई कि अनुसन्धान का एकमात्र आधार तथ्यान्वेषण नहीं है। उच्चतर विद्या के किसी भी क्षेत्र में तथ्यान्वेषण पर्याप्त नहीं होता —साहित्य के क्षेत्र में तो उसकी स्थिति और भी गौण है अर्थात् वह साधन से अधिक नहीं है। शोध के अनुबंधों में तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान दोनों का स्पष्ट उल्लेख है—किन्तु शब्दावली

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से यह भी स्पष्ट है कि इन दोनों में दूसरे का गौरव ही अधिक है। वास्तव में तथ्य-शोध और तत्त्व-शोध में विकल्प के लिए स्थान ही नहीं है। इस विषय में मैं अपना मत अत्यन्त निर्भ्रान्त रूप से अन्यत्र व्यक्त कर चुका हूं—उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी। इस प्रकार पहले आक्षेप का निराकरण तो सरलता से हो जाता है। किन्तु दूसरा तर्क अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है: समसामयिक साहित्य के स्वरूप की अस्थिरता अनुसन्धान में बाधक होती है। इसमें सन्देह नहीं कि अस्थिर पदार्थ की अपेक्षा स्थिर पदार्थ का स्वरूप-विश्लेषण सरल होता है, किन्तु सरलता तो अंतिम प्रमाण नहीं है। यह ठीक ही है कि समसामयिक साहित्य एक गतिमयी धारा है और उसका स्वरूप चिर-परिवर्तनशील है, परन्तु गति और परिवर्तन भी तो अनुसन्धान के उतय विषय हो सकते हैं। स्थिर पदार्थ-विषयक निर्णय कदाचित् अधिक निश्चित हो सकते हैं, किन्तु निर्णयों की निश्चितता ही तो अनुसन्धान का एक मात्र लक्षण नहीं है। यह बहुत-कुछ विषय पर निर्भर है कि अनुसन्धान के परिणाम किस सीमा तक निश्चित होते हैं। निश्चित शब्द से कभी स्थिर का और कभी स्पष्ट का बोध होता है—जहां तक स्पष्टता का सम्बन्ध है वहां तक तो कोई मतभेद नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक अनुसंधाता की दृष्टि स्पष्ट और अनाविल होनी चाहिए। परन्तु प्रत्येक स्थिति में सर्वथा निश्चित या अपरिवर्तनीय निर्णय प्रस्तुत करने का प्रयास न सम्भव है, न समीचीन। कला और साहित्य के क्षेत्र में हम क्षण भर के लिए इस विषय पर विवाद भी कर सकते हैं। किन्तु समाजशास्त्र के क्षेत्र में तो समसामयिक विषयों का सापेक्षिक महत्त्व स्वतःसिद्ध है। वहां तो अनुसन्धान का केन्द्र प्रायः वर्तमान जीवन ही होता है जो सर्वथा अनिश्चित और अस्थिर रहता है। उदाहरण के लिए उतरते-चढ़ते हुए मूल्यों का अध्ययन अर्थ-शास्त्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है और इससे अधिक अस्थिर अन्य क्या विषय होगा? मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि विषय के स्वरूप की अस्थिरता या परिवर्तनशीलता अनुसन्धान को अपेक्षाकृत कठिन बना सकती है किन्तु उसके कारण कोई विषय अनुपयुक्त सिद्ध नहीं होता। अनुसन्धान का उद्देश्य सर्वथा अंतिम या स्थिर निष्कर्षों की उपलब्धि नहीं है—इस प्रकार के निष्कर्षों की सम्भावना भी प्रायः नहीं रहती क्योंकि आरम्भिक स्थिति में अपरिवर्तनीय तथ्यों के रूप में ज्ञान की कल्पना कदाचित् अधिक संगत नहीं है। विषय के रूप-परिवर्तन के साथ-साथ अनुसन्धान की उपलब्धियों में भी संशोधन अनिवार्यतः होगा, और उससे इन उपलब्धियों की सार्थकता नष्ट नहीं होगी—परिवर्तनशील विषय की वर्तमान स्थिति का अध्ययन भावी विकास-स्थितियों के अध्ययन में अन्वय-व्यतिरेक से सहायक होता रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

अतः नवीन तथ्यों की उपलब्धि की कम सम्भावना होने से या स्वरूप की परिवर्तन-शीलता के कारण ही समसामयिक साहित्य को अनुसंधान के योग्य न मानना समीचीन नहीं हो सकता। यह तथ्य अब प्रायः स्पष्ट हो चुका है और विश्वविद्यालयों में समसामयिक साहित्य की प्रवृत्तियों पर अनुसंधान की छूट बहुत पहले से मिली हुई है। 'नई कविता', 'प्रेमचन्द-परवर्ती हिन्दी-उपन्यास', 'शुक्लोत्तर आलोचना' आदि विषयों पर शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं—स्वीकृत भी हो चुके हैं। परन्तु जीवित लेखकों के सम्बन्ध में अब भी प्रतिबंध है। तर्क वही है, व्यक्ति के सामने आ जाने से समसामयिक पर टीका-टिप्पणी न करने की सामान्य प्रवृत्ति और भी उभर आती है। नैतिक कारणों एवं व्यावहारिक कठिनाइयों के साथ मिलकर शास्त्रीय तर्क और भी कठोर हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि जीवित प्रवृत्ति की अपेक्षा जीवित व्यक्ति का पक्ष थोड़ा दुर्बल है, फिर भी इस विषय में कोई अन्धा नियम नहीं बन सकता। आप ऐसे कवि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

या लेखक को कुछ समय के लिए छोड़ सकते हैं जो अभी अपने कृतित्व के मध्याह्न में तप रहा है, किन्तु जो प्रौढ़ि को प्राप्त कर चुका है—जिसका कृतित्व पूरा हो चुका है, उसके विषय में रूढ़ि का पालन करना व्यर्थ है। कवि निराला का उदाहरण लिया जा सकता है : उनकी मृत्यु से १०-१५ वर्ष पहले ही उनका कृतित्व पूर्ण हो चुका था, परन्तु हमारे विश्वविद्यालय अनुसंधान की अनुमति देने के लिए मानो उनके भौतिक शरीरपात की प्रतीक्षा करते रहे। उनकी आंखें बन्द होते ही प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय में उनसे सम्बद्ध एक या दो विषय तुरंत ही स्वीकृत हो गये और आज एक साथ १५-२० शोधार्थी निराला के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर शोध कर रहे हैं। इस प्रकार का प्रतिबंध वास्तव में घोर विडम्बना है। हिन्दी में आज ऐसे अनेक समर्थ कलाकार हैं जिन पर अत्यधिक सफल एवं मूल्यवान् अनुसंधान के लिए पूरा अवकाश है, पर विश्वविद्यालय का नियम अभिधार्थ में 'घातक' सिद्ध हो रहा है।

व्यवहार-दृष्टि भी समसामयिक साहित्य के अनुकूल ही पड़ती है। जैसे-जैसे हिन्दी-अनुसंधान का विकास हो रहा है, शोध-विषयों की कमी होती जा रही है। उधर हमारे आज के अनुसंधाता का सम्पर्क एक ओर प्राचीन विचार-सरणियों और दूसरी ओर उनकी माध्यम भाषाओं—व्रज तथा अवधी आदि से टूटता जा रहा है। व्रज-मण्डल तथा अवध-प्रदेश में भी ऐसा हो रहा है—अन्य राज्यों की, विशेषकर अहिन्दी राज्यों की, तो बात ही क्या ? ऐसी स्थिति में नया शोधार्थी वर्तमान साहित्य की ओर स्वभावतः ही अधिक उन्मुख हो रहा है। वर्तमान भाषा और वर्तमान विचार उसके अधिक निकट हैं। अतः वर्तमान साहित्य को शोध के अयोग्य या अनुपयुक्त घोषित कर देना अव्यावहारिक भी होगा।

इस प्रकार, प्रस्तुत प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार करने के बाद मेरा अपना मत यही है कि समसामयिक साहित्य पर निश्चय ही उपयोगी शोधकार्य हो सकता है। किन्तु इस विषय में दो तथ्य स्पष्ट हो जाने चाहिए : (१) समसामयिक साहित्य को व्यापक अर्थ में ही ग्रहण करना उचित है अर्थात् केवल छायावादोत्तर साहित्य को ही समसामयिक साहित्य मानना उचित नहीं—प्रस्तुत विवेचन में मैंने उसका इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। समसामयिक साहित्य के क्षेत्र में अनुसंधेय विषय की गरिमा पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि प्राचीन विषय के चारों ओर समय की दूरी के कारण अपने आप ही जो एक स्वर्णिम परिवेश बन जाता है, वर्तमान साहित्य उससे स्पष्टतः वंचित रहता है। वास्तव में, मैं अनुसंधेयता के लिए अन्य बातों की अपेक्षा विषय की गरिमा पर ही अधिक बल देना चाहता हूं—साहित्यिक गरिमा से विहीन प्राचीन-से-प्राचीन विषय भी निर्मूल्य हो सकता है और उससे मंडित नया विषय भी सर्वथा ग्राह्य माना जा सकता है : 'घाघ की कविता (?) में स्वास्थ्य-सम्बन्धी संकेत' की अपेक्षा 'पन्त के काव्य में बिम्ब-विधान' कहीं अधिक उपयुक्त विषय है। उधर, इसका विकल्प भी उतना ही मान्य है—अर्थात् नवीनता के जोश में प्राचीन विषयों को निस्सार घोषित कर कच्ची-पक्की नई रचनाओं को प्राथमिकता देना भी उतना ही अनुचित है : नई पत्रिकाओं के पन्नों में मुरझा जाने वाली नई रचनाओं के अनिर्मित या अर्धनिर्मित बिम्ब-जाल से माथापच्ची करने की अपेक्षा किसी अज्ञात भक्त-कवि या रीति-कवि के सरस छन्दों का विश्लेषण हिन्दी-साहित्य के विकास के लिए अधिक श्रेयस्कर होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नवीन शोध-विज्ञान और हिन्दी-साहित्य के अनुसंधान में उसकी उपयोगिता

यों तो हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अनुसंधान का प्रारम्भ आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व से माना जा सकता है जबकि श्री जे०एन० कारपेन्टर ने लन्दन विश्वविद्यालय से 'डॉक्टर ऑफ़ डिविनिटी' की उपाधि प्राप्त की थी, परन्तु उसका स्वरूप वर्तमान शताब्दी के चतुर्थ दशक में ही व्यवस्थित हुआ। भारतीय विश्वविद्यालयों में विधिवत् शोधकार्य वस्तुतः १९४० ई० के बाद ही हुआ : उससे पहले देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों से सब मिलाकर ५-६ शोधग्रंथ ही स्वीकृत हुए थे। आज कोई तीस संस्थानों में शोधकार्य पूरे वेग से चल रहा है और इस बढ़ते हुए वेग के कारण तरह-तरह की समस्याएं सामने आ रही हैं—साथ ही अनेक प्रकार के आक्षेप भी हो रहे हैं। इनमें से कुछ समस्याएं निश्चय ही अवास्तविक हैं और अनेक आक्षेप द्वेष से प्रेरित हैं। फिर भी, २५ वर्ष की इस अत्यन्त सक्रिय शोध-साधना के बाद अपनी सिद्धि और असिद्धि का पुनरीक्षण करना अनुचित न होगा।

हिन्दी में स्थूल रूप से दो क्षेत्रों में अनुसंधान हो रहा है : भाषा के क्षेत्र में और साहित्य के क्षेत्र में। इनमें भाषा के क्षेत्र में तो अभी अनन्त अवकाश है क्योंकि हिन्दी के विराट् कलेवर में अनेक उपभाषाएं और बोलियां अन्तर्भुक्त हैं और भाषा-विज्ञान में शोध की नित्य-नवीन प्रणालियों का विकास होता चला जा रहा है। यह मेरा विषय नहीं है, फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि इस दिशा में हमारे यहां विशेष प्रगति नहीं हुई। कारण अनेक हैं : साधनों का अभाव, प्रशिक्षित शोधकर्ताओं और शोधनिर्देशकों का अकाल और साथ ही विदेश की, विशेषकर अमेरिका या रूस की, अत्याधुनिक यांत्रिक प्रक्रियाओं को यथावत् स्वीकार करने में भारतीय विद्यार्थी की मनोवैज्ञानिक असमर्थता। हमें इनका उपयोग करना है, परन्तु विवेक के साथ : यह मानकर कि भाषा केवल जड़ ध्वनि-समूह नहीं है, वरन् मानव अनुभूतियों का चैतन्य माध्यम है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अब तक शोध की अनेक पद्धतियों का अवलम्बन होता रहा है, जिनमें मुख्य हैं :

१. **सर्वेक्षण-पद्धति** : इसके द्वारा हिन्दी-साहित्य के किसी काल-खण्ड, अंग-विशेष अथवा प्रवृत्ति-विशेष का क्रमबद्ध विवरण उपस्थित किया जाता है। यद्यपि यह पद्धति अधिक गंभीर और उत्कृष्ट नहीं है, फिर भी शोध की आरम्भिक अवस्थाओं में इसका अवलम्बन अनिवार्य होता है क्योंकि अधिक सूक्ष्म-गहन अध्ययन के लिए भूमि इसी के द्वारा तैयार होती है।

२. **आलोचनात्मक अध्ययन-पद्धति** : यह अपेक्षाकृत गंभीर पद्धति है। इसमें अनुसंधाता का ध्यान कवि अथवा कृति आदि पर केन्द्रित रहता है और वह उसके विभिन्न साहित्यिक पहलुओं का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन कई प्रकार का हो सकता है : (क) काव्य-शास्त्रीय अध्ययन—इसमें कवि अथवा कृति के काव्यपक्ष के विविध अंगों का—काव्यरूप

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभिव्यंजना-शिल्प, भाषा-शैली, भाव-तत्त्व तथा प्रभाव-गुण आदि का व्यवस्थित और युक्तियुक्त विवेचन रहता है। (ख) समाजशास्त्रीय अध्ययन—यहां साहित्य के सामाजिक तत्त्वों अर्थात् अपने सामाजिक परिवेश के साथ उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष सम्बन्धों का तथा नैतिक-दार्शनिक तत्त्वों का अध्ययन रहता है। इसे व्यापक अर्थ में ऐतिहासिक पद्धति भी कहते हैं। (ग) भाषा-वैज्ञानिक तथा शैली-वैज्ञानिक पद्धतियां—ये पद्धतियां भी शास्त्रीय पद्धतियों के समकक्ष हैं। भाषा और शैली की संरचना का भाषा-विज्ञान तथा शैलीशास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण इनका लक्ष्य होता है। शैलीशास्त्र वास्तव में काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान का मध्यवर्ती अनुशासन है। (घ) मनोवैज्ञानिक पद्धति—इसमें कृतिकार की अंतश्चेतना के द्वारा कृति का अध्ययन विवक्षित रहता है। यह रचना को चैतन्य क्रिया मानकर साहित्य का विवेचन प्रस्तुत करता है।

३. **समस्यामूलक पद्धति** : इसमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति और भी अधिक रहती है और शोधकर्ता का लक्ष्य सांगोपांग अध्ययन नहीं होता—वह एक विशिष्ट सूत्र का अनुसंधान करता है जो साहित्य की किसी मौलिक समस्या को उभार कर सामने रखता है : उदाहरण के लिए आधुनिक हिन्दी-कहानी में त्रासदीय तत्त्व, हिन्दी-प्रेमगाथा-काव्य में सूफ़ी तत्त्व आदि।

४. **तुलनात्मक पद्धति** : यहां दो या दो से अधिक भाषाओं के समान कवियों, कृतियों तथा प्रवृत्तियों आदि के समान-असमान तत्त्वों का विवेचन प्रमुख रहता है। इसके द्वारा अध्ययन को व्यापक परिप्रेक्ष्य मिलता है।

५. **वर्गीय अध्ययन** : इसके अंतर्गत अध्ययन का विषय विशेष लेखक या कृति न होकर लेखकों या कृतियों का वर्ग-विशेष होता है। यों तो प्रत्येक कृतिकार का अपना वैशिष्ट्य है, परन्तु अनेक कृतिकार वर्ग के रूप में भी साहित्य-साधना करते हैं—वे कुछ सामान्य सिद्धांत और लक्ष्य लेकर चलते हैं जो व्यक्तिवैचित्र्य रहने पर भी उनके साहित्य को समान रूप से अनुप्राणित करते रहते हैं। अंगरेज़ी में 'लेक पोइट्स' आदि का और प्राचीन हिन्दी-साहित्य में 'अकबरी दरबार के कवियों' का या नए साहित्य में 'सप्तक के कवियों' का वर्ग-सापेक्ष अध्ययन हुआ है।

६. **क्षेत्रीय अध्ययन** : इस पद्धति के अनुसार किसी क्षेत्र-विशेष की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन उन्हें प्रतिफलित करने वाले लेखकों और कवियों के साहित्य के माध्यम से किया जाता है। एक विशेष परिवेश में उद्भूत साहित्य का उस परिवेश के संदर्भ में अध्ययन करना भी अपने ढंग से अत्यन्त सार्थक हो सकता है और इस दृष्टि से प्रस्तुत पद्धति का अपना पृथक् महत्त्व है। 'दिल्ली के कहानीकार,' 'अवध के कवि,' 'बुंदेलखण्ड के वीर-गीत,' 'हरियाणा के लोकगीत' आदि इसी प्रकार के शोध-प्रयास हैं।

७. इनके अतिरिक्त विषय-विवेचन की दो और प्रमुख पद्धतियां हैं—**अनुगम पद्धति और निगमन पद्धति** : जो सामान्यतः अध्ययन-पद्धति के प्रायः सभी प्रकार-भेदों में आधार रूप से विद्यमान रहती हैं। शास्त्रीय अध्ययन अनुगम-विधि से भी हो सकता है और निगमन-विधि से भी। शास्त्र के अंगों को सामने रखकर उनके आलोक में जो विवेचन किया जाएगा वह निगमन पद्धति से होगा और साहित्य के अंगों का विश्लेषण करने के बाद उपलब्ध तथ्यों का शास्त्र के तत्त्वों और नियमों के अनुसार जो अध्ययन होगा उसकी पद्धति अनुगम पद्धति होगी। काव्यशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक—सभी प्रकार के अध्ययन उक्त दोनों पद्धतियों से हो सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहां एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि साहित्यिक अनुसंधान के उपर्युक्त सभी प्रकार आलोचना के भी प्रकार-भेद हैं और इसका कारण यह है कि साहित्यिक अनुसंधान और साहित्यिक आलोचना की जाति ही नहीं, उपजाति भी एक है—ये दोनों एक ही विद्या, साहित्य-विद्या के दो उपभेद हैं। मेरी यह स्थापना आज भी विवाद का विषय बनी हुई है : परन्तु मैं आधुनिक अनुसंधान के विधि-विज्ञान से सम्बद्ध दो-एक प्रसिद्ध ग्रंथों के उद्धरण देकर अपने मत का पोषण करना चाहूंगा। पश्चिम में अनुसंधान की पद्धति और क्रियाविधि आदि पर प्रचुर साहित्य उपलब्ध है जिसमें प्रत्येक अंग को लेकर अत्यंत सूक्ष्म और व्यवस्थित विवेचन किया गया है। इनमें से अधिकांश ग्रंथों का सीधा सम्बन्ध सामाजिक विज्ञान और भौतिक-विज्ञान विषयक अनुसंधान से है। परन्तु हम उनके मूल सिद्धांतों और नियमों का साहित्यिक अनुसंधान के लिए भी विवेकपूर्वक उपयोग कर सकते हैं। इस विषय की एक प्रसिद्ध पुस्तक है 'अनुसंधान की पद्धतियां (मेथड्स ऑफ़ रिसर्च)'—लेखक कार्टर गुड और डगलस स्केट्स, जिसका सम्बन्ध प्रमुख रूप से शिक्षावैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक अनुसंधान से है। इसके अनुसार अनुसंधान का लक्ष्य, सामान्य रूप से, इस प्रकार पारिभाषित किया जा सकता है :

"ज्ञान के प्रति मनुष्य की आकांक्षा की पूर्ति, उसकी विवेक-शक्ति का विकास और क्षमता की वृद्धि—उसके श्रम-भार को कम करना, कष्टों को दूर करना और अनेक प्रकार से जीवन की सुख-सुविधाओं का विस्तार : ये ही अनुसंधान के प्रमुख एवं मौलिक उद्देश्य हैं। × × × अंत में, जीवन की समृद्धि और मानव के उत्कर्ष में योगदान करना ही अनुसंधान की चरम सार्थकता है।"
(पृष्ठ १५)

उपर्युक्त उद्धरण चूंकि शिक्षाशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय अनुसंधान से सम्बद्ध है, अतः इसमें जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल है; जीवन के स्थान पर चिंतन और अनुभूति शब्दों का प्रयोग करने से यही साहित्यिक अनुसंधान का उद्देश्य बन जाता है। इस सूत्र के अनुसार मानवीय चिंतन और अनुभूति—मानव-चेतना की समृद्धि और परितोष ही साहित्यिक अनुसंधान का चरम लक्ष्य है। उधर साहित्यिक आलोचना का भी चरम लक्ष्य इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? दोनों में जो भेद है वह लक्ष्य का नहीं है, बलाबल का है। अनुसंधान में ज्ञान पक्ष प्रबल है और आलोचना में संस्कार।—लक्ष्य की यह एकता ही पद्धतियों के साम्य के लिए उत्तरदायी है।

पाश्चात्य शोध-संस्थानों में क्रियाविधि के प्रशिक्षण पर बड़ा ज़ोर दिया जाता है। पर इन संस्थानों का सम्बन्ध भी प्रायः सामाजिक विज्ञानों या शुद्ध विज्ञानों से ही अधिक है। इनमें जो साहित्य-विषयक शोध हो रही है वह प्रायः उक्त क्षेत्रों में ही हो रही है। साहित्य के क्षेत्र में भी प्रायः वैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय क्रियाविधि को ही आवश्यक संशोधन के साथ उपयोग में लाने की चर्चा रहती है। क्रियाविधि के प्रमुख अंग हैं : सामग्री-संकलन ; परीक्षण (प्रमाणीकरण) ; त्याग और ग्रहण ; विश्लेषण-संश्लेषण (वर्गीकरण) ; निष्कर्ष और निर्णय।

इनमें प्राथमिक अंग है सामग्री-संकलन—जिसकी विभिन्न विधियों का निर्देश संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है :

(क) सूत्र संग्रह या टिप्पण-विधि : अनुसंधान की यह प्रायः सर्वसामान्य विधि है, जिसके द्वारा अनुसंधाता विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सूचना को संक्षिप्त टिप्पणियों के रूप में, बाद में उपयोग करने के उद्देश्य से, एकत्र करता है। इसके लिए तरह-तरह के उपायों का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रयोग किया जाता है जिनमें सबसे अधिक सुगम है कार्डों का उपयोग। यह विधि यों तो प्रायः सभी प्रकार के शोधकार्यों के लिए आवश्यक है—परन्तु साहित्यिक अनुसंधान के लिए यह अनिवार्य एवं सर्वाधिक उपयोगी है। वास्तव में, साहित्यिक अनुसंधान में तो पहला व्यावहारिक क़दम यही है।

(ख) प्रश्नोत्तर विधि : इसमें अनुसंधाता विषय के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध प्रश्नावली तैयार करता है और विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से उत्तर प्राप्त कर, उनके आधार पर तथ्यों का संकलन करता है।

(ग) साक्षात्कार-विधि : इसके अनुसार विषय से सम्बद्ध व्यक्तियों से साक्षात् वार्तालाप कर सामग्री-संकलन तथा मत-संग्रह किया जाता है जो अंत में सामग्री का ही अंग बन जाता है। अंतिम दोनों विधियों का आजकल समाज-विज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र, मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के क्षेत्र में बड़ा प्रचार है : चारों ओर संग्रहकर्त्ताओं (इन्फ़ॉर्मेन्ट्स) का एक जाल बिछा रहता है जो सम्बद्ध व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित कर वैज्ञानिक रीति से प्रश्नों के उत्तर एकत्र कर उनका सम्पादन करते हैं। देखा-देखी साहित्य में भी अब इनका उपयोग होने लगा है। परन्तु हमारे क्षेत्र में इनकी—प्रश्नोत्तर विधि और साक्षात्कार विधि—दोनों की ही उपयोगिता इतनी सीमित है कि इनका अविचारित उपयोग करने से अनुसंधाता को मार्ग-भ्रम और दिग्भ्रम हो सकता है। इनका उपयोग सामान्यतः समयसाध्य है और अपने यहां के लोगों की मनोवृत्ति ऐसे कार्यों के अनुकूल नहीं है—जिस देश के साहित्यकार अत्यंत आवश्यक व्यावहारिक पत्रों का भी उत्तर देना असाहित्यिक कर्म समझते हों वहां क्रमबद्ध प्रश्नावली के व्यवस्थित उत्तर देने का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में लिखित और मौखिक प्रश्नोत्तर के लिए प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता दोनों के लिए ही एक विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की अपेक्षा रहती है जो अभी सर्वत्र सुलभ नहीं है। फिर भी, मैं मानता हूं कि साहित्यिक अनुसंधान में भी उक्त दोनों विधियों का सही और सार्थक उपयोग हो सकता है और होना चाहिए। उदाहरण के लिए, वर्तमान युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों और साहित्यकारों से सम्बद्ध शोधकार्य में साक्षात्कार पद्धति और प्रश्नावली पद्धति—दोनों की उपयोगिता असंदिग्ध है। प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के सम्बन्ध में उनके निकटस्थ व्यक्तियों से साक्षात्कार कर अनेक ऐसे प्रामाणिक तथ्य सहज ही उपलब्ध किए जा सकते हैं जो अन्यथा दुर्लभ हैं। पंत की रचनाओं के संदर्भों का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वयं कवि के साथ प्रश्नात्मक वार्तालाप जितना उपयोगी हो सकता है, उतने अन्य उपाय नहीं हो सकते। परन्तु यहां भी अनुसंधाता को सावधान रहकर कार्य करना होगा क्योंकि इस प्रकार प्राप्त सभी उत्तर व्यक्ति-संसर्गों से लिप्त होते हैं। जब कोई शोधार्थी मुझसे मेरी अपनी आलोचना-पद्धति के विषय में प्रश्न करता है तो मुझ जैसा व्यक्ति भी, जो अनुसंधान के स्वरूप और प्रयोजन से अवगत है और जिसका पेशा ही दूसरों को तटस्थ परिपृच्छा की शिक्षा देना है, निस्संग नहीं रह पाता। ऐसी स्थिति में कृतिकार से, जो इस प्रकार के शिक्षण में होकर नहीं गुज़रा, यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह अपने कृतित्व के विषय में सर्वथा वस्तुगत सूचनाएं दे सकेगा? अतः शोधार्थी को विवेकपूर्वक उचित बट्टा (डिस्काउंट) काटने का शिक्षण और अभ्यास होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्रियाविधि का दूसरा अंग है सामग्री का परीक्षण एवं प्रमाणीकरण—अथवा शुद्धाशुद्ध का निर्णय। इसके लिए शोधविज्ञान में अनेक उपायों की व्यवस्था है जिनमें वैज्ञानिक परीक्षण (जैसे सम्बद्ध पदार्थों के रासायनिक परीक्षण), मनोविज्ञान अथवा जीवविज्ञान आदि की पद्धतियों से मानसिक क्रियाओं तथा व्यवहार आदि के परीक्षण, और नाना प्रकार के समाजवैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का उल्लेख किया जा सकता है। वास्तव में ये पद्धतियां भौतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के लिए अधिक उपयोगी हैं। साहित्य के क्षेत्र में भाषा-संबंधी अनुसंधान में तो इनका प्रभावी उपयोग होता है, परन्तु अन्यत्र इनकी सार्थकता सीमित ही है। काग़ज़, स्याही आदि के रासायनिक परीक्षण से पाठ-विज्ञान की अनेक समस्याएं हल करने में सहायता मिलती है और उधर मनोविज्ञान आदि में प्रयुक्त पद्धतियों के द्वारा लेखकों की मनोवृत्तियों एवं मानसिक प्रक्रियाओं के विषय में प्रामाणिक निष्कर्ष प्राप्त करना अधिक सम्भाव्य हो जाता है। परन्तु इनके विषय में हमें ज़्यादा हड़बड़ी करने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि साहित्य में इनकी उपयोगिता प्रायः अप्रत्यक्ष ही होती है : कभी-कभी इस प्रकार के कच्चे-पक्के प्रयोगों के द्वारा अनुसंधाता साहित्य के मर्म से दूर हटकर तरह-तरह के कौतुक करने लगते हैं जिनसे साहित्य के अध्ययन में कोई सहायता नहीं मिलती।

सामग्री के परीक्षण के उपरांत त्याग और ग्रहण का प्रश्न आता है। जो अशुद्ध और अप्रामाणिक है उसका तो स्वतः ही त्याग हो जाता है, परन्तु उसके बाद भी काफ़ी सामग्री ऐसी रह जाती है जो अनावश्यक अर्थात् विषय से असम्बद्ध होती है : उसका भी त्याग अपेक्षित है। अगला क़दम है विश्लेषण-संश्लेषण। यह संयोजन (प्लानिंग) का कार्य है और सामाजिक विज्ञानों में संयोजन अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिसकी अपनी विधि और अपना शास्त्र है। सामग्री का उचित संयोजन करने में इन विधियों और नियमों का पालन निश्चय ही उपयोगी हो सकता है। शोध का अंतिम सोपान है निष्कर्ष और निर्णय जो शोध-साधना का गुणनफल है। शोध के नवीन विधि-विज्ञान में निष्कर्ष आदि प्राप्त करने में सांख्यिकी की विधियों को बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है। निष्कर्षण प्रक्रिया में प्रायः विशेष से सामान्य की सिद्धि—विशेष तथ्यों से सामान्य नियमों का विधान—प्रमुख है। इसमें प्रायः औसत और सामान्य गुणनफल आदि निकालने की पद्धतियों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रयोग किया जाता है। निष्कर्षों और परिणामों को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाने के लिए सांख्यिकी की विधियों का प्रयोग क्रमशः सभी अनुशासनों में बढ़ता जा रहा है और अनुसंधान के विशेषज्ञों का मत आज प्रायः यह बन गया है कि निष्कर्षों को व्यक्ति-तत्त्व से मुक्त रखने के लिए इनका अवलम्बन अनिवार्य है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानव-चेतना की विभिन्न शक्तियों के गुण-परिणाम आदि का आकलन करने के लिए भी इनका उपयोग हो रहा है। साहित्य में कलाकार की प्रतिभा के विभिन्न गुणों के आकलन का, किसी कृति के गुणात्मक प्रभाव आदि का निर्धारण करने का प्रश्न अनेक प्रकार से उपस्थित होता है और वहां अनुसंधाता को अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करने के लिए प्रायः अनुमान और कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है; पर नवीन शोधविज्ञान ठोस आंकड़ों पर आश्रित सांख्यिकी की पद्धतियों का अवलम्बन अधिक प्रामाणिक मानता है। उदाहरण के लिए यदि सूर और तुलसी की कल्पना-शक्ति का सापेक्षिक मूल्यांकन करना हो तो सांख्यिकी का विशेषज्ञ इस बात की चिन्ता नहीं करेगा कि इन दोनों कवियों के काव्य से उसकी या किसी अन्य प्रमाता की कल्पना कहां तक उद्बुद्ध होती है : वह तो दोनों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कवियों की कल्पना-शक्ति के मूर्त परिणामों—जैसे बिम्बों और अलंकारों आदि—की गणना को ही मुख्य प्रमाण मानेगा। यह वास्तव में एक छोटा-सा उदाहरण है : सांख्यिकी-शास्त्र में अत्यंत सूक्ष्म विधियों का विकास हो चुका है जिनको समझना भी साहित्य के विद्यार्थी के लिए कठिन है, उनका उपयोग करना तो दूर की बात रही।

इस प्रकार पश्चिम में—यूरोप के देशों में, विशेषकर अमेरिका में, शोध-विज्ञान विविध अनुशासनों की प्रामाणिक पद्धतियों का उपयोग करता हुआ एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित हो रहा है और वहां प्रति वर्ष ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन होता है जिनमें अनुसंधान के अंग-प्रत्यंग का विस्तार के साथ सूक्ष्म एवं व्यवस्थित विवेचन रहता है।

हिन्दी-साहित्य के शोधार्थी के लिए उक्त शोध-विज्ञान और इसकी क्रियाविधि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना लाभप्रद है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु उसके प्रयोग में विवेक से काम लेना भी उतना ही आवश्यक है। पश्चिम के देशों में, विशेषकर उन देशों में जिनके पास अपार भौतिक साधन हैं, इन साधनों का उपयोग करने का लोभ इतना बढ़ता जा रहा है कि उससे गंभीर चिंतन को खतरा पैदा होने लगा है। प्रत्येक क्षेत्र में अनुसंधान का विधि-विज्ञान अधिकाधिक यांत्रिक होता जा रहा है और ऐसा लगता है जैसे सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान मानव-चेतना की क्रिया न होकर केवल भौतिक क्रियाओं का संघात मात्र है। इसलिए साहित्य के अनुसंधाता को सतर्क होकर इस यंत्रव्यूह में प्रवेश करना चाहिए—और कुछ ऐसे सिद्ध मंत्र हैं जिनका ध्यान बराबर रखना चाहिए। ये मंत्र संक्षेप में इस प्रकार हैं :

साहित्य मानव-चेतना की परिष्कृत अनुभूतियों की वाणी है—उसका भूमि के साथ सहज सम्बन्ध है, परन्तु वह भूमि से लिपटा न रहकर निरंतर ऊपर की ओर उठने के लिए व्यग्र रहता है, अतः यांत्रिक विधियों से उसका उचित विवेचन एवं मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। अन्य अनुशासनों की प्रवृत्ति जहां बहिर्मुखी है, वहां मानविकी विद्याओं—विशेषकर दर्शन और साहित्य की प्रवृत्ति मूलतः अंतर्मुखी होती है, अतः उनके साधन और उपकरण साहित्य तथा दर्शन आदि से सम्बद्ध अनुसंधान में यथावत् प्रयुक्त नहीं किए जा सकते।

साहित्य में आत्मतत्त्व की प्रधानता है, अतः साहित्य के अध्ययन में आत्मतत्त्व का बहिष्कार कर एकांत वस्तुपरक अध्ययन की संभावना नहीं है। इस प्रकार का अध्ययन वस्तु से उलझकर जड़ बन जाएगा—क्योंकि साहित्य तत्त्वतः वस्तु नहीं है, अनुभूति है।

साहित्य का बाह्य पक्ष—काव्यबंध, काव्यरूढ़ियाँ, भाषा-शैली, लय-विधान आदि—भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है, इसमें सन्देह नहीं और उधर उसका सामाजिक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता, परन्तु इन सबकी मूल प्रेरणा है सौन्दर्य-भावना, जो मानव-मन की अत्यन्त सूक्ष्म-तरल वृत्ति है। अतएव काव्य के बाह्य उपकरणों तथा सामाजिक तत्त्वों का अपने-आप में स्वतत्र मूल्य नहीं है—और आधुनिक शोध-विज्ञान की विधियों द्वारा उनका यांत्रिक अध्ययन काव्य के अध्ययन में एक सीमा तक ही योगदान कर सकता है। अपनी मूल प्रेरणाओं से विच्छिन्न होकर जहां इस प्रकार का अध्ययन स्वतंत्र बन जाता है वहां उसका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है और वह साधक न होकर बाधक बन जाता है।

आवश्यकता इस बात की है कि साध्य और साधन तथा आत्मा और शरीर के भेद को स्पष्ट रूप से समझते हुए साधन का उपयोग साध्य की पूर्ति के लिए और शरीर का उपयोग आत्मा या चेतना के संवर्धन के लिए किया जाए। जीवन में भौतिक शरीर-साधना का बड़ा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

महत्त्व है : आज से नहीं आरम्भ से ही 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' का सिद्धांत मान्य रहा है—और इसलिए भौतिक जीवन के संवर्धन के सभी उपाय—उसके निमित्त होने वाले नव-नव आविष्कार निश्चय ही काम्य हैं। परन्तु शरीर-साधना जीवन का लक्ष्य नहीं है और इस दृष्टि से उसका स्वतंत्र महत्त्व भी नहीं है। शरीर का संवर्धन इसीलिए आवश्यक है कि उसके माध्यम से चेतना का संवर्धन होता है—स्वतंत्र रूप में शरीर-साधना पशुओं का धर्म है। साहित्यिक अनुसन्धान के क्षेत्र में नवीन विधियों का उपयोग इसी दृष्टि से होना चाहिए।

पश्चिम के देशों में इस समय उद्योग-विज्ञान का विकास और विस्तार हो रहा है और उसकी यंत्र-दृष्टि का आक्रमण साहित्य तथा दर्शन आदि पर भी होने लगा है जिसका परिणाम इन क्षेत्रों में उत्पन्न गतिरोध तथा स्तरों के अधःपात में स्पष्ट रूप से लक्षित हो रहा है। बुद्धिमानी इसमें है कि अपने चिन्तन की परम्पराओं और उनसे मर्यादित अपनी आवश्यकताओं के अनुसार हम केवल उपयोगी व अनुकूल विधियों एवं उपकरणों को ग्रहण करें और जिनसे पाश्चात्य विद्याओं का अपना ही अपकर्ष हो रहा है, उनका अंधानुकरण न करें।

साहित्य का अपना स्वारूप्य है—यद्यपि उसमें विज्ञान के तत्त्व भी हैं और दर्शन के भी, फिर भी वह न विज्ञान है और न दर्शन—उद्योग-विज्ञान से उसकी प्रक्रिया और उद्देश्य दोनों ही अत्यन्त भिन्न हैं। अतः साहित्य के अध्ययन के लिए मुख्य रूप से साहित्यिक विधियों का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है : अन्य विधियां भी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, किन्तु उनका उपयोग साहित्य के उद्देश्यों और क्रियाविधि के सन्दर्भ में ही होना चाहिए।

उपनिषद् में दो मित्र पक्षियों के रूपक द्वारा ब्रह्म और जीव के भेद का सुन्दर व्याख्यान है। इनमें से एक पक्षी ऐसा है जो सर्वथा तटस्थ एवं निर्विकार है और दूसरा फलों का स्वाद ले रहा है। मुझे लगता है कि वर्तमान युग में वृक्ष पर एक पक्षी और आ बैठा है जो फलों के स्वाद में रुचि न लेकर उनकी गणना और साज-संवार में लगा हुआ है। इनमें पहला पक्षी दर्शन या शुद्ध विज्ञान का प्रतीक है जो निर्विकार रूप से जगद्दर्शन करता है, तीसरा पक्षी उद्योग-विज्ञान का प्रतीक है जो जीवन की साज-संवार में लगा हुआ है और दूसरा पक्षी साहित्य का प्रतीक है जो जीवन का रस ले रहा है। हमें इसी दूसरे पक्षी का उचित रीति से पोषण करना है जिससे कि यह निरन्तर जीवन का रस ग्रहण करता रहे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(ख) सिद्धान्त

मेरी साहित्यिक मान्यताएँ—१

किसी भी लेखक से यह प्रश्न करना कि 'आपकी साहित्यिक मान्यताएं क्या हैं?' वस्तुतः उसे आत्मविश्लेषण और आत्मस्वीकृति के लिए विवश कर देना है। मेरे लिए शास्त्र का आश्रय लेकर प्रस्तुत प्रश्न का क्रमबद्ध बौद्धिक विवेचन करना कठिन नहीं है, किन्तु मैं आत्म-निरीक्षण की पद्धति को ही अधिक प्रामाणिक मानता हूं, अतः पूरी ईमानदारी के साथ मैं अपनी साहित्यिक मान्यताओं का अन्तःविश्लेषण करने का ही प्रयत्न करूंगा।

आज से लगभग ३५ वर्ष पहले जब किशोर-वय में प्रवेश करने के साथ मैंने कॉलेज के अपेक्षाकृत मुक्त वातावरण में पदार्पण किया तो किशोर-सुलभ कल्पना के संस्पर्श से रागात्मक चेतना की लहरों में मानो रंग-से घुलने लगे और कविता के प्रति एक विशेष प्रकार का आकर्षण बढ़ने लगा। जो कविता केवल पाठ्यक्रम का अंग थी, वह अब जैसे अनुभव का विषय बनने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि मन में उठने वाली रंग-बिरंगी भावनाओं को काव्य की उक्तियों द्वारा एक विशेष प्रकार का परितोष मिलता हो। रसमयी उक्तियां सुनने-सुनाने के साथ-साथ धीरे-धीरे रचने की स्पृहा और अभ्यास भी बढ़ने लगा। काव्य की उक्तियों के वाचन और रचना से अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में एक अपूर्व आत्म-परितोष मिलता था। इस प्रकार कविता मेरे रागात्मक जीवन के आरम्भ में आत्माभिव्यक्ति के माध्यम-रूप में ही प्रकट हुई। कविता का यह स्वरूप आज भी मेरे संस्कारों में पूरी तरह रमा हुआ है। कविता को—व्यापक अर्थ में रस के साहित्य अथवा ललित वाङ्मय को—मैं मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही मानता हूं। रागात्मक जीवन के साथ उनका अनिवार्य और अन्तरंग सम्बन्ध है। मेरे इस कथन को लेकर हिन्दी में काफ़ी ऊहापोह और विवाद हुआ है। एक सीधा आक्षेप यह है कि उक्त कथन कोई स्पष्ट और निश्चित धारणा हमारे मन में उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि 'आत्माभिव्यक्ति' शब्द का अर्थ ही अपने-आप में अधिक पारिभाषित नहीं है। मैं यह मानता हूं कि प्रत्येक साहित्यिक कृति का सम्बन्ध कृतिकार के व्यक्तित्व से है। कृतिकार का अपना रागात्मक जीवन और उसके आधार पर निर्मित जीवन-दर्शन कृति में अनिवार्यतः प्रतिफलित होता है। यह प्रतिफलन प्रत्यक्ष हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। प्रायः यह अप्रत्यक्ष और प्रच्छन्न ही होता है। परन्तु वह भी आत्माभिव्यक्ति का ही प्रकार है। सामान्य व्यवहार में हम देखते हैं कि एक व्यक्ति जहां अपने मत को सीधा व्यक्त कर देता है वहां दूसरा अपने को पीछे रखकर प्रसंग के माध्यम से उसे व्यक्त करता है। अभिव्यक्ति की आकांक्षा दोनों को ही है, भेद केवल विधि का है। साहित्य में भी यही होता है। एक कलाकार अपनी रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से करता है और दूसरा प्रसंग या कथा के व्याज से। वास्तव में अनुभूति तो एक प्रकार का अमूर्त संवेदन मात्र है जिसको व्यक्त करने के लिए प्रतीक और बिम्ब की आवश्यकता होती है। जो कवि-कलाकार प्रत्यक्ष रूप से अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है, उसे भी प्रतीकों और बिम्बों का ही प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसके बिम्ब प्रायः प्राथमिक और सरल होते हैं, जबकि दूसरे कलाकार के प्रतीक और बिम्ब रूढ़ और संश्लिष्ट होते हैं। वास्तव में अपने मूल रूप में प्रकरण और प्रसंग भी तो प्रतीक और बिम्ब ही हैं। अर्थ के साथ एक का सम्बन्ध सीधा है, दूसरे का परम्परित। 'विनयपत्रिका' और 'रामचरितमानस' दोनों ही तुलसी की आत्माभिव्यक्ति के दो रूप हैं—इन दोनों में मूल प्रेरणा का भेद न होकर माध्यम-प्रतीकों और बिम्बों का ही भेद है। दोनों के माध्यम से ही तुलसी ने आत्माभिव्यक्ति की है, केवल उसके प्रकार में भेद है; एक में आत्माभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है अर्थात् लघु-सरल प्रतीकों के द्वारा हुई है और दूसरे में व्यापक एवं संश्लिष्ट प्रतीकों के द्वारा। अभिव्यक्ति के प्रतिपक्ष में प्रायः निर्मिति या सृष्टि के सिद्धांत की स्थापना की जाती है। उसके पीछे यह तर्क है कि कलाकार का लक्ष्य कलाकृति की रचना ही होता है। सच्चा कलाकार सौन्दर्य की सृष्टि करने के लिए ही कला की साधना करता है—अपनी भावनाओं अथवा विचारों का प्रसार सच्चे कलाकार का उद्देश्य नहीं होता। बात कुछ ठीक-सी लगती है, किन्तु यहां भी तत्त्व का भेद न होकर दृष्टि का ही भेद है—एक ही चीज को दूसरे पहलू से देखा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि सच्चे कलाकार का लक्ष्य सौन्दर्य की सृष्टि ही रहता है, अपने भावों और विचारों का प्रसार नहीं। किन्तु सौन्दर्य कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है। उसका निर्माण भी तो कलाकार की अपनी भावनाओं और धारणाओं के आधार पर ही होता है। वास्तव में भावनाओं और धारणाओं का प्रचार तो आत्माभिव्यक्ति का अत्यन्त ही स्थूल रूप है। उसका सूक्ष्म और उत्कृष्ट रूप तो सौन्दर्य की सृष्टि ही है। कला की सृष्टि शून्य में नहीं हो सकती। उसके लिए कुछ-न-कुछ आधार चाहिए जिसे कलाविद् मूर्त उपकरण का नाम देते आए हैं। और ये मूर्त उपकरण हैं क्या? कलाकार का अपना भावबोध ही कला का मूल उपकरण है। अतः निर्मिति का सिद्धांत अभिव्यक्ति से मूलतः भिन्न नहीं है: भेद केवल बलाबल का है। अभिव्यक्ति में वस्तु-तत्त्व माध्यम है और आत्म-तत्त्व प्रधान, जबकि निर्मिति में आत्म-तत्त्व प्रच्छन्न रहता है और वस्तु-तत्त्व उभरकर सामने आ जाता है। तत्त्व-दृष्टि से विचार करने पर सौन्दर्य चेतना का ही फूल है, प्रकृति का नहीं। अनेक कला-मर्मज्ञों ने सौंदर्य की सर्जना में कलाकार की तटस्थ दृष्टि को ही प्रमाण माना है। उनका स्पष्ट कथन है कि कला भाव का मोचन नहीं, बल्कि भाव से पलायन है; अहम् की अभिव्यक्ति नहीं, वरन् अहम् का विसर्जन है। कृती कलाकार अपने राग-द्वेष को व्यक्त करने के लिए या अपने अहंकार के परितोष के लिए कला की रचना नहीं करता, वरन् अपने राग-द्वेष के परिष्कार के लिए या अहम् से मुक्ति पाने के लिए ही वह कला की साधना करता है। अभिव्यक्ति-सिद्धांत का इस स्थापना से कोई विरोध नहीं है, उसके अनुसार भी व्यक्तिगत राग-द्वेष का उद्गार कविता नहीं है। अभिव्यक्ति अर्थात् कला-सृजन की प्रक्रिया में पड़कर व्यक्तिगत भाव भी स्व-पर की सीमाओं से मुक्त होकर व्यापक चेतना—शास्त्रीय शब्दावली में, निर्विघ्न प्रतीति—का विषय बन जाता है। अतः कविता भाव का वमन नहीं है, यह तो मैं भी मानता हूं; किन्तु यह मान्यता आत्माभिव्यक्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है क्योंकि अभिव्यक्ति वमन नहीं है।

इसी प्रसंग में मुझे कवि पंत के कथन का अनायास ही स्मरण हो आता है। उनका मन्तव्य है कि काव्य में अनुभूति को मुख्य और कल्पना को गौण मानना समीचीन नहीं है। कुछ अन्य कलाविदों की तरह वे शायद अनुभव और अनुभूति में भेद करते हैं: लौकिक जीवनगत अनुभव अनुभव है और कलात्मक अनुभव अनुभूति है जिसके अन्तर्गत सुन्दर कल्पनाएं भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आती हैं। 'तुम समर्पण-सी भुजाओं में पड़ी हो' जैसे मांसल और अनगढ़ लौकिक अनुभव की अपेक्षा मानव के स्वर्णिम भविष्य या किसी 'चिर-सुन्दर' की कल्पना या कल्पनात्मक अनुभूति अधिक काव्योचित है—यह तर्क मेरे मन में नहीं बैठता। कल्पना के पीछे जब तक अनुभव की शक्ति नहीं रहती तब तक वह घट में नहीं उतरती, हवा में तैर जाती है। मानव के सुख-दुःख की सह-अनुभूति पर आश्रित मधुर-तिक्त चित्रों में जो कवित्व है, वह उसके ऊर्ध्व विकास की भव्य कल्पनाओं में नहीं है।

यहीं काव्य के प्रयोजन का प्रश्न भी उठता है। कुछ विद्वानों का मत है कि काव्य का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। प्रयोजन की आकांक्षा तो व्यवसाय-बुद्धि में ही सम्भव है और साहित्य की उच्चतर भूमिका में व्यवसाय-बुद्धि के लिए स्थान कहां ? लेकिन यह भी एक बात को कहने का ख़ूबसूरत ढंग ही है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि काव्य का कोई भौतिक और स्थूल प्रयोजन नहीं होता—धन, यश, उपदेश या प्रचार काव्य का लक्ष्य नहीं हो सकता। यह मैं भी मानता हूं, और पूरी निष्ठा के साथ सिद्धान्त तथा व्यवहार में इसका पालन करता हूं। किन्तु, मैं यह भी मानता हूं कि निष्प्रयोजन कर्म संसार में नहीं होता। जिस किसी सन्दर्भ में प्रयोजन के अभाव की कल्पना की जाती है वहां अभाव का अर्थ केवल प्रच्छन्नता होता है। जैसे, जीवन में कोई व्यक्ति यदि अपने किसी सत्कर्म का चैक फ़ौरन ही भुनाना चाहता है तो हम उसकी वणिग्-वृत्ति की निन्दा करते हैं; इसी प्रकार काव्य में भी वणिग्-वृत्ति को निन्द्य ही मानना चाहिए। किन्तु इससे प्रयोजन का निषेध नहीं होता, क्योंकि वास्तव में निष्प्रयोजन कर्म निरर्थक कर्म का ही पर्याय बन जाता है। अब सवाल यह है कि काव्य का प्रयोजन क्या है ? मेरा उत्तर है—आनन्द। शास्त्र में आनन्द के प्रतिस्पर्धी अनेक प्रयोजनों की कल्पना की गई है। इनमें समष्टि के धरातल पर 'लोक-कल्याण' और व्यष्टि के धरातल पर 'चेतना का परिष्कार' मुख्य हैं। मैं दोनों को यथावत् स्वीकार करता हूं। लेकिन ये भी आत्यन्तिक प्रयोजन नहीं हैं, इनका प्रयोजन भी तो आनन्द ही है। मनुष्य अपने सभी कर्म 'आतमनः कामाय' ही करता है। इसके प्रतिपक्ष में विचारकों के दूसरे वर्ग ने 'लोकहिताय' की प्रतिष्ठा की है। किन्तु, यह केवल दृष्टि का ही भेद है। आत्मवादी जहां कृप्रति को अपनी चेतना के भीतर खींचकर उसका भोग करता है, वहां लोकवादी आत्मा का प्रकृति में विस्तार करता है। पर ये दोनों ही अपने-अपने ढंग से आनन्द-साधना ही करते हैं। वैसे भी, आनन्द से बड़ा कल्याण और क्या हो सकता है ? और, जो कल्याणकर नहीं है वह आनन्द ही कैसे होगा ? व्यष्टि के धरातल पर चेतना का परिष्कार भी एक प्रक्रिया ही है, परिणति नहीं है। परिणति उसकी भी आनन्द ही है। अतः आनन्द का निषेध मैं जीवन और काव्य दोनों में ही असम्भव मानता हूं।

काव्य के तीन सर्वमान्य तत्त्वों—भाव, कल्पना और बुद्धि—में, मैं भाव को ही आधार मानता हूं। शेष दो उसके सहायक हैं। अतः काव्य का आस्वाद मूलतः भाव का ही आस्वाद है—इन्द्रियगम्य प्रकृत भाव का नहीं, वरन् कल्पनागम्य शुद्ध अथवा निर्वैयक्तिक भाव का। आस्वाद के इसी रूप को शास्त्र में रस कहा गया है। इस प्रकार काव्य के संदर्भ में आनंद का विशिष्ट अर्थ है रस, और यही काव्य का प्रयोजन है।

काव्य के मूल्य का प्रश्न भी इसी से सम्बद्ध है। काव्य-मूल्य का अर्थ है वह गुण अथवा गुण-समवाय, जिसके द्वारा काव्य की सिद्धि का निर्धारण किया जाता है। इस दृष्टि से मूल्य का आधार अंततः प्रयोजन ही सिद्ध होता है। काव्य का प्रयोजन जब रस या आस्वाद है तो उसका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मूल्य हुआ आस्वाद्यत्व। जिस काव्य में रागात्मक आस्वाद प्रदान करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उतना ही उसका मूल्य होगा।

यहां फिर एक प्रश्न उठता है कि क्या मैं रसास्वाद के अंतर्गत शुक्लजी द्वारा कल्पित कोटियों का हामी हूं? मेरे मन में इस संबंध में द्विविधा रही है। रसानुभूति की कोटियों की कल्पना शास्त्र को सर्वथा अग्राह्य है; किन्तु व्यवहार में तो हम रस के मात्रा-भेद की बात करते ही हैं। यदि रस की कोटियों की कल्पना अग्राह्य है तो 'शाकुन्तलम्' की अपेक्षा 'उत्तररामचरितम्' अधिक सरस है अथवा एक छन्द की अपेक्षा दूसरा अधिक सरस है—इसका क्या अर्थ? मेरे विचार से रस का मात्रा-भेद केवल विस्तार में है, गुण में नहीं है—अर्थात् सिद्धि की अवस्था में रस का स्वरूप अखण्ड है; किन्तु संकलित प्रभाव की अवस्था में, रागात्मक स्थितियों के संख्या-भेद से, मात्रा का भेद हो जाता है। 'साकेत' 'यशोधरा' की अपेक्षा अधिक सरस है, इसका अर्थ यह है कि 'साकेत' में रसात्मक स्थितियां अपेक्षाकृत अधिक हैं जिनका संकलित प्रभाव अधिक स्थायी तथा सघन होता है। स्फुट छंद के संदर्भ में यह तर्क अधिक कारगर नहीं प्रतीत होता। किन्तु नहीं; वहां भी जो भेद है, वह भी विस्तार का ही है। जो छंद अधिक सरस है उसके द्वारा अपेक्षाकृत अधिक चित्तवृत्तियों की समाहिति सम्पन्न होती है और अधिक चित्तवृत्तियों की समाहिति के कारण रस-दशा अधिक समय तक रहती है। चित्तवृत्तियों का जाल जितना विस्तृत और जटिल होता है, उनकी समाहिति में उतना ही समय लगता है—और इसी समय के अनुपात से उसमें स्थायित्व भी अधिक होता है। मात्रा का भेद आस्वाद में नहीं है—आस्वाद-दशा के स्थायित्व में है। रसास्वाद की आवृत्ति से उसमें स्थायित्व के साथ घनत्व का भी अनुभव होने लगता है। रस में मात्रा-भेद की प्रतीति की यही व्याख्या है। यह भेद स्वरूपगत नहीं है, गुणात्मक भी नहीं है—कालिक और नैतिक है अर्थात् आस्वाद-दशा के स्थायित्व और उसके सत्-असत् प्रभाव का ही मापक है।

रसात्मक मूल्यों के अतिरिक्त काव्य के मनीषियों ने नैतिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक मूल्यों का भी निर्वचन किया है। इन मूल्यों का निषेध कौन कर सकता है? वस्तुतः काव्य के महत्त्व का निर्णय करने में इनका योगदान असंदिग्ध है। किन्तु ये मूल्य मौलिक तथा आत्यन्तिक नहीं हैं—या तो आनुषंगिक हैं या माध्यमिक; अर्थात् नैतिक और साहित्यिक मूल्यों का महत्त्व इसीलिए है कि उनके द्वारा रसात्मक बोध में स्थिरता एवं स्थायित्व आता है; और, कलात्मक मूल्य—सही शब्दों में शिल्पगत मूल्य—रस-सिद्धि के माध्यम हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं क्योंकि शिल्प या कला का मूल्य भी तो रस ही है। वास्तव में यह विवाद नया नहीं है। पुरा काल में एक ओर ध्वनि अथवा वक्रोक्ति तथा दूसरी ओर औचित्य-सिद्धान्त के रूप में उपर्युक्त मूल्य प्रकारान्तर से रस के प्रतिद्वंद्व में सामने आ चुके हैं और रस के साथ इनके आंतरिक संबंध तथा रस के संदर्भ में इनके सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय इतिहास कर चुका है।

अभी कुछ दिन पूर्व एक गोष्ठी के उपरांत किसी मित्र ने प्रस्तुत प्रसंग में एक रोचक प्रश्न उठाया था: "क्या रस-सिद्धांत की शब्दावली में आधुनिक कविता का सम्यक् विवेचन एवं मूल्यांकन किया जा सकता है?" इस प्रश्न का उत्तर मैं अपनी पुस्तक में दे चुका हूं। अमुक काव्य में कौन-सा रस है या विभाव-अनुभाव का चक्र पूरा हुआ कि नहीं—यह प्रश्न सार्थक नहीं है। सार्थक प्रश्न तो यह है कि उक्त काव्य के काव्य-गुण का आधार मूलतः उसका रागात्मक प्रभाव है या नहीं? रस-सिद्धान्त एक विकासशील सिद्धान्त है—सिद्धान्त के विकास के साथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसकी विवेचन-पद्धति और शब्दावली में भी परिवर्तन-संशोधन होता रहा है। आचार्य शुक्ल इस युग के सर्वाधिक समर्थ रसवादी आलोचक थे। उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी के प्राचीन (आधुनिक नहीं) काव्यों का विवेचन एवं मूल्यांकन मूलतः रस-सिद्धांत के आलोक में ही किया है, किन्तु उनकी तीनों महनीय कृतियों में आलंबन-उद्दीपन अथवा अनुभाव-विभाव का परिगणन करने वाली रूढ़ पद्धति का प्रयोग नहीं हुआ। जहां कहीं उन्होंने रसांगों का रूढ़ विवेचन किया भी है वहां उनका उपेक्षा-भाव सर्वथा मुखर हो उठा है— मानो पुराणपंथ के परितोष के लिए ही खास रियायत कर रहे हों। आचार्य शुक्ल ने जहां भाव, विभाव, अनुभाव आदि शब्दों का नवीन आलोचनाशास्त्र और मनोविज्ञान के प्रकाश में अर्थविस्तार किया है वहां 'रागात्मक संबंधों' तथा 'मार्मिक प्रसंगों' के अनुसंधान, सौन्दर्य-शक्ति-शील के निरूपण, सूक्ष्म, अवदात और उदात्त भावनाओं के विश्लेषण तथा 'व्यक्ति एवं लोक की भावभूमियों' के उद्‌घाटन द्वारा रस-सिद्धान्त का युगानुकूल पोषण एवं विकास भी किया है। छायावाद-युग के आलोचक ने 'ऐन्द्रिय' और 'अतीन्द्रिय' अनुभूतियों, 'प्रत्यक्ष' एवं 'परोक्ष' आलंबन, मानव तथा प्रकृति की 'रम्याद्‌भुत सौन्दर्य-विवृतियों' का विश्लेषण कर रस-सिद्धान्त का और भी अधिक परिधि-विस्तार किया। छायावाद-युग में रस के स्थान पर सौन्दर्य का प्रयोग होने लगा—जैसे आत्मा का सौन्दर्य, भाव का सौन्दर्य आदि। प्रकृति पर चेतना का आरोपण भी तत्त्व-रूप में सुन्दर और सरस के भेद को मिटाने का आग्रह था। हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियों के विरुद्ध यह आक्षेप था कि उनके लिए प्रकृति की सत्ता भावना के स्थूल उद्दीपक से अधिक नहीं रह गई थी जिसके फलस्वरूप विश्व-सौन्दर्य का अधिकांश रस की परिधि से वहिष्कृत हो चला था। छायावाद के आलोचक ने स्पष्ट किया कि प्रकृति में केवल आलंबनत्व की ही नहीं, आश्रयत्व की भी प्रतिष्ठा हो सकती है। रस के रम्य पाश में हरिण-हरिणी तो कालिदास के समय में ही फँस चुके थे :

शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।

—अ० शा० ६।१७

अब सूर्य-उषा, चन्द्र-निशा, आकाश-पृथ्वी, सागर-सरिता भी फँसने लगे। छायावादी काव्य के अशरीरी सौन्दर्य और अतीन्द्रिय श्रृंगार की व्याख्याएं एकांत रस-परक ही थीं। भेद इतना था कि स्थायी भाव का स्थान सौन्दर्य-चेतना ने ले लिया था और उधर अवचेतन मन का (छायावाद में इस सन्दर्भ में 'अन्तश्चेतन' का प्रयोग ही अधिक हुआ है) द्वार खुल जाने से प्रतीकों के माध्यम से भाव-परिधि के अनन्त विस्तार की संभावनाएँ उत्पन्न हो गई थीं। समसामयिक काव्य में एक ओर मानव-करुणा और द्वन्द्व, दूसरी ओर संवेदना, सह-अनुभूति तथा भाव-बोध स्थायी-संचारी के ही विकास-रूप हैं। महामानव के स्थान पर लघुमानव आलंबन बना और रस के चक्रों में हंसों तथा मयूरों के स्थान पर कौवे और मुर्गे तथा मत्तगयंदों के स्थान पर आलसी गैंडे फँसने लगे। अतः रस के स्वरूप-विकास के साथ-साथ रसात्मक बोध की व्याख्या नहीं वदली— यह धारणा और तर्क दुराग्रह के ही द्योतक हैं।

वास्तव में प्रस्तुत विवाद का मूल गहरा है। इसका सम्बन्ध केवल काव्य-दर्शन से न होकर संपूर्ण जीवन-दर्शन से है। एक मत तो यह है कि जीवन के मूल्य चिरंतन हैं : देश-काल के अनुरूप उनमें संशोधन और विकास होता रहता है, परन्तु मूल तत्त्व अक्षुण्ण रहते हैं। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि जीवन-मूल्य सापेक्षिक ही हो सकते हैं अर्थात् देश-काल के अनुसार उनमें परिवर्तन अवश्यंभावी है। किसी भी देश-युग के सिद्धान्तों का जन्म सदा अपने परिवेश से ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होता है, अतः उनकी सार्थकता वहीं तक सीमित है—भविष्य के लिए उनका महत्त्व ऐतिहासिक ही रहता है। इस दृष्टि से कोई भी सिद्धान्त सार्वभौम और सार्वकालिक नहीं हो सकता। हमारी अपनी धारणा पहले मत के पक्ष में ही है। वास्तव में सत्य सार्वभौम और सार्वकालिक है; जो ऐसा नहीं है वह सत्य नहीं है। किसी भी सिद्धान्त के मूल्यांकन का आधार उसका मूलवर्ती सत्य ही हो सकता है; अतः जिस सिद्धान्त के मूल में सत्य का अंश जितना अधिक होगा, उतना ही वह सार्वभौम एवं सार्वकालिक होगा और उतना ही उसका महत्त्व होगा। देश-काल के अनुसार संशोधन तथा विकास की क्षमता उसमें स्वभावतः निहित रहती है क्योंकि सत्य जड़ तो हो ही नहीं सकता, किन्तु विकास की कल्पना मूल के आधार पर ही की जा सकती है मूल से उच्छिन्न होकर नहीं। इसी तर्क से मैं रस को सार्वभौम और सार्वकालिक काव्य-सिद्धान्त मानता हूं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मेरी साहित्यिक मान्यताएं—२

कविता या रस के साहित्य के संदर्भ में मैं नये-पुराने का क़ायल नहीं हूं। तत्त्व-दृष्टि से जिस तरह नये और पुराने आदमी का भेद करना बेमानी है, उसी तरह नये या पुराने काव्य में आत्मा का भेद मानना भी निरर्थक है। मेरी इस मान्यता को लेकर भी लिखित और मौखिक रूप से काफ़ी विवाद हुआ है। अनेक साहित्य-चिन्तक इस प्रकार की स्थापना पर आश्चर्य करते हैं। उन्हें यह समझने में ही कठिनाई होती है कि नये-पुराने के सर्वथा स्पष्ट भेद से इन्कार करना आज के युग में कैसे संभव हो सकता है? उनकी दृष्टि में यह भेद इतना प्रत्यक्ष है कि उसके लिए प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं है। लेकिन उनका यह अकाट्य विश्वास और उससे प्रेरित आश्चर्य भी मेरे मन में प्रत्यय उत्पन्न नहीं कर पाता। वास्तव में स्थिति न इतनी प्रत्यक्ष है और न इतनी सरल। अतः इस विषय पर थोड़ा विस्तार से विचार करना आवश्यक हो जाता है।

प्रश्न यह है कि क्या मानव के स्वभाव में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें हम शाश्वत मान सकते हैं—अर्थात् जिनके विषय में हम यह मान सकते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति का प्रकार मात्र बदलता है, उनका मूल रूप नहीं। यदि यह सत्य नहीं है कि मानव-प्रकृति के कुछ मूल तत्त्व ऐसे हैं जो देश-काल से परे हैं अर्थात् देश-काल के भेद से जिनमें भेद नहीं आता, तो फिर प्रत्येक प्रसंग में मानवता की दुहाई देने का क्या अर्थ है? फिर तो मानव-कल्याण, मानव-मूल्य आदि शब्दों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। मानवता, मानव-कल्याण, मानव-मूल्य आदि शब्दों के निरन्तर और सर्वव्यापी प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि मानव-प्रकृति में कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो सार्वभौम तथा सार्वकालिक हैं, जो विभिन्न देश-काल के मानव-प्राणियों में मूलतः समान हैं। इन्हीं तत्त्वों की अभिव्यक्ति जीवन के नाना रूपों और कर्मों में होती है। काव्य भी उनमें से एक है और अपनी परिष्कृति तथा प्रभाव के कारण उसका विशिष्ट गौरव है। जिस प्रकार मानव-स्वभाव के व्यक्त रूपों में देश-काल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उसके मूल तत्त्व (=मानवत्व) स्थिर रहते हैं, इसी प्रकार कविता के व्यक्त रूपों में परिवर्तन होता रहता है—नये-पुराने का भेद भी होता रहता है—किन्तु उसके मूल तत्त्व (=कवित्व) का स्वरूप स्थिर रहता है। अतः कविता के संदर्भ में नई-पुरानी की जगह अच्छी-बुरी या इससे भी आगे कविता-अकविता का भेद मुझे अधिक सार्थक प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बिहारी और पन्त या घनानन्द और गिरिजाकुमार की कविता के भेद की प्रतीति मुझे नहीं है—भेद तो स्पष्ट ही है: कथ्य का भी और कथन की भंगिमा का भी; किन्तु यह भेद मात्र कवित्व-गुण का निर्णय नहीं करता—यह स्वरूप-वर्णन में सहायक होता है, मूल्यांकन में नहीं। अज्ञेय को नई रूप-विवृतियों का अधिक सटीक ज्ञान है—केवल इसी एक तथ्य के आधार पर वे रत्नाकर से अधिक समर्थ कवि नहीं बन जाते। प्रश्न है रूप की सूक्ष्म-गहन अनुभूति और उसकी अधिका-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धिक पूर्ण अभिव्यक्ति का। प्रकार के भेद को आत्मा का भेद मान लेने से ही—या फ़ैशन को ही सौन्दर्य मान लेने से, आज का मूल्य-बोध इतना खण्डित और एकांगी, तथा अपनी एकांगिता में इतना दुराग्रही, हो गया है कि विकृति और प्रकृति का भेद करना उसके लिए कठिन हो रहा है।

मेरे विचार में आधुनिकता अपने-आप में मूल्य नहीं है। इसकी अपेक्षा तो युग-बोध का अधिक महत्त्व है, किन्तु वह भी मूल्य नहीं है—कम-से-कम मौलिक मूल्य नहीं है। जीवन-बोध या उससे आगे आत्म-बोध ही वास्तविक मूल्य है। आधुनिकता या युग एक परिप्रेक्ष्य मात्र है जिसका दृष्टि के लिए अपना महत्त्व है, किन्तु परिप्रेक्ष्य या दृष्टि भी सत्य का स्थान तो नहीं ले सकती ! नया कहानीकार प्रेमचन्द की अपेक्षा या नया कवि प्रसाद की अपेक्षा युग-सत्य के अधिक निकट है, यह नारा आज आम हो गया है और आज का हर नया लेखक इसी के द्वारा अपने को स्थापित करने का उग्र प्रयत्न कर रहा है। पर इस नारे की बुनियाद ही ग़लत है क्योंकि सत्य युगापेक्षी नहीं है। प्रेमचन्द भी अपने युग-सत्य के अधिक निकट थे किन्तु उनके साहित्य का वही अंश अमर रहेगा जो युग-सीमित सत्य की नहीं, युग-मुक्त सत्य की अभिव्यक्ति करता है। वास्तव में नया लेखक अपनी सुविधानुसार 'कालयुक्त' और 'कालमुक्त' सत्य—दोनों का ही उपयोग करता है। अपनी समसामयिक दो विरोधी प्रवृत्तियों के, जिन्हें रूढ़ शब्दावली में हम स्वच्छन्दतावाद और प्रगतिवाद कहते आ रहे हैं—मुक़ाबले में वह दो परस्पर-विरोधी शस्त्रों का प्रयोग करता है। रोमानी काव्य-चेतना के विरोध में वह युग-केन्द्रित या क्षण-(प्रति-)बद्ध है और सामाजिक काव्य-चेतना के मुक़ाबले में वह कालमुक्त है। मैं समझता हूं, ईमानदारी इसी में है कि सत्य को कालमुक्त ही मान लिया जाय—काल एक परिप्रेक्ष्य मात्र है सत्य के दर्शन का, वह सत्य की सीमा नहीं है।

रस के प्रति मेरे आग्रह से यह भ्रांति हो सकती है कि अभिव्यंजना या कला का मेरी दृष्टि में विशेष मूल्य नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। रस-सिद्धांत के अंतर्गत अभिव्यक्ति की उपेक्षा कैसे हो सकती है ? आरम्भ में तो रस की प्रकल्पना कला-रूप में ही की गई और बाद में जब वह अनुभूति या आस्वाद के रूप में ही मान्य हो गया, तब भी 'गुणालंकार-सम्पदा' का आधार उसके लिए अनिवार्य बना रहा। वास्तव में शब्दार्थ के बिना तो काव्य की सत्ता ही नहीं रहती और काव्य का माध्यम यह शब्दार्थ अनिवार्यतः चमत्कृत होता है, इसमें मुझे संदेह नहीं। चमत्कार शब्द को लेकर हिन्दी-आलोचना में काफ़ी विवाद हुआ है परन्तु यह भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यंत व्यंजक शब्द है। चमत्कारपूर्ण शब्दार्थ से अभिप्राय ऐसे शब्दार्थ का है जो कवि की सुंदर, कल्पना-रमणीय अनुभूतियों से भारित होकर पाठक के चित्त में वैसी ही सुंदर प्रतीति उत्पन्न करने में सक्षम होता है। अर्थ और वाणी का अभिन्न संबंध एक स्वीकृत तथ्य है : अर्थ के चमत्कृत होते ही वाणी भी अनिवार्यतः चमत्कृत हो जाती है। हृदय के उच्छ्वास से वाणी का उच्छ्वसित हो जाना सामान्य, अनुभूत घटना है। मोटे शब्दों में, 'हृदय का उच्छ्वास' यदि रस या रस का निकटवर्ती अनुभव है तो वाणी का उच्छ्वास वक्रता या अलंकार का ही समानार्थक शब्द-समूह है। अतः अनुभूति की रमणीयता का अनिवार्य माध्यम रमणीय शब्दावली ही हो सकती है—अर्थात्, अभिव्यंजना-कला काव्य का अनिवार्य तत्त्व है, इसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के परस्पर-संबंध के विषय में तीन मत हैं : (१) अनुभूति का अभिव्यक्ति के बिना, संवेदनपुंज के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं होता। जब हम प्रेम, घृणा, निराशा आदि की अनुभूति की बात करते हैं तो इस अनुभूति में अभिव्यक्ति निहित रहती है। अनुभूति अपने मूल रूप में संवेदनों का पुंज है;

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मानसिक अभिव्यक्ति के द्वारा ही वह रूप धारण करती है। इस मत के अनुसार अभिव्यक्ति के दो रूप हैं—एक मानसिक या आंतरिक, जो मन के भीतर ही पूर्ण हो जाता है और दूसरा बाह्य, जो शब्दार्थ, रंग-रेखा आदि के द्वारा इस आंतरिक अभिव्यक्ति को भौतिक, इन्द्रियगम्य आकार देता है। यह अभिमत क्रोचे का है। (२) अनुभूति और अभिव्यक्ति का पृथक् अस्तित्व है : अनुभूति के तत्त्व अभिव्यक्ति के तत्त्वों के माध्यम से रूप धारण करते हैं।—यह रीतिवादियों का मत है। (३) अनुभूति और अभिव्यक्ति तत्त्वतः अभिन्न हैं परन्तु व्यावहारिक धरातल पर—विवेचना के लिए—उनकी पृथक् सत्ता की कल्पना न केवल असंगत ही नहीं है वरन् उपयोगी भी होती है।—भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के गंभीर चेता आचार्यों का प्रायः यही मत है—तत्त्व-दृष्टि से शायद पहला मत ही ठीक हो, परन्तु व्यवहार-दृष्टि से तीसरा ही ग्राह्य है। पहला मत दर्शन के क्षेत्र में उपयोगी हो सकता है, परन्तु आलोचना के लिए—विशेषकर व्यावहारिक आलोचना के लिए, तीसरे मत को स्वीकार किये बिना कोई चारा नहीं है। स्वभावतः मुझे यही मध्यवर्ती स्थिति अधिक ग्राह्य है। अनुभूति और अभिव्यक्ति का अभिन्न संबंध है—परन्तु विवेचन की सुविधा के लिए उनको पृथक् मानना आवश्यक हो जाता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के अभिन्न संबंध की स्वीकृति ही अभिव्यक्ति की अनिवार्यता को सिद्ध कर देती है—और अभिव्यंजना के सौन्दर्य को मैं कविता का अनिवार्य तत्त्व मानता हूं। दोनों को यदि पृथक् रूप में देखा जाय, तो अनुभूति का सापेक्षिक महत्त्व निश्चय ही अधिक है क्योंकि कविता का प्राण वही है और अभिव्यक्ति के सौंदर्य का आधार भी वही है—अर्थात् अनुभूति से अनुविद्ध होकर ही अभिव्यक्ति में सौन्दर्य या चमत्कार की सृष्टि होती है। उक्ति-वक्रता के बिना भी काव्य की स्थिति सम्भव है, यह मैं नहीं मानता; किन्तु शब्द-अर्थ के प्रयोग में हाथ की सफ़ाई दिखाकर चमत्कार उत्पन्न कर देने से कविता की सृष्टि नहीं हो सकती, यह भी स्वतः-सिद्ध है। ऐसा चमत्कार कृत्रिम ही होता है क्योंकि वाणी का असली चमत्कार तो भाव-प्रेरित ही हो सकता है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल की इस स्थापना को तो मैं यथावत् स्वीकार करता हूं कि भाव-प्रेरित वक्रता ही कविता के अंतर्गत आती है, किन्तु उनकी इस दूसरी मान्यता को स्वीकार करना मेरे लिए कठिन है कि रमणीय भाव की अभिव्यक्ति वक्रता के अभाव में भी सम्भव है। आखिर, अभिव्यक्ति की रमणीयता है क्या ? भाव और कल्पना का जब शब्द-अर्थ में अनुवेध हो जाता है तो अनायास ही उसमें भी चारुत्व का समावेश हो जाता है और चारुत्व तथा वक्रता शास्त्र में पर्याय हैं। आज से बीस वर्ष पहले जब हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का ज़ोर था, काव्य में सामाजिक चेतना के प्रति आग्रहशील विद्वानों का आक्षेप था कि मैं शिल्प के साथ पक्षपात करता हूं और आज नवलेखन के समर्थक यह शिकायत करते हैं कि मैं शिल्प की उपेक्षा करता हूं। किन्तु काव्य के मौलिक तत्त्वों के विषय में मेरी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मेरा विश्वास तब भी यह था और आज भी है कि भाव के सौंदर्य से दीप्त शब्द-अर्थ का सौंदर्य ही कविता है। सौंदर्य शब्द अत्यन्त व्यापक है, उसकी विवृति के अनेक रूप एवं प्रकार हैं और इस दृष्टि से उसमें विकास तथा परिवर्तन की प्रचुर संभावनाएं हैं। किन्तु इस विकास और परिवर्तन की एक सीमा अवश्य है जिसके भीतर ऐसे भाव-रूप और वस्तु-रूप नहीं आ सकते जो प्रतीति और परिणति दोनों में ही अप्रीतिकर हैं। पिछले पचीस वर्षों की निरन्तर साहित्य-साधना के फलस्वरूप यह तथ्य मेरी चेतना में निरन्तर भास्वर और बद्धमूल होता गया है। विरोधी इसे स्थविरता कह सकता है और अविरोधी इसे स्थिरता मान सकता है। मैं भी एक ऐसी मान्यता को, जो मैंने बिना किसी पूर्वग्रह के प्राप्त की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है और जो पिछले पचीस वर्षों के अध्ययन-मनन से निरंतर पुष्ट होती रही है, अशुद्ध या सदोष कैसे मान लूं ?

कविता की अभिव्यंजना के दो मूल तत्त्व हैं—बिम्ब और छंद । अमूर्त अनुभूति को मूर्त बनाने में ही इनकी सार्थकता है । अनुभूति मन या हृदय का विषय है; उसे इन्द्रियों का विषय बनाना ही अमूर्त को मूर्त करना है, क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से ही तो श्रोता या पाठक का मन विषय का अनुभव करता है । अतः कवि अपनी अनुभूति को बिम्बों के द्वारा मूर्तित करता हुआ पाठक के मन में सह या सम अनुभूति जगाने का प्रयत्न करता है । यह प्रयत्न ही कला-साधना है। ये बिम्ब सामान्यतः तो पांच ज्ञानेन्द्रियों—चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसना—के विषय-क्रम से पांच प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु इनमें प्रमुख दो ही हैं : चाक्षुष और श्रौत। रूप-बिम्ब चाक्षुष होते हैं और लय-बिम्ब श्रौत । यद्यपि ये दोनों ही बिम्ब हैं पर प्रचलित अर्थ में चाक्षुष बिम्ब को ही प्रायः बिम्ब कहते हैं । श्रौत बिम्ब-विधान का नाम रूढ़ शब्दावली में छन्द है—और प्रायः इन दोनों में विरोध भी हो जाता है या मान लियाजाता है । उदाहरण के लिए आज कविता का पूरा बल चाक्षुष बिम्ब पर ही है; श्रौत बिम्ब अनपेक्षित ही नहीं, कवित्व में बाधक भी मान लिया गया है । मेरे विचार में यह विरोध मिथ्या है और कविता की खण्डित धारणा का ही परिणाम है । भारतीय काव्य-चिन्तन आरम्भ में ही साहित्य शब्द के सार्थक प्रयोग द्वारा इस संभावना का निराकरण कर चुका है । चाक्षुष बिम्ब अर्थ का रूपात्मक प्रस्फुटन है और श्रौत बिम्ब या छन्द शब्द की गत्यात्मक योजना है । अतः मुझ जैसे व्यक्ति के लिए, जो साहित्य को शब्द-अर्थ का सामंजस्य मानता है और कविता को साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रूप इसलिए मानता है कि उसमें यह सामंजस्य अधिकाधिक पूर्ण होता है, कविता की इस खण्डित परिभाषा को नव-चिंतन का एक प्रवाद मात्र मानने के अलावा कोई चारा नहीं रह जाता । छन्द कविता नहीं है, यह मान्यता प्रायः आरम्भ से ही रही है; आज इसका रूप उलटकर यह हो गया है कि कविता छन्द नहीं है, अर्थात् कविता के लिए छन्द की आवश्यकता नहीं है, बिम्ब मात्र कविता के लिए पर्याप्त है । बात यहीं रुक जाती तब भी ठीक था पर वह तो और आगे बढ़ गई है : कविता अर्थ भी नहीं है, कविता कविता भी नहीं है—कविता अकविता है । ये सब आस्थाहीन चिन्तन के चमत्कार हैं जो बालमनोवृत्ति के लोगों को ही आकृष्ट कर सकते हैं ।

वास्तव में कविता की वह पुरानी परिभाषा आज भी असिद्ध नहीं हुई है—कविता आज भी शब्दार्थ के माध्यम से भाव की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति है। भाव का रूप उच्छ्वासमय होता है, अतः उससे गर्भित होकर शब्द में गति = लय अनायास ही उत्पन्न हो जाती है और चूंकि अभिव्यक्ति की स्थिति तक पहुंचते-पहुंचते यह भाव समाकलित हो जाता है, अतः लय भी समाकलित होकर सहज क्रम से छन्द बन जाती है। उधर कल्पनात्मक अभिव्यक्ति का एक ही अर्थ है—बिम्बों द्वारा मूर्तीकरण । अतः छन्द और बिम्ब कविता की अभिव्यंजना के अनिवार्य तत्त्व हैं, ऐसी मेरी निश्चित धारणा है । जिस प्रकार कविता केवल छन्द नहीं है, इसी प्रकार वह केवल बिम्ब भी नहीं है । वह तो छन्द और बिम्ब द्वारा अभिव्यक्त रमणीय (भावसंपृक्त) अर्थ है । यह बात पुरानी हो सकती है, पर सही है ।

साहित्य के कला-पक्ष के प्रति अनुराग होने के कारण उसकी रूप-विधाओं में भी मेरी गहरी दिलचस्पी रही है और अपनी व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं में मैं विस्तार से उनके विषय में लिखता रहा हूं । परन्तु विधाओं के इस भेद को मैं न मौलिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मानता हूं और न तात्त्विक; अर्थात् मैं यह नहीं मानता कि रूप के भेद से काव्य के आस्वाद में कोई मौलिक अन्तर पड़ जाता है। जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, रूप का भेद आत्मा का भेद कैसे हो सकता है? इसका अर्थ यह हुआ कि गद्य-काव्य और पद्य-काव्य के विभिन्न उपभेदों के अन्तर से, या इसके भी आगे गद्य-काव्य तथा पद्य-काव्य के अन्तर से भी, आस्वाद में मूल अन्तर नहीं पड़ता। प्रश्न उठता है कि क्या प्रबंध-काव्य और प्रगीत-काव्य अथवा उपन्यास और नाटक या प्रबंध-काव्य और नाटक-उपन्यास का आस्वाद एक-सा ही होता है? क्या माध्यम-भेद से आस्वाद में अन्तर नहीं आता? अपने अनुभव के आधार पर मेरा उत्तर है—नहीं। माध्यम के सूक्ष्म भेद से प्रक्रिया में भेद हो जाता है—किन्तु परिणति की स्थिति में भेद मैं नहीं मानता। प्रबंध और प्रगीत का भेद या प्रबंध-काव्य और उपन्यास का या प्रगीत और कहानी की आस्वादन-प्रक्रिया का भेद तो स्वतः स्पष्ट है, किन्तु परिणति सबकी चित्त की समाहिति में अथवा चेतना की विश्रान्ति में ही होती है या होनी चाहिए। प्रबंध में भी अनायास ही प्रगीतमय प्रसंगों की उद्‌भावना और प्रगीत में भी संदर्भ की सृष्टि—इसी प्रकार उपन्यास और प्रबंध में नाट्य-तत्त्व या प्रबंध और नाटक में आख्यान की विविध प्रविधियों का अनायास समावेश इस बात का प्रमाण है कि रूप-विधा का भेद मौलिक नहीं है। बाहर से प्रगीत और प्रबंध-काव्य का भेद अत्यंत स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु जब हम प्रबंध-काव्य के कवित्व-गुण का निर्धारण करते हैं तो अनायास ही शुक्लजी की तरह (जो स्वयं प्रबंध-काव्य के अत्यंत प्रबल समर्थक थे) हम उसके मार्मिक भावपूर्ण स्थलों की ही खोज करने लगते हैं—अर्थात् प्रबंध के काव्यगुण का आधार भी प्रायः उसके प्रगीतात्मक प्रसंग ही ठहरते हैं। इसीलिए एक अंग्रेज़ मनीषी ने बेलाग कह दिया कि समस्त काव्य मूलतः प्रगीत ही होता है। ऐसा ही एक अन्य सिद्धांत-वाक्य यह है—"समस्त काव्य मूलतः रोमानी ही होता है।" इन सूत्रों में अतिव्याप्ति हो सकती है, और है भी, किन्तु इनसे यह संकेत अवश्य मिलता है कि साहित्य के रूप-भेदों में मौलिक अभेद है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मेरी साहित्यिक मान्यताएं—३

मैं व्यवसाय से आलोचक हूं, अतः आपके मन में यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आलोचना के विषय में मेरी मान्यताएं क्या हैं ? किन्तु वास्तविकता यह है कि आलोचना के विषय में मैंने सबसे कम सोचा है। यह बात विचित्र लग सकती है, किन्तु है नहीं; क्योंकि आलोचना मेरे व्यवहार का विषय है, विचार का नहीं। जिस प्रकार कवि असल मानी में कविता की रचना से ही सरोकार रखता है, उसके तत्त्व-चिन्तन से नहीं, उसी प्रकार आलोचक भी मूलतः काव्य का ही विचार करता है, आलोचना का नहीं। लेकिन जिस तरह कवि-कर्म के प्रति प्रबुद्ध कवि काव्य का तत्त्व-चिन्तन कर सकता है और प्रायः करता भी है, इसी तरह आलोचक के लिए भी अपने कर्म की व्याख्या, अर्थात् उसके आदर्श तथा व्यवहार की व्याख्या, प्रस्तुत करना कठिन नहीं है : और, जो हाज़िर है उसमें हुज्जत क्या !

आलोचना को मैं निश्चय ही ललित साहित्य का अंग मानता हूं। आलोचना कला है या विज्ञान ? यह प्रश्न नया नहीं है।—लेकिन आलोचना के स्वरूप-निर्धारण में इसकी सार्थकता आज भी असंदिग्ध है। आलोचना की आत्मा कलामय है, किन्तु इसकी शरीर-रचना वैज्ञानिक है। आत्मा के कलामय होने का अर्थ यह है कि आलोचना भी मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही है—यहां भी आलोचक कलाकृति के विवेचन-विश्लेषण के माध्यम से आत्मलाभ करता है। आलोचना का विषय रसात्मक होता है और आलोचना की परिणति भी आत्मसिद्धि में ही होती है, अतः रस का अभिषेक आलोचना में भी रहता है। शरीर-रचना के वैज्ञानिक होने का आशय यह है कि आलोचना की पद्धति में विज्ञान के रीति-नियमों का पालन करना आवश्यक तथा उपादेय होता है। यही वह गुण है जो आलोचक को सामान्य सहृदय से वैशिष्ट्य प्रदान करता है। मैंने आज से लगभग पचीस वर्ष पूर्व आत्म-निरीक्षण के आधार पर अपने एक लेख में यह स्थापना की थी कि आलोचक एक विशिष्ट रसग्राही पाठक ही होता है। उस समय मेरा शास्त्र से घनिष्ठ परिचय नहीं था, इसलिए शास्त्र के परिचित पारिभाषिक शब्द 'सहृदय' के स्थान पर मुझे 'रसग्राही पाठक' शब्दावली का प्रयोग करना पड़ा था। मेरी मान्यता अब भी वही है, शास्त्र ने उसे और पुष्ट कर दिया है। कृति के रस-ग्रहण के संदर्भ में आलोचक सहृदय से अभिन्न है, किंतु इस रस-तत्त्व के विवेचन में वह पाठक से विशिष्ट है। दोनों के भेद की बात बहुत-कुछ वैसी ही है जैसी कि क्रोचे ने साधारण कलाकार और विशेष व्यवसायी कलाकार के भेद के विषय में कही है। क्रोचे के मत से प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है—उसमें और व्यावसायिक कलाकार में भेद प्रकृति का नहीं होता : गुण और मात्रा का होता है अर्थात् व्यावसायिक कवि के पास सामान्य व्यक्ति-कवि की अपेक्षा अपनी सहजानुभूति को मूर्त रूप प्रदान करने के साधन एवं उपकरण अधिक होते हैं। यही भेद सामान्य सहृदय और विशेष सहृदय अर्थात् आलोचक में होता है। साहित्य का आस्वादन दोनों ही करते हैं, किन्तु उस अस्वादन का विश्लेषण आलोचक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही कर सकता है। कुछ विदग्धों के मन में यह शंका उठती है कि इस विवेचन-विश्लेषण से क्या लाभ ? अर्थात् भोक्ता और कर्त्ता के बीच में इस मध्यस्थ अभिकर्त्ता की क्या आवश्यकता ? आलोचक के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वैसा ही होता है जैसा कि जीवन-व्यवहार में सामान्य उपभोक्ता का अभिकर्त्ता या एजेन्ट के प्रति होता है। किन्तु यह सहज स्थिति नहीं है। वैसे तो अर्थ विधान के अंतर्गत अभिकर्ता का महत्त्व भी कम नहीं है—वह निर्माता के समकक्ष नहीं है, यह ठीक है; परंतु निर्माता उस पर काफ़ी हद तक निर्भर करता है, यह भी उतना ही सत्य है। फिर भी आलोचक अभिकर्त्ता नहीं है। उसकी भूमिका कहीं अधिक सर्जनात्मक है। वह कवि या कथाकार की कोटि का सर्जक नहीं है, किंतु उसका कर्म भी अपने ढंग से सर्जनात्मक है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। काव्य का विषय जीवन है पर कवि अपने विषय का सृजन नहीं करता, पुनःसृजन ही करता है। इसी तरह आलोचना का विषय काव्य है और आलोचक भी एक प्रकार से अपने आलोच्य विषय का पुनःसृजन करता है। सृजन के ही अर्थ में आलोचना-शास्त्र के अंतर्गत एक और सरल शब्द का प्रयोग होता है और वह है आख्यान। काव्य की एक अत्यन्त परिचित परिभाषा है—काव्य जीवन का आख्यान है। इसी शब्द का प्रयोग करते हुए सीधे तौर पर कहा जा सकता है कि आलोचना काव्य का आख्यान है। यहां भी, स्पष्ट है कि आख्यान विवेचन मात्र का वाचक न होकर पुनःसृजन का ही वाचक है, अन्यथा 'काव्य जीवन का आख्यान है'—यह वाक्य सही अर्थ खो बैठता है। आलोचना के संदर्भ में भी आख्यान वस्तु-विश्लेषण मात्र नहीं है, यहां भी पुनःसृजन की प्रक्रिया चलती है। भेद केवल दो हैं। पहला भेद करण या साधन का है—अर्थात् कवि के साधनों में भावना और कल्पना प्रधान हैं, बुद्धि प्रायः संश्लेषण में ही सहायक होती है, जब कि आलोचक के कर्म में मूलतः भावना और कल्पना का सम्यक् उपयोग रहते हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय रहती है। दूसरा भेद सृजन-शक्ति के बलाबल का है। कवि जीवन का पुनःसृजन करता है और आलोचक काव्य का, अर्थात् जीवन के पुनःसृजन का पुनः सृजन करता है। सृजन का परिणाम है पदार्थ और पुनःसृजन का परिणाम है बिम्ब। अतएव कवि-व्यापार में बिम्ब-रचना का ही प्राधान्य रहता है। इस पद्धति से पुनःसृजन के पुनःसृजन का अर्थ होता है बिम्ब के भी बिम्ब=प्रतिबिम्ब का निर्माण, अर्थात् ऐसे बिम्ब का निर्माण जो रचना-प्रक्रिया में बिम्ब की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और धूमिल हो जाता है। इस प्रकार, आलोचक का कर्म कवि-कर्म की अपेक्षा कम सर्जनात्मक रह जाता है, यह सच है। कवि-कर्म में जहां बिम्बों के प्रयोग की प्रचुरता रहती है वहां आलोचना में इन बिम्बों की धारणा या प्रत्यय अधिक उपयोग में आते हैं—और सही शब्दों में काव्य में ऐन्द्रिय-मानसिक बिम्ब प्रमुख रहते हैं जबकि आलोचना में मानसिक-प्रज्ञात्मक बिम्बों का आधिक्य रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि-कथाकार और आलोचक की सर्जन-क्षमता में मात्रा और साधन-उपकरण का ही भेद अधिक है, प्रकृति का भेद इतना नहीं है। जिस प्रकार काव्य भाव का उफान या कल्पना की क्रीड़ा नहीं है, इसी प्रकार आलोचना भी बुद्धि का विलास नहीं है। कविता, उपन्यास या नाटक की भाँति आलोचना भी सर्जनात्मक संदर्शन (क्रिएटिव विज़न) से अनुविद्ध एवं परिव्याप्त रहती है। कवि यदि रमणीय (राग-कल्पनात्मक) अनुभूतियों के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करता है तो आलोचक कवि की इस आत्माभिव्यक्ति के आख्यान के माध्यम से। इसी अर्थ में, और इसी कारण से, आलोचना को मैं ललित साहित्य का अंग मानता हूं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आलोचना का यही तात्त्विक (या सात्त्विक) स्वरूप है। इसके आगे आलोचना और आलोचक के कुछ अन्य कर्तव्य-कर्मों की भी चर्चा की जाती है—जैसे साहित्य का मूल्यांकन, उसकी गतिविधि का नियमन, आदि। मेरी दृष्टि में यह सब आरोपित दायित्व है, और काफ़ी हद तक व्यावसायिक कर्म है। मूल्यांकन की उपेक्षा मैं नहीं करता—वह भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनायास ही हो जाता है। कृति के आस्वाद का विश्लेषण करते हुए आपसे-आप दोनों प्रकार के तत्त्व उभरकर सामने आ जाते हैं: ऐसे तत्त्व जो उसके आस्वाद्यत्व के साधक हैं, और वे तत्त्व भी जो उसमें बाधक हैं। आस्वाद के विश्लेषण में उसके उन स्थायी और अस्थायी तत्त्वों की परीक्षा भी निहित रहती है जो अन्ततः नैतिक और मानवीय मूल्यों से सम्बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार मूल्यांकन कोई स्वतंत्र प्रक्रिया न होकर आख्यान की प्रक्रिया का ही अंग—सही शब्दों में—परिणामी अंग है, और, इस रूप में वह काम्य भी है, कम-से-कम, उपादेय तो है ही। किन्तु, स्वतन्त्र कर्म के रूप में वह व्यवसाय बन जाता है और व्यवसाय तथा धर्म में जितना अन्तर है, उतना अन्तर ही मूल्यांकन और आलोचना के सहज रूप में भी पड़ जाता है: स्वतन्त्र रूप में मूल्यांकन, वास्तव में, सर्जनात्मक नहीं रह जाता।

साहित्य की गतिविधि के नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है, उसमें रस के स्थान पर शक्ति की स्पृहा ही प्रमुख हो जाती है। वहां सर्जना का तो प्रश्न ही नहीं उठता, निर्माण या रचना का कार्य भी पीछे पड़ जाता है और राजनीति अर्थात् बलाबल की नाप-तोल ही सामने रहती है। मैं समझता हूं कि यहां साहित्यकार स्वधर्म से च्युत हो जाता है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर मताग्रह का बोलबाला हो जाता है और राग-द्वेष के विगलन के स्थान पर अहंकार का संवर्धन ही मुख्य हो जाता है। स्पष्ट है कि रस के साहित्य के अन्तर्गत यह सब नहीं आ सकता। इस प्रकार का दम्भ लेकर जो आलोचक चलता है, वह समर्थ प्रचारक तो बन सकता है, मर्मवेत्ता साहित्यकार नहीं।

आप शायद साहित्य के इतिहास से कुछ प्रमाण देकर मेरी स्थापना का खण्डन करना चाहें। मल्लिनाथ की यह गर्वोक्ति संस्कृत-साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध है:

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता।
एषा सञ्जीवनी व्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति॥

—मल्लिनाथ, सं० टी० कुमारसम्भव १।१

—कालिदास की भारती दुर्व्याख्या के विष से मूर्च्छित पड़ी थी, मेरी यह संजीवनी टीका आज उसे जीवनदान करेगी।

आचार्य शुक्ल ने भी क्या जायसी का उद्धार नहीं किया? मैं समझता हूं कि यह दृष्टि-भ्रम है। मल्लिनाथ और आचार्य शुक्ल को निमित्त होने का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है—किंतु कालिदास या जायसी के निर्माता ये कैसे माने जा सकते हैं? कालिदास के संदर्भ में मल्लिनाथ की गर्वोक्ति का महत्त्व आलोचक के आत्मतोष से अधिक मानना क्या किसी मर्मज्ञ के लिए सम्भव है? वास्तव में उसे अभिधार्थ में ग्रहण करने की मूर्खता कौन कर सकता है? इसमें संदेह नहीं कि जायसी को प्रकाश में लाने का श्रेय शुक्लजी को है, किन्तु शुक्लजी को अधिक-से-अधिक अनुसंधान का ही गौरव दिया जा सकता है। रत्न की खोज या परख करने वाला, रत्न की मूल्यवत्ता का कारण नहीं हो सकता। इसी अर्थ में, बड़े-से-बड़ा आलोचक भी कवि को बनाने या बिगाड़ने का गर्व नहीं कर सकता। महावीरप्रसाद द्विवेदी के विषय में मैथिलीशरण गुप्त के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निर्माण का दावा करना उतना ही ग़लत है जितना 'विशाल भारत' के संपादक के लिए निराला को नष्ट कर देने का दंभ करना।

इसी प्रकार, साहित्य की गतिविधि के नियन्त्रण का दायित्व भी आलोचक के स्वधर्म से बाहर की बात है। साहित्य का विकास प्रज्ञा के आधार पर न होकर सर्जना के आधार पर ही होता है, और, जैसा कि मैं अभी स्पष्ट कर चुका हूं—समान स्तर पर तुलना करने पर—कलाकार की सर्जना-शक्ति आलोचक की सर्जना-शक्ति से अधिक प्रबल ठहरती ही है। जो साहित्य आलोचना की गर्मी से मुरझा जाय या जिसके विकास के लिए आलोचना के सहारे की ज़रूरत पड़े, उसमें प्राण-शक्ति कम ही माननी चाहिए। साहित्य को दिशा तो स्रष्टा कलाकार ही देता है। आलोचक संघात और प्रतिघात से उसकी प्रतिभा पर शाण रखने का कार्य करता है। उदाहरण के लिए, शुक्लजी जैसे आलोचक की मेधा की चट्टान से टकराकर छायावादी कवियों की प्राणधारा में और भी अधिक वेग आ गया था। अभी किसी लेखक ने नई कविता की सफ़ाई में लिखा था कि उसे वैसे समर्थ आलोचक नहीं मिले जैसे कि छायावाद को अनायास ही प्राप्त हो गए थे। मैं समझता हूं कि यह उलटी दलील है। वास्तव में छायावाद की आलोचना इसलिए अधिक पुष्ट और प्रौढ़ है कि उसका आलोच्य विषय अपेक्षाकृत अधिक भव्य है; क्योंकि यह तो एक परीक्षित तथ्य है कि किसी युग की आलोचना का स्तर उसके साहित्य के स्तर को अबाध रूप से प्रतिबिम्बित करता है। अतः साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण करने की महत्त्वाकांक्षा आलोचक के लिए कल्याणकर नहीं हो सकती। मेरे मन में यह आकांक्षा कभी नहीं उत्पन्न हुई : आलोचना-कर्म के प्रति मेरे अपने दृष्टिकोण में इसके लिए कोई अवकाश ही नहीं रहा। इसीलिए प्रायः प्रतिष्ठित, या ऐसा काव्य ही, जिसमें स्थायी मूल्य स्पष्ट लक्षित हों, मेरी आलोचना का विषय रहा है—किसी कृति को या कृतिकार को स्थापित करने की स्पृहा मेरे मन में नहीं आयी। इसीलिए, शायद अपने समसामयिक या नये लेखकों में मैं कभी लोकप्रिय नहीं हो सका। पर, मैं इसे अपना दुर्भाग्य नहीं मानता, क्योंकि आलोच्य विषयों की गरिमा से जो कुछ मैंने पाया है वह इस लोकप्रियता से अधिक काम्य और स्थायी है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य का धर्म

इस देश में साहित्य और धर्म का ऐसा अभिन्न सम्बन्ध रहा है कि आधुनिक साहित्य-स्रष्टा और आलोचक को इन दोनों को पृथक् करने के लिए परिश्रम करना पड़ा। पाश्चात्य समीक्षकों ने जब यह कहकर भारतीय साहित्य को हेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह शुद्ध साहित्य की ऐहिक विभूतियों से हीन प्रायः धर्म का ही अंग है, तो भारत की प्रबुद्ध बौद्धिक चेतना के लिए अपने साहित्य की धर्म-निरपेक्ष सत्ता की स्थापना अनिवार्य हो गई। परिवर्तन-काल में मूल्यों में कुछ ऐसी अस्थिरता आ गई कि साहित्य और धर्म में एक प्रकार से विरोध का आभास होने लगा। इस धारणा का अभी अंत नहीं हुआ है और इसका कारण यह है कि साहित्य और धर्म दोनों ही शब्दों के अर्थ अत्यंत अनिश्चित हैं। अब भी शब्दार्थ की यह नम्यता भ्रांति उत्पन्न कर सकती है, अतः साहित्य और धर्म शब्दों के अर्थ का निश्चय आज के इस परिसंवाद की पहली आवश्यकता है।

साहित्य—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत प्रसंग में दो शब्दों का प्रयोग होता है—(१) वाङ्मय, और (२) साहित्य। पारिभाषिक दृष्टि से वाङ्मय का अर्थ अधिक व्यापक है; उसकी परिधि में वाणी का सम्पूर्ण आलेख आ जाता है। वाङ्मय के दो प्रमुख भेद हैं : इह वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यञ्च (राजशेखर)। आधुनिक शब्दावली में शास्त्र का अर्थ है ज्ञान का साहित्य और काव्य का अर्थ है रस का साहित्य। आज के परिसंवाद के अंतर्गत साहित्य का अभीष्ट अर्थ है रस का साहित्य (वस्तुतः संस्कृत में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'रस का साहित्य' के अर्थ में ही होता है—उसका वर्तमान व्यापक रूप और तज्जन्य अस्थिरता उसे अंगरेज़ी शब्द 'लिटरेचर' का पर्याय मान लेने का परिणाम है। संस्कृत में इसका स्वरूप और प्रयोग सर्वथा परिनिष्ठित है : काव्य=साहित्य=रस का साहित्य (क्रिएटिव लिटरेचर)। साहित्य का शाब्दिक अर्थ है; सहित का भाव अर्थात् सहभाव। कुछ विद्वानों ने सहित का अर्थ हितसहित या कल्याणमय करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह वर्तमान वाग्विलास है; काव्य-शास्त्र में उसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भी आधुनिक विचारधारा के संदर्भ में उसका अर्थ-विस्तार किया है : "सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रंथ-ग्रंथ का मिलन नहीं है; परन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का—अतीत के साथ वर्तमान का···मिलन है।" किन्तु यह भी कवि के अपने वैदग्ध्य का चमत्कार है। शास्त्र में उसका एक ही निर्भ्रान्त अर्थ है—शब्द-अर्थ का सहभाव : शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या (राजशेखर)। सहभाव का यहां विशिष्ट अर्थ है—पूर्ण सामंजस्य, ऐसा समभाव, जिसमें दोनों में से कोई न न्यून हो और न अतिरिक्त : यही साहित्य का तात्त्विक अर्थ है। अतः साहित्य से अभिप्रेत है वाङ्मय का वह रूप जिसमें शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य हो। यह एक ओर शास्त्र से भिन्न है क्योंकि उसमें अर्थ की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गुरुता शब्द को भाराक्रांत कर देती है, और दूसरी ओर संगीत आदि से भी, जिसमें शब्द की तरलता में अर्थ का क्षय हो जाता है।

दूसरा शब्द है धर्म। धर्म का व्युत्पत्त्यर्थ है--ध्रियते अनेन यः सः धर्मः, जो धारण करे वह धर्म है। वे मूल विशेषताएँ या गुण जो किसी पदार्थ के अस्तित्व को धारण करते हैं (एसेन्शल्स)—संक्षेप में प्राण-तत्त्व, मूल प्रवृत्ति, प्रकृति या स्वभाव। धर्म का एक दूसरा अर्थ भी है कर्तव्य-कर्म, जो मूल अर्थ का ही विकास है क्योंकि प्रवृत्ति ही अनुशासित होकर कर्तव्य का रूप धारण कर लेती है। अतएव धर्म का समन्वित अर्थ होता है प्रकृति और कर्तव्य-कर्म।

इस प्रकार 'साहित्य के धर्म' के अंतर्गत आज हमारा विवेच्य विषय है--आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में, 'ललित वाङ्मय की प्रकृति और उद्देश्य' और संस्कृत काव्यशास्त्र की शब्दावली में, 'काव्य की आत्मा एवं प्रयोजन'।

जैसा कि मैंने अभी निवेदन किया, शास्त्र की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है शब्द और अर्थ का पूर्ण तादात्म्य--अर्थ का शब्द के साथ पूर्ण तादात्म्य वाणी की चरम सिद्धि है। तत्त्व रूप में अर्थ आत्मा की अनुभवज्ञानमयी स्थिति का ही नाम है और शब्द का अर्थ है प्राकट्य; अतः अर्थ का शब्द-रूप में प्राकट्य आत्म-साक्षात्कार की ही एक प्रमुख प्रक्रिया है। भारतीय काव्य-दर्शन में इसी तर्क के आधार पर अर्थ को शम्भु और शब्द को शिवा या शक्ति कहा गया है--'रुद्रोऽर्थः अक्षरस्सोमा'—और उन दोनों के अर्धनारीश्वर-रूप में साहित्य की कल्पना की गयी है। आत्म-साक्षात्कार का ही नाम आनन्द है। प्रकृति के विविध उपादानों के द्वारा आत्मा अपना साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता रहता है--यह प्रयत्न या साधना ही जीवन है, साधना की सफलता-विफलता ही जीवनगत सुख-दुःख और उसकी सिद्धि ही 'आनन्द' है जो सुख और दुःख से अतीत पूर्ण आत्म-लाभ या सामरस्य की स्थिति है। आनन्द का मूल रूप एक और अखण्ड है, माध्यमभेद से उसके नामों में भेद हो जाता है। वाणी के माध्यम से जो आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है उसका शास्त्रीय नाम रस है। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ और शब्द का साहित्य सहज रसमय होता है—रस उसका अंतरंग लक्षण है, बहिरंग विशेषण मात्र नहीं है। एक वाक्य में, साहित्य की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है रस और यही उसका प्रयोजन है। भारतीय काव्यशास्त्र का विवेचन इतना मार्मिक और आप्त है कि उसमें लक्षण और प्रयोजन—साधन और सिद्धि—शरीर और आत्मा का भेद मिट जाता है।[1]

---

१. अमृतसर—संत विनोबा के तत्त्वावधान में आयोजित साहित्य-गोष्ठी में दिया गया वक्तव्य।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य के मानदण्ड

मानदण्ड और मूल्य आदि शब्द मूलत: साहित्य के शब्द नहीं हैं—पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में भी इनका समावेश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्यशास्त्र से किया गया है। जीवन में भौतिक-आर्थिक प्रभाव की वृद्धि होने से आर्थिक शब्दावली का भी प्रयोग अन्य क्षेत्रों में होने लगा: स्थूल तथ्यपरक विषयों के अतिरिक्त सूक्ष्म तत्त्वपरक विषयों के भी मूल्य और मानदण्ड या मापदण्ड होने लगे। भारतीय काव्यशास्त्र में स्थिति इसके विपरीत थी— यहां की दृष्टि मूलत: अध्यात्मपरक होने से यहां दार्शनिक या अधिमानसिक (मेटाफ़िज़ीकल) शब्दावली का प्रभाव था। साहित्य के मानदण्डों का विवेचन यहां साहित्य अथवा काव्य की 'आत्मा' और काव्य के प्रयोजन की चर्चा के अन्तर्गत किया गया है। आत्मा का अर्थ है आधार-तत्त्व तथा प्रयोजन का अर्थ है उद्देश्य; और ये ही दो तत्त्व किसी वस्तु के मानदण्ड या मूल्य का भी निर्धारण करते हैं—अतएव यहां आत्मा और प्रयोजन के विवेचन में मानदण्ड का विवेचन व्यंग्य रूप से निहित है। काव्य की आत्मा रस है, ध्वनि है, अलंकार अथवा वक्रता है—इसका तर्क-सम्मत निरूपण कर भारतीय आचार्य ने व्यंजना से यह भी स्पष्ट कर दिया कि काव्य का मूल तत्त्व क्या है जो काव्य के काव्यत्व को सार्थक करता है—यही काव्य की कसौटी या मानदण्ड भी था। परन्तु आत्मा के विवेचन में भारतीय आचार्य काव्यशास्त्र की परिधि से बाहर नहीं गया। रस के द्वारा अनुभूति-तत्त्व को, ध्वनि के द्वारा कल्पना-तत्त्व को—क्रोचे के शब्दों में सहजानुभूति को, और वक्रता अथवा अलंकार के द्वारा अभिव्यंजना—और स्पष्ट शब्दों में अभिव्यंजना-कौशल को काव्य का आधार-तत्त्व और व्यंग्य रूप से मूल मान घोषित करता हुआ वह काव्यशास्त्र की परिधि में ही रहा। हां, काव्य के प्रयोजन में उसने जीवन की विस्तृत भूमि में पदार्पण किया और अनेक प्रयोजनों की चर्चा की, जिनमें से कुछ वैयक्तिक थे, कुछ सामाजिक। उदाहरण के लिए आनन्द और बौद्धिक विकास व्यक्तिगत सिद्धियां थीं। आनन्द को प्राचीनतर आचार्यों ने—भामह और वामन आदि ने—प्रीति तथा कुन्तक आदि परवर्ती आचार्यों ने आह्लाद अथवा चमत्कार कहा; और बौद्धिक विकास के लिए भरत ने बुद्धि-विवर्धन शब्द का प्रयोग किया जिसके अन्तर्गत भामह का कला-वैचक्षण्य भी आ जाता है। उधर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि और लोकोपदेश आदि सामाजिक प्रयोजन थे। इस प्रकार अपने ढंग से हमारे आचार्य ने भी काव्य की वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की ही सिद्धियों का काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत समावेश कर लिया था। स्वान्त:सुख और लोक-हित दोनों के प्रति वह आरम्भ से ही जागरूक था, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु यह भी सत्य है कि इन दोनों के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में भी उसे कोई भ्रांति नहीं थी। आनन्द को इसीलिए उसने निर्भ्रान्ति शब्दों में सकल-प्रयोजन-मौलिभूत कहा है। कुन्तक की निर्भीक घोषणा है:

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।।

जिसका भावार्थ यह है कि काव्यामृत-रस का चमत्कार चतुर्वर्ग-फलास्वाद से भी बढ़कर है।

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार काव्य की आत्मा आनन्द-रूप रस और मूल प्रयोजन आनन्द माना गया है—और व्यंजना से यही उसका मानदण्ड या आधारभूत मूल्य भी है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर काव्येतर मूल्यों का समाघात बहुत पहले ही हो गया था। वहां नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, और अब पिछले वर्षों में अर्थशास्त्र आदि के आघात के फलस्वरूप अनेक मूल्यों का आरोप काव्य पर होता रहा है। सामान्यत: वहां भी दो प्रकार के मूल्यों में द्वन्द्व रहा है: (१) सौंदर्यमूलक, और (२) उपयोगितामूलक—जिनका पर्यवसान क्रमशः आनन्द और लोक-हित में होता है। इन्हीं को लेकर पश्चिम के सौंदर्यवादी, कलावादी, मनोवैज्ञानिक और समाजवादी आलोचक उलझते रहे हैं।

हमारा मत है कि उपर्युक्त दोनों मानदण्ड परस्पर-विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक ही हैं। आनन्द और कल्याण को परस्पर-विरोधी मानना असंगत है; परन्तु इन दोनों में सापेक्षिक मूल्य आनन्द का ही अधिक है; आनन्द की व्यापक परिधि में हित की भावना अन्तर्भूत है और हित की परिणति भी आनन्द ही है। वास्तव में हित जहां खण्ड-चेतना का साध्य है वहां आनन्द अखण्ड चेतना का साध्य है। अखण्ड चेतना का साध्य होने के कारण ही रस को अखण्ड माना गया है। आई० ए० रिचर्ड्स ने रूढ़ शब्दावली में आनन्द शब्द का त्याग करते हुए भी वृत्तियों के समन्वय (सिस्टमेटाइज़ेशन ऑफ़ इम्पल्सेज़) को काव्य का अन्तिम मूल्य मान कर अन्त में चेतना के इसी तन्मयता-रूप आनन्द को ही प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया है। इधर आचार्य शुक्ल की 'हृदय की मुक्तावस्था' शब्दावली की भी आनन्द से भिन्न स्थिति नहीं है; क्योंकि यह अवस्था यदि अभावात्मक है तो अपूर्ण और खण्डानुभूति है और यदि भावात्मक है तो आनन्द के अतिरिक्त और कोई नाम इसे नहीं दिया जा सकता।

रस की कल्पना वस्तुतः अत्यन्त व्यापक आधार पर की गयी है। आज की शब्दावली में उसका पुनराख्यान कर आधुनिक काव्यालोचन के सभी मान उसकी परिधि में आ जाते हैं। यूरोप के आधुनिक सौंदर्यवादियों की भाँति वह जीवन से असंपृक्त नहीं है—वह तो जीवन के स्थायी भावों पर ही मूलतः निर्भर है। नैतिक मूल्य भी अपने उदात्त रूप में रस में अन्तर्भूत हैं; क्योंकि रस-सिद्धान्त नीति-विरोधी नहीं है—नीति-विरोधी तत्त्वों को रसाभास रूप में अभिव्यक्त कर वह जीवन के स्वस्थ-नैतिक दृष्टिकोण का पोषण करता है। सत्त्व के उद्रेक को रस-परिपाक का अनिवार्य उपबन्ध मानकर रस-सिद्धान्त ने उदात्त नैतिक मूल्यों का प्रबल समर्थन किया है। जीवन के नैतिक मूल्य ही बहिर्मुख होकर अपनी स्थूलता में उपयोगितावादी मूल्य बन जाते हैं। काव्य का रस चित्त-वृत्तियों का परिष्करण और समंजन करता हुआ अपनी चरम उपयोगिता सिद्ध करता है—वैसे भी, आनन्द से अधिक उपयोगी तत्त्व की कल्पना मानव-मन कदाचित् अभी नहीं कर सका। मानववाद के विकास के फलस्वरूप पश्चिम के काव्यशास्त्र, और उसके प्रभाव से हमारे काव्यशास्त्र में भी, मानव-मूल्यों का समावेश हुआ। मानव-मूल्य निस्संदेह जीवन के चरम मूल्य हैं—मानवता से अधिक उपयुक्त मानव-जीवन का मानदण्ड क्या हो सकता है! भारतीय रस-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शास्त्र आज से सहस्र वर्ष पूर्व अपने साधारणीकरण सिद्धान्त में इन्हीं मानव-मूल्यों को स्वीकृति देकर अपनी सार्वभौमता एवं सार्वकालिकता सिद्ध कर चुका है। अतएव मेरा विनम्र मत है— साहित्य का चरम मान रस ही है, जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि, सौंदर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अन्तर मिट जाता है; अन्य कथित मान या तो रस के एकांगी व्याख्यान हैं या फिर असाहित्यिक मान हैं, जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य का स्तर

वर्तमान हिन्दी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इस प्रश्न पर दो पहलुओं से विचार किया जा सकता है : एक, आज हिन्दी-साहित्य का स्तर क्या होना चाहिए ? दूसरे, हिन्दी-साहित्य का स्तर आज कैसा है ?

पहला प्रश्न सैद्धान्तिक विवेचन से संबंधित है और दूसरा व्यावहारिक समीक्षा का अंग है साहित्य का स्तर क्या होना चाहिए—इस प्रश्न के साथ ही प्रत्येक समृद्ध भाषा में शास्त्रीय समीक्षा का जन्म हुआ है। सत्साहित्य का निर्माण पहले हो जाता है और उसके विश्लेषण के आधार पर फिर समीक्षक उन नियमों का निष्कर्षण करते हैं जिनके द्वारा सत्साहित्य का निर्माण सम्भव हुआ और आगे भी हो सकता है। इस प्रकार कालजयी साहित्यिक कृतियां, जो समय की कसौटी पर खरी सिद्ध हो जाती हैं, सत्साहित्य के नियमों का निर्धारण और उसके स्तर का निर्णय करती हैं। भारतीय वाङ्मय में शास्त्रीय समीक्षा का और पाश्चात्य वाङ्मय में आभिजात्यवादी समीक्षा का विकास इसी पद्धति से हुआ है। शास्त्रीय समीक्षा प्रत्येक काव्यरूप के आदर्श का विधान कालजयी कृतियों के आधार पर ही करती है : महाकाव्य के लक्षणों का निर्माण रघुवंश, किराता-र्जुनीय आदि के, नाटकीय लक्षणों का विधान शाकुंतल, उत्तररामचरित तथा मुद्राराक्षस आदि के, और मुक्तक के नियमों का निर्धारण अमरुक आदि के आधार पर ही किया गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास में भी यही हुआ है—अरस्तू, होरेस आदि ने, और बाद में उनके अनु-करण पर अनेक फ़्रांसीसी तथा अंग्रेज़ आलोचकों ने यूनानी तथा लातीनी भाषाओं के अमर नाटकों एवं काव्यों के आधार पर नाट्यनियमों और काव्यसिद्धान्तों का निर्माण किया है। उत्तर-मध्ययुग में तो वहां 'अमर काव्यों का अनुकरण' मूल्यांकन का मानदण्ड ही बन गया था—और 'प्रकृति के अनुकरण' का अर्थ हो गया था 'अमर काव्यों का अनुकरण'। आगे चलकर इसका विरोध हुआ : स्वच्छन्दतावादी काव्य-मूल्यों में अनुकरण का निषेध किया गया और क्रान्ति तथा मौलिक सृजन के प्रति आग्रह बढ़ा। परन्तु आभिजात्यवादी मूल्यों का पूर्ण निषेध कभी सम्भव नहीं हुआ और स्वच्छन्दतावाद के चरम उत्कर्ष के उपरान्त भी मैथ्यू आर्नल्ड जैसे आलोचकों ने अनुकरण का विरोध करते हुए सच्चे अर्थ में 'अमर काव्यों के आदर्श' की पुनःप्रतिष्ठा की। आधुनिक युग में भी आदर्श के प्रति यह निष्ठा नष्ट नहीं हुई; आचार्य शुक्ल और इधर समसामयिक लेखकों में डॉ० देवराज जैसे 'नये लेखक' (?) ने भी 'अभिजात काव्य' के आदर्श का अपने-अपने ढंग से प्रतिपादन किया। इस आदर्श-निष्ठा का अर्थ यह है कि अमर साहित्य के आधार पर ही वर्तमान साहित्य के स्तर का नियमन करना चाहिए : नये प्रबंध-काव्य का स्तर वही होना चाहिए जो कालजयी महाकाव्यों का—प्राचीनों में 'रामचरितमानस' और नवीनों में 'कामायनी', 'साकेत', 'प्रियप्रवास' आदि का है; प्रगीत का स्तर वही होना चाहिए जो सूर, मीरा या निराला, पंत, महादेवी के प्रगीतों का है; उपन्यास का स्तर 'गोदान', 'त्यागपत्र', 'मृगनयनी', 'दिव्या' और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'शेखर' के समान होना चाहिए—आदि, आदि । इस स्थापना के दो अर्थ किये गए : एक तो यह कि अमर काव्यों का अनुकरण ही साहित्य के स्तर की रक्षा कर सकता है, और दूसरा यह कि अमर काव्यों के अनुकरण से नहीं वरन् उनमें सिद्ध कला-मूल्यों के प्रतिफलन से ही साहित्य के स्तर की रक्षा होती है । पाश्चात्य साहित्य और भारतीय साहित्य के रीतियुग में, जब दृष्टि रूढ़ि-बद्ध हो गई थी, पहला अर्थ ग्रहण किया गया; किन्तु जब दृष्टि मुक्त और विचार स्वस्थ रहे, तब दूसरा अर्थ ही मान्य हुआ : सतरहवीं-अठारहवीं शती के फ्रांसीसी और अंग्रेज़ आलोचकों की दृष्टि बहिरंग के अनुकरण तक ही गई, किन्तु आर्नल्ड और शुक्ल जैसे आभिजात्यवादी आलोचक अंतरंग मूल्यों की सिद्धि पर बल देते रहे । वास्तव में उपर्युक्त दोनों अर्थों में विकल्प के लिए अवकाश नहीं है । यदि साहित्य के स्तर का संरक्षण करने के लिए 'अमर काव्य के आदर्श' का कुछ भी अर्थ है तो वह यही हो सकता है कि उसके द्वारा प्रतिष्ठित साहित्य-मूल्यों की साधना की जाये; अनुकरण न सम्भव है और न काम्य—उससे तो मौलिक साधना का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायगा । उदाहरण के लिए, 'कामायनी' को लीजिये : महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का निर्वाह वहां नहीं है; स्वदेश-विदेश के किसी भी कालजयी महाकाव्य के विधान का अनुसरण 'कामायनी' में नहीं किया गया, किन्तु महाकाव्य के अंतरंग मूल्यों की सिद्धि उसमें निश्चय ही की गई है, और मौलिक रीति से की गई है । अतः वह अमर काव्य बन गया है और उसके साथ ही वर्तमान अथवा भावी महाकाव्य के मूल्यांकन का निकष भी । कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य के स्तर की रक्षा के लिए अनुकरण का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जीवन की भाँति साहित्य में भी अनुकरण से आभिजात्य की नहीं, मिथ्या आभिजात्य की ही सृष्टि हो सकती है । साहित्य के स्तर की रक्षा का एक ही उपाय सम्भव है—साहित्यिक मूल्यों की साधना ! साहित्य का स्तर क्या होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर, मेरी समझ में, एक ही है—'साहित्यिक' । 'साहित्य का स्तर साहित्यिक होना चाहिए'—बात कुछ अटपटी-सी लगती है, और शास्त्रीय दृष्टि से भी यह एक प्रकार का उक्ति-दोष है; परन्तु मेरी भी अपनी विवशता है कि मैं अपने मन्तव्य को अन्यथा व्यक्त नहीं कर सकता । इतना अवश्य कर सकता हूं कि 'साहित्यिक' शब्द की व्याख्या मैं अपने विचार के अनुसार प्रस्तुत कर दूं ।

'साहित्यिक' विशेषण का प्रयोग मैं दो रूपों में कर रहा हूं : अभावात्मक और भावात्मक । अभावात्मक रूप में साहित्यिक का अर्थ है अराजनीतिक—अर्थात् साहित्यिक स्तर की रक्षा के लिए पहली आवश्यकता यह है कि साहित्य में राजनीतिक मूल्यों का प्रवेश निषिद्ध रहना चाहिए। राजनीति से अभिप्राय है भेद-नीति, जो सांसारिक या भौतिक लाभालाभ पर आश्रित रहती है : इसमें सभी प्रकार की स्वत्व-भावना, साम्प्रदायिक भावना, व्यावसायिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण, वर्गगत या दलगत भावना और उधर भेद-बुद्धि पर आधृत नैतिक एवं दार्शनिक भावना आदि निहित हैं । अतः साहित्यिक स्तर का अर्थ है ऐसा स्तर जो उन सभी भेदक मूल्यों से ऊपर उठा हुआ हो, जिनमें किसी राजनीतिक या साम्प्रदायिक मतवाद का प्रचार हो, या आर्थिक लाभालाभ की भावना निहित हो, या किसी वर्ग अथवा दल के समर्थन की आकांक्षा विद्यमान हो, या किसी नैतिक अथवा सैद्धान्तिक पूर्वग्रह के प्रति राजनीतिक आकर्षण हो। भावात्मक रूप में--साहित्य का प्राण-तत्त्व है आत्माभिव्यक्ति । अभिव्यक्ति स्वरूपतः पूर्ण ही हो सकती है : खण्डित अभिव्यक्ति वास्तव में असफल अभिव्यक्ति का ही नाम है । अतः आत्माभिव्यक्ति का अर्थ है सर्जनालीन कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति—और सर्जना के क्षणों में कलाकार का व्यक्तित्व समंजित हो जाता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, यह कला एवं सर्जना दोनों का अनिवार्य नियम है। सर्जना की प्रक्रिया खण्ड-प्रक्रिया नहीं हो सकती — निर्माण खण्डशः हो सकता है, किन्तु सृष्टि चेतना की अखण्ड स्थिति में ही हो सकती है और एक अखण्ड इकाई के रूप में ही हो सकती है। खण्डित चेतना दुःस्वप्नों में बिखर सकती है किन्तु सृष्टि नहीं कर सकती; और खण्डित सर्जना का अर्थ है भ्रूणपात। इसी प्रकार सौंदर्य भी पूर्णधर्मा ही होता है—वह सामंजस्य का ही वाचक है : अनेकता में एकता की स्थापना ही कला है, वही सौंदर्य है। अतः सौंदर्य की अभिव्यक्ति, जो साहित्य या कला का अपर नाम है, अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्णता की ही वाचक है। भावात्मक रूप में साहित्य अखण्ड अभिव्यक्ति या अखण्ड अनुभूति की अखण्ड अभिव्यक्ति का पर्याय है। इस लक्षण के अनुसार साहित्यिक स्तर की रक्षा के लिए दूसरी और मौलिक आवश्यकता है अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की पूर्णता—अर्थात् निश्छल आत्माभिव्यक्ति या आत्मसर्जना—जो प्रकृत्या पूर्ण एवं अखंड ही हो सकती है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि आज या कल हिन्दी-साहित्य या किसी भी साहित्य के स्तर की रक्षा का एक ही उपाय है और वह यह कि आत्माभिव्यक्ति को ही प्रमाण माना जाय और उसे साहित्येतर मूल्यों के आरोपण से मुक्त रखा जाय।

यहां यह भ्रम हो सकता है कि मैं आज पचास वर्ष बाद फिर 'कला कला के लिए' का नारा बुलन्द कर रहा हूं। किन्तु मेरा अर्थ यह नहीं है। जीवन और साहित्य के अंतरंग संबंध से मैं इन्कार नहीं करता—वास्तव में उसमें मेरा पूर्ण विश्वास है। साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानने का अर्थ ही यह है कि वह जीवन की अभिव्यक्ति है : विज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि द्वारा व्याख्यात जीवन की नहीं वरन् साहित्यकार के 'आत्म' द्वारा अनुभूत—दूसरे शब्दों में आत्मसात्—जीवन की अभिव्यक्ति। उसमें सिद्धान्त की नहीं, अनुभूति की प्रधानता है। सिद्धान्त वहां तिरस्कृत या अप्रासंगिक नहीं है जैसा कि कलावादियों के वृत्त में माना जाता है। वह कलाकार के समग्र व्यक्तित्व में ओतप्रोत रहता है, उसी के आधार पर कलाकार वर्तमान में जीता है और भविष्य में जीने का उपक्रम करता है। किन्तु कला में वह कलाकार की समंजित चेतना या अनुभूति में रमा हुआ है : उससे पृथक् नहीं रहता, नहीं रह सकता। कला के लिए समस्या तभी खड़ी होती है जब सिद्धान्त अनुभूति से अलग होकर उस पर आक्रमण करता है। और, यह समस्या कोई नई नहीं है : आरम्भ से ही यह अनुभूत सिद्धांत कभी धर्म, कभी दर्शन, कभी नीतिशास्त्र, कभी राजनीति, कभी अर्थशास्त्र और कभी कोरे सौंदर्यशास्त्र की खाल ओढ़कर कला और साहित्य पर आक्रमण करता रहा है। साहित्य के स्तर की रक्षा का अर्थ है इसी सिद्धान्तवाद और उससे प्रेरित साहित्येतर मूल्यों से साहित्य की मूलभूत चेतना— मानवीय संवेदना की सर्जनात्मक शक्ति—की रक्षा करना, जो अपने सहज रूप में शिव और सुन्दर है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

कुछ वर्ष हुए एक प्रगतिवादी मित्र ने मुझ पर अनेक आरोपों के साथ एक आरोप यह भी लगाया था कि मैं साहित्य में सामाजिक गुणों का विरोध करता हुआ अहंवाद का पोषण करता हूं।—आज उसी को लेकर जब मैं आत्म-निरीक्षण करने बैठता हूं तो एक प्रश्न मेरे मन में अनिवार्यतः उठता है : साहित्य का मूल धर्म क्या है ? और अनेक पंडित मित्रों की विरोधी युक्तियों के बावजूद भी इसका उत्तर मेरे पास एक ही है : 'आत्माभिव्यक्ति'। जैसा कि मैं अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से व्यक्त करता आया हूं, आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद संसार में केवल दो तत्त्वों का ही अस्तित्व अन्त में मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओं से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। परन्तु वास्तव में ये दोनों ही दर्शन की चरम स्थितियां हैं—और व्यावहारिक तल पर दोनों ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत् की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है और उधर भौतिकवाद भी आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यों न माने, व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य को तो मानता ही है। साहित्य का संबंध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है, अतएव उसके लिए यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है, चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण'। परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं—मैं और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूंकि इनमें सबसे कम पारिभाषिक हैं इसलिए हमने इन्हें ही ग्रहण किया है। दर्शन में थोड़े-बहुत पारिभाषिक अन्तर से इन्हें ही जीवन और जगत्— आध्यात्मिक मनोविज्ञान में अहं और इदं, विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा गया है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नहीं है, परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक् वस्तुरूप में नहीं ग्रहण कर पाता। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप वाला है—उसी के विभिन्न रूपों के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म में प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। मैं जो चाहता हूं वह कर रहा हूं—यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति है—इसमें विशेष भौतिक व्यवहारों के द्वारा मैं आत्म का प्रति-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संवेदन या आस्वादन कर रहा हूं। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं तो हमें एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द-अर्थ की पकड़ में आये कोई रूप ही नहीं रखता—जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड़ में नहीं आता, उसका अस्तित्व संवेदन (Sensations) से पृथक् कुछ भी नहीं है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है जब वह शब्द और अर्थ में बँध जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुभव को शब्द-अर्थ रूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—इच्छा और कर्म का संबंध अनिवार्य नहीं है, परन्तु अनुभव और शब्द-अर्थ का संबंध सर्वथा अनिवार्य है।

प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इस आत्माभिव्यक्ति का मूल क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है? तो, जहां तक लेखक का संबंध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष में है—काव्य-शास्त्रों ने जिसे सृजन-सुख कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। वाणी में कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कम तथा सूक्ष्मता और आंतरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो अभिव्यक्ति होगी उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होगी—दूसरे शब्दों में यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। अतः निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है। मुझ जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे और कुछ पूछना नहीं रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहां भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता है? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। शब्द और अर्थ अत्यन्त आंतरिक उपकरण हैं, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योंकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा में साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को (चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हों) अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

यहीं एक और शंका का समाधान कर लेना उचित होगा—वह यह कि कहीं इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहंकार का पोषण तो नहीं होता। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि अहंकार और अहं दो भिन्न वस्तुएं हैं—अहंकार जहां स्वभाव का एक दोष है वहां अहं समस्त वृत्तियों की समष्टि का नाम है—जिसे दूसरे शब्दों में आत्म भी कहते हैं—साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति जीवन की सभी सत्क्रियाओं की भाँति अहं अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय ही करती है, परन्तु अहंकार का पोषण उसके द्वारा संभव नहीं, क्योंकि उसके लिए जैसा कि मैंने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभी कहा, निश्छलता अनिवार्य है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के क्षणों में ही संभव हो सकती है—और आत्म-साक्षात्कार में दम्भ के लिए स्थान कहां? भरत ने इसीलिए रस को उत्तमप्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य आवश्यक माना है। उस दिन इसी विषय पर श्री जैनेन्द्रकुमार से बातचीत हो रही थी। उनका कहना था कि साहित्यकार का अहं स्वभावतः अत्यन्त तीव्र होता है—यहां तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य-सर्जन द्वारा वह इसी अहं से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी सृष्टि में वह इस अहं (अहंकार)[1] के नीचे दबी हुई पीड़ा को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विसर्जन है। जैनेन्द्रजी के चिंतन पर गांधी की—अथवा और व्यापक रूप में लीजिए तो संतों की आत्म-पीड़नमयी चिंता-धारा का प्रभाव है, इसलिए उन्होंने आध्यात्मिक शब्दावली—'अहं का विसर्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव में अहं का संस्कार ही है—इसके द्वारा अहंकार का पूर्ण विसर्जन होकर अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म रीति से अहं—अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्मा के इस गोपन में आत्म का दर्शन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति में, जहां वासना सर्वथा अभुक्त रहती है, सम्पूर्ण आत्मसमर्पण की संभावना है, इसमें सन्देह नहीं—भक्त का भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मनिवेदन वैष्णव साहित्य की अत्यन्त परिचित घटना है। परन्तु इस समर्पण अथवा निवेदन में अहं का विनाश नहीं है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अहं को प्रेम-पात्र अथवा इष्टदेव में प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ अन्त में फिर उसे आत्मलीन कर लेता है। आत्म का यह संस्कार समष्टि के प्रेम में और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के संकुचित वृत्त से निकालकर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावतः ही उसका विस्तार हो जाता है। यहां अहं समाज के सम्मिलित अहं से तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेता है। यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्नपूर्वक वह आत्मदान नहीं करता—परन्तु इससे हमारी धारणा में बाधा नहीं पड़ती, हमारा निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अन्त में आत्म का लाभ ही होता है, हानि नहीं।[2]

अब प्रश्न का दूसरा अंश लीजिए: लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है? पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति (Sympathy) के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है। यह परिष्कृत आनन्द उनकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध बनाता है—जीवन में रस उत्पन्न

१. जैनेन्द्रजी दोनों का पर्याय रूप में ही प्रयोग कर रहे थे।

२. परन्तु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यष्टिगत प्रेम जितना सहज और सुलभ है, उतना समष्टिगत प्रेम नहीं है। इसमें आत्मप्रवंचना एवं प्रदर्शन के लिए स्थान अधिक है—इसलिए नेता लोग आत्म का संस्कार करने की अपेक्षा प्रायः अहंकार का संवर्धन कर लेते हैं। देश और समाज के बड़े-बड़े नेता पुष्कल यश और योग्यता के होने पर भी प्रायः उत्तम साहित्य की सृष्टि में असफल रहते हैं और एक साधारण, अपने में खोया हुआ व्यक्ति उसमें सफल हो जाता है। इसका कारण यही है कि नेता के जीवन में प्रदर्शन के अवसर अधिक और आत्मसाक्षात्कार के क्षण विरल होते हैं, और ऊपर से असामाजिक दिखने वाले इस व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार और निश्छल होने के क्षण अधिक मिलते रहते हैं। किसी बृहद् आन्दोलन को लेकर खड़े होने वालों की स्थिति इनसे भी अधिक जटिल है—क्योंकि उनमें सिद्धांत की बौद्धिकता और उसके साथ प्रदर्शन का मोह भी अधिक रहता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करता है, पराजय और क्लांति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है। इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है। हिन्दी की रीति-कविता को ही लीजिए : आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कहकर लांछित किया जाता है, और एक दृष्टि से आरोप सर्वथा उचित भी है; परन्तु उसके मधुर छन्दों ने पराभव-मूढ़ समाज की कोमल वृत्तियों को सरस रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया था, इसका निषेध क्या आज कोई समाजशास्त्री कर सकता है ? बड़े-बड़े लोकनायकों ने अपने संघर्ष-क्लांत मन को इसी की संजीवनी से सरस किया है। लेनिन जैसे समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभिव्यक्तियों का कितना गहरा प्रभाव था, इसको वह स्वयं लिख गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है वह स्वयं एक बड़ा वरदान है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र भी उसका एक स्वतन्त्र महत्त्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।

परन्तु मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अतर्क्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, समाज की संघ-शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य-रूप में समाज का अविभाज्य अंग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिये, बौद्धिक और भावगत परम्पराएं दीं, उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-साधना की संकुचित भूमि से उठ कर उसके अहं भाव का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की ही सिद्धि होती है। परन्तु ये सब तर्क नैतिक हैं, साहित्यिक नहीं। उपर्युक्त कर्तव्य-निर्णय सामाजिक का है, लेखक का नहीं। और स्पष्ट शब्दों में, सामाजिक के रूप में लेखक निस्संदेह उपर्युक्त दायित्व से बँधा हुआ है—और उसके निर्वाह में यदि त्रुटि करता है तो नैतिक दृष्टि से अपराधी है, परन्तु लेखक के रूप में उसके ऊपर इस प्रकार का बन्धन नहीं है, लेखक-रूप में उसका दायित्व केवल एक है— निश्छल आत्माभिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्त्व की भी हानि होगी, परन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्य-हीन नहीं हो सकती क्योंकि निश्छलता का सात्त्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा। इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक व्यक्ति है जो सामाजिक दायित्व के प्रति अत्यन्त सचेत है— वैयक्तिक स्वार्थ-साधन को छोड़ समाज-सेवा में ही वह अधिकांश समय व्यतीत करता है। उसका व्यक्तित्व बहुत-कुछ सामाजिक एवं सार्वजनिक हो गया है। समाज के लिए उसने बहुत-कुछ बलिदान किया है, उसकी आवाज़ में शक्ति है। और मान लीजिए, यह व्यक्ति लेखक भी है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उसका साहित्य एक दूसरे व्यक्ति के साहित्य से, जिसके व्यक्तित्व में सामाजिक गुण नहीं हैं, अनिवार्यतः उत्कृष्ट ही होगा। उत्कृष्ट होने के लिए उसमें एक और गुण होना चाहिए—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। आत्माभि-व्यक्ति के दो अंग हैं—एक आत्म और दूसरा उसकी निश्छल अभिव्यक्ति ; इनमें भी निश्छल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभिव्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसके बिना कृति को साहित्य होने का गौरव नहीं मिल सकता। आत्म भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभिव्यक्ति की निश्छलता समतुल्य होने पर आत्म की गरिमा ही सापेक्षित महत्त्व का निर्णय करेगी। वास्तव में महान् साहित्य की सर्जना उसी लेखक के लिए सम्भव है, जिसका आत्म महान् हो। जब तक उसका अहं महान् अर्थात् उन्नत, व्यापक और गम्भीर नहीं है, तब तक उसकी कृति महान् नहीं बन सकती—मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि अहं का उन्नयन, विस्तार और गाम्भीर्य व्यष्टि के वृत्त से निकलकर समष्टि के साथ तादात्म्य करने से बहुत-कुछ सम्भव है। (विश्व-कवियों के जीवन में इस प्रकार का तादात्म्य सदैव रहा है।) परन्तु इस विषय में मेरे दो निवेदन हैं—एक तो यह कि इतना सब कुछ होते हुए भी अभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है। महान् व्यक्तित्व के अभाव में कोई कृति महान् साहित्य नहीं हो सकती, पर निश्छल अभिव्यक्ति के अभाव में तो वह साहित्य ही नहीं रहती, केवल व्यक्तित्व की महत्ता उसे साहित्य का गौरव नहीं दे सकती। दूसरा यह कि व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गाम्भीर्य जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं, और ये महत्तर मूल्य अन्त में बहुत-कुछ समष्टिगत मूल्य ही होंगे, यह ठीक है। परन्तु इसका निर्णय स्थूल दृष्टि से बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) आन्दोलनों को सामने रखकर नहीं करना होगा, वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओं को तोड़कर बहती हुई अखण्ड मानव-चेतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ इस सत्य का तिरस्कार कर सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य पर भी अधकचरे निर्णय देता रहा है, परन्तु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी ही रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएं पूरी हो जाने पर उस अखण्ड मानव-चेतना ने तुरन्त ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है, और उन निर्णयों में उचित संशोधन कर दिया है। 'समय ही साहित्य का सबसे बड़ा आलोचक है,' यह मान्यता उपर्युक्त तथ्य की ही स्पष्ट स्वीकृति है। यहां अखण्ड मानव-चेतना की बात सुनकर शायद आप चौंक उठें, परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यह बड़ा निर्दोष शब्द है, इसके द्वारा मैं किसी आध्यात्मिक तत्त्व की ओर रहस्य-संकेत नहीं कर रहा। एक युग और एक देश की चेतना से भिन्न जो युग-युग और देश-देश की व्यापक चेतना है, उसी से मेरा अभिप्राय है। ऐसी चेतना आध्यात्मिक रहस्य न होकर एक भौतिक तथ्य ही है।

पारिभाषिक शब्दावली की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि एक युग और देश की चेतना का सम्बन्ध राजनीतिक अथवा सामाजिक-नैतिक मूल्यों से है, और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का सम्बन्ध मानवीय मूल्यों से है। इन दोनों में साधारणतः कोई विरोध नहीं है, वास्तव में मानवीय मूल्यों में सामाजिक-नैतिक मूल्यों का अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जायेंगे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य की प्रेरणा

कविता-पाठ समाप्त करके ज्यों ही कवि ने अपना स्थान ग्रहण किया, रस-विमुग्ध सुन्दरी बोल उठी, "इन कविताओं की प्रेरणा तुमको कहां से मिलती है, कवि ?"

कवि ने सुन्दरी के आर्द्र-आयत नयनों की ओर एक बार दृष्टि उठाई, फिर चुप हो गया, कुछ देर प्रतीक्षा करने के वाद सुन्दरी ने प्रश्न को फिर से दुहराया।

इस बार कवि सुन्दरी के नेत्रों में दृष्टि गड़ाये उनकी ओर तब तक देखता रहा जब तक कि उसकी आँखें पूर्णतः वाष्प-धूमिल न हो गईं; लेकिन मुंह से बोला कुछ भी नहीं।

सुन्दरी का कौतूहल और उत्कण्ठा अब और भी बढ़ गई। उसने तीसरी बार फिर उत्तर के लिए आग्रह किया। इस मधुर आग्रह को कवि अब और टाल न सका। बोला, "सुन्दरी, उत्तर तो तुम्हें मेरी इन आँखों ने दे ही दिया। लेकिन शायद तुम उसे समझीं नहीं। तो सुनो : अभी तुमने देखा कि तुम्हारी आँखों को देखते-देखते मेरे मन के गहन स्तरों में सोई हुई वासना-रूप पीड़ा एक साथ द्रवित होकर आँखों में आ गई—मेरी कविता के स्फुरण की ठीक यही कहानी है। सौंदर्य के उद्दीपन से जब जीवन के संचित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं, तभी तो कविता का जन्म होता है। कविता के उद्रेक के लिए सौंदर्य का उद्दीपन अर्थात् आनन्द और अभाव की पीड़ा दोनों का संयोग अनिवार्य है—अभाव की पीड़ा में जब मुझे माधुर्य की अनुभूति होने लगती है, तभी मेरे मानस से कविता की उद्भूति होती है—केवल आनन्द या केवल पीड़ा कविता की सृष्टि नहीं कर सकती। मैं बस इतना ही जानता हूं, इससे अधिक जानने की इच्छा हो तो (सामने बैठे श्वेतजटाश्मश्रु आचार्य की ओर संकेत करते हुए कहा) गुरुदेव की शरण लो।"

सुन्दरी की जिज्ञासा अभी पूर्णतः शांत नहीं हो पाई थी, निदान उसने आचार्य की ओर जिज्ञासु दृष्टि से देखा।

आचार्य ने ईषत् हास्य के साथ कहना शुरू किया : "कवि ने स्वयं अपनी प्रेरणा की जितनी सुन्दर व्याख्या की है. उतनी मेरी शक्ति से बाहर है, परंतु मैं समझता हूं कि शायद कवि की कविता के वाद तुम्हें आचार्य के गद्य की भी आवश्यकता है। अच्छा सुनो, हमारे शास्त्र में काव्य की प्रेरणा का सीधा आख्यान नहीं मिलता। यह तो नहीं माना जा सकता कि भारतीय साहित्यकार उससे सर्वथा अपरिचित था। उदाहरण के लिए कविता के प्रथम स्फुरण से संबद्ध यह जनश्रुति ही इसका अकाट्य प्रमाण है : 'यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।' इसमें काम-मोहित अवस्था में क्रौंच के वध से उत्पन्न करुणा की प्रेरणा स्वीकार की गई है—साधारण वध से उत्पन्न करुणा की नहीं—अर्थात् इस करुणा में काम का अंतःसूत्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा साहित्यकार यह जानता था कि करुणा और काम अर्थात् अभाव और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आनन्द के संयोग से काव्य का जन्म होता है। परंतु फिर भी वैज्ञानिक रूप से भारतीय साहित्य-शास्त्र में केवल काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु की ही चर्चा है। इन दोनों के विवेचन में से ही हमें प्रेरणा-विषयक संकेत ढूंढ़ने होंगे।

काव्य के प्रमुख प्रयोजन दो हैं : श्रोता या पाठक के लिए प्रीति और कवि के लिए कीर्ति—

प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।

प्रीति का अर्थ है आनन्द, जीवन में रस, और श्रोता के लिए यही मुख्य है।

कवि के लिए यश और अर्थ, और इसके साथ ही शिवेतर का क्षय भी काव्य-प्रेरणा का कार्य करता है। इनमें शिवेतर का क्षय तो आज के बेचारे कवि के लिए संभव नहीं है। यह सुन कर कि 'गंगा-लहरी' की रचना से संस्कृत के पंडितराज जगन्नाथ और हिन्दी के पद्माकर का कोढ़ ठीक हो गया था, हमारे एक मित्र ने काफ़ी मनोयोग से अपनी प्रेमिका को पाने के लिए काव्य-रचना की, परंतु आख़िर उन्हें अदालत की कार्यवाही काव्य-रचना की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पड़ी! अर्थ और यश से प्रेरित होकर आज भी लोग लिखते ही हैं, परंतु ये दोनों तो बड़े उथले साधन हैं। किसी कवि को लिखने की साधारण प्रेरणा तो ये दे भी सकते हैं, परंतु रस-सृष्टि करने की प्रेरणा इनमें कहां? यह ठीक है कि बिहारी-जैसे कवियों को एक दोहे के लिए एक मुद्रा का वचन मिला हो, परंतु मुद्रा की प्रेरणा केवल दोहे की रचना-मात्र के लिए ही उसको उत्साहित कर सकी होगी। यही यश के लिए भी कहा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि यश की प्रेरणा अर्थ की प्रेरणा की अपेक्षा सूक्ष्म और आंतरिक है, परंतु फिर भी यश की लालसा और रस-सृजन की प्रवृत्ति दोनों का तादात्म्य कर देना सर्वथा असंगत होगा। काव्य-प्रयोजन के उपरांत काव्य-हेतु में प्रेरणा की व्याख्या खोजने से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता। काव्य के जो तीन हेतु सर्वमान्य हैं—शक्ति, निपुणता और अभ्यास—इनके व्याख्यान में भी संस्कृत के आचार्यों ने प्रेरणा का विवेचन लगभग नहीं के बराबर ही किया है। शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। भामह और भट्टतोत आदि इसे प्रतिभा कहते हैं, अभिनवगुप्त प्रज्ञा। इन तीनों में भी प्रतिभा मुख्य है। प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी और अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा कहा गया है। और स्पष्ट शब्दों में, प्रतिभा मन का वह जन्मांतर्गत संस्कार-विशेष है, जिसके द्वारा कवि अपने वर्ण्य विषय में अलौकिक सौंदर्य का दर्शन कर सशक्त शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। निपुणता या व्युत्पत्ति प्राप्त करने के लिए कवि का अनुभव और ज्ञान विस्तृत होना चाहिए—उसके लिए दर्शन, कला, नीति, कामशास्त्र, इतिहास, राजनीति आदि की अपेक्षा होती है। अभ्यास से तात्पर्य है रचना-अभ्यास का—अलंकार, छन्द, साहित्यशास्त्र के अनुशीलन और प्रयोग का। शास्त्रीय विवेचन से परिणाम वास्तव में यह निकलता है कि हमारे आचार्यों के अनुसार कवि एक व्युत्पन्न प्रतिभावान् व्यक्ति है और उसका कर्म है जीवन के क्षेत्र में से रागात्मक तत्त्वों को संचित कर उनको इस प्रकार संघटित करना कि संघटित होते ही उनमें आप-से-आप रस का संचार हो जाए, जिस प्रकार भूतवादियों के मतानुसार जीव-सृष्टि में होता है। यह कवि-कर्म के बाह्य रूप की व्याख्या है, क्रिया में संलग्न कवि के मानस का विश्लेषण नहीं है।

संस्कृत-शास्त्र के तत्त्ववेत्ता ने जितना परिश्रम रसग्राही पाठक की मनःस्थिति का विश्लेषण करने में किया है, उसका एक सूक्ष्मांश भी रससर्जक के मनोविश्लेषण पर खर्च नहीं किया। उसने यह तो बड़ी सफ़ाई से ढूंढ़ निकाला कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का अभि-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नय या मानसिक चित्र देखकर सहृदय के मन में स्थित वासना-रूप रति उद्‌बुद्ध होकर रस में परिणत हो जाती है, परंतु इसके आगे एक दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य का विश्लेषण उसने विशेष रूप से नहीं किया कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का इतना सशक्त और तीव्र चित्रण, जो सहृदय की वासना को उद्‌बुद्ध कर रस रूप में परिणत कर सके, कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है। यहां उसको काव्य-प्रेरणा का मौलिक विवेचन करने की आवश्यकता पड़ती, और वह निश्चित ही कवि के व्यक्तित्व में उसे ढूंढ़ निकालता। उसके लिए इस परिणाम पर पहुंच जाना कठिन नहीं था कि ऐसा करने के लिए कवि को भी उसी मानसिक स्थिति में से गुज़रना आवश्यक है —और वास्तव में भट्टतोत ने तो कहा भी था कि 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः'; परन्तु विधान-रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया गया। बस, यहीं वह चूक गया और स्थूलतः प्रतिभा-निपुणता आदि में इस प्रश्न का अकाट्य समाधान पाकर अपने विवेचन को अधूरा छोड़ गया। और इसका एक बहुत बड़ा कारण था—वह यह कि भारतीय परंपरा अखंड रूप से काव्य के केवल निर्वैयक्तिक रूप को ही मानती रही— यदि ऐसा न होता तो भट्टनायक या अभिनव-जैसे अतलदर्शी तत्त्वज्ञों के लिए यह समस्या विशेष जटिल नहीं थी।

पश्चिम में काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों में साहित्य की प्रेरक-प्रवृत्ति-विषयक चर्चा मिलती है। पहले साहित्यशास्त्र के पंडितों के सिद्धांतों को लीजिए। वहां के आदि-आचार्य अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य की मूल प्रेरणा कहा है। उनका कथन है कि जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता-पिता आदि की भाषा, व्यवहार आदि का अनुकरण करने के लिए प्रेरित करती है, वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य-रचना की भी प्रेरणा देती है। यह बहुत ही आरंभिक विचार था और आज इसको वाच्यार्थ में प्रायः कोई नहीं स्वीकार करता। साहित्य या कला अनुकरण-मात्र नहीं है, आनन्दपूर्ण सृजन है। अरस्तू ने भी अंत में प्रकारान्तर यही कह दिया है।

दूसरा सिद्धांत मानव के जन्मजात सौंदर्य-प्रेम को, उसकी आत्म-प्रदर्शन और अनुकरण-प्रवृत्ति को साहित्य की मूल प्रेरणा मानता है। मानव-आत्मा ज्ञान के चिर-सौंदर्य से उद्‌भासित है, उसी को वह विभिन्न रूप में व्यक्त करती रहती है, जिनमें सबसे प्रत्यक्ष और सहज रूप है साहित्य एवं कला। सौंदर्यानुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा में आनंद का जो स्रोत आविर्भूत होता है, उसी का उच्छलन कविता है। काव्य-प्रेरणा का यह रहस्यात्मक सिद्धांत पूर्व और पश्चिम में अत्यंत लोकप्रिय और मान्य रहा है। विदेश में कांट का नाम इसके साथ संबद्ध है।

तीसरा प्रमुख सिद्धांत है क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, जिसके अनुसार काव्य शुद्ध सहजानुभूति है। संसार में आकर मानव अपने से बाहर जगत् की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अर्थात् जगत् के संसर्ग से मन में उत्पन्न होने वाली अरूप झंकृतियों को रूप देने के लिए जितने प्रयत्न करता है, काव्य या कला उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा ही मानव-आत्मा को अनात्म की भव्यतम सहजानुभूति होती है। स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है कि मानव-मन में जगत् के नाना पदार्थों के प्रतिक्रिया-रूप अनेक छायाचित्र घूमते रहते हैं, अनुभूति के कुछ विशेष क्षणों में उनको अभिव्यक्त करना उसके स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य हो जाता है। अभिव्यक्ति की यही अनिवार्यता काव्य या कला की जननी है, साहित्य को सृजन की आवश्यकता मानने वाला सिद्धांत इसी मूल सिद्धांत की एक शाखा-मात्र है।

काव्यशास्त्रियों के ये सिद्धान्त बहुत-कुछ संगत और सूक्ष्मान्वेषी होते हुए भी आत्यन्तिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं हैं। वे एकदम मूल तक नहीं पहुंच पाते। यों कहिए कि वे सभी मूल से एक संस्थान आगे से चलते हैं। धुर मूल तक पहुंचने के लिए हमें मनोवैज्ञानिकों की शरण लेनी होगी।

सबसे प्रथम सिद्धांत फ़्रॉयड का है। वह कला या साहित्य को अभुक्त काम की प्रेरणा मानता है। उसके अनुसार काव्य और स्वप्न का एक ही मूल है: हमारा अंतर्मन, हमारी अतृप्त काम-वासना, जो स्वप्न के छाया-चित्रों का सृजन करती है, वही काव्य के भी भाव-चित्रों की जननी है। सिद्धांत इस प्रकार है कि हमारी वासना को यदि प्रत्यक्ष जीवन में तृप्ति नहीं मिलती, तो वह अंतर्मन में जाकर पड़ जाती है और फिर ऐसी अवस्था में जब कि हमारा चेतन मन जागरूक नहीं होता, वह अपने को परितृप्त करने का प्रयत्न करती है। यह अवस्था या तो स्वप्न की अचेतनावस्था है या काव्य-सृजन की अर्ध-चेतनावस्था––तन्मयता की अवस्था है।

काम के दमन से स्वभाव में जो ग्रन्थियां पड़ जाती हैं, उनमें सबसे मुख्य है मातृ-रति की ग्रन्थि, जो न केवल स्वप्न और काव्य के अनेक स्थायी प्रतीकों की वरन् जीवन की अनेक प्रवृत्तियों की भी जननी है। ऑटोरैंक का कथन है कि संसार के साहित्य में जो मूल कथाएं हैं उनका आधार-सम्बन्ध इसी ग्रन्थि के विभिन्न रूपों से है। पूर्व और पश्चिम के पुराणों में तो स्थान-स्थान पर इसकी स्पष्ट स्वीकृति ही है, जैसे––ब्रह्मा और उसकी कन्या की कहानी में। प्रसिद्ध कलाकार लियोनार्दो द विञ्ची का मनोविश्लेषण करने में फ़्रॉयड ने उसके शैशव की ऐसी ही एक फ़ैण्टैसी को अधिक महत्त्व दिया है। विञ्ची ने अपने बचपन की एक विचित्र काल्पनिक धारणा का उल्लेख किया है। उसके मन में कुछ ऐसी धारणा बँध गई थी कि एक बार जब वह पालने में लेटा हुआ था कि एक गृद्ध आकर उसके पास बैठ गया और अपनी पूंछ को बार-बार उसके मुंह में डालने-निकालने लगा। इस कल्पना के आधार पर––अपने प्रतीक-सिद्धान्त के द्वारा फ्रॉयड ने निष्कर्ष निकाला कि उसकी वासना समकामिकता में अभिव्यक्त हुई थी और उसका प्रेम प्रेरक नहीं था, प्रेरित था। इस प्रवृत्ति का मूल कारण यह था कि पिता के अभाव में उसकी मातृ-रति अत्यन्त जागृत हो गई थी जो उसे किसी भी स्त्री की ओर आर्कषित न होने देती थी। 'मोना लीसा' के चित्र में वह इसी मातृ-रति की अभिव्यक्ति देखता है।

फ़्रॉयड का सिद्धान्त उसके जीवन-दर्शन से सम्बन्ध रखता है—वह तो काम को जीवन की ही मूल प्रेरणा मानता है। काम का अस्वस्थ दमन जीवन की विनाशात्मक क्रियाओं में और उसका स्वस्थ संस्कार जीवन की रचनात्मक संस्थाओं में अभिव्यक्त हो रहा है। मानव के सौंदर्य-प्रेम का उसकी काम-वृत्ति से, और हमारी सौंदर्य-भावना का हमारी प्रीति से, सहज संबंध है।

स्वस्थ रूप में, काम का उपभोग न कर जब उसको चिन्तन में परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है; और अस्वस्थ रूप में, जैसा मैंने अभी कहा, काम अभुक्त रहकर साहित्य के मूलवर्ती स्वप्न-चित्रों की सृष्टि करता है। साहित्यशास्त्र का सौंदर्य-प्रेम को काव्य की मूल-प्रेरणा स्वीकार करने वाला दूसरा सिद्धान्त बहुत-कुछ इसी सिद्धान्त के अंतर्गत आ जाता है।

फ़्रॉयड का समसामयिक और शिष्य ऐडलर, जो मानव की चिरन्तन हीनता की भावना को ही जीवन की मूल प्रेरणा मानता है, साहित्य के मूल कीटाणु क्षतिपूर्ति की कामना में खोजता है। उसके अनुसार समस्त साहित्य हमारे जीवनगत अभावों की पूर्ति है: जो हमें जीवन में अप्राप्त है, उसी को हम कल्पना में खोजते हैं। जीवन की क्षणिकता, जीवन के अशिव और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसकी कुरूपताओं से हार मानकर ही तो आर्ष कवि ने सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना की थी। वास्तव में हमारा आदर्श हमारी हीनता का ही तो प्रतिक्रिया रूप है। जीवन में त्रिविध दुःख की अनिवार्यता ही ब्रह्मानन्द-कल्पना की जननी है। सामयिक जीवन में गो-ब्राह्मण का हनन करने वाले मुसलमानों के विरुद्ध विवश होकर ही तुलसी ने गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, दुष्ट-दलन राम की कल्पना की थी। प्रत्यक्ष जीवन में सौंदर्य-उपभोग से वंचित रहकर ही तो छायावादी कवि ने अतीन्द्रिय सौंदर्य के चित्र आँके। पलायन का चिर-परिचित सिद्धांत इसी का एक प्रस्फुटन है।

उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों को आंशिक सत्य मानते हुए एक तीसरे मनोविज्ञानी युंग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। उसके अनुसार मानव के सम्पूर्ण प्रयत्न अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए ही होते हैं। पुत्र, वित्त और लोक की एषणाएं जीवनेच्छा की ही शाखाएं हैं। साहित्य भी इसी उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त किया हुआ एक प्रयत्न है। जीवन अथवा अपने अस्तित्व—जीवन की गति—को अक्षुण्ण रखने के लिए यह ज़रूरी है कि हम अपने को अभिव्यक्त करते रहें। वैसे तो हमारी सभी क्रियाएं हमारी प्राण-चेतना की अभिव्यक्तियां हैं, परन्तु साहित्य उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है, अन्य क्रियाओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और आन्तरिक। इस प्रकार साहित्यशास्त्र का अभिव्यंजनावादी सिद्धांत युंग के सिद्धांत में ही अंतर्भूत हो जाता है।"

इतना कहकर आचार्य मौन हो गए।

"पौरस्त्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों का विवेचन सुनकर मैं धन्य हो गई, महाराज!" सुन्दरी ने अपनी सहज कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा।

"परन्तु तुम्हारी आँखों के प्रश्नवाचक संकेत तो अब भी कह रहे हैं कि जिज्ञासा अशेष नहीं हुई और तुम अभी मेरा अपना मन्तव्य सुनना चाहती हो।"

"गुरुदेव ने मेरा आशय ठीक ही समझा है।" सुन्दरी ने उत्तर दिया।

"अच्छा, मेरा अपना मन्तव्य सुनो। यह तो मैं तुमसे पहले ही कह दूं कि मेरा मन्तव्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र मन्तव्य नहीं है—उपर्युक्त सिद्धांतों से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं है और न हो ही सकता है। मैं जीवन को अहं का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूं। इस संघर्ष की सफलता जीवन का सुख है और विफलता दुःख। साहित्य इसी संघर्ष के मानस-रूप की अभिव्यक्ति है। मानस-रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें दुःख का अभाव होता है, क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानस-रूप धारण करते-करते अपना दंशन खो देती है। मैंने भी कविता लिखी है—मैं जब स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने से पूछता हूं कि मैं क्यों लिखता हूं, तो इसका उत्तर यही पाता हूं कि अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करना मेरे जीवन के लिए अनिवार्य है; और मेरा यह व्यक्तित्व मेरे राग-द्वेषों का, जिनमें से अधिकांश काम-चेतना के प्रोद्भास हैं, संश्लिष्ट समूह है। मेरे इन राग-द्वेषों में भी उन्हीं को अभिव्यक्त करने की उत्कट आवश्यकता होती है, जिनका सम्बन्ध अभाव से है। क्योंकि अभाव में पुकारने की प्रेरणा होती है, पूर्ति में शान्त रहने की। इसका तात्पर्य यह है कि मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूं; और चूंकि आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझता हूं।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं हो सकती।

कल्पना का एक मुख्य कार्य है रिक्त स्थानों का भरना अर्थात् विषमताओं को एकसार करना। जगत् में हम देखते हैं कि वस्तुएं पूर्ण नहीं हैं, उनमें न्यूनताएं एवं दोष हैं अर्थात् उनमें बीच-बीच में स्थान रिक्त रह गए हैं। बस, हमारी कल्पना आप-ही-आप उनको भरने का प्रयत्न करने लगती है। ऐसा करने के लिए उसको उन स्थानों के रिक्त होने का कारण खोजना पड़ता है और वह देखती है कि वास्तव में उन वस्तुओं के विभक्त अंगों में परस्पर सम्बन्ध था, जो विशेष व्यतिक्रमों से अब टूट गया है। इस प्रकार हमारी कल्पना उन लुप्त, परन्तु संगत, संबंधों का पुनःस्थापन करके समस्त वस्तु को एकता प्रदान कर देती है। इसी को रूप-विधान कहते हैं। काव्यगत टेकनीक में कल्पना का इसी अर्थ में प्रयोग होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि ऐसा जान-बूझकर ही किया जाय। अनजाने में भी हमारी कल्पना प्रायः यह कार्य करती रहती है।

अब कल्पना का सबसे अन्तिम एवं सशक्त प्रयोग रह जाता है, जिसका अंगरेज़ कवि-समालोचक कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ के काव्य के प्रसंग में इतने सबल शब्दों में विवेचन किया है: "इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए ही मैंने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असम्बद्ध गुणों का एक-दूसरे के साथ सन्तुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एकरूपता का अनेक-रूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम संयम अथवा अनुक्रम के साथ अथवा चिर-जागृत विवेक एवं स्वस्थ आत्म-संयम का दुर्गम उत्साह तथा गंभीर भावुकता के साथ···इसी के बल पर कवि अनेकता में एकता ढूंढ़ निकालता है और विभिन्न विचारों एवं भावों को एक विशेष विचार अथवा भाव से अन्वित कर देता है।" शेक्सपियर ने इसे ही स्वस्थ कल्पना कहा है। कल्पना का यह रूप कवि की सबसे बड़ी गौरव-कसौटी है, क्योंकि इस प्रकार के समन्वय की क्षमता उन्हीं विश्वदर्शी कलाकारों में हो सकती है जिनके हृदय विशाल हों, जो जगत् की विभिन्नताओं को पचा सकें। खल और सन्त समाज की एक श्वास में वन्दना करने वाला तुलसीदास, विश्व की विषमताओं को एकरस होकर ग्रहण करने वाला शेक्सपियर, शैतान के विद्रोह और ईश्वर के न्याय पर एक साथ मुग्ध होने वाला मिल्टन, राम का अनन्य भक्त होते हुए भी उनके विरोधियों के प्रति सहानुभूति रखने वाला मैथिलीशरण अथवा इस कोटि का कोई अन्य कवि ही इतना ऊंचा उठ सकता है। कल्पना का यह प्रयोग समस्त काव्य में ही नहीं एक वाक्य तक में सफलता से हो सकता है। अंगरेज़ी के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक रिचर्ड्स ने इसी दृष्टि से ट्रैजेडी को काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण स्वरूप माना है, क्योंकि उसमें भय (जो हमें पात्र से दूर हटाता है) और करुणा (जो पात्र के प्रति आकृष्ट करती है) का पूर्ण सामंजस्य होता है।

अंगरेज़ी में कल्पना के लिए एक और शब्द प्रयुक्त होता है 'फैंसी', जिसका अर्थ साधारणतः कल्पना की ललित क्रीड़ा समझा जाता है। कॉलरिज ने उसका जो अर्थ किया है—स्मरण का एक प्रकार—वह हमारी समझ में नहीं आता और न वह प्रचलित ही है।

कल्पना के ये ही प्रमुख रूप हैं, उसके विभिन्न प्रयोग इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु फिर भी उनकी पृथक् सीमाओं का निर्देश करना साहित्य के विद्यार्थी के लिए उतना ही कठिन है जितना दार्शनिक के लिए निश्चयपूर्वक यह कहना कि कल्पना केवल मन की ही क्रिया है अथवा मन, बुद्धि और चित तीनों की।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कविता क्या है ?

कविता क्या है ? यह एक जटिल प्रश्न है। अनेक आलोचक यह मानते हैं कि कविता की परिभाषा और स्वरूप-विवेचन संभव नहीं है; परन्तु मेरा मन इतनी जल्दी हार मानने को तैयार नहीं है। यों तो जीवन के सभी सूक्ष्म और गहन सत्य सरलता से परिभाषा का बंधन स्वीकार नहीं करते; फिर भी जिसकी अनुभूति हो सकती है उसके विवेचन को मैं असंभव नहीं मानता। अपूर्ण वह अवश्य रहेगा; परन्तु अपूर्णता तो भाषा की सहज परिसीमा है, वह तो किसी भी अनुभव की अभिव्यक्ति पर घट सकती है। फिर कविता की परिभाषा के विषय में ही इतनी निराशा क्यों !

मैं एक उदाहरण लेकर इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करूंगा—

स्याम गौर किमि कहहुं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी।।

तुलसी की यह अर्धाली कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है, इसमें संदेह नहीं हो सकता; शताब्दियों से सहृदय-समाज इसके कवित्व की प्रशस्ति करता आया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध आदि समर्थ प्रमाता मुक्तकण्ठ से इसका यशोगान कर चुके हैं।

राम और लक्ष्मण के सौन्दर्य से प्रभावित सीता की सखी की यह सहज भावाभिव्यक्ति है : श्यामांग राम और गौर-वर्ण लक्ष्मण के सौन्दर्य का वर्णन किस प्रकार संभव हो सकता है ! क्योंकि वर्णना की माध्यम-इन्द्रिय वाणी नेत्रविहीन है और सौन्दर्य-दर्शन के माध्यम नेत्रों के वाणी नहीं है। अर्थात् नेत्र उनके सौन्दर्य का आस्वाद तो कर सकते हैं किन्तु उसका वर्णन नहीं कर सकते और वाणी उस सौन्दर्य का वर्णन करने में तो समर्थ है किन्तु उसका वास्तविक आस्वाद वह नहीं कर सकती। इसका मूल भाव है सौन्दर्य के प्रति प्रबल सात्त्विक आकर्षण—इन शब्दों में पुरुष के सौन्दर्य के प्रति नारी का सहज उन्मुखी भाव व्यंजित है। इस उन्मुखी भाव में वासना का कर्दम नहीं है, अर्थात् वैयक्तिक इच्छा और उसकी पूर्ति के फलस्वरूप ऐन्द्रिय-मानसिक सुख की लिप्सा का मिश्रण नहीं है। अत: यहां सात्त्विक सौन्दर्य-चेतना की व्यंजना है। औचित्य की दृष्टि से यह व्यंजना सर्वथा स्तुत्य है। राम और लक्ष्मण अभी पर-पुरुष हैं—कवि की योजना के अनुसार वे सीता और उर्मिला के वरेण्य हैं—इस दृष्टि से सखी की भाव-व्यंजना में वासना (वैयक्तिक इच्छा) का समावेश किसी प्रकार भी उचित नहीं था। कवि को तो यहां सीता के पूर्वराग का उद्दीपन ही अभीष्ट है। अतएव सखी की इस उक्ति में वह केवल विस्मय और उल्लास से युक्त तीव्र आकर्षण की ही व्यंजना करता है। सारांश यह है कि प्रस्तुत सूक्ति में 'औचित्य' द्वारा अनुमोदित अर्थात् नैतिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध, जीवन के अत्यन्त मधुर भाव, किशोर वय के आकर्षण की अभिव्यंजना है।

अब अभिव्यंजना की दृष्टि से परीक्षा कीजिये। प्रस्तुत प्रसंग में कवि का साध्य है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सौंदर्य द्वारा उत्पन्न प्रभाव का संप्रेषण। सौंदर्य का प्रभाव निश्चय ही एक अमूर्त तथा मिश्र प्रतिक्रिया है जिसमें रति, उल्लास, क्रीड़ा आदि अनेक भावों का समन्वय है। वक्ता की 'मुग्धा' अवस्था के कारण 'अभिव्यंजना' और भी कठिन हो जाती है। अतः कवि ने वर्णना की चेष्टा ही नहीं की—'किमि कहहुं बखानी' के द्वारा अर्थात् वर्णन की असमर्थता की स्वीकृति के द्वारा सौंदर्य की अनिर्वचनीयता की व्यंजना की है। यह अनिर्वचनीयता 'अतिशय' की द्योतक है, किंतु अनिर्वचनीय होते हुए भी वह अनुभवातीत नहीं है —वास्तव में वक्ता को उसकी अत्यंत प्रबल अनुभूति हो रही है। अर्थात् यह सौंदर्य इतनी तीव्र अनुभूति उत्पन्न करता है कि उसको व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं हैं। इस प्रकार कवि सौंदर्य की सूक्ष्म किंतु तीव्र अनुभूति का वर्णन न कर, वक्ता की असमर्थता द्वारा उसकी व्यंजना करता है। यह वर्णन की वक्र-शैली है जिसे कुंतक ने 'संवृति-वक्रता' के नाम से अभिहित किया है। दूसरे चरण में असमर्थता का कारण दिया गया है—वाणी के नेत्र नहीं हैं और नेत्रों के वाणी नहीं है; अलंकारशास्त्र में इसका नाम अर्थान्तरन्यास है। इस उक्ति में लक्षणा का चमत्कार है; क्योंकि शरीर-हीन वाणी में नेत्रों की और इसी प्रकार नेत्रों में वाक्-शक्ति की कल्पना सामान्यतः निराधार है। अतः लक्षणा के आधार पर ही यह उक्ति सार्थक बनती है। इसके अतिरिक्त यहां प्रच्छन्न विरोधाभास भी विद्यमान है—प्रत्यक्ष रूप से यह अत्यंत स्पष्ट तथ्य है, किंतु लक्षणा का आधार इसमें तर्क की शक्ति उत्पन्न कर देता है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच यह विरोधाभास निश्चय ही चमत्कार का कारण है।

इसी प्रकार आरम्भ के दोनों शब्दों—स्याम और गौर—में भी चमत्कार विद्यमान है: ध्वनिवादी जिसे पर्यायध्वनि, वक्रोक्तिवादी विशेषण-वक्रता और अलंकारवादी किसी लक्षणा-मूलक अलंकार का नाम दे सकते हैं।

अब नाद-सौंदर्य की दृष्टि से लीजिये। उद्धृत अर्धाली में अत्यंत प्रसन्न पदावली का प्रयोग है जिसमें सूक्ष्म वर्णमैत्री के नाद-सौंदर्य की कोमल अनुगूंज है—कवि ने पवर्ग और कवर्ग के वर्णों की आवृत्ति और दूसरे चरण में 'न' की आवृत्ति के द्वारा सहज वर्ण-सामंजस्य पर आश्रित शब्द-संगीत का सृजन किया है। उधर लघुमात्रिक चौपाई छंद मुग्धा के मन की इस भाव-तरंग का अत्यंत उपयुक्त माध्यम है।

अब प्रश्न यह है कि इनमें से किस तत्त्व का नाम कविता है ? मूल भाव अर्थात् सौंदर्य-चेतना का ? उक्ति-वक्रता अथवा अलंकार के चमत्कार का ? अथवा वर्णमैत्री का ? या फिर छंद-संगीत का ? उत्तर भी कठिन नहीं है। मूल भाव कविता नहीं है—यहां संयोग से यह भाव सौंदर्यानुभूति है, सामान्यतः कुछ भी हो सकता है। किंतु भाव कविता नहीं है; जीवन में सब मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी भाव की अनुभूति करते हैं, पर वह कविता तो नहीं कही जा सकती। न जाने कितने स्त्री-पुरुष, और तिर्यक् योनि में भी न जाने कितने नर-मादा, एक-दूसरे के यौवन-सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होते हैं; किंतु इस आकर्षण को कविता तो नहीं कहा जा सकता।

तो क्या उक्ति-वक्रता कविता है ? अर्थात् क्या सौंदर्य के इस अनुभव को विदग्ध रीति से शब्दबद्ध करना कविता है ? नहीं; क्योंकि अपने नित्यप्रति के व्यवहार में हम अपने आशय को न जाने कितनी बार अनेक वचन-भंगिमाओं के द्वारा व्यक्त करते रहते हैं। वह तो कविता नहीं है। क्या अलंकार का चमत्कार—'नयन' और 'वाणी' का लाक्षणिक प्रयोग, अथवा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सूक्ष्म विरोधाभास कविता है ? यहाँ कतिपय काव्य-रसिक तर्क-वितर्क कर सकते हैं। किंतु मेरा स्पष्ट मत है—'नहीं', क्योंकि बोलचाल में निरंतर हम न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाने मुहावरों के रूप में कितने लाक्षणिक प्रयोग करते रहते हैं। विरोधाभास का चमत्कार भी सभा-चतुर व्यक्तियों के लिए साधारण चमत्कार है। यह सब तो कविता नहीं है। इसी प्रकार सामान्य के द्वारा विशेष के कल्पनात्मक समर्थन को भी कविता कैसे कहा जाय! नवीन आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में उक्ति-वक्रता, लाक्षणिक प्रयोग, अलंकार-चमत्कार आदि में कल्पना का वैभव है। अतएव सारतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार केवल भाव कविता नहीं है, उसी प्रकार केवल कल्पना भी कविता नहीं है।

अब रह जाता है संगीत-तत्त्व—वर्ण-संगीत और लय-संगीत। वह भी निश्चय ही कविता नहीं है, क्योंकि वर्ण-संगीत और लय-संगीत दोनों ही निरर्थक पदावली में भी संभव हैं।

तो फिर वास्तव में कविता क्या है? इन सभी तत्त्वों का समन्वय कविता है। यह समस्त अर्धाली ही कविता है। सौंदर्य-चेतना कविता नहीं है, उक्ति-वक्रता कविता नहीं है, अर्थान्तरन्यास अलंकार कविता नहीं है, वर्ण-संगीत कविता नहीं है, चौपाई की लय कविता नहीं है। इन सबका समंजित रूप ही कविता है—अर्थात् रमणीय भाव, उक्ति-वैचित्र्य और वर्ण-लय-संगीत तीनों ही मिलकर कविता का रूप धारण करते हैं। अब फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता के लिए इन तीनों की स्थिति अनिवार्य है? क्या इनमें से किसी एक का अभाव कविता के अस्तित्व में बाधक होगा? उदाहरण के लिए, क्या बिना रमणीय भाव-तत्त्व के कविता नहीं हो सकती? इसका उत्तर देने से पूर्व रमणीय शब्द का आशय स्पष्ट करना आवश्यक है।—रमणीय का अर्थ केवल मधुर नहीं है—कोई भी भाव, जिसमें हमारे मन को रमाने की शक्ति हो, रमणीय है। इसी दृष्टि से क्रोध, ग्लानि, शोक आदि भावों के भी विशेष रूप रमणीय हो सकते हैं, काव्य में होते ही हैं। मैं यह कहना चाहता हूं कि एक तो केवल प्रेम, श्रद्धा, विस्मय आदि सुखद भाव ही रमणीय नहीं हैं; शोक, ग्लानि, अमर्ष आदि अप्रिय भाव भी रमणीय हो सकते हैं। दूसरे, भावों के सभी रूप रमणीय नहीं होते; शृंगार जैसे मधुरतम भाव के भी अनेक रूप सर्वथा अरमणीय और अकाव्योचित हो सकते हैं, होते हैं। जीवन की इन अनुभूतियों के वे ही रूप रमणीय होते हैं जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके, जिनमें सहृदय की अन्तर्वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति हो। भाव की रमणीयता इसी का नाम है। तो क्या इस रमणीय भाव-तत्त्व के अभाव में कविता नहीं हो सकती? मेरा स्पष्ट उत्तर है—नहीं; इसके अभाव में जो चमत्कार आपको मिल सकता है वह बौद्धिक चमत्कार ही हो सकता है, जैसे पहेली के समाधान आदि में मिलता है। तथाकथित चित्रकाव्य में इसी की उपलब्धि होती है। बौद्धिक चमत्कार कविता का धर्म नहीं है अतः जिस उक्ति से केवल बौद्धिक चमत्कार प्राप्त होता है वह कविता नहीं। अब दूसरा तत्त्व लीजिए—उक्ति-वैचित्र्य। क्या उक्ति-वैचित्र्य के बिना कविता हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर के विषय में बड़ा मतभेद है। आचार्य शुक्ल जैसे रसज्ञ आचार्य का दृढ़ मत है कि हां, हो सकती है। प्राचीन रसवादी आचार्यों का इस विषय में यही मत था—कदाचित् शुक्ल जी की यही धारणा है। परंतु मुझे संदेह है: आनंदवर्धन आदि रसध्वनिवादी तो ध्वनि के साथ कल्पना की अनिवार्यता मानकर काव्योक्ति में वैचित्र्य की स्थिति निश्चित रूप से स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि कल्पना के योग का नाम ही तो वैचित्र्य है। शुक्ल जी ने भी अनेक प्रसंगों में इस भाव-प्रेरित वक्रता का यशोगान किया है; किन्तु अपने पूर्ववर्ती काव्य के अतिशयचमत्कारवाद से क्षुब्ध होकर सिद्धांत रूप में वे उसका निषेध कर देते हैं। मुझे खेद है कि आचार्य शुक्ल की यह धारणा मैं स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"तो इसका अर्थ यह हुआ गुरुदेव, कि प्रत्येक व्यक्ति साहित्य की रचना करता है ?"

" 'हां' भी और 'नहीं' भी । 'हां' इसलिए कि अपने जीवन के विशिष्ट क्षणों में प्रत्येक व्यक्ति अवश्य साहित्य की सृष्टि करता है, चाहे वह कोई स्थिर आकार धारण करके हमारे सामने न आए; और 'नहीं' इसलिए कि रूढ़ अर्थ में जिसे साहित्य कहते हैं वह साधारण व्यक्तित्व की साधारण अभिव्यक्ति नहीं है, विशेष व्यक्तित्व की विशिष्ट अभिव्यक्ति ही है। विशिष्ट व्यक्तित्व का अर्थ उस व्यक्ति से है जिसके राग-द्वेष असाधारण रूप से इतने तीव्र हों कि उसके आत्म और अनात्म के बीच होने वाला संघर्ष असाधारणतः प्रखर हो। ऐसा ही व्यक्ति प्रतिभावान् कहलाता है—जिस व्यक्ति के अहं और वातावरण में या प्रवृत्ति और कर्तव्य में अथवा फ्रॉयड की शब्दावली में अन्तश्चेतन और अधि-चेतन के बीच जितना ही उत्कट संघर्ष होगा, उसकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रखर होगी और उतनी ही प्रखर उसकी सृजन की प्रेरणा भी।

इस प्रकार संक्षेप में मेरे निष्कर्ष ये हैं :

१. काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है।

२. यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जान-बूझकर प्राप्त नहीं की जा सकती।

३. हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है, उनमें काम-वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है, और चूंकि ललित साहित्य मूलतः रचनात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य में कल्पना का उपयोग

कल्पना शब्द क्लृप् धातु से बना है, जिसका अर्थ है (करने की) सामर्थ्य रखना : सृजन करना—'यथापूर्वमकल्पयत'।

विदेश के साहित्यशास्त्र में कल्पना का बड़ा गौरव है। काव्य के चार प्रमुख तत्त्वों में सभी ने उसका स्थान सर्वप्रमुख माना है। संस्कृत के रसशास्त्र में कल्पना का पृथक् रूप से विवेचन नहीं मिलता, यद्यपि उसकी सत्ता सर्वत्र स्वीकार की गई है।

भारतीय दर्शन के अनुसार अंतःकरण के चार अंग हैं—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। यद्यपि इन चारों की परिधियां मिली-जुली हैं, फिर भी इनके धर्मों का स्पष्ट पार्थक्य भी निर्दिष्ट है। मन को न्याय में संकल्प-विकल्पात्मक कहा है—'संकल्पविकल्पात्मकं मनः'। सब प्रकार के संकल्प-विकल्पों का माध्यम हमारा मन ही है। संकल्प और विकल्प, ये शब्द कल्पना के सगोत्रीय अवश्य हैं यद्यपि इनका सीधा संबंध उससे नहीं है। संकल्प का तात्पर्य अनुभूत वस्तु से संबद्ध पहली मानसिक धारणाओं से है—विकल्प उनकी अनुयोगी अथवा प्रतियोगी धारणायें हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ज्ञान (परिज्ञान) से जो हमारे अन्तःकरण पर प्रभाव-प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उनका मन ही समीकरण करके उन्हें बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है। "यही मन वकील के सदृश कोई बात ऐसी है (संकल्प) अथवा इसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय देने के लिए पेश करता है। इसीलिए इसे 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किए कल्पना करने वाली इन्द्रिय कहा गया है।"—ऐसा 'गीता-रहस्य' में आता है; और यही पश्चिमी दार्शनिकों के मत से कल्पना का भी सबसे साधारण और पहला धर्म है।

इस प्रकार मन ही कल्पना का आधार सिद्ध होता है। इसी विवेचन को कुछ और स्पष्ट करते हुए रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं : "दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पांच अवस्थाएं मानी हैं : परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान। सबसे पहले हमें वाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते हैं, तब हमारे नेत्रों के द्वारा उसका प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है···इस प्रकार के ज्ञान को 'परिज्ञान' कहते हैं। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है तो, पीछे से आवश्यकता पड़ने पर 'स्मरण' शक्ति की सहायता से उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं···मान लीजिए कि उक्त मनुष्य एक अंगरेज है। हमने एक संन्यासी को भी देखा है और हमें उस संन्यासी के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रों के रंग का स्मरण है। अब हम चाहें तो अपने मन में उस अंगरेज का सूट-बूट छीनकर उसे संन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अंगरेज़ संन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है···मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा संचित अनुभवों को विभक्त करके और फिर उनके पृथक्-पृथक् भागों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक ऐसे नवीन व्यक्ति की रचना कर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ली, जिसका अस्तित्व बाह्य जगत् में नहीं है। मन की इस क्रिया को कल्पना कहते हैं।" एक प्रकार से, अचेतन दशा में जो स्वप्नावस्था है, वही चेतन दशा में कल्पनावस्था समझनी चाहिए।

यह तो रहा कल्पना का तत्त्व-दृष्टि से विवेचन। रस-दृष्टि से विवेचन करते समय हमारा रसशास्त्र कुछ अधिक सहायता नहीं देता। यह बात नहीं कि वह कल्पना का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। वास्तव में उसकी सत्ता के बिना तो कोई काव्यशास्त्र एक पग आगे नहीं बढ़ सकता। अन्तर केवल इतना ही है कि विदेश में उसे काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना है, और यहां अनिवार्य उपकरण। काव्य के अंग-प्रत्यंग में कल्पना ओत-प्रोत है— उसके बिना काव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं—इसी कारण कदाचित् उसका पृथक् निर्देश अनावश्यक समझा गया हो। संस्कृत अलंकारशास्त्र का 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति'-विषयक वाद-विवाद मेरे कथन की पुष्टि करेगा। चित्त को चमत्कृत करने की जिस शक्ति का उल्लेख हमारे यहां स्थान-स्थान पर मिलता है, यह और कुछ नहीं, शब्द-भेद से काव्य का वही गुण है, जिसे अंगरेज़ आलोचक एडीसन ने कल्पना का प्रसादन कहा है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य की आत्मा 'ध्वनि' का आधार कल्पना के सिवाय और क्या हो सकता है ? व्यंजना शत-प्रतिशत कल्पना के आश्रित है। 'सूर्यास्त हो गया।'—व्यंजना का यह उदाहरण रसशास्त्रियों में बहुत प्रसिद्ध है। इसको सुनते ही प्रत्येक श्रोता अपने अनुकूल अर्थ निकाल लेगा : ग्वाला घर लौटने का, विद्यार्थी सन्ध्या-वन्दन करने का, अभिसारिका संकेत-स्थल की ओर प्रस्थान करने का···इत्यादि। मन की जिस शक्ति द्वारा यह अर्थ-ग्रहण सम्भव है, वही वास्तव में कल्पना है। इसी प्रकार गुणीभूतव्यंग्य-काव्य में भी कल्पना का आधार निश्चित है।

कल्पना को साधारणतः प्रत्यक्ष अनुभव का विरोधी गुण समझा जाता है—और एक निर्दिष्ट सीमा तक, स्थूल रूप में यह सत्य भी है। कल्पित और सत्य में—घटित के अर्थ में—इसी दृष्टि से पार्थक्य भी किया जाता है। उदाहरण के लिए 'नाट्यशास्त्र' कहता है कि नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक, सत्य अथवा घटित, और प्रकरण की कल्पित, काल्पनिक होनी चाहिए। कपोल-कल्पित आदि शब्दों का प्रयोग भी इसी अर्थ से संबंध रखता है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कल्पना प्रत्यक्ष के सर्वथा अनाश्रित नहीं हो सकती। हम प्रायः उस वस्तु की कल्पना कर ही नहीं सकते जिसके समस्त स्वरूप का अथवा पृथक् अवयवों का हमने प्रत्यक्षीकरण न किया हो। इसीलिए तो कल्पना की तुलना उस पक्षी से की गई है जो सुदूर आकाश में उड़ता हुआ भी पृथ्वी पर दृष्टि बांधे रहता है।

कल्पना के स्वरूप की थोड़ी-बहुत व्याख्या करने के उपरान्त, अब उसके काव्यगत विभिन्न प्रयोगों का विवेचन करना संगत होगा। अंगरेज़ी आलोचक कॉलरिज और रिचर्ड्स ने इन रूपों का बड़ा स्वच्छ विवेचन किया है।

सबसे पहले तो उसका प्रयोग मन पर पड़े हुए प्रत्यक्ष पदार्थ-चित्रों से संबंध रखता है। प्रत्यक्ष जगत् में हम जो-कुछ देखते या सुनते हैं उसके विषय में हमारे मन में अनेक भाव-तरंगें अनायास ही उठने लगती हैं—मन इनको समवेत करके चित्रों के रूप में परिणत कर देता है। यह मन की वही प्राथमिक क्रिया है जिसका विवेचन तिलक महाराज ने अपने 'गीता-रहस्य' में किया है। काव्य की दृष्टि से इसका अधिक मूल्य नहीं, यद्यपि स्थूल वस्तु-दर्शन में इसी का प्रयोग होता है। इस युग की टेकनीक में, सम्भव है, इसका मूल्य बढ़ जाए, परन्तु साधारणतः मन इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह उस चित्र को अपने अनुरूप गढ़ना चाहता है और इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसमें अपनी रुचि के अनुसार काट-छांट करता रहता है। इसी को विक्टर कज़िन ने 'अनजाने में प्रकृति की आलोचना' कहा है। पश्चिमी साहित्यशास्त्र में मन का यह कार्य आदर्शीकरण के नाम से प्रसिद्ध है। यह आप-ही-आप बिना किसी प्रयत्न के होता रहता है और काव्य में तो प्रयत्नपूर्वक भी इसका बचाव नहीं हो सकता। हां, भाव-प्रधान रचनाओं में इसका उपयोग मुख्य और वस्तु-प्रधान कृतियों में अपेक्षाकृत गौण होता है। आगे चलकर भावना-विशेष पर केन्द्रित होकर कल्पना का यही प्रयोग प्रतीकों का सृजन करने में समर्थ होता है।

कल्पना का दूसरा प्रयोग अलंकारों—अप्रस्तुतविधान—में किया जाता है। साम्य और वैषम्यमूलक जितने अलंकार हैं उनका प्रधान साधन कल्पना ही है। वस्तु और भाव के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए कल्पना का योग अनिवार्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्यमूलक अलंकारों में साम्य की स्थापना और विरोध, विषम, विभावना आदि वैषम्यमूलक प्रयोगों में वैषम्य की धारणा कल्पना के आश्रय से की जाती है। अतिशयोक्ति में भी यही बात है। साम्य में समान-धर्मा वस्तुओं का, वैषम्य में विपरीत-धर्मा वस्तुओं का, और अतिशयोक्ति में दूरस्थित वस्तुओं का समीकरण किया जाता है।

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रति लट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर वक्ष पर विपुल।
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएं हों ज्यों कहीं पार।

अनुपात का ध्यान न होने से यही समीकरण विचित्र तमाशे खड़े कर देता है। संस्कृत-हिन्दी रीति-साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। फ़ारसी और उर्दू में भी इसी तरह तख़ैयुल के साथ भरपूर खिलवाड़ हुई है। पन्त की 'स्याही की बूंद' कविता पेश की जा सकती है—

गोल तारा-सा नभ से कूद !

यहां 'बूंद' में और 'तारे' में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है—परन्तु अनुपात को सर्वथा भुलाकर !

कल्पना का तीसरा प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है। किसी सीधे-सादे व्यक्ति को यह कहते हुए सुनकर कि मैं तो अमुक चित्र अथवा मूर्ति अथवा कविता में कोई विशेषता नहीं देखता, हम प्रायः कह उठते हैं कि तुम्हारी कल्पना तो निर्धन है। यहां कल्पना से तात्पर्य कलाकार की मानसिक अवस्था का अनुभव करने की क्षमता का है। शब्द-शक्ति लक्षणा का संबंध कल्पना के इसी अर्थ से है। यदि कलाकार अपनी मनोदशा को प्रेषणीय नहीं बना सकता तो कलाकार में कल्पना की कमी है; और अगर पाठक, श्रोता अथवा दर्शक उस मनोदशा को ग्रहण करने में मन्थर है तो यह उसकी कल्पना की हीनता कही जाएगी। यही कारण है कि भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों को कल्पनाहीन पाठक सरलता से नहीं समझ सकता।

इसके अतिरिक्त कल्पना का प्रयोग होता है आविष्कार के अर्थ में। इसी दृष्टि से वैज्ञानिक आविष्कर्ताओं को उत्कट कल्पनाशील कहा जाता है। काव्य में इस प्रकार का प्रयोग अद्भुत दृश्यों के चित्र में, असम्भाव्य घटनाओं के विधान में, अपार्थिव स्त्री-पुरुषों के सृजन में किया जाता है। हिन्दी का उपन्यास 'चन्द्रकान्ता संतति' इसका अमर उदाहरण है। यहां कल्पना दूर की कौड़ियों को इकट्ठा तो कर देती है, परन्तु सम्यक् समन्वय नहीं कर सकती। इसीलिए उनमें भराव नहीं आ सकता। और यही कारण है कि इस प्रकार की कृतियों से हमारी मनस्तुष्टि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सामान्य अनुभव का विषय है।—अतः काव्यगत भाव लौकिक भाव से भिन्न है—यह सिद्ध करने के लिए विशेष युक्ति-प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

लौकिक भाव या तो स्वगत होता है या परगत—अर्थात् या तो वह स्वानुभव-रूप होता है या दूसरे के अनुभव की प्रतिक्रिया-रूप होता है। स्वानुभव भी दो प्रकार का हो सकता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। कलानुभूति प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, यह हम अभी सिद्ध कर चुके हैं। तो फिर क्या यह परोक्ष अनुभव है? परोक्ष से अभिप्राय ऐसे अनुभव से है जो आलंबन के अनुपस्थित होने पर भी पूर्वानुभव के आधार पर हमारी चेतना में उद्बुद्ध हो जाता है। सामान्यतः वह किसी प्रत्यक्ष पूर्वानुभव की स्मृति रूप होता है। कलानुभूति किसी प्रत्यक्ष लौकिक अनुभव की स्मृति नहीं है क्योंकि स्मृति भी तो अनिवार्यतः व्यक्ति-संसर्गों से युक्त होती है; वह मूल अनुभव के स्वरूप के अनुसार ही सुखात्मक अथवा दुःखात्मक होती है। उदाहरण के लिए संयोग की स्मृति सुखद और वियोग की दुःखमय होती है—समय की दूरी अथवा अनुभव की परोक्षता उसके स्वरूप को एकदम नहीं बदल सकती। उसकी तीव्रता बहुत कम हो जाती है और दंश का भी बहुत-कुछ परिहार हो जाता है, फिर भी वियोग की स्मृति में दुःख का अंश तो रहता ही है। अतः कलानुभूति स्वगत अनुभव नहीं है—न प्रत्यक्ष और न परोक्ष। एक दृष्टान्त लीजिए: 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के चतुर्थ अंक का प्रेक्षण करते हुए हमें जो अनुभव होता है वह न तो हमारी अपनी कन्या के तात्कालिक वियोग का अनुभव है और न वह इस प्रकार के किसी विगत प्रसंग की स्मृति का अनुभव है। तो फिर क्या वह परगत अनुभव है—अर्थात् क्या वह किसी अन्य के अनुभव की प्रतिक्रिया है?—उपर्युक्त प्रसंग में, क्या वह रंगमंच पर प्रस्तुत कण्व के वैक्लव्य की प्रतिक्रिया है? इस प्रश्न का उत्तर भट्टनायक ने अत्यंत प्रभावी रीति से दिया है। उनका तर्क है कि यदि प्रमाता के अनुभव की व्याख्या काव्य-निबद्ध पात्र के अनुभव—अथवा प्रमाता के मन में उत्पन्न उसकी प्रतिक्रिया के रूप में की जाएगी तब तो सारी व्यवस्था ही भंग हो जाएगी। राम-सीता या किसी अन्य प्रेमी-युग्म के श्रृंगार-प्रसंगों का प्रेक्षण कर हमारे मन में तरह-तरह की अप्रिय प्रतिक्रियाएं होने लगेंगी—जीवन के एकांत आत्मीय प्रसंगों के सार्वजनिक प्रदर्शन से तो संकोच या ग्लानि की ही भावनाएं मन में जगेंगी—निश्चय ही इस प्रकार की प्रतिक्रिया कलानुभूति नहीं हो सकती।

अतएव यह स्पष्ट है कि मूलतः मानव-भावनाओं पर आधृत होने पर भी कलानुभूति भावानुभूति से भिन्न है। यह न तो प्रमाता का प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वगत अनुभव है और न काव्य-निबद्ध पात्रों—अनुकार्य-अनुकर्ता—की भावानुभूतियों के प्रति उसकी ऐन्द्रिय-मानसिक प्रतिक्रिया है। कलानुभूति भावों पर आधृत है किन्तु फिर भी भावानुभूति से भिन्न है—इस कथन में कुछ अंतर्विरोध-सा प्रतीत होता है, परन्तु ऐसा है नहीं। कलानुभूति व्यक्तिगत भाव का आस्वाद नहीं है—यह तो व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त—साधारणीकृत—भाव का आस्वाद है। यह चित्त की मुक्तावस्था का अनुभव है जो अहंकार के कड़वे स्वाद से निर्व्याप्त रहने के कारण प्रीतिकर ही होता है। यह काव्य में निबद्ध विशदीकृत भावों के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार अथवा आत्मोपलब्धि का अनुभव है। आत्मोपलब्धि का अनुभव अन्य क्रिया-विधियों से भी सम्भव है—उदाहरण के लिए, कर्म-योग, भक्ति अथवा आत्मसमर्पण तथा ध्यान-धारणा आदि के द्वारा भी आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति सम्भव है, किन्तु वह सौन्दर्यानुभूति नहीं है। सौन्दर्यानुभूति के लिए मानव-भावनाओं का आधार और कला का माध्यम अनिवार्य है। संक्षेप में, सौंदर्यानुभूति =

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कलानुभूति राग-द्वेष से विनिर्मुक्त चित्त द्वारा निर्वैयक्तिक भाव का आस्वाद है।

२. क्या कलानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है ?

यह काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण किन्तु अत्यंत विवादास्पद प्रश्न है। कला या काव्य का आस्वाद बहुधा आनन्दमय होता है—इसका तो निषेध नहीं किया जाता, किन्तु विवाद यह है कि क्या वह अनिवार्य रूप से प्रीतिकर है—अर्थात् क्या शोक, भय आदि भाव-प्रसंगों का भी आस्वाद प्रीतिकर होता है ? यद्यपि भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचकों का बहुमत आनन्द-सिद्धांत के ही पक्ष में है, पर इसका विरोध भी कम नहीं है और वर्तमान युग में तो वह और भी उग्र होता जा रहा है। 'रस-सिद्धांत' में मैंने भारत में भरत से लेकर आधुनिक मनीषियों तक और पश्चिम में प्लेटो से लेकर आई० ए० रिचर्ड्स एवं कतिपय अन्य कला-मर्मज्ञों तक—प्रायः सभी मौलिक आचार्यों के विचारों का आधार लेकर प्रस्तुत समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है। यहां उसकी आवृत्ति न कर केवल प्रतिनिधि विचार-बिन्दुओं का आकलन करना ही पर्याप्त होगा :

(क) कलानुभूति या सौंदर्यानुभूति निश्चय ही आनन्दरूप है जिसके सामान्यतः दो भेद किये जा सकते हैं— (१) आत्मा या अन्तश्चेतना का आनन्द, और (२) मानसिक आनन्द। एक तीसरा रूप भी है—मनोरंजन, जो क्रीड़ादि से सम्बद्ध होकर हीनतर अर्थ का वाचक बन गया है। किन्तु इसका भी एकदम बहिष्कार नहीं किया जा सकता क्योंकि मनोरंजन के साथ कला का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध आरम्भ से ही रहा है। इन तीनों में प्रीति का तत्त्व समान है—अर्थात् कलानुभूति, चाहे उसे आध्यात्मिक आनन्द माना जाय या परिष्कृत मानसिक आनन्द या उससे भी निम्न स्तर पर मनोरंजन रूप माना जाए, प्रत्येक स्थिति में प्रीतिकर होती है।

(ख) अपनी विषयवस्तु के अनुरूप यह सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की होती है।

(ग) इसमें सुख और दुःख का सम्मिश्रण रहता है। प्रत्येक भाव के अनुभव में सुख और दुःख के तत्त्व विद्यमान रहते हैं, अतः भावों पर आधृत कलात्मक अनुभूति में भी सुख और दुःख का ताना-बाना रहता है।

(घ) यह न सुखात्मक है, न दुःखात्मक—यह तो चित्त की मुक्तावस्था है जिसमें व्यक्ति के राग-द्वेष और उनसे उत्पन्न हर्ष-विषाद की चेतना निःशेष हो जाती है—यह एक प्रकार से चित्त की समाहिति का अनुभव है।

(ङ) कलानुभूति सरल अनुभूति न होकर अनुभूतियों का विधान है जिसमें बहुविध और प्रायः विरोधी अंतःवृत्तियों का सूक्ष्म सामंजस्य रहता है।

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करने के लिए उपर्युक्त दृष्टिबिन्दुओं का सम्यक् परीक्षण करना आवश्यक है। कुछ स्पष्ट कारणों से विचार-विन्दु (ख) से आरम्भ करना अधिक उपयोगी होगा : विषयवस्तु के अनुसार कलात्मक अनुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की होती है। प्रस्तुत संदर्भ में हमारी पहली प्रतिक्रिया तो यही होती है कि शोकादि के प्रसंगों की अनुभूति स्वभावतः दुःखात्मक ही होनी चाहिए, किन्तु इसके विरोध में कुछ ऐसे स्पष्ट प्रमाण हैं जिनका खंडन करना सरल नहीं है। दुःख के प्रति मानव-मन की अप्रवृत्ति इतनी स्वाभाविक और प्रबल है कि सामान्यतः कोई भी व्यक्ति उसका भोग करने के लिए धन और समय का व्यय नहीं करना चाहेगा। यह ठीक है कि मनुष्य जीवन में अनेक बार दुःख का सामना करता है, वरन् और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आगे बढ़ कर कभी-कभी उसका वरण भी करता है। सूफ़ी और संत कवियों ने बार-बार अपने काव्य में दुःख की कामना की है और उधर बौद्ध दार्शनिकों ने तो दुःख को आर्य सत्य माना है। फिर भी तथ्य का विश्लेषण करने पर यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि दुःख साध्य नहीं है, साधन मात्र है। उपर्युक्त स्थितियों में भी दुःख साध्य न हो कर साधन मात्र ही रहता है। संत या सूफ़ी दुःख की कामना दुःख के लिए नहीं करता वरन् इसलिए करता है कि वह इष्ट के प्रीति-स्मरण का मधुर साधन है। इसी प्रकार, बौद्ध दर्शन में भी दुःख को आर्य सत्य इसलिए माना गया है कि अंत में उसी की विनिवृत्ति के माध्यम से जीव को निर्वाण प्राप्त होता है। अतः यहां भी अंतिम लक्ष्य दुःख नहीं वरन् दुःख की निवृत्ति ही है। और फिर, पाठक या प्रेक्षक न सूफ़ी-संत होता है न दार्शनिक; ऐसी स्थिति में यह सिद्ध करना संभव नहीं है कि वह शोकादि के प्रसंगों का प्रेक्षण अथवा श्रवण-मनन दुःखानुभूति के लिए करता है।

आनन्द-सिद्धान्त के विरुद्ध एक तर्क और है—करुण प्रसंग का आस्वाद तो वास्तव में क्लेशकर ही होता है, परन्तु प्रेक्षक या पाठक कलात्मक सौंदर्य के कारण उसके प्रति आसक्त रहता है। किन्तु यह तर्क भी अन्ततः मान्य नहीं हो सकता : (अ) त्रासिक परिस्थितियों से उत्पन्न शोक और भय अपने आप में इतने प्रबल हो सकते हैं कि कला के समस्त साधन—अलंकार, लय-संगीत, रंग-सज्जा आदि उनका परिहार नहीं कर सकते। (आ) और फिर, भाव तथा कला-सौंदर्य की पृथक् अथवा विभक्त धारणा भी तो मान्य नहीं हो सकती—काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों के ही अनुसार इस प्रकार की प्रकल्पना रूढ़ और अप्रामाणिक है। सामान्य जन को इन सूक्ष्म प्रसाधनों की पहचान नहीं होती और कलाविद् का काव्य अथवा रंगमंच के बहिरंग प्रसाधन मात्र से परितोष नहीं हो सकता। (इ) साथ ही, स्थायी भावों के आधार पर कलानुभूति के रूप में भेद मान लेने से रस के स्वरूप की अखण्डता भी भंग हो जाती है।

अब विकल्प संख्या (ग) और (ङ.) पर विचार करना चाहिए, जिनके अनुसार कलानुभूति एक प्रकार की मिश्र अनुभूति है। इन दोनों में थोड़ा-सा अंतर यह है कि एक मत के प्रतिपादक जहां केवल सुख और दुःख के मिश्रण की बात करते हैं वहां आधुनिक मनोवैज्ञानिक कला के आस्वाद को 'अनुभूतियों का गुम्फविधान' मानते हैं। भारतीत चिन्तक इन धारणाओं से अनभिज्ञ नहीं रहा, किन्तु उसके विचार से मिश्रण की यह स्थिति भावन की प्रक्रिया तक ही सीमित रहती है—परिणति तक नहीं पहुंचती, जहां भावना की विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएं मिल कर एक अविभक्त अनुभूति में समंजित हो जाती हैं। कलासर्जन की प्रक्रिया में कलाकार चित्र-विचित्र अनुभवों में हो कर गुज़रता है जिनमें से कुछ सुखद होते हैं और कुछ दुःखद, किन्तु अंततः वह इन अनुभूतियों में सामंजस्य स्थापित कर लेता है—जिसका मूर्त परिणाम होती है कला। कला का जन्म सामंजस्य अथवा समन्विति में से ही होता है, उसके बिना कला-सर्जना अपूर्ण रह जाती है। इसी प्रकार कला के रसास्वादन की प्रक्रिया में भी सहृदय तरह-तरह के अनुभव प्राप्त करता है जो अंत में एक संश्लिष्ट विधान के रूप में परिणत हो जाते हैं और सहृदय की अंतिम अनुभूति इस विधान की ही अनुभूति होती है जो निर्मिति की दशा में मिश्र और जटिल रहती हुई भी परिणति में समंजस एवं अविभक्त हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो सिद्धान्त कलानुभूति को मिश्र अनुभूति या अनुभूतिविधान मान कर चलते हैं—उनकी सार्थकता केवल प्रतिक्रिया तक ही सीमित है : परिणति की अवस्था में यह अनुभूति मिश्र या विभक्त न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रहकर समंजस एवं अखण्ड बन जाती है—जिसे आई० ए० रिचर्ड्स ने अंतर्वृत्तियों का समीकरण कहा है। स्पष्टतः अंतर्वृत्तियों के समीकरण की यह स्थिति आनन्द की अवस्था है— या कम-से-कम उसकी भूमिका अवश्य है। यह ठीक है कि रिचर्ड्स और कतिपय अन्य मनीषी आलोचक इसे सुखात्मक नहीं मानते, किन्तु वे भी प्रकारान्तर से इतना तो स्वीकार कर ही लेते हैं कि यह परितोष की अवस्था है—एक ऐसी मनःस्थिति है जिसमें कि सहृदय परितृप्ति और आत्मलब्धि का अनुभव करता है। इस युक्ति से विकल्प (घ) का भी निराकरण हो जाता है।

—इस प्रकार, कलानुभूति की आनन्दरूपता के विरुद्ध जो तर्क और विकल्प प्रस्तुत किए गए हैं वे अंततः असिद्ध ही हो जाते हैं।

३. इस आनन्द का स्वरूप क्या है ?

इसमें संदेह नहीं कि आनन्द के भी अनेक प्रकार हैं जो गुण की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं और कलानुभूति के स्वरूप का कोई भी विवेचन तब तक अपूर्ण माना जाएगा जब तक कि उसमें निहित आनन्द का स्वरूप निश्चित न हो जाए। इसके लिए फिर एक बार भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विशाल भू-खण्डों की लम्बी यात्रा आवश्यक है, परन्तु यहां भी स्वदेश-विदेश के आचार्यों के मन्तव्यों का सारांश मात्र देना ही अलं होगा। स्थूल रूप से, इस विषय में चार अभिमत प्रसिद्ध हैं :

१. कला का आनन्द एक प्रकार का भौतिक—अर्थात् मानसिक-ऐन्द्रिय आनन्द है। प्राचीन मनीषियों में प्लेटो और नवीन विचारकों में मार्क्स तथा फ्रॉयड आदि ने अपने-अपने भिन्न दृष्टिकोण से इस मत का प्रतिपादन किया है।

२. यह एक प्रकार का आत्मिक आनन्द है। एक ओर भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त, जगन्नाथ आदि और दूसरी ओर पश्चिम के आत्मवादी दार्शनिकों—प्राचीनों में प्लोटिनस और आधुनिकों में काण्ट तथा हीगेल आदि—का यही मत है।

३. कला का आनन्द वस्तुतः कल्पना का आनन्द है। इस धारणा का बीज तो अरस्तू के काव्यशास्त्र में ही मिल जाता है, बाद में चलकर अठारहवीं शती में एडिसन ने इसे स्पष्ट शब्दावली में पल्लवित किया और अन्त में बीसवीं शती के आरम्भ में क्रोचे ने सहजानुभूति के आनन्द के रूप में व्याख्या करते हुए प्रस्तुत सिद्धान्त को एक निश्चित दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया।

४. लौकिक और आत्मिक आनन्द के समस्त प्रकार-भेदों से भिन्न यह अपने आप में स्वतंत्र, एक विलक्षण आनन्द है। यह एक प्रकार की निरपेक्ष अनुभूति है जिसकी व्याख्या लौकिक अनुभव के संदर्भ में सामान्य शब्दावली में सम्भव नहीं है। यह धारणा वैसे तो अत्यन्त प्राचीन है, परन्तु बीसवीं शताब्दी में ब्रैडले, क्लाइव बैल तथा अन्य सौंदर्यवादी विचारकों ने एक नवीन दृष्टिकोण से इसकी स्थापना की है। इस स्थापना में रहस्यवाद के तत्त्व विद्यमान हैं और रिचर्ड्स ने इसे निश्चित ही काण्ट और हीगेल के आत्मवादी सिद्धान्तों से अनुप्रेरित माना है। किन्तु फिर भी विलक्षण आनन्द और आत्मिक आनन्द की धारणाओं को अभिन्न मानना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि सौंदर्यवादी आलोचक के अनुसार तो कला का आनन्द केवल भौतिक आनन्द से ही नहीं आत्मिक आनन्द से भी उतना ही भिन्न है—वास्तव में वह तो और आगे बढ़कर इसके लिए आनन्द शब्द का भी प्रयोग नहीं करता।

सबसे पहले अंतिम विकल्प को ही लीजिए क्योंकि युगानुयुगव्यापी परम्परा के रहते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं कर सकता; क्योंकि इसमें एक अतिवाद के विरुद्ध दूसरे अतिवाद की प्रस्थापना है और मनोविज्ञान के इस स्वयंसिद्ध तर्क का निषेध है कि मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवार्यतः उच्छ्वसित हो जाती है। वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वैचित्र्य है; इसलिए व्यापक अर्थ में उक्ति-वैचित्र्य का अभाव कविता में संभव नहीं है। प्रकारांतर से हम यह भी कह सकते हैं कि उक्ति-वैचित्र्य के अभाव में कविता नहीं हो सकती। तीसरा तत्त्व है संगीत। इसके विषय में तो मतभेद और भी अधिक है। संस्कृत-काव्यशास्त्र का निर्भ्रान्त मत है कि छंद कविता का वैकल्पिक उपकरण है। उधर हिन्दी के मध्ययुगीन आचार्यों के लिए छंद के अभाव में कविता तो क्या, साहित्य के किसी रूप की कल्पना संभव नहीं थी। यूरोप में इस प्रश्न को लेकर नियमित रूप से दो दल बन गए थे—एक ओर अरस्तू और कॉलरिज जैसे आलोचक छंद को वैकल्पिक मानते थे, दूसरी ओर ड्राइडन आदि के मत से छंद का संगीत कविता का अनिवार्य माध्यम था। मेरा मत भी छंद के 'इस पुराने ग्राम्य विशेषण' को कविता का अनिवार्य तत्त्व मानने के ही पक्ष में है। छंद कविता का सहज वाहन है। प्रत्येक साहित्य-रूप की अपनी-अपनी सहज विधा है: नाटक के लिए संवाद, कथा-साहित्य के लिए वर्णनात्मक गद्य, आलोचना के लिए विवेचनात्मक गद्य, निबंध के लिए ललित गद्य और कविता के लिए छंद। नाटक के रंग-संकेतों में वर्णनात्मक गद्य का प्रयोग होता है, उपन्यास में संवाद का, आलोचना में ललित गद्य का और निबंध में विश्लेषणात्मक गद्य का—ऐसे ही कविता में लययुक्त गद्य-संगीत का कुछ कवियों ने सफल प्रयोग किया है। किंतु यह सहज स्थिति नहीं है; यहां एक विधा के तत्त्व दूसरी की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं, जैसे वास्तुकला में मूर्तिकला या चित्रकला का भी प्रयोग प्रायः होता आया है। वास्तव में समस्त कला तथा साहित्य-रूपों का मूल तत्त्व तो एक ही है, रूप-विधाएं भिन्न हैं, अतः उनके बाह्य उपकरण बहुधा एक-दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते रहते हैं। नाटक में आख्यान-तत्त्व का, उपन्यास में नाटच-तत्त्व का, आलोचना में लालित्य का समावेश हो जाता है; परंतु फिर भी उनके वैशिष्टच में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार गद्य-साहित्य के अनेक रूप रस के प्राचुर्य से काव्यात्मक हो सकते हैं और कविता में भी नाटच-तत्त्व का समावेश हो सकता है, कविता आलोचनात्मक भी हो सकती है और गद्यवत् भी; किन्तु वह उसका सहज या शुद्ध रूप नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक, उपन्यास, निबंध आदि की भांति कविता भी रस के साहित्य की एक विशिष्ट विधा है—मूल तत्त्व तो सभी का एक ही है—रस; किंतु माध्यम के आधार पर इनमें परस्पर भेद है जो इनके वैशिष्टच की रक्षा करता है। कविता नाम की साहित्य-विधा का माध्यम है छंद। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य रस के साहित्य का पर्याय है जिसके अंतर्गत नाटक-उपन्यास आदि का समावेश है। आज काव्य और कविता में भेद हो गया है: काव्य समस्त रस-साहित्य या पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में सर्जनात्मक साहित्य का पर्याय है; कविता उसका पर्याय नहीं है—एक रूप है, जो छंद के माध्यम के कारण अन्य रूपों से भिन्न है।

सारांश यह है कि पूर्वोक्त तीनों तत्त्व—रमणीय अनुभूति, उक्ति-वैचित्र्य और छंद अर्थात् वर्ण-संगीत और लय-संगीत—कविता के लिए अनिवार्य हैं। इनमें से किसी एक का नाम कविता नहीं है, इन तीनों का समंजित रूप ही कविता है। पहले दो तत्त्व काव्य अथवा रस के साहित्य के भी अनिवार्य अंग हैं। तीसरा तत्त्व अर्थात् छंद ही कविता को काव्य के अन्य रूपों से पृथक् करता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का नाम है जिसका माध्यम छंद है। यहां एक और शंका का भी समाधान कर लेना अनुपयुक्त न होगा : वह यह कि क्या रस के साहित्य के अन्य रूपों और कविता में केवल रूप-विधा अथवा माध्यम का ही अंतर है; और स्पष्ट शब्दों में—क्या उपन्यास और प्रबंध-काव्य में केवल यही अंतर है कि एक अनियतलय गद्य में लिखा हुआ है और दूसरा नियतलय छंद में ? क्या दोनों के भाव-तत्त्व अथवा मूल संवेद्य में कोई अंतर नहीं है ? अनेक आलोचकों के मत से दोनों में मूल संवेद्य का अंतर भी है। उनका विश्वास है कि उपन्यास का आस्वाद और प्रबंध-काव्य का आस्वाद भिन्न होता है। इस धारणा में केवल इतना ही सत्य है कि आस्वाद के रूप पर माध्यम का प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरण के लिए, जंगल में वृन्त पर खिले हुए गुलाब और किसी नागरिक के सुसज्जित कमरे में गुलदस्ते में सजे हुए गुलाब की सौंदर्यानुभूति में थोड़ा अंतर निश्चय ही पड़ जाता है। इसी प्रकार यह निर्विवाद है कि रसात्मक तत्त्व के अतिशय के कारण ही कविता स्वभावतया छंद के माध्यम से स्फुरित होती है और छंद का संगीत उसके रसात्मक तत्त्व को और भी समृद्ध कर देता है। इस दृष्टि से आस्वाद अथवा मूल संवेद्य में भी थोड़े से अंतर की कल्पना असंगत नहीं है; किंतु यह अंतर मात्रा का अंतर है, प्रकार या प्रकृति का अंतर नहीं। इसलिए मैं अपनी उस स्थापना को फिर यथावत् दोहराता हूं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छंद है।

अंत में, एक मौलिक समस्या का समाधान कर इस प्रसंग को समाप्त कर दूंगा। काव्य-शास्त्र में मनोविज्ञान के वर्धमान प्रभाव के फलस्वरूप अनेक नवीन आलोचकों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि कविता एक अनुभूति अथवा अनुभूतियों का वर्ग है। उदाहरण के लिए इस युग के सर्वश्रेष्ठ अंगरेज़ आलोचक रिचर्ड्स का कथन है कि कविता अनुभूतियों का एक वर्ग है। तुलसी-दास की पूर्वोक्त अर्धाली को ही आधार मानकर चलें तो यह कहा जा सकता है कि इन आलोचकों के मत से 'स्याम गौर किमि कहहुं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कविता नहीं है, वरन् इससे प्राप्त सहृदय की अनुभूति ही कविता है। बात निश्चय ही बहुत गहरी है, परंतु व्यावहारिक दृष्टि से उससे उलझन ही पैदा होती है। इसीलिए कदाचित् अत्यंत गंभीर दार्शनिक आधार ग्रहण करने पर भी भारतीय आचार्य इस प्रपंच में नहीं पड़ा; उसकी व्यवहार-बुद्धि ने सहृदय की अनुभूति को स्पष्ट शब्दों में रस कहा है और इस अनुभूति को उत्पन्न करने वाले शब्दार्थ को कविता। तत्त्व-दृष्टि से कदाचित् रिचर्ड्स का मत ही ठीक हो; किंतु व्यवहार-दृष्टि से—समझने-समझाने की दृष्टि से—हमारे आचार्यों की स्थापना ही ग्राह्य है : 'शब्दार्थौ काव्यम्'। इस प्रकार मैं घूम-फिर कर फिर वहीं पहुंच जाता हूं : रसात्मक शब्दार्थ ही काव्य है और उसकी छंदोमयी विशिष्ट विधा आधुनिक अर्थ में कविता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप

भारतीय वाङ्मय में यों तो संगीत, चित्र-रचना, मूर्तिकला तथा वास्तुशिल्प आदि अन्य ललित कलाओं पर भी कुछ-एक प्रामाणिक ग्रंथ उपलब्ध हैं, परन्तु सौंदर्यशास्त्र के आधार-तत्त्वों का विवेचन मूलतः काव्यशास्त्र के अंतर्गत ही किया गया है। अतः सौंदर्यानुभूति या कलानुभूति का विश्लेषण यहां प्रमुख रूप से रस के संदर्भ में ही हुआ है जो भारतीय सिद्धांत के अनुसार काव्य अथवा कला के आस्वाद का प्राण-तत्त्व है। आरंभ में रस नाट्यकला का तत्त्व था, वहां से वह काव्य में आया और काव्य से उसका प्रवेश चित्र, संगीत आदि कलाओं में भी हो गया। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित सौंदर्यानुभूति के स्वरूप का निर्णय करने के लिए हमें रसविवेचन को ही आधार मानकर चलना होगा।[1]

भरत से लेकर भामह तक प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में रस का स्वरूप वस्तुपरक था —नाट्य के संदर्भ में रस एक प्रकार से भाव-प्रेरित नाट्य-सौन्दर्य का वाचक था और काव्य के संदर्भ में वह इसी प्रकार के भाव-प्रेरित शब्दार्थ-सौंदर्य का। किन्तु बाद में शैवाद्वैत दर्शन के प्रभाव से, जिसके सर्वाधिक समर्थ व्याख्याता थे अभिनवगुप्त, रस का स्वरूप सर्वथा आत्मपरक हो गया। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य-सौंदर्य नाट्य का अंग है और शब्दार्थ-सौंदर्य काव्य का—यह स्वयं रस नहीं है, रस तो इसके आस्वाद का नाम है। आगे चलकर भारतीय काव्यशास्त्र

---

१. इस प्रसंग में यह प्रश्न किया जा सकता है कि सौन्दर्य के अनेक रूप ऐसे हो सकते हैं जिनमें भाव की सत्ता नहीं रहती; अतः सौन्दर्यानुभूति के लिए भाव का आधार अनिवार्य नहीं है। भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकारवादी और उनके सहधर्मी रीति-सिद्धांत के अनुयायी काव्य को शब्दार्थ का चमत्कार ही मानते हैं—रस, भाव आदि भी शब्दार्थ में चमत्कार की सृष्टि करने के कारण ही काव्य के अंग बन पाते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में बिम्बवाद तथा अन्य आधुनिक काव्यान्दोलन भी स्पष्ट शब्दों में भावना से विनिर्मुक्त सौन्दर्य अथवा कवित्व की सत्ता स्वीकार करते हैं जिसमें बिम्ब आदि की सृष्टि ही सौन्दर्य का आधार रहती है। एक कलामर्मज्ञ ने इसी प्रश्न पर विचार करते हुए कहा : ताजमहल को देखकर हम एक स्निग्ध सौन्दर्यजन्य प्रसादन की चेतना का अनुभव करते हैं—प्रेम आदि की संवेदना का नहीं। ऐसी स्थिति में कलानुभूति में मानव-संवेग का अनिवार्य आधार मानना समीचीन नहीं है।—इस शंका का समाधान हम अन्यत्र विस्तार से कर चुके हैं। शब्दार्थ का चमत्कार आख़िर है क्या, और उसकी सृष्टि कैसे होती है? काव्य के संदर्भ में अर्थ का चमत्कार वास्तव में कुतूहल का पर्याय न होकर रमणीयता का ही वाचक है और रमणीयता का समावेश केवल कल्पना के द्वारा नहीं, भाव-प्रेरित कल्पना के द्वारा ही संभव हो सकता है। कविता का उद्देश्य केवल चकित कर देना नहीं है, कविता तो चित्त को प्रभावित और संवेदनाओं को जाग्रत करती है। अतः जो यह मानते हैं कि शब्दार्थ का चमत्कार भावना से विनिर्मुक्त होता है, वे या तो 'चमत्कार' शब्द का संकुचित और गलत प्रयोग करते हैं या भाव का अर्थ केवल स्थायी भावों तक सीमित कर देते हैं—या फिर मूल तत्त्व की उपेक्षा कर केवल बाह्य तथ्य को ही महत्त्व देते हैं। भारत में अलकार और रीति सिद्धांत की अस्वीकृति, और उधर पश्चिम में बिम्बवाद आदि का पराभव इसका प्रमाण है। ऐसी स्थिति में कला के संदर्भ में सुन्दर और सरस में अभेद ही रहता है और सौन्दर्यानुभूति अथवा कलानुभूति रस से मलतः भिन्न नहीं मानी जा सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में यही धारणा सर्वमान्य हुई। अभिनव से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ तक उन सभी आचार्यों के, जिन्होंने कि रस को आस्वाद-रूप माना है, मतों का सारांश इस प्रकार है :

१. सौंदर्यानुभूति अथवा कलानुभूति का आधार मूलतः मानव-भावनाएं हैं। यह अनिवार्यतः आह्लादमयी होती है—यह एक प्रकार की आनन्दमयी मनःस्थिति है—आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्मोपलब्धि की स्थिति है।

२. यह स्वप्रकाशानंद और चिन्मय है—अर्थात् ऐन्द्रिय तत्त्वों से प्रायः मुक्त है। कला-निबद्ध होने पर लौकिक भाव व्यक्तिगत रागद्वेष से ऊपर उठ जाते हैं—देश और काल की सीमाओं से मुक्त होकर वे साधारणीकृत अथवा सार्वभौम बन जाते हैं। परिणामतः वे प्रत्यक्ष अनुभव के विषय नहीं रह जाते। उनके द्वारा सहृदय का भाव-बोध परिष्कृत और चेतना निर्मल हो जाती है।

३. फिर भी, यह शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द नहीं है क्योंकि न तो यह आनन्द की स्थायी अवस्था है और न लौकिक तत्त्वों से पूर्णतः मुक्त ही होती है।

अतः भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार सौंदर्यानुभूति अथवा कलानुभूति एक प्रकार के अतीन्द्रिय आनन्द की स्थिति है—अथवा लौकिक शब्दावली में, एक प्रकार की आत्मोपलब्धि की स्थिति है—जो कला के द्वारा, परिशुद्ध—विशदीकृत भावनाओं के माध्यम से प्राप्त होती है।

किन्तु वर्तमान युग में उपर्युक्त सभी धारणाएं शंका-धूमिल हैं और आधुनिक विचारक के मन में प्रस्तुत संदर्भ में तीन प्रश्न अनायास ही उपस्थित हो जाते हैं :

१. कलानुभूति और भावानुभूति में क्या संबंध है ?

२. क्या कलानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी होती है ?

३. यदि ऐसा हो तो इस आनन्द का स्वरूप क्या है ?

इन प्रश्नों के समाधान के बिना आज के कला-रसिक का मनःपरितोष नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि वर्तमान आलोचनाशास्त्र एवं कला-सिद्धांतों के आलोक में इनका आख्यान किया जाए।

१. कलानुभूति और भावानुभूति में क्या संबंध है ?

कलानुभूति का आधार मूलतः मानव-भावनाएं ही हैं। सौंदर्य के किसी ऐसे रूप की कल्पना करना संभव नहीं है जिसमें प्रच्छन्न अथवा प्रकट, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानव-भावना का संस्पर्श न हो। भारत के अधिकांश कला-मर्मज्ञ काव्यगत भावना और मानव-भावना के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में सर्वथा आश्वस्त हैं : न भावहीनोऽस्ति रसो, न भावो रस-वर्जितः (भरत)—अर्थात् न भाव के बिना रस की स्थिति है और न रस के बिना भाव की। फिर भी कलागत भाव मानव-भाव या लौकिक भाव से भिन्न है और किसी भी प्रसंग में दोनों का ऐकात्म्य संभव नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार रस के आधारभूत स्थायी भाव दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं : (क) रति, विस्मय, उत्साह और हास्य—जिनका आस्वाद लोक में प्रीतिकर होता है, और (ख) शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा—जिनका अनुभव अप्रीतिकर है। किन्तु जब ये भाव काव्य या कला के विषय बन जाते हैं तो इन सभी का दंश अनिवार्यतः नष्ट हो जाता है। कला का विषय बन जाने पर शोकादि भावों का अनुभव क्लेश-कर नहीं रह जाता : कला-सर्जना की प्रक्रिया में पड़कर उनकी कटुता समाप्त हो जाती है, यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुए भी यह मत औरों की अपेक्षा अधिक दुर्बल है। काव्यानन्द की विलक्षणता के पक्ष में जितने भी तर्क प्रस्तुत किए गए हैं उनसे केवल तीन तथ्यों का प्रकाशन होता है: कला की अनुभूति प्रत्यक्ष व परोक्ष मानसिक-ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न है, शुद्ध बौद्धिक अनुभूति से—उदाहरण के लिए किसी समस्या या प्रतिज्ञा को सिद्ध करने की अनुभूति से—भिन्न है, और आत्मिक अनुभव, योग-साधन आदि के अनुभव, से भी भिन्न है। किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं हुआ कि यह इस लोक का अनुभव नहीं है और मानव-चेतना की प्रकृत अनुभूतियों के अन्तर्गत इसकी व्याख्या सम्भव नहीं है। इस अनुभूति में ऐन्द्रिय और बौद्धिक तत्त्व निश्चय ही विद्यमान रहते हैं, और जो आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं उनके लिए आत्मिक तत्त्व भी। इसका समस्त विधान जीवन के सामान्य अनुभवों से भिन्न अथवा विशिष्ट अवश्य होता है किन्तु इसके आधार-तत्त्व मूलत: भिन्न नहीं होते। अत: रूप का भेद होने पर भी प्रकृति का भेद इसमें नहीं है, क्योंकि अनासक्त अनुभूति या निर्वैयक्तिक अथवा साधारणीकृत अनुभूति भी तो मानसिक-ऐन्द्रिय अनुभूति का ही परिष्कृत एवं विकसित रूप होती है। डॉ० रिचर्ड्स का यह तर्क सर्वथा अकाट्य है कि आख़िर कलानुभूति की सम्पूर्ण प्रक्रिया में हमारी ज्ञानेन्द्रियां, चित्त और प्रज्ञा का ही तो विनियोग रहता है—इसलिए जब तक सौंदर्य के अनुभव के लिए किसी स्वतंत्र ज्ञानेन्द्रिय का आविष्कार नहीं होता, सौंदर्य अथवा कला की अनुभूति को विलक्षण मानने का कोई आधार नहीं है।—मैं समझता हूं कि इस तर्क के सामने सौंदर्यवादी सिद्धान्त स्थिर नहीं रह सकता।

कला का आनन्द कल्पना का आनन्द है—यह केवल आंशिक सत्य है। इस स्थापना में कला-दर्शन का यह मौलिक सत्य उपेक्षित ही रह जाता है कि सौंदर्यानुभूति का आधार मानव-भावनाएं हैं। कला के समस्त रूपों का आधार मानव-संवेदनाएं ही हैं, कल्पना केवल माध्यम है—यद्यपि माध्यम के रूप में वह अनिवार्य है, इसमें भी संदेह नहीं है। फिर भी, मानव-भावनाओं के आधार के बिना केवल कल्पना के द्वारा कला की सृष्टि नहीं हो सकती। अत: कला का आनन्द केवल कल्पना का आनन्द नहीं है। कला के क्षेत्र से बाहर भी – जैसे कि वैज्ञानिक आविष्कार आदि में—कल्पना का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। किन्तु वैज्ञानिक द्वारा अनुभूत कल्पना का आनन्द तो कला का आस्वाद नहीं हो सकता। आर्कमेडीज़ का हर्षोच्चार—'यह मिल गया!' तो कविता नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, कल्पना भी मानव-चेतना की ही वृत्ति है और इसलिए कल्पना का आनन्द भी मानसिक-बौद्धिक आनन्द का एक भेद मात्र है, कोई स्वतंत्र कोटि या प्रकार नहीं है।

कला का आनंद आत्मिक आनंद है—इस प्रसंग में यदि हम शैव दर्शन की परिभाषा को स्वीकार कर लेते हैं तब तो कोई विवाद ही नहीं रह जाता, क्योंकि उसके अनुसार आनंद के विभिन्न रूपों का अंतर ही मिट जाता है। किंतु, व्यवहार में तो ऐसा नहीं होता; व्यवहार में हम निश्चित भेद करते और मानते हैं। वास्तव में आत्मवादी भी कला के आनंद और आत्मानंद को अभिन्न नहीं मानते। भारतीय मनीषा के अनुसार रस ब्रह्मानंद-सहोदर है, ब्रह्मानंद-रूप नहीं है; उधर पाश्चात्य दार्शनिक भी यह मानते हैं कि कलास्वाद की आरम्भिक स्थिति में मन और इन्द्रियों का सन्निकर्ष निश्चय ही रहता है, यद्यपि अंत में प्रमाता उनका अतिक्रमण कर शुद्ध चैतन्य के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार कला के आनंद और आत्मानंद का भेद स्पष्ट है; यद्यपि वह भेद तात्त्विक न होकर गुणात्मक ही होता है, फिर भी भेद तो है ही। आत्मानंद जहां परम चैतन्य का निरपेक्ष और परिपूर्ण आस्वाद है वहां कला के आनंद में भौतिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आधार अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। माना कि यह आधार अत्यंत सूक्ष्म और परिष्कृत होता है—यह अनुभव निश्चय ही निर्वैयक्तिक होता है, फिर भी इसका लौकिक आधार तो रहता ही है क्योंकि निर्वैयक्तिक या साधारणीकृत अनुभव भी तो अंततः लौकिक अनुभव ही होता है। निस्संदेह यह चेतना का ऊर्ध्व-विकास, चित्त की मुक्तावस्था है; परंतु है अंततः चित्त का ही विषय—योग अथवा भक्ति के अनुभव के समान मानवीय चेतना से परे नहीं है।

अब शेष रह जाता है पहला विकल्प : कला का आनंद लौकिक आनंद है। यद्यपि इस सिद्धांत के प्रतिपादकों ने—एक ओर प्लेटो ने, दूसरी ओर मार्क्स तथा फ्रॉयड ने—इसे कुछ स्थूल और अनगढ़ रूप में प्रस्तुत किया है, फिर भी, मेरे विचार से, इसका निषेध करना अत्यंत कठिन है। कला से प्राप्त आनंद लौकिक ही हो सकता है : कला की सृष्टि के उपकरण और माध्यम लौकिक ही होते हैं, अतः इसका आस्वाद भी लौकिक ही होना चाहिए। रहस्यवादी काव्य के अतिरिक्त कला के सभी रूप-भेदों के मूल विषय सामान्य मानव-अनुभव ही होते हैं; इसके उपकरण और अभिकरण—कल्पना एवं बुद्धि—मानव-चेतना के ही अंग हैं; आस्वादन के माध्यम हैं लौकिक स्तर पर ज्ञानेन्द्रियां और उच्चतर मनोभूमिका पर सूक्ष्म भाव-बोध; और अंत में, इसका भोक्ता भी कोई योगी या भक्त न होकर सवासन मानव ही होता है। अतः कला-संवेदना की लौकिकता में अविश्वास करना अथवा यह मान लेना कि कला का आस्वाद मानवीय अनुभव नहीं है, अत्यंत दुष्कर कार्य है। ऐसी स्थिति में हमें मानव-चेतना की परिधि के भीतर और मनोविज्ञान की शब्दावली में ही इसके स्वरूप का निर्णय करना होगा।

अंत में, केवल सिद्धांत-विवेचन करने की अपेक्षा किसी मूर्त कलाकृति को आधार मान कर अपनी धारणाओं का विश्लेषण एवं समीकरण करना अधिक श्रेयस्कर होगा। भवभूति का एक सरस छंद इस प्रकार है :

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च संमीलयति च ॥

(उत्तररामचरित—१।३५)

अर्थात्—मैं नहीं समझ पाता कि यह सुख है अथवा दुःख, मोह है या निद्रा, विष का संचार है या मद का : तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श से मुझे एक ऐसा विचित्र अनुभव हो रहा है जो समस्त इन्द्रियों पर सम्मोहन-सा करता हुआ मेरी चेतना को कभी उद्भ्रांत और कभी एकदम विफल कर देता है···।

इस छंद को पढ़कर मेरे मन की प्रतिक्रिया निश्चय ही प्रीतिकर होती है। इसका विषय है रति; इसकी काव्य-कला का प्रीतिकर आस्वाद प्राप्त करने से पूर्व मेरी चेतना निश्चय ही रति और उसके संचारी भावों में होकर गुजरती है। फिर भी, इसमें संदेह नहीं कि इस अनुभूति और रति की प्रत्यक्ष अनुभूति में स्पष्ट अंतर है जिसका परिज्ञान मुझे है—प्रत्येक सहृदय को निश्चय ही होता है। यह अंतर किस प्रकार का है ? कलानुभूति के स्वरूप का निर्णय करने के लिए कला के आस्वादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विश्लेषण करना आवश्यक होगा।—जब मैं उपर्युक्त छंद को पढ़ता हूं तो इसकी शब्दावली और लय-योजना का संगीत मेरी श्रवणेन्द्रिय को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चमत्कृत करता है; तभी प्रायः अलक्ष्यक्रम से इसका अर्थ मेरे मन में व्यक्त हो जाता है; इसके बाद काव्य-भाषा—अर्थात् भाषा के कल्पनात्मक प्रयोग के चमत्कार से मेरी कल्पना सक्रिय हो जाती है और मन की आंखों के सामने तरह-तरह के स्वच्छंद बिम्ब या मानस-प्रतिमाएं थिरक उठती हैं जिनके साथ अनेक प्रकार के मनोविकार अनायास ही लिपट जाते हैं। इसी क्रम में इन संचारी भावों के आघात से प्रेम की अंतःवृत्ति मेरी चेतना में उद्बुद्ध हो जाती है—जो उस समय व्यक्तिगत रागद्वेष से इसलिए निर्लिप्त रहती है क्योंकि उसमें व्याप्त प्रेम की यह वृत्ति किसी आलम्बन विशेष के प्रति उन्मुख न होने के कारण अव्यक्तिगत तथा निस्संग ही होती है; और अंत में यह सम्पूर्ण ऐन्द्रिय-मानसिक प्रक्रिया एक सुखद अनुभूति में परिणत हो जाती है।

मानव-अनुभूतियों को स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(क) ऐन्द्रिय, (ख) मानसिक, और (ग) बौद्धिक। यह वर्गीकरण निश्चय ही बहुत स्थूल है और इनमें से कोई भी वर्ग अपने आप में स्वतःपूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे अनुभव वास्तव में अपने आप में इतने अधिक अंतर्ग्रथित और अन्योन्याश्रित होते हैं कि इनमें मानव-व्यक्तित्व की समस्त वृत्तियां प्रायः एक साथ ही सक्रिय रहती हैं। फिर भी, मानव-चेतना की किसी एक या दूसरी वृत्ति की प्रमुखता के आधार पर इस वर्गीकरण को हम साधारणतः व्यावहारिक मानकर चल सकते हैं। इसके अनुसार किसी प्रियजन के आलिंगन का अनुभव ऐन्द्रिय आनंद है, उसका स्मरण मानसिक आनंद है, और किसी रागात्मक समस्या के—उदाहरण के लिए, प्रस्तुत संदर्भ में, इस रागात्मक अनुभव के—सफल विवेचन का आनंद बौद्धिक आनंद है। अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त प्रणयगीति से उपलब्ध आनंद इनमें से किस कोटि के अंतर्गत आएगा? निश्चय ही, यह प्रियजन के साक्षात् स्पर्श-सुख का अनुभव नहीं है क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है और इसलिए उतना प्रखर भी नहीं है। इसी प्रकार यह किसी श्रृंगारिक अनुभूति के सफल विश्लेषण का भी आनंद नहीं हो सकता। तो फिर क्या यह किसी पूर्वानुभूत प्रणय-प्रसंग के सुखद स्मरण का आनंद है? इस विकल्प पर हमें थोड़ा विचार करना होगा, क्योंकि काव्यजन्य अनुभूति और इस अनुभूति में कुछ न कुछ साम्य अवश्य है। कला के आनंद की तरह मधुर स्मरण का यह अनुभव भी एक प्रकार का परोक्ष अनुभव है जिसमें कल्पना का प्रमुख योग रहता है। फिर भी, दोनों में अभेद है, ऐसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि स्मृति भी तो मूलतः एक प्रकार का वैयक्तिक अनुभव ही है जिसके साथ प्रमाता की अहं भावना और उसके राग-द्वेष अनिवार्यतः संलिप्त रहते हैं। यह अनुभव अनासक्त नहीं होता और न देश-काल की परिसीमाओं से सर्वथा मुक्त ही रहता है। यह अनुभव 'स्मृति' पर निर्भर करता है जिसमें कल्पना का निष्क्रिय योग मात्र रहता है। इस पद्धति से यह किसी पूर्वानुभव का पुनरुद्बोध मात्र होता है, जबकि कला की अनुभूति, इससे भिन्न सक्रिय अथवा सर्जनात्मक कल्पना की क्रिया होने के कारण, पूर्वानुभव की पुनरुद्बुद्धि मात्र नहीं वरन् पुनःसृष्टि होती है। अतः कला की अनुभूति स्मरण की अनुभूति से अपनी मुक्त, निर्वैयक्तिक एवं सर्जनात्मक प्रकृति के कारण भिन्न होती है और ये दोनों गुण ऐसे हैं जो प्रकृत अनुभव को विकारों से मुक्त कर अनिवार्य क्रम से उसमें प्रीति-तत्त्व का समावेश कर देते हैं।

इस प्रकार कलानुभूति भावना के कलात्मक पुनःसृजन की आनंदमयी अनुभूति है जो मूल रूप में कलाकार की चेतना में घटित होती है और फिर कलाकृति के सन्निकर्ष से गौण रूप में प्रमाता की चेतना में। कलाकार का कर्म मौलिक है इसलिए सामान्य प्रयोग में उसको सृजन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कहते हैं यद्यपि व्यवहार में वह पुनःसृजन ही होता है—जबकि प्रमाता का कर्म गौण एवं परावलम्बी होता है क्योंकि वह वस्तुतः कलाकार के कर्म से प्रेरित रहता है। उधर कल्पनात्मक पुनः-सृजन की इस प्रक्रिया में बुद्धि का योगदान भी कुछ न-कुछ अवश्य होता है क्योंकि कुछ सीमा तक, कम-से-कम रचना-क्रम के अंतिम क्षणों में, इसके पीछे सुविचारित प्रयत्न का आधार निश्चय ही रहता है।—जिसके कारण कलानुभूति के विधान में बुद्धि-तत्त्व का समावेश हो जाता है।

सारांश यह है कि कलानुभूति एक प्रकार की प्रीतिकर—संश्लिष्ट अनुभूति है जिसमें राग-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व का लवण-नीर संयोग रहता है। इसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है क्योंकि यह शुद्ध रागात्मक अनुभूति की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और बौद्धिक अनुभूति की अपेक्षा अधिक रमणीय होती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

काव्य-बिम्ब : स्वरूप और प्रकार

काव्य-कला के संदर्भ में बिम्ब का प्रयोग आधुनिक ही है और यह अंगरेज़ी शब्द 'इमेज' का पर्याय है। पश्चिम का आधुनिक काव्यशास्त्र 'इमेज = बिम्ब' को काव्य का अनिवार्य माध्यम-उपकरण मानता है; उपकरण ही नहीं वरन् वह काव्यक्रियाकल्प का अनिवार्य अंग है। कला की सर्जना वस्तुतः बिम्ब-रचना का ही नाम है। स्वभावतः पश्चिम की भाषाओं के आलोचना-शास्त्र में काव्य-बिम्ब का अत्यंत सूक्ष्म, विस्तृत एवं वैविध्यपूर्ण विवेचन हुआ है। केवल अंगरेज़ी में ही अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमें काव्य-बिम्ब के अंतरंग और बहिरंग रूपों के सूक्ष्म और सर्वांग विवेचन का प्रयत्न किया गया है। परंतु दुर्भाग्य से बिम्ब के स्वरूप-विश्लेषण में इतने विविध दृष्टिकोण और प्रविधि-भेद उलझ गए हैं, उस पर अलंकारशास्त्र के अतिरिक्त मनोविज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र, पुराणविद्या, समाजविज्ञान आदि इतने अधिक 'अनुशासनों' का आक्रमण हुआ है और उसका स्वरूप इतना अस्थिर, जटिल, व्यापक एवं अमूर्त बन गया है कि बिम्ब का स्पष्ट बिम्ब—इमेज की सही इमेज—जिज्ञासु के मन में स्पष्ट नहीं हो पाता। कम-से-कम इस अध्ययन के फलस्वरूप मेरे मन में बिम्ब का सही चित्र नहीं बन सका—ऐसा लगा जैसे पश्चिम का आलोचक बिम्ब के महत्त्व से इतना आक्रांत है कि उसकी सम्पूर्ण काव्य-चेतना ही बिम्ब से परिव्याप्त हो गई है और वह व्यावर्तक तत्त्वों को पृथक् कर एक ऐसी स्पष्ट रूपरेखा निर्धारित करने में अपने को असमर्थ पाता है जो उसे अन्य समानांतर धारणाओं से पृथक् कर सके। मैं यह विवेचन मूलतः आत्मबोध के लिए ही कर रहा हूं—यदि यह अन्य जिज्ञासुओं का भी, जो मेरी तरह कठिनाई का अनुभव करते हों, परितोष कर सका तो प्रस्तुत प्रयास और भी अधिक सार्थक हो जाएगा।

'बिम्ब' का अर्थ स्पष्ट करने के लिए, वास्तव में, 'इमेज' के ही शब्दार्थ की व्याख्या अपेक्षित है क्योंकि प्रस्तुत संदर्भ में 'बिम्ब' स्वतंत्र या मौलिक शब्द न होकर 'इमेज' का हिन्दी-रूपांतर है। अंगरेज़ी के प्रामाणिक कोशों के अनुसार 'इमेज' के अर्थ हैं : किसी पदार्थ का मनश्चित्र या मानसी प्रतिकृति[१]; कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति जिसका चाक्षुष होना अनिवार्य नहीं है[२]; किसी व्यक्ति या पदार्थ की प्रतिकृति[३]; मूर्त और दृश्य प्रत्यंकन[४]; एक पदार्थ के लिए किसी ऐसे मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे व्यंजित करता हो जैसे 'मृत्यु' के लिए 'निद्रा' का प्रयोग।[५] मनोविज्ञान में 'इमेज' से अभिप्राय किसी ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव की स्मृति से है जिसका परवर्ती अनुभव के द्वारा रूपांतर हो जाता है और जिसमें अंतर्मनोवैज्ञानिक तथा बहिर्मनोवैज्ञानिक उद्दीपन द्वारा उद्बुद्ध बौद्धिक

१. शॉर्टर ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी
२. चेम्बर्स ट्वेंटिएथ सेंचुअरी डिक्शनरी
३-४-५. वैब्स्टर्स थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एवं रागात्मक तत्त्व अंतर्भुक्त रहते हैं। वह संग्राहक यंत्र पर अंकित उद्दीपक पदार्थ की प्रतिच्छवि का पर्याय है।[१]

इमेज से अभिप्राय है ऐसी सचेत स्मृति का जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति में किसी अतीत अनुभव का समग्र अथवा अंश रूप में पुनरुत्पादन करती है।[२]

'इमेज' का हिन्दी (संस्कृत)-रूपांतर है 'बिम्ब', जिसका शब्दार्थ है : सूर्य-चन्द्र-मंडल, प्रतिच्छवि, प्रतिच्छाया, प्रतिबिम्बित अथवा प्रत्यंकित रूप, चित्र।[३]

—इस प्रकार, 'इमेज' के पर्याय-रूप में बिम्ब का प्रयोग सामान्यतः ठीक ही है, और प्रस्तुत लेख में हम इसका 'इमेज' के अर्थ में ही प्रयोग करेंगे।

काव्य के संदर्भ में बिम्ब का प्रयोग प्रायः मूल अर्थ में ही होता है—अर्थात् काव्य-बिम्ब के पारिभाषिक प्रयोग में बिम्ब (इमेज) का मूल अर्थ प्रायः सुरक्षित रहता है। पश्चिम के आलोचकों ने काव्य-बिम्ब की अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अनेक परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

काव्य-बिम्ब एक प्रकार का भाव-गर्भित शब्द-चित्र है।[४]

बिम्ब ऐंद्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्यों तक पहुंचने का मार्ग है।[५]

बिम्ब किसी अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनर्निर्मिति है।[६]

बिम्ब पदार्थों के आंतरिक सादृश्य की अभिव्यक्ति है।[७]

इन व्याख्याओं और परिभाषाओं का विश्लेषण करने के बाद बिम्ब के विषय में अनेक मूलवर्ती धारणाएं स्पष्ट हो जाती हैं :

बिम्ब पदार्थ नहीं है वरन् उसकी प्रतिकृति या प्रतिच्छवि है। मूल सृष्टि नहीं, पुनः-सृष्टि है।

बिम्ब एक प्रकार का चित्र है जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इंद्रियों के सन्निकर्ष से प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध हो जाता है।

पदार्थ के साथ हमारी इन्द्रियों का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में होता है—प्रत्यक्ष सन्निकर्ष में इन्द्रियों की क्रिया मुख्य रहती है; परोक्ष सन्निकर्ष में कल्पना का योग-दान प्रमुख हो जाता है, यद्यपि इन्द्रियां भी गौण रूप से सक्रिय रहती हैं।

बिम्ब का मूल विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार का हो सकता है—अर्थात् पदार्थ का भी बिम्ब हो सकता है और गुण का भी। किंतु उसका अपना रूप मूर्त ही होता है। अमूर्त बिम्ब नहीं होता; जिन बिम्बों को अमूर्त माना जाता है वे अचाक्षुष होते हैं, अगोचर नहीं होते।

काव्य-बिम्ब दूसरी कोटि के ही बिम्ब हैं जो उद्दीपक पदार्थ की अनुपस्थिति में कल्पना

---

१. वैब्स्टर्स थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी
२. सी० डब्ल्यू० ब्रे—एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में उद्धृत
३. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी—मोनियर विलियम्स
४. दि पोइटिक इमेज (अष्टम संस्करण)—सी० डे० लीविस, पृ० १९
५. सूज़ान के० लैंगर
६. व्हेले
७. टी० ई० ह्यूम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के द्वारा उद्‌बुद्ध होते हैं, जिनमें ऐन्द्रिय तत्त्व परोक्ष रूप से विद्यमान रहता है।

काव्य-बिम्ब का माध्यम शब्द-अर्थ है। यों तो प्रत्येक सार्थक शब्द में कोई बिम्ब निहित रहता है—वास्तव में प्रत्येक अर्थ का एक बिम्ब होता है पर उसका ऐन्द्रिय या गोचर रूप निरंतर प्रयोग से घिस जाता है। इसीलिए काव्य के लिए सामान्य प्रयोग के शब्द अधिक उपयोगी नहीं रहते और कवि को अपनी समृद्ध भावना तथा कल्पना के द्वारा इन बिम्बों को फिर से उभारना पड़ता है या शब्दों को नए बिम्बों से गर्भित करना पड़ता है। यही भाषा का भाव-कल्पनात्मक प्रयोग है : संस्कृत साहित्यशास्त्र की लक्षणा और व्यंजना इसी कल्पनात्मक प्रयोग के माध्यम-उपकरण हैं। सामान्य बिम्ब से काव्य-बिम्ब में यह भेद होता है कि (१) इसका निर्माण सक्रिय या सर्जनात्मक कल्पना से होता है, और (२) इसके मूल में राग की प्रेरणा अनिवार्यतः रहती है।

इस प्रकार काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।

आधार-तत्त्व : काव्य-बिम्ब का प्रेरक तत्त्व है भाव। भाव के संस्पर्श के बिना काव्य-बिम्ब का अस्तित्व संभव नहीं है : लीविस ने उसे अनिवार्य माना है और ठीक ही माना है। काव्य-बिम्ब स्वभावतः सामान्य बिम्ब की अपेक्षा अधिक रंगमय और समृद्ध होता है और उसे यह रंग या समृद्धि भाव से ही प्राप्त होती है। उसका निर्माण सक्रिय या सर्जनात्मक कल्पना से होता है—स्मृति या निष्क्रिय कल्पना का भी उपयोग उसमें रहता है, पर वह उपकरण के रूप में ही रहती है। इस प्रकार सर्जनात्मक कल्पना काव्य-बिम्ब का करण-तत्त्व है और ऐन्द्रिय अनुभव इसके मूल उपकरण-तत्त्व हैं। सामान्यतः प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का अनुभव एक प्रकार का बिम्ब उद्‌बुद्ध करता है, फिर भी चक्षु का योगदान सर्वाधिक रहता है। जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है बिम्ब का विधान अनिवार्यतः मूर्त ही होता है और चूंकि ऐन्द्रिय अनुभवों में चाक्षुष अनुभव = रूप सर्वाधिक मूर्त होता है, अतः बिम्ब में रूप-तत्त्व का प्राधान्य रहता है। शब्द, स्पर्श, रस और गंध के भी अपने-अपने बिम्ब होते हैं, पर प्रायः उन्हें भी रूप का आधार लेना पड़ जाता है। यही कारण है कि साम्य के समस्त रूपों में सादृश्य का महत्त्व सबसे अधिक है और अलंकार-तंत्र का अधिकांश सादृश्य पर आश्रित है। यहां तक तो हुई काव्य-बिम्ब के मानस-रूप की बात। पर अपने परिणत रूप में काव्य शब्दार्थमय होता है, अतः काव्य-बिम्ब भी शब्दार्थ = सार्थक शब्द के माध्यम से मूर्त रूप धारण करता है—यों कहना चाहिए कि सार्थक शब्द ही वह उपकरण-सामग्री है जिसमें बिम्ब का मूर्त रूप प्रकट होता है। इस सार्थक शब्द का भी अपना एक बिम्ब होता है जो काव्य-बिम्ब से स्वतंत्र होता है। कवि के सामने यह कठिनाई आती है कि अपनी उपकरण-सामग्री के इन स्वतंत्र बिम्बों का काव्य-बिम्ब के निर्माण में किस प्रकार उपयोग करे और वह इस कठिनाई को या तो ऐसे शब्दों के चयन द्वारा हल करता है जिनके बिम्ब अभीष्ट काव्य-बिम्ब के अनुकूल होते हैं या फिर इन शब्दों को नए बिम्बों से भारित कर अपने अनुकूल ढाल लेता है।

समानधर्मा काव्य-उपकरणों के साथ संबंध : साम्य और वैषम्य : काव्य के अनेक उपकरण ऐसे हैं जिनका बिम्ब के साथ निकट संबंध है; इस साम्य वैषम्य के उद्‌घाटन से बिम्ब का स्वरूप स्पष्ट करने में सहायता मिलेगी।

सबसे पूर्व लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को लीजिए। लक्षणा और व्यंजना दोनों ही बिम्ब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का विधान करती है—प्रत्येक लक्ष्यार्थ एक प्रकार का बिम्ब होता है : 'गंगा पर घर' में 'पर' के लक्ष्यार्थ से तीरवर्ती घर के नैकट्य का बिम्ब अनायास ही उभर आता है। इसी प्रकार 'सामने देखा, खड़ा था अस्थि-पंजर एक'—या 'आंचल में है दूध और आंखों में पानी'—लक्षणा के ये सभी प्रयोग बिम्ब-रूप हैं। दुर्बलता के आधिक्य को, जो अपने-आप में एक अमूर्त धारणा है, अस्थि-पंजर के बिम्ब द्वारा मूर्त किया गया है। वात्सल्य के लिए 'आंचल के दूध' और विरह के लिए 'आंखों के पानी—आंसू' का बिम्ब प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा व्युत्पन्न अर्थ प्रायः बिम्ब रूप ही होता है, अतः लक्षणा बिम्ब-योजना का अत्यंत समर्थ उपकरण है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु लक्ष्यार्थ और बिम्ब का पर्याय-संबंध नहीं है क्योंकि बिम्ब का स्वरूप जहां अनिवार्यतः मूर्त होता है, वहां लक्ष्यार्थ अमूर्त भी होता है। लक्षणा में केवल अमूर्त के लिए मूर्त का—अर्थात् गुण के लिए गुणी का प्रयोग ही नहीं होता वरन् मूर्त के स्थान पर अमूर्त का प्रयोग भी उतना ही चमत्कारपूर्ण होता है : उदाहरण के लिए—

मेरे मन में आज अचानक राक्षस जागा।

यहां अमूर्त तमोगुणी वृत्तियों के लिए मूर्त 'राक्षस' का प्रयोग किया गया है; तमोगुण अमूर्त है, उसको मूर्तित करने के लिए लक्षणा राक्षस का बिम्ब प्रस्तुत करती है। इसके विपरीत —'राक्षसता उनको विलोक कर थी लज्जा से लोहित-सी।' यहां 'राक्षसता' अमूर्त है, उसका अपना बिम्ब नहीं बनता; जो कुछ बनता भी है वह 'राक्षस' का ही बनता है। 'मेरे मन का पाप आज चीत्कार कर रहा'—यहां पाप की धारणा का अपना बिम्ब नहीं है, जो बिम्ब बनता है वह पाप-कर्म का या फिर 'चीत्कार' का ही बनता है। कहने का अभिप्राय यह है कि लक्षणा बिम्ब-विधान का अत्यंत समर्थ उपकरण है—बिम्ब के निर्माण में उसका योग प्रायः रहता है, परन्तु लक्ष्यार्थ और बिम्ब में ऐकात्म्य नहीं है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ—ध्वन्यर्थ भी बिम्ब रूप होता है : 'सूर्यास्त हो गया' वाक्य से विभिन्न श्रोता जो विभिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं, उनके अलग-अलग बिम्ब होते हैं—जैसे संध्या-वंदन का बिम्ब, अभिसार का बिम्ब आदि। किन्तु ध्वन्यर्थ सदा बिम्ब रूप नहीं होता; वस्तुध्वनि तो बिम्ब रूप होती है. पर रस-ध्वनि का स्वरूप बिम्बमय नहीं होता। रस-ध्वनि, जिसके अंतर्गत भाव-ध्वनि आदि का भी समावेश रहता है, निश्चय ही अनुभूति-रूप होती है—बिम्ब उसका माध्यम अवश्य होता है, किन्तु उसका स्वरूप अनुभूतिमय होता है।

उपमान और प्रतीक के साथ भी बिम्ब का घनिष्ठ संबंध है। उपमान बिम्ब-रचना का साधन है : सादृश्य-विधान उपमान की सहायता से होता है। प्रत्येक उपमान का अपना बिम्ब होता है जो उद्दिष्ट अर्थ—अनुभूति या विचार—को मूर्तित करने में सहायक होता है। वास्तव में उपमान की अपेक्षा बिम्ब की परिधि कहीं अधिक विस्तृत और व्यापक है : बिम्ब-विधान के अनेक उपकरणों में से उपमान एक अत्यंत उपयोगी उपकरण है। प्रतीक एक प्रकार से रूढ़ उपमान का ही दूसरा नाम है, जब उपमान स्वतंत्र न रहकर पदार्थ-विशेष के लिए रूढ़ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रतीक अपने मूल रूप में उपमान होता है, धीरे-धीरे उसका बिम्ब-रूप या चित्र-रूप संचरणशील न रहकर स्थिर या अचल हो जाता है। अतः प्रतीक एक प्रकार का अचल बिम्ब है जिसके आयाम सिमट कर अपने भीतर बंद हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अलंकार और बिम्ब का संबंध और भी गहरा है—यहां तक कि अलंकार-विधान और बिम्ब-विधान दोनों प्रायः अप्रस्तुत-विधान के वाचक और परस्पर समानार्थक बन जाते हैं। फिर भी अलंकार और बिम्ब में भेद है। यह ठीक है कि दोनों अभिव्यंजना के उपकरण हैं और दोनों के कर्तव्य-कर्म प्रायः समान हैं, परन्तु अलंकार की परिधि अधिक व्यापक है। बिम्ब का क्षेत्र औपम्य=साम्यमूलक अलंकारों तक ही सीमित है : विरोध में भी साम्य का विपरीत रूप होने से विरोधमूलक अलंकारों में भी बिम्ब की कल्पना को जा सकती है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी रचनानुक्रम, श्लेष आदि पर आश्रित अनेक अलंकार रह जाते हैं जिनमें बिम्ब की कल्पना नहीं की जा सकती—जब तक कि बिम्ब की व्याप्ति अर्थ मात्र तक न मान ली जाए।

अंत में, काव्यशास्त्र में प्रयुक्त कुछ और धारणाएं भी हैं जो बिम्ब के निकट हैं—जैसे कल्पकथा (मिथ), रूपक (मेटाफ़र), अन्योक्ति-रूपक (एलिगरी) आदि। इनके अतिरिक्त एक और धारणा है—सहजानुभूति (इन्ट्यूशन) जो क्रोचे के सौंदर्य-दर्शन का मूल आधार है। इनमें से सहजानुभूति वास्तव में आत्मा की वह क्रिया है जो बिम्ब का उत्पादन करती है—किसी भी पदार्थ की सहजानुभूति मनुष्य को बिम्ब रूप में ही होती है, अतः क्रिया रूप में सहजानुभूति और बिम्ब में अभेद संबंध है यद्यपि मूलतः सहजानुभूति और बिम्ब में उत्पादक-उत्पाद्य संबंध है। रूपक (मेटाफ़र के अर्थ में) लक्षणा के प्रयोग का ही पर्याय है जिसका विवेचन हम अभी कर चुके हैं : वह बिम्ब का साधन है। अन्योक्ति-रूपक और कल्पकथा संश्लिष्ट प्रबंधबिम्ब के विशेष प्रकार हैं। अमूर्त सिद्धान्त या विचारधारा को मूर्त रूप देने के लिए जिस शृंखलित या निबद्ध बिम्ब-विधान की सृष्टि की जाती है, वही अन्योक्ति-रूपक है। जब इस प्रकार के बिम्ब जन-जीवन के विश्वास के अंग बन जाते हैं—गल्प न रहकर तथ्य प्रतीत होने लगते हैं तो वे पुराकथा का रूप धारण कर लेते हैं। इसलिए अन्योक्ति-रूपक और कल्पकथा या पुराकथा निश्चय ही बिम्ब-प्रकार हैं : एक में कल्पना के साथ विचार का और दूसरे में विश्वास का अनिवार्य आधार होने से उनका स्वरूप सामान्य बिम्ब से विशिष्ट हो जाता है।

प्रकार : बिम्ब के प्रकार-भेदों का निर्धारण उसके विधायक तत्त्वों के आधार पर किया जा सकता है। बिम्ब में ऐन्द्रिय आधार प्रमुख रहता है, अतः ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर बिम्ब के पांच भेद किए जा सकते हैं—दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य और रस्य या आस्वाद्य। दृश्य या चाक्षुष बिम्ब आकारवान् होते हैं। इनका स्वरूप सबसे अधिक स्पष्ट होता है क्योंकि उसके आयाम अधिक मूर्त होते हैं। यही कारण है कि ऐसे प्रत्येक अनुभव के लिए जिसमें किसी भी इन्द्रिय का सीधा सन्निकर्ष होता है, 'प्रत्यक्ष' विशेषण का ही प्रयोग किया जाता है और जीवन तथा काव्य में दृश्य बिम्बों का प्रयोग सर्वाधिक होता है—इसीलिए अलंकार-तंत्र में भी सादृश्य का इतना अधिक महत्त्व रहा है। श्रव्य या नादात्मक बिम्ब वे होते हैं जिनका ग्रहण कर्णेन्द्रिय के द्वारा किया जाता है : वर्ण-ध्वनि, छान्दस लय, तुकांत आदि के बिम्ब श्रव्य हैं : अनुप्रास, वृत्ति आदि से भी श्रव्य बिम्बों का उत्पादन होता है। प्रत्येक छंद का अपना एक बिम्ब होता है। 'घन घमंड नभ गर्जत घोरा' में महाप्राण वर्ण-ध्वनि का अपना श्रव्य बिम्ब है, उधर चौपाई की लय का अपना स्वतंत्र बिम्ब है—और दोनों के समन्वय से एक संश्लिष्ट बिम्ब का निर्माण हो जाता है।

इसके अतिरिक्त अनेक श्रव्य बिम्ब ऐसे हैं जो ध्वनि-प्रतीकों पर आश्रित रहते हैं : जैसे वीणा, वंशी, मृदंग, कोकिल, केकी आदि। इनके अपने-अपने चाक्षुष बिम्ब भी होते हैं,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परन्तु वे अप्रासंगिक होते हैं।—उदाहरण के लिए 'हृदय-वीणा' (=हृदय का संगीत) आदि में वीणा का श्रव्य बिम्ब ही सामान्यतः सार्थक है। छायावाद के कवियों ने इसी रूप में उसका प्रयोग किया है—'लोकायतन' में पंत का 'नितम्बमयी वीणा' प्रयोग, जो वीणा के चाक्षुष बिम्ब पर आधृत है, एक प्रकार का अपवाद है। स्पृश्य बिम्ब में स्पर्शजन्य-संवेदनों के समन्वय से बिम्ब का निर्माण होता है—पेशल या कोमल, कर्कश, कठोर आदि विशेषण इसी प्रकार के स्पर्श-बिम्बों के वाचक शब्द हैं जिनके बिम्बात्मक रूप अतिप्रयोग के कारण जड़ बन गए हैं। 'मख़मली घास', 'रेशमी वर्ण-योजना' आदि में स्पृश्य बिम्बों का चमत्कार है। गंध-बिम्ब काव्य में और भी विरल होते हैं; विश्व के काव्य से ऐसे उदाहरण एकत्र करना कठिन है जिनमें संश्लिष्ट घ्रातव्य बिम्ब प्रस्तुत किए गए हों। कीट्स जैसे कवि के काव्य में भी, जिसका ऐन्द्रिय संवेदन अत्यंत प्रखर था, इस प्रकार के उदाहरण दो-चार ही मिलते हैं और उनका ग्रहण भी सर्व-सुलभ नहीं है। भिन्न-भिन्न गंध-रूपों के प्रतीक फूलों आदि के द्वारा भी घ्रातव्य बिम्बों का उत्पादन होता है और इस प्रकार के बिम्ब प्रायः उपलब्ध भी होते हैं, परन्तु उनकी बिम्बता बहुत-कुछ रूढ़ हो जाती है। इनकी अपेक्षा आस्वाद्य बिम्ब अधिक सुलभ होते हैं क्योंकि सौंदर्य के आस्वाद की अभिव्यक्ति और व्याख्या दोनों में ही आस्वादपरक बिम्बों का प्रयोग स्वभावतः सरल होता है। 'मीठी लगै अँखियान लुनाई'—या 'नयन सलौने अधर मधु कहि रहीम घटि कौन ?' में आस्वाद्य बिम्बों का स्पष्ट प्रयोग है। अन्त में ऐन्द्रिय बिम्बों के विषय में एक बात ध्यान देने की यह है कि इनका प्रायः विपर्यय होता रहता है—'मधुर रूप' में दृश्य के लिए आस्वाद्य बिम्ब का प्रयोग है; 'कोमल स्वर' और 'कटु स्वर' में श्रव्य के लिए क्रमशः स्पृश्य तथा आस्वाद्य बिम्बों का और 'कोमल पेय' (सौफ़्ट ड्रिंक) में आस्वाद्य के लिए स्पृश्य बिम्ब का प्रयोग अनायास ही होता रहता है। इस विपर्यय का कारण यह है कि विभिन्न इन्द्रियां केवल एक ही चेतना के माध्यम-भेद हैं।

बिम्बों का वर्ग-विभाजन सर्जक कल्पना के आधार पर भी हो सकता है। जब कल्पना प्रायः निष्क्रिय रहती है और स्मृति के द्वारा ही बिम्ब की उद्‌बुद्धि होती है तब 'स्मृत' बिम्ब की सृष्टि होती है। अतीत अनुभव के आधार पर यथार्थपरक बिम्ब स्मृत बिम्ब कहलाते हैं। इसके विपरीत कविप्रौढ़ोक्ति-सिद्ध बिम्ब, जो सक्रिय कल्पना की सृष्टि होते हैं, 'कल्पित बिम्ब' कहलाते हैं। इन्हीं के समानान्तर 'लक्षित' और 'उपलक्षित' बिम्ब-वर्ग हैं। लक्षित बिम्ब का आधार प्रस्तुत और उपलक्षित का आधार अप्रस्तुत होता है :

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्य्यस्त प्रति लट से खुल,
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल।
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएं हों ज्यों कहीं पार।

('राम की शक्ति-पूजा')

यहां पहली दो पंक्तियों में अंकित राम का चित्र लक्षित बिम्ब का उदाहरण है और अंतिम दो पंक्तियों में उपस्थित कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अप्रस्तुत-विधान उपलक्षित बिम्ब का।

इसी प्रकार प्रेरक अनुभूति के आधार पर बिम्बों के 'सरल', 'मिश्र', 'जटिल', 'पूर्ण' या 'समाकलित' बिम्बों की प्रकल्पना की गई है। सरल अनुभूति से प्रेरित बिम्ब सरल होता है : जैसे,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लज्जा ने घूंघट काढ़ा।
मुख का रंग किया गाढ़ा।।

('साकेत')

मिश्र अनुभूति का बिम्ब मिश्र होता है : जैसे,

लाली बन सरल कपोलों में
आंखों में अंजन-सी लगती
कुंचित अलकों सी घुंघराली
मन की मरोर बन कर जगती।
चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली
मैं वह हलकी सी मसलन हूं
जो बनती कानों की लाली।

('कामायनी')

और, जटिल अनुभूति का बिम्ब जटिल होता है :

कोमल किसलय के अंचल में नन्ही कलिका ज्यों छिपती-सी,
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती-सी;

मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में मन का उन्माद निखरता ज्यों,
सुरभित लहरों की छाया में बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों;

वैसी-ही माया में लिपटी अधरों पर उंगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का आंखों में पानी भरे हुए;

नीरव निशीथ में लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाहें फैलाए-सी आलिंगन का जादू पढ़ती ?

किन इन्द्रजाल के फूलों से लेकर सुहाग-कण राग-भरे,
सिर नीचा कर हो गूंथ रही माला, जिससे मधु धार ढरे ?

('कामायनी')

पहले बिम्ब की रेखाएं और रंग स्पष्ट हैं। लज्जा के उदय से 'मुख की लालिमा में वृद्धि' और शील के प्रभाव से 'घूंघट-सा कढ़ आना' : रंग भी एक है और रेखाएं भी स्पष्ट हैं। दूसरे में भी लज्जा के ही प्रभाव का वर्णन है, पर उसमें अनेक रंग मिले हुए हैं और उधर रेखाएं भी एक-दूसरे के साथ गुंथी हुई हैं—कपोलों की लाली, आंखों में शील का अंजन, कुंचित अलकों की घूंघर और उसके समान मन की मरोड़, सुन्दर बाला की किशोरावस्था-जन्य चंचलता, उसकी अभिभाविका के रूप में लज्जा का नियंत्रण; अंत में मन में होने वाली कामपीड़ा की मसलन और उससे प्रेरित कर्णमूलों की लाली। इस प्रकार, काम और शील के द्वन्द्व को मूर्तित करने के लिए रति की प्रेरक और रोधक मानसिक-शारीरिक क्रियाओं के व्यंजक विभिन्न रंगों और रेखाओं के मेल से मिश्र बिम्ब की रचना की गई है। तीसरा बिम्ब निश्चय ही जटिल है, उसकी रेखाएं उलझी हुई और रंग धूमिल हैं : प्रमाता को अपनी कल्पना के द्वारा क्रम लगाकर बिम्ब की रूपरेखा पूर्ण करनी पड़ती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खण्डित अनुभूति 'खण्डित बिम्बों' और बिखरी हुई अनुभूति 'विकीर्ण बिम्बों' की सृष्टि करती है। मूलतः खण्डित बिम्ब और विकीर्ण बिम्ब में परिमाण का भेद है, गुण का नहीं। विकीर्ण बिम्ब भी खण्डित बिम्ब ही होता है—वास्तव में विकीर्ण बिम्ब एक प्रकार की खण्डित बिम्बावली का नाम है। खण्डित एवं विकीर्ण बिम्बों का प्रयोग नई कविता की विशेषता है। अन्य कवियों के संदर्भ में खण्डित बिम्ब का विधान जहां अभिव्यक्ति की असफलता का द्योतक था, और आज भी है, वहां नया कवि सिद्धान्ततः आज की अनुभूति को खण्डित मानता हुआ अपनी अभिव्यंजना में खण्डित बिम्ब-योजना की स्थिति अनिवार्य समझता है :

इसी अहाते के अन्दर
हैं, वहां मध्य में
उलटे तिरछे खड़े पुराने पेड़
ऊंचाई पर बड़े खड्ड में
उन पेड़ों की डालों में से, एक
झांक रही कत्थई रुखाई जो कि
वह बंगला है, लाल भवन है, क्योंकि
कोई रक्तिम केन्द्र
उसी केन्द्र की तलाश में चुपचाप
घूम रहा हूं आप।
सुना है कि उस केन्द्र-सत्य में, खाट
डालकर सोता है विभ्राट्
कोई मर गया किसी से गुप्त युद्ध में
उसी अहाते के अन्दर,
तरु-घिरे मध्य में।

('चाँद का मुँह टेढ़ा')

'पूर्ण' अथवा 'समाकलित' बिम्ब समाकलित अनुभूति की सृष्टि होता है : सर्जक चेतना की संचारी अनुभूतियों के समाकलन के साथ ही उनके बिम्ब भी समाकलित होकर एक समंजस बिम्ब का निर्माण करते हैं। कला का गौरव इस प्रकार के बिम्बों पर ही निर्भर करता है। 'राम की शक्ति-पूजा' से उद्धृत शब्दचित्र इसी प्रकार के समाकलित बिम्ब का अत्यन्त भव्य उदाहरण है। पंत के 'परिवर्तन' से इसी प्रकार का एक बिम्ब निम्नांकित है :

अहे वासुकि सहस्रफन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
शतशत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुंडल
दिङ्मंडल !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

काव्यार्थ की दृष्टि से दो-तीन प्रकार के बिम्ब सामने आते हैं—(१) 'एकल' या 'मुक्तक' जो अपने में स्वतंत्र और अन्य बिम्बों के पूर्वापर संबंध से मुक्त होते हैं, (२) 'संश्लिष्ट' या 'निबद्ध' जिनमें अनेक बिम्ब परस्पर संबद्ध रहते हैं। उपरिविवेचित सरल बिम्ब एकल होते हैं और मिश्र तथा समाकलित बिम्ब संश्लिष्ट होते हैं। उदाहरण लीजिए :

१. सरल बिम्ब—

व्योम से उतर रहीं चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप
मधुर, मंथर, मृदु, मौन !

(पंत—'संध्या')

२. संश्लिष्ट बिम्ब—

अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्व हीन।
गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल
लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर, पड़ गई नील ज्यों अधरों पर
अरुणाई, प्रखर शिशिर से डर।
तरुशिखरों से वह स्वर्ण-विहग, उड़ गया खोल निज पंख सुभग
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग !
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील कोमल कोमल
छाया तरु-वन में तम श्यामल !

(पंत—'संध्यातारा')

प्रबंध-काव्य के संदर्भ में बिम्बों का अपना अलग स्वरूप और उपयोग है। प्रबंध-कवि अपने ढंग से छोटे-बड़े बिम्बों का प्रयोग करता है। कथावस्तु का लघुतम रूप है घटना, घटनाओं के संघात से प्रकरण का निर्माण होता है और प्रकरणों के संयोजन से कथानक का। प्रबंध-काव्य में इनके अपने-अपने बिम्ब होते हैं वरन् यह कहना अधिक संगत होगा कि ये सभी वस्तुतः बिम्ब हैं। जिस प्रकार काव्यगत भाव का स्वरूप अनुभूतिमय न रहकर बिम्बात्मक बन जाता है, इसी प्रकार काव्यगत घटना का स्वरूप भी बिम्बात्मक ही होता है। तत्त्व-दृष्टि से जीवन की भी प्रत्येक घटना किसी अनुभूति की भौतिक अभिव्यक्ति=बिम्ब रूप ही होती है। काव्य के क्षेत्र में तो यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है : काव्य में वर्णित घटना की भौतिक सत्ता गौण होती है : मुख्य होती है वह अनुभूति जिसको इस घटना के द्वारा व्यक्त किया गया है। 'घटना-बिम्बों' के समन्वय से 'प्रकरण-बिम्बों' का निर्माण होता है। 'अभिज्ञानशाकुंतल' में 'दुर्वासा का शाप' एक प्रकरण है जिसमें दुर्वासा का भिक्षा के लिए आना, शकुंतला की विरह-मूढ़ दशा और उसके कारण दुर्वासा की उपेक्षा, दुर्वासा का शाप, प्रियंवदा द्वारा अनुनय और दुर्वासा द्वारा शाप-मुक्ति के उपाय का उपदेश आदि घटनाएं समवेत हैं। इनमें से प्रत्येक घटना किसी-न-किसी अनुभूति का बिम्ब है और इनसे निर्मित 'दुर्वासा-शाप' का संश्लिष्ट बिम्ब एक विशेष काव्यार्थ का व्यंजक माध्यम-बिम्ब है, जिसके तथ्यार्थ का विशेष मूल्य न होकर व्यंग्यार्थ का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही कलात्मक महत्त्व है। इसी प्रकार सम्पूर्ण कथानक भी एक बृहद् बिम्ब है जिसका निर्माण अनेक प्रकरण-बिम्बों से मिलकर होता है। यही 'प्रबंध-बिम्ब' है। जिस प्रकार घटना या प्रकरण किसी काव्यार्थ के व्यंजक माध्यम होते हैं, इसी प्रकार सम्पूर्ण कथानक भी किसी काव्यार्थ का व्यंजक होता है जिसे काव्यशास्त्र के आचार्यों ने 'प्रबंध-ध्वनि', 'महावाक्यार्थ' आदि नामों से अभिहित किया है। कथाकाव्य के अन्य अगों—पात्र, परिवेश आदि के विषय में भी यही स्थिति है। प्रत्येक पात्र के चारित्रिक गुणों के भी अपने-अपने बिम्ब होते हैं और सम्पूर्ण चरित्र का भी एक बिम्ब होता है। किसी चरित्र का गौरव इस बात पर निर्भर करता है कि उसके बिम्ब की रेखाएं कितनी पुष्ट, रंग कितने गाढ़े और योजना कितनी समंजस है। यही परिवेश के संदर्भ में भी सही है; हर एक कथानक का अपना परिवेश अर्थात् देश-काल होता है जो बिम्ब रूप में ही पाठक की कल्पना में उपस्थित होता है।

इनके अतिरिक्त काव्यदृष्टि के आधार पर (१) 'वस्तुपरक' अथवा 'यथार्थ', और (२) 'रोमानी' अथवा 'स्वच्छन्द' बिम्बों की प्रकल्पना भी की जा सकती है और अनेक आलोचकों ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में 'रोमानी बिम्ब-विधान' आदि का स्पष्ट रूप से प्रयोग किया है। मनोविश्लेषणशास्त्र के क्षेत्र में बिम्ब के कतिपय अन्य प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है—जैसे स्वप्न-बिम्ब और आद्य बिम्ब। स्वप्न-बिम्बों की सृष्टि व्यक्ति का अवचेतन मन करता है: फ़ायड ने इनका विस्तार से विवेचन किया है। आद्य बिम्ब सामूहिक अवचेतन की सृष्टि होते हैं—इनकी प्रकल्पना युंग ने की है। ये आदिम अनुभूतियों के संस्कार रूप में आज भी मानव-जाति के अवचेतन मन में विद्यमान हैं और अनेक प्रकार से अपनी अभिव्यक्ति करते रहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि काव्य-बिम्ब का इनके साथ थोड़ा-बहुत साम्य है जैसा कि काव्य का स्वप्नों या आद्य कल्पनाओं के साथ साम्य है। फिर भी जिस प्रकार काव्य अवचेतन मन की क्रियाओं से प्रभावित होने पर भी चेतन मन की ही क्रिया है, इसी प्रकार काव्य-बिम्ब भी अपनी निर्मिति-प्रक्रिया में स्वप्न-बिम्बों तथा आद्य बिम्बों से प्रभावित होने पर भी चेतन मन की ही सृष्टि हैं। अत: स्वप्न-बिम्ब तथा आद्य बिम्ब को काव्य-बिम्ब के भेद न मानकर उपादान मानना अधिक संगत होगा। जिस प्रकार चेतन कल्पना अवचेतन मन की क्रिया से भी प्रभावित रहती है और अनजाने उसका उपयोग करती है, इसी प्रकार कवि-कल्पना भी जाने-अनजाने, प्रायः अनजाने ही, स्वप्न-बिम्बों तथा आद्य बिम्बों का उपयोग करती है। इसके आगे अवचेतन मनोविज्ञान की सीमाओं में प्रवेश करना पड़ेगा, जो साहित्य के आलोचक के लिए न सुगम है और न उपयोगी।

अंत में, बौद्धिक या प्रज्ञात्मक-बिम्बों का भी प्रश्न सामने आता है। परन्तु ये तथाकथित प्रज्ञात्मक बिम्ब वास्तव में धारणा रूप होते हैं और धारणा स्वीकृत अर्थ में बिम्ब नहीं होती। क्रोचे ने बिम्ब और धारणा को आत्मा की दो भिन्न उप-क्रियाओं की सृष्टि माना है। उनके अनुसार, आत्मा की मूलत: दो क्रियाएं होती हैं—व्यावहारिक तथा विचारात्मक। विचारात्मक क्रिया के भी दो भेद होते हैं—सहजानुभूति और प्रज्ञा। सहजानुभूति बिम्बों का उत्पादन करती है और प्रज्ञा प्रत्ययों या धारणाओं का। बिम्ब का रूप विशेष होता है और धारणा का सामान्य; बिम्ब का विषय पदार्थ होता है और धारणा का विषय होता है पदार्थों का संबंध। अत: बिम्ब और प्रत्यय अथवा धारणा का भेद अत्यन्त स्पष्ट है—धारणा प्रायः बिम्ब का विपरीतार्थक शब्द है। ऐसी स्थिति में धारणा के बिम्ब अथवा प्रज्ञात्मक बिम्ब की प्रकल्पना अधिक संगत नहीं हो सकती। न्याय, पाप, पुण्य, सत्य, अहिंसा, क्षमा आदि धारणाएं ही हैं, बिम्ब नहीं हैं। इनके बिम्बों की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कल्पना दो रूपों में ही की जा सकती है : एक तो इस रूप में कि प्रत्येक सार्थक शब्द का एक बिम्ब होता है और इस प्रकार धारणा का भी कुछ-न-कुछ बिम्ब अवश्य बनता है—चाहे वह कितना ही अमूर्त क्यों न हो, दूसरे उस स्थिति में जब कि धारणा भौतिक कर्म अथवा घटना पर आरूढ़ होकर उसी की पर्याय बन जाती है—जैसे कि न्याय या पाप विचार-रूप में बिम्बहीन है, परन्तु कर्म-रूप में वह बिम्बात्मक बन जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रज्ञात्मक बिम्ब की स्थिति लक्ष्यार्थ में ही मानी जा सकती है, वैज्ञानिक अर्थ में उसे स्वीकार कर लेने से बिम्ब का अर्थ फिर उलझ जाएगा। कम-से-कम काव्य के संदर्भ में इस प्रकार के बिम्ब का विशेष मूल्य नहीं है।

इसी प्रसंग में भावात्मक बिम्बों का प्रश्न भी लिया जा सकता है। न्याय, पुण्य, पाप, तप, निष्ठा आदि के समान ही पीड़ा, संशय, वासना, लालसा, क्रोध आदि भावों का प्रयोग भी काव्य में सादृश्य-विधान के लिए प्रायः किया जाता है :

१—बढ़ने लगा विलास-वासना-सा वह भैरव जलसंघात।
('कामायनी')

२—धीरे धीरे संशय-से उठ बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर;
नभ के उर में उमड़ मोह-से, फैल लालसा-से निशि-भोर।
('बादल'—पंत)

३—मेरा गीत दर्द सा उठा और आह-सा बिखर गया।

इन्हें बिम्ब माना जाय या नहीं ? हमारा उत्तर यह है कि इनमें से कुछ तो मूलतः भाव होते हुए भी वर्तमान संदर्भ में धारणा के रूप में प्रयुक्त हुए हैं : जैसे 'वासना', 'संशय' और 'मोह' का प्रयोग संवेदन के रूप में न होकर 'धारणा' के रूप में हुआ है, अतः संवेदनशील होने पर भी इनकी स्थिति प्रायः वैसी ही है जैसी कि किसी शुद्ध धारणा की होती है। शुद्ध 'धारणा' के संदर्भ में विचार के स्थान पर प्रायः व्यवहार या कर्म का बिम्ब उपस्थित होता है और यहां भाव के स्थान पर उसके अनुभावों का—प्रायः आंतरिक अनुभावों का। उदाहरण के लिए 'बादल' के चित्र की प्रथम पंक्ति में 'अपयश' एक धारणा है और 'अपयश की तरह फैलने' में 'अपयश' का अर्थ है अपयश-संबंधी सूचना, जिसका माध्यम है जन-वार्ता आदि। अतः अपयश से अपयश-संबंधी जनवार्त्ता आदि का बिम्ब ही हमारे सामने उपस्थित होता है। 'संशय', 'वासना', 'मोह', 'लालसा', 'दर्द' (पीड़ा)—आदि के बिम्ब आन्तरिक अनुभावों—अर्थात् इन धारणाओं से संबद्ध मानसिक-ऐन्द्रिय (स्नायविक) क्रियाओं के बिम्बों के रूप में उपस्थित होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रज्ञात्मक बिम्बों की भांति भावात्मक बिम्बों के भी स्वतंत्र अस्तित्व की प्रकल्पना सार्थक नहीं मानी जा सकती।—भेद केवल इतना है कि भावना में धारणा की अपेक्षा ऐन्द्रिय तत्त्व अधिक होने के कारण उसके स्वरूप में गोचरता और बिम्बात्मकता स्वभावतः अधिक रहती है और इसीलिए 'असत्य' की अपेक्षा 'मोह' का या 'आदर' की अपेक्षा 'प्रेम' का बिम्ब अपने सहज रूप में ही अधिक स्पष्ट होता है।

कठिनाई वास्तव में यह है कि चाक्षुष बिम्बों के अतिरिक्त अन्य बिम्ब गोचर होते हुए भी इतने अमूर्त होते हैं कि अपनी अमूर्तता में वे प्रायः मानसिक प्रतिक्रियाओं के निकट पहुंच जाते हैं—'भूख-प्यास' में और 'तीव्र इच्छा' में मानसिक-ऐन्द्रिय (स्नायविक) क्रियाएं इतनी अधिक समान होती हैं कि उनका भेद करना सामान्यतः कठिन होता है। अतः एक मत (यद्यपि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह अल्पमत ही है) यह भी है कि बिम्ब केवल चाक्षुष ही होते हैं—स्पृश्य, आस्वाद्य आदि अन्य तथाकथित बिम्बों को संवेदन ही मानना चाहिए। बाह्य दृष्टि से यह मत सहज ग्राह्य प्रतीत होता है, परन्तु वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर इसकी अप्रामाणिकता अनायास ही सिद्ध हो जाती है। विज्ञान की दृष्टि से रूप, रस, गन्ध आदि के ग्रहण की प्रक्रिया प्रायः एक-सी ही होती है : सभी में पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष चेतना में किसी-न किसी प्रकार के बिम्ब या बिम्ब-विधान की उद्‌बुद्धि करता है। दृष्टि-पटल (रेटिना) पर पदार्थ का जो अक्स पड़ता है उसे रूप कहते हैं और त्वचा पर जो अक्स पड़ता है उसे स्पर्श कहते हैं : जैसे लालिमा, नीलिमा आदि रूप-बिम्ब हैं, ऐसे ही कोमलता-कठोरता आदि स्पर्श-बिम्ब हैं, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि घ्राण-बिम्ब हैं, कटु-तिक्त आदि स्वाद-बिम्ब हैं। पत्थर और क़िसलय के स्पर्श से, चम्पा और केवड़े की गन्ध से या वीणा तथा वंशी के स्वर से केवल संवेदन ही उत्पन्न होकर नहीं रह जाते, वरन् ये संवेदन संश्लिष्ट होकर स्पष्ट मानस-छवियों का निर्माण करते हैं जो चाक्षुप न होकर भी गोचर होती हैं। व्यवहार-दृष्टि से भी बिम्ब अनुभूति की मूर्तन-क्रिया का अंग है—मनो-गोचर को इन्द्रिय-गोचर बनाने का साधन है : अतः यदि इसे केवल एक इन्द्रिय—नेत्र की क्रिया तक ही सीमित कर दिया जाएगा तो इसकी परिधि और उपादेयता अत्यंत सीमित हो जाएगी, सौन्दर्य केवल रूप का ही पर्याय बन जाएगा और कला केवल नयन-विलास होकर रह जाएगी।

बिम्बों के सामान्यतः ये ही या इसी तरह के प्रकार-भेद हो सकते हैं : कुछ अन्य दृष्टियों से भी इन भेदों का संख्या-विस्तार किया जा सकता है : पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में अनेक प्रकार से बिम्बों के इतने अधिक भेद कर दिये गये हैं कि वे प्रायः एक-दूसरे की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं और अर्थ के समस्त प्रकार और रूप बिम्बात्मक हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए, निश्चित आधार के अभाव में स्केल्टन का वर्गीकरण लिया जा सकता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि पोएटिक पैटर्न' में काव्यात्मक-बिम्बों के कुछ इस प्रकार के भेद किए हैं : सरल, तात्कालिक, विकीर्ण, अमूर्त, संयुक्त-मिश्र, संयुक्त-अमूर्त, मिश्र-अमूर्त, अमूर्त-संयुक्त और अमूर्त-मिश्र। हमारे विचार से इस प्रकार की अतिव्याप्ति से बिम्ब-विवेचन एकदम उलझ जाता है और उसके स्वरूप, सीमा तथा क्षेत्र का निर्धारण असम्भव हो जाता है।

अतिव्याप्ति तथा आवृत्ति को बचाते हुए स्थूल रूप से निम्नलिखित बिम्ब-भेद मानना व्यवहार-दृष्टि से अधिक संगत होगा :

(वर्ग-१) दृश्य (चाक्षुप), श्रव्य (श्रौत), स्पृश्य, घ्रातव्य और रस्य (आस्वाद्य); (वर्ग-२) लक्षित और उपलक्षित; (वर्ग-३) सरल और संश्लिष्ट; (वर्ग-४) खण्डित और समाकलित; (वर्ग-५) वस्तुपरक और स्वच्छन्द।

ये भेद स्वतंत्र या एक-दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं : इनका परस्पर संबंध हो सकता है और प्रायः होता है। उदाहरण के लिए चाक्षुप बिम्ब लक्षित भी होता है और उपलक्षित भी। इसी प्रकार लक्षित चाक्षुष बिम्ब सरल भी हो सकता है और संश्लिष्ट भी—और यह संश्लिष्ट लक्षित चाक्षुष बिम्ब वस्तुपरक तथा स्वच्छन्द दोनों तरह का हो सकता है—अर्थात् हम समग्र रूप में एक 'वस्तुपरक समाकलित लक्षित चाक्षुष बिम्ब' की कल्पना अनायास ही कर सकते हैं।

हमारा विश्वास है कि इनका निर्भ्रान्त ज्ञान होने से कवि अथवा कविता की बिम्ब-योजना का विश्लेषण करने में सहायता मिल सकती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भारतीय काव्यशास्त्र में बिम्ब-विषयक संकेत

भारतीय काव्यशास्त्र का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है—वास्तव में प्रत्येक देश और जाति के काव्य एवं काव्यशास्त्र का अपना दृष्टिकोण होता है। फिर भी, जीवन की भांति काव्य के भी कतिपय तत्त्व ऐसे हैं जो चिरंतन और सार्वभौम हैं—विभिन्न देशों की चिंतन-पद्धति में उनके नाम-रूप भिन्न हो सकते हैं, किन्तु तत्त्वदृष्टि से उनमें मौलिक भेद नहीं होता। काव्य के क्षेत्र में एक तो उसका संवेद्य तत्त्व है और दूसरी है उसकी मूर्तन-प्रक्रिया : इन दोनों के भी पृथक् अस्तित्व की कल्पना तत्त्वतः अधिक संगत नहीं है, पर व्यवहार में इनको प्रायः अलग करके देखना अनिवार्य हो जाता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के काव्यशास्त्र में इनके अलग-अलग नाम हैं, इनसे सम्बद्ध धारणाओं में और दृष्टिकोणों अथवा विवेचन-पद्धतियों में भी अन्तर है, पर ये दोनों तत्त्व किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र ही मिलते हैं। बिम्ब या बिम्ब-विधान का सम्बन्ध मूर्तन-प्रक्रिया से है और इसलिए प्रत्येक काव्यशास्त्र में उसका किसी-न-किसी रूप में विचार अनिवार्यतः होना ही चाहिए। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के तत्त्व व रूप दोनों का अत्यंत सूक्ष्म-गंभीर और विस्तृत विवेचन किया गया है, अतः बिम्ब-विषयक धारणाओं का भी विवेचन यहां अनेक प्रसंगों में प्रकारान्तर से किया ही गया है।

कल्पना की सृष्टि होने के कारण बिम्ब का सम्बन्ध अलंकार, ध्वनि, वक्रता के साथ अधिक घनिष्ठ है और रीति के साथ अपेक्षाकृत कम है। अलंकार-विधान में सादृश्यमूलक अलंकार प्रायः बिम्बात्मक होते हैं, जिनमें सादृश्य प्रतीयमान रहता है उनमें बिम्ब की स्थिति और भी अधिक निश्चित रहती है। दृष्टान्त और निदर्शना अलंकारों के लक्षणों में संयोग से बिम्ब शब्द का प्रयोग भी हुआ है :

दृष्टान्त—दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।[1]

जहां उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो वहां दृष्टान्त अलंकार होता है।[2]

> सुख-दुख के मधुर-मिलन से यह जीवन हो परिपूरन
> फिर घन में ओझल हो शशि, फिर शशि से ओझल हो घन। (पंत)

यहां उपमेय-उपमान 'सुख-दुख' तथा 'शशि-घन' और उधर 'मधुर-मिलन' तथा 'एक-दूसरे में ओझल होना' में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

निदर्शना—यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना।[3] जहां वस्तुओं का परस्पर संबंध उनके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का बोध करे वहां निदर्शना अलंकार होता है।[4]

---

१. साहित्य-दर्पण, १०।५०
२ काव्य-दर्पण, पृ० ३८०
३. साहित्य-दर्पण, १०।५०-५१
४. काव्य-दर्पण, पृ० ३८१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चुप बैठ जाना द्रोहियों से संधि करके
आंगन में सोना है लगाके आग घर में। (वियोगी)

यहां पहली पंक्ति में निहित तथ्य उपमेय है और दूसरी में निहित तथ्य उपमान है—इनमें कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव पर आधृत कल्पित उपमा के द्वारा सम्बन्ध बन जाता है।

उपर्युक्त दोनों संदर्भों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब शब्द-युग्म का प्रयोग एक प्रकार से (प्रतीयमान) प्रभाव-साम्य या भाव-साम्य के अर्थ में किया गया है। फिर भी यहां अप्रस्तुत-विधान निश्चय ही प्रस्तुत भाव अथवा विचार का बिम्ब उपस्थित करता है। दृष्टान्त के उदाहरण में जीवन में सुख-दुःख के समन्वय की भावना को मूर्तित करने के लिए आकाश में शशि-घन के मिलन का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है और निदर्शना के उदाहरण में भी 'द्रोहियों से संधि कर चुपचाप आश्वस्त भाव से बैठ जाना खतरनाक है।'—इस विचार को मूर्त रूप देने के लिए कवि ने जो अप्रस्तुत-योजना की है—'आंगन में सोना है लगाके आग घर में', वह भी निश्चय ही बिम्ब रूप है। उपर्युक्त दोनों बिम्ब एक प्रकार से दृश्य बिम्ब हैं। फिर भी दृष्टान्त और निदर्शना के लक्षणों में प्रयुक्त 'बिम्ब' शब्द का अर्थ उसके आधुनिक अर्थ से भिन्न है। उक्त लक्षणों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का अर्थ प्रायः उपमेय-उपमान भाव ही है—अर्थात् बिम्ब यहां अमूर्त मूल भाव का वाचक है और प्रतिबिम्ब उसके मूर्ति-विधान का, जबकि आधुनिक आलोचना में बिम्ब मूल भाव का नहीं वरन् उसको बिम्बित करने वाले मूर्ति-विधान का ही वाचक है। इस प्रकार, संस्कृत अलंकारशास्त्र में 'प्रतिबिम्ब' का प्रयोग ही आधुनिक 'बिम्ब' के निकट है, 'बिम्ब' का अर्थ प्रायः इसके विपरीत है। परन्तु शब्द को छोड़ यदि संदर्भ का विश्लेषण करें तो कुछ रोचक संकेत यहां अवश्य मिल जाते हैं।

भारतीय अलंकारशास्त्र में सादृश्यमूलक अलंकार अप्रस्तुत-विधान पर निर्भर करते हैं। अप्रस्तुत-विधान में प्रस्तुत तथ्य अथवा अभीष्ट अर्थ को प्रभावी रीति से व्यक्त करने के लिए कल्पनात्मक साम्य पर आधृत अप्रस्तुत उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। ये उपकरण प्रस्तुत विषय के अंग न होकर कल्पनाजात होते हैं, अतः इनके लिए 'अप्रस्तुत' शब्द का प्रयोग होता है और सामान्यतः प्रस्तुत विषय का इनके साथ उपमेय-उपमान सम्बन्ध होता है। इस प्रकार यह अप्रस्तुत-विधान सादृश्यमूलक होने के कारण प्रायः बिम्बात्मक ही होता है। परन्तु आधुनिक आलोचनाशास्त्र का बिम्ब-विधान और भारतीय अलंकारशास्त्र का अप्रस्तुत-विधान एक नहीं हैं—उनमें सहव्याप्ति मानना समीचीन नहीं है। बिम्ब-विधान की परिधि में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का समावेश हो सकता है: केवल अप्रस्तुत ही नहीं, प्रस्तुत भी बिम्ब रूप हो सकता है और होता है :

सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनहुं नीलमनि-सैल पर आतप पर्‌यौ प्रभात॥

इसमें पीतपट से विभूषित श्याम-सलोना शरीर प्रस्तुत है और प्रातःकालीन आतप से आलोकित नीलमणि शैल अप्रस्तुत है। इस अप्रस्तुत-विधान में निश्चय ही सुन्दर बिम्ब-योजना निहित है, परन्तु इसका सम्बन्ध केवल दूसरे चरण के साथ ही है। आधुनिक बिम्ब-विधान की परिधि व्यापक है, दूसरे चरण—अप्रस्तुत-योजना में तो बिम्ब का विधान है ही, पहले चरण—प्रस्तुत-योजना—में भी बिम्ब की सत्ता स्पष्ट है। पीतपट भूषित श्याम-सलोने शरीर का अपना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अलग बिम्ब है जिसे आधुनिक शब्दावली में लक्षित बिम्ब कहते हैं और कविकल्पना-प्रसूत उपमान-वाक्य का अपना अलग बिम्ब है जिसका पारिभाषिक नाम है उपलक्षित बिम्ब। इसके अतिरिक्त इन दोनों के संयोग से एक परिपूर्ण बिम्ब का भी निर्माण होता है और बिम्ब-सिद्धांत के अनुसार वही वास्तविक या सच्चा बिम्ब है। इस प्रकार विम्ब-विधान का क्षेत्र अप्रस्तुत-विधान की अपेक्षा अधिक व्यापक है—अप्रस्तुत विधान बिम्ब-विधान का एक अंग है।

बिम्ब का सम्बन्ध लक्षणा और व्यंजना अथवा ध्वनि से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ है। लक्षणा में मूर्तिविधान की स्वाभाविक क्षमता निहित है, अतः बिम्ब-निर्माण उसका सहज गुण है। 'दिन समाप्त हो गया' के स्थान पर लक्षणा की सहायता से हम 'दिन डूब गया' इसलिए कहते हैं कि उसके द्वारा हमारा अभिप्रेत अर्थ बिम्ब रूप में उपस्थित होकर और अधिक आकर्षक एवं ग्राह्य बन जाता है। इस दृष्टि से भाषा को चित्रमय बनाने में लक्षणा का योगदान सर्वाधिक है और गौणी, साध्यवसाना आदि भेदों के प्रसंग में प्रकारान्तर से शब्द की बिम्बविधायिनी शक्ति का विवेचन विस्तार से हुआ है।

व्यंजना में भी बिम्ब उद्बुद्ध करने की शक्ति है और ध्वनि के अनेक भेद बिम्ब-रूप होते हैं। उदाहरण के लिए यह वाक्य सुनकर कि 'दिन डूब गया' श्रोताओं के मन में अपनी-अपनी मनःस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के बिम्ब उद्बुद्ध हो जाते हैं। लक्षणा द्वारा उद्बुद्ध बिम्ब जहां शब्दार्थ से सम्बद्ध होते हैं, वहां ये बिम्ब स्वतंत्र होते हैं—इनका सम्बन्ध शब्दार्थ से न होकर श्रोता की कल्पना से होता है। रिचर्ड्स ने इसी दृष्टि से प्रथम वर्ग के बिम्बों को सम्बद्ध और दूसरे वर्ग के बिम्बों को स्वच्छन्द कहा है।

ध्वनि का मूल आधार वैयाकरणों का स्फोट माना गया है। यद्यपि स्फोट का मौलिक सम्बन्ध शब्द के साथ है, फिर भी उसी से संकेत ग्रहण कर आनन्दवर्धन ने ध्वनि की प्रकल्पना की है, इसमें संदेह नहीं।

'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यंजनक्षमस्यशब्दार्थयुगलस्य।' अर्थात् 'बुध'—वैयाकरणों ने प्रधानभूत 'स्फोट' रूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए 'ध्वनि' पद का प्रयोग किया था। उसके बाद उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्यों (अर्थात् साहित्यशास्त्र के आचार्यों) ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए (ध्वनि पद का प्रयोग करना आरंभ कर दिया)।[1] स्फोट का अर्थ है : स्फुटति अर्थः यस्मात् स स्फोटः—जिससे अर्थ स्फुटित होता है उसे स्फोट कहते हैं। 'गकार, औकार, विसर्जनीय के योग से मिलकर बना हुआ जो गौः पद गाय का बोध कराता है, वह श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि नहीं, उससे व्यक्त मानस-स्फोट है। श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि तो क्षणिक और अस्थिर है। एक ध्वनि के उच्चारण के बाद जब दूसरी ध्वनि का उच्चारण किया जाता है तब तक पहला ध्वनि-रूप वर्ण नष्ट हो जाता है इसलिए अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद की उपस्थिति एक साथ नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनेक पदों के समुदाय रूप वाक्य की भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती है। तब पदार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति कैसे होती है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए वैयाकरणों ने 'स्फोट सिद्धांत' की कल्पना की है। उनका अभिप्राय यह है कि पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से एक प्रकार का संस्कार

१. काव्यप्रकाश (आचार्य विश्वेश्वर). प्रथम उल्लास, कारिका ४, सूत्र २, पृ० २९

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उत्पन्न होता है। उस संस्कार से सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से तिरोभूत वर्णों को भी ग्रहण करने वाले एक मानसिक पद की प्रतीति उत्पन्न होती है। इसी का नाम 'पदस्फोट' है। अर्थ की प्रतीति इस पद-स्फोट के द्वारा ही होती है, श्रोत्र से गृहीत शब्द या ध्वनि से नहीं, क्योंकि उस रूप में तो अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद की स्थिति ही नहीं बन सकती है। इसी प्रकार—'पूर्व-पूर्वपदानुभवजनित संस्कार-सहकृत —अन्त्य-पद श्रवण से अनेक पदावगाहिनी जो मानसी वाक्य-प्रतीति होती है, वैयाकरण उसको वाक्य-स्फोट कहते हैं। इस वाक्यस्फोट से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। वर्णध्वनि से वर्ण-स्फोट की अभिव्यक्ति होती है।' (काव्यप्रकाश—आचार्य विश्वेश्वर—प्रथम उल्लास, ४।२, पृ० २९-३०)

मैं समझता हूं कि स्फोट की प्रकल्पना बिम्ब के मूल रूप के काफ़ी निकट है। प्रत्येक सार्थक शब्द के द्वारा—अथवा वाक्य के द्वारा—जो बिम्ब स्फुटित होता है वह वैयाकरणों के स्फोट से भिन्न नहीं है—और प्रत्येक काव्योक्ति के द्वारा जिस काव्य-बिम्ब की उद्‌बुद्धि होती है उसका अंतर्भाव भारतीय काव्यशास्त्र की ध्वनि में अनायास किया जा सकता है।

भारत के देहवादी अथवा रूपवादी काव्य-सम्प्रदायों में कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धांत के माध्यम से कवि-व्यापार का अत्यंत सूक्ष्म-गंभीर वर्णन किया है। वक्रोक्ति-विवेचन में बिम्ब-विधान के नाना रूपों और प्रणालियों का समावेश स्वभावतः हो गया है क्योंकि व्यापक अर्थ में हम यह मान सकते हैं कि कवि-व्यापार एक प्रकार से बिम्ब-विधान का ही बृहत्तर रूप है। वक्रता के अधिकांश भेदों में चारुत्व का निबंधन अर्थात् सौन्दर्य की उद्‌भावना बिम्ब रूप में ही होती है।

वास्तव में इन वक्रता-भेदों के चमत्कार का रहस्य ही यह है कि पर्याय, विशेषण, लिंग, कारक आदि के विशेष प्रयोगों से उद्‌बुद्ध बिम्ब अधिक स्पष्ट और मूल भावना के अधिक अनुकूल होते हैं। उदाहरण के लिए, वीररस के प्रसंग में कृष्ण के लिए 'वंशीधर' की अपेक्षा 'चक्रधर' पर्याय के प्रयोग की सार्थकता यही है, इसका बिम्ब रस-परिपाक में अधिक सहायक होता है। उचित विशेषण या लिंग की सार्थकता भी यही है कि वह रस-परिपोष में सहायक बिम्ब का उत्पादन करता है। 'रघुवंश' में कालिदास ने विरही राम के साथ मृगियों और लताओं द्वारा सहानुभूति-प्रदर्शन का वर्णन किया है, मृगों और वृक्षों का उल्लेख नहीं किया—यह लिंग-वैचित्र्य-वक्रता का उदाहरण है। यहां पर भी स्त्रीलिंग का प्रयोग नारी के सरस-कोमल स्वभाव का बिम्ब उद्‌बुद्ध कर चमत्कार की सिद्धि करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त वक्रता-भेदों में भी बिम्ब का चमत्कार ही प्रधान है। उदाहरण के लिए, वर्णविन्यास-वक्रता में श्रौत बिम्बों की योजना रहती है, पदपूर्वार्ध और पदपरार्ध वक्रता के पर्याय, विशेषण, लिंग, कारक, उपचार आदि पर आश्रित रूपों में बिम्बात्मकता का आधार सर्वथा स्पष्ट है। वाक्य-वक्रता अलंकार-विधान का ही दूसरा नाम है और उधर वस्तु-वक्रता में वस्तु के रमणीय स्वरूप को कल्पना के द्वारा भास्वर करने में भी बिम्ब-विधान का आश्रय लेना पड़ता है : विशेषकर आहार्य वस्तु का सौन्दर्य-विधान प्रायः लक्षित-बिम्बों के माध्यम से ही सम्भव होता है। इसी प्रकार प्रकरण-वक्रता और प्रबंध-वक्रता के भेदों के वर्णन में भी कुंतक ने नाना प्रकार के प्रकरण-बिम्बों और प्रबंध-बिम्बों का व्याख्यान किया है। रीति-सिद्धांत का बल शब्दार्थ की रचना पर अधिक रहा, अतः कल्पना-निर्भर बिम्ब-विधान का उसके साथ उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं बैठता। फिर भी रीतियों और वृत्तियों की कल्पना में श्रौत बिम्बों का आधार अत्यंत स्पष्ट है और उधर अर्थव्यक्ति जैसे गुण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की परिभाषा में शब्द-योजना द्वारा उत्पादित बिम्ब की स्फुटता को ही अर्थ-प्रसादन का प्रमाण माना गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि—

१. भारतीय काव्यशास्त्र के लिए बिम्ब कोई अज्ञात वस्तु नहीं है—अनेक रूपों में और अनेक प्रकार से बिम्ब का विवेचन यहां मिलता है। परन्तु यह विवेचन प्रकारान्तर अथवा अप्रत्यक्ष रीति से ही हुआ है—जिस रूप में बिम्ब का विवेचन-विश्लेषण यूरोप के साहित्य के अंतर्गत वर्तमान शती में हुआ है, उस रूप में भारतीय काव्यशास्त्र में नहीं मिलता।

२. बिम्ब शब्द का प्रयोग आधुनिक अर्थ में भारतीय काव्यशास्त्र में नहीं हुआ। दृष्टांत और निदर्शना के लक्षणों में प्रयुक्त 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' में बिम्ब का प्रयोग मूल (अमूर्त) भाव अथवा विचार के अर्थ में किया गया है और प्रतिबिम्ब का प्रयोग उसको मूर्तित करने वाले अप्रस्तुत-विधान के लिए, जो साम्य पर आधृत रहता है। इस प्रकार आधुनिक 'बिम्ब' के समानार्थक रूप में अलंकार-ग्रंथों में प्रतिबिम्ब का प्रयोग तो किसी सीमा तक माना भी जा सकता है, 'बिम्ब' का नहीं।

३. बिम्ब की प्रकल्पना यहां सादृश्यमूलक अलंकारों, लक्षणा तथा ध्वनि के प्रसंग में अधिक सार्थक रूप में हुई है। सामान्य अर्थ-स्फोट शब्दार्थ के मूल बिम्ब और वाच्यातिशायी प्रतीयमान अर्थ-स्फोट काव्य-बिम्ब के अत्यंत निकट बैठता है।

४. कुन्तक के कवि-व्यापार के अंतर्गत जिन अनेक कल्पनात्मक प्रणालियों का विवेचन है उनमें बिम्ब-विधान के अनेक रूपों का सम्यक् रूप से समावेश है। कुन्तक का कवि-व्यापार बिम्ब-विधान का बृहत्तर रूप है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनोविज्ञान में बिम्ब का स्वरूप

काव्य-बिम्ब बिम्ब का एक विशिष्ट भेद है। अतः काव्य-बिम्ब के स्वरूप को समझने के लिए बिम्ब के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विवेचन आवश्यक है। बिम्ब हमारे मनोव्यापार का महत्त्वपूर्ण उपकरण है। इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों में बिम्ब के महत्त्व—यहां तक कि अस्तित्व के विषय में भी मतभेद है : साहचर्यवादी मनोवैज्ञानिक जहां उसको मानसिक जीवन का आधारभूत उपकरण मानते हैं, वहां व्यवहारवादी तथा वस्तुसिद्धान्तवादी सामान्यतः इसका निषेध करते हैं। इन पंडितों के तर्कजाल में फँसना साहित्य के विद्यार्थी के लिए आवश्यक नहीं है; अतः प्रस्तुत प्रसंग में बहुमत के अनुसार—और सामान्य अनुभव के आधार पर, हम यह मानकर चल सकते हैं कि बिम्ब हमारे मनोव्यापार का आवश्यक उपकरण है।

बिम्ब के सामान्यतः दो रूप हैं—एक वस्तुगत रूप, जिसका सम्बन्ध शरीरविज्ञान से है और दूसरा भावगत रूप, जो मुख्यतः मनोविज्ञान का विषय है।

बिम्ब का वस्तुगत रूप : ऐन्द्रिय बिम्ब[1]

ऐन्द्रिय बिम्ब का विवेचन शरीरविज्ञान का विषय है। शरीरविज्ञान की दृष्टि से बिम्ब का सर्वप्रमुख रूप है दृष्टि-बिम्ब[2]। दृष्टि-बिम्ब आंख के प्रकाशकीय यंत्र द्वारा वर्तित (प्रतिक्षिप्त) किसी पदार्थ का वह चित्र है जो दृष्टि-पटल पर अंकित हो जाता है। यह पदार्थ के सीधे समतल दृश्य-रूप का प्रायः यथार्थ प्रत्यंकन होता है। जब कोई पदार्थ हमारी दृष्टि के सामने आता है तो उस पदार्थ से प्रतिक्षिप्त प्रकाश के द्वारा हमारी अक्षि-तन्त्रिकाओं में अनेक प्रकार के संवेदन उत्पन्न हो जाते हैं। ये अक्षि-तंत्रिकाएं मस्तिष्क से सम्बद्ध हैं, अतः इनके माध्यम से उक्त संवेदन-धाराएं मस्तिष्क में जाती हैं जहां ये परस्पर सम्बद्ध, वर्गीकृत और संश्लिष्ट होकर रूप या आकार धारण कर, बोध या प्रत्यभिज्ञान का विषय बन जाती हैं। यही पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान है जो ऐन्द्रिय-बिम्ब के रूप में हमारी चेतना में उपस्थित होता है।[3]

उपर्युक्त वर्णन 'रूप' तन्मात्रा के बिम्ब का है। शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध के बिम्बों का निर्माण भी इसी प्रक्रिया से होता है। बाह्य उद्दीपन के सन्निकर्ष से अन्य इन्द्रियों की तंत्रिकाओं में भी इसी प्रकार संवेदन की धाराएं प्रवाहित होने लगती हैं जो सहज क्रम से मस्तिष्क में पहुंचने के उपरांत वर्गीकृत एवं संश्लिष्ट होकर रूपाकार धारण कर लेती हैं। उदाहरण के

---

१. सैन्सरी इमेज
२. Retinal image : a picture of an object on the retina when reflected through the optical system of the eye (English and English : A comprehensive dictionary of psychological and psycho-analytical terms, 1958)
३. देखिए : वुडवर्थ एण्ड मारक्विक, १९६३, साइकोलोजी—पृ० ४३३

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिए, केवड़े के सन्निकर्ष से हमारी घ्राणेन्द्रिय की तंत्रिकाओं में अनेक संवेदन उत्पन्न हो जाते हैं और ये संवेदन हमारे मस्तिष्क में पहुंचकर परस्पर सम्बद्ध-संश्लिष्ट होकर एक विशेष अनुभूति के रूप में परिणत हो जाते हैं जिसका परिचित नाम है 'केवड़े की गंध'। संवेदन और प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा इन्द्रिय-बोध में भेद यह है कि इन्द्रिय-बोध किसी-न-किसी पदार्थ से सम्बद्ध होता है— दूसरे शब्दों में संवेदन अरूप होता है और इन्द्रिय-बोध स-रूप। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान प्रायः मानव-मस्तिष्क में ऐन्द्रिय संवेदनों के संश्लेषण से निर्मित एक बिम्ब के रूप में उपस्थित होता है।

बिम्ब का भावगत रूप : मानसिक बिम्ब

मानसिक बिम्ब का स्वरूप-विवेचन मूलतः मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान के अनुसार विम्ब किसी पूर्वानुभूत किन्तु तत्काल अनुपस्थित पदार्थ या घटना के गुणों या विशेषताओं के न्यूनाधिक पूर्ण मानसिक प्रत्यंकन=मानस-चित्र का नाम है, जिसमें मूल अनुभूति की अतीतता का अभिज्ञान निहित रहता है। यह पूर्व अनुभव की पुनरुद्धबुद्धि है जो मूल के सदृश होने पर भी अनिवार्यतः उसकी यथावत् प्रतिकृति नहीं होती। बिम्ब किसी पदार्थ या घटना के प्रत्यक्ष ज्ञान की पुनरावृत्ति है जो मूल पदार्थ या घटना के बिना ही घटित होती है।

बिम्ब और प्रत्यक्षज्ञान

प्रत्यक्षज्ञान की अपेक्षा विम्ब के कुछ स्पष्ट भेदक धर्म हैं—(१) बिम्ब का स्वरूप अपेक्षाकृत धूमिल, अपूर्ण तथा अनिश्चित होता है। (२) बिम्ब अस्थिर होते हैं—उनकी प्रवृत्ति संचारी होती है, और चूंकि वे किसी पूर्वानुभव की आवृत्ति का निरूपण करते हैं, अतः उनसे सम्बद्ध पदार्थ या स्थिति के विषय में किसी नवीन तथ्य का प्रकाशन नहीं होता। (३) बाह्य उद्दीपन के अभाव में— जैसे आंख मूंद लेने पर या कान बन्द कर लेने पर, जबकि पूर्वानुभव की आवृत्ति के लिए अधिक अवकाश मिल जाता है—बिम्बों की निर्मिति अधिक सरल और सुगम हो जाती है। (४) बिम्बों के लिए आवश्यक नहीं है कि वे वास्तविक पदार्थों के सर्वथा अनुरूप हों; वस्तुतः उनमें बाह्य पदार्थों की जो प्रतिच्छवियां उपस्थित होती हैं वे प्रायः अस्त-व्यस्त, विकृत, अतिरंजित, अपूर्ण अथवा किसी दूसरे प्रकार से परिवर्तित या मिश्रित होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्षज्ञान की अपेक्षा बिम्ब व्यक्ति की आंतरिक आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल पड़ते हैं। ज्यों-ज्यों चिन्तन बहिर्मुख या यथार्थोन्मुख होता जाता है त्यों-त्यों बिम्बों की संख्या घटती जाती है तथा प्रत्यक्षज्ञान का उपयोग बढ़ता जाता है, और जैसे-जैसे चिंतन अन्तर्मुख होता जाता है वैसे-वैसे प्रत्यक्षज्ञान का महत्त्व गौण होने लगता है और बिम्बों की संख्या एवं शक्ति बढ़ती जाती है।[1]

बिम्ब-परिवार के अन्य सदस्य हैं फ़ोटो-चित्र, व्यंग्य-चित्र आदि। फ़ोटो-चित्र में पदार्थ की यथावत् प्रतिकृति रहती है, वह निश्चित आयाम से युक्त एक पदार्थ है। इसी प्रकार से व्यंग्य-चित्र के भी अपने निश्चित आयाम हैं। इन दोनों के वस्तु-रूप अपने-आप में स्वतंत्र होते हैं, किन्तु बिम्ब का अस्तित्व वस्तुपरक न होकर मानसिक ही होता है, उसका महत्त्व स्वतंत्र न होकर व्यंजित अर्थ के संदर्भ में ही होता है।

बिम्ब की रचना में व्यक्ति के विगत अनुभवों का योगदान रहता है। जन्म के क्षण से

१. देखिए : विनाके, दि साइकोलोजी ऑफ़ थिंकिंग, पृ० १९७

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही बाह्य-जगत् के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रभाव इन्द्रियों के माध्यम से हमारी चेतना में निरंतर प्रवेश करते रहते हैं। आरम्भ में ये प्रभाव अस्पष्ट प्रकाश, शब्द या गति के रूप में रहते हैं, पर जैसे-जैसे बालक का विकास होता है, पदार्थों और व्यक्तियों के रूप में उनका अस्तित्व स्पष्ट आकार धारण करने लगता है। बस यहीं से चेतन बिम्ब-रचना प्रारम्भ हो जाती है। शैशव में दुनिया का चित्र शिशु की कल्पना में एक मकान, या शायद कुछ-एक सड़कों या किसी बाग़ के रूप में उपस्थित होता है, लेकिन ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों दुनिया का विस्तार होता जाता है। उसको यह प्रतीति होती है कि मैं नगर में हूं, देश-विदेश में हूं, पृथ्वी पर हूं। वह अपने को व्यक्तिगत सम्बन्धों के ऐसे ताने-बाने के बीच पाता है जो निरंतर जटिल-तर होता जाता है। बाह्य-जगत् का प्रत्येक प्रभाव किसी-न किसी अंश में उसके इस मानस-चित्र में संशोधन-परिवर्तन करता है और जैसे-जैसे इस मानस-चित्र में परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे उसके व्यवहार-क्रम में भी परिवर्तन होता जाता है।[1]

बिम्ब-रचना की इसी विकसित शक्ति के कारण मनुष्य इतर प्राणियों से भिन्न है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में बाह्य-जगत् के प्रभावों को ग्रहण करने की क्षमता अधिक नहीं है। मनुष्य के आँख-कान विकसित पशुओं की आँखों और कानों से अधिक सक्षम नहीं हैं—और उसकी घ्राणेन्द्रिय तो उनकी तुलना में निश्चय ही अक्षम है। मनुष्य का गौरव वास्तव में यह है कि वह इन प्रभावों को बृहत् और जटिल बिम्बों में अन्वित करने में समर्थ है। यों तो मनुष्य के देशिक बिम्ब भी इतर प्राणियों के देशिक बिम्बों की अपेक्षा अधिक व्यापक होते हैं, परन्तु सम्भवतः उनकी प्रकृति मूलतः भिन्न नहीं होती। लेकिन मनुष्य के कालिक बिम्ब निश्चय ही अत्यधिक व्यापक होते हैं—और इसका कारण यह है कि भाषा का अमूल्य साधन उसे उपलब्ध है। इसमें संदेह है कि पशु अपने वर्तमान क्षण के आगे-पीछे की कल्पना भी कर सकता है या नहीं—कम-से-कम उसका यह कालिक बिम्ब उसके अपने निजी अनुभव तक ही सीमित रहता है। कुत्ता यह कल्पना नहीं कर सकता कि उसके पहले भी कुत्तों का अस्तित्व था और उसके बाद में भी उसका वंश चलता रहेगा। इसके विपरीत, मनुष्य अपने-आपको कालक्रम में स्थिर रूप से अवस्थित अनुभव करता है। उसकी चेतना में अतीत का स्पष्ट बिम्ब है जो उसके अपने जीवन और अनुभव की सीमा से बहुत दूर तक व्याप्त है, और इसी प्रकार उसके मन में भविष्य का भी ऐसा ही एक बिम्ब है। इस कालिक बिम्ब-विधान के साथ ही जुड़ा हुआ है उसके सम्बन्धों के ताने-बाने का बिम्ब। चूंकि हमें काल की चेतना है, इसलिए हमें कार्य-कारण, नैरंतर्य और क्रम की, आवर्तन तथा विवर्तन की भी चेतना है।[2]

बिम्ब और विचार/धारणा

बिम्ब और विचार/धारणा को प्रायः एक-दूसरे से भिन्न माना जाता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जैसे-जैसे मनुष्य के चिंतन में प्रौढ़ता आती जाती है, उसकी बिम्बन-शक्ति क्षीण होने लगती है। किशोरावस्था बिम्बों के पूर्ण उत्कर्ष का काल होता है, और प्रौढ़ावस्था में उनका ह्रास हो जाता है। इसका आशय वास्तव में यह है कि चिंतन ज्यों-ज्यों सूक्ष्म, अमूर्त और सामान्यीकृत होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें बिम्बों का उपयोग कम होता जाता है : उनका

१. बोल्डिंग, कैनेथ ई० : दि इमेज ('५६), पृ० ६-७
२. देखिए : बोल्डिंग, कैनेथ ई० : दि इमेज, पृ० २४-२५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वरूप धूमिल और संख्या कम होती जाती है—और एक स्थिति में पहुँचकर ऐसा लगता है जैसे बिम्बों का एकांत अभाव ही हो गया हो। इसीलिए अनेक विशेषज्ञ बौद्धिक चिंतन को बिम्बहीन मानते हैं।

मनोविज्ञान के कोशों के अनुसार धारणा ज्ञान का वह रूप है जिसमें पदार्थों के गुणों, पहलुओं और संबंधों का विचार निहित रहता है। इसका निर्माण तुलना, सामान्यीकरण, अमूर्तन और तर्कणा आदि के आधार पर होता है। धारणा के वाचक प्रायः शब्द-संकेत ही होते हैं।[1] धारणा से अभिप्राय है ऐसे विचार का जो किसी सामान्य अर्थ को प्रस्तुत करता हो, जिसमें किसी वर्ग या जाति के सामान्य गुणों का समावेश हो।[2] दर्शनशास्त्र में धारणा शब्द का प्रयोग किसी ऐसे सामान्य विचार के अर्थ में होता है जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विशेष अनुभवों के आधार पर व्युत्पन्न होकर निर्विशेष रूप धारण कर लेता है। जिस मानसिक प्रक्रिया के द्वारा धारणा का निर्माण होता है उसे अमूर्तन प्रक्रिया कहते हैं। उदाहरण के लिए, अनेक नावों की तुलना के द्वारा मानव-मस्तिष्क किसी ऐसी विशेषता अथवा विशेषताओं का निष्कर्षण कर लेता है जिनके आधार पर 'नाव' की धारणा व्युत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार 'नाव' की धारणा का निर्माण उन गुणों के आधार पर होता है जिनके कारण सभी नावें, प्रत्येक का अपना अलग-अलग वैशिष्ट्य होने पर भी, परस्पर समान हैं। 'नाव' की धारणा इन सामान्य विशेषताओं के फलितार्थ का नाम है।[3]

क्रोचे ने तत्त्वदृष्टि से बिम्ब और धारणा को आत्मा की दो भिन्न प्रवृत्तियों की सृष्टि माना है : बिम्ब स-रूप होता है और उसका संबंध 'विशेष' के साथ होता है; धारणा अ-रूप होती है और उसका संबंध 'सामान्य' से होता है। परन्तु अनेक विद्वान् इस स्थापना को यथावत् स्वीकार नहीं करते, उनका मत है कि धारणा या बौद्धिक चिंतन में बिम्बों की सत्ता रहती है, परन्तु विचारक का ध्यान चूंकि तत्त्व या निष्कर्ष पर केन्द्रित रहता है, इसलिए वह बिम्बों की उपेक्षा कर जाता है। बिम्ब होते तो हैं, पर लक्षित नहीं होते। जैसा कि क्रोचे ने लिखा है, बिम्बों के विषय पदार्थों के गोचर रूप होते हैं और धारणाओं के विषय पदार्थों के परस्पर संबंध होते हैं। रूपों के आयाम स्पष्ट होते हैं, अतः उनका स्वरूप मूर्त होता है; संबंधों के निरूपण में भी पदार्थों के रूपात्मक आयाम नष्ट नहीं होते, परन्तु प्रमाता का ध्यान पदार्थों के संयोजक अंतःसूत्रों पर केन्द्रित रहने के कारण, ये आयाम उपेक्षित हो जाते हैं : उसका चिंतन-व्यापार चित्रों की अपेक्षा प्रायः बिन्दुओं और रेखाओं के माध्यम से ही चलता है।

बिम्ब के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने बिम्ब के अनेक रूपों और प्रकार-भेदों का विवेचन किया है। बिम्ब-भेदों का वर्गीकरण दो प्रकार से हो सकता है : (१) प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्ब-भेद—और (२) परोक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्ब-भेद। प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्बों के, संवेदक इन्द्रिय के आधार पर, पाँच स्पष्ट भेद किये जा सकते हैं : (१) चक्षु के माध्यम से गृहीत रूप-बिम्ब; (२) श्रवण द्वारा गृहीत शब्द-बिम्ब या नाद-बिम्ब; (३) घ्राणेन्द्रिय द्वारा गृहीत

१. ए डिक्शनरी ऑफ़ साइकोलोजी—जेम्स ड्रेवर
२. देखिए : वेब्स्टर
३. देखिए : ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग ६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गन्ध-बिम्ब; (४) रसना द्वारा अनुभूत स्वाद-बिम्ब, और (५) त्वचा द्वारा अनुभूत स्पर्श-बिम्ब। इनके अतिरिक्त कुछ मनीषियों ने गति-बिम्ब की सत्ता भी स्वीकार की है। गति को वे उक्त पाँच से स्वतंत्र छठी ऐन्द्रिय अनुभूति मानते हैं जो पेशियों और स्नायुओं से उत्पन्न होती है। पर पश्चिम में भी इसके विषय में मतभेद अभी बना हुआ है, और इधर भारतीय चिंतन के साथ भी इसकी संगति नहीं बैठती। वास्तव में गति-बिम्ब में रूप और शब्द के तत्त्व ही अधिक स्पष्ट रहते हैं, अतः रूप-बिम्ब तथा शब्द-बिम्ब से सर्वथा भिन्न गति-बिम्ब की स्वतंत्र कल्पना अधिक ग्राह्य नहीं है।

उक्त बिम्बों की सार्थकता यह है कि बाह्य उद्दीपन के अभाव में भी मनुष्य पूर्वानुभव के आधार पर उसका मनसा साक्षात्कार कर लेता है : प्रिय जन की अनुपस्थिति में, मन से उसका दर्शन कर लेता है—उसके स्पर्श का अनुभव कर लेता है; गन्ध विशेष के अभाव में भी प्रसंग आने पर घ्राणेन्द्रिय के माध्यम से उसका मानस-बिम्ब सहसा हमारी चेतना में उपस्थित हो जाता है अथवा किसी पदार्थ के न होने पर भी हमें उसके कड़वे-मीठे स्वाद का अनुभव-सा होने लगता है।

इन बिम्बों का आधार ऐन्द्रिय ज्ञान होता है और प्रायः सभी मनुष्य इनका अनुभव न्यूनाधिक मात्रा में करते हैं। इतना अवश्य है कि मनुष्यों में भिन्न-भिन्न ऐन्द्रिय संवेदनों की क्षमता प्रायः भिन्न होती है—किसी की घ्राण-शक्ति अधिक तीव्र होती है और किसी की श्रवण-शक्ति। इन्द्रियों के इस क्षमता-भेद से विभिन्न मनुष्यों की बिम्ब-निर्माण-क्षमता में भी भेद हो जाता है—किसी व्यक्ति के चिंतन-व्यापार में चाक्षुष बिम्बों का प्राचुर्य रहता है, किसी के में श्रव्य बिम्बों या स्पृश्य बिम्बों का। और, यह क्षमता-भेद एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति की चिंतन-पद्धति में भेद उत्पन्न कर देता है। उदाहरण के लिए जिन व्यक्तियों में चाक्षुष बिम्बों के निर्माण की क्षमता अधिक होती है, उनमें सटीक या सजीव, दृश्यात्मक वर्णन करने की शक्ति स्वभावतः अधिक होती है। इसी क्षमता-भेद के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों की भाषा-शैली में भेद हो जाता है। अनेक लोगों की भाषा में रूपात्मक बिम्बों का प्राचुर्य रहता है, कुछ की भाषा में नादात्मक बिम्बों या स्पर्श-बिम्बों का, और अन्य की भाषा में गन्ध-बिम्बों अथवा स्वाद-बिम्बों का। और, चूंकि हमारे विभिन्न ऐन्द्रिय संवेदन चेतना में जाकर प्रायः मिलते रहते हैं, इसलिए उन पर आश्रित बिम्बों का भी परस्पर मिश्रण तथा गुम्फन होता रहता है।

परोक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्ब-भेद

इनके अतिरिक्त मनोविज्ञान में बिम्ब के कुछ और भी भेदों का विवेचन किया गया है जिनका संबंध परोक्ष अनुभव से है : जैसे—

अनुबिम्ब[१], प्रत्यक्ष बिम्ब[२], स्मृति-बिम्ब, कल्पना बिम्ब, स्वप्न-बिम्ब, तन्द्रा-बिम्ब[३], मिथ्याप्रत्यक्ष-बिम्ब[४] आदि। इनमें अनुबिम्ब प्रत्यक्ष ज्ञानजन्य ऐन्द्रिय बिम्बों के अत्यंत निकट है। प्रत्यक्ष अनुभव में हम देखते हैं कि किसी पदार्थ विशेष पर—जिसका रूप-संवेदन तीव्र हो,

१. ऑफ़्टर इमेज
२. आइडेटिक इमेज
३. हिप्नोगोगिक इमेज
४. हेल्युसिनेशन इमेज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जैसे किसी बिजली के बल्ब या फ़ानूस पर—कुछ समय तक दृष्टि केन्द्रित रखने के बाद, उसकी ओर से आँख फेर लेने पर भी, थोड़ी देर के लिए हमारी आँखों के सामने बिम्ब प्रायः यथावत् विद्यमान रहता है। यह बिम्ब प्रत्यक्ष रूप-बिम्ब न होने पर भी प्रायः वैसा ही होता है, इसलिए इसे प्रत्यक्ष बिम्ब का तत्काल परवर्ती होने के कारण अनुबिम्ब कहते हैं। यह अनुबिम्ब रूप के अतिरिक्त शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध—सभी का हो सकता है। किसी भी प्रबल ऐन्द्रिय अनुभव के बाद, बाह्य उद्दीपन से सम्पर्क टूट जाने पर प्रमाता की चेतना में प्रत्यक्ष अनुभव से उत्पन्न बिम्ब प्रायः ज्यों का त्यों अटका रह जाता है—यही अनुबिम्ब है। चूंकि यह प्रत्यक्षज्ञान के अत्यंत निकट है, अतः मनोविज्ञान में इसका दूसरा नाम संवेदन-बिम्ब[1] भी है। प्रत्यक्ष बिम्ब को प्राथमिक बिम्ब भी कह सकते हैं। यह प्रत्यक्षज्ञानजन्य बिम्ब से भिन्न होने पर भी अत्यंत स्पष्ट होता है; इन्द्रियों का प्रत्यक्ष सन्निकर्ष न होने पर भी इसमें ऐन्द्रिय तत्त्व अत्यंत प्रबल होता है और इसकी रूपरेखा सर्वथा मूर्त एवं सजीव होती है। इसका सम्बन्ध जीवन के प्रबल और प्राथमिक अनुभवों के साथ है। वास्तव में ऐन्द्रिय बिम्बों और इन दोनों बिम्ब-भेदों में इतना सूक्ष्म अंतर है कि अनेक विशेषज्ञ इनकी स्वतंत्र सत्ता मानने में भी आपत्ति करते हैं। स्मृति-बिम्ब में, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, किसी अनुपस्थित पदार्थ के प्रत्यक्ष बिम्ब का—पूर्वानुभव के आधार पर—स्मृति के द्वारा पुनरुद्बोधन किया जाता है। प्रत्येक अनुभव अंतश्चेतना में अपना संस्कार छोड़ जाता है और हमारी स्मृति, अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर, उसे फिर से उपस्थित कर देती है। पूर्व-स्मृतियां वस्तुतः बिम्ब रूप ही होती हैं जिनके साथ अनेक कड़वे-मीठे अनुभव लिपटे रहते हैं। कल्पना-बिम्ब का स्वरूप मूलतः स्मृति-बिम्ब से अधिक भिन्न नहीं होता। दोनों में भेद यह है कि स्मृति-बिम्बों में जहां पूर्वानुभूतियों का पुनरुद्बोधन मात्र होता है, वहां कल्पना-बिम्बों में पूर्वानुभवों के त्याग, ग्रहण तथा यदृच्छिक संयोजन आदि के द्वारा नवनिर्माण की प्रवृत्ति मुख्य रहती है। स्मृति और कल्पना में जो मूल भेद है, वही स्मृति-बिम्ब और कल्पना-बिम्ब में भी लक्षित होता है। स्मृति निष्क्रिय होती है, कल्पना सक्रिय; स्मृति जहां पूर्वानुभव को प्रायः यथावत् पुनरुद्बुद्ध करती है, वहां कल्पना उसका पुनःसृजन करती है—अर्थात् कल्पना मन की सर्जनात्मक शक्ति है। इसी क्रम से स्मृति-बिम्ब जहां बहुत-कुछ वस्तुपरक होते हैं, वहां कल्पना-बिम्बों में व्यक्ति की निर्माणक्षमता का चमत्कार रहता है। उदाहरण के लिए, हम किसी आश्रम में एक साधु को देखते हैं—और आश्रम से लौटते हुए नगर में एक सुन्दर-सौम्य अंगरेज़ को। स्मृति के द्वारा इन दोनों की अनुपस्थिति में भी दोनों के जो पृथक्-पृथक् बिम्ब हमारी चेतना में उद्बुद्ध होते हैं, उन्हें स्मृति-बिम्ब कहते हैं। पर कल्पना इतने से सन्तुष्ट नहीं होती; वह साधु की वेशभूषा के बिम्ब का अंगरेज़ के शरीर पर आरोपण कर 'अंगरेज साधु' के एक नये बिम्ब की सृष्टि कर लेती है। यही कल्पना-बिम्ब है। तन्द्रा-बिम्बों की उत्पत्ति अर्ध-निद्रित अवस्था में होती है, जबकि हमारे प्रत्यक्ष ज्ञानजन्य अनेक बिम्ब-संस्कार प्रायः उपचेतन मन की सक्रिय शक्तियों के द्वारा, विभिन्न इन्द्रियों के सन्निकर्ष से, अनेक प्रकार के संश्लिष्ट एवं खण्डित रूपाकार धारण करते रहते हैं: दिवास्वप्नों की सृष्टि भी प्रायः इसी प्रक्रिया से होती है। स्वप्न-बिम्बों की सृष्टि निद्रित अवस्था में होती है—जबकि अवचेतन या अचेतन मन नाना प्रकार के पूर्वानुभवों के संस्कारों का संयोजन कर चित्र-विचित्र बिम्बों का निर्माण करता रहता है। मिथ्याप्रत्यक्ष-बिम्बों का सम्बन्ध अचेतन मन

१. सेन्सेशन इमेज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के साथ और भी गहरा होता है : ये प्रायः रुग्ण चेतना की सृष्टि होते हैं। पदार्थ के अभाव में उसका प्रत्यक्षज्ञान मिथ्याप्रत्यक्ष कहलाता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी मिथ्या या अवास्तविक होता है। अनेक प्रबल इच्छाएं, जो दमित होकर अवचेतन में जाकर छिप जाती हैं, मन और शरीर की व्याधियों के दुष्प्रभावों के साथ मिलकर इन्द्रियों की क्रिया में इस प्रकार के विकार उत्पन्न कर देती हैं कि उन्हें बाह्य उद्दीपन के अभाव में भी उसका (बाह्य उद्दीपन का) प्रत्यक्षज्ञान होने लगता है : रोगी ऐसे व्यक्ति या वस्तु को प्रत्यक्ष देखने लगता है जो वास्तव में सामने नहीं है, ऐसा शब्द सुनने लगता है या ऐसे स्वाद, गन्ध अथवा स्पर्श का अनुभव करने लगता है जिसका वास्तविक आधार नहीं है। ये भी अपने ढंग के विचित्र बिम्ब होते हैं जिनका रूप सर्वथा प्रत्यक्ष होता है, पर आधार नहीं होता।

उक्त भेदों में से अंतिम तीन का सम्बन्ध अवचेतन या अचेतन मनोविज्ञान से है। मनोविश्लेषणशास्त्र के अनुसार मनुष्य की दमित वासनाएं उसके अवचेतन में जाकर संकलित हो जाती हैं जहां से वे नाना प्रकार के छद्म रूप धारण कर दिवास्वप्न, तन्द्रा-स्वप्न तथा निद्रा-स्वप्न आदि में व्यक्त होती रहती हैं। विकृति गहरी और अधिक स्थायी हो जाने से ये दमित वासनाएं मिथ्याप्रत्यक्ष में भी परिणत हो जाती हैं। अवचेतन मनोविज्ञान के संदर्भ में बिम्बों से तात्पर्य इन्हीं छद्म रूपों का है। सामान्यतः ये छद्म रूप 'प्रतीक' नाम से अभिहित किए जाते हैं, परन्तु इनमें प्रतीकात्मकता—अर्थात् मूलवर्ती वासनाओं की सांकेतिक व्यंजना के साथ ही बिम्बात्मकता भी पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है। विशेषज्ञों ने अनेक प्रकार के प्रयोग और विश्लेषण करने के बाद, प्रेरक वासना के आधार पर वर्गीकरण कर, इन चित्र-विचित्र छद्म रूपों की व्याख्या के लिए तरह-तरह की वैज्ञानिक पद्धतियों का आविष्कार किया है। यह अवचेतन-विद्या मन के रहस्यों का अत्यन्त रोचक पद्धति से उद्घाटन करती है; साथ ही चेतन मन के अनेक गूढ़ व्यापारों को समझने में भी—जिसके अन्तर्गत अनिर्वचनीय कला-रूपों की सर्जना भी निहित है—इसका योगदान अपूर्व है।

आद्य बिम्ब

आद्य बिम्ब का सम्बन्ध भी अवचेतन मनोविज्ञान से है। आद्य बिम्ब की शोध या परिकल्पना मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य युंग ने की है। यों तो उपर्युक्त सभी बिम्ब-भेदों—दिवास्वप्न, निद्रास्वप्न आदि—का काव्य और कला से घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर आद्य बिम्ब का योगदान अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष और गहरा है। संक्षेप में, आद्य बिम्ब का विवेचन स्वयं युंग के शब्दों में इस प्रकार है : 'सामूहिक अचेतन चेतना का एक अंग है : वैयक्तिक अचेतन से इसका अभावात्मक भेद यह है कि उसकी तरह इसका निर्माण व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर नहीं होता, और इसलिए यह व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होता। व्यक्तिगत अचेतन का निर्माण जहां अनिवार्यतः ऐसी सामग्री से होता है जो किसी समय चेतन अनुभव का विषय थी किन्तु अब विस्मृत अथवा दमित होकर चेतन मन से विलुप्त हो गई है, वहां सामूहिक अचेतन की सामग्री चेतन मन का विषय और व्यक्तिगत अनुभव-सम्पत्ति कभी नहीं बनती वरन् पूर्णतः आनुवंशिकता पर ही निर्भर करती है। व्यक्तिगत अचेतन में अधिकतर ग्रंथियां ही निहित रहती हैं, जबकि सामूहिक अचेतन का निर्माण केवल आद्य बिम्बों से होता है।

आद्य बिम्बों की धारणा से, जो सामूहिक अचेतन की धारणा के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, मानव-चेतना में ऐसे अनेक रूपों (या बिम्बों) के अस्तित्व का संकेत मिलता है जो सार्वभौम और सार्वकालिक प्रतीत होते हैं। पुराणविद्या-सम्बन्धी अनुसंधान में इनको 'प्रयोजन' के नाम से अभिहित किया जाता है, आदिमानव-विषयक मनोविज्ञान में ये लेवी ब्रूल द्वारा प्रतिपादित 'सामूहिक प्रतिच्छवियों' की धारणा के समवर्ती हैं और तुलनात्मक धर्मशास्त्र के क्षेत्र में ह्यूबर्ट और मौस ने इन्हें 'कल्पना की कोटियां' कहा है। आज से बहुत पहले अडोल्फ़ बस्टिआन ने इन्हें 'प्राथमिक' अथवा 'आदिम विचार' का नाम दिया था।

अतः मेरी स्थापना यह है : 'हमारी प्रत्यक्ष चेतना के अतिरिक्त, जो पूर्णतः वैयक्तिक है और जिसे हम एकमात्र आनुभविक चेतना मानते हैं, चेतना का एक दूसरा स्तर भी है जो सामूहिक, सार्वभौम तथा अवैयक्तिक होता है और जो सभी व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान रहता है। यह सामूहिक अचेतन व्यक्तिगत रूप में विकसित न होकर आनुवंशिक रूप में प्राप्त होता है। इसका निर्माण पूर्ववर्ती रूपों, दूसरे शब्दों में—आद्य बिम्बों, के द्वारा होता है। यद्यपि ये बिम्ब केवल गौण या अप्रत्यक्ष रूप से ही चेतन अनुभव का विषय बनते हैं, फिर भी इनसे अन्तश्चेतना में विद्यमान सामग्री (अनुभव-संस्कारों) को निश्चित रूपाकार धारण करने में सहायता मिलती है।'[1]

इन आद्य बिम्बों की अभिव्यक्ति प्रायः आदिम जातियों की विद्या, पुराकथा या परियों की कहानियों आदि के माध्यम से होती है। युंग के मत से इन्हें साध्यवसान रूपक या अन्योक्ति-रूपक न कहकर प्रतीक ही मानना चाहिए। साध्यवसान रूपक में जहां चेतन अनुभव की व्याख्या रहती है वहां प्रतीक अचेतन संस्कार की अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन होता है : उसके स्वरूप के विषय में केवल अनुमान भर लगाया जा सकता है क्योंकि वह अंत तक अज्ञात रहता है। सूर्य को केवल उदित और अस्त होते देखकर आदिमानव के मन का परितोष नहीं हो सकता था। इस बाह्य घटना का उसकी चेतना में भी घटित होना अनिवार्य था। उसके लिए आवश्यक था कि सूर्य का यह विकासक्रम किसी महापुरुष अथवा देवता के उत्थान-पतन का प्रतीक होकर सामने आये—और इस महापुरुष या देवता का अस्तित्व उसकी अपनी आत्मा के अतिरिक्त और कहां हो सकता था? प्राकृतिक घटनाओं के चारों ओर इसी प्रक्रिया से पहले आद्य बिम्बों का और फिर पुराकथाओं का ताना-बाना बुनता चला गया और ये आद्य बिम्ब मानव-जाति के सामूहिक अचेतन की सार्वभौम तथा सार्वकालिक सम्पत्ति बनते गये। युग-युग के और देश-देश के मानव के अचेतन मन में ये आद्य बिम्ब वंशानुक्रम से—जन्म से ही वरन् जन्म के पहले से ही, विद्यमान रहते हैं और अनेक रहस्यमयी विधियों के द्वारा उसके मनोव्यापार को प्रभावित करते रहते हैं।

बिम्ब का दार्शनिक विवेचन

दर्शन के क्षेत्र में भी बिम्ब का अपने ढंग से तात्त्विक विवेचन किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो के अध्यात्मवाद और भारतीय दर्शन में शैवाद्वैत सिद्धांत के प्रतिबिम्बवाद के अंतर्गत बिम्ब-विषयक स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

प्लेटो के सिद्धांत के अनुसार सत्य या मूल तत्त्व की स्थिति आत्मा में ही है; संसार के नाना पदार्थ सत्यरूप न होकर सत्य के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। काव्य या कला के विरुद्ध उनके तर्क

१. दि आर्कीटाइप्स एण्ड दि कलेक्टिव अनकान्शस (अनुवादक—हल), पृ० ४२-४३

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का सारांश यह है कि कलाकार अपनी रचना में केवल भौतिक पदार्थ का अनुकरण करता है जो स्वयं वास्तविक न होकर उस मूल या सत्य पदार्थ की अनुकृति होता है जिसकी रचना ईश्वर ने की है। ईश्वरकृत यह पदार्थ विशेष एवं भौतिक न होकर सामान्य तथा तात्त्विक होता है; वह भौतिक आयामों से परिबद्ध स्थूल वस्तुरूप न होकर सूक्ष्म बिम्ब रूप होता है। प्लेटो ने इस मूल तत्त्व को अरूप प्रत्यय न मानकर सूक्ष्म बिम्ब (फ़ॉर्म) रूप माना है। यही वह मूल रूप है जिसका भौतिक प्रतिरूप कारीगर तैयार करता है; फिर चित्रकार अपने उपकरणों के द्वारा इस भौतिक प्रतिरूप की प्रतिकृति रचता है। इस प्रकार कलाकृति आत्मा में स्थित पदार्थ के मूल रूप के प्रतिरूप की प्रतिकृति है—और चूंकि मूल रूप ही वास्तविक रूप है, अतः कलाकृति सत्य से दुगुनी दूर हो जाती है। प्लेटो के मत से संसार का प्रत्येक पदार्थ उस मूल बिम्ब का प्रतिरूप (या प्रतिबिम्ब) है जिसकी सत्ता परम चैतन्य में रहती है, जो ईश्वरीय विधान के अनुसार प्रकृति के उपकरणों के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप धारण करता है—अर्थात् प्रत्येक पदार्थ प्रतिबिम्ब मात्र है जिसका सूक्ष्म बिम्ब चेतना में विद्यमान रहता है।[1]

शैवाद्वैत के अनुसार: चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिंबवत् आभासयति—वह परम चैतन्य तत्त्व अपने ही दर्पण में सांसारिक पदार्थों को प्रतिबिंब के समान आभासित करता है—(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)। इसका अभिप्राय यह है कि नामरूपात्मक जगत् परम सत्ता का ही प्रतिबिम्ब है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ उस परम तत्त्व का प्रतिरूप है जो मूलतः अभेद और अरूप होने पर भी अपनी इच्छा से इन नाना रूपों के द्वारा अपने को व्यक्त करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व अरूप ब्रह्म की प्रतिमा या प्रतिच्छवि है। जिस प्रकार बीज के अंतर्गत वृक्ष का सम्पूर्ण रूपाकार निहित रहता है या अंडे के अंतर्गत मयूर का पूरे का पूरा रूप प्रच्छन्न करता है जो अनुकूल परिस्थिति में प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार परम तत्त्व में यह सम्पूर्ण विश्व निमीलित रहता है और उसकी अपनी इच्छा से असंख्य नामरूपों में प्रकट हो जाता है। दार्शनिक शब्दावली में 'नाम' प्रतीक का वाचक है और 'रूप' बिम्ब का। अतः दर्शन के अनुसार बिम्ब से अभिप्राय है उस गोचर रूप का जिसके माध्यम से अगोचर तत्त्व अपने को अभिव्यक्त करता है। इन दोनों का अर्थात् अगोचर तत्त्व और गोचर रूप का बिम्ब-प्रतिबिम्ब संबंध है, दोनों मूलतः अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होते हैं।

अन्य बिम्ब-भेदों के साथ काव्य-बिम्ब का संबंध

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर बिम्बों का वर्ग-विभाजन संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है:

मनोविज्ञान के अनुसार बिम्बों के मूलतः दो व्यापक वर्ग हैं: प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्ब और परोक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्ब। प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्बों के, माध्यम ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर, पांच भेद हैं—रूप-बिम्ब, शब्द-बिम्ब, गन्ध-बिम्ब, स्वाद-बिम्ब और स्पर्श-बिम्ब। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने पृथक् रूप से गति-बिम्ब का भी उल्लेख किया है। इनसे अनतिभिन्न प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुभवों के मध्यवर्ती दो और बिम्बों की सत्ता मानी गई है—अनुबिम्ब और प्रत्यक्ष बिम्ब या प्राथमिक ऐन्द्रिय बिम्ब। परोक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्ब भी चेतन और अचेतन मन की क्रिया के भेद से दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—चेतन मन

१. देखिए: रिपब्लिक (अनुवादक: लिण्ड्से), पृ० ५६५-६०८

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

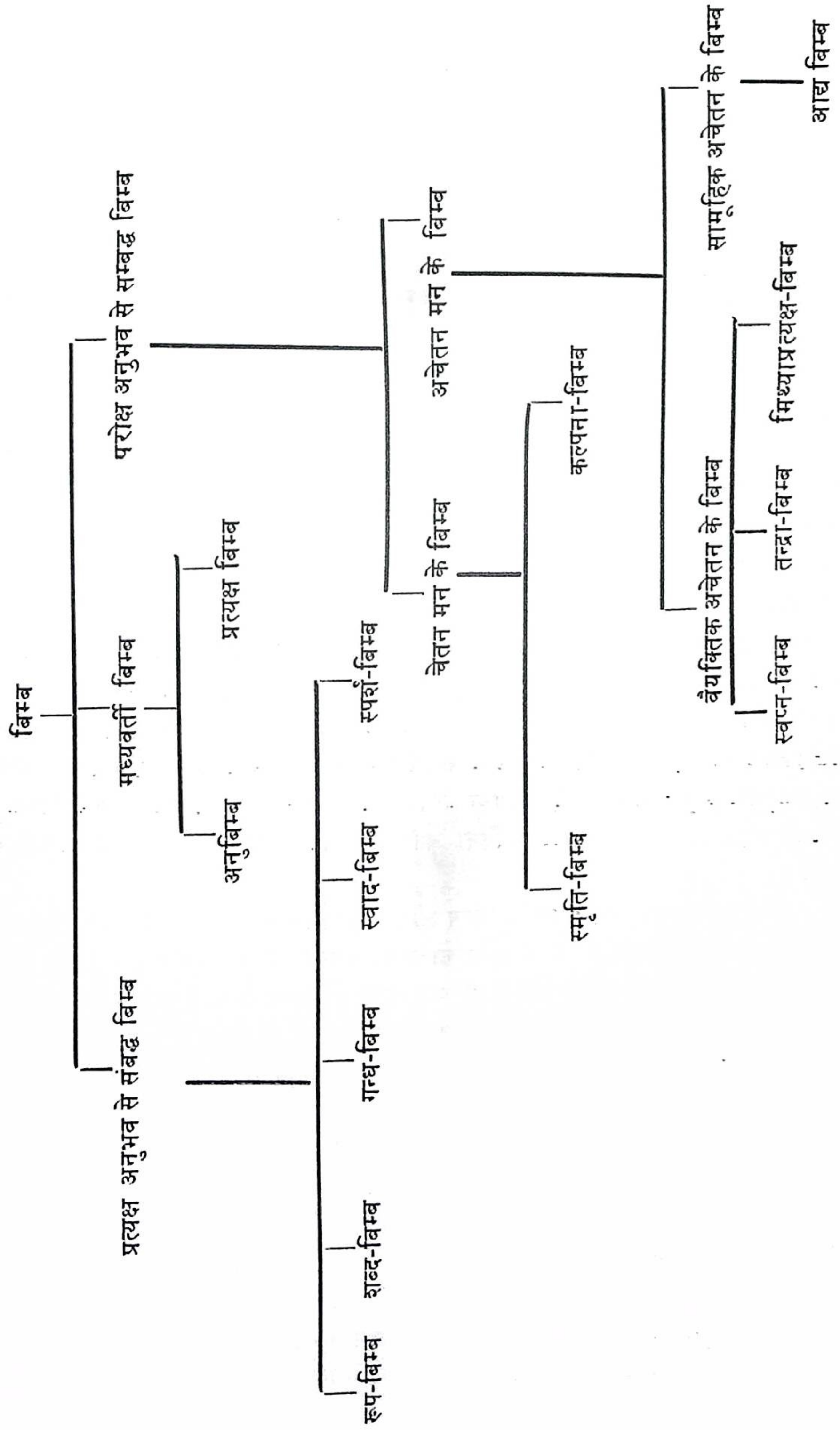

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के बिम्ब और अचेतन मन के बिम्ब। चेतन मन के बिम्बों के दो प्रमुख भेद हैं—स्मृति-बिम्ब और कल्पना-बिम्ब। उधर अचेतन मन के दो स्तर हैं—वैयक्तिक अचेतन और सामूहिक अचेतन। वैयक्तिक अचेतन के बिम्बों के अन्तर्गत सामान्यतः स्वप्न-बिम्ब, तन्द्रा-बिम्ब तथा मिथ्या-प्रत्यक्ष-बिम्ब— ये तीन भेद आते हैं, और सामूहिक अचेतन के बिम्बों का पारिभाषिक नाम है आद्य-बिम्ब।

काव्य-बिम्बों का स्वरूप इन सभी से भिन्न है—और इस अर्थ में भिन्न है कि इनमें से कोई भी बिम्ब-भेद अपने प्रकृत रूप में काव्य-बिम्ब का पर्याय नहीं है। परन्तु यह भी निर्विवाद है कि काव्य-बिम्ब का उक्त समस्त भेदों के साथ अनेक प्रकार का संबंध है। प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बद्ध रूप, रस, शब्द आदि के बिम्ब काव्य-बिम्बों की रचना में उपकरण-सामग्री के रूप में काम आते हैं। कवि अपनी अमूर्त अनुभूति का मूर्त प्रत्यक्षीकरण करने के लिए प्रत्यक्ष अनुभव के विषयभूत इन बिम्बों का मुक्त प्रयोग करता है। जिस प्रकार सामान्य भाषा-प्रयोग और व्यवहार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी ऐन्द्रिय क्षमता के अनुपात से इन बिम्बों का सापेक्षिक प्रयोग करते हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कवि-कलाकारों के बिम्ब-विधान में भी उनकी अपनी-अपनी ऐन्द्रिय क्षमता के अनुपात से इनकी न्यूनता या अधिकता रहती है। जिस व्यक्ति की जो इन्द्रिय अधिक प्रवल होती है, वह प्रायः उससे सम्बद्ध बिम्बों का प्रयोग अधिक करता है। कवि के विषय में भी सामान्यतः यही सत्य है—एक कवि की रचना में रूप या वर्ण-बिम्बों और दूसरे की में नाद-बिम्बों के प्राचुर्य का एक कारण यह भी हो सकता है कि पहले की चक्षुरिन्द्रिय और दूसरे की श्रवणेन्द्रिय अधिक प्रवल एवं संवेदनशील है। अंधा होने के बाद मिल्टन की कविता में नाद-बिम्ब या लय-बिम्ब अत्यधिक प्रबल हो गए थे। सूरदास के जन्मान्ध होने के विपक्ष में एक अकाट्य तर्क यह भी है कि उनके काव्य में रूप-बिम्बों का प्राचुर्य और वैचित्र्य मिलता है। ऐन्द्रिय तत्त्व का सद्भाव बिम्ब का एक अनिवार्य लक्षण है क्योंकि बिम्ब अगोचर नहीं होता। अतः यह स्पष्ट है कि कवि अपनी काव्य-सामग्री में ऐन्द्रिय तत्त्व का समावेश उक्त बिम्बों के द्वारा ही करता है—इनके उपयोग के बिना काव्य-सामग्री बिम्ब का रूप धारण नहीं कर सकती।

'परोक्ष-अनुभव' वर्ग के स्मृति-बिम्ब और कल्पना-बिम्ब का काव्य-बिम्ब के साथ सीधा सम्बन्ध है। ये ही वे सिक्के हैं जिनके द्वारा काव्य का समस्त व्यापार चलता है। प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बिम्ब वास्तव में स्मृति-बिम्बों के रूप में परिणत होकर ही काव्य-सामग्री का अंग बनते हैं क्योंकि काव्य का विषय प्रत्यक्ष अनुभव न होकर अनुभव का संस्कार ही होता है। कल्पना-बिम्ब का संबंध और भी घनिष्ठ है—कवि की कारयित्री प्रतिभा इन्हीं के द्वारा काव्य-बिम्बों की रचना करती है। स्मृति-बिम्ब जहां निष्क्रिय उपकरण मात्र हैं, वहां कल्पना-बिम्ब काव्य के सक्रिय उपादान हैं। अचेतन वर्ग के सभी बिम्ब-भेदों का उपयोग भी प्रायः सामग्री के रूप में ही होता है। निर्माण-विज्ञान में सामग्री के सामान्यतः दो भेद किए गए हैं—एक कच्चा माल और दूसरा तैयार माल। प्रस्तुत प्रसंग में संवेदन कच्चा माल हैं और चेतन मन के स्मृति-बिम्ब आदि तैयार माल के समान हैं, जिनका सीधा उपयोग होता है। वैयक्तिक अचेतन मन के स्वप्न-बिम्ब, दिवा-स्वप्न-बिम्ब और उधर सामूहिक अचेतन के आद्य बिम्बों की स्थिति एक प्रकार से मध्यवर्ती है: इन्हें न तो संवेदनों की तरह एकदम कच्चे माल के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि ये अरूप न होकर रूपाकारवान् होते हैं, साथ ही इन्हें चेतन मन के स्मृति-बिम्ब आदि की तरह,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एकदम तैयार माल कहना भी ग़लत होगा क्योंकि ये ज्यों के त्यों सर्जना के यंत्र में डालने लायक़ नहीं होते—इनकी गढ़ाई-सफ़ाई करना सर्वथा आवश्यक होता है। काव्य-बिम्ब में और स्वप्न-बिम्ब में मूल भेद यह है कि काव्य-बिम्ब की अन्विति स्पष्ट और दृढ़ होती है—उनकी योजना क्रमबद्ध और व्यवस्थित होती है—जिसके पीछे विवेक और तर्क का निश्चित आधार रहता है, जबकि स्वप्न-बिम्ब की अन्विति शिथिल—प्रायः छिन्न-भिन्न भी होती है, उनकी योजना में क्रम और तर्क का आधार प्रायः नहीं होता। फ़्रॉयड ने कविता और स्वप्न को सगोत्रीय माना है। उनका तर्क यह है कि स्वप्न और कविता दोनों ही दमित इच्छा की पूर्ति के माध्यम हैं। हमारी अनेक इच्छाएं जो चेतन व्यवहार में अपूर्ण रहकर अवचेतन में निमज्जित हो जाती हैं, स्वप्नों के द्वारा अपनी पूर्ति का मार्ग खोजती रहती हैं। कविता या कला का उद्‌गम भी यही है—नाना प्रकार के कला-रूपों का जन्म भी अवचेतन में स्थित अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त ही होता है। इस प्रकार फ़्रॉयड के मत से स्वप्न और कला का प्रकृत संबंध है। इस विषय में हमारा विचार यह है कि पहले तो फ़्रॉयड का यह सिद्धांत ही विवादास्पद है, और यदि उसे बीज-रूप में सत्य मान भी लिया जाए, तब भी स्वप्न-बिम्ब और काव्य-बिम्ब की एकता सिद्ध नहीं होती। काव्य-बिम्ब के निर्माण में अवचेतन की प्रबल प्रेरणा होने पर भी चेतन मस्तिष्क की क्रिया अत्यंत प्रमुख रहती है, परन्तु स्वप्न-बिम्बों के निर्माण में चेतन मस्तिष्क निष्क्रिय रहता है। स्वप्न-सिद्धांत के समर्थक अपने पक्ष में कोलरिज की प्रसिद्ध रचना 'कुबला ख़ां' का उदाहरण देते हैं, जिसकी रचना, साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार, स्वप्न में हुई थी। भारत के भी साहित्य-वृत्तों में इस प्रकार के अनेक प्रवाद प्रचलित हैं कि अमुक कवि की अमुक रचना स्वप्न में सरस्वती के दर्शन से स्फुरित हुई थी—एक धार्मिक प्रवाद के अनुसार हनुमान जी स्वप्न में आकर 'मानस' के अनेक प्रसंगों में संशोधन कर जाते थे। हमारे विचार से इनमें अर्थवाद का अंश प्रमुख है—इनका सांकेतिक अर्थ ही ग्राह्य हो सकता है और वह यह है कि अनेक रचनाओं में सहजानुभूति का तत्त्व अत्यंत प्रबल रहता है और उनके अनेक बिम्ब अनायास निर्मित या स्वतःस्फूर्त होते हैं। शास्त्र के नियमानुसार भी प्रत्येक सफल काव्यकृति चित्त की समाहिति या तन्मयीभाव से उद्‌भूत होती है—परन्तु चित्त की यह समाहिति स्वप्न के अत्यंत निकट होने पर भी स्वप्न से भिन्न है।—काव्य-बिम्ब और स्वप्न-बिम्ब के पारस्परिक संबंध का निर्णय उपर्युक्त व्याख्या के संदर्भ में ही होना चाहिए।

काव्य-बिम्ब के साथ आद्य बिम्ब का संबंध और भी जटिल है। युंग ने जिस रूप में आद्य बिम्ब का लक्षण प्रस्तुत किया है, उसको स्वीकार कर लेने के बाद यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि संपूर्ण काव्य के विधान में आद्य बिम्ब प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रीति से, अत्यंत जटिल रूप में, गुंथे हुए हैं। काव्य के अनेक रूप तो ऐसे हैं जिनमें आद्य बिम्बों का प्रयोग प्रत्यक्ष रीति से हुआ है—उदाहरण के लिए, आदिम प्रकृति-काव्य, पुराण-काव्य, लोकगीत, रहस्यवादी काव्य आदि में काव्य-बिम्ब प्रायः आद्य बिम्बों पर आरूढ़ होकर प्रकट होते हैं। जैसा कि स्वयं युंग ने स्पष्ट किया है, प्राचीन प्रबंध-काव्यों और लोकगाथाओं के 'प्रयोजन'[1] वास्तव में आद्य बिम्बों के पर्याय हैं। वेदों में संकलित प्रकृति-विषयक कल्पकथाएं, तंत्र-साहित्य के नानाविध कथारूपक, रहस्यवादी कविताओं के प्रतीक-गुम्फ आद्य बिम्बों की उलझी हुई श्रृंखलाएं अपने कलेवर में समेटे हुए हैं। प्रबंध-काव्यों के कथानक-बिम्बों के भीतर ये ही आद्य बिम्ब अनेक रूपों में निहित

१. मोटिफ़

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रहते हैं। इन्हीं के सार्वभौम अस्तित्व के कारण विभिन्न देशों के कथानकों की रूपरेखा और रूढ़ियों में अद्भुत समानता मिलती है; और कथा-साहित्य के विशेषज्ञ प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि विश्व-साहित्य का विशाल भवन केवल चार-पांच कथा-तंत्रों के आधार पर खड़ा हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि आद्य बिम्बों का काव्य-बिम्बों के साथ गहरा और जटिल जन्मजात संबंध है, इसमें संदेह नहीं; परन्तु दोनों में अभेद संबंध नहीं है, यह भी निर्विवाद है। दोनों का भेद स्पष्ट है और वह यह कि काव्य-बिम्ब अपने परिपूर्ण रूप में जहां चेतन मन की सृष्टि हैं वहां आद्य बिम्ब मूलतः अचेतन मन की ही सृष्टि हैं: चेतन और अचेतन मन की क्रियाओं में जो भेद है वही स्वभावतः काव्य-बिम्ब और आद्य बिम्ब के स्वरूपों में भी प्रतिफलित होता है।

किसी पदार्थ के स्वरूप के यथार्थ बोध के लिए जिस प्रकार उसके उपादानों का स्वरूप-विश्लेषण आवश्यक होता है, इसी प्रकार काव्य-बिम्ब के स्वरूप को सम्यक् रीति से हृदयंगम करने के लिए, उसे उपर्युक्त प्रत्यक्ष और परोक्ष, ऐन्द्रिय एवं मानसिक, चेतन और अचेतन बिम्ब-भेदों के परिप्रेक्ष्य में देखना उपयोगी होगा—ऐसा विश्वास सहज ही किया जा सकता है।
—अस्तु!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिम्ब-रचना की प्रक्रिया

मुझे स्मरण है—आज से १०-१२ वर्ष पूर्व किसी निर्वाचन-समिति में मेरे एक सहयोगी ने अचानक ही अभ्यर्थी से जब यह प्रश्न कर दिया कि कलाकार अपनी अनुभूति को किस प्रकार रूपायित करता है, तो मैं निर्वाचक की भूमिका से उतर कर स्वयं ही अपने मन के भीतर इस जटिल प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने लगा था। वास्तव में काव्य-मनोविज्ञान का यह अत्यंत रोचक प्रसंग है और आज एक युग के बाद मैं फिर यही विचार कर रहा हूं कि कवि अपनी अनुभूति को बिम्ब-रूप में किस प्रकार परिणत करता है।

प्रस्तुत प्रसंग में स्वभावत: सबसे पहले 'अनुभूति' का स्वरूप-विवेचन करना अधिक उपयोगी होगा। भारतीय दर्शन— विशेषकर न्याय दर्शन—में और इधर पाश्चात्य मनोविज्ञान में भी 'अनुभव' के स्वरूप का अत्यंत सूक्ष्म-गंभीर विश्लेषण किया गया है। परन्तु हम दर्शन और मनोविज्ञान की इन जटिल प्रतिपत्तियों में न उलझकर सामान्य व्यावहारिक तथ्यों का ही आधार लेकर विषय-विवेचन करेंगे। अनुभव या अनुभूति का सम्बन्ध चार तत्त्वों से है: (१) आत्मा—जिसके लिए अन्तश्चेतना शब्द का प्रयोग करना अधिक समीचीन होगा, (२) मन, (३) इन्द्रियां, और (४) विषय। सबसे पूर्व विषय का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होता है, फिर इन्द्रियों का मन के साथ और अंत में मन का अन्तश्चेतना के साथ, जहां अनुभूति का वृत्त पूरा हो जाने पर उसके स्वरूप का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुभूति के साथ ऐन्द्रिय-मानसिक तत्त्वों के अतिरिक्त मूर्त पदार्थ आधार रूप में सम्पृक्त रहते हैं और अनुभूति की प्रक्रिया मूर्त से आरम्भ होकर अमूर्त बन जाती है। एक उदाहरण लीजिए: किसी सुन्दर सुगन्धित फूल को देख-सूंघ कर प्रमाता को एक प्रकार का सुखद अनुभव होता है जिसे हम 'प्रीति' कहते हैं। सबसे पहले फूल के वर्ण और गंध के साथ हमारी चक्षु और घ्राण नामक इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है जिसके फलस्वरूप कतिपय ऐन्द्रिय संवेदन उत्पन्न हो जाते हैं। इसके बाद उक्त इन्द्रियों का मन के साथ सम्पर्क होता है और उसके परिणामस्वरूप मन में भी अनेक संवेदनों का आविर्भाव हो जाता है। अन्त में अन्तश्चेतना के साथ मन का सम्पर्क होता है जहां पहले से ही विद्यमान संस्कारों के साथ संश्लिष्ट होकर ये संवेदन 'प्रीति' नामक अनभूति के रूप में समन्वित हो जाते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान में भी अनुभूति के स्वरूप का बहुत-कुछ ऐसा ही लक्षण दिया गया है: अनुभूति=क्षण-विशेष में या नियत समय पर किसी व्यक्ति की मन:स्थिति का समाकलन अथवा उसका कोई विशिष्ट अवयव या पहलू; क्षण-विशेष में होने वाली ऐसी मानसिक घटनाओं का सर्वयोग या संकलन जिनका ग्रहण व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से करता है (डिक्शनरी ऑफ़ साइकोलोजी—वारेन)।

यह अमूर्त अनुभूति वाणी और कर्म के माध्यम से फिर मूर्त रूप धारण करती है और इस प्रकार जीवन-व्यापार चलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन-व्यापार में अर्थात् आत्म और अनात्म अथवा अन्तश्चेतना और बहिर्जगत् के सन्निकर्ष में (१) अमूर्तन, और (२) मूर्तन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की क्रियाएं निरन्तर होती रहती हैं। बिम्ब-रचना का संबंध वाणी द्वारा मूर्तन की क्रिया से है।

इस मूर्तन-क्रिया का सबसे स्थायी और सफल माध्यम है शब्दार्थ। जब मनुष्य कहता है कि मेरे सिर में या पेट में दर्द है तो वह अमूर्त अनुभूति को शब्दार्थ द्वारा व्यक्त ही तो करता है। भाषा के विकास-क्रम में 'दर्द' शब्द एक विशेष प्रकार की अनुभूति का प्रतीक बन गया है और सामान्य व्यक्ति नित्य व्यवहार में इसका सहज उपयोग कर अपनी उस अनुभूति विशेष को व्यक्त कर लेता है। किन्तु कभी-कभी उसकी अनुभूति तीव्र हो जाती है और फलतः उसकी वाणी भी उच्छ्वसित हो उठती है। ऐसी स्थिति में रूढ़ प्रतीक पर्याप्त नहीं होते; मन के उच्छ्वास को वहन करने के लिए उसे अधिक प्रभावी शब्दार्थ का प्रयोग करना पड़ता है और वह कह उठता है: 'सिर फटा जा रहा है!'—'पेट में सुइयां-सी चुभ रही हैं।' यह शब्दावली निश्चय ही बिम्बात्मक है; दोनों वाक्यों से हमारी कल्पना में मूर्त छवियां उपस्थित हो जाती हैं जिनसे हमारे मन पर तुरन्त ही प्रभाव पड़ता है। कवि इससे भी आगे बढ़कर स्मृति और कल्पना के द्वारा दर्द की इस अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है, यानी दर्दभरी कविता लिखता है:

जरत बजागिनि करु पिउ छाहां। आइ बुझाइ अंगारन्ह माहां।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि तैं करु फुलवारी।
लागिउं जरै, जरै जस भारू। फिरि फिरि भूंजेसि, तजिउं न बारू।
सरवर हिया घटत नित जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई।
(नागमती-विरह, पद्मावत)

इस प्रकार आप देखें कि अनुभूति की अभिव्यक्ति में किस तरह क्रमशः बिम्बात्मकता की संवृद्धि होती जाती है। यह सब किस प्रक्रिया से होता है—हमारा विवेच्य यही है। जैसा कि मैं अनेक प्रसंगों में स्पष्ट कर चुका हूं, काव्य, स्थूल रूप से, शब्दार्थ के माध्यम से मानव-अनुभूति की कल्पनात्मक पुनःसृष्टि का नाम है। अनुभूति की यह सृष्टि या पुनःसृष्टि भोग की अवस्था में अर्थात् अनुभूयमान स्थिति में सम्भव नहीं है। घटित होने के बाद अनुभूति संस्कार बन जाती है—और संस्कार बनने के बाद ही वह काव्य में परिणत हो सकती है। अतः अनुभूति को बिम्ब रूप में परिणत करने की प्रक्रिया का पहला चरण है भोगावस्था की समाप्ति के बाद अनुभूति का संस्कार में रूपान्तर। काव्य-रचना के समय समान प्रेरक परिस्थितियों में स्मृति और कल्पना की सहायता से कवि इस संस्कार को पुनर्जीवित करता है—अर्थात् अपनी पूर्वानुभूति की कल्पनात्मक आवृत्ति करता है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले तो वह इस अनुभूति से सम्बद्ध भौतिक उपकरणों का आकलन करता है—अर्थात् कल्पना के द्वारा उन पदार्थों—व्यक्तियों, वस्तुओं और घटनाओं की पुनःसर्जना करता है जिनके संदर्भ और परिवेश में उस या वैसी ही अनुभूति का निर्माण हुआ था या होता रहता है। सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कवि की दर्शना-शक्ति अधिक तीव्र एवं सूक्ष्म होती है, और उसका कल्पना-क्षेत्र अधिक व्यापक होता है; अतः अनेक प्रकार की अनुभूतियों के संस्कार उसकी चेतना में संचित रहते हैं। पुनःसर्जना की स्थिति में इन संस्कारों के मानस-चित्र अनायास ही उसकी पश्यन्ती कल्पना में उद्बुद्ध होने लगते हैं और वह अपने विवेक के द्वारा अनावश्यक का त्याग तथा आवश्यक का ग्रहण करता हुआ उनका उचित संश्लेषण कर अभीष्ट बिम्बों की रचना कर लेता है। उदाहरण देकर हम अपने मन्तव्य को और स्पष्ट कर सकेंगे:

सुन्दरता कहं सुन्दर करई। छवि-ग्रह दीपसिखा जनु बरई। (तुलसी)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सीता के रूप के प्रति मुग्ध राम की उक्ति है : सीता के रूप से जनकवाटिका का सौन्दर्य और भी दीपित हो रहा था—जैसे दीपशिखा के आलोक से चित्रशाला सहसा जगमग हो उठती है। इस अर्धाली का सामान्य अर्थ भी प्रचलित है : 'गीता का रूप सौन्दर्य को भी सुन्दर बना रहा है—उसे देखकर ऐसा लगता है मानो शोभा के गृह में दीपशिखा जल रही हो।'—किन्तु हमारे विचार से यह अर्थ अपने आप में अमूर्त है और प्रस्तुत संदर्भ में पूरी तरह नहीं बैठता। विषय यही है।—दिव्य गुणों से दीपित सीता के रूप की झांकी प्रस्तुत करना तुलसी का अभीष्ट है। अनुभूति अमूर्त है। संभव है तुलसी ने अपने जीवन में इस प्रकार के किसी दिव्य रूप का अवलोकन किया हो और उसका संस्कार उनकी अंतश्चेतना में विद्यमान हो—या निरंतर सगुण भक्ति की साधना से सीता के दिव्य रूप का मनसा साक्षात्कार तो उन्होंने किया ही था। उधर किसी मन्दिर की चित्रशाला में बलती हुई दीपशिखा के प्रभाव का भी अवलोकन वे कर चुके थे और उसका भी संस्कार उनके मन में था—साथ ही काव्य में अंकित ऐसे चित्रों के संस्कार भी निश्चय ही उनकी चेतना में थे। अतः 'मानस' में जब यह प्रसंग उपस्थित हुआ तो स्मृति और कल्पना के द्वारा ये अथवा ऐसे अनेक बिम्ब अनायास ही उभर आये और कवि ने इनमें से सर्वाधिक आकर्षक बिम्ब का चयन कर शब्दबद्ध कर दिया। पुनःसर्जना की इस प्रक्रिया में पड़कर अनुभूति व्यक्तिगत वासनाओं से मुक्त हो गई, क्योंकि एक तो वह एक ऐसे काव्यगत पात्र पर आरोपित हो गई जिसका अपना व्यक्तित्व ही कल्पना की सृष्टि थी, दूसरे स्वतंत्र बिम्बों पर आरूढ़ होकर उसका स्वरूप व्यक्तिगत परिस्थितियों से स्वतंत्र हो गया। इसके बाद प्रश्न आया इन मानस-बिम्बों को शब्दार्थ के द्वारा मूर्त रूप प्रदान करने का। यहां शब्दों के अपने-अपने स्वतंत्र बिम्बों की समस्या आयी होगी पर कवि ने अपने समृद्ध कोश से ऐसे शब्दों का चयन कर, जिनके बिम्ब इन मानस-बिम्बों के अनुकूल पड़ते थे, इस समस्या का समाधान कर लिया और अनुकूल या सहायक शब्द-बिम्बों के माध्यम से उन्हें मूर्त रूप में प्रस्तुत कर दिया। दिव्य आभा से मण्डित सीता के रूप के लिए 'दीपशिखा', उसके प्रभाव-विस्तार के लिए 'बलना', और उधर जनकवाटिका के परिवेश के लिए 'छवि-गृह' आदि ऐसे ही शब्द थे जिनके उज्ज्वल बिम्ब कल्पना के आलोकमय बिम्बों को मूर्तित करने में अनायास ही सहायक बन गये।—दिव्य रूप की अनुभूति बिम्ब में परिणत हो गई।

बिम्ब-रचना के विविध सोपान

बिम्ब-रचना-प्रक्रिया का पहला चरण है अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण। स्वगत अनुभूति भोग का विषय है और भोग निष्क्रिय होता है—वह सर्जना नहीं कर सकता। जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया, सर्जना के लिए पहली आवश्यकता यह है कि अनुभूति की भोगावस्था समाप्त होकर वह संस्कार बन जाए। जैसे कि एकदम गर्म पिघले हुए धातु-द्रव से पदार्थ का निर्माण नहीं किया जा सकता—इसी प्रकार अनुभूयमान स्थिति में बिम्ब की सर्जना नहीं हो सकती। धातु-द्रव जब थोड़ा ठंडा पड़कर पिण्ड रूप होने लगता है तभी उसमें निर्माण की क्षमता आती है, इसी प्रकार अनुभूति जब भोगावस्था को पार कर संस्कार बन जाती है तभी उसके आधार पर बिम्ब का निर्माण हो सकता है। संस्कार बन जाने के बाद फिर इस अनुभूति का व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होना आवश्यक है क्योंकि जब तक अनुभूति व्यक्ति अथवा विषयी का अभिन्न अंश रहेगी, उससे पृथक् विषयभूत नहीं बनेगी, तब तक उसका काव्य-सृष्टि के लिए प्रयोग नहीं हो सकता। विषय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बनने के लिए उसे आत्मतत्त्व से पृथक् होना पड़ेगा और यह कार्य निर्वैयक्तीकरण की प्रक्रिया से सम्पन्न होता है।

निर्वैयक्तीकरण कल्पना या भावन के व्यापार के द्वारा सिद्ध होता है—यह साधारणीकरण व्यापार का ही अंग है और इसकी सिद्धि के अनेक उपाय हैं। इनमें से एक उपाय है आत्मतत्त्व से असंपृक्त उपकरणों का प्रयोग—ऐसे उपकरणों का उपयोग जिनमें हमारी अहंता लिप्त नहीं है। इन उपकरणों का आहरण कवि प्रकृति अथवा भौतिक जीवन के क्षेत्र से करता है और ये प्रायः ऐसे उपकरण होते हैं जो हमारी वासना के विषय न होकर तटस्थ अनुभव के विषय मात्र होते हैं। अपने से बाहर के पदार्थों के साथ अनुभूति का संबंध स्थापित हो जाने से वह बहिर्मुख हो जाती है और उसका अहंता से स्वतंत्र, व्यापक बहिर्जगत् में विस्तार होने लगता है।—दूसरा उपाय है अपने व्यक्तित्व से स्वतंत्र तटस्थ व्यक्तियों अथवा पदार्थों पर अनुभूति का आरोपण। भारतीय काव्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव आदि के विधान की व्यवस्था इसी उद्देश्य से की गई है : प्रसंग अथवा परिवेश की उद्भावना के द्वारा कवि अनुभूति को मूर्त रूप प्रदान करता है :

ध्यान करत नँदलाल कौ, नए नेह में बाम।
तनु बूड़त रँग पीत में, मन बूड़त रँग स्याम।। (मतिराम)

पिय-आगम सुनि बाल-तन, बाढ़े हरष बिलास।
प्रथम बूंद बारिद उठैं, ज्यौं बसुमती सुबास।। (मतिराम)

पहले दोहे में 'नए नेह' की अनुभूति को वाम और नंदलाल पर आरोपित कर आलम्बन (नंदलाल), उद्दीपन (पीताम्बर का आकर्षण या श्यामल छवि), अनुभाव (ध्यान करना, कल्पना के द्वारा पीताम्बर में डूबना), संचारी (स्मृति, औत्सुक्य) के विधान के द्वारा बिम्बित किया गया है। इसी प्रकार दूसरे दोहे में भी प्रियागमन-जन्य उल्लास की अनुभूति को बाल और प्रिय के प्रसंग के माध्यम से 'वर्षा की प्रथम फुहार से उद्बुद्ध भूमि-गंध' के अप्रस्तुत-विधान द्वारा व्यक्त किया गया है।— छायावाद के कवियों ने प्रकृति-छवियों पर अपनी भावनाओं को आरोपित कर उन्हें वस्तुगत रूप प्रदान करने का उपक्रम किया है। इस पद्धति से अमूर्त अनुभूति को मूर्त रूप में प्रस्तुत करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। लोक-जीवन में नाना प्रकार के अनुभवों में से गुज़रते हुए नर-नारियों के मानसिक और शारीरिक व्यवहार अपने-आप में मूर्त होते हैं—जिनका वर्णन करना—शब्दों के द्वारा जिनका अनुकरण या चित्रण करना—अपेक्षाकृत सुकर होता है। इसीलिए रस के परिपाक के लिए अमूर्त स्थायी भाव का चित्रण न कर उसके कारण-कार्य आदि के वर्णन की ही व्यवस्था की गई है। स्थायी भाव अमूर्त है, अतः उसकी व्यंजना ही सम्भव है, विभाव और अनुभाव मूर्त हैं जिनका वर्णन किया जा सकता है; अतः कवि मूर्त कारण-कार्य का वर्णन कर अमूर्त भाव की व्यंजना करने में सफल होता है। इस प्रकार प्रसंग-नियोजन या विभावानुभाव-योजना अमूर्त के मूर्तन का सबसे सुगम एवं व्यावहारिक उपाय है।

किंतु प्रसंग-नियोजन अपने-आप में पर्याप्त नहीं होता। प्रसंग में नियोजित 'विशेष' का साधारणीकरण भी अनिवार्य होता है। कवि को 'विशेष' के ऐसे गुणों और धर्मों को उभार कर रखना पड़ता है जो सर्व-संवेद्य हों—अर्थात् जिनके साथ सहृदय-समाज सहज ही तादात्म्य कर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सके। उपर्युक्त उदाहरणों में यही किया गया है। उनमें वर्णित वामा और श्याम—नायक और नायिका—विशिष्ट न होकर आकर्षक पुरुष और प्रणयलुब्ध नारी के प्रतीक हैं : पुरुष के रिझावन हार रूप पर बल दिया गया है और नारी की रिझवार-प्रवृत्ति पर। ये दो धर्म ऐसे हैं जो सर्वसंवेद्य हैं। यहां आकर मूर्तन-प्रक्रिया क्रमशः सान्द्रण[1]-व्यापार की ओर प्रवृत्त हो जाती है जिससे बिम्ब-विधान विकीर्ण न रहकर सान्द्रित हो जाता है और बिम्बों की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है।

यह सब तो कल्पना का व्यापार है। इसके आगे अभिव्यंजना की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है जिसके लिए कवि शब्द-अर्थ, लय, संगीत आदि का प्रयोग करता है। इधर सार्थक शब्दों के अपने-अपने बिम्ब होते हैं और उधर लय, संगीत आदि भी श्रौत बिम्बों से युक्त रहते हैं। काव्य-बिम्बों की रचना में ये बिम्ब उपादान के रूप में काम आते हैं। कवि लक्षणा आदि के द्वारा इन रूढ़ और प्रयोग-धूमिल बिम्बों में नया रंग भरता है और अप्रस्तुत-विधान के द्वारा उनके कलेवर को समृद्ध करता है। मतिराम के पहले दोहे के द्वितीय चरण में लक्षणा के द्वारा बिम्बों में रंग भरा गया है : तनु बूड़त रँग पीत में, मन बूड़त रँग स्याम।' और दूसरे दोहे के उत्तरार्ध में अप्रस्तुत-विधान के द्वारा बिम्ब के कलेवर को समृद्ध किया गया है—

प्रथम बूंद बारिद उठैं, ज्यौं बसुमती सुबास !

इस प्रकार काव्यगत बिम्ब-रचना अथवा बिम्बन-प्रक्रिया के सोपान सामान्यतः ये हैं—

१. **अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण** : सर्वप्रथम कवि अनुभूति से सम्बद्ध मूल परिस्थितियों—पदार्थों और व्यक्तियों—की स्मृति के आधार पर, आत्म-बाह्य उपकरणों के प्रयोग तथा अपर पदार्थों अथवा व्यक्तियों पर अनुभूति के आरोपण द्वारा प्रसंग-विधान या विभावानुभाव-योजना करता है और इस प्रकार आत्मनिष्ठ अनुभूति को वस्तुनिष्ठ रूप प्रदान करता है।

२. **साधारणीकरण** : इसके बाद, प्रसंग-विधान के अंगभूत 'विशेष' के सामान्य सहृदय-संवेद्य धर्मों को उभारता हुआ प्रमुख तत्त्वों का सांद्रीकरण करता है।

३. **शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति** : अंत में, लक्षणा के प्रयोग द्वारा रूपरेखाओं में रंग भरकर और अप्रस्तुत-विधान की सहायता से कलेवर को समृद्ध करता हुआ, बिम्ब को पूर्णता प्रदान कर देता है।

---

१. कन्सेन्ट्रेशन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ये उपमान मैले हो गये हैं !

देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच—
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है ।—(अज्ञेय)

बिम्ब-विधान के संदर्भ में मौलिकता अथवा नूतनता का प्रश्न भी विवेचक का ध्यान आकृष्ट कर सकता है। जिस प्रकार प्राचीन या परम्परागत उपमान निरंतर प्रयोग के कारण निष्प्राण हो जाते हैं—अधिक घिसने से उनका मुलम्मा छूट जाता है, इसी प्रकार परम्परागत बिम्ब भी निर्जीव हो जाते हैं—उनमें वैचित्र्य और आकर्षण का अभाव हो जाता है। अतः रूढ़ उपमानों और उन पर आश्रित बिम्बों का त्याग कर नया कवि अपनी नवीन सौंदर्य-चेतना के अनुरूप नये उपमानों की शोध और उनके द्वारा नये बिम्बों के निर्माण में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार बिम्ब-योजना में नवीनता का विशेष महत्त्व है।

यह तर्क निस्सार नहीं है। काव्यशिल्प के विकास में—और उधर अलंकारशास्त्र के इतिहास में भी, यह प्रश्न अनेक बार सामने आ चुका है। यूरोप के काव्यशास्त्र में आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व लोंजाइनस ने उपमानों व अलंकारों की रूढ़ता एवं जड़ता पर प्रहार कर जीवंत अनुभवों के आधार पर नये उपमानों और प्रयोगों पर बल दिया था, मध्य युग में दान्ते ने अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप इसकी आवृत्ति की, पुनर्जागरण काल में शेक्सपियर ने व्यवहार में काव्य-शिल्प की जड़ता को छिन्न-भिन्न कर उसे अनंत विस्तार प्रदान किया, उन्नीसवीं शती में वर्ड्सवर्थ ने नव्यशास्त्रवाद की रूढ़ियों का विरोध करते हुए सजीव भाषा और जीवंत काव्य-सामग्री के प्रयोग के लिए आंदोलन किया और बीसवीं शती में आरम्भ से ही नव प्रयोगों के पक्ष में एक के बाद एक आंदोलन हो रहे हैं। भारतीय वाङ्मय के इतिहास में कालिदास ने अलंकार और रीति सम्प्रदायों की जकड़बंदी के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी—पुराणमित्येव न साधु सर्वम्; हिन्दी में रीतिमुक्त कवि ने रूढ़ उपमानों की भर्त्सना करते हुए लिखा था :

सीखि लीन्हों मीन-मृग-खंजन-कमल नैन,
सीखि लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामणि,
सीखि लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है॥
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको कहूं भूलि नहीं बांधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीनो खेल करि जानो है॥

—(ठाकुर)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आधुनिक युग के द्वितीय चरण में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट घोषणा की थी—"भारती को कुछ नवीन आभूषणों से अलंकृत करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। फिर क्या कारण कि बेचारी भारती के ज़ेवर वही भरत, कालिदास, भोज इत्यादि के ज़माने के ज्यों के त्यों बने हुए हैं ? भारती को क्या नवीनता पसंद नहीं ?"[१] इधर 'पल्लव' की भूमिका में कवि पंत ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे : "वे (अलंकार) वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं : जहां भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहां भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बंधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"

यूरोप के रूमान-विरोधी आंदोलनों से प्रेरणा लेकर इसी तर्क को नये कवि ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है :

चाँदनी चंदन-सदृश
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे
चाँदनी उस रुपये-सी है कि जिसमें
चमक है, पर खनक गायब है।
हम कहेंगे ज़ोर से
मुंह घर अजायब है
जहां पर बेतुके, अनमोल, ज़िन्दा और मुर्दा भाव रहते हैं। (अजितकुमार)

इस विचार-शृंखला का सारांश यह है कि बिम्ब-योजना में ताज़गी और नवीनता का बड़ा महत्त्व है— नवीन उपमानों और बिम्बों के द्वारा काव्य-शिल्प का विकास होता है। जहां तक इस तथ्य का संबंध है, इसमें किसे आपत्ति हो सकती है ? प्रतिभा को आदिकाल से ही नवनवोन्मेषशालिनी और अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा कहा गया है, अतः नवीन बिम्ब-योजना काव्य-प्रतिभा का लक्षण है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु नवीनता अथवा अपूर्वता को निरपेक्ष रूप में काव्य-बिम्ब का गुण नहीं माना जा सकता। नवीनता और अपूर्वता की कल्पना चारुत्व की परिधि के भीतर ही सार्थक मानी गयी है और आज भी स्थिति में परिवर्तन नहीं हो सकता। वास्तव में, जैसा कि भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि आदि के प्रसंग में स्वीकार किया गया है, काव्य में उत्कर्ष का विधान चारुत्व के आधार पर ही होता है :

वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिः।—(सा० द०)
चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।
(ध्वन्यालोक)

अर्थात् जहां वाच्य से अधिक व्यंग्य की प्रधानता हो वहां ध्वनि होती है (सा० द०)—और, वाच्य तथा व्यंग्य के प्राधान्य का मापक चारुत्व का तारतम्य ही है (ध्वन्यालोक)। कहने का तात्पर्य यह है ध्वनि, आदि तत्त्वों के संदर्भ में भी जिन्हें काव्य की आत्मा माना गया है, व्यंग्य मात्र पर्याप्त नहीं है : व्यंग्य में चारुता होनी चाहिए।

चारुत्व के दो पक्ष हैं—एक वस्तुगत और दूसरा भावगत। वस्तुगत रूप में चारुत्व

१. 'भारती-भूषण' की प्रस्तावना में उद्धृत महावीरप्रसाद द्विवेदी का पत्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

औचित्य अर्थात् प्रसंगानुरूपता का वाचक है और भावगत रूप में वस्तु और प्रमाता की चित-वृत्ति के तादात्म्य का। जो बिम्ब प्रसंग अथवा मूल भाव के अनुरूप है वही समीचीन है और संदर्भ की दृष्टि से वही सुन्दर है—इसमें सममिति आदि के गुण सहज ही अंतर्भुक्त हैं। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है : बिम्ब में रमणीयता का समावेश तभी होगा जब प्रमाता की चित्तवृत्ति का उसके साथ सामंजस्य स्थापित हो सकेगा। परन्तु प्रमाता की चित्तवृत्ति कोई शून्य पटल नहीं है, उसमें असंख्य संस्कार विद्यमान रहते हैं जो सामंजस्य की प्रक्रिया में साधक या बाधक होते रहते हैं। अतः चारुत्व का संबंध संस्कारों के साथ भी अनिवार्यतः स्थापित हो जाता है। किसी पदार्थ या बिम्ब की चारुता का निर्णय करने में संस्कारों के साथ तादात्म्य का प्रश्न भी महत्त्व-पूर्ण बन जाता है। यहीं प्रकारान्तर से साधारणीकरण का प्रश्न भी उठ खड़ा होता है—कोई बिम्ब, चाहे वह कितना ही विचित्र और मौलिक क्यों न हो, तब तक काव्य के लिए उपयोगी नहीं हो सकता जब तक वह प्रमातृवर्ग की चेतना में अभीष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न न करे। कहने का अभिप्राय यह है कि बिम्ब की नवीनता मात्र पर्याप्त नहीं है, नवीनता का प्रत्येक रूप सुन्दर नहीं होता और हर नया बिम्ब काव्य-बिम्ब की कोटि में नहीं आ सकता। काव्य के क्षेत्र में कोरी कल्पना की उड़ान से या दूर की कौड़ी लाने भर से अपूर्वनिर्माण की क्षमता सिद्ध नहीं होती। इस स्थापना का परीक्षण कुछ बिम्बों के विश्लेषण के द्वारा सरलता से किया जा सकता है। पहले नये कवि के उपर्युक्त सिद्धांतपरक बिम्ब को ही लीजिए।

लेखक की ओर से इस प्रसंग में अनेक तर्क दिए जा सकते हैं। एक तर्क तो यही है कि चाँदनी को चंदन की और मुख को कमल की उपमा देने की परम्परा हज़ारों वर्ष से चली आ रही है, अतः अब भी इसका पिष्ट-पेषण करते रहने से क्या लाभ ? चाँदनी के प्रति या मुख के प्रति आज के मानव की सर्वथा भिन्न प्रतिकियाएं भी होती हैं और हो सकती हैं जिनको व्यक्त करने के लिए रूढ़ बिम्बों को छोड़ कर नए बिम्बों का निर्माण अनिवार्य है। चाँदनी का प्रभाव शीतल और सुखकर ही हो यह आवश्यक नहीं है, आधुनिक सहृदय को उसमें एक प्रकार के भ्रामक सौंदर्य या निस्सार आकर्षण की प्रतीति भी हो सकती है। उसी प्रकार मुख में विकचता या प्रफुल्लता की प्रतीति के स्थान पर यह प्रतीति भी हो सकती है कि वह मानव-हृदय के चित्र-विचित्र भावों के प्रदर्शन का माध्यम मात्र है। ये दोनों कल्पनाएं या कल्पनात्मक धारणाएं सार्थक हैं, इनके बिम्ब भी साफ़ हैं; परन्तु उनमें भाव की प्रेरणा नहीं—बुद्धि का चमत्कार ही अधिक है, अतः इनमें चारुत्व या रमणीयता का अभाव है और इसलिए वे काव्य-बिम्बों की कोटि में नहीं आते। सहृदय की बुद्धि तो इन्हें ग्रहण कर लेती है, पर उसकी संवेदना का तादा-त्म्य इनके साथ नहीं हो पाता।

इसकी अपेक्षा अज्ञेय के निम्नलिखित उद्धरण में रमणीय तत्त्व अधिक हैं :

अगर मैं तुमको
ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हाई कुंई
टटकी कली चम्पे की वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बल्कि केवल यही—
ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच—
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है ।
मगर क्या तुम नहीं पहचान पाओगी
अगर मैं यह कहूं—
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरे बाजरे की ?

यहां भी वास्तव में कवित्व की सर्जना की अपेक्षा सिद्धान्त-कथन पर ही कवि का बल अधिक है। उसका तर्क यहां भी प्रायः वही है; प्रस्तुत प्रसंग में वह रोमानी उपमानों और बिम्बों का अति-परिचय तथा अति-प्रयोग के कारण तिरस्कार करता हुआ, निज़ी सहज, गहरे बोध के आधार पर, 'बिछली घास' और 'हवा में लहलहाती बाजरे की छरहरी कलगी' जैसे उपमानों या बिम्बों को प्राथमिकता देता है, जो आज के अनुभव के निकट हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों बिम्बों में ताज़गी है : तरुणी के छरहरे व्यक्तित्व, कोमल देहयष्टि और टटके रूप के लिए कवि ने सायास इनका प्रयोग किया है। इन उपमानों में रूप के अलग-अलग अंगों के गुणों को व्यक्त करने की शक्ति है। फिर भी इनसे जिस बिम्ब का निर्माण होता है उसे क्या हम सफल काव्य-बिम्ब कह सकते हैं ? इस असफलता अथवा अर्ध-सफलता के दो कारण हैं : एक तो यह कि कवि की उक्ति रूप की अनुभूति से प्रेरित नहीं है—'सहज गहरे बोध' का यहां कथन है, संवेदन नहीं है, क्योंकि कवि का उद्देश्य यहां मुख्य रूप से बुद्धि-प्रेरित कल्पना की सहायता से सिद्धान्त-प्रतिपादन ही रहा है, और दूसरे यह कि प्रस्तुत उपमानों और बिम्बों के साथ प्रमाता के संस्कारों का तादात्म्य नहीं हो पाता : कवि की बुद्धि चाहे कुछ भी तर्क दे, प्रमाता का हृदय तो अपने संस्कारों के कारण साथ ही नहीं देता। 'चम्पे की कली' या 'शरद की नीहार-न्हाई कुंई' के चारों ओर भारतीय कवियों की जो रमणीय कल्पनाएं लिपटी हुई हैं—जिनके संचित प्रभाव से, इन फूलों को बिना देखे हुए भी, मनोरम मानस-छवियां अनायास ही सहृदय की चेतना में उद्बुद्ध हो जाती हैं, उनके जादू को क्या नये कवि का तर्क सहज ही नष्ट कर सकता है ? इसीलिए मेरा यह विश्वास है कि केवल बिम्ब कविता नहीं है और इसीलिए मेरा यह निश्चित मत है कि बिम्बों के निर्माण में निपुण होने पर भी भावना की आंतरिक ऊष्मा के अभाव में अज्ञेय अपने बिम्बों को कविता में नहीं ढाल पाते।

इसके विपरीत कुछ दूसरे कवियों के सफल काव्य-बिम्ब लीजिए :

१—मैंने कौतूहलवश आंगन के कोने की
गीली तह को यों ही उंगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिये मिट्टी के नीचे।
किंतु एक दिन जब मैं संध्या को आंगन में
टहल रहा था—तब मैंने सहसा जो देखा,
उससे हर्ष-विमूढ़ हो उठा मैं विस्मय से !
देखा आंगन के कोने में कई नवागत
छोटी-छोटी छाता ताने खड़े हुए हैं !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

छाता कहूं कि विजय-पताकाएं जीवन की,
या हथेलियां खोले थे वे नन्हीं, प्यारी,—
जो भी हो, वे हरे-हरे उल्लास से भरे
पंख मार कर उड़ने को उत्सुक लगते थे,
डिम्ब तोड़कर निकले चिड़ियों के बच्चों-से !

(पंत—आ : धरती कितना देती है)

पंत जी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त बिम्ब रूढ़ अथवा परम्पराभुक्त नहीं हैं। सेम के छोटे-छोटे पौधों की मुलायम ताज़गी को व्यंजित करने के लिए कवि ने तीन बिम्बों का प्रयोग किया है—छाता ताने खड़े हुए बच्चों का, नन्हीं-प्यारी हथेलियां खोले हुए शिशुओं का और डिम्ब तोड़कर उड़ने को उत्सुक विहग-शावकों का। ये तीनों ही बिम्ब न रोमानी हैं और न बासी या मैले : एकदम टटके और ताज़ा हैं—'बिछली घास' और 'छरहरे बाजरे की कलगी' से कम ताज़गी इनमें नहीं है। परतु उसके साथ इनमें एक और गुण है जो अज्ञेय के बिम्ब में नहीं है और वह है मन की कोमल भावना—वत्सल भाव—का स्पर्श जो इनकी ताज़गी को सरस बना देती है।

२—तुम्हारे नयन पहले भोर की दो ओस-बूंदें हैं—
अछूती ज्योतिमय भीतर द्रवित !

(अज्ञेय)

अज्ञेय का यह बिम्ब जिन उपकरणों से बना है वे सभी पुराने हैं, फिर भी भावसिक्त रूप-संवेदना के कारण इसमें नयी चमक आ गई है : बासी उपमान एकदम ताज़ा हो गया है। इसी प्रकार—

रख दिये तुमने नज़र में बादलों को साधकर
आज माथे पर सरल संगीत से निर्मित अधर
आरती के दीपकों की झलमलाती छाँह में
बांसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर।

(भारती)

इस बिम्ब के भी उपमान और उपकरण—बादल, संगीत, आरती, दीपक, बांसुरी और उधर भागवत भी—सभी रूढ़ एवं परम्पराभुक्त हैं, परन्तु भाव के स्पर्श ने उनके संयोजन में एक नई स्फूर्ति भर दी है : रूप-साम्य और प्रभाव-साम्य के संयोग से बिम्ब में अपूर्व सौंदर्य का समावेश हो गया है।

नवीन उपमानों और बिम्बों की शोध वास्तव में कोई नई घटना नहीं है। पुराकाल से ही सचेष्ट कलाकार निरंतर इस दिशा में आगे बढ़ते रहे हैं। संस्कृत काव्य में कालिदास की उद्भावनाएं तो प्रख्यात ही हैं। मैं समझता हूं कि नूतनता तथा वैचित्र्य की दृष्टि से उनके उपमानों और बिम्बों का जवाब नहीं है, परन्तु कवि की संवेदना ने कहीं भी उनका साथ नहीं छोड़ा—परिणामतः उनकी नूतनता प्रायः सर्वत्र ही सरस बनी रही है :

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुरांगना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मणालादिव राजहंसी ॥

(वि० १.२०)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

—आकाश में उड़ती हुई उर्वशी पुरूरवा के मन को शरीर से इसी तरह तेज़ी से खींच कर ले जाती है जैसे राजहंसी खण्डित अग्रभाग वाले मृणाल के तन्तु को।

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन् आभासि तीर्थप्रतिपादितर्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः॥
(रघुवंश, ५।१५)

—समस्त धनराशि उपयुक्त पात्रों को अर्पित कर, रघु केवल देहावशिष्ट होकर इस प्रकार शोभित हो रहे थे जैसे ऋषियों द्वारा समस्त शस्य चुन ले जाने के बाद स्तम्बशेष नीवार हो।

माघ और श्रीहर्ष ने नूतनता के इस चमत्कार में और वृद्धि की; परन्तु इन प्रयोगों में कल्पना की क्रीड़ा अधिक थी—कवि की संवेदना के साथ इनका वैसा अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं रहा जैसा कालिदास के प्रयोगों में था : सूर्यास्त की आभा विलीन हो गई, आकाश में तारे छिटक गए—मानों (मूढ़) आकाश ने स्वर्णपिण्ड बेचकर बदले में कौड़ियां ले लीं :

विक्रीय तं हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित द्यौः। (नैषध, २२।१३)

नूतनता का लोभ और भी बढ़ा और आकाश में छिटके तारे ऐसे प्रतीत होने लगे जैसे किसी ने अनार के दानों का रस चूसकर बीजों को थूक दिया हो :

पचेलिमं दाड़िममर्कबिम्बमुत्तार्य संध्या त्वगिवोज्झितास्य।
तारामयं बीजभुजादसीयं कालेन निष्ठ्यूतमिवास्थियूथम्॥
(नैषध, २२।१४-१५)

हिन्दी के आचार्य कवि केशवदास को भी नवीनता का काफ़ी शौक़ था और वे भी इस दिशा में पीछे नहीं रहे :

चढ़्यौ गगन-तरु धाइ, दिनकर बानर अरुन मुख।
कीन्ह्यौं झुकि झहराइ, सकल तारका-कुसुम बिनु॥
(रामचन्द्रिका)

रीतिकवि अपनी रूढ़ दृष्टि के लिए कुख्यात हैं; परन्तु उनमें भी बिहारी, घनानन्द आदि ने, जो अपने काव्य-शिल्प के प्रति सचेत थे, नये उपमानों और बिम्बों की शोध में रुचि प्रदर्शित की है :

(१) वाही त्यौं ठहराति यह कबिलनुमा लौं दीठि। (बिहारी)
(२) आली, बाढ़तु बिरह ज्यों पांचाली कौ चीर ! (बिहारी)

बात यहां पर भी वही है। इसमें संदेह नहीं कि पहला उपमान और उस पर आश्रित बिम्ब अधिक सटीक है। दृष्टि के केन्द्रीभूत होने के लिए क़िब्ला:नुमा का बिम्ब एकदम ठीक बैठता है, फिर भी सहृदय का रागात्मक संबंध न होने के कारण यह विदेशी यंत्र-बिम्ब कल्पना को चमत्कृत कर ही रह जाता है, हृदय का स्पर्श नहीं कर पाता। इसके विपरीत, 'पांचाली का चीर' के साथ जहां घटना पुरानी है, परन्तु उसका उपमान के रूप में प्रयोग प्रायः नया है, श्रोता के संस्कारों का लगाव है, इसलिए उसमें कवित्व का उन्मेष सरलता से हो गया है। काव्य-शिल्प के क्षेत्र में छायावाद के कवियों ने रीतिकाव्य की रूढ़ियों के प्रति विद्रोह किया और नवीन उपमानों तथा बिम्बों की अत्यंत आतुरता से खोज आरंभ की—परन्तु छायावाद में रमणीय अथवा कमनीय तत्त्व की प्रधानता के कारण इनकी दृष्टि प्रायः प्रकृति के रम्य उपादानों से दूर नहीं भटकी। आरंभ में इस वर्ग के कुछ कच्चे कवियों ने, विशेष रूप से ऐसे कवियों ने, जिनकी सौंदर्य-दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनाविल नहीं थी, नूतनता की झोंक में तरह-तरह के काग़ज़ी फूल तैयार किए। परन्तु जैसे-जैसे छायावाद का काव्यरूप स्थिर होता गया, अनुभूति के साथ कल्पना का संबंध घनिष्ठ होने लगा, वाग्विलास नियंत्रित होता गया और अंत में वे ही उपकरण ग्राह्य हुए जिनमें वैचित्र्य और वैविध्य के साथ मानव-संवेदना का भी सहज स्पर्श था। कहने का अभिप्राय यह है कि बिम्ब-योजना में नवीनता की स्पृहा कोई नयी घटना नहीं है : प्राचीन काल से प्रबुद्ध कवि की कल्पना इस क्षेत्र में नवीन उद्भावनाएं करती रही है, परन्तु काव्य के क्षेत्र में वे ही बिम्ब और उपमान स्थायी रहे हैं जो मानव-भावना के रस में पग गये हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर, बिम्ब-योजना के क्षेत्र में नूतन प्रयोगों का विश्लेषण करने पर तीन-चार प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से सामने आती हैं। नूतन प्रयोगों का एक वर्ग तो ऐसा है जिसमें नूतनता की उद्भावना ही प्रमुख रहती है, कवि का ध्यान बिम्ब अथवा उपमान की नूतनता पर इतना अधिक केन्द्रित रहता है कि उसके अन्य अनिवार्य गुण—औचित्य और चारुत्व आदि, उपेक्षित हो जाते हैं। फ़ारसी के कवियों के मुबालग़ात और संस्कृत तथा हिन्दी कवियों की सादृश्यमूलक ऊहाएं इसी कोटि में आती हैं। इनसे कुछ-एक क्रीड़ा-रसिकों का मनोरंजन चाहे हुआ हो, परन्तु गंभीर सहृदय-समाज ने कभी इनका आदर नहीं किया। नूतनता के लोभ के कारण ही श्रीहर्ष ने तारों को 'रस चूसकर थूके हुए अनार के दाने' और केशवदास ने सूर्य को 'अरुणमुख बंदर' बना दिया है। दूसरा वर्ग वह है जहां नूतन कल्पना में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच रूप-साम्य और गुण-साम्य के साथ-साथ अनुपात की रक्षा तो होती है, परन्तु रागात्मक संबंध की स्थापना नहीं हो पाती। बिम्ब के साथ कवि की संवेदना का उचित संपर्क न होने से वह सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने में असमर्थ रहता है, जैसे—

चाँदनी उस रुपये-सी है कि जिसमें—
चमक है, पर खनक गायब है।

इस प्रकार के बिम्बों का तीसरा वर्ग वह है जिसमें नवीन उपकरणों और उपमानों का रागात्मक प्रयोग रहता है। वास्तव में यहां नवीन से अभिप्राय ऐसे उपकरणों का है जिनका काव्य में सामान्यतः प्रयोग नहीं होता रहा है—जो जीवन में तो आ चुके हैं पर काव्य के क्षेत्र में जिनका प्रवेश पहली बार होता है। स्वभावतः इनके साथ पाठक का रागात्मक संबंध प्रायः नहीं रहता परन्तु कवि की उद्दीप्त संवेदना इनमें राग का संचार कर देती है। वास्तव में यह कठिन कार्य है—इसके लिए अत्यंत व्यापक और तीव्र संवेदना की अपेक्षा होती है और फिर भी यह निश्चित नहीं है कि वह सर्वत्र ही साधारणीकरण में सफल हो जाए। गिरिजा-कुमार माथुर ने 'पृथ्वीकल्प' में अणुविज्ञान के नवीन अनुसंधानों को काव्य में ढालने के कुछ ऐसे ही प्रयास किए हैं, जो एक हद तक सफल होने पर भी सर्वत्र प्रेषणीय नहीं बन सके। परन्तु इस प्रकार के प्रयोग निरंतर होते रहते हैं और संवेदनशील कवियों की उद्दीप्त कल्पना इनके द्वारा काव्य-शिल्प का क्षेत्र-विस्तार करती रहती है। यहां भी नवीन उपकरणों की शोध-मात्र पर्याप्त नहीं है— नवीन उपकरणों को संवेदना से वेष्टित करना अनिवार्य है, जो केवल वैचारिक संकल्प से सिद्ध नहीं होता।

नूतन बिम्ब-विधान का चौथा भेद वह है जहां अपूर्वता नवीन उपकरणों के संकलन में नहीं वरन् परिचित उपकरणों के नवीन प्रयोग में निहित रहती है—और बिम्ब के साथ मानव-संवेदना का संपर्क अक्षुण्ण रहता है। नवीन बिम्ब-योजना का वास्तव में यही रूप अधिक काव्यो-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चित है क्योंकि बिम्ब-विधान, जैसा कि मैं अनेक प्रकार से स्पष्ट कर चुका हूं, काव्य की सिद्धि न होकर साधन ही है। काव्य का उद्देश्य है अनुभूति का सम्प्रेषण—अर्थात् कवि की अनुभूति को सहृदय तक संवेदित करना : कवि की अनुभूति को इस प्रकार संप्रेषित करना कि वह सहृदय के चित्त में उसी प्रकार की संवेदना जागृत कर सके। बिम्ब-योजना इसी सिद्धि की साधक-प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में स्पष्टतः ऐसे उपमान और बिम्ब अधिक उपयोगी होते हैं जो रागवेष्टित हैं—अर्थात् सहृदय-समाज के साथ जिनका रागात्मक संबंध है। इसमें संदेह नहीं कि रूढ़ उपमान, जिनके भीतर अनुभूति का स्पन्दन—युगानुयुगव्यापी यांत्रिक आवृत्ति के कारण—नष्ट हो चुका है, संवेदना का वहन करने में असमर्थ हो जाते हैं। किंतु, यह भी निश्चित है कि एकदम नव-कल्पित उपमान, अथवा नये जीवन-व्यवहार के ऐसे उपकरण भी जिनमें अभी हमारे संस्कार नहीं रम सके हैं, अधिक कारगर नहीं होते। सामान्य जीवन का अंग बन जाने से ही किसी पदार्थ के साथ सहृदय-समाज के संस्कार संलग्न नहीं हो जाते, उसके लिए आवश्यक है कि वह पदार्थ-विशेष हमारी संस्कृति का अंग बन जाए। आज वर्षों से हम दीपशिखा के स्थान पर बल्ब का प्रयोग कर रहे हैं—कमरों और दफ़्तरों में ही नहीं, पूजागृहों में भी ज़ीरो-पॉवर बल्ब ही काम आता है, परन्तु क्या यह ज़ीरो-पॉवर बल्ब आज भी काव्य-संस्कारों से वेष्टित हो पाया है? वर्तमान जीवन में आतुर मन के संदेश का वहन करने के लिए टेलीफ़ोन, तार या एक्स-प्रेस लेटर से अधिक प्रभावी उपकरण और क्या हो सकता है? शहरी दुनिया में इन उपकरणों से न जाने कितने प्राण नित्य जुड़ाते हैं, पर आज भी इनके साथ हमारी रागात्मक कल्पना का संबंध नहीं जुड़ पाया। अतः केवल यथार्थ अभिव्यक्ति के नाम पर, इनके आधार पर काव्य-बिम्बों की निर्मिति कृतकार्य नहीं हो सकती। वास्तव में कविता का संबंध मूल मानववृत्तियों के साथ अत्यंत घनिष्ठ है—अतः उसकी गतिविधि में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है। नवीन आविष्कार विज्ञान का विषय है : विज्ञान की अपेक्षा जीवन की गति मन्थर है क्योंकि विज्ञान के परिणामों को जीवन का अंग बनने में समय लगता है; जीवन की अपेक्षा संस्कृति की गति मन्थर है क्योंकि जीवन के अनुभवों को संस्कार बनने में समय लगता है और उधर संस्कृति से भी अधिक मंथर है काव्य की गति जिसका संबंध है मूल मानववृत्तियों के साथ, जो परिवर्तन को आसानी से स्वीकार नहीं करतीं। अतः काव्य के क्षेत्र में नूतनता का स्वतंत्र या आत्यंतिक महत्त्व नहीं है। नवीनता की स्पृहा जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति काव्य में भी स्वाभाविक है, परन्तु उसकी सार्थकता नवीन उपकरणों की सृष्टि अथवा अप्रचलित उपकरणों के समाहार में इतनी नहीं है जितनी कि प्रचलित रागसम्पृक्त उपकरणों को नवीन भंगिमा से दीपित करने में। इसीलिए भारतीय आचार्य ने सौंदर्य की परिकल्पना में 'प्रतिक्षण नवीनता' और प्रतिभा की परिभाषा में 'अपूर्व-निर्माण-क्षमता' पर बल देते हुए भी यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया है कि नवोन्मेष अथवा अपूर्व-निर्माण का अर्थ अभूत वस्तु का संपादन न होकर विद्यमान वस्तु के मर्म का उद्घाटन ही है : तदिदमत्र तात्पर्यम्—यन्न वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुटतां चैषां तथाविधः कोप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदय-हृदयहारिणीं रमणीयतामधिरोप्यन्ते। तदिदमुक्तम्—

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोरममिदं वाचैव यो वा बहिः।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ······॥ (कुंतक—हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३०६)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसका यह अभिप्राय हुआ कि कवि वर्ण्यमान, अविद्यमान पदार्थों को उत्पन्न नहीं करते हैं। अर्थात् कवि जिनका वर्णन करता है, वे वर्ण्यमान पदार्थ उसके पूर्व संसार में न हों और कवि उनको उत्पन्न कर देता हो, यह बात नहीं। किन्तु लोक में केवल सत्ता मात्र से प्रतीत होनेवाले इन पदार्थों में कवि कुछ इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देता है जिससे वे साधारण लौकिक पदार्थ भी सहृदयों के हृदय को हरण करने वाली किसी अपूर्व रमणीयता को प्राप्त हो जाते हैं। यही बात निम्नोक्त श्लोक में कही है : जो वस्तुओं के भीतर निहित सूक्ष्म और सुन्दर तत्त्व को अपनी वाणी से बाहर खींच लाता है और जो वाणी मात्र से इस जगत् की बाहर अभिव्यक्ति करता है, उन दोनों कविवरों को मैं नमस्कार करता हूं···।

बिम्ब-विधान के संदर्भ में भी यही सत्य है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

काव्य-बिम्ब और काव्य-मूल्य

क्या काव्य-बिम्ब को हम मूल्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करने के लिए यह निर्णय करना होगा कि क्या बिम्ब-प्रयोग के आधार पर हम किसी कवि की उपलब्धि या काव्य-कृति विशेष का मूल्यांकन अथवा विभिन्न कृतियों के काव्य-मूल्य के तारतम्य का निर्णय कर सकते हैं।

काव्य-बिम्बों का प्रयोग निरपेक्ष तथ्य नहीं है। उसका आकलन बिम्बों के गुण और परिमाण पर निर्भर करता है। बिम्ब का प्रमुख गुण है सजीवता अर्थात् बिम्ब की रूपरेखा इतनी सुस्पष्ट होनी चाहिए कि प्रमाता तुरन्त ही उसका ऐन्द्रिय साक्षात्कार कर सके। बिम्ब का एक अन्य गुण है समृद्धि : यों तो इस शब्द का अर्थ सर्वथा परिभाषित नहीं है, पर सामान्यतः यह मधुर और उदात्त अथवा कोमल और विराट तत्त्वों के प्राचुर्य का द्योतक है। इन दोनों गुणों का अनुशासक गुण है औचित्य—अर्थात् प्रसंग के प्रति अनुकूलता या सार्थकता। उधर परिमाण की परिधि में प्राचुर्य और वैविध्य आदि गुणों का अंतर्भाव है। अतः प्रस्तुत प्रश्न का निर्णय करने के लिए कतिपय सम्बद्ध प्रश्नों का उत्तर आवश्यक हो जाता है। क्या काव्य की दृष्टि से एक कृति दूसरी की अपेक्षा इसलिए अधिक मूल्यवान् है कि उसमें प्रयुक्त बिम्ब अधिक सजीव अथवा ऐन्द्रिय हैं—या वे अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध हैं; या फिर उनमें औचित्य गुण का अधिक सन्निवेश है?—अथवा वे संख्या में अधिक हैं या उनमें वैविध्य एवं वैचित्र्य अधिक है?

मैं समझता हूं कि उपर्युक्त प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर देना कठिन होगा—अर्थात् यह न मानना कठिन होगा कि बिम्ब-योजना के गुण और परिमाण के आधार पर विभिन्न कृतियों के सापेक्षिक मूल्य का निर्णय किया जा सकता है। जिस कृति में प्रयुक्त बिम्ब अधिक सजीव और ऐन्द्रिय हैं वह, अन्य गुणावगुण बराबर रहने पर, दूसरी की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है। यही बात अन्य गुणों के विषय में कही जा सकती है : जिसके बिम्ब अधिक समृद्ध हैं—या अधिक प्रसंगानुकूल=सार्थक हैं, या जिसमें बिम्बों का वैचित्र्य-वैविध्य अधिक है, उसका काव्यमूल्य, अन्य गुणावगुण बराबर रहने पर, अपेक्षाकृत अधिक है। परन्तु यह उत्तर आत्यंतिक नहीं है क्योंकि बिम्ब-योजना के गुण और परिमाण निरपेक्ष तत्त्व नहीं हैं। एक बिम्ब दूसरे की अपेक्षा अधिक सजीव है, इसका अर्थ यह है कि उसकी प्रेरक कविगत अनुभूति अधिक तीव्र और अनाविल है या थी—इतना ही नहीं वरन् यह भी कि उसके द्वारा उद्बुद्ध सहृदयगत अनुभूति अधिक तीव्र और अनाविल होती है। कीट्स की बिम्ब-योजना शैली की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सजीव है क्योंकि उसकी प्रेरक अनुभूति भी उतनी ही अधिक प्रखर और तीव्र थी। इसी प्रकार बिम्ब की समृद्धि और सार्थकता भी मूलतः और अंततः प्रेरक एवं प्रेरित अनुभूति की समृद्धि और सार्थकता के ही परिणामी गुण हैं। यही बात बिम्बों के प्राचुर्य और वैविध्य-वैचित्र्य के विषय में भी सत्य है। बिम्बों का प्राचुर्य और वैविध्य एक ओर उनकी प्रेरक कविगत अनुभूति के विस्तार व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैचित्र्य का और दूसरी ओर उनसे संप्रेरित प्रमातृगत अनुभूतियों के विस्तार-वैविध्य का मापक है। तुलसी के बिम्ब-विधान में सूर के बिम्ब-विधान की अपेक्षा वैचित्र्य और प्राचुर्य का कारण यह है कि तुलसी का अनुभूति-क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था।

परन्तु सवाल का दूसरा पहलू भी है : बिम्ब-रचना ही वास्तविक कवि-कर्म है, वही कला है। कवि-कर्म की सफलता स्पष्ट और प्रखर बिम्ब के निर्माण में ही निहित है; बिम्ब का रागात्मक पक्ष काव्य-कला के लिए अप्रासंगिक है। इतना ही नहीं, राग की संकुलता बिम्ब की रूपरेखा को धूमिल बना देती है और उसकी आर्द्रता से बिम्ब की स्वच्छता बाधित हो जाती है। अत: राग से निर्लिप्त स्वच्छ-स्फुट बिम्ब अपना साध्य आप ही है, कला के वृत्त में उसका अपना स्वतंत्र और केन्द्रीय अस्तित्व है। विचार के सम्प्रेषण का माध्यम या अनुभूति की व्यंजना का साधन मानकर उसकी गौणता का प्रतिपादन करना कला के प्रति ग़लत दृष्टिकोण का परिचायक है। अनुभूति और विचार से असम्बद्ध हो जाने पर बिम्ब के सौंदर्य आदि गुणों की कल्पना भी अप्रासंगिक हो जाती है क्योंकि वस्तुत: इन गुणों का आधार भी तो अनुभूति ही है : माधुर्य का संबंध चित्त के द्रवीभाव से और औदात्य का मन की ऊर्जा के साथ है। किसी बिम्ब का मूल्य इसलिए नहीं है कि वह चित्त को द्रवीभूत या उर्जस्वित करता है अथवा उसके द्वारा प्रमाता में किसी भाव-विशेष का उद्रेक होता है। इस प्रकार का भावपरक या आत्मपरक दृष्टिकोण बिम्ब के वास्तविक मूल्य का आकलन नहीं कर सकता; बिम्ब का मूल्य तो उसकी अपनी सजीवता एवं प्रखरता के कारण ही होता है। यह तर्क और भी आगे बढ़ता है। बिम्ब के औचित्य का विचार भी अनावश्यक है : बिम्ब की सार्थकता प्रसंग के अनुकूल होने में ही नहीं है, प्रसंग से कटकर भी उसकी सार्थकता हो सकती है— रत्न की मूल्यवत्ता सिद्ध करने के लिए मुद्रिका का परिवेश आवश्यक नहीं है।

काव्य-बिम्ब के मूल्य के विषय में ये दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण हैं। इनके सत्यासत्य का निर्णय करने में दो विकल्प हमारे सामने आते हैं :

क्या कोई पद्यबंध जिसमें बिम्ब का स्वरूप धूमिल या गौण है केवल रमणीय अनुभूति के बल पर सत्काव्य की कोटि में आ सकता है ?

क्या कोई पद्यबंध, केवल अपने बिम्ब-विधान के बल पर, अनुभूति से असम्पृक्त रहकर भी, सत्काव्य माना जा सकता है ?

केवल सैद्धांतिक विवेचन न कर कुछ उदाहरणों के आधार पर इन प्रश्नों का समाधान करना अधिक उपयोगी होगा। (१) पहले कुछ ऐसे काव्यबंध लीजिए जिनका काव्यगुण; बिम्ब का विशेष आकर्षण न होने पर भी, अनूभूति के बल पर ही सिद्ध है :

तत्व प्रेम कर मो अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जान प्रीतिरस इतनेहि माहीं।

(रामचरितमानस)

'रामचरितमानस' में राम की यह उक्ति अपनी प्रेरक अनुभूति की निश्छलता के कारण ही रमणीय है—इसमें बिम्ब का कोई विशेष आकर्षण नहीं है। इसके विपरीत सीता के प्रसंग में यही कवि अधिक सावधान हो गया है :

अबगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।
नाथ सो नैनन कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिरह अनल तनु तूल समीरा। स्वास जरै छन माहिं सरीरा।
स्रवहिं नयन जल निज हित लागी। जरहि न पाइ देह बिरहागी। (रामचरितमानस)

दूसरे काव्यबंध का बिम्ब निश्चय ही अधिक भास्वर है, परन्तु कवित्व-गुण पहले में ही अधिक है।

(२) अब कुछ ऐसे पद्यबंध लीजिए जिनमें बिम्ब तो एकदम स्पष्ट हैं, परन्तु रागतत्त्व क्षीण है।

(क) चींटी को देखा ?
वह सरल, विरल, काली रेखा
तम के तागे-सी जो हिल-डुल
चलती लघुपद पल-पल मिल-जुल
वह है पिपीलिका-पाँति ! (पंत : युगवाणी—चींटी)

(ख) चाँद पूरा साफ़
आर्ट-पेपर ज्यों कटा हो गोल
चिकनी चमक का दलदार
यह नहीं चेहरा तुम्हारा
गोल पूनम-सा ! (गिरिजाकुमार माथुर : चंदरिमा)

या

(ग) आज दिखता है दही-सा चाँद शीतल
कौन जाने स्याह शीशा चाँद हो कल ?
(गिरिजाकुमार माथुर : हेमंती पूनो)

इनमें (क) और (ख) के बिम्बों में रूप-तत्त्व और (ग) के बिम्ब में रूप के साथ-साथ स्पर्श गुण भी अत्यंत प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। परन्तु क्या अनुभूति की माधुरी के अभाव में इनमें वांछित कवित्व-गुण का समावेश हो सका है ?

(३) अब तीसरे प्रकार के बिम्ब लीजिए जिनमें अनुभूति और बिम्ब का अभिन्न संबंध है :

(क) ज्योत्स्ना-निर्झर ! ठहरती ही नहीं यह आँख ! (कामायनी)

(ख) जैसे रात दर्पणों की गली हो
और तुम एक चाँद बनकर निकली हो। (कुंवरनारायण)

(ग) भरी गोल गोरी कलाइयों में पहनी थीं
नयन-डोर-सी वे महीन रेशमी चूड़ियां;
गौर वर्ण की पृष्ठभूमि पर
चमक रहीं जो
रागरँगीली किरणों-जैसी
इस फूली चंपई सांझ में।
चंदन-बांह उठाते ही में
खिसल चलीं वे तरल गूंज से
श्वेत कमल की धुली पंखुरी पर
ज्यों ओस-बिन्दु की माला। (गिरिजाकुमार माथुर)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(घ) मन का मृग भाग रहा
सुधि की अहेरिन यह
फूलों के बाण लिए फिरती है। (श्यामसुन्दर घोष)

उद्धरण संख्या (क) और (ख) में रूपानुभूति की झलमलाहट से बिम्ब अनायास ही झलमला उठे हैं और गिरिजाकुमार माथुर के काव्यबंध में श्रृंगार की सूक्ष्म-रोमानी अनुभूति सहज रूप से सूक्ष्म-कोमल रंगीन बिम्बों में खिल उठी है। अंतिम चित्र की बिम्ब-योजना में भावना और कल्पना का अपूर्व मणि-कांचन योग है; यहां कवि ने मीठी-यादों में भटकते हुए मन का बड़ा ही रमणीय चित्र अंकित किया है।

काव्य के इन तीन रूप-भेदों का विश्लेषण करने से सत्य के संधान में सहायता मिलेगी। वर्ग (१) के दोनों उद्धरणों के तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि अनुभूति के प्रभाव से, बिम्ब की गौणता होने पर भी, कवित्व का उत्कर्ष बाधित नहीं होता—वरन् बिम्ब की प्रमुखता ही कभी-कभी अनुभूति को आच्छादित कर कवित्व के उत्कर्ष में बाधक हो जाती है। वर्ग (२) के पद्यबंधों का विश्लेषण इस तथ्य को और भी पुष्ट कर देता है कि अनुभूति से असंपृक्त कल्पना-चित्रों में काव्य-तत्त्व क्षीण होता है। बिम्ब-विज्ञान की दृष्टि से, अत्यंत सफल होने पर भी, अनुभूति के अभाव में अथवा उसके क्षीण पड़ जाने पर, बिम्ब स्वयं निष्प्राण बन जाता है—कम-से-कम, काव्य-बिम्ब के चेतन सौंदर्य का उसमें अभाव हो जाता है। वास्तव में, वह काव्य-बिम्ब न रहकर केवल बिम्ब रह जाता है—क्योंकि, जैसा कि लीविस आदि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है, काव्य-बिम्ब तो अनिवार्यतः भाव-प्रेरित ही होता है।

वर्ग (३) के काव्यबंधों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें अनुभूति और बिम्ब-योजना का समान उत्कर्ष है और इन दोनों के संयोग से ही काव्य का उत्कर्ष है। इस संदर्भ में तीन विकल्प सामने आते हैं: (१) यहां अनुभूति के उत्कर्ष के कारण बिम्ब का सौंदर्य निखर आया है, या (२) बिम्ब के सौंदर्य के कारण अनुभूति में सौंदर्य का समावेश हो गया है—या फिर (३) दोनों का सौंदर्य अन्योन्याश्रित और अविभाज्य है। सिद्धांत रूप में—इनमें तीसरा विकल्प ही सत्य है अर्थात् अनुभूति और बिम्ब को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। फिर भी, व्यवहार में इनको पृथक् मानकर चलना अनिवार्य हो जाता है। स्वयं शंकर के अद्वैत दर्शन अथवा बौद्धों के शून्यवाद में भी व्यवहार में अहम् और इदम् का भेद करना ही पड़ जाता है। इस प्रकार पहले और दूसरे विकल्पों में ही सत्यासत्य का निर्णय करना होगा। सामान्य व्यवहार में हम अनुभूति के कतिपय पृथक् गुणों की चर्चा करते हैं: जैसे—सूक्ष्मता, तीव्रता, प्राबल्य, विस्तार या व्यापकता आदि। इनमें कल्पना का योग हो जाने से अनुभूति में समृद्धि का समावेश हो जाता है और उधर नैतिक आदर्शों से संयुक्त होकर अनुभूति शुद्ध एवं सात्त्विक बन जाती है। सर्जना के क्षणों में अनुभूति के ये नाना रूप कवि की कल्पना पर आरूढ़ होकर जब शब्द-अर्थ के माध्यम से व्यक्त होने का उपक्रम करते हैं तो इस सक्रियता के फलस्वरूप अनेक मानस-छवियां आकार धारण करने लगती हैं—आलोचना की शब्दावली में इन्हें ही काव्य-बिम्ब कहते हैं। इस प्रकार बिम्ब अमूर्त अनुभूति को शब्द-मूर्त करने के अत्यंत प्रभावी माध्यम-उपकरण या दूसरे शब्दों में मूर्तन-प्रक्रिया के अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग हैं, इसमें संदेह नहीं।—परन्तु इनका स्वतंत्र महत्त्व नहीं है: इनमें जो प्रभावी शक्ति है वह अनुभूति की ही है; काव्य-बिम्ब में जो काव्य-तत्त्व है उसका आधार अनुभूति=भावानुभूति ही है। भाव से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

असम्पृक्त या अत्यंत परोक्ष रूप में सम्पृक्त इन्द्रियबोध या कल्पना (क्योंकि भाव से सर्वथा असंपृक्त इन्द्रिय-बोध या कल्पना हो ही नहीं सकती) बिम्ब की सृष्टि कर सकती है, काव्य-बिम्ब की नहीं। अतः अनुभूति के उत्कर्ष से बिम्ब का उत्कर्ष होता है, यही सत्य है। वर्ग (२) के उद्धरणों में 'आज दिखता है दही-सा चाँद शीतल' आदि में बिम्ब पूरा है, परन्तु वह रूपानुभूति का उत्कर्ष तो नहीं करता। उसका संबंध इन्द्रियबोध और उस पर आश्रित नीरस कल्पना के साथ ही बैठता है, रूप की अनुभूति के साथ नहीं जुड़ पाता; इसलिए उसमें काव्य-तत्त्व क्षीण ही बना रहता है। ऐसी स्थिति में अनुभूति से स्वतंत्र अथवा अनुभूति के शोभाधायक तत्त्व के रूप में बिम्ब की प्रकल्पना असिद्ध है।

वास्तव में इस विवाद का संबंध मूलतः आत्मपरक जीवन-दर्शन और वस्तुपरक जीवन-दर्शन के विवाद से है। आत्मपरक जीवन-दर्शन आत्म-तत्त्व पर बल देता है और पदार्थ की स्थिति आत्म-तत्त्व के संदर्भ में—उसी के निमित्त—स्वीकार करता है, जबकि वस्तुपरक दर्शन पदार्थ की मूल सत्ता को स्वीकार करता है। यहां विस्तार से इस शास्त्रार्थ की आवृत्ति करना अनावश्यक है। परन्तु जीवन के संदर्भ में इन दोनों में से पहला ही अधिक ग्राह्य है जो मानव-चेतना की सापेक्षता में पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करता है—जो यह मानकर चलता है कि मानव-चैतन्य के संपर्क से और उसी के विकास-विवर्धन के माध्यम-रूप में भौतिक प्रकृति का मूल्य है। मूल सत्य जो भी हो, उसका निर्णय तो तत्त्वद्रष्टा करें, किन्तु व्यवहार-सत्य यही है—और इस दृष्टि से हम यह निरापद भाव से स्वीकार कर सकते हैं कि—बिम्ब काव्य का अत्यंत प्रभावी माध्यम है और इसलिए काव्य के संदर्भ में उसका मूल्य असंदिग्ध है; परन्तु वह स्वतंत्र नहीं है—माध्यम ही है, प्राणतत्त्व नहीं है : काव्य का सहकारी मूल्य अवश्य है, प्राथमिक मल्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नव-निर्माण

'साहित्य की व्यापकता के उपादान'

इस भाषण-माला का नाम है 'नव-निर्माण' और प्रस्तुत भाषण का शीर्षक है 'साहित्य की व्यापकता के उपादान'। इनसे एक बात स्पष्ट होती है—हिन्दी आज भारत की राष्ट्र-भाषा है; उसे अपने पद के अनुरूप सम्पन्न बनाने के लिए उसका नव-निर्माण आवश्यक है। उसका शब्द-भंडार समृद्ध, उसका व्याकरण सरल तथा उसका साहित्य व्यापक होना चाहिए।

दूसरी बात इसके साथ यह उठती है कि साहित्य को व्यापक बनाने के साधन क्या हैं ? अर्थात्, साहित्य की व्यापकता के उपादान क्या हैं ?

मेरे जैसे व्यक्ति के मन में, जो साहित्य को मूलतः एक व्यक्तिपरक प्रतिक्रिया मानता है, साहित्य के निर्माण या नव-निर्माण की बात सहज ही नहीं बैठती। साहित्य को यदि हम वाङ्मय के अर्थ में प्रयुक्त करें तब तो ठीक है। वाङ्मय के अन्तर्गत तो सृजन और व्यवहार अथवा रस और ज्ञान दोनों का साहित्य आ जाता है। व्यवहार या ज्ञान का साहित्य प्रायः जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है; और जिस तरह हम जीवन में अन्य व्यवहारगत स्थूल साधनों का निर्माण, संघटन अथवा आयोजन-नियोजन करते रहते हैं, इसी तरह उनसे सम्बद्ध साहित्य का भी निर्माण किया जा सकता है और किया जाना भी चाहिए। और स्पष्ट शब्दों में, जहां तक हिन्दी के विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि से सम्बद्ध पारिभाषिक साहित्य के नव-निर्माण का प्रश्न है, वह संभव ही नहीं, नितांत वांछनीय है। इस क्षेत्र में हिन्दी का कोष निर्धन है और उसकी पूर्ति राष्ट्र का हिन्दी के प्रति और हिन्दी का राष्ट्र के प्रति दायित्व है।

परन्तु प्रश्न रस के साहित्य का है जिसे डी क्विन्सी ने 'शक्ति का साहित्य' कहा है; प्राचीन भारतीय अलंकारशास्त्र में जिसे 'काव्य' और आधुनिक पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में 'सृजन का साहित्य' नाम दिया गया है। इसके निर्माण या नव-निर्माण की संभावना कहां तक है ? हमारा साहित्य असम्पन्न नहीं है; परन्तु उसकी और अधिक श्रीवृद्धि किसको अप्रिय होगी ! पर प्रश्न यह है कि क्या हमारे सचेष्ट एवं संगठित प्रयत्नों द्वारा यह संभव होगा ? क्या सृजन के साहित्य का सचेष्ट प्रयत्नों द्वारा निर्माण किया जा सकता है, और यदि किया जा सकता है तो क्या यह सृजन का साहित्य होगा ? वास्तव में सृजन के साहित्य का निर्माण, यह विचार ही एक प्रकार का विरोधाभास है। सृजन किया नहीं जाता, होता है; चेष्टापूर्वक, योजना के अनुसार, निर्माण किया जाता है; सृजन तो अनिवार्य प्रेरणा के दबाव से होता है। उदाहरण के लिए, नागरी-प्रचारिणी सभा एक सामूहिक प्रस्ताव द्वारा 'शब्द-सागर' का निर्माण करा सकती थी, वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली तैयार करा सकती थी, राजनीति और अर्थशास्त्र पर ग्रंथ प्रस्तुत करा सकती थी, अनेक प्राचीन ग्रंथों का संपादन करा सकती थी, परन्तु 'पल्लव'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

या 'सेवासदन' की सृष्टि नहीं करा सकती थी। आज भी कोई सरकारी या ग़ैर-सरकारी संस्था वैधानिक शब्दावली का निर्माण करा सकती है, संविधान के एक-दो या तीन अनुवाद प्रस्तुत कर सकती है; परन्तु संविधान के मूल उद्देश्यों को सामने रखकर एक महाकाव्य की तो क्या, एक छोटे-से गीत की भी रचना नहीं करा सकती। इसका कारण स्पष्ट है; रस का साहित्य एक संगठित अथवा आयोजित प्रयत्न नहीं है, वह व्यक्ति का आत्म-साक्षात्कार है, आत्माभिव्यंजन है। और व्यापक धरातल पर राष्ट्र का आत्म-साक्षात्कार तथा आत्माभिव्यंजन भी हो सकता है, और होता है; परन्तु उस रूप में भी वह सामूहिक अथवा आयोजित प्रक्रिया नहीं होता, उस रूप में भी राष्ट्र व्यक्ति के ही चिंतन द्वारा आत्म-साक्षात्कार करता है और व्यक्ति की ही वाणी में आत्माभिव्यंजन करता है। उदाहरण के लिए, गांधी के चिंतन में भारत ने आत्म-साक्षात्कार किया और रवीन्द्र की वाणी में आत्माभिव्यंजन। भारतीय रसाचार्य ने इसी परम सत्य को अनुभव और विचार की कसौटी पर पूरी तरह कस कर देख लिया था। तभी उसने काव्य के हेतुओं में सामूहिक या आयोजित प्रयत्न की कल्पना तक नहीं की। प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास—ये तीनों ही वैयक्तिक गुण हैं। इन तीनों में भी प्रतिभा को सर्वप्रमुख माना गया है—और प्रतिभा एकांत वैयक्तिक सम्पत्ति है।

मैं यहां परम्परा के आँचल में शरण लेने का प्रयत्न नहीं कर रहा; बुद्धि को ही प्रमाण मान रहा हूं। प्रतिभा को मैं अनिर्वचनीय जन्मान्तर-प्राप्त शक्ति के रूप में ग्रहण नहीं कर रहा; यद्यपि वैसा भी कोई माने तो मैं उससे विवाद नहीं करूंगा। प्रतिभा को मैं यहां चेतना के रूप में मानता हूं। व्यक्ति की केन्द्रीय शक्ति, जो अनुभूति, चिंतन, विचार, संकल्प, कल्पना आदि क्रियाएं करती है, चेतना है। चेतना की प्रखरता, गहनता, सूक्ष्मता आदि को ही प्रतिभा का नाम दिया जाता है। जिसकी चेतना में ये गुण हों वही प्रतिभावान् है; वह चाहे पूर्वजन्म के संस्कारों का परिणाम हो या इस जन्म की परिस्थितियों का। प्रतिभा का निर्माण नहीं किया जा सकता; वह इतनी जीवन्त है कि निर्माता का स्पर्श भी सहन नहीं कर सकती। हमारा संगठित प्रयत्न केवल एक ही सहायता कर सकता है और वह यह कि साहित्य-सृजन के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर दे। उदाहरण के लिए, राज्य यह कर सकता है कि वह साहित्यकार को साधारण निर्वाह की चिंताओं से मुक्त कर दे, संस्थाएं आदि खोल कर उसके साहित्य के प्रकाशन-वितरण आदि की उचित व्यवस्था कर दे। कुछ सीमित परिधि में यही कार्य परिषदों, सम्मेलनों और सभाओं द्वारा किया जा सकता है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि साहित्य की व्यापकता के उपादान क्या हैं? यहां भी मेरा दृष्टिकोण वही है। यदि आप मुझसे यह पूछें कि किन संगठित उपायों से हमारे साहित्य में व्यापकता का समावेश किया जा सकता है, तब तो मेरा उत्तर फिर यही होगा कि इस प्रकार के संगठित उपाय और साधन रस के साहित्य के लिए उपादेय नहीं हो सकते; व्यवहार के साहित्य के लिए उनकी उपादेयता अवश्य है। हां, इस प्रश्न को दूसरी तरह हल किया जा सकता है। ऐसे उपादान कौन-से हैं जिनके द्वारा साहित्य में व्यापकता आती है? अर्थात् व्यापक साहित्य के उपादान-तत्त्व क्या हैं? हमारे साहित्य में ये किस मात्रा में वर्तमान हैं? उनका विकास कहां तक और किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया जा सकता है। साहित्य की व्यापकता का अर्थ है उसके क्षेत्र की व्यापकता और उसके प्रभाव की व्यापकता। और इन दोनों के लिए सब से पहली आवश्यकता है साहित्यकार की चेतना की व्यापकता। चेतना की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यापकता वास्तव में साहित्य की व्यापकता का मूल उपादान-तत्त्व है। चेतना की व्यापकता का सर्वप्रमुख उपादान है अनुभूति की व्यापकता। जिस साहित्यकार का भाव-जगत् जितना विस्तृत, अनेक-रूप तथा समृद्ध होगा, उतना ही व्यापक उसके साहित्य का क्षेत्र होगा। जिस कवि या साहित्यकार को जीवन के विभिन्न पक्षों का अनुभव हो, जिसने जीवन को गहरे में जाकर भोगा और सहा हो, उसी का भाव-जगत् विस्तृत और समृद्ध होता है। व्यापक अनुभूति का एक प्रमाण यह है कि उसमें परस्पर-विरोधी पक्षों को भी ग्रहण करने की क्षमता होती है, उसके राग की परिधि में अनुकूल-प्रतिकूल, स्व-पर, सत्-असत्, सुन्दर-कुरूप, मधुर-कटु और विराट्-कोमल सभी के लिए अवकाश रहता है। यही नहीं, उसकी अनुभूति की आँच में परस्पर-विरोधी तत्त्व घुल-मिल कर एक हो जाते हैं। वास्तव में यह समन्वय चेतना की सबसे बड़ी सिद्धि है। व्यापक साहित्य का मूल उपादान यही है। इसी को दृष्टि में रखते हुए संस्कृत के आचार्य ने महाकाव्य के लिए नाना रसों से विभूषित होना आवश्यक माना है। विदेश के मेधावी आलोचक रिचर्ड्स ने ट्रैजेडी—दुःखान्त कथा—को इसीलिए काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है। उन्होंने काव्य का उद्देश्य माना है मनोवृत्तियों का समीकरण; और अन्तर्वृत्तियों में जितना ही अधिक विरोध होगा, उसका समीकरण उतना ही सफल और पूर्ण होगा। दुःखान्त कथा में करुणा और भय का सामंजस्य है। करुणा आकर्षक वृत्ति है और भय विकर्षक; अतएव ये दोनों अत्यन्त विरोधी वृत्तियाँ हैं और इनका सामंजस्य स्वभावतः ही रचयिता की सबसे बड़ी सिद्धि है। इस प्रकार अनुभूति की व्यापकता साहित्य की व्यापकता का सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण सिद्ध होता है। प्रभाव की दृष्टि से तो इस उपकरण का महत्त्व और भी अधिक है—साहित्य मूलतः हृदय का व्यापार है और इसका माध्यम स्पष्टतः अनुभूति है। मानव-मानव के हृदय में देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ जो एक तार अनुस्यूत है, वह है राग। यह वह तार है जो हज़ारों वर्षों और मीलों के आर-पार आज भी वाल्मीकि या होमर और हमारे हृदय के बीच एक साथ झंकृत हो उठता है। रागात्मक जीवन के धरातल पर मानव-जीवन के सभी स्थूल भौतिक भेद मिट जाते हैं। यह शुद्ध मानवीय धरातल है, और शाश्वत साहित्य का सहज धरातल यही है। इसकी स्वीकृति चिरंतन मानव-मूल्यों की स्वीकृति है। नैतिक मूल्यों की कठोरता साहित्य की कोमल आत्मा को सह्य नहीं; बौद्धिक मूल्यों की भेद-वृत्ति साहित्य की अखंड रसमयी आत्मा को प्रिय नहीं। मानव अपने अन्तरतम रूप में जो है, वही साहित्य का विषय है। जहां वह न नीतिवादी है और न बुद्धिवादी, वहां वह रागात्मक है, और उसी से साहित्य का सीधा सम्बन्ध है। भारतीय आचार्य ने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा इसी परम सत्य की घोषणा की है। साहित्य के अन्य उपादान कल्पना, विचार और अभिव्यक्ति भी हैं। परन्तु ये तीनों अनुभूति से स्वतः-सम्बद्ध हैं। कल्पना और विचार-क्षेत्र की व्यापकता व्यापक अनुभूति का प्रायः सहज परिणाम ही होती है। जिसका अनुभव-क्षेत्र व्यापक है, उसकी कल्पना भी निश्चय ही व्यापक होगी और उसके विचारों में भी व्यापकता होगी। इसी प्रकार अभिव्यक्ति भी पूर्णतः अनुभूति के आश्रित है। इन सब के इस अन्योन्याश्रय सम्बन्ध के कारण ही क्रोचे ने काव्य का केवल एक उपादान माना है, और वह है सहजानुभूति, जिसमें उन्होंने अनुभूति, कल्पना, विचार और अभिव्यक्ति सभी का समावेश कर दिया है।

इस प्रकार मेरे मन्तव्य का सार यह है कि साहित्य की व्यापकता का मूल और एकमात्र उपादान चेतना की व्यापकता है। हिन्दी-साहित्य में अब तक जो व्यापकता है उसका कारण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसके साहित्यकारों की चेतना का यही विस्तार है। प्रेमचन्द के साहित्य की व्यापकता के लिए उनकी चेतना की व्यापकता ही उत्तरदायी है, जो जाति और वर्ग-भावना से ऊपर थी, जिसमें समस्त उत्तर-भारत की जन-चेतना अंतर्भूत हो गई थी। अब स्वतन्त्रता के बाद भारत के जीवन में व्यापक परिवर्तन हुआ है। भारत की राष्ट्रभाषा होने के बाद हिन्दी का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। वह अब उत्तर-पश्चिम भारत की भाषा न रहकर सम्पूर्ण भारत की भाषा स्वीकृत हो गई है, अब धीरे-धीरे उसका प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हिन्दी भाषा और साहित्य का स्वरूप व्यापक होगा। जब बंगला, गुजराती, मराठी और दक्षिण की समृद्ध भाषाओं के साहित्यकार इस भाषा को बोलेंगे और लिखेंगे तो उनकी अभिव्यंजनाएं, उनके मुहावरे और कहावतें, उनकी रचना-भंगिमाएं निश्चय ही इसमें आयेंगी और इसका रूप अधिक व्यापक और लचीला होता जायेगा। साहित्य की व्यापकता भी अनिवार्य है। हिन्दी-साहित्यकार क्रमशः एक प्रदेश का नागरिक न रह कर भारत का नागरिक बन रहा है, उसका पाठक-समाज बृहत्तर होता जा रहा है जिसमें नाना प्रकार की अभिरुचि और संस्कारों के नर-नारियों का समावेश हो रहा है। इन सब कारणों से उसकी अपनी चेतना का विस्तार होना अनिवार्य है। जब वह प्रयाग या दिल्ली, उत्तरप्रदेश या बिहार के धरातल पर नहीं, भारतीय धरातल पर भावन करेगा, तब स्वभावतः वह भारतीय साहित्य की ही सृष्टि करेगा, जिसका रसात्मक प्रभाव कहीं अधिक व्यापक होगा। उसमें बंगला की भावोष्ण कला, मराठी की दृढ़ता, गुजराती की व्यावहारिकता, दक्षिणी भाषाओं की संस्कारिता, और उर्दू की चटख और चमक हिन्दी की समन्वयशीलता में पग कर एकरूप हो जायेंगी। इस दिशा में भी हमारा संगठित प्रयत्न केवल अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए, भारत की समृद्ध भाषाओं के प्राचीन-नवीन ग्रन्थों के अनुवाद की व्यवस्था इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। उनके अध्ययन और मनन से हिन्दी के साहित्यकार को अपनी निपुणता (Culture) का विकास करने में सहायता मिलेगी। उसकी चेतना की समृद्धि में भी इस अनूदित साहित्य का बड़ा योग होगा। दूसरा उपयोगी प्रयत्न हो सकता है अन्तः साहित्यिक अध्ययन-केन्द्रों की स्थापना। इनके द्वारा हिन्दी का साहित्यकार भारतीय साहित्यकारों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ सकेगा। प्रत्यक्ष सम्पर्क का अपना विशेष लाभ है; व्यक्तित्व का जीवित संस्पर्श चेतना को स्फूर्ति प्रदान करता है। तीसरा एक और भी आयोजन हो सकता है और वह कदाचित् अधिक उपयोगी हो सके। हिन्दी के माध्यम से भारत के भिन्न-भिन्न साहित्यों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर समान तत्त्वों का संयोजन किया जाये। इससे एक तो भारतीय साहित्य की एक समन्वित रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकेगी, दूसरे हिन्दी और हिन्दी की भाँति दूसरी भाषाओं के साहित्यकारों को व्यापक धरातल पर भावन करने में भी सहायता मिलेगी। इसी प्रकार के और भी प्रयत्न सम्भव हैं। इनसे साहित्यकार की चेतना के उस अंग की श्रीवृद्धि में सहायता मिलती है जिसे शास्त्र में 'निपुणता' कहा गया है; क्योंकि 'निपुणता' ही एक ऐसा गुण है जो बहुत-कुछ यत्न-साध्य है। परन्तु अन्त में, मैं फिर निवेदन करता हूं कि ये प्रयत्न केवल परिस्थिति-मात्र ही रह सकते हैं, प्रेरणा नहीं। प्रेरणा या दिशा-निर्देशन की दृष्टि से इनका योग इतना भी नहीं जितना कि यातायात की गति-विधि का नियन्त्रण करने में चौराहे पर खड़े पुलिस के सिपाही का।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य और समीक्षा

साहित्य का जीवन से दुहरा सम्बन्ध है : एक क्रिया रूप में, दूसरा प्रतिक्रिया रूप में। क्रिया-रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है, सृष्टि है; प्रतिक्रिया रूप में उसका निर्माता और पोषक है। जिस प्रकार एक सुपुत्र अपने पिता से जन्म और पोषण पाकर उसकी सेवा और रक्षा करता है, उसी प्रकार सत्साहित्य भी जीवन से प्राण और रक्त-मांस ग्रहण करके फिर उसको रस प्रदान करता है। जीवन की मूल भावना है आत्म-रक्षण, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने जीवनेच्छा कहा है। आत्मरक्षण के उपायों में सबसे प्रमुख उपाय आत्माभिव्यक्ति ही है। अतः क्रिया रूप में साहित्य आत्म-रक्षण अथवा जीवन का एक सार्थक प्रयत्न है। यही अभिव्यक्ति जब ज्ञान-राशि का संचित कोष बन जाती है तब प्रतिक्रिया रूप में मानव-जीवन का पोषण और निर्माण करती है।

उपयोगिता का प्रश्न

जैसा मैंने अभी कहा, मनुष्य की समस्त क्रियाएं आत्म-रक्षण के निमित्त होती हैं, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, सही या ग़लत, उनका यही उद्देश्य होता है—और वास्तव में उनकी सार्थकता भी इसी में हैं। अतएव हमारे प्रयत्नों का मूल्य आंकने की कसौटी यही है कि वे आत्म-रक्षण में कहां तक सार्थक होते हैं। यहां आत्म का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। आत्म-रक्षण का तात्पर्य उस स्वार्थबुद्धि से नहीं है जो अपने में ही संकुचित रहती है। सचमुच आत्म-रक्षण की परिधि में समाज, देश, विश्व सभी कुछ आ जाता है। अपनी रक्षा के लिए व्यक्ति को अपने वातावरण और परिस्थिति से सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। व्यापक रूप में जो-कुछ धर्म की परिधि में आता है, वही सब आत्म-रक्षण की परिधि में भी आ जाता है, क्योंकि धर्म उन सभी प्रयत्नों की समष्टि है जो जीवन को धारण किये रहने के निमित्त होते हैं। अतएव हमें प्रत्येक क्रिया या वस्तु का मूल्य परखने के लिए एक बात देखनी चाहिए : वह कहां तक धर्मानुकूल, अर्थात् कहां तक जीवन के जीने में उपयोगी, है।

जहां तक इस कसौटी का प्रश्न है, हमारी धारणा है कि इस विषय में आस्तिक-नास्तिक, विश्वासी-वैज्ञानिक, प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी किसी का भी मतभेद न होगा। परन्तु उपयोगिता की परीक्षा सब एक ढंग से न कर सकेंगे। उपयोगिता का एक तो स्थूल और प्रत्यक्ष रूप है जिसको पकड़ लेना सहज-सुलभ है। प्रत्येक युग का स्थूलद्रष्टा सुधारक सदैव इसी को लेकर लम्बे-चौड़े व्याख्यान देता रहा है—द्विवेदी-युग में साहित्य का यही रूप ग्रहण किया गया था। उस समय लोगों के पास कुछ मोटे-मोटे नैतिक सिद्धान्त थे, जिनके अनुसार साहित्य को परखकर वे उस पर सत् का लेबिल लगा देते थे। यह मूल्यांकन किस प्रकार थोड़ा लाभ और अधिक हानि करता है, इसका ज्वलन्त प्रमाण है उस समय का साहित्य—जिसका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

महत्त्व आज प्रायः ऐतिहासिक ही रह गया है। इसके विपरीत उपयोगिता का एक सच्चा और सूक्ष्म रूप भी है, जिसको देखने के लिए मोटी नज़र काम नहीं देती। बाहर से देखने पर जो बात अत्यन्त जीवनप्रद मालूम पड़ती है, वह अपने आत्यन्तिक रूप में जीवन का गतिरोध करती है, ऐसा हम प्रायः देखते हैं। उदाहरण के लिए अपने पिछले सुधार-युग—साहित्य में जो द्विवेदी-युग है, समाज में वही सुधार-युग—का जीवन लिया जा सकता है। नीति की चर्चा करते-करते किस प्रकार उस जीवन में दम्भ, पाखण्ड और असहानुभूति का प्रवेश हो गया, यह कोई रहस्य नहीं है। अतएव उपयोगिता को हमें गहराई में जाकर देखना चाहिए और परखना चहिए उसका स्थायी मूल्य, न कि तात्कालिक मात्र।

वस्तु का स्थायी महत्त्व बहुत-कुछ उसकी आनन्ददायिनी शक्ति पर निर्भर रहता है। जो आनन्ददायक है वह उपयोगी है ही, इस बात को भूलकर आलोचक प्रायः सुन्दर-से-सुन्दर साहित्य के प्रति अन्याय कर बैठता है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य की उपेक्षा इसका एक प्रमाण है। 'कला कला के लिए है' और 'कला जीवन के लिए है', इन दोनों सिद्धांतों में जो द्वन्द्व-युद्ध चलता है, वह बहुत-कुछ इसी भूल के कारण। 'कला कला के लिए है' सिद्धांत का प्रतिपादक भी वास्तव में शुद्ध आनन्द को ही कला का उद्देश्य मानता है, उधर कला को जीवन की परिचारिका मानने वाला सम्प्रदाय भी उसके द्वारा पहले आनन्द ही खोजता है। इसके प्रमाण में स्वयं ऑस्कर वाइल्ड और रस्किन के अनेक उद्धरण पेश किये जा सकते हैं। आनन्द की उपेक्षा करके कला जीवित नहीं रह सकती। स्थूल-से-स्थूल रूप में भी उसकी सार्थकता 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' में ही है। अतएव काव्य की कसौटी है उसकी शुद्ध आनन्ददायिनी शक्ति, जिसे अपने शास्त्रकारों ने रस कहा है। रस का अर्थ व्यापक रूप में आनन्द से चलकर जीवन-पोषक तत्त्व तक है: चरक में रस शब्द का यही तात्पर्य है। जीवन अथवा आनन्द मनुष्य क्या, प्राणि-मात्र का चिरन्तर लक्ष्य है। समय के अनुसार उसका बाह्य सदैव बदलता रहा है—जीने की विधि बदलती है, परंतु जीना (आनन्द-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना) तो निश्चय ही एक शाश्वत सत्य है—इसको घोर-से-घोर अशाश्वतवादी भी अस्वीकृत नहीं कर सकता।

यह मान लेने पर कि कलाकृतियों का सापेक्षिक महत्त्व उनकी आनन्ददायिनी शक्ति पर आश्रित है, दो प्रश्न उठते हैं: आनन्द का परिमाण कौन निश्चय करे? और कैसे करे? 'कौन' का उत्तर है: अधिकारी, भोक्ता या अनुभवकर्त्ता, जिसकी मैं निश्चित विशेषताएं मानता हूं संवेदनशीलता और संस्कृत-शिक्षित रुचि। काव्य का जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति एक विशेष माध्यम है और एक विशेष शैली। अर्थात् वह जीवनाभिव्यक्ति की एक विशेष कला है, जिसका अपना पृथक् रूप है, अपने पृथक् लक्षण-नियम हैं, और इनसे घनिष्ठ परिचय रखने वाला व्यक्ति ही उसके निर्णय करने का अधिकारी है। जीवन की विभिन्न विद्याओं और कलाओं की भाँति ही वह अधिकारियों की, विशेषज्ञों की वस्तु है, जन-साधारण की नहीं। दूसरा प्रश्न है: कैसे करे? तो विशेषज्ञ के लिए कलाकृतियों का सापेक्षिक महत्त्व आँकना, सूक्ष्म शब्दों में आनन्द का परिमाण आँकना कठिन नहीं है। उसके लिए सबसे निर्भ्रान्त मार्ग है पहले यह देखना कि कृति का कर्ता कहां तक उसमें अपने व्यक्तित्व को अनूदित अर्थात् लय कर सका है और फिर यह भी देखना कि यह व्यक्तित्व अपेक्षाकृत कितना प्राणवान् है। अधिक प्राणवान् व्यक्तित्व का पूर्ण अनुवाद या लय कम प्राणवान् व्यक्तित्व के पूर्ण लय की अपेक्षा गुरुतर कार्य है, स्वभावतः उसके द्वारा प्राप्त आनन्द अधिक सशक्त और परिपक्व होगा और कृति का महत्त्व भी गुरुतर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होगा। कला का मूल्य कलाकार के आत्माभिव्यंजन पर निर्भर है : उसका आत्म जितना प्राणवान् और जितना निष्कपट, तीव्र एवं सम्पूर्ण होगा, कला उतनी ही रसवती और जीवनप्रद होगी। हां, रस की अनुभूति और अभिव्यक्ति के विषय में थोड़ा विवाद उठ सकता है। अनुभूति के लिए तो कोई निश्चित सिद्धान्त बना देना कठिन है, परन्तु रसाभिव्यक्ति की शक्ति निश्चय ही कलाकार के आत्माभिव्यंजन पर निर्भर है। यह आत्माभिव्यंजन जितना निष्कपट, तीव्र एवं सम्पूर्ण होगा कला उतनी ही रसवती होगी—वह एक प्राणवान् जीवन का जितना सफल अनुवाद होगी, उतनी ही जीवनप्रद भी होगी।

अतः साहित्य की आत्मा है रस, और इस रस की परीक्षा करना आलोचना का उद्देश्य है।

परीक्षण-विधि

अब हमें रस-परीक्षण की विधि का अध्ययन करते हुए उसके कुछ सिद्धान्तों को स्थिर करना है—ये ही वास्तव में समीक्षा के मूल सिद्धान्त होंगे। रस की व्याख्या मैं ऊपर कर चुका हूं : इसका अर्थ है आनन्द। कोई रचना रसवती तभी हो सकती है जब रचयिता उसमें अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः अनूदित कर दे। अपने व्यक्तित्व का अनुवाद ही रचयिता के लिए सबसे बड़ा आनन्द है, इसी के अनुसार उसकी रचना में भी आनन्द देने की शक्ति होगी—और आनन्द केवल मनोरंजन नहीं है, उसका अभिप्राय है अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य।

धर्म की व्यवस्था करते हुए आचार्य ने उसके चार लक्षण बताये हैं : आत्मनः प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद (के अनुकूल)। ये चार बातें हमें आलोचना के मूल सिद्धान्त स्थिर करने में सहायक होंगी। सबसे पहली बात जो रस-परीक्षण के लिए आवश्यक है, वह है आत्मनः प्रिय—कोई कृति आलोचक को स्वयं कैसी लगती है, उसका अध्ययन करने पर उसकी अपनी मानसिक प्रतिक्रिया क्या होती है, यह देखना। आलोचना कितनी ही वैज्ञानिक और राग-द्वेष-हीन होने का दावा क्यों न करे, आलोचक की व्यक्तिगत धारणा और प्रतिक्रिया उसमें प्रमुख कार्य करेगी ही। तभी वह वास्तव में साहित्य का अंग बन सकती है। परन्तु 'आत्मनः प्रिय' का संकुचित अर्थ आलोचना के लिए उसी प्रकार घातक होगा, जिस प्रकार धर्म के लिए। आचार्य जहां धर्म का लक्षण 'अपनी आत्मा को प्रिय होना' करता है, वहां आत्मा से उसका तात्पर्य शुद्ध अविकृत अंतःकरण से है। इसी प्रकार आलोचक का आत्म भी शिक्षित और संस्कृत होगा, यह पहले से ही मान लिया गया है। साधारण पाठक की अपेक्षा उसकी रसानुभूति तीव्र और अभिरुचि परिष्कृत होगी, जो उसे बिना कठिनाई के सुन्दर और असुन्दर की पहचान करा सकेगी। साथ ही वह केवल 'क्या सुन्दर है ?' यही देखकर सन्तुष्ट न हो जाएगा, वरन् यह भी जानने का प्रयत्न करेगा कि ऐसा क्यों है। 'क्यों' का विवेचन उसे सीधा मनोविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र की ओर ले जाएगा। वह कलाकार का मनोविश्लेषण करता हुआ अपने मन की स्थिति का भी अध्ययन करेगा और दोनों के बीच तारतम्य ढूंढ़कर किसी कलाकृति-विशेष के प्रिय अथवा अप्रिय लगने का कारण उपस्थित करेगा। उधर सौंदर्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र, जो मनोविज्ञान का ही एक अंग है, कृति के रूप का विवेचन करने में सहायता देगा, और वह अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति की प्रसादिनी अथवा अप्रसादिनी शक्ति का विश्लेषण भी कर सकेगा।

परन्तु अभी उसका कार्य अपूर्ण ही है। 'आत्मनः प्रिय' के साथ धर्म की भाँति साहित्य के लिए भी सदाचार, स्मृति और वेद के अनुकूल होना अनिवार्य है। आचार का अर्थ है :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सतां आचार:—अर्थात् सज्जनों का आचार, और सज्जनों के आचार से तात्पर्य है सामाजिक हितों के अनुकूल व्यवहार। अतएव सत्साहित्य में केवल व्यष्टि के ही प्रसन्न करने का गुण नहीं, समष्टि के भी प्रसादन का गुण होता है। आगे है स्मृति—अर्थात् विधान—राष्ट्र-नियम, और उसके आगे है वेद—शाश्वत ज्ञान—चिरन्तन सत्य। इनमें दूसरा और तीसरा लक्षण बहुत सीमा तक काल-सापेक्ष है। समाज और राष्ट्र—आज हम इन दोनों का समाहार समाज शब्द में ही कर सकते हैं—का विधान समय के अनुसार बदलता रहता है, अतएव हमें इनके अनुसार साहित्य का मूल्यांकन करते समय सावधानी से काम करना चाहिए। हमें समाज के बाह्य आवरण को चीरकर उसके मूल मानवीय तत्त्वों को पकड़ना पड़ेगा। ऐसा करने का एक सीधा उपाय है। किसी प्राचीन कलाकृति को लेकर पहले तो आलोचक यह स्पष्ट करे कि जिस समय आलोच्य वस्तु की रचना हुई थी, उस सभय समाज की क्या अवस्था थी—किन सामाजिक प्रेरणाओं ने उसके निर्माण में योग दिया था, और फिर उन कारणों की छानबीन करे जिनके द्वारा एक देश-काल की कृति दूसरे—सर्वथा भिन्न देश-काल—के व्यक्तियों को प्रिय लगती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि यहीं वह मानवीय तत्त्वों को पकड़ लेगा और साहित्य को केवल सामयिकता की कसौटी पर कसने की भूल न करेगा!

यहां एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है—साहित्य वैयक्तिक चेतना है या सामूहिक : सामाजिक ? व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति से ही समाज बनता है : दूसरी ओर व्यक्ति समाज की एक इकाई भी है। फिर भी समग्रतः विचार करते हुए यदि दोनों का सापेक्षिक महत्त्व आँकें तो व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता से अधिक बलवती ठहरती है। वैसे तो व्यक्ति समाज का एक अंग है और समाज पर निर्भर रहता है, पर समय आने पर वह उससे ऊपर उठ सकता है, उसको उपेक्षित ही नहीं ओवरहॉल भी कर सकता है। संसार का इतिहास लक्ष-लक्ष कर उठाकर इस सत्य का समर्थन कर रहा है। समाज का अधिकांश जन-साधारण—मैं वर्ग की ओर संकेत नहीं कर रहा—से ही बना हुआ है और महान् साहित्य की सृष्टि साधारण प्रतिभा की शक्ति से बाहर है—महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा और उद्दीप्त क्षणों की अपेक्षा करता है—शेक्सपियर की 'फ़ाइन फ्रैंज़ी' वाली उक्ति कोरी कविता नहीं है—वह एक स्वानुभूत सत्य है। व्यक्ति की चेतना पर समाज—देश का प्रभाव पड़ता है और ख़ूब पड़ता है, परन्तु यह कहना कि रवीन्द्रनाथ के सम्पूर्ण साहित्य का श्रेय केवल उनके सामन्तीय वातावरण और पूंजीवाद को ही है अथवा कबीर की कविता के लिए केवल उनका हीन जाति में जन्म लेना ही उत्तरदायी है, छिछली वर्ग-मनोवृत्ति का परिचय देना है।

आलोचना के प्रचलित सम्प्रदाय

आज आलोचना के कई सम्प्रदायों के नाम सुनाई देते हैं। इनमें तीन मुख्य हैं :

१. प्रभाववादी, २. शास्त्रीय, और ३. वैज्ञानिक।

इनमें सबसे अधिक बदनाम है प्रभाववादी सम्प्रदाय। आज एक आलोचक दूसरे को हीन प्रमाणित करने के लिए उसे फ़ौरन इम्प्रेशनिस्ट कह देता है। परन्तु वास्तव में आलोचना की पहली सीढ़ी है—प्रभाव ग्रहण करना। उसकी बहुत-कुछ शक्ति इन प्राथमिक प्रभाव-प्रतिबिम्बों पर निर्भर रहती है। फिर भी उसका कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। 'कैसा है ?' के साथ ही यदि वह 'क्यों है ?' की व्याख्या नहीं करती तो आलोचक की अपनी प्रतिक्रियाओं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का महत्त्व रहने पर भी, उसकी आलोचना हल्की और स्केची होगी, उसमें आश्वस्त करने की शक्ति नहीं होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि पाठक अपनी अभिरुचि के अनुसार तुरन्त ही उनका ग्रहण या त्याग कर देगा। 'क्यों है ?' की व्याख्या, जैसा मैं पीछे कह आया हूं, स्वभावत: मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र आदि की अपेक्षा करेगी और आलोचक को शास्त्रीय शैली का भी आदर करना ही पड़ेगा ! वास्तव में व्याख्या करने के लिए, आश्वस्त करने के लिए, आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का आलम्बन अनिवार्य है—आलोचना में गाम्भीर्य और स्थायित्व इसी से आता है। इसके आगे वैज्ञानिक पद्धति आती है, जो वस्तु और परिस्थिति के अन्त:सम्बन्ध, वस्तु के तत्त्वों के वर्गीकरण और उसके स्थान-नियोजन पर विशेष बल देती है। पहली दो पद्धतियों में—अर्थात् 'कैसा है ?' और 'क्या है ?' के विवेचन में आलोच्य वस्तुओं का बहुत-कुछ मनोगत रूप व्यक्त किया जाता है, वैज्ञानिक पद्धति वस्तु के वस्तुगत रूप को स्पष्ट करने का दावा करती है। साहित्य या कला का एकान्त वस्तुगत रूप क्या होता है और वैज्ञानिक पद्धति उसको कहां तक ग्रहण और स्पष्ट कर सकती है, यह मैं अभी नहीं समझ सका; परन्तु इस पद्धति का अपना महत्त्व असंदिग्ध है। इसकी सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि आलोचक की अपनी धारणाओं में राग-द्वेष की मात्रा अत्यन्त संयत हो जाती है, एवं उसकी अभिरुचि अधिक-से-अधिक बुद्धिसंगत हो जाती है। दूसरे, 'क्यों' की व्याख्या करने के लिए भी वस्तु और परिस्थिति के अंत:सम्बन्ध का ज्ञान अनिवार्य है; तीसरे, उसका स्थायी महत्त्व आँकने के लिए उसकी परम्परा स्थिर करते हुए इतिहास में स्थान-नियोजन करना भी सर्वथा अभीष्ट है। इस प्रकार आलोचना की इन विभिन्न प्रणालियों में अंत:सापेक्ष्य है, विरोध नहीं। हां, अपने में वे अवश्य अपूर्ण हैं। सुलझा हुआ आलोचक मतवादों के फेर में न पड़ता हुआ, उनका सार्थक उपयोग करता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि आलोचक के कर्तव्य-कर्म दो हैं: पहला है लेखक और पाठक के बीच द्विभाषण। इसकी परिधि में व्याख्या, निर्णय और स्थान-नियोजन सभी कुछ आ जाता है।

दूसरा है आलोच्य वस्तु के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना, जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य-पद को प्राप्त हो सकती है।

संक्षेप में मेरी साहित्य और समीक्षा-विषयक मान्यताएं निम्न हैं :

१. साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही आनन्द है, रस है—पहले स्वयं लेखक के लिए, फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए। और, रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है।

२. आत्माभिव्यक्ति आत्म-रक्षण का, जो जीवन की प्रेरक शक्ति है, प्रमुख साधन है।

३. जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति साहित्य भी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति है—उसका एक विशेष स्वरूप और विशेष शैली अथवा कला है—जिसको ग्रहण करने के लिए एक विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। अतएव उसके अधिकारी पारखी उस कला के विशेषज्ञ ही हो सकते हैं, जन-साधारण नहीं, वे तो अधिक-से-अधिक उसका रस ले सकते हैं।

४. साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता एवं सचाई के अनुपात से ही आँकना चाहिए। अन्य मान एकांगी हैं, अत: प्राय: धोखा दे जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

५. साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नहीं। जब मैं ऐसा कहता हूं तो व्यक्ति पर समूह के ऋण का तिरस्कार नहीं करता। परन्तु मैं यह निश्चित रूप से मानता हूं कि समूह (समाज) अधिक-से-अधिक व्यक्ति का निर्माता हो सकता है, स्रष्टा नहीं। समाज का प्रभाव व्यक्ति पर उसकी अपनी शक्ति के विलोम अनुपात से पड़ता है। इसलिए इतिहास का केवल आर्थिक या भौतिक व्याख्यान करना मानव-शक्तियों का उपहास करना है। आज हमारे प्रगतिवादी आलोचक यही करके प्राचीन और नवीन साहित्य के साथ अन्याय कर रहे हैं।

६. समीक्षा में भी मैं समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति को—जिसमें उसकी भावुकता अर्थात् रसज्ञता, बुद्धि, मानसिक संतुलन आदि सभी कुछ आ जाता है—प्रमुख मानता हूं। मानव-जगत् में, विशेषकर साहित्य-जगत् में, वस्तु का एकान्त वस्तुगत रूप भी ग्रहण किया जा सकता है, यह मैं नहीं मानता।

७. स्वभावतः साहित्य के अन्य अंगों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण को मैं अनिवार्य मानता हूं।

अर्थात् आलोचक एक विशेष रस-ग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्वसुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफ़ाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा, उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का महत्त्व रहने पर भी, उसकी आलोचना हल्की और स्केची होगी, उसमें आश्वस्त करने की शक्ति नहीं होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि पाठक अपनी अभिरुचि के अनुसार तुरन्त ही उनका ग्रहण या त्याग कर देगा। 'क्यों है ?' की व्याख्या, जैसा मैं पीछे कह आया हूं, स्वभावत: मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र आदि की अपेक्षा करेगी और आलोचक को शास्त्रीय शैली का भी आदर करना ही पड़ेगा ! वास्तव में व्याख्या करने के लिए, आश्वस्त करने के लिए, आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का आलम्बन अनिवार्य है—आलोचना में गाम्भीर्य और स्थायित्व इसी से आता है। इसके आगे वैज्ञानिक पद्धति आती है, जो वस्तु और परिस्थिति के अन्त:सम्बन्ध, वस्तु के तत्त्वों के वर्गीकरण और उसके स्थान-नियोजन पर विशेष बल देती है। पहली दो पद्धतियों में—अर्थात् 'कैसा है ?' और 'क्या है ?' के विवेचन में आलोच्य वस्तुओं का बहुत-कुछ मनोगत रूप व्यक्त किया जाता है, वैज्ञानिक पद्धति वस्तु के वस्तुगत रूप को स्पष्ट करने का दावा करती है। साहित्य या कला का एकान्त वस्तुगत रूप क्या होता है और वैज्ञानिक पद्धति उसको कहां तक ग्रहण और स्पष्ट कर सकती है, यह मैं अभी नहीं समझ सका; परन्तु इस पद्धति का अपना महत्त्व असंदिग्ध है। इसकी सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि आलोचक की अपनी धारणाओं में राग-द्वेष की मात्रा अत्यन्त संयत हो जाती है, एवं उसकी अभिरुचि अधिक-से-अधिक बुद्धिसंगत हो जाती है। दूसरे, 'क्यों' की व्याख्या करने के लिए भी वस्तु और परिस्थिति के अंत:सम्बन्ध का ज्ञान अनिवार्य है; तीसरे, उसका स्थायी महत्त्व आँकने के लिए उसकी परम्परा स्थिर करते हुए इतिहास में स्थान-नियोजन करना भी सर्वथा अभीष्ट है। इस प्रकार आलोचना की इन विभिन्न प्रणालियों में अंत:सापेक्ष्य है, विरोध नहीं। हां, अपने में वे अवश्य अपूर्ण हैं। सुलझा हुआ आलोचक मतवादों के फेर में न पड़ता हुआ, उनका सार्थक उपयोग करता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि आलोचक के कर्तव्य-कर्म दो हैं: पहला है लेखक और पाठक के बीच द्विभाषण। इसकी परिधि में व्याख्या, निर्णय और स्थान-नियोजन सभी कुछ आ जाता है।

दूसरा है आलोच्य वस्तु के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना, जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य-पद को प्राप्त हो सकती है।

संक्षेप में मेरी साहित्य और समीक्षा-विषयक मान्यताएं निम्न हैं :

१. साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही आनन्द है, रस है—पहले स्वयं लेखक के लिए, फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए। और, रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है।

२. आत्माभिव्यक्ति आत्म-रक्षण का, जो जीवन की प्रेरक शक्ति है, प्रमुख साधन है।

३. जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति साहित्य भी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति है—उसका एक विशेष स्वरूप और विशेष शैली अथवा कला है—जिसको ग्रहण करने के लिए एक विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। अतएव उसके अधिकारी पारखी उस कला के विशेषज्ञ ही हो सकते हैं, जन-साधारण नहीं, वे तो अधिक-से-अधिक उसका रस ले सकते हैं।

४. साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता एवं सचाई के अनुपात से ही आंकना चाहिए। अन्य मान एकांगी हैं, अत: प्राय: धोखा दे जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

५. साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नहीं। जब मैं ऐसा कहता हूं तो व्यक्ति पर समूह के ऋण का तिरस्कार नहीं करता। परन्तु मैं यह निश्चित रूप से मानता हूं कि समूह (समाज) अधिक-से-अधिक व्यक्ति का निर्माता हो सकता है, स्रष्टा नहीं। समाज का प्रभाव व्यक्ति पर उसकी अपनी शक्ति के विलोम अनुपात से पड़ता है। इसलिए इतिहास का केवल आर्थिक या भौतिक व्याख्यान करना मानव-शक्तियों का उपहास करना है। आज हमारे प्रगतिवादी आलोचक यही करके प्राचीन और नवीन साहित्य के साथ अन्याय कर रहे हैं।

६. समीक्षा में भी मैं समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति को—जिसमें उसकी भावुकता अर्थात् रसज्ञता, बुद्धि, मानसिक संतुलन आदि सभी कुछ आ जाता है—प्रमुख मानता हूं। मानव-जगत् में, विशेषकर साहित्य-जगत् में, वस्तु का एकान्त वस्तुगत रूप भी ग्रहण किया जा सकता है, यह मैं नहीं मानता।

७. स्वभावतः साहित्य के अन्य अंगों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण को मैं अनिवार्य मानता हूं।

अर्थात् आलोचक एक विशेष रस-ग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्वसुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफ़ाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा, उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नाटक का प्रेक्षक और समीक्षक[1]

नाटक के त्रिकोण के तीन बिन्दु हैं : नाटककार, निर्माता (या सूत्रधार) और प्रेक्षक। अभिनेता का अन्तर्भाव निर्माता में और समीक्षक का प्रेक्षक में हो जाता है। इनमें नाटककार नाटक के संवेद्य तत्त्व की सृष्टि करता है, निर्माता उसका अभिव्यंजन या सम्प्रेषण करता है और प्रेक्षक उसका ग्रहण अथवा भोग करता है। मेरे मन में इस त्रिक की कल्पना एक ऐसे त्रिकोण के रूप में आती है जिसका आधार ऊपर है और शीर्षबिंदु नीचे :

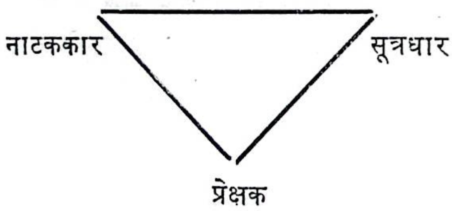

इस त्रिक में स्वभावतः नाटककार की स्थिति मूलवर्ती है और इसलिए प्राथमिक भी; सूत्रधार सम्प्रेषण का माध्यम है, जिसका महत्त्व अनिवार्य है, और प्रेक्षक इस सम्प्रेषण का लक्ष्य-बिंदु है। अभिनव ने इसी दृष्टि से कवि के रस को बीज और सामाजिक के रस को नाट्य का फल कहा है : "तदेवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः।···तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः।" भारतीय नाट्यशास्त्र में इनके सापेक्षिक महत्व के विषय में काफ़ी चर्चा रही है। प्रारम्भ में सूत्रधार का महत्त्व अधिक था—वास्तव में नाट्यकार वही था और नाट्यशास्त्र की रचना उसी को केन्द्र मानकर की गई है। भरत के विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक अर्थात् शब्दार्थमयी नाट्य-वस्तु सम्पूर्ण नाट्य-योजना का एक अंग-मात्र है और उसी तर्क से नाटककार का स्थान संभर्ता[2] का है, निर्माता का नहीं। निर्माता या नाट्यकार का यह गौरव भरत-सूत्र के पहले दो व्याख्याताओं—लोल्लट और शंकुक—तक अक्षुण्ण रहा। लोल्लट का आरोपवाद और शंकुक का अनुकृतिवाद वस्तुतः नाट्य-कला को ही रस का मूलाधार मान कर चलते हैं। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र के विकास के आरम्भिक युग में रस का अर्थ नाट्यरस ही था और उसकी सिद्धि रंगमंच पर ही मान्य थी। भरत के अनुसार रस का अर्थ था एक ऐसी भावप्रधान कलात्मक स्थिति जिसकी सृष्टि नाट्य-उपकरणों के माध्यम से रंगमंच पर होती थी। लोल्लट ने रस-सूत्र की व्याख्या में एक शब्द—'अनुसन्धान' का प्रयोग किया है :

---

१. 'अनामिका' द्वारा आयोजित हिन्दी नाट्य-महोत्सव की दर्शक-समीक्षक गोष्ठी के अध्यक्ष-पद से वाचित : कलकत्ता, दिसम्बर, १९६४।

२. सप्लायर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"…मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति।" (अभिनवभारती)
अर्थात् रस की मूल स्थिति अनुकार्य रामादि में रहती है, परन्तु नाट्य-कौशल के बल से प्रेक्षक को नर्तक में भी उसकी प्रतीति हो जाती है। यह 'अनुसन्धान' शब्द भारतीय अभिनय-कला के इतिहास का अनुसन्धान करने में अत्यन्त उपयोगी है। आचार्यों ने इसके सामान्यतः दो अर्थ किये हैं—(१) आरोप, और (२) अभिमान। यद्यपि इन दोनों शब्दों की व्यंजना यही है कि प्रेक्षक नाट्य-सौन्दर्य के प्रति प्रलुब्ध होकर कुछ समय के लिए अभिनेता को राम समझने लगता है, फिर भी दोनों की अर्थ-छायाओं में सूक्ष्म भेद है जो अनुकार्य के साथ अनुकर्ता के तादात्म्य के मात्रा-भेद को स्पष्ट करता है। आरोप में अनुकर्ता और अनुकार्य के पार्थक्य की प्रतीति अधिक है जबकि अभिमान में यह भेद-प्रतीति अत्यन्त क्षीण हो जाती है—अर्थात् आरोप की अपेक्षा अभिमान द्वारा व्यंजित नाट्य-भ्रम अधिक अंतरंग और गहरा होता है। इसी प्रकार शंकुक ने रस को अनुकृत स्थायी का पर्याय मानकर अनुकरण अर्थात् अभिनय-कला में रस की मूल सिद्धि का व्याख्यान किया। कहने का अभिप्राय यह है कि ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक नाट्यकार का महत्त्व नाटककार से कम नहीं था, थोड़ा ज़्यादा ही हो सकता है। परन्तु धीरे-धीरे इस क्रम में परिवर्तन होने लगा और अभिनवगुप्त की आत्मवादी प्रतिपत्ति के बाद तो चतुर्विध-अभिनय-रूपा नाट्य-कला शब्दार्थ-सम्पदा के समान रसाभिव्यक्ति का माध्यम-उपकरण मात्र बनकर रह गई। भोज ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी: "अतः अभिनेतृभ्यः कवीन् एव बहु मन्यामहे…।" इतना ही नहीं, अभिनेता को केवल 'पात्र'—अर्थात् रसाभिव्यक्ति का वाहन मात्र मान लिया गया जो स्वयं रसानुभूति करने में असमर्थ होता है।

दोनों के सापेक्षिक महत्त्व की और अधिक विवेचना कर इस नाट्य-महोत्सव में श्री जगदीशचन्द्र माथुर और श्री अलकाजी को लड़ाने का मेरा कोई इरादा नहीं है। सही बात तो शायद वही है जो भोज ने कही है; पर इस मान्यता का अधिक प्रसार हो जाने से भारतीय रंगमंच का विकास अवरुद्ध हो गया जिसका प्रभाव उलटकर नाटक-साहित्य के विकास पर भी पड़ा। वास्तव में स्रष्टा के गौरव के अधिकारी दोनों ही हैं: एक शब्दार्थ के माध्यम से कला की सृष्टि करता है और दूसरा चतुर्विध अभिनय के माध्यम से। विवाद को बढ़ाया जाय तो प्रश्न किया जा सकता है कि इन दोनों में से मूल सृष्टि कौन करता है? नाटककार का पक्ष है कि उसकी सृष्टि ही मूल सृष्टि है और निर्माता या परिचालक की सृष्टि पुनःसृष्टि है। उधर परिचालक का पक्ष है कि नाटक की कला की मूल सृष्टि शब्दार्थ के माध्यम से नहीं हो सकती—नाट्य उपकरणों के माध्यम से ही नाटक की कला की वास्तविक सृष्टि सम्भव है—नाटककार जिसे कला कहता है वह तो कला का प्रारूप (स्क्रिप्ट) मात्र है। मैं समझता हूं कि सत्य का अंश दोनों ही वक्तव्यों में विद्यमान है और अपने अतिवादी रूप में दोनों ही सत्य से दूर हो जाते हैं। नाटक को मिश्र कला इसलिए माना जाता है क्योंकि उसकी सिद्धि साहित्य और नाट्य दोनों के योग पर निर्भर करती है। काव्य का महत्त्व असंदिग्ध है, किन्तु काव्य की दृश्यता, जो 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' को सिद्ध करती है, सूत्रधार की कला की अपेक्षा करती है। फिर भी दोनों के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में भ्रम नहीं होना चाहिए। कला की सृष्टि वस्तुतः कौन करता है? नाटककार या नाट्यकार (प्रोड्यूसर)? सही उत्तर है—दोनों मिलकर; यह कला दोनों के समन्वित प्रयास की सिद्धि है। इसके विकास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के लिए हमें समन्वय पर बल देना होगा : अतीत का नाटककार निर्माता से स्वतन्त्र होकर नाटक के स्थान पर प्रायः संवादमय आख्यान की सृष्टि करता रहा और आज का निर्माता 'खेल'—'प्ले' का व्यवसाय करता है। अतः आज आवश्यकता दोनों के सहयोग की है। हिन्दी-रंगमंच का विकास इस प्रकार करना चाहिए कि नाटककार को नाट्यकला का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो और निर्माता साहित्य में पूर्णतः व्युत्पन्न हो। हमारी नाट्यकला के विकास की बाधा केवल यही नहीं है कि हमारा नाटककार रंगमंच के व्यावहारिक ज्ञान से रहित है, वरन् यह भी है कि हमारे सूत्रधार और अभिनेता साहित्य के भव्यतर संस्कारों से वंचित हैं। अतः जब हम सहयोग की बात करें तो इस बात को न भूलें कि नाटक मूलतः साहित्य का ही रूप है और अधिक समृद्ध रूप है—इसलिए रंगमंच के विकास की योजनाएं मूलतः साहित्य को ही आधार मानकर कार्यान्वित करनी चाहिए। नाट्यकला साहित्य से भिन्न कला है, यह नारा ग़लत है। इससे साहित्य की ही क्षति नहीं होगी, सामान्यतः हमारे समाज में कला का स्तर भी गिर जायगा। आज भी प्रसाद के नाटकों को अनभिनेय काव्य मात्र कहकर अर्धशिक्षित व्यावसायिक निदेशक सामान्य स्तर के नाटकों का प्रचार कर रहे हैं : उनकी दृष्टि में प्रस्तुति का मूल्य अपने-आप में इतना बढ़ जाता है कि साहित्य तत्त्व गौण पड़ जाता है। यह नाट्यकला का विकास नहीं है : नाट्यकला का उपजीव्य साहित्य ही है और उसकी उपेक्षा करने से नाट्यकला के कल्याण की कामना करना आत्म-प्रवंचना मात्र है। वास्तव में अपने सहज रूप में नाट्य और नाटक का सम्बन्ध अभिव्यक्ति और भावना का सम्बन्ध ही है—और अभिव्यक्ति के रूप में उसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी एकान्त प्राथमिक नहीं है, क्योंकि उससे पूर्व शब्दार्थ के माध्यम से भी तो अभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। मेरे इस विश्लेषण का अभिप्राय केवल इतना ही है कि नाट्यकला को नाटक से स्वतंत्र या प्राथमिक महत्त्व देने का प्रयास अहितकर है। हिन्दी-नाट्यकला का सम्यक् विकास हिन्दी के नाटक-साहित्य के आधार पर ही हो सकता है। हमारे निदेशक अपनी कला का प्रशिक्षण प्राप्त करने के साथ ही हिन्दी-साहित्य के मर्म का भी अवगाहन करें और हिन्दी-नाटक की सम्भावनाओं के विकास में योगदान करें। हिन्दी में उपयुक्त नाटक नहीं हैं, इसलिए जो दूसरी भाषाओं के नाटकों के अनुवादों से हिन्दी-रंगमंच की श्रीवृद्धि का स्वप्न देखते हैं वे या तो हिन्दी की जानबूझकर अवमानना करते हैं या कला के इतिहास से अपरिचित हैं।

किन्तु यह सब तो मैं प्रसंगवश कह गया। इसे आप केवल परिपार्श्व मान सकते हैं। आज की गोष्ठी तो दर्शक-समीक्षक गोष्ठी है और मुझसे आप कदाचित् यह अपेक्षा करते हैं कि मैं हिन्दी नाट्यकला के विकास में दर्शक तथा समीक्षक की भूमिका पर प्रकाश डालूं। भारतीय नाट्यशास्त्र में दर्शक के लिए प्रायः 'प्रेक्षक' और 'सामाजिक' शब्दों का प्रयोग किया गया है : (१) "तथा नानाभिनयव्यञ्जितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।" (२) "स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावः तन्नासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुकः।" इनके अतिरिक्त एक शब्द और है—'सहृदय', जो प्रेक्षक के मौलिक धर्म का वाचक है। प्रेक्षक के लिए भरत ने सबसे पहले 'सुमनस्' विशेषण का प्रयोग किया है जो प्रायः उसके सभी आवश्यक गुणों का समाहार कर लेता है। आगे चलकर विभिन्न संदर्भों में अनेक आचार्यों ने उसके स्वरूप का प्रकाशन किया है, जिसका सारांश इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रेक्षक का मौलिक गुण है सहृदयता—अर्थात् जीवन की विभिन्न स्थितियों के प्रति संवेदन की क्षमता; नवीन शब्दावली में जिसे संवेदनशीलता कह सकते हैं। इनके अभाव में उसकी स्थिति प्रेक्षागृह के काष्ठ-कुड्यादि के समान रह जाती है। किन्तु संवेदनशीलता मौलिक गुण होने पर भी पर्याप्त नहीं है—वास्तव में सहृदयता की परिधि उससे अधिक व्यापक है। इसके साथ-साथ एक अन्य गुण भी सहृदय के लिए अनिवार्य है—वह है विदग्धता, जो एक ओर विद्वत्ता से भिन्न होती है और दूसरी ओर प्रकृत भावुकता से भी : इसमें कल्पना की शक्ति निहित है। विदग्ध का अर्थ है कल्पनाशील भावुक, जो सौन्दर्य-बोध से सम्पन्न होता है। विदग्धता विद्वत्ता से भिन्न होती है—इसका अर्थ यह नहीं है कि विदग्ध सामाजिक में बौद्धिक व्युत्पन्नता का अभाव रहता है। वास्तव में व्युत्पन्नता और बौद्धिकता के एक विशेष स्तर के बिना विदग्धता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस प्रकार शास्त्र में जिस सामाजिक को नाट्यरस का अधिकारी माना गया है उसके व्यक्तित्व में एक विशेष स्तर की भावुकता, कल्पना और व्युत्पन्नता की अवस्थिति अनिवार्यतः स्वीकार की गई है। इसीलिए सामाजिक का अपर नाम 'सभ्य' भी है। यहां तक तो हुई सामाजिक के सामान्य व्यक्तित्व की बात। इसके अतिरिक्त प्रेक्षण के समय उसकी तात्कालिक मनःस्थिति के विषय में भी शास्त्र ने स्पष्ट व्यवस्था दी है। भरत ने इसी सन्दर्भ में उसे 'सुमनस्' कहा है। सौमनस्य का अर्थ यह है कि प्रेक्षण के समय सामाजिक का मन सभी प्रकार के व्यक्तिगत राग-द्वेष, सुख-दुःख तथा पूर्वग्रहों से मुक्त होना चाहिए। इस समय उसकी चेतना पूर्णतः संवेदनशील होने के साथ-साथ मुकुर के समान निर्मल रहनी चाहिए जिससे कि वह कला के समस्त रागात्मक तत्त्वों को सहज रूप में ग्रहण कर सके। अभिनव ने इसी मनःस्थिति को 'विमलप्रतिभान्' कहा है और व्यक्तिगत सुख-दुःख के आवेश को रसास्वादन का प्रमुख विघ्न माना है। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र में जिस सामाजिक की कल्पना की गई है वह पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में विवेचित आदर्श प्रेक्षक (आइडियल स्पैक्टेटर)[१] से प्रायः अभिन्न है। नाट्यकला की सृष्टि इसी के लिए की जाती थी—यही नाट्यरस का अधिकारी होता था। यहां प्रश्न उठ सकता है कि क्या नाट्यकला का जनसाधारण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था ? उत्तर यह है कि जनसाधारण प्रेक्षागृह से एकदम बहिष्कृत नहीं था, उसका भी प्रेक्षागृह में प्रवेश था जैसा कि प्राचीन नाट्य-साहित्य और नाट्यशास्त्र दोनों में ही 'लोक' तथा 'जन' शब्दों के प्रचुर प्रयोग से सिद्ध है। परन्तु अधिकारी वह नहीं था अर्थात् उसकी रुचि नाट्य-रचना का अनुशासन नहीं करती थी।

और, वह स्थिति आज भी यथावत् है। लोकतन्त्र के इस युग में पल्ली-समाज की (जिसका कि आपके वक्तव्य में उल्लेख है) उपेक्षा आप नहीं कर सकते, उसके बहिष्कार का तो प्रश्न ही क्या ! फिर भी उसकी रुचि आज भी नाट्यकला की सिद्धि का निर्णय नहीं कर सकती। नाट्य-रस का अधिकारी आज भी उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न सामाजिक ही रहेगा। परन्तु इस विषय में भी सन्देह नहीं रहना चाहिए कि अधिकारी के समस्त विशेषण सामाजिक स्थिति

१. To that Ideal Spectator or Listener, who is a man of educated taste and represents an instructed public, every fine art addresses itself : he may be called the rule and standard of that art as the man of moral insight is of morals.

—Aristotle's theory of Poetry and Fine Art.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के वाचक न होकर मानसिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के ही वाचक हैं।

नाट्य-समीक्षक की स्थिति प्रेक्षक से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। वह नाट्यकला के अधिकारी 'सभ्य' का ही समृद्ध एवं विशिष्ट रूप है। इसीलिए तो शास्त्र में उसको समीक्षक न कहकर भावक ही कहा गया है। प्रेक्षक से समीक्षक, प्रकार में भिन्न न होकर, गुण में ही भिन्न होता है। उसमें भी सामान्यतः उन्हीं विशेषताओं की अपेक्षा रहती है जिनके कारण प्रेक्षक नाट्यकला का अधिकारी बनता है, किन्तु दोनों में गुण और मात्रा का भेद रहता है। उपर्युक्त तीनों ही विशेषताएं उसमें इतनी अधिक विकसित अवस्था में रहती हैं कि उसे प्रेक्षक से भिन्न (और शायद ऊंचा भी) 'समीक्षक' का दर्जा प्राप्त हो जाता है। अपने वर्ग में प्रेक्षक जहां सामान्य होता है, समीक्षक वहां विशेषज्ञ बन जाता है और इस प्रकार उसका अधिकार और भी विकसित हो जाता है। प्रेक्षक केवल आस्वादन का ही अधिकारी होता है जबकि समीक्षक मूल्यांकन का भी अधिकारी बन जाता है। ऐसे ही विशेषज्ञ सामाजिक को लक्ष्य करके कालिदास ने कहा था—

'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।'

समीक्षक का यह गौरव आज भी अक्षुण्ण है। आज भी नाट्य-समीक्षक (ड्रामा-क्रिटिक) प्रेक्षागृह में विशेषाधिकार का भोग करता है। किन्तु आज शायद उससे कुछ ज़्यादा की माँग की जाती है। 'अनामिका' द्वारा प्रकाशित वक्तव्य के अनुसार—"आज नाटक की समीक्षा लिखने के लिए मात्र रस-सिद्धान्त की शास्त्रीय बारीकियों से काम नहीं चलता, आज तो समीक्षक को रसज्ञ होने के साथ-साथ युगचेतना का प्रवक्ता होना होगा; उसे नाटक के आधुनिक उपकरणों के संतुलित प्रयोग और प्रभाव को परखना होगा; लेखन और परिचालन, अभिनय और मंच-विधान, कथ्य का व्यंग्यार्थ और दर्शक की ग्रहणशीलता आदि को समूचे प्रस्तुतीकरण का अंतरंग अंग बनाकर समझना होगा और तब समीक्षा के निकष प्रस्तुत करने होंगे।"—मानो गुप्त-युग के समृद्ध रंगमंच से परिचित कालिदास के नाटकों का समीक्षक केवल रस-सिद्धान्त की बारीकियों में ही उलझकर रह जाता था—न वह कथ्य के व्यंग्यार्थ का पारखी था, न अभिनय और मंचविधान के कला-रहस्यों से परिचित था और न अपने युग की चेतना का बोध उसे था—मानो रस-सिद्धान्त के साथ उपर्युक्त कला-तत्त्वों का सहज विरोध हो और रस की चेतना इन समस्त शक्तियों को कुण्ठित कर देती हो अथवा इनके बिना ही रसबोध संभव हो जाता हो। वास्तव में नाट्य-समीक्षक का कर्तव्य-कर्म आज भी प्रायः वही है जो कालिदास के समय में था—अर्थात् नाट्यरस को ग्रहण कर उसे प्रेक्षक-समाज के लिए सुलभ करना, उसके साधक और बाधक तत्त्वों का विश्लेषण कर नाटक की सिद्धि-असिद्धि का विवेचन करना और इस प्रकार अपने युग की नाट्य-रचना को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करना। नाटक के संवेद्य तत्त्व या व्यंग्यार्थ के अवबोधन के लिए स्पष्ट है कि उसके माध्यम-उपकरणों के प्रयोग और प्रभाव और इसके भी आगे उनकी व्यंजना-क्षमता की पहचान ज़रूरी है—आज भी है और पहले भी थी, क्योंकि तत्त्व-शोध के लिए माध्यम का भी सम्यक् परिज्ञान आवश्यक है। आज मंच के उपकरण एवं प्रसाधन विज्ञान के वर्धमान प्रभाव के कारण अत्यधिक विकसित हो गए हैं और जागरूक नाट्य-समीक्षक के लिए उनका अंतरंग ज्ञान अनिवार्य है। इस कथन में न कोई नवीनता है और न विचित्रता, क्योंकि प्रत्येक कला-रूप का समीक्षक अपनी कला के माध्यम-उपकरणों का भी सूक्ष्म पारखी होता है। जिस प्रकार प्राचीन काव्य का समीक्षक शब्दार्थ की गुणालंकार-संपदा का भी रसिक होता था और आज का काव्य-समीक्षक उस शब्दार्थ-सम्पदा के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नवीन उपकरणों--बिम्ब, प्रभाव-छवि आदि का, इसी प्रकार प्राचीन तथा नवीन नाट्यविधान के समीक्षक को भी नवीन उपकरणों के प्रभाव और प्रयोग से अवगत रहना चाहिए। किन्तु इस संदर्भ में एक बात साफ़ हो जानी चाहिए और वह यह कि ये उपकरण माध्यम मात्र हैं—ये साधन हैं, साध्य नहीं हैं। माध्यम का उद्देश्य है कला के रमणीय अर्थ की व्यंजना, और जो माध्यम इस उद्देश्य की पूर्ति जितने प्रभावी एवं सहज रूप में कर सकेगा उतना ही वह सार्थक माना जायगा। आज विज्ञान के वर्धमान प्रभाव से जो भौतिक उपकरण नाट्यविधान को सुलभ हो गए हैं, उनकी भी सार्थकता यही है कि वे नाट्यार्थ की सहज अभिव्यक्ति में सहायक हों। नाट्यकार के लिए वे नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति के और नाट्य-समीक्षक के लिए उसकी प्रतीति के माध्यम हैं। इन उपकरणों की प्रचुरता और समृद्धि तभी तक उपयोगी है जब तक कि इनका प्रयोग साधन-रूप में किया जाए : जहां इनका स्वतन्त्र महत्त्व हुआ, वहीं मूल अर्थ बाधित हो जाएगा। काव्य के क्षेत्र में भी यही होता रहा है; जहां गुणालंकार-संपदा का प्रयोग माध्यम-रूप में हुआ है वहां काव्यार्थ चमक उठा है और जहां इनका आकर्षण अपने-आप में लक्ष्य बन गया है वहीं काव्यार्थ बाधित हो गया है। आज के युग में नाट्य-उपकरणों की समृद्धि से यह खतरा पैदा हो गया है कि कहीं इस भौतिक समृद्धि की चकाचौंध में नाटक की आत्मा का प्रकाश मन्द न पड़ जाय। अतः आज के नाट्य-समीक्षक का कर्तव्य आधुनिक युग के उपकरणों के प्रयोग और प्रभाव को समझने के साथ-साथ नाटककार और प्रेक्षक को इस खतरे से भी सावधान करना है। आखिर नाटककार और नाट्यकार दोनों की सिद्धि क्या है ? प्रेक्षक को रंग-विधान के सूक्ष्म प्रभावों से अभिभूत करना या अभिनय-कौशल से विस्मित कर देना या नाट्यार्थ के समंजित प्रभाव को संवेदित करना ? उत्तर स्पष्ट है--अंतिम सिद्धि ही वास्तविक सिद्धि है; प्रथम दो सिद्धियां इस अंतिम सिद्धि के साधक तत्त्व मात्र हैं जो स्वतंत्र बन जाने पर मूल सिद्धि में बाधक हो जाते हैं।

आपके वक्तव्य में आज के समीक्षक के लिए युग-चेतना की आवश्यकता पर बल दिया गया है। प्रत्येक जागरूक व्यक्ति का--प्रेक्षक का सामान्य रूप से और समीक्षक का विशेष रूप से, क्योंकि उसकी प्रतिभा अधिक प्रबुद्ध होती है—अपने परिवेश के साथ जीवन्त सम्पर्क रहता है। किन्तु इस सम्पर्क के अनेक रूप हैं : कहीं यह अधिक व्यक्त और स्थूल होता है, कहीं प्रायः बाह्य और सतही और कहीं सूक्ष्म एवं अप्रत्यक्ष। कलाकार तथा समीक्षक दोनों ही अपनी-अपनी प्रकृति और संस्कारों के अनुरूप इस युग-प्रभाव को ग्रहण करते हैं। कला-चेतना के विकास का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यह प्रभाव जितना सूक्ष्म-गहन होगा, उतना ही अधिक सर्जनात्मक होगा। सर्जना का अर्थ है आत्माभिव्यक्ति; और, यदि आपके युग-बोध को आघात न लगे तो, आत्माभिव्यक्ति ही रस है। युग के सूक्ष्म प्रभावों को अपनी चेतना में रचाकर कलाकार जब आत्म-सर्जना करने में सफल होता है, तभी रस-सृष्टि हो जाती है; और, समीक्षक यदि इस प्रक्रिया को भी थोड़ा-बहुत जान ले तो कोई नुक़सान नहीं है। इसके आगे युग-चेतना को स्थूल अर्थ में—नारे के रूप में—ग्रहण करना न कला के लिए उपयोगी है और न कला-समीक्षा के लिए। और फिर, इस युग-चेतना का स्वरूप भी तो कितना अस्थिर है ! अभी कल तक हमने सुना कि आधुनिक युग-चेतना का अर्थ है वर्ग-चेतना—और आज भी यह स्वर मुखर है। दूसरी ओर से आवाज़ आ रही है कि आज संसार में व्याप्त सामूहिक आत्मघात की भावना की पहचान ही आधुनिक युग-बोध है। मैं समझता हूं, इस प्रकार के युग-बोध की अपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कला-समीक्षक के लिए परम्परा द्वारा परीक्षित एवं अनुमोदित कला-तत्त्वों का बोध अधिक कल्याणकर होगा। युग-चेतना को नारे के रूप में ग्रहण करने वाला कलाकार 'भारत-भारती' और 'हुंकार' की रचना करता है और उसे कला-चेतना में अंतर्भुक्त कर लेने वाला कलाकार 'साकेत' और 'कुरुक्षेत्र' की। इसी प्रकार युग-चेतना से आक्रांत आलोचक रवीन्द्रनाथ के काव्य में सामन्तीय प्रभावों का अनुसंधान करता है और उसे कला-चेतना में ही समाहित कर लेने वाला आलोचक प्रेमचन्द के उपन्यासों में मानव-संवेदना की विवृति करता है। इसलिए आज के समीक्षक को धमकाकर युग-चेतना का नारा बुलन्द करने के लिए बाध्य न कीजिए: उसे युग के प्रभाव को सहज रूप में ही पचाने दीजिए।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि क्या कला के वृत्त में नाट्य-समीक्षक की स्थिति साहित्य के समीक्षक से पृथक् है? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर इसके मूलवर्ती प्रश्न के उत्तर के साथ सम्बद्ध है, और वह मूलवर्ती प्रश्न है: क्या नाटक की स्थिति साहित्य की परिधि से बाहर है? इसमें सन्देह नहीं कि जहां साहित्य की अन्य विधाओं के माध्यम-उपकरण शब्दार्थ तक ही सीमित हैं वहां नाटक के लिए शब्दार्थ के अतिरिक्त रंग-उपकरणों की भी आवश्यकता रहती है। किन्तु माध्यम का यह भेद इतना मौलिक नहीं है कि उसके आधार पर नाटक की जाति ही बदल जाए। अन्य कलारूपों में जहां शब्दार्थ का माध्यम सर्वथा निःशेष हो जाता है, वहां नाटक में वह अन्त तक बना रहता है। वास्तव में शब्दार्थ से रहित नाट्य-प्रयोग—जैसे रंगसंभार, अभिनय, नृत्य, गीत आदि एक-एक कर अथवा मिलकर भी नाटक नहीं बन सकते। नाटक की सृष्टि शब्दार्थ के माध्यम के बिना सम्भव नहीं है—उपर्युक्त नाट्य-उपकरण उसके लिए अत्यन्त आवश्यक हैं परन्तु वे शब्दार्थ के सहकारी ही रहते हैं, उसके स्थानापन्न नहीं बन सकते। मूक नाट्यों को देखकर कभी-कभी मेरी इस स्थापना के प्रति शंका हो सकती है, किन्तु थोड़ा विचार करने पर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वहां भी शब्द का अभाव नहीं है—शब्द तो वहां भी है, लेकिन उच्चरित नहीं है। अतः केवल इतने ही भेद को लेकर नाटक को जाति-भ्रष्ट कर देने से नाट्य-कला की सेवा आप नहीं कर सकेंगे। वस्तुतः साहित्य का मूल धर्म समान है—और इस तर्क से उसकी भिन्न विधाओं का भी मूल धर्म समान ही रहेगा। प्रत्येक विधा का अपना अलग स्वरूप है—प्रबन्धकाव्य, उपन्यास और नाटक अलग-अलग विधाएं हैं, प्रविधि के भेद से इनके रूप में भेद अवश्य है, पर इनकी आत्मा में भेद नहीं है। स्वदेश-विदेश के काव्यशास्त्र में इनकी प्रविधि का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है, लेकिन प्रविधि-भेद का यह विस्तार उनकी मूल आत्मा को खण्डित नहीं करता। नाट्य-समीक्षक की स्थिति का निर्णय भी इसी तर्क-प्रणाली से अनायास हो जाता है। नाट्य-समीक्षक को नाट्य-विधान का अंतरंग और व्यापक ज्ञान होना चाहिए, किन्तु उससे पूर्व उसे साहित्य के मर्म का ज्ञान होना चाहिए। साहित्य के अन्य रूपों के समीक्षक की भी प्रायः यही स्थिति है। उदाहरण के लिए, काव्य के समीक्षक को काव्य के माध्यम-उपकरण—शब्दार्थ—की शक्तियों और सम्भावनाओं का अंतरंग ज्ञान होना चाहिए और उपन्यास के समीक्षक को उपन्यास की शिल्प-विधि का भी विशेषज्ञ होना चाहिए। नाट्य-समीक्षक का क्षेत्र थोड़ा और व्यापक है क्योंकि उसकी परिधि में कुछ ऐसे उपकरण भी आते हैं जो साहित्य की सीमा से बाहर पड़ते हैं। आज के युग में विशेषज्ञता तो अनिवार्य हो ही गई है, इसलिए साहित्य के क्षेत्र में भी नाट्य-समीक्षक का कार्य अन्य साहित्यिक विधाओं के समीक्षक के कर्तव्यकर्म से मूल में भिन्न न होकर केवल व्यवहार में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भिन्न है। इस तथ्य की उपेक्षा करने से प्रविधि का महत्त्व इतना अधिक बढ़ जायगा कि प्राण-तत्त्व ही गौण पड़ जायगा। परिणाम यह होगा कि काव्य-समीक्षक रस-मर्मज्ञ की अपेक्षा भाषा-वैज्ञानिक के निकट पहुंच जायगा और नाट्य-समीक्षक कलाविद् की अपेक्षा रंगमंच के अभि-यन्ता से स्पर्धा करने लगेगा। मेरा विश्वास है नाट्य-समीक्षक के एकान्त वैशिष्ट्य का आग्रह कर उसकी यह दुर्गति आप देखना नहीं चाहेंगे।

किंतु, मेरी इस शास्त्रीय ऊहापोह के बाद भी आपके आयोजन का मूल प्रश्न तो वहीं-का-वहीं रह गया। हम सभी जानते हैं और मानते हैं कि हिन्दी का नाट्य-साहित्य उसकी अन्य विधाओं की तुलना में पिछड़ा हुआ है। इस स्थिति का परिमार्जन कैसे किया जाए? मेरे विचार से इसका एक ही सीधा उपाय है—और वह यह कि सभी प्रमुख नगरों में प्रेक्षागृह तथा नाट्य-केन्द्रों की स्थापना की जाए। प्रेक्षागृह और नाट्य-केन्द्र जहां आधुनिक रंग-संभार से सम्पन्न हों वहां इस देश की प्राचीन नाट्य-परम्परा से भी सम्बद्ध हों, जहां एक ओर भारतीय वाङ्मय के अमर नाटकों का प्रदर्शन भारतीय गरिमा के साथ हो सके और दूसरी ओर पाश्चात्य नाट्य-कला की प्राचीन एवं नवीन कलाकृतियों के सफल रूपान्तर प्रस्तुत किये जा सकें। इन प्रेक्षागृहों का परिचालन ऐसे प्रतिभाशाली कलाकारों के द्वारा होना चाहिए जो भारतीय साहित्य के मर्म से अवगत हों और जिन्होंने नाट्य-कला की नई-पुरानी शिल्पविधियों का विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त किया हो, जो भारतीय-साहित्य की समृद्ध परम्पराओं में इतने व्युत्पन्न हों कि पश्चिम के नव-प्रयोगों को उन्हीं के भीतर आत्मसात् कर सकें, और साथ ही जो हिन्दी भाषा के सौंदर्य से भी परिचित हों अर्थात् जो नाटक की भाषा को केवल उसके साहित्यिक सौंदर्य के आधार पर ही रंग-मंच के अनुपयुक्त घोषित करने के लिए अधीर न हो उठें। इस संदर्भ में दो बातों के विषय में हमें निर्भ्रान्त रहना चाहिए। एक तो यह कि नाट्य-कला की सिद्धि केवल प्रस्तुति की सफलता पर नहीं, वरन् उत्तम साहित्य-नाटक की सफल प्रस्तुति पर ही निर्भर करती है। जो निदेशक किसी काल-जयी नाटक का अभिनय-सौकर्य के लिए इतना अंगभंग कर दे कि उसका मूल सौंदर्य ही खण्डित हो जाए, उसके प्रशिक्षण को अपूर्ण ही मानना चाहिए। इसी प्रकार, जो निदेशक आधुनिकता की झोंक में 'मृच्छकटिक' को नौटंकी या 'अभिज्ञानशाकुंतल' को ऑपेरा बना दे, उसकी कला पर भी गर्व नहीं करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि हमें हिन्दी की नाट्यकला का विकास करना है, अतः हिन्दी की सभी साहित्यिक शैलियों को स्वीकार करना होगा; केवल बोलचाल की भाषा या उर्दू-मिश्रित भाषा ही प्रेक्षक-समाज को ग्राह्य है, यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए। इस प्रकार उपयुक्त प्रेक्षागृहों एवं नाट्य-शिविरों की स्थापना से उत्तम नाट्य-प्रतिभाओं की सर्जना तो आप न कर सकेंगे, किंतु उसके विकास के लिए उपयुक्त भूमिका अवश्य तैयार हो जाएगी जिससे हमें आगे कभी यह मलाल न रहेगा कि प्रसाद जैसे नाटककार की प्रतिभा हिन्दी-रंगमंच के अभाव में अर्धविकसित ही रह गई।

मैं बहुत कम कहना चाहता था, किंतु 'अनामिका' के 'वक्तव्य' से उत्तेजित होकर बहुत-कुछ कह गया। नाट्य-विधान से मेरा कोई जीवंत सम्पर्क नहीं है: जीवन में कॉलेज के दिनों में सिर्फ़ एक बार अभिनय किया था और मेरी वजह से ही हमारा वह 'खेल प्रतियोगिता में हार गया था। तब से आज तक अभिनय नहीं किया—अभिधार्थ में तो बिलकुल ही नहीं किया और लक्ष्यार्थ में भी अभिनय करने का उत्साह प्रायः नहीं होता। प्राविधिक ज्ञान से शून्य मुझ जैसे आदमी को नाट्यकला के 'तकनीकी माहिरों' की इस गोष्ठी का अध्यक्ष बनाकर आपने निश्चय ही अतिरिक्त उदारता का परिचय दिया है। उसके लिए कैसे धन्यवाद करूं!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कहानी और रेखाचित्र

"शैलू बाबू, कैसा लगा हमारा शनिवार-समाज आपको ?"—कार स्टार्ट करते हुए मैंने पूछा।

"मैं तो काफ़ी प्रभावित हुआ। पिछली बार मैंने कान्ता से पूछा था कि दिल्ली में साहित्यिक जीवन कैसा है, तो उसने कहा कि साहित्यकार तो यहां बुरे नहीं हैं, लेकिन साहित्यिक जीवन कोई खास नहीं है। ले-देकर शनिवार-समाज है, उसमें भी तू-तू मैं-मैं या हा-हा ही-ही रहती है। पर आज तो मैंने देखा कि यहां विचार-विमर्श का स्तर अच्छी शास्त्रीय परिषदों से ऊंचा रहता है।"

"हां, कान्ता दो-तीन बार आयी थी। उन दिनों सचमुच थोड़ी-सी शिथिलता आ गई थी, जो सदा अस्वाभाविक नहीं होती। रही हा-हा ही-ही की बात—वह तो आज भी थी ही और मेरा खयाल है, मर्यादा के भीतर सदा रहनी भी चाहिए। आखिर यह कोई परीक्षा-भवन तो है नहीं और न यहां धार्मिक सत्संग ही होता है। वास्तव में शनिवार-समाज दिल्ली के साहित्यिक जीवन की अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम बन गया है। बीच-बीच में थोड़ा-सा शैथिल्य या मामूली-सी रगड़ भले ही पैदा हो जाए, पर साधारणतः इसे प्रायः सभी का सद्भाव प्राप्त है। पहले चिरंजीत ने इसे ठीक बना रखा था और अब विष्णुजी ने जब से इसे सँभाला है, तब से इसमें फिर जान आ गई है। विष्णु आदमी भले हैं और कुशल भी।"

शैलेन्द्रमोहन जौहरी सैण्ट जॉन्स में मेरे सहपाठी थे; उस्मानिया यूनिवर्सिटी में छः वर्ष तक अंगरेज़ी के अध्यापक रहने के बाद हाल ही में टोरेण्टो से 'सौन्दर्यशास्त्र' पर पी-एच० डी० की डिग्री लेकर आए हैं। दिल्ली में किसी सम्बन्धी के यहां आए थे। पिछले से पिछले शनिवार की शाम को मेरे साथ थे। इस शर्त पर शनिवार-समाज में मेरे साथ आए थे कि उनको अपरिचित दर्शक ही रहने दिया जाए। इसलिए मुझसे कुछ थोड़ा हटकर कोने में बैठ गए थे और बिना बोले सब-कुछ चुपचाप देखते-सुनते रहे थे। वैसे बड़े तेजस्वी व्यक्ति हैं। हिन्दी और अंगरेज़ी दोनों में थोड़ा-सा लिखा है, पर जो कुछ लिखा है उसमें चमक और धार दोनों हैं।

दिल्ली-दरवाज़े पर एक महिला को उतारने के बाद मैंने फिर बातचीत का क्रम जारी रखते हुए कहा, "आज का विषय ज़रा दुरूह-सा था। तुम्हारा क्या ख़याल है ? तुम्हें किसकी बात ज़्यादा जँची ?" मेरे वाक्य को सुनकर ऐसा लगा, जैसे उनकी मौलिकता पर कोई चोट लगी हो; हालांकि मेरा यह मतलब बिलकुल नहीं था। बोले, "आई कैन थिंक फ़ार माईसैल्फ़; लेकिन फिर भी आज सभी के विचारों में पर्याप्त तथ्य था। आपके यहां कोई रेकार्ड नहीं रखा जाता क्या ? मैं समझता हूं आज की बहस को यदि लेखबद्ध कर दिया जाये तो कहानी और रेखाचित्र के अंतर पर अत्यन्त मौलिक निबन्ध बन सकता है।"

मैंने कहा, "ऐसा कोई सांग विवरण हम लोग नहीं रखते; किन्तु आता मेरे मन में भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है कि इसे लेखबद्ध किया जाये।"

शैलू बाबू बोले —"अच्छा।"

शैलू बाबू ने शायद उसी रात को बैठ कर वह लेख लिख डाला और दो-तीन दिन बाद टाइप करा कर ले आये। मैंने भी चार-छः दिन में लिख डालने का वायदा किया; पर काम इतना आ पड़ा कि मैं न लिख पाया और शैलू बाबू पिछले सोमवार को चले गये। मैं सोच रहा था, आज तक तो अपना लेख तैयार कर ही दूंगा और दोनों को ही शनिवार-समाज की बैठक में पढ़ दूंगा। परन्तु मैं तो आज भी रह गया। इसलिए अब आपके सामने अपने मित्र डॉ० शैलेन्द्र-मोहन का लेख ही प्रस्तुत किये देता हूं। अगली गोष्ठी में अपना लेख भी निश्चय ही ले आऊंगा।

× × ×

उस दिन भाई नगेन्द्र के साथ दिल्ली के शनिवार-समाज में गया था। नगेन्द्र ने वायदा कर लिया था कि मुझे अपरिचित ही रहने दिया जायेगा, फिर भी मैंने कुछ और सावधानी बरती और उनसे थोड़ी दूर कोने में चुपचाप बैठ गया। इससे मुझे दुगुना लाभ हुआ। अनावश्यक परिचय के उपहास से बच गया और साथ ही ध्यानपूर्वक गोष्ठी के वार्तालाप को सुन सका जो शायद नगेन्द्र के पास बैठने से सर्वथा सम्भव नहीं था; क्योंकि उनमें गम्भीरता और चंचलता का इतना अनमेल मिश्रण है कि दो-एक मिनट के अन्तर से ही वे गम्भीर-से-गम्भीर बात और फ़िज़ूल-से-फ़िज़ूल बकवास कर सकते हैं। क्लास में एकाध बार मुझे उनकी मेहरबानी से प्रोफ़ेसर टंडन का अकारण ही कोप-भाजन बनना पड़ा था।

गोष्ठी में कुछ देर उस दिन के लेखक-वक्ता श्री दर की प्रतीक्षा रही। उनके आते ही लेख-पाठ आरम्भ हो गया। श्री दर दुहरे बदन के स्वस्थ-प्रसन्न व्यक्ति थे। युवावस्था का उत्साह और आत्म-विश्वास तथा प्रौढ़ि का गाम्भीर्य उनमें था। थोड़ी-सी क्षमा-याचना के बाद उन्होंने अपना लेख आरम्भ किया। इस क्षमा-याचना के दो कारण थे : एक तो समयाभाव के कारण लेख जल्दी में लिखा गया था और दूसरे, हिन्दी में, जिसे उन्होंने अभी थोड़े दिन से शुरू किया है। दोनों बातें ही ठीक थीं। लेख में, जल्दी के कारण निश्चय ही असम्बद्धता आ गई थी; दूसरे उसमें विवेचन और विश्लेषण की अपेक्षा वर्णन अधिक था। भाषा में उर्दू की चटक और चमक साफ़ जाहिर थी; फिर भी हिन्दी के प्रति अत्यधिक सचेष्ट होने के कारण वह जगह-जगह कुछ 'घम्बीर' हो जाती थी और दर साहब को रवानी बनाये रखने के लिए प्रायः लहजे को और कभी-कभी अपने चेहरे और गर्दन को झोल देना पड़ता था। खैर, यह तो मैं यों ही प्रसंगवश कह गया। दर साहब के लेख का प्रतिपाद्य अत्यन्त स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त था; और इसका कारण यह था कि उन्होंने केवल बौद्धिक रूप से नहीं, वरन् व्यावहारिक रूप से, अर्थात् एक तटस्थ आलोचक की भाँति नहीं वरन् एक स्वतन्त्र संलग्न कलाकार की दृष्टि से, प्रश्न पर विचार किया था। उनका अभिमत था कि कहानी और रेखाचित्र में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यह धारणा ग़लत है कि घटना की प्रधानता कहानी को रेखाचित्र से पृथक् करती है। कहानी के लिए घटना बिलकुल अनिवार्य नहीं है; और इसके अतिरिक्त घटना केवल स्थूल और भौतिक ही हो, यह भी ज़रूरी नहीं है, वह मानसिक भी हो सकती है। इसी प्रकार तथाकथित रेखाचित्रों में भी घटना का एकदम अभाव नहीं हो सकता। अगर आप कहें कि रेखाचित्र में चरित्र-अंकन की प्रधानता होती है, तो यह भी कहानी के क्षेत्र से बाहर की चीज नहीं है। इसलिए रेखाचित्र कहानी का ही एक रूप है। आज कहानी की परिभाषा इतनी व्यापक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और उसकी रूपरेखा इतनी शिथिल हो गई है कि रेखाचित्र नाम की चीज़ अपने सभी रूपों में उसके भीतर ही आ जाती है।

इसके बाद बहस में कुछ ख़ालीपन-सा आ गया। लोग एक-दूसरे से अपने विचार प्रकट करने के लिए आग्रह करने लगे। अन्त में नगेन्द्र को ही बोलना पड़ा। नगेन्द्र में मैंने अब भी वही झिझक पायी जो आज से १८-१९ वर्ष पहले सैण्ट जॉन्स में थी। यद्यपि उन्होंने दो-चार पॉइन्ट लिख भी लिये थे; फिर भी वे जैसे कोई नियमित वक्तव्य देने से बच निकलने की कोशिश कर रहे थे। आख़िर उन्होंने कहना शुरू किया: 'कहानी और रेखाचित्र में कोई आत्यन्तिक अन्तर करना कठिन है, फिर भी दोनों में अन्तर अवश्य है; क्योंकि ये दोनों शब्द आज भी बराबर प्रचलित हैं और इनका प्रयोग करने वाले इनके द्वारा एक ही अर्थ की व्यंजना नहीं करते। कहानी के विषय में तो किसी को विशेष भ्रांति होने की गुंजाइश नहीं है, रेखाचित्र के विषय में ही कठिनाई है। स्पष्टतया ही रेखाचित्र चित्र-कला का शब्द है, जैसा कि नाम से ही व्यक्त है। इसमें चित्रांकन का मूल आधार रेखाएं होती हैं। ज्यामिति में रेखा की विशेषता यह है कि इसमें लम्बाई-मात्र होती है, मोटाई-चौड़ाई आदि नहीं होती। अतएव अपने मूल रूप में रेखाचित्र में मोटाई-चौड़ाई, अर्थात् मूर्त रूप और रंग आदि नहीं होते। उसमें आकार तो होता है, पर भराव नहीं होता; इसीलिए उसे ख़ाका भी कहते हैं। जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य में आया तो इसकी परिभाषा भी स्वभावतः इसके साथ आयी अर्थात् रेखाचित्र एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमें रेखाएं हों, पर मूर्त रूप अर्थात् उतार-चढ़ाव—दूसरे शब्दों में, कथानक का उतार-चढ़ाव—आदि न हो, तथ्यों का उद्घाटन-मात्र हो; पूर्व आयोजन अथवा आयोजित विकास न हो। रेखाचित्र में तथ्य खुलते जाते हैं, संयोजित नहीं होते हैं। कहानी के लिए घटना का होना ज़रूरी नहीं है, पर रेखाचित्र के लिए उसका न होना ज़रूरी है; घटना का भराव वह वहन नहीं कर सकता। इसी प्रकार कहानी के लिए विश्लेषण किसी प्रकार भी अवांछनीय नहीं है; परन्तु रेखाचित्र का वह प्रायः अनिवार्य साधन है।'—नगेन्द्र के वक्तव्य से लगता था, उनके मन में कहानी और रेखाचित्र के सूक्ष्म अंतर की एक निश्चित धारणा अवश्य है और वह स्पष्ट भी है। थोड़ा सोचने पर यह मुझे, और मैं समझता हूं कुछ और व्यक्तियों को भी, स्पष्ट हो गया; पर उनके कहने का ढंग अच्छा नहीं था। उनका विचार स्पष्ट था पर उनके वाक्य एक-दूसरे से लिपट जाते थे और वे हकलाने लगते थे। यह देखकर मुझे सैण्ट जॉन्स के अनेक दृश्य याद आ गये जब बहस के समय नगेन्द्र की क़ैफ़ियत रत्नाकर की गोपियों जैसी हो जाती थी—'नेकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं, रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं'। मुझे याद है कि एक दिन वे गुरुवर प्रो० प्रकाशचन्द्र से भी लड़ पड़े थे, और महीनों उनके यहां नहीं गये थे।

उस दिन भी कई ऐसे व्यक्ति थे जिनको नगेन्द्र की बात उलझी-सी लगी। एक नौजवान उनसे उलझ भी पड़े। बोले—"डॉक्टर साहब उदाहरण देकर अपना मन्तव्य स्पष्ट करें तो ठीक है।" नगेन्द्र मन में उदाहरण सोचने लगे थे कि विष्णु जी ने महादेवी के रेखाचित्रों की ओर संकेत किया। नगेन्द्र बोले: "हां, 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएं' दोनों ही रेखाचित्रों के संकलन हैं। उधर प्रेमचन्दजी की अधिकांश कथा-कृतियां 'आत्माराम', 'मन्दिर', 'कफ़न' आदि कहानियां हैं।" पर प्रश्नकर्ता इससे सन्तुष्ट नहीं हुए; उनका कहना था कि महादेवी की उपर्युक्त कृतियां रेखाचित्र नहीं हैं, संस्मरण (मेमॉयर्स) हैं। परन्तु यह लोगों को मान्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं हुआ। उस समय तो मुझे भी उनका तर्क कुछ बेमानी-सा लगा और इसका कारण शायद यह था कि अंगरेज़ी का (मेमॉयर्स) शब्द इस प्रसंग में कुछ भ्रामक था। मेमॉयर्स में ऐतिहासिकता प्रायः अनिवार्य-सी ही रहती है और महादेवी के चित्रों में निश्चय ही वह बात नहीं है। परन्तु प्रश्नकर्ता का तर्क सर्वथा असंगत नहीं था। महादेवी के वे चित्र प्रायः संस्मरण ही हैं; अन्तर इतना ही है कि उनके विषय प्रसिद्ध व्यक्ति न होकर अपरिचित व्यक्ति हैं। लेकिन मेरी धारणा है कि संस्मरण और रेखाचित्र में किसी प्रकार का विरोध नहीं है; कोई मौलिक अंतर भी नहीं है। वास्तव में उनकी जाति एक ही है; या यों कहिये कि संस्मरण रेखाचित्र का एक प्रकार-मात्र है जिसमें एक व्यक्ति का चित्र होता है; और वह व्यक्ति प्रायः वास्तविक होता है, काल्पनिक नहीं।

'मेमॉयर्स' शब्द को लेकर एक और सज्जन सामने आये। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वे प्रो० बालकृष्ण थे जो बहुत दिनों तक इतिहास के अध्यापक रहने के बाद आजकल राष्ट्रपति के प्रेस-अटेशे हैं। उनका मत था कि मेमॉयर एक अलग चीज़ है; वह इतिहास की वस्तु है, उसके लिए ऐतिहासिक अंक-संकलन का निश्चित आधार अनिवार्य है। रेखाचित्र के साथ उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। परन्तु प्रो० बालकृष्ण को नगेन्द्र की स्थापनाओं पर भी आपत्ति थी। उन्होंने कहा कि पूर्व आयोजन तो रेखाचित्र के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना कहानी के लिए; अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि रेखाचित्र में केवल उद्घाटन-मात्र होता है; यह अंतर सापेक्षिक है। मूलतः तो कोई भी कृति अनायोजित नहीं होती। दोनों में मात्रा का अंतर है। प्रो० बालकृष्ण ने अपने तर्क को और आगे बढ़ाते हुए कहा : अगर दोनों में आयोजन की मात्रा का ही अंतर है तब भी यह अंतर फ़ॉर्म या कलेवर के रूप-आकार का ही रहा, मूल आत्मा का नहीं। नगेन्द्र ने कहा : 'हां, बहुत-कुछ यह अन्तर कलेवर का ही है; यद्यपि कलेवर और आत्मा का एक-दूसरे से इतना सहज सम्बन्ध है कि इस विषय में सर्वथा ऐकान्तिक निर्देश नहीं किया जा सकता। परन्तु सामान्यतः कहानी और रेखाचित्र एक-दूसरे के इतने निकट हैं कि दोनों का अन्तर प्राणगत न होकर शरीरगत ही माना जा सकता है।' पता नहीं, प्रो० बालकृष्ण को यह मत कहां तक मान्य था, परन्तु उनकी धारणा इस विषय में कुछ और ही थी। उनका कहना था कि रेखाचित्र में रेखाओं का आधार होता है, रंग आदि का नहीं। अतएव उसमें संकेत अर्थात् व्यंजना का प्राधान्य रहता है। रेखा रंग की अपेक्षा सूक्ष्म है, जैसे संकेत कथन की अपेक्षा। इसलिए रेखाचित्र और कहानी का मूल अन्तर यही है कि रेखाचित्र कहानी की अपेक्षा सांकेतिक अधिक होता है। नगेन्द्र ने उनकी यह स्थापना नहीं मानी; क्योंकि कहानी में भी उनके अनुसार अधिकाधिक सांकेतिकता हो सकती है और प्रायः होती है। वह कहती कम है, पाठक के मन में संकेतों द्वारा संपर्ग-चित्र ही अधिक जगाती है।

इस प्रश्नोत्तर के उपरांत एक और सज्जन श्री तिवारी ने हल्की परन्तु विश्वस्त आवाज़ में कहा : 'भाई, अंतर दोनों में एक ही है; कहानी गत्यात्मक होती है, रेखाचित्र स्थिर होता है।' इस पर जैनेन्द्रजी ने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया—मानो अब तक के विचार-विनिमय में पहली बार तथ्य की बात कही गई हो। परन्तु जैनेन्द्रजी के आशीर्वाद के बावजूद भी एक मित्र तिवारीजी से गत्यात्मक (Dynamic) और स्थिर या स्थित्यात्मक (Static) शब्दों की परिभाषा को लेकर उलझ पड़े। कुछ ही क्षणों में सभा में पारिभाषिक शब्दों का घटाटोप छा गया; क्योंकि वादी-प्रतिवादी दोनों ही जाने-अनजाने पारिभाषिक शब्दों का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रयोग कर रहे थे। प्रहार और प्रतिरक्षा दोनों का ही साधन पारिभाषिक शब्द थे। परन्तु यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रही और संयोजक महोदय ने इस तार्किक गत्यवरोध को भंग करने के लिए जैनेन्द्रजी से अपने विचार व्यक्त करने का अनुरोध किया। जैनेन्द्रजी से आरम्भ में भी आग्रह किया गया था, परंतु उस समय उन्होंने कहा था कि हमें कुछ कहना नहीं है। इस पर मुझे आश्चर्य भी हुआ था, क्योंकि मैंने रेडियो पर उनके कई वक्तव्य सुने थे जिनमें प्रत्युत्पन्न-मति का अच्छा निदर्शन था। इधर नगेन्द्र ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा था कि इस प्रकार के तात्कालिक परिसंवादों में जैनेन्द्रजी की प्रतिभा विशेष रूप से निखर उठती है। इस बार जैनेन्द्रजी सहज भाव से प्रस्तुत थे। मुझे लगा, जैसे वे आरम्भ के नहीं उपसंहार अथवा यों कहिये, वंदना के नहीं आशीर्वचन के अभ्यस्त हों। जैनेन्द्रजी ने धीरे-धीरे बीच के शब्दों को, प्रायः विभक्तियों को, खींचकर उच्चारण करते हुए बोलना शुरू किया : 'हमको तो तिवारीजी की बात ठीक लगती है, परंतु पारिभाषिक शब्द परेशानी पैदा कर देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि कहानी गतिमती होती है और रेखाचित्र स्थिर। कहानी में रेखाचित्र से एक पहलू अधिक होता है। यदि रेखाचित्र में एक पहलू होता है तो कहानी में दो; और अगर रेखाचित्र में दो मानिये तो कहानी में तीन। यानी, अगर रेखाचित्र में सिर्फ़ लम्बाई ही है तो कहानी में लम्बाई के अतिरिक्त चौड़ाई भी होती है; और अगर रेखाचित्र में लम्बाई और चौड़ाई होती है तो कहानी में मोटाई या गोलाई और माननी पड़ेगी। लेकिन यहां भी शब्दों की उलझन खड़ी हो गई। एक मिसाल देकर मैं अपनी बात और साफ़ कर दूं—सिनेमा में जैसे क्लोज़-अप होता है, यह तो रेखाचित्र हुआ, जबकि एक चेहरा बड़ा होते-होते सारे स्क्रीन को ढक लेता है, और बाकी फ़िल्म कहानी हुई।' जैनेन्द्रजी की बात अपने-आप में साफ़ थी; वास्तव में उनकी धारणाएं अपने-आप में पर्याप्त स्पष्ट थीं; और यदि कहीं कुछ उलझन रह भी जाती थी तो वह उनकी वाणी में आते-आते सुलझ जाती थी। प्रायः लोगों के विचार वाणी से आगे दौड़ते हैं, जिसके कारण उनके शब्द उलझ जाते हैं। कुछ के विचारों और शब्दों में उचित संतुलन होता है; परन्तु एक तीसरा वर्ग भी होता है जिसके विचार तो पैने होते ही हैं, उनकी वाणी उनसे भी ज़्यादा पैनी होती है जो विचारों में और चमक पैदा कर देती है। जैनेन्द्रजी में यही बात है। उनकी डायमेंशन वाली बात नगेन्द्र की ही बात का स्पष्टीकरण थी, परन्तु अपने-आप में वह नगेन्द्र के शब्दों से कहीं अधिक व्यंजक थी। फिर भी जैनेन्द्रजी को लगा कि जैसे उनकी बात का वांछित प्रभाव नहीं पड़ा। चारों ओर आँखें घुमाकर अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए बोले—'रेखाचित्र अपनी स्थिरता में कुछ गतिहीन हो जाता है, वह शेष से कटकर अपने आप में स्वतन्त्र हो जाता है, इसलिए उसमें रस और तीव्रता की कमी होती है। वह कुछ 'सैक्यूलर' होता है।' जैनेन्द्र जी जिस शब्द के लिए काफ़ी देर से भटक रहे थे वह मानो उन्हें मिल गया था और श्रोता को चौंका देने का उनका उद्देश्य मानो पूरा हो गया। इसलिए वे अनायास ही चुप होकर एक बार फिर इधर-उधर देखने लगे। 'सैक्यूलर' के इस विचित्र प्रयोग से मैं और मेरी तरह कुछ नये लोग वास्तव में चौंक गये; लेकिन अधिकांश लोगों ने उसे हँसकर टाल दिया, मानो वह कोई नई बात नहीं थी। सम्भव है ये लोग आचार्य विनोबा के वेदान्ती शब्द पर पहले ही चौंक लिए हों जिससे आज उसकी प्रतिध्वनि का वार खाली गया।

जैनेन्द्रजी की बात को लेकर एक और सदस्य श्री महावीर अधिकारी ने भी अपने विचार प्रकट किये। उनको क्लोज़-अप वाली बात अर्थात रेखाचित्र में एक व्यक्ति-चित्र-विषयक स्थापना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बहुत पसन्द आयी और उसी पर बल देते हुए उन्होंने कहा : 'रेखाचित्र जहां एक व्यक्ति की तसवीर सामने रखता है, वहां कहानी व्यक्ति को समाज के संसर्ग में अंकित करती है; अतएव कहानी में रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक सामाजिकता होती है।' मुझे ऐसा लगा कि अधिकारीजी सामाजिकता आदि शब्दों पर ज़ोर देकर बहस में कुछ प्रगतिशील रंग लाने की कोशिश कर रहे थे; पर विषय सर्वथा सैद्धान्तिक एवं पारिभाषिक था, इसलिए उन्हें कुछ गुंजाइश नहीं मिली।

बहस यहां आकर समाप्त हो गई और अन्त में नियमानुसार आरम्भिक वक्ता श्री दर से बहस का जवाब देने के लिए कहा गया। श्री दर अब भी अपनी बात पर जमे हुए थे; उन्होंने प्रायः सभी विरोधी युक्तियों को अपने पक्ष में प्रयुक्त करते हुए फिर अपनी स्थापना को दृढ़ किया। उन्होंने कहा कि कहानी में तथ्य-उद्घाटन, विश्लेषण आदि सभी हो सकते हैं और होते हैं; उसमें दो डायमेंशन भी होते हैं और तीन भी। इसी तरह एक व्यक्ति-चित्र का होना भी उसके क्षेत्र से बाहर की चीज़ नहीं है; चरित्र-प्रधान कहानियों में प्रायः एक व्यक्ति-चित्र पर ही फ़ोकस रहता है। रेखाचित्र को कहानी से अलग नाम और रूप देने की कोशिश बेकार है।

× × ×

घर जाकर सोचा कि देर करने से कदाचित् मन के चित्र इतने स्पष्ट न रहें, इसलिए खाना-वाना खाकर ही लिखने बैठ गया। सबसे पहले तो मिस्टर दर की स्थापना ही सामने आयी। इसमें संदेह नहीं कि आज कहानी की परिभाषा इतनी शिथिल हो गई है कि रेखाचित्र भी उसमें समा सकता है; फिर भी इन दोनों शब्दों का दो अर्थों में सप्रयोजन प्रयोग होता है, अतएव दोनों में अन्तर अवश्य है। रेखाचित्र में दो डायमेंशन होते हैं; एक लेखक और उसके एकात्मक विषय के बीच की सम्बन्ध-रेखा, और दूसरी इस सम्बद्ध रूप और पाठक के बीच की संयोजक रेखा। रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है; उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी में एक डायमेंशन और बढ़ जाता है; यह अतिरिक्त डायमेंशन विषय के अन्तर्गत होता है। कहानी का विषय एकात्मक नहीं रह सकता, उसमें द्वैत भाव होना चाहिए; अर्थात् एक व्यक्ति अपने में कहानी नहीं बन सकता। उसका अपने-आप में होना कहानी के लिए काफ़ी नहीं है; कहानी में उसे दूसरे या दूसरों की सापेक्षता में कुछ करना होगा। प्रेम करना होगा, वैर करना होगा, सेवा करनी होगी, कुछ करना होगा; अपने में सिमट कर रह जाना काफ़ी नहीं होगा, अपने से बाहर निकलना होगा। इस प्रकार कहानी का विषय एक बिन्दु न होकर दो या अनेक बिन्दुओं की संयोजक रेखा होती है। यही एक अतिरिक्त डायमेंशन है जो कहानी में बढ़ जाता है। इसी रूप में आप चाहें तो उसे रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक गत्यात्मक कह लीजिये। यद्यपि यह शब्द स्थिति को स्पष्ट न कर उसे उलझाता ही है; क्योंकि उपर्युक्त अर्थ की व्यंजना यह सीधी नहीं करता। इसीलिए पाठक को लगता है कि कहानी में रेखाचित्र की अपेक्षा रस अधिक होता है; क्योंकि द्वैत में निस्सन्देह ही अद्वैत की अपेक्षा अधिक रस है, और अंत में इसीलिए रेखाचित्र को पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे बात अधूरी रह गई। उसमें जिज्ञासा की उद्बुद्धि मात्र होकर रह जाती है, इसके विपरीत कहानी में उसकी परितृप्ति हो जाती है, क्योंकि जहां रेखाचित्र में 'मैं' और 'तू' रहते हैं—मैं अर्थात् मूलतः लेखक और परिणामतः पाठक और 'तू' अर्थात्, विषय—वहां कहानी में 'मैं', 'तू' और 'वह' का वृत्त पूरा हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र

[एक भूमिका [

भारतीय काव्यशास्त्र का आरम्भ

यों तो भाव-प्रेरित वाणी के प्रथम स्फुरण के साथ ही कविता का, और बुद्धि की प्रथम क्रिया के साथ ही शास्त्र का जन्म मानना चाहिए परन्तु हम यहां कविता और शास्त्र के जिस रूप की विवेचना कर रहे हैं उसका आविर्भाव मानव-सभ्यता की अत्यन्त विकसित अवस्था में और क्रमशः हुआ। भारतीय आस्तिकता को जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक सम्बन्ध अलौकिक शक्तियों से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी-न-किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उसके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में साहित्यशास्त्र की उत्पत्ति का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है। सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि वह तीनों लोकों में साहित्यशास्त्र के अध्ययन का विस्तार करे। निदान उसने सबसे पूर्व अपने मानस-जात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर इन ऋषियों ने शास्त्र को १७ अधिकरणों में विभक्त कर अपने-अपने विषयों पर स्वतन्त्र रीति-ग्रन्थ लिखे—

"कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीति-निर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमोयमकानि चित्रं चित्रांगदः, शब्द-श्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थ-श्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक-निरुपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकारिकं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारा—इति।" विद्वानों की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नहीं है—वैसे भी कुछ नाम तो स्पष्टतः संगति बैठाने को गढ़े गए मालूम पड़ते हैं। परन्तु कुछ नामों का उल्लेख अवश्य मिलता है—जैसे कामसूत्र में औपनिषदिक के व्याख्याता कुचुमार और साम्प्रयोगिक के व्याख्याता सुवर्णनाभ का उल्लेख है। रूपक या नाट्यशास्त्र पर भरत का ग्रन्थ तो किसी-न-किसी रूप में आज भी उपलब्ध है। नन्दिकेश्वर के नाम से कामशास्त्र, गीत, नृत्य और तन्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख तो मिलता है—परन्तु रस पर उनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वर्णन शास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने में हमारी कोई सहायता नहीं करता।

भारतीय वाङ्मय का सर्वप्रथम रूप जो आज प्राप्त है वह है वेद, और उसमें भी ऋग्वेद प्राचीनतम है। ऋग्वेद की ऋचाओं में काव्य का जो विस्तृत वैभव मिलता है, वह इस बात का स्वतः प्रमाण है कि इतिहास के उस युग में भारतीय चेतना काव्य की विभूतियों से पूर्णतः परिचित हो चुकी थी। इन छन्दों के काव्य-गुण का विश्लेषण स्पष्ट कर देता है कि उनके स्रष्टाओं में दिव्य-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भाव की प्रेरणा चाहे जितनी रही हो परन्तु वे वाणी की शक्ति और उसके शृंगार आदि का भी विशेष ज्ञान रखते थे—और उनके प्रति सचेत भी थे। उदाहरण के लिए—

हिरण्यकेशा रजसो विसारेहि धुनिवातर ध्रजीमान शुचि भ्राजा उषसो नवेदा···

—सुनहली अलकों वाला वह अन्धकार को दूर कर दिशाओं में फैल जाता है, अहि के समान वात-सा गतिशील और सबकी कम्पन का कारण वह आलोकशोभी ऊषा का ज्ञाता है।

सहस्रहण्यं वियतावस्य पक्षौ परेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।

—आकाश में उड़ता हुआ वह उज्ज्वल हंस अपनी सहस्रों वर्ष की दीर्घ-यात्रा तक पंख फैलाये रहता है।

रथी कशयाश्वां अभिक्षिपन्ना विर्दूतान् कृणुते वर्ष्यां अह।

—विद्युत्-कशाघात से बादल रूपी अश्वों को चलाते हुए रथी वीर के समान वर्षा के देव उपस्थित हो गए हैं।

उपर्युक्त ऋचाओं में उपमा, रूपक, श्लेष, समासोक्ति आदि का अपूर्व वैभव है—और वह घुणाक्षर न्याय से घटित नहीं है—स्पष्ट ही उसका स्रष्टा अपने वैदग्ध्य और वाक्शक्ति से अनभिज्ञ नहीं था।

यह तो हुआ काव्य का व्यवहारगत रूप, परन्तु इसके अतिरिक्त वेदों में कुछ ऐसे संकेत भी बिखरे मिल जाते हैं जिनका सम्बन्ध विवेचन से है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद की वे ऋचाएं ली जा सकती हैं जो वाक् को सम्बोधन करके लिखी गई हैं—

'अहं सुराष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।'

—अर्थात् मैं राज्ञी हूं—निधियों का संग्रह करने वाली यज्ञियों (पूज्यों) में प्रथम।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तुमग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।

—मैं स्वयं उस शब्द को उच्चारित करती हूं जो देवताओं और मनुष्यों को समान रूप से प्रिय है। जिस व्यक्ति से मैं प्रेम करती हूं, उसे मैं अत्यन्त पराक्रमी, मेधावी, ऋषि और ब्राह्मण बना देती हूं।

उपर्युक्त दोनों ऋचाओं में वाणी के महत्त्व का वर्णन है—और 'वाणी' से यहां तात्पर्य है कवि की वाणी (साधारण वाणी से भिन्न)। कवि की वाणी सर्वकाम्य है, उसके द्वारा वैभव की प्राप्ति होती है—मेधा और पराक्रम की प्राप्ति होती है—और उसका प्रयोक्ता ऋषि अर्थात् मन्त्रद्रष्टा तथा ब्रह्मवेत्ता के गौरव का अधिकारी होता है। काव्य के प्रयोजन का स्पष्ट उल्लेख है इन पंक्तियों में। यहां काव्यप्रकाश के 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये···' का संकेत ढूंढना क्लिष्ट कल्पना नहीं होगी। आप देखिये मम्मट का 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' वेद की ऋचाओं में कितना ठीक उतरा है।

इनके अतिरिक्त वेदों में नृत्य, गीत, छन्द का सम्यक् विवेचन पृथक् रूप से भी मिलता है। छन्द तो वेद के षडंगों में से एक स्वतंत्र अंग ही है—उधर 'उपमा' शब्द का भी प्रयोग वहां अनेक स्थलों पर हुआ है। वेदों के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थ आदि का विषय सर्वथा भिन्न है—अतएव उनमें इस प्रकार के विशेष संकेत नहीं हैं।

वैदिक काल के उपरान्त महाकाव्य-काल आता है और आदिकवि के प्रथम उद्गार की वह प्रसिद्ध कथा अपनी सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक सम्भावनाओं के साथ हमारे सम्मुख उपस्थित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होती है। वैसे तो रामायण के बालकाण्ड में नव रसों का स्पष्ट उल्लेख भी है[1]—पर उसको प्रायः आज प्रक्षिप्त ही माना जाता है। किन्तु प्रथम उच्चार की यह कथा काव्य की मूल प्रेरणा का अत्यन्त भव्य व्याख्यान है—

निशम्य रुदतीं क्रौंचीमिदं वचनमब्रवीत् ॥
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

उपर्युक्त काव्य-स्फुरण से स्वयं वाल्मीकि को आश्चर्य हुआ—परन्तु बाद में घटना का पर्यालोचन करने के उपरान्त वे इस निश्चय पर पहुंचे—

शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोकः भवतु नान्यथा।

अर्थात् मेरे शोकार्त मन का यह उच्चार कविता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। शताब्दियों पश्चात् आनन्दवर्द्धन और अन्य आचार्यों ने वाल्मीकि के इस वक्तव्य को रस और ध्वनि सिद्धान्त की प्रथम स्वीकृति घोषित किया। श्रीयुत शंकरन ने उपर्युक्त श्लोकों का तत्त्व-विश्लेषण करते हुए उसमें रस-सिद्धान्त का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है—"आहत क्रौंच का रक्तस्नात शरीर और क्रौंची का रुदन, जिसका कि ऋषि ने स्वयं साक्षात्कार किया था, प्रत्यक्ष अनुभव के क्षेत्र से आगे बढ़कर कल्पना के क्षेत्र में पहुंच गए—और वहां उन्होंने विभाव और अनुभाव रूप में उपस्थित होकर ऋषि के मन की करुणावृत्ति को जाग्रत कर उस चरम स्थिति तक पहुंचा दिया जिसमें कि उनकी वैयक्तिक चेतना सर्वथा लुप्त हो गई—केवल एक तीव्र करुणा-विगलित मानसिक एकाग्रता-मात्र शेष रह गई; जो अन्त में एक प्रकार के अनिर्वचनीय आनन्द अर्थात् रस में परिणत हो गई।"—शंकरन महोदय का यह मत संस्कृत रसशास्त्र से मेल नहीं खाता क्योंकि एक तो यहां प्रत्यक्ष स्थिति से ही रस का परिपाक सिद्ध होता है, जो शास्त्र को मान्य नहीं है—दूसरे, काव्य के सर्जन में ही कवि को रस-भोक्तृत्व प्राप्त हो जाता है जिसको शास्त्र ने कम-से-कम वैध रूप में स्वीकृत नहीं किया। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि इन पंक्तियों में वाल्मीकि की सूक्ष्म आलोचना-शक्ति का आभास तो मिलता ही है—साथ ही काव्यशास्त्र के निम्नलिखित कतिपय मूल सिद्धान्तों के संकेत भी स्पष्ट रूप से मिल जाते हैं :

१. काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है—
(सैद्धान्तिक शब्दावली में काव्य की आत्मा भाव या रस है।)
२. काव्य अपने मूल रूप में आत्माभिव्यक्ति है।
३. कवि रस-स्रष्टा होने से पूर्व रस-भोक्ता है।
४. भावोच्छ्वास और छन्द का मूलगत सम्बन्ध है।

महाकाव्यों के उपरान्त व्याकरण, दर्शन आदि का निर्माण हुआ। यद्यपि इन दोनों शास्त्रों का काव्यशास्त्र से सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर भी काव्यशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का आधार इनसे ही ग्रहण किया गया है।

भारत का व्याकरणशास्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही समृद्ध भी। उसे तो वास्तव में

---

१. पाठ्ये गेये च मधुरं च प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं, तन्त्री-लय-समन्वितम्।
रसैः शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतद् गायताम्।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भाषा का दर्शन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि ग्रन्थ हैं निरुक्त और निघण्टु। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ प्रकारों का विवरण दिया है—जैसे 'भूतोपमा', जिसमें उपमित उपमान बन जाता है; 'रूपोपमा,' जिसमें उपमित और उपमान का रूप-साम्य होता है; 'सिद्धोपमा', जिसमें उपमान सर्व-स्वीकृत और सिद्ध होता है; रूपक की समानार्थी 'लुप्तोपमा' या 'अर्थोपमा', जिसमें साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था और उसने 'उपमित', 'उपमान', 'सामान्य' आदि का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरान्त पातंजलि का महाभाष्य भी इन रूपों की सम्यक् व्याख्या करता है। वास्तव में व्याकरण-शास्त्र हमारे काव्यशास्त्र का मूलाधार है—वाणी के अलंकरण के जो सिद्धान्त काव्यशास्त्र में स्थिर किये गये, उन पर व्याकरण के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन जैसे आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में व्याकरण की स्थान-स्थान पर सहायता ली है। ध्वनि का प्रमुख सिद्धान्त भी मूलतः व्याकरण के 'स्फोट' से लिया गया है।

व्याकरण के उपरान्त काव्यशास्त्र का दूसरा आधार दर्शन भी है—काव्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से है—उदाहरण के लिए शब्द की तीन शक्तियों—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना का संकेत न्यायशास्त्र के शब्द-विवेचन में मिलता है—नैयायिकों के अनुसार अभिधार्थ से व्यक्ति, जाति और गुण तीनों का बोध हो जाता है। उन्होंने शब्दार्थ को गौण, भाव्य, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थों में विभक्त किया है। आगे शब्द-प्रमाण के सम्बन्ध से न्याय और मीमांसा दोनों में शब्द और वाक्य का वर्गीकरण और अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वास्तव में न्याय और मीमांसा के विवेचन को व्याख्यात्मक आलोचना का उद्गम समझना चाहिए। इसी प्रकार व्यंजना द्वारा अभिव्यक्ति का सिद्धान्त सांख्य के परिणामवाद से असंपृक्त नहीं है, जिसके अनुसार सृष्टि का आशय एक नवीन पदार्थ का उत्पादन नहीं, अभिव्यक्ति ही है। वास्तव में कार्य कारण में ही सन्निहित रहता है—वह सृजन नहीं है वरन् अभिव्यक्ति ही है। इससे भी स्पष्ट है कि वेदान्तिकों का मोक्ष-सिद्धान्त जिसके अनुसार आनन्द या मोक्ष बाहर से प्राप्त नहीं होता, वह तो आत्मा का ही शुद्ध-बुद्ध रूप है जो माया का आवरण हट जाने के बाद स्वतः आनन्दमय रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। परन्तु उपर्युक्त विवेचन बहुत-कुछ अनुमान पर आश्रित है—इससे काव्यशास्त्र की उत्पत्ति के कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाते।

निदान, काव्यशास्त्र का वास्तविक आरम्भ हमें दर्शन और व्याकरण के मूल ग्रन्थों के रचनाकाल के बहुत बाद का मालूम पड़ता है। डॉ० सुशीलकुमार डे, प्रो० काणे आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली पाँच शताब्दियों में ही उसका जन्म माना जा सकता है। शिला-लेखों की काव्यमयी प्रशस्तियां, अश्वघोष और भास के ग्रन्थ, बाद में, कालिदास का अलंकृत काव्य सभी इसकी ओर संकेत करते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र का मूल रूप तो स्पष्टतः ही इसी काल की अत्यन्त आरंभिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचनाकाल ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास स्थिर करते हैं। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन के नामों का उल्लेख किया है—उधर भामह ने मेधाविन्, और दण्डी ने कश्यप आदि का; परन्तु अभी तक इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, अतएव इनके विषय में चर्चा करना व्यर्थ है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरम्भ

पाश्चात्य साहित्य का प्राचीनतम रूप होमर का काव्य है। होमर का समय ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। उनका विभूतिमान काव्य न केवल अपने स्रष्टा की काव्य-प्रतिभा का ही, वरन् उसके युग के रुचि-संस्कार का भी परिचायक है। काव्य-प्रतिभा के अन्तर्गत भाव-वैभव के साथ आलोचन-शक्ति भी आती है। इलियड और ओडीसी की कविता का अभिव्यंजना-वैभव होमर की काव्यालोचन-शक्ति का असंदिग्ध प्रमाण है, परन्तु प्रत्यक्षतः कहीं भी उन्होंने सिद्धान्त-विवेचन प्रासंगिक रूप से भी नहीं किया। होमर के अध्येताओं ने केवल एक ऐसा स्थल खोज निकाला है जिसमें काव्यशास्त्र के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का पूर्व-संकेत मिल जाता है :

Bid hither [Says Alcinous] the divine ministrel Demodocus for the god hath given ministrelsy to him as to none other to make man glad in what way so ever his spirit stirs him to sing [Odyssey VIII, 4345 trans.]

—"हे डेमोडोकस, उस दिव्य-प्रतिभाशाली कवि को यहां बुलाओ, देव ने जैसी काव्य-शक्ति उसे दी है, वैसी दूसरे को नहीं दी—जिस रीति से भी उसकी आत्मा उसे गाने के लिए प्रेरित करती है, वह उसी रीति से मनुष्यों का मनःप्रसादन कर सकता है।"

उपर्युक्त पंक्तियों से निम्नलिखित मूल सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है :

१. कविता का उद्रेक दैवी प्रेरणा से होता है—अर्थात् कविता के लिए पहला अनिवार्य गुण है दैवी प्रतिभा, जिसे अन्यत्र 'शक्ति' आदि भी कहा गया है।

२. कविता का प्रयोजन आनन्द है, शिक्षण नहीं।

होमर के महाकाव्यों के उपरान्त यूनानी नाटकों का युग आता है। इस युग के आरम्भ से लेकर ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी तक अनेक हास्य-नाटकों की सृष्टि हुई। उनमें जीवन की प्रायः सभी वस्तुओं को हास्य का आलम्बन बनाया गया है। फिर साहित्य जैसा विषय, जिसमें रुचि-वैचित्र्य तथा मतभेद के साथ पारस्परिक स्पर्धा के लिए भी असीम क्षेत्र था, किस प्रकार अछूता रह जाता ? दुर्भाग्य से इस युग का अधिकांश साहित्य आज अप्राप्य है, परन्तु शीर्षकों आदि के उल्लेखों से, जो परवर्ती साहित्य में मिलते हैं, उनके वर्ण्य विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए उनके शीर्षक हैं—कविता, कवि, सैफ़ो, रिहर्सल इत्यादि। इनके वर्ण्य विषय और आलम्बन आदि का सीधा सम्बन्ध साहित्य से है—अतएव निश्चय ही उनमें तत्कालीन साहित्य और कला-रुचि का उपहास किया गया होगा। वास्तव में यूनानी राजनीति, आचार और साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में स्वभाव से पुरातन-प्रिय थे—उनमें नवीन आदर्शों और मूल्यों के प्रति एक विशेष उपहास और घृणा का भाव वर्तमान था। उसी के परिणामस्वरूप इन हास्य-नाटकों में भी नवीन भाव-धारा और अभिव्यंजना आदि का उपहास किया गया है। इस साहित्य में से केवल एरिस्टोफ़ेनीज़ के ग्यारह नाटक आज प्राप्त हैं—इनमें एक है 'फ़ाग्स' (मेंढक)। इस नाटक में यूनान के दो प्रसिद्ध नाटककार एस्काइलस और यूरिपाइडीज़ में एक विस्तृत साहित्यिक विवाद चलता है जिसमें वे एक-दूसरे के नाटकों की पहले राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से, और फिर कला और शैली आदि की दृष्टि से तीखी आलोचना करते हैं। काव्यशास्त्र की दृष्टि से यह आलोचना अपना विशेष महत्त्व रखती है—इसमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दोनों ही प्रकार की आलोचना के स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं। एस्काइलस महान् कथावस्तु और महान् शैली के सिद्धान्त का मानने वाला है—वह विषय और शैली की विशिष्टता का समर्थक है—एक विशेष धरातल से नीचे उतरकर साधारण नित्य-प्रति के जीवन का साधारण व्यावहारिक शैली में चित्रण करना, उसकी दृष्टि में, साहित्य की महत्ता को खण्डित करते हुए उसे सस्ता और घटिया बना देना है। विषय और शैली का सहज और अनिवार्य सम्बन्ध है--विषय और भाव की गुरुता से वाणी भी अनिवार्यतः गुरु-गंभीर हो जाती है :

When the subject is great and the sentiment, then, of necessity great grows the word.

इसके विपरीत यूरिपाइडीज़ प्राचीन काव्यादर्शों के प्रति विद्रोह करता हुआ विषय तथा भाषा दोनों की व्यावहारिकता और ताज़गी का पक्ष लेता है :

I put things on stage that come from daily life of business.

अर्थात् मैं अपने नाटकों में उन बातों का चित्रण करता हूं जिनका सीधा सम्बन्ध नित्य-प्रति के जीवन और कार्य-व्यवहार से है :

इसी तरह—

Oh ! Let us at least use the language of men !

—आह, हमें कम-से-कम मनुष्यों की भाषा तो बोलने दो।

उपर्युक्त उदाहरणों में, आप देखिए, काव्यशास्त्र का एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठाया गया है। काव्य के विषय और शैली साधारण होते हैं अथवा असाधारण और विशिष्ट ? वास्तव में यहां साहित्य के प्राचीन और आधुनिक मूल्यों का संघर्ष अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है, और नाटककार ने एस्काइलस के मुख से अत्यन्त सशक्त वाणी में जो अपना निर्णय दिया है वह आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद बना हुआ है। उसके दो भाग किए जा सकते हैं :

१. काव्य-वस्तु और काव्य-भाषा का अनिवार्य सम्बन्ध है।

२. काव्य की वस्तु और काव्य की भाषा अनिवार्यतः असाधारण ही होती है।

एरिस्टोफ़ेनीज़ की आलोचना का महत्त्व केवल वैयक्तिक ही नहीं वरन् सामाजिक भी है—उनके नाटकों से तत्कालीन समाज के साहित्यिक धरातल और आलोचनात्मक शक्ति पर भी प्रकाश पड़ता है। उस समय, जैसा कि कुछ शताब्दियों पश्चात् भारतीय समाज में भी हुआ, काव्य-रुचि और काव्य-ज्ञान एक प्रकार से सामाजिक व्यक्तित्व के अलंकार समझे जाते थे—गोष्ठी में सम्मान प्राप्त करने के लिए उनकी अनिवार्य आवश्यकता होती थी। दूसरे, उस समय एक लाक्षणिक अर्थवती आलोचनात्मक शब्दावली का प्रचार हो चला था—उदाहरण के लिए 'सृजनशील कवि', 'कार्य के चित्रण में अस्पष्ट' आदि-आदि। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें एक विचित्र लाक्षणिक नवीनता है—जैसी कि रोमानी आलोचना में बीसियों शताब्दी बाद जाकर मिली।

ऐरिस्टोफ़ेनीज़ के कुछ और सहयोगियों के नाटकों में भी इस प्रकार के संकेत मिलते हैं, परन्तु वे संख्या और महत्त्व दोनों की ही दृष्टियों से विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

इनके उपरान्त ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी में प्लेटो, अरस्तू आदि दार्शनिकों ने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तथा डायोनीसियस और लोंजाइनस जैसे आलंकारिकों ने इस प्रश्न को अत्यन्त गंभीरतापूर्वक ग्रहण कर लिया, और वहीं से पाश्चात्य काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध विकास आरम्भ हो गया।

दृष्टिकोण

भारतीय और पश्चिमी काव्यशास्त्रों में एक आधारभूत समानता यह मिलती है कि आरम्भ से ही इन दोनों का दृष्टिकोण ऐहिक रहा है। भारतवर्ष में जीवन के सभी क्षेत्रों पर अध्यात्म का इतना गहरा प्रभाव रहा है कि यह कल्पना सहज ही बँध जाती है कि वह काव्य जैसे गंभीर जीवन-तत्त्व का भी आध्यात्मिक व्याख्यान ही करेगा। परन्तु हम देखते हैं कि आरंभ से ही उसने काव्य को लोकोत्तर कहते हुए भी आध्यात्मिक नहीं माना है। पश्चिम में, बल्कि, आरम्भ में प्लेटो आध्यात्मिक आनन्द और काव्यानन्द के बीच का अन्तर स्पष्ट अनुभव नहीं कर पाया, और उसने दोनों के बीच में काफ़ी भ्रांति पैदा कर दी। परन्तु बाद में, वहां भी इस त्रुटि का शीघ्र ही संशोधन हो गया और निर्भ्रान्ति रूप से काव्य को अध्यात्म से पृथक् रखा गया।

आगे चलकर दोनों में एक विशेष अन्तर दिखाई देने लगा—वह यह कि पश्चिम में काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की जाने लगी; परन्तु इधर भारतीय दृष्टि ने कला और काव्य को सदैव पृथक् रखा। कला को हमारे यहां हीनतर विद्या माना गया—उसके सृजन में शिक्षा और उसके प्रयोजन में मनोरंजन का प्राधान्य रहा—इसके विपरीत काव्य के लिए दिव्य प्रेरणा और गंभीर परिष्कृत आनन्द को अनिवार्य माना गया। उधर पश्चिम में काव्य का अन्तर्भाव पंचकलाओं में किया गया।

लेकिन वहां कला का स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा माना गया है—उसके लिए मानसिकता अनिवार्य मानी गई है और उसी के आधार पर कलाओं का कोटि-क्रम स्थिर किया गया है। काव्य को वहां श्रेष्ठतम कला मानते हुए उसका स्तर अत्यन्त ऊंचा रखा गया है। इस प्रकार कला के अंतर्गत गणना करके विदेशी काव्यशास्त्र ने साहित्य के गौरव की कोई हानि नहीं की, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने अपने एक निबंध में संकेत किया है। वास्तव में भारत और पश्चिम के आचार्य ने कला का जो स्वरूप स्थिर किया उसमें ही अन्तर है। भारत ने जहां कला का संबंध स्थूल शिल्प-गुण और मनोरंजन से मानते हुए उसको हीन पद दिया, वहां पश्चिम ने मानसिकता को ही कला का मूल और अनिवार्य तत्त्व मानते हुए उसे अधिक गौरव दिया—उसने कला के दो वर्ग किए—ललित कला और उपयोगी कला। भारत में जिन क्रियाओं को कला माना गया

टिप्पणी—परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि काव्य में ऐन्द्रियता का स्वच्छन्द विहार शास्त्र-सम्मत था, उस पर किसी प्रकार का नैतिक नियन्त्रण नहीं था। नहीं, नीति और धर्म की मर्यादा का दोनों काव्य-शास्त्रों ने उचित सम्मान किया है—काव्य का आनन्द यदि अनीति और असंयम से प्राप्त होता है, तो उसकी निन्दा की गई है—यों कहना चाहिए कि काव्यानन्द का जो स्वरूप स्थिर किया गया है उसमें नैतिकता का भी अन्तर्भाव है। भारतीय काव्यशास्त्र में अनैतिक आनन्द को रसाभास कह कर दूषित माना गया है। परन्तु फिर भी एक बात जो विशेषतः मन को प्रभावित करती है वह यह है कि नैतिकता या धर्म को कहीं भी काव्य-गुण की कसौटी नहीं बनने दिया और न किसी अन्य रूप में ही उसे उसके ऊपर हावी होने दिया है। उसका प्राण तो आनन्द ही है, नैतिकता इसी का आनुषंगिक तत्त्वमात्र है। इस मुख्य सिद्धान्त को लेकर समय-समय पर वाद-विवाद हुआ है—फिर भी इसका महत्त्व अक्षुण्ण ही बना रहा। काव्य में नैतिकता कभी आनन्द को स्थानान्तरित नहीं कर सकी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है उन्हें यूरोप में उपयोगी कलाओं के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। कहने का तात्पर्य है कि दोनों काव्यशास्त्रों के दृष्टिकोण का यह अन्तर सतह का ही है—मूलगत नहीं है। दोनों ने समान रूप से काव्य की मूल आत्मा और उसके स्तर को अत्यन्त उच्च और असाधारण माना है—जो कुछ अन्तर है, वह वास्तव में कला की परिभाषा और धरातल में ही है।

क्षेत्र-विस्तार

काव्यशास्त्र के दो भाग हैं—एक काव्य-दर्शन, दूसरा काव्य-रीति। काव्य-दर्शन के अन्तर्गत काव्य का स्वरूप, काव्य का प्रयोजन, काव्य की अनुभूति, रस का स्वरूप, काव्य की मूल प्रेरणा, काव्य के स्रष्टा की मनःस्थिति एवं सृजन-प्रक्रिया, भोक्ता (सहृदय) की मनःस्थिति एवं भोग-प्रक्रिया, रस की स्थिति, काव्य के मूल तत्त्व आदि आधारभूत प्रश्न आते हैं, और काव्य-रीति के अन्तर्गत शैली के तत्त्व, प्रकार—भाषा, अलंकार, छन्द आदि का विवेचन आता है। यूरोप में सबसे पहले प्लेटो और अरस्तू सदृश दार्शनिकों ने ही जीवन के अन्य शास्त्रों तथा विद्याओं के साथ-साथ काव्यशास्त्र को भी गंभीरतापूर्वक ग्रहण किया। प्लेटो ने मुख्यतया काव्य के प्रयोजन अर्थात् नैतिक प्रभाव को अपने विवेचन का विषय बनाते हुए उसके स्वरूप के विषय में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का निर्देश किया। उन्होंने काव्य की अनुभूति को ऐन्द्रिय मानते हुए उसे समाज के लिए हानिकारक बताया—जिसका उत्तर शताब्दियों बाद प्लोटीनस ने दिया। प्लेटो ने सत्य को काव्य की कसौटी माना और तत्कालीन नाटकों तथा अन्य साहित्य को सत्य की अनुकृति कहकर हेय घोषित किया। इस प्रकार प्लेटो ने काव्य का प्रयोजन, काव्यानुभूति का स्वरूप, काव्य का मूल-तत्त्व आदि काव्य-दर्शन के अनेक प्रश्नों पर विचार किया। प्लेटो के उपरान्त अरस्तू ने भी अपने गुरु के आक्षेपों का उत्तर देते हुए उपर्युक्त समस्याओं का विस्तृत तथा गहन विवेचन किया है। उन्होंने प्लेटो के अनुकृति शब्द को ग्रहण करते हुए उसके वास्तविक अर्थ की व्याख्या की है और अंत में उसे ही काव्य का मूल रूप माना है। इसके अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उन्होंने उठाया है: वह यह कि दुःखान्त नाटक द्वारा आनन्द की उपलब्धि किस प्रकार होती है? इसी के उत्तर में उन्होंने अपने प्रसिद्ध[1] विरेचन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने काव्यशास्त्र के दूसरे अंग काव्य-रीति का भी समुचित विवेचन किया है—अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोयटिक्स' में उन्होंने विशेषकर दुःखान्त नाटक और सामान्यतः महाकाव्य आदि के अंगांग—वस्तु, पात्र, भाव (रस) तथा शैली आदि का विस्तार-व्याख्यान किया है; और उधर अलंकारशास्त्र पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा है। दार्शनिकों के इस तात्त्विक विवेचन के उपरान्त अलंकारशास्त्रियों के अनेक ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची मिलती है। इन अलंकार-ग्रन्थों में भाषा और भाषण को प्रभावशाली बनाने और सजाने वाली विभिन्न रीतियों का विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन किया गया है। इनके प्रतिपाद्य के अन्तर्गत अलंकार, शैली के तत्त्व, शैली के प्रकार, शब्द-चयन, वाक्य-संगठन, लय, छन्द आदि का विवेचन-विश्लेषण है। शैली का वर्णन करते हुए डेमेट्रियस ने उसके चार भेद किये हैं—ऐलीगेण्ट (सुन्दर), प्लेन (स्पष्ट), फ़ोर्सिबिल (ओजस्वी) और ऐलीवेटेड (उदात्त)। ये भेद बहुत कुछ अपने काव्यशास्त्र के माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों से मिलते-जुलते हैं। लोंजाइनस ने 'उदात्त' पर एक पृथक् निबन्ध ही लिखा है। पश्चिम के इतिहासकार उसे पहला रोमानी

१. Catharsis

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आलोचक मानते हैं। ग्रीक के बाद लेटिन और फ्रेंच में काव्य-रीति का विस्तृत विवेचन हुआ। परन्तु इन आचार्यों ने कोई नवीन मौलिक उद्भावनाएं नहीं कीं—इनके विवेचन की सरणियां वे ही रहीं।

भारतीय काव्यशास्त्र की परिधि और भी विस्तृत है। काव्य-दर्शन के अन्तर्गत हमारे आचार्यों ने मुख्यत: काव्य का स्वरूप और परिभाषा, काव्य की आत्मा, काव्य के अंग, प्रयोजन, हेतु, काव्य की अनुभूति (रस) का स्वरूप, रस के कारण (विभाव), कार्य (अनुभाव), स्थायी और संचारी भाव, रस की स्थिति आदि मूलभूत तथ्यों का गम्भीर विवेचन किया है। अनेक आचार्यों ने मीमांसा, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों की भी सहायता लेकर रस-भोक्ता (सहृदय) के मन का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है। काव्य-रीति के क्षेत्र में तो मेरी धारणा है कि उन्होंने कुछ भी नहीं छोड़ा। वस्तु, पात्र के अनेकश: भेद, शैली के अनेक प्रकार, गुण, दोष, शब्द-शक्तियां, अलंकारों के अगणित रूप, छन्दों के शत-शत प्रस्तार पूरे विस्तार के साथ दिए हुए हैं। जहां तक विस्तार का सम्बन्ध है, भारतीय आचार्य अपराजेय है—यूरोप का अलंकार-शास्त्र भारत के अलंकारशास्त्र की तुलना में अत्यन्त निर्धन है।

पश्चिमीय और भारतीय काव्यशास्त्रों के प्रतिपाद्यों में विचित्र समताएं और विषमताएं मिलती हैं।

समता

पश्चिम में काव्य के तीन तत्त्व माने गए हैं—वस्तु (मैटर), शैली (मैनर) और आनन्द देने की शक्ति (कैपेसिटी टू प्लीज़)। बाद में आनन्द की व्याख्या की गई और एडीसन का संकेत ग्रहण करते हुए आनन्द का अर्थ हुआ : कल्पना का आनन्द। इस बात को दूसरे प्रकार से भी कुछ व्याख्याताओं ने लिखा है—उन्होंने वस्तु का भी विश्लेषण कर डाला—वस्तु = भाव और विचार; और इस प्रकार काव्य के तत्त्व हुए भाव, विचार, कल्पना और शैली, अर्थात् राग-तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और शैली। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-तत्त्वों के प्रसंग में आचार्यों ने एक रूपक बांधा है—जिसके अनुसार रस (या ध्वनि) काव्य-पुरुष की आत्मा है, शब्दार्थ शरीर है, माधुर्य आदि गुण अन्तरंग गुण हैं, वैदर्भी आदि रीति अंग-संस्थान हैं, और उपमादि अलंकार आभूषण हैं। यहां रीति और अलंकार शैली के अंग हैं—अतएव उनके स्थान पर शैली शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। गुण की स्थिति थोड़ी-सी विचित्र है—तत्त्व-रूप में तो उसे आत्मा अर्थात् रस की विशेषता माना गया है—परन्तु व्यवहार रूप में शैली के प्रमुख अंग के रूप में ही उसका प्रयोग हुआ है। अर्थ से तात्पर्य वस्तु (मैटर) का ही है। रस पर्याय है आनन्द का, यह आनन्द लौकिक या ऐन्द्रिय नहीं है, कल्पना का ही आनन्द है। इसी बात पर ज़ोर देने के लिए आचार्यों ने रस की अपेक्षा ध्वनि को अधिक महत्त्व दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के तत्त्व दोनों शास्त्रों में लगभग एक ही हैं—जिसे यूरोप के आचार्यों ने वस्तु कहा है—हमारे यहां भी अर्थ, वस्तु आदि अनेक नामों से उसका वर्णन है, और जिसे वहां शैली या रीति कहा है, वह यहां भी 'रीति' आदि के रूप में स्वीकृत है। आनन्द देने की शक्ति, और स्पष्ट शब्दों में—कल्पना को आनन्द देने की शक्ति बिलकुल वही चीज है जो हमारा रस या रस-ध्वनि है—और जिस तरह हमारे यहां उसे काव्य की आत्मा माना गया है, उसी तरह वहां भी उसे प्रमुख तत्त्व माना गया है। इसमें संदेह नहीं कि कल्पना शब्द

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का प्रयोग हमारे यहां कहीं भी नहीं हुआ; परन्तु इससे उसके विषय में अनभिज्ञता प्रकट नहीं होती। विभाव, अनुभाव और संचारी आदि की सृष्टि और फिर उनका संयोग, जिससे कि रसनिष्पत्ति होती है, कल्पना की ही क्रियाएं हैं। परन्तु कल्पना शब्द का प्रयोग न कर यहां भावन शब्द का प्रयोग किया गया है।

शैली और उसके तत्त्वों तथा भेदों में भी दोनों शास्त्रों में यथेष्ट समानता मिलती है। इसका कारण यह है कि शैली के पीछे मनोविज्ञान का दृढ़ आधार रहता है, और मनोविज्ञान देश-काल के बन्धनों को एक सीमा तक ही स्वीकार करता है। शैली के तत्त्वों में गुण, दोष और अलंकार आते हैं—गुण उसके नित्य तत्त्व हैं और अलंकार अनित्य तत्त्व। शैली की मूल प्रेरणा है अपने वक्तव्य को प्रभावशाली बनाने की भावना—उसके लिए वक्ता जिन विधियों का प्रयोग करता है वे ही यूरोप तथा हमारे देश के रीतिशास्त्र में भिन्न नामों से पुकारी गई हैं। नामों में भिन्नता चाहे कितनी हो, परन्तु कम-से-कम प्रमुख विधियों की कल्पना दोनों शास्त्रों में एक ही प्रकार से की गई है। उदाहरण के लिए भारत के माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि यूरोप के ऐलीगेण्ट, फ़ोर्सिबिल, और प्लेन हैं। यद्यपि संख्या-विस्तार की दृष्टि से भारतीय अलंकार यूरोपीय अलंकारों से कई गुने हैं, परन्तु मूल अलंकार एक प्रकार से समान ही हैं: हमारे उपमा, रूपक, अत्युक्ति, विरोधाभास, वक्रता-मूलक अलंकार श्लेष, यमक आदि पश्चिम के सिमिली, मैटाफ़र, हाइपरबोल, ऑक्सीमारन, इनुएन्डो आदि के ही समानार्थक एवं समानधर्मी हैं। इसी प्रकार मूल दोष भी नाम-भेद से प्राय: एक ही हैं। शैली के तत्त्वों में शब्द भी आते हैं। यूरोप के साहित्यशास्त्र में शब्द-चयन पर बड़ा बल दिया गया है। वहां के अनेक प्रसिद्ध कलाकारों ने शब्द-चयन के लिए अत्यन्त कठोर तपस्या की है। शब्द के प्रचलित अर्थ—लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि की भी उनको सूक्ष्म परख थी—परन्तु फिर भी शब्द-शक्ति का जैसा विवेचन हमारे यहां हुआ है वैसा विदेश में नहीं हुआ। संस्कृत आचार्यों का अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्य का व्याख्यान अद्भुत है। यूरोप के काव्यशास्त्र में वास्तव में यह हुआ है कि इनका अलग अस्तित्व न मानकर इन पर आश्रित अलंकारों की पृथक् उद्भावना की गई है। मेटोनिमी, सिनक्डकी, ट्रान्सफ़र्ड ऐपीथेट (विशेषण-विपर्यय), परसोनीफ़िकेशन (मानवीकरण) इनुएन्डो (व्यंग्योक्ति), यूफ़्यूमिज़्म आदि अलंकार लक्षणा और व्यंजना के ही उद्भव हैं।

अन्तर

उपर्युक्त समानताओं के साथ-साथ इन दोनों काव्यशास्त्रों में दृष्टिकोण का एक गम्भीर आधारभूत अन्तर है जो इस विशाल अन्तराल के लिए उत्तरदायी है। भारतीय काव्यशास्त्र में जहां रसभोक्ता सहृदय के मन का विश्लेषण है—और उसी को दृष्टि में रखते हुए काव्य की मूलभूत समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है, वहां पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रस-स्रष्टा साहित्यकार की मानसिक प्रक्रिया का परीक्षण किया गया है और काव्य के प्राय: सभी तात्त्विक प्रश्नों को उसी के सम्बन्ध से हल करने की चेष्टा की गई है। दोनों की काव्य-परिभाषाएं इसका रोचक प्रमाण हैं। यूरोप में काव्य को जहां जीवन की (१) अनुकृति, (२) आलोचना, (३) भाव-स्मरण[1] आदि कहा गया है, वहां कहने वाले की दृष्टि कवि पर ही केन्द्रित रही है—इसके विपरीत हमारे यहां जब उसे रसात्मक वाक्य, रमणीयार्थ प्रति-

१. (१) अरस्तू, (२) आर्नल्ड, (३) वर्ड्सवर्थ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पादक आदि कहा गया है, तब कहने वाले का ध्यान सहृदय की ओर ही रहा है, जैसा कि मम्मट की काव्य-परिभाषा[1] से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। काव्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण अव्यक्तिगत रहा है। कवि के विषय में यहां शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीन गुणों के अतिरिक्त और किसी बात की विशेष चर्चा ही नहीं है। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य या साहित्य का वैयक्तिक रूप ही सामने रहा है—वहां कृति की आलोचना करते हुए कर्त्ता को नहीं भुलाया गया। इसलिए वहां आरम्भ से ही व्यावहारिक आलोचना का प्राचुर्य रहा है, जब कि भारत में अभी कुछ वर्ष पहले तक उसका एक प्रकार से अभाव ही था। हमारे प्राचीन काव्यशास्त्र में रोमानी व्यक्तिवादी आलोचना का सर्वथा अभाव है—शैली, रस, सभी काव्य-तत्त्वों का विवेचन इस प्रकार किया गया है जैसे उनकी सृष्टि में कवि के व्यक्तित्व का कोई भी हाथ न हो, वे केवल यांत्रिक सृष्टियां-मात्र हों। इसी मुख्य भेद के कारण भारतीय काव्यशास्त्र काव्य के अंगांग के भेद-प्रभेदों में फँसा रहा, उधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र अपनी परिधि व्यक्तित्व के सहारे मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, इतिहास आदि तक विस्तृत करता गया।

समन्वय

अन्त में इसी प्रमुख अन्तर के आधार पर भारत और यूरोप के काव्यशास्त्रों का समन्वय किया जा सकता है। वास्तव में ये दोनों ही अपनी-अपनी दिशा में अत्यन्त विकसित और समृद्ध हैं—भारतीय काव्यशास्त्र में (सहृदय की) काव्यानुभूति का जितना सूक्ष्म और सटीक विवेचन है, उसको देखकर चकित रह जाना पड़ता है। पश्चिम के आचार्यों ने सहानुभूति और साधारणीकरण आदि जिन मूलगत सिद्धान्तों की चर्चा अब की है, उनका अत्यन्त पूर्ण विवेचन हमारे यहां सातवीं-आठवीं शताब्दियों में हो चुका था। उधर कवि के मानस का और उसके निर्माण में सहायक होने वाले विभिन्न प्रभावों—जैसे समाजशास्त्र, इतिहास दर्शन, मनोविज्ञान आदि का जो व्याख्यान पश्चिम में हुआ है वह अत्यन्त विस्तृत और रोचक है। इस प्रकार ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर सहायक या पूरक हैं। इनके तुलनात्मक अध्ययन की सबसे बड़ी उपयोगिता यह हो सकती है कि इनका समन्वय करके एक पूर्णतर काव्यशास्त्र का निर्माण किया जाय, जिसमें स्रष्टा और भोक्ता के पक्षों का व्यापक विवेचन हो।

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में

'आधुनिक' शब्द का सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयोग होता है। एक अर्थ केवल समय-सापेक्ष है जिसके अनुसार 'आधुनिक' एक विशेष कालावधि का द्योतक है। भारतीय इतिहास में आधुनिक युग का आरम्भ एक प्रकार से अठारहवीं शती के उत्तरार्ध से माना जाता है जबकि देश के दक्षिण-पश्चिमी और पूर्वी प्रदेशों में ब्रिटिश शासन स्थापित हो गया था—यद्यपि आधुनिक भारत की रूपरेखा वस्तुतः १८५७ ई० के बाद स्फुटित हुई। यूरोप के इतिहास में आधुनिक युग का आरम्भ मूलतः पन्द्रहवीं शती से—पुनर्जागरण के साथ-साथ हो गया था, परन्तु उसका भी रूप वास्तव में सत्रहवीं शती में विज्ञान के विकास के साथ ही स्पष्ट हुआ।

इस कालवाचक अर्थ का एक दूसरा रूप भी है। जैसा कि शब्दार्थ से स्पष्ट है, आधुनिकता का संबंध वर्तमान से है और चूंकि वर्तमान की धारणा समय-सापेक्ष है, अतः आधुनिकता का यह रूप प्रत्येक युग में बदलता रहता है। सामान्य शब्दावली में 'आधुनिक' यहां 'अतीत से भिन्न' या 'नये' का वाचक होता है। इस अर्थ में 'आधुनिक' हमारे अपने वर्तमान युग से संबद्ध नहीं रह जाता; प्राचीन इतिहास-युगों के भी अपने-अपने आधुनिक चरण रहे होंगे जो आज प्राचीन बन गए हैं—बौद्धकाल आज प्राचीन है, परन्तु अपने युग में वह निश्चय ही आधुनिक था। स्वीकृत अर्थ में इतिहास का जो आधुनिक युग है, वह भी आधुनिकता के अनेक चरणों में होकर गुज़र चुका है। अठारहवीं शती की आधुनिकता तो पुरानी हो ही गई है, उन्नीसवीं शती का उल्लेख प्रायः आधुनिक के विपर्यायरूप में किया जाता है और बीसवीं शती के आरम्भ के आन्दोलन भी आज प्रतिक्रियावादी प्रतीत होते हैं।

दूसरा अर्थ विचारपरक है जिसके अनुसार 'आधुनिक' एक विशिष्ट दृष्टिकोण—मध्ययुगीन विचार-पद्धति से भिन्न, एक नये जीवन-दर्शन का वाचक है, यद्यपि पहला अर्थात् ऐतिहासिक अर्थ भी उसमें गर्भित है। वस्तुतः आधुनिकता की धारणा का मूल आधार ऐतिहासिक चेतना ही है : आधुनिक दृष्टि मध्ययुगीन और प्राचीन की अपेक्षा इसलिए भिन्न है कि इसमें इतिहास-बोध की प्रधानता है; अर्थात् यह अपने पर्यावरण के प्रति निश्चय ही सजग है। मध्ययुग और पुराकाल में भी जीवन-दृष्टि अनिवार्यतः ही अपने परिवेश से प्रभावित थी, परन्तु वह उसके प्रति कदाचित् इतनी प्रबुद्ध नहीं थी : इतिहास की चेतना का विकास उस समय नहीं हुआ था। विचारपरक या दृष्टिपरक अर्थ में आधुनिकता एक मिश्र धारणा है जिसका निर्माण अनेक तत्त्वों से हुआ है। इनमें प्रथम और आधारभूत तत्त्व है अपने देश-काल के साथ जीवन्त एवं सचेतन संबंध। पूर्ववर्ती युगों का जीवन प्रवृत्ति का जीवन था जिसमें देश-काल जीवन के अन्तर्गत रमा हुआ था, पर मनुष्य को उसकी पृथक् चेतना नहीं थी—प्रवृत्ति के प्राधान्य के कारण उसकी कदाचित आवश्यकता नहीं होती थी, जैसे हमारे व्यक्तित्व में प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के तत्त्व रमे रहते हैं पर हम उनके अस्तित्व के प्रति सजग नहीं हैं। 'आधुनिक' मनुष्य का जन्म उस समय हुआ जब वह अपने देश-काल के प्रति, अपने युग और इतिहास के प्रति, प्रबुद्ध हुआ। इस प्रबुद्धता के परिणामस्वरूप आधुनिक जीवन-दृष्टि में सामाजिक चेतना और आरम्भिक चरण में राष्ट्रीय चेतना का भी स्वतः ही समावेश हो गया था। कल्पना और आदर्श का आकर्षण कम हो गया था—जीवन-दृष्टि व्यावहारिक एवं यथार्थपरक हो रही थी। भावुकता के स्थान पर विवेक का नियंत्रण बढ़ चला था और विज्ञान के वर्धमान प्रभाव के कारण सामान्य दृष्टिकोण क्रमशः बौद्धिक (वैज्ञानिक) होता जा रहा था। इस प्रकार विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिकता का दूसरा प्रमुख तत्त्व है। आधुनिक दृष्टि में नवीन के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है; वस्तुतः काफ़ी हद तक आधुनिक और नवीन में पर्याय-संबंध भी है। जैसी स्थिति है वही ठीक है या वैसी ही बनी रहे: एतादृशत्व की इस भावना के विरोध में आधुनिक चेतना का विकास होता है। परम्परा का विरोध इसमें नहीं है, परन्तु परम्परा को स्थिर तथ्य मानकर यह नहीं चलती।—आधुनिक दृष्टि परम्परा को प्रवाह के रूप में स्वीकार करती है जो निरन्तर अग्रसर रहता है और जिसमें परिवर्तन अनिवार्य है: जीर्ण पुरातन का त्याग, संशोधन तथा पुनर्मूल्यांकन की पद्धति से नव-नव रूपों के विकास की आकांक्षा, वैचित्र्य और नवीनता के प्रति आकर्षण आधुनिकता के सहज अंग हैं। अतः रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और नवजीवन के विकास के लिए प्रयोग के प्रति आग्रह यहां अनिवार्य है।

यह 'आधुनिक' का पारिभाषिक अर्थ है जो समय से परिबद्ध नहीं है। इस अर्थ में 'आधुनिक' एक विशिष्ट धारणा का—उपर्युक्त विशेषताओं की संहति का वाचक है। उस पर समय के क्रम का नियंत्रण नहीं है। उदाहरण के लिए मध्ययुग के रोमी दार्शनिकों की अपेक्षा अरस्तू अधिक आधुनिक हैं; शंकराचार्य की अपेक्षा बुद्ध का जीवन-दर्शन अधिक आधुनिक है; हिन्दी में सूरदास की अपेक्षा कबीर अधिक आधुनिक हैं। यह अर्थ वर्तमान से असम्बद्ध नहीं है, परन्तु वर्तमान से एकदम बँधा हुआ भी यह नहीं है। वर्तमान में जीवित प्रत्येक विचारक या कलाकार आधुनिक नहीं होता—आधुनिक युग के रत्नाकर की दृष्टि आधुनिक नहीं थी, आज के उपन्यासकार गुरुदत्त की विचारधारा और कला आधुनिक नहीं है। इस प्रकार प्रत्ययात्मक अर्थ में 'आधुनिक' समसामयिक से भिन्न एवं विशिष्ट बन जाता है।

किन्तु आज के सीमित संदर्भ में 'आधुनिक' का एक संकुचित अर्थ भी उभरकर सामने आया है। इस संदर्भ में आधुनिकता का अर्थ है वर्तमान का युगबोध; यहां दृष्टि वर्तमान पर ही केन्द्रित रहती है। आज की स्थिति का यथार्थ परिज्ञान ही आधुनिकता का आधार है। आज के जीवन का सबसे अधिक प्रभावी सत्य है—दूसरे महायुद्ध की विभीषिकाओं के संदर्भ में विज्ञान का विकास, जो अभूतपूर्व वेग से हो रहा है। इसके कुछ परिणाम स्पष्ट हैं: प्रादेशिक सीमाएं प्रायः टूट गई हैं—देश और काल की बाधाओं का काठिन्य गलने लगा है। शक्ति का संघर्ष अत्यन्त भयंकर हो गया है—दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के प्रतिनिधि राष्ट्र आज इतनी अधिक विनाशकारी सामग्री से सम्पन्न हैं कि सन्तुलन भंग हो जाने से किसी भी क्षण मानव-सृष्टि का पूर्ण संहार हो सकता है। उधर अन्तरिक्ष-विजय की बढ़ती हुई संभावनाओं के कारण जीवन की परिधि का अनन्त विस्तार हो रहा है और मानव प्राणी के स्वयंसिद्ध गौरव के प्रति सन्देह के कारण बढ़ते जा रहे हैं। जैविक धरातल पर जीव-विज्ञान की उद्भावनाओं के फलस्वरूप और चेतना या अन्तश्चेतना के क्षेत्र में मनोविश्लेषणशास्त्र के शोधपरिणामों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के प्रभाव से अन्तर्जीवन अर्थात् अनुभूत्यात्मक जीवन का स्वरूप ही बदल गया है : चेतना-प्रवाह के नैरन्तर्य की सिद्धि के साथ-साथ भावनात्मक और वैचारिक प्रत्यय बिखरने लगे हैं। इसका एक परिणाम हुआ है तर्कशास्त्र का खण्डन और दूसरा परिणाम है रागात्मक अनुभवों की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध। आदर्श टूटने लगे हैं और मूल्यों के ह्रास की धारणा बल पकड़ने लगी है। यह विश्वास उभरने लगा है कि जीवन के अखण्ड प्रवाह में अतीत तो सर्वथा विलीन हो चुका है और अनागत अभी अदृष्ट है; सत्य यदि है तो वह है वर्तमान क्षण का अनुभव। मनुष्य क्षण में ही जीता है क्योंकि उसका अनुभव क्षण में ही निबद्ध है। अनुभव ही जीवन का एकमात्र सत्य है: और अनुभव का न भूत होता है, न भविष्यत्—उसका तो केवल वर्तमान ही होता है। इस प्रकार क्षणवाद की नये रूप में स्थापना हो रही है। आस्तिक और धार्मिक किर्कगार्द ने आस्था के माध्यम से और नास्तिक सार्त्र ने अनास्था के माध्यम से क्षण-केन्द्रित जीवन के आधार पर अपने-अपने ढंग से अस्तित्ववाद की स्थापना की है। मानव-अस्तित्व ही एकमात्र सत्य है, लेकिन अपने सहज रूप में यह अस्तित्व एक 'शाश्वत संकट' है—अस्तित्व और उसके रहस्य का अनुभव 'चिरंतन भार' के रूप में मनुष्य को होता है। अतः आज का मनुष्य अनवरत चिन्ता-ग्रस्त है और अनवरत चिन्ता की यह मनःस्थिति आधुनिकता का एक अत्यन्त स्पष्ट लक्षण है। जीवन की चेतना आज स्पष्टतः ही अत्यन्त जटिल बन गई है—परम्परागत जीवन-दर्शन में स्वीकृत राग एवं विचार के पृथक्-पृथक् सूत्रों का अस्तित्व खण्डित और विवेक तथा इच्छा के अनुसार उनका ताना-बाना बुनने का वांछित सुयोग नष्ट हो जाने के कारण जीवन के रंग उड़ गए हैं और रस सूख गए हैं।—शेष रह गई है जटिल और शुष्क अनुभूति या अनुभूतियों का जाल। इसीलिए आज के जीवन की चेतना एकदम उलझी हुई, रूखी और कठिन है। जीवन का सौन्दर्य, यदि हम इस रूढ़ शब्द का प्रयोग करना ही चाहें, इसी रूखेपन, जटिलता और काठिन्य या उसके बोध में निहित है। सामाजिक धरातल पर इसका प्रभाव यह हुआ है कि सम्बन्ध टूटने लगे हैं, मनुष्य अपने को संदर्भ से कटा हुआ महसूस करने लगा है और समाज में उसकी अपनी सार्थकता का विश्वास प्रायः नष्ट हो चुका है। उसे लगता है जैसे वह एकांत निर्वासित प्राणी है—समाज के साथ उसके संपर्क-सूत्र छिन्न-भिन्न हो गए हैं और संप्रेषण के साधन प्रायः रीत चुके हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों के विघटन के फल-स्वरूप आधुनिक युग के प्रतिनिधि जिस जीवन-दर्शन का विकास हुआ है उसको अन्तर्मुख चिन्तकों ने 'अस्तित्ववाद' और बहिर्मुख विचारकों ने 'निराशावादी वैज्ञानिक मानववाद' कहा है। सामान्य रूप से इस जीवन-दर्शन को ही आधुनिकता के सूत्रबद्ध लक्षण के रूप में स्वीकार किया जा रहा है।

पश्चिम के नये विचारक और उनसे प्रभावित हमारे यहां के भी नवचिन्तक आधुनिकता की इसी प्रकार व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार आज की आधुनिकता का यही रूप है—अथवा यों कहें कि आज के संदर्भ में आधुनिकता का सही अर्थ यही या प्रायः इसी प्रकार का है।

प्रस्तुत प्रसंग में दो-तीन प्रश्न अनायास ही हमारे मन में उठते हैं। क्या आधुनिकता का यही एकमात्र रूप है—जिसमें सर्वत्र अँधेरा और अवसाद है? क्या आज के सभी प्रबुद्ध विचारक आधुनिक युग-बोध की इसी प्रकार की निराशामयी व्याख्या करते हैं? यदि यही परिभाषा ठीक है तो आधुनिकता कहां तक काम्य है? क्या आधुनिकता को अपने-आप में 'मूल्य' माना जा सकता है? आदि-आदि।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आधुनिकता के सही अर्थ-बोध के लिए इन पर क्रमशः विचार कर लेना उपयोगी होगा।

क्या आधुनिकता का यही एकमात्र रूप है ? इसका उत्तर देने से पूर्व एक और प्रश्न सामने आता है और वह यह कि आधुनिकता के प्रेरक एवं निर्णायक तत्त्व क्या हैं ? इस दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि आधुनिक या किसी भी युग के स्वरूप का निर्माण वस्तुतः उस युग की ऐसी घटनाओं के द्वारा होता है जिनका प्रभाव अधिकाधिक गहरा और व्यापक होता है। वर्तमान युग की प्रमुख प्रेरक घटनाएं हैं बाह्य जीवन में विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियां—अणु-शक्ति का अनुसंधान, अन्तरिक्ष-विजय, आदि; अन्तर्जीवन में अचेतन और अवचेतन मन का उद्घाटन। इन घटनाओं ने वर्तमान जीवन और उसकी चेतना को प्रभावित किया है, इसमें सन्देह नहीं। बुद्धिजीवी वर्ग, जिसका एक प्रमुख अंग है कलाकार, अपनी सूक्ष्म संवेदनाओं के द्वारा इनके सूक्ष्म प्रभावों को सीधा ग्रहण कर रहा है और जनसाधारण इनके स्थूल प्रभावों को प्रायः परोक्ष रूप में ग्रहण कर रहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इनका प्रभाव केवल अवसादकारी ही है या हो सकता है ? इसमें सन्देह नहीं कि अणुशक्ति आदि के उपयोग से सत्ता-संघर्ष में जो एक नया आयाम उपस्थित हो गया है उसमें सार्वभौम प्रलय की सम्भावना भी निहित है और समय-समय पर आने वाले राजनीतिक भूकम्प अतिशय संवेदनशील व्यक्तियों के मन में यह भय उत्पन्न कर सकते हैं कि ख़तरा शायद काफ़ी नज़दीक ही है। परन्तु यह तो इस घटना का एक पक्ष है, और विकृत पक्ष है : मानव के सुख-सौभाग्य तथा जीवन की अधिकाधिक सार्थकता के लिए भी तो इसका उपयोग हो सकता है। वास्तव में यह कल्पना ही कितनी असंगत है कि आज के वैज्ञानिकों की दिव्य मेधाएं केवल सार्वभौम विनाश के साधनों का ही आविष्कार कर रही हैं। ख़तरे की आशंका ग़लत नहीं है, किन्तु आशंका का प्रयोजन सावधान करना है, हताश और कर्तव्यमूढ़ करना नहीं। इसी ख़तरे से सावधान होकर आज प्रायः सभी समर्थ लोकनायक और अनेक प्रबुद्ध चिन्तक मानव-जीवन के शुभ्र पक्ष की कल्पना भी तो कर सकते हैं और कर रहे हैं। पर नया विचारक यह कहता है कि आधुनिक युग-बोध यह नहीं है—यह तो पुरातन दृष्टिकोण है जो वस्तु को यथार्थ रूप में न देखकर उसके अभीष्ट रूप की कल्पना करने में ही विश्वास करता है। हमारे विचार से यह मताग्रह है, एक पूर्वग्रह का आरोप है। आज का यथार्थ केवल अगति और विघटन है, यह पूर्वग्रह है—अगति और विघटन भी यथार्थ हो सकता है, आज के अनेक सूक्ष्मचेता कलाकार पूर्ण संवेदना के साथ इसका अनुभव कर रहे हैं; परन्तु यह समग्र यथार्थ नहीं, खण्ड यथार्थ मात्र है। विज्ञान का नियम संघटन है, विघटन नहीं है : अणु के विघटन का उद्देश्य भी जीवन का संघटन ही है। अध्यात्म के क्षेत्र में शक्ति की जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कल्पना की गई थी, आज के वैज्ञानिक परीक्षण उसी की भौतिक परिणतियां हैं। इसी प्रकार अन्तर्जीवन में अचेतन और अवचेतन मन के उद्घाटन के फलस्वरूप निरन्तर चेतना-प्रभाव की सिद्धि से हमारे नैतिक और रागात्मक मूल्यों में निश्चय ही संशोधन हुआ है : जैविक प्रवृत्तियों का महत्त्व बढ़ा है और विवेक एवं प्रज्ञा का गौरव क्षीण हुआ है। परन्तु इसके कारण चेतना को नवीन अन्तर्प्रकाश नहीं मिला—केवल अवसाद का अन्धकार ही बढ़ा है, यह कल्पना भी एकांगी है। फ़ायड ने आनन्द-सिद्धान्त को ही समस्त जैविक जीवन का आधार माना है और उधर युंग का सिद्धान्त तो वर्तमान युग में जीवनावस्था का सबसे प्रामाणिक आख्यान है।

ऐसी स्थिति में आधुनिकता को एक व्यापी निराशा में बाँध देना युग-सत्य नहीं हो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सकता—वह सत्य की विकृति या अधिक से अधिक सत्य का आभास मात्र हो सकता है। और, यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाए कि आज आधुनिकता का लक्षण यही है, तो इस प्रकार की आधुनिकता क्या काम्य है ? यह ठीक है कि आज के कुछ विशिष्ट संवेदनशील मनीषियों को प्रायः इसी रूप में यथार्थ-बोध हुआ है और उनकी अपनी संवेदना की तीव्रता के कारण यह चेतना संक्रामक रूप से नई पीढ़ी के अनेक समानधर्मा कलाकारों में व्याप्त हो गई है। इस प्रकार के यथार्थ-बोध की सच्ची अनुभूति और सफल अभिव्यक्ति कला हो सकती है, इससे भी हम इन्कार नहीं करते; परन्तु कला का आधार यहां अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्ति की सफलता ही है—तथाकथित 'यथार्थ-बोध' या 'आधुनिकता' कला का आधार नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि युग-बोध को आधुनिकता का लक्षण मानना तो उचित है; किन्तु निराशा और अवसाद को ही आज के युग-बोध का लक्षण मान लेना उचित नहीं है : सदा की तरह आज भी निराशा के अन्धकार को चीरकर प्रकट होने वाला आशा का आलोक ही जीवन का लक्षण है। यथार्थ-बोध की ऐसी परिभाषा जो जीवन का निषेध करे, अयथार्थ ही मानी जायगी। इसके अतिरिक्त यथार्थ-बोध को सचेतन प्रक्रिया न मानकर एक सहज अप्रत्यक्ष प्रक्रिया मानना ही संगत है—पहली स्थिति में बोध प्रधान हो जाता है और अनुभूति गौण। विचार के—समाज-शास्त्र आदि के—क्षेत्र में तो बोध (और विश्लेषण) की प्रधानता ठीक है, परन्तु जीने की प्रक्रिया में और उससे भी अधिक सर्जना की प्रक्रिया में बोध की प्रमुखता बाधक ही हो सकती है। अतः आधुनिकता को मूल्य के रूप में स्वीकार करना समीचीन नहीं होगा—आधुनिकता विधि मात्र है; विधि-रूप में उसका प्रभाव अक्षुण्ण है, पर विधि से अधिक उसका महत्त्व नहीं है।

साहित्य के सन्दर्भ में भी आधुनिकता का वैसा ही और उतना ही उपयोग एवं महत्त्व है, जैसा जीवन के सन्दर्भ में :

१. जीना वर्तमान में ही होता है, अतीत या अनागत में नहीं; लेकिन मनुष्य वर्तमान में अतीत के संस्कार और अनागत की कल्पना के साथ ही जीता है। अतः भूत से उच्छिन्न और भविष्यत् से पराङ्मुख आधुनिकता की धारणा वाग्विलास मात्र है। अनेक कल्पनाशील व्यक्ति और कलाकार, जो औरों की अपेक्षा अधिक कल्पनाशील होते हैं, अपनी स्वभावगत सीमाओं के कारण कभी-कभी वर्तमान की अपेक्षा अतीत और भविष्यत् में ही अधिक जीने का उपक्रम करते हैं। परन्तु अतीत और भविष्यत् को भी वर्तमान में जिये बिना उनके कृतित्व में प्राण का संचार नहीं होता। जिस प्रकार जीवन के लिए वर्तमान का भोग अनिवार्य है, इसी प्रकार साहित्य के लिए भी वर्तमान की अनुभूति आवश्यक है। किन्तु जिस प्रकार जीवन की स्थिति पूर्वापर-क्रम से टूटकर सम्भव नहीं है, इसी प्रकार कला की सर्जना भी अतीत के संस्कार और अनागत के स्वप्न के बिना सम्भव नहीं हो सकती। अर्थात् वर्तमान की परिपूर्ण चेतना भी रम्य-अद्भुत तत्त्वों से सर्वथा शून्य नहीं होती।

२. 'आधुनिक' का अर्थ व्यापक और गत्यात्मक ही मानना चाहिए। युग-बोध, परंपरा का संशोधन, जीवन के वैविध्य की स्पृहा—अपने पर्यावरण के माध्यम से आत्मसिद्धि—विकास की आकांक्षा, आदि ही उसके सही लक्षण हैं—विघटन और अगति या निराशा और अवसाद आदि तक ही आज की या किसी भी युग की आधुनिकता को सीमित कर देना यथार्थ-बोध नहीं है। जो जीवन का ही लक्षण नहीं है वह आधुनिकता का लक्षण कैसे हो सकता है ?

३. आधुनिकता की चेतना जीवन की भाँति साहित्य-सर्जना की विधि का ही अंग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है और यह चेतना जितनी प्रच्छन्न तथा अन्तर्व्याप्त रहेगी उतनी ही उपयोगी होगी। फिर भी यह विधि ही रहेगी और विधि के रूप में इसका अपना महत्त्व भी रहेगा, पर सच्चे अर्थ में मूल्य यह नहीं बन सकती; अर्थात् उसके आधार पर ही साहित्य के स्वरूप और गुण का निर्णय करना उचित नहीं है। प्रबल अनुभूति की सफल अभिव्यक्ति ही साहित्य का मूल तत्त्व है और अनुभूति की प्रबलता तथा अभिव्यक्ति की सफलता के आधार पर ही साहित्य-गुण के तारतम्य का आकलन किया जा सकता है। अनुभूति के मूल्यांकन की पहली कसौटी है उसका मानवीय गुण और मानवीय गुण के निर्णायक तत्त्व हैं—आनन्द और कल्याण : प्रेय और श्रेय। उधर, अभिव्यक्ति की सफलता के मूल्यांकन की कसौटी है संप्रेषण-क्षमता।—नया साहित्यकार शायद आज इसी रूढ़ दृष्टि के विरुद्ध आन्दोलन कर रहा है; पर मेरी भी अपनी मजबूरी साहित्य के इससे अधिक सच्चे निकष की प्रकल्पना नहीं कर सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खण्ड—२

प्रवृत्तियाँ : (क) हिन्दी-कविता
(ख) हिन्दी-साहित्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(क) प्रवृत्तियाँ : हिन्दी कविता

आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ

यों तो आज का युग अनेक उलझी हुई अन्तःबाह्य प्रवृत्तियों का जटिल संघात है, जिनका विश्लेषण करना सरल नहीं है; परन्तु एक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट रूप से आज की दुनिया के सामने उपस्थित हो गया है, और वह है दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं का संघर्ष। दर्शन के क्षेत्र में ये विचारधाराएँ हैं आदर्शवाद तथा भौतिकवाद, और राजनीतिक क्षेत्र में लोकतंत्रवाद और साम्यवाद। इन्हीं दोनों की फिर आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में अनेक शाखाएं-प्रशाखाएं प्रस्फुटित हो गई हैं। इन दोनों का पार्थक्य जितना स्पष्ट आज हो गया है उतना कभी नहीं था। आज ऐसा लगता है मानो समस्त विश्व ही दो वर्गों में विभक्त हो गया है। परन्तु यह तो इस संघर्ष का स्थूल और बाह्य रूप है; आंतरिक रूप से यह दो शक्ति-संघों का संघर्ष इतना नहीं है जितना कि दो विचारधाराओं का; और उन्हीं से साहित्य का सीधा सम्बन्ध भी है। इन विचारधाराओं को स्थूल रूप से दक्षिणपक्षीय और वामपक्षीय विचारधारा भी कहा जाता है। विषय का आगे विवेचन करने से पूर्व इन दो विचारधाराओं का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

आदर्शवाद एक अध्यात्मपरक दर्शन है जिसका आधार जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यों पर स्थित है। इसका मूल सिद्धांत यह है कि इस दृश्यमान जगत् का आविर्भाव एक चेतन सत्ता से हुआ है। यह चेतन सत्ता धार्मिकों की शब्दावली में ईश्वर, अध्यात्मवादियों की शब्दावली में ब्रह्म या आत्मन् और दार्शनिकों की शब्दावली में सत्य है। मूल अस्तित्व इसी चेतन सत्ता अथवा चेतना का है। दृश्यमान जगत् के सभी नाम-रूप इसी के उद्भास हैं; उनकी सार्थकता यही है कि वे इस चेतना की अभिव्यक्ति के साधन हैं। इस प्रकार इस दर्शन के अनुसार भौतिक जीवन मनुष्य का साध्य नहीं है; वह सूक्ष्मतर आत्मा के जीवन का साधन है, क्योंकि वही वास्तविक जीवन है। अतएव भौतिक मूल्य, जिनका उद्देश्य सांसारिक जीवन की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति है, जीवन के अवर मूल्य हैं। सूक्ष्म व आंतरिक मूल्य ही जीवन के उच्चतर मूल्य हैं। परिणामतः आंतरिक सुख-शांति बाह्य वैभव-समृद्धि की अपेक्षा अधिक काम्य है। इसके विपरीत भौतिकवाद, अथवा और अधिक पारिभाषिक शब्दावली में द्वन्द्वात्मक भौतिक, पदार्थ को ही मूल सत्ता मानता है। उसके लिए भौतिक जीवन ही एकमात्र वास्तविकता है, तदाश्रित भौतिक मूल्य ही अंतिम मूल्य हैं, और भौतिक सुख-समृद्धि तथा स्वास्थ्य ही मानव का एकमात्र प्रेय और श्रेय है। इसके आगे सूक्ष्मतर आध्यात्मिक जीवन और उससे सम्बद्ध आध्यात्मिक मूल्यों का कोई अस्तित्व नहीं है। यह सब मिथ्या कल्पना है, सत्य से पलायन है। भौतिक जीवन संघर्ष-प्रधान है। अतएव संघर्ष की वास्तविकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता; वह जीवन का एक अनिवार्य सत्य है। भौतिक जीवन सामूहिक जीवन है और उसको इसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। वैयक्तिक सुख-दुःख को जीवन का मूल सत्य मानकर उसमें ही लीन रहना अश्रेयस्कर है। जीवन में प्रमुख सत्ता समाज की ही है, व्यक्ति की नहीं। व्यक्ति समाज का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक अंग है और वह इसी रूप में उन्नति कर सकता है। अब तक का विधान प्रायः व्यक्तिपरक ही रहा है, उसमें एक ओर 'कतिपय' का विशेषाधिकार रहा है, जिसके फलस्वरूप 'अनेक' का दमन और शोषण होता रहा है। अतएव इस नये जीवन-दर्शन में प्राचीन विधान और परंपरा के प्रति विद्रोह है। संक्षेप में, दक्षिणपक्षीय और वामपक्षीय विचारधाराओं का अन्तर इस प्रकार है—पहला परंपरित विकास का मार्ग है, दूसरा विद्रोह का। पहले का आधार अध्यात्मोन्मुख आदर्शवाद है, दूसरे का साम्योन्मुख भौतिकवाद। परिणामतः एक की प्रवृत्ति अंतर्मुखी है और दूसरे की बहिर्मुखी; एक में सूक्ष्म आंतरिक मूल्यों का महत्त्व है, दूसरे में भौतिक मूल्यों का। पहले में परंपरा की किसी-न-किसी रूप में स्वीकृति है, दूसरे में उसका प्रायः निषेध है। इसके अतिरिक्त दोनों में एक और अंतर होना चाहिए : पहले में व्यक्ति की महत्ता है और दूसरे में समाज की। परन्तु यह अंतर अनिवार्यतः नहीं मिलता; यह अंतर आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में जितना तीव्र तथा मौलिक है उतना दक्षिण और वामपक्षीय विचारधाराओं में नहीं है। दक्षिण पक्ष के अनेक रूपों में समाज का बड़ा ही माहात्म्य है; उधर वामपक्ष के अंतर्गत कई रूपों में व्यक्ति की सत्ता की प्रबल स्वीकृति है इसलिए इस युग के मानव-मस्तिष्क की द्विधा को व्यक्त करने के लिए मुझे दक्षिणपक्ष और वामपक्ष शब्दों का प्रयोग अधिक संगत लगता है। साधारणतः इन शब्दों में साहित्यिक गरिमा का अभाव है, ये उथली राजनीति के हलके शब्द हैं; परन्तु इनकी शिथिलता ही आज की वास्तविकता के अधिक निकट है जो कि आदर्शवाद, गांधीवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, साम्यवाद आदि की पारिभाषिकता में नहीं बँध सकती।

भारत में उपर्युक्त विचारधाराओं का द्वन्द्व इतना तीव्र नहीं, पर स्पष्ट अवश्य है। आज हमारे जीवन-दर्शन का झुकाव जाने-अनजाने इन दो में से एक की ओर अवश्य है। दक्षिण-पक्षीय विचारधारा का प्रतीक हमारे यहां गांधीवाद है, और वामपक्षीय विचारधारा के नीचे मूलतः मार्क्स के भौतिक दर्शन का आधार है। दक्षिणपक्षीय आदर्शवादी विचारधारा की प्रेरणा आधुनिक हिन्दी-कविता की दो प्रमुख प्रवृत्तियों में स्पष्ट है। एक के अन्तर्गत जीवन और जगत् के सूक्ष्म-अतीन्द्रिय सौंदर्य से अनुप्राणित वे कविताएं आती हैं जिन्हें 'छायावाद' का नाम दिया गया है, और दूसरी के अन्तर्गत देशभक्ति की भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली ऐसी रचनाएं आती हैं जिन्हें समष्टि रूप में साधारणतः 'राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता' नाम दिया जा सकता है। यह ठीक है कि छायावाद का जन्म दक्षिण और वामपक्ष के इस संघर्ष से—यहां तक कि गांधीवाद के जन्म से ही बहुत पहले हो चुका था; परन्तु फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उसका मूल आधार आदर्शवादी चिंताधारा ही है जो गांधीवाद अथवा समस्त दक्षिण-पक्षीय विचारधारा का भी मूल आधार है। वास्तव में जिन प्रभावों में हमारे सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में गांधीवाद का विकास हुआ, उन्हीं में काव्य के क्षेत्र में छायावाद का; और बाद में तो गांधीवाद ने छायावादी रचनाओं को सीधी प्रेरणा दी ही। दोनों में जो एक स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है वह मूल चिंता का अन्तर नहीं है, अभिव्यक्ति के माध्यम का अन्तर है। जैसा कि मैं आगे स्पष्ट करूंगा, छायावाद और गांधीवाद का मूल दर्शन एक ही है—सर्वात्मवाद। छायावाद ने इसके दो मूल तत्त्वों को सौंदर्य और प्रेम के रूप में ग्रहण किया है; गांधीवाद ने सत्य और अहिंसा के रूप में। भावना के क्षेत्र में जो सौंदर्य है, वही चिंतन और विचार के क्षेत्र में सत्य है; पहले में जो प्रेम है, वही दूसरे में अहिंसा है। वैसे दोनों की मान्यताएं भी बहुत-कुछ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समान हैं। उदाहरण के लिए, सूक्ष्म आंतरिक मूल्यों का महत्त्व, अंतर्मुखी प्रवृत्ति, व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता आदि। अतएव छायावाद की कविताएं निस्संदेह आदर्शवादी चिंताधारा के अन्तर्गत ही आती हैं और उनका गांधीवाद से निकट सम्बन्ध है। इस वर्ग की दूसरी कविताओं, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविताओं, का तो आदर्शवादी चिंताधारा से सीधा संबंध है ही; इनका तो गांधी-दर्शन एक प्रकार से मूल आधार ही है। इन कविताओं के पीछे सत्य और अहिंसा के आदर्श की प्रेरणा है, इनकी देशभक्ति जीवन के संस्कारी मूल्यों से अनुप्राणित है। वह यहां धर्म-रूप में स्वीकृत की गई है। इनमें सर्वत्र ही परम्परा की श्रद्धापूर्ण स्वीकृति है। इनका लक्ष्य भौतिक सुख-समृद्धि न होकर भारत की जनता तथा उसके साथ समस्त मानवता का निःश्रेयस् अभ्युदय है, और इनका साधन ध्वंस न होकर रचना है।

भारतीय आदर्शवाद के तीन पक्ष

भारतीय आदर्शवाद के—जिसका कि प्रतीक सम्प्रति गांधीवाद है—तीन पक्ष हैं। एक सौंदर्यमय अनुभूत्यात्मक पक्ष, दूसरा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पक्ष, और तीसरा दार्शनिक-नैतिक पक्ष। पहले की अभिव्यक्ति छायावाद में हुई है, और दूसरे की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविताओं में। तीसरे पक्ष की अभिव्यक्ति अपेक्षया विरल है। वह हिन्दी के केवल एक ही प्रमुख कवि सियारामशरण गुप्त में मिलती है। परन्तु इस एक कवि में ही उसकी अभिव्यक्ति जितनी सटीक और पूर्ण हुई है, उतनी भारत की किसी अन्य भाषा के कवि में भी शायद ही हुई हो।

दूसरी चिन्ताधारा है भौतिकवाद, जो मूलतः मार्क्स-दर्शन से प्रभावित है। हिन्दी की जनजागरणवादी कविताएं तो स्पष्टतः इसी चिंताधारा से प्रेरित हैं। इसके अतिरिक्त छायावाद की अतीन्द्रिय सौंदर्य-विवृतियों और रोमानी रूप-उल्लास की प्रतिक्रिया में रची गई प्रयोगात्मक कविताओं का भी इसी चिंताधारा से संबंध है। हिन्दी में पहली को प्रगतिवादी और दूसरी को प्रयोगवादी नाम दिया गया है। प्रगतिवादी कविता तो एकांत रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, वह तो एक प्रकार से मार्क्स-दर्शन के साथ पूर्णतः आबद्ध है। प्रयोगशील कविताओं में भी भौतिकवादी विचारधारा के कई तत्त्व वर्तमान हैं। उसका मार्ग घोषित रूप से विद्रोह का मार्ग है, उसमें परंपरा के प्रति अनास्था का प्रबल भाव है, और सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय के विरुद्ध भौतिक और मूर्त की महत्त्व-स्थापना है। हां, उसका दृष्टिकोण सामाजिक न रहकर अधिकतर वैयक्तिक हो जाता है।

उपर्युक्त दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं से प्रभावित आधुनिक हिन्दी-कविता की ये चार मुख्य प्रवृत्तियां हैं। इनके अतिरिक्त एक प्रवृत्ति और है जो कदाचित् इनसे भी अधिक लोकप्रिय है; और उसके अंतर्गत आधुनिक युग की वे रचनाएं आती हैं जो प्रत्यक्ष रूप से कवि के अपने सुख-दुःख को लेकर लिखी गई हैं। यह एकांत वैयक्तिक कविता है जो आत्माभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष माध्यम है। इसमें कवि अपने से बाहर या परे नहीं जाता; अपने वैयक्तिक संघर्ष और तज्जन्य हर्ष-विषाद को ही काव्य के सुरों में बाँधता है। इसमें न किसी धुँधले आध्यात्मिक आदर्श का मोह है, और न किसी बाह्य सामाजिक कर्तव्य का आह्वान है। ये मन के गीत हैं और इसीलिए इतने लोकप्रिय भी हैं। हमारे आधुनिक कवियों में से अधिकांश ने इस प्रकार की थोड़ी-बहुत कविताएं अवश्य लिखी हैं। और, यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि नागरिक सभ्यता के इस युग में भी नानाविध वस्त्रों से अलंकृत अपने शरीर को कभी-कभी अनावृत करने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में जिस प्रकार हमें एक सहज सुख का अनुभव होता है, इसी प्रकार अनेक सामाजिक-नैतिक आदर्शों और नीति-नियमों से आच्छादित अपनी अन्तश्चेतना को व्यक्त करने में भी एक विशेष आनन्द मिलता है। यह प्रवृत्ति उपर्युक्त दोनों चिन्ताधाराओं, दक्षिणपक्षीय आदर्शवाद और वामपक्षीय भौतिकवाद की मध्यवर्ती है। इसमें पहले की अंतर्मुखी वृत्ति तथा वैयक्तिक चेतना है, और दूसरी का परम्परा के प्रति विद्रोह तथा भौतिक जीवन में विश्वास। छायावाद की अमूर्त और अमांसल अनुभूतियों को मूर्त तथा मांसल रूप देते हुए, इस कविता ने प्रगतिवाद की भौतिक मान्यताओं के लिए पथ प्रशस्त किया। इस प्रकार यह प्रवृत्ति छायावाद की अनुजा और प्रगतिवाद की अग्रजा है।

संक्षेप में, आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियां ये ही हैं। आदर्शवादी चिन्ताधारा के अंतर्गत छायावादी तथा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता; इनके अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त की कविता, जिसमें गांधीवाद के दार्शनिक-नैतिक पक्ष को अभिव्यक्त किया गया है, इसी के अन्तर्गत आती है।

वैयक्तिक कविता आदर्शवाद और भौतिकवाद के बीच का सेतु-मार्ग है और इसके अग्रणी कवि बच्चन हैं।

भौतिकवादी चिंताधारा के अंतर्गत हैं प्रगतिवाद और प्रयोगवाद।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

छायावाद

आज से बीस-पचीस वर्ष पूर्व, युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने, बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर, जो आतमबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हीं ने भाव (सौन्दर्य)-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था—जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्‌बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएं लगाए बैठी थी। उसमें स्वप्नों की चंचलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर-काल था जब अनेक इच्छाएं-अभिलाषाएं उड़ने के लिए पंख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूपरेखा नहीं बन पायी थी, परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान, वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं। स्वप्नों और निराशा के इन छायाचित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलायी।

छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे, परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः उसकी वृत्ति निकट, यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएं कठोर वर्तमान से कुण्ठित होकर स्वर्णिम अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं, ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं, कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं, स्थूल से सहमकर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव में अन्तर्मुखी भावना ही है। वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है। उसकी अन्य सभी प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में जिस प्रकार हमें एक सहज सुख का अनुभव होता है, इसी प्रकार अनेक सामाजिक-नैतिक आदर्शों और नीति-नियमों से आच्छादित अपनी अन्तश्चेतना को व्यक्त करने में भी एक विशेष आनन्द मिलता है। यह प्रवृत्ति उपर्युक्त दोनों चिन्ताधाराओं, दक्षिणपक्षीय आदर्शवाद और वामपक्षीय भौतिकवाद की मध्यवर्ती है। इसमें पहले की अंतर्मुखी वृत्ति तथा वैयक्तिक चेतना है, और दूसरी का परम्परा के प्रति विद्रोह तथा भौतिक जीवन में विश्वास। छायावाद की अमूर्त और अमांसल अनुभूतियों को मूर्त तथा मांसल रूप देते हुए, इस कविता ने प्रगतिवाद की भौतिक मान्यताओं के लिए पथ प्रशस्त किया। इस प्रकार यह प्रवृत्ति छायावाद की अनुजा और प्रगतिवाद की अग्रजा है।

संक्षेप में, आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियां ये ही हैं। आदर्शवादी चिन्ताधारा के अंतर्गत छायावादी तथा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता; इनके अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त की कविता, जिसमें गांधीवाद के दार्शनिक-नैतिक पक्ष को अभिव्यक्त किया गया है, इसी के अन्तर्गत आती है।

वैयक्तिक कविता आदर्शवाद और भौतिकवाद के बीच का सेतु-मार्ग है और इसके अग्रणी कवि वच्चन हैं।

भौतिकवादी चिंताधारा के अंतर्गत हैं प्रगतिवाद और प्रयोगवाद।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

छायावाद

आज से बीस-पचीस वर्ष पूर्व, युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने, बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर, जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हीं ने भाव (सौन्दर्य)-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था—जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्‌बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएं लगाए बैठी थी। उसमें स्वप्नों की चंचलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर-काल था जब अनेक इच्छाएं-अभिलाषाएं उड़ने के लिए पंख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूपरेखा नहीं बन पायी थी, परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान, वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं। स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलायी।

छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे, परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः उसकी वृत्ति निकट, यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएं कठोर वर्तमान से कुण्ठित होकर स्वर्णिम अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं, ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं, कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं, स्थूल से सहमकर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव में अन्तर्मुखी भावना ही है। वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है। उसकी अन्य सभी प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में जिस प्रकार हमें एक सहज सुख का अनुभव होता है, इसी प्रकार अनेक सामाजिक-नैतिक आदर्शों और नीति-नियमों से आच्छादित अपनी अन्तश्चेतना को व्यक्त करने में भी एक विशेष आनन्द मिलता है। यह प्रवृत्ति उपर्युक्त दोनों चिन्ताधाराओं, दक्षिणपक्षीय आदर्शवाद और वामपक्षीय भौतिकवाद की मध्यवर्ती है। इसमें पहले की अंतर्मुखी वृत्ति तथा वैयक्तिक चेतना है, और दूसरी का परम्परा के प्रति विद्रोह तथा भौतिक जीवन में विश्वास। छायावाद की अमूर्त और अमांसल अनुभूतियों को मूर्त तथा मांसल रूप देते हुए, इस कविता ने प्रगतिवाद की भौतिक मान्यताओं के लिए पथ प्रशस्त किया। इस प्रकार यह प्रवृत्ति छायावाद की अनुजा और प्रगतिवाद की अग्रजा है।

संक्षेप में, आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियां ये ही हैं। आदर्शवादी चिन्ता-धारा के अंतर्गत छायावादी तथा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता; इनके अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त की कविता, जिसमें गांधीवाद के दार्शनिक-नैतिक पक्ष को अभिव्यक्त किया गया है, इसी के अन्तर्गत आती है।

वैयक्तिक कविता आदर्शवाद और भौतिकवाद के बीच का सेतु-मार्ग है और इसके अग्रणी कवि बच्चन हैं।

भौतिकवादी चिंताधारा के अंतर्गत हैं प्रगतिवाद और प्रयोगवाद।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

छायावाद

आज से बीस-पचीस वर्ष पूर्व, युग की उद्बुद्ध चेतना ने, बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर, जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हीं ने भाव (सौन्दर्य)-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था—जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएं लगाए बैठी थी। उसमें स्वप्नों की चंचलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर-काल था जब अनेक इच्छाएं-अभिलाषाएं उड़ने के लिए पंख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूपरेखा नहीं बन पायी थी, परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान, वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं। स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलायी।

छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे, परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः उसकी वृत्ति निकट, यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएं कठोर वर्तमान से कुण्ठित होकर स्वर्णिम अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं, ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं, कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं, स्थूल से सहमकर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव में अन्तर्मुखी भावना ही है। वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है। उसकी अन्य सभी प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यक्तिवाद

यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जिन विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है उनमें सबसे मुख्य है व्यक्तिवाद। व्यक्तिवाद के दो रूप हैं। एक, विषय पर विषयी की मनसा का आरोप अथवा वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओं में रँग कर देखना; दूसरा, समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में ही लीन रहना।

द्विवेदी-युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रिया में छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। दूसरे, उस कविता का विषय बहिरंग सामाजिक जीवन था। द्विवेदी-युग का कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावाद की कविता का विषय व्यक्तिगत अन्तरंग जीवन हुआ। छायावाद का कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्ति-भाव प्रसाद में आनन्दवाद और निराला में अद्वैतवाद के रूप में प्रकट हुआ। पंत में उसने आत्म-रति का रूप धारण किया और महादेवी में परोक्ष रति का, जो आत्म-रति का प्रक्षिप्त रूप है।

शृंगारिकता

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की दूसरी अभिव्यक्ति है, शृंगारिकता। छायावाद की कविता प्रधानतः शृंगारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुंठाओं से, और व्यक्तिगत कुंठाएं प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय छायावाद का जन्म हुआ उस समय स्वच्छन्द विचारों के आदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था। परन्तु सुधार-युग की कठोर नैतिकता से सहम कर वह अपने में ही कुंठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक आतंक अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छन्द भावनाएं अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान, वे अवचेतन में उतर कर वहां से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होती रहती थीं; और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृंगार। छायावाद का यह अतीन्द्रिय शृंगार दो प्रकार से व्यक्त होता है: एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा, प्रकृति पर नारी भाव के आरोप द्वारा; दूसरे, नारी के अतीन्द्रिय सौंदर्य द्वारा, अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौंदर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।

छायावाद में शृंगार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के अंगों के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतंक से सहम कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इस कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिये हैं; और वास्तव में छायावाद के झिलमिल काव्य-चित्रों का मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे हैं। उसके वायवी रूप-रंग का वैभव उन्हीं से उत्कीर्ण होता है और इन्हीं पर आश्रित होने के कारण छायावाद की काव्य-सामग्री के अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक हैं।

प्रकृति पर चेतना का आरोप

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

छायावाद का प्राण-तत्त्व ही प्रकृति का मानवीकरण, अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोपण है। यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपक वातावरण न मानकर ऐसी चेतन सत्ता माना गया है जो अनादि काल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान-प्रदान करती रही है। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है; क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है। और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है, वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया-चित्र उठें, उनका चित्रण है। जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोपण करती है, वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है; वह मन की कुंठित वासना ही है जो अवचेतन में पहुँचकर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा अपने को व्यक्त करती है। निदान, प्रकृति का उपयोग यहां दो रूपों में हुआ है: एक, कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त-स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में; और दूसरे, प्रतीक रूप में। रूप, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता, जो जीवन में नहीं मिल सके, वे प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिले, अतएव कवि की मनोकामनाएँ बार-बार उसी के मधुर अंचल में खेलने लगीं और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावतः उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।

मूल दर्शन

वास्तव में जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है, छायावाद मूलतः भारतीय अद्वैतवाद का ही प्रोद्भास है। महादेवीजी ने छायावाद का मूल दर्शन सर्ववाद अथवा सर्वात्मवाद माना है, और वास्तव में प्रकृति के अन्तर में प्राण-चेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पंदित जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है, सनातन से चली आ रही है। छायावाद में समस्त जड़-चेतन को मानव-चेतना से स्पन्दित मानकर अंकित किया गया है, और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायेगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। सर्वात्मवाद को छायावादी कवियों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों विधियों से ग्रहण किया। आरम्भ में इन कवियों की चिन्ता-पद्धति पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ के दार्शनिक विचारों का सीधा प्रभाव पड़ा। निराला ने विवेकानन्द की कई कविताओं का अनुवाद किया है, रामकृष्ण परमहंस पर भी कविता लिखी है। पन्त पर भी इनका गहरा प्रभाव था जो बाद में उन्हें योगी अरविन्द के दर्शन की ओर ले गया। प्रसाद ने शैवदर्शन तथा उपनिषद् आदि का सम्यक् मनन किया था, महादेवी का भी भारतीय दर्शन के साथ आरम्भ से ही सम्पर्क था, जो क्रमशः घनिष्ठतर होता गया। प्रौढ़ि के साथ यह प्रभाव और भी गहरा हुआ। पन्त तथा महादेवी की बाद की रचनाओं में आध्यात्मिक रंग स्पष्टतः आ गया है; उसका निषेध आज सम्भव नहीं है।

परन्तु सर्वात्मवाद को छायावाद का उद्गम-स्रोत मानना संगत नहीं होगा। छायावाद का कवि आरम्भ से ही सर्वात्मवाद की आध्यात्मिक अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ। 'पल्लव', 'नीहार', 'परिमल', 'आँसू' आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है, परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है। आज के बुद्धिजीवी कवि के लिए वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति का होना उसके लिए सहज सम्भव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं है; और यह स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गत युद्ध के बाद जिन कवियों के हृदय से छायावाद की कविता उद्‌भूत हुई, उन पर उस समय आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता था। हां, इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद के कवियों की चेतना में नैतिक और आध्यात्मिक प्रभावों के कारण एक विशेष परिष्कार आरम्भ से ही था। इन कवियों ने कभी अपनी वासना को उद्दाम रूप में व्यक्त नहीं किया; इनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में शालीनता और संयम था। आरम्भ से ही उन्होंने जीवन में सूक्ष्म आंतरिक मूल्यों को ही महत्त्व दिया था। और फिर बाद में तो प्रसाद तथा महादेवी ने भारतीय अध्यात्म-दर्शन के सहारे और पंत ने देश-विदेश के विभिन्न दर्शनों के आधार पर अपनी चेतना को और भी परिशुद्ध एवं संस्कृत कर लिया।

यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है। बहिरंग जीवन से सिमट कर जब कवि की चेतना ने अन्तरंग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएं—जीवन और मरण-सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष-सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा-सम्बन्धी—काव्य में स्वभावतः ही आ गईं। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुक के जीवन में आते ही हैं। अतएव छायावाद की रहस्योक्तियां एक प्रकार से जिज्ञासाएं हैं जो छायावाद के उत्तरार्द्ध में आध्यात्मिक दर्शन के द्वारा और भी पुष्ट हो गई हैं। परन्तु वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं हैं। उनका आधार कहीं भावना, कहीं दर्शन-चिंतन, और आरम्भ में कहीं-कहीं मन की छलना भी है।

छायावाद के ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हीं में अभिन्न रूप से गुँथा हुआ आपको विषाद का नीला तन्तु भी मिलेगा जो असंतोष और कुण्ठा का परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्या की कालिमा न होकर प्रत्यूष की चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमड़न है, पराजय नहीं। 'नीरजा' के विषाद और 'निशा-निमन्त्रण' के विषाद की तुलना मेरे आशय को स्पष्ट कर देगी। इसका कारण यह है कि छायावाद की दुनिया अननुभूत दुनिया थी। बच्चन के समय तक आकर वह अधिक जीवन-गत (अनुभूत) हो चुकी थी। अतः छायावाद की निराशा भी कल्पनात्मक होने के कारण रंगीन और मधुर थी। छायावाद के चिर-उपहसित पीड़ा-प्रेम का यही व्याख्यान है।

भ्रान्तियां

छायावाद के विषय में तीन प्रकार की भ्रान्तियां हैं :

पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। उस समय के आलोचक इसी भ्रम का पोषण करते हुए उसे कोसते रहे। यद्यपि आज यह भ्रम प्रायः निर्मूल हो गया है तो भी छायावाद के कतिपय कवि और समर्थक छायावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिंतन का मृग-चर्म उतारने को तैयार नहीं हैं। रामकुमारजी आज भी कबीर के योग की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविता के उपासक अब भी प्रकृति और पुरुष के रूपकों में उलझे बिना उसका महत्त्व समझने में असमर्थ हैं। यहां तक कि स्वयं महादेवीजी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का भारी बोझ लाद दिया है।

इसके विरोध में, जैसा मैंने अभी कहा, एक प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म साधना से—यहां तक कि अखण्ड आध्यात्मिक विश्वास से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी—नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीकों को यथातथ्य मानकर उस पर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है, भ्रान्तियों का पोषण करना है।

दूसरी भ्रान्ति उन आलोचकों की फैलायी हुई है जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण—और उन अपराधियों में मैं भी हूं—केवल बाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है, और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है; परन्तु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है! जहां छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था, वहा रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जाग्रत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहां के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था; उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसके स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।

तीसरे भ्रम को जन्म दिया है आचार्य शुक्ल ने, जो छायावाद को शैली का एक तत्त्व-मात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेश के अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद आदि की भाँति छायावाद शैली का एक प्रकार-मात्र है।

इस भ्रम का कारण है शुक्ल जी की वस्तुपरक दृष्टि, जो वस्तु और अभिव्यंजना में निश्चित अन्तर मानकर चलती थी। वास्तव में उन दो-चार इने-गिने सम्प्रदायों को छोड़कर, जो जान-बूझकर शैली-गत प्रयोगों को लेकर चले हैं, कोई भी काव्यधारा केवल अभिव्यंजना का प्रकार नहीं हो सकती। जिन अभिव्यंजनावाद और प्रतीकवाद का उन्होंने उल्लेख किया है वे भी शुद्ध टेकनीक के प्रयोग नहीं हैं; उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुकूल भाव-धारा और विचार-धारा है। प्रत्येक सच्ची काव्यधारा के लिए अनुभूति की अन्तःप्रेरणा अनिवार्य है; और जहां अनुभूति की अन्तःप्रेरणा है वहां काव्य टेकनीक-मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है! छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूति की अन्तःप्रेरणा असंदिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव-पद्धति की विशिष्टता के ही कारण है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।

इस दृष्टिकोण का आधेय नव-जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है, और अभिव्यक्ति हुई है प्रायः प्रकृति के प्रतीकों के द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्त्वतः सर्वात्मवाद मानी जा सकती है, पर वहां से उसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का सम्पूर्ण काव्य प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नहीं है; कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती। प्रथम श्रेणी के काव्य की सृष्टि तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पारदर्शी कवि के द्वारा ही सम्भव है, जिसके लिए यह जीवन और जगत् अनुभूत हों और जो सत्य को प्राप्त कर चुका हो। परन्तु यह सौभाग्य संसार में कितनों को प्राप्त है! इसके अतिरिक्त, संसार का अधिकांश काव्य कुण्ठा-जात ही तो है। उसकी तीव्रता और वैभव-विलास का जन्म प्रायः कुण्ठा से ही तो होता है।

इस सीमा को स्वीकार कर लेने के उपरान्त छायावाद को अधिक-से-अधिक गौरव दिया जा सकता है। और सच ही, जिस कविता ने जीवन के सूक्ष्मतम मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा द्वारा नवीन सौंदर्य-चेतना जगाकर एक बृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया, जिसने उसकी वस्तु-मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और तरल-से-तरल भाव-वीचियों को पकड़ सके, जिसने जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रंग वाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया, जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम-कटाक्ष प्रदान किये, जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छायाचित्रों से जगमग कर दिया, और अन्त में, जिसने 'कामायनी' का समृद्ध रूपक, 'पल्लव' और 'युगान्त' की कला, 'नीरजा' के अश्रु-सिक्त गीत, 'परिमल' और 'अनामिका' की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

आधुनिक हिन्दी कविता की एक अत्यन्त प्रबल प्रवृत्ति उन कविताओं में मिलती है जो देशभक्ति का उच्चार हैं। इनके लिए राष्ट्रीय-सांस्कृतिक शीर्षक अधिक सार्थक तथा व्यापक होगा। ये कविताएं भी दक्षिण-पक्षीय विचारधारा के अन्तर्गत आती हैं। छायावाद में जहां गांधीवाद का सौन्दर्य=चिन्तन-पक्ष मिलता है, वहां इन कविताओं में उसके भावात्मक और क्रियात्मक रूप की अभिव्यक्ति मिलती है।

इन कविताओं की मूल भावना है देशभक्ति। देशभक्ति में प्राधान्य तो निस्संदेह 'उत्साह' का ही है; परन्तु उसमें राग का आधार भी वर्तमान है। देशभक्ति व्यक्तिपरक न होकर एक समष्टिपरक भाव है, अर्थात् वह राग-मिश्रित उत्साह व्यक्ति के प्रति न होकर समष्टि के प्रति होता है। जब मनुष्य की राग-वृत्त का विस्तार होता है तो वह अपने व्यक्तित्व से परिवार, परिवार से ग्राम-नगर, फिर प्रदेश-देश और इसके आगे विश्व तक व्यापक हो जाती है। यह वास्तव में 'स्व' का विस्तार ही है, उसका निषेध नहीं है—देशभक्ति में 'स्व' का वृत्त समग्र देश और उसके निवासियों तक विस्तृत हो जाता है। इस विस्तार-प्रक्रिया में राग के साथ उत्साह का मिश्रण भी हो जाता है; क्योंकि देश-वासियों के प्रति राग का अभिप्राय है उनके कष्टों का निवारण, उनकी सेवा-सहायता, उनके विकास का प्रयत्न; और ये सभी उत्साहमूलक क्रियाएं हैं। इस प्रकार देशभक्ति में राग उत्साह के साथ मिलकर उदात्त रूप धारण कर लेता है।

हिन्दी में देशभक्ति की कविता का पृष्ठाधार अत्यन्त विस्तृत है। वैसे तो मध्ययुग में विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध प्राणों पर खेल कर लड़ने वाले राजपूत वीर, जहां तक कि वे अपने राज्य की रक्षा के संकुचित उद्देश्य से नहीं लड़ते थे, निस्संदेह ही देशभक्त कहे जा सकते हैं, और उनकी इस उदात्त भावना का यशोगान करने वाली वीरगाथा-काल की कुछ कविता निश्चय ही देशभक्ति की कविता की कोटि में आती है; परन्तु उस युग में एक तो यह भावना अत्यंत विरल है, दूसरे यह देशभक्ति के वर्तमान स्वरूप से भी अत्यन्त भिन्न है। शौर्य अथवा वीर-भाव का प्रत्येक रूप देशभक्ति के अन्तर्गत नहीं आता। वैयक्तिक शौर्य, जो अपने व्यक्तित्व एवं उससे सम्बद्ध हितों की संरक्षा के निमित्त प्रदर्शित किया जाता है, देशभक्ति नहीं है। वीरगाथा-काल के राजपूत राजाओं और सामन्तों का शौर्य प्रायः वैयक्तिक शौर्य ही था, यह अपने व्यक्तिगत गौरव अथवा अपने राज्य या अपने राजा के निमित्त प्रदर्शित किया जाता था। उस युग में देश एक इकाई नहीं था, राज्य ही एक इकाई था। इसलिए ये राजा और सामन्त आपस में एक-दूसरे को भी इतना ही बड़ा शत्रु मान सकते थे, जितना कि किसी विदेशी आक्रांता को। राज्य से बृहत्तर एक और इकाई थी—वह थी धर्म, जो कभी-कभी भिन्न-भिन्न राजाओं को एक ध्वजा के नीचे संगठित कर सकती थी; परन्तु देश-जैसी कोई संगठित इकाई नहीं थी। कहने का तात्पर्य यह है कि उस युग में राष्ट्रीयता की भावना हिन्दुत्व से आगे नहीं बढ़ सकी थी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और उसका यह रूप शताब्दियों तक ऐसा ही बना रहा। छत्रसाल और शिवाजी में भी राष्ट्रीयता का अर्थ हिन्दुत्व ही था। भूषण और लाल की कविता में देशभक्ति के इसी रूप को वाणी दी गई है। परन्तु यह भावना भी कुल मिलाकर इतनी विरल थी कि रीतियुग में शृंगार की सहस्रधारा में तुरन्त ही विलीन हो गई और पूरे दो-सौ वर्ष तक फिर उसका कोई चिह्न नहीं मिला। आधुनिक राष्ट्रीयता का प्रथम उत्थान हमें सन् १८५७ के विद्रोह में मिलता है। अंगरेज़ शासक के विरुद्ध हिन्दुस्तान की संगठित राष्ट्र-भावना का वह प्रथम आह्वान था और तभी से हमारी राष्ट्रीयता का जयनाद आरम्भ हो गया। अब पहली बार प्रदेश अथवा धर्म-सम्प्रदाय के संकुचित वृत्त से निकलकर राष्ट्रीयता ने समग्र देश को अंतर्भूत कर लिया। हिन्दी-काव्य में यह युग भारतेन्दु-युग के नाम से प्रसिद्ध है। भारतेन्दु के समय तक सन् '५७ का ग़दर तो विफल हो चुका था; परन्तु वह अपने पीछे एक राष्ट्रीय चेतना छोड़ गया था, जिसका प्रभाव उस युग के विचारवान् व्यक्तियों पर पड़ रहा था। फिर भी उस युग की देशभक्ति और राजभक्ति में एक प्रकार से समझौता था। अंगरेज़ी शासन ने शताब्दियों की अशांति और अराजकता का अन्त करके कम-से-कम एक स्थिरता का वातावरण अवश्य उत्पन्न कर दिया था और उसके लिए जनता के मन में थोड़ी-सी कृतज्ञता की भावना निश्चय ही वर्तमान थी। परन्तु इसके साथ ही विदेश की दासता आत्म-सम्मान के लिए अत्यन्त घातक थी। प्रत्येक मनस्वी भारतीय को इसकी आंतरिक ग्लानि थी, चाहे इस ग्लानि को अभिव्यक्त करने का साहस अथवा आत्मबल उसमें रहा हो या न रहा हो। इस क्षति की पूर्ति के लिए वह अपने प्राचीन गौरव का आह्वान करता था। इस प्रकार देश में पुनरुत्थान का एक आन्दोलन शुरू हो गया था—राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द प्रभृति लोकनायक जिसका नेतृत्व कर रहे थे। यह ठीक ही है कि यह आन्दोलन प्रायः सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित था—राजनीतिक समस्याओं से उसने अपने आपको प्रायः अलग ही रखा था, परन्तु इस सीमित क्षेत्र में भी देशभक्ति की भावना की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवकाश था। सामाजिक और सांस्कृतिक परतंत्रता के विरुद्ध जनमत जगाकर ये धर्मनायक राजनीतिक परतंत्रता के बन्धनों को शिथिल कर रहे थे। उत्तर मध्ययुग की चेतना और इस चेतना में थोड़ा-बहुत साम्य अवश्य था—दोनों में हिन्दुत्व की प्रबल चेतना थी, परन्तु दोनों का अन्तर भी अत्यन्त स्पष्ट है। शिवाजी और भूषण की हिन्दू-भावना जहां सर्वथा सामन्तवादी थी, वहां दयानन्द और राममोहन राय की हिन्दू-भावना का स्वरूप सांस्कृतिक एवं सामाजिक था। शिवाजी और भूषण को जहां हिन्दू राज्य की चिन्ता थी, वहां दयानन्द को प्राचीन हिन्दू (आर्य) संस्कृति की पुनः स्थापना का आग्रह था। दयानन्द को भारत-भूमि के प्रति अगाध प्रेम था; इसके अतिरिक्त भारत से उनका तात्पर्य कश्मीर से कन्याकुमारी और सीमाप्रदेश से आसाम तक विस्तृत समग्र देश का ही था। परन्तु इस देश को वे आर्यों (हिन्दुओं) का ही देश मानने को तैयार थे और आर्येतर जातियां और उनके धर्म तथा संस्कृतियां उनकी दृष्टि में भारत के लिए विदेशी थीं। वे आर्य-ध्वज के नीचे ही समग्र भारत की एकता की कल्पना कर सकते थे। भारतीय संस्कृति का अर्थ उनकी दृष्टि में अमिश्र आर्य-संस्कृति ही था। इस प्रकार इस युग की राष्ट्रीयता मूलतः हिन्दू (आर्य) राष्ट्रीयता थी, परन्तु उसका स्वरूप पहले से अधिक व्यापक एवं संस्कृत था, उसमें हिन्दू-राज्य से बृहत्तर हिन्दू-संस्कृति की एकता—अखण्डता—अंतर्भूत थी। इस युग की देशभक्ति के अंतर्गत (१) प्राचीन आर्य-गौरव—वेद, शास्त्र, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, चन्द्रगुप्त, अशोक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

Meera

आदि का गौरव-गान; (२) विदेशी संस्कृति और सभ्यता के प्रति घृणा; इधर (३) वर्तमान अधःपतन––विशेषतः सामाजिक अधःपतन—उदाहरण के लिए अनाचार, अशिक्षा, वर्णाश्रम की अव्यवस्था, अछूतों और स्त्रियों की हीनावस्था के प्रति चिन्ता और विद्रोह आदि का समावेश था। उस समय भी एक ऐसी चिन्ताधारा का आविर्भाव हो गया था जो समन्वय पर बल देती थी। इसमें हिन्दू, सिख, मुसलमान, पारसी और क्रिस्तान सभी धर्मों और सम्प्रदायों के लोगों के लिए स्थान था। यह भारत को इन सभी की मातृभूमि मान कर एक विदेशी राज्य के विरुद्ध संयुक्त मोरचा बनाने का प्रयत्न कर रही थी। इस चिंताधारा की प्रतीक थी इंडियन नेशनल कांग्रेस; परन्तु अभी इसमें पर्याप्त शक्ति नहीं आयी थी। अभी भारतीयता का वह अमिश्र रूप ही अधिक प्रभावशाली था। भारत में राष्ट्रीयता के द्वितीय उत्थान का सारतः यही स्वरूप था।

राष्ट्रीयता के तृतीय उत्थान में कांग्रेस ने शक्ति प्राप्त कर ली थी और उसका नेतृत्व गांधी जी के हाथ में आ गया था। यहां राष्ट्रीयता का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो गया था। राष्ट्र अब प्रादेशिकता, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता अदि से ऊपर सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की एक संगठित इकाई बन गया था और उसका राजनीतिक रूप भी स्पष्ट हो गया था। राजनीतिक चेतना सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना से आगे बढ़ गई थी। यह निश्चित हो गया था कि सभी विषमताओं का मूल कारण, चाहे वे सामाजिक हों या आर्थिक या नैतिक-सांस्कृतिक, विदेशी शासन है। गुलामी सबसे बड़ा अभिशाप है, अतएव पूर्ण स्वराज्य के लिए संघर्ष राष्ट्रीयता का पहला अंग बन गया। सन् १९३१ के अधिवेशन का सर्व-सम्मति से स्वीकृत प्रस्ताव इसका प्रतीक है।

स्वाधीनता का घोषणा-पत्र

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भाँति अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपने परिश्रम का फल हम स्वयं भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हों, जिससे हमें भी विकास का पूरा मौक़ा मिले। हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का अधिकार है। अंगरेज़ी सरकार ने भारतवासियों की स्वतंत्रता का ही अपहरण नहीं किया है बल्कि उसका आधार भी ग़रीबों के रक्तशोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारतवर्ष का नाश कर दिया है। अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंगरेज़ों से संबंध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिए।"

राष्ट्रीयता का यही वास्तविक स्वरूप है और आज भी अनेक समताओं और विषमताओं के रहते हुए भी उसका यही रूप बना हुआ है। हां, स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले और उसके बाद की देशभक्ति में पराजय और विजय का स्वर-वैषम्य स्पष्ट है, और वह स्वाभाविक भी है।

पृष्ठभूमि का विवेचन करने के उपरांत अब वर्तमान राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण अपेक्षित है। इस कविता की मूल भावना, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, देशभक्ति है; और देशभक्ति में राग और उत्साह का मिश्रण है। उत्साह उसके राष्ट्रीय स्वरूप का आधार है, और राग उसके मानवीय-सांस्कृतिक रूप का।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पराधीनता और दमन के विरुद्ध संघर्ष

इस उत्साह का सब से प्रबल विस्फोट पराधीनता और दमन के विरुद्ध संघर्ष में मिलता है। भारत हमारा देश है, वह हमारी जन्मभूमि है, उस पर हमारा स्वत्व है। हमारी जन्मभूमि पर विदेशी आकर शासन करें, अपने घर में ही हम बन्दी रहें, यह घोर लज्जा की बात है। इस लौह-शृंखला को प्राणों की बलि देकर भी छिन्न-भिन्न करना होगा—भारत की आत्मा मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, दिनकर तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि के स्वर में चीत्कार कर उठी :

मैथिलीशरण गुप्त :

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।।

माखनलाल चतुर्वेदी :

बलि होने की परवाह नहीं, मैं हूं कष्टों का राज्य रहे।
मैं जीता, जीता-जीता हूं, माता के हाथ स्वराज्य रहे।।

निराला : पशु नहीं, वीर तुम
समर-शूर, क्रूर नहीं,
काल-चक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँवर! समर-सरताज!
पर क्या है, सब माया है—माया है।
मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा-विहीन बन्ध छन्द ज्यों!

दिनकर : नहीं जीते जी सकता देख, विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदना-मधु का भी कर पान आज उगलूंगा गरल कराल।।

भारत का ज्यों-ज्यों स्वातन्त्र्य के प्रति आग्रह बढ़ा, त्यों-त्यों विदेशी शासन की दमननीति भी अग्रसर होती गयी। पर इस दमन ने घृत की आहुति का काम किया और भारतीय युवक के हृदय में विद्रोह की ज्वाला और भी प्रचंड हो गयी। वह दिनकर की 'हुंकार' में हुंकार उठा :

पौरुष की बेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है।
ले जगदीश्वर का नाम खड्ग कोई दिल्लीश्वर धोता है।
धन के विलास का बोझ दुखी दुर्बल दरिद्र जब ढोता है।
दुखिया को भूखों मार, भूप जब सुखी महल में सोता है।
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन।

× × ×

असि की नोकों से मुकुट जीत, अपने सिर उसे सजाती हूं,
ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूं।
थर-थर करते कानून न्याय, इंगित पर जिन्हें नचाती हूं,
भयभीत पातकी धर्मी से अपने पग मैं धुलवाती हूं।
सिर झुका घमण्डी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'नवीन' के स्वर में देश ने आततायी के विरुद्ध अपनी जनशक्ति को उद्‌बोधित किया :

ओ भिखमंगे अरे पतित तू ओ मज़लूम अरे चिर-दोहित,
तू अखंड भंडार शक्ति का जाग अरे निद्रा-सम्मोहित।
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बरों में अपना ज्वलित फलीता भर दे।

यह देश के उद्दीप्त यौवन की पुकार है। इन स्वरों में देश का आहत अभिमान जैसे बौखला उठा है। नवीनजी स्वतंत्रता-संग्राम के कर्मठ सैनिक रहे हैं, उनका व्यक्तित्व निर्भीक शौर्य का प्रतीक है। उनकी वाणी तेज के स्फुलिंग उगलती है। आत्मा की वाणी होने के कारण इन कवियों की देशभक्ति की कविताओं में अपूर्व प्रभावक्षमता है। देश का युवक-समाज इनको सुनकर हथेली पर प्राण ले घर से निकल पड़ा था।

उत्साह का अहिंसक रूप

इस कविता की वीर-भावना में प्राचीन कविता की वीर-भावना से एक अत्यन्त स्पष्ट अन्तर है और वह यह कि इसमें विरोधी का संहार करने का उत्साह नहीं है। इसमें आक्रमण की भावना न होकर बलिदान की भावना है, और यह मूलतः अहिंसा का प्रभाव है। वर्तमान अहिंसा के दर्शन में कहीं-न-कहीं पराजय की प्रच्छन्न स्वीकृति निस्सन्देह वर्तमान है। भिन्न देशकाल में हमारा प्रतिनिधि जीवन-दर्शन कदाचित् यह न होता। वर्तमान राष्ट्रीय कविता में बलिदान के प्रति जो उत्साह मिलता है, उसके मूल में पराजय की यह अप्रत्यक्ष स्वीकृति असंदिग्ध है। इस युग की राष्ट्रीय कविता का यह एक सार्वभौम भाव है। भूषण और लाल जहां शिवाजी तथा छत्रसाल के विजय-पराक्रम का गौरव-गान करते हैं, उनके द्वारा शत्रु के संहार तथा दमन के उल्लास और गर्व-भरे चित्र अंकित करते हैं, वहां माखनलाल चतुर्वेदी 'बलिशाला ही हो मधुशाला' का तराना छेड़ते हैं, शीशदान की महिमा गाते हैं :

बलि के कम्पन में जो आती भटकी हुई मिठास,
यौवन के बाजीगर, करता हूं उस पर विश्वास। (हिमकिरीटिनी)

× × ×

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी !
जाँच कर, तू सीस दे दे कर जवानी ! (हिमकिरीटिनी)

मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, शिवमंगलसिंह सुमन—सभी ने देशभक्ति के प्रसंग में प्रणदान का महत्त्व-गान किया है :

धर्म तुम्हारी ओर, तुम्हें फिर किसका भय है ?
जीवन में ही नहीं, मरण में भी निज जय है।
(गुप्त : 'साकेत')

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे ! बलिपथ के सुन्दर जीव।
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मंदिर की नींव॥
बड़े-बड़े ये शिलाखण्ड मग रोके पड़े अचेत।
उन्हें लाँघ तू, यदि जाना है तुझे मरण के हेत॥
(माखनलाल चतुर्वेदी : 'हिमकिरीटिनी')

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सुनूंगी माता की आवाज़,
रहूंगी मरने को तैयार।
कभी भी उस वेदी पर देव,
न होने दूंगी अत्याचार ॥
न होने दूंगी अत्याचार,
चलो मैं हो जाऊं बलिदान।
मातृ-मंदिर में हुई पुकार,
चढ़ा दो मुझको हे भगवान ॥

(सुभद्राकुमारी चौहान : 'मुकुल')

आँसू बिखराते बीतेंगी,
जलतीं जीवन घड़ियां।
बिना चढ़ाये शीश नहीं
टूटेंगी मां की कड़ियां।

(सोहनलाल द्विवेदी : 'भैरवी')

शीशदान के इस महत्त्व की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। एक तो शीशदान अपने आप में वीर-भाव का सबसे प्रबलतम रूप है। वीर रस का शत्रु-रस है भयानक; अर्थात् उत्साह का भय के साथ घोर विरोध है। भय का चरमाभाव उत्साह का चरमोत्कर्ष है और भय का चरमाभाव मृत्यु-भय पर विजय प्राप्त करना है। अतएव शीशदान के प्रति उत्साह, उत्साह का चरमोत्कर्ष है। शीशदान का यह महत्त्व कोई नई बात नहीं थी। 'हतो वा प्राप्स्य से स्वर्गम्' का मंत्र इस देश के लिए नया नहीं था। मध्ययुग में भी क्षत्रिय के लिए हथेली पर सिर रख कर जीना ही शोभन माना जाता था :

बारह बरस लों कूकर जीवें और सोरह लों जियें सियार,
बरस अठारह छत्री जीवें, आगे जीवन को धिक्कार।

वास्तव में अहिंसा वीरता का उज्ज्वलतम रूप है, और गांधी से बड़ा वीर इस युग ने उत्पन्न नहीं किया। दूसरे, राजनीतिक परिस्थितियां भी शीशदान के इस महत्त्व के लिए उत्तरदायी हैं। मेरी धारणा है कि अपना जीवन-सिद्धान्त बनाने से पूर्व गांधीजी ने अहिंसा को निश्चय ही नीति के रूप में ग्रहण किया होगा। उन परिस्थितियों में संघर्ष का दूसरा रूप समीचीन नहीं था। सर्वथा निःश्शस्त्र देश के लिए हिंसात्मक क्रांति किसी प्रकार भी श्रेयस्कर नहीं हो सकती थी। भौतिक बल के अभाव में क्रांतदर्शी नेता ने देश को आत्मिक बल संचय करने की प्रेरणा दी—यह उसके नय और आदर्श दोनों ही थे। भौतिक बल से आत्मिक बल का प्रभाव कहीं अधिक है, यह समझने में भारत जैसे देश को देर नहीं लगी : और वह मार कर नहीं, मर कर विजय प्राप्त करने के लिए उत्साहित होने लगा। इस प्रकार आधुनिक देशभक्ति की कविता में क्रोध नहीं है। फलतः इस वीर रस का सहचारी करुण है, रौद्र नहीं।

इसके उत्साह का एक रचनात्मक रूप भी था जो भारत के उत्कर्ष— उसके स्वर्णिम भविष्य—के भावन में अभिव्यक्त होता था। स्वतंत्रता से पूर्व हिन्दी के राष्ट्रीय कवियों ने भारत के मुक्ति-स्वर्ग के अगणित चित्रों द्वारा जनता के विषाद-संकुल मन में स्फूर्ति और उत्साह भर कर राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण योग दिया। एक ओर जहां उन्होंने वर्तमान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के गौरव चित्र अंकित किये, वहां दूसरी ओर उनके परिमार्जन के लिए भविष्य की उज्ज्वल कल्पनाएँ कीं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने परम पिता से स्वतंत्रता के जिस स्वर्ग में अपने देश को जगाने की प्रार्थना की थी, हिन्दी के कवियों ने भी उसके शत-शत चित्र अंकित किये :

रूढ़ि रीतियां जहाँ न हों आराधित
श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित
धन बल से हो जहां न जन-श्रम-शोषण
पूरित भव-जीवन के सकल प्रयोजन।

× × ×

मुक्त जहां मन की गति, जीवन में रति,
भव-मानवता में जन-जीवन परिणति।
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जनवास, वसन सुन्दर तन।
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित।

इन कविताओं में सात्त्विक गर्व और ओज है। खोये हुए स्वातंत्र्य और गौरव को प्राप्त कर देश फिर से महिमामंडित हो जायेगा, जब यह भूमि अपनी होगी और आकाश भी अपना ही होगा। इन कविताओं में ध्वंस के स्थान पर निर्माण के भव्य चित्र हैं। इनके द्वारा देश के नवयुवकों को निराशा और विषाद का परित्याग कर कर्मण्यता की प्रेरणा मिली। इन कविताओं का आधार आस्तिकता है, अतएव इनमें आग और गरल नहीं है, एक भव्य दीप्ति है।

देशभक्ति का रागात्मक स्वरूप

देश के साथ रागात्मक सम्बन्ध दो रूपों में सम्भव है। इनमें सहज रूप तो वह है जिसमें देश का अर्थ होता है देशवासी। इसके अनुसार देश-प्रेम का अर्थ है देशवासियों के प्रति प्रेम; देश की पराधीनता और शोषण का अर्थ है देशवासियों की पराधीनता और शोषण; और देश की मुक्ति का अर्थ है राजनीतिक और आर्थिक शोषण से देशवासियों की मुक्ति। भारत की दीन-दुःखी, अशिक्षित और असहाय जनता के प्रति करुणा जगाने वाली अनेक कविताएं इसी वर्ग में आती हैं। किसान, मज़दूर और ग्राम का अशिक्षित-भूखा-नंगा जनसमुदाय काव्य का आलम्बन बना। उसकी निर्धनता, मूढ़ता, विवशता तथा उसके आधिदैविक और आधिभौतिक कष्टों के अनेक सच्चे-झूठे करुण चित्र अंकित किये गए, उसे अपने कर्तव्य और अधिकार के प्रति जागरूक करके दमन और शोषण के विरुद्ध संगठित करने के लिए उत्साहपूर्ण कविताएं लिखी गयीं —बंगाल के अकाल के दिनों में एक काव्य-आन्दोलन ही आरम्भ हो गया था। इनमें विदेशी आक्रान्ता के प्रति ही नहीं, भारत में उसके एजेण्ट—अत्याचारी पूंजीपतियों और ज़मींदारों आदि—के प्रति भी आक्रोश की भावनाएं मुखरित की गयीं। इस प्रकार एक नवीन जन-काव्य का जन्म हुआ। पहले इनका आधार राष्ट्रवाद और मानववाद था; परन्तु बाद में समाजवाद और साम्यवाद के प्रभाववश इसमें उग्र वर्ग-भावना का भी समावेश हो गया। मानववाद अपने स्थान से खिसक गया—वर्गवाद उसमें अड़ने लगा। सियारामशरण गुप्त, नवीन, सोहनलाल द्विवेदी आदि की कविताएं जहां राष्ट्रवाद और मानववाद के व्यापक आधार को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लेकर लिखी गई हैं, वहां नरेन्द्र, शिवमंगलसिंह सुमन और अंचल आदि में वर्ग-चेतना स्पष्ट है।

रागात्मक सम्बन्ध का दूसरा रूप वह है जिसमें देश जड़-प्रतीक न रह कर सजीव एवं मूर्तिमंत हो जाता है। सजीव मूर्त रूप धारण किये बिना केवल भौगोलिक मानचित्र प्रेम अथवा भक्ति का विषय कैसे बन सकता है ? स्वभावतः, एक ओर भारत की दिव्य मातृरूप में कल्पना की गई, दूसरी ओर उसके हिमालय, गंगा, प्रयाग, दिल्ली, चित्तौड़, हल्दीघाटी आदि से सम्बद्ध परंपरागत मानव-संस्कारों को उद्बुद्ध किया गया। भारत की दिव्य मातृभूमि के शत-शत भव्य चित्र हमारी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की अमूल्य निधि हैं। मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, नवीन, निराला, पन्त, दिनकर आदि सभी प्रमुख कवियों ने मातृभूमि के दिव्य चित्रों का अंकन कर अपनी कल्पना को पवित्र किया है। इनकी पृष्ठभूमि में बंकिम-रचित विविध-रूपा मातृभूमि और रवीन्द्र-अंकित भारत का उदार चित्र था। मैथिली बाबू ने इस चित्र को और भी बृहत्तर भौगोलिक विराटता प्रदान की। त्रिंशकोटि भारतवासी अपनी वर्तमान हीनता को भूलकर इस विराट् रूप के सम्मुख आत्मविभोर हो उठे। आस्तिक कवि और आगे बढ़ा तथा गीता के विराट् रूप के आधार पर उसने मातृभूमि को सर्वेश की मूर्ति से एकरूप कर दिया।

निराला ने 'भारति, जय विजय करे' में भी भारत-माता का यही देवी-रूप अंकित किया है :

लंका पदतल शतदल, गर्जितोर्मि सागर-जल,
धोता शुचि चरण-युगल, स्तव कर बहु अर्थ भरे।
मुकुट शुभ्र हिम तुषार, प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएं उदार, शत-मुख शतरव मुखरे।

इस चित्र में मन्दिर का वातावरण और भी मुखर हो गया है। उधर, कवि पन्त ने भारत माता को ग्राम-वासिनी के करुण-स्निग्ध रूप में अंकित कर देश की ग्राम-जनता की भावना को वाणी दी :

भारत माता ग्राम-वासिनी
खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला-सा आँचल;
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।

इसमें देश का विराट्-उज्ज्वल चित्र नहीं है, उसका वर्तमान धूलभरा और उदास ग्राम्य-चित्र है, जो आज की वस्तुनिष्ठ कल्पना के अधिक निकट है। इस चित्र में रोमानी रूप-रंग का औज्ज्वल्य नहीं है, इसमें आज के मटमैले रंग हैं। पन्तजी ने भारत के रोमानी विराट्-उज्ज्वल चित्र भी दिये हैं, जो 'जन्न भारत हे' तथा उनके नवीन राष्ट्र-गानों में उद्भासित हुए हैं। पन्तजी ने अपने दोनों प्रकार के चित्रों में भारत के शान्ति अहिंसामय रूप पर बल दिया है।

भारत के साथ हिमालय, गंगा, यमुना, सिन्धु, पाटलीपुत्र, कपिलवस्तु, प्रयाग, दिल्ली, पानीपत आदि उसके अनेक अंग भी अपना पृथक् राष्ट्रीय-सांस्कृतिक महत्त्व रखते हैं। उनके साथ भारतीयों की शत-सहस्र वर्षों की स्मृतियाँ लिपटी हुई हैं। देशभक्ति की कविता के अंत-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

र्गत इन विषयों पर लिखी हुई अनेक स्फुट और निबद्ध रचनाएं आती हैं। दिनकर की 'हिमालय', 'पाटलीपुत्र की गंगा', 'दिल्ली' आदि कविताएं हिन्दी में पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी हैं।

भारत का यह दिव्य मूर्तीकरण अतीत गौरव की शत-शत स्वर्ण-स्मृतियों को लपेटे हुए है। स्वभावतः ही इसके साथ देश की प्राचीन संस्कृति और वैभव का स्तवन भी बड़े अनुराग और उत्साह के साथ किया गया। भारत का अतीत सभी दृष्टियों से महान् और गौरव-मंडित है। भारत का प्राचीन समृद्धि-वैभव, शौर्य-पराक्रम, दया-दाक्षिण्य, ज्ञान-गरिमा, जीवन-दर्शन, सभी अत्यन्त भव्य हैं। भारत की विराट्-उज्ज्वल मूर्ति के प्रतिष्ठान के साथ उसके प्राचीन गौरव का पुनरुत्थान भी प्रारम्भ हुआ। देशभक्ति-काव्य का यह प्रसंग कविता की दृष्टि से सबसे समृद्ध है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि उस प्राचीन युग में ही वैभव और समृद्धि की रंगीनी और औज्ज्वल्य है, जो तत्कालीन साहित्य में प्रतिबिम्बित होकर हिन्दी कवियों को सहज ही प्राप्त हो गई। इस प्रकार हिन्दी की विकासशील रोमानी कल्पना को उसमें खुल-खेलने का विस्तृत क्षेत्र मिला। दूसरे, वहां उदात्त भावनाओं के लिए भी पूर्ण अवकाश था। प्रागैतिहासिक काल में वैदिक युग के आर्यों का बल-वीर्य और ज्ञान-गौरव, रामायण और महाभारत के युगों की जीवन-सम्पूर्णता और तज्जन्य आदर्श, इधर ऐतिहासिक काल में चन्द्रगुप्त मौर्य, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि सम्राटों का शौर्य-पराक्रम, अशोक और हर्ष जैसे सम्राटों की त्याग-तितिक्षा, और बुद्ध की मानव-करुणा, इन सबमें जीवन की शतरूपा समृद्धि मिली; और हिन्दी के वर्तमान कवि की हीन-क्षीण भावना उसमें प्रचुर पोषण और बल प्राप्त कर सकी। वर्तमान की क्षतिपूर्ति के लिए अतीत में प्रचुर साधन मिल गये। देशभक्ति और स्वातन्त्र्य की जिन भावनाओं को प्रस्तुत रूप में व्यक्त करने का साधन नहीं था, उन्हें अप्रस्तुत माध्यम से स्वच्छन्दतापूर्वक व्यक्त किया जा सकता था। हार्डिज, विलिंगडन आदि को भारत से निष्क्रांत करने की सीधी चर्चा के लिए जहां कारावास का दण्ड था; वहां सेल्यूकस या हूण-शक आदि को निष्क्रांत करने का वर्णन पूर्ण ओज और स्पष्टता के साथ किया जा सकता था। इस प्रकार प्राचीन गौरव-गान के व्याज से वर्तमान देशभक्ति की भावनाओं को व्यक्त करने का सम्यक् अवकाश मिला।

इस विषय पर प्रायः सभी राष्ट्रीय कवियों ने लिखा। मैथिली बाबू ने रामायण और महाभारत काल के कथानकों पर नवीन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का आरोप किया। अन्य कवियों ने भी प्राचीन विषयों पर देशभक्ति की कविताएं लिखीं—गुप्त और राजपूत-काल के वीरों की देशभक्ति का यशोगान किया। प्रसाद, निराला, दिनकर, हरिकृष्ण प्रेमी, सोहनलाल द्विवेदी, श्यामनारायण पांडेय, सुधीन्द्र आदि की अनेक कविताएं उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्फुट कविताओं में भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के विकास के अत्यन्त प्रभावपूर्ण चित्र अंकित किये गए हैं। श्री नवीन की प्रसिद्ध कविता 'हिन्दुस्तान हमारा है' और 'स्कन्दगुप्त' नाटक में प्रसाद के प्रसिद्ध आह्वान-गीत 'हिमालय के आँगन में जिसे प्रथम किरणों का दे उपहार' आदि में भारतीय संस्कृति के विकास का सुन्दर पुनरवलोकन है। ये दोनों कविताएं विषय के अनुरूप ही हैं।

प्राचीन गौरव की पुनरुत्थानमयी भावना में स्वभावतः आर्य-संस्कृति का ही जय-जयकार है। परन्तु यह भावना कहीं भी संकीर्ण तथा सांप्रदायिक नहीं होने पायी। संस्कृति का यह स्वरूप अत्यन्त व्यापक और उदार है। वास्तव में स्वयं संस्कृति शब्द में संकीर्णता के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्थान नहीं है। संस्कृति का मूल तत्त्व है आत्मा का संस्कार, जिसमें क्षुद्रता के लिए अवकाश ही नहीं रहता। इसमें प्राय: अपने गौरव का ही भावन है, दूसरे की हीनता का नहीं। भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास को देखते हुए इस प्रसंग में थोड़ी-बहुत कटुता का समावेश हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। परन्तु इस सांस्कृतिक विचारधारा पर गांधी के 'सर्व-धर्म-समभाव' सिद्धान्त और रवीन्द्र की अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा विश्व-संस्कृति की कल्पना का गहरा प्रभाव था जिसने जाति, सम्प्रदाय और देश से बृहत्तर इकाई—विश्व-मानवता—की उदार भावनाओं को जन्म दिया था। इसके अतिरिक्त एक और प्रभाव—समान सर्वहारा संस्कृति का प्रभाव—भी कुछ-कुछ पड़ने लग गया था, परन्तु उसका स्वरूप अभी प्रच्छन्न ही था। कहने का तात्पर्य यह है कि इस युग में जिस राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विकास हो रहा था, उसमें प्राचीन आर्य-संस्कृति के पुनरुत्थान की भावना निस्सन्देह थी—वास्तव में इसका मूल आधार वही था। परन्तु इसमें संकीर्णता तथा कटुता नहीं थी। इसका आधार स्वभावत: ही अत्यंत व्यापक था, इसके मूल में ही 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का सिद्धान्त वर्तमान था, फिर गांधी और रवीन्द्र के सार्वभौम विचारों का गहरा प्रभाव इसके ऊपर पड़ रहा था। इस प्रकार आज से वर्षों पूर्व परतंत्र दशा में भी भारत के भाव-जगत् में एक ऐसी विश्व-संस्कृति की कल्पना रूप धारण कर रही थी जिसमें जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, वर्ग, देश और पूर्व-पश्चिम की सीमाएं नहीं थीं, जिसका आधार थी मानवता—अपने सम्पूर्ण आत्मिक वैभव के साथ।

राष्ट्रीय कविता के इतिहास में १५ अगस्त, १९४७ का दिन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह भारत का स्वतंत्रता-दिवस था। इसके बाद राष्ट्रीय कविता का स्वर एक साथ बदल गया। पराजय और बलिदान का स्वर विजय-घोष में परिणत हो गया। इस पुण्य-पर्व के उपलक्ष्य में अनेक राष्ट्रीय मंगल-गान लिखे गये, जिनमें पंत, सियारामशरण गुप्त और दिनकर की रचनाएं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। पंत और सियारामशरण दोनों के मंगल-गान एक निर्मल पुण्य-भाव से प्रेरित हैं। उनमें गर्व तथा औद्धत्य का स्पर्श भी नहीं है—शताब्दियों का विष जैसे सर्वथा निश्शेष हो गया हो। अशोक-चक्रधारी भारत की जय-ध्वनि तो विश्वशान्ति की घोषणा है :

भारत हे ! तेरी जयध्वनि में
विश्व-शांति की उद्घोषणा-सी है अवनि में।

× × ×

तूने किया घोषित भुजा पसार
एक ही कुटुम्ब विश्व भर का।
भारत, प्रभारत हे अमिताभ,
एक स्वर से अथक
गौतम से बापू तक
तेरा यही पौरुष परम है,
जीवन की एक यही साधना चरम है,
बंधन से मुक्ति-लाभ।

(सियारामशरण : 'जय हिन्द')

वास्तव में भारत ने अपनी विजय को एक देश की बंधन-मुक्ति के रूप में नहीं मनाया,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसने अपनी मुक्ति को साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद से सभी परतंत्र देशों की मुक्ति का प्रतीक माना। भारतीय प्रधानमंत्री के उस समय के सभी भाषणों में बार-बार यह घोषणा की गई है :

हो भारत-स्वातंत्र्य विश्व-हित स्वर्ग-जागरण। (पंत)

× × ×

भारत स्वतंत्र है, स्वतंत्र सभी जब हों। (सियारामशरण गुप्त)

भारत की विजय भौतिक विजय नहीं है, वह आत्मिक विजय है; क्योंकि वह शस्त्र की विजय नहीं है, वह तो सत्य और अहिंसा की विजय है :

सभ्य हुआ अब विश्व, सभ्य धरणी का जीवन,
आज खुले भारत के सँग भू के जड़ बंधन।
शांत हुआ अब युग-युग का भौतिक संघर्षण,
मुक्त चेतना भारत की यह करती घोषण।।

× × ×

नवजीवन का वैभव जागृत हो जनगण में,
आत्मा का ऐश्वर्य्य अवतरित मानव-मन में !
रक्त-सिक्त धरणी का हो दुःस्वप्न समापन,
शांति प्रीति सुख का भू स्वर्ग उठे सुर मोहन ! (पंत : 'स्वर्णधूलि')

इस संयत जयनाद के दो कारण थे : एक तो भारत का दृष्टिकोण ही इसके लिए उत्तरदायी था। सत्याग्रह और अहिंसा के द्वारा प्राप्त की हुई स्वतंत्रता का जयनाद उद्धत या गर्वित हो भी कैसे सकता था ? इसके अतिरिक्त तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का भी यही अनुरोध था। यह स्वतंत्रता देश के विभाजन और उसके फलस्वरूप भीषण नर-संहार और भयंकर विस्थापन के साथ ही देश को मिली थी। उधर विदेशी राज्य भी अनेक आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याएं देश के लिए छोड़ गया था। निदान, जय का यह स्वर हाहारव से अमिश्रित नहीं था। अतएव व्यष्टि और समष्टि दोनों के ही धरातल पर देश के विजय-स्वर पर तत्कालीन करुणा और चिन्ता की छाया थी। विभाजन के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक भावना का अनायास ही फिर उभर आना स्वाभाविक था, और वास्तव में ऐसा ही हुआ भी। परन्तु बापू के बलिदान ने उसे एकदम दबा दिया। उसका प्रभाव कुछ सामयिक रंग की हल्की-फुल्की कविताओं पर ही पड़ सका। गम्भीर साहित्य तक आने से पहले ही वह दब गई। इधर, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत के बर्धमान महत्त्व ने इस तरह की भावना के लिए और भी अवकाश नहीं छोड़ा; और भारत का राष्ट्रीय दृष्टिकोण अधिकृत रूप से उदार और व्यापक ही होता गया। विश्व-संस्कृति के उसके स्वप्न विश्व के निकट-सम्पर्क में आकर पंत-जैसे कवियों की वाणी में स्पष्ट और व्यक्त होने लगे। आज विसंवादी स्वर नहीं है, यह कहना मिथ्या होगा। साम्प्रदायिक और वामपक्षीय स्वर बराबर सम भंग कर रहे हैं—इस प्रकार की कविता और कहानियां आदि लिखी जा रही हैं, जिनमें यह शिकायत है कि आज भी जनता आर्थिक तथा राजनीतिक बन्धनों में जकड़ी हुई है, इत्यादि। परन्तु ये स्वर अत्यन्त क्षीण हैं। हिन्दी-काव्य के प्रतिनिधि स्वरों में आज भी इस प्रकार की निषेधात्मक आलोचना से मुक्त स्वास्थ्य और आशा का संदेश है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रवृत्तियों के विश्लेषण के उपरान्त इस वर्ग की रचनाओं के काव्य-गुण का मूल्यांकन अपेक्षित है। यह तो स्वाभाविक ही है कि जिस प्रकार पिछले आन्दोलनों में भाग लेनेवाला अथवा जेल जानेवाला प्रत्येक व्यक्ति सच्चा देशभक्त भी नहीं था, सच्चा मनुष्य होना तो और आगे की बात थी, उसी प्रकार इस वर्ग की प्रत्येक रचना सच्ची देशभक्ति से भी अनुप्राणित नहीं है, सच्ची कविता होना तो दूर रहा। वास्तव में इस काव्य का संबंध आन्दोलन से रहा है और आन्दोलन से सम्बद्ध काव्य प्रायः सामयिक तथा उत्तेजक ही होता है, उसमें स्थिर प्रभाव-क्षमता नहीं होती।

आन्दोलन का अभिधार्थ है हलचल—किसी उद्देश्य-विशेष को लेकर जो सामूहिक प्रचार एवं प्रयास किया जाता है वह आन्दोलन कहलाता है। यह उद्देश्य साधारणतः बाह्य तथा स्थूल होता है— कम-से-कम उसका स्वरूप स्थूल अवश्य होता है। यों तो आन्दोलन का विषय खाद्य-समस्या अथवा अधिक अन्न उपजाओ, या विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार या इससे भी अधिक स्थूल एवं तात्कालिक हो सकता है। और उधर, यह अत्यन्त सूक्ष्म भी हो सकता है, जैसे भक्ति का आन्दोलन या उसके अन्तर्गत भी निर्गुण-विचारधारा के विरुद्ध सगुण की प्रतिष्ठा का आन्दोलन। परन्तु, मूल रूप में यह उद्देश्य चाहे कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, आन्दोलन के स्तर पर उतर कर इसे एक स्थूल एवं बाह्य रूप धारण करना ही होगा; क्योंकि आन्दोलन का कार्य हृदय के तारों को छूकर प्रवृत्ति को रमाना नहीं होता—उसके लिए समय ही उसके पास नहीं है, वह तो तात्कालिक प्रभाव डालकर रौ में बहा देना चाहता है। उसकी सफलता इसी में है—आन्दोलन तो अपने समूह-बल से आगे को धक्का देता है।

इधर, साहित्य का उद्देश्य है व्यक्तित्व का संस्कार—उसका कर्तव्य-कर्म है आत्माभिव्यक्ति, और उसकी विधि सहज आनन्दमयी है। साहित्य मूलतः व्यक्तिगत प्रयत्न है। इस प्रकार, मेरे विचार में, आन्दोलन और साहित्य का प्रत्यक्ष संबंध नहीं है; क्योंकि इनके उद्देश्य, इनके कर्तव्य-कर्म और इनकी विधि तीनों में ही अन्तर है। आन्दोलन जहां तात्कालिक एवं बाह्य-स्थूल उद्देश्य को लेकर चलता है वहां साहित्य का उद्देश्य निसर्गतः सूक्ष्म-आन्तरिक एवं शाश्वत होता है। कभी-कभी साहित्य का भी तात्कालिक प्रभाव पड़ता है, परन्तु वह उसकी सिद्धि नहीं है, और उससे इसका मूल्य भी नहीं आँकना चाहिए। उदाहरणार्थ, बिहारी का जयसिंह के प्रति निवेदित प्रसिद्ध दोहा लिया जा सकता है। तात्कालिक प्रभाव उसकी एक सामाजिक सफलता थी—साहित्यिक सफलता उसकी यह है कि उसने जीवन में सरलता बनाये रखने में योग दिया और आज तक भी देता आ रहा है। आन्दोलन का कर्तव्य-कर्म है किसी आवश्यकता-विशेष की पूर्ति के लिए जनमत प्राप्त करना—जनता को अपने साथ बहा ले चलना। साहित्य का कर्तव्य-कर्म है व्यक्ति का जगत् के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना—पहले साहित्यकार साहित्य के माध्यम से अपने व्यक्तित्व के प्रतिफलन द्वारा ऐसा करता है, उसके उपरान्त सहृदय भी साहित्य के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का प्रतिफलन करता हुआ शेष जगत् के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करता है। आन्दोलन अनुसरण चाहता है, साहित्य रागात्मक संबंध। और इसी के अनुरूप दोनों की विधि में भी अंतर है। आन्दोलन की विधि है उत्तेजना की, उथल-पुथल की; साहित्य की विधि है आनन्द की, तन्मयता की; क्योंकि आन्दोलन कर्म है और साहित्य भावना। आन्दोलन सामूहिक प्रयत्न है, साहित्य व्यक्तिगत।

लेकिन, काव्य इस प्रकार के देशव्यापी आन्दोलन से सर्वथा अस्पृष्ट रहे, यह भी सम्भव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं है। आन्दोलन का प्रभाव काव्य पर छन कर पड़ता है। इन आन्दोलनों का जो हिलानेवाला या बहा ले जानेवाला रूप होता है उससे काव्य का सीधा संबंध नहीं हो सकता; क्योंकि, जैसा कि मैंने अभी कहा, काव्य की आत्मा इतना कोलाहल नहीं सहन कर सकती। प्रदर्शन आन्दोलन का एक अनिवार्य अंग है—परन्तु काव्य का वह दूषण है। अतएव, काव्य में आन्दोलन का प्रदर्शन एवं तात्कालिक उत्तेजना आदि से मुक्त, स्थायी रागात्मक रूप ही आ सकता है। आन्दोलन जब एक सामयिक आवेश-प्रवाह न रह कर स्थिर भावभूमि का रूप धारण कर लेता है, तभी उसका प्रभाव कवि की अंतश्चेतना तक पहुँच सकता है। इसके पहले वह कवि के कण्ठ तक ही पहुँच पाता है, और केवल कण्ठनाद के रूप में ही अभिव्यक्ति पा सकता है।

इस युग के भिन्न-भिन्न आन्दोलनों के साथ भी यही हुआ। सुधार आन्दोलन, खिलाफ़त आन्दोलन, सत्याग्रह आन्दोलन, आतंकवादी अथवा अन्य हिंसक क्रान्ति के आन्दोलन, '४२ की क्रान्ति, आज़ाद हिन्द फौज संबंधी आन्दोलन, बंगाल के अकाल का जनरव, सभी ने देश की जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों और स्तरों को प्रभावित किया। लक्ष-लक्ष आबाल-वृद्ध नर-नारी अपने प्राणों को हथेली पर रख कर स्वातंत्र्य-संग्राम में जूझ गए। सामयिक कवियों ने उन के लिए अनेक आह्वान-गीत तथा कीर्ति-गान लिखे, जिनकी उस समय बड़ी धूम रही। परन्तु इनमें से अधिकांश को स्थायित्व प्राप्त नहीं हुआ। इनका जीवन कुछ महीनों से अधिक नहीं रहा, और यह स्वाभाविक ही था। वे उन आन्दोलनों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति थे और उनके साथ ही मौन हो गए। 'भारत-भारती' का सामयिक महत्त्व अपरिमेय था, आज़ाद हिन्द फौज़ के संबंध में लिखी हुई कविताओं को लोग गलियों में गाते फिरते थे, परन्तु उनका महत्त्व स्थिर न रह सका; क्योंकि वे प्रायः वाणी का उच्चार थीं, प्राणों की अभिव्यक्ति नहीं थीं। सामयिक प्रभाव का दूसरा नाम फ़ैशन है और साहित्य भी फ़ैशन से बच नहीं सकता। हिन्दी में न जाने कितने कवियों ने राष्ट्रीयता की मूलधारा में अवगाहन किए बिना प्राणों के स्फुलिंग की जगह मुँह के झाग उगले और छिछले दिल और दिमाग़ के लोगों ने झूम-झूमकर उनकी दाद दी। परन्तु गम्भीर कवियों और पाठकों को इनमें आत्माभिव्यक्ति नहीं मिली। इसलिए 'भारत-भारती' के कवि को 'साकेत' और 'यशोधरा' में आत्माभिव्यंजन खोजना पड़ा, 'रेणुका' के कवि को 'कुरुक्षेत्र' में आकर आत्म-साक्षात्कार हुआ, नवीन को सांस्कृतिक कविताओं में अपनी आत्मा का रस उँडेलना पड़ा, और जो ऐसा नहीं कर सके वे काव्य-इतिहास के पृष्ठ से लुप्त हो गए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गांधी-दर्शन और काव्य

जैसा कि मैंने आरंभ में निवेदन किया है, आधुनिक आदर्शवादी चिन्ताधारा के तीन पक्ष हैं : एक सौंदर्यमय अनुभूत्यात्मक पक्ष, दूसरा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पक्ष, और तीसरा दार्शनिक-नैतिक पक्ष। इनमें से पहले दो पक्षों का विवेचन पिछले निबंधों में किया जा चुका है। आज के भारतीय आदर्शवाद का तीसरा पक्ष—अर्थात् दार्शनिक-नैतिक पक्ष, पूर्णतया गांधी-दर्शन से एकरूप हो गया है। उसके सौंदर्यमय रूप से गांधीवाद का पूर्ण तादात्म्य नहीं हो सका—उस पर रवीन्द्रनाथ का भी गहरा प्रभाव है, परन्तु उसका दार्शनिक-नैतिक पक्ष तो जैसे गांधी-दर्शन में संहिताबद्ध हो गया है। हिन्दी में गांधी-तत्त्व-चिंतन की अभिव्यक्ति अधिक कवि-लेखकों में नहीं हुई। वास्तव में गांधी ने तपस्या की छन्नी में सत्य के रस को इतना छानकर पीने का प्रयत्न किया है कि सुन्दर भी उससे बहुत-कुछ अलग-सा हो गया है—कम-से-कम सुन्दर के इन्द्रियगोचर रूप का तो अधिकांश छन कर ऊपर रह गया है। उसके इस शुद्धातिशुद्ध रस को ग्रहण करने के लिए जिस तपस्या और सात्त्विक साधना की अपेक्षा है वह वास्तव में दुर्लभ है। गांधीजी के सतत प्रभाव में रहने वाले सहकर्मियों में से भी कितने कम उसे ग्रहण कर पाये ! फिर कवियों और साहित्यकारों पर तो उनका प्रभाव भी दूर से ही पड़ा—और वैसे भी उनके साधन और साध्य दोनों ही भिन्न हैं। यही कारण है कि गांधीवाद के तात्त्विक रूप की प्रत्यक्ष काव्याभिव्यक्ति हिन्दी में ही नहीं, गुजराती आदि में भी अत्यन्त विरल है। हिन्दी में गांधीजी के तत्त्व-चिन्तन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति केवल एक ही कवि में मिलती है—और वास्तव में वही एक ऐसा कवि है जो अपनी सात्त्विक साधना के बल पर उसे अपनी चेतना का अंग बना सका है। ये कवि हैं सियारामशरण गुप्त। उनके काव्य का आज हिन्दी में एक पृथक् स्थान है—भारतीय चिंताधारा की एक विशेष महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति के वे अकेले कवि हैं।

सियारामशरण गुप्त के काव्य का विश्लेषण करने से पूर्व गांधी-दर्शन की संक्षिप्त रूप-रेखा देकर आधुनिक हिन्दी-काव्य पर उसके प्रभाव का एक सामान्य विवेचन प्रस्तुत करना उपादेय होगा। अस्तु !

गांधीवाद

गांधीवाद को दार्शनिक शब्दावली में आध्यात्मिक मानववाद कहा जा सकता है। इसके दो मूल आधार हैं : सत्य और अहिंसा। गांधीजी के अपने शब्दों में "सत्य शब्द का मूल सत् है। सत् के माने हैं होना। सत्य अर्थात् होने का भाव। सिवाय सत्य के और किसी चीज़ की हस्ती ही नहीं है।" (आत्मशुद्धि, पृ० १)। "यह सत्य अखंड और एकरस है। संपूर्ण चर-अचर में इसी की सत्ता व्याप्त है। सत्य का दूसरा नाम परमेश्वर है···इसलिए परमेश्वर का सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है।" (आत्मशुद्धि, पृ० १)। एक ही परम सत्य से अनुप्राणित होने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के कारण प्राणिमात्र का समान अस्तित्व है। जब विश्व में केवल एक ही तत्त्व का अस्तित्व है तो तत्त्व-दृष्टि से ईश्वर और मानव में, तथा मानव और अन्य जीवों में कोई मौलिक भेद नहीं है। इस संपूर्ण सृष्टि में आत्मा ही चरम तत्त्व है। गांधीजी लिखते हैं—"मैं ईश्वर की, और इसलिए मानवता की, नितान्त एकता में विश्वास करता हूं।"...."मैं अद्वैत में विश्वास करता हूँ। मैं मनुष्य की, और इसलिए सभी जीवधारियों की, परम आवश्यक एकता में विश्वास करता हूँ।" इस प्रकार वे 'ईश्वरैक्य और ईश्वर में संपूर्ण जीवन के ऐक्य' को मानते हैं। आत्मा की इस चरम एकता के सिद्धांत से गांधीजी को अपने दो मौलिक तत्त्वों की प्राप्ति होती है: एक तो प्राणिमात्र के प्रति समभाव; दूसरा, एक मनुष्य के जीवन का दूसरे प्राणियों के जीवन पर अनिवार्य प्रभाव। जब सभी में एक ही आत्मा अनुस्यूत है तो निखिल विश्व के सब मनुष्य ही नहीं, समस्त जीवधारी भी हम से मूलतः अभिन्न हैं। अतएव मानव-मानव के भेद—वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, रंग आदि के सभी भेद—मिथ्या हैं। पर यह तो पहला संस्थान है; मनुष्य से आगे संपूर्ण प्राणि-जगत् के साथ भी हमारा अभेद है। यही समबुद्धि का परम सिद्धांत है और गांधीजी का विश्वास था कि "यह महान् सत्य मनुष्य को ईश्वर की सृष्टि का स्वामी नहीं, सेवक बनाता है।" दूसरा मौलिक तत्त्व है एक मनुष्य के जीवन का दूसरे मनुष्यों और इतर प्राणियों आदि पर, अर्थात् अपने चारों ओर के वातावरण पर अनिवार्य प्रभाव। मनुष्य अपने मूल रूप में आत्मा है। उसका भौतिक जीवन उसके आध्यात्मिक जीवन का स्थूल प्रदर्शनमात्र है। सूक्ष्म-रूप में उसका जीवन उसी आत्मा की क्रिया है जो चराचर में अनुस्यूत है। अतएव "जो घटना एक शरीरधारी पर घटती है, उसका समग्र जड़ पदार्थ पर और उसकी आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि यदि एक मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है तो उससे सारे संसार का लाभ होता है, और यदि एक मनुष्य का पतन होता है तो उस अंश में सारे संसार का पतन होता है।"

इस प्रकार सत्य के साक्षात्कार से समबुद्धि प्राप्त होती है, और समबुद्धि से सबके प्रति अहिंसा का भाव उत्पन्न हो जाता है। जैसा कि स्थान-स्थान पर गांधीजी ने स्वयं कहा है—"अहिंसा सत्य का ही दूसरा पहलू है। वास्तव में अहिंसा सत्य का भाव-पक्ष है। अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा का अर्थात् व्यापक रूप में द्वेष का अभाव मात्र नहीं है। यों तो हिंसा का अभाव अथवा द्वेषहीन स्थिति भी अपने आप में एक बड़ी सिद्धि है, परन्तु यह पर्याप्त नहीं है। वास्तव में यह अभावात्मक स्थिति संभव भी नहीं; क्योंकि चिर-तरंगायित मन अभावावस्था में कैसे रह सकता है? अतएव अहिंसा का अर्थ प्रेम ही है। किन्तु यह प्रेम स्वार्थ और मोह आदि से सर्वथा मुक्त होता है; क्योंकि स्वार्थमय प्रेम तो वास्तव में दूसरे के प्रति न होकर अपने प्रति ही होता है, वह अहिंसा नहीं है। अहिंसा का महत्त्व भारतीय दर्शन और आचारशास्त्र में प्राचीन काल से प्रतिपादित होता आया है। उपनिषद्, दर्शन और महाभारत आदि में स्थान-स्थान पर अहिंसा की महत्त्व-प्रतिष्ठा की गई है। पतंजलि ने अपने योग-सूत्र में अहिंसा के भावात्मक रूप की निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना की है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि अहिंसा हिंसा का निषेध मात्र नहीं है, उसमें सब जीवों के प्रति सद्भाव भी अनिवार्य रूप से अंतर्निहित है। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' अर्थात् अहिंसा की प्रतिष्ठा से वैरभाव का लोप होता है।"[1] गांधीजी ने निश्चय ही उपर्युक्त आर्ष ग्रन्थों का मनन किया था। इनके साथ ही

१. 'हरिजन' में प्रकाशित गांधीजी के वक्तव्य (सर्वोदय-तत्त्वदर्शन) से उद्धृत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उन पर बौद्ध और जैन ग्रन्थों, रामचरितमानस, मध्ययुगीन संतों की वाणी तथा बाइबिल का भी गहरा प्रभाव था। बाइबिल के पर्वत-संदेश का वे गीता और उपनिषद् के वाक्यों की भाँति मनन-चिंतन किया करते थे। उनके अहिंसा-सिद्धांत पर निस्संदेह इन सभी का प्रभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि गांधीजी को अहिंसा का अभावात्मक स्वरूप आरंभ में जैन-साधुओं के सत्संग से प्राप्त हुआ। इसके बाद हिंदू-दर्शन तथा धर्मग्रंथों के अध्ययन से उसका तात्त्विक रूप पुष्ट हुआ, और भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों तत्त्वों के समुचित समन्वय से उसकी रूप-रेखा पूर्ण हो गई। फिर भगवान् बुद्ध और ईसा के उपदेशों को हृदयंगम करने से उसके सक्रिय रूप को और उत्तेजना मिली और अन्त में गीता के दर्शन द्वारा उसमें निष्काम भावना का समावेश हुआ। इस प्रकार इस अहिंसा में उपर्युक्त सभी तत्त्वों का समन्वय होकर उसका एक विशिष्ट रूप बन गया, जो गांधीजी की अपनी देन है और जो जाने-अनजाने भारत की आधुनिक विचारधारा को प्रभावित करती रही है। इस अहिंसा में (अभावात्मक) वैर-त्याग, (भावात्मक) चराचर-प्रेम, और पूर्ण निष्काम भाव का समन्वय है।

अब प्रश्न है कि अहिंसा-भाव की प्राप्ति कैसे हो ?—इसका उपाय है अहंकार का पूर्ण उत्सर्ग। अहंकार का पूर्ण उत्सर्ग ही आत्म-शुद्धि है। जब मनुष्य अपने अहंकार को पूर्णतया घुलाकर समस्त विश्व के साथ अपनी सत्ता का तादात्म्य कर लेता है तो अहिंसा-भाव उसे सहज ही प्राप्त हो जाता है। इसकी सिद्धि के लिए आवश्यकता होती है तप और भगवद्भक्ति की। तप का अर्थ है आत्मपीड़न, पीड़ा की आँच में पिघलकर ही आत्मा का अहंकार-रूपी मल वह जाता है और वह कुन्दन बन जाती है। यह भारतीय संतों का परंपरागत साधना-मार्ग है—विदेश के सन्तों ने भी अपने ढंग से इसे ही अपनाया है; क्योंकि जब आत्मा एक है तो उसकी शुद्धि के उपाय भी भिन्न नहीं हो सकते। पर यह मार्ग अत्यन्त कठिन है; इस असिधारा-व्रत का पालन बिना भगवद्भक्ति के असंभव है। इसके लिए ईश्वर में अटल विश्वास और अनुग्रह की चिर-याचना (प्रार्थना) अपेक्षित है। गांधीजी ने एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है : "मैं बिना हवा-पानी के रह सकता हूं, लेकिन बिना ईश्वर के नहीं।" उनका विश्वास था कि टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाने पर भी ईश्वर उन्हें ऐसी शक्ति देगा कि वे उसके अस्तित्व से इन्कार न करेंगे। यह विश्वास ही तप का संबल है, और इस विश्वास की प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से ही हो सकती है। यह श्रद्धा आस्तिक के लिए अनिवार्य है। श्रद्धा और भगवदनुग्रह का यह तत्त्व गांधीजी ने वैष्णव-ग्रंथों, विशेषकर 'रामचरितमानस', से प्राप्त किया था। इस प्रकार गांधी-दर्शन का वृत्त ईश्वर से आरंभ होकर ईश्वर में ही समाप्त होता है।

यह आत्मशुद्धि व्यक्ति-कल्याण का ही साधन नहीं है, लोक-कल्याण का भी साधन है; क्योंकि, जब आत्मा एक और अखंड है तो एक व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्कर्ष निश्चय ही संपूर्ण वातावरण को प्रभावित करेगा। हमारे धर्मग्रंथों में तप का प्रभाव इसी रूप में वर्णित किया गया है, और उसका वैज्ञानिक आधार यही जीवन-सत्य है। तप से केवल अपने पाप का, अपने हिंसा-द्वेषादि का ही नाश नहीं होता, पाप-मात्र का—हिंसा-मात्र का नाश होता है। यही गांधीजी के 'हृदय-परिवर्तन सिद्धांत' का मूल रहस्य है।

इस प्रकार गांधीजी का दर्शन मूलतः पीड़ा का दर्शन है। आध्यात्मिक दृष्टि से वे साधारणतः निर्गुण सन्तों की परम्परा में ही आते हैं, यद्यपि वैष्णव-सगुणभक्ति का भी उन पर गहरा प्रभाव है। वैष्णव-दर्शन भी अपने मूल में पीड़ा का ही दर्शन है, परन्तु वैष्णव भक्तों ने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अपने प्रभु पर व्यक्तित्व का आरोप करते हुए उनके लीलामय रूप के भावन द्वारा इस पीड़ा को अत्यन्त रसमय बना लिया था। अतएव वैष्णव-दर्शन में पीड़ा और आनन्द ओत-प्रोत हो गए हैं। गांधीजी अपने को वैष्णव मानते थे, परन्तु उनकी वैष्णवता पर-पीड़ा के परिहार और भगवदनुग्रह पर ही केन्द्रित रही। भगवान् की सगुणता को तो उन्होंने उत्कट आग्रह और पूर्ण विश्वास के साथ ग्रहण कर लिया था; परन्तु उनका साकार, लीलामय व्यक्ति-रूप वे ग्रहण नहीं कर पाये, और यह आज के बौद्धिक युग का प्रभाव था, जिससे असस्पृक्त रहना उनके क्या, किसी के लिए भी, सम्भव नहीं है। इसीलिए मैंने कहा है कि वे निर्गुण सन्तों की परम्परा में ही आते हैं। निर्गुण शब्द का प्रयोग यहां मैं परम्परागत अर्थ में ही कर रहा हूं—निर्गुण-भक्ति में ईश्वर के गुणों का निषेध नहीं है, आकार अथवा व्यक्तित्व-मात्र का है। इस प्रकार गांधीजी के दर्शन में त्याग और तप का प्राधान्य है, और भोग का तिरस्कार। उसमें भोग को बचाकर मोक्ष की साधना है। इसलिए उसमें जीवन के आनन्द-पक्ष की उपेक्षा है, और इसीलिए रवीन्द्रनाथ ने निषेधात्मक और निरानन्द कहकर उसकी आलोचना की थी। रवीन्द्रनाथ और योगी अरविन्द इसीलिए उनसे दूर पड़ गये।

गांधी-दर्शन में आनन्द का यह तिरस्कार कला के अधिक अनुकूल नहीं पड़ता। गांधीजी ने कला का बहिष्कार तो नहीं किया, परन्तु उनके लिए कला का अनिवार्य गुण था उपयोगिता। वे कला को अनिवार्यतः लोक-कल्याण का साधन मानते थे; इससे भिन्न कला उन्हें अग्राह्य थी। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि गांधीजी 'शिवं' और 'सत्यं' पर ही बल देते थे, 'सुन्दरं' को वे या तो दोनों से अभिन्न मानते थे, या फिर उसे ग्रहण नहीं करते थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा है: "कला का सम्बन्ध नीति, हितकारिता और उपयोगिता से नहीं है, केवल सौन्दर्य से ही है—यह कहना सौन्दर्य और कला को न समझने-जैसा है। सत्य ही ऊँची-से-ऊँची कला और श्रेष्ठ सौन्दर्य है, और वह नीति, हितकारिता और उपयोगिता से रहित नहीं हो सकता।" —(गांधी-विचार-दोहन)

इसीलिए कला पर गांधीजी का सीधा प्रभाव अधिक नहीं पड़ा। गांधीजी ने अपने युग की चिन्ताधारा को प्रभावित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से ही आज के साहित्य और कला को प्रभावित किया। परिणामतः अप्रत्यक्ष रूप से तो आज के अधिकांश साहित्य पर गांधी-दर्शन का गहरा और अन्तर्व्यापी प्रभाव है; परन्तु प्रत्यक्ष रूप से उससे सीधी प्रेरणा लेनेवाला तथा उसे समग्र रूप में स्वीकार करने वाला साहित्य परिमाण में अत्यन्त स्वल्प है। हिन्दी-कविता में इसके प्रतिनिधि हैं सियारामशरण गुप्त, जिन्होंने गांधी-दर्शन को प्रत्यक्ष और समग्र रूप में ग्रहण किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैयक्तिक कविता

जैसा कि पहले कहा गया है, इस युग की वैयक्तिक कविता आदर्शवादी और भौतिक-वादी—दक्षिण और वामपक्षीय—विचारधाराओं के बीच का सेतु है। इसमें आदर्शवादी विचारधारा का प्रखर व्यक्तिवाद और भौतिकवादी वामपक्षीय विचारधारा का स्थूल और मूर्त, अर्थात् भौतिक जगत् के प्रति आग्रह तथा परम्परा और अध्यात्म के सूक्ष्म आदर्शों के प्रति अनास्था है। वास्तव में छायावाद के मूल स्रोत से आविर्भूत इसी धारा ने प्रगतिवाद के लिए पथ प्रशस्त किया। इस प्रकार यह प्रवृत्ति, जैसा कि मैंने आरम्भ में कहा है, छायावाद की अनुजा और प्रगतिवाद की अग्रजा है।

वैयक्तिक कविता का विशिष्ट रूप

वैसे तो सभी काव्य मूलतः वैयक्तिक ही होते हैं। काव्य के उन रूपों में भी, जिनको कि वस्तुपरक माना जाता है—जैसे कि प्रबंध-काव्य, प्राचीन शैली के स्फुट मुक्तक, नाटक आदि में भी—व्यक्ति-तत्त्व का एकान्त अभाव सर्वथा असम्भव है। उदाहरण के लिए, प्रबन्ध-काव्य में कवि अपनी बात न कहकर दूसरों की बात, अर्थात् इतिहास की कथा, कहता है। प्राचीन शैली के स्फुट मुक्तकों में भी किसी क्षणिक स्थिति अथवा प्रसंग का चित्रण होता है—उसमें भी कवि अपनी ओर से प्रायः कुछ नहीं कह सकता। पारिभाषिक रूप से यह ठीक है, परन्तु वास्तविक रूप में व्यक्तित्व का अभाव वहां भी नहीं है। प्रबन्ध-काव्य में घटनाएं इतिहास की अवश्य हैं, परन्तु उनका नियोजन कवि का अपना होता है, अन्यथा इस काव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। कथा इतिहास की है; परन्तु उसका ध्वन्यर्थ या सन्देश कवि का अपना है, जो उसके अपने जीवन-दर्शन का प्रतिफलन है। यही बात प्रबन्ध-काव्य के पात्रों के विषय में भी कही जा सकती है। साधारणतः यही लगता है कि तुलसी और राम एक व्यक्ति नहीं हैं; परन्तु क्या मानस के राम का सूक्ष्म अस्तित्व तुलसी के अन्तर्मन में विद्यमान नहीं था ? यदि यह सत्य नहीं है तो 'तुलसी के राम वाल्मीकि के राम से भिन्न हैं'—यह उक्ति ही निरर्थक हो जाती है। मुक्तक के विषय में यह सिद्धान्त और भी प्रत्यक्ष रूप से घटित हो जाता है। गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरुक-शतक या बिहारी-सतसई के छन्दों में उनके रचयिताओं की सीधी आत्माभिव्यक्ति न होकर प्रसंगों अथवा मनोदशाओं का चित्रण ही है; परन्तु इन प्रसंगों अथवा मनोदशाओं का अस्तित्व इन कवियों की स्वानुभूति से पृथक् मानना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार नाटक में भले ही कवि अपनी बात न कहे, भले ही उसे अपनी ओर से कहने का अवकाश न हो, परन्तु उस नाटक का मूलार्थ या मूल संदेश क्या कवि के अपने जीवन-दर्शन से भिन्न हो सकता है ! सबसे अधिक अव्यक्ति-गत नाटक शेक्सपियर के माने जा सकते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि पात्रों में नाटक-कार की प्रतिच्छवि अनिवार्य है, तो क्या यह माना जा सकता है कि हेमलेट, ओथेलो, मैकबेथ,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

फ़ॉल्स्टॉफ़, हेनरी पंचम, जाकेज़, ओफ़ीलिया, रोज़ालैंड, सर एण्ड्रूज़ आदि सभी में शेक्सपियर की प्रतिच्छवि थी। बात कुछ विचित्र-सी शायद लगे, पर इसका उत्तर निस्सन्देह ही 'हां' है। शेक्सपियर के अद्भुत व्यक्तित्व की महत्ता का रहस्य ही यह है कि वह इतना व्यापक और लचीला था कि व्यक्ति के अधिकाधिक रूप उसमें अन्तर्भूत थे। शेक्सपियर के अद्भुत व्यक्तित्व का प्रसार वास्तव में हेनरी पंचम से जाकेज़ तक, और हेमलेट से फ़ॉल्स्टॉफ़ तक था।

कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के सभी रूपों में व्यक्ति-तत्त्व का अस्तित्व अनिवार्य है; परन्तु उनमें मात्रा का अन्तर है और अभिव्यक्ति की विधि का अन्तर है। उपर्युक्त सभी रूपों में व्यक्ति-तत्त्व अवश्य है, परन्तु वह प्रच्छन्न है। उसकी अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष है। यह आवरण गीतिकाव्य में हट जाता है—वहां कवि को प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन का पूर्ण अवकाश है। वास्तव में यह व्यक्ति-तत्त्व गीतिकाव्य की आत्मा है। सूर, तुलसी तथा अन्य भक्तकवियों के आत्मनिवेदन के पद और मीरा की विरह-विभोर आत्मा की उद्‌गीतियां प्राचीन हिन्दी-साहित्य में शुद्ध गीतिकाव्य के अपूर्व उदाहरण हैं। हिन्दी के नवीन गीतिकाव्य को अंगरेज़ी गीतिकाव्य से प्रेरणा मिली है। उसका पहला रूप छायावाद में मिलता है जो वहां के रोमानी काव्य से प्रेरित है। छायावाद में भी तत्कालीन जीवनगत परिस्थितियों तथा काव्यगत परम्पराओं के कारण आत्म-तत्त्व अव्यक्त ही है। उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है, जो अनेक झिलमिल आवरणों में से कभी-कभी दीख जाती है। परन्तु धीरे-धीरे ये आवरण हटने लगे और कवि का अन्तर स्पष्ट झलकने लगा। छायावाद-युग के उत्तरार्ध में अनेक प्रकार के बौद्धिक तथा भौतिक प्रभावों के कारण व्यक्ति अपने प्रति अधिक जागरूक होने लगा—उसमें आत्म-चेतना और आत्म-विश्वास की मात्रा बढ़ने लगी और वह प्राकृतिक तथा दार्शनिक प्रतीकों के आवरण त्यागकर साहसपूर्वक अपने हर्ष-विषाद को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त करने लगा। इस तरह, एक प्रकार की अतिशय आत्मपरक कविता का जन्म हुआ, जिसका प्रभाव हिन्दी के नवयुवक कवियों पर संक्रामक होकर पड़ा, और आर्थिक और शृंगारिक कुण्ठाओं से पीड़ित तत्कालीन समाज अपने मन के प्रत्यक्ष शब्द-चित्रों की ओर स्वभावतः अत्यन्त वेग से आकृष्ट होने लगा। इस कविता का अपना पृथक् वैशिष्ट्य है। एक ओर जहां यह प्राचीन आत्मनिवेदनपूर्ण काव्य से भिन्न है, वहां दूसरी ओर छायावाद की प्रच्छन्न आत्माभिव्यक्तियों से भी इसका पार्थक्य है। प्राचीन आत्मनिवेदनपूर्ण काव्य का आलम्बन अनिवार्यतः ईश्वर है, उसकी पीड़ा आध्यात्मिक है। भारत के प्राचीन नैतिक आदर्श और उन पर आश्रित काव्य-मर्यादा ईश्वर के अतिरिक्त और किसी के सम्मुख अपनी आत्मा को उघाड़ा करने की अनुमति दे ही कैसे सकती थी? काव्य में अपने सुख-दुःख की अभिव्यक्ति के विरुद्ध आरम्भ में ही रसाचार्यों ने आपत्ति उठाई है—उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि अपनी व्यक्तिगत रति आदि को समाज के सम्मुख व्यक्त करना लज्जास्पद एवं रस में बाधक है। इस प्रकार आध्यात्मिक धरातल से नीचे उतर कर भौतिक धरातल पर आत्मपरक कविता लिखना शास्त्रीय दृष्टि से एक प्रकार से वर्जित ही था। छायावाद ने काव्य-परम्पराओं को तो नहीं माना; परन्तु नैतिक आदर्शों का आतंक उस पर भी गहरा था, इसके अतिरिक्त सीधी अभिव्यक्ति भी उसको ग्राह्य नहीं थी। अतएव उसको भी अपने व्यक्ति-तत्त्व को, प्रच्छन्न रखते हुए, प्रतीकों द्वारा ही अभिव्यक्त करना पड़ा। वह भी अपने राग-विराग को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त करने का साहस नहीं कर सका। हिन्दी में वैयक्तिक कविता के ये ही दो स्पष्ट रूप मिलते हैं। इन दोनों से आलोच्य कविता अपनी ऐहिकता और प्रत्यक्षता के कारण भिन्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है। रीति-युग के मुक्तकों से तो उसकी आत्मा और स्वरूप दोनों ही भिन्न हैं। वह कविता आत्माभिव्यंजक न होकर वस्तु, अर्थात् परिस्थिति और प्रसंग आदि की व्यंजक थी, उसका उद्देश्य आत्माभिव्यंजन की अपेक्षा कला-प्रदर्शन ही अधिक था। इसलिए उसका सहज माध्यम गीतिकाव्य न होकर मुक्तक काव्य ही रहा।

प्रादुर्भाव और लोकप्रियता के कारण

इस कविता के प्रादुर्भाव और प्रचार के अनेक ऐतिहासिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक-साहित्यिक कारण थे। ऐतिहासिक-सामाजिक कारणों में सबसे प्रमुख तो थी तत्कालीन जीवन में व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा। वह दर्शन, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था तथा समाज-व्यवस्था सभी में व्यक्तिवाद का युग था—जब अनेक स्वदेशी-विदेशी प्रभावों के कारण मानव-चेतना मध्ययुगीन सामन्तवादी रूढ़ियों से प्राय: मुक्त हो चुकी थी और अपनी सत्ता के प्रति जागरूक हो गई थी। दर्शन के क्षेत्र में बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद की पुन:प्रतिष्ठा, राजनीति में व्यक्ति का बढ़ता हुआ प्रभाव, अर्थ-व्यवस्था में पैतृक सम्पत्ति के स्थान पर व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ द्वारा अर्जित पूँजी का विकास, और समाज के क्षेत्र में व्यक्ति के प्रयत्नों की वर्धमान सफलता आदि ऐसे सार्वभौम कारण उपस्थित हो गए थे जिनसे व्यक्तिवाद को अत्यन्त प्रोत्साहन मिला। समाज में मध्यवर्ग का महत्त्व बढ़ गया। वही तत्कालीन समाज का प्रवक्ता बना—शिक्षा, साहित्य तथा संस्कृति, और उधर राजनीति का भी नेतृत्व उसके हाथ में आ गया। इस वर्ग की चेतना अतिशय व्यक्तिवादी रही है—इसका सारा जीवन व्यक्तिगत संघर्ष और उसकी सफलता-विफलता की कहानी रहा है।

साहित्य की शक्तियों का केन्द्र मध्यवर्ग में ही स्थित होने के कारण साहित्य में उत्कट व्यक्तिवाद की चेतना का आविर्भाव होना स्वाभाविक ही था। छायावाद-काल के पूर्वार्द्ध तक तो, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, जीवन पर एकमात्र आदर्शवादी चिन्ताधारा का ही प्रभाव था; परन्तु इसके उपरान्त सन् १९३१ के सत्याग्रह-आन्दोलन की विफलता से देश की चिन्ताधारा आदर्शवाद से कुछ भिन्न-सी होने लगी। समाज में कुछ ऐसे तत्त्व धीरे-धीरे उभरने लगे जो गांधीजी के आदर्शवाद से असन्तुष्ट होकर यथार्थ समस्याओं का यथार्थ समाधान चाहते थे। राजनीति में गांधीवाद के विरुद्ध वामपक्षीय समाजवादी चिन्ताधारा का धीरे-धीरे आविर्भाव होने लगा और यह प्रभाव स्वभावत: राजनीति से आगे बढ़कर सामाजिक और बौद्धिक जीवन पर भी पड़ने लगा। आर्थिक विषमताओं ने—बेकारी आदि ने—उसे और प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप सूक्ष्म आदर्शपरक जीवन के प्रति अनास्था और स्थूल यथार्थपरक जीवन के प्रति आस्था बढ़ने लगी। विश्वास की भूमि डगमगाने लगी और विद्रोह एवं सन्देह के अंकुर फूटने-फैलने लगे; पर यह भी सन्धिकाल ही था। साम्यवाद की रूपरेखा भारतीय नवयुवकों के मन में स्पष्ट नहीं थी। उसकी धुँधली झलक भर उन्होंने देखी थी, प्रकाश उनकी आँखों में नहीं उतरा था। उसका असन्तोष, विद्रोह और अनास्था तो उन्होंने ग्रहण कर ली थी, परन्तु उसकी सामाजिक चेतना का आभास उन्हें नहीं हुआ था। परिणाम यह हुआ कि वामपक्षीय चिन्ताधारा से उस समय तक व्यक्तिवाद को उभार ही मिला, व्यक्ति-तत्त्व के सामाजिक उन्नयन की आवश्यकता का अनुभव तब तक नहीं हुआ। व्यक्ति में यह चेतना जग गई कि मेरा अपना अस्तित्व किसी से कम नहीं है, मेरे राग-विराग, हर्ष-विषाद का मेरे लिए सबसे अधिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

महत्त्व है, उसको स्वीकार न करना आत्महीनता का सूचक है और इस आत्महीनता को उसने पूरी शक्ति से झटक कर दूर फेंक दिया।

पर इससे मूल स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। जीवन की विषमताएं तो वैसी ही बनी हुई थीं। आर्थिक क्षेत्र में बेकारी तथा उचित वृत्ति का अभाव, प्रेम के क्षेत्र में रूढ़ियों का आतंक अभी ज्यों-का-त्यों बना हुआ था, अतएव अर्थ तथा कामजन्य कुण्ठाएं और भी तीव्र हो गई थीं ; क्योंकि अहंता तो उद्बुद्ध हो गई थी, पर उसकी अभिव्यक्ति के वांछित साधन और भी कम हो गए थे। पर, जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है, कुण्ठा और काव्य का सीधा सम्बन्ध है। बाह्य अभिव्यक्ति का अभाव मानसिक संवेदनाओं को तीव्रतर कर देता है और उनके साथ-साथ अनुभूति और कल्पना की समृद्धि बढ़ जाती है। जो वस्तु बाह्य जगत् में नहीं मिलती, मन उसे अन्तर्जगत् में पाने का प्रयत्न करता है। जो होंठ चुम्बनों से वंचित रहते हैं, वे गाने लगते हैं : Lips that fail to kiss begin to sing. यह ठीक है कि नैतिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ काव्य की सृष्टि कदाचित् इस प्रकार सम्भव न हो, परन्तु अनुभूति की तीव्रता और कल्पना का ऐश्वर्य भी काव्य की बहुत बड़ी विभूति है, और कुण्ठाओं की तीव्र प्रेरणा से जो गीत फूटते हैं वे मानव-मन को सहज ही प्रिय होते हैं। इस प्रकार अभाव की चेतना काव्य की बड़ी प्रेरक शक्ति है, क्योंकि सन्तोष में जहां शान्त रहने की प्रवृत्ति होती है, वहां अभाव में पुकारने की। कुछ मनोविश्लेषकों ने अभावपूर्ति की इस भावना को काव्य की मूल प्रेरणा माना है। मूल प्रेरणा चाहे उसे मत मानिये, परन्तु वह एक प्रबल प्रेरणा अवश्य है। यह कोई सैद्धान्तिक विषय नहीं है, सामान्य अनुभूतिगम्य विषय है। हमें जिस वस्तु की जीवन में जितनी उत्कट इच्छा होगी, उसका अभाव उतना ही तीव्र होगा, और हमारा मन किसी-न-किसी प्रकार उसकी पूर्ति करने को आतुर रहेगा। क्षति-पूर्ति जीवन का प्रकृत सिद्धान्त है। हमारे मन के चेतन तथा अचेतन दोनों ही रूप इस क्षति-पूर्ति के लिए क्रियाशील रहते हैं। चेतन मन अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों द्वारा इस अभाव को भरने का प्रयत्न करता है और अवचेतन मन अनेक प्रकार के स्वप्नचित्रों द्वारा। काव्य इस प्रकार की क्षति-पूर्ति का अत्यन्त सफल साधन है—अनादि काल से न जाने कितने मनस्वी अपने जीवन के अभावों की काव्य में पूर्ति कर पीड़ा को आनन्द में परिणत करते रहे हैं। काव्य का यह अमर वरदान है, जो सदा से अपने स्रष्टा और उपभोक्ता दोनों को धन्य करता आया है। आर्थिक और शृंगारिक कुण्ठा से ग्रस्त पिछली शताब्दी के नवयुवक को इस काव्य-विशेष में प्रत्यक्ष आत्मानुभूति का परम सुख मिला, और आज भी उसकी समाप्ति नहीं हुई है। यह इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा रहस्य था :

छिपाने को छिपा लेता,
विकल चीत्कार मैं सारा;
मगर अभिव्यक्ति की मानव-
सुलभ तृष्णा नहीं जाती! (अंचल : लाल चूनर)

इससे पहले, काव्य में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति दुर्लभ ही थी। मुझे स्मरण है कि एक बार ऐसे ही प्रसंग में कवि पन्त ने कहा था कि मुझे व्यक्तिगत राग-द्वेषों को कविता में व्यक्त करना अशोभन लगता है—मुझे इसमें बड़ा संकोच होता है। उनके ये शब्द न केवल छायावादी मनोवृत्ति को ही व्यक्त करते हैं, वरन् इनके द्वारा एक प्रकार से भारत की परम्परागत मनोवृत्ति का भी निदर्शन होता है। काव्य में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति के प्रति एक विशेष संकोच हमारे यहां

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परम्परा से चला आया है। हमारे रीति-कवियों ने भी साधारण रति को ही मुखर किया है, व्यक्तिगत रति को नहीं। छायावाद में संकोच की मात्रा और भी अधिक मिलती है--उसने न जाने कितने प्रतीकों और संकेतों में लपेट कर अपने हर्ष-विषाद को व्यक्त किया है। बच्चन और उनके साथियों ने, और उनसे पूर्व कहीं-कहीं निराला और भगवती बाबू ने, इस संकोच को साहसपूर्वक त्याग कर काव्य में स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया—और उसका स्वागत हुआ।

प्रेरक भाव

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है इस कविता का विषय आज के समाज की व्यक्तिगत समस्याएं हैं। ये समस्याएं मूलतः काम और अर्थ के चारों ओर केन्द्रित हैं। काम के दो रूप हैं: एक रसिकता और दूसरा प्रेम। सामान्य तल पर काम रसिकता है और वैयक्तिक तल पर प्रेम। रीति-युग में रसिकता का ही प्राधान्य था, जो सामन्तीय जीवन-दर्शन का परिणाम थी। द्विवेदी-युग में उसके विरुद्ध भीषण प्रतिक्रिया हुई और काम को नैतिक रूप देने का यत्न किया गया। नीतिबद्ध होकर काम विवाह और गार्हस्थ्य के सामाजिक दायित्वों में बँध गया। मन और शरीर की सहज प्रवृत्ति पर कर्तव्य और नीति-मर्यादा का अंकुश लग गया। काम के वैवाहिक प्रेम का रूप धारण कर लेने पर उसमें एकनिष्ठा के गाम्भीर्य का समावेश तो हो गया, परन्तु नीति के बंधनों में जकड़ कर उसकी सहज स्वच्छन्दता नष्ट हो गई। सहज गति के अवरुद्ध हो जाने पर उसकी स्फूर्ति और प्राणदा शक्ति विलुप्त-सी हो गई। यदि विवाह प्रेम का परिणाम होता तब भी ठीक था, परन्तु इस युग में वह भी सम्भव नहीं था। विवाह-पूर्व प्रेम तो एक सहज प्रवृत्ति मानी जा सकती है, परन्तु विवाहोपरान्त प्रेम सामाजिक दृष्टि से बुद्धिसंगत होते हुए भी एक असहज स्थिति है--जिसकी सफलता संयोग पर निर्भर है। उस युग में प्रायः यही हो रहा था। महाशयजी और देवीजी का बाहरी सामाजिक जीवन चाहे अच्छा रहा हो, परन्तु उनके जीवन में उल्लास और प्रेरणा का अभाव था। छायावादी युग में आकर स्थूल सामाजिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और सूक्ष्म मानसिकता का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक दार्शनिक, आध्यात्मिक के प्रभावों के फलस्वरूप प्रेम को उस युग में एक रोमानी रहस्यात्मक अन्तश्चेतना के रूप में ग्रहण किया गया, जो स्थूल शारीरिकता और बाह्य नैतिकता से परे थी। उसमें एक स्निग्ध-पवित्र भाव का सहज मिश्रण हो गया; परन्तु यह प्रेम बहुत-कुछ अव्यक्त-सा था। पन्त के उच्छ्वास या आँसू में अनेक प्रकार के प्राकृतिक काव्य-उपादानों के बीच जैसे किसी बालिका की सुधि कभी-कभी चमक जाती है, वैसे ही छायावाद में शत-शत रम्य कल्पना-क्रीड़ाओं में कभी-कभी प्रेम की झलक दिखाई दे जाती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि छायावादी काव्य में प्रेम का स्वच्छन्द रोमानी रूप ग्रहण तो किया गया, परन्तु वह अर्ध-व्यक्त रहा। पुरुष और नारी के बीच एक सूक्ष्म रंगीन आकर्षण-भाव जग गया था, परन्तु अभी दोनों के बीच अनेक सतरंगे झिलमिल पर्दे पड़े हुए थे। छायावाद के बाद की नई पीढ़ी के कवियों ने प्रेम को व्यक्त रूप में—वैयक्तिक धरातल पर स्वीकार किया--नारी-विशेष के प्रति अपने मन के आकर्षण को और तज्जन्य उल्लास-विषाद को प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त किया। इस प्रेम के स्वरूप का विश्लेषण करने पर इसकी कुछ विशेषताएं सहज ही स्पष्ट हो जाती हैं: १. सामाजिक और नैतिक रूढ़ियों के प्रति आक्रोश; २. रोमानी स्वच्छन्दता का आग्रह; ३. प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अर्थात् मन और शरीर के प्रति सहज आकर्षण; ४. कुण्ठाजन्य विषाद, और ५. निस्संकोच, तथा कहीं-कहीं मुखर, अभिव्यक्ति। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह छायावादी युग में ही आरम्भ हो गया था, परन्तु उसमें वांछित साहस का अभाव था। अतएव यह विद्रोह-भावना अवचेतन में जाकर बैठ गई थी और स्पष्ट रूप से व्यक्त न होकर प्रतीकों और स्वप्न-चित्रों के द्वारा अभिव्यक्त हो रही थी। बच्चन आदि ने उसको खुले शब्दों में चुनौती दी। उन्होंने नीति की जीर्ण मर्यादाओं का खोखलापन दिखाते हुए प्रवृत्ति की सहज सत्यता की प्रतिष्ठा की और समाज की दाम्भिक मनोवृत्ति की भर्त्सना की। पन्त ने जहां दबे स्वर में अपनी निराशा व्यक्त की थी :

कभी तो जग में पावन प्रेम,
नहीं कहलाया पापाचार;
हुई मरु की मरीचिका आज,
मुझे गंगा की पावन धार।

वहां बच्चन और अंचल आदि ने आह्वान-भरे शब्दों में आक्रोश व्यक्त किया :

वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी !

इस प्रकार सामाजिक नीति-पाश को चुनौती देकर यह कवि-वर्ग स्वच्छन्दता की ओर बढ़ा। प्रेम नारी और पुरुष का प्रकृत आकर्षण है। समाज, अर्थात् वर्ण-वर्ग आदि, के बन्धन अस्वाभाविक हैं। प्रेम को इन कृत्रिम बन्धनों में जकड़ कर रखना अनुचित है, अस्वास्थ्यकर है। इस प्रकार नैतिक दमन से मुक्त होकर मन रंगीन रोमानी सपने देखने लगा :

मेरा वश चलता, मैं
बन जाता कौमार्य तुम्हारा।
होंठों पर निर्माल्य अछूता
बनकर मैं छा जाता।
अंगों के चम्पई रेशमी
परदों में सो जाता।
आँखों में सुरमई गुलाबी
चितवन में खो जाता।
मेरा वश चलता, मैं
बन जाता सौन्दर्य तुम्हारा। (अंचल)

× × ×

दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें,
सेज सुनहली, कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना,
निकल गईं सपने जैसी वे मीठी रातें;
याद दिलाने रहा,
यही छोटा-सा टुकड़ा।

(गिरिजाकुमार माथुर)

उनमें अब इतना साहस आ गया कि प्रेम के लौकिक रूप को—अर्थात् मन के साथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शरीर के आकर्षण को भी खुले शब्दों में स्वीकार कर सकें :

मैं काश तुम्हें कुछ घड़ियों को रानी ! एकाकी पा जाता।

चिरयुवा कवि नवीन पहले ही ललकार कर कह चुके थे :

यों भुज भर कर हिये लगाना है क्या कोई पाप ?
ललचाते अधरों का चुम्बन क्यों है पाप-कलाप ?

परन्तु ये तो थीं अन्तर्जगत् की बातें। बाह्य जगत् की कठोर वास्तविकताएं इनसे भिन्न थीं। बाह्य जीवन में, भारतीय समाज में—विशेषकर हिन्दी-भाषी समाज में, अभी इस स्वच्छन्दता के लिए अवकाश नहीं था। युवक और युवती का साहचर्य अब भी अत्यन्त विरल था। सहशिक्षा आदि का प्रचार आरम्भ ही हुआ था, सामाजिक तथा साहित्यिक गोष्ठियों में भी साहचर्य के अवसर संयोगवश ही कभी आते थे। हां, इन क्षेत्रों में युवती का पदार्पण अवश्य हो गया था, पर वह और उसके अभिभावक अभी अत्यन्त सतर्क थे। अतएव स्वच्छन्द प्रेम अभी तक एक मधुर सिद्धान्त-भर ही था—जीवन में उसकी अभिव्यक्ति नहीं मिल रही थी। अतएव इस प्रेम में घुमड़न और विषाद का धुआं ही अधिक था, उल्लास और स्फूर्ति का प्रकाश नहीं था। इसी कारण बाद में प्रगतिवाद ने इसे अस्वस्थ और रुग्ण मनोवृत्ति कह कर तिरस्कृत किया। यह साहचर्य अब ज्यों-ज्यों बढ़ रहा है, त्यों-त्यों इसके साथ प्रेम का स्वरूप अधिक विशद होता जा रहा है। घुमड़न और विषाद की सघनता कम हो रही है और उल्लास और स्फूर्ति का अब कविता में एकान्त अभाव नहीं रहा। आज से दस वर्ष पूर्व के गीतों से आज के गीतों का रूप स्पष्ट तया भिन्न है।

इस कविता का दूसरा मूल विषय है—आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न समस्याएं। इसका प्रादुर्भाव गत महायुद्ध से चार-पाँच वर्ष पूर्व चौथी शताब्दी के मध्य में हुआ था। उस समय मध्यवर्ग के युवक के सामने आर्थिक समस्या अत्यन्त उग्र रूप में उपस्थित थी। इसका कारण यह था कि अर्थ-व्यवस्था का पुराना ढाँचा उस समय लगभग टूट चुका था। माध्यमिक और उच्च शिक्षा सुलभ और सुकर हो गई थी—साधारण मध्य-वित्त का युवक अपना जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिए इस ओर बड़े वेग से आकृष्ट हो रहा था। शिक्षा प्राप्त कर जब वह कॉलिज से लौटता तो स्वभावतः उसकी दृष्टि अपने पैतृक व्यवसाय—कृषि, व्यापार आदि की ओर न जाकर अच्छे-अच्छे पदों की ओर जाती थी, जहां आय अच्छी होने के साथ-साथ सम्मान और प्रतिष्ठा थी और उसकी शिक्षा आदि का उपयोग भी था ; परन्तु शिक्षित युवक-समाज की वर्धमान संख्या को देखते हुए इस प्रकार के पदों की संख्या कहीं स्वल्प थी। विदेशी सरकार को व्यवस्था-भर बनाये रखने से मतलब था। उससे आगे वह कुछ करने को तैयार नहीं थी। देश की वर्धमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विकास-योजनाएं अपेक्षित थीं, परन्तु उनकी न सरकार को चिन्ता थी, और न सरकार के उपजीवी पूंजीपतियों को। इस भयंकर वैषम्य से जूझना पड़ रहा था शिक्षित युवक-समाज को, जिसके पास न साधन थे और न शक्ति, केवल इस वैषम्य की चेतना-भर थी। कॉलिज-जीवन में उच्च शिक्षा-दीक्षा से उसमें मनस्विता तथा आत्म-सम्मान की भावना जग रही थी, उसकी संवेदनशीलता का विकास हो रहा था। भावी जीवन के अनेक स्वप्न-चित्र मन में बन रहे थे ; परन्तु कॉलिज के बाहर की भूमि बड़ी कठोर थी, जीवन की परिधि अत्यन्त संकुचित और प्रगति का मार्ग अवरुद्ध था। कॉलिज से बाहर आने पर काफ़ी दिनों तक तो झटके ही खाने पड़ते थे, और फिर भी प्रायः मिलती थी मामूली मास्टरी या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्लर्की, जिसमें आर्थिक कठिनाइयों की रगड़ जो थी वह तो थी ही, पर आत्म-सम्मान की भावना को गहरी चोट लगती थी। इन चोटों और रगड़ों से उसका अहंभाव कुचले हुए मणि-धर के समान उद्बुद्ध हो गया था। गिरिजाकुमार की कुछ कविताओं में यह भावना अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है। यह आहत अहंभाव वैयक्तिक कविता का दूसरा मूल विषय है, जिसकी प्रेरणा कदाचित् प्रेम से भी अधिक प्रबल रही है। इसकी अभिव्यक्ति कई रूपों में हुई है। व्यक्ति का व्यक्ति के अत्याचार के प्रति विद्रोह; व्यक्ति का संस्था अर्थात् जाति, वर्ग, वर्ण आदि व्यवस्था के प्रति विद्रोह; और आगे, मानव व्यक्ति का नियति के प्रति विद्रोह ; और इससे भी आगे, मानव व्यक्ति का ईश्वर के प्रति विद्रोह।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विद्रोह सर्वथा कुण्ठित था, इसमें गति न होकर हुंकार-भर थी, इसका वेग बाहर न होकर अन्दर ही था, इसमें बाह्य जीवन का संघर्ष न होकर अन्तर्मन की टकराहट थी, जो अत्यन्त प्रबल उद्गीतों में अभिव्यक्त हुई। इस प्रकार इस कविता में आर्थिक संघर्ष का बाह्य सामूहिक रूप अंकित नहीं किया गया, उसका एकान्त वैयक्तिक आन्तरिक रूप ही व्यक्त किया गया। ये भावनाएं कितनी प्रचुर हैं, इसके प्रमाण-रूप में केवल एक ही कवि बच्चन की एक पुस्तक 'एकान्त संगीत' से ही उदाहरण देता हूं :

१. व्यक्ति के प्रति व्यक्ति का विद्रोह :

मेरे पूजन आराधन को,
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमज़ोरी कह कर
मेरा पूजित पाषाण हँसा !
तब रोक न पाया मैं आँसू !!

२. व्यक्ति का संस्था के प्रति विद्रोह :

धर्मों-संस्थाओं के बन्धन,
तोड़ बना है वह विमुक्त-मन,
संवेदना-स्नेह-सम्बल भी खोना उसे पड़ा है !
अकेला मानव आज खड़ा है !!
जब तक हार मान कर अपने,
टेक नहीं देता वह घुटने,
तब तक निश्चय महाद्रोह का झंडा सुदृढ़ गड़ा है !
अकेला मानव आज खड़ा है !!

३. व्यक्ति का नियति के प्रति विद्रोह :

क्षत शीश मगर नत शीश नहीं !
बन कर अदृश्य मेरा दुश्मन,
करता है मुझ पर वार सघन ;
लड़ लेने को मेरी हवसें, मेरे उर के ही बीच रहीं !
क्षत शीश मगर नत शीश नहीं !!

४. व्यक्ति मानव का ईश्वर के प्रति विद्रोह :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर !
युद्ध-क्षेत्र में दिखला भुजबल,
रह कर अविजित, अविचल प्रतिपल,
मनुज-पराजय के स्मारक हैं मठ, मस्जिद, गिरजाघर !

प्रस्तुत कविता के ये ही दो मूल प्रेरक भाव हैं। इनके अतिरिक्त एक और भाव भी इसमें प्रायः व्यक्त हुआ है और उसका भी तत्कालीन युवक-समाज की एक आन्तरिक समस्या से सम्बन्ध है। यह है सामाजिक दायित्व और वैयक्तिक भावना के बीच द्वन्द्व। गत महायुद्ध से पहले जब इस प्रकार की कविता का प्रादुर्भाव हुआ था, राजनीतिक संघर्ष प्रायः यथापूर्व बना हुआ था। देश की परतन्त्रता, अनेक राजनीतिक आन्दोलनों की विफलता, युवक के आत्माभिमान के लिए एक चुनौती थी, और उसकी चेतना में प्रायः एक द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता था। नरेन्द्र, शिवमंगलसिंह आदि की कुछ वैयक्तिक कविताओं में इसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट है। परन्तु यह भाव भी इस कविता में व्यक्ति के ही एकान्त भाव के रूप में स्पष्ट हुआ है, राष्ट्रीय चेतना के रूप में नहीं। परतन्त्रता के विरुद्ध विद्रोह एक ऐसा व्यापक प्रभाव था, जिससे व्यक्ति की चेतना अपने एकान्त सुख-दुःख की परिधि में भी अप्रभावित नहीं रह सकती थी।

आज परिस्थिति बदल जाने पर यह द्वन्द्व-भावना स्वभावतः ही विलुप्त हो गई है।

सारांश यह है कि यह कविता व्यक्ति के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद की कविता है; और व्यक्ति का हर्ष-विषाद क्या है ? मन की जय और पराजय ! अस्मिता वृत्ति का परितोष सुख है और कुण्ठा दुःख। व्यक्ति की चेतना इसी हिंडोले पर झूलती रहती है। वैयक्तिक कविता में मन की इसी जय और पराजय की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है।

विचारधारा

इस कविता का मूल दर्शन स्पष्टतया ही व्यक्तिवाद है। पर व्यक्तिवाद के इस रूप की व्याख्या करना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्तिवाद की परिधि में तो अद्वैत की चरम स्थिति से लेकर घोर अहंता और निकृष्टतम स्वार्थवाद तक का अन्तर्भाव हो सकता है। प्रस्तुत कविता के व्यक्तिवाद की ओर थोड़ा-बहुत संकेत तो पहले ही किया जा चुका है, यहां इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। यह व्यक्तिवाद आध्यात्मिक नहीं है, भौतिक है। छायावाद में भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रभावों के कारण एक विश्वात्मा की स्वीकृति कम-से-कम सिद्धान्तरूप में अवश्य थी, परन्तु इस कविता का ऐसा कोई आस्तिक आधार नहीं है। इसका व्यक्तिवाद मान्य आस्थाओं के प्रति सन्देह और विद्रोह को लेकर चला है। उसके मूल में एक ओर सूक्ष्म आध्यात्मिक विश्वासों के प्रति सन्देह और दूसरी ओर नैतिक और सामाजिक विधान के प्रति विद्रोह का भाव है। अतएव आरम्भ में वह नकारात्मक जीवन-दर्शन को लेकर खड़ा हुआ है। बच्चन की कविता में सन्देहवाद, भाग्यवाद या नियतिवाद, और कहीं-कहीं तो निषेधवाद (nihilism) तक मिलता है; और यह उनमें ही नहीं, उनके प्रायः सभी समवयस्क कवियों में मिलता है। अंचल की कविता में, यहां तक कि दिनकर जैसे स्वस्थ कवि के आरम्भिक काव्य में भी, नाश का आह्वान मिलता है। यह एक अंधा जीवन-दर्शन था, और अधिक नहीं चल सकता था; क्योंकि दर्शन का उद्देश्य मानव को आत्म-बल और अवलम्ब देना है, उसकी निराशा को घनीभूत और शक्ति को जर्जर करना नहीं है। परन्तु मानव के लिए जब तक इस तरह का अवसाद

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अस्वाभाविक नहीं माना जाता, तब तक इससे उद्भूत दर्शन भी अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। सामूहिक धरातल पर तो नहीं, परन्तु वैयक्तिक धरातल पर भाग्यवाद तथा उससे सम्बद्ध अन्य नकारात्मक दर्शन मानव के लिए सहज स्वाभाविक हैं—उनके औचित्य की बात हम नहीं करते।

पर नकारात्मक दर्शन से अभिप्राय यह नहीं है कि उसका कोई भावात्मक पक्ष ही नहीं होता—प्रत्येक भाव में जहां अभाव छिपा हुआ है, वहां प्रत्येक अभाव में भी भाव की सत्ता है। भाग्यवाद तथा संदेहवाद आदि का भावात्मक पक्ष एक तो भोगवाद ही है। जब विश्व में सभी कुछ नियति के इंगित पर मनमाने ढंग से चल रहा है, तो मानव के लिए यह सोचना स्वाभाविक ही है कि प्राप्त जीवन-क्षणों में उपलब्ध साधनों का अधिक-से-अधिक उपभोग किया जाय। यह उपभोग तात्कालिक आनन्द देने के अतिरिक्त अनिवार्य नियति के विस्मरण में भी सहायक होता है। भारत में चार्वाक दर्शन का और ईरान में उमरख़ैयाम के रंगीन क्षणवाद का आधार यही सिद्धान्त था। भोगवाद के अतिरिक्त इस दर्शन का एक दूसरा भावात्मक रूप भी है, जो उससे अधिक स्पृहणीय है, और उसका आधार है मानव-सहानुभूति। यह दुःखवाद का सहज परिणाम है। जिस बान्धवभाव की सृष्टि बड़े-बड़े स्वस्थ जीवन-सिद्धान्त नहीं कर पाते, वह दुःख की समानता द्वारा सहज ही जागृत हो जाता है। सुख का समभागी प्रतिद्वन्द्वी है और दुःख का समभागी बान्धव। यह सहज मानव-सहानुभूति या बान्धवभाव व्यापक मानववाद का ही एक अंग है। इसके अतिरिक्त मानववाद का एक दूसरा और अधिक प्रत्यक्ष रूप भी इस जीवन-दर्शन में मिलता है और वह है संस्था या व्यवस्था के रूढ़ि-पाश के विरुद्ध मानव-आत्मा का विद्रोह। यह ठीक है कि इसका रचनात्मक रूप प्रस्तुत कविता में हमारे सामने नहीं आता, परन्तु उसकी प्रबल स्वीकृति तो है ही। इस प्रकार इस नकारात्मक और ऊपर से अस्वस्थ प्रतीत होने वाले जीवन-दर्शन में मानववाद के दो मूल तत्त्व—मानव-सहानुभूति और मानव-मुक्ति वर्तमान थे, जो आगे चलकर व्यक्त हो गए। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, यह व्यक्तिवाद भाग्यवाद और भोगवाद से मानववाद की ओर बढ़ता गया। नरेन्द्र, अंचल, गिरिजाकुमार आदि जल्दी ही क्षयी रोमांस के गीत छोड़ स्वस्थ मानवीय रोमांस के गीत गाने लगे। स्वयं बच्चन का दृष्टिकोण सर्वथा भावात्मक हो गया। अतएव प्रस्तुत काव्य की चिन्ताधारा का विश्लेषण संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है :

१. इसका आधारभूत दर्शन व्यक्तिवाद है।
२. इस व्यक्तिवाद का आधार अद्वैतवाद या विश्वात्मवाद का सूक्ष्म आध्यात्मिक सिद्धान्त नहीं है।
३. इसका आधार मानव के भौतिक अस्तित्व की स्वीकृति है, अतएव मानव के ऐहिक संघर्ष की जय-पराजय से ही इसकी उद्भूति हुई है।
४. इसमें एक ओर संदेहवाद और भाग्यवाद जैसे नकारात्मक जीवन-दर्शनों के, और दूसरी ओर मानववाद के अन्तस्सूत्र वर्तमान हैं। नकारात्मक जीवन-दर्शनों की चुनौती व उपभोग-वृत्ति और मानववाद की मानव-सहानुभूति तथा मानव-मुक्ति के तत्त्वों से इसके कलेवर का निर्माण हुआ है।
५. इसका विकास अभावात्मकता से भावात्मकता की ओर होता गया है।
६. जीवन के सहज संघर्ष से उद्भूत होने के कारण इस जीवन-दर्शन का विकास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अत्यन्त स्वाभाविक रीति से, सिद्धान्तों की रगड़ से न होकर जीवन की रगड़ से हुआ है, अतएव अधिक स्वस्थ और व्यवस्थित न होते हुए भी इसमें एक सहज आकर्षण रहा है।

माध्यम

इस कविता का माध्यम गीत या स्फुट रचनाएं ही हो सकती हैं। अतिशय भावोद्रेक की प्रवृत्ति सदा गीत में फूटने की रही है। गीत वास्तव में वाणी का सबसे तरल रूप है—यह वाणी का द्रव है; क्योंकि इसका सीधा माध्यम स्वर है, जबकि छंद का लय। स्वर का तारल्य स्वतः स्पष्ट ही है। इसीलिए तो आत्मा के द्रव को अभिव्यक्त करने के लिए सदा वाणी के इस द्रव की आवश्यकता पड़ती है। जब कभी आत्मा भाव की अग्नि में पिघल कर बहने को हुई है, उसके ताप से वाणी भी द्रवीभूत हो गई है और भाव ने गीत का रूप धारण कर लिया है। इसलिए जब-जब हमारे जीवन में भावना का प्राधान्य हुआ है, जब-जब हमारा जीवन-दर्शन व्यक्तिपरक अथवा भावपरक हुआ है, काव्य में गीत का महत्त्व बढ़ गया है। पिछली दो दशाब्दियों में गीतों का प्रचार हिन्दी में एक साथ बढ़ जाने का यही कारण है। छायावाद के कवियों में महादेवी और निराला ने ही गीत लिखे थे—महादेवी को स्वभाव से यह नारी-सुलभ माध्यम अनुकूल पड़ा और निराला ने अपनी संगीत-प्रियता के कारण गीत को अपनाया। पर बच्चन और उनके साथियों की कविता अपनी आत्माभिव्यक्ति के दवाव से आप-से-आप ही गेय हो गई। निराला के गीत जहां संगीत के स्वर-तालों में बँधे हुए हैं वहां बच्चन, नरेन्द्र आदि के गीतों में यह बात नहीं है।

गीत के अतिरिक्त इस वर्ग के कवियों ने स्फुट छन्दोवद्ध रचनाएं तथा मुक्त छन्द भी लिखे हैं। इस विषय में कोई निश्चित नियम ढूंढ निकालना तो न सम्भव है और न उचित ही; फिर भी इन कविताओं के विषय और माध्यम का विश्लेषण करने पर कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं : जहां मूलभाव सरल और अमिश्र है, अर्थात् जहां आरम्भ से अन्त तक एक अमिश्र भाव ही है वहां कविता का माध्यम गीत है। कोमल रसों से सम्बद्ध भाव के लिए यह और भी सत्य है। जहां मानसिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति है, वहां कविता प्रायः छन्दोवद्ध है; क्योंकि गीत की ऋजुता भावों के संघर्ष को उचित रीति से वहन नहीं कर सकती। इसी प्रकार जहां विचार का प्राधान्य है, अर्थात् कवि ने अपने मानसिक संघर्ष को ही नहीं—उसके साथ अपने विचारों की उथल-पुथल को भी अभिव्यक्त किया है, वहां प्रायः मुक्त छन्द का प्रयोग हुआ है; क्योंकि विचार की उत्तेजना को व्यक्त करने के लिए अधिक अवकाश और अधिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा होती है। बच्चन, नरेन्द्र, गिरिजाकुमार, अंचल तथा उनके अन्य सहकर्मियों ने प्रायः यही किया है। इन्होंने अपने संयोग-वियोग के सरल भावों को गीतों में व्यक्त किया है—जैसे 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत', 'मिलन यामिनी' या 'प्रवासी के गीत' आदि में; मानसिक द्वन्द्व को व्यक्त करने के लिए छन्दोबद्ध कविताएं रची हैं—जैसे 'मधुबाला', 'मधुकलश', 'सतरंगिनी' या 'पलाशवन', 'हंसमाला' या 'नाश और निर्माण' आदि की अनेक रचनाओं में; विचारों की प्रेरणा से लम्बी रचनाएं की हैं, जो इन्हीं या अन्य संग्रहों में संकलित हैं।

अनुभूति की सीधी अभिव्यक्ति होने के कारण इस कविता में प्रायः सचेष्ट तथा अलंकृत कला नहीं है। बच्चन की कला तो अपनी ऋजुता और प्रत्यक्षता के लिए विख्यात ही है। नरेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के भी वैयक्तिक गीतों में एक अनिवार्य सहजता है। यही बात अंचल, सुमन आदि के विषय में भी सत्य है। गिरिजाकुमार जैसे अलंकरण-प्रिय कवि ने भी जहां अपने प्रत्यक्ष सुख-दुःख की अभिव्यक्ति के गीत लिखे हैं, वहां उनमें अलंकरण की अपेक्षा सहज गुण ही अधिक है। वैसे, इन कवियों के अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार अलंकरण और सहज गुण की न्यूनाधिक मात्रा होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि आखिर व्यक्तित्व भी तो सबके एक-से नहीं हैं। बच्चन के व्यक्तित्व की सादगी और सहज रुखाई गिरिजाकुमार की रंगीन-मिज़ाजी से स्पष्टतः भिन्न है, अतएव उनकी आत्माभिव्यक्ति में भी यह अन्तर स्पष्ट मिलेगा। परन्तु सब मिलाकर इस कविता की कला में सहज गुण और ऋजुता का ही प्राधान्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें रूप और रंग का अभाव है। वह तो सम्भव ही नहीं है; क्योंकि यह कविता मुख्यतः युवा मन की सृष्टि है और युवा मन चाहे परिस्थितिवश रूप-रंग का जीवन में उपभोग न भी कर पाए, पर रूप-रंग के सपनों से उसे कौन वंचित कर सकता है? इस कविता में भी रंगीन स्वप्न-चित्रों की कमी नहीं है; परन्तु फिर भी रंग-रूप के ये चित्र सरल हैं—इनकी कला सहज है। इनके अंकन में छायावाद के कवियों की-सी नक्काशी, जड़ाव या कढ़ाव, या रंग और रेखाओं की बारीक कारीगरी नहीं है। इनकी रेखाएं सरल और रंग स्वाभाविक हैं।

मूल्यांकन

"आप काव्य को मूलतः आत्माभिव्यक्ति मानते हैं, और प्रस्तुत कविता अपने सहज रूप में कवि की प्रत्यक्ष आत्मानुभूति है। तो क्या इसमें काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मिलता है?"—मूल सिद्धान्त से विरोध रखने वाले एक मित्र ने प्रश्न किया। उनको ऐसा लगा, जैसे मेरा आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त अपनी ही पकड़ में आ गया। पर बात ऐसी नहीं है। इस प्रश्न में आत्मानुभूति के केवल एक पहलू पर ही दृष्टि है। इसमें संदेह नहीं कि काव्य मूलतः आत्माभिव्यक्ति है, और जो रचनाएं निश्छल आत्माभिव्यक्ति की माध्यम हैं, उनमें सहज काव्य-गुण का अस्तित्व निस्सन्देह मानना पड़ेगा। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि इस युग की इन वैयक्तिक रचनाओं में, जहां उनमें आत्मानुभूति की निश्छल अभिव्यंजना हुई है, सहज काव्य-गुण अवश्य ही वर्तमान है। 'निशा-निमन्त्रण' तथा 'प्रवासी के गीत' आदि के अनेक गीतों की लोकप्रियता इस बात की साक्षी है कि हृदय से निकले हुए ये गीत सीधे हृदय पर जाकर असर करते हैं। इन कविताओं में सहज आकर्षण रहा है, जो अन्यत्र सुलभ नहीं हुआ। इसी कारण बच्चन के आत्माभिव्यंजक गीत महादेवी और पंत के उत्कर्ष-काल में भी मध्यवर्ग के युवक-समाज पर छा गए। परन्तु इस विषय में एक बात याद रखनी चाहिए, और वह यह कि निश्छल आत्माभिव्यक्ति काव्य का सहज गुण तो है, पर सरल नहीं है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति जीवन के अत्यन्त शुद्ध क्षणों में ही सम्भव हो सकती है। ये क्षण आत्म-साक्षात्कार के क्षण होते हैं, जिनमें छल और दम्भ के आवरणों को हटाकर हमारी आत्मा पारदर्शी भाषा में उतर आती है। यह एक साधना है जो सभी के लिए सदा सम्भव नहीं होती। इस युग की वैयक्तिक कविता में भी निश्छल आत्माभिव्यक्ति के गीत विरल ही हैं। वह थोड़े ही कवियों में, और उनकी भी थोड़ी ही रचनाओं में, मिलती है। बच्चन के पृष्ठ के पृष्ठ उलट जाइये, तब कहीं इस प्रकार की कविता के दर्शन होते हैं। नरेन्द्र की गीत-मालाओं में भरती के गीतों की संख्या बहुत अधिक है। यही बात औरों के विषय में भी सत्य है। आखिर इन दो दशाब्दियों में इतने अधिक नवयुवक कवियों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ने जो शत-शत गीतों और छन्दों में कल्पित प्रेयसियों के प्रति अपने कच्चे-पक्के भावों को उलटे-सीधे शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है, वह सभी तो कविता नहीं हो सकती। उन सभी में आत्मानुभूति की प्रेरणा भी नहीं है; निश्छल आत्माभिव्यक्ति तो बहुत दूर की बात है। इनमें से कुछ ख्यातनामा कवि तो लम्बी गीतमालाएं तैयार करने के मोह में पड़ गए हैं, जिनमें उन्हें प्रायः प्रयत्नपूर्वक एक विशेष मनःस्थिति जगाकर गीत की रचना करनी पड़ी है, और अनेक उदीयमान कवि कल्पित प्रेयसियों के प्रति प्रेम की छद्म कल्पना के सहारे छन्द रचते रहे हैं। वास्तव में सच्ची आत्माभिव्यक्ति की कविता न तो योजना बनाकर अनुभूति का आह्वान करके लिखी जा सकती है, और न छद्म अनुभूति के बल पर ही। इस वर्ग के कवियों को जहां इन दोनों में से किसी का सहारा लेना पड़ा है, वहीं इनकी रचना या तो हलकी और निर्जीव हो गई है, या अपनी निस्सारता में वाचाल।

यह तो हुआ आत्माभिव्यक्ति-सिद्धान्त का एक पक्ष—अर्थात् अभिव्यक्ति-पक्ष। इसका दूसरा पक्ष है आत्म-पक्ष, जिसकी कि अभिव्यक्ति होती है। निश्छल अभिव्यक्ति अपने-आप में सफलता है। पर जिस आत्म की वह अभिव्यक्ति होती है वह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, और काव्य के मूल्यांकन में वह भी एक बड़ा मापदंड है। यह ठीक है कि निश्छल अभिव्यक्ति के बिना काव्य का अस्तित्व नहीं है, परन्तु उसकी श्रेष्ठता आदि को आँकने के लिए तो उस आत्म की गुरुता-लघुता की परीक्षा करनी पड़ेगी, जिसको कि वह अभिव्यक्त करता है। निश्छल अभिव्यक्ति काव्य की पहली शर्त है, पर इसके आगे उसकी सापेक्षिक श्रेष्ठता को आँकने की कसौटी तो आत्म ही हो सकता है। आत्म, अर्थात् काव्य-व्यक्तित्व, के संस्कृत आचार्यों ने तीन तत्त्व माने हैं: शक्ति, निपुणता और अभ्यास। शक्ति का अर्थ प्राचीन आचार्यों ने जन्मान्तरगत ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा माना है, आज उसे प्रबल व्यक्ति-चेतना मान लीजिये। निपुणता या व्युत्पत्ति जीवनानुभव, अध्ययन-मनन और विचार द्वारा अर्जित संस्कार-समृद्धि का नाम है, और अभ्यास सचेष्ट कला-प्रक्रिया को कहते हैं। श्रेष्ठ कवियों में इन तीनों का प्राचुर्य होता है। इनके अनुपात से ही उनके काव्य-व्यक्तित्व का महत्त्व आँका जाता है, और उसी के आधार पर उनके काव्य का मूल्य। इस कसौटी पर कसने से इस वर्ग की कविता का सापेक्षिक मूल्यांकन सरल हो जाता है, और इधर आत्माभिव्यक्ति-सिद्धान्त के विरुद्ध उठाई गई शंका का समाधान भी। यह कविता अधिकतर अपरिपक्व वय के ऐसे कवियों द्वारा लिखी गई है, जिनका जीवनानुभव आर्थिक और शृंगारिक अन्तर्द्वन्द्वों तक सीमित रहा है, जिनका अध्ययन, मनन और विचार का क्षेत्र भी सीमित रहा है, और जिनकी प्रेरणा का उद्‌गम-स्रोत कोई गहरा आस्तिक विश्वास न होकर प्रायः सन्देह और अनास्था ही है। अभ्यास भी इन कवियों का अपूर्ण-सा ही रहा है। छायावाद के कवियों ने जिन सूक्ष्म कला-प्रक्रियाओं का अनवरत अभ्यास कर हिन्दी-काव्य को एक अभूतपूर्व कला-शिल्प का वरदान दिया था, ये कवि उसकी श्रीवृद्धि नहीं कर सके। इस प्रकार इन कवियों का काव्य-व्यक्तित्व साधारण धरातल से कुछ ही ऊपर माना जा सकता है—केवल बच्चन ही अपनी तत्त्वगत (elemental) व्यक्ति-चेतना के बल पर अपनी कुछ कविताओं में काफ़ी ऊँचे उठ पाये हैं। सामान्यतः इस श्रेणी के कवियों ने सहज और प्रिय कविता ही अधिक लिखी है, महान् कविता बहुत कम।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रगतिवाद

प्रगति का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना। जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो वही प्रगतिशील साहित्य है। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो तुलसीदास सबसे बड़े प्रगतिशील लेखक प्रमाणित होते हैं। भारतेन्दु बाबू और द्विवेदी-युग के लेखक, मुख्यतः मैथिलीशरण गुप्त, भी इस अर्थ में प्रगतिशील लेखक हैं। परन्तु आज का प्रगतिवादी इनमें से किसी को भी प्रगतिशील नहीं मानेगा—ये सभी तो उसके मतानुसार प्रतिक्रियावादी लेखक हैं। अतः प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना अवश्य है—परन्तु एक विशेष ढंग से, विशेष दिशा में। उसकी एक विशिष्ट परिभाषा है। इस परिभाषा का आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है, पहले इसे समझ लें।

इसमें दो शब्द हैं: भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक। भौतिकवाद का सार यह है कि संसार का मूलाधार पंचभूत है—पंचभूत, अर्थात् पदार्थ: मैटर। उसके सभी दृश्य, सभी सूक्ष्म-स्थूल रूप पदार्थ से बने हुए हैं। शरीर की परिचालिका शक्ति मस्तिष्क है और मस्तिष्क भी शरीर की अन्य इन्द्रियों की भाँति भौतिक ही है। बाह्य जगत् की घटनाओं की हमारी इन्द्रियों पर प्रतिक्रिया होती है और इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक कम्पन होता है। शरीर का वह सूक्ष्मतम और सबसे अधिक विकसित अवयव, जो इस कम्पन का अनुभव और समन्वय करता है, मस्तिष्क कहलाता है। आत्मा कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है, अधिक-से-अधिक उसे मस्तिष्क के आगे की एक विकसित अवस्था मात्र माना जा सकता है। अर्थात् वह भी, अगर है तो, पदार्थ की ही उद्भूति है। परन्तु यह पदार्थ क्रियाहीन या गतिहीन नहीं, अपितु स्वभाव से ही गतिशील है और इसमें गति पैदा करने के लिए ब्रह्म के ईक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती; वह तो पदार्थ के अन्तर्गत वर्तमान विरोधी तत्त्वों के सतत संघर्ष का सहज परिणाम है। जिस प्रकार जगत् को उत्पन्न करने के लिए किसी आधिदैविक शक्ति की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार उसके संरक्षण और विनाश के लिए भी नहीं; क्योंकि जो पदार्थ अपनी परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष के परिणाम-स्वरूप स्वयं गतिशील है उसमें स्वस्थ रूप का उद्भव और अस्वस्थ रूप का लय आप-से-आप होता रहता है।

इसलिए विश्व में केवल एक ही सत्ता है—आधिभौतिक। आध्यात्मिक और आधिदैविक सत्ताएं मन की छलना-मात्र हैं। "संसार किसी ईश्वर या मनुष्य की सृष्टि नहीं; वह गतिशील पदार्थ की एक ऐसी जीवित अग्नि-शिखा है जो अंशतः ऊर्ध्व-विकास और अंशतः अधःपतन की ओर उन्मुक्त है।"

बस, गति की प्रेरक इन्हीं परस्पर-विरोधी शक्तियों के, जो स्वयं वस्तु में वर्तमान रहती हैं, संघर्ष या द्वन्द्व का अध्ययन करते हुए जीवन-विकास का अध्ययन करना द्वन्द्वात्मक प्रणाली है; और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जो जीवन को एक ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्त-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विकता मानता है जिसके मूल में विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है। इन विरोधी शक्तियों में निश्चय ही एक विनाश के पथ पर होगी, दूसरी उत्थान के पथ पर। चेतन मस्तिष्क का कार्य यही है कि इस तथ्य को ढूंढ निकाले और प्रगतिशील शक्तियों को सहायता दे तथा विनाशोन्मुख शक्तियों का, जो अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए व्यर्थ ही छटपटा कर विकास या प्रगति में बाधा डालती हैं, बलपूर्वक नाश करे।

इस प्रकार, जगत् का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन ही है। उसी का स्वस्थ उपभोग हमारा ध्येय है, अन्य किसी भी काल्पनिक सुख की खोज में भटकना पलायन है। और इस भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था है समाज, जिसका आधार है अर्थ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्रगतिवादी केवल अर्थ का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। काम को वह अर्थ के आश्रित मानता है और धर्म को भी भौतिक अर्थ में जीवन की विधि-मात्र मानते हुए अर्थ के ही आश्रित मानता है। मोक्ष को आध्यात्मिक अर्थ में वह एकदम अस्वीकृत कर देता है।

आज के युग में दो विरोधी शक्तियां हैं पूंजीवाद और साम्यवाद। पूंजीवाद, जिसका साम्राज्यवाद भी एक अंग है, विनाशोन्मुख है : और साम्यवाद विकासोन्मुख। निदान, प्रगतिवाद साम्यवाद का पोषक है और पूंजीवाद का शत्रु। बल्कि यों कहिए कि प्रगतिवाद साम्यवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है। साहित्य सामाजिक कर्म-विधान का एक सक्रिय अंग है, अतएव उसे समाज-व्यवस्था के संरक्षण में वांछित सहयोग देना चाहिए। हमारे समाज की जागृत शक्तियां वे लोग हैं जो अब तक दलित और शोषित रहे हैं। प्रगतिवादी साहित्य उनकी सहायता करता है, उनके पक्ष में आन्दोलन करता है, उनकी शक्ति को संगठित करता है, उनकी पीड़ा को मुखर करता है और उस पर होने वाले अत्याचार का तीव्र विरोध करता है। इस प्रकार उसके अन्तर्गत मानववाद, क्रान्ति और विशेष परिस्थितियों में—जैसे पराधीनता में अथवा बाहर से हमला होने पर—देशभक्ति भी आ जाती है, यद्यपि इनमें से कोई भी उसका अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

साम्यवाद से सहज सम्बन्ध होने के कारण प्रगतिवादी साहित्य को मुख्यतः सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है, वैयक्तिक नहीं। जिस प्रकार साम्यवाद समष्टि या समूह के हितों की चिन्ता और रक्षा करता है, व्यक्ति के नहीं, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य समाज के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को ही महत्त्व देता है, व्यक्ति के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को नहीं। अर्थात् प्रगतिशील लेखक की भावना सामाजिक भावना है, व्यक्तिगत नहीं। वह सौंदर्य को अपने हृदय या दूसरे की आँखों में देखने की अपेक्षा सामाजिक स्वास्थ्य में देखता है। अपनी ही समस्याओं और भावनाओं में उलझे रहना—व्यक्ति को समष्टि से पृथक् देखने का प्रयत्न—मिथ्या है और साथ ही एक रुग्ण या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का सामाजीकरण है।

इस प्रकार, दृष्टिकोण बदल जाने से आदर्श और मूल्यों का भी बदल जाना अनिवार्य है। गत युग में जो सत्य-शिव-सुन्दर था, वह आज विपरीत अर्थ रखता है। अब तो हमारे मूल्यों का माप केवल एक ही है—जनहित। आज सत्य से तात्पर्य है भौतिक वास्तविकता, शिव का अर्थ है भौतिक जीवन—सामाजिक स्वास्थ्य—में सहायक तत्त्व, और सुन्दर का आशय है स्वाभाविक एवं प्रकृत। पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार और संस्कार माना जाता था, परन्तु आज इस प्रकार का दमन और गोपन अनावश्यक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही नहीं, हानिकारक भी समझा जाता है। फ्रायड ने दमन और गोपन का पर्दा फाड़ कर उसकी तह में छिपी हुई कुत्साओं का प्रदर्शन किया। अतएव प्रगतिवादी स्वस्थ मानव-प्रवृत्तियों को—जिनमें मुख्य क्षुधा और काम हैं—प्रकृत रूप में व्यक्त करने से नहीं घबराता :

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं, प्रिया के अधरों पर।
क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान,
नर-नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण ! (पंत)

विचार के साथ अभिव्यंजना भी बदली। सबसे पहले तो कला के प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया :

ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण।

अब तक काव्य के आलम्बनों में जिस प्रकार प्रकृत, अनगढ़ एवं लघु का तिरस्कार और सुन्दर, मनोरम एवं महत् का ही ग्रहण होता था, इसी प्रकार अभिव्यक्ति के उपकरणों में भी। प्रगतिवाद ने कहा कि यह अन्तर काल्पनिक है। जीवन में सब-कुछ केवल सूक्ष्म, सुगढ़ और कोमल ही नहीं है, उसमें स्थूल, दृढ़ और अनगढ़ भी है, और जो शायद अधिक उपयोगी है। स्वस्थ जीवन-दर्शन वही है जो उसकी वास्तविकता को स्वीकार करे—जीवन को उसके संपूर्ण रूप में ग्रहण करे। रूप-मोह या मानसिक विलास में पड़कर जीवन के उन स्वस्थ उपादानों का, जिनका बाह्य प्रकृत और अनगढ़ है, तिरस्कार करना क्षयी मस्तिष्क का काम है।

इसलिए प्रगतिवादी ने अपनी अभिव्यक्ति के उपकरण आग्रहपूर्वक साधारण, स्वस्थ जन-जीवन से ग्रहण करना आरंभ किया। वह अपने काव्य-चित्रों का आधार नित्य-प्रति के व्यवहार को बनाता है। उसकी अलंकरण-सामग्री सूक्ष्म, कोमल या चुनी हुई नहीं है, वह स्थूल और प्रकृत है। एक शब्द में, उसकी कला विलास, रूप-रंग और रोमांस से प्रेम नहीं करती। इसी तरह प्रगतिवाद की शब्द-योजना में भी प्रकृत जन-जीवन का अनगढ़पन मिलता है, रीतिकाल की पालिश और छायावाद की अमूर्त मधुचर्या नहीं। अतएव प्रगतिवादी अभिव्यक्ति खरी, खड़ी और तीखी होती है—क्योंकि वह मुख्यतः भावात्मक न हो कर आलोचनात्मक है।

सारांश यह है कि प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का नाम है, जिसके मूल तत्त्व ये हैं :

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—केवल भौतिक विधान की मान्यता, ईश्वर और आत्मा की सत्ता की अस्वीकृति।

साम्यवाद (जिसके मूल में मानववाद भी अन्तर्निहित है) —साम्यवाद का समर्थन; पूंजीवाद और उससे सम्बद्ध राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति।

राष्ट्रीय भावना—प्रगतिवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीयता का भी समावेश है, परन्तु वह साधारण दक्षिणपक्षीय राष्ट्रीयता से भिन्न है। पराधीनता के उन्मूलन आदि प्रश्नों पर प्रगतिवादी शक्तियों का लक्ष्य भी वही है जो दक्षिणपक्षीय शक्तियों का, परन्तु उनकी विधि में अन्तर है। इनकी विधि पूर्णतः क्रान्ति की विधि है जिसका आधार एकान्त भौतिक है। वह अहिंसादि आदर्शमय साधनों को कोई मान्यता नहीं देती। इसके अतिरिक्त प्रगतिवाद में राष्ट्र केवल सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है, अन्य वर्गों के प्रति उसे सहानुभूति नहीं है। अतएव प्रगतिवाद

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का राष्ट्रवाद सर्वहारावाद अथवा जनवाद का ही पर्याय है।

प्रगतिवाद को प्रभावित करने वाली शक्ति मुख्यतः कार्ल मार्क्स हैं, और किन्हीं अंशों में डारविन तथा फ्रायड भी। और, इसकी अभिव्यक्ति भावात्मक की अपेक्षा बौद्धिक अर्थात् आलोचनात्मक अधिक है। प्रगतिवाद के एकाध नादान दोस्त की मोटी अक़्ल में फ्रायड का महत्त्व नहीं बैठ पाता पर इससे फ्रायड का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। जीवन के भौतिक-बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में फ्रायड का योग मार्क्स से कम नहीं है।

यह हुआ प्रगतिवाद का तात्त्विक विश्लेषण। परन्तु उसके ये सभी सिद्धान्त निर्विवाद स्वीकार नहीं किये जा सकते—उन पर कुछ मूलगत आक्षेप सरलता से हो सकते हैं।

पहला आक्षेप तो यह है कि प्रगतिवादी जीवन-दर्शन संकुचित है। जीवन की केवल आर्थिक व्याख्या संगत नहीं। इस विषय में सीधी युक्तियों की अपेक्षा एक निषेधात्मक युक्ति अधिक सफल होगी। मार्क्सवादियों ने मानव-इतिहास की जो आर्थिक व्याख्या की है, वह अधूरी और अनेक स्थानों पर असंगत एवं अविश्वसनीय है। उदाहरण-रूप में कॉडवेल की 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' पुस्तक के उस सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण परिच्छेद की ओर संकेत किया जा सकता है जिसमें वे अंगरेज़ी साहित्य के इतिहास का विवेचन करते हुए केवल उन्हीं मोटी-मोटी बातों को ले सके हैं जो उनका प्रयोजन सिद्ध करती हैं। अंगरेज़ी साहित्य की अनेक सूक्ष्म और उलझी हुई प्रवृत्तियों को उन्होंने बिलकुल छोड़ दिया है। मेरी अपनी बौद्धिक सीमाएं हो सकती हैं, परन्तु मुझे यह सचमुच हास्यास्पद लगता है कि जहां फ्रायड-जैसे अतलदर्शी मनोवैज्ञानिक मानव-मन की परीक्षा करते हुए अन्त में नेति-नेति कह देते हैं, वहां मार्क्स का साधारण अनुयायी भी सिर्फ़ पैदावार की बातचीत करता हुआ उसके अन्तिम सत्यों तक झट से पहुँच जाता है। यह विश्वास और उत्साह स्तुत्य होने पर भी बुद्धिसंगत नहीं है।

दूसरा आक्षेप यह है कि साहित्य अपने मूल रूप में सामाजिक या सामूहिक चेतना नहीं है, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है। मनुष्य पहले व्यक्ति है, पीछे समाज की इकाई; और उसका पहला रूप ही मौलिक रूप है। अतएव साहित्य अपने वास्तविक रूप में जीवन के प्रति व्यक्ति की अथवा अनात्म के प्रति आत्म की प्रतिक्रिया है, अर्थात् साहित्य वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति ही है। हमारे आत्म या व्यक्तित्व की दो प्रवृत्तियाँ हैं: अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति बहिरंग को अपने अन्दर खींचती हुई गहरी अथवा घनीभूत होती रहती है, बहिर्मुखी प्रवृत्ति अंतरंग का बाहर प्रसार करती हुई व्यापक होती रहती है। मनुष्य में संस्कार और परिस्थिति-वश इनमें से एक का प्राधान्य हो जाता है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया से स्पष्ट है कि वह जीवन की भावगत व्याख्या है। वह जीवन की अन्तर्मुखी साधना है। अतः स्वभाव से ही साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्ति का प्राधान्य होता है। वह जितना महान् होगा, उसका अहं उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा, जिसका पूर्णतः सामाजीकरण असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। संसार में ऐसा महान् साहित्यकार विरला ही होगा जिसने किसी अपरागत उद्देश्य से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। गोर्की, इक़बाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान् है वह उनके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्युरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं। महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा के असाधारण क्षणों की सृष्टि है। यह असाधारण प्रतिभा समाज या समूह से, जिसका कि अधिकांश साधारण प्रतिभा और शक्ति वाले लोगों से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बना हुआ है, सहानुभूति रखती हुई भी—और यह भी सर्वथा अनिवार्य नहीं—अपनी चेतना को उसमें लय नहीं कर सकती। उसकी अपनी चेतना समाज से बहुत कुछ ग्रहण करती हुई भी सृजन के अर्ध-चेतन क्षणों में वनस्पति से ढँकी हुई चिनगारी की तरह प्रज्ज्वलित हो उठेगी।

वास्तव में अपने मूल रूप में जीवन का एक दृष्टिकोण होते हुए भी व्यावहारिक रूप में प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक विचारधारा का ही उच्चार है, जो बलपूर्वक साहित्य द्वारा अपनी प्रत्यक्षाभिव्यक्ति चाहता है। इसलिए उसमें प्रायः वही सामयिक उत्साह और प्रचार-भावना मिलती है जो सम्प्रदायों में सर्वत्र पायी जाती है : अतः जहां तक ये लोग अपनी बात कहते हैं, हम उसे आवश्यक काट-छाँट के बाद आसानी से ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु जब अपनी उस अन्तिम मार्क्सवादी कसौटी पर ये लोग अपर साहित्य को कसते हैं तो इनके परिणाम सर्वथा भ्रामक और अन्यायपूर्ण होते हैं। मार्क्सवाद एक नवीन और काफ़ी स्वस्थ जीवन-दर्शन है। साहित्य पर उसके द्वारा नवीन प्रकाश पड़ रहा है, परन्तु उसकी उपादेयता व्याख्या तक ही सीमित है : उसके द्वारा किया हुआ मूल्यांकन एकांगी होता है। मुझे सबसे बड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से ही है। वह साहित्य और पैदावार का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे रोटी-पानी या जीवन के सामयिक प्रश्नों को हल करने का सीधा साधन मान कर बहुत ही सस्ता बना देता है।

आदिकाल से ही मानव-मन अनेक जीवन-दर्शनों का आविष्कार करता रहा है। परंतु उसके सभी प्रयत्नों का ध्येय रहा है आनन्द की प्राप्ति। साहित्य भी आनन्द-प्राप्ति का एक प्रयत्न है, किंतु यह प्रयत्न स्थूल और प्रत्यक्ष नहीं है। सुख के लिए किये हुए मानव-प्रयत्नों में साहित्य अत्यन्त सूक्ष्म, परिष्कृत और मधुर प्रयत्न है। आध्यात्मिक चिन्तन इससे भी सूक्ष्म है, पर वह इतना मधुर नहीं है। साहित्य की साधना और सिद्धि दोनों में ही आनन्द है। अतएव आनन्द को छोड़ और कसौटी मानना, हमारी समझ में नहीं आता। जीवन के मूल्य चिरन्तन ही मानने पड़ेंगे; क्योंकि जीवन चिरन्तन है, जीवन की मौलिक वृत्तियां चिरन्तन हैं—कम-से-कम मानव-सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक तो चिरन्तन ही चली आयी हैं।

चिरन्तन शब्द का कोई काव्यमय अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। चिरन्तनता अंत में जाकर एक सापेक्षिक गुण सिद्ध होती है जिससे स्थायित्व का चरम आधिक्य और परिवर्तन-शीलता की चरम न्यूनता का ही अभिप्राय है। आज भी हमें वाल्मीकि और होमर की कविताएँ अनेक सामयिक कविताओं से कहीं अधिक आनन्द देती हैं, उनकी प्राणवत्ता अब भी ज्यों-की-त्यों हैं। इसका कारण यही है कि मानव-मन में कुछ ऐसे गुण हैं जो देश-काल के परिवर्तनों के बीच भी बने रहते हैं। मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि ये गुण और कुछ नहीं मानव-जीवन की मूल वृत्तियां ही हैं। देश-काल का प्रभाव इन पर इतना ही पड़ता है कि किसी विशेष परिस्थिति में कोई विशेष मनोवृत्ति बलपूर्वक एक विशेष रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करे। स्वयं साम्यवाद का मूल उस आदिम मानव-वृत्ति प्रेम में मिल जाता है। आज जो हम सबको अथवा उन व्यक्तियों को भी, जो स्पष्ट रूप से पूंजीवादी हैं, सुन्दर प्रगतिशील कविता प्रिय लगती है, इसका एकमात्र कारण यही है कि घोर से घोर पूंजीवादी और उतने ही कट्टर साम्यवादी, दोनों के अन्तरतम में कुछ तार ऐसे हैं जो एक सामान्य अनुभूति से झंकृत होकर बाह्य भेदों की अवहेलना करते हुए बरबस मिल जाते हैं। यह सामान्य अनुभूति है मानववाद, जिसका दार्शनिक नामकरण चाहे कभी हुआ हो, पर जो अपने मूल रूप में प्रेम का प्रस्फुटन होने के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कारण अनादि काल से चला आ रहा है। हम में से अधिकांश के हृदय को साम्यवाद का विज्ञान स्पर्श नहीं करता—उसकी मूलवर्त्तिनी मानव-कल्याण या पारस्परिक सहानुभूति की भावना ही स्पर्श करती है।

सारांश यह है कि साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी जो अब तक चली आयी है वही ठीक है—अर्थात् आनन्द। साहित्य की सृजन-क्रिया स्वयं साहित्यकार को आनन्द देती है, और उसके व्यक्त रूप का ग्रहण पाठक या श्रोता को आनन्द देता है। हमें जो साहित्य जितना ही गहरा और स्थायी आनन्द दे सकेगा उतना ही वह महान् होगा, चाहे उसमें किसी सिद्धान्त का—साम्यवाद, गांधीवाद, मानववाद, पूंजीवाद, किसी भी वाद का—समर्थन हो या विरोध।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि पूंजीवाद की जो प्रवृत्तियां स्पष्टतः मानव-हित में घातक हैं, उनका समर्थन कैसे श्रेयस्कर हो सकता है ? पर इसका उत्तर सरल है। पहले तो यह अनुचित समर्थन मानव-मन को आनन्द देने में ही असमर्थ होगा; और यदि समर्थ होगा भी तो लेखक की अनुभूति की तीव्रता और आत्माभिव्यक्ति की निष्कपटता के कारण ही। आप कह सकते हैं कि वह ग़लत रास्ते पर है, लेकिन उसकी ईमानदारी और ताक़त की दाद आपको देनी ही होगी। इसी उलझन को सुलझाने के लिए तो पुराने आचार्य ने रसानुभूति को अलौकिक कहा था। वह बेचारा यही कहना चाहता था कि इस प्रकार के लोक-प्रचलित अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है। काव्य रसात्मक है—सदैव रहा है और आशा यही है कि रहेगा भी। जिसमें रस नहीं वह अपने उच्च सिद्धान्तों या किसी भी अन्य कारण से काव्य से भी ऊँची वस्तु हो जाय, पर काव्य नहीं हो सकता।

अतएव, जहां तक व्याख्या का सम्बन्ध है, मार्क्सवाद ने हमें एक नया मार्ग दिखाया है और उसके लिए हम कृतज्ञ हैं। परन्तु एक तो यह मार्ग अन्तिम—एकमात्र-मार्ग नहीं है, फ्रायड आदि द्वारा प्रदर्शित अन्य मार्ग कम उपयोगी नहीं। दूसरे, यह एक परीक्षण-विधि मात्र है; मूल्यांकन की कसौटी नहीं। इस नयी विधि का प्रयोग हमें रस-परीक्षण के ही लिए, इसकी सीमाओं को स्वीकार करते हुए, करना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में तो शुद्ध मनोविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र का ही, जो मनोविज्ञान का ही एक अंग है, अधिक विश्वास करना उचित होगा।

एक और आक्षेप, जो प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्तों पर किया जा सकता है, यह है कि इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक ही रहता है। अतएव स्वभाव से ही उसमें वह तन्मयता या आत्मविसर्जन नहीं है जो काव्य के लिए अनिवार्य है।

हिन्दी-कविता में प्रगतिवाद का आविर्भाव पिछले आठ-दस वर्षों में ही हुआ है। यह एक विचित्र संयोग है कि हिन्दी में प्रगतिवाद का सबसे पहला कवि, जिसने उसे गौरव दिया, वही व्यक्ति है जो छायावाद का एक प्रमुख प्रवर्त्तक था। मेरा आशय कवि पन्त से है। पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' प्रगतिशील काव्य की प्रमुख कृतियां हैं। पन्त के सहयोग में नरेन्द्र ने भी 'पलाश-वन', 'मिट्टी और फूल' आदि में अनेक प्रगतिशील कविताएं लिखीं। परन्तु पन्त जी के मानसिक जीवन के विकास में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का सृजन-काल एक संस्थान-मात्र था। अन्ततः स्थूल भौतिक दर्शन पन्त का मनःपरितोष नहीं कर सका और वे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जीवन के सूक्ष्म आध्यात्मिक मूल्यों के देश में फिर लौट गए। जीवन में स्थिरता आने के साथ नरेन्द्र का भी जीवन-दर्शन बदल गया है।

उधर, अंचल ने भी 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की रंगीन कविताओं के बाद 'करील' आदि में ऐसी कविताएं लिखीं जो इसी वर्ग में आती हैं। शिवमंगलसिंह 'सुमन' की अनेक रचनाओं में भी प्रगतिवाद का गहरा रंग रहा। इधर नागार्जुन आदि इस प्रकार की रचनाएं कर रहे हैं।

चौंकने की बात नहीं, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी में शुद्ध प्रगतिशील रचनाएं तो मिल जायेंगी, परन्तु इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सर्वथा ग्रहण कर लेने वाला पूर्णतः प्रगतिशील कवि या लेखक अभी सामने नहीं आया। लेकिन ऐसा कहना हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य का तिरस्कार करना नहीं है। एक तो उसका इतिहास ही आठ-दस वर्षों में सिमटा हुआ है, दूसरे अन्य देशों में भी, शायद रूस को छोड़कर, आलोचना ही अधिक है, सृजन कम। हिन्दी में भी स्वभावतः आलोचना ही अधिक है और इसके कई कारण हैं :

१. हिन्दी-कवियों का दृष्टिकोण अभी वैज्ञानिक अर्थात् भौतिक एवं बौद्धिक नहीं बन पाया। अभी वह अधिकांश में भाव-प्रधान है। आत्मा का मोह भी ये कवि नहीं छोड़ पाये हैं। इसलिए हिन्दी-साहित्य में मानववाद या क्रान्ति-भावना ही मुख्य है, वैज्ञानिक साम्यवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बहुत कम।

२. हिन्दी में अभी सामाजिक चेतना इतनी प्रबल नहीं हुई है कि व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएं उसमें लय हो जायें। अभी अधिकांश कवियों में वैयक्तिक गीतितत्त्व की प्रचुरता है।

३. हिन्दी में जिन प्रवृत्तियों ने छायावाद को जन्म दिया, उनको पूरी तरह अभिव्यक्त होने का अवसर नहीं मिल पाया। कुछ तो एक-साथ बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति और कुछ प्रापैगण्डा के परिणामस्वरूप वे प्रवृत्तियां एक-साथ समय से पहले ही दब गईं। प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंट कर ही उठ खड़ा हुआ है। कामायनी, तुलसीदास और अनामिका—उधर 'युगवाणी' के रचनाकाल में कोई विशेष अन्तर नहीं है। आज के अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं—अतएव यह स्वाभाविक है कि इनकी ओर से पूरी-पूरी कोशिश होने पर भी वह क्षयी रोमांस (?) बार-बार उभर आता है। अब भी ये प्रायः वहीं उस मधु-माधव के उपवन में पलायन कर जाते हैं। दिनकर की 'रस-वन्ती', अंचल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता', नरेन्द्र की 'कामिनी' और स्वयं पन्त की 'ग्राम्या' में संकलित अनेक कविताएं मेरे कथन की पुष्टि करेंगी।

४. हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक उस जीवन से दूर हैं जो उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत है। उनके सिद्धान्त पढ़कर और मनन कर प्राप्त किये हुए हैं, सह कर और भोग कर नहीं। केवल बौद्धिक सहानुभूति के बल पर शोषितों की पीड़ा को मुखर करने वाले या हज़ारों मील दूर पर लड़ने वाली लाल सेना के अभियान-गीत लिखने वाले इन लेखकों की रचनाएं स्वभावतः ही प्राणवान् कैसे हो सकती हैं ?

अभी भारतीय जीवन में गांधीवाद और साम्यवाद का संघर्ष चल रहा है। गांधीवाद का भारत के संस्कारी हृदय पर गहरा प्रभाव है। गत शताब्दी के पूर्वार्ध में राजनीतिक तथा अन्य कारणों से उसके विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई, जिसका वेग युद्ध के दिनों में और भी बढ़

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गया था। परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त, और विशेषकर गांधी के महाबलिदान के पश्चात्, उसका ज़ोर बहुत ही कम हो गया है। आजकल स्वयं प्रगतिशील वर्ग में भी मौलिक मतभेद उत्पन्न हो गए हैं। उसकी परिधि में सत्साहित्य की सृष्टि अत्यन्त विरल हो गई है। भारत में प्रगतिवाद का भविष्य साम्यवाद के साथ बँधा हुआ है; लेकिन फिर भी आधुनिक काव्य के अध्येता को आदर और धैर्यपूर्वक उसका अध्ययन करना होगा। उसने हिन्दी-काव्य को एक जीवन्त चेतना प्रदान की है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रयोगवादी कविता

यों तो प्रत्येक युग की ही कविता प्रयोगवादी होती है क्योंकि वह वस्तु और शैली दोनों में अपनी पूर्ववर्ती कविता से भिन्न प्रयोग करके ही अपने आविर्भाव की घोषणा करती है; परन्तु इन दिनों यह विशेषण आधुनिक कविता की एक प्रवृत्ति-विशेष के लिए प्रायः रूढ़-सा हो गया है। शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भाव-तत्त्व और रूप-आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असन्तोष-सा उत्पन्न हो गया था, और धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य-सामग्री एवं शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई— भाव-वस्तु में छायावाद की तरल-अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक-सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की माँग हुई—दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का ज़ोर बढ़ा, और शैली-शिल्प में छायावाद की वायवी एवं अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल काव्य-सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त-सघन और नानारूपिणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखायी देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गए।—एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि-कर्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक-राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा। उसने किसी राजनीतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की, वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेकरूप, अस्थिर, चिर-प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों का पार्थक्य सर्वथा स्थिर और सीमा-रेखाएं एकान्त दृढ़ नहीं हैं। साहित्यिक वर्ग-विभाजन में यह कभी सम्भव ही नहीं होता—अनेक प्रगतिवादी शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं, उधर अनेक प्रयोगवादियों की भाव-भूमिका पर एकान्ततः साम्यवाद का प्रभाव है। अन्तर केवल प्राथमिक उद्देश्य का है—पहला वर्ग जहाँ सामाजिक चेतना की जागृति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है, दूसरा अर्थात् प्रयोगवादी वर्ग, वस्तु और शैली, दोनों में चिर-प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देता है।

प्रयोगवादी कविता का मूल तत्त्व स्वाभावतः ही काव्य-विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। "दावा केवल यही है कि ये सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टि-कोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। × × × बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभी राही हैं, राहों के अन्वेषी।" (अज्ञेय, 'तार-सप्तक' की भूमिका)। इस वर्ग के कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही तरह काव्य भी एक चिर-गतिशील सत्य है जिसकी वास्तविक साधना शोध, अन्वेषण एवं प्रयोग है। अतएव वस्तु और शैली दोनों ही के क्षेत्र में ये काव्य के पूर्ववर्ती उपादानों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और नवीन उपकरणों को आग्रह-पूर्वक ग्रहण करते हैं। जीवन और काव्य दोनों में ही एतादृशत्व के ये घोर विरोधी हैं। यह इनको सर्वथा अमान्य है कि किसी भी समय ऐसी अवस्था आ सकती है जब कि जीवन का सम्पूर्ण सत्य प्राप्त हो जाता है—और फिर उसी की पुनरावृत्ति शेप रह जाती है। यही बात काव्य पर लागू होती है! काव्य का परम तत्त्व प्रत्येक युग के लिए सदैव प्राप्य ही रहता है—अपने पूर्ववर्ती युग के 'प्राप्त' पर कोई युग जीवित नहीं रह सकता।

प्रयोगवादी कविता का जन्म छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। अंगरेज़ी साहित्य में भी प्रयोगवादी कविता में रोमानी प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह का एक तीखा स्वर मिलता है, परन्तु वह व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है। हिन्दी में यह प्रतिक्रिया अधिक स्थिर और स्पष्ट है। भाव-क्षेत्र में छायावाद की अतीन्द्रियता और वायवी सौन्दर्य-चेतना के विरुद्ध एक वस्तुगत, मूर्त और ऐन्द्रिय चेतना का विकास हुआ और सौंदर्य की परिधि में केवल मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष, अनगढ़ और 'भदेस' का समावेश किया गया। वास्तव में नये कवि ने अतिशय कोमलता और मार्दव से ऊब कर अनगढ़ और भदेस को कुछ अधिक ही आग्रह के साथ ग्रहण किया :

निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टांगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्य-धन गदहा !

यहां तो केवल वस्तु में ही भदेसपन है, क्योंकि इन पंक्तियों का लेखक अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त परिमार्जन के कारण भाषा को भदेस नहीं बना पाया है। अन्तर्बाह्य भदेसपन के लिए डॉ० रामविलास और श्री केदारनाथ या 'हंस' में नित्यप्रति छपने वाली कविताएं आदर्श हैं :

सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था। (नागार्जुन)

अपने दृष्टिकोण की सफ़ाई में उसने कहा कि सौंदर्य को केवल मधुर-कोमल में सीमित कर देना अत्यन्त संकुचित दृष्टि का परिचायक है। सौंदर्य-चेतना एक अत्यन्त व्यापक चेतना है और गत्यात्मक भी, जो परिस्थिति के अनुसार विकसित होती रहती है। जिस प्रकार मधुर-कोमल उसका एक रूप है, उसी प्रकार अनगढ़ और परुष भी। आज के जीवन में अनगढ़ और भदेस हमारे अधिक निकट है, इसलिए उसकी चेतना हमारे लिए अधिक वास्तविक और स्वाभाविक है।

आज का जीवन सर्वथा विशृंखलित और अव्यवस्थित है; जीवन-मूल्यों की इतनी भयंकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आयी हो। राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनों ने मिलकर जीवन में अगणित गुत्थियां डाल दी हैं—जिनमें कि आज का विचारक फँसकर रह जाता है। इस प्रकार के राजनीतिक विप्लव तो पहले भी आये थे, परन्तु मानव-चेतना पर उनका इतना सर्वव्यापी प्रभाव नहीं पड़ा। पर आज तो जैसे समाज और सभ्यता का आधार ही भंग हो गया है। इसका कारण यह है कि पहले तो राजनीति और संस्कृति प्रायः स्वतन्त्र थीं; किन्तु आज वे एक-दूसरे में गुँथ गई हैं। राजनीतिक विप्लव ने भयंकर आध्यात्मिक विप्लव को भी जन्म दे दिया है, विश्वास का सूत्र सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया है। और, आज की सबसे बड़ी दुर्घटना यही सर्वग्राही अविश्वास है। आज हमें न अध्यात्म-दर्शन में विश्वास है, न भौतिक दर्शन में। विज्ञान ने ईश्वर-विश्वास तो हिला दिया—परन्तु वह अपने में विश्वास जमाने में असफल रहा। समाज की प्राचीन व्यवस्था भंग हो गई परन्तु नवीन व्यवस्था दूर तक नहीं दिखायी देती। राजनीति में हिंसा-अहिंसा, प्रजातन्त्र-वाद, साम्यवाद, सर्वाधिकारवाद का, और अर्थनीति में पूंजीवाद और समाजवाद का, दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि का, और मनोविज्ञान में चेतन और अव-चेतन आदि का ऐसा कुहराम मचा हुआ है कि आज के मानव की चेतना एकान्त धूमिल और तमसाच्छन्न हो गई है। ऐसी अवस्था में किसी स्थिर रोमानी सौन्दर्य-बोध को ग्रहण कर लेना असम्भव है। यदि ऐसा किया जाता है तो वह वास्तविक और हार्दिक नहीं है—वह केवल काल्पनिक अथवा भावगत है। छायावादी सौन्दर्य-बोध के विरुद्ध इन कवियों का यही प्रबल आक्षेप है—और ये उसके प्रतिकार-रूप आज के आच्छन्न जीवन के अनुकूल संकुल सौन्दर्य-बोध को ही वास्तविक एवं हार्दिक मानकर चलते हैं।

जीवन-मूल्यों की यह अव्यवस्था नवीन काव्य में अत्यन्त मुखर है। आध्यात्मिक, सामाजिक और साहित्यिक उपादानों में लघु-गुरु के अन्तर को यह कवि झटके के साथ अस्वीकार कर देता है—और मेंढक, चाँदनी रात और मूत्र-सिंचित वृत्त में खड़े हुए गदहे, नूपुर-ध्वनि और चप्पल, कांट, फ़िक्टे और ख़ाली चाय की प्याली को साथ-साथ ग्रहण करता है।

१. तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल !
(भारतभूषण)

२. कब तक मगज़ मारता बैठूं तुम से कांट और बोज़ांके,
तर्क घुला जाता है बांके, उधड़ रहे सीने के टाँके।
जीवन धोखा हो तो हो, यह प्यार कभी जोखों से खाली
यह सब एक विराट् व्यंग है, मैं हूं सच औ चा की प्याली।
(माचवे)

यहीं से प्रयोगवादी कविता का वस्तुपरक दृष्टिकोण ज़ोर पकड़ता है। प्रयोगवादी कवि का आग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक-से-अधिक वस्तुगत बनाये, वस्तु पर अपने मन का रंग न चढ़ाकर वस्तु की आन्तरिक अर्थ-व्यंजना को अनूदित करे। आज के हिन्दी कवि के लिए यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है, क्योंकि वह छायावाद की अतिशय भावपरकता में पगा हुआ है। केवल केदार, शमशेरसिंह और अंशतः अज्ञेय ही इसमें सफल हो सके हैं। कारण यह है कि छायावाद के विरुद्ध उत्कट चेतना रखते हुए भी इनमें से अधिकांश कवि उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये।

वास्तव में देखा जाय तो इन कवियों के लिए अपने व्यक्तित्व से बचना सम्भव नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इनमें से अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति एकान्त अन्तर्मुखी है और वे अपने मन की निविड़ता में उलझे हुए हैं—सबसे अधिक अज्ञेय। मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाववश अवचेतन का अध्ययन इनकी कविता का मुख्य विषय है। अवचेतन की काम-कुण्ठाओं का प्रतीकों द्वारा यथातथ्य चित्रण अज्ञेय और गिरिजाकुमार में अत्यन्त स्पष्ट है, और वैसे अन्य कवि भी इससे मुक्त नहीं। छायावाद में भी यह प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल थी। परन्तु दोनों की चेतना में काफ़ी अन्तर है। छायावाद का कवि जहाँ अनजाने ही अपनी कुण्ठाओं को काम-प्रतीकों द्वारा (प्रधानतः प्रकृति-प्रतीकों द्वारा) सहज रूप में व्यक्त करता था वहाँ प्रयोगवादी कवि के प्रतीक-विधान में अवचेतन-विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है। इस प्रकार इस कविता में व्यक्तित्व की निविड़ताओं को वैज्ञानिक प्रतीकों द्वारा वस्तुगत रूप में अंकित करने का प्रयत्न रहता है और एक ऐसी बौद्धिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जहाँ वस्तुपरक और व्यक्तिपरक दृष्टिकोण प्रतिद्वन्द्वी न रहकर साधक-साध्य बन जाते हैं। कवि अपने अवचेतन के अर्धव्यक्त अनुभव-खण्डों को, जो एकान्त व्यक्तिगत होते हैं, यथावत् वस्तु-रूप में अंकित करने का प्रयत्न करता है। यथावत् अंकन का यह प्रयत्न काव्य की बिम्ब-ग्रहण पद्धति के विपरीत पड़ता है। इनमें विशेष की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का इतना उत्कट आग्रह रहता है कि कवि साधारणीकरण को अनावश्यक ही मानता है। वह अपने विशिष्ट अव्यवस्थित भाव-खण्डों को उसी अव्यवस्थित रूप में प्रतीकों द्वारा अनूदित करने का प्रयत्न करता है। उसका अभीष्ट रहता है अवचेतन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति—अतएव वह निकटतम प्रतीकों का प्रयोग करता है। अवचेतन भावखण्डों के पास पहुँचते-पहुँचते ये प्रतीक स्वयं भी अर्धव्यक्त और निविड़ होते चले जाते हैं। परन्तु इसको वह सर्वथा स्वाभाविक एवं अनिवार्य मानता है; क्योंकि उसका मत है कि अर्धव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण व्यक्त प्रतीक अवांछित हैं। वे श्रोता या पाठक को अभिप्रेत भावखण्ड का संवेदन न कराकर उसके मन में किसी भिन्न भाव-खण्ड अथवा धारणा की उद्बुद्धि करते हैं। अतएव वह अर्धव्यक्त एवं असम्बद्ध प्रतीकों का सचेष्ट प्रयोग करता है और अपने इस प्रयत्न में मनोविश्लेषण-शास्त्र की 'मुक्त विचारप्रवाह', 'स्वप्न-चित्र' आदि पद्धतियों से प्रत्यक्ष सहायता ग्रहण करता है।

परिणामस्वरूप एक गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर सीसे की पर्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रंगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म-तरल भावना-चिन्तन के स्थान पर यहां ठोस बौद्धिक तत्त्व का बोझीलापन है; परन्तु स्मरण रहे कि ये रचनाएं प्राचीन दार्शनिक अथवा चिन्तन-विचारप्रधान कविताओं की परम्परा में नहीं आतीं। उदाहरण के लिए विनय-पत्रिका, अथवा इधर प्रसाद, महादेवी आदि की दार्शनिक कविता और नवीन प्रयोगवादी कविता में कोई साम्य नहीं है। उन कविताओं में जहां दर्शन अथवा विचार को राग का विषय बनाया गया है, वहां इन कविताओं में प्रायः रागात्मक तत्त्व को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है। प्राचीन कविता में विचार और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध था, पर इस कविता में विषय और काव्यानुभूति के बीच बुद्धिगत सम्बन्ध हैं। वास्तव में इस कविता का मुख्य उपादान-साधन बौद्धिक धारणाएं (Intellectual concepts) हैं जो प्रायः विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि की उपजीवी हैं।

यहां तक तो हुई भाव-वस्तु की बात। शैली-शिल्प के क्षेत्र में प्रयोगवाद का आग्रह और भी उत्कट है, "जो व्यक्ति का अनुभव है उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय, यही पहली सम-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।" इस क्षेत्र में प्रथम विशेषता है भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग। प्रयोगवादी शब्द की प्रचलित अर्थ-व्यंजना को सामान्यतः ग्रहण करना पसंद नहीं करता। अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिए वह साधारण शब्दार्थ को असमर्थ पाता है, इसलिए उसका विशिष्ट प्रयोग करता है—अर्थात् "शब्द के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहता है।" उसके मन में यह विश्वास बैठ गया है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियां रूढ़ हो गई हैं, अतएव वह "भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।" इसके लिए वह तरह-तरह के प्रयोग करता है: एक तो विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र, बाज़ार, गाँव, गली-कूचे, सभी जगह से शब्द एकत्र करता हुआ अपने शब्द-भंडार को व्यापक बनाता है; दूसरे शब्दों का विचित्र और सर्वथा अनर्गल प्रयोग करता है; और तीसरे अपने अप्रस्तुत-विधान को अत्यंत असाधारण रूप देने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त वह भाषा की व्यंजना और समास-शक्ति पर इतना भार लादने की चेष्टा करता है कि वह अस्त-व्यस्त हो जाती है, और उसकी अर्थ-व्यंजना जवाब दे देती है: अपने उस 'बड़े अर्थ' को पाठक के मन में उतार देने के लिए भाषा के साधन अपर्याप्त ठहरते हैं, निदान उसे इतर साधनों की शरण लेनी पड़ती है—"भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइप, सीधे-उलटे अक्षरों, लोगों और स्थानों के नामों, अधूरे वाक्यों" का उपयोग करना पड़ता है। या फिर, वह विदेश के प्रभाववादी, मूर्तिवादी आदि कविवर्गों के प्रयोगों का जाने-अनजाने में अनुकरण करता हुआ पाठक के सामने एक गोरखधन्धा उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार छन्द-विधान में भी इस क्षुब्ध-संकुल भाव-वस्तु और तदनुरूप अस्त-व्यस्त काव्य-सामग्री को वहन करने योग्य नये-नये प्रयोग अनिवार्य हो गए। पुराने वर्णिक और मात्रिक छन्दों की स्थिरता नये जीवन की अस्थिरता को वहन नहीं कर सकती। इसलिए प्रयोगवादी कवि प्रायः मुक्त छन्द को ही ग्रहण करता है और उसमें वर्णिक और मात्रिक छन्दों की भिन्न-भिन्न संयोजनाओं के अतिरिक्त पदांश और स्वर-पात आदि की भी व्यवस्था करता है। तुकों का वह अत्यन्त सूक्ष्म प्रयोग करता है, पूर्णान्त तुकों का तो वह प्रयोग ही नहीं करता; क्योंकि उसकी धारणा है कि पूर्णान्त तुकें छन्द-बन्दों को अतिशय नादमय बना कर विषय की गम्भीरता के अनुरूप नहीं रहने देतीं। वह तुकान्त शब्दों का प्रयोग अन्त में न कर प्रायः पंक्ति के बीच में करता है—और उनके द्वारा लय को समृद्ध करता है। इसके अतिरिक्त अर्थ से स्वतन्त्र संगीत को भी वह अपने माध्यम के अनुकूल नहीं पाता और उसका सतर्कता से बहिष्कार करता है। अर्थ के ही अनुकूल उसके छन्द-विधान में एक प्रकार की गद्यमयी निविड़ता रहती है जो केदार, शमशेरसिंह जैसे कवियों में अत्यन्त नीरस और जड़ हो जाती है; अज्ञेय अपने शब्द-चयन के बल पर उसकी गद्यमयता को तो अवश्य कम कर देते हैं परन्तु संगीत का समावेश वे भी नहीं कर पाते। संगीत और ध्वनि-सौन्दर्य की दृष्टि से गिरिजाकुमार की सफलता स्तुत्य है। वास्तव में नये कवियों में मधुर-कोमल स्वर-सौन्दर्य का व्यावहारिक ज्ञान उनको ही है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओं की दुरूहता! ये कविताएं अनिवार्य रूप से ही नहीं, सिद्धान्त-रूप से भी दुरूह हैं। इस दुरूहता के अनेक कारण ऊपर दिये हुए हैं—जिनमें चार मुख्य हैं: भावतत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध, साधारणीकरण का त्याग, उपचेतन मन के अनुभव-खण्डों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के यथावत् चित्रण का आग्रह, तथा काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग। इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है और वह है इन सबका मूलवर्ती कारण—नूतनता का सर्वग्राही मोह, जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है। ये कारण यदि आनुषंगिक होते तो इनको सफ़ाई के रूप में ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु, इसके विपरीत, ये सभी कारण सैद्धान्तिक हैं। और मेरा सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि ये कारण सैद्धान्तिक हैं, क्योंकि इनके आधारभूत सिद्धान्त ही सदोष हैं और मनोविज्ञान तथा काव्यशास्त्र दोनों की कसौटियों पर ही खोटे उतरते हैं।

सबसे पहले भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बुद्धिगत सम्बन्ध को लीजिये ! काव्य के विषय में और चाहे कोई सिद्धान्त निश्चित न हो, परन्तु उसकी रागात्मकता असंदिग्ध है। इसे पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही काव्यशास्त्र निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करते हैं। कविता मानव-मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है—यह एक विश्वजनीन सत्य है, और कविता की यही चरम सार्थकता है। समय-समय पर बुद्धि और राग में थोड़ी-बहुत प्रतियोगिता रही हो वह दूसरी बात है; परन्तु कभी भी बुद्धि को राग के स्थान पर काव्य का प्राण-तत्त्व होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जब कभी बुद्धि-तत्त्व राग-तत्त्व के ऊपर हावी हुआ है, काव्य-तत्त्व भी उसी अनुपात से क्षीण हो गया है। काव्य का यह मापदण्ड छोटे-बड़े सभी कवियों के विषय में लागू रहा है। दांते, तुलसी, मिल्टन, प्रसाद जिस-किसी कवि ने भी बौद्धिक तत्त्व के प्रति पक्षपात दिखाते हुए राग की उपेक्षा की है, काव्य के पारखी ने तुरन्त ही उसके बुद्धि-वैभव की प्रशंसा करते हुए भी काव्यगुण की क्षीणता का निर्णय दे दिया है। इसका निषेध करने का साहस टी० एस० इलियट में भी नहीं है। काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये; बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शक्ति का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु के साहित्य से इसी बात में मूलतः भिन्न है। यह अन्तर, जब तक काव्य का अस्तित्व है तब तक, बना रहेगा। इसका तिरोभाव होने से काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है। प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में इसी मूल सिद्धान्त का तिरस्कार कर काव्य के मर्म पर चोट की है, और इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है, उसमें मन को स्पर्श अथवा चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही। दूसरे शब्दों में—उसमें रस का अभाव है। पहले तो उसका अर्थ ही हाथ नहीं पड़ता, और यदि दिमाग़ को खुरच कर उसका अर्थ निकाल भी लिया जाय तो पाठक के मन का प्रसादन नहीं होता और उसे एक प्रकार की खीझ-सी होती है।

प्रयोगवादी कवि का दूसरा आग्रह है उपचेतन की उलझी हुई संवेदनाओं का यथावत् चित्रण। यहां भी वह एक भयंकर मनोवैज्ञानिक त्रुटि करता है। अन्तःचेतन की संवेदनाएं प्रायः सभी उलझी होती हैं। कला या काव्य की सार्थकता यह है कि वह उस अरूप को रूप देता है, उलझे हुए संवेदनों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। क्रोचे के सिद्धान्त में थोड़ा अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि सहजानुभूति से पूर्व अनुभव का स्वरूप संवेदनाओं की गुत्थियों से भिन्न नहीं है। कवि में सहजानुभूति की शक्ति जनसाधारण की अपेक्षा अधिक होती है, अतएव जनसाधारण जिन उलझे हुए संवेदनों का अनुभव-भर करके रह जाता है, कवि उनकी सहजानुभूति कर उन्हें रूप दे सकता है। यही मौलिक कवि-कर्म है, और इसीलिए एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में कविता का उद्भव हुआ। परन्तु प्रयोग-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वादी अपने मन की उलझी हुई संवेदनाओं को यथावत्, अर्थात् उसी उलझे रूप में, उपस्थित करने के लिए उलटे-सीधे प्रयत्न करता हुआ अभिव्यंजना के मूल सिद्धान्त का ही तिरस्कार करता है। वास्तव में उसके प्रयत्न की अनिवार्य असफलता ही उसके सिद्धान्त की असंगति का अकाट्य प्रमाण है।

साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियों के रुद्ध हो जाने की बात भी काफ़ी विचित्र है। प्रयोगवादी की सफ़ाई है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियां आज के जीवन की अतिशय उत्तेजना को वहन करने में असमर्थ हैं। नयी प्रणालियों की उद्भावना अभी नहीं हुई, इसलिए कवि अपने अर्थात् व्यक्ति के अनुभूत को सहृदय—समाज—का अनुभूत बनाने में असमर्थ रहता है। परन्तु यह बात नहीं है। कवि नवीन प्रयोगों की धुन में साधारणीकरण का या तो प्रयत्न ही नहीं करता, या फिर ऐसा प्रयत्न करता है जिसमें साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का ही निषेध रहता है। वास्तव में साधारणीकरण शैली का प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसका मूल आधार है मानव-सुलभ सह-अनुभूति। इसमें सन्देह नहीं कि आज का जीवन विगत जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा और पेचीदा हो गया है और मानव-मन की प्रवृत्तियां भी उसी अनुपात से निविड़ एवं जटिल हो गई हैं; फिर भी साधारणीकरण के सिद्धान्त में इससे कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि कवि के मन की निविड़ता के साथ सहृदय के मन की निविड़ता भी तो उसी अनुपात से बढ़ गई है। जिन परिस्थितियों ने कवि के मन को प्रभावित किया है उन्हीं ने सहृदय के मन पर भी प्रभाव डाला है। अतएव कवि और सहृदय के मानसिक धरातल में एक-सा परिवर्तन होने के कारण साधारणीकरण की स्थिति वैसी ही रहती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता; वह विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करने के बजाय विशेष रूप में ही प्रस्तुत करने का बेतुका प्रयत्न करता है। आख़िर उसके और सहृदय के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम तो वही हो सकता है जो दोनों के लिए साधारण हो। परन्तु वह इस साधारण को पुराना समझ कर नये माध्यम की खोज में न जाने क्या-क्या चमत्कार दिखाता है। वास्तव में यह सब और कुछ नहीं है; यह कवि की सहजानुभूति की विफलता मात्र है। उसने उलझन को प्रयोगवादी सिद्धान्त के रूप में ऐसे आग्रह के साथ स्वीकार कर लिया है कि वह उसमें एक प्रकार के गौरव का अनुभव करता है। एक तो उसकी संवेदनाएं ही इतनी उलझी हुई हैं कि उनकी सहजानुभूति अर्थात् उन्हें बिम्ब-रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षाकृत कठिन है; दूसरे वह उलझन को ही संवेदनीय मान बैठा है। परिणाम यह होता है कि उसकी अभिव्यक्ति सर्वथा विफल रहती है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थितियों में इस विफलता का कारण कवि में सहजानुभूति की अक्षमता भी होती है। कवि की अनुभूति में ही इतनी शक्ति नहीं होती कि वह संवेद्य को बिम्ब-रूप में ग्रहण और प्रस्तुत कर सके। सहजानुभूति को क्रोचे ने कल्पना का गुण माना है। परन्तु यह कल्पना भी सर्वथा अनुभूति पर ही आश्रित है। अतः सहजानुभूति के लिए अनुभूति-क्षमता सर्वथा अपेक्षणीय है। जब तक अनुभूति में शक्ति नहीं है, कवि के मन में संवेदनों का बिम्ब बनना सम्भव नहीं है। प्रयोगवादी कवि बुद्धि-व्यवसायी है, अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहजानुभूति में असमर्थ रहता है, अर्थात् अपने संवेद्य को बिम्ब-रूप में न तो ग्रहण कर सकता है, और न प्रस्तुत ही कर सकता है—और इसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अब रह जाता है भाषा का एकान्त वैयक्तिक प्रयोग, जिसके अन्तर्गत शब्दों का अनर्गल उपयोग, असाधारण प्रतीक-विधान आदि आते हैं। यह वास्तव में साधारणीकरण-विरोधी प्रवृत्ति का ही स्थूल रूप है और उसी की भाँति असंगत भी। भाषा एक सामाजिक साधन है। उसकी सार्थकता ही यह है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज पर प्रकाशित कर सके। अतएव उसका प्रयोग सामाजिक ही हो सकता है, वैयक्तिक नहीं। शैली की वैयक्तिकता दूसरी बात है—शैली में शब्द-संयोजना, वाक्या-रचना, लक्षण-व्यंजना आदि का उपयोग निश्चय ही व्यक्तिगत होता है; परन्तु शब्द का कोई अनर्गल अर्थ देना, अथवा शब्दों की अस्त-व्यस्त संयोजनाओं द्वारा किसी सर्वथा असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराना, या अप्रचलित प्रतीकों द्वारा किसी अर्धव्यक्त अनुभव-खण्ड को अनूदित करना तो भाषा के मूल सिद्धान्त के ही प्रतिकूल है। साधारणतः पाठक आप के अभिप्राय को समझेगा नहीं, किन्तु यदि आपकी टिप्पणियों की सहायता से समझ भी जाय तो उसे गोरखधन्धे को खोलने का आनन्द मिल सकता है, काव्य का आनन्द नहीं मिल सकता। साधारण दुरूहता भी रस-प्रतीति में बाधक होती है, लेकिन जहां प्रयत्नपूर्वक दुरूहता के सभी साधन एकत्रित किये गए हों, वहां रस-प्रतीति कैसी ?

सारांश यह है कि जीवन की भाँति काव्य में भी नवीनता और प्रयोग का बड़ा महत्त्व है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मूल्यों का संतुलन बना रहे। जीवन के मूल तत्त्वों पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए उन्हीं के पोषण और समृद्धि-विकास के निमित्त प्रयोग करना, उनको रूढ़ि और स्थविरता से बचाने के लिए नवीन गतिविधि का अन्वेषण करना सार्थक और स्तुत्य है। परन्तु यदि एतादृशत्व-मात्र से वैर हो जाय, और नवीनता की खोज अथवा नये प्रयोग साधन न रहकर साध्य बन जायें, उनको यदि जीवन के मूल तत्त्वों से अधिक महत्त्व दिया जाने लगे, तो वे अपनी सार्थकता खो बैठते हैं और प्रायः बाधक बन जाते हैं। काव्य के विषय में भी ठीक यही बात है। काव्य के मूल तत्त्व रसात्मक बोध पर दृष्टि केन्द्रित रखकर, काव्य को गतिरोध और रूढ़ि-जाल से मुक्त करने के लिए नये प्रयोग स्तुत्य हैं—वे काव्य के साधक हैं; परन्तु क्रम को उलटकर काव्य की आत्मा का तिरस्कार करते हुए प्रयोगों को स्वतन्त्र महत्त्व देना, उन्हें ही साध्य मान लेना, हल्की साहसिकता-मात्र है—काव्यगत मूल्यों का अनुचित तथा अनावश्यक क्रम-विपर्यय है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(ख) प्रवृत्तियाँ : हिन्दी-साहित्य

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है—उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू; पूर्व में उड़िया, बंगला और असमिया; मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएं हैं जिनका साहित्यिक एवं भाषावैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है—जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तूरू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण—सभी की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाये तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है। ज्ञान का अपार भाण्डार—हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊंचा और ब्रह्म की प्रकल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिंधी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएं कितनी मिली हुई हैं! किन्तु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है! इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है किंतु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति सम्भव है! दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है: सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियां हैं, परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है! यही बात बँगला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बँगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियां हैं। तमिल का संगम-साहित्य, तेलुगु के द्वि-अर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य, मलयालम के सन्देश-काव्य एवं कीर-गीत (किलिप्पाटु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के आख्यान और फागु, बँगला का मंगल-काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगीत, उर्दू की ग़ज़ल और हिन्दी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचार-धाराओं और जीवन-प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज-सम्भव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहां इस एकता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के आधार-तत्त्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्रायः समान ही है। तेलुगु-साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय, जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग', जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश के नरेश नृपतुंग (८१४-८७७ ई०); और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएं हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि-ग्रन्थ सन् ११८५ ई० में रचित शालिभद्र भारतेश्वर का 'बाहुबलिरास' है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है। बँगला के चर्या-गीतों की रचना शायद दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी; असमिया-साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएं 'प्रह्लादचरित्र' तथा 'हरगौरीसंवाद'। उड़िया भाषा में भी 'तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं। उधर चौदहवीं शती में तो उड़ीसा के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल, जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल-भाषी उसका उद्गम और भी पहले मानते हैं) और उर्दू, जिसका वास्तविक आरम्भ पन्द्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्वमध्य-काल की समाप्ति मुग़ल-वैभव के अन्त अर्थात् सत्रहवीं शती के मध्य में तथा उत्तर-मध्यकाल की अंगरेज़ी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है; सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानान्तर विकास-क्रम का आधार अत्यन्त स्पष्ट है, और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर ही भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुग़ल-शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा। मुग़लों की सत्ता खण्डित हो जाने के बाद भी यह सम्पर्क टूटा नहीं। मुग़ल-शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट् तो नहीं हुआ, किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासन भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन-प्रणाली प्रायः एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंगरेज़ों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था क़ायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसे हुए जिनका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध-धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ-सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरम्भ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एवं सिद्धान्त-प्रतिपादन दोनों के लिए कवि-कर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्राय विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी सन्त-सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफी-मत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। सन्त-सम्प्रदाय वेदान्त दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण-भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफ़ी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफ़ी सन्तों का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहां भी अनेक प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आन्दोलन का आरम्भ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुञ्जरित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरंतर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्त्व—जैसे वैभव-विलास, अलंकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाये और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंगरेज़ों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस सम्पर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है! विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ सम्पर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक कुण्ठाओं और स्वप्नों को शब्द-रूप देने के नये प्रयोग, और अन्त में स्वतन्त्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूपरेखा है, जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिये। भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जय-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के आधार-तत्त्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्रायः समान ही है। तेलुगु-साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय, जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग', जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश के नरेश नृपतुंग (८१४-८७७ ई०); और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएं हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि-ग्रन्थ सन् ११८५ ई० में रचित शालिभद्र भारतेश्वर का 'बाहुबलिरास' है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है। बँगला के चर्या-गीतों की रचना शायद दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी; असमिया-साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएं 'प्रह्लादचरित्र' तथा 'हरगौरीसंवाद'। उड़िया भाषा में भी 'तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं। उधर चौदहवीं शती में तो उड़ीसा के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है— तमिल, जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल-भाषी उसका उद्गम और भी पहले मानते हैं) और उर्दू, जिसका वास्तविक आरम्भ पन्द्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्वमध्य-काल की समाप्ति मुग़ल-वैभव के अन्त अर्थात् सत्रहवीं शती के मध्य में तथा उत्तर-मध्यकाल की अंगरेज़ी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है; सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानान्तर विकास-क्रम का आधार अत्यन्त स्पष्ट है, और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर ही भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुग़ल-शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा। मुग़लों की सत्ता खण्डित हो जाने के बाद भी यह सम्पर्क टूटा नहीं। मुग़ल-शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट् तो नहीं हुआ, किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासन भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन-प्रणाली प्रायः एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंगरेज़ों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था क़ायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसे हुए जिनका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध-धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ-सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरम्भ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एवं सिद्धान्त-प्रतिपादन दोनों के लिए कवि-कर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्राय विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी सन्त-सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफी-मत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। सन्त-सम्प्रदाय वेदान्त दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण-भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफ़ी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफ़ी सन्तों का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहां भी अनेक प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आन्दोलन का आरम्भ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुञ्जरित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरंतर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्त्व—जैसे वैभव-विलास, अलंकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाये और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंगरेज़ों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस सम्पर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है! विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ सम्पर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक कुण्ठाओं और स्वप्नों को शब्द-रूप देने के नये प्रयोग, और अन्त में स्वतन्त्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूपरेखा है, जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिये। भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जय-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देव आदि की अमर कृतियां, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अन्तर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियां आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रन्थ—नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपयोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है।—इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है; किन्तु काव्य-शैलियों और काव्य-रूपों की समानता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य-शैलियां—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश-परम्परा की भी अनेक शैलियां, जैसे चरितकाव्य, प्रेमागाथा-शैली, रास, पद-शैली आदि प्रायः समान रूप में मिलती हैं। अनेक वर्णिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक देशी छन्द—दोहा, चौपाई आदि—भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छन्द हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्य-रूपों और छन्दों का—जैसे प्रगीत-काव्य और उसके अनेक भेदों, सम्बोधन-गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी का और मुक्त-छन्द, गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएं दो विभिन्न परिवारों—आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएं हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंगरेज़ी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएं सहज ही लक्षित हो जाती हैं। भारतीय भाषाएं अपनी व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों के विकास के लिए, चित्रमय शब्दों और पर्यायों के लिए तथा नवीन शब्द-निर्माण के लिए निरन्तर संस्कृत के भाण्डार का उपयोग करती रही हैं और आज भी कर रही हैं। इधर वर्तमान युग में अंगरेज़ी का प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है। अंगरेज़ी की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शक्ति बहुत विकसित है। पिछले पचास वर्ष से भारत की सभी भाषाएं उसकी नवीन प्रयोग-भंगिमाओं, मुहावरों, उपचार-वक्रताओं को सचेष्ट रूप से ग्रहण कर रही हैं। उधर गद्य पर तो अंगरेज़ी का प्रभाव और भी अधिक है; हमारी वाक्य-रचना प्रायः अंगरेज़ी पर ही आश्रित है। अतः इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा में एक गहरी आंतरिक समानता मिलती है जो समान विषय-वस्तु के कारण और भी दृढ़ हो जाती है।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि 'भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है।' देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक् अनुसंधान अभी होना है। इसके लिए अत्यंत निस्संग भाव से, सत्य-शोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसंधान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चाहिए; वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यंत अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए, मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बँगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की शोध में असफल रहेगा। उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धाराओं में भी अवगाहन करना होगा। गुजराती, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टतः अनेक छिद्र रह जाएंगे। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएं सांयोगिक-सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तव में वैसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बंगला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी-काव्य में घटने वाली आकस्मिक या ऐकान्तिक घटना नहीं थी; गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानों में, पन्द्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कृष्णगाथा में, असमिया कवि माधवदेव ने अपने बड़गीतों में अत्यंत मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझाकर रख देता है। रम्याख्यान-काव्यों की अगणित कथानक-रूढ़ियां विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान-काव्यों का अध्ययन किये बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफ़ी काव्य के मर्म को समझने में फ़ारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—कश्मीरी, सिंधी, पंजाबी और उर्दू—में विद्यमान तत्संबंधी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में राम के स्वरूप की कल्पना को हृद्गत किये बिना अनेक भारतीय भाषाओं के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बँगाल और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था। वहां के कृष्ण-काव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अंतःसाहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियां अनायास ही मिल जाएंगी, अगणित जिज्ञासाओं का सहज ही समाधान हो जायेगा और उधर भारतीय चिंताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखण्ड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

किन्तु यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी है। सबसे पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधाताओं का ज्ञान प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंगरेज़ी और संस्कृत तक ही सीमित है, प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना कहीं पुण्य इच्छा मात्र होकर न रह जाये। पर यह बाधा अजेय नहीं है। व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषावर्ग तो ऐसे हैं जिनमें अत्यल्प अभ्यास से काम चल सकता है। उनमें तो रूपान्तर, यहां तक कि लिप्यन्तर भी, आवश्यक नहीं है। जैसे बँगला और असमिया, या हिन्दी और मराठी में, या तेलुगु और कन्नड़ में कुछ शब्दों अथवा शब्द-रूपों के अर्थ आदि लेकर काम चल सकता है। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में लिप्यन्तर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती है। यही हिन्दी और गुजराती तथा तमिल और मलयालम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास, परिचय, तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान, अन्तःसाहित्यिक गोष्ठियां आदि की सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश में इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हो गई है और कतिपय संस्थाएं इस दिशा में अग्रसर हैं। किन्तु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरंभिक अवस्था में ही है। इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है, वैसा आयोजन अभी हो नहीं रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रबुद्धि ही अपने आप में शुभ लक्षण है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ़ एवं स्थायी आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरन्तर अपनी अखंडता में उभरता आ रहा है, उसी प्रकार एक समंजित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ब्रज-भाषा का गद्य (टीका-साहित्य)

इस प्रसंग में मुझे यूरोप के किसी नाटककार का एक मज़ाक याद आता है जिसमें एक पात्र बड़े ही गंभीर जिज्ञासु भाव से दूसरे से पूछता है—'मसियो, गद्य क्या होता है ?' और जब दूसरा पात्र उसे बताता है कि जिस भाषा में वह बोल रहा है वही गद्य है तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है ! ब्रज-भाषा के साहित्यकार की अवस्था भी बहुत-कुछ ऐसी ही थी। यों तो ब्रज-भाषा गद्य की परंपरा तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल के आरंभ तक निरंतर चलती रही, परंतु उसके काव्य-वैभव ने गद्य-साहित्य को इस बुरी तरह आच्छादित कर लिया था कि आज उसके अस्तित्व का विश्वास करना भी कठिन हो जाता है।

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक उपलब्ध ब्रज-भाषा गद्य-साहित्य के स्थूल रूप से तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं। पहले वर्ग के अन्तर्गत ऐसी रचनाएं आती हैं जिनका विषय धार्मिक शास्त्र-चर्चा है। ये रचनाएं सामान्यतः तीन प्रकार की हैं— (क) हठयोग आदि के ग्रंथ, (ख) वैष्णव-धर्म के शास्त्रीय ग्रंथ, और (ग) साधारण ब्रह्म-ज्ञान-संबंधी ग्रंथ। गोरखनाथ के अनेक ग्रंथ जैसे 'गोरखनाथ-गणेश-गोष्ठी', 'महादेव-गोरख-संवाद' आदि हठयोग के ग्रंथ हैं। विट्ठलनाथ का प्रसिद्ध ग्रंथ 'शृंगार-रस-मंडन', विष्णुपुरी की 'भक्ति-रत्नावली' आदि वैष्णव धर्म के शास्त्रीय ग्रंथ हैं, और 'ज्ञान-मंजरी' आदि का संबंध ब्रह्म-ज्ञान से है। ये तीनों प्रकार के गद्य-ग्रंथ प्रायः ऐसे संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद या छायानुवाद हैं जिनमें सिद्धांत-निरूपण किया गया है। स्वभावतः इनमें शास्त्रीय प्रतिपादन की सूत्र-वृत्ति शैली का अवलंबन किया गया है। वाक्य छोटे और अपूर्ण हैं। वाक्य-रचना में विस्तार और व्यवस्था का अभाव है। यह शैली शास्त्रार्थ की शैली है। शब्दावली की दृष्टि से इनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। गोरख-पंथियों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है, क्योंकि उनका जनता से संपर्क अधिक था; फिर भी संस्कृत के मूल ग्रंथों की विचारधारा के साथ-साथ संस्कृत की शब्दावली भी चली आयी है।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वर्णनात्मक गद्य-ग्रंथ आते हैं जिनमें वार्त्ताएं, उपाख्यान, पुराण, नीति-कथा, अष्टयाम, ऐतिहासिक वृत्त आदि अनेक प्रकार की रचनाएं अंतर्भूत हैं। यह ब्रज-भाषा गद्य का उत्कृष्ट रूप है। वाक्य-रचना व्यवस्थित और स्वच्छ है। पंडिताऊ कथंभूती शैली से मुक्त होने के कारण भाषा में प्रसार-क्षमता और प्रवाह है। शब्दावली में बोल-चाल के सरल-सुबोध तत्सम-तद्भव रूपों का प्रयोग है। संस्कृत के साथ उर्दू-फ़ारसी के प्रचलित शब्द भी सहज रूप में ग्रहण किये गये हैं। वास्तव में इसी गद्य को व्यावहारिक गद्य के विकास का सोपान मानना चाहिए।

तीसरे वर्ग में टीकाओं तथा तिलक आदि का अन्तर्भाव है। रीति-ग्रंथों में प्रयुक्त वार्त्तिक तथा वचनिकाएं आदि भी इसी के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कारों ने अनेक टीकाओं तथा तिलकों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछेक का संबंध संस्कृत के शृंगार-मुक्तकों से अवश्य है, परन्तु अधिकांश हिन्दी-काव्य के अमर ग्रंथों को लेकर ही चले हैं। उत्तर-मध्य युग की पंडित-गोष्ठियों में सबसे अधिक प्रचार बिहारी-सतसई का था। अतः यह स्वाभाविक ही है कि सबसे अधिक टीकाएं भी इसी ग्रंथ पर लिखी गईं। बिहारी-काव्य के आचार्य कविवर रत्नाकर के अनुसार सतसई पर लगभग बीस टीकाएं ब्रज-भाषा गद्य में लिखी गई हैं। इनमें से अधिकांश हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं। बिहारी-सतसई की इन टीकाओं में सबसे प्रमुख हैं कृष्णलाल की टीका, अनवर-चन्द्रिका टीका, पन्ना-निवासी कर्ण कवि की साहित्य-चन्द्रिका टीका, सूरति मिश्र की अमर-चन्द्रिका, ईसवी खां की रस-चन्द्रिका, हरिचरण-दास की हरिप्रकाश टीका, ठाकुर कवि द्वारा लिखित सतसैया-वर्णार्थ अर्थात् देवकीनन्दन की टीका, और सरदार कवि की टीका। लोकप्रियता की दृष्टि से बिहारी के उपरान्त केशव तथा तुलसीदास का नाम आता है। केशव की 'कविप्रिया' पर दो प्रसिद्ध ब्रज-भाषा टीकाएं हैं—(१) हरिचरणदास की टीका (रचनाकाल सन् १७७८ ई०), और (२) लछमनराव की लछमन-चन्द्रिका टीका (समय सन् १८१६ ई०)। 'रामचन्द्रिका' पर जानकीप्रसाद की टीका है जिसका रचना-काल सन् १८१५ है। 'रसिकप्रिया' पर सरदार कवि की टीका उपलब्ध है। यह ग्रंथ प्रकाशित है और इसका समय सन् १८४६ ई० है। 'रामचरितमानस' के टीकाकारों में अयोध्या के महन्त बाबा रामचरन तथा काशी-नरेश ईश्वरीनारायण सिंह प्रमुख हैं। मतिराम आदि कुछ अन्य कवियों को भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ, परन्तु उनके ग्रंथों की टीकाएं संख्या में अत्यन्त नगण्य हैं।

इन सभी टीकाओं की स्वतन्त्र समीक्षा करने का तो अवकाश नहीं है और न उनमें इतना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य ही है। अतएव उनके प्रतिपाद्य विषय, भाष्य-पद्धति तथा भाषा-शैली आदि का सामान्य विवेचन करना ही यथेष्ट होगा।

प्रतिपाद्य विषय—टीका का मूल प्रतिपाद्य तो अर्थ की व्याख्या ही है, परन्तु अर्थ के सम्यक् निरूपण के लिए वक्ता-बोधव्य, प्रसंग आदि का स्पष्टीकरण, रस, अलंकार, ध्वनि, शब्द-शक्ति, नायिका-भेद आदि काव्यांगों का उद्घाटन भी आवश्यक हो जाता है। रीति-काल में काव्यांगों का सचेष्ट प्रयोग हुआ था—अतएव इस युग की प्रमुख रचनाओं की टीकाएं तो शास्त्रीय विवेचन के बिना पूर्ण ही नहीं हो सकती थीं। बिहारी और केशव दोनों ही रीतिशास्त्र के मर्मज्ञ थे, अतएव उनकी टीकाओं में अर्थ की व्याख्या की अपेक्षा काव्यांगों का निरूपण अधिक आवश्यक था। बिहारी की टीकाओं में प्रायः तीन रूप मिलते हैं—कृष्णलाल आदि की कुछ टीकाओं में तो केवल वक्ता-बोधव्य का निर्देश करते हुए भावार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए, एक दोहे की व्याख्या लीजिए :

पार्‌यौ सोर सुहाग कौ इन बिनु ही पिय नेह।
उन दौंही अँखियां ककै कै अलसौंहीं देह॥

'टीका : मुग्धा स्वाधीनपतिका सखी को बैन सखी सौं। हे सखी! इन राधिका बिन ही भरतार सौं नेह सुहाग कौ सोर पार्‌यौ है। सो कैसेक नायका के अलसौंही देह करने तैं नायक दोनु ही अँखियां करिकैं देखि सो चित चढ़ी।' इस टीका को पढ़कर जिज्ञासु पाठक के हाथ क्या लग सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। एक तो इसमें मूल दोहे का पाठ ही भ्रष्ट है—'उनदौंही' एक शब्द है किन्तु प्रतिलिपि-दोष के कारण कृष्णलाल ने 'उन' और 'दौंही' को दो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पृथक् शब्द मान उनका इसी रूप में अर्थ किया है। दूसरे अंतिम चरण का क्या तात्पर्य है, यह समझना अत्यन्त कठिन है। कृष्णलाल ने अलंकार तथा रसांग आदि का निरूपण नहीं किया। अनवर-चंद्रिका का ढंग इसके विपरीत है—इसमें अलंकार, वक्ता-बोधव्य आदि का ही निरूपण है, अर्थ की व्याख्या नहीं है। परन्तु ऐसी टीकाओं की संख्या अधिक नहीं है। अधिकांश टीकाओं में सबसे पूर्व वक्ता-बोधव्य, फिर अर्थ की ग्रंथियों का उद्घाटन और अंत में अलंकार का निर्देश किया गया है। साहित्य-चंद्रिका और रस-चंद्रिका इस श्रेणी की टीकाओं में प्रमुख हैं। इनमें व्याख्या तथा काव्यांग-विवेचन दोनों का उचित संयोग है। रस-चंद्रिका में ईसवी खां नायिका-भेद तथा हाव-भाव आदि का भी यथास्थान निरूपण करते गए हैं। हरिचरणदास-कृत 'हरिप्रकाश टीका' में, ठाकुर कवि की 'सतसैया-वर्णार्थ टीका' में, तथा सरदार कवि-लिखित 'रसिकप्रिया' की टीका में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत निरूपण किया गया है। इनकी व्याख्या सूक्ष्म है, शब्द-चमत्कार की बारीकियों को खोलने की चेष्टा इनमें स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'रामचरितमानस' तथा कृष्ण-काव्य की टीकाओं में भक्ति-शास्त्र का आधार ग्रहण किया गया है। काव्यांग का निरूपण वहाँ गौण है, भक्ति-निरूपण ही प्रधान है।

व्याख्या-शैली—इन टीकाओं की व्याख्या-शैलियों पर भी संस्कृत की छाप स्पष्ट है। यद्यपि अधिकांश टीकाओं में सामान्य वृत्ति-शैली का ही अवलम्बन किया गया है, परन्तु दो-चार में खण्डान्वय-शैली का भी प्रयोग मिलता है। वृत्ति-शैली में पूरे वाक्य या उपवाक्य का अर्थ किया जाता है, परन्तु खण्डान्वय में स्वतन्त्र पदों को या वाक्यांशों को लेकर खण्ड-रूप में उनकी व्याख्या की जाती है। खण्डान्वय की प्रणाली में यद्यपि अर्थ तो अधिक स्पष्ट हो जाता है, और कभी-कभी अनावश्यक स्पष्टीकरण से पाठक का मन खीझने भी लगता है; जैसे 'उन दौंही केहा उजा-गरी, ककै कहा करिकैं'— इत्यादि। खण्ड-खण्ड अर्थ करने से वाक्य टूट जाने से बात अधूरी रह जाती है, इसलिए टीकाकार को बार-बार टूटे वाक्य को जोड़ने के लिए प्रश्नोत्तर के रूप में कुछ शब्द अपनी ओर से रखने पड़ते हैं—सो कैसे हैं? कैसौ है वाकौ रूप? प्रिया कौ बोध कैसे? आदि। इसी को शुक्लजी ने 'कथंभूती' शैली कहा है। इस खण्डान्वय-शैली में कभी-कभी शब्दों की चीरफाड़ की नौबत भी आ जाती है। अनेकार्थ-निरूपण का चमत्कार दिखाने के लिए भी टीकाकार प्रायः इस पर हाथ आज़माता है। संस्कृत-टीकाओं की एक प्रमुख विशेषता है शास्त्रार्थ, जिनमें गूढ़ तथ्यों का उद्घाटन करने के लिए लेखक स्वयं ही पाठक की ओर से प्रश्न उठाकर फिर उसका उत्तर देता है। इस प्रकार शंका-समाधान के द्वारा अनेक ग्रंथियां खुल जाती हैं। ठाकुर कवि ने अपनी 'सतसैया-वर्णार्थ टीका' में, सरदार कवि ने 'अमर-चंद्रिका' में इसी पद्धति का अवलम्बन किया है। परन्तु यह पद्धति सर्वत्र सफल नहीं होती; वास्तविक जिज्ञासा के अभाव में केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त किए जाने पर इससे अनर्थ भी हो जाता है, तथा आशय और भी उलझ जाता है। 'अमर-चंद्रिका' में प्रायः यही हुआ है।

भाषा—ब्रज-भाषा की इन टीकाओं का स्मरण प्राचीन काव्य-ग्रंथों के अध्ययन में सहायक होने के कारण आज इतना नहीं होता, जितना कि प्राचीन गद्य—विशेषकर दुर्लभ ब्रज-भाषा गद्य—का उदाहरण होने के कारण। परन्तु ब्रज-भाषा गद्य के विकास में इन्होंने कोई विशेष योगदान नहीं किया; इनका महत्त्व वास्तव में अवशेष (रैलिक) के रूप में ही अधिक है।

साहित्यिक भाषा के दो गुण हैं: शुद्धि और शक्ति। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तदनुकूल व्याकरण होता है––उसका यथोचित निर्वाह ही भाषा की शुद्धि है। अतएव शुद्धि के अन्तर्गत किसी भाषा की प्रकृति और व्याकरण को दृष्टि में रखकर संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद तथा कृदंत आदि के रूपों की परीक्षा की जाती है। ब्रज-भाषा की इन विवेच्य टीकाओं की शब्दा-वली में शास्त्रीय निरूपण होने के कारण अमर्ष, ईर्ष्या, संचारी, स्वाधीनपतिका, अन्य-संभोग-दु:खिता, सुरतांत, किंवा, सौभाग्य, आलस्यवलित, इष्ट, उल्लंघन, कवि-निबद्ध आदि संस्कृत तत्सम शब्दों का मुक्त प्रयोग है। परन्तु सामान्य ब्रज-भाषा की प्रकृति तद्भव-प्रधान है। मूल ग्रंथों में भी तद्भव शब्दों का प्राधान्य रहने के कारण टीकाओं में भी उनकी बहुलता होना स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त अर्धतत्सम शब्द भी स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं, जो प्रायः भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ते; जैसे रात्री, सूक्षम आदि। संस्कृत तथा भाषा की शब्दावली के साथ ही इनमें अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों का भी अभाव नहीं है : अनेक टीकाओं की रचना मुसलमान शाहज़ादों और नवाबों के आश्रय में या मुसलमान लेखकों द्वारा हुई थी, इसलिए बहुत से अरबी-फ़ारसी के घुले-मिले शब्दों का प्रयोग अनायास ही हो गया है। जैसे—मुलाक़ात, शोर या (सोरु) नज़र, वास्ते आदि। समग्रतः इन टीकाओं की शब्दावली के विषय में यही कहा जा सकता है कि वार्ता आदि के वर्णनात्मक गद्य की अपेक्षा इनमें संस्कृत के तत्सम तथा अर्धतत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक है। यद्यपि ऐसा विषय-प्रति-पादन के आग्रह से ही हुआ फिर भी ब्रज-भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल होने से संस्कृत के अधि-कांश शब्द पानी पर तैरते हुए तैल-बिन्दुओं के समान पृथक् ही रहते हैं।

संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद, कारक तथा कृदंत आदि के रूपों के विषय में ब्रज की सर्व-मान्य काव्य-भाषा में ही जब इतनी अव्यवस्था थी, तो उपेक्षित गद्य-भाषा की अवस्था तो और भी दयनीय होनी चाहिए। संज्ञा-रूपों में ओकारांत के साथ-साथ आकारान्त रूप भी प्रायः मिल जाते हैं—ईसवीखां ने प्रायः आकारान्त संज्ञा-रूपों का प्रयोग किया है और उधर सरदार कवि पर भी खड़ी बोली के संज्ञा-रूपों का प्रभाव स्पष्ट है। सर्वनामों में अनेकरूपता और भी अधिक है—'या' और 'वा' के साथ 'इस' और 'उस' का प्रयोग, 'मो' के साथ कहीं-कहीं 'मुझ' का प्रयोग भी मिल जाता है। सबसे अधिक अव्यवस्था है क्रियापदों, कृदन्तों तथा कारक-चिह्नों में। सामान्य वर्तमानकालिक क्रियाओं में तिङन्त रूपों के साथ-साथ 'ऐ'कारान्त रूप—जो वास्तव में तिङन्त के ही घिसे हुए रूप हैं—प्रायः मिलते हैं। भूतकाल में 'ओ' और 'औ' की भ्रान्ति तो बहुत साधारण है। 'ओ' और 'यो' का विकल्प भी कम नहीं है, जैसे 'लिखो' और 'लिख्यो' दोनों का ही भूतकालिक प्रयोग हुआ है। मुसलमान लेखकों ने और बाद के टीकाकारों ने खड़ी बोली के प्रभाववश आकारान्त प्रयोग भी मुक्त रूप से किए हैं। उदाहरण के लिए ईसवीखां और सरदार कवि दोनों में 'हुआ', 'लिखा' आदि क्रिया-रूप कहीं भी मिल सकते हैं। इसी प्रकार भविष्यत् काल में 'गे' और 'हैं' दोनों विकल्पों का प्रयोग है—जैसे 'आइंगे' और 'आइहैं'; 'रहिहैं' और 'रहेंगे' आदि। कारक-चिह्नों में कर्म आदि में को, कौ, कौं, कों—ये सभी रूप मिलते हैं और अपा-दान में तें, तैं, से, सों, सौं, पै, पर आदि का विकल्प है। कर्तृ-चिह्न 'ने' के साथ तो प्रायः अत्याचार किया गया है। संस्कृत वाक्य-रचना तथा अवधी के प्रभाववश, अथवा इन दोनों से भी अधिक काव्य-रचना के प्रभाव के कारण, गद्य में भी 'ने' को छोड़ दिया गया है। यथा––'हे सखी इन राधिका बिन हीं भरतार सौं नेह सौहाग कौ सोर पार्यौ है।' (कृष्णलाल-कृत बिहारी-सतसई-टीका)। या भारतेन्दु के भी परवर्ती सरदार कवि के ही उद्धरण लीजिए : 'इन फूल नयो जल भरि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दीन्ह्यो उन कली कर दई, तव इन कलिका करी', आदि। वाक्य-रचना की स्थिति कदाचित् सबसे अधिक चिन्त्य है। सामान्यतः टीका में वाक्य-रचना-सौष्ठव के लिए कम ही अवकाश रहता है, और यदि खण्डान्वय-पद्धति का उपयोग किया जाए तव तो उसकी कोई सम्भावना ही नहीं रहती; परन्तु इन सीमाओं के भीतर रहकर भी संस्कृत-टीकाओं में गद्य का रूप अधिक विकृत नहीं होने पाया। उसके दो प्रमुख कारण हैं : एक तो संस्कृत भाषा अपनी अद्भुत समास-शक्ति के कारण लघु वाक्यों में बिखरने नहीं पाती; दूसरे, संस्कृत की वाक्य-रचना क्रिया पर और विशेषकर पूरक क्रिया पर अपेक्षाकृत बहुत कम निर्भर रहती है। इसके विपरीत हिन्दी-वाक्य सामान्य क्रियापद का और उससे भी अधिक पूरक क्रिया 'है' और 'था' आदि का मुहताज है, अतएव खण्डान्वय की संगति हिन्दी की वाक्य-रचना के साथ बिलकुल नहीं वैठती। यही कारण है कि इन टीकाओं के वाक्य प्रायः अपूर्ण हैं, और पूर्णता के अभाव में उनकी अर्थ-व्यंजना भी दूषित हो जाती है। भाषा बड़ी उखड़ी-सी प्रतीत होती है; प्रवाह का तो प्रश्न ही नहीं है, क्रम-व्यवस्था तक का निर्वाह नहीं हो पाया। मूल छन्द की मसृण पद-रचना और सरल-कोमल वाग्धारा की तुलना में यह लद्धड़ और गुट्ठल गद्य भयंकर लगता है, जिसके परिणामस्वरूप मूल अर्थ सुबोध होने के स्थान पर और भी दुर्बोध वन जाता है। उधर विराम-चिह्नों के एकान्त अभाव में दुरूहता और भी बढ़ जाती है। विराम-चिह्नों का यह अभाव विशेष आश्चर्य की वात नहीं है; क्योंकि हिन्दी में इनका आविर्भाव आधुनिक युग में अंगरेज़ी के प्रभाव से ही हुआ है। फिर भी कम-से-कम पूर्ण विराम का प्रयोग तो किया ही जा सकता था; उसका प्रयोग छन्दों में बराबर होता रहा है। परन्तु सरदार कवि की टीका तक में उसका प्रयोग नहीं मिलता। कुछ ही टीकाओं की प्रतियां ऐसी हैं जिनमें पूर्ण विराम के लिए कहीं खड़ी पाई और कहीं शून्य का अंक दिया हुआ है; परन्तु इसके प्रयोग में भी कोई क्रम नहीं है।

भाषा का दूसरा गुण है शक्ति अर्थात् अर्थ-व्यंजना की सामर्थ्य, जिसके अन्तर्गत भाषा का सौष्ठव भी अपने-आप आ जाता है। सामान्यतः परतन्त्र होने के कारण टीका की भाषा में किसी प्रकार के कला-शिल्प के लिए अवकाश नहीं रहता; परन्तु, फिर भी अर्थ-व्यंजना की सामर्थ्य तो उसके लिए भी उतनी ही आवश्यक है, वरन् यह कहना चाहिए कि अन्य रूपों की अपेक्षा कदाचित् यहाँ उसकी आवश्यकता और भी अधिक है। टीका में लेखक की सहृदयता और उसकी मर्मज्ञता की परीक्षा होती है। जिस टीकाकार में काव्य के सूक्ष्मतम सौन्दर्य-रहस्यों के उद्घाटन की जितनी शक्ति होगी उतनी ही सफल उसकी टीका होगी। सौन्दर्य-रहस्यों का यह उद्घाटन भाषा पर आश्रित है। अतएव टीका की भाषा के लिए तो सूक्ष्म व्यंजना-शक्ति और आनुगुणत्व पहली शर्त है। पर्याय आदि के चयन में टीकाकार को कवि से कम परिश्रम नहीं करना पड़ता। वास्तव में काव्य यदि सौन्दर्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति है तो सफल टीका इस सौन्दर्य की प्रत्यनुभूति की अभिव्यक्ति है। कहने का तात्पर्य यह है कि टीका की भी अपनी कला होती है। उसकी भाषा-शैली का भी अपना पृथक् सौन्दर्य होता है। मल्लिनाथ, पद्मसिंह शर्मा, रत्नाकर आदि कृती टीकाकारों की भाषा इसका प्रमाण है। किन्तु अविकसित गद्य के अव्यवस्थित क्रिया-पदों और कारक-चिह्नों से जूझने वाले ब्रज-भाषा के टीकाकारों से इस कला-सौष्ठव की आशा करना उनके साथ अन्याय होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिन्दी में हास्य की कमी
(एक सम्वाद)

नगेन्द्र—आइए प्रो० साहब, नमस्ते !

प्रो०—नमस्ते, नगेन्द्र जी ! कहिए, क्या हो रहा है ?

नगेन्द्र—कुछ नहीं, हास्य पर फ़ांसीसी लेखक बर्गसां की यह पुस्तक पढ़ रहा था। इन फ़ांसीसी लेखकों की दृष्टि कितनी पैनी और साफ़ होती है। मैं समझता हूँ साहित्यिक हास्य का ऐसा निर्मल विवेचन और किसी दार्शनिक या आलोचक ने नहीं किया।

प्रो०—वास्तव में फ़ांस का आलोचना-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। अच्छा, क्या कहते हैं आपके बर्गसां ?

नगेन्द्र—बर्गसां ने हास्य को परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने 'हम क्यों हँसते हैं ?' इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा करते हुए हास्य की परिस्थिति और प्रकृति का विश्लेषण किया है। उनके कुछ निष्कर्ष अत्यन्त रोचक और सटीक हैं—उदाहरण के लिए १. हास्य सर्वथा मानवीय वृत्ति है। मानव-जीवन से बाहर उसकी गति नहीं है। २. हास्य के लिए भावुकता और उद्वेग का सर्वथा अभाव अनिवार्य है—हास्य और भावुकता एक-दूसरे के शत्रु हैं। ३. हास्य एक सामाजिक वृत्ति है—किसी प्रकार की भी असामाजिकता हास्य को जन्म दे सकती है—इत्यादि। इस विवेचन के फलस्वरूप वास्तव में बर्गसां भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिस पर विदेश के अन्य आलोचक पहुँचे हैं।

प्रो०—अर्थात्

नगेन्द्र—अर्थात् हास्य की मूलात्मा असंगति है।

प्रो०—यह तो हमारे आचार्यों का भी मत है। उनके अनुसार विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि से हास्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार वे विकृति को हास्य का मूल तत्त्व मानते हैं। और, यह विकृति आपकी असंगति ही तो है। वेश, आकार आदि की हमारे मन में जो धारणा बनी हुई है उसमें, और किसी व्यक्ति या वस्तु के वेश, आकार आदि में, असंगति देखकर हमारे मन में गुदगुदी पैदा हो जाती है। यही बात वाणी, व्यवहार आदि सूक्ष्मतर वस्तुओं के लिए भी कही जा सकती है।

नगेन्द्र—हां, खींचतान कर बात तो ठीक बैठ ही जाती है। पर प्रोफ़ेसर साहब, हमारे यहां हास्य रस का कितना अभाव है। विशेषकर हिन्दी में तो उसका घोर दुष्काल है। मैं प्रायः सोचता हूं कि इसका क्या कारण है ? हमारा साहित्य काफ़ी समृद्ध है—परन्तु हास्य एक तो है ही बहुत कम और जो है भी वह बड़ा स्थूल है।

प्रो०—नगेन्द्र जी, कुछ तो लोगों का प्रोपेगैण्डा भी है—हिन्दी का सभी हास्य स्थूल नहीं है। उदाहरण के लिए सूर में जितना सूक्ष्म हास्य है उतना आपके अच्छे-अच्छे हास्य-लेखकों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में भी नहीं मिलेगा। फिर इसमें संदेह नहीं कि हमारे यहां उत्कृष्ट हास्य का अत्यन्त अभाव है। पुराने कवि पुरस्कार-दाताओं की कृपणता आदि का मज़ाक उड़ाकर या फिर हास्य-रस के उदाहरण-स्वरूप कुछ निर्जीव छन्द लिखकर अपना कर्तव्य पूरा कर बैठ हैं।

नगेन्द्र—बात तो आपकी ठीक है—वास्तव में जो थोड़ा-बहुत हास्य हमारे यहाँ है भी वह अत्यन्त कृत्रिम है। स्वस्थ जीवन का सहज प्रोद्भास न होकर ऐसा मालूम पड़ता है कि दूसरों को हँसाने के उद्देश्य से लिखा गया है। यूरोप में व्यंग्य (Satire), वक्रोक्ति (Irony), विदग्धता (Wit) और हास्य (Humour) चारों में सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट अन्तर माना गया है। हास्य शेष तीनों से अपनी निर्मलता के कारण पृथक् है। व्यंग्य सदा सोद्देश्य होता है—उपहास के द्वारा ताड़ना उसका अभिप्राय होता है। वक्रोक्ति में चुभने वाली कटुता होती है, विदग्धता बुद्धि के चमत्कार पर आश्रित रहती है। परन्तु हास्य स्वस्थ मन का सहज उच्छलन होता है—उद्देश्य, कटुता आदि से पूर्णतः मुक्त। हिन्दी में इन चारों को उलझा दिया गया है। हास्य के अन्तर्गत ये सभी खप जाते हैं। वैसे हिन्दी में हास्य के नाम पर प्रायः व्यंग्य ही अधिक चलता है। हँसने का उद्देश्य किसी-न-किसी प्रकार की सुधार-भावना लिए रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्मचेता लेखकों ने वक्रोक्ति का भी सुन्दर प्रयोग किया है। परन्तु जिसे हास्य, निर्मल और शुद्ध कहा गया है उसके तो शायद दो-चार उदाहरण ही ढूंढ़ने पर मिलें। मैं प्रायः सोचा करता हूं कि हास्य का यह दुष्काल क्यों है। आखिर इसका कारण क्या है?

प्रो०—कारण स्पष्ट है। हिन्दी को उत्तराधिकार में जो साहित्यिक परम्पराएँ मिली हैं, उनमें ही हास्य का दैन्य रहा है। हिन्दी ने अपनी सब साहित्यिक परम्पराएँ संस्कृत से प्राप्त की हैं। और संस्कृत में स्वयं हास्य का अभाव है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में हास्य को हीनतर रसों में माना गया हैं: शृंगार, करुण, वीर और शान्त को जो महत्त्व मिला है उसका एक अंश भी हास्य को नहीं मिला। गम्भीर कवियों ने तो उसका स्पर्श ही नहीं किया—और जिन्होंने किया भी है उनका हास्य सर्वथा रूढ़ और स्थूल है। कालिदास जैसे परिष्कृत-रुचि और सूक्ष्म-चेता कवि का हास्य भी इसी कोटि का है। शाकुन्तलम् जैसे नाटक का विदूषक भी भोजन अथवा भीरुता आदि की बातें कहकर हँसने-हँसाने का प्रयत्न करता है। प्रारम्भिक नाटकों में तब भी हास्य का थोड़ा-बहुत स्पर्श था—बाद में वह भी लुप्त हो गया! संस्कृत के उत्तरकाल में आकर अलंकार की जकड़बन्दी और शृंगार के नग्न-नृत्य के बीच साहित्य के अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी तिरोहित हो गए—हास्य तो पहले से ही उपेक्षित था। साहित्य के विकास का प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही क्रम रहा। हिन्दी साहित्य का विकास सीधा इसी परम्परा से हुआ है। अतएव उसमें हास्य का जन्म से ही अभाव रहा है।

नगेन्द्र—लेकिन संस्कृत में भी हास्य का ऐसा अभाव क्यों है—इसका भी तो कारण होना चाहिए। आपके कहने का शायद तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य-परम्पराएं हास्य के अनुकूल नहीं हैं! पर क्यों?

प्रो०—प्रत्येक देश और जाति की अपनी प्रकृति और प्रतिभा होती है—भारतीय प्रकृति और प्रतिभा स्वभाव से गम्भीर है।

नगेन्द्र—नहीं साहब, यह भी स्वयं कार्य है, कारण नहीं है। कारण ढूंढ़ने के लिए हमें भारतीय जीवन-दर्शन का विश्लेषण करना पड़ेगा। भारतीय दृष्टि सदैव भेद में अभेद देखती रही है—द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति को प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य रहा है। यों तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समय-समय पर यहां अनेक दर्शनों की सृष्टि हुई है जो एक-दूसरे के विरोधी रहे हैं, फिर भी गहरे में जाकर देखने से अद्वैत भावना प्रायः सभी में मूल रूप से अनुस्यूत मिलती है। वास्तव में अनेकता में एकता की प्रतीति—भेद में अभेद की प्रतीति के बिना पूर्ण आस्तिकता की स्थिति सम्भव नहीं है। परन्तु आप देखेंगे कि यह जीवन-दृष्टि हास्य के एकान्त प्रतिकूल पड़ती है। हास्य के लिए भेद-प्रतीति अनिवार्य है। अभी मैंने विदेश के आचार्यों की चर्चा करते हुए कहा था कि वे प्रायः सभी असंगति को हास्य की आत्मा मानते हैं, और आपने संस्कृत आचार्यों का मत देते हुए विकृति को हास्य का मूल तत्त्व माना है। ये दोनों ही भेद की अपेक्षा करते हैं। असंगति के लिए औचित्य और अनौचित्य का भेद अनिवार्य है और विकृति के लिए कृति और उसके विकार का। कहने का तात्पर्य यह है कि हास्य की उद्‌बुद्धि के लिए असंगति अथवा भेद की सूक्ष्म और तीव्र चेतना अनिवार्य है और चूँकि भारतीय प्रतिभा अपने दार्शनिक संस्कारों के कारण अभेदद्रष्टा रही है इसलिए वह हास्य के अधिक अनुकूल नहीं पड़ी।

प्रो०—हां, भारतीय जीवन-दृष्टि सदा से ही गम्भीर रही है, हास्य उसके अनुकल कम ही पड़ा है।

नगेन्द्र—हमारे यहां मानव-जीवन की दो मौलिक वृत्तियां मानी गई हैं राग और द्वेष। इन्हीं के अनुसार हमारे साहित्य में शृंगार और करुण को महत्त्व मिला है। भारतीय मन या तो पूर्ण रूप से रागी रहा है और या फिर एकदम विरागी हो गया है। दोनों के बीच में समझौता करना उसे अधिक नहीं भाया। इसलिए उसने हर्ष को ही महत्त्व दिया है, हास्य से उसे सन्तोष नहीं हुआ। जीवन में उसने हर्ष को हीं लक्ष्य बनाया है और यदि उसमें व्याघात पड़ा है तो वह विरक्त होकर उसे त्याग ही बैठा है। गम्भीर प्रकृति का मनुष्य कुंठित होने पर ठोकर मारना पसन्द करेगा, हँसेगा नहीं।

प्रो०—आपका कहना ठीक है, हँसने के लिए रुक्ष और व्यावहारिक प्रकृति की आवश्यकता होती है—गम्भीर भावुक प्रकृति उसके प्रतिकूल पड़ती है। अंगरेज, विशेषकर स्कॉच, जितने सहज भाव से और खुलकर हँस सकता है उतना अन्य देशवासी नहीं। और, ठीक इसी कारण जर्मन और भारतीय जातियों में हास्य-वृत्ति अपेक्षाकृत बहुत ही क्षीण है।

अंगरेज कवि शेक्सपियर जीवन की यातनाओं और विकलताओं का आघात पाकर सघन से सघन वातावरण में भी हँस सकता था। आप उसके दुःखान्त नाटकों को ही लीजिए—उस व्यक्ति में इतनी शक्ति है कि वह गहन-से-गहन परिस्थितियों में भी हँस सकता है—उसका दृष्टिकोण इतना प्रकृतिस्थ और स्वस्थ-दृढ़ है कि न तो शोक की सघनता और न हर्ष की उत्फुल्लता ही उसको चंचल कर सकती है। वह जीवन की व्यावहारिकता अथवा गतिशीलता के प्रति इतना आश्वस्त है कि उसके मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा का वह उपहास करता है—वह बाधा चाहे भावात्मक हो या अभावात्मक—प्रेम की अतिशय गम्भीरता पर भी वह उसी प्रकार हँसता है जिस प्रकार शोक की जड़ता पर। परन्तु भारतीय कवि भवभूति या जर्मन कवि गेटे के लिए ऐसी परिस्थितियों में चित्त की पूर्ण द्रुति या आत्मा का घोर आक्रोश ही सम्भव है।

परन्तु अब तक हम मौलिक कारणों का ही विश्लेषण करते रहे हैं—इनके अतिरिक्त प्रासंगिक कारण भी अनेक हैं।

नगेन्द्र—प्रासंगिक कारणों से क्या मतलब ?

प्रो०—अर्थात् वे कारण जिनका हिन्दी भाषा और साहित्य से सीधा सम्बन्ध है। उदा-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हरण के लिए हिन्दी के जन्म और विकास की परिस्थितियों को ही लीजिए, जिन सघन और निविड़ परिस्थितियों में उसका जन्म और विकास हुआ है, उनमें हँसाने और हँसने का अवकाश नहीं रहा—उनमें केवल गम्भीर साहित्य की सृष्टि ही सहज और सरल थी। प्रसादजी ने हिन्दी में हास्य के अभाव का यही मुख्य कारण बताया है। वे कहते हैं कि हास्य मनोरंजिनी वृत्ति का विकास है—परन्तु हमारी जाति शताब्दियों से पराधीन और पद-दलित है, इसलिए हमें हँसने का अवकाश ही नहीं है। वास्तव में वीरगाथा और भक्ति युगों में तो उसके लिए स्थान ही कहां था—पहले में परिस्थिति की सघनता और दूसरे में भावना का अतिशय उद्रेक, दोनों ही हास्य के प्रतिकूल पड़ते थे।

हां, रीति-युग में आकर जब कविता का दरबार से सम्बन्ध स्थापित हो गया था, तब यह आशा की जा सकती थी कि आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए कवि-जन हास्य की भी उद्‌बुद्धि करते। परन्तु आप देखें कि इस युग में हास्य का और भी अधिक अभाव है। इसका कारण यह है कि निर्मल हास्य सदैव स्वस्थ दशा में ही सम्भव है। रीति-युग में हमारा समाज मन और शरीर दोनों से ही रुग्ण था—राजा लोगों और उधर सम्पन्न सामाजिकों का रोगी मन स्वस्थ निर्मल हास्य की अपेक्षा शृंगार की चुहल को ही अधिक पसंद करता था। आधुनिक युग में आकर परिस्थिति फिर गम्भीर और सघन हो गई। इस प्रकार साहित्य की परिस्थितियाँ भी हास्य के सर्वथा प्रतिकूल रही हैं।

नगेन्द्र—परन्तु यहाँ एक आपत्ति हो सकती है। वह यह कि उर्दू साहित्य का विकास भी तो प्रायः इन्हीं परिस्थितियों में हुआ है। फिर क्या कारण है कि उसका हास्य काफ़ी समृद्ध है।

प्रो०—इसके मेरे पास दो उत्तर हैं—एक तो यह कि परिस्थिति एकमात्र कारण नहीं होती, वह अनेक कारणों में से एक हो सकती है, दूसरे उर्दू और हिन्दी की परिस्थितियाँ बाहर से एक-सी लगती हैं, अन्दर से उनमें काफ़ी अन्तर है। उर्दू विजेताओं की भाषा थी, हिन्दी विजितों की। उर्दू बाज़ार और मजलिसों की भाषा रही है, हिन्दी जनता के हृदय की। स्वभावतः उर्दू में शोख़ी और चटक अधिक है। और ये दोनों हास्य के अनिवार्य तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त दोनों की पृष्ठभूमियां तथा परम्पराएं कितनी भिन्न हैं। उर्दू को फ़ारसी की परम्पराएं प्राप्त हुई हैं, और फ़ारसी में सूक्ष्म और परिष्कृत हास्य की कमी नहीं है। और फिर, हमारे और उर्दू-वालों के सामाजिक जीवन में कितना अंतर है। क्लब-लाइफ़ जितनी अच्छी उर्दू वालों की रही है, उतनी हम लोगों की आज भी नहीं है।

नगेन्द्र—यानी आपका निष्कर्ष यह है कि हिन्दी की प्रकृति ही गम्भीर है, इसलिए उसमें हास्य का अभाव है।

प्रो०—हां, उसकी प्रकृति ही नहीं वरन् उसकी परम्पराएं, उसकी परिस्थितियां, उसके बोलने वालों की जीवन-दृष्टि आदि सभी गम्भीर हैं। लेकिन अब प्रश्न यह है कि यह कमी पूरी कैसे हो?

नगेन्द्र—साहित्य के अभाव प्रयत्न करके पूरे नहीं होते। उनकी जड़ें गहरी होती हैं। उनका सम्बन्ध जाति के संस्कारों से होता है। सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन से जाति के संस्कारों में परिवर्तन होने पर ही यह सम्भव हो सकता है। जीवन की विषमताओं से रगड़ खाकर भारतीयों का दृष्टिकोण जब आध्यात्मिक कम और व्यावहारिक अधिक हो जाएगा, आदर्श के भावमय स्वप्न न देखकर जब हम व्यवहार की रुक्षता के अभ्यस्त हो जाएंगे, स्वभावतः ही हमारे अन्दर हास्य-वृत्ति का विकास हो जाएगा। तभी हमारे साहित्य से भी हास्य का यह अभाव दूर हो जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिन्दी-उपन्यास

कुछ दिन से हिन्दी-उपन्यास पर एक लेख लिखने का भार मन पर झूल रहा था। कल रात को उसी की रूपरेखा बना रहा था। कभी प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण की बात सोचता, कभी समस्याओं के, और कभी टेकनीक के आधार पर। रूपरेखा कुछ बनती भी थी.। परन्तु परसों शाम ही को सुना हुआ जैनेन्द्रजी का यह वाक्य गूँज उठता था कि तुम लोग, यानी पेशेवर आलोचक (और उनका यह विशेषण मुझ-जैसे लोगों को ही नहीं, आचार्य शुक्ल, डॉक्टर ब्रैडले जैसे आलोचकों को भी आलिंगन-पाश में बाँधने के लिए अपनी विशाल बांहें फैलाए हुए था) लेखक की आत्मा को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि उस पर अपना ही मत थोपते रहते हो। अन्त में मेरे मन में एक बात आयी : क्यों न एक मूलग्राही प्रश्नावली द्वारा उपन्यासकारों से मिलकर अपने-अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में उन सभी के दृष्टि-कोण जान लूं, और फिर उन्हें ही मनोविश्लेषण के आधार पर संश्लिष्ट कर एक मौलिक लेख तैयार कर लूं? यह विचार कुछ और आगे बढ़ता परन्तु एक समस्या आकर खड़ी हो गई कि यह सब इतनी जल्दी कैसे हो सकता है और फिर हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकारों से मिलने के लिए तो इहलोक की ही नहीं परलोक की भी यात्रा करनी पड़ेगी। लेख की मौलिकता, उसके द्वारा हिन्दी-आलोचना में एक नई दिशा प्रशस्त करने का लोभ अथवा और कुछ भी कम-से-कम इस दूसरे उपाय का प्रयोग करने के लिए मुझे राज़ी न कर सका। अन्त में मानसिक श्रम से थककर मैं सो गया।

रात को मैंने देखा कि एक वृहत् साहित्यिक समारोह लगा हुआ है। साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन तो नहीं, क्योंकि उसमें इस प्रकार के नगण्य विषयों के विवेचन का लोगों को कम ही अवसर मिलता है। पर कुछ भी हो, मैंने देखा, उसी समारोह के अन्तर्गत उपन्यास अंग को लेकर विशिष्ट गोष्ठी का आयोजन हुआ है, जिसमें हिन्दी के लगभग सभी उपन्यासकार उपस्थित हैं। पहले उपन्यास के स्वरूप और कर्तव्य-कर्म को लेकर चर्चा चली। कर्तव्य-कर्म के विषय में यहां तक तो सभी सहमत हो गए कि जो साहित्य का कर्तव्य-कर्म है वही उपन्यास का भी, अर्थात् जीवन की व्याख्या करना। पहले श्रीयुत देवकीनन्दन खत्री का इस विषय में मतभेद था, परन्तु जब 'व्याख्या' के साथ 'आनन्दमयी' विशेषण जोड़ दिया गया तो वे भी सहमत हो गए। स्वरूप पर काफ़ी विवाद चला। अन्त में मेरे ही समवयस्क-से एक महाशय ने प्रस्ताव किया कि इस प्रकार तो समय भी बहुत नष्ट होगा और कुछ सिद्धि भी नहीं होगी। हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकार उपस्थित हैं, अच्छा हो यदि वे एक-एक करके बहुत ही संक्षेप में उपन्यास के स्वरूप और अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकट करते चलें। उपन्यास के स्वरूप और हिन्दी के उपन्यास के विवेचन का इससे सुन्दर ढंग और क्या हो सकता है! प्रस्ताव काफ़ी सुलझा हुआ था। फलतः सभी ने मुक्त कंठ से उसे स्वीकार कर लिया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विवेचन में एकता और एकाग्रता बनाए रखने के विचार से उन्हीं सज्जन ने तत्काल एक प्रश्नावली भी पेश कर दी, जिसके आधार पर उपन्यासकारों से बोलने की प्रार्थना की जाए। उसमें केवल तीन प्रश्न थे—

१. आपके मत में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

२. आपने उपन्यास क्यों लिखे हैं ?

३. अपने उद्देश्य में आपको कहां तक सिद्धि मिली है ?

यह प्रश्नावली भी तुरन्त स्वीकृत हो गई और प्रस्तावकर्ता से कह दिया गया कि आप ही कृपा करके इस कार्यवाही को गति दे दीजिए। अस्तु !

सबसे पहले उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजी से शुरू किया जाता। लेकिन प्रेमचन्दजी ने सविनय एक ओर इशारा करते हुए कहा—"नहीं, नहीं, मुझसे पहले मेरे पूर्ववर्ती बाबू देवकीनन्दन खत्रीजी से प्रार्थना करनी चाहिए। देवकीनन्दनजी हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं।" प्रेमचन्दजी के आग्रह पर एक सामान्य-सा व्यक्ति, जिसकी आकृति मुझे स्पष्टतः याद नहीं, धीरे-से खड़ा हुआ और कहने लगा—"भाई, आज तुम्हारी दुनिया दूसरी है, तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप है। हम तो उपन्यास को कल्पित कथा समझते थे। इसके अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप हो सकता है, यह हमारे ध्यान में भी नहीं आता था। मैंने स्वदेश-विदेश की विचित्र कथाएं बड़े मनोयोग से पढ़ी थीं और उनको पढ़कर मेरे दिल में यह आया था कि मैं भी इसी प्रकार के अद्भुत कथानक लिखकर जनता का मनोरंजन करके यश-लाभ करूं। इसीलिए मैंने 'चन्द्रकान्तासन्तति' लिख डाली। अद्भुत के प्रति बहुत अधिक आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजित होकर उस चित्रलोक की रचना कर सकी। आखिर लोगों के पास इतना समय था और जीवन की गति इतनी मन्द थी कि उन्हें आवश्यकता थी किसी ऐसे साधन की, जो उनमें उत्तेजना भर सके। बस, वे साहित्य में उत्तेजना की माँग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत् रहस्यों का भण्डार है, परन्तु साधारणतः कल्पना की आँखें खुली न होने के कारण वह उनको देख नहीं पाता। उसका कुतूहल जैसे इस तिलिस्म के द्वार से टकराकर लौट आता है और उसे यह इच्छा रहती है कि ऐसा कुछ हो जो इस जादूघर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की ये दोनों मांगें पूरी करते हैं—उसके मन्द जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं और उसकी कुतूहल-वृत्ति की तृप्ति करते हैं। इसीलिए वे इतने लोकप्रिय रहे हैं—असंख्य पाठकों को उनसे जो वह चाहते थे मिला। इससे बढ़कर उनकी या मेरी सिद्धि और क्या हो सकती है ? वे जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मैंने कभी इसकी चिन्ता भी नहीं की—परन्तु मनोरंजन अवश्य करते हैं—मन की एक भूख को भोजन देते हैं, बस।"

इसके उपरान्त मुंशी प्रेमचन्द बिना किसी तकल्लुफ़ के आप ही आप खड़े हो गए और निहायत ही सादगी और सचाई से कहने लगे—"भाई, सवाल तुम्हारे कुछ मुश्किल हैं। उपन्यास के स्वरूप या अपने उपन्यास-साहित्य का तात्त्विक विवेचन तो मैं आपके सामने शायद नहीं कर पाऊंगा; पर मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ—मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। मानव-चरित्र कोई स्वतः सम्पूर्ण तथ्य नहीं है, वह वातावरण सापेक्ष है, इसलिए उस पर वातावरण की सापेक्षता में ही प्रकाश डाला जा सकता है। आज का उपन्यासकार आज के वातावरण अर्थात् आज की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्याख्या करता हुआ ही मानव-चरित्र की व्याख्या कर सकता है। लेकिन व्याख्या शब्द को ज़रा और साफ़ करना होगा। व्याख्या से मेरा मतलब सिर्फ़ स्वरूप, कार्य-कारण वग़ैरह का विश्लेषण करके उसके भिन्न-भिन्न तत्त्वों को अलग-अलग सामने रख देना नहीं है। वह तो वैज्ञानिक का ही काम है—और दरअसल सच्चे वैज्ञानिक का भी नहीं, क्योंकि वह भी उस विश्लेषण में से कोई जीवनोपयोगी तथ्य निकालकर ही सन्तुष्ट होता है। उपन्यासकार की व्याख्या तो इससे बहुत अधिक है—वह तो निर्माण की अनुवर्तिका है। मेरा जीवन-दर्शन वैज्ञानिक नहीं है, शुद्ध उपयोगितावादी है। यानी मैं मानता हूं कि उपन्यासकार का कर्त्तव्य है कि वह परिस्थितियों के बीच में रखकर मानव-चरित्र का विश्लेषण करके यह समझ ले कि वहाँ क्या गड़बड़ है, और फिर क्रमशः उस अवस्था तक ले जाए जहां वह गड़बड़, वह सारी असंगति मिट जाए—जो मानव-चरित्र का आदर्श रूप हो। यहाँ मैं स्वप्नलोक या स्वर्गलोक की सृष्टि की बात नहीं करता—वहाँ तो वास्तव का आँचल ही आपके हाथ में से छूट जाता है। आज की भौतिक वास्तविकताओं में घिरे हुए मानव-चरित्र का निर्माण इस प्रकार नहीं होगा। परिस्थिति के अनुकूल उसका एक ही मार्ग है और वह है आज के यथार्थ में से ही आदर्श के तत्त्वों को ढूँढ़कर उसका निर्माण करना। मैं इसी भावना से प्रेरित होकर उपन्यास लिखता हूँ। मेरे उपन्यास कहां तक आज के मानव को आत्म-परिष्कार के प्रति, यानी परिस्थितियों के प्रकाश में अपनी ख़ामियों को समझकर उनको दूर करने के लिए जागरूक कर सके हैं, यह मैं नहीं जानता। पर मेरी सिद्धि इसी के अनुपात से माननी चाहिए। मेरा उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं है—वह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसख़रों का··· (सहसा बाबू देवकीनन्दन खत्री की ओर देखकर एकदम शर्म से लाल होकर फिर ठहाका मारकर हँसते हुए)—आशा है आप मेरा मतलब ग़लत नहीं समझ रहे हैं।"

प्रेमचन्दजी के बाद कौशिकजी खड़े हुए। मुझे अच्छी तरह याद नहीं उन्होंने क्या कहा, पर शायद उन्होंने प्रेमचन्दजी की ही बात को दुहराया।

अब प्रसादजी से प्रार्थना की गई। पहले तो वे राज़ी नहीं हुए। परन्तु जब लोगों ने विशेष अनुरोध किया तो वे अत्यन्त शान्त-संयत मुद्रा में खड़े हुए और कहने लगे—"हिन्दी के आलोचकों ने मेरी कविता और नाटकों को रोमांटिक आदर्शवाद की कक्षा में रखा है और मेरे उपन्यासों को यथार्थवाद की कक्षा में। मैं नहीं कह सकता कि मूलतः मेरे साहित्य के बीच में कोई ऐसी विभाजक रेखा खींची जा सकती है। फिर भी यह सत्य है कि मुझे कविता-नाटक की अपेक्षा उपन्यास में यथार्थ को आँकना सरल प्रतीत होता है। कारण केवल यही है कि वह अपेक्षाकृत सीधा माध्यम है। आज धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषमताओं के कारण जीवन में जो गहरी गुत्थियां पड़ गई हैं, उनसे मैं निरपेक्ष होकर पलायन नहीं कर सकता—आह, यदि यह सम्भव होता! परन्तु प्रेमचन्दजी की तरह सामूहिक बहिर्मुखी प्रयत्नों में मुझे उनका समाधान सरलता से नहीं मिलता। जिन संस्थाओं पर समाज बालक की तरह आश्रय के लिए झुकता है वे अन्दर से कितनी कच्ची और घुनी हुई हैं? प्रवृत्ति के एक धक्के को भी सँभालने का उनमें बल है? मुझे विश्वास ही नहीं हो सकता कि संस्थाओं का यह नया व्यसन जीवन का किसी प्रकार भी गतिरोध कर सकेगा। ऐसा क्या है, जिसके नाम पर प्रवृत्ति को झुठलाया जाए? और प्रवृत्ति भी क्या सत्य है? यही आज के जीवन का दर्शन है—और मैं इसको पूरी चेतना के साथ अनुभव कर रहा हूं। यह आपको मेरे सम्पूर्ण साहित्य में मिलेगा—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उपन्यास में प्रतीकों के अधिक परिचित होने के कारण यह शायद अधिक मुखर हो गया है।"

इसके बाद बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के नाम से एक सज्जन, जिनके सिर पर शोभित फ़ैल्ट कैप उनके परम्परा-प्रेम की दुहाई दे रही थी, उठ खड़े हुए और बोले—'भई, उपन्यास को मैं उपन्यास ही समझता हूं, और बुन्देलखण्ड के ये ही नदी-नाले, झीलें और पर्वत-वेष्टित शस्य-श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं। इसलिए मुझको हिस्टोरिकल रोमान्स पसन्द है। अन्य कारण जानकर क्या करिएगा। इसी रोमांटिक वातावरण में बाल्य-काल से मैं अपनी आँखों से चारों ओर एक वीर जाति के जीवन का खण्डहर देखता आया हूं, और अपने कानों से मैंने उसकी विस्मय-गाथाएं सुनी हैं। अतएव स्वभाव से ही मैं आप-से-आप कल्पना के द्वारा उन दोनों को जोड़ने लगा। वे कहानियां इन खण्डहरों में जीवन का स्पन्दन भरने लगीं, और ये खण्डहर उन कहानियों में जीवन की वास्तविकता। मैं उपन्यास लिखने लगा। मेरे उपन्यास यदि उस गौरव-इतिहास को आपके मन में जगा पाते हैं तो वे सफल ही हैं।"

जिस समय ये लोग भाषण दे रहे थे एक हृष्ट-पुष्ट आदमी, जिसके लम्बे-लम्बे बाल, अधनंगा शरीर एक अजीब फक्कड़पन का परिचय दे रहे थे, बीच-बीच में काफ़ी चुनौती-भरे स्वर में फ़िकरे कसकर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि आप हिन्दी के निर्द्वन्द्व कलाकार उग्रजी हैं। वृन्दावनलालजी का भाषण समाप्त होने पर लोग उनसे प्रार्थना करने ही वाले थे कि आप ही उठ खड़े हुए और बोले—"ये लोग तो सभी मुर्दा हो गए हैं। जिसमें जोश ही नहीं रहा वह क्या उपन्यास लिखेगा? और जोश सुधार, आत्म-परिष्कार के नाम पर अपने को और दूसरों को धोखा देने वाले लोगों में कहां? जोश आता है नीति की चहारदीवारों को तोड़कर विधि-निषेधों का जी भरकर मज़ा लेने से। जोश आता है, जिससे ये लोग तामस और पाप कहकर दूर भागते हैं, उसका मुक्त उपभोग करने से, जबकि मनुष्य की सच्ची वृत्तियां दमन की शृंखलाएं तोड़कर स्वच्छन्द होकर जीवन का मांसल अनुभव करती हैं। आज यह जोश मैं—मेरे ही उपन्यास दे सकते हैं; जिनके आत्म-रूप नायक अवसर आते ही नपुंसक बन जाते हैं, उनसे इसकी क्या आशा की जा सकती है?" यह कहकर उन्होंने अपने व्यंग्य को और अधिक स्थूल बनाते हुए जैनेन्द्रजी की ओर देखकर हंस दिया।

जैनेन्द्रजी पर चोट का असर तो तुरन्त ही हुआ पर उन्होंने अपने को हतप्रभ नहीं होने दिया। हाथ घुमाकर नर्मे की चादर को सँभाला और एक खास सादगी के अन्दाज से आँखों को मठराते हुए ऊपर के होंठ से नीचे के होंठ को लपेटकर बोले—"अरे भई, उग्रजी के जोश में उबाल लाने वाली चीज़ हमें कहां प्राप्त है", और फिर एक नज़र यह देखकर कि उनके इस हाज़िरजवाब का प्रेमचन्दजी और सियारामशरणजी पर क्या असर पड़ा है, कहने लगे, "मुझे कुछ···मुझे कुछ ऐसा लगता है कि उपन्यास जैसे आज परिभाषा की मर्यादा तोड़कर विशृंखल हो गया है। उसका स्वरूप जैसे कुछ नहीं है और सब-कुछ है। वह कोई भी स्वरूप धारण करता है। आज के जीवन की तरह वह जैसे एकदम अनिश्चित होकर दिशा खो बैठा है। इसीलिए आज के जीवन की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम उपन्यास ही है। मैं उपन्यास क्यों लिखता हूं, यह मैं क्या जानूं? मेरे उपन्यास जैसे हैं वैसे हैं ही—वे बड़े बेचारे हैं। परन्तु मुझे मालूम पड़ता है कि मेरे मन में कुछ है जो बाहर आना चाहता है—और उसको कहने के लिए मैं उपन्यास या कहानी या लेख, जब जैसी सुविधा होती है लिख बैठता हूं। आप पूछेंगे वह क्या है जो कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बाहर आना चाहता है। वह है जीवन की अखण्डता की भावना। मुझे अनुभव होता है कि जीवन और जगत् जैसे मूलतः एक अखण्ड तत्त्व है—आज इसकी अखण्डता खण्डित हुई-सी लगती है—लगती ही है, दरअसल है नहीं। आज का मानव इसी भ्रम में पड़कर भटक रहा है—उसके हाथ से जीवन की कुंजी खो गई है, और कुंजी है यही अखण्डता की भावना। मैं चाहता हूं कि वह इसे ढूंढ़ निकाले, नहीं तो निस्तार नहीं है। और इसे ढूंढ़ने का साधन है केवल एक—प्रेम या अहिंसा। प्रेम या अहिंसा का अर्थ है दूसरे के लिए अपने को पीड़ा देना—पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्म-पीड़न के ही साधन हैं, और इसीलिए मैंने उनमें कामवृत्ति की प्रधानता रखी है, क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्मपीड़न का तीव्रतम रूप है। वे पाठक को जितनी आत्मपीड़न की प्रेरणा देते हैं, जितना उसके हृदय में प्रेम पैदा करके जीवन की अखण्डता का अनुभव कराते हैं उतने ही सफल कहे जा सकते हैं।" इतना कहते हुए बड़े ही आहिस्ता से (मानों ऐसा करने में भी किसी प्रकार की हिंसा का डर हो) वे बैठ गए।

इसके बाद सियारामशरणजी से प्रार्थना की गई कि वे अपना मन्तव्य प्रकट करें। परन्तु उन्होंने बड़े ही दैन्य से कहा—"हम क्या कहेंगे, अभी जैनेन्द्र भाई ने जैसा कहा है हमारा भी वैसा ही मत है।"

तब पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नम्बर आया। अपने गोलाकार मुखमंडल को थोड़ा और गोल करते हुए वे बोले—"उपन्यास-सम्राट् श्रीयुत प्रेमचन्दजी और साथियो, मेरे भाई जैनेन्द्रजी ने जो कहा अभी तक मेरा भी बहुत-कुछ वही मत था। परन्तु आज मैं स्पष्ट देखता हूँ—(और यह कहते हुए अंचलजी की ओर देखकर वे अत्यंत गम्भीर हो गए, जैसे जो कुछ कहने जा रहे हैं वह उन्हें अंचलजी के मुख पर साफ़ नज़र आ रहा है) कि आज के मानव की मुक्ति पीड़ा में नहीं है, जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज मुझे शरत या गांधी नहीं बनना, शोलोखोव और स्तालिन बनना है।"

अब वात्स्यायनजी अपना दृष्टिकोण प्रकाशित करें—मांग हुई। वात्स्यायन जी ने अपना वक्तव्य आरम्भ कर दिया। परन्तु मैं चूँकि थोड़ा दूर बैठा था, मुझे सिर्फ़ उनके होंठ ही हिलते दिखाई देते थे, सुनाई कुछ नहीं पड़ता था। उग्रजी ने एक बार उनको ललकारा भी—"अरे सरकार, ज़रा दम से बोलिए, आखिर आप स्वगत-भाषण तो कर नहीं रहे, मजलिस में बोल रहे हैं।" पर वात्स्यायनजी पर जैसे उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे उसी स्वर में बोलते रहे। हारकर मुझे ही उनके पास जाना पड़ा। कह रहे थे···"या यों कहिए कि आपके सामने मेरा एक ही उपन्यास है। उसमें, जैसा कि मैंने प्रवेश में कहा है, मेरा दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक रहा है। एक व्यक्ति का पूरी ईमानदारी से, अपने राग-द्वेष को सर्वथा पृथक् रखकर, वस्तुगत चित्रण करना और तज्जन्य बौद्धिक आनन्द को स्वयं ग्रहण करना तथा पाठक को ग्रहण कराना मेरा उद्देश्य रहा है। किसी व्यक्ति का, विशेषकर उस व्यक्ति का जो अपनी ही सृष्टि हो, चरित्र-विश्लेषण करने में अपने राग-द्वेषों को अलग रखते हुए पूरी ईमानदारी बरतना स्वयं अपने में एक बड़ी सफलता है। आप शायद यह कहेंगे कि यह व्यक्ति मेरी सृष्टि ही नहीं मैं स्वयं हूं और यह विश्लेषण अपने ही व्यक्ति-विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है। तब तो ईमानदारी और वस्तुगत चित्रण का महत्त्व और भी कई गुना हो जाता है। क्योंकि अपने को पीड़ा देना तो आसान है; पर राग-द्वेषविहीन होकर अपनी परीक्षा करने में असाधारण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मानसिक शिक्षण और सन्तुलन की आवश्यकता होती है, इससे प्राप्त आनन्द राग-द्वेष में बहने के आनन्द से कहीं भव्यतर है। मैंने इसी को पाने और देने का प्रयत्न किया है। 'शेखर' को पढ़ कर आप जितना ही इस आनन्द को प्राप्त कर पाते हैं उतनी ही मेरी सफलता है।"

इतने ही में इलाचन्द्र जी स्वतःप्रेरित-से बोल उठे—"वात्स्यायनजी की बौद्धिक निरुद्देश्यता का यह आनन्द कुछ मेरी समझ में नहीं आया। मैं उनके मनोविश्लेषण की सूक्ष्मता और सत्यता का क़ायल हूँ, परन्तु व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या बनाकर ही छोड़ देना तो मनोविश्लेषण का दुरुपयोग है। स्वयं फ़ॉयड ने भी मनोविश्लेषण को साधन ही माना है, साध्य नहीं। चरित्र में पड़ी हुए ग्रन्थियों को सुलझाकर वह हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है और इस प्रकार व्यक्ति की, फिर समाज की विषमताओं का समाधान करता है। यही आनन्द सच्चा आनन्द है—स्वस्थ आनन्द है।"

अब लोग थकने लगे थे। मुझे भी मन को एकाग्र रखने में कुछ कठिनाई-सी मालूम पड़ रही थी—शायद मेरी नींद की गहराई कम हो रही थी। इसलिए मुझे सचमुच बड़ा सन्तोष हुआ जब प्रश्नकर्ता महोदय ने उठकर कहा कि अब देर काफ़ी हो गई है, इतना समय नहीं है कि आज के सभी उदीयमान औपन्यासिकों के अपने मन्तव्यों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। अतएव अब केवल यशपालजी ही अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें।

यशपालजी बोले—"वात्स्यायनजी की बौद्धिकता को तो मैं मानता हूँ, परन्तु उनके इस तटस्थ या वैज्ञानिक आनन्द की बात मेरी समझ में नहीं आती। वास्तव में यह वैज्ञानिक आनन्द और कुछ नहीं शुद्ध आत्म-रति मात्र है। वात्स्यायनजी घोर व्यक्तिवादी कलाकार हैं—उन्होंने जीवन और जगत् को अपनी सापेक्षता में देखा और अंकित किया है—जैसे सभी कुछ उनके अहं के चारों ओर चक्कर काट रहा हो। मेरा दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। अपनी शक्तियों को अपनी व्यष्टि में ही केन्द्रीभूत कर लेना या अपनी व्यष्टि को सम्पूर्ण विश्व की धुरी मान लेना जीवन का बिलकुल ग़लत अर्थ समझना है। आत्म-रति एक भयंकर रोग है। उससे जीवन में विषमयी ग्रन्थियां पड़ जाती हैं। जीवन का समाधान तो इसी में है कि व्यक्ति के घोंघे से निकलकर समष्टि की धूप में विचरण किया जाए। व्यक्ति में उलझे रहने से जीवन की समस्याएं और उलझ जाएँगी। उसके लिए सामाजिकता अनिवार्य है। व्यक्तियों पर ध्यान केन्द्रित करके उनको अनिवार्य महत्त्व देना मूर्खता है। सामूहिक चेतना जाग्रत कीजिए, गण-शक्ति का अर्जन कीजिए परन्तु इसके साथ ही जैनेन्द्रजी के आत्म-निषेध को भी मैं नहीं मानता। जो है उसका निषेध करना बेमानी है और न कोई आत्म-निषेध करता है। आत्म-निषेध की सबसे अधिक बात करने वाले गांधीजी ही सबसे बड़े आत्मार्थी हैं। अध्यात्मवाद, वैज्ञानिक तटस्थता आदि व्यक्तिवाद के ही विभिन्न नाम हैं। आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि भ्रम-जाल से निकलकर जीवन की भौतिकता और सामाजिकता को स्वीकार करें। मेरे साहित्य का यही उद्देश्य है।"

गोष्ठी की कार्यवाही अब समाप्त हो चुकी थी। अन्त में प्रश्नकर्त्ता महोदय ने वक्ताओं को धन्यवाद देते हुए निवेदन किया—"अभी आपके सामने हिन्दी के कुछ प्रतिनिधि उपन्यासकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों की सुन्दर विवेचना की है। हिन्दी-उपन्यास के लिए वस्तुतः यह गौरव का दिन है जबकि हमारे आदि-उपन्यासकार से लेकर नवीनतम उपन्यासकार तक (बाबू देवकीनन्दन खत्री से लेकर यशपाल तक) सभी एक स्थान पर मौजूद हैं (यद्यपि ऐसा कैसे सम्भव हो सका, यह सोचकर वक्ता महोदय को बड़ा आश्चर्य हो रहा था) और उन्होंने स्वयं ही अपने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण किया है। आपने देखा कि किस तरह इनका दृष्टिकोण क्रमशः बदलता गया है। किस तरह सामन्तीय से वह भौतिक-बौद्धिक हो गया है। देवकीनन्दन खत्री और यशपाल हमारे उपन्यास-साहित्य के दो छोर हैं। देवकीनन्दन जी का दृष्टिकोण—उनके औपन्यासिक मान—शुद्ध सामन्तीय हैं। साहित्य या उपन्यास उनके लिए एक जीवित शक्ति नहीं है, वह मनोरंजन का—उपभोग का एक उपकरण मात्र है। वह जीवन की व्याख्या और आलोचना करने वाला एक चैतन्य प्रभाव नहीं है, उपभोग-जर्जर जीवन में झूठी उत्तेजना लाने वाली एक खुराक है। शारीरिक उत्तेजना के लिए जिस प्रकार लोग कुश्ते खाते थे, मानसिक उत्तेजना के लिए इसी प्रकार वे 'तिलस्म होशरुबा' या 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' पढ़ते थे। इस तरह से, उस समय के जीवन के लिए 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव था और कम-से-कम उसकी अनन्त-विहारिणी कल्पना का लोहा तो सभी को मानना होगा। वह मन को इस बुरी तरह जकड़ लेती है, यही उसकी शक्ति का असंदिग्ध प्रमाण है। भारतीय जीवन की गति के अनुसार प्रेमचन्द तक आते-आते यह दृष्टिकोण बदलकर विवेक और नीति का दृष्टिकोण हो जाता है। उनके लिए उपन्यास सामाजिक जीवन का निर्माण करने वाला एक चेतन प्रभाव है, उपयोगिता और सुधार उसके दो ठोस उद्देश्य हैं, नीति और विवेक दो साधन। जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। निदान उनका उपन्यास मानव-जीवन की ऊपरी सतह को छूकर नहीं रह जाता, वह उसके भीतर प्रवेश करता है। परन्तु चूँकि उसकी दृष्टि बहिर्मुखी है, सामाजिक जीवन पर ही केन्द्रित रहती है, इसलिए उसकी भी तो पैठ सीमित माननी ही पड़ेगी। नीति और विवेक के प्राधान्य के कारण प्रेमचन्द का उपन्यास प्राण-चेतना के आर-पार नहीं देख पाता—विवेक को इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। विवेक की आँखें बीच में ही रुक जाती हैं, जीवन के अतल को स्पर्श नहीं कर पातीं। इसीलिए तो प्रेमचन्दजी की दृष्टि की व्यापकता, उदारता और स्वास्थ्य का क़ायल होकर भी मुझे उनमें और शरत् या रवि बाबू में बहुत अन्तर लगता है। प्रेमचन्दजी की इस बहिर्मुखी सामाजिकता को उसी समय प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा और उग्र ने चैलेंज किया—प्रसाद ने निर्मम होकर सामाजिक संस्थाओं का गर्हित खोखलापन दिखाया, वृन्दावनलाल ने वर्तमान के इतिवृत्त को छोड़कर अतीत के विस्मय-गौरव की ओर संकेत किया, उग्र ने उनकी उथली नैतिकता को चुनौती दी। परन्तु गांधीवाद के व्यवहार-पक्ष का लोकरुचि पर उस समय इतना अधिक प्रभाव था कि प्रेमचन्द का प्रतिरोध करना असम्भव हो गया। उस समय लोगों की दृष्टि गांधीवाद के व्यवहार-पक्ष तक ही सीमित थी, उनके अध्यात्म तक नहीं पहुँच पायी थी। जीवन के इस तल तक पहुंचने का प्रयत्न जैनेन्द्रजी ने किया है। विवेक और नीति से आगे आत्म-तत्त्व की ओर बढ़ने का उनको और सियारामशरण जी को आरम्भ से ही आग्रह रहा है। उनकी पीड़ा की फ़िलासफ़ी में गांधीवाद का अध्यात्म पक्ष ही तो है। इस दृष्टिकोण की दो तात्कालिक प्रतिक्रियाएं हमें भवगती बाबू की 'चित्रलेखा' और अज्ञेय के 'शेखर' में मिलती हैं। भगवती बाबू आस्तिक प्रवृत्तिवादी हैं। पीड़ा में उनका विश्वास नहीं। उनकी आस्था स्वस्थ उपभोग में है—अहं के निषेध में नहीं, अहं के परितोष में है। अज्ञेय का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक और बौद्धिक है। ये नास्तिक बुद्धिवादी हैं। इनके इसी दृष्टिकोण की दृढ़ता और स्थिरता के कारण वास्तव में 'शेखर' हिन्दी की एक अभूतपूर्व वस्तु बन गया। बुद्धि की इस दृढ़ता के साथ काश अज्ञेय के पास आस्तिकता का समर्पण भाव भी होता ! यशपाल में यह प्रतिक्रिया एक पग और आगे बढ़ जाती है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक न रह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कर भौतिकवादी हो जाता है। अज्ञेय की बौद्धिकता उनमें भी है, परन्तु वैज्ञानिक आत्मलीनता उनमें नहीं है—ये अपने से बाहर जाते हैं; इनमें भौतिकवादी सामाजिकता है…"

ऊबे हुए लोगों में से इतने में ही एक तेज़ आवाज़ आयी—"आपने क्या ख़ूब संश्लेषण किया है ! बस अब छुट्टी दीजिए !"—मैंने आँखें मलते हुए देखा कि काफ़ी दिन चढ़ आया है और श्रीमतीजी पूछ रही हैं—"छुट्टी है क्या आज ?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी-साहित्य

हिन्दी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी कि देश की संविधान सभा ने उसे राजभाषा घोषित किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतन्त्र भारत जैसे महान् देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारिणी बनने का गौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनीति के वात्याचक्र में फँस गई। हिन्दी का मंच राजनीतिक नेताओं से इतनी बुरी तरह घिर गया कि साहित्यकार के लिए उस पर बैठने की जगह भी नहीं रही। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-साहित्यकार की चेतना दो भिन्न, प्रायः विरोधी, सरणियों में विभक्त हो गई। सबसे पहले तो उसे भाषा की समस्या से उलझना पड़ा। फिर साहित्य की समृद्धि का प्रश्न सामने आया। व्यापक अर्थ में साहित्य के दो अंग हैं : एक शास्त्र और दूसरा काव्य। शास्त्र से अभिप्रेत है ज्ञान-व्यवहार का साहित्य और काव्य रस के साहित्य का वाचक है। इस तरह स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी साहित्यकार के सामने तीन मौलिक समस्याएं उठ खड़ी हुईं, जो बाह्य रूप में सम्बद्ध होती हुई भी तत्त्व रूप में भिन्न थीं : (१) भाषा की, (२) व्यावहारिक साहित्य की, और (३) काव्य अथवा रस के साहित्य की।

सन् १९४७ से लेकर सन् १९६१ तक, इन चौदह वर्षों में, हिन्दी-साहित्य के विकास की ये तीन रेखाएं हैं, जिन्हें आधार मानकर उसकी उपलब्धियों का सिंहावलोकन किया जा सकता है।

भारत की राजभाषा होते ही हिन्दी-भाषा के प्रश्न ने अनायास ही सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया। एक तो इसका शुद्ध राजनीतिक पहलू है, जिससे अनेक महारथी जूझ गए और आज भी जूझ रहे हैं। हमारे मन में उनके प्रति वही भयमिश्रित आदर है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्ति को योद्धा के प्रति हो सकता है। वे हमारे नमस्य हैं। किन्तु भाषा का एक साहित्यिक पक्ष भी है और वह हमारा अपना दायित्व है। यों तो रामप्रसाद निरंजनी से लेकर हमारी अपनी पीढ़ी के हिन्दी-लेखकों तक हिन्दी-भाषा की शक्तियों का समुचित विकास हो चुका था—महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसको स्थिर रूप दिया, पद्मसिंह शर्मा ने उसे गोष्ठी-मंडन बनाया, प्रेमचन्द ने उसकी व्यावहारिक शक्ति का विकास किया, रामचन्द्र शुक्ल ने गंभीर विवेचन के माध्यम रूप में उसका परिपाक किया, पन्त ने उसको सूक्ष्म सौन्दर्य-विवृतियों के उद्घाटन की क्षमता दी, और सन् १९४७ में आधुनिक हिन्दी एक प्रौढ़ परिपक्व भाषा के रूप में विद्यमान थी। परन्तु राजभाषा बनते ही उसके सामने अनायास ही अनेक समस्याएं उठ खड़ी हुईं और काव्य-साहित्य के दायित्व को विश्वास के साथ निबाहने वाली भाषा नवीन दायित्वों के भार से जैसे कुछ समय के लिए काँप गई। किन्तु आधार पुष्ट था—और डॉ० रघुवीर जैसे मेधावी आचार्यों ने उसका पूर्ण उपयोग कर हिन्दी की अन्तर्भूत शक्ति का सम्यक् विकास आरम्भ कर दिया। डॉ० रघुवीर के आगे-पीछे और भी शब्दकार इस दिशा में बढ़े—जैसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और हिन्दी के वयोवृद्ध कोशकार बाबू रामचन्द्र वर्मा आदि। आरम्भ में आचार्य रघुवीर का बड़ा विरोध हुआ। पहली बार जब मैंने संविधान-अनुवाद-समिति में उनके साथ कार्य आरम्भ किया तो मुझको भी उनके शब्द और शब्दों से भी अधिक उनकी असहिष्णु पद्धति सर्वथा अग्राह्य प्रतीत हुई। किन्तु जैसे-जैसे हम शब्दों की आत्मा में प्रवेश करते गए, वैसे-वैसे मुझे यह विश्वास होने लगा कि अपने समस्त गुण-दोषों के रहते हुए भी उनका मार्ग ही ठीक है। वास्तव में आचार्य रघुवीर के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। उनका प्रमुख दोष यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य की आन्तरिक प्रकृति से उनका सहज सम्बन्ध नहीं है और दूसरे वे शब्दकार हैं, शैलीकार नहीं। किन्तु फिर भी अपने क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। उनके साधन और उपकरण अत्यन्त समृद्ध हैं। संस्कृत भाषा की निर्माण-क्षमता को उन्होंने पूरी तरह से आत्मसात् कर लिया है और पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में उनको शब्द-निर्माण कला का अद्भुत अभ्यास हो गया है। उनकी एक प्रत्यक्ष उपलब्धि तो यही है कि उन्हीं अकेले व्यक्ति ने लक्षावधि शब्दों का निर्माण कर दिया है। किन्तु इससे भी बड़ी उपलब्धि उनकी यह है कि उन्होंने शब्द-निर्माण के मूल सिद्धान्त का आविष्कार, या कम-से-कम अत्यन्त सफल प्रयोग, किया है। उनका प्रायः सभी दिशाओं से विरोध हुआ किन्तु अन्त में अब उन्हीं की पद्धति का अवलम्बन किया जा रहा है। जो नहीं कर रहे हैं वे 'बिचब्रिन्दी' और 'खोली' जैसे शब्दों का निर्माण कर इस सभ्य देश की राष्ट्रभाषा का अपमान कर रहे हैं।

डॉ० रघुवीर के बाद शिक्षा मंत्रालय ने यह कार्य अपने हाथ में लिया। मंत्रालय के तत्त्वावधान में अनेक भाषाविज्ञों और विभिन्न शास्त्रीय विषयों के आचार्यों की सहायता से विपुल संख्या में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है और अब उनके आधार पर पारिभाषिक कोश का पहला भाग मुद्रण के लिए तैयार हो रहा है। यह शब्दावली स्वभावतः अधिक व्यापक है। एक तो इसकी रचना में अनेक प्रतिनिधि विद्वानों का हाथ है और दूसरे केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की स्वीकृति इसे प्राप्त है, इसलिए इसका प्रचार और प्रसार बढ़ रहा है। इसी बीच में कुछ सुलभ कोश भी प्रकाशित हो चुके हैं—जैसे डॉ० हरदेव बाहरी का अंगरेज़ी-हिन्दी कोश और श्री रघुराज गुप्त का 'समाजशास्त्र-मानवशास्त्र-पर्याय कोश'। इस विषय में श्री नरवणे द्वारा सम्पादित 'व्यवहार कोश' भी उल्लेखनीय है, जिसमें सभी भारतीय भाषाओं के पर्याय एकत्र मिलते हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी भाषा की शब्द-शक्ति का निश्चय ही तीन रूपों में विकास हुआ है : (१) विपुल संख्या में नवीन शब्द उपलब्ध हुए हैं, (२) शब्दों के रूप स्थिर हुए हैं और हो रहे हैं, (३) हमारी भाषा ने अर्थगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को अभिव्यक्त करने की क्षमता का अर्जन किया है। भाषा में आनुगुणत्व की जो शक्ति आज है वह सन् १९४७ से पूर्व नहीं थी। किन्तु चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। हमारे अनेक साहित्यकारों को यह शंका है कि संस्कृत का वर्द्धमान प्रभाव हिन्दी के स्वरूप का ग्रास करता जा रहा है। मैं इस शंका को सर्वथा निर्मूल नहीं मानता, किन्तु फिर भी मैं विशेष चिंतित नहीं हूँ क्योंकि इससे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक है। भाषा की गरिमा, चित्रात्मकता और व्यंजना-शक्ति का जितना विस्तार संस्कृत के आधार पर हो सकता है उतना इधर-उधर से बिना किसी नियम अथवा क्रम के गिने-चुने शब्दों से नहीं हो सकता। इस विकासशील भाषा के विरुद्ध एक आक्षेप और भी है जो वास्तव में उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता और वह यह कि इस प्रकार क्या हम एक अनुवाद-भाषा का विकास नहीं कर रहे ? आज जिन नवनिर्मित शब्दों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से हिन्दी का भाण्डार समृद्ध हुआ है वे सभी अनूदित शब्द हैं। ऐसी स्थिति में क्या यह विकास स्वाभाविक माना जा सकता है? यह शंका मेरे मन में भी बार-बार उठती है किन्तु इसका समाधान भी दूर नहीं है और वह यह है कि कोई भी प्राणवती भाषा अनुवाद की भाषा नहीं रह सकती। जो अनूदित शब्द आज आ गए हैं वे शीघ्र ही समर्थ लेखकों की अभिव्यंजना-प्रक्रिया में पड़कर भाषा में ही अभिन्न रूप से घुल-मिल जायेंगे। जिस महान् देश की संस्कृति एक के बाद एक विदेशी जाति के संस्कारों को आत्मसात् करती चली गई उसकी भाषा को कुछ नई शब्द-छायाओं को पचाने में कितनी देर लगेगी?

भाषा के उपरांत राजनीतिक दृष्टि से दूसरा प्रश्न सामने आया व्यवहार के साहित्य का। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिंदी का यह अंग निश्चय ही अविकसित था और अब भी है। कारण यह था कि इसके विकास का अवसर ही नहीं मिला। शासन और शिक्षा दोनों का माध्यम अंगरेज़ी थी और इस प्रकार का समस्त ज्ञान-साहित्य उसी में प्रस्तुत होता रहा। किन्तु स्वतंत्र राष्ट्र के सामने जब शासन तथा शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी के व्यवहार का प्रश्न आया तो आवश्यक साहित्य की मांग होने लगी। पिछले चौदह वर्षों में स्थिति में निश्चय ही सुधार हुआ है। भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनेक ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है और कुछ वर्ष पूर्व शिक्षा मंत्रालय द्वारा आयोजित एक सर्वभाषा वैज्ञानिक-ग्रंथ-प्रदर्शनी से यह सिद्ध हो चुका है कि इन विषयों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस संदर्भ में सबसे बड़ी उपलब्धि है नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी विश्वकोश, भाग १। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की हिंदी समिति तथा बिहार की राष्ट्रभाषा-परिषद् के भी अनेक प्रकाशन अपने ढंग से उपयोगी हैं। फिर भी अभाव तो मिटा नहीं है। वास्तव में हिंदी का यह अभाव इतना बड़ा है कि इसके लिए नियमित रूप से बड़े पैमाने पर—प्रायः युद्ध-स्तर पर—प्रयत्न अनिवार्य है। यह बड़े ही खेद का विषय है कि अभी तक आलोचना ही अधिक हो रही है और निर्माण-कार्य की गति अत्यंत मंथर है। वैसे तो केन्द्र तथा अन्य राज्य सरकारों ने इस विषय में योजनाएं बनाई हैं और थोड़ा-बहुत कार्य भी हो रहा है परन्तु आवश्यकता को देखते हुए पूर्ति नगण्य-सी ही है। इस अप्रगति के अनेक कारण हैं। एक कारण तो यही है कि अभी अधिकांश क्षेत्रों में अंगरेज़ी का ही प्रयोग चल रहा है और हिन्दी-लेखकों के लिए कोई प्रेरणा नहीं है। दूसरे, इन विषयों में हिन्दी के समर्थ लेखक भी अनेक नहीं हैं। तीसरे, शासन और शिक्षा दोनों ही में देश के दुर्भाग्य से प्रमुख स्थान ऐसे व्यक्तियों के अधिकार में हैं जिनका हिन्दी-ज्ञान पर्याप्त नहीं है। इनमें से सभी हिन्दी के विरोधी नहीं हैं। अनेक के मन में हिन्दी के प्रति वास्तविक ममत्व है किन्तु प्रश्न तो वर्तमान परिस्थिति का है। चौथे, इसके अतिरिक्त ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं है जिनके मन में स्वार्थवश, और कदाचित् सिद्धान्तवश भी, हिन्दी के प्रति विद्वेष की भावना है। इन व्यक्तियों ने कुतर्कणा का एक चक्रव्यूह-सा रच दिया है और उसकी आड़ में अपनी हित-रक्षा करना चाहते हैं—हिन्दी में अभीष्ट ग्रन्थों का अभाव है इसलिए वह उच्च शिक्षा एवं शासन का माध्यम नहीं बन सकती और जब तक हिन्दी का उपयोग इन क्षेत्रों में नहीं होगा तब तक अभीष्ट ग्रन्थों का अभाव बना रहेगा। यह स्थिति वास्तव में चिन्त्य है; परन्तु हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्र का हित व्यक्ति के हित से अधिक बलिष्ठ है और काल के दुर्दम प्रवाह को विपरीत दिशा में मोड़ा नहीं जा सकता। इस दिशा में तुरन्त ही कार्यवाही होनी चाहिए और यह कार्य बेगार में पकड़े हुए कुछ विद्वानों की सहा-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यता से, प्रकीर्ण प्रयत्नों द्वारा, नहीं हो सकता। इसके लिए तो एक बृहद् राष्ट्रीय ज्ञान-परिषद् की स्थापना अनिवार्य है।

अब रह जाता है सर्जनात्मक साहित्य—अथवा रस का साहित्य। साहित्य का यह अंग प्रकृति से थोड़ा अदम्य होता है—वह न राजनीति का आदेश मानता है और न योजनाओं में ही परिबद्ध हो सकता है। पर रसचेता कलाकार भी अपनी परिस्थिति से सर्वथा निरपेक्ष तो नहीं हो सकता—और फिर स्वतन्त्रता तथा विभाजन की परिस्थितियां तो असाधारण थीं। सन् १९४७ के उपरान्त देश में अनेक घटनाएँ ऐसी घटीं जिनका किसी भी संवेदनशील व्यक्ति की अन्तश्चेतना पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। सबसे पहले स्वतन्त्रता-प्राप्ति की घटना ही एक भव्य घटना थी—देश के इतिहास में ऐसी घटना शताब्दियों बाद घटी थी। भारत के कवि-कलाकार की युग-युग से अपमानित अन्तरात्मा ने मुक्ति की साँस ली। उसके मन में एक अभूतपूर्व आत्म-विश्वास जगा। विश्व-कल्याण के जिन स्वप्नों को वह गांधी के और गांधी के पूर्वज ऋषियों के मंत्र-बल से दासता की अभिशप्त रात्रि में भी सँजोता रहा था, उनको पहली बार सार्थक करने का अवसर आया। भारत के संस्कृत हृदय ने बिना अहंकार के, बिना किसी गर्व अथवा औद्धत्य के अपनी मुक्ति को अखिल विश्व की मुक्ति का प्रतीक माना। भारत के राजनीतिज्ञों और कवियों ने एक स्वर से यह उद्घोष किया :

भारत स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र सभी जब हों!

जैसे-जैसे समय बीतता गया, भारतवर्ष की विश्व-मैत्री की नीति अधिक स्पष्ट और भास्वर होती गई। इसका हमारे काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वास्तव में इस नीति की मूल चेतना ही काव्यात्मक है और इसका विकास कूटनीतिज्ञों की मंत्रणाओं के आधार पर नहीं हुआ, रवीन्द्र और उनके अग्रज एवं अनुज कवियों की आप्त वाणी के प्रभाव से ही हुआ है। उपनिषद् से लेकर छायावाद तक की भारतीय काव्य-परम्परा का पवित्र सम्बल उसे प्राप्त है। हिन्दी में इस विषय पर अनेक कवियों ने अनेक रचनाएं कीं और उनमें से अधिकांश का काव्यगुण नगण्य नहीं है। फिर भी इनमें सबसे प्रबल स्वर पन्त, सियारामशरण, नवीन और दिनकर का ही रहा। पन्त और सियारामशरण में जहां देश की मुक्त आत्मा का पवित्र उल्लास है, वहां नवीन और दिनकर में उसका सात्त्विक ओज है।

किन्तु स्वतन्त्रता का यह वरदान विभाजन के अभिशाप के साथ-साथ आया। मुक्त आकाश में अरुणोदय हुआ ही था कि गृह-कलह के बादल घिर आये। परतन्त्र राष्ट्र के उपचेतन की संचित विकृतियां अनायास ही उभर आयीं और समस्त देश का वातावरण पाशव शक्तियों के अट्टहास से गूँज उठा। यह मानव-चेतना की घोरतम विफलता के दिन थे, किन्तु साहित्य में इसका प्रभाव सर्वथा नगण्य ही रहा। भारतीय साहित्य के पर्यवेक्षक का हृदय यह देखकर सदा ही एक मधुर गर्व से उत्फुल्ल हो उठेगा कि हिन्दी के एक भी उत्तरदायी साहित्यकार ने साम्प्रदायिक विक्षेप को प्रश्रय नहीं दिया। इस घटना से प्रेरित जो साहित्य आज उपलब्ध है उसमें तत्कालीन विक्षिप्त पशुता में मानव की शुद्ध-बुद्ध आत्मा का ही अनुसन्धान अनिवार्य रूप से मिलता है। इस प्रकार का साहित्य परिमाण में अधिक नहीं रचा गया। भारत-विभाजन और उसकी अनुवर्ती विभीषिकाओं की प्रतिध्वनि थोड़ी-सी कहानियों, कुछेक एकांकियों और मुश्किल से दो-चार उपन्यासों में ही मिलती है। हिन्दी के अधिकांश समर्थ कलाकारों ने तो अपनी इस लज्जा को छिपाने का ही प्रयत्न किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस नर-मेध की पूर्णाहुति हुई राष्ट्रपिता गांधी के बलिदान से। गांधी का यह बलिदान देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक विराट् घटना थी। रवीन्द्रनाथ ने महाकाव्य के विषय में लिखा है—"इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार पा जाता है, मनुष्य-चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उस परमपुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश में रहती है, और उसका शिखर मेघों को भेदकर आकाश में उठता है। उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देव-भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य-किरणों से अभिभूत होकर, नाना दिग्देशों से आ-आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य।"

इस दृष्टि से हमारा विश्वास है कि आधुनिक विश्व के इतिहास में गांधी से अधिक न तो कोई महाकाव्योचित चरित्र-नायक ही जन्मा है और न उनके बलिदान से अधिक महाकाव्योचित घटना ही घटी है।

गांधीजी के जीवन-मरण को लेकर हिन्दी में अनेक कविताएं लिखी गईं। प्रमुख कवियों में पंत, सियारामशरण गुप्त, नवीन, दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र और सुमन आदि ने व्यवस्थित रूप से रचनाएं की हैं। उनके बलिदान से प्रेरित होकर भी प्रायः इन्हीं कवियों ने अनेक रचनाएं प्रस्तुत कीं। परन्तु इनमें से अधिकांश कविताएं विषय की गरिमा के उपयुक्त नहीं बन सकीं। इसका कारण स्पष्ट है—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रकृत भाव और काव्यगत भाव में भेद किया गया है और हमारे आचार्यों ने बड़े मार्मिक ढंग से यह स्पष्ट किया है कि जीवनगत अनुभूतियां अपने प्रकृत रूप में नहीं वरन् संस्कार रूप में ही काव्य का विषय बन सकती हैं। प्रकृत रूप में उनका ऐन्द्रिय तत्त्व रसात्मक निबन्धन में बाधक होता है। गांधी के महानिर्वाण से सम्बद्ध काव्य में इसीलिए अपेक्षित उदात्त रस का संचार नहीं हो सका क्योंकि उसका घाव अभी तक हरा है और आज के कवि के लिए, जिसने कि उसको प्रत्यक्ष रूप से सहा है, अभी वह संस्कार नहीं बन पाया —संभव है वर्षों तक बन भी न पाए। इसलिए गांधी-महाकाव्य कदाचित् कुछ समय बाद ही लिखा जा सकेगा जबकि गांधी जी के जीवन-मरण से सम्बद्ध हमारी युगानुभूति प्रकृत अनुभूति न रहकर संस्कार बन जाएगी।

प्रस्तुत कालावधि में काव्य के दो और प्रमुख विषय हमारे सामने आए: (१) भारतवर्ष की सफल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-नीति, (२) सन्त विनोबा का भूदान-आन्दोलन। तत्त्व रूप में इस देश के कवि के लिए ये कोई नये विषय नहीं हैं। नेहरू की शान्ति-नीति गांधी की अहिंसा की राजनीतिक अभिव्यंजना है और विनोबा का भूदान यज्ञ उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति। काव्यशास्त्र के शब्दों में तीनों का स्थायी भाव एक ही है। नवीन जी तथा श्री सियारामशरण आदि ने इस विषय को निष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

ऊपर जिन काव्य-विषयों का उल्लेख किया गया है वे मूलतः एक ही प्रवृत्ति के अंग हैं—और यह प्रवृत्ति वही है जिसे हमने अपनी 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां' पुस्तक में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किया है। यह काव्य-प्रवृत्ति वस्तुतः नई नहीं है वरन् स्वतन्त्रता के बहुत पहले से ही हमारे साहित्य में इसका अस्तित्व रहा है। स्वतन्त्रता के उपरान्त इसके रूप में परिवर्तन अवश्य हुआ है किन्तु मूलतत्त्व वे ही रहे हैं। एक तो परतन्त्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देश की वह अवरुद्ध हुंकार आज इसमें नहीं रही, उसका स्थान स्वतंत्र राष्ट्र के आत्मविश्वास ने ले लिया है। दूसरे, अपने राजनीतिक संघर्ष का सफल अन्त हो जाने से अहिंसा में उसकी आस्था अत्यंत दृढ़ हो गई है। तीसरे, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी शान्ति-नीति के निरन्तर सफल होते जाने से विश्व-बन्धुत्व के भावादर्श वस्तु-सत्य में परिणत होने लगे हैं। इस प्रकार संदेह, असहयोग, प्रतिरोध आदि का निराकरण हो जाने से जीवन के आस्तिक मूल्यों का पोषण हुआ है जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता के बाद की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता में तामसिक गुण प्रायः निःशेष हो गए हैं और शुद्ध सात्त्विक उत्साह-उल्लास की परिवृद्धि हुई है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि आज उसके राष्ट्रीय तत्त्व पृथक् न रहकर बहुत-कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ ही घुल-मिल गये हैं। वर्तमान हिन्दी कविता की सर्वप्रमुख धारा यही है। वास्तव में स्वतंत्रता-पूर्व युग की तीन प्रवृत्तियां—ओज और उत्साह से अनुप्रेरित राष्ट्रीय प्रवृत्ति, सत्य-चिन्तन से अनुप्राणित सांस्कृतिक प्रवृत्ति और सौन्दर्य-भावना से स्फूर्त छायावादी प्रवृत्ति इस त्रिवेणी में मिलकर एकाकार हो गई हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि इसकी उपलब्धि क्या है? इसका उत्तर यह है कि अभी वर्तमान काव्य की अन्तश्चेतना का निर्माण हो रहा है। आज नहीं तो कल कोई समर्थ कवि अपनी अमृतवाणी में इसका उद्गीथ करेगा।

इस परिधि के बाहर भी एक ऐसा कविवर्ग है जो अभीष्ट संस्कारों के अभाव में परम्परा से पोषित आस्तिक मूल्यों को ग्रहण करने में असमर्थ है। निदान वह जीवन के उपर्युक्त सांस्कृतिक मूल्यों के विरुद्ध 'प्रगति' अथवा 'प्रयोग' कर रहा है। सक्रियता की दृष्टि से यह वर्ग पिछड़ा नहीं है, और अपने ढंग से यह भी जीवन की व्याख्या करने का दावा करता है। सन् १९४७ से पूर्व जो प्रगतिवादी थे उनमें से संस्कारशील कवियों ने सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार कर लिया है, किन्तु जिनकी प्रकृति उनके साथ समझौता नहीं कर पायी, वे या तो कभी-कभी देश के आर्थिक विधान के विरुद्ध बड़बड़ाने लगते हैं और या फिर व्यक्ति की कुण्ठाओं को काव्य में मूर्त करने का सफल-असफल प्रयत्न करते हैं। मेरे आस्तिक संस्कार इस प्रकार की कविता से कभी सन्धि नहीं कर सके—किन्तु फिर भी वस्तु-चिंतन करने पर मुझे यह लगता है कि यह प्रवृत्ति केवल बौद्धिक विकृति मात्र नहीं है, अथवा यदि केवल बौद्धिक विकृति है भी तब भी आज के जीवन में अस्वाभाविक नहीं है। आज का बुद्धिजीवी युवक आस्तिक नहीं है। वर्तमान उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं का परितोष नहीं कर रहा, वह अनुभव करता है कि उसकी प्रतिभा का मूल्य उसे नहीं मिल रहा—और वह क्षुब्ध है। सामाजिक चेतना उसकी इतनी विकसित नहीं हो पायी कि राष्ट्र के सामूहिक विकास अथवा कम-से-कम विकास-प्रयत्नों से प्रेरणा ग्रहण कर सके, संस्कार उसके इतने आस्तिक नहीं रह गए कि भावी की स्वस्थ कल्पना उसे परितोष दे सके। अन्त में रह जाता है वह स्वयं और आधुनिक अतिवादों द्वारा पोषित उसकी बुद्धि। अतएव कुण्ठित मन नास्तिक बुद्धि के साथ तरह-तरह के खेल खेलने लगता है। आज की प्रयोगवादी कविता की यही अंतरंग व्याख्या है। यह काव्य-प्रवृत्ति आज के जीवन में अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु फिर भी, सत्य भी नहीं है, क्योंकि यह नास्ति पर आधृत है, अस्ति पर नहीं।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों की उपलब्धियां भी महत्त्वहीन नहीं हैं। हिन्दी-उपन्यास काफ़ी सक्रिय रहा है: यद्यपि आज हिन्दी-उपन्यास की अधिकांश प्रवृत्तियों में प्रायः स्वतन्त्रता-पूर्व युग की विस्तृति ही मिलती है, फिर भी कलात्मक स्तर का उचित संरक्षण हुआ है। प्रेमचन्द की सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास-परम्परा में अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' तथा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'सुहाग के नूपुर' का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। इस वर्ग के अन्य ख्यातिलब्ध उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क ने गुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास के क्षेत्र में अज्ञेय का 'नदी के द्वीप', इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज़ का पंछी' और जैनेन्द्र की 'सुखदा' तथा 'जयवर्धन' आदि रचनाएं विशेषतः उल्लेखनीय हैं, यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि इनमें से कोई भी कृति अपने रचयिता की पूर्व-उपलब्धियों से श्रेष्ठतर है। इस दृष्टि से वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल की सफलता अधिक स्पृहणीय है। वर्मा जी की 'झांसी की रानी' और 'मृगनयनी' दोनों ही श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास हैं—हिन्दी में अपने वर्ग की वे अन्यतम विभूतियां हैं। और उधर यशपाल-कृत 'झूठा सच' भी अपने महाकाव्योचित आयाम तथा गरिमा के कारण प्रगतिवादी उपन्यासों में निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उपन्यास के एक नवीन रूप का भी आविर्भाव हुआ है और वह है 'आंचलिक उपन्यास'।—इस संदर्भ में रेणु ने 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की रचना द्वारा एक नवीन दिशा में सफल प्रयोग किए हैं, यद्यपि अभी इन्हें प्रयोग से आगे सिद्धि मानना जल्दबाज़ी होगी।

हिन्दी-नाटक अब रंगमंच के अधिक निकट आ गया है और कुछ ऐसी नई प्रतिभाएं उभरकर सामने आ रही हैं जिनका अपने अग्रवर्ती नाटककारों—लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदि की अपेक्षा रंगमंच की विकासशील कला से अधिक घनिष्ठ एवं जीवन्त सम्पर्क है। इस युग में सर्वाधिक विकास हुआ है आलोचना का। इसमें संदेह नहीं कि आचार्य शुक्ल की जैसी मेधा का वरदान आज उसे प्राप्त नहीं है, किन्तु उनकी स्वस्थ परम्पराओं का पिछले तेरह-चौदह वर्षों में समुचित विकास हुआ है और अब भी हो रहा है। इनके अतिरिक्त समाजविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र की नवीन पद्धतियों के सम्यक् उपयोग से नवीन आलोचना-प्रणालियों का भी आविर्भाव हुआ है। इधर भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का आख्यान-पुनराख्यान भी द्रुत गति से चल रहा है, स्वदेश-विदेश के प्रायः सभी आचार्यों के शास्त्र-ग्रंथ हिन्दी में सुलभ हैं और हिन्दी का काव्यशास्त्र आज भारतीय भाषाओं में सर्वाधिक समृद्ध है। नवीन शोध के परिणामस्वरूप प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आयी है और हिन्दी के सिद्ध लेखक नागरी प्रचारिणी-सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' में उसका उचित उपयोग कर रहे हैं। यह इतिहास स्वयं अपने आप में एक महान् अनुष्ठान है—इसके तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं और चौदह पर कार्य हो रहा है। पूरा हो जाने पर लगभग दस हज़ार पृष्ठ का यह महाग्रंथ विश्व का कदाचित् सबसे बड़ा साहित्यिक इतिहास होगा जिसे असंख्य 'पुस्तक-कीट' एकत्र होकर भी काटने में असमर्थ रहेंगे। भाषाविज्ञान की प्रगति भी उपेक्षणीय नहीं है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के निकट सम्पर्क के फलस्वरूप तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए व्यापक क्षेत्र मिल गया है और भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षणों के द्वारा देश में अनेक बोलियों के अध्ययन की विस्तृत योजनाओं पर कार्य हो रहा है।

अंत में, हमारा निष्कर्ष यह है कि स्वाधीन भारत में हिन्दी की प्रगति के दोनों ही पहलू हैं। ज्ञान के साहित्य में जहां अभूतपूर्व उन्नति हुई है, वहां रस के साहित्य की सिद्धि अधिक से अधिक संतोषप्रद ही कही जा सकती है—उस पर गर्व करने का कोई विशेष कारण नहीं है। परन्तु यह तो उपलब्धि का समय वास्तव में है भी नहीं—यह तो निर्माण-काल है, वरन् यह कहना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चाहिए कि निर्माण का आरम्भ-काल है। निर्माण और सृजन दोनों में बाह्य समानता होने पर भी मौलिक भेद है। निर्माण जहां योजनाबद्ध, विवेकपूर्ण तथा प्रयत्न-साध्य कर्म है, वहां सृजन अंतः-स्फूर्त, अयत्न-साध्य क्रिया है जो न योजना में बाँधी जा सकती है और न हानि-लाभ के विवेक से नियन्त्रित हो सकती है। हिन्दी का साहित्यकार आज निर्माण की योजनाओं में संलग्न है जिनके परिणाम अपेक्षित अवधि के उपरान्त ही उपलब्ध होंगे। अतएव आज की उपलब्धि का मूल्यांकन परिणाम के आधार पर नहीं, हमारे प्रयत्नों के आधार पर होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिन्दी का अपना आलोचनाशास्त्र (सम्भावनाएं)

हिन्दी आलोचनाशास्त्र—यह विषय जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही विषम भी। इस समस्त शब्द को सुनकर मेरे मन में चार प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं: (१) क्या भाषा के आधार पर आलोचनाशास्त्र की परिकल्पना तर्कसंगत है? (२) क्या हिन्दी आलोचना-शास्त्र जैसा कोई स्वतंत्र विधान विद्यमान है? (३) यदि विद्यमान है तो उसका विकास किस प्रकार किया जा सकता है? और (४) क्या स्वतंत्र भारत में, जब प्रादेशिक भावना की दीवारों को तोड़कर भारतीय चेतना का उदय हो रहा है, इस प्रकार का प्रयत्न आवश्यक तथा उपयोगी होगा? प्रस्तुत विषय का विवेचन मैं इन्हीं चार प्रश्नों के आधार पर करूंगा।

पहला प्रश्न है: क्या भाषा के आधार पर आलोचनाशास्त्र की परिकल्पना तर्कसंगत है? आलोचनाशास्त्र से अभिप्राय साहित्यालोचन की सिद्धान्त-संहिता से है, जिसे अंगरेजी में 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' कहते हैं और प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जिसके साहित्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि अनेक नाम थे। मेरा विचार है कि काव्य शब्द को सृजनात्मक साहित्य का वाचक मान कर हिन्दी में हमें 'काव्यशास्त्र' शब्द को इस अर्थ में रूढ़ कर देना चाहिए। काव्यशास्त्र वस्तुतः काव्य-संबंधी तथ्यों अथवा नियमों का आकलन-मात्र नहीं है—वह काव्य का दर्शन है; अर्थात् काव्य के माध्यम से व्यक्त मानव-सत्य का अनुसन्धान एवं उपलब्धि है। सत्य का अनुसन्धान और उपलब्धि क्या भाषानुसार खण्डित किये जा सकते हैं? यह शंका मेरे मन में, और मैं समझता हूं आप में से अनेक के मन में उठ सकती है? तो क्या बंगला काव्यशास्त्र, असमिया काव्यशास्त्र, उर्दू काव्यशास्त्र, मराठी काव्यशास्त्र और इसी प्रकार हिन्दी काव्यशास्त्र का संस्कृत या भारतीय काव्यशास्त्र से स्वतंत्र तथा परस्पर-भिन्न अस्तित्व है? इस प्रश्न की पहली प्रतिक्रिया तो नकारात्मक ही होती है—लगता है कि तब तो दर्शन को भी भाषावार विभक्त करना पड़ेगा: हिन्दी दर्शन, उड़िया दर्शन, कन्नड़ दर्शन! सामान्यतः दिक्कालावच्छिन्न सत्य का, अनुसन्धान की सुविधा के लिए, पूर्व और पश्चिम, या अधिक से अधिक प्रजाति या राष्ट्र, के आधार पर पृथक् अध्ययन कर लीजिए, परन्तु एक ही राष्ट्र की समान-मातृका भाषाओं में उसे बाँटना तो नितांत अनुचित होगा। किन्तु यह बात नहीं है। दर्शन, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, सत्य की उपलब्धि-मात्र नहीं है; उसका अनुसन्धान भी तो है। यों कहना चाहिए कि अनुसन्धान ही अधिक है; क्योंकि उपलब्धि के उपरांत तो वाणी मौन हो जाती है। अनुसन्धान की प्रक्रिया सर्वथा दिक्का-लावच्छिन्न नहीं हो सकती; क्योंकि अनुसन्धाता की अपनी शक्ति-सीमा तथा परिस्थिति का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सत्य की उपलब्धि तो सामान्य रहती है और रहेगी, किन्तु उस उपलब्धि के लिए अनुसन्धान की प्रक्रिया विशिष्ट ही होती है। इसी विशिष्टता के आधार पर दर्शन अथवा काव्य-दर्शन के विशिष्ट रूप की परिकल्पना करना तर्कहीन नहीं है। संस्कृत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और अंगरेज़ी से हिन्दी का अपना स्वतंत्र काव्य है, अतः उसके माध्यम से सत्य के अनुसन्धान की प्रक्रिया भी स्वतंत्र हो सकती है। दूसरे शब्दों में, हिन्दी का अपना स्वतंत्र काव्यशास्त्र हो सकता है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि क्या हिन्दी में इस प्रकार का अपना कोई स्वतंत्र काव्यशास्त्र विद्यमान है ? हिन्दी में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का अभाव नहीं है। रीतिकाल में पूरी दो शताब्दियों तक निरंतर रीति-ग्रन्थों की रचना होती रही और सहस्रावधि ग्रन्थ प्रकाश में आए। आधुनिक युग में भी लगभग अर्धशताब्दी से इस क्षेत्र में अनवरत कार्य हो रहा है जिसके फलस्वरूप वर्तमान काव्यशास्त्र-ग्रन्थ भी कम संख्या में उपलब्ध नहीं हैं। रीति-युग में जहां केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, दास और प्रतापसाहि जैसे सर्वांगविवेचक आचार्य हुए, वहाँ आधुनिक युग में भी पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक अनेक उद्‌भट विद्वानों ने इस अंग की श्रीवृद्धि की है, और आज भी मेरी धारणा है कि हिन्दी-साहित्य का सबसे पुष्ट अंग आलोचना ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है। परन्तु प्रश्न परिमाण का नहीं है, गुण का भी नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या इस ग्रन्थ-समुदाय पर आधृत हिन्दी-काव्यशास्त्र का संस्कृत, और वर्तमान युग में अंगरेज़ी अथवा अधिक से अधिक यूरोपीय काव्यशास्त्र से, स्वतंत्र अस्तित्व है ? इस प्रश्न के उत्तर में सहसा 'हाँ !' कहना कठिन है; क्योंकि रीति-युग का विवेचन दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त आदि का ही उपजीवी है। तुलनात्मक अध्ययन से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दी के रीतिकार ने परम्परागत काव्यशास्त्र के विकास में भी कोई विशेष योगदान नहीं किया; स्वतंत्र काव्यशास्त्र के निर्माण का तो कहना ही क्या ! अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण इस बात के साक्षी हैं कि हिन्दी-रीतिग्रन्थों में यदि कहीं तथा-कथित स्वतंत्र विवेचन दृष्टिगत भी होता है तो वह या तो किसी अप्रचलित संस्कृत-ग्रन्थ में ही मिल जाता है, या अपने-आप में नगण्य सिद्ध हो जाता है, या हिन्दी-रीतिकार की भ्रान्ति का परिणाम-मात्र है। वर्तमान काव्यशास्त्र-ग्रन्थों में अनेक आचार्य हिन्दी के उदाहरण तक देने में असमर्थ रहे हैं। उनके लक्षण आदि तो संस्कृत से उद्धृत हैं ही, उदाहरण भी संस्कृत-उदाहरणों के ही अनुवाद हैं। ऐसी स्थिति में हमारे पास में ऐसा क्या है जिसे हम हिन्दी का अपना काव्यशास्त्र कह सकें ?—इसमें सन्देह नहीं कि इस आलोचना में बहुत-कुछ तथ्य है, परन्तु दृष्टिकोण में थोड़ा-सा परिवर्तन कर देने से चित्र इतना विकृत नहीं रह जायेगा। वास्तव में हिन्दी रीतिशास्त्र का मूल्यांकन करते हुए आज भी हम संस्कृत काव्यशास्त्र के मानदण्डों का प्रयोग करते हैं—यह भी उसी भूल की पुनरावृत्ति है जो हमारे प्रायः सभी प्राचीन तथा अनेक नवीन रीतिकारों ने की है : अर्थात् लक्ष्य और लक्षण की असंगति। संस्कृत में लक्ष्य-काव्य और लक्षण-ग्रन्थों में पूर्ण सामंजस्य था। भामह, वामन, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक आदि ने अपने सिद्धान्त-विवेचन का आधार उपलब्ध काव्य को ही बनाया था। उन्होंने चाहे निगमन-शैली का अवलम्बन किया हो चाहे आगमन-शैली का, परन्तु संस्कृत काव्य का आधार कहीं नहीं छोड़ा। इसीलिए उनके लक्षण और लक्ष्य के बीच प्रत्यक्ष तथा जीवन्त सम्पर्क आद्यन्त बना रहा जिसने उनके काव्यशास्त्र को रूढ़ि-जड़ नहीं होने दिया। हिन्दी का रीतिकार इसी जीवन्त सम्बन्ध-सूत्र को नहीं पकड़ पाया; परिणाम यह हुआ कि वह प्राचीन लक्षणों का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिन्दी का अपना आलोचनाशास्त्र (सम्भावनाएं)

हिन्दी आलोचनाशास्त्र—यह विषय जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही विषम भी। इस समस्त शब्द को सुनकर मेरे मन में चार प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं: (१) क्या भाषा के आधार पर आलोचनाशास्त्र की परिकल्पना तर्कसंगत है? (२) क्या हिन्दी आलोचनाशास्त्र जैसा कोई स्वतंत्र विधान विद्यमान है? (३) यदि विद्यमान है तो उसका विकास किस प्रकार किया जा सकता है? और (४) क्या स्वतंत्र भारत में, जब प्रादेशिक भावना की दीवारों को तोड़कर भारतीय चेतना का उदय हो रहा है, इस प्रकार का प्रयत्न आवश्यक तथा उपयोगी होगा? प्रस्तुत विषय का विवेचन मैं इन्हीं चार प्रश्नों के आधार पर करूंगा।

पहला प्रश्न है: क्या भाषा के आधार पर आलोचनाशास्त्र की परिकल्पना तर्कसंगत है? आलोचनाशास्त्र से अभिप्राय साहित्यालोचन की सिद्धान्त-संहिता से है, जिसे अंगरेज़ी में 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' कहते हैं और प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जिसके साहित्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि अनेक नाम थे। मेरा विचार है कि काव्य शब्द को सृजनात्मक साहित्य का वाचक मान कर हिन्दी में हमें 'काव्यशास्त्र' शब्द को इस अर्थ में रूढ़ कर देना चाहिए। काव्यशास्त्र वस्तुतः काव्य-संबंधी तथ्यों अथवा नियमों का आकलन-मात्र नहीं है—वह काव्य का दर्शन है; अर्थात् काव्य के माध्यम से व्यक्त मानव-सत्य का अनुसन्धान एवं उपलब्धि है। सत्य का अनुसन्धान और उपलब्धि क्या भाषानुसार खण्डित किये जा सकते हैं? यह शंका मेरे मन में, और मैं समझता हूं आप में से अनेक के मन में उठ सकती है? तो क्या बंगला काव्यशास्त्र, असमिया काव्यशास्त्र, उर्दू काव्यशास्त्र, मराठी काव्यशास्त्र और इसी प्रकार हिन्दी काव्यशास्त्र का संस्कृत या भारतीय काव्यशास्त्र से स्वतंत्र तथा परस्पर-भिन्न अस्तित्व है? इस प्रश्न की पहली प्रतिक्रिया तो नकारात्मक ही होती है—लगता है कि तब तो दर्शन को भी भाषावार विभक्त करना पड़ेगा: हिन्दी दर्शन, उड़िया दर्शन, कन्नड़ दर्शन! सामान्यतः दिक्कालावच्छिन्न सत्य का, अनुसन्धान की सुविधा के लिए, पूर्व और पश्चिम, या अधिक से अधिक प्रजाति या राष्ट्र, के आधार पर पृथक् अध्ययन कर लीजिए, परन्तु एक ही राष्ट्र की समान-मातृका भाषाओं में उसे बाँटना तो नितांत अनुचित होगा। किन्तु यह बात नहीं है। दर्शन, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, सत्य की उपलब्धि-मात्र नहीं है; उसका अनुसन्धान भी तो है। यों कहना चाहिए कि अनुसन्धान ही अधिक है; क्योंकि उपलब्धि के उपरांत तो वाणी मौन हो जाती है। अनुसन्धान की प्रक्रिया सर्वथा दिक्कालावच्छिन्न नहीं हो सकती; क्योंकि अनुसन्धाता की अपनी शक्ति-सीमा तथा परिस्थिति का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सत्य की उपलब्धि तो सामान्य रहती है और रहेगी, किन्तु उस उपलब्धि के लिए अनुसन्धान की प्रक्रिया विशिष्ट ही होती है। इसी विशिष्टता के आधार पर दर्शन अथवा काव्य-दर्शन के विशिष्ट रूप की परिकल्पना करना तर्कहीन नहीं है। संस्कृत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और अंगरेज़ी से हिन्दी का अपना स्वतंत्र काव्य है, अतः उसके माध्यम से सत्य के अनुसन्धान की प्रक्रिया भी स्वतंत्र हो सकती है। दूसरे शब्दों में, हिन्दी का अपना स्वतंत्र काव्यशास्त्र हो सकता है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि क्या हिन्दी में इस प्रकार का अपना कोई स्वतंत्र काव्यशास्त्र विद्यमान है ? हिन्दी में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का अभाव नहीं है। रीतिकाल में पूरी दो शताब्दियों तक निरंतर रीति-ग्रन्थों की रचना होती रही और सहस्रावधि ग्रन्थ प्रकाश में आए। आधुनिक युग में भी लगभग अर्धशताब्दी से इस क्षेत्र में अनवरत कार्य हो रहा है जिसके फलस्वरूप वर्तमान काव्यशास्त्र-ग्रन्थ भी कम संख्या में उपलब्ध नहीं हैं। रीति-युग में जहां केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, दास और प्रतापसाहि जैसे सर्वांगविवेचक आचार्य हुए, वहाँ आधुनिक युग में भी पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक अनेक उद्‌भट विद्वानों ने इस अंग की श्रीवृद्धि की है, और आज भी मेरी धारणा है कि हिन्दी-साहित्य का सबसे पुष्ट अंग आलोचना ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है। परन्तु प्रश्न परिमाण का नहीं है, गुण का भी नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या इस ग्रन्थ-समुदाय पर आधृत हिन्दी-काव्यशास्त्र का संस्कृत, और वर्तमान युग में अंगरेज़ी अथवा अधिक से अधिक यूरोपीय काव्यशास्त्र से, स्वतंत्र अस्तित्व है ? इस प्रश्न के उत्तर में सहसा 'हाँ !' कहना कठिन है; क्योंकि रीति-युग का विवेचन दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त आदि का ही उपजीवी है। तुलनात्मक अध्ययन से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दी के रीतिकार ने परम्परागत काव्यशास्त्र के विकास में भी कोई विशेष योगदान नहीं किया; स्वतंत्र काव्यशास्त्र के निर्माण का तो कहना ही क्या ! अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण इस बात के साक्षी हैं कि हिन्दी-रीतिग्रन्थों में यदि कहीं तथाकथित स्वतंत्र विवेचन दृष्टिगत भी होता है तो वह या तो किसी अप्रचलित संस्कृत-ग्रन्थ में ही मिल जाता है, या अपने-आप में नगण्य सिद्ध हो जाता है, या हिन्दी-रीतिकार की भ्रान्ति का परिणाम-मात्र है। वर्तमान काव्यशास्त्र-ग्रन्थों में अनेक आचार्य हिन्दी के उदाहरण तक देने में असमर्थ रहे हैं। उनके लक्षण आदि तो संस्कृत से उद्धृत हैं ही, उदाहरण भी संस्कृत-उदाहरणों के ही अनुवाद हैं। ऐसी स्थिति में हमारे पास में ऐसा क्या है जिसे हम हिन्दी का अपना काव्यशास्त्र कह सकें ?—इसमें सन्देह नहीं कि इस आलोचना में बहुत-कुछ तथ्य है, परन्तु दृष्टिकोण में थोड़ा-सा परिवर्तन कर देने से चित्र इतना विकृत नहीं रह जायेगा। वास्तव में हिन्दी रीतिशास्त्र का मूल्यांकन करते हुए आज भी हम संस्कृत काव्यशास्त्र के मानदण्डों का प्रयोग करते हैं—यह भी उसी भूल की पुनरावृत्ति है जो हमारे प्रायः सभी प्राचीन तथा अनेक नवीन रीतिकारों ने की है : अर्थात् लक्ष्य और लक्षण की असंगति। संस्कृत में लक्ष्य-काव्य और लक्षण-ग्रन्थों में पूर्ण सामंजस्य था। भामह, वामन, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक आदि ने अपने सिद्धान्त-विवेचन का आधार उपलब्ध काव्य को ही बनाया था। उन्होंने चाहे निगमन-शैली का अवलम्बन किया हो चाहे आगमन-शैली का, परन्तु संस्कृत काव्य का आधार कहीं नहीं छोड़ा। इसीलिए उनके लक्षण और लक्ष्य के बीच प्रत्यक्ष तथा जीवन्त सम्पर्क आद्यन्त बना रहा जिसने उनके काव्यशास्त्र को रूढ़ि-जड़ नहीं होने दिया। हिन्दी का रीतिकार इसी जीवन्त सम्बन्ध-सूत्र को नहीं पकड़ पाया; परिणाम यह हुआ कि वह प्राचीन लक्षणों का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुवाद कर उनकी सिद्धि के लिए नये उदाहरण रचता रहा। इस प्रकार सारा क्रम ही उलट गया—आवश्यक यह था कि वह हिन्दी में उपलब्ध लक्ष्य-काव्य के आधार पर निगमन-शैली से लक्षण-रचना करता या हिन्दी-काव्य के आधार पर संस्कृत-सिद्धान्तों का परीक्षण एवं पुनराख्यान करता; परन्तु वह लक्षण को सिद्ध करने के लिए लक्ष्य की रचना करने लगा। आज हम फिर इसी दृष्टि से हिन्दी रीति-साहित्य का मूल्यांकन कर उसी भूल की आवृत्ति कर रहे हैं। परिणाम यह होता है कि उसमें जो थोड़ा-बहुत अपना है वह भी संस्कृत काव्यशास्त्र की कसौटी पर कसने से उपेक्षित या तिरस्कृत हो जाता है और हमें लगता है कि हमारे पास कुछ नहीं है।

परन्तु स्थिति इतनी दयनीय नहीं है। हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन काव्य में—और काव्यशास्त्र में भी, इतनी सामग्री निश्चय ही विद्यमान है कि उसके आधार पर हिन्दी के अपने विशिष्ट काव्यशास्त्र के अस्तित्व की परिकल्पना असंगत नहीं कही जा सकती। कम-से-कम हिन्दी के पास इतना मूलधन अवश्य विद्यमान है कि उसके आधार पर एक अच्छे काव्य-शास्त्र का निर्माण किया जा सकता है जो संस्कृत तथा अंगरेज़ी का उपजीवी न होकर हिन्दी की अपनी सम्पत्ति होगा। मैं कुछ उदाहरण देकर अपनी स्थापना को पुष्ट करता हूँ। पहले लक्षण-ग्रन्थों को ही लीजिए—इसमें सन्देह नहीं कि हमारे अधिकांश लक्षण-ग्रन्थ संस्कृत अलंकारशास्त्र या कविशिक्षा-ग्रन्थों के ही उपजीवी हैं; परन्तु उनमें ऐसी पर्याप्त सामग्री है जो नई है। उदाहरण के लिए रस अथवा श्रृंगार रस के सार्वभौम महत्त्व की प्रतिष्ठा जैसी हिन्दी में है, वैसी संस्कृत में नहीं है। संस्कृत का मान्य सिद्धान्त समग्रतः ध्वनि ही रहा है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट तथा पंडितराज जगन्नाथ ने ध्वनि को सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता से मण्डित कर दिया था और रस, अलंकार आदि उसी के अधीनस्थ हो गये थे। हिन्दी रीतिशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त रस ही हुआ। रीति-युग में श्रृंगार रस की ऐसी सहस्रधारा प्रवाहित हुई कि ध्वनि, अलंकार आदि उसमें निमग्न हो गये। यहां श्रृंगारवाद के रूप में एक पृथक् सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। आप कहेंगे कि श्रृंगार के रसराजत्व के सूत्र भी तो संस्कृत से ही प्राप्त हुए थे; परन्तु सूत्र तो सभी के कहीं-न-कहीं से प्राप्त होते ही हैं, महत्त्व उस स्वतंत्र और व्यापक रूप-आकार का है जो श्रृंगार ने हिन्दी काव्यशास्त्र में धारण कर लिया था। वास्तव में हिन्दी के आचार्य की दृष्टि ही बदल गयी थी; और इसका एक अद्‌भुत प्रमाण यह है कि महाराज रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के कोटिक्रम का विधान किया है; यह ध्वनि के लिए सबसे बड़ी चुनौती और रस की सार्वभौम प्रभुता का अन्तिम प्रमाण था। देव ने अनेक प्रकार से रस का प्रबल पृष्ठपोषण और ध्वनि का पूर्ण तिरस्कार किया—यहां तक कि उन्होंने व्यंजना को रस-कुटिलता के कारण अधम ही कह दिया। अलंकार के क्षेत्र में अतिशय तथा वक्रता आदि के स्थान पर हिन्दी में सादृश्यमूलक उपमादि की प्रतिष्ठा हुई, गुणों में माधुर्य की (चिंतामणि आदि ने उसे काव्य का सर्वस्व माना है) और शब्दालंकारों में अनुप्रास की ही महिमा थी। इसका चमत्कार नायिका-भेद के क्षेत्र में और भी अधिक प्रकाशित हुआ—शुक्लजी जैसे शास्त्रनिष्ठ आलोचक को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी में नायिका-भेद का विधान कहीं अधिक समृद्ध एवं सर्वांगपूर्ण है। हिन्दी का छन्दशास्त्र तो प्रायः स्वतन्त्र रूप में विकसित हुआ ही है—दास आदि ने तुक की विवेचना कर एक स्वतंत्र परिपाटी का शिलान्यास किया। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रीतिशास्त्र का मूल्यांकन पूर्णतया संस्कृत के आधार पर ही न होकर स्वतन्त्र बुद्धि से भी किया जाये। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि हिन्दी के रीतिकारों की त्रुटियों और भ्रांतियों को भी प्रमाण मान लिया जाए। हमारा रीतिशास्त्र संस्कृत पर आश्रित रहा है; अतएव संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रकाश में उसका अध्ययन होना तो ठीक ही है और ऐसा अनेक विद्वान् कर भी चुके हैं। किन्तु मेरा निवेदन केवल यही है कि उसके साथ-साथ स्वतन्त्र दृष्टि से भी हिन्दी रीतिशास्त्र का पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि हमको यह नहीं भूल जाना चाहिए कि हिन्दी के रीतिकार एक सर्वथा भिन्न युग तथा भिन्न साहित्य के प्रतिनिधि थे। संस्कृत के ऋणी होने पर भी उनकी काव्य-चेतना स्वतन्त्र थी। इस प्रसंग में मुझे अंगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक ड्राइडन की एक प्रसिद्ध उक्ति का अनायास ही स्मरण हो जाता है। वे लिखते हैं—'हमें हर जगह यह दुहाई नहीं देनी चाहिए कि अरस्तू का मत भिन्न था—आज यदि अरस्तू होता तो वह भी अपना मत बदल देता।' काव्यशास्त्र का यह ज्वलंत सत्य है, इसकी उपेक्षा कर देने से हिन्दी में जो कुछ स्वतन्त्र है, वह भी उपेक्षित हो जाता है।

रीति-विवेचन के अतिरिक्त हिन्दी के प्राचीन काव्य में भी इतनी प्रभूत सामग्री है कि उसके आधार पर अपने स्वतन्त्र काव्यशास्त्र का निर्माण अत्यन्त सफलतापूर्वक किया जा सकता है। आरम्भ से ही हिन्दी की अपनी विशिष्ट काव्य-चेतना रही है जो स्वतन्त्र काव्य-रूपों में अभिव्यक्त होती आयी है। जैसे रासो-काव्य का अपना स्वतन्त्र स्वरूप है जिसे आप संस्कृत के महाकाव्य तथा खण्डकाव्य के लक्षणों में नहीं बाँध सकते; आल्ह-खण्ड जैसे वीर-गीतों का भी अस्तित्व पृथक् ही है। हिन्दी का संत-काव्य, काव्य की मूल चेतना और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से, संस्कृत काव्यशास्त्र के लक्षणों में नहीं आता। इसी युग के प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा को शास्त्रीय प्रबन्धकाव्य की कसौटी पर आँकना उचित नहीं है। भक्ति-युग में गीति और प्रबन्ध के अपूर्व समन्वय से जो एक नवीन किन्तु अत्यंत प्रबल काव्य-रूप आविर्भूत हुआ, उसको आप न संस्कृत के रूढ़ मुक्तक की परिभाषा में बाँध सकते हैं, न प्रबन्ध की और न पाश्चात्य गीति-काव्य की। इसी प्रकार रीतिकाल में सवैया तथा घनाक्षरी में जो अद्भुत रस-व्यंजना हुई वह न संस्कृत के मुक्तक की परिधि में आती है और न अंगरेज़ी के प्रगीत की। उसमें मुक्तक की अपेक्षा कहीं अधिक आत्मतत्त्व विद्यमान रहता है। इन सभी अभिव्यंजना-रूपों का अध्ययन संस्कृत के लक्षणों अथवा सर्वथा भिन्न देश-काल में विकसित यूरोपीय काव्यशास्त्र की परिभाषाओं के द्वारा करने के स्थान पर हिन्दी की प्रकृति और स्वरूप के आधार पर हिन्दी की अपनी विकासोन्मुखी काव्य-चेतना तथा उसके सहज माध्यम काव्य-रूपों के विश्लेषण द्वारा कदाचित् अधिक सफल हो सकेगा। काव्यशास्त्र के उस चिरन्तन सिद्धान्त के अनुसार यहां भी आलोचक को अपनी आलोचना-दृष्टि आलोच्य में से ही प्राप्त करनी होगी; और इसमें इन कवियों की अपनी उक्तियां, जो आत्म-निरीक्षण के क्षणों में स्वतः उद्गीथ हो गई हैं, आपका पथ-प्रदर्शन करेंगी। तुलसी और घनानन्द जैसे कवियों में इस प्रकार का आत्मलोचन पर्याप्त मात्रा में मिलेगा। आप कल्पना कीजिए कि रीति के उस रुढ़िग्रस्त युग में घनानन्द में आत्म-तत्त्व के पोषक इस प्रकार के अनेक उद्धरण सहज ही मिल जाते हैं:

लोग तो लागि कवित्त बनावें पै मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।

तुलसीदास अपने मंगलाचरण में ही वाणी और विनायक का विचित्र संयोग कर अपनी कल्याणमयी सौन्दर्य-भावना की व्यंजना कर देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्र तथा काव्य के विषय में तो और भी अधिक क्षेत्र है। मैं यह मानता हूं कि आरम्भ में जो रीति-ग्रन्थ लिखे गये उनमें स्वतन्त्र दृष्टि का प्रायः अभाव है—आधार चाहे भारतीय काव्यशास्त्र रहा हो या पाश्चात्य। परन्तु वे भी अनुपयोगी नहीं थे। भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिए सर्वश्री अर्जुनदास केडिया, जगन्नाथप्रसाद भानु और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के ग्रन्थों की उपादेयता अतर्क्य है; इसी प्रकार 'साहित्यालोचन' आदि ने पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त कराने में बड़ी सहायता की है और इस दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व आज भी नगण्य नहीं है। परन्तु हिन्दी काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र रूप इनमें न मिलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि की समीक्षा में ही मिलता है। इधर आधुनिक काव्य और उससे सम्बद्ध अनेक प्रतिभाशाली कवियों की भूमिकाओं में हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास के लिए अत्यन्त पुष्ट आधार मिलता है। छायावाद में पन्त आदि सक्षम कलाकारों ने जिस नवीन सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष किया है वह हिन्दी की अपनी विभूति है जो बँगला और अंगरेजी की रोमानी छाया से स्वतन्त्र है। कला की अन्तश्चेतना और बाह्य अभिव्यंजना दोनों के विकास में उसका अपना विशिष्ट योगदान है जिसका उचित मूल्यांकन अभी होना है। यशोधरा और द्वापर, तुलसीदास, बापू और कुरुक्षेत्र; और इन सब की मुकुटमणि—कामायनी—आधुनिक हिन्दी काव्य की अनेक अनुपम कृतियां हैं; आप उन्हें संस्कृत या अंगरेज़ी के किस काव्य-रूप के अन्तर्गत लक्षण-बद्ध करेंगे? गद्य में भी इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र है: शुक्ल जी के या सियारामशरण के निबन्धों को, अथवा महादेवी के रेखाचित्रों को आप बलात् 'ऐसे' की किस परिभाषा में बाँध सकेंगे? भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-विधान के आरोप के कारण प्रसाद के नाटकों के साथ कितना अन्याय होता रहा है। मैंने अनेक साहित्य-मर्मज्ञों को यह कहते सुना है कि 'शेखर' उपन्यास नहीं है, वह उपन्यास और जीवनी के बीच की कोई वस्तु है। यहाँ कदाचित् आपके या किसी के मन में एक भ्रांति उत्पन्न हो सकती है और वह यह कि कहीं मैं इन ग्रन्थों को आदर्श साहित्य-रूप मान लेने की सिफ़ारिश तो नहीं कर रहा हूँ। नहीं, मैं इनके दोषों की उपेक्षा नहीं करना चाहता—और न इन्हें परिपूर्ण ही मान कर चलता हूँ। मेरा मन्तव्य केवल यही है कि हिन्दी आलोचनाशास्त्र का विकास हिन्दी के आलोच्य साहित्य से निरपेक्ष होकर नहीं होना चाहिए। उसके निर्माण और विकास के लिए अनेक परिपुष्ट आधार विद्यमान हैं: आज उनके सम्यक् उपयोग की आवश्यकता है। यह उपयोग किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि हिन्दी साहित्य की परम्परा को आधार मान कर भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रों के सामंजस्यपूर्ण पुनराख्यान के द्वारा यह महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। इसका दिशा-निर्देश आचार्य शुक्ल और कवि प्रसाद के विवेचन में मिल जाता है। शुक्लजी ने भारतीय सिद्धान्तों का पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनुसार विवेचन-आख्यान किया है और प्रसाद जी ने पाश्चात्य सिद्धान्तों का भारतीय चिन्ता-पद्धति के अनुसार।

इस प्रकार आरम्भ में मैंने जो चार प्रश्न उठाये थे, उनमें से तीन का उत्तर मैं अपने मतानुसार दे चुका। अब चौथा प्रश्न शेष रह जाता है। उसका उत्तर देकर मैं इस वक्तव्य का उपसंहार करता हूँ। आज, जब प्रादेशिक भावनाएँ भारतीय चेतना में संश्लिष्ट हो रही हैं, इस प्रकार का प्रयत्न क्या आवश्यक तथा उपयोगी होगा? इस प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन होने के उपरान्त हिन्दी-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य तथा भाषा दोनों का भारतीय आधार पर विकास होना आवश्यक है; परन्तु हिन्दी के विकास के लिए वे ही नियम लागू होने चाहिए जो मनोविज्ञान आदि में व्यक्तित्व के विकास के लिए निर्धारित हैं। व्यक्तित्व के विकास के लिए वातावरण में उपलब्ध सभी तत्त्वों का उचित उपयोग आवश्यक होता है, परन्तु आधार व्यक्तित्व की मूल-प्रवृत्तियां ही रहती हैं। इसी प्रकार हिन्दी भाषा एवं साहित्य का विकास संस्कृत तथा द्रविड़ भाषाओं में निहित भारतीय परम्पराओं तथा पाश्चात्य चिन्ताधाराओं के पोषक तत्त्वों के द्वारा होना सर्वथा श्रेयस्कर है, किन्तु उसका आधारभूत व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहना चाहिए। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के संश्लिष्ट व्यक्तित्व का विकास ही श्रेयस्कर है। व्यक्तित्व खोकर विकास कैसा ! संस्कृत काव्यशास्त्र का भाण्डार अत्यन्त विभूति-सम्पन्न है, इसमें कोई सन्देह नहीं कर सकता है। भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रसरित यह समृद्धि हमारी अमूल्य थाती है; इसका उचित अध्ययन अभी नहीं हुआ है। उधर प्लेटो से लेकर क्रोचे तक विस्तृत चिंताधारा भी हमें विदेशी शोषण की क्षतिपूर्ति में मिली है; उसका भी हमारा ज्ञान बड़ा कच्चा है। इन अभावों की पूर्ति के लिए हिन्दी के मेधावी आलोचकों के सामुदायिक प्रयत्न की अपेक्षा है, और उनके लिए यह कार्य किसी प्रकार दुष्कर नहीं है; क्योंकि यदि आप आत्म-श्लाघा न मानें तो मैं एक बार फिर निवेदन कर दूँ कि हिन्दी का आलोचना-साहित्य आज कदाचित् उसका सबसे पुष्ट अंग है। इस प्रकार हिन्दी के स्वतन्त्र आलोचनाशास्त्र का सम्यक् विकास किया जा सकेगा; जिसका मूल आधार होगा—हिन्दी के माध्यम से काव्य के चिरन्तन सत्यों का अनुसन्धान, जो भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रों की समृद्ध परम्पराओं से पोषण प्राप्त करेगा, परन्तु उनकी व्याख्या या अनुवाद मात्र होकर नहीं रह जायेगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आलोचना की आलोचना

आधुनिक आलोचना का युग वहां से प्रारम्भ होता है जहां आचार्य शुक्ल ने उसे ले जाकर स्थित कर दिया था। इस समय साहित्य के इस अंग की यथोचित श्रीवृद्धि हो रही है: उसकी धारा अनेकमुखी होकर प्रवाहित हो रही है। एक प्रकार से यह युग ही आलोचना-प्रधान है। आज हृदय पर बुद्धि का शासन बढ़ रहा है: हमारा दृष्टिकोण दार्शनिक, नैतिक अथवा भाव-प्रधान न रहकर बहुत कुछ बौद्धिक होता जा रहा है। इसीलिए आज का सभी साहित्य—कविता भी—आलोचना-प्रधान है। ऐसी दशा में प्रवृत्तियों की निश्चित सीमाएं बाँधना तो दुष्कर है, फिर भी कुछ-एक की ओर संकेत किया जा सकता है।

सबसे पहले तो हमें शास्त्रीय आलोचना-पद्धति मिलती है। इसके प्रतिनिधि हैं पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० सत्येन्द्र और प्रो० शिलीमुख। ये सज्जन सभी उच्चशिक्षा से सीधा सम्पर्क रखने वाले अध्यापक हैं। इनकी शैली में काव्य-वस्तु की अन्तर्वृत्तियों के विश्लेषण की प्रवृत्ति पायी जाती है। स्वभावतः यह वर्ग विश्लेषणात्मक आलोचना का पोषक है। ये आलोचक समालोचना को भावुकता की क्रीड़ा नहीं समझते: ये तो गम्भीर अध्ययन, विवेचन और स्पष्ट विश्लेषण को ही प्रधानता देते हैं। साहित्य के निश्चित सिद्धान्तों में उनका अटल विश्वास है। साहित्यिक मान अटल हैं, उनकी व्याख्या का स्वरूप चाहे कितना ही भिन्न हो जाय—ऐसी इन विद्वानों की ध्रुव धारणा है। इन सभी में प्राच्य और पाश्चात्य आलोचना-पद्धतियों का सम्मिश्रण मिलेगा। ये लोग शुक्लजी की रस-पद्धति के अनुसार रस, भाव, विभाव, अनुभाव आदि की विवेचना पाश्चात्य शैली से करते हैं। अर्थात् उनका विवेचन रूढ़ि-रूप में न करके मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही करते हैं।

इनका सबसे बड़ा गुण न्यायसंगत निष्पक्षता है। इनमें शुक्लजी की-सी गम्भीरता और घनता नहीं है, अतः उनकी शुष्कता और हठवादिता भी नहीं है। यह आलोचना कभी-कभी किताबी हो जाने से जीवन से दूर पड़ जाती है।

यही शास्त्रीय पद्धति कुछ स्वतन्त्र भावुक लेखकों में एक नवीन रूप धारण कर लेती है। इन लेखकों का आधार और विवेचन दोनों ही साहित्यिक हैं, इनका आधार प्रधान रूप से दार्शनिक है; और विवेचना में चिन्ता, कल्पना और भावुकता तीनों का योग रहता है। अतः यह आलोचना बहुत अंशों तक सृजनात्मक है। इसमें वस्तु का तार्किक विश्लेषण नहीं होता, परन्तु काव्य के अन्तर में प्रवेश करने वाली एक नुकीली दृष्टि प्रायः मिलती है। साहित्य को ये विद्वान् एक चिरन्तन सत्य मानते हैं जिसकी अन्तर्धारा युग-युग की आत्मा में होकर निरवच्छिन्न बहती है। युग-धर्म का प्रभाव केवल उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप पर ही पड़ता है, आत्मा का शुद्ध-बुद्ध रस प्रभावातीत है। इसलिए साहित्य का युग-धर्म से सहज-सम्बन्ध मानते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुए भी ये उसको केवल युग-धर्म की सृष्टि नहीं मानते। ये लोग जिस सिद्धान्त को लेकर चलते हैं वह अत्यन्त गहन, सूक्ष्म और मौलिक है। अतः उसके लिये अन्तःप्रवेशिनी तत्त्व-दृष्टि सर्वथा अनिवार्य है। साथ ही जिस आधार पर ये आलोचक खड़ा होना चाहते हैं वह निश्चित रूप से दृढ़ होना चाहिए। क्योंकि इसके बिना विवेचन स्वच्छ और स्पष्ट ही नहीं हो सकता— उसमें एक विचित्र उलझन और लपेट आ जाती है। श्री नन्ददुलारे बाजपेयी का भाषण मेरे कथन का जीवित प्रमाण है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे बाजपेयी और रामनाथ 'सुमन' की आलोचनाओं में मूलाधार की यह एकता स्पष्ट है।

इस आलोचना-पद्धति का प्रमुख दूषण यह है कि वह वस्तु से प्रायः स्वतन्त्र हो जाती है और स्वभावतः फ़ार्म का तिरस्कार करती है।

इसी प्रवृत्ति की सीधी प्रतिक्रिया हमें हिन्दी के उन आलोचकों में मिलती है जो साहित्य को युग की सृष्टि और आवश्यकता मानते हैं। इनका दृष्टिकोण सर्वथा सामाजिक (भौतिक) है। मार्क्स का यह सिद्धान्त कि मानव-मस्तिष्क की प्रत्येक क्रिया की व्याख्या पदार्थ के अनुसार की जा सकती है इनका मौलिक आधार है। ये जिस प्रकार व्यक्ति को समाज की सृष्टि और उसका एक अविभाज्य अंग मानते हैं, इसी प्रकार साहित्य को भी समाजशास्त्र के मानदण्ड से परखते हैं। स्वभाव से, इनके दृष्टिकोण में सघन बौद्धिकता है; भावुकता—कम-से-कम भावावेश का पूर्ण रूप से बहिष्कार है। विदेश के आधुनिक साहित्य और उसकी वर्तमान बुद्धि-पूजा का इन लोगों पर गहरा प्रभाव है, और ये आलोचक स्वयं उन प्रवृत्तियों का अच्छा ज्ञान रखते हैं। अभी इनका साहित्य परिमाण में बहुत क्षीण है। परन्तु वह कुछ ऐसी बौद्धिक शक्ति लेकर आया है कि लोग चौंक-से पड़े हैं। हिन्दी में यह 'प्रगति' की ही चेतना की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। 'अज्ञेय', रामविलास शर्मा और शिवदानसिंह चौहान के फुटकर लेख इस प्रकार की आलोचना का पुरस्कार हैं। इनकी आलोचना का दोष उसकी एकांगिता है। उदाहरण के लिए देखिए रामविलास शर्मा का शरत्चन्द्र पर लिखा हुआ लेख।

चौथी श्रेणी में—(यह श्रेणी 'तोप श्रेणी' नहीं है)—वे आलोचक आते हैं जिनको हम प्रभाववादी कह सकते हैं।

इन आलोचकों का ध्येय विश्लेषण या अन्तःप्रवृत्तियों की गवेषणा नहीं होता। किसी ग्रन्थ अथवा कृति को पढ़कर इनके मन पर जैसा प्रभाव पड़ता है, उसको वैसा ही अंकित कर देना इनकी विशेषता है। यह आलोचना अपने मूल रूप में फ़ैशनेबुल है और एक अत्यन्त संस्कृत रुचि और सूक्ष्म-कोमल पकड़ की अपेक्षा करती है; तभी लेखक की धारणाएं विश्वास-योग्य और कान्तिमान् हो सकती हैं; तभी उनका महत्त्व है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की आलोचना अपने सुन्दरतम रूप में भी गहन, सांग एवं क्रमबद्ध नहीं हो सकती; पाठक की उत्सुकता को जागृत करने के अतिरिक्त उसके ज्ञान में विशेष परिवृद्धि नहीं कर सकती। साथ ही इसमें निष्कपट मत-प्रदर्शन ही सब कुछ है अतः ईमानदारी की भी बड़ी जरूरत है। अनधिकारियों के हाथ में पड़कर—और ऐसा आज प्रायः हो रहा है क्योंकि आलोचना की यह पद्धति सबसे सीधी और सरल है—यह शैली विक्षोभ और घृणा उत्पन्न करती है।

इस प्रसंग में केवल एक ही नाम उल्लेख्य है—प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, जो सिद्धान्त रूप में तीसरे वर्ग के सहयोगी होने पर भी व्यवहार में एकान्त प्रभाववादी हैं।

आज हमारी आलोचना इन्हीं सरणियों में होकर बह रही है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कुछ पंडित रिसर्च और साहित्यशास्त्र के विवेचन में भी परिश्रम कर रहे हैं। डॉक्टर बड़थ्वाल की निर्गुण काव्य-सम्बन्धी खोज और डॉक्टर माताप्रसाद, डॉक्टर बलदेव-प्रसाद मिश्र, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी की तुलसी-विषयक खोजें अपना महत्त्व रखती हैं। पर ये आलोचक प्रौढ़ पांडित्य के भार को लिये हुए रस की धारा से कुछ दूर चले जाते हैं।

साहित्यशास्त्र में भी नवीन और प्राचीन तथा पाश्चात्य एवं प्राच्य रीतिशास्त्रों का अध्ययन थोड़ा-बहुत चल ही रहा है। सुधांशुजी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद, और इलाचन्द्र जोशी ने एडलर के मनोविश्लेषण की व्याख्या की है। ये दोनों व्याख्याएं अपने प्रारम्भिक रूप में ही हैं; लेखक अपने विषय को अधिक सुथरा नहीं बना सके।

इधर स्वर्गीय प्रसादजी और सुश्री महादेवी ने काव्य और कला की भारतीय दृष्टि से सर्वथा मौलिक विवेचना की है। डॉ० भगवानदास तथा बाबू गुलाबराय ने भारतीय रसशास्त्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, और सुधांशुजी ने जीवन की पृष्ठभूमि पर काव्य के तत्त्वों का स्पष्टीकरण। प्रेमचन्द जी ने भी साहित्य और उसके कथा-भाग पर अत्यन्त सुथरे विचार प्रकट किये हैं।

इस प्रकार आज हिन्दी का आलोचना-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। उपर्युक्त प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त हिन्दी में ऐसे कई उदीयमान आलोचक काम कर रहे हैं जिनका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीत होता है। गत चार-पाँच वर्षों में हिन्दी-पाठक की विवेचना-शक्ति और उसका निर्णय कितना विवेक-सम्मत एवं बुद्धिपरक हो गया है, इसका अनुमान 'साहित्य-सन्देश', 'विशाल भारत', 'हंस' और 'वीणा' के साधारण-से-साधारण लेख को पढ़कर ही किया जा सकता है।

आज केवल एक खतरा है—बढ़ती हुई एकांगिता का, जो दूसरे पक्ष की ओर असहन-शील होती चली जा रही है। वस्तुतः विभिन्नता जीवन-प्राचुर्य की द्योतक है। हमें उसका स्वागत करना चाहिए। आलोचक रसज्ञ-व्याख्याता है। रस को ग्रहण करना और अपनी शक्ति एवं मेधा के अनुसार दूसरों को सुलभ करना ही उसका कर्तव्य-कर्म है। फिर वह नियामक या नियन्ता होने का दम्भ क्यों करे ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आधुनिक हिन्दी-काव्य के आलोचक

पहला चरण

["इनके—छायावादी कवियों के—भाव झूठे, इनकी भाषा
झूठी, इनके छन्द झूठे, इनके अलंकार झूठे···!"]

आधुनिक काव्य का प्रारम्भ सन् १९२२-२३ से समझना चाहिए—जब प्रसाद, पन्त और निराला की कविताएं प्रभूत संख्या में प्रकाशित होकर हिन्दी-जनता का ध्यान बरबस आकर्षित करने लग गई थीं। यह द्विवेदी-युग का अन्तिम चरण था। इस समय काव्य का अधिनायकत्व उन लोगों के हाथ में था जो दृढ़ नैतिक एवं शास्त्रीय मानों को मूल्यांकन का साधन बनाये हुए थे। द्विवेदीजी स्वयं, पं० पद्मसिंह शर्मा और ला० भगवानदीन इनमें मुख्य थे। ये विद्वान् सामाजिक क्षेत्र में भारतीय नीतिशास्त्र को जिस दृढ़ता से पकड़े हुए थे, काव्य-क्षेत्र में भारतीय साहित्य-शास्त्र का आधार भी इनका उतना ही दृढ़ था। अभी विदेशी रीति-नीति से सम्पर्क नहीं था और जो था भी केवल प्रतिक्रिया के रूप में ही। अतएव अपने आधार को पूरे बल से पकड़े रहने के कारण, साथ ही दृष्टि-क्षेत्र सीमित होने से, इन उस्तादों में अतर्क्य आत्म-विश्वास आ गया था जिसका उपयोग वे कठोरता से करते थे। ऐसी परिस्थिति में अपनी हीनता से संकुचित छायावाद का जन्म हुआ।

छायावाद के अन्तर्बाह्य-निर्माण में विदेश का प्रभाव अति स्पष्ट था। अतः इस नवजात शिशु को दोगला समझकर नीति-विशारदों ने चारों ओर से उस पर प्रहार किये। बस, उसके जन्म, उसके शरीर, उसके रंग-रूप, उसकी वसन-सज्जा को एक साथ अवैध घोषित कर दिया गया। उस समय छायावाद का रूप अनिश्चित था। उसमें अति हो रही थी। यह सत्य है। परन्तु ये आत्मविश्वासी विद्वान् उल्टे उस्तरे से उसकी हजामत बना रहे थे, इसमें भी सन्देह नहीं। अंगरेज़ी रोमाण्टिक कविता के (जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव छायावाद पर पड़ रहा था) स्वरूप, उसकी अनुभूति-अभिव्यक्ति एवं उसके महत्त्व से ये लोग अपरिचित थे; और पुराने साहित्य-शास्त्र के स्थूल नियमों द्वारा उसे परखने का अनुचित प्रयत्न कर रहे थे। इसलिये पन्त की मधुर-कोमल कला में, प्रसाद की गहरी जिज्ञासामयी अनुभूति में, अथवा निराला के निर्मुक्त कल्पना-प्रवाह में उन्हें कोई सौन्दर्य नहीं दिखाई दिया, यह आश्चर्य की बात नहीं।

इस युग में छायावाद की पीठ थपथपाने वाले आलोचक केवल मिश्रबन्धु थे, जिनकी आलोचनात्मक दृष्टि चाहे-जैसी अस्थिर रही हो पर व्यापक अवश्य थी। विदेशी साहित्य के अध्ययन से उनके मन में उदारता आ गई थी। इसी कारण वे नवीनता और विविधता का स्वागत करने की क्षमता रखते थे। फिर भी आधुनिक काव्य की आलोचना का रूप अपने शैशवकाल में पूर्णतया अनुदार रहा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दूसरा चरण

["छायावाद की कविता में सबसे अधिक खटकने वाली बात उसके भावों की अप्रसादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है, उसका रहस्य जान लेना सबके लिए सुगम नहीं। पर इस कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं। समय के प्रभाव से जब यह प्रवाह संयत प्रणालियों में चलने लगेगा तब हिन्दी कविता का यह नवीन विकास बड़ा मनोरम होगा।"]

इसके उपरान्त आचार्य शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने आलोचना-क्षेत्र में पदार्पण किया। इस समय तक छायावाद अपनी जड़ें जमा चुका था। उसका यौवन अपनी रंगीनी से जगमगा उठा था, 'पल्लव', 'परिमल', 'आँसू' प्रकाशित हो चुके थे। फिर भी अभी वह नव-शिक्षितों की ही वस्तु थी, पंडितों की नहीं। पंडितों का भाव उनके प्रति स्नॉबरी का ही था; और यह भावना मूर्तिमन्त हो उठी थी आचार्य शुक्ल में, जिन्होंने बहुत शीघ्र ही इस युग की आलोचनात्मक शक्तियों को अपने में केन्द्रित कर लिया था।

शुक्लजी की प्रतिभा अपरिमेय थी। उनकी दृष्टि में अद्भुत गहराई, पकड़ में ग़ज़ब की मज़बूती और प्रतिपादन में अपूर्व प्रौढ़ता थी। साथ ही उन्होंने पाश्चात्य एवं पौरस्त्य साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन किया था। अतः उन्होंने जो छायावाद पर प्रहार किए वे काफ़ी समझ-बूझकर किए। छायावाद पर पड़े हुए बाह्य प्रभावों के विषय में वे एकदम निर्भ्रान्त थे। उन्होंने विदेश की रोमांटिक कविता, सौन्दर्यशास्त्र, अभिव्यंजनावाद, और बँगला के रवीन्द्रनाथ के प्रभावों का अपने ढंग से विवेचन किया। शुक्लजी ने स्वदेश-विदेश की आलोचना-पद्धतियों का मनन करने के उपरान्त अपने काव्य-सिद्धान्त स्थिर किये थे, जिन पर वे अन्त तक अटल रहे। ये सिद्धान्त यद्यपि अब तक के सभी सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक और तर्क-संगत थे, परन्तु इनका मानसिक आधार नैतिकता के ऊपर ही टिका हुआ था। कारण यह है कि शुक्लजी के व्यक्तित्व का निर्माण बहुत-कुछ सुधार-युग में हो चुका था, अतः उनके ये संस्कार विदेशी शिक्षा-दीक्षा के बीच भी जड़ पकड़े रहे। यहां यह स्वीकार करना उचित होगा कि नीति (शिव) का मनोविज्ञान (सत्य) एवं सौन्दर्यशास्त्र (सुन्दर) के साथ जितना सामंजस्य सम्भव था, उतना शुक्लजी ने कुशलता से एक मर्मज्ञ आचार्य की भाँति किया। फिर भी छायावाद तो एकदम अनीति (?) की राह पर था : वह तो काव्य को काव्य के लिए मानता था! अतः आचार्य मरते दम तक उससे समझौता न कर सके।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी आनुषंगिक कारण थे—

१. शुक्लजी काव्यानन्द को एक निश्चित, साधारण अनुभूति मानते थे। इसके विपरीत छायावाद सौन्दर्यानन्द को एक स्वतन्त्र एवं असाधारण अनुभूति मानता था।

२. शुक्लजी काव्य के क्षेत्र में भी सगुणोपासक थे। वे व्यक्त एवं मूर्त अनुभूति को ही महत्त्व देते थे। परन्तु छायावाद में अमूर्त एवं अर्धव्यक्त अनुभूतियों का विशेष मान था, उसमें अवचेतन की प्रधानता थी।

३. शुक्लजी का दृष्टिकोण एकान्त बौद्धिक और विवेक-सम्मत था। छायावाद बौद्धिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, इसमें रहस्य और अद्भुत की जिज्ञासा थी जो कुछ अंशों में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अवश्य विवेकशीलता की समझ से बाहर थी।

४. शुक्लजी काव्य-शक्ति के पूर्ण विकास के लिए जीवन-काव्य को ही उपयुक्त मानते थे; छायावाद स्फुट-गीतियों का भण्डार था।

५. छायावाद की अभिव्यंजना में भी असाधारणता, विशेषकर लक्षणा का दुरुपयोग, देखकर वे चिढ़ गए थे।

बाद में समय का प्रमाण-पत्र मिलने के उपरान्त आचार्य की दृष्टि तो बदली परन्तु दृष्टिकोण नहीं बदला। अतः छायावाद के कवियों की प्रशंसा भी उन्होंने अपने सिद्धान्तों के ही अनुसार की। उन्होंने उसकी अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति को ही अधिक दाद दी—ठीक जैसा सूर के साथ किया है। यही उनका विश्वास था, यही उनकी शक्ति थी।

शक्ति सर्वांगीण नहीं होती : वह सर्वत्र ही अपना एक-सा प्रभाव नहीं दिखा सकती। इस रूप में उसको देखना भी भूल है, उसकी तो घनता देखिए। आज यही बात न सोचकर हम लोग घनीभूत-पांडित्य उस आचार्य को 'रिप वॉन विंकिल' आदि उपाधियां प्रदान कर अपनी कृतज्ञता का परिचय दे रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप में चाहे शुक्लजी ने आधुनिक काव्य का मार्गावरोध किया हो, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उनका प्रभाव स्वस्थ ही रहा। निराला और प्रसाद जैसे शक्ति-स्रोतों से निस्सृत इस छायावाद-प्रवाह को उचित गति और स्थिर वेग देने के लिए आचार्य शुक्ल जैसी चट्टान की ही आवश्यकता थी।

बाबू श्यामसुन्दरदास में समझौते की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है। इसका कारण है उनका अपेक्षाकृत विस्तृत कार्यक्षेत्र। बाबूसाहब ने कृपापूर्वक इन कवियों का उल्लेख अपने इतिहास में किया और बहुत ही शिष्ट एवं विवेकयुक्त शब्दों में अपना आक्षेप भी व्यक्त किया :

"छायावाद की कविता में सबसे खटकने वाली बात उसके भावों की अप्रसादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है, उसका रहस्य जान लेना सब के लिए सुगम नहीं है। दार्शनिक सिद्धान्तों की अनुभूति भी सब का काम नहीं।"

बाबूसाहब का यह दृष्टिकोण उस समय के भ्रान्त दृष्टिकोण का दर्पण है। सचमुच उस समय तक आलोचक छायावाद और रहस्यवाद के बीच अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके थे। उन्हें यह भी निश्चित नहीं था कि दोनों में अन्तर है भी या नहीं। प्रायः छायावाद को रहस्यवाद से एक-रूप करते हुए वे लोग उसको विकृत रूप में देख रहे थे। हरिऔधजी लिखित 'नीहार' की भूमिका इसका प्रमाण है। साथ ही कवि स्वयं भी रहस्यवादी आवरण को मोहपूर्वक धारण करना चाहते थे। सचमुच यह भ्रम बहुत दूर तक चला है। अभी कुछ दिन पूर्व ही अपने एक रहस्यवादी मित्र को यह कहते हुए सुनकर मैं दंग रह गया कि आपको कैसे मालूम कि हमारे जीवन में साधना नहीं है? ऐसी दशा में उस समय के विद्वान्, जो काल-सीमाओं से आबद्ध थे, यदि इन रेखाओं को स्पष्ट न कर सके तो क्या आश्चर्य!

इन्हीं दिनों बख्शीजी भी साहित्य-क्षेत्र के मध्य में आसीन थे। बख्शीजी का विदेशी साहित्य का व्यापक अध्ययन था। वैसे तो यह विशेषता पिछले दो विद्वानों में भी थी, परन्तु उनकी अपेक्षा बख्शीजी एक क़दम और आगे बढ़ गये थे। उन्होंने विदेशी साहित्य की कल्चर को भी ग्रहण कर लिया था। इस कारण उनकी दृष्टि उदार थी, उनमें स्नॉबरी नहीं रह गई थी। उन्होंने छायावाद के काव्य-गुण को पहचानते हुए ही उसका आदर किया, उसे आश्रय-मात्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं दिया । परन्तु छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर का स्वरूप वख्शीजी भी व्यक्त न कर सके, यद्यपि उसके अस्तित्व के विषय में इन्हें कोई भ्रम नहीं था।

इस प्रकार दूसरे चरण में छायावाद की रूपरेखा स्पष्ट न हो सकी ; उसका मूल्यांकन तो दूर रहा। इस समय तक केवल एक ही लेख ऐसा लिखा गया था जिसका महत्त्व आज अक्षुण्ण है। वह थी स्वयं कवि पन्त की लिखी हुई 'पल्लव' की भूमिका, जिसमें छायावाद के बाह्य उपादानों की—शब्द, व्याकरण, छन्द आदि की सुलझी हुई मौलिक व्याख्या थी। हिन्दी का आलोचक शब्दों की केवल अर्थव्यंजना से ही परिचित था। पंतजी ने हिन्दी में पहली बार उनकी स्वर-व्यंजना के रहस्यों का विवेचन करते हुए सौन्दर्यालोचन में मौलिक श्रीवृद्धि की। छायावाद की कला के विवेचन में यह भूमिका सदैव ही आलोचकों की पथ-प्रदर्शिका रही है। अन्तरात्मा का विश्लेषण अब भी अछूता था।

तीसरा चरण

["इस (छायावाद) को हम पं० रामचन्द्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें नूतन सांस्कृतिक मनोभावनाओं का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।"]

छायावाद का अब एक व्यापक प्रभाव था। उसका जादू हरिऔध और मैथिलीशरण के सिर पर चढ़कर बोल रहा था। अब उसे आलोचकों के कृपाकटाक्ष की अपेक्षा नहीं थी। अब तो आलोचक स्वयं उसी के सहारे अपनी शक्ति आज़माने की अभिलाषा करते थे। प्रसाद और पन्त की सर्वमान्यता असंदिग्ध थी—प्रसाद की, उनकी करुण अनुभूति एवं भाव-विलास के कारण; और पन्त की, उनकी सूक्ष्म-कोमल माधुरी एवं कला-विलास के कारण। महादेवी ने गीति-शैली को अपना लिया था। अनसधे लोकगीतों के ढाँचे में नवीन भावना और नवीन रूप-रंग भरकर उन्होंने हिन्दी-संसार को मोह-मुग्ध कर लिया था। निराला का स्थान इस समय तक संदिग्ध था। उनकी अबाध प्रतिभा एवं एकान्त विरोधी स्वर अभी लोगों के हृदय में नहीं बैठ सके थे—यद्यपि कुछ लोग आतंकित अवश्य हो गए थे।

तभी श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का शुभागमन हुआ। हिन्दी का यह पहला आलोचक था जिसने निर्भीक और निर्भ्रान्त होकर छायावाद के महत्त्व को स्वीकृत और अधिष्ठित किया। वाजपेयी ने छायावाद का पृथक् रूप देखा और प्रसाद एवं निराला की आलोचना करते हुए उसकी मानसिक भूमि का विश्लेषण किया। वाजपेयीजी गम्भीर आलोचक हैं। उन्होंने गहरे में जाकर अन्तस्तत्त्वों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया; और उनके परिश्रम के फलस्वरूप—यद्यपि बहुत बाद में—कुछ स्थायी तत्त्व भी प्राप्त हुए :

१. आधुनिक छायावाद दृश्यमान मानव-जीवन को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झाँकी देखता है। रहस्यवाद के दो रूप हैं : एक परोक्ष (सूफ़ी) रहस्यवाद, दूसरा प्राकृतिक (अपरोक्ष) रहस्यवाद। आज का रहस्यवाद प्रायः दूसरे प्रकार का ही है।

२. छायावाद की सौन्दर्य-कल्पनाएं प्रधानतः अशरीरी हैं।

परन्तु इनके विवेचन में एक दोष था। इन्होंने छायावाद के ऊपर दार्शनिक आवरण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इतना अधिक चढ़ा दिया कि न तो वह स्वयं ही अपना आशय स्पष्ट कर सके और न छायावाद ही उसको वहन कर सका। इसका कारण यह था कि इन्होंने छायावाद की अधिकांश मूल-प्रवृत्तियों का उद्गम प्रसाद जी की तरह भारतीय दर्शन को ही माना, विदेशी रोमांटिक स्कूल और इस युग की सामाजिक कुण्ठाओं का—विशेषकर सेक्स-सम्बन्धी कुण्ठाओं का—प्रभाव यह उचित मात्रा में स्वीकार न कर सके। इसके अतिरिक्त कला-पक्ष में इन्हें जैसे कुछ कहने को ही नहीं था।

इनके कुछ समय बाद ही अपनी भावुकता के भार से दबे शान्तिप्रिय आये। ये सीधे कवि-लोक से आ रहे थे, कुण्ठित परिस्थितियों ने इनकी वृत्तियों को एकदम अन्तर्मुखी कर दिया था। अतः इनकी प्रभाव-ग्राहिणी शक्ति अत्यधिक तीव्र और उसके परिणामस्वरूप इनकी भाव-प्रतिक्रियाएं सूक्ष्म और नुकीली हो गई थीं। छायावाद के अनुभूति-पक्ष का इन्होंने मार्मिक विवेचन किया और बहुत-कुछ इनकी ही कृपा से सबसे पहले हिन्दी वाले छायावाद की ऊर्मिल भावनाओं एवं सौन्दर्य-चित्रों को समझ सके। किसी लेखक ने—शायद आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने—इनकी आलोचना को गीतमयी कहा है। मैं समझता हूं, उसका विवेचन इससे अधिक उपयुक्त नहीं हो सकता। बस, यही उनकी शक्ति है और यही सीमा। लिरिकल होने के कारण शान्तिप्रियजी की भावनाएं तरल हैं : यह उनकी शक्ति है। उनके विचार भी उतने ही तरल हैं : यह उनकी सीमा है। इसलिए शान्तिप्रियजी आधुनिक युग के काव्य, विशेषकर छायावाद के रस का आस्वादन तो करा सके लेकिन स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके।

उपर्युक्त दोनों विद्वानों की आलोचना रोमांटिक आलोचना थी। हिन्दी में अभी वह समय नहीं आया था कि लोग रोमांटिक कविता के साथ रोमांटिक आलोचना को भी समझ और पढ़ सकें। कविता के विषय में तो उनकी परम्परागत धारणा पराजय स्वीकार कर चुकी थी। परन्तु समालोचना भी कविता की भाँति दुरूह हो, यह वे एकदम बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे। अतएव छायावादी आलोचना या उड़ती आलोचना कहकर पंडित-समाज उसकी उपेक्षा कर रहा था।

इसी समय कुछ आगे-आगे शास्त्रज्ञ पंडितों की एक टोली भी इसी ओर मुड़ी। इनमें पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय और पंडित कृष्णशंकर शुक्ल मुख्य थे। हजारीप्रसादजी एकदम क्लासिकल विद्वान् हैं। उनका संस्कृत-साहित्य का अध्ययन गहन और विस्तृत है। साथ ही उनको शान्तिनिकेतन के साहित्यिक वातावरण में रहकर अपने पांडित्य का संस्कार करने का अवसर भी मिला है। अतएव प्राचीन और नवीन दोनों के उचित संयोग से द्विवेदीजी की आलोचना की आधार-भूमि अत्यन्त दृढ़ हो गई है। आज से छह-सात वर्ष पूर्व इन्होंने 'विशाल भारत' में नवीन काव्य-ग्रंथों की आलोचना करते हुए आधुनिक काव्य का विवेचन किया था। यह विवेचन परिमाण में यद्यपि अत्यन्त अपर्याप्त था, परन्तु पिछले दोनों आलोचकों की अपेक्षा पुष्ट एवं सुथरा था। साथ ही शास्त्रीय होने के कारण हिंदी-पाठकों पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। लोग सोचने लगे— छायावाद शास्त्र-सम्मत भी है।

वास्तव में द्विवेदीजी की प्रतिभा का विकास बाद में हुआ और उनका क्षेत्र भी बदल गया। अतएव आधुनिक हिन्दी काव्य पर उनका आभार अपेक्षाकृत कम है।

तभी बाबू गुलाबराय ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया। बाबूजी हिन्दी के पुराने विद्वान् हैं—एकदम उत्तर-द्विवेदीकालीन! वे इस समय से बहुत पहले ही दर्शन, निबन्ध एवं रसशास्त्र में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। अतः उनके वक्तव्यों को लोगों ने श्रद्धा से पढ़ा। बाबूजी ने छायावाद के दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करने में यथेष्ट योग दिया। उनका—शायद इन्दौर साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा हुआ—'हिन्दी कविता में रहस्यवाद' शीर्षक लेख आधुनिक काव्य के विचार-पक्ष का प्रौढ़ समर्थन था। आधुनिक कवियों की अनन्त और असीम विषयक जिज्ञासा की वह एक अचूक सफ़ाई थी। उसके कुछ दिन बाद फिर उन्होंने अपने 'सुबोध इतिहास' में नवीन कविता-धारा की सुलझी और विस्तृत व्याख्या उपस्थित की जो अपना पृथक् अस्तित्व रखती है।

आधुनिक काव्य की पूर्ण प्रतिष्ठा तब हुई जब कृष्णशंकर शुक्ल ने अपने इतिहास में उसका अत्यन्त सहृदयतापूर्वक विवेचन किया। यह ठीक है कि कृष्णशंकरजी न तो छायावाद का रूप ही स्पष्ट कर पाये हैं और न नवीन कविता की अन्य चिन्ता-धाराओं का ही सम्यक् विश्लेषण कर सके हैं। प्रवृत्तियों का विश्लेषण उनके इतिहास की सबसे बड़ी त्रुटि है। परन्तु चिर-उपेक्षित आधुनिक कवियों की प्रतिभा को स्वीकार करने वाले शुक्ल-स्कूल के ये पहले विद्वान् थे। पृथक् रूप में प्रसाद, पंत और निराला की कविता की उन्होंने शास्त्रीय ढंग पर विस्तृत आलोचना की और इसमें सन्देह नहीं कि पंडित-समाज में इन्हें आदर प्राप्त कराने का श्रेय बहुत-कुछ कृष्णशंकरजी को ही है।

इस प्रकार तीसरे चरण में एक बड़ी मंज़िल तय हुई। आधुनिक काव्य पर काफ़ी सोचा और समझा गया। नन्ददुलारे वाजपेयी ने उसके मानस-पक्ष का, बाबू गुलाबराय ने विचार-पक्ष का और शान्तिप्रिय द्विवेदी ने हृदय-पक्ष का सुन्दर और प्रौढ़ विवेचन किया। कला-पक्ष भी उपेक्षित न रहा। प्रतिनिधि कलाकार पंत की सौन्दर्य-दृष्टि का विश्लेषण हुआ। साथ ही, सत्येन्द्रजी ने गुप्तजी की कला का सूक्ष्म विवेचन किया और श्रीयुत सुधांशु ने नई कविता की अभिव्यंजना-पद्धति की क्रोचे के आधार पर व्याख्या की।

संक्षेप में आलोचना के तीसरे चरण का उत्तराधिकार यह है :

१. हिन्दी में रोमांटिक आलोचना का जन्म हुआ। अब तक अधिकतर वस्तुगत विवेचन का प्राधान्य था। अब भावगत विवेचन भी आरंभ हुआ और आलोचना स्पष्ट रूप से सृजनात्मक अतएव सरस होने लगी।

२. युग-युग के अन्तर में बहती हुई चिरन्तन जीवन-धारा से साहित्य का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसकी इसी रूप में व्याख्या की गई।

३. अनुभूतियों का विश्लेषण होने लगा। अवचेतन और अर्धचेतन की भी यथाशक्ति छानबीन होने लगी।

४. कला का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। अभिव्यंजना और अनुभूति का सीधा सम्बन्ध समझा गया।

चौथा चरण

["संक्षेप में, पूँजीवादी समाज की वास्तविकता ने इन छायावादी कवियों को इतना अहंवादी, आत्मापेक्षी, समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया है कि वे अपने असन्तोष का अस्त्र भी फेंक चुके हैं। उनका मैं, उनकी अन्तःप्रेरणाएं, सामूहिक व्यक्तित्व का मैं या समाज के द्वारा ग्रहण की गई अन्तःप्रेरणाएं नहीं रहीं।...

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खेद केवल इस बात का है कि जीवन और स्वतंत्रता की आवश्यकता की चेतना के अभाव ने उनकी चिर-अधीरता और चिर-असंतुष्टि का दुरुपयोग कर उनमें अपने जीवन की निरर्थकता में सार्थकता का आभास प्रदान करने वाली निरर्थक कला के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर दी है।"]

सन् १९३७-३८ से छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। यहां से हमारा चौथा चरण आरम्भ होता है।

इस प्रतिक्रिया के साहित्यिक और सामाजिक कारण थे। साहित्यिक कारण था छायावादी अनुभूतियों की तरल सूक्ष्मताएं, जिनके परिणामस्वरूप उसमें रक्त-माँस की कमी हो रही थी। सामाजिक कारण था जीवन में आध्यात्मिक और सूक्ष्म-संस्कृत के विरुद्ध भौतिक और स्थूल-प्राकृत का आह्वान, अर्थात् गांधीवाद को समाजवाद का चेलैंज। इस आह्वान की अभिव्यक्ति हुई प्रगतिवाद।

प्रगतिवाद अपने स्वरूप में ही आलोचनात्मक है: इसका दृष्टिकोण बौद्धिक है। अतएव इसको जन्म से पूर्व ही आलोचना का वरद हस्त मिल गया। छायावाद जहां अपनी हीनता से सफ़ाई देता हुआ—शान्तिप्रिय द्विवेदीजी की तरह—आया था वहां प्रगतिवाद श्रेष्ठता के गर्व से उन्मत्त प्रचलित विश्वासों को फटकारता हुआ आया। फिर भी यह निर्विवाद है कि प्रगतिवाद आज की जीवित शक्ति है, यद्यपि इसका स्वरूप अभी स्थिर होना है। आज की प्रगति-कविता सबसे अधिक कवि पन्त की ऋणी है, जिनके व्यक्तित्व के द्वारा उसे गौरव मिला। आलोचना के क्षेत्र में भी उनका आभार गहन है। सबसे पूर्व उनके ही 'रूपाभ' में लिखे सम्पादकीयों ने भौतिक एवं स्थूल की उपादेयता को सुनिश्चित गाम्भीर्य के साथ व्यक्त किया और साहित्यिक प्रतिमानों में समय की माँग के अनुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके अतिरिक्त उनकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अनेक कविताएं स्वयं प्रगति की प्रौढ़ विवेचना हैं।

'रूपाभ' के साथ ही 'हंस' ने बलपूर्वक प्रगति का आँचल पकड़ा। 'हंस' को स्वर्गीय प्रेमचन्दजी अपने अन्तिम दिनों में बहुत-कुछ प्रगतिशील सामग्री दे गये थे। 'हंस' ने उसे परिश्रम से सँजोये रखा और धीरे-धीरे अपने स्टैण्डर्ड को मज़बूत किया।

हिन्दी में प्रगतिशीलता की पुकार होते ही वह अपना निश्चित दृष्टिकोण लेकर सामने आ गया। अनेक लेखकों ने उसमें प्रगति की आवाज़ उठाई और लेखों की झड़ी लग गई। प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण उनमें उत्साह और भाव-बल तो था, पर विश्लेषण का एकदम अभाव था। अभी तक वे लेखक प्रगति की कविता को राष्ट्रीय कविता से पृथक् कर के नहीं देख सके थे। यही कारण है कि उस समय प्रगति की परिधि में मैथिली बाबू भी आ जाते थे, जबकि आज वे घोर प्रतिक्रियावादी समझे जाते हैं। अतएव इन लेखों के द्वारा प्रगति की रूपरेखा तो न बन पायी परन्तु उसका प्रचार अवश्य हुआ, जिसके लिए वह सबसे अधिक आभारी है प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त की। इनकी नवीन-प्रिय संस्कृत रुचि और निष्कपट उत्साह ने प्रगति को यथेष्ट सम्मान दिया और इनकी कृपा से कुछ हाथ-पैर मारते हुए कवि बाहर प्रकाश में भी आये। फिर भी प्रगति की सीमाएं निर्धारित करने वाले पहले आलोचक हैं शिवदानसिंह चौहान।

ऐसा मालूम पड़ता है कि चौहानजी ने काफ़ी दिनों तक चुपचाप विदेशी प्रगति-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य का, विशेषकर उसके आलोचना-भाग का, अध्ययन करने के उपरान्त हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। इसलिए इनके प्रारम्भिक वक्तव्यों में ही निश्चय और विश्वास मिला। इन्होंने ही सबसे पहले प्रगति के तत्त्वों का विश्लेषण कर उसकी सामाजिक चेतना एवं दार्शनिक आधार को स्पष्ट करते हुए उनका भौतिक व्याख्यान किया। शिवदानसिंहजी का साहित्य परिमाण में अत्यन्त स्वल्प है, इनके लेखों को प्रकाश-स्तम्भ कहना वर्गोत्साह में आकर हिन्दी के आलोचना-साहित्य का अपमान करना है। एक तो इनकी व्याख्या विदेशी साहित्य से परिचित व्यक्ति के लिए पूर्णतः नवीन नहीं है, दूसरे उसमें अभी वस्तु के विश्लेषण के साथ सिद्धान्त का आरोप भी काफ़ी है, और तीसरे वह एकदम एकांगी है। परन्तु यह मानना अनिवार्य है कि उनकी दृष्टि गहरी और स्थिर एवं विश्वास अतर्क्य है। साथ ही प्रगतिवर्ग के अन्य आलोचकों की अपेक्षा उनमें कहीं अधिक विवेक और उदारता है जो उनके आत्मविश्वास की द्योतक है।

आलोचना में मार्क्स के दृष्टिकोण को इनसे कुछ पूर्व अज्ञेय और रामविलास शर्मा ग्रहण कर चुके थे। इन दोनों में एक बात समान है; वह यह कि ये क्रांति के समान ही परम्परा के भी भक्त हैं। अज्ञेय के लेखों का संग्रह 'त्रिशंकु', जिसमें उन्होंने भौतिक आधार पर ही आधुनिक कला और साहित्य का विवेचन किया है, आज तीन-चार वर्ष से प्रेस के कक्ष में सुरक्षित है। अज्ञेय में सूक्ष्मता के साथ शक्ति भी है। इनका यह दोष है कि कभी-कभी ये टेकनीक के मोहवश या कुछ बहुत गहरी और नयी बात कहने के प्रयत्न में अपनी ही निविड़ता में उलझ जाते हैं। रामविलास की आलोचना उनके व्यक्तित्व के समान ही दृढ़, खरी और कुछ खड़ी भी होती है। आज उनके जो लेख निकल रहे हैं उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो उनकी प्रवृत्ति विश्लेषण की जटिलताओं में न पड़कर, जैनेन्द्रजी की शब्दावली में, दो-टूक बात कहने की ओर होती जा रही है। वात्स्यायन तो अपने व्यक्तिवाद के कारण अभी प्रगति की सीमा-रेखा पर ही खड़े हैं, परन्तु रामविलास ने अब प्रगतिवाद का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया है। इन लोगों के द्वारा प्रगतिवाद का प्रतिपादन और छायावाद का विरोध उग्र रूप में हो रहा है।

छायावाद के विरुद्ध किये गये आक्षेपों का समाधान सुश्री महादेवी वर्मा ने अपनी भूमिकाओं और 'चिंतन के क्षणों में' द्वारा किया है, जिनमें साहित्य के सनातन सिद्धान्तों के आलोक में आधुनिक काव्य की गतिविधि को विश्वस्त रूप में परखा गया है। आज पल-पल परिवर्तित मानों के बवण्डर में खोया हुआ साहित्य का विद्यार्थी उनके द्वारा वांछित स्थिरता प्राप्त कर सकता है। आलोक-स्तम्भ आज इन्हें कहा जा सकता है।

हमारे चौथे चरण का अभी पहला निक्षेप है। परन्तु, जैसा अभी मैंने निवेदन किया, प्रगति का मूल ही आलोचनात्मक है। अतएव इन दो-तीन वर्षों में ही उसके प्रभाववश हिन्दी-आलोचना में स्फूर्ति आ गई है। प्रगतिवाद की सबसे बड़ी देन है मार्क्स का दृष्टिकोण। साहित्य की सामाजिक चेतनाओं का अध्ययन स्वयं मनोरंजक है—उसके द्वारा साहित्य की अन्तर्वृत्तियों पर एक नवीन प्रकाश पड़ता है। प्रगति का दूसरा शुभ प्रभाव यह हुआ कि आलोचना में बौद्धिकता की शक्ति आ गई है, जिससे विश्लेषण का गौरव बढ़ने लगा है। विश्लेषण में अभी मार्क्स की ही सहायता ली जा रही है, फ़्रायड की अन्तःप्रवेशिनी दृष्टि अभी हिन्दी को नहीं मिली। परन्तु कुछ आलोचक उधर प्रयत्नशील अवश्य हैं, और हमारा विश्वास है कि मार्क्स और फ़्रायड का संयत, विवेकयुक्त—क्योंकि बिना इसके भयंकर छीछालेदर की सम्भावना है—उपयोग हिंदी साहित्य के सूक्ष्मतम तत्त्वों को प्रकाश में ले आएगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी-आलोचना

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी-आलोचना के साथ मेरा सक्रिय सम्बन्ध रहा है। उस पर वार्त्ता करने के लिए आमन्त्रण देना मेरे साथ वैसा ही अन्याय है जैसा अभिनेता से दर्शक की तटस्थ दृष्टि की अपेक्षा करना। और, फिर मुझे तो छद्मनाम की सुविधा भी प्राप्त नहीं है।

सन् १९४७ के बाद का युग सृजन की अपेक्षा निर्माण का ही युग अधिक है, यह बात मैं कई बार कह चुका हूं। आलोचना सर्जना है या रचना इस विषय में आलोचना के शैशवकाल में बड़ा विवाद रहा। मुझे याद है कि हमारे किसी परीक्षा-पत्र में एक प्रश्न यह था कि आलोचना कला है या विज्ञान। मुझे याद नहीं कि उस समय मैंने इसका क्या उत्तर दिया था परन्तु इस समय सहज ही एक समाधान मेरे मन में आया है---आलोचना कला का विज्ञान है। भारतीय शब्द साहित्य-विद्या या साहित्यशास्त्र का ठीक यही अर्थ है। मैं कहना यह चाहता हूं कि सर्जनात्मक साहित्य का अंग होते हुए भी आलोचना उस अर्थ में कला नहीं हो सकती जिस अर्थ में कविता, नाटक या उपन्यास। रस-सृष्टि के लिए आवश्यक चित्त की समाहिति तो यहाँ भी अनिवार्य है किन्तु वह केवल परिणति की अवस्था है। प्रक्रिया में तो भावना और कल्पना की अपेक्षा चेतन मन का विवेक ही अधिक प्रबुद्ध रहता है। फिर भी सफल आलोचना का उद्भव रस में से होता है और उसका निलय भी रस में ही होना चाहिए अर्थात् जब तक आलोचक आलोच्य से रसार्द्र होकर अपनी विवेचना का आरम्भ नहीं करता और जब तक उसकी विवेचना सहृदय पाठक के मन में आलोच्य के प्रति रसोद्बोध नहीं करती तब तक वह सफल नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्रेरणा और सिद्धि की अवस्था में कला होते हुए भी अपनी साधनावस्था में आलोचना निश्चय ही शास्त्र है—दूसरे शब्दों में उसमें सृजन के साथ निर्माण का भी बहुत बड़ा योग है। इसीलिए निर्माण के इस दशाब्द में हिन्दी आलोचना और अंगों की अपेक्षा अधिक सक्रिय रही है।

सन् '४७ के बाद की हिन्दी-आलोचना सामान्यतः शुक्लोत्तर आलोचना का विस्तार है—शुक्लजी के बाद हिन्दी में आलोचना की अनेक प्रवृत्तियां उभरकर आयीं—(१) शास्त्रीय आलोचना, जिसे शुक्लजी से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त थी, (२) सौष्ठववादी आलोचना, जिसने शुक्लजी द्वारा प्रभावित होने पर भी जीवन के आनन्दवादी मूल्यों और स्वच्छन्द दृष्टिकोण को अधिक आग्रह के साथ ग्रहण किया, (३) मनोवैज्ञानिक आलोचना, जो साहित्य को व्यक्तिगत प्रक्रिया मानकर कवि-मानस के विश्लेषण द्वारा कृति का विवेचन करती थी, (४) समाजशास्त्रीय आलोचना, जो समाजवादी जीवन-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर सामाजिक चेतना के विकास को साहित्य का लक्ष्य मानती थी, (५) ऐतिहासिक आलोचना, जो सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश में साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करती थी, (६) सैद्धान्तिक आलोचना, जिसका साध्य था भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यसिद्धांतों का विवेचन, और (७) शोधपरक आलोचना, जिसके अंत-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

र्गत हिन्दी के प्राचीन एवं नवीन साहित्य की तथ्यपरक एवं तत्त्वपरक शोध हो रही थी।

स्वतन्त्रता के उपरान्त ये सभी प्रवृत्तियां समान रूप से सक्रिय नहीं रह सकीं। उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक आलोचना के अन्तर्गत विशेष कार्य नहीं हुआ। केवल एक शोध-ग्रन्थ 'आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' हमारे सामने आया। इसके लेखक डॉ० देवराज उपाध्याय हिन्दी के परिचित सुलेखक हैं। उन्होंने अतिवादों को बचाते हुए काफ़ी सुथरे ढंग से हिन्दी के कथा-साहित्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मनोविज्ञान की शब्दावली में लेखक ने गेस्टाल्ट पद्धति का अवलम्बन किया है जिसमें शाखाओं की अपेक्षा मूल का ग्रहण रहता है अर्थात् व्यक्तित्व का खंडशः नहीं वरन् समग्र रूप में विश्लेषण रहता है। डॉ० देवराज की दृष्टि सर्वथा निर्भ्रान्त तो नहीं कही जा सकती—कहीं-कहीं उन्होंने सिद्धान्तों का मिथ्यारोपण भी कर दिया है और अनेक स्थलों पर पाश्चात्य कथा-साहित्य का उल्लेख आवश्यकता से अधिक हो गया है। फिर भी हिन्दी में नियमित रूप से मनोवैज्ञानिक आलोचना का यह अच्छा ग्रन्थ है।

मनोविश्लेषण-शास्त्र का अवलम्ब ग्रहण करने वाले लेखकों में श्री इलाचन्द्र की कृति 'देखा-परखा' उल्लेखनीय है। इलाचन्द्रजी के विश्लेषण में पर्याप्त गहनता रहती है और वे पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर प्रबल शब्दों में अपना मत अभिव्यक्त कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में अंतर्प्रवेश की क्षमता जितनी है, उतनी स्वच्छता नहीं है—स्रष्टा कलाकार की ताज़गी जितनी रहती है, आलोचक का बौद्धिक अनुशासन उतना नहीं रहता। इस वर्ग के अन्य आलोचक श्री अज्ञेय अपने में इतने डूब गए हैं कि उनके नवीन आलोचनात्मक लेखों में विषय का वस्तुगत विवेचन नहीं मिलता वरन् उनके अपने मन की जटिल क्रिया-प्रतिक्रियाओं का आलेखन मात्र ही होता है। सब मिलाकर आलोचना की इस उपयोगी प्रणाली का जैसा विकास होना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। इसका कारण स्पष्ट है और वह यह कि हिन्दी में मनोविज्ञान का व्युत्पन्न लेखक नई धारा—प्रयोगवाद—की ओर मुड़ गया है। प्रयोगवाद में व्यक्ति-तत्त्व का अतिशय प्राधान्य है और स्वभावतः मनोविज्ञान का सम्बल उसके लिए अनिवार्य है। प्रयोगवाद के कतिपय नवीन लेखकों के पास अंतर्मन में प्रवेश करने की क्षमता असंदिग्ध है परन्तु अपने साहित्यिक पूर्वाग्रहों के कारण वे लेखक स्वस्थ-संतुलित दृष्टि से मानव-मन का समग्र रूप में विश्लेषण करने के स्थान पर उसकी निविड़ताओं में उलझने का प्रयत्न अधिक करते हैं। अतिव्यक्तिवादी होने के कारण यह साहित्य मूल को छोड़कर शाखाओं पर ही केन्द्रस्थ हो जाता है—पूर्ण व्यक्तित्व की उपेक्षा कर उसकी खण्ड-प्रवृत्तियों में ही खो जाता है। परिणामतः इस नई आलोचना में प्रतिभा के ज्योतिस्पर्श तो प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं किन्तु किसी समग्र जीवन-दर्शन और उस पर आश्रित साहित्य-दर्शन के अभाव में यह आलोचना साहित्य का खण्ड-विश्लेषण ही प्रस्तुत कर पाती है। श्री नलिनविलोचन शर्मा, डॉ० धर्मवीर भारती, श्री गिरिजाकुमार माथुर, डॉ० रघुवंश आदि के आलोचनात्मक लेखों में उपर्युक्त गुण और दोष स्पष्ट रूप से मिल सकते हैं। इस नए साहित्य के साथ विदेश के एक नवीन जीवन-दर्शन अस्तित्ववाद का नाम भी जाने-अनजाने सम्बद्ध किया जा रहा है। अस्तित्ववाद के सबसे समर्थ प्रतिपादक हैं फ्रांसीसी विचारक सार्त्र, जिन्होंने किर्केगार्द से प्रेरणा प्राप्त कर इस शताब्दी के तीसरे-चौथे दशाब्द में इस नवीन जीवन-दर्शन को दर्शन और साहित्य दोनों के क्षेत्र में प्रतिफलित किया है। इस दर्शन का मूल आधार है मानव-अस्तित्व, जो जीवन का निरपेक्ष और एकमात्र सत्य है। इसका सूत्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है : 'अस्तित्व का आविर्भाव प्रयोजन से पहले होता है'—अतः अस्तित्व ही प्रमाण है। प्रयोजन, प्रेरणा आदि महत्तर तत्त्वों का निषेध करने वाला यह जीवन-दर्शन वस्तुतः अनास्था का ही दर्शन है—उच्चतर प्रेरणा के अभाव में, ईश्वर और धर्म के किसी रूप की स्वीकृति से वंचित, केवल अस्तित्व को ही सिद्धि मानकर चलने वाला जीवन अपने में खोया हुआ और विषण्ण बनकर रह जाता है। यह जीवन-दर्शन स्वभावतः अतिव्यक्तिवादी और नास्तिक जीवन-दर्शन है, जो काव्य में कुण्ठा और विचार में निराशा का पोषण करता है।

स्वतन्त्रता-पूर्व युग में आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवादी अथवा समाजशास्त्रीय आलोचना का बड़ा ज़ोर था। भारतीय राजनीति में समाजवाद के प्रचार के साथ भारतीय साहित्य में भी समाजवादी दर्शन का प्रभाव बढ़ रहा था। साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा आलोचना में यह प्रभाव अधिक सक्रिय रहा क्योंकि मार्क्सवादी जीवन-दर्शन भी तो अनुभूतिपरक अथवा दर्शनपरक न होकर मूलतः बुद्धिपरक या आलोचनात्मक ही रहा। हिन्दी में समाजवादी आलोचना का प्रमुख योगदान था—कल्याणवादी मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा। साहित्य में आनन्दवादी मूल्यों और कल्याणवादी मूल्यों में जाने-अनजाने एक प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा-सी चलती रहती है। द्विवेदी-युग में जिस प्रकार रीतिकाल के अतिशय रसवादी मूल्यों की प्रतिक्रिया में लोकमंगल का आग्रह सहसा प्रबल हो उठा था, उसी प्रकार सन् १९३७ के बाद छायावाद की अन्तर्मुखी रसदृष्टि के विरुद्ध प्रगतिवादी आलोचकों ने बहिर्मुखी लोकदृष्टि का साग्रह उन्मेष किया। इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद के अपकर्ष-काल में कल्पना-विलास के अन्तर्गत काव्य की स्वस्थ लोकमंगल-भावना बहुत-कुछ विलीन-सी होने लगी थी और हिन्दी कविता को स्वप्न से सत्य की ओर आकृष्ट करने की बड़ी आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति प्रगतिवाद ने अंशतः की। किन्तु प्रगतिवाद की सत्य-विषयक धारणा एकांगी और अपूर्ण ही रही और उसी अनुपात से उसकी कल्याणभावना भी। प्रगतिवाद के लिए सत्य केवल पदार्थ में सीमित रह गया और कल्याण केवल भौतिक सुख-स्वास्थ्य का ही वाचक बनकर रह गया। फलतः एक अतिवाद का निराकरण करने में उसने दूसरे अतिवाद का प्रसार एवं प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उसने काव्येतर बहिरंग मूल्यों का आरोप इतनी हठधर्मिता के साथ किया कि काव्य का मूलधर्म ही बाधित हो गया। सन् '४७ के बाद प्रगतिवादी आलोचना सक्रिय तो रही किन्तु इसका तेज मानो किसी ने छीन लिया। उसके आरम्भिक उत्साह का परिपाक जिस स्वस्थ प्रौढ़ रूप में होना चाहिए था वह नहीं हो पाया।

शिवदानसिंह चौहान 'आलोचना' से हटते ही साहित्य के सक्रिय क्षेत्र से कुछ दूर से हो गए। उनकी पहली कृति 'प्रगतिवाद' का अधिकांश स्वतन्त्रता-पूर्व की रचना है—बाद की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' स्वतन्त्र आलोचना-कृति की अपेक्षा पाठ्य-ग्रंथ ही अधिक है। डॉ० रामविलास शर्मा उनकी अपेक्षा अधिक सक्रिय रहे हैं—'संस्कृति और साहित्य', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं' आदि उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें से बहुत-से लेख तो '४७ के पहले के हैं और जो नए हैं उनमें भी प्रकारान्तर से घूमकर वे ही बातें प्रायः वैसी ही असाहित्यिक भाषा में दोहरायी गई हैं। डॉ० शर्मा का दुर्भाग्य यह है कि उनकी दृष्टि मूलतः राजनीतिक है, साहित्यिक नहीं। वे न केवल राजनीतिक मूल्यों को ही, वरन् राजनीतिक रीति-नीति और निम्न स्तर की राजनीतिक भाषा को भी साहित्य में यथावत् ग्रहण करते हैं। उनकी अपेक्षा डॉ० रांगेय राघव की दृष्टि अधिक साहित्यिक है। स्वयं स्रष्टा कलाकार होने के नाते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वे साहित्य के मर्म से अभिज्ञ हैं और इसलिए अपनी आलोचना में उन्होंने साहित्य की आत्मा को प्रायः अक्षुण्ण रखा है। प्रगतिवाद का गम्भीर अध्येता कदाचित् चौहान और उनके ग्रन्थों पर अधिक निर्भर करेगा। इस वर्ग के अन्य आलोचक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त भी मार्क्सवादी प्रतिमानों के आधार पर नवीनतम साहित्य का सिंहावलोकन करते रहे हैं; इधर नए आलोचकों में डॉ० नामवरसिंह सबसे अधिक प्राणवान् हैं।

ऐतिहासिक आलोचना के समर्थ प्रतिनिधि हैं डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी। स्वतन्त्रता के पूर्व और उसके पश्चात् भी इस क्षेत्र में उनका ही योगदान प्रमुख है। द्विवेदीजी साहित्य को व्यापक सांस्कृतिक जीवन का अंग मानकर चलते हैं। आचार्य शुक्ल जहां साहित्य को केवल शिक्षित समुदाय के सांस्कृतिक जीवन से सम्बद्ध कर देखते थे, वहां द्विवेदीजी समस्त जन-समुदाय के सांस्कृतिक जीवन के साथ उसका अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस प्रकार साहित्य का आधार-फलक अत्यन्त विस्तृत हो जाता है, परन्तु उसको सँभालने योग्य पांडित्य और व्यापक मानववादी मूल्यों में अटूट आस्था का सम्बल उन्हें प्राप्त है। स्वतंत्रता के उपरांत इस विषय पर उनकी दो रचनाएं प्रकाशित हुई हैं: (१) नाथसंप्रदाय, (२) हिन्दी-साहित्य का आदिकाल। इसमें संदेह नहीं कि यह उदार दृष्टि अपने-आप में अत्यंत श्लाघ्य है, परंतु मेरा मन इसके प्रति सर्वथा निश्शंक नहीं हो पाता : सार्वजनिक जीवन की सम्पूर्ण वाङ्मयी अभिव्यक्ति 'साहित्य' कैसे मानी जा सकती है ?—इस प्रकार की उदार दृष्टि साहित्य और असाहित्य के भेद को नहीं देख पाती, अत्यधिक विस्तार के मोह में सूक्ष्म-दर्शन की शक्ति खो बैठना अधिक श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। मैं इसे प्रस्तुत आलोचना-पद्धति की विशेष परिसीमा मानता हूं। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनेक ग्रंथ अंशतः तथा डॉ० सत्येन्द्र का शोध-प्रबंध 'ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन' इसी वर्ग के अंतर्गत आते हैं। इधर 'आलोचना' के विशेषांक में प्रकाशित कतिपय लेख भी नये ढंग की ऐतिहासिक आलोचना के सुन्दर उदाहरण थे।

अब स्वतंत्रता-पूर्व आलोचना की चार अन्य शैलियां शेष रह जाती हैं जिनका विकास इस अवधि में नियमित रूप से हुआ है। सबसे पहले शास्त्रीय पद्धति को लीजिए। यों तो इसका प्रवर्तन द्विवेदी-युग के आरम्भ में ही हो गया था, किन्तु वास्तविक स्वरूप शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचनाओं में ही आकर स्थिर हुआ। शुक्लजी ने संस्कृत काव्यशास्त्र का पुनराख्यान कर और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों को अपने अनुरूप ढालकर हिन्दी के लिए एक समन्वित आलोचना-शास्त्र का निर्माण किया और उसके प्रतिमानों के द्वारा हिन्दी के अमरकाव्यों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया जो हिन्दी में शास्त्रीय आलोचना का आदर्श बना। इसी पद्धति का अवलंबन कर अनेक शास्त्रीय अध्ययन प्रकाशित हुए। इस परम्परा में स्वतंत्रता के उपरांत भी अनेक प्राचीन-नवीन कवियों के काव्यों का सर्वांगीण विवेचन किया गया और अनेक प्रामाणिक कृतियां सामने आयीं। विशेष काव्य-वादों तथा प्रवृत्तियों का विवेचन अब भी निरन्तर इसी पद्धति पर हो रहा है। शुक्लजी से प्रभावित किन्तु स्वतंत्र साहित्य-मूल्यों का अनुसरण करने वाले आलोचकों में प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो० गुलाबराय और डॉ० देवराज का विशिष्ट स्थान है। प्रो० वाजपेयी ने काव्य की दार्शनिक भूमिका को साग्रह ग्रहण करते हुए भी काव्य के रोमानी मूल्यों को ही अन्ततः प्रमाण माना है—शुक्लजी की काव्य-दृष्टि को सांस्कृतिक कह कर वस्तुतः वे उनके आभिजात्यवाद के प्रति विरोध प्रकट करते हुए अपने रोमानी दृष्टिकोण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के लिए समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं। प्रसाद, निराला तथा सूरदास का पक्ष लेकर उन्होंने वास्तव में काव्य के अंतरंग तत्त्वों की ही प्रतिष्ठा की है। सन् १९४७ के बाद उनके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। प्रगतिवाद के होहल्ला में वाजपेयीजी कुछ डगमगा गये थे, किन्तु अब वे फिर अपनी भूमि पर लौट आये हैं और सौष्ठववादी प्रतिमानों पर दृढ़ रहकर 'अकाव्य' के समस्त रूपों पर, चाहे वे प्रगतिवाद का फ़तवा लेकर आएं या प्रयोगवाद का, डटकर प्रहार कर रहे हैं। प्रो० गुलाबराय की प्रतिभा इस दशक में निबन्ध-रचना में अधिक संलग्न रही। यों तो उनकी एक अभिनव कृति 'अध्ययन और आस्वाद' अभी प्रकाशित हुई है, परन्तु स्वतंत्र आलोचना की दृष्टि से उनके पूर्व-रचित ग्रंथों की अपेक्षा इसका महत्त्व अधिक नहीं है। इस युग में जिन नये आलोचकों के व्यक्तित्व उभरकर सामने आये हैं उनमें कदाचित् सबसे अधिक स्वस्थ-स्थिर दृष्टि डॉ० देवराज को प्राप्त है। डॉ० देवराज वृत्ति से दार्शनिक और स्वभाव से स्रष्टा साहित्यकार हैं। वे आलोचना में छायावादी मूल्यों के विरोधी और आभिजात्यवादी मूल्यों के क़ायल हैं जो अमर साहित्य के अध्ययन से अनुगम-विधि द्वारा प्राप्त होते हैं।

अब हिन्दी-आलोचना की दो प्रवृत्तियां शेष रह जाती हैं : सैद्धान्तिक आलोचना और शोधपरक आलोचना, जिन्होंने इस दशाब्द में विशेष प्रगति की है। सैद्धान्तिक आलोचना की परिपाटी हिन्दी में बहुत प्राचीन है। भारत की किसी आधुनिक भाषा में इतना प्रभूत साहित्य उपलब्ध नहीं है। मराठी की शास्त्रीय परम्परा अत्यन्त समृद्ध होती हुई भी इतनी प्राचीन नहीं है, तमिल आदि की परम्परा प्राचीन होने पर भी विकासशील नहीं रही। द्विवेदी-युग में भारतीय काव्यशास्त्र पर अनेक प्रौढ़ ग्रंथों की रचना हुई और उधर पाश्चात्य सिद्धांतों की चर्चा भी नियमित रूप से होने लगी थी। आचार्य शुक्ल ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा दोनों का पुनराख्यान और यथावत् समंजन करने का सफल प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय सिद्धांतों का पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा आलोचनाशास्त्र के अनुसार आख्यान किया और पश्चिम के साहित्य-सिद्धांतों को भारतीय काव्यशास्त्र की कसौटी पर परखा। इस प्रकार नये साहित्य के अनुरूप काव्यशास्त्र का शिलान्यास हुआ। स्वतंत्रता के पश्चात् इस पद्धति का सम्यक् विकास हुआ। शुक्लजी और उनके युग की अपनी परिसीमाएं थीं। उस समय हिन्दी के लेखक का न तो पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र के साथ इतना घनिष्ठ सम्पर्क था जितना आज हो गया है, और न संस्कृत काव्यशास्त्र के ही ग्रंथ उसके लिए सुलभ थे। आज हिन्दी का यह अभाव बहुत-कुछ पूरा हो गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के विस्तृत हिन्दी भाष्य आज सुलभ हैं : काव्यादर्श, काव्यालंकारसूत्र, ध्वन्यालोक, वक्रोक्तिजीवित, काव्यमीमांसा, औचित्यविचारचर्चा, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, चंद्रालोक, कुवलयानन्द, रसगंगाधर, अभिनवभारती, नाट्यदर्पण, अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय अंश आदि तो हिन्दी को उपलब्ध हो ही चुके हैं। हरिभक्तिरसामृतसिन्धु आदि की व्याख्या प्रेस में है। उधर सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यालंकार (भामह और रुद्रट), व्यक्तिविवेक आदि पर भी कार्य हो रहा है। इस प्रकार प्रायः समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र हिन्दी में अवतरित होता जा रहा है। हिन्दी-अनुसंधान-परिषद्, दिल्ली तथा चौखम्बा जैसी संस्थाएं तथा आचार्य विश्वेश्वर जैसे विद्वान् इस सन्दर्भ में विशेष साधुवाद के पात्र हैं। भारत की किसी भी आधुनिक भाषा में इस दिशा में व्यवस्थित कार्य नहीं हुआ, मराठी में भी नहीं—किसी में केवल ध्वन्यालोक ही है और किसी में काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण मात्र। अधिकारी विद्वान् इधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र की ओर भी बढ़े हैं, डॉ०

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देवराज उपाध्याय का रोमांटिक साहित्यशास्त्र, डॉ० लीलाधर गुप्त का पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत, डॉ० एस० पी० खत्री के कई ग्रंथ, विशेषकर 'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत', आदि इस दिशा में उपयोगी प्रयास हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आदि ग्रंथ 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', लांजाइनस के 'दि सब्लाइम', होरेस की 'आर्स पोएटिका' के हिन्दी अनुवाद और 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' नाम से यूरोप के प्रतिनिधि आलोचकों के सिद्धांत-वाक्यों के संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार सैद्धांतिक समालोचना के क्षेत्र में गत तेरह-चौदह वर्षों में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। आज का आलोचक केवल विवरण पढ़कर अथवा संदर्भ-ग्रंथों के आश्रय से संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धांतों की चर्चा नहीं करता, उसका आधार पुष्ट और ज्ञान प्रामाणिक होता है। शुक्लजी के युग में यह सुलभ नहीं था। उदाहरण के लिए स्वयं शुक्लजी के निबंध 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने न क्रोचे को धैर्यपूर्वक पढ़ा है और न 'वक्रोक्तिजीवित' का प्रामाणिक संस्करण ही उन्हें उपलब्ध था। आज का हिन्दी-आलोचक इस अभाव से पीड़ित नहीं है।

शोधपरक आलोचना और भी अधिक सक्रिय रही है। हिन्दी में शोध-कार्य का आरम्भ जितनी मंथर गति से हुआ था, उसके विकास में उतनी ही त्वरा आ गई है और गत दशक में उसके परिमाण एवं क्षेत्र दोनों का विस्तार स्वयं ही अनुसंधान का विषय बन गया है। तत्त्व-दृष्टि से हिन्दी अनुसंधान की दो प्रमुख प्रवृत्तियां हैं—(१) तथ्यपरक, और (२) तत्त्वपरक, जो क्रमशः सफल अनुसंधान के दो अनुबंधों अर्थात् 'अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण' तथा 'उपलब्ध तथ्यों का नवीन आख्यान' के ही प्रोद्भास हैं। तथ्य-दृष्टि से हिन्दी अनुसंधान में अनेक प्रवृत्तियों का आकलन किया जा सकता है; सबसे पहले तो हम दो व्यापक वर्ग बना सकते हैं—भाषाविज्ञान-सम्बन्धी शोध और साहित्य-विषयक शोध। इसके उपरांत भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जहां विभिन्न धाराओं का अनुसंधान किया जा सकता है, वहां साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक अंतःप्रवृत्तियों का उद्घाटन सहज सम्भव है। इस क्षेत्र में तीन आधारभूत प्रवृत्तियां हैं—ऐतिहासिक, वैयक्तिक और शास्त्रीय। ऐतिहासिक अनुसंधान के अंतर्गत एक ओर हिन्दी साहित्य के किसी कालखंड का ऐतिहासिक विवेचन मिलता है, तो दूसरी ओर किसी साहित्य-विधा या साहित्य-सम्प्रदाय अथवा साहित्य-धारा की परम्परा का भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया जा रहा है—और साथ ही सांस्कृतिक तथा सामाजिक-राजनीतिक परिवेश का भी अध्ययन हो रहा है। वैयक्तिक अनुसंधान से अभिप्राय है कवि-लेखकों का स्वतंत्र शोधपरक अध्ययन—सामान्य लेखकों का अध्ययन सर्वांग होता है, महान् कवि-लेखकों के एक-एक अंग को लेकर भी अनुसंधान होता है। शास्त्रीय अनुसंधान की परिधि व्यापक है; उसके अंतर्गत साहित्य के वस्तु-तत्त्व और कला-तत्त्व दोनों का अध्ययन अनेक शास्त्रों के प्रकाश में किया जा रहा है, वस्तु-तत्त्व से सम्बद्ध शास्त्र हैं दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि, और कला-तत्त्व के सहायक शास्त्र हैं काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र आदि। इस प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियों के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, रसशास्त्रीय अध्ययन और उधर साहित्य-विधाओं के सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन अर्थात् उनके कला-रूपों के सौंदर्य-तत्त्वों का अध्ययन, शास्त्रीय अनुसंधान के अंतर्गत आते हैं। तीसरा वर्गीकरण पद्धतिमूलक भी हो सकता है, पद्धतियां सामान्यतः तीन हैं—ऐतिहासिक, शास्त्रीय और वैज्ञानिक। ऐतिहासिक पद्धति में प्राधान्य रहता है परिवेश एवं परंपरा का और इसका मूलवर्ती दृष्टिकोण विश्लेषात्मक तथा व्यक्तिपरक न होकर संश्लेषात्मक एवं सामा-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सिक होता है। शास्त्रीय पद्धति का आधार है शास्त्र जिसमें विश्लेषण प्रमुख रहता है; अनुसंधाता की दृष्टि सिद्धांत के प्रकाश में वस्तु और रूप का निरीक्षण-परीक्षण करती है। वैज्ञानिक पद्धति सामान्यत: अनुसंधान के सभी रूपों को बींधती हुई अपने वस्तुगत तथ्यग्राही दृष्टिकोण के कारण शेष दो से भिन्न हो जाती है—शास्त्रीय पद्धति से भिन्न यह निगमन की अपेक्षा अनुगमन का ही अवलंब लेती है और साहित्य की विधियों तथा उपायों पर बहुत-कुछ निर्भर करती है।

हिंदी में अनुसंधान की प्राय: ये सभी प्रवृत्तियां-पद्धतियां लक्षित होती हैं और सभी पर प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। अब तक लगभग २५० शोध-प्रबंधों पर उपाधि प्रदान की जा चुकी है जिनमें से आधे प्रकाशित हो चुके हैं और ५०० से भी अधिक विद्यार्थी विधिवत् अनुसंधान कर रहे हैं। ये तथ्य केवल परिमाण की दृष्टि से ही किसी भी भाषा के विद्वान् को चौंकाने के लिए पर्याप्त हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये सभी ग्रंथ आदर्श शोध के निदर्शन नहीं हैं—इनमें ऐसे ग्रंथों की बहुत बड़ी संख्या है जो तथ्य-शोध और तत्त्व-शोध दोनों की दृष्टि से अपूर्ण हैं। परन्तु इसमें ऐसे प्रबंधों की संख्या भी कम नहीं है, जिनका योगदान विद्या की वृद्धि में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इनके द्वारा हिंदी साहित्य के विभिन्न अंग-उपांगों से सम्बद्ध पुष्कल सामग्री प्रकाश में आयी है और उनका सर्वांग मंथन हुआ है। ज्ञानराशि का एक विशाल सागर हिन्दी के विद्यार्थी के सामने आज लहरा उठा है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खण्ड—३

(क) कृतिकार
(ख) कृति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(क) कृतिकार

तुलसी और नारी

तुलसी के यह सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों ही रहे हैं कि भारतीय परम्परा ने उन्हें लोक नायक महात्मा पहले और कवि बाद में माना है। इस दृष्टि से उनके ग्रंथ हमारे लिए आचार-शास्त्र का काम भी करते रहे हैं। तुलसी के प्रकांड आलोचक शुक्लजी ने भी उनके इस रूप पर ही अधिक बल दिया है। परिणामतः आज तुलसी के साहित्यिक महत्त्व के मूल्यांकन में भी अनेक नैतिक-सामाजिक प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है। जब तुलसीदास के समर्थकों और भक्तों ने उनके काव्य पर सामाजिक आचार-शास्त्र का आरोप किया तो स्वभावतः ही आधुनिक नारी की उद्बुद्ध चेतना ने सहृदयता के न्यायालय में अपने प्रति न्याय की माँग की।

तुलसीदास के 'रामचरितमानस' तथा अन्य ग्रंथों में, विभिन्न प्रसंगों में, ऐसी अनेक उक्तियां हैं जो किसी भी देश-काल की नारी के प्रति, किसी रूप में भी न्याय नहीं करतीं। उन्होंने नारी की प्रकृति, उसके चारित्र्य-बुद्धि-विवेक, आचार-व्यवहार सभी की निन्दा की है। पहले प्रकृति को लीजिये।

स्वयं भगवान शंकर के श्रीमुख से, जगदम्बा सती के व्याज से, नारी की प्रकृति का वर्णन सुनिये :

सुनहु सती तव नारि सुभाऊ।
संसय अस न धरिय उर काऊ॥

इसके आगे कवि की टिप्पणी है :

सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ।
देखहु नारि सुभाव-प्रभाऊ॥

भरत 'रामचरितमानस' के सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं। वे तुलसी के मत से मानव-रूप के आदर्श हैं। नारी की प्रकृति के विषय में उनकी धारणा सर्वथा प्रतिकूल है :

बिधिहु न नारि हृदय-गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी॥

उधर रावण, भरत के सर्वथा विपरीत, तुलसीदास की धारणा के अनुसार अमानव-रूप का प्रतीक है। परन्तु नारी की प्रकृति के विषय में तुलसी के आदर्श मानव और अमानव, दोनों का एक ही मत है। रावण के शब्दों में :

नारि-सुभाव सत्य कवि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया।
भय अविवेक असौच अदाया॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस प्रकार तुलसीदास के दो सर्वथा प्रतीप पात्र नारी के विषय में एकमत हैं। और यह धारणा केवल पुरुषों की ही नहीं है, नारी स्वयं भी अपने विषय में यही सोचती है।

राम से शबरी कहती है :

अधम तें अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मति-मन्द गँवारी॥

उधर भगवती अनसूया भी नारी को सहज अपावन ही मानती हैं : "सहज अपावन नारि।"

ये तो हुए व्यक्तियों के विचार, समष्टि का निर्णय भी नारी की प्रकृति को दुष्ट ही ठहराता है। अयोध्या का जनमत है :

सत्य कहहिं कवि नारि-सुभाऊ।
सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ॥

और अन्त में निष्कर्ष रूप में स्वयं तुलसीदास की घोषणा है कि नारी स्वतन्त्र होकर मार्गभ्रष्ट हो जाती है : 'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी।'

प्रकृति के अतिरिक्त नारी की बुद्धि और विवेक के विषय में भी तुलसीदास का मत भिन्न नहीं है। सती के शब्दों में स्वयं नारी अपनी बुद्धि के विषय में कहती है :

सती हृदय अनुमान किय, सब जानेउ सर्वज्ञ।
कीन्ह कपटु मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अज्ञ॥

अपनी सहज अज्ञता के कारण वह तत्त्व-दर्शन आदि की अधिकारिणी नहीं है : "जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।" इसी प्रकार उसके आचार-व्यवहार को भी तुलसीदास ने मलिन ही माना है :

कहँ हम लोक-बेद-बिधि-हीनी।
लघु तिय कुल करतूति मलीनी॥

उनकी दृष्टि में नारी का सामाजिक गौरव कितना है, इसका संकेत भी आपको मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम के शब्दों में मिल जायेगा। लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर शोक-विह्वल राम इस दुर्घटना का समस्त दोष नारी के ही मत्थे मढ़ देते हैं :

जैहउँ अवध कवन मुँह लाई।
नारि-हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
बर अपजस सहतेउँ जगमाहीं।
नारि-हानि बिसेस छति नाहीं॥

यहां राम शोक में व्याकुल होकर न केवल क्षत्रिय की, वरन् साधारण पुरुष की आत्म-मर्यादा का भी, त्याग कर देते हैं। स्त्री का हरण पुरुष के पौरुष के लिए सबसे बड़ी चुनौती है; परन्तु यहां ऐसा प्रतीत होता है मानो नारी के प्रति पतनकालीन हिन्दू-समाज की हीन भावना राम पर भी हावी हो जाती है।

तुलसीदास का सबसे भयंकर प्रहार नारी के कामिनी-रूप पर हुआ है। उन्होंने रामादि आदर्श पात्रों द्वारा परोक्ष रूप से और उधर स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अनेक स्थानों पर नारी के इस भयंकर खतरे की चेतावनी दी है : पंपासर के किनारे नारद मुनि को सावधान करते हुए भगवान राम कहते हैं :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सुनि मुनि कह पुरान स्रुति सन्ता।
मोह - बिपिन कहँ नारि बसन्ता॥
जप तप नेम जलासय भारी।
होइ ग्रीसम सोखइ सब नारी॥
पाप उलूक-निकर सुखकारी।
नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना।
बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥

नारी मोह-रूपी विपिन के लिए वसन्त के समान है, जप-तप नियमादि जलाशयों को वह ग्रीष्म ऋतु के समान सुखा देती है। पाप-रूपी उलूकों के लिए वह निविड़ रात्रि के सदृश सुखदायी है और बुद्धि, बल, शील तथा सत्य रूपी मीनों के लिए वंशी के समान है।

उसमें संयम का इतना घोर अभाव है कि भ्राता, पिता और पुत्र किसी भी सुन्दर पुरुष को देखकर वह रसार्द्र हो जाती है :

भ्राता पिता पुत्र उरगारी।
पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहिं न रोकी।
जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं बिलोकी॥

इसीलिए तुलसीदास अपने मन को बार-बार सचेत करते हैं :

दीपसिखा सम जुवति तन, मन जनि होइ पतंग।
भजहु राम, तजि काम मद, करहु सदा सतसंग॥

क्योंकि पुरुष के लिए स्त्री घोर शत्रु से भी अधिक दारुण है—उसकी भयंकरता मृत्यु से कुछ ही कम समझिये : इसका प्रमाण है जन्म-कुण्डली, जिसमें नारी का स्थान दारुण वैरी और मृत्यु के बीच में पड़ता है :

जनम-पत्रिका बरति कै, देखहु मनहिं बिचारि।
दारुन बैरी मीचु कै बीच बिराजति नारि॥

तुलसी बाबा अपनी सफ़ाई में क्या कहते, यह कहना तो आज सम्भव नहीं; परन्तु उनके भक्तों और प्रशंसकों ने उनकी ओर से अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं जिनका सारांश इस प्रकार है :

तुलसी का काव्य व्यक्तिपरक काव्य न होकर वस्तुपरक काव्य है। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति न करके कथा का वर्णन किया है जिसमें प्रसंग और पात्र के अनुसार अनेक प्रकार के भाव और विचार व्यक्त किये गए हैं। अतएव सभी उक्तियों का तुलसीदास पर ही आरोप कर देना न्याय नहीं है। 'रामचरितमानस' में भिन्न प्रकृति के भिन्न-भिन्न पात्र हैं जो अपनी परिस्थिति और मनोदशा के अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, भरत अथवा राम की वाणी शोक और आत्म-ग्लानि की कातर वाणी है, और शबरी तथा ग्राम-नारियों के शब्द उनकी अतिशय कृतज्ञता और विनम्रता को ही व्यक्त करते हैं। उधर 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी' आदि का सम्बन्ध शूर्पणखा से है और सती की आत्म ग्लानि—'नारि सहज जड़ अज्ञ'—का सम्बन्ध भी, उनके अपने अज्ञानजन्य अपराध से ही है। इसी प्रकार रावण स्वयं दुष्ट पात्र है, अतएव उसके शब्द तुलसीदास के शब्द कैसे हो सकते हैं!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

—तुलसीदास के अधिवक्ता कथाकार-कवि के अवैयक्तिक रूप (Impersonality of the poet) का तर्क उपस्थित करते हैं।

परन्तु यह तर्क अधिक संगत नहीं है। पहले तो तुलसी-जैसे भक्त कवि की कविता को एकान्त वस्तुपरक मानना ही असंगत है। स्वयं उन्होंने ही अपनी काव्यरचना को 'स्वान्तः-सुखाय' कहा है, और यह अर्थवाद नहीं है; क्योंकि वास्तव में भक्त-कवि की चेतना मूलतः वस्तु-परक हो ही कैसे सकती है! वस्तुपरक दृष्टि की पहली शर्त है वस्तु; अर्थात् पार्थिव जगत् की सत्ता में अचल विश्वास; और भक्त के लिए भाव-जगत् ही सब कुछ है। इस प्रसंग में जो लोग शेक्सपियर का उदाहरण देकर तुलसी का पक्ष-समर्थन करते हैं वे लाल और सफ़ेद रंगों में भेद करना नहीं जानते। इसके अतिरिक्त तुलसी की पूर्वोक्त पंक्तियों की परीक्षा करने पर भी इस युक्ति का सहज ही प्रतिवाद हो जाता है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियां ही लीजिये :

भ्राता पिता पुत्र उरगारी।
पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल मन सकहि न रोकी।
जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥

जहां तक कटुता का सम्बन्ध है, मेरी धारणा है कि नारी के प्रति इससे अधिक अन्याय नहीं किया जा सकता। कहां नारी का पवित्रतम वात्सल्य भाव; कहां 'द्रव' शब्द की बीभत्सता! कहा जा सकता है कि यह निन्दा दुष्टा शूर्पणखा की है, साधारण नारी की नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है, ये पंक्तियां शूर्पणखा के प्रसंग में अवश्य कही गई हैं किन्तु उसके लिए नहीं कही गईं। यह नारी-व्यक्ति की भर्त्सना नहीं, नारी-जाति की भर्त्सना है! और यह एक पात्र द्वारा दूसरे पात्र को उद्दिष्ट कर नहीं कही गईं, ये तो काकभुशुण्डि द्वारा गरुड़ से कही गई हैं। दूसरे शब्दों में, स्वयं कवि की ही सामान्य टिप्पणी हैं। इसी प्रकार अनेक उक्तियों में तो पात्र बीच में आते ही नहीं, वे प्रत्यक्ष कवि-वचन हैं; यथा :

जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी।

दूसरा तर्क तुलसीदास के पक्ष में यह दिया जाता है कि उन्होंने सभी स्त्रियों की निन्दा नहीं की; जिनको निन्द्य समझा है उन्हीं की निन्दा की है।

सीता, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया, यहां तक कि मन्दोदरी के प्रति भी उन्होंने असीम श्रद्धा व्यक्त की है और उनके उज्ज्वल चित्र अंकित किये हैं। परन्तु इसके उत्तर में तीन प्रति-युक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं। एक तो यह कि सीता, कौशल्यादि की महिमा का वर्णन तुलसी ने केवल राम के नाते से ही किया है :

नाते सबहि राम के मनियत श्रव्य सुसेव्य जहां लौं।

इन पात्रों की महिमा मूलतः राम की ही महिमा है। मन्दोदरी की महिमा इसलिए है कि वह राम के लिए अपने पति से भी लड़ बैठती है। यदि राम बीच में न होते, तो जाने तुलसीदास उसके विषय में क्या कहते! दूसरी बात यह है कि इन पात्रों के व्यक्तित्व भी अपने-आप में कोई विशेष प्रबल नहीं हैं। राम को हटाकर यदि आप सीता के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विश्लेषण करें तो उसमें वांछित शक्ति और दृढ़ता का अभाव पायेंगे। परम पुरुष की आदि-शक्ति सीता के व्यक्तित्व में जो शक्ति और प्रखरता होनी चाहिए, वह तुलसी की सीता में नहीं है; वे राम की छाया-मात्र हैं। तुलसी ने वास्तव में मध्यकालीन हिन्दू-परम्परा के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सीता का गुड़ियानुमा वधू-चित्र ही अंकित किया है :

पलँग पीठि तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥

× × ×

सिय बन बसहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डराती॥

× × ×

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥
हंसगवनि तुम नहिं बन जोगू। सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू॥

केवल रावण के सामने ही दो-एक अवसरों पर उनकी परम शक्ति उद्बुद्ध होती है, पर वहां भी उनको अपने बल की अपेक्षा राम के बल का ही अधिक भरोसा है :

खल सुधि नहिं रघुबीर बान की।

तीसरी प्रतियुक्ति यह दी जा सकती है कि मान लीजिये, तुलसी ने सीता-कौशल्यादि का महिमा-गान किया भी है, फिर भी तो यह व्यक्तियों का ही महिमा-गान हुआ, नारी-जाति की तो उन्होंने सदा निन्दा ही की है। व्यक्ति को अच्छा-बुरा कहना तो प्रसंग, पात्र, मनोदशा आदि पर निर्भर हो सकता है, परन्तु समष्टि को बुरा कहना तो कवि की सामान्य धारणा को ही व्यक्त करता है।

तुलसीदास के समर्थक एक तर्क यह देते हैं कि कवि पर देश-काल का प्रभाव था। उस युग में स्त्रियों की दशा अत्यन्त हीन थी, वे वास्तव में ही अज्ञ, मतिमन्द तथा लोक-वेद-विधि-हीन थीं। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन दृष्टिकोण भी नारी को केवल जीवन का उपकरण अथवा दासी ही मानता था, अतएव तुलसीदास ने अपने युग की स्थिति तथा विचारधारा के अनुरूप ही नारी का चित्रण किया है। यह तर्क साधारण कवि के लिए तो ठीक हो सकता है, तुलसी जैसे क्रान्तद्रष्टा कवि के लिए नहीं। और फिर, सूर ने ऐसा क्यों नहीं किया ?

तुलसी के पक्ष में चौथा तर्क और भी प्रबल है। तुलसीदास संत थे, और उन्होंने अपने ग्रंथों में जहां अनेक बातें साधारण गृहस्थों के लिए कही हैं, वहां कुछ बातें संतों के लिए भी कही हैं। नारी-निंदा उन्होंने अपने और अपने समानधर्मा संतों के मन को सचेत करने के लिए की है। शुक्लजी कहते हैं कि यदि पुरुष-कवि तुलसीदास ने नारी को पुरुष-पतंगों के लिए दीप-शिखा कहा, तो स्त्री-कवि पुरुष को नारी-पतंगियों के लिए भाड़ कह सकती है। इसमें संदेह नहीं कि तुलसी के दृष्टिकोण के पीछे इस प्रकार का मनोविज्ञान रहा होगा। संत होने के कारण उनका कंचन और कामिनी के प्रति सतर्क रहना स्वाभाविक ही था, और तत्कालीन संत-समाज को भी सम्भवतः सचेत करने की आवश्यकता रही हो; परन्तु फिर भी इसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। संत का दृष्टिकोण 'सीयराममय' भी तो हो सकता था और स्वयं तुलसी ने अपने महाकाव्य का आरम्भ इसी परप्रत्यक्ष-गम्य नमस्क्रिया से किया भी है। परन्तु इसका निर्वाह नहीं हो सका; क्योंकि एक तो उनके अपने संस्कार इसमें बाधक हुए हैं, दूसरे भारतीय संत-परम्परा की दृष्टि भी तो नारी के प्रति अत्यंत संदेहशील और कठोर रही है। वास्तव में तुलसी की कई कटूक्तियां उनकी अपनी न होकर संस्कृत नीति वचनों का सीधा अनुवाद हैं। उदाहरण के लिए, उनकी यह चिरनिन्दित अर्धाली :

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥

गर्ग-संहिता के इस श्लोक का अक्षरशः अनवाद है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दुर्जनाः शिल्पिनो दासा, दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताड़िता मार्दवं यान्ति नैते सत्कारभाजिनः।।

इसी प्रकार रावण की कटूक्ति भी अनुवाद ही है :

नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं।।
साहस, अनृत, चपलता माया।
भय अविवेक असौच अदाया।।

इसका मूल श्लोक इस प्रकार है :

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।।

उस समय का वातावरण ही कुछ ऐसा था : संस्कृत के मध्यकालीन नीति-ग्रंथ, स्मृतियां, पुराण, संतवाणी—यहां तक कि संस्कृत और हिन्दी के घोरतम शृंगारी कवियों ने भी इस परम्परा का विचार अथवा अविचारपूर्वक पालन किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से वास्तव में इसे नारी की भर्त्सना न मानकर उनके अपने अतिशय अनुरक्त मन की ही भर्त्सना समझना चाहिए।

मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण-शास्त्र इस मनोवृत्ति के कुछ और भी कारण उपस्थित कर सकता है। इस कटुता का एक अत्यन्त स्पष्ट कारण तो तुलसी के जीवन की उस घटना में ही ढूंढ़ा जा सकता है जिसने उन्हें राम-भक्ति की ओर प्रेरित किया था। यह घटना तुलसीदास के व्यक्तित्व-निर्माण का मूल आधार है। इसी के द्वारा उनका उत्कट पार्थिव प्रेम उतने ही उत्कट अपार्थिव प्रेम में उन्नमित हो गया था। अपने भाव का उन्नयन तो तुलसी ने साधना से कर लिया; परन्तु चूंकि यह परिवर्तन सहज एवं क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा न होकर एक झटके के साथ हुआ था, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रंथि उनके मन में रह गई और उनकी आत्म-ग्लानि जीवन-भर न तो अपने आतुर मन को क्षमा कर सकी और न उस आतुर मन की आलम्बन अथवा बाह्य प्रतीक नारी को ही। सामान्यतः तो जीवन के उस अभुक्त रस को उन्होंने अपने लिए और दूसरों के लिए भी अमृत बना लिया; परन्तु परिवर्तन की अचानकता (abruptness) के कारण कदाचित् कुछ कण ऐसे रह गये जो विष बन गये। उनकी उक्तियों के विश्लेषण से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वे नारी को कभी क्षमा नहीं कर सके; परन्तु यहां नारी को एक सामाजिक इकाई न मानकर तुलसी के उस अधीर मन का प्रतीक मानना चाहिए जो उनकी घोर ग्लानि और लज्जा का कारण बना था।

एक दूसरा कारण और भी है। तुलसी की भक्ति पुरुष-भाव से पुरुष की अर्थात् पुरुष-रूप भगवान की उपासना है। दास्य भाव भी पुरुष-भाव ही है। मध्य-युग में उपासना के तीन मार्ग थे : नारी-भाव से पुरुष-रूप भगवान की उपासना, पुरुष-भाव से नारी अर्थात् शक्ति-रूप भगवान की उपासना और पुरुष-भाव से पुरुष-रूप भगवान की उपासना, जिसके अन्तर्गत सख्य और दास्य दोनों भाव आ जाते हैं। पहली दो पद्धतियों में तो नारी-भाव की अनिवार्यता ही है, इस तीसरी उपासना-पद्धति में नारी नहीं आती और आती है तो बाधा-रूप में आती है, या अवचेतन में अनावश्यक प्रतिद्वन्द्व की भावना उत्पन्न करती है।

ये सब तर्क और यह कार्य-कारण-शृंखला केवल व्याख्या-मात्र हैं। ये तुलसी के नारी-विषयक दृष्टिकोण के लिए क्षमा-याचना या अधिक-से-अधिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकते हैं। वास्तव में आज की नारी यदि समस्त जगत् को 'सीयराममय' समझने वाले समद्रष्टा कवि से अधिक न्याय की माँग करे तो आप उसके क्षोभ को सहज ही समझ सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रीतिकाल के कवि-आचार्यों का योगदान

१. काव्यशास्त्र

रीति-आचार्यों के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। इनका पहला दोष है सिद्धांत-प्रतिपादन में मौलिकता का अभाव। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता की दो कोटियां हैं : एक के अंतर्गत नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना और दूसरी के अंतर्गत प्राचीन सिद्धान्तों का पुनराख्यान आता है। हिन्दी के रीति-आचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं कर सके। किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन, जो काव्यचिंतन को नवीन दिशा प्रदान करता, सम्पूर्ण रीतिकाल में सम्भव नहीं हुआ। इन कवियों ने काव्य के सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में कहीं-कहीं नवीनता का प्रदर्शन किया है, परन्तु उन तथाकथित उद्भावनाओं का भी आधार-स्रोत किसी-न-किसी संस्कृत-ग्रंथ में मिल जाता है। जहां ऐसा नहीं है वहां भी यह कल्पना करना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कदाचित् किसी लुप्तप्राय संस्कृत-ग्रंथ में इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नहीं मिलता; अर्थात् वहां नवीनता-प्रदर्शन केवल नवीनता या विस्तार-मोह के कारण किया गया है, काव्य के मर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कहीं-कहीं रीतिकवियों की उद्भावनाएं अकाव्योचित भी हो गई हैं। जैसे खर, काक आदि के अंशों से युक्त नायिका-भेदों का विस्तार, अथवा प्रमाण आदि के भेदों के आधार पर कल्पित अलंकारों का प्रस्तार। वास्तव में हिन्दी के रीतिकवियों ने आरम्भ से ही ग़लत रास्ता अपनाया : उन्होंने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परन्तु संस्कृत के काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति तो भेद-विस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रों में अवकाश था उनकी ओर रीतिकवियों ने उचित-ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए, संस्कृत काव्यशास्त्र में कवि-कर्म के बाह्य रूप का जितना पूर्ण विवेचन है उतना उसके आंतरिक रूप का नहीं है; अर्थात् कवि-मानस की सृजन-प्रक्रिया का विवेचन यहां व्यवस्थित रूप से नहीं मिलता। हिन्दी का रीति-आचार्य इस उपेक्षित अंग को ग्रहण कर सकता था। यहां मौलिक विवेचन के लिए बड़ा अवकाश था, परन्तु परम्परा का अतिक्रमण करने का साहस वह नहीं कर सका। सामान्यतः उस युग में इतना साहस कोई कर भी नहीं सकता था। दूसरा क्षेत्र था व्यवस्था का; रीतिकाल तक संस्कृत काव्यशास्त्र का भेद-विस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई क्षेत्रों में एक प्रकार की अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गई थी। उदाहरण के लिए, ध्वनि का भेद-विस्तार हज़ारों तक, नायिका-भेद की संख्या भी सैकड़ों तक पहुँच चुकी थी। अलंकार वर्णन-शैली को छोड़ वर्ण्य-विषय के क्षेत्र में प्रवेश करने लग गए थे, लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक-दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे। परिणामतः भारतीय काव्य-शास्त्र की वह स्वच्छ व्यवस्था, जो मम्मट के समय में स्थिर हो चुकी थी, अस्तव्यस्त-सी हो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गई थी। पंडितराज जगन्नाथ जैसे मेधावी आचार्य ने उसे फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया; किन्तु उस युग की प्रवृत्ति विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर ही अधिक थी, अतः शास्त्रार्थ की अपेक्षा कवि-शिक्षा उसके अधिक अनुकूल पड़ती थी। हिन्दी का आचार्य भी उसी प्रवाह में बह गया; अपने समसामयिक पंडितराज का मार्ग ग्रहण न कर वह भानुदत्त और केशवमिश्र की परिपाटी का ही अनुसरण करने लगा। हमारे कवि-आचार्य पर एक और बड़ा दायित्व था, और वह था : हिन्दी की विशाल काव्य-राशि का अनुगम विधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतंत्र विधान की कल्पना करना। किन्तु उसने हिन्दी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी। लक्षणों के लिए उसने संस्कृत काव्यशास्त्र का अवलम्ब लिया और उदाहरणों का स्वयं ही नूतन निर्माण किया; इस प्रकार हिन्दी के समृद्ध काव्य का उसके लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। वास्तव में इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणों का अनुवाद और नूतन उदाहरणों की सृष्टि करते रहना आलोचक के मौलिक कर्तव्य-कर्म का निषेध करना था। आलोचना-शास्त्र मूलतः एक सापेक्षिक शास्त्र है; उसका आलोच्य साहित्य के साथ अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध है। अतः न तो केवल हज़ारों वर्ष पुराने लक्षणों और उदाहरणों का अनुवाद अभीष्ट था और न नये उदाहरणों की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्धि सम्भव थी। संस्कृत के आचार्यों ने जहां प्रायः आचार्यत्व और कवि-कर्म को पृथक् रखा था, वहां हिन्दी के आचार्य-कवियों ने दोनों को मिला दिया। इससे काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई, किन्तु काव्यशास्त्र का विकास न हो सका।

रीति-आचार्यों का दूसरा प्रमुख दोष यह था कि उनका विवेचन अस्पष्ट और उलझा हुआ था, फलतः उनके ग्रन्थों पर आधृत शास्त्रज्ञान कच्चा और अधूरा ही रहता है। इस अभाव के दो कारण थे : एक तो कुछ कवियों का शास्त्रज्ञान अपने-आप में निर्भ्रान्त नहीं था; दूसरे पद्य में साहित्य के सूक्ष्म-गंभीर प्रश्नों का समाधान सम्भव नहीं था। प्रतापसिंह जैसे प्रमुख आचार्य ने संस्कृत आचार्यों के मत सर्वथा अशुद्ध रूप में उद्धृत किये हैं; मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षण उनके शब्दों में इस प्रकार हैं :

साहित्यदर्पण मत काव्यलक्षण—

रसयुत व्यंग्य-प्रधान जहँ, शब्द अर्थ शुचि होइ।
उक्त युक्ति भूषण सहित, काव्य कहावै सोइ॥

काव्य-प्रकाश रसगंगाधर मत काव्यलक्षण—

अलंकार अरु गुन सहित, दोष रहित पुनि कृत्य।
उक्त रीति मुद के सहित, रसयुत वचन प्रवृत्य॥

—[काव्यविलास (हस्तलेख, पृ० १)]

वास्तव में इस प्रकार का अज्ञान अक्षम्य है; परन्तु इन कवियों की अपनी परिसीमाएं थीं।

उपर्युक्त दोषों के लिए अनेक परिस्थितियां उत्तरदायी थीं। एक तो संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा ही रीतिकाल तक आते-आते प्रायः निर्जीव हो चुकी थी। उस समय पंडित-राज को छोड़ कोई आचार्य मौलिक चिन्तन का प्रमाण नहीं दे सका। उस युग में कवि-शिक्षा का ही प्रचार अधिक रह गया था—जिसके लिए न मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन अपेक्षित था, न खण्डन-मण्डन अथवा पुनराख्यान। कवि-शिक्षा का लक्ष्य था रसिकों को सामान्य काव्य-रीति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की शिक्षा देना, जिज्ञासु मर्मज्ञ के लिए कवि-कर्म अथवा काव्यास्वाद के रहस्यों का व्याख्यान करना नहीं। रीतिकाव्य जिस वातावरण में विकसित हो रहा था उसमें रसिकता का ही प्राधान्य था। इन रसिक श्रीमन्तों को अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए केवल सामान्य कला-ज्ञान अपेक्षित था, गहन प्रश्नों पर विचार करने की न उनमें शक्ति थी और न धैर्य ही। अतः उनके आश्रित कवि लक्षणादि की रचना द्वारा उनका शिक्षण और सरस शृंगारिक उदाहरणों की सृष्टि द्वारा मनोरंजन करते रहे; सूक्ष्म शास्त्र-चिन्तन न उनके लिए ग्राह्य था और न इनके लिए आवश्यक। इसके अतिरिक्त हिन्दी में गद्य का अभाव भी एक बहुत बड़ी परिसीमा थी; तर्क और विचार-विश्लेषण का माध्यम गद्य ही हो सकता है, छन्द के बन्धन में बँधा हुआ पद्य नहीं। हिन्दी के सर्वांग-निरूपक आचार्यों ने, जो अपने शास्त्र-कर्म के प्रति जागरूक थे, वृत्तियों में गद्य का सहारा लिया है; किन्तु ब्रजभाषा का यह असमर्थ गद्य उनके मन्तव्य को सुलझाने की अपेक्षा अधिक उलझाने में ही सफल हुआ है।

अतः रीति-आचार्यों के योगदान का मूल्यांकन उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। ये कवि वस्तुतः शास्त्रकार नहीं थे, रीतिकार थे और उसी रूप में इनका विचार होना चाहिए। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं :

१. उद्भावक आचार्य, जिन्हें मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है : जैसे भरत, वामन, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुंतक आदि। ये शास्त्रकार की कोटि में आते हैं।

२. व्याख्याता आचार्य, जो नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धान्तों का आख्यान करते हैं। इनका कर्तव्य-कर्म होता है मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ प्रतिभा-भेद से इसी वर्ग के अन्तर्गत आएंगे।

३. तीसरा वर्ग है कवि-शिक्षकों का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस-सुबोध पाठ्य-ग्रन्थ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों को खण्डन-मण्डन द्वारा सुलझाने की कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पयदीक्षित, केशवमिश्र और भानुदत्त आदि की गणना इसी वर्ग के अंतर्गत की जाती है।

हिन्दी के रीति-आचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य-सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया, उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सर्वांग-निरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी; किन्तु खण्डन-मण्डन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में, केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर, वे इस स्थान के अधिकारी भी नहीं हो सकते। अन्ततः वे तृतीय वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्र के भाष्यकार, उनका काम तो शास्त्र की परम्परा को सरस रूप में हिन्दी में अवतरित करना था और इसमें वे निश्चय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।

अतएव हिन्दी के रीति-आचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा को हिन्दी में सरस रूप में अवतरित किया। इस प्रकार हिन्दी-काव्य को शास्त्र-चिंतन की प्रौढ़ि प्राप्त हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप में प्रस्तुत हुए। भारतीय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भाषाओं में हिन्दी को छोड़ अन्यत्र कहीं भी यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। इसके अपने दोष हो सकते हैं, परन्तु वर्तमान हिन्दी-आलोचना पर इसका सद्प्रभाव भी स्पष्ट है। अन्य भाषाओं में जहां संस्कृत-आलोचना से वर्तमान आलोचना का सम्बन्ध उच्छिन्न हो गया है, वहां हिन्दी और मराठी में यह अंतःसूत्र टूटा नहीं है। फलतः हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का स्पष्ट योगदान है। बौद्धिक ह्रास के उस अन्धकार-युग में काव्य के बुद्धि-पक्ष को जाने-अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योग-दान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है। रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के अन्तर्गत अंग-रूप में ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतन्त्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहाँ 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। मधुरा भक्ति से संप्रेरित शृंगार-भाव में जीवन के समस्त कटुभावों को निमग्न कर इन आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राणतत्त्व आनन्द की पुनःप्रतिष्ठा का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। रीति-युग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिकाभेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। देव जैसे कवियों ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में रसकुटिल, अधम व्यंजना पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार कर रसवाद का पोषण किया और रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद करते हुए रससिद्धान्त के सार्वभौम प्रभुत्व का प्रतिपादन किया। 'संयोग', 'शास्त्र का अपरिपक्व ज्ञान', 'युग की दूषित प्रवृत्ति' आदि कहकर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय नहीं है, इनके पीछे गहरी आस्था का बल था।

२. काव्य

भारतीय इतिहास में 'रीतिकाल' की भाँति हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यन्त अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरम्भ से ही इस पर आलोचकों की वक्र दृष्टि रही है। द्विवेदी-युग ने सदाचार-विरोधी कहकर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौन्दर्य-बोध के प्रति हीन भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इस पर समाजविरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ़ विषयवस्तु एवं अभिव्यंजना-प्रणाली को एकदम 'बासी' घोषित कर दिया।

इस प्रकार की आलोचनाएं निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं—इनमें बाह्य मूल्यों का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धान्त का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति का आलम्बन करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होने की आशंका नहीं रह जाएगी।

व्यापक स्तर पर विचार करने से काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएं प्राप्त होती हैं जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करती हैं : एक 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और दूसरी 'काव्य जीवन की समीक्षा है'। इनमें से पहली शुक्लजी की शब्दावली में 'आनन्द

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की सिद्धावस्था' और दूसरी 'साधनावस्था' को महत्त्व देती है। केवल भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, विश्व भर के वाङ्मय में काव्य के ये दो पृथक् रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस भेद के मूल में आंतरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोनों और उनका आख्यान करनेवाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाएं दो विभिन्न दृष्टिकोणों की द्योतक तो हैं ही। मेरी अपनी धारणा है कि किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय इस दृष्टि-भेद को सामने रख लेना आवश्यक है—एक ही मानक से दोनों को तोलने से किसी न किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशंका रहती है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्य-दृष्टि में, पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लें तो होमर या शेक्स-पियर और शेली की काव्य-दृष्टि में उपर्युक्त भेद स्पष्ट है : फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रौढ़ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उलटा भी हो सकता है—बिहारी की आलो-चना करते हुए पंडित पद्मसिंह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चांद को भी गहन लगने' की आशंका होने लगी। यद्यपि मैं स्वयं कवित्व और रस की मौलिक अखण्डता का समर्थक हूं—किन्तु यह अखण्डता तो अंतिम स्थिति में ही प्राप्त होती है, उससे पहले बहुत दूर तक उपर्युक्त भेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीतिकाल का उचित मूल्यांकन करने के लिए इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' या 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता। किंतु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है—जीवन के मार्ग पर धीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ही किंतु कुछ क्षणों के लिए किनारे पर लगे वृक्षों की शीतल छाँह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम-से-कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और वह आवश्यकता अभी निश्शेष नहीं हुई—कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव-मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है। घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इसमें संदेह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था—उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अतः उसके द्वारा प्राप्त आनन्द भी उतना उदात्त नहीं था। यहां मैं इस प्रश्न को छेड़ना नहीं चाहता कि रस की कोटियां होती हैं या नहीं—मेरा मन्तव्य केवल यही है कि काव्य-वस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य-रस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव निश्चय ही पड़ता है और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें संदेह नहीं; इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। वास्तव में मैं इस प्रसंग में एक ऐसे सत्य का फिर से उद्घाटन करना चाहता हूं जो अनेक नैतिक-सामा-जिक काव्य-सिद्धांतों के घटाटोप में आज छिप गया है और वह यह है कि कला का एक अतर्क्य उद्देश्य मनोरंजन भी है : यह मनोरंजन मानव-जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसकी पूर्ति करने वाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असंदिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए—उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति में उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल्य नहीं है क्योंकि कवि-शिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय-समाज की रुचि-परिष्कार का भी अत्यन्त उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य का महत्त्व असंदिग्ध है। वास्तव में हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीति-कवियों ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप में रीति-कविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की परिचायिका ही। काव्यकला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

कला के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से भी रीति-कवियों की उपलब्धि कम नहीं है। ब्रजभाषा के काव्यरूप का पूर्ण विकास इन्होंने ही किया। वह कांति, माधुर्य और मसृणता आदि गुणों से जगमग हो उठी—शब्दों को जैसे खराद पर उतार कर कोमल और चिक्कण रूप प्रदान किया गया। सवैया और कवित्त की रेशमी ज़मीन पर रंग-बिरंगे शब्द माणिक-मोती की तरह ढुलकने लगे। इन दोनों छन्दों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीति-कवियों का छन्द-विधान एक बँधी लीक पर ही चलता है : उसमें स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओं के लिए अवकाश नहीं है। परन्तु यह दृष्टि-दोष है : सवैया और कवित्त के विधान के अंतर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लय-परिवर्तन कर रीति-कवियों ने अपनी कोमल संगीत-रुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व युग के तुलसी और गंग जैसे समर्थ कवियों और उधर रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द जैसे प्रवीण कलाकारों के छन्द-विधान के साथ तुलना करने पर अंतर स्वतः स्पष्ट हो जाता है—ये कवि अपने सम्पूर्ण काव्य-वैभव के होते हुए भी रीतिकवियों के छंद-संगीत की सृष्टि करने में नितांत असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साज-सज्जा और अलंकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि उसमें अलंकरण-सामग्री का वैसा वैविध्य नहीं है जैसा सूर और तुलसी में मिलता है—वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नहीं है जैसा कि पंत में मिलता है, परन्तु विलास-युग के रंगोज्ज्वल उपमानों और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अतः इस कविता का कलात्मक रूप अपने आप में विशेष मूल्यवान् है—और इसी रूप में इसके महत्त्व का आकलन होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि रीतिकाव्य में आपको सूर, मीरा और घनानन्द की जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी, न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यों के समान व्यापक जीवन-समीक्षा और छायावादी कवियों का सूक्ष्म सौंदर्य-बोध ही यहां उपलब्ध होगा, परन्तु मुक्तक-परम्परा की गोष्ठीमण्डन कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य में हुआ वैसा न उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही सम्भव हो सका।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय काव्यशात्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र में कविता के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कलारूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक-परम्परा का अपूर्व विकास कर व्रजभाषा के कला-प्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार-प्रसाधन द्वारा रीतिकवियों ने हिन्दी काव्य की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। एकान्त वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य-विधा अपना उदाहरण आप ही है : किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

केशवदास का आचार्यत्व

प्रिय गोपालदास,

तुम्हारा पत्र मिला। विषय मेरे अनुकूल है और सुकर भी। सुकर इसलिए कि अभी कुछ दिन पूर्व मैंने अपने विद्यार्थियों के समक्ष केशव के आचार्यत्व पर भाषण दिया था। मेरे आलोचक और अध्यापक का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है—दोनों का विकास भी साथ-साथ हुआ है, इसलिए मेरी आलोचना-पद्धति निर्णय की अपेक्षा व्याख्यान-विश्लेषण को ही अधिक ग्रहण करती रही है। मेरा आलोचक काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र, कामशास्त्र आदि का अध्ययन करने जहां-जहां गया है, अध्यापक उसके साथ-साथ गया है। अब विश्वविद्यालय में आकर उनका साहचर्य और भी घनिष्ठ हो गया है। पहले परोक्ष रूप से मेरे सामने शिष्य-वर्ग रहा करता था; अब साक्षात् जिज्ञासु-समाज उपस्थित रहता है। इसलिए मैं तुम्हें अपने उस भाषण का ही एक अभिलेख भेज रहा हूं। थोड़ा व्यक्तिगत हो गया है, परन्तु उससे विषय की हानि नहीं हुई।

सवा ग्यारह पर घंटा बजा और मैं क्लास की ओर चल दिया। क्लास के बाहर पहुँचते ही मैंने देखा कि आशा स्याही से रंगे हुए हाथ धोने के लिए जा रही थी। मुझे देखकर ठिठक गई और कदाचित् उसे यह निर्णय करने में देर लगी कि आगे जाये या कक्षा में ही लौट आये। मैंने हाज़िरी लेना शुरू किया, जिसके उत्तर में 'यस सर' या 'यस प्लीज़' की आवाज़ें आने लगीं। 'यस प्लीज़' का रहस्य कुछ दिन तक मेरी समझ में नहीं आया था। हम लोग अपने विद्यार्थी-जीवन में 'यस सर' के ही अभ्यस्त थे—'यस प्लीज़' कदाचित् व्याकरण-सम्मत भी नहीं है। वैसे भी मेरी धारणा रही है कि 'सर' सम्बोधन का अधिकारी गुरु से अधिक और कोई नहीं है। अपने सरकारी जीवन में, जहां 'सर' का एक विशिष्ट औपचारिक महत्त्व है और सुनते हैं कि ज्येष्ठ अधिकारी विधि के बल से अपने अधीनस्थ अधिकारी को 'सर' कहने के लिए बाध्य कर सकता है, मुझे अपने समवयस्क तथा विद्या, बुद्धि और वय में अपने से हीनतर व्यक्तियों के प्रति इसका प्रयोग करने में बड़ी कठिनाई होती थी। विश्वविद्यालय में ऐसे छात्र-छात्राओं के मुख से, जो स्वभाव से अत्यन्त विनीत और श्रद्धावान् थे, 'यस प्लीज़' सुनकर थोड़ा आश्चर्य हुआ था और मेरा विश्लेषणशील मन तुरन्त ही उसका कारण खोजने लग गया था। पहले तो मैं समाजशास्त्री आलोचक की भाँति इस प्रश्न का समाधान राजनीतिक-सामाजिक कारणों में ढूंढ़ने लगा। मेरा विद्यार्थी और अध्यापक-जीवन परतंत्र भारत में व्यतीत हुआ था। ये स्वतंत्र भारत के छात्र-छात्राएं हैं, देश-काल के प्रभाववश इन्होंने कदाचित् दास्य-भाव का त्याग कर सख्य-भाव का ग्रहण कर लिया है। हम लोग बेचारे तुलसीदास ही थे; ये लोग सूरदास हो गये हैं! परन्तु न जाने क्यों, इस समाधान से मेरा मन संतुष्ट नहीं हुआ। मुझे लगा कि जैसे प्रगतिशील समालोचक की भाँति मैंने भी पेट के दर्द का समाधान पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में ढूंढ़ने का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रयत्न किया है। और वास्तव में इस समस्या का समाधान इतना दूरस्थ नहीं था। आज विश्व-विद्यालय के जीवन में सह-अध्ययन के साथ-साथ सह-अध्यापन भी होता है, अतएव 'यस सर' की अभ्यस्त जिह्वा अपने अभ्यास-दोष के कारण पुंवाची सम्बोधन के प्रयोग से कहीं महिला-प्राध्यापक का अपमान न कर दे, इस भय से आज का सावधान छात्र सतर्क होकर उभयवाची 'प्लीज़' का प्रयोग करता है। इस समाधान से मेरा परितोष तो हुआ ही, साथ ही हँसी भी आयी और अपने छात्र-जीवन की एक घटना याद आ गई जब हमारी महिला-प्राध्यापक ने 'सर' और 'मैडम' के बीच लड़खड़ाते हुए हम लोगों को डाँट कर कहा था—'ऐड्रेस मी ऐज़ सर'। ख़ैर, यह तो प्रसंगवश मैं यों ही लिख गया। चार-पाँच मिनट तक हाज़िरी लेने का क्रम चलता रहा। पतली-मोटी, मधुर-कर्कश आवाज़ें मेरे कानों में आती रहीं और मेरा हाथ यंत्रवत् आगे बढ़ता जा रहा था कि बीच में अचानक ही हड़बड़ी के साथ एक तेज़ आवाज़ ने उसे रोक दिया। मैंने आँख उठा कर देखा तो मालूम हुआ कि विमला रानी ने चप्पल घसीटते-घसीटते, समय पर आकर, अपना नाम पकड़ ही लिया। जैसे-तैसे यह कार्य समाप्त हुआ। प्रौक्सी आदि का कोई विघ्न नहीं पड़ा, उसके लिए अवकाश भी नहीं रह गया था। मैंने औपचारिक रूप से घोषणा कर दी थी कि जिसे काम हो वह चला जाया करे; किन्तु चोर की तरह नहीं, भले आदमी की तरह। निश्शंक भाव से। और इस अहिंसा के सामने सुरेशचन्द्र शर्मा और विश्वामित्र-जैसे महा-रथी भी शस्त्र-समर्पण कर चुके थे।

मैंने व्याख्यान आरम्भ किया :

आचार्य शब्द के दो अर्थ हैं : साधारण अर्थ है दीक्षा आदि देने वाला गुरु और विशिष्ट अर्थ है किसी सिद्धांत अथवा सम्प्रदाय का प्रवर्तक। धीरे-धीरे इस शब्द का प्रयोग इन दोनों अर्थों से सम्बद्ध अन्य अर्थों में भी शिथिल रीति से होने लगा। उदाहरण के लिए, शिक्षक या अध्यापक के अर्थ में, विषय-विशेष के निष्णात विद्वान्—उस्ताद—के अर्थ में, और भी शिथिल रीति से, विद्वान् अथवा पंडित के अर्थ में भी। इस प्रकार आचार्य शब्द का मूल पारिभाषिक रूप आज विकृत हो गया है, फिर भी इसके विषय में एक बात अब भी यथावत् रूढ़ है और वह यह कि आचार्य का सम्बन्ध शास्त्र से है। आचार्य शास्त्रकार अथवा शास्त्र-गुरु या कम-से-कम शास्त्र-वेत्ता अवश्य होता है। साहित्य के क्षेत्र में भी आचार्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध काव्य से न होकर काव्यशास्त्र से ही है। काव्य की रचना करने वाला 'कवि' और काव्यशास्त्र की रचना करने वाला 'आचार्य' कहलाता है। मिश्र-बन्धुओं ने आचार्य के कर्तव्य-कर्म की व्याख्या इस प्रकार की है : "आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखाते हैं, मानो वे संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णन में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनु-पयोगी।" यह आचार्यत्व का अत्यन्त स्थूल रूप है। यह वास्तव में रीतिकार का लक्षण है और हिन्दी में उन दिनों आचार्य का अर्थ रीतिकार ही था। केशव के आचार्यत्व का विवेचन करते हुए इन विभिन्न अर्थों को ध्यान में रखना चाहिए : १. शास्त्रकार, अर्थात् नवीन काव्य-सिद्धांत या काव्य-सम्प्रदाय का प्रवर्तक; २. शास्त्र-भाष्यकार, अर्थात् शास्त्र का व्याख्याता तथा रीति-कार एवं कवि-शिक्षक; ३. काव्यशास्त्र का विद्वान्।

विवेचन का क्षेत्र : केशव ने काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में केवल दो ग्रन्थ लिखे हैं : 'कवि-प्रिया' और 'रसिकप्रिया'। लाला भगवानदीनजी का अनुमान है कि इन्होंने कदाचित् छन्द पर भी एक ग्रन्थ लिखा था, परन्तु वह अप्राप्य है। कविप्रिया का प्रतिपाद्य अलंकार है। इसमें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सामान्य और विशेष अलंकारों का, अर्थात् वर्ण्यविषय से सम्बद्ध और वर्णन की शैली से सम्बद्ध काव्य-सौन्दर्य के उपकरणों का, वर्णन अथवा विवेचन है। रसिकप्रिया रस का ग्रन्थ है। इसमें रस के अंग-उपांगों का, विशेषत: श्रृंगार रस के अंग-उपांगों का, नायिका-भेद-सहित विस्तृत वर्णन है। इस प्रकार केशव के प्रतिपाद्य विषय हैं, अलंकार और रस—विशेष रूप से श्रृंगार रस, जिसके अन्तर्गत नायिका-भेद का भी समावेश है। रसिकप्रिया में वृत्तियों का भी संक्षिप्त वर्णन है। सम्भव है छन्दशास्त्र भी उनका विषय रहा हो और रामचन्द्रिका के लेखक के लिए वह सहज स्वाभाविक ही था। इस प्रकार आठ अंगों में से उन्होंने दो-तीन अंगों का ही विवेचन किया; कुल मिलाकर उनका क्षेत्र सीमित ही है।

कालक्रमानुसार रसिकप्रिया की रचना कविप्रिया से पूर्व हुई थी। इसका अभिप्राय यह है कि केशव की प्रवृत्ति आरम्भ में रसवाद की ओर थी और बाद में प्रौढ़ि प्राप्त कर वह अलंकारवाद की ओर हो गई। मेरे इस वाक्य पर, मैंने देखा, मधुर की दृष्टि जिज्ञासा से चमक उठी। कुछ क्षणों तक उसने इधर-उधर देखा कि कहीं कोई यह तो नहीं समझता कि मैं अपने ज्ञान का प्रदर्शन कर रही हूं, और फिर प्रश्न किया: 'लेकिन प्रौढ़ि की दृष्टि से तो अलंकारवाद की अपेक्षा रसवाद का ही स्थान ऊँचा है; ज्यों-ज्यों अलंकारशास्त्र का विकास होता गया, त्यों-त्यों अलंकारवाद की अमान्यता और रसवाद की मान्यता की ही पुष्टि होती गई। फिर केशव के विषय में ऐसा किस प्रकार हुआ?' प्रश्न अत्यन्त सतर्क था। मैंने उत्तर दिया, 'हां, तुम्हारी शंका ठीक है, यह विकास-क्रम के विपरीत है। उसके अनुसार अलंकारवाद काव्यशास्त्र की आरम्भिक स्थिति की और रसवाद अथवा रस-ध्वनिवाद उसकी विकसित अवस्था की सिद्धि थी। केशव ने अपने यौवनकाल में स्वभाव से रसवाद के अंगभूत श्रृंगारवाद को ग्रहण किया, परन्तु उसके उपरान्त उन्होंने काव्यशास्त्र का और गहन अध्ययन करते हुए प्राचीनों के मत को प्रमाण मान कर अलंकारवाद को स्वीकार कर लिया।' इसी क्रम से हम पहले केशव के रस-विवेचन की और तदुपरांत अलंकार-विवेचन की समीक्षा करते हैं।

रस-विवेचन: केशव ने यों तो नव-रस का वर्णन किया है, परन्तु उनका मूल प्रतिपाद्य श्रृंगार ही है, जिसे उन्होंने स्पष्ट रूप से रसराज माना है: "सबको केशोदास हरि नायक है श्रृंगार।" अपने मत के पोषण में उन्होंने सभी रसों का समावेश श्रृंगार में कर दिया है—हास्यादि मित्र-रसों का ही नहीं, रौद्र और बीभत्सादि अमित्र-रसों का भी उन्होंने श्रृंगारमय वर्णन किया है। श्रृंगार का रसराजत्व केशव की कोई अपनी नवीन कल्पना नहीं थी; शताब्दियों-पूर्व अग्निपुराण, श्रृंगारतिलक तथा श्रृंगार-प्रकाश में उसकी घोषणा हो चुकी थी। अग्निपुराण की स्थापना है कि 'श्रृंगारी चेत्कवि: काव्ये जातं रसमयं जगत्।' इसकी व्याख्या करते हुए अग्निपुराण के लेखक अथवा सम्पादक ने लिखा है, 'आनन्द से अहंकार की उत्पत्ति होती है, अहंकार से रति की, जिसके कि श्रृंगार, हास्य आदि भिन्न-भिन्न रूप-मात्र हैं।' इसी की प्रतिध्वनि हमें भोज के श्रृंगार-प्रकाश में मिलती है। उनका मत है कि विद्वान् केवल गतानुगतिकता के कारण ही श्रृंगार, वीर आदि रसों का वर्णन करते हैं। वास्तव में रस तो केवल एक ही है: श्रृंगार। हमारा अहंकार ही प्रतिकूल परिस्थितियों के अभाव में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि के द्वारा आनन्द-रूप में संवेद्य होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति, हास आदि भाव से ही उत्पन्न होते हैं; वे स्वयं रसत्व को कभी प्राप्त नहीं होते। वे तो श्रृंगार की शोभा को बढ़ाते हैं, जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणें अग्नि की कांति को बढ़ाती हैं। इस-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिए स्थायी, संचारी आदि का प्रपंच मिथ्या है। शृंगार ही चतुर्वर्ग का कारण है, वही रस है। 'एकोनपंचाशद्भावा वीरादयो मिथ्या रसप्रवादाः शृंगार एवैकः चतुर्वर्गकारणं स रस इति।' अग्निपुराण और शृंगार-प्रकाश की यह स्थापना दार्शनिक आधार पर स्थित है। उसमें जीवन के मौलिक तत्त्वों के आधार पर शृंगार की महत्ता प्रतिपादित की गई है जो मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि की अत्याधुनिक मान्यताओं से बहुत भिन्न नहीं है। परन्तु केशव की दृष्टि उसके मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार तक नहीं पहुँच सकी; उन्होंने केवल एक अर्ध-दार्शनिक अथवा पौराणिक आधार को ग्रहण करते हुए सभी रसों का शृंगार में समावेश कर दिया है।

श्री बृषभानुकुमारि हेतु 'शृंगार' रूपमय।
वास 'हास' रस हरे, मात-बंधन 'करुनामय'॥
केशी प्रति अति 'रौद्र', 'वीर' मारो वत्सासुर–
'भय' दावानल पान, पियो 'बीभत्स' बकी उर॥
अति 'अद्भुत' वंच विरंचि मति, 'शांत' संतते शोच चित।
कहि केसव सेवहु रसिक जन नवरस में ब्रज-राज नित॥

उपर्युक्त स्तुति-छंद में कवि ने नौ रसों का कृष्ण के व्यक्तित्व में समावेश कर अपने सिद्धान्त के लिए आधार-भूमि तैयार की है। कृष्ण जिस प्रकार शृंगारमय होते हुए भी नवरस-रूप धारण करते हैं उसी प्रकार शृंगार भी नवरस में परिणत हो सकता है अथवा नवरस का शृंगार के साथ तादात्म्य हो सकता है। परन्तु केशव इस तात्त्विक दृष्टि का निर्वाह नहीं कर सके। रसिकप्रिया के अन्त में जहां उन्होंने शृंगारेतर रसों के लक्षण-उदाहरण दिये हैं, वहां वे न तो इनके स्वरूप को स्पष्ट कर सके हैं और न इनमें से किसी रस का परिपाक ही कर सके हैं। ये रस संचारी की स्थिति से आगे नहीं बढ़ सके; और कहीं-कहीं तो वे अपने स्वरूप से भी सर्वथा स्वतन्त्र हो गये हैं। उनके करुण में शोक की उद्बुद्धि नहीं होती; केवल कृष्ण अथवा राधिका के प्रति सहानुभूति का उदय होता है। वहां रस का परिपाक ही नहीं है, केवल भाव-दशा है। वास्तव में केशव ने करुण का लक्षण भी परम्परा से थोड़ा हट कर किया है। उन्होंने इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति को करुण का मूल आधार न मानकर प्रिय के विप्रियकरण, अर्थात् इष्ट के अनिष्ट, को ही माना है। यह लक्षण थोड़ा विचित्र अवश्य लगता है, क्योंकि किसी मान्य आचार्य ने इस प्रकार का लक्षण नहीं किया। केशव ने या तो किसी अप्रसिद्ध ग्रंथ के आधार पर इसे ग्रहण किया है, या फिर हमारा अनुमान है कि इष्ट का नाश और अनिष्ट की प्राप्ति का अर्थ उन्होंने 'इष्ट का अनिष्ट' कर लिया है। केशव ने ऐसी अनेक त्रुटियां अनेक स्थानों पर की हैं, अतएव यह शंका भी अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त रौद्र, वीर और भयानक का एकान्त शृंगारमय वर्णन है। रौद्र में एक ओर तो सखी द्वारा राधा के मान का निवारण है: 'तेरे अंग के सभी उपमान तो तेरे भय से भाग गये, अब यह रुद्र-रूप तूने किस पर धारण किया है?' दूसरी ओर रति-रण में कृष्ण के रौद्रभाव का चित्रण है। इसी प्रकार भयानक का, राधा और कृष्ण पर, शृंगारपरक प्रभाव दिखाया गया है कि जिसके कारण कामिनियां प्रिय के कंठ से लग जाती हैं।

कुछ छात्र-छात्राओं को इस पर थोड़ी हँसी-सी आयी; परन्तु अध्यापक की शास्त्र-गम्भीर मुद्रा में किसी प्रकार का मार्दव न देखकर वह यथास्थान विलीन हो गई। फिर भी ललित-मोहन की हँसी नहीं रुकी और उसने अपने पास बैठे हुए उमाकान्त और सुरेश गुप्त की ओर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देखा। ये दोनों छात्र स्वभाव से गम्भीर थे; ललित के चापल्य-दोष से बचने के लिए इन्होंने खीझ कर उसकी ओर से मुंह मोड़कर और भी संलग्न भाव से नोट लिखने शुरू कर दिये।

बीभत्स में भी श्रृंगार का ही प्रसंग है, फिर भी उसका परिपाक असफल नहीं कहा जा सकता। परन्तु बीभत्स का लक्षण देते हुए केशव ने स्थायी भाव रूप में जुगुप्सा शब्द का प्रयोग नहीं किया; ग्लानि का भी प्रयोग कुछ आचार्यों के अनुसरण पर मान्य हो सकता था, परन्तु केशव ने उसे 'निन्द-मय' माना है। रसिकप्रिया के टीकाकार सरदार कवि ने 'निन्दा-मय' पाठ की ओर भी संकेत किया है। निन्दा और जुगुप्सा अथवा ग्लानि में बड़ा अन्तर है। आत्म-निन्दा ग्लानि का मूल रूप है, दूसरों से भी अपनी निन्दा सुनकर ग्लानि होती है; फिर भी निन्दा और ग्लानि पर्याय नहीं हो सकते। और इसके अतिरिक्त जुगुप्सा में जो शारीरिक संवेदन अन्तर्भूत है उसका तो निन्दा से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं है। सारांश यह है कि केशव का रस-विवेचन न तो अधिक तर्क-संगत है और न तात्त्विक। उसमें जो भिन्नता है वह भी किसी तर्क-पुष्ट अथवा मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित नहीं है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका कारण प्रायः अपरिपक्व ज्ञान ही है। केशव ने श्रृंगार की रसराजता का विवेचन न तो अग्निपुराण अथवा श्रृंगार-प्रकाश की भाँति सूक्ष्म दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक पद्धति पर किया है, और न वह अपनी उस मूल कल्पना का ही निर्वाह कर सके हैं जिसका संकेत उन्होंने अपने मंगल-छन्द में किया है। वह कल्पना भी अपने-आप में अत्यन्त सार्थक है—'भगवान् मूलतः आनन्द अर्थात् श्रृंगार-रूप होते हुए भी नाना-रसमय हैं।' परन्तु केशव से इसका भी निर्वाह नहीं हो सका; अनेकता की मूलवर्ती एकता का ग्रहण भी वे नहीं कर सके। इसके स्थान पर उन्होंने श्रृंगार की परिधि के भीतर कुछ अनुभावों की सहायता से रौद्र, बीभत्स आदि रसों का समावेश करने का असफल प्रयत्न किया है। उनकी इस असफलता का मूल कारण यह है कि किसी रस का परिपाक उसके स्थायी की उद्बुद्धि द्वारा होता है, अनुभाव-मात्र के चित्रण से नहीं। उदाहरण के लिए, रति-रण में कृष्ण के रुद्र अनुभाव श्रृंगार के ही परिपाक में सहायक होते हैं; उनके द्वारा रौद्र रस का परिपाक सम्भव नहीं है। केशव तथा देव आदि हिन्दी-कवियों ने यही मौलिक त्रुटि की है। श्रृंगार के क्षेत्र में केशवदास ने एक वैचित्र्य प्रस्तुत किया और वह है श्रृंगार का दो वर्गों में विभाजन : प्रच्छन्न और प्रकाश। परम्परा से भिन्न होते हुए भी यह केशव की अपनी उद्भावना नहीं है; इसके लिए वे भोज के ऋणी हैं। और फिर शास्त्र की दृष्टि से यह विभाजन अधिक मौलिक एवं तर्क-संगत भी नहीं है; क्योंकि प्रच्छन्न और प्रकाश के भेद का निर्वाह श्रृंगार की सभी स्थितियों में सम्भव नहीं है। प्रौढ़ा स्वकीया का प्रच्छन्न श्रृंगार कैसे निभ सकता है ! या मुग्धा परकीया का प्रकाश श्रृंगार सामान्यतः कैसे सम्भव हो सकता है !

भाव के विषय में भी केशवदास में परम्परा से कुछ वैचित्र्य मिलता है। उन्होंने भाव की परिभाषा भी कुछ विचित्र-सी ही की है और इसके पाँच भेद माने हैं।

उदाहरण :

आनन, लोचन, बचन मग प्रकटत मन की बात।
ताही सों सब कहत हैं, भाव कविन के तात॥

इसका अर्थ यह है कि आनन, लोचन और वचन के द्वारा प्रकट होने वाली मन की बात—मनोविकार—ही भाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परिभाषा अत्यन्त अस्पष्ट और अपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि भाव मनोविकार का ही नाम है और उसके माध्यम भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दो प्रकार के ही होते हैं : आंगिक और वाचिक। परन्तु यह वर्णन अत्यन्त स्थूल है। सम्भव है, केशव ने इसका संकेत नाट्य-शास्त्र से ही ग्रहण किया हो :

वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।

हो सकता है कि केशव ने इसी का अत्यन्त स्थूल अर्थ कर दिया हो; क्योंकि दोनों लक्षणों के शब्दों में बहुत भेद नहीं है : 'काव्यार्थ' के स्थान पर 'मन की बात' का प्रयोग करके केशव ने इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया हो। केशव ने पाँच प्रकार के भाव माने हैं :

भाव सु पाँच प्रकार के, सुनु विभाव अनुभाव।
अस्थाई सात्त्विक कहें, व्यभिचारी कवि-राव॥

यह भी भरत के आधार पर ही किया गया है। भरत ने भी इसी प्रकार विभाव, अनुभाव (जिनके अन्तर्गत सात्त्विक भाव भी आ जाते हैं), व्यभिचारी और स्थायी सभी को भाव ही माना है; क्योंकि उन सभी के द्वारा काव्यार्थ का भावन होता है। हाव और नायिका-भेद के प्रसंगों में भी केशव ने कुछ विचित्रता दिखाई है, पर उनके प्रायः सभी तथाकथित नवीन भेद विश्वनाथ और भानुदत्त में किसी-न-किसी रूप में मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए, उन्होंने प्रचलित दस हावों के स्थान पर तेरह हाव माने हैं जिनमें से 'हेला' विश्वनाथ का उसी नाम का अंगज अलंकार है और 'मद' कृति-साध्य अलंकार है। ऐसे ही उदाहरण नायिका-भेद के प्रसंग में दिये जा सकते हैं।

अलंकार-विवेचन : केशव का दूसरा वर्ण्य विषय है अलंकार। यह सुन कर सुरेशचन्द्र शर्मा ने सोचा कि अभी तो यह पुराण काफ़ी लम्बा मालूम पड़ता है, थोड़ा-सा मध्यावकाश मना लेना चाहिए। इसलिए वह चुपके-से नशा-पानी से तरो-ताज़ा होने के लिए बाहर चले गए। मेरा व्याख्यान चलता रहा : अलंकार के उन्होंने दो वर्ग किये हैं—सामान्य और विशेष। विशेष के चार भेद हैं :

साामन्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
वर्न, वर्न्य, भू-राज-श्री, भूसण केसवदास॥

अर्थात् वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री—ये वास्तव में वर्ण्य विषय हैं जिनका समावेश इनकी अपनी विषयगत चारुता के कारण काव्य को अलंकृत करता है। दूसरे प्रकार के अलंकार विशिष्टालंकार हैं जिनके अन्तर्गत उपमा-रूपकादि आते हैं। शुक्लजी के शब्दों में, वास्तविक अलंकार ये ही हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध वर्णन-शैली से है। हिन्दी के विद्यार्थी के लिए यह वर्गीकरण कुछ नवीन-सा लगता है परन्तु वास्तव में यह पूर्व-ध्वनिकाल के प्राचीन आचार्यों की देन है जो कालान्तर में काव्यशास्त्र के सिद्धान्त स्थिर हो जाने पर अमान्य घोषित कर दिया गया था। भामह, दण्डी और वामन आदि प्राचीनों ने अलंकार को करण न मानकर कर्त्ता माना है। अर्थात् उसे सौन्दर्य का विधायक या एक प्रकार से सौन्दर्य का पर्याय ही माना है। वामन ने स्पष्ट लिखा है, 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलकारः।' काव्य की सार्थकता अलंकार से है और अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य। इस प्रकार ये आचार्य अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं करते; काव्य का विषयगत सौन्दर्य और वर्णन-शैली की चारुता दोनों ही इनके अनुसार अलंकार हैं। इसीलिए दण्डी ने अलंकार को काव्य-शोभा का विधायक तत्त्व माना है, शोभा की वृद्धि करने वाला सहायक तत्त्व या साधन नहीं। इस प्रकार कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध सभी बातें अलंकार के अन्तर्गत आ जाती हैं। ध्वनि की स्थापना के उपरान्त मान्य आचार्यों ने इस भ्रांति का निराकरण किया

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और अलंकारों को शैली के उपकरण-मात्र माना। फिर भी कवि-शिक्षा के ग्रंथों में इस परिपाटी का अनुसरण होता रहा। 'काव्यमीमांसा' के उपरान्त अमर की 'काव्यकल्पलतावृत्ति' और तदुपरान्त केशवमिश्र-कृत 'अलंकारशेखर' में कवि-समय के रूप में काव्य के वर्ण्य विषय सामान्यालंकार का विवेचन चलता रहा। केशव ने सिद्धान्त दण्डी और वामन आदि से और वर्णन प्राय: अमर और केशवमिश्र से ग्रहण किया। इस प्रकार, उपर्युक्त विभाजन न तो केशव की अपनी उद्भावना है और न वह तर्कपुष्ट तथा मान्य है। वह काव्यशास्त्र के विकास की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है, विकसित अवस्था का नहीं।

विशिष्टालंकारों के विवेचन में केशव दण्डी के पूर्णतया ऋणी हैं। उनके लक्षण और कहीं-कहीं उदाहरण भी काव्यादर्श से लिये गए हैं। केशव के अलंकार-वर्णन में दण्डी के वर्णन से तीन-चार प्रकार की भिन्नता है : कुछ अलंकारों के लक्षण दण्डी से भिन्न हैं, कुछ अलंकारों का विपर्यय हो गया है, दण्डी के कुछ भेद केशव ने स्वीकार नहीं किये और कुछ अतिरिक्त भेदों की उद्भावना की है। परन्तु यह भिन्नता केशव के लिए शुभाशंसा की बात नहीं है; क्योंकि लक्षणों की भिन्नता तथा अलंकारों का विपर्यय प्राय: भ्रान्तिजन्य है, केशव दण्डी का आशय ही नहीं समझे हैं। उदाहरण के लिए, केशव ने अर्थान्तरन्यास के उपभेदों के नाम तो दण्डी के अनुसार रखे हैं, परन्तु उनके लक्षण-उदाहरण भिन्न हैं; स्पष्टतया ही केशव यहां दण्डी का आशय नहीं समझे। इसी प्रकार केशव की 'अपह्नुति' 'मुकरी' बन गई है। 'रूपक-रूपक' साधारण 'रूपक' मात्र रह गया है। कई स्थानों पर केशव ने प्रतीयमान अर्थ को वास्तविक अर्थ ही मान लिया है जिससे चमत्कार ही नष्ट हो गया है। जैसे, 'आक्षेप' में उन्होंने वास्तविक निषेध को ही अलंकार का लक्षण मान लिया है, या सभी प्रकार के आशीर्वादों में ही अलंकारत्व मान लिया है। दण्डी के कुछ भेद केशव ने छोड़ दिये हैं। आक्षेप के चौबीस भेदों में से उन्होंने बारह ग्रहण किये हैं, और उपमा के बत्तीस भेदों में से बाईस ग्रहण किये हैं, जिनमें अनेक के नामादि भी भिन्न हैं। परन्तु यहां भी यह नहीं समझना चाहिए कि केशव ने अतिव्याप्ति-अव्याप्ति आदि को दूर करते हुए अलंकारों में व्यवस्था स्थापित करने के लिए यह काट-छाँट की है। केशव ने यह ग्रहण और त्याग सर्वथा मनमाने ढंग से किया है; उसके पीछे न कोई तर्क है और न व्यवस्था। अतिरिक्त अलंकार-भेदों के लिए भी केशव को कोई विशेष श्रेय नहीं दिया जा सकता; क्योंकि उनमें से कुछ तो चमत्कारहीन होने के कारण अलंकार ही नहीं बन सके। जैसे, संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा में औपम्य का ही अभाव है। अतएव उनको अलंकार ही नहीं माना जा सकता। गणना में तो किसी प्रकार का अलंकारत्व है ही नहीं; यदि उसे अलंकार माना भी जाये तो भी वह सामान्यालंकार ही रहेगा। और, वास्तव में 'काव्यकल्पलतावृत्ति' और 'अलंकारशेखर' में उसका इसी रूप में वर्णन भी है।

दोष-विवेचन : केशव ने दोषों के दो वर्ग किये हैं। प्रमुख वर्ग के अन्तर्गत उन्होंने पाँच दोषों की गणना की है :

अंध, बधिर अरु पंगु तजि, नगन, मृतक मतिशुद्ध।

अन्ध, अर्थात् काव्य-परम्परा के विरुद्ध; बधिर, जहां परस्पर-विरोधी शब्दों का प्रयोग हो; पंगु छंद-विरुद्ध; नग्न अर्थात् निरलंकार; और मृतक, जिसमें अर्थ का ही अभाव हो। केशव के इन दोषों का आधार क्या है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि वे उनकी अपनी कल्पना ही हों, अथवा किसी अप्रसिद्ध कवि-शिक्षा-ग्रंथ से उद्धृत हों; परन्तु

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इनकी स्थिति विशेष प्रामाणिक नहीं है। उदाहरण के लिए, नग्न-दोष, जहां किसी स्वीकृत अलंकार का अभाव हो, अपने-आप में कोई दोष नहीं है; क्योंकि गम्भीर आचार्यों ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' स्पष्ट ही कह दिया है। और, वास्तव में केशव ने जो छंद उद्धृत किया है वह दोषपूर्ण अथवा त्याज्य छन्द न होकर सरस छन्द है। उसमें उक्ति-चमत्कार का भी अभाव नहीं है, चाहे वह चमत्कार परिगणित अलंकारों के अन्तर्गत भले ही न आता हो। इसी प्रकार 'मृतक' दोष भी असिद्ध-सा ही है; क्योंकि काव्य-दोष केवल काव्य में हो सकता है, और अर्थहीन वाक्य तो भाषा भी नहीं कहा जा सकता, काव्य की बात तो दूर रही। आगे चलकर केशव ने अपार्थ-दोष में इसी की पुनरावृत्ति की है, यद्यपि उस प्रसंग में उदाहृत छन्द सर्वथा निरर्थक नहीं। इन पाँच दोषों के अतिरिक्त केशव ने 'अन्य दोष' कहकर दस और काव्य-दोषों का वर्णन किया है। ये प्रायः प्रचलित दोष ही हैं जो केशव ने दण्डी से लिये हैं। यहां भी उन्होंने अनुवाद में असावधानी अथवा अर्थ-ग्रहण में त्रुटि की है। अपार्थ के लक्षण में दण्डी का कहना है: 'उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति। अर्थात्, उन्मत्त व्यक्तियों और मत्त बालकों की उक्तियों में निरर्थक शब्दावली का प्रयोग दोष नहीं रह जाता।' परन्तु केशव ने दण्डी के इस सूक्ष्म विवेचन को ग्रहण न करते हुए अत्यन्त स्थूल रूप में यह कह दिया है कि 'मतवारो उन्मत्त सिसु के से वचन बखानु।' अर्थात्, जहां शिशु अथवा उन्मत्त व्यक्ति के-से वचनों का प्रयोग हो, वहां अपार्थ-दोष होता है।

अन्य प्रसंग : इन प्रमुख प्रसंगों के अतिरिक्त केशव ने वृत्तियों का और थोड़ा-सा पिंगल का भी विवेचन किया है। कैशिकी, सात्त्वती आदि वृत्तियों का सम्बन्ध नाटक से ही है, अतएव काव्यशास्त्र में उनको कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। केशव ने रसिकप्रिया में भरत के नाट्यशास्त्र से पर्याप्त सहायता ली है, अतएव उसी सिलसिले में उन्होंने अन्त में वृत्तियों का विवेचन भी कर दिया है। पिंगल के अन्तर्गत कविप्रिया का गणागण-विचार आ सकता है; यद्यपि वह 'अगण' दोष के ही प्रसंग में किया गया है, परन्तु विवेचन की दृष्टि से वह स्वतन्त्र हो गया है।

काव्य-सिद्धान्त और काव्य-सम्प्रदाय : केशव को हिन्दी-जगत् अलंकारवादी मान चुका है और साधारणतः उनका एक दोहा ही प्रस्तुत प्रसंग में उद्धृत कर इस स्थापना की सिद्धि भी कर दी जाती है; परन्तु केशव ने सामान्य काव्य-सिद्धान्त के विषय में रसिकप्रिया तथा कविप्रिया दोनों में कुछ निश्चित धारणाएं व्यक्त की हैं। उनके मत से कवि तीन प्रकार के होते हैं:

उत्तम, मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि-रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन॥

परमार्थ-परक काव्य के प्रणेता हरि-रस में लीन उत्तम कवि कहलाते हैं; अर्थात् केशव के अनुसार परमार्थ अथवा धर्म और मोक्ष रूप परम पुरुषार्थों की सिद्धि ही काव्य का चरम लक्ष्य है। मानव-जीवन के कवि, जो मानव-चरित्र का गुणगान कर ऐहिक आनन्द को काव्य की सिद्धि मानते हैं, मध्यम कोटि के कवि हैं, और परमानन्द तथा लौकिक आनन्द अर्थात् आत्मा और मन दोनों के आनन्द से वंचित दोषपूर्ण कवि-कर्मचारी अधम कवि हैं। यहां केशव ने 'रस' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है।

कवि की सबसे बड़ी शक्ति है वाणी, जिसके बिना वह आनन्द का दान नहीं कर सकता :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ज्यों बिन डीठ न शोभिए, लोचन लोल बिसाल।
त्यों ही केसव सकल कवि, बिन बानी न रसाल॥

कवि की रसालता—सरसता—का मूल उपकरण है उसकी वाणी :

ताते रुचि सुचि सोचि पचि, कीजै सरस कवित्त।
केसव स्याम सुजान को, सुनत होइ बस चित्त॥

यहां भी सरस कवित्त अथवा कवित्त की सरसता पर ही बल दिया गया है और श्याम-सुजान अर्थात् भगवान् के प्रसादन को उसकी सिद्धि माना गया है। इस प्रकार केशव ने रस का तिरस्कार न कर उसके महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार किया है। स्वयं अनेक दोषों के अपराधी होकर भी केशव ने दोष को कविता के लिए असह्य माना है :

राजत रंच न दोषयुत कविता बनिता मित्र।

मैं वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि ललित की आवाज़ आयी—

बुंदक हाला परत ज्यों, गंगा-घट अपवित्र।

इसलिए सबसे पूर्व उन्होंने दोषों का निरूपण कर कवियशःप्रार्थी को उनके विरुद्ध सावधान कर दिया है। प्रौढ़ावस्था तक पहुँच कर केशव पर अलंकार का जादू चढ़ गया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह कवि, जैसा कि रामचन्द्रिका आदि के अनेक छन्दों से स्पष्ट है, अपने वंश की परम्परा और अपने पांडित्य के प्रति अत्यधिक सचेष्ट था। पांडित्य का धीरे-धीरे उस पर ऐसा आतंक छा गया कि अर्थ-गौरव के बोझ से मन की सरस्वती दब गई। पांडित्य और अर्थ-गौरव कृति-साध्य हैं और उधर अलंकार भी अपेक्षाकृत अधिक कृति-साध्य ही हैं, इसलिए केशव को पांडित्य और अर्थ-गौरव की स्पृहा ने ही अलंकार की ओर आकृष्ट किया, यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है। उनका सिद्धान्त-वाक्य :

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुबृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥

और रामचन्द्रिका में उनका भयंकर अलंकार-मोह उनकी अलंकारवादिता को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित कर देता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि केशव ने आरम्भ में रसवाद के अन्तर्गत शृंगारवाद को मान्यता दी और रसिकप्रिया के द्वारा हिन्दी में उसका प्रवर्तन किया। यह उत्तर-ध्वनिकालीन परम्परा थी जब रसवाद अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा के उपरान्त नायिका-भेद के ग्रन्थों में शृंगारवाद में ही सीमित हो गया था। प्रौढ़िकाल में केशव की प्रवृत्ति स्वभावतः सरसता से बौद्धिकता की ओर होने लगी। बौद्धिकता के दो रूप सम्भव थे : १. विचार-प्रधान (दार्शनिक) काव्य; २. अलंकार-प्रधान काव्य। केशव ने दोनों को ही ग्रहण किया है और चूंकि दरबार में रहकर उनका लगाव अलंकार से अधिक था, इसलिए अलंकार का जादू उनके सिर पर और ज़्यादा चढ़ कर बोलने लगा। अलंकार की परम्परा भामह, दण्डी, वामन, उद्भट आदि की ध्वनि-पूर्व परम्परा थी, जिसके अनुसार काव्य का समस्त सौन्दर्य ही अलंकार के आश्रित था, जब वर्ण्य विषय और वर्णन-शैली दोनों ही अलंकार के अन्तर्गत आते थे।

मूल्यांकन : रीति-शास्त्र में केशव का स्थान : इस पृष्ठभूमि का निर्माण कर लेने के उपरान्त अब केशव के आचार्यत्व का मूल्यांकन सहज ही किया जा सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में तीन प्रकार के आचार्य हुए हैं : पहली श्रेणी में भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्द-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वर्धन, अभिनव और कुन्तक आदि ऐसे आचार्यों का स्थान है जिन्होंने काव्यशास्त्र के किसी मौलिक सिद्धान्त का आविष्कार कर काव्य-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि केशव के लिए इस श्रेणी में तो कोई स्थान ही नहीं है। उन्होंने न किसी मौलिक सिद्धान्त की सृष्टि की और न किसी नवीन काव्य-पंथ का ही प्रवर्तन किया। यह सब केशव की सामर्थ्य से बाहर था। दूसरी श्रेणी में वे आचार्य आते हैं जिन्होंने काव्य के सर्वांग का मौलिक व्याख्यान किया है—इन आचार्यों ने काव्य के मूलभूत सिद्धान्तों की सूक्ष्म-गहन व्याख्या करते हुए उन्हें व्यवस्थित रूप दिया है : उद्भट, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि व्याख्याता-आचार्य इस वर्ग के विभूषण हैं। केशव इस गौरव के भी अधिकारी नहीं हैं। इसके लिए काव्य के मूलभूत सिद्धान्तों के तात्त्विक ज्ञान, उनके निर्भ्रान्त एवं स्पष्ट विवेचन-व्याख्यान, तथा सुस्थिर व्यवस्था-पन-शक्ति की अपेक्षा रहती है। जैसा कि हम अभी निर्देश कर चुके हैं, केशव में इन गुणों का प्रायः अभाव ही है। न उनका ज्ञान ही निर्भ्रान्त है और न विवेचन ही स्थिर व स्पष्ट है। इस श्रेणी के आचार्यों का सबसे बड़ा गुण है व्यवस्था, जिसका केशव में एकान्त अभाव है। तीसरी श्रेणी कवि-शिक्षकों की है जिनका कार्य होता है विद्यार्थियों तथा रसिकों की काव्य-शिक्षा के निमित्त वर्णनात्मक ढंग से आवश्यक सामग्री का संचय कर सरल-सुबोध पुस्तक प्रस्तुत करना। सामान्यतः भारतीय काव्यशास्त्र की व्यापक भूमिका में विचार करने से केशव कवि-शिक्षक रूप में ही सामने आते हैं जिन्होंने काव्य के दो प्रमुख अंगों का—रस तथा अलंकार का—साधारण प्रतिभा और ज्ञान वाले विद्यार्थियों तथा रसिक जनों के लिए विस्तार से वर्णन किया है :

समुझै बाला बालकन, बरनन-पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियहु कवि अपराध ॥

यहां केशव ने अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है : एक तो वे काव्य-वर्णन की सुबोध शिक्षा देना चाहते हैं, सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण की नहीं; और दूसरे उनके ग्रंथ साधारण शिक्षा-संस्कार वाले विद्यार्थियों और रसिकों के लिए हैं।

पर यदि हम अपनी दृष्टि को थोड़ा सीमित कर लें और हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा में ही केशव के आचार्यत्व का विचार करें तो केशव का महत्त्व असंदिग्ध है। उनको हिन्दी-काव्यशास्त्र का प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है। हिन्दी के उस व्यापक काव्य-युग के प्रवर्तन का श्रेय न केशव के किसी पूर्ववर्ती रीति-कवि को दिया जा सकता है और न परवर्ती को। कृपाराम का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है और व्यक्तित्व बहुत ही साधारण। चिन्तामणि को भी यह गौरव देना अन्याय है; क्योंकि यह केवल एक संयोग था कि उनके उपरान्त रीति-काव्य की धारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित हो चली। हिन्दी के परवर्ती कवियों ने—देव, दास आदि सभी धुरन्धर कवियों ने—केशव को ही आचार्य-रूप में श्रद्धांजलि दी है। चिन्तामणि का नाम तक भी किसी ने नहीं लिया। केशव ने ही हिन्दी में सबसे पहले सचेष्ट रूप से संस्कृत की पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनि परम्पराओं को अवतरित किया, और अपने पांडित्य-गुरु व्यक्तित्व के बल पर हिन्दी-काव्य में शास्त्रीय पद्धति की प्रतिष्ठा की।

इसमें सन्देह नहीं कि उनका अलंकार-सिद्धांत बाद में मान्य नहीं हुआ—उसकी भ्रांतियां अत्यन्त स्पष्ट और मुखर हैं। इसमें भी सन्देह नहीं कि उन्होंने हिन्दी के काव्य-साहित्य को आधार मानते हुए सिद्धांत-व्यवस्था न कर प्रायः संस्कृत का ही अनुवाद किया है। हमें यह भी स्वीकार्य है कि स्वयं हिन्दी के भी कतिपय परवर्ती आचार्यों—कुलपति, श्रीपति, दास आदि—का विवे-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चन केशव के विवेचन की अपेक्षा अधिक स्वच्छ और व्यवस्थित है। फिर भी केशव की प्रतिभा उनमें से किसी में नहीं थी। भक्ति-काव्य की वेगवती धारा को रीति-पथ पर मोड़ने के लिए एक प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, और प्रतिभा तथा पांडित्य से परिपुष्ट यह व्यक्तित्व था केशव का।

व्याख्यान समाप्त करते-करते मस्तिष्क की अपेक्षा मेरा श्वास अधिक थक गया था। विद्यार्थियों की भी उंगलियां तो कम-से-कम थक ही गई थीं, कुछ की उंगलियां रंग भी गई थीं, एकाध की नाक पर भी टीका लग गया था। क्लास छोड़कर बाहर आया तो देखा कि मिस गर्ग और डॉक्टर सिन्हा दोनों क्षुब्ध-सी खड़ी हुई हैं। मैंने सोचा कि महिलाएं तो दोनों ही ये मृदुल स्वभाव की हैं, आज एक-दूसरे से नाराज़ क्यों हो गई हैं! बाद में मालूम हुआ कि वे एक-दूसरे पर क्षुब्ध न होकर मुझ पर ही क्षुब्ध थीं, क्योंकि दोनों का आधा समय तो मैंने ही ले लिया था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिहारी की बहुज्ञता

बिहारी की बहुज्ञता का विवेचन करने से पूर्व इस प्रश्न का समाधान कर लेना आवश्यक हो जाता है कि बहुज्ञता और कवित्व का क्या सम्बन्ध है, अर्थात् क्या किसी कवि के काव्य-सौष्ठव में उसकी बहुज्ञता का योग रहता है ? और यदि रहता है तो कितना ? संस्कृत साहित्य-शास्त्र के भावक के लिए यह प्रसंग नया नहीं है; आरम्भ से ही उसमें काव्य के साधनों का विस्तार से विवेचन होता आया है। उन्हें काव्य के सहायक अथवा काव्य-हेतुक कहा गया है। ये काव्य-हेतुक तीन हैं : शक्ति, निपुणता और अभ्यास। संस्कृत काव्यशास्त्र में इस बात पर काफ़ी बल दिया गया है कि कवि को व्युत्पन्न होना चाहिए। उसका लोक और शास्त्र का ज्ञान व्यापक होना चाहिए।

भरत मुनि ने प्रकारान्तर से इसका निर्देश किया है—

न तत् ज्ञानं न तत् शिल्पं, न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत् कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥

अर्थात् नाटक में सभी प्रकार के ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, युक्ति, कर्म आदि का उपयोग रहता है। वामन ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है : लोक, विद्या और प्रकीर्ण—ये तीन काव्य के सहायक अंग हैं। लोक का अर्थ है लोक-व्यवहार। शब्दशास्त्र, कोश, छन्दशास्त्र कला, दण्डनीति, राजनीति अथवा अर्थशास्त्र आदि विद्याएं हैं जिनका अध्ययन काव्य-रचना से पूर्व अपेक्षित होता है। राजशेखर ने इस सूची को और भी विस्तृत कर दिया है : "श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या अर्थात् दर्शन, समय-विद्या अथवा तन्त्रशास्त्र, राज-सिद्धान्तत्रयी अर्थात् अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र, लोक-व्यवहार, विरचना अर्थात् कवि-प्रतिभा-जात काव्यकथादि, प्रकीर्ण जिसके अन्तर्गत हस्ति-शिक्षा, रत्नपरीक्षा आदि की गणना की जाती है, योक्तृसंयोग, उत्पाद्य-संयोग, उचित संयोग, संयोग-विकार आदि काव्यार्थ के मूल हैं। अन्त में मम्मट ने इस विवेचन को व्यवस्थित रूप देते हुए कहा :

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

शक्ति, लोक, शास्त्र तथा काव्यादि के अवेक्षण से प्राप्त निपुणता तथा अभ्यास; ये तीनों समन्वित रूप से काव्य के हेतु हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में निपुणता अथवा बहुज्ञता की बड़ी प्रतिष्ठा रही है। यहां तक कि प्रतिभा और निपुणता के बीच प्रतिद्वन्द्व रहा है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में आचार्य मंगल का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे उसे प्रतिभा से भी श्रेष्ठतर मानते थे। आनन्दवर्धन ने प्रतिभा की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए लिखा था :

अव्युत्पत्तिहृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अर्थात् कवि की प्रतिभा निपुणता के अभाव से उत्पन्न दोष का संवरण कर लेती है। इसका उत्तर मंगल ने उन्हीं के शब्दों में दिया :

कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।

कवि की निपुणता उसकी शक्ति के अभाव-दोष का संवरण कर लेती है; यह तो अत्युक्ति ही है। वास्तव में आनन्दवर्द्धन का मत ही विवेक-सम्मत तथा तर्क-संगत है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि कवि की बहुज्ञता को हमारे काव्यशास्त्र में बड़ा महत्त्व दिया गया है। विदेश में भी यूनान तथा रोम के आचार्यों ने और इधर अंगरेज़ी आदि अर्वाचीन भाषाओं के साहित्यशास्त्रियों ने भी कवि की व्युत्पन्नता पर बहुत बल दिया है। इसके लिए विभिन्न कलाओं, विद्याओं तथा उपविद्याओं का ज्ञान अनिवार्य माना गया है।

परन्तु हमें उपर्युक्त मन्तव्यों की सावधानी से परीक्षा करनी होगी। क्या कवि की बहुज्ञता काव्य की साधक ही होती है? क्या उसके कारण काव्य में बाधा नहीं पड़ती? संस्कृत में माघ, भारवि आदि का ज्ञान, विदेश में मिल्टन जैसे कवियों की विद्वत्ता और हिन्दी में केशव, तुलसी आदि की बहुज्ञता उनके काव्य में निःसन्देह ही बाधक हुई है। इसीलिए नासिख़ ने कवियों को चेतावनी दी है :

इश्क़ को दिल में दे जगह नासिख़;
इल्म से शायरी नहीं आती।

—और वास्तव में यह काफ़ी हद तक ठीक है। बहुज्ञता काव्य का अनिवार्य गुण नहीं है, काव्य-सौन्दर्य के साथ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। हस्ति-विद्या अथवा रत्न-परीक्षा का ज्ञान काव्य का संवर्धन कैसे कर सकता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। इस विषय में हमारे दो मन्तव्य हैं : एक तो यह कि बहुज्ञता का अर्थ काव्य से सम्बद्ध विषयों के ज्ञान और अनुभव की समृद्धि तक ही सीमित रखना चाहिए; और दूसरे उसका योग अप्रत्यक्ष ही मानना चाहिए; अर्थात् वह कवि के व्यक्तित्व को विकसित और समृद्ध करके ही काव्य में सहायक होती है। विभिन्न विद्याओं के ज्ञान का प्रत्यक्ष उपयोग तो काव्य की हानि ही करता है।

मम्मट ने भी यही बात कही है; इसलिए जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने संकेत किया है, उन्होंने शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों के समन्वय को काव्यहेतु माना है, निपुणता आदि को पृथक् रूप से नहीं। मम्मट का मन्तव्य भी यही है कि निपुणता शक्ति, अर्थात् कवि के व्यक्तित्व, का संवर्धन करती हुई ही काव्य में सहायक होती है। केवल निपुणता का सीधा उपयोग काव्य-सौष्ठव की श्रीवृद्धि नहीं करता।

बिहारी की बहुज्ञता का विवेचन हमें इसी पृष्ठभूमि में करना होगा। बिहारी की बहुज्ञता की चर्चा सबसे पहले कदाचित् पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी-सतसई की भूमिका में अत्यन्त प्रबल शब्दों में की है : "गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हथकंडे, अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी का प्रसाद, वैद्य की परप्रतारणा, ज्योतिषी का ग्रह-योग, सूम की कंजूसी, जिसे देखिए वही, कविता के रंग में रंगा चमक रहा है।" शुक्लजी की मर्मज्ञता ने इस साधुवाद की बहुत दाद नहीं दी; और काव्य के आलोचक को इस विषय में अपनी अमोघ शैली से सावधान भी कर दिया है। उनका स्पष्ट कथन है कि कवि के लोक-अनुभव और शास्त्र-ज्ञान का व्यापक होना तो निस्सन्देह अपने-आप में एक गण है, परन्तु बहुज्ञता-प्रदर्शन के लिए उसका अनावश्यक प्रयोग निःसन्देह ही काव्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का दूषण है। इस प्रसंग में उन्होंने पंडित पद्मसिंह शर्मा पर व्यंग्य भी किया है : केवल यह जानने से कि अंक पर शून्य लगाने से उसका मूल्य दस-गुना हो जाता है, कोई व्यक्ति गणित का विद्वान् नहीं हो जाता। वास्तव में शुद्ध दृष्टिकोण यही है जो मर्मज्ञ और रसिक का अन्तर स्पष्ट कर देता है।

इसमें सन्देह नहीं कि बिहारी का व्यक्तित्व अत्यन्त व्युत्पन्न था। उनका लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान दोनों बढ़े-चढ़े थे। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, बिहारी में राग-पक्ष की अपेक्षा बुद्धि-पक्ष अधिक प्रबल था। उनका दृष्टिकोण वस्तुपरक था। अतएव उनमें तटस्थ होकर सूक्ष्म अन्वीक्षण करने की शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। उन्होंने जीवन को कदाचित् भोगा कम, देखा अधिक था। इसीलिए उनके काव्य में अनुभूति की गहराई कम और विषय की व्यापकता अधिक है। बिहारी ने काव्य के अतिरिक्त दर्शन, पुराण, नीति, ज्योतिष, वैद्यक आदि के क्षेत्र में प्रवेश किया है। उधर राजाश्रित कवि होने के कारण राजसी वैभव की सामग्री से भी उनका परिचय था। स्थापत्य तथा चित्रकला से भी निस्सन्देह उनका सम्पर्क था; शिकार का भी अनुभव था, और इसके अतिरिक्त लोक-व्यवहार से भी यह व्यक्ति घनिष्ठ रूप से अवगत था।

सबसे पहले दर्शन को ही लीजिए। दर्शन से सम्बद्ध बिहारी के कुछ दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं :

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग कांचौ काँच सौ;
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहां।

जहां तक इस दोहे के आधारभूत सिद्धान्त का अर्थ है वह तो अत्यन्त प्रचलित है और वह बिहारी को दर्शनशास्त्र का विद्वान् सिद्ध करने के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। परन्तु कच्चे काँच का उपमान वास्तव में अत्यन्त सटीक है और कदाचित् मौलिक भी; क्योंकि वेदान्त में जल-तरंग, घट-मृत्तिका आदि अन्य रूपकों का प्रयोग तो प्रायः हुआ है, परन्तु प्रतिबिम्बवाद के स्पष्टीकरण के लिए कदाचित् कच्चे काँच का प्रयोग देखने में नहीं आया। पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी सिद्धान्त के विषय में तो अनेक उद्धरण दिये हैं, परन्तु इस उपमान का समानान्तर प्रयोग किसी में भी नहीं है। कदाचित् यह सूफ़ी-भावना है; फ़ारसी में इस प्रकार के उपमान प्राय: मिलते हैं। जायसी ने सरवर को बिम्ब-ग्राहक मानकर इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है। इसी प्रकार दर्शन-विषयक अन्य दोहे भी किसी गहन दार्शनिक अध्ययन के द्योतक नहींहैं; उनके अन्तर्भूत अन्य सिद्धान्त अत्यन्त प्रचलित और साधारण हैं। उदाहरण के लिए :

अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग,
नाक बास बेसर लह्यौ, बसि मुकतन के संग

यहां साधु-संगति का माहात्म्य बताया गया है जो मध्य-युग का अत्यन्त प्रचलित सिद्धान्त था। अन्य दोहों में भी सगुण, निर्गुण, अद्वैतवाद तथा ब्रह्मवाद आदि से सम्बद्ध अत्यन्त साधारण सिद्धान्तों की चर्चा है जिनसे इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि बिहारी ने दर्शनशास्त्र का शास्त्रीय विधि से अध्ययन किया था :

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-बिस्तारन-काल।
प्रगटत निरगुन निकट ही, चंग-रंग गोपाल॥

× × ×

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बुधि अनुमान प्रमाण श्रुति कियें नीठि ठहराय।
सूक्षम कटि परब्रह्म की अलख लखी नहिं जाय।।

दर्शन के अतिरिक्त पुराण आदि के भी सतसई में कतिपय प्रसंग आये हैं। बिहारी-जैसे व्युत्पन्न कवि के लिए पुराण-ज्ञान सर्वथा स्वाभाविक ही था। वास्तव में मध्य-युग में वेद-शास्त्र की अपेक्षा पुराणों का ही प्रचार अधिक था :

बिरह-बिथा-जल-परस बिन, बसियत मो हिय-ताल।
को जानत जल-थम्भ बिधि, दुरजोधन लौं लाल।।

इस दोहे में दुर्योधन की जल-स्तम्भ विद्या का उल्लेख है। इसी प्रकार दुर्योधन के अन्तिम समय की स्थिति का भी एक अन्य दोहे में प्रसंग आया है :

पिय-बिछुरन को दुसह दुख, हरषि जात प्यौसाल।
दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान इहि बाल।।

इसके अतिरिक्त रामायण-महाभारत के भी प्रसंग हैं। परन्तु वास्तव में वे अत्यन्त प्रचलित और सर्वविदित हैं; उनके लिए विशेष अध्ययन की कोई अपेक्षा नहीं है।

बिहारी का एक अन्य प्रिय विषय है ज्योतिष, और वास्तव में उसका उन्होंने विशेष अध्ययन किया प्रतीत होता है। सतसई के बहुत-से दोहों में ज्योतिष का चमत्कार है। कुछ के प्रसंग तो वास्तव में बिहारी के तद्विषयक विशेष ज्ञान के द्योतक हैं :

मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि, केसर-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत।।

ज्योतिष का सूत्र है कि जब मंगल, बृहस्पति और चन्द्रमा एक नाड़ी में हों तो पृथ्वी पर समुद्र टूट पड़े : एकनाडी-समायुक्तौ चन्द्रमोधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदा एकार्णवा मही।।

इसी प्रकार : सनि कज्जल चख झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह।।

× × ×

तुला-कोदण्ड-मीनस्थो, लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः।
करोति नृपतेर्जन्म वंशे च नृपतेर्भवेत्।।

अर्थात्—तुला, धन और मीन का शनि यदि लग्न में पड़ा हो तो इस योग में जन्म लेने वाला राजा होता है। बिहारी के दोहे में इसी ज्योतिष-सिद्धान्त का चमत्कार है। इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों प्रसंग असामान्य हैं और विशेष ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। बिहारी ने ज्योतिष के सिद्धान्तों का प्रयोग भी अपेक्षाकृत अधिक ही किया है। प्रश्न यह उठता है कि यह प्रयोग काव्य में कहां तक सहायक है ? इसमें संदेह नहीं कि इसके द्वारा उक्ति-चमत्कार में वृद्धि होती है, कल्पना का भी उत्कर्ष लक्षित होता है, कवि की विद्वत्ता का भी परिचय मिलता है; परन्तु रसानुभूति में तो विलम्ब के कारण विघ्न ही उपस्थित होता है।

बिहारी के अन्य प्रिय विषय हैं : वैद्यक, कला, राजसी कौतुक-विनोद आदि। इनमें से ज्योतिष और वैद्यक का ज्ञान ब्राह्मण होने के नाते, कला का ज्ञान कवि होने के नाते, और कौतुक-विनोद आदि से अभिज्ञता राज-पारिषद् होने के नाते बिहारी के लिए स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी थी। उन्होंने कुछ-एक दोहों में नाड़ी-निदान, विषम-ज्वर, सुदर्शन, पारद

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आदि का श्लिष्ट प्रयोग किया है। अनेक दोहों में कबूतरबाज़ी, पतंगबाज़ी, नटों के खेल, शिकार आदि राजसी क्रीड़ा-विनोदों का उल्लेख किया है और दो-चार दोहों में स्थापत्य तथा चित्र-कला आदि के भी प्रसंग मिलते हैं। परन्तु, जैसा मैंने अभी कहा, ये सब कवि की बहुज्ञता अथवा व्यापक पांडित्य के परिचायक न होकर उसकी व्यापक दृष्टि के ही साक्षी हैं।

इस प्रसंग में इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मैं उन दोहों को मानता हूं जिनमें सामयिक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। बिहारी की तीक्ष्ण दृष्टि ने अपने युग के समाज और उसकी दुर्बलताओं का सम्यक् रूप से अवलोकन किया है। पुरोहितों का पाखण्ड, ज्योतिषियों की उखाड़-पछाड़, वैद्यों की पोल-पट्टी, सामाजिक मर्यादाओं का शैथिल्य, बढ़ती हुई विलासिता आदि पर बिहारी ने तीखे व्यंग्य किये हैं। धर्म के क्षेत्र में किस प्रकार मत-मतान्तरों का विवादमात्र शेष रह गया था, सांप्रदायिक रूढ़िवाद का बोलबाला था, जीवन का उन्नयन करने वाला धर्म उपेक्षित हो रहा था—बिहारी के सामने यह सब-कुछ स्पष्ट था और उन्होंने अपने दोहों के अत्यंत संकुचित कलेवर में भी इन परिस्थितियों का निर्देश किया है। राजनीतिक परिस्थिति पर भी बिहारी की दृष्टि गई है और उन्होंने द्विराज, हिन्दू राजाओं की हिन्दू-विरोधी नीति, नरेशों की निरंकुशता आदि पर मार्मिक व्यंग्य किये हैं। रीति-काव्य पर असामाजिकता का आरोप प्रायः अब रूढ़-सा ही हो गया है। वह सर्वथा अनुचित भी नहीं है। फिर भी रीति-कवियों ने अपने ढंग से सामाजिक आलोचना प्रस्तुत की है, और, बिहारी-सतसई तथा अनेक काव्य इसके प्रमाण हैं।

अब तक हमने जिन विषयों की चर्चा की वे सब काव्य के सहायक-मात्र हैं। इनके अतिरिक्त काव्य, काव्यशास्त्र, कामशास्त्र आदि का तो बिहारी के काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही था। बिहारी की इस दिशा में अच्छी गति थी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया था; काव्यशास्त्र तथा उसके विभिन्न अंगों—रसशास्त्र, अलंकारशास्त्र, नायिका-भेद आदि का उनको निर्भ्रान्त ज्ञान था। इन शास्त्रों की बारीकियां उनके दोहों में सर्वत्र मिलती हैं। रस के क्षेत्र में उसके विभिन्न अवयव, शृंगार के अंतर्गत अनुभाव, सात्त्विक भाव, यत्नज और अयत्नज अलंकार, काम-दशा आदि का जितना सूक्ष्म और स्पष्ट वर्णन बिहारी-सतसई में मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार अलंकारशास्त्र तथा नायिका-भेद और उसके आधारभूत कामशास्त्र से भी सतसईकार का घनिष्ठ परिचय था। बिहारी-सतसई यद्यपि लक्ष्य-ग्रंथ ही है, तथापि अलंकार और नायिका-भेद के जितने स्पष्ट उदाहरण उसमें मिलते हैं, उतने तथाकथित लक्षण-ग्रंथों में नहीं मिलते।

इस प्रकार शास्त्र की दृष्टि से बिहारी के काव्य-व्यक्तित्व के तीनों ही अंग—शक्ति, निपुणता और अभ्यास—सम्यक् परिपुष्ट हैं। नवोन्मेष यदि प्रतिभा का गुण है तो बिहारी के पास उसका प्राचुर्य था। अभ्यास भी, जीवन में केवल ७०० के लगभग दोहे जड़नेवाले बिहारी से अधिक किसने किया होगा! परन्तु इन दोनों की अपेक्षा तीसरा अंग व्युत्पन्नता और भी अधिक परिपुष्ट है। लोक और शास्त्र का अपनी सीमित परिधि के भीतर जितना सूक्ष्म अध्ययन बिहारी ने किया था, उतना अनेक कवि नहीं कर सके। व्युत्पन्नता का अर्थ वास्तव में केवल पांडित्य अथवा बहुज्ञता या जानकारी तक ही सीमित न करके साहित्यिक परिष्कृति, लिटरेरी कल्चर, मानना चाहिए; क्योंकि इसी रूप में उसकी सार्थकता है। अन्यथा ठगों के हथकण्डे या नटों की कलाबाज़ी का ज्ञान अर्थ की साधना में सहायक भले ही हो सके, काव्य की साधना में वह कोई विशेष प्रत्यक्ष योग नहीं दे सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य : एक मूल्यांकन

मैथिलीशरण गुप्त निश्चय ही महान् कवि थे : उसी अर्थ में और उसी अनुपात में जिसमें कि दद्दा महान् व्यक्ति थे। इस देश में पुराकाल से ही दो काव्यधाराएं प्रवाहित रही हैं : एक की प्रवृत्ति रही है अन्तर्मुख और लक्ष्य रहा है आनन्द और दूसरे की प्रवृत्ति बहिर्मुख तथा लक्ष्य रहा है कल्याण। एक में जगत् को आत्मा में देखने और भोगने का आग्रह रहा है और दूसरी में आत्मा का जगत् के माध्यम से विस्तार एवं विकास करने का। पहली के प्रेरणा-स्रोत आगम और दूसरी के निगम हैं। वाल्मीकि, व्यास, पम्प, नन्नय, कम्बन, तुलसी आदि पहले वर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं और कालिदास, विद्यापति, नरसी, सूर, रवीन्द्र और प्रसाद दूसरे वर्ग के। मैथिलीशरण गुप्त का स्थान पहली वीथिका में सुरक्षित है।

ऐतिहासिक महत्त्व

मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक हिन्दी-काव्य के निर्माता थे और इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण रहेगा। हिन्दी-कविता में जिस आधुनिक चेतना का आविर्भाव भारतेन्दु के साहित्य में हुआ था, उसका वास्तविक परिपाक गुप्तजी के ही काव्य में हुआ। भारतेन्दु की काव्य-चेतना की दो स्पष्ट प्रवृत्तियां थीं : एक अग्रगामी थी और दूसरी पश्चगामी और इन दोनों का पार्थक्य अन्त तक बना रहा। परिणाम यह हुआ कि वे अपने युगबोध की काव्यात्मक परिणति करने में अधिक सफल नहीं हो सके : काव्यात्मक अभिव्यक्ति के क्षणों से उनकी शृंगार-भावना ही प्रमुख रही।—और, यह अस्वाभाविक नहीं था; कविता का जन्म बोध से नहीं, संस्कार से ही होता है और परम्परा से भिन्न नवीन युग-बोध को संस्कार बनने में समय लगता है। द्विवेदी-युग में आकर युग-चेतना और अधिक प्रबुद्ध हो गई और बाह्य जीवन में अनेक राजनीतिक तथा नैतिक आन्दोलन उठ खड़े हुए। जागरण-सुधार के ये सभी प्रयास कर्म-क्षेत्र से लौटकर भाव-क्षेत्र से भी पूरे वेग से टकराते थे, परन्तु अभी उनमें गर्मी इतनी अधिक थी कि वे काव्य-सर्जना के उपयुक्त नहीं बन पाए थे। निदान, काव्य के क्षेत्र में आंदोलन तो हो रहा था किन्तु सर्जना नहीं हो रही थी। वास्तव में राजनीति और सुधार की प्रवृत्ति बहिर्मुख ही होती है—उसमें आकलन और आयोजन पर आश्रित निर्माण-कर्म ही प्रमुख रहता है। सर्जना के लिए जिस आत्मलीनता की अपेक्षा होती है वह हलचल में सम्भव नहीं—तनाव का भी सर्जन-प्रक्रिया में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु वह प्रक्रिया का ही अंग रहता है, परिणति में तो द्वन्द्व नहीं विश्रांति ही हो सकती है। अत: द्विवेदी-काल के कवियों का युग-बोध उनकी अन्तश्चेतना में नहीं रम सका था : विचारों और मनोवेगों के आगे उसकी गति नहीं थी। मैथिलीशरण गुप्त की कवि-चेतना का उदय इसी वातावरण में हुआ था। प्रारम्भ में शायद काव्य-रचना की प्रेरणा उन्हें अपने पिताश्री की वैष्णव-भावना से ही मिली थी। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने अनुभव किया कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैसी कविता केवल मनोरंजन ही कर सकती है—उसके द्वारा न उन्हें पूर्ण आत्मतोष हो सकता है और न उनके समाज को। अतः आचार्य द्विवेदी के नैतिक प्रभाव को स्वीकार करने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई और वह अपने वैष्णव संस्कारों के साथ देश-काल के अनुरूप काव्य-रचना में प्रवृत्त हो गए। उस समय हिन्दी-कविता एक नये मोड़ पर खड़ी हुई थी। युग-धर्म से प्रभावित सभी सांस्कृतिक और साहित्यिक नेता सिद्धांत रूप में बार-बार यह घोषणा कर रहे थे कि परम्परागत काव्य की प्रवृत्ति, जिसमें शृंगार का, या अधिक-से-अधिक भक्ति-मिश्रित शृंगार का, स्वर प्रधान है, देश-काल के अनुरूप नहीं है। यह प्रवृत्ति जीवन से विच्छिन्न हो चुकी थी, इसकी मूल चेतना प्रतिक्रियावादी थी और इसमें जीवन तथा आत्मा के उत्कर्षकारी मूल्यों का अभाव था। इन नेताओं की प्रेरणा से सामयिक काव्य-रचना के प्रयत्न भी बराबर हो रहे थे, परन्तु उनमें काव्य की शक्ति और चमत्कार का समावेश नहीं हो सका था। उस समय केवल दो ही कवि-व्यक्तित्व ऐसे थे जो युग-चेतना की काव्यमय अभिव्यक्ति करने में समर्थ थे—एक अयोध्यासिंह उपाध्याय और दूसरे मैथिलीशरण गुप्त। इनमें भी हरिऔधजी के संस्कार तो एक सीमा तक ही समय के साथ चल सकते थे, अतः युग-धर्म को काव्य की वाणी देने का दायित्व एक प्रकार से गुप्तजी पर ही पड़ा था और अपने समसामयिक कवियों की अपेक्षा वे उसका निर्वाह अधिक मनोयोग एवं सफलता के साथ कर रहे थे। राष्ट्रीय सामाजिक जाग्रति को ही उन्होंने प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत रूप में काव्य का विषय बना लिया था। उस समय नव-जीवन के मूल्य विचार के क्षेत्र में तो प्रवेश कर चुके थे, परन्तु काव्य के क्षेत्र में वे अभी नवागंतुक ही बने हुए थे। काव्य की संरक्षित भूमि में उन्हें अधिवास के पूर्ण अधिकार प्राप्त कराना अत्यंत दुष्कर काम था। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने युग की नयी-से-नयी प्रवृत्ति को काव्यान्वित करने का प्रयास किया। यह ठीक है कि उनके सभी प्रयत्न सफल नहीं माने जा सकते, परन्तु यह भी ठीक है कि अपने समसामयिक कवियों में सबसे अधिक कृतकार्य वे ही हुए। काव्य और जीवन का प्रत्यक्ष नैतिक सम्बन्ध सरल है, परन्तु वह प्रायः रसमय नहीं बन पाता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष जीवन से निर-पेक्ष रहकर, परम्परागत काव्य-मूल्यों के आधार पर रस-सृष्टि करना भी सरल है, परन्तु उसमें जीवन की शक्ति क्षीण होती है। अतः काव्य का प्रत्यक्ष जीवन के साथ रसमय सम्बन्ध स्थापित करना कठिन होता है। किन्तु युग-कवि की कसौटी भी यही है। मैथिलीशरण गुप्त इस लक्ष्य को सामने रखकर बढ़े, समय आने पर उनकी साधना फलवती हुई और वे आधुनिक काल के युग-कवि पद पर अधिष्ठित हुए। इस प्रकार काव्य में युग-मूल्यों की स्थापना का सर्वाधिक श्रेय उन्हें ही प्राप्त है। उनके ऐतिहासिक महत्त्व का आकलन समस्त हिन्दी-भाषी भूभाग में उनके व्यापक प्रभाव के आधार पर भी किया जा सकता है। अपने युग की—और भारतवर्ष के इति-हास में वही सबसे ज्यादा नाजुक दौर था—राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के विकास में मैथिलीशरण गुप्त का योगदान अपूर्व है। उन्होंने नैतिक चेतना को राष्ट्रीय आधार प्रदान किया और राष्ट्रीय चेतना को समृद्ध सांस्कृतिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। इस दृष्टि से देश की जागृति के इतिहास में उनका स्थान मूर्द्धन्य सांस्कृतिक नेताओं के समकक्ष है। गुप्तजी के ऐतिहासिक महत्त्व का तीसरा प्रमुख आधार है आधुनिक हिन्दी-काव्य की माध्यम-भाषा के निर्माण में उनका योगदान। इसमें संदेह नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक खड़ी बोली काव्य का उपयुक्त माध्यम बनने में प्रायः असमर्थ ही थी—न उसमें वांछित मार्दव और माधुर्य था और न आवश्यक अभिव्यंजना-क्षमता। भारतेन्दु ने अपनी कुछ कविताओं में उसका उपयोग किया था,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किन्तु वे प्रयोग से आगे नहीं बढ़ सके, उनकी काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम ब्रजमाधुरी ही थी। उनकी काव्य-भाषा के विविध रूपों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली को एक तो वे प्रायः सामाजिक काव्य—विशेषकर उसमें निहित व्यंग्य-वक्रता आदि के ही उपयुक्त मानते थे और दूसरे उनकी धारणा कदाचित् यह भी थी कि हिन्दी के अपने प्रिय छन्दों में उसका निर्वाह कठिन है। अतः भारतेन्दु ने तो केवल दिशा-निर्देश ही किया था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अधिक विश्वास और संकल्प के साथ इस कार्य को हाथ में लिया और स्वयं रचना कर तथा अनेक कवियों को प्रेरित कर अपने युग की सबसे विषम साहित्यिक विडम्बना का समाधान करने का प्रयत्न किया। किन्तु अभीष्ट काव्य-प्रतिभा के अभाव में उनका यह संकल्प भी बौद्धिक प्रयासों से आगे नहीं बढ़ सका : उनके युग के अनेक कवि अपने अनगढ़ प्रयत्नों द्वारा काव्य-रसिकों के संदेहों को ही पुष्ट कर रहे थे। इस चुनौती को उस युग के तीन-चार कवि ही स्वीकार करने में सफल हो सके—देवीप्रसाद पूर्ण, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त। इनमें से पूर्णजी की खड़ी बोली का निर्माण प्रायः ब्रजभाषा के तत्वों से ही हुआ है—अर्थात् उसमें माधुर्य और मार्दव का समावेश तो हो गया है, परन्तु नई संवेदनाओं और विकासशील सौंदर्य-बोध को अभिव्यक्त करने योग्य वैविध्य और वैचित्र्य से पूर्ण व्यंजनाओं का अभाव है। इसी प्रकार हरिऔध की भाषा संस्कृत के निकट पहुँच गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्ण की खड़ीबोली ब्रजभाषा का रूपान्तर थी और हरिऔध की भाषा संस्कृत का—पहली में ब्रजभाषा की व्यंजना और संगीत था और दूसरी में संस्कृत का : खड़ीबोली की काव्योचित व्यंजना और संगीत का—एक शब्द में, उसके अपने सहज गुण-दोषों से युक्त काव्य-व्यक्तित्व का—विकास अभी होना था। इसका श्रेय—प्रारम्भिक श्रेय—मैथिलीशरण गुप्त को ही प्राप्त है। और उनकी यह भाषा निरन्तर विकासशील रही; वास्तव में काव्य-भाषा के रूप में खड़ीबोली के विकास का विभिन्न सोपानों से चिह्नित पूरा इतिहास मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में एकत्र मिल जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रकार के गौरव के भागी कुछ ही कवि होते हैं—आधुनिक युग में इस प्रकार का दूसरा उदाहरण रवीन्द्रनाथ में मिलता है : मैं केवल ऐतिहासिक भूमिका की ही बात कर रहा हूं, दोनों अत्यंत भिन्न कवियों की भाषा में साम्य की स्थापना नहीं कर रहा।

व्यापक काव्यफलक : सर्वांगीण जीवन का चित्रण

मैथिलीशरण गुप्त का काव्यफलक अत्यन्त व्यापक है। भारतीय इतिहास के अतीत और वर्तमान दोनों पर उनकी दृष्टि रही है। अतीत के भी अनेक स्तर और चरण हैं। रामायण-महाभारत-काल के साथ उनका विशेष रागात्मक सम्बन्ध है। राजपूत-इतिहास के प्रति भी उनका आकर्षण कम नहीं है। इनके अतिरिक्त वैदिक युग और बौद्ध-काल से भी कई कथानक उन्होंने सोत्साह ग्रहण किये हैं। इधर वर्तमान तो उनकी युग-चेतना का केन्द्र है ही। वास्तव में उनका कवि चाहे वैदिक युग की यात्रा करे या रामायण-महाभारत-काल की, उसका वर्तमान सदा उसके साथ जाता है। वर्तमान युग के भी कई चरण उन्होंने देखे थे—बाल्य जीवन उनका पुनरुत्थान-काल में बीता, यौवन जागरण-सुधार युग में, प्रौढ़ावस्था गांधीजी द्वारा संचालित राष्ट्रीय संघर्ष के वातावरण में, और जीवन का चौथा चरण स्वतंत्र भारत के नेहरू-युग में। वर्तमान युग के इन चारों चरणों के जीवन को उन्होंने नज़दीक से देखा, भोगा और आँका है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जीवन के राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक—सभी पहलुओं का उनके काव्य में विस्तार से चित्रण है। एक ओर राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न रूप और आन्दोलन हैं—जैसे अतीत का गौरव-गान, भारत के भव्य स्वरूप की विविध झांकियां, अंगरेज़ी शासन के अत्याचार और उनके विरुद्ध संघर्ष, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, किसान-मज़दूर-आन्दोलन, जेल-जीवन, स्वतन्त्रता का उत्सव और उल्लास, विभाजन की विभीषिका, गांधी की हत्या, संसद् की गतिविधि, वर्द्धमान करों का आतंक, महंगाई की समस्या, चीन का आक्रमण, राजभाषा का प्रश्न, आदि-आदि। दूसरी ओर सामाजिक जीवन के सभी पक्ष उनके काव्य के विषय बने हैं—जैसे साम्प्रदायिकता और जातिभेद के अभिशाप, हरिजन-समस्या, नारी की महत्त्व-प्रतिष्ठा, विधवा-विवाह, सामाजिक कुरीतियों का निवारण, अशिक्षा और उससे उत्पन्न अनेक प्रकार के अंधविश्वासों का उन्मूलन, परिवार-जीवन का विधान और उसमें होने वाले परिवर्तन, पाश्चात्य सम्पर्क तथा उसके शुभ-अशुभ प्रभाव, नागर जीवन एवं ग्राम-जीवन आदि। इसी प्रकार हमारे सांस्कृतिक जीवन के अनेक पक्ष हैं जिन पर कवि ने अत्यन्त मनोयोगपूर्वक प्रकाश डाला है—भारत के उत्सव, पर्व, तीर्थ, परम्पराएं और प्रथाएं, जातीय विश्वास और मान्यताएं, पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान की क्रिया-प्रतिक्रिया आदि। और, उधर धार्मिक जीवन के विविध प्रश्नों में भी उसकी गहरी रुचि रही है—जैसे हिन्दू धर्म के विभिन्न रूप, वैष्णव धर्म के तत्त्व, ज्ञान, कर्म, भक्ति-मार्ग, सगुण-निर्गुण तथा साकार-निराकार के अथवा अवतारवाद के प्रश्न, बौद्ध, जैन, मुस्लिम धर्म और हिन्दू धर्म के साथ उनके सम्बन्ध, प्रवृत्ति और निवृत्ति की समस्या, मोक्ष का स्वरूप, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक की कल्पना, आदि। कहने का अभिप्राय यह है कि गुप्तजी का काव्य एक महान् राष्ट्र के इतिहासव्यापी जातीय जीवन का सर्वांगीण चित्रण प्रस्तुत करता है : देश और काल में जीवन का ऐसा विस्तार, रूप और परिमाण की दृष्टि से जीवन का ऐसा वैविध्य, आधुनिक भारतीय भाषाओं के कम ही कवि प्रस्तुत कर पाए हैं।

युग-प्रतिनिधि कवि

गुप्तजी गांधीयुग के प्रतिनिधि कवि हैं : अपने जीवन के प्रौढ़िकाल में ही वे इस गौरव के अधिकारी हो गए थे। आधुनिक काल के इतिहास का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चरण वस्तुतः गांधीयुग ही है और उस युग का प्रतिनिधित्व एक सीमा तक सम्पूर्ण आधुनिक काल का प्रतिनिधित्व भी माना जा सकता है। गांधीयुग की प्रायः समस्त मूल प्रवृत्तियां—राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन—गुप्तजी के काव्य में प्रतिफलित हैं, और यह प्रतिफलन प्रत्यक्ष भी है तथा परोक्ष भी। 'भारत-भारती', 'स्वदेश-संगीत', 'हिन्दू', 'वैतालिक', 'मंगलघट', 'विश्व-वेदना', 'अजित', 'अनघ' आदि में युग-जीवन का स्वर मुखर है। यहां कवि ने अपने वातावरण की हलचल को प्रत्यक्ष रूप में वाणी दी है और आगे बढ़कर राष्ट्रकवि के दायित्व का पालन किया है। इनके अतिरिक्त 'जयद्रथवध', 'साकेत', 'यशोधरा', 'जयभारत', 'सिद्धराज', 'नहुष', 'कुणालगीत', 'दिवोदास', 'पृथिवीपुत्र' आदि में भी युग-चेतना अत्यन्त प्रखर है; परन्तु वह प्रच्छन्न है। गुप्तजी अपने युग-जीवन के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। यद्यपि उनके संस्कार मूलतः सामन्तीय थे और उनके घर का वातावरण वैष्णव भावनाओं से आपूर्ण था, तथापि वे समय के साथ चलने का निरन्तर प्रयत्न करते थे—देश के विभिन्न आन्दोलनों को समझने-परखने का वे बराबर प्रयत्न करते रहे। उनकी प्रतिक्रिया प्रायः प्रखर और प्रबल होती थी और उन्हें काव्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में प्रतिफलित करना उनके कवि-धर्म का अंग बन गया था। गांधीयुग की समस्याओं का प्रेमचन्द ने भी चित्रण किया है और उधर अपने ढंग से प्रसाद ने भी। इनमें प्रेमचन्द की दृष्टि प्रायः बहिर्मुखी ही थी—अर्थात् उनकी चेतना राजनीतिक-सामाजिक ही अधिक थी। प्रसाद की दृष्टि अन्तर्मुखी थी और कवि-जीवन की प्रौढ़ि तक पहुँचते-पहुँचते उनकी चेतना एकान्त रूप में सांस्कृतिक बन गई थी : गांधीयुग की प्रायः सभी प्रमुख समस्याओं को उन्होंने ग्रहण किया है, परन्तु उनके बहिरंग रूप में कवि की रुचि नहीं है। अपने नाटकों में प्रसादजी ने उन्हें पूर्णतः सांस्कृतिक रूप में प्रस्तुत किया है और 'कामायनी' में आध्यात्मिक धरातल पर। पहले दो उपन्यासों—'कंकाल' और 'तितली' में कथावस्तु की आवश्यकता के कारण प्रसाद उन्हें राजनीतिक-सामाजिक धरातल पर ग्रहण करते हैं, परन्तु शीघ्र ही उनके बहिरंग रूपों को भेदकर उनमें निहित सांस्कृतिक तत्त्वों की शोध में प्रवृत्त हो जाते हैं। एक ही समस्या किस प्रकार प्रेमचन्द के सामने सामाजिक-राजनीतिक रूप में आती है और प्रसाद के सामने सांस्कृतिक रूप में, इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण इन दो सहवर्ती लेखकों के उपन्यासों के वस्तु-विश्लेषात्मक अध्ययन से अनायास ही मिल जाता है। मैथिलीशरण गुप्त की स्थिति मध्यवर्ती है, उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय-सांस्कृतिक है। उनमें न तो प्रेमचन्द के समान व्यावहारिकता का आग्रह है और न प्रसाद की तरह दार्शनिकता का। वस्तुतः उनकी राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना वैष्णव संस्कारों के कारण एक ओर जहां प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक समृद्ध बन गई है, वहां दूसरी ओर प्रसाद की प्रतिभा का गाम्भीर्य न होने पर भी उसमें सगुण-तत्त्व (रूप+गुण तत्त्व) अपेक्षाकृत अधिक है। प्रेमचन्द में धर्म-भावना का अभाव है और प्रसाद में लोक-भावना का। अतः गांधीयुग में भारतीय लोक-चेतना का प्रतिनिधित्व गुप्तजी अपने इन दोनों समसामयिक महारथियों की अपेक्षा अधिक करते हैं। युग-चेतना और सांस्कृतिक चेतना का ऐसा मणि-कांचन योग अन्यत्र प्राप्त नहीं होता।

समदिग्गति और ऊर्ध्वगति का संतुलन

गुप्तजी की प्रतिभा जितनी संग्रहशील थी उतनी ही विकासशील भी। उसमें प्रगति और परम्परा, स्थिरता और गति, दोनों का समन्वय था। एक ओर जहां वह अतर्क्य श्रद्धा के साथ भारत की प्राचीन संस्कृति के सारतत्त्वों का निरन्तर संचय करती रही, वहां दूसरी ओर देशकाल की प्रवृत्तियों के अनुकूल जीवन के नवीन सत्यों को भी उत्साहपूर्वक स्वीकार करती रही। उनकी आस्था दृढ़ थी, किन्तु जड़ नहीं थी। उसमें परिस्थिति के अनुकूल विकसित होने की सहज शक्ति विद्यमान थी। परिवर्तन को वे सहज रूप में स्वीकार करते थे, लेकिन उसे ही एकमात्र सत्य मानना उनके संस्कारों के विरुद्ध था। जीवन के शाश्वत तत्त्वों को वे दृढ़ता के साथ पकड़े हुए थे, परन्तु उनके संशोधन और अनुकूलन से उन्हें परहेज़ नहीं था। अपने युग की नवीन-से-नवीन प्रवृत्ति के प्रति वे जागरूक थे। उनकी स्वीकृति की परिधि व्यापक थी, परन्तु स्वत्व से विचलन की संभावना उसमें नहीं थी। वास्तव में सच्चे हिन्दू आस्तिक के समान वे नव-नव तत्त्वों को स्वीकार करते रहे, परन्तु यह स्वीकृति उनके लिए स्वधर्म के विस्तार और विकास की प्रक्रिया से अधिक नहीं थी। युग-धर्म के अनुकूल स्वधर्म का विस्तार उनके लिए सहज काम्य था, पर स्वधर्म को त्याग कर युग-धर्म का ग्रहण उनके लिए असम्भव था। इसका एक स्पष्ट प्रमाण है गांधी-दर्शन के साथ उनका सम्बन्ध। आप देखेंगे कि गांधी-दर्शन और गांधी-नीति के वे ही तत्त्व उन्होंने ग्रहण किए हैं, जो वैष्णव धर्म की परिधि में आते हैं। यही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बात बौद्ध दर्शन के विषय में भी कही जा सकती है। बौद्ध धर्म के भी वे ही गुण कवि को स्वीकार्य हो सके हैं जिनकी वैष्णव भावना के साथ संगति बैठ जाती है। बौद्ध दर्शन को वास्तव में उन्होंने वैष्णव-भावना के रंग में रँगकर ही स्वीकार किया है। उनकी चेतना निश्चय ही प्रगतिशील थी, परन्तु प्रगति का अर्थ उनके लिए समदिक् गति मात्र नहीं था। इस प्रगति-भावना में ऊर्ध्वगति की स्पृहा निश्चय ही अन्तर्निहित थी। प्रगति के विषय में उनकी धारणा समदिक् गति और ऊर्ध्वगति के सन्तुलन के पक्ष में ही थी। इससे लाभ तो हुआ ही किन्तु हानि भी कम नहीं हुई। जीवन के समदिक् विकास पर केन्द्रित रहकर प्रेमचन्द की दृष्टि जिस प्रौढ़ यथार्थ-बोध और उस पर आश्रित स्वस्थ सामाजिक चेतना का अर्जन कर सकी वह मैथिलीशरण गुप्त के लिए अप्राप्य ही रही। इसी प्रकार ऊर्ध्व विकास की स्पृहा ने प्रसाद को जो गम्भीर तत्त्व-बोध प्रदान किया था उससे भी गुप्तजी प्रायः वंचित रहे। यह तो हुआ ऋण-पक्ष। धन-पक्ष यह है कि उपर्युक्त संतुलन के फलस्वरूप उनकी कला प्रेमचन्द की कला की अपेक्षा अधिक समृद्ध एवं भव्य बन गई और प्रसाद की कला की अपेक्षा सामान्य जीवन-परिवेश के अधिक निकट आ गई।

जीवन-मूल्य और काव्य-मूल्य

संश्लिष्ट रूप में हम यह कह सकते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व का निर्माण सहज मानव-धरातल पर आधुनिक युग की सांस्कृतिक-नैतिक चेतना और मध्य युग की वैष्णव भावना के संयोग से हुआ था। अतः उनके जीवन-मूल्यों में मानव-मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य और धार्मिक मूल्य परस्पर अनुस्यूत हैं : उनके आधारभूत मूल्य तो मानव-मूल्य ही हैं, किन्तु उन पर नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों का गहरा प्रभाव है। ये जीवन-मूल्य ही उनके काव्य में प्रतिफलित हुए हैं, अथवा यों कहना चाहिए कि इन्हीं के आधार पर उनके काव्य-मूल्यों में प्रेय की अपेक्षा श्रेय का प्राधान्य है—और सही शब्दों में, जीवन में जिस प्रकार प्रेय श्रेय की ओर उन्मुख है, उसी प्रकार काव्य में भी आनन्दवादी मूल्यों की अपेक्षा कल्याणकारी मूल्यों की प्रतिष्ठा है; अर्थात् उनके काव्य में प्रीति की भावना कल्याण की कामना से अनुशासित रहती है। प्रीति का यहां तिरस्कार नहीं है, किन्तु वह जीवन की सिद्धि न होकर साधना में ही अंतर्भुक्त है। अपनी संग्राहक प्रवृत्ति के कारण छायावाद का थोड़ा-बहुत प्रभाव तो गुप्तजी ने अवश्य ग्रहण किया था, किन्तु उसके रोमानी मूल्यों को स्वीकार करना उनके काव्य-संस्कारों के अनुरूप नहीं था। इसीलिए उनकी कविता में आत्मा के उल्लास और विचार-कल्पना की गरिमा के स्थान पर भावना के क्षेत्र में वैष्णव मन की द्रवणशीलता अथवा मानव-करुणा और विचार के क्षेत्र में औचित्य-कल्पना ही प्रमुख रही। उनकी काव्य-चेतना के लिए रम्य और अद्‌भुत का विशेष आकर्षण नहीं था। उन्हें तो जीवन के प्रकृत, मानवीय और हितकर तत्त्व ही प्रिय थे। उदात्त के प्रति उनके मन में भी सम्भ्रम का भाव था, लेकिन उनके उदात्त का विकास प्रकृत लौकिक भूमि पर ही हुआ। वे अविकल रूप से आदर्शवादी थे, पर उनका आदर्शवाद स्वच्छन्द कल्पना की सृष्टि न होकर सहज मानवगुणों के विकास का ही पर्याय था। उनकी आस्तिक भावना वस्तुतः सगुण और द्वैत से बँधी हुई थी इसलिए अद्वैत-दर्शन की विराट् कल्पनाएं उनके काव्य में नहीं मिलतीं। इस प्रकार उनकी उदात्त भावना भी मानव-सापेक्ष ही थी। कहने का अभिप्राय यह है कि गुप्तजी के जीवन-मूल्यों के अनुरूप उनके काव्य-मूल्य भी मूलतः आदर्शवादी ही थे—इस आदर्शवाद का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आधार था मानववाद, जो एक ओर सगुण धर्म-भावना से पोषित था और दूसरी ओर जागरण-सुधार युग की राष्ट्रीय-नैतिक चेतना से अनुशासित था। इन काव्य-मूल्यों में रोमानी तत्त्व तो गौण थे ही, साथ ही लोक-जीवन के नैकट्य के कारण शुद्ध आभिजात्यवादी तत्त्वों के प्रति भी विशेष आग्रह नहीं था। वास्तव में, भारतीय जीवन में बीसवीं शती के प्रथम चरण में उद्बुद्ध जागरण-सुधार की नवचेतना की परिणति जिन जीवन-मूल्यों में हुई थी, उन्हीं का पूर्ण प्रतिफलन हमें गुप्तजी के काव्य में मिलता है।

जीवन-दर्शन

कवि के जीवन और व्यक्तित्व के समान उनका जीवन-दर्शन भी एक खुला पृष्ठ था। वे वैष्णव थे—कुल-परम्परा के अनुसार रामानन्दी श्री-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और विशिष्टाद्वैत उनका मान्य दर्शन था। युग के प्रभाव से यद्यपि वे साम्प्रदायिकता से ऊपर उठ गये थे, तथापि अनन्य-भावना उनकी अन्त तक अविचल रही—अन्य सम्प्रदायों और धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वथा उदार था—इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उनकी अनन्यता इतनी स्पष्ट थी कि उन्हें स्मार्त्त वैष्णव भी कहना कदाचित् ठीक नहीं होगा। पिता की मधुर भावना को वे अपने स्वभाव और युग-धर्म के प्रभाव के कारण ग्रहण नहीं कर सके, मर्यादा और आदर्श में उनकी अटूट निष्ठा निरन्तर बनी रही। अतः देश-काल के अनुरूप, मानववादी विचारधारा से प्रेरित, राष्ट्रीय और सामाजिक भावना का विकास उनकी चेतना में अनायास हो गया था और श्री-सम्प्रदाय द्वारा पोषित मर्यादावादी लोक-धर्म के अन्तर्गत उसका समावेश कर लेना उनके लिए अत्यन्त सरल था। इस प्रकार कुल-धर्म और युग-धर्म के संयुक्त प्रभाव से कवि के जिस जीवन-दर्शन का निर्माण हुआ उसे हम धार्मिक मानववाद, या और सही शब्दों में 'वैष्णव मानववाद' कह सकते हैं।

काव्य के स्थायी तत्त्व और उनके आधार-स्रोत

मैथिलीशरणजी मानव-सम्बन्धों के कवि थे। युग-धर्म के अनुरूप उन्होंने भी राष्ट्रीय-नैतिक आंदोलनों को काव्य का विषय बनाया था, किन्तु उनकी काव्य-चेतना मानव-सम्बन्धों के चित्रण में ही आत्मलाभ करती थी। युगीन आन्दोलन तो परिवेश मात्र थे। उनके काव्य का सुवर्ण-काल—साकेत-यशोधरा का रचना-काल—छायावाद के भी उत्कर्ष का युग था। छायावाद के प्रभाव से सौन्दर्य के प्रति उनका आकर्षण बढ़ा अवश्य और प्रकृति तथा मानव के रूप-चित्रों में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि भी हुई, फिर भी यह कवि की प्रकृत भूमि नहीं थी। गुप्तजी प्रकृति के कवि नहीं हैं और न व्यापक अर्थ में उन्हें सौन्दर्य का ही कवि कहा जा सकता है। प्रसाद के काव्य में उपलब्ध रूप-यौवन के चित्र, पंत की सूक्ष्म सौन्दर्यचेतना अथवा निराला की अमूर्त रूप-व्यंजना गुप्तजी के काव्य में नहीं मिलेगी। इसी प्रकार गुप्तजी दर्शन के कवि भी नहीं हैं : गम्भीर विचार का औदात्य या तत्त्वज्ञान का शुभ्र प्रकाश उनकी कविता में प्रायः दुर्लभ है। और, न मन की सरल वीचियों से क्रीड़ा करने या अवचेतना की अतल गहराइयों का अवगाहन करने में ही इस कवि को रस आता है। कवि की वृत्ति तो मानव-मानव के बीच प्रवृत्तिजात रागात्मक सम्बन्धों में ही रमती है। वैष्णव धर्म के अनुकूल गृहस्थ या परिवार ही उसकी भावना की मुख्य क्रीड़ाभूमि है। जीवन का सम्पूर्ण लाभ—ऐहिक और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आमुष्मिक सिद्धि—-गृहस्थ की रसमयी परिधि में ही प्राप्त है। मानव के प्रति ऐसा सहज अनुराग आधुनिक काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है। वैसे यह युग ही मानववाद का युग है और प्रायः सभी कवियों ने मानव का गौरव-गान किया है परन्तु वह सिद्धान्त-कथन अधिक है । गुप्तजी ने मानव का स्तवन शायद ही कहीं किया हो किन्तु मानव-हृदय की संपूर्ण विवृतियों को वह अनायास ही स्वीकार करते रहे हैं। मानव-सम्बन्धों का मूल आधार है प्रेम या राग जिसका विपरीत रूप है द्वेष। प्रायः सभी सम्बन्धों या भावों का निर्माण इन्हीं दो वृत्तियों से होता है—अनेक सम्बन्धों में तो राग या द्वेष का ही प्रसार मिलता है और शेष सम्बन्ध ऐसे हैं जिनका निर्माण इन दोनों के भिन्नानुपातिक योग से होता है। मौलिकता और प्रबलता के आधार पर रति, उत्साह, शोक आदि कुछ-एक स्थायी भाव ही साहित्य में उभरकर आए हैं और इनमें भी रति का प्राधान्य रहा है, विश्व-साहित्य का अधिकांश शृंगार को ही समर्पित है। गुप्तजी के काव्य में भी शृंगार को यथोचित स्वीकृति मिली है, किंतु वह गार्हस्थ्य जीवन का एक अंग मात्र है—रीति-कवियों अथवा परवर्ती गीतकारों की भाँति गुप्तजी ने शृंगार को जीवन का साध्य मानकर स्वतन्त्र महत्त्व कभी नहीं दिया। अपने युग-जीवन और व्यक्ति-जीवन की परिस्थितियों के कारण करुणा का भाव उनके काव्य में प्रमुख हो गया है, परन्तु करुणा को उन्होंने रोमानी कवियों की भाँति न तो निरपेक्ष भाव के रूप में ग्रहण किया है और न आधुनिक कवियों की भाँति उसे युग-कुण्ठा और व्यक्ति-कुण्ठा का स्थायी भाव ही माना है। उनकी करुणा वस्तुतः मानव-हृदय के परिष्कार का साधन है, करुणा-जल से प्रक्षालित मानव-सम्बन्ध स्वच्छ बन जाते हैं। उर्मिला और यशोधरा की करुणा अयोध्या और कपिलवस्तु के पारिवारिक जीवन को शुद्ध करती हुई सम्पूर्ण देश और विश्व के वातावरण को शुद्ध करती है। अतः करुणा को जो महत्त्व मिला है वह भी निरपेक्ष नहीं है—मानव-करुणा को कवि ने मानव-सम्बन्धों के स्थायी भाव के रूप में ही गौरव दिया है। इस प्रकार प्रेम और करुणा व्यापक रूप में गुप्तजी के काव्य के स्थायी भाव हैं; द्वेष-वृत्ति की उपेक्षा नहीं है, किन्तु उसका राग में ही परिमार्जन करने का प्रयत्न प्रायः किया गया है। अपने समकक्ष और समसामयिक कवियों से गुप्तजी का वैशिष्ट्य यह है कि इन भावों तथा इनके असंख्य सहज-प्रबल रूपों का वे न तो दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हैं और न उनका अंतर्मुख विश्लेषण ही करते हैं—जैसा हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' में किया है या प्रसाद ने 'कामायनी' में या निराला ने 'तुलसीदास' में। आवश्यकता पड़ने पर कभी कहीं ऐसे प्रसंग आ जाएं तो दूसरी बात है, परन्तु उनकी कवि-वृत्ति इनमें नहीं रमती। उनकी रुचि तो वस्तुतः इन भावों के व्यक्त रूपों में है जो मानव-सम्बन्धों में प्रतिफलित होते हैं। आध्यात्मिक और रागात्मक दोनों ही क्षेत्रों में वे सगुण के उपासक हैं। छायावादी कवियों को भाव का निर्गुण रूप ही अधिक प्रिय है, पर गुप्तजी की उधर प्रवृत्ति नहीं है। समाज और परिवार के सन्दर्भ में ही भाव का अर्थ है—सन्दर्भ से विच्छिन्न भाव की सत्ता उनके लिए नहीं है। एक ही भाव किस प्रकार समाज और गृहस्थ के सुखदुःखमय परिवेश में नाना प्रकार के करुण-मधुर रूप धारण करता रहता है, इसकी जितनी सहज अनुभूति मैथिलीशरण गुप्त को है, उतनी कम ही कवियों को नसीब है। इस दृष्टि से तुलसी के बाद केवल उन्हीं का नाम आता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रस-कल्पना

मैथिलीशरण गुप्त की रस-व्यंजना पर विचार करते समय अनायास ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रस-कल्पना पर ध्यान चला जाता है। शुक्लजी ने भी रस की सगुण कल्पना की है—अर्थात् उनके अनुसार रस का सम्यक् परिपाक चित् या चित्त की अन्तर्भूमिका पर नहीं, वरन् जीवन में व्यक्त मानव-सम्बन्धों में ही सम्भव है। शुक्लजी की यह धारणा अभिनव आदि की एकान्त आत्मनिष्ठ रस-कल्पना से भिन्न है—वरन् यह कहना अधिक संगत होगा कि शुक्लजी की रस-कल्पना अभिनव की रस-कल्पना का बहिर्मुख प्रसार है। बहिर्मुख होते ही इस रस-कल्पना के लिए नैतिक विधान स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। आत्मास्वाद के रूप में रस की कल्पना तो आत्म-विश्रान्ति की अवस्था की ही पर्याय है जो नीति और आचार के नियमों से मुक्त है। परन्तु जहां उसका प्रतिफलन मानव-व्यापारों के भीतर होता है, वहां इन व्यापारों का अनुशासन करने वाले नियम स्वतः ही उसकी परिधि में प्रवेश कर जाते हैं। इसीलिए अधिकांश प्राचीन आचार्यों ने भी, जिनकी दृष्टि व्यावहारिक थी, औचित्य को रस के उपनिषद् के रूप में स्वीकार किया है और भाव की अनुचित प्रवृत्ति को रसाभास की संज्ञा दी है। स्वयं अभिनवगुप्त ने भी व्यवहार के धरातल पर यही व्यवस्था स्वीकार की है। फिर भी, रस की शास्त्रीय कल्पना में नीति की स्वीकृति मात्र ही माननी चाहिए—रस अपने शुद्ध रूप में नैतिक चेतना नहीं है। किन्तु शुक्लजी, जिनकी काव्यदृष्टि और रसदृष्टि का निर्माण तुलसी के काव्य के आधार पर हुआ है, रस को मूलतः नैतिक चेतना ही मानते हैं। अभिनवगुप्त जहां नैतिक चेतना को महत्त्व देते हुए भी परिणति या भोग की अवस्था में रस को नैतिक मूल्यों से ऊपर मानते हैं, वहां शुक्लजी नैतिक मूल्यों से अतीत रस की कल्पना नहीं कर सकते—नहीं करना चाहते। वास्तव में यह अद्वैत और द्वैत भावना का अनिवार्य भेद है। गुप्तजी की रस-कल्पना आचार्य शुक्ल की रस-कल्पना के निकट है जबकि प्रसाद की धारणा अभिनवगुप्त की धारणा से प्रायः अभिन्न है। परन्तु शुक्लजी के रस-चिन्तन का प्रभाव गुप्तजी पर नहीं है, साम्य का आधार सगुण भावना पर आश्रित दोनों की समान दृष्टि ही है। इस प्रकार—गुप्तजी के काव्य में सिद्ध रस आत्मभोग का पर्याय न होकर आचार-नियमों से अनुशासित जीवन-रस या गार्हस्थ्य-रस का ही पर्याय है।

प्रस्तुत कवि की रस-व्यंजना का मूल आधार स्थायी भाव ही है। आधुनिक युग में विकसित मानव-चेतना की सूक्ष्म-तरल विवृतियों से उसकी रस-सामग्री का निर्माण नहीं होता। उसके आधार तत्त्व हैं—मौलिक मनोवेग, जो मानव-जीवन की आदिम वासनाओं के व्यक्त रूप हैं। उनमें स्वभावतः ही एक प्रकार की प्राकृतिक शक्ति और ऊर्जा मिलती है। नागर मन की परिष्कृत भाव-गंध के स्थान पर सहज आवेग का ज्वार ही यहां प्रधान है। अतः गुप्तजी के काव्य में रस-व्यंजना प्रायः परिपाक-रूप में ही मिलती है। प्रबंध-कवि होने के कारण उनके काव्य में रस प्रायः अपने सम्पूर्ण परिकर को लेकर ही उपस्थित होता है और कवि के अपने स्वभाव में आवेग का प्राधान्य होने के कारण रस-परिपाक का आधार प्रायः स्थायी भाव ही रहता है। पंत और महादेवी जैसे सूक्ष्मचेता कवि जहां मन के किसी सूक्ष्म-तरल संचारी को लेकर रस की सर्जना में प्रवृत्त होते हैं, बिहारी जैसे कवि जहां सौंदर्य के किसी वस्तु-चिह्न से प्रेरित होकर रस का विधान करते हैं, निराला और प्रसाद जैसे कवि जहां किसी उदात्त विचार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यां कल्पना की रागात्मक परिणति द्वारा रस की सिद्धि करते हैं, वहां मैथिलीशरण के काव्य में रस का उद्रेक सीधा उसके मूल उत्स—स्थायी भाव—से ही होता है। फलतः उसमें प्रबलता, विस्तार और गहराई अधिक रहती है, सूक्ष्मता और परिष्कार कम। यह एक रोचक विडम्बना ही है कि मैथिलीशरण गुप्त की रस-व्यंजना अपने प्रिय कवि कालिदास की अपेक्षा भवभूति के अधिक निकट पड़ती है।

कला

कला के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त की सफलता मुख्यतः प्रबंध-कवि के रूप में या कथा-कवि के रूप में है। वास्तव में मानव-सम्बन्धों के कवि की अभिव्यक्ति का प्रकृत माध्यम कथा ही हो सकती है। ललित कल्पना के विलास में अथवा शब्द-अर्थ के चमत्कार में कवित्व का अनुसंधान करने की अपेक्षा घटना के ही मर्म का उद्घाटन करना उनके कवि-स्वभाव के अधिक अनुकूल था। प्रसाद ने जहां घटना के अनुभूत्यात्मक रूप पर बल दिया है वहां गुप्तजी को प्रायः अनुभूति का घटनात्मक रूप ही प्रिय था। अतः आधुनिक कवियों में—वास्तव में प्राचीन और नवीन सभी कवियों में—वस्तु-संयोजन तथा वृत्तवर्णन की ऐसी अपूर्व क्षमता प्रायः दुर्लभ ही है। प्रसाद और निराला जैसे छायावादी कवियों की कल्पना जहां भाव, चिंतन और विचार के समृद्ध सूत्रों से विच्छिन्न होकर शुद्ध वृत्तवर्णन की भूमिका पर उतरते ही हतप्रभ हो जाती है, वहां गुप्तजी की प्रतिभा वृत्तों के नियोजन मात्र में रोचकता उत्पन्न कर देती है। युग-धर्म के अनुरूप सुन्दर और मौलिक विचारों को प्रसंग रूप में परिणत करना उनके लिए अत्यन्त सरल कार्य था। अनेक प्रसंगों के घटाटोप में से सरस का निर्वाचन और नीरस का त्याग कर केन्द्र-बिंदु का अनुसंधान वे अनायास ही कर लेते थे। किसी भी कथा की नाटकीय सम्भावनाओं की परख उनमें अद्भुत थी। प्राचीन कथा को वर्तमान जीवन के अनुरूप ढालने का उन्हें सहज अभ्यास हो गया था; बिना किसी श्रम के ही वे प्राचीन कथाओं का रूपान्तर कर सकते थे। कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता के जिन रमणीय रूपों का विवेचन किया है, प्रायः उन सभी के रोचक उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त के कथा-काव्यों में मिल जाते हैं। इस कवि की कल्पना सूक्ष्म-तरल ऐन्द्रिय बिम्बों की रचना करने की अपेक्षा परिवेश और प्रसंग की उद्भावना में या उससे भी व्यापक धरातल पर वस्तु-विधान में अधिक फलवती होती है। कथा के क्षेत्र में अपनी इन मौलिक उद्भावनाओं को आकार देने के लिए कवि ने अनेक काव्य-रूपों का सफल आविष्कार भी किया है। 'यशोधरा' का काव्यरूप परम्परागत विधाओं से भिन्न है। 'यशोधरा' के चरित्र को केन्द्र मानकर उसके जीवन के अंतर्द्वन्द्व और विरह-वात्सल्य को—नाट्य-पक्ष और प्रगीत पक्ष दोनों को—एक साथ अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए प्रगीतात्मक प्रबंध-नाट्य की विधा की उद्भावना की गई है। इसी प्रकार 'द्वापर' में कथा के वाहक विभिन्न पात्रों की मनःस्थिति के क्रमबद्ध उद्घाटन के द्वारा एक समूचे युग के अंतर्द्वन्द्व को चित्रित किया गया है—मानो अनेक एकालापों (मोनोलॉग) को अन्वित कर नृत्य-नाटक की रचना की गई हो। इसी तरह 'कुणालगीत', 'दिवोदास', 'पृथ्वीपुत्र' आदि की विधाएं भी अपने-आप में स्वतंत्र हैं जिनमें गीतों अथवा उपस्थापित प्रसंगों के द्वारा आख्यान की प्रस्तावना की गई है। समसामयिक काव्य-चेतना से प्रभावित होकर प्रगीत-रचना भी कवि ने की है और क्रमशः प्रगीत-कला में नैपुण्य भी प्राप्त कर लिया है—'साकेत' एवं 'यशोधरा' के अनेक गीत इसके प्रमाण हैं। परन्तु शुद्ध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रगीत-रचना उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है—उसका गीत भी प्रायः किसी-न-किसी संदर्भ से भारित होकर आख्यान का प्रत्यक्ष या परोक्ष वाहक बन जाता है। इसी प्रकार वास्तव में गुप्तजी की कला मूलतः वास्तुकार की कला थी—मूर्तिकार के गुण भी उसमें पर्याप्त मात्रा में थे जितने कि वास्तुकला के लिए अपेक्षित होते हैं, किंतु रत्नकार की बारीकी उसमें नहीं थी। अतः जो कला-रसिक शब्द-चित्र या उक्ति-चारुत्व के आधार पर मैथिलीशरण की काव्य-कला की आलोचना करते हैं, वे रत्न-कला के प्रतिमानों से वास्तुकला के मूल्यांकन का दुष्प्रयास करते हैं।

काव्य-भाषा

मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा के विषय में मर्मज्ञों में तीव्र मतभेद है। शब्दार्थ के पारखियों का एक वर्ग ऐसा है जिसका आदर्श है रीति-कवियों की भाषा—मतिराम, बिहारी, देव की भाषा या पंत की भाषा जिसमें प्रत्येक शब्द तराश और खरादकर वाक्य में जड़ा जाता है, जहां शब्द के चित्रगुण और संगीतगुण का महत्त्व उसकी व्यंजना-शक्ति से कम नहीं माना जाता। दूसरा वर्ग उनका है जो भाषा के व्यवहार-गुण—मुहावरे और अर्थवत्ता को ही प्रमाण मानते हैं और सामान्य प्रयोग की भंगिमाओं तथा शब्दावली की परिधि के भीतर ही काव्य-भाषा की व्यंजना-शक्ति की सम्भावनाओं पर बल देते हैं। ये लोग रीतिमयी भाषा का विरोध इस आधार पर करते हैं कि उसमें तराश और खराद से जीवन की शक्ति क्षीण हो जाती है। दिनकर, बच्चन और अज्ञेय ने इसी तर्क के आधार पर छायावाद की भाषा का विरोध किया है और आज भी कर रहे हैं। इनमें से पहला वर्ग गुप्तजी की भाषा का विरोधी है और दूसरा वर्ग समर्थक। वास्तव में, गुप्तजी व्यवहार की भाषा को ही आधार मानकर चलते हैं और उसी के गुणों का उनकी काव्य-भाषा में प्राधान्य रहा है। आरम्भ में भाषा की प्रकृत शक्ति और शुद्धता, जिसके परिणामी गुण हैं स्वच्छता और स्पष्टता, उनकी काव्य-भाषा में मुख्य थे और उसका वाक्य-विन्यास गद्य-शैली के निकट था। क्रमशः उसकी लाक्षणिक शक्तियों का विकास हुआ और व्यंजना की क्षमता में भी वृद्धि हुई—किंतु प्रतीक-गुण और संगीत-गुण का विशेष विकास फिर भी नहीं हो सका। व्यवहार-भाषा की परिधि के भीतर, जन-सम्पर्क से प्राप्त शक्ति को सुरक्षित रखते हुए शब्दों और प्रयोगों को कल्पना-तत्त्व तथा राग-तत्त्व से गर्भित कर, उन्होंने अपने लिए जिस माध्यम का निर्माण किया उसमें छायावाद की भाषा और रीति-काव्य की भाषा का-सा मार्दव, श्रुति-सौंदर्य और औज्ज्वल्य फिर भी नहीं आ सका; परन्तु वह भाषा जीवंत प्रयोगों की प्राणवत्ता से संयुक्त बलिष्ठ भाषा थी, जिसमें व्याकरणिक शुद्धता के भीतर ही अद्भुत समासगुण का समावेश हो गया था। कवि-जीवन के अंतिम चरण में—'द्वापर' और 'सिद्धराज' के बाद की कृतियों में तो भाषा एकदम कवि की अनुवर्तिनी बन गई है, कवि अत्यंत सहज रूप में ऐसी संगठित भाषा का प्रयोग करता है जिसमें अर्थ-व्यंजना के लिए कम-से-कम शब्दावली का प्रयोग है किंतु सम्प्रेषण-शक्ति में किसी प्रकार की क्षति नहीं हुई। गुप्तजी की काव्य-भाषा के सामान्यतः तीन सोपान हैं: १. शुद्ध-स्वच्छ, गद्य-कल्प, व्याकरण-सम्मत रूप, जो 'भारत-भारती' वर्ग की कृतियों में प्राप्त होता है; २. संस्कृत की तत्सम शब्दावली से अलंकृत लक्षणा और व्यंजना के वैभव से सम्पन्न समृद्ध रूप, जो 'साकेत' वर्ग की रचनाओं में उपलब्ध है; ३. अत्यंत संश्लिष्ट समास-गुण-युक्त रूप,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो 'युद्ध-हिडिम्बादि' वर्ग की रचनाओं में मिलता है। वास्तव में, काव्य-माध्यम के रूप में खड़ी-बोली के भी विकास के ये ही प्रमुख सोपान हैं। शास्त्र की शब्दावली का आश्रय ले कर इस तथ्य को दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में कवि अभिधा पर निर्भर करता है—वह वाच्यार्थ को ही साज-संवार कर, स्पष्ट, प्रभावशाली रीति से विचार या भाव का कथन करता है—

हा, लेखनी ! हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा,
दृक्कालिमा में डूब कर तैयार हो कर सर्वथा।
(भारत-भारती)

दूसरे अवस्थान में अभिधा लक्षित चित्र और व्यंग्य अनुभूति की माध्यम मात्र बनकर रह जाती है और भाषा की कल्पनात्मक शक्ति तथा संवेदन-क्षमता की श्रीवृद्धि हो जाती है—

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या फिर देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटा कर जा कर उनको लाऊँ।
(साकेत)

तीसरे सोपान पर पहुँचकर लक्षणा और व्यंजना अभिधा में ही अंतर्भुक्त हो जाती हैं—उनका पृथक् अस्तित्व अत्यंत क्षीण हो जाता है और तीन शक्तियों के स्थान पर संश्लिष्ट शब्द-शक्ति, जिसमें वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की अविभाज्य-सी स्थिति रहती है, भाषा की प्रमुख माध्यम बन जाती है—

वीर-रस-भाव रखता हो युद्ध आदि में
रौद्र-भाव मध्य में, भयानक है अंत में,
और परिशिष्ट में तो है वीभत्स ही सदा !
(युद्ध)

इसे वास्तव में खड़ी बोली की—या किसी भी भाषा की—परिपक्व अवस्था मानना चाहिए जहां तीनों शक्तियां समाकलित हो जाती हैं।

मूल्यांकन

मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि हैं : एक सम्पूर्ण राष्ट्र की अत्यंत वैविध्यपूर्ण जीवन-चेतना को वाणी देने वाले महाकवि हैं—इसमें संदेह नहीं। पंत ने इसी विस्तार और वैविध्य को लक्ष्य कर उनके काव्य को तारापथ या स्वर्गंगा के समकक्ष माना है—

सूर, सूर, तुलसी शशि—लगता मिथ्यारोपण ;
स्वर्गंगा तारापथ में कर आप के भ्रमण ।

इस प्रशस्ति की पहली पंक्ति पर विवाद हो सकता है, परंतु दूसरी पंक्ति के विषय में प्रतिवाद की सम्भावना नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कवि सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण गुप्त की कविता का मैं लगभग पन्द्रह वर्षों से निरन्तर अध्ययन करता आया हूं। वे मेरे प्रिय कवि नहीं हैं। मेरी और उनकी वृत्ति तथा जीवन-दृष्टि में इतना अधिक अंतर है कि मैं उनके काव्य में आत्मानुभूति का सुख प्राप्त नहीं कर पाता। फिर भी मेरे मन में उनके काव्य के प्रति विशेष श्रद्धा रही है, जैसी कि एक साधारण रागी व्यक्ति के मन में किसी सन्त के व्यक्तित्व और उसकी वाणी के प्रति होती है। और चूँकि आज की दुनिया में मुझ-जैसे व्यक्तियों का ही बहुमत है, सियाराम जी जैसे संत अत्यन्त अल्प संख्या में हैं, इसीलिए उनका काव्य अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया। और, यह उनके साथ अन्याय नहीं है; यह उनके काव्य की स्वाभाविक परिसीमा है।

सुस्थिर और व्यवस्थित अध्ययन के उपरान्त मेरे मन में सियारामशरण की कविता के विषय में ये धारणाएं बनी हैं :

१. उनकी कविता का मूल भाव करुणा है।

२. उनकी काव्य-चेतना का धरातल शुद्ध मानवीय है। दूसरे शब्दों में, उसका मूलभूत जीवन-दर्शन विशुद्ध मानववाद है जिस पर गांधीजी के सिद्धान्तों की गहरी और प्रत्यक्ष छाप है।

३. इस कविता का प्रभाव एकान्त सात्विक और शान्तिमय होता है।

४. परन्तु सियारामशरण ने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है, इसलिए इस कविता में जीवन का स्वाद कम है।

'मौर्य-विजय' से लेकर 'नकुल' तक सियारामशरण के अनेक काव्यग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'मौर्य-विजय' और 'नकुल' खण्डकाव्य हैं, 'उन्मुक्त' काव्य-रूपक है, 'बापू' व्यक्ति-काव्य है, 'आत्मोत्सर्ग' चरित-काव्य। 'आर्द्रा' में काव्यबद्ध कहानियां हैं और 'पाथेय', 'मृण्मयी', 'नोआखाली में' तथा 'दैनिकी' में स्फुट विचार-प्रधान कविताएं हैं। 'मौर्य-विजय', को छोड़ कर, जो मैथिलीशरणजी के प्रभाव में किया गया कवि का आरम्भिक काव्य-प्रयोग है, इन सभी का प्रधान स्वर करुणा है। यह करुणा 'विषाद' तथा 'आत्मोत्सर्ग' में व्यक्तिगत होने के कारण तथा 'आर्द्रा' की कहानियों में निरावरण होने से अत्यन्त तीव्र हो गई है। उधर 'उन्मुक्त', 'दैनिकी' और 'नोआखाली' में भी वह युद्ध तथा रक्तपात के वातावरण के कारण सर्वथा व्यक्त है, परन्तु अन्य रचनाओं में भी उसकी अन्तर्धारा उतनी ही असंदिग्ध है। करुणा की इस सर्वव्याप्ति के व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनों ही कारण हैं। व्यष्टिगत कारणों में कवि का चिररुग्ण जीवन, पत्नी तथा अन्य प्रियजनों की मृत्यु, और बहुत-कुछ साहित्यिक उपेक्षा भी है। इन तीनों कारणों ने मिलकर उसकी दृष्टि को स्थायी रूप से करुणार्द्र बना दिया है। सबसे पहले तो श्वास-रोग ही अपने आप में एक स्थायी व्यथा है, परन्तु रोग की व्यथा को प्रेम, विशेषकर अंतरंग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सहचरी का प्रेम, बहुत कुछ हलका कर लेता है। इसी प्रकार मृत्यु, वियोग आदि के शोक को व्यक्ति स्वास्थ्य-सुख के द्वारा भुलाने में सफल हो जाता है। और, प्रेम तथा स्वास्थ्य दोनों के अभाव को साहित्यिक आत्माभिव्यक्ति और उसकी स्वीकृति का सुख बहुत-कुछ दूर कर सकता है। माना कि स्वीकृति का सुख अपने आप में कोई विशेष स्पृहणीय सुख नहीं है, परन्तु वास्तविकता का निषेध करना व्यर्थ है; लेखक का यह सम्बल है और प्रत्येक देश-काल में लेखक को इसकी आवश्यकता रही है।

इस प्रकार व्यष्टिगत धरातल पर इस कवि ने स्वास्थ्य, दाम्पत्य प्रेम और लोक-स्वीकृति इन तीनों के अभाव का अनुभव किया। उधर समष्टिगत जीवन में भी यह युग पराजय का युग था। राजनीतिक जीवन में कांग्रेस बार-बार विफल हो रही थी और उधर सामाजिक जीवन पर रूढ़ियों का सर्प इतनी गहरी कुण्डली मारे बैठा था कि जागरण-सुधार के सभी आन्दोलन उसको अपने स्थान से हिलाने-डुलाने में असमर्थ हो रहे थे। विषाद के इस सार्वभौम साम्राज्य में सियारामशरण की कविता का विकास हुआ और स्वभावतः उनमें करुण स्वर का प्राधान्य हुआ।

यह करुणा क्रमशः व्यष्टि से समष्टि तक व्यापक होती गई है। विषाद की करुणा का धरातल, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया, शुद्ध व्यक्तिगत है। उसमें स्वर्गता पत्नी के वियोग में कवि ने अत्यन्त मार्मिक किन्तु संयत कविताएं लिखी हैं। मृत्यु के समक्ष मानव कितना असहाय है. उसका प्रेम, उसकी कल्पना, उसका बुद्धि-वैभव सभी कुछ अपने प्रियजन को मृत्यु के पाश से मुक्त कराने में असमर्थ रहते हैं। यह बेचारा स्मृति, स्वप्न, कल्पना आदि की सहायता से भी तो अपने वियुक्त प्रिय को प्राप्त नहीं कर सकता। विकल कवि दिवास्वप्न देखता है :

हो सकती भव बीच नहीं क्या कोई नूतन बात ?
आ जा आज यहां फिर से तू सस्मित पुलकित गात।

× × ×

मन्द-मन्द गति से आकर तू आँखें सी दे खोल ,
फिर से तेरे मंजु मिलन में उठे हर्ष-कल्लोल।
'अरे यहां कैसे बैठे तुम, करते हो क्या खूब',
कुछ न सुनूं जा लिपटूं तुझ से हर्षोदधि में डूब॥

परन्तु यह सब क्रूर कल्पना है !—

हाय, कुहुकमयि क्रूर कल्पना ! यह छलना है व्यर्थ ,
अश्रु गिराना मात्र रहा है अब तो तेरे अर्थ।
उनमें से भी तुझ तक कोई पहुँच न सकते आह ,
जाने कितने गिरि वन सागर रोक रहे हैं राह॥ (विषाद)

मानव की बेबसी का कितना करुण चित्र है !

जीवन का यह एकाकीपन कठिन रोग की पीड़ा से मिल कर कवि की वैयक्तिक करुणा को और भी गहरा बनाता हुआ, उसके मन में कभी-कभी अत्यन्त निराशामय चित्र अंकित कर देता है :

गत निशि में सोचा शैया पर मैंने लेटे-लेटे ,
इसी निशा में मरण आज यदि आकर मुझको भेंटे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं रुकेगी तब भी क्षण भर गति संचरित पवन की,
क्या गणना है रत्नाकर में एक बूंद जल-कण की !

× × ×

फिर भी विकल हो उठेंगे सब मेरे स्वजन सुहृज्जन,
बहु अज्ञात गुणों की माला मुझे करेंगे अर्पण। (दैनिकी)

यही करुणा व्यक्तिगत धरातल से उठकर समष्टिगत धरातल पर पहुँचकर क्रमशः सामाजिक और विश्वजनीन—मानवीय हो जाती है। 'आर्द्रा' की कहानियों में 'एक फूल की चाह', 'खादी की चादर' आदि में उसका सामाजिक रूप निरावरण होकर सामने आता है। हमारे समाज का अन्तर्मन आर्थिक तथा वर्ण-जातिगत विषमताओं से पीड़ित है। 'एक फूल की चाह' में अछूत बालिका सुखिया शीतला की महामारी का शिकार होती है। रुग्णा बालिका के मन में देवी के प्रसाद के एक फूल की चाह उत्पन्न होती है और उसका पिता बेटी की इस आकांक्षा को पूरा करने के लिए सामाजिक बाधा-व्यवधान की उपेक्षा करता हुआ अपने सदुद्देश्य में विश्वास करके चुपके-चुपके देवी के मन्दिर में जाता है। परन्तु पंडे लोग उसे पकड़ लेते हैं, उसको खूब मारा-पीटा जाता है और अन्त में न्यायालय उसे एक सप्ताह का दण्ड देता है। इस बीच में सुखिया बेचारी तड़प-तड़पकर प्राण त्याग देती है और उसका पिता जब कारावास भोगकर आता है तो ज्ञात होता है कि सुखिया को तो कई दिन पूर्व उसके परिचित बन्धु फूंक चुके थे :

बुझी पड़ी थी चिता वहां पर, छाती धधक उठी मेरी,
हाय फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी।
अन्तिम बार गोद में बेटी, तुझको ले न सका मैं हाय,
एक फूल मां का प्रसाद भी तुझको दे न सका मैं हाय !
वह प्रसाद देकर ही तुझको जेल न जा सकता था क्या !
तनिक ठहर ही सब जन्मों के दण्ड न पा सकता था क्या ?
बेटी की छोटी इच्छा, वह कहीं पूर्ण मैं कर देता,
तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का सभी विभव मैं हर लेता !
यहीं चिता पर धर दूंगा, मैं कोई अरे, सुनो, वर दो।
मुझ को देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो। (आर्द्रा)

कवि सियाराम का हृदय समाज की इस नृशंसता पर चीत्कार कर उठता है और उससे हिन्दू-समाज के प्रति एक अत्यन्त तीखा करुण व्यंग्य निकल जाता है :

कैदी कहते, "अरे मूर्ख, क्यों ममता थी मन्दिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी, दूर न था गिरजाघर भी।"

समाज के धरातल से फिर यह करुणा विश्वजनीन हो जाती है और कवि के हृदय में केवल अपने परिचित समाज के प्रति ही नहीं, वरन् समस्त जगती के प्रति करुणा का उद्भव हो जाता है :

हाय री मेरी जगती !
इतनी सुन्दर तदपि घृणित-सी तू क्यों लगती ?

× × ×

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तेरे में कुछ नहीं तेज-बल ? अयि कल्याणी ;
तू क्यों ऐसी दीन हुई क्यों कुंठित-वाणी ? (उन्मुक्त)

निष्कर्ष यह है कि इस करुणा का धरातल मूलतः व्यक्तिगत अथवा सामाजिक न होकर मानवीय है। कवि सियाराम के काव्य की करुणा आज की चिरपरिचित भौतिक कुण्ठाओं की करुणा न रहकर भारतीय अध्यात्म की मानव-करुणा, भगवान् बुद्ध की मैत्री-करुणा बन जाती है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि इसका जन्म भौतिक कुण्ठाओं से ही होता है, परन्तु कवि ने अपनी साधना और तपस्या से उसे परिष्कृत कर शुद्ध मानव-करुणा का रूप दे दिया है। यह तपस्या है आधुनिक मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न की, मन को इस प्रकार वश में कर लेने की कि वह दुःख में ही रस लेने लगे। वास्तव में मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार आत्म-पीड़न कोई स्पृहणीय वृत्ति नहीं है; परन्तु उसका उचित उपयोग करने से उन्नयन के लिए मार्ग प्रस्तुत हो जाता है। भारतीय साधना-पद्धति में इसका बड़ा महत्त्व रहा है। प्राचीन सन्तों से लेकर गांधीजी तक ने इस साधना को अपनाया है।

इस प्रकार सियाराम जी की करुणा स्थूल से सूक्ष्म, अर्थात् भौतिक से आध्यात्मिक, हो जाती है। स्वभावतः ही इस करुणा में निराशा का अन्धकार अथवा किसी प्रकार की रुग्णता नहीं है ; क्योंकि इसका मूल गहरी आस्तिकता में है। जीवन की करुणा से भीगा हुआ होने पर भी यह काव्य आशा और विश्वास के अमर संदेश से मुखर है। व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा सार्वजनिक किसी भी धरातल पर कवि की करुणा श्रद्धा और विश्वास से रहित नहीं होती :

आश्वसित, समाश्वसित हूं,
तुझे देख कर हरित भाव से आशान्वित हूं।
देख रहा हूं, जहां क्रोध कुत्सित पाशव का,
रूप विकट वीभत्स, जहां मूर्च्छित मानव का।
शतशः खंडीकरण दलन-विदलन कर-कर के ;
उसी ठौर पर उसी ठिकाने के थल पर से ,
फूट पड़े हैं नये-नये अंकुर वे शोभन।

जीवन में जो घृणा और पाशवता दिखाई देती है, वह जीवन का सत्य नहीं है, वह तो केवल माया है। जीवन का सत्य है स्नेह, और सत्य की शक्ति माया की शक्ति से कहीं प्रबल है। माया भंगुर है, सत्य चिरन्तन। घृणा और द्वेष की विभीषिका कुछ समय तक ही रहती है, अन्त में विजय स्नेह की ही होती है। सियारामजी ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में इस अमर सत्य की व्यंजना की है :

उस सैनिक का रुधिर वहां वह हृदय-विमोहन ,
नवजीवन के अरुण राग में परिवर्तित है।
जिसे घृणा की गई उसी के लिए नमित है ,
धरणी की वह सुमन-मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित ,
इधर, उधर, सब ओर। (उन्मुक्त)

घृणा के ऊपर स्नेह की यह विजय स्पष्ट शब्दों में गांधीवाद की घोषणा है; और सियारामशरण जी ने गांधी-दर्शन को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किया है। गांधीवाद वास्तव में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आध्यात्मिक मानववाद ही है ! इसके दो मूल आधार हैं : सत्य और अहिंसा। यह सम्पूर्ण जगत्—चर-अचर—एक सत्य से अनुप्राणित है। यह सत्य अखण्ड और एकरस है। भावना के क्षेत्र में यही भगवान् या राम है। एक सत्य से अनुप्राणित होने के कारण प्राणिमात्र का समान अस्तित्व है। आस्तिक के लिए यही समबुद्धि अनिवार्य है। इस समबुद्धि का व्यक्त रूप है अहिंसा। अहिंसा अभावात्मक वृत्ति नहीं है, वह अत्यन्त भावात्मक है, अर्थात् उसका मूल तत्त्व घृणा, द्वेष का निषेध मात्र नहीं है, उसका मूल तत्त्व है प्रेम। घृणा का उत्तर घृणा नहीं है, प्रेम है। हिंसा के विरुद्ध हम हिंसा न करें यह भी पर्याप्त नहीं है, हमें उसका उत्तर प्रेम से देना चाहिए; तभी यह वृत्त पूरा होता है। क्योंकि घृणा या हिंसा का अभाव तो केवल अभावात्मक स्थिति है जो शून्य है; और चिर-तरंगायित मानव-मन शून्य अभावात्मक स्थिति में रह नहीं सकता। अतएव उसको प्रेम से भरना होगा। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति प्रेम। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर मानव-मानव का भेद—समस्त जाति वर्ण, गण, राष्ट्र के भेद तो मिट ही जाते हैं, इतर प्राणियों के प्रति भी समभाव उत्पन्न हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस अहिंसा भाव की प्राप्ति कैसे हो ? इसका उपाय है आत्मशुद्धि, और आत्मशुद्धि के लिए तप अर्थात् आत्म-पीड़न और भगवद्भक्ति आवश्यक है। पाप का विनाश तप से हो सकता है। केवल अपने पाप—अपनी घृणा और हिंसा का नाश करना पर्याप्त नहीं है, यह अधूरी साधना है। अहिंसक को तो हिंसा के अस्तित्व मात्र से युद्ध करना है, और इसका भी उसके पास केवल एक ही उपाय है—तप। अपने को तपाकर हम अपनी शुद्धि ही नहीं करते हैं, दूसरे की भी शुद्धि करते हैं; यही गांधीजी का हृदय परिवर्तन सिद्धांत है। और, तत्त्व-रूप में यही गांधी-दर्शन है। व्यवहार-रूप में इसके अनेक अंग हैं : देश-प्रेम, परसेवा, साम्प्रदायिक एकता, आत्म-निर्भरता (जिसके अन्तर्गत मशीन-उद्योग के विरुद्ध ग्राम-उद्योग की प्रतिष्ठा आदि आ जाती है), सदाचारमय जीवन, आदि। व्यापक रूप में इसके अन्तर्गत विश्वमैत्री की भावना भी अनिवार्यतः गर्भित है, परन्तु गांधीजी ने इसको तूल नहीं दिया।

जैसा कि मैंने अन्यत्र संकेत किया है, सियारामशरण ने गांधीवाद के तात्त्विक पक्ष को ही अपनाया है, उसके व्यवहार-पक्ष के प्रति उनको अधिक रुचि नहीं रही। वह उनके अग्रज का क्षेत्र है। इसका कारण दोनों के व्यक्तित्वों का अन्तर है। मैथिलीशरण जी का जीवन विशिष्ट रागद्वेषमय व्यावहारिक जीवन है, सियारामशरण जी का जीवन चिन्तनमय है। और स्पष्ट शब्दों में, मैथिली बाबू में जीवन का प्रबल उपभोग है, सियाराम जी में उसका चिंतन। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि मैथिली बाबू ने जहां गांधीवाद का कर्म-रूप ग्रहण किया है, वहां सियाराम जी ने उसका तत्त्व-रूप। इसके अतिरिक्त दोनों में एक और अन्तर है। मैथिली बाबू में भक्ति के संस्कार गहरे और अचल हैं, सियारामशरण में सन्तों का आत्मपीड़नमय तप है। अतएव सियाराम जी गांधीवाद के तात्त्विक रूप को, जो मूलतः सन्त-दर्शन का ही विकास है, सहज ही ग्रहण कर सके। परन्तु मैथिली बाबू के भक्ति-संस्कार इतने प्रबल और गहन थे कि उनके ऊपर गांधीजी के केवल उन्हीं सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ सका जिनके साथ उनकी संगति बैठती थी। व्यावहारिक दृष्टि से अत्यधिक जागरूक होने के कारण उन्होंने गांधीवाद के उन सभी तत्त्वों को अपनी रामभक्ति में समाविष्ट कर लिया है जिनका उससे मौलिक विरोध नहीं है। गांधीजी के स्वदेश-प्रेम, स्वातंत्र्य-संघर्ष, जागरण-सुधार, साम्प्रदायिक एकता, धार्मिक औदार्य, पर-सेवा आदि सिद्धान्तों को मैथिली बाबू ने बड़े उत्साह के साथ ग्रहण किया है, परन्तु सत्य और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अहिंसा को उन्होंने रामभक्ति के अनुरूप ढालकर ही स्वीकार किया है। जहां गांधी-नीति और रामभक्ति में मौलिक भेद है,वहां मैथिली बाबू ने गांधी-नीति को स्वीकार नहीं किया, जैसे कि अवतारवाद आदि के सम्बन्ध में। सिद्धांततः गांधी जी निर्गुण-भक्तों की परम्परा में आते हैं। मैथिली बाबू ने सगुण और साकार उपासना को विधिवत् और पूर्ण निष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

सियारामजी में आस्तिक संस्कार तो अपने अग्रज की भांति ही वर्तमान हैं, परन्तु उनकी आस्तिकता का विकास शास्त्र-धर्म के अनुसार न होकर युग-धर्म के अनुसार हुआ है। उन्होंने गांधी-दर्शन को समग्रतः ग्रहण कर लिया है। एक-से संस्कार और वातावरण में पोषित इन गुप्त-बन्धुओं के जीवन-दर्शन का यह अन्तर मनोविज्ञान की दृष्टि से सहज ही समझा जा सकता है। सियारामजी की रुग्णता और उनके जीवन की दुःखद घटनाओं ने आत्मपीड़न के सिद्धान्त को उनके लिए सहज ग्राह्य बना दिया। इसके विपरीत मैथिली बाबू के सहज स्फूर्तिमय व्यावहारिक व्यक्तित्व को वंश-परम्परागत रामभक्ति में पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी। वास्तव में भारतीय चिंता-परम्परा में वैष्णव-दर्शन पीड़ा का दर्शन है, और शैव-दर्शन आनन्द का। वैष्णव-दर्शन में भी निर्गुण और सगुण धाराओं में पीड़ा के अनुपात का अन्तर है। सगुणोपासना में आनन्द का यथेष्ट समावेश है, परन्तु निर्गुण भाव एकान्त दुःख की फ़िलासफ़ी है। गांधीवाद भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आता है। वह भी पीड़ा का दर्शन है—एक परतन्त्र देश की चिर-पराजय से जिसका जन्म हुआ है। अतएव, स्वभावतः ही यह मैथिली बाबू की अपेक्षा सियाराम जी के व्यक्तित्व के अधिक अनुकूल पड़ा और इसके द्वारा उन्हें अपनी व्यक्तिगत पीड़ा के उन्नयन का अवसर मिल सका।

गांधी-दर्शन वास्तव में सियारामशरण की रचनाओं में ओत-प्रोत है। उनमें स्थान-स्थान पर गांधीजी की वाणी का काव्यानुवाद मिलता है:

> नहीं कहीं कुछ भेद, एक ही इन्द्रधनुष में ;
> भासित वे बहु वर्ण, वर्ण ये पुरुष पुरुष में।
> बाहर के आभास, एकता ही अन्तर्गत।

यह एकता सब में अनुस्यूत, अखण्ड सत्य की एकता है। इसी एक सत्य से अनुप्रेरित होने के कारण मानव स्वभावतः अकलुष है। सारा कलुष परिस्थितिजन्य आवरण-मात्र है जिसके हट जाने से मनुष्य का शुद्ध-बुद्ध मानव फिर अपने मूल रूप में आ जाता है :

> वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;
> ऐसा मानव, लाभ उठा जिसकी शिशुता का
> किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का
> ऊपर का वह खोल।

अतएव पाप वास्तव में एक प्रकार की भ्रांति ही है, इसलिए पापी क्रोध का पात्र न होकर दया का पात्र है।

> आत्म-विस्मृति ने छाकर
> उसका बोध विलोप कर दिया था, मैं उस पर
> रोष करूं या दया ?

—क्योंकि रोष तो स्वयं हिंसा है, और हिंसा से हिंसा की शुद्धि कैसे हो सकती है!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिंसा की शुद्धि के लिए तो अहिंसा अपेक्षित है। यही जीवन का चिर-सत्य है :

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर,
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर। (उन्मुक्त)

यह गांधीजी के सूत्रों का अविकल अनुवाद है। इतना ही नहीं, उनके सभी कथा-काव्यों का मूलार्थ भी यही है। 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त' और 'नोआखाली' में तो वे प्रत्यक्ष रूप से गांधी-वाद के सिद्धान्तों की स्थापना करते ही हैं, उनके अतिरिक्त 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' की काव्यबद्ध कहानियों और 'नकुल' में भी गांधी-दर्शन की ही अभिव्यक्ति है। और, यही बात 'दैनिकी' आदि विचारात्मक स्फुट कविताओं में है। वास्तव में हिन्दी काव्य में गांधी-दर्शन की इतनी सहज अभिव्यक्ति किसी भी लेखक ने नहीं की। यों तो गांधी-दर्शन का प्रभाव इस युग में एक सर्व-व्यापी प्रभाव है—हिन्दी का कदाचित् ही कोई कवि-लेखक इससे अछूता रहा हो। यह वास्तव में हमारा युग-दर्शन है। अनेक में गांधीवाद का प्रचारघोष भी आवश्यकता से अधिक मिलता है। परन्तु हिन्दी में मूलतः दो लेखक ऐसे हैं जिन्होंने गांधी-दर्शन को गंभीरतापूर्वक ग्रहण किया है—जैनेन्द्र और सियारामशरण। इनमें से जैनेन्द्र की स्वीकृति एकान्त बौद्धिक है। उनकी आत्मा गांधी-दर्शन के शम-सात्त्विक प्रभाव को ग्रहण नहीं कर सकी है। पन्तजी को गांधी-दर्शन की शान्त परिष्कृति पूर्णतः स्वीकार्य है; परन्तु वे कदाचित् उसमें अभीष्ट कला का अभाव पाते हैं, इसलिए अरविन्द के प्रति उन्हें अधिक आकर्षण है; किन्तु सियारामशरण के हृदय और बुद्धि, दोनों का, गांधी-दर्शन के साथ पूर्ण सामंजस्य है, वह उनकी आत्मा में रम गया है।

इस प्रकार के तपःपूत और साधनामय जीवन की अभिव्यक्ति निसर्गतः ही अत्यन्त सात्त्विक एवं शान्तिमय होनी चाहिए। और इस दृष्टि से सियारामशरणजी की कविताओं का सबसे पृथक् एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी के एक आलोचक ने सियारामशरण के निबन्धों के प्रभाव के विषय में लिखा है कि इनका प्रभाव मन पर ऐसा पड़ता है जैसा कि निभृत मन्दिर में मन्द-मन्द जलते हुए घृत-दीप का। यह उक्ति वास्तव में सियारामशरण के समस्त साहित्य पर, विशेषकर उनके काव्य पर, पूर्णतः घटित होती है। उनके काव्य को पढ़ कर मन आत्मद्रव से भीगकर एक स्निग्ध शान्ति का अनुभव करता है। इस काव्य में उत्तेजना का एकान्त अभाव है—न वह भावों को उत्तेजित करता है और न विचारों को। भयंकर संघर्ष और उथल-पुथल के इस युग में, जब कि सर्वत्र ही मूल्यों का कुहराम मचा हुआ है, उत्तेजना का यह शमन अद्भुत सफलता है। वास्तव में आज के जीवन में उत्तेजना सत्य है और शान्ति कल्पना। आज का कवि हृदय को ही नहीं, विचारों को भी झकझोरकर पाठक के मन को प्रभावित करता है। उसका संवेद्य ही यह उत्तेजना है। मूल्यों को अस्त-व्यस्त करता हुआ, मान्यताओं को चुनौती देता हुआ, विचारों को झकझोरे देकर (और उसके द्वारा हृदय में भी उथल-पुथल मचती ही है) वह पाठक के साथ बौद्धिक तादात्म्य स्थापित करता है। सियारामशरण इस बौद्धिक उत्तेजना से अपरिचित नहीं हैं, उनके खण्ड-काव्यों और स्फुट मुक्तकों में इसकी स्थिति सर्वत्र है; परन्तु स्वीकृति कहीं भी नहीं है। युग के तूफ़ान और आंधी के बीच उनका वह मन्दिर-दीप, जिसमें विश्वास अर्थात् सत्य की अग्नि-शिखा है, और स्नेह अर्थात् अहिंसा का घृत है, नीरव निष्कम्प जलता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सियारामशरण की कविता बौद्धिक उत्तेजना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से मुक्त आस्तिक विश्वास से प्रेरणा प्राप्त करती है और उसका यह विश्वास एकान्त मानवीय मूल्यों पर—सत्य और अहिंसा पर—आधृत होने के कारण शान्त और नीरव है, दूसरे के सिर पर चढ़ कर बोलने वाला नहीं है। इसलिए इस कविता में अपूर्व शान्ति और सात्विकता मिलती है।

इस शांति और सात्त्विकता का दूसरा रहस्य यह है कि इस कवि की चेतना वासना और ऐन्द्रियता से बहुत-कुछ मुक्त है। निरंतर साधना-संयम से उसने वासना को अत्यन्त परिष्कृत कर लिया है। फलतः उसमें एक ओर क्रोध, घृणा आदि द्वेषजन्य मनोवेगों का परिमार्जन हो गया है, और दूसरी ओर राग का उन्नयन। सियारामजी जैसे व्यक्ति के लिए साधारणतः मनोग्रंथियों और काम-कुंठाओं का शिकार हो जाना स्वाभाविक था, परन्तु उनके आस्तिक संस्कार और निष्ठा ने उनकी रक्षा की है और इतना बल प्रदान किया है कि वे अपनी कुंठाओं पर विजय प्राप्त कर सकें। वास्तव में मनोविश्लेषकों ने कुंठा के पोषण के लिए जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया है, वे सभी सियारामशरणजी के जीवन में उपस्थित रही हैं। उदाहरण के लिए, काम की अभिव्यक्ति के साधन का अभाव, कठोर नैतिक वातावरण एवं धार्मिक रूढ़िग्रस्त जीवन तथा अस्वस्थ शरीर। परन्तु इस व्यक्ति ने अपनी साधना से जीवन के विष को अमृत कर लिया है और मैं समझता हूं, इसका श्रेय बहुत-कुछ अंशों में आस्तिक संस्कारों और पारिवारिक स्नेह को भी देना पड़ेगा।

तीसरा कारण इस सात्त्विक शांति का यह है कि सियारामशरणजी ने अपने अहंकार को पूर्णतः पीड़ा में घुला दिया है। भयंकर अहंवाद के इस युग में अहंकार का यह उत्सर्ग एक आध्यात्मिक सफलता है और जैनेन्द्रजी के अनुसार साहित्य का चरम श्रेय यही है। साहित्य का चरम श्रेय यह हो अथवा न हो, परन्तु जीवन और साहित्य की यह एक पुण्य साधना अवश्य है, जिससे चेतना शांतिमय और निर्मल होती है, और इस प्रकार जिस साहित्य की सृष्टि होती है वह निस्संदेह सात्त्विक और पुण्यपूत होता है। पीड़ा के दर्शन को हृदय से स्वीकार करने वाले के लिए वास्तव में अहंकार का विलयन करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि पीड़ा व्यक्तित्व को द्रवीभूत करती है, अहंकार उसे पुंजीभूत करता है। दैहिक और दैविक कष्टों के कारण और परिवार में छोटे होने के कारण सियारामशरण आत्म-निषेध के अभ्यस्त होते गए और उधर अपने आस्तिक संस्कारों के द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिक विकृतियों को बचाते हुए उसे उदात्त रूप देते गए। परिणामस्वरूप विनय (अहंकार का अभाव) उनकी चेतना का अंग बन गया और व्यक्तिगत पीड़ा का मानव-पीड़ा के साथ तादात्म्य होता गया जिससे रजस् और तमस् बहुत-कुछ घुलकर नष्ट हो गया और सत् का प्राधान्य हो गया। सात्त्विकता की दृष्टि से वास्तव में सियारामशरण का काव्य आधुनिक हिन्दी-काव्य में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता। ऐसी सात्त्विकता और शांति प्राप्त करने के लिए हमें महादेवीजी की कतिपय कविताओं को पार करते हुए बहुत दूर मध्ययुग के भक्तों के आत्म-निवेदन तक जाना होगा; परन्तु उस काव्य की और सियारामशरण के काव्य की आत्मा में भेद है। सियारामशरण भक्त नहीं हैं, भक्त की एकनिष्ठता उनमें नहीं है। उन्होंने अपनी रति को केन्द्रित करने की जगह वितरित किया है। उनमें श्रद्धा है, ममता है किन्तु एकनिष्ठ रति नहीं है।

यह अभाव सियारामशरण की कविता के सबसे बड़े अभाव के लिए उत्तरदायी है, और वह यह है कि उन्होंने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है। इसलिए उनके काव्य में जीवन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का स्वाद कम है। नाना-रसमयी सृष्टि में उनका घनिष्ठ परिचय करुण और शांत से ही है। करुण माध्यम है और शांत परिणति। शृंगार, वीर आदि भावात्मक रसों का उन्होंने बड़े संदेह के साथ डरते-डरते स्पर्श किया है। नारी की ओर दृष्टि डालने से पूर्व यह सत्पुरुष अपनी आँखों को मानो गंगाजल से आँज लेता है। यों तो इनके काव्यों में नारी के विविध रूपों का वर्णन है—नारी के माता, बहन, पुत्री, पत्नी और प्रेयसी सभी रूप मिलते हैं, परन्तु कहीं भी वे रति की आलंबन प्रकृत नारी के रूप तथा मन का उद्घाटन नहीं कर सके हैं। नारी के लिए उनके मन में श्रद्धा और संकोच-मिश्रित स्निग्धता-भर है। जहां कहीं शृंगार का प्रश्न आता है, सियारामशरणजी के ये दोनों भाव उस पर आरूढ़ हो जाते हैं। उदाहरण के लिए :

करती थी वह वहां अकेली स्नान-निमज्जन।
अंजलि-जल से वक्ष बाहु कच भिगो-भिगोकर,
जलधारा में पसर गई वह लम्बी होकर।
सैकत में फिर युग मृणाल-भुज स्थापित कर निज,
ऊपर समुद उछाल दिया उसने मुख सरसिज। (नकुल)

रूप-वर्णन कितना फीका है ! इसको पढ़कर स्पष्ट ही यह धारणा होती है कि या तो कवि के पास रमणी के इस रूप का पान करने वाली दृष्टि नहीं है, या फिर उसने साहस के अभाव के कारण अपनी आँखें दूसरी ओर मोड़ ली हैं। और वास्तव में यही हुआ है। कवि सचमुच सहमकर आकाश की ओर देखने लगा है :

इसी समय सामने क्षितिज में अरुण सेज पर,
उठा बाल-रवि गगन धरा का अनुरंजन कर।

रमणी की ओर दृष्टि उसने श्रद्धा-भाव को आहूत करने के उपरांत ही डाली है :

अर्द्धोत्थित से हुआ न जब तक पूर्णोत्थित वह,
बनी रही साष्टांग नमन-मुद्रा में स्थित वह।

इस प्रसंग में अंतर को स्पष्ट करने के लिए आपको प्राचीनों में विद्यापति का और नवीनों में प्रसाद का स्मरण मात्र करा देना पर्याप्त होगा। इसमें संदेह नहीं कि विवेक-बल के द्वारा सियारामशरणजी ने भी स्थान-स्थान पर संकोच का परित्याग कर प्रकृत चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु अब उसके लिए बहुत विलंब हो गया है और इन अभिव्यक्तियों में ऊष्मा की कमी है :

एक हाथ से हाथ, दूसरे से धर ठोड़ी,
ग्रीवा अपनी ओर पार्थ ने उसकी मोड़ी।
और स्वमुख से अमिट प्रेम की छाप लगाई,
अमृत पिलाकर विरह काल की भीति भगाई।

यह चित्र बिल्कुल ठंडा है। सारी क्रिया यंत्रवत् है। तुलना कीजिए :

और एक फिर व्याकुल चुंबन रक्त खौलता जिससे,
शीतल प्राण धधक उठता है तृषा-तृप्ति के मिस से।
(प्रसाद : कामायनी)

और, श्रद्धेय सियारामशरणजी, क्षमा करें, यह प्रक्रिया भी ग़लत है। इसमें संदेह नहीं कि नारी के माता, बहन, मित्र आदि अनेक रूप हैं और उसे सदा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बुभुक्षित नेत्रों से देखना अत्यन्त अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है; परन्तु उसका एक प्रकृत नारी-रूप भी है, जिसके शरीर और मन में उपभोग की भूख है, जो स्वयं उपभोग्य बनकर भी तृप्ति पाती है। स्वयं सियारामशरण के ही काव्य में एक स्थान पर प्रकृत नारी यही पुकार कर उठी है :

> आकर सहसा किसी भ्रान्ति की संचारी में,
> देवी का आरोप करेंगे यदि नारी में,
> तो कैसे वह सहन कर सकेगी उस क्षण को,
> जब कल छलना-रहित समय कर देगा मन को। (नकुल)

नैतिक आदर्श आदि के आतंक से इस रूप की उपेक्षा करना उसके मूल रूप की उपेक्षा करना है और जीवन के कवि के लिए वह स्पृहणीय नहीं है। उसका अभाव जीवन की अपूर्णता का द्योतक है।

शृंगार के अतिरिक्त उनमें जीवन और काव्य को समृद्ध करने वाली व्यक्तित्व की अन्य प्रकृत अभिव्यक्तियों की भी परिक्षीणता है। उन्होंने आत्मपीड़न के द्वारा अपने अहं को घुलाकर इतना निर्मल करने का प्रयत्न किया है कि मन के रंग धुल गए हैं और उनकी जीवन-दृष्टि आवश्यकता से अधिक निर्वैयक्तिक एवं एकांगी-सी हो गई है। अहं का संस्कार करते-करते वे उसकी प्रकृत शक्ति खो बैठे हैं। अतिशय परिष्कार से वस्तु की नैसर्गिक शक्ति नष्ट हो जाती है, यह प्रकृति का नियम है। अहं के सत्-असत् दोनों रूपों की जीवन में सार्थकता है। स्नेह, करुणा, श्रद्धा, शान्ति, विनय, संयम, अहिंसा आदि तो जीवन के आभूषण हैं ही; परन्तु घृणा, कठोरता, दर्प, अहंकार, वासना आदि की भी सार्थकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। घृणा में असमर्थ व्यक्ति का स्नेह फीका होता है। जो व्यक्ति कठोर नहीं हो सकता उसकी करुणा असहाय होती है। दर्पहीन की श्रद्धा दुर्बल होती है और विनय क्लीव। इसी प्रकार अहिंसा को भी हिंसा-वृत्ति के अनुपात से ही तेज प्राप्त होता है। जीवन का यह समग्र ग्रहण सियारामशरणजी में नहीं है—यह उनके अग्रज में है। सियारामशरण की कविता में अमृत है, पर मनुष्य को रस चाहिए, वह तो रस पर जीता है। सियारामशरणजी की चेतना का मूल गुण है उसकी संवेदनशीलता। पीड़ा को जीवन-दर्शन मानने वाला व्यक्ति निश्चय ही अतिशय संवेदनशील होगा। संवेदनशीलता के कारण उनकी काव्य-चेतना अत्यंत सूक्ष्म है, उसमें गहराई भी कम नहीं है; परन्तु जीवन के उपभोग के अभाव में उसमें समृद्धि का अभाव है और उधर जीवन का समग्र ग्रहण न होने के कारण उसमें व्यापकता तथा विराटता का भी अभाव है।

कला-शिल्प

उपर्युक्त विश्लेषण की भूमिका में अब मैं यदि यह कहूं कि सियारामशरणजी अपने कला-शिल्प के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं, तो वह असंगत-सा प्रतीत होगा। जिस व्यक्ति के काव्य में इतनी सात्त्विकता और शांति है, जिसने आत्मशुद्धि पर इतना बल दिया है, वह कला-शिल्प के प्रति जागरूक क्यों होगा ? परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। उपर्युक्त गुणों का कला-शिल्प से कोई विरोध नहीं है। कला-शिल्प से विरोध बहिर्मुखी प्रवृत्ति तथा अतिशय प्रबल आत्माभिव्यक्ति का तो माना जा सकता है। जिस व्यक्ति को अनुभूति की प्रबल प्रेरणा के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कारण चिन्तन का अवकाश ही न हो, वह कला के प्रति उदासीन होगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति बाहर की ओर ही अधिक देखता है, वह भी कला-दृष्टि खो बैठता है। कला के लिए अन्तर्मुखी वृत्ति आवश्यक है, जिसके दो प्रमुख रूप हैं: चिन्तन और कल्पना; और, सियारामशरण में इन दोनों का, विशेषकर चिन्तन का, प्राचुर्य है। चिन्तन एक प्रकार से उनके काव्य का सामान्य गुण है। निदान, उनकी काव्य-चेतना से कला-शिल्प का कोई विरोध नहीं है। हां, यह असंदिग्ध है कि इस कला-शिल्प का स्वरूप उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है।

इस दृष्टि से सियारामशरण की कला की एक प्रत्यक्ष विशिष्टता यह है कि वह गीतिमय न होकर चिन्तनमय है। उनकी कविता में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति नहीं मिलती। वे प्रायः एक विचार को लेकर उसके परिवहन के लिए एक छोटी-सी लघुकथा (फ़ेब्रिल) का निर्माण करते हैं और उसी के माध्यम से अपने अभिप्रेत को व्यक्त करते हैं। यह उनकी प्रिय शैली है और एक प्रकार से अब उनके लिए स्वाभाविक-सी हो गई है। वे कहते नहीं हैं, संकेत करते हैं। व्यंग्य उनका सबसे प्रबल शस्त्र है और कहीं-कहीं वह बड़ा मार्मिक और तीखा हो जाता है।

दूसरे, यह कला समृद्ध न होकर स्वच्छ है। इसमें रूप-रंग का विलास, औज्ज्वल्य अथवा मीनाकारी नहीं है। इसमें एक निरन्तर स्वच्छता है जिसका मूल आधार है समन्विति। कवि की कल्पना और भाव-कोष पर चिन्तन का स्थिर नियमन है, अतएव प्राचुर्यजन्य शैथिल्य और सूत्राभाव उसमें कहीं भी नहीं मिलता। उसकी अभिव्यक्ति सदैव सार्थक एवं समन्वित होती है। उसके चित्र कहीं भी असम्बद्ध एवं स्वतंत्र नहीं हो पाते। मूल विचार की एकसूत्रता उनमें सदैव रहती है। राग, कल्पना तथा विचार का पूर्ण सामंजस्य उनमें सर्वत्र मिलता है। इसलिए एक भाषा-मर्मज्ञ ने उनकी प्रशंसा में लिखा है कि सियामशरण की काव्य-भाषा, वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से, गद्य-भाषा के अधिक-से-अधिक निकट आ जाती है—अन्वय किये बिना ही प्रायः उसका गद्यान्तर किया जा सकता है। यह वाग्धारा की स्वच्छता और स्फीति का ही द्योतक है अन्यथा उनकी भाषा गद्यवत् नहीं है। उसका काव्योचित अर्थ-गाम्भीर्य और प्रौढ़ता अद्भुत है और सन्तोष की बात यह है कि यह प्रौढ़ता निरन्तर बढ़ती जाती है। 'नकुल' से कुछ उदाहरण देता हूं:

१. थमा दिव्य संगीत मुखरता खोई दिव की,
चढ़-सी गई समाधि समय के सुन्दर शिव की।

... ...

२. किस पामर ने किया नखांकित दारुण दुखकर,
संशय का यह घाव आर्य-वाणी के मुख पर।

३. धरा वहां उठ गई स्कन्ध तक मानो दिव के,
तपोरता पार्वती अंकगत हो ज्यों शिव के।

ये केवल उदाहरण-मात्र हैं। वैसे अब सियारामशरण की अभिव्यक्ति का साधारण स्तर ही यह हो गया है। उनके नवीन काव्यों में प्रत्यक्ष इतिवृत्त वर्णन का एक प्रकार से अभाव होता जा रहा है। उनकी अभिव्यक्ति अब ऋजुसरल न रह कर उत्तरोत्तर वक्र होती जा रही है।

इस प्रकार कवि सियारामशरण के काव्य में संस्कार और साधना का साधु समन्वय है। वे उन कवियों में से हैं जिन्होंने सच्चे अर्थ में काव्य की साधना की है। वे लोकप्रिय नहीं रहे, और हो भी नहीं सकते, क्योंकि वे प्रेय को छोड़कर श्रेय की साधना में रत हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पन्त का नवीन जीवन-दर्शन

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की आलोचना करते हुए आज से आठ-नौ वर्ष पूर्व मैंने लिखा था कि मार्क्सवाद में श्री सुमित्रानन्दन पंत का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। जीवन के भौतिक मूल्य पंत के संस्कारी व्यक्तित्व को तृप्त नहीं कर सकते। उनका सूक्ष्म-चेता मन उन बुद्धि-गृहीत भौतिक मूल्यों के विरुद्ध उस समय भी बार-बार विद्रोह कर रहा था और ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे शीघ्र ही फिर अपने परिचित पथ पर लौट आयेंगे। कारण स्पष्ट है : पन्त के व्यक्तित्व में वह काठिन्य और दृढ़ता नहीं है जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए अपेक्षित है। मार्क्सवाद का भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद, पन्त-जैसे कोमलप्राण व्यक्ति का परितोष नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति के लिए आस्तिकता अनिवार्य हो जाती है और आत्मा तथा ईश्वर में ही अन्त में उसे जीवन और जगत् का समाधान मिलता है। अतएव 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' का प्रकाशन और उनमें अभिव्यक्त पन्त का परिवर्तित दृष्टिकोण हमारे लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मानव-मनोविज्ञान से अभिज्ञ, संस्कारों में विश्वास रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वाभाविक घटना ही मानेगा।

यों तो 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' में कई प्रकार की कविताएं हैं : अनेक कविताओं का धरातल सामाजिक है, कुछ कविताएं आत्मगत हैं जो परिष्कृत मधुर रस से अभिषिक्त हैं; कतिपय कविताएं प्रकृति-सम्बन्धी भी हैं, परन्तु अधिकांश कविताएं आध्यात्मिक हैं। इसलिए इन नवीन कृतियों का प्रधान स्वर आध्यात्मिक है। 'ग्रंथि' से 'पल्लव' और 'पल्लव' से 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और 'युगांत' में पन्तजी क्रमशः शरीर से मन और मन से आत्मा की ओर बढ़ रहे थे। बीच में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। मार्क्स के वस्तुवादी जीवन-दर्शन ने उन्हें आकृष्ट किया और वे अपने सहज मार्ग से थोड़ा हट गए। उस समय भी उनकी आध्यात्मिक चेतना लुप्त नहीं हुई थी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' दोनों में भी उन्होंने अतिभौतिकवाद का निषेध करते हुए आत्म-सत्य और वस्तु-सत्य के समन्वय पर बल दिया है। परन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि उस काल-खण्ड की कविताओं में भौतिक सत्य का ही प्राधान्य है; चेतना पर वस्तु-सत्य का प्रभुत्व है यद्यपि अवचेतन में आत्म-सत्य की सत्ता का अन्त नहीं हुआ है। यह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया-मात्र थी और एक बौद्धिक स्वीकृति से अधिक नहीं थी। परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्रकृत संस्कार फिर उभर आए और पन्तजी वस्तु से आत्मा की ओर फिर प्रवृत्त हो गए :

सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन,
बृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किन्तु चिरंतन।

उनका विकास-पथ भी निसर्गतः यही है और इसकी चेतना उन्हें स्पष्ट है :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दीप-भवन युग विद्युत्-युग में ज्यों दिक् शोभित,
मन का युग हो रहा चेतना युग में विकसित।

परन्तु इस आध्यात्मिकता का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है। यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नहीं है और न यह रहस्यवाद ही है। इसका सम्बन्ध सूक्ष्म चेतना से है। पन्तजी का आत्मा की सत्ता में अटल विश्वास है। परन्तु वे आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते हैं, अपने में सर्वथा निरपेक्ष भौतिक जीवन से एकान्त अविकृत उसका अस्तित्व नहीं है। और स्पष्ट शब्दों में—मानव-हृदय का पूर्णतम विकसित रूप आत्मा है। अतएव उसमें मानव-हृदय की विभूतियों का चरम विकास मिलता है। उनसे रहित शुद्ध-बुद्ध अथवा निर्लिप्त रूप, नकारात्मक एवं निवृत्तिमूलक, पन्त को अग्राह्य है। उन्होंने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं है; उन्नयन है, दमन नहीं है :

आज हमें मानव-मन को करना आत्मा के अभिमुख

परन्तु साथ ही,

वही सत्य कर सकता मानव-जीवन का परिचालन
भूतवाद हो जिसका रज तन प्राणिवाद जिसका मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गभीर चिरन्तन।

(लोक-सत्य)

तीसरी रे भूख आत्मा की गहन।
इन्द्रियों की देह से ज्यों है परे मन॥
मनोजग से परे ज्यों आत्मा चिरंतन,
जहां मुक्ति विराजती,
औ' डूब जाता हृदय-क्रन्दन।
वहां सत् का वास रहता,
वहां चित् का लास रहता,
वहां चिर उल्लास रहता
यह बताता योग दर्शन।
किन्तु ऊपर हो कि भीतर
मनोगोचर या अगोचर,
क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृतघन,
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन ?
जाति-वर्गों से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीति में बँध
पुण्य जीवन करें यापन।
औ' धरा हो ज्योति-पावन !

प्रवृत्तिमय होने के कारण यह आध्यात्मिकता स्वभावतः आनन्दरूपिणी है—इसमें आत्मा का सात्त्विक उल्लास है। भूत-रत जीवन के काले लौहपाश से मुक्त अन्तश्चेतना का सोना है। भौतिकता अथवा भूत-लिप्सा मरणोन्मुखी और नाशमयी है और आत्मा का सहज उल्लास लश है। अतएव पन्त की इस नवीन आध्यात्मिक चेतना में प्रेम और माधुर्य से समन्विती

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जीवन की जागृति, सृजन की स्फूर्ति और निर्माण-स्वप्नों का राशि-राशि सौन्दर्य-वैभव है :

खुला अब ज्योति द्वार,
उठा नव प्रीति द्वार,
सृजन शोभा अपार।
कौन करता ऽभिसार,
धरा पर ज्योति-भरण,
हँसी लो स्वर्ण-किरण।

यह आध्यात्मिकता वैसे तो पन्तजी की काव्य-चेतना का सहज विकास था परन्तु इसका तात्कालिक कारण उनकी रुग्णता भी है। तीन-चार वर्ष पूर्व पन्तजी उस स्थिति पर पहुँच गए थे जहां से मृत्यु दृष्टिगोचर होने लगती है। मृत्यु के उस अन्ध तमस् को भेदकर नव-जीवन की स्वर्ण-किरण का उद्भास स्वभावतः जीवन-दर्शन में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। वास्तव में मृत्यु जीवन की भौतिकता के लिए सबसे बड़ी ललकार है—आज से शत-सहस्र वर्ष पूर्व मानव-चेतना के उस नवप्रभात में वैदिक ऋषि ने मानव को भौतिक लिप्साओं से सावधान करने के लिए ही तो कहा था : "ओं क्रतो स्मर, कृतं क्रतो स्मर।" मृत्यु की चेतना जीवन के स्थूल तथ्यों को भेदकर उसके सूक्ष्म सत्यों को अनायास ही उद्घाटित कर देती है। अतएव कवि को स्थूल से सूक्ष्म की ओर, वस्तु से आत्मा की ओर प्रेरित करने के लिए उसकी इस रुग्णता ने भी कम-से-कम परिस्थिति का कार्य अवश्य किया है। पन्त-जैसे व्यक्ति के जीवन में वैसे ही कटुता के लिए स्थान कम था, जो कुछ कटुता थी वह इस अग्नि में जलकर निःशेष हो गई—अब उसमें प्राणों का अमृत है, नवजीवन, आशा, उल्लास है।

इस अध्यात्म-चेतना का मूल तत्त्व है समन्वय—व्यष्टि और समष्टि अर्थात् ऊर्ध्व विकास और समदिक् विकास का समन्वय, बहिरन्तर अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय—जिसे पाश्चात्य दर्शन में विज्ञान और ज्ञान, और प्राच्य दर्शन में अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (ब्रह्मज्ञान) कहा गया है।

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि करे उन दोनों का संचालन।
बहिरंतर के सत्यों का जगजीवन में कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।

यही मानव का देवत्व है जिसमें कि जीवन के स्वर्णिम वैभव पर आत्मा का अवतरण प्रतिष्ठित है; इसी के आधार पर विश्व-संस्कृति की स्थापना हो सकती है जो इस युग की समस्याओं का एकमात्र समाधान है। आज के द्रोह-रत मानव की यही मुक्ति है। और यह समाधान युग का सामयिक सत्य नहीं है, युग-युग का शाश्वत सत्य है। मानव-जीवन की चिरन्तन समस्या का चिरन्तन समाधान है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे उपनिषद् इसकी घोषणा कर चुके हैं :

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य अविद्यायां रतः॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

व्यक्तित्व-विकास की दृष्टि से पन्तजी इस समय जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँच गए हैं। जीवन की यह वह अवस्था है जहां स्वयं कवि के शब्दों में :

रूप रंगों का चित्र जगत्
सिमट, धुल, हो अनुभव-अवगत
विचारों भावों में परिणत,
नियम चालित लगता संतत।
भिन्न रुचि प्रकृति नहीं कल्पित
एकता में वे आलिंगित
विकर्षण-आकर्षण से नित्य
हो रहा जगजीवन विकसित।

अर्थात्, 'पल्लव' के सौंदर्य-कवि के मानस का रूप-रंग प्रौढ़ि की इस अवस्था में जीवन के अनुभवों से धुलकर विचार और भाव में परिणत हो गया है। यौवन-सुलभ रोमानी उल्लास चिंतन और विचार में परिणत हो गया है, जीवन के वैचित्र्य में उसे एकता की अनुभूति होने लगी है। अब विकर्षण और आकर्षण एक ही सत्य के दो रूप होने के कारण एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जीवन और जगत् के विकास में उन दोनों का समान योग है। इसीलिए आज वह समन्वय की अमोघ ओषधि लेकर विश्व की वर्तमान व्याधियों का उपचार करने के लिए आगे बढ़ता है। वह देखता है कि आज मानव जाति, वर्ण, वर्गों में विभक्त है। पृथ्वी का वक्ष राष्ट्रों के कटु स्वार्थों से खंडित हो रहा है। अर्थ-व्यवस्था सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गई है। जीवन के मंदिर में हँसती हुई मानव-मूर्ति के स्थान पर यन्त्रों की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जनगण के रक्त-प्राण का शोषण हो रहा है। उधर सामाजिक जीवन पूर्णत: विशृंखल हो गया है। मध्यवर्ग कृमिव्यूह की तरह क्षुद्र स्वार्थों से ग्रस्त है। अर्थ-दस्यु उच्चवर्ग धन-मद से अन्धा हो रहा है। सारा जीवन अहम्मन्यता और अन्ध लालसा से काँप रहा है। उधर बौद्धिक दृष्टि से, आज समाज में चार वर्ग मिलते हैं—एक बुद्धि-प्राण वर्ग, दूसरा धर्म-प्राण वर्ग, तीसरा राजनीतिक वर्ग और चौथा वर्ग उन नवशिक्षितों का है जिनका कोई विशिष्ट एवं निश्चित दृष्टिकोण नहीं है, जो विचारहीन जीवन व्यतीत करते हैं। इनमें पहला वर्ग तर्कों, वादों और सिद्धांतों के जाल में उलझा हुआ है। दूसरा धर्म-प्राण वर्ग धर्म की आत्मा को भूल उसके बाह्य स्थूल रूपों, रीति-नीति और शाखा-पंथों से आगे नहीं बढ़ पाता। राजनीतिक वर्ग जीवन के रचनात्मक कार्यों को छोड़ ध्वंसात्मक कार्यों में अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। रह गया चौथा वर्ग, उसमें सोचने की शक्ति ही नहीं है। नवशिक्षा ने उसे पूर्णत: भाग्यवादी बना दिया है। उसके प्राप्य हैं : स्त्री, धन, पद, मान। बस इनके आगे चेतना की गति नहीं है।

कवि इस सार्वभौम अध:पतन के कारण पर विचार करता है तो उसे ज्ञात होता है कि इस सम्पूर्ण ह्रास का मूल कारण है जीवन में संतुलन (समन्वय) का अभाव।

आज का मानव बाह्य जीवन में इतना खोया हुआ है कि वह अपने अन्तःस्वरूप को सर्वथा भूल गया है। वाष्प, विद्युत् और किरण आज मानव के वाहन हैं, यहां तक कि भूत शक्ति का मूलस्रोत भी आज अणु ने उसे समर्पित कर दिया है। वह वनस्पति और पशु-जगत् का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विकास कर सकता है, गर्भाशय में जीवन-अणु को भी ऊर्जित करने की क्षमता उसने प्राप्त कर ली है। एक प्रकार से सम्पूर्ण दिशा-काल पर उसका आधिपत्य है :

दिशा-काल के परिणय का रे मानव आज पुरोहित !

परन्तु फिर भी आज वह सर्वाधिक दुःखी और विषण्ण है, क्योंकि उसका अन्तर्जीवन सर्वथा उपेक्षित है—परिणामतः उसके बहिर्जीवन और अन्तर्जीवन का सामंजस्य नष्ट हो गया है :

बहिर्चेतना जागृत जग में अंतर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियां जीवित, अंतर्जीवन मूर्छित मृत।

जब तक यह सामंजस्य फिर से स्थापित नहीं होता, संसार की समस्या हल नहीं हो सकती। आज आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक वैभव और आत्मिक ऐश्वर्य, विज्ञान और दर्शन के समन्वय द्वारा मानव के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की जाय। तभी मानव जातियों और राष्ट्रों में खंडित मानवता—मानवीय एकता—का साक्षात्कार कर सकेगा और तभी आज के मानव की मुक्ति सम्भव है। इस प्रकार राष्ट्रों और वर्गों की अनेकता में मानव-एकता की स्थापना—यही कवि के अनुसार आज की विषमताओं का समाधान है। व्यक्तिगत साधनों के क्षेत्र में कवि और आगे बढ़ता है और अनेकता में एकता की यह अनुभूति भौतिक तत्वों से ऊपर उस परम तत्त्व तक पहुँचती है :

अन्न प्राण मन आत्मा केवल
ज्ञान भेद हैं सत्य के परम,
इन सब में चिर व्याप्त ईश रे,
मुक्त सच्चिदानन्द चिरंतन।

यह कोई नवीन दर्शन नहीं है, शास्त्रीय शब्दावली में यह भारतीय अद्वैतवाद की पीठिका पर यूरोप के मानववाद की प्रतिष्ठा है, जो आज से कुछ दशाब्दियां पूर्व कवीन्द्र रवीन्द्र कर चुके थे। वैसे तो अद्वैतवाद और मानववाद दो विशिष्ट दर्शन प्रतीत होते हैं। एक पूर्व का, दूसरा पश्चिम का है; एक प्राचीन, दूसरा नवीन है, इस तरह की कुछ धारणा मन में होती है। परन्तु तात्त्विक विश्लेषण करने पर मानववाद अद्वैतवाद का ही एक प्रोद्भास मात्र है। अद्वैतवाद का मूल आधार है अनेकता में एकता का ज्ञान, अर्थात् यह ज्ञान कि विश्व की प्रतीयमान अनेकता मिथ्या है, उसमें अनुस्यूत एकता (एक तत्त्व) ही सत्य है। एकांत व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में तो साधक उस एकता (एक तत्त्व) से सीधा साक्षात्कार करने के प्रयत्न में अनेकता को मिथ्या मानकर उसकी ओर से सर्वथा पराङ्.मुख हो गया। परन्तु जब वह सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर साधना में अग्रसर हुआ तो उसने अनेकता (जगत्) को मिथ्या नहीं माना—वरन् इस अनेकता की धारणा को मिथ्या माना। स्थूलतः जो अनेक नाम-रूप दिखाई देते हैं, वे उसी एक रूप के अनेक प्रतिबिम्ब होने के कारण उससे अभिन्न हैं। इस प्रकार जगत् में स्व और पर का भाव, महान् और लघु का भाव, उच्च-निम्न का भाव अर्थात् किसी भी प्रकार के पार्थक्य का भाव मिथ्या है। विधाता की सृष्टि के सभी प्राणी—कीरी और कुंजर समान हैं। मानव-जगत् में राजा-रंक, धनी-निर्धन, ब्राह्मण और शूद्र—आधुनिक शब्दावली में जाति, वर्ण, वर्ग आदि का भेद भ्रांति है। सभी मानव समान हैं और उस परम शक्ति का प्रतिबिम्ब होने के कारण मूलतः श्रेष्ठ हैं। कबीर और उनके सहयोगी संतों ने इसी आध्यात्मिक मानववाद का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अपने जीवन और काव्य में प्रतिपादन किया था। आधुनिक युग में कवीन्द्र रवीन्द्र ने पश्चिम की मानववादी विचारधारा से भी प्रभाव ग्रहण कर इसी को नवीन रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने विश्व-बन्धुत्व सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

रवीन्द्र का यही विश्व-बन्धुत्व पन्तजी में विश्व-संस्कृति बन गया है :

हमें विश्व-संस्कृति रे, भू पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव-उर कर निर्मित।

रवीन्द्र पर जहां पूर्ववर्ती मानववादी दार्शनिकों का प्रभाव था, पन्त पर वहां परवर्ती मनोवैज्ञानिकों एवं मनोविश्लेषकों का प्रभाव है। इसीलिए उन्होंने मानव-एकता की साधना के लिए आत्म-संस्कार को साधन माना है :

मानवीय एकता जातिगत तन में करनी स्थापित,
मनःस्वर्ग की किरणों से मानव-मुखश्री कर मंडित।

यह 'मनःस्वर्ग' आत्म-संस्कार (Sublimation) का ही काव्यमय नाम है।

पन्त की इस जीवन-दर्शन की ओर आरम्भ से ही प्रवृत्ति रही है। 'ज्योत्स्ना' में उन्होंने पहली बार अपने विचारों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है। 'युगांत' में कवि ने इसमें आध्यात्मिक रंग देना आरम्भ किया था परन्तु 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मार्क्स-दर्शन के प्रभाववश उसकी चिन्तन-प्रवृत्ति बहुत-कुछ बहिर्मुखी हो जाने से इस चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास-क्रम टूट गया। अंत में सन् १९४४ की अस्वस्थता ने उसे पुनः अन्तर्मुख चिन्तन पर बाध्य किया और 'स्वर्णधूलि' तथा 'स्वर्णकिरण' में उपर्युक्त चिन्ता-धारा अपनी सहज परिणति को प्राप्त हो गई।

प्रकृति

पन्तजी मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उनकी काव्य-चेतना के निर्माण में प्रकृति का विशेष प्रभाव है, और स्वभावतः उनके कवि-व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ प्रकृति के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहा है। 'स्वर्णकिरण' में जीवन की भाँति प्रकृति के प्रति भी कवि की चेतना में एक सहज सात्त्विक भावना का समावेश हो गया है। ऐन्द्रिय उपभोग की भावना, जो पन्त में पहले भी अत्यन्त संयमित थी, इन रचनाओं में प्रायः निःशेष हो चुकी है और कल्पना के स्थान पर अनुभूति और चिन्तन का प्रभुत्व हो गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इन नवीन प्रकृति-चित्रों में रूप-रंगों का वैभव अब नहीं रहा—वास्तव में रूप-रंग का इतना प्राचुर्य पहली किसी कृति में नहीं मिलता। पल्लव, गुंजन, ज्योत्स्ना आदि के रंग इनमें आकर एक ओर पक्के और दूसरी ओर अत्यधिक सूक्ष्म-तरल हो गए हैं, साथ ही उनकी विविधता और वैचित्र्य में भी वृद्धि हुई है। परन्तु इस वैभव और वैचित्र्य में एक निर्मल सात्त्विक उल्लास है, जो इन्द्रियों के मांसल उपभोग की अभिव्यक्ति न होकर आत्मा की विशदता का प्रकाशन है। कैशोर्य-सुलभ विस्मय और यौवन-सुलभ उपभोग का स्थान अब प्रौढ़ि के संयत-गम्भीर आनन्द ने ले लिया है :

भूतों की चिर पावनता में
हृदय सहज करता अवगाहन।

यह उसे चिंतन की ओर प्रेरित करता है :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निभृत स्पर्श पाकर निसर्ग का,
आत्मा गोपन करती चिंतन।

सामाजिक चेतना

तीसरा वर्ग सामाजिक कविताओं का है। इनकी सामाजिक चेतना का आधार वही आत्मपरक मानववाद है जिसका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

इस समाज-दर्शन में जीवन के आन्तरिक, तत्त्व-गत (Essential) मूल्यों का ही महत्त्व है, बाह्य, औपचारिक मूल्यों का नहीं। सदाचार, देश-प्रेम, सामाजिक प्रगति, राजनीतिक उत्कर्ष आदि का मूल्यांकन भौतिक उपकरणों द्वारा नहीं वरन् मानसिक एव आत्मिक उपकरणों द्वारा ही किया जा सकता है।

सदाचार

'पतिता' कविता में, जब कि

क्रूर लुटेरे हत्यारे कर गये
बहू को नीच कलंकित।
और,
फूटा करम, धरम भी लूटा
शीश हिला रोते सब परिजन,
हा, अभागिनी! हा कलंकिनी!
खिसक रहे गा-गाकर पुरजन

—तो बहू का पति केशव उसको सस्नेह ग्रहण करता हुआ कहता है:

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित,
प्रेम पतित-पावन है, तुमको
रहने दूंगा मैं न कलंकित।

इसी प्रकार 'परकीया' में, पतिव्रत की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है:

पति-पत्नी का सदाचार भी
नहीं मात्र परिणय से पावन,
काम-निरत यदि दंपति जीवन
भोग-मात्र का परिणय साधन।
पंकिल जीवन में पंकज-सी
शोभित आप देह से ऊपर,
नहीं सत्य जो आप हृदय से
शेष शून्य जग का आडम्बर।

आप देखें कि इन दोनों उद्धरणों का सारांश बिल्कुल एक है:

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और
वही सत्य जो आप हृदय से।

सामाजिक उत्कर्ष

इसी प्रकार सामाजिक उत्कर्ष के लिए भौतिक विभव की अपेक्षा मानव-गुणों का उत्कर्ष ही अधिक अभिप्रेत है। और मानव-गुणों के उत्कर्ष का मूलाधार है मनोस्वास्थ्य, जिसमें भोग और त्याग, अनुराग और विराग का पूर्ण सन्तुलन हो, जिसमें सामाजिक एवं लैंगिक द्विधा की चेतना न हो। और इस मनोस्वास्थ्य का साधन है आत्म-संस्कार, जिसके लिए प्रीति-मूलक सर्जनात्मक भावनाओं का संवर्धन आवश्यक है :

रति और विरति के पुलिनों में बहती जीवन-रस की धारा
रति से रस लोगे और विरति से रस का मूल्य चुकाओगे।
नारी में फिर साकार हो रही नव्य चेतना जीवन की
तुम त्याग भोग को सृजन भावना में फिर नवल डुबाओगे।

राजनीतिक उत्कर्ष

इसी प्रकार भारत के मुक्ति-दिवस १५ अगस्त का स्तवन करता हुआ कवि मुख्यतः उसके भौतिक उत्कर्ष की नहीं, वरन् उसके आत्मिक ऐश्वर्य की मंगल-कामना करता है :

नव जीवन का वैभव जागृत हो जन गण में
आत्मा का ऐश्वर्य अवतरित मानव मन में।
रक्त-सिक्त धरणी का हो दुःस्वप्न समापन
शांति प्रीति सुख का भू-स्वर्ग उठे सुर-मोहन।।

उसकी राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति संकुचित नहीं है। भारत-मात्र का कल्याण उसका प्रेय नहीं है—वह भारत के हित को विश्व-हित के साथ एक करके देखता है। भारत की दासता उसकी अपनी दासता नहीं थी, वह सारी पृथ्वी की नैतिक दासता थी। इसी तरह उसकी मुक्ति एक देश-मात्र की मुक्ति नहीं है, वह विश्व-जीवन की मुक्ति है, क्योंकि उसे विश्वास है कि अपनी महान् सांस्कृतिक परम्पराओं से समृद्ध भारत एक नवीन सांस्कृतिक आलोक का वितरण करेगा। इस प्रसंग में मुझे अचानक ही प्रधानमंत्री के अनेक वक्तव्यों का स्मरण हो आता है। उनमें प्रायः सभी में इस बात पर बल दिया जाता है कि भारत का कल्याण विश्व-कल्याण के साथ ग्रथित है। वह संकुचित राष्ट्रीयता के मोह में न पड़कर विश्वादर्शों के लिए ही सतत प्रयत्नवान् रहेगा :

"मैंने भारत के हितों का ध्यान रखा है, क्योंकि स्वभावतः ही यह मेरा प्रथम कर्तव्य था। मैंने सदैव भारत के हित को विश्व के हित का ही एक अंग माना है। हमारे गुरु महात्मा गांधी ने यही शिक्षा दी है। उन्होंने हमें भारत के स्वातन्त्र्य और गौरव की रक्षा करते हुए दूसरों के साथ शान्ति और मित्रभाव से रहने का उपदेश दिया है। आज संसार में स्थान-स्थान पर संघर्ष और द्वेष फैला हुआ है और सामने विनाश दिखाई दे रहा है। इसलिए हमें प्रत्येक ऐसे कार्य का, जिससे यह द्वन्द्व कम हो, स्वागत करना चाहिए।" [जवाहरलाल नेहरू]

दोनों के आदर्शों में कितना निकट साम्य है, और वह केवल संयोग नहीं है। सदा से ही,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य, इस प्रकार, अपने एकान्त कक्ष से राजनीति को स्वप्न और आदर्श देता रहता है। इसीलिए तो कवियों को विश्व का नियामक कहा गया है।

अतीत-प्रेम

इस युग की काव्य-चेतना की एक प्रमुख प्रवृत्ति है अतीत के प्रति आकर्षण। हमारे प्रमुख कवियों में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक प्रखर थी प्रसाद में। पन्त को आरम्भ से ही अतीत की अपेक्षा भविष्य के प्रति अधिक आकर्षण रहा है। वे सदा से भविष्य के स्वप्न-द्रष्टा कवि रहे हैं। इन नवीन कविताओं में पहली बार सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना मिलती है। कवि पहली बार अपनी प्राचीन अध्यात्म-पूत संस्कृति—वेद, उपनिषद्, सीता, लक्ष्मण आदि की ओर श्रद्धा और सम्भ्रम से आकृष्ट हुआ है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' आदि में प्राचीन के प्रति एक वैज्ञानिक, ऐतिहासिक अध्ययन का भाव था परन्तु इन कविताओं में आस्तिक भाव भी मिलता है। 'स्वर्णधूलि' के आर्षवाणी कविता-संग्रह में वैदिक ऋचाओं का भव्य अनुवाद है। इन कविताओं द्वारा कवि आज के भूत-त्रस्त जीवन में शांति का संचार करने के लिए मानो भारत की भूत-पावनी संस्कृति की आत्मा का आवाहन करता है :

शांति शांति दे हमें शांति हो व्यापक उज्ज्वल,
शांति धाम यह धरा बने, हो फिर जन-मंगल।

बहुत-सी कविताओं में उपनिषद्-मन्त्रों के प्रेरणा-तन्तु विद्यमान हैं। कहीं उपनिषद् के 'द्वासुपर्णा' आदि रूपकों को ग्रहण किया गया है और कहीं उनके आर्षवचनों को उद्धृत किया गया है। 'स्वर्णकिरण' में अशोक-वन नाम का एक स्वगत-काव्य वैदेही की मनोगाथा का अध्यात्मपरक विश्लेषण-चित्रण करता है :

नित सत् राम, शक्ति चित् सीता,
अखिल सृष्टि आनन्द प्रणीता
प्रकृति शिखा-सी उठे, शक्ति चित्
उतरे, निखिल जगत् में शिक्षा।

इसी प्रकार भारत के समृद्ध साहित्य 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव' आदि के शतरंग कल्पना-चित्र भी इन कविताओं में स्थान-स्थान पर मणियों की भाँति टँके हुए हैं :

सम्भव, पुरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर-मिथुनों से हों कूजित,
छाया निभृत गुहाएं उन्मद
रति की सौरभ से समुच्छ्वसित
× × ×
अब भी ऊषा वहां दीखती
वधू उमा के मुख-सी लज्जित
बढ़ती चन्द्र-कला भी गिरिजा-सी
ही गिरि के क्रोड़ में उदित।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, आधुनिक युग के विधायक कवियों में पन्त को पुरातन के प्रति सबसे कम मोह रहा है। इसका कारण यह है कि उन पर पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रभाव अपने अन्य सहयोगियों की अपेक्षा अधिक है। उनका रहन-सहन अब तक बहुत-कुछ पश्चिमी ढंग का रहा है। कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होंने शेली, कीट्स और टेनिसन से अधिक काव्य-प्रेरणा प्राप्त की है और उपनिषद् और षड्दर्शन की अपेक्षा हीगेल और मार्क्स का उनकी विचारधारा पर अधिक प्रभाव पड़ा है। प्रसाद, निराला और महादेवी जब भारतीय दर्शन और साहित्य के द्वारा अपने व्यक्तित्व का संवर्द्धन-संस्कार करते थे, उस समय पन्त को हीगेल और मार्क्स का अध्ययन अधिक अनुकूल पड़ता था। 'स्वर्णधूलि' की एक कविता 'ग्रामीण' में पन्त ने अपने प्रति अभारतीयता के आक्षेप का उत्तर देने का प्रयत्न किया है :

भारतीय ही नहीं बल्कि मैं
हूं ग्रामीण हृदय के भीतर।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि इस युग के वयःप्राप्त कवियों के देखे पन्त के व्यक्तित्व में भारतीयता का अंश अपेक्षाकृत सबसे कम रहा है। परन्तु अब जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँचकर वे आस्थापूर्वक भारतीय संस्कृति के अतीत गौरव की ओर आकृष्ट हुए हैं और यह शुभ लक्षण है। इससे उनके कला-वैभव में स्थैर्य आयेगा।

काव्य-गुण

विचार-सामग्री (Thought-Content) का परीक्षण कर लेने के उपरान्त दूसरा और महत्तर प्रश्न है काव्य-गुण का। और काव्य के मूल्यांकन में उसी का सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि जहां तक उपर्युक्त सैद्धान्तिक सामग्री का सम्बन्ध है, मेरी धारणा है कि उसके लिए गद्य भी सफल माध्यम हो सकता है, और दूसरे उसमें कोई विशेष मौलिकता भी नहीं है। उसका अध्ययन तो कवि के व्यक्तित्व-विकास के अध्ययन के लिए आवश्यक था और कवि-मानस का साक्षात्कार करने के निमित्त ही हमने उसका विवेचन भी किया। पन्त की नवीन कविता का मूल्य आँकने के लिए उनका काव्य-गुण ही परखना होगा। अर्थात् यह देखना होगा कि उनमें चित्त को चमत्कृत करने की कितनी क्षमता है, दूसरे शब्दों में इन कविताओं का मन पर कहां तक प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव का स्वरूप क्या है। उसमें सूक्ष्म परिष्कार है अथवा मंथनकारी तीव्रता या प्राणों को उद्वेलित करने वाली शक्ति या फिर कल्पना को समृद्ध एवं विचार-चिन्तन को प्रेरित करने की क्षमता। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे सम्मुख सबसे पहले 'स्वर्णधूलि' की मर्मकथा, प्रणयकुञ्ज, शरद्-चाँदनी, मर्म-व्यथा, स्वप्न-बन्धन, स्वप्नदेही, प्रणयाकांक्षा, रस-स्रवण आदि कविताएं आती हैं। ये सभी कविताएं शुद्ध गीति-काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं और रस-व्यंजना की दृष्टि से इन संग्रहों की मधुरतम कृतियां हैं। इनमें आत्म-रस से भीगी, ऐन्द्रियता के कर्दम से मुक्त एक शांत-स्निग्धता मिलती है। ये कविताएं परिष्कृत आत्मानुभूति की सहज उद्गीतियां हैं। सहजता का गुण, जो गीति-कविता का मूल तत्त्व है, वास्तव में इन्ही कविताओं में मिलता है। शेष कविताओं में (भिन्न प्रकार का महत्त्व होते हुए भी) चिन्तन, विचार और कल्पना की जकड़बन्दी होने के कारण आत्म-द्रव के तारल्य का अभाव है। परन्तु उपर्युक्त कविताओं का सार-तत्त्व यह आत्म-द्रव ही है। इस आत्म-द्रव का विश्लेषण एक स्थान पर कवि ने स्वयं किया है :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह विदेह प्राणों का बन्धन,
अन्तर्ज्वाला में तपता मन,
मुग्ध हृदय सौन्दर्य-ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण।

अर्थात् इस आत्म-द्रव के उपादान तत्त्व हैं सौन्दर्य-मोह, देह की वासना से मुक्त हल्की-सी दग्ध-काम प्रीति, और इन दोनों के ऊपर सूक्ष्म जाली की तरह पुरी हुई कोमल अन्तर्व्यथा।

कुछ उदाहरण लीजिए :

१. प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी।
क्यों चिर दग्ध हृदय को तुमने
वृथा प्रणय की अमर साध दी।
पर्वत को जल, दारु को अनल,
वारिद को दी विद्युत् चंचल
फूल को सुरभि, सुरभि को विकल
उड़ने की इच्छा अबाध दी।।

२. बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बन्धन में,
एक मधुर जीवित आभा-सी लिपट गई तुम मन में
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में।

कुछ प्रकृति-कविताएं भी इस प्रकार के आत्म-स्पर्शों से गुदगुदा उठी हैं :

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण।
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिमकण से
घेरे मेरे जीवन के क्षण।
मुझ अंचल-वासी को तुमने
शैशव में आशी दी पावन।
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन।

इनके अतिरिक्त अन्य कविताओं में हार्दिक तत्त्व की न्यूनता है, परन्तु फिर भी कुछ कविताओं का महत्त्व असंदिग्ध है। यह महत्त्व गम्भीर चिन्तन, प्रौढ़ विचार और ऐश्वर्यमयी कल्पना पर आश्रित है। इस प्रकार की कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है—स्वर्णोदय : जो इन नवीन संग्रहों की सबसे महान् रचना है और पन्त की गुरुतम कृतियों में से है। इसमें मानव की जीवन-यात्रा : जन्म, शैशव, प्रौढ़ि, वार्धक्य और देहान्त का गम्भीर मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक एवं काव्यमय विवेचन है। परिस्थितियों की अनेकरूपता के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और कवि ने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं का समर्थ चित्रण कर अपनी परिपक्व प्रतिभा का परिचय दिया है। वास्तव में इस कविता में एक प्रकार की महाकाव्य-गरिमा है। इसके अतिरिक्त हिमाद्रि, हिमाद्रि और समुद्र, इन्द्रधनुष, द्वा-सुपर्णा, अशोकवन और उधर सामंजस्य, चौथी भूख आदि कविताएं भी महत्त्वपूर्ण हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रभाव का स्वरूप और प्रेरणा

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इन कविताओं के प्रभाव का स्वरूप क्या है ? —और प्रभाव-विश्लेषण के लिए हमें उनकी मूल प्रेरणा का अनुसन्धान करना होगा। अस्तु ! स्पष्टतः ही ये कविताएं रसवादी नहीं हैं। अर्थात् ये हमारे हृदय में वासना-रूप से स्थित प्रेम, उत्साह, शोक, विस्मय, भय आदि स्थायी अथवा उनके सहकारी भावों को प्रत्यक्ष रूप से आन्दोलित करती हुई हमारे चित्त में तीव्र संवेदनमय आनन्द की सृष्टि नहीं करतीं। उधर इनका प्रभाव एकान्त बौद्धिक भी नहीं है जैसा कि प्राचीन आलंकारिक काव्य का जो गणनात्मक कल्पना को उत्तेजित करता है, अथवा विदेश की नवीन बुद्धिवादी कविता का जो विचार को झकझोरती है। इसके साथ ही प्राचीन दार्शनिक कविताओं का प्रभाव भी इनसे भिन्न होता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, इन कविताओं के उपादान तत्त्व तीन हैं : लोक-कल्याणमय दार्शनिक चिन्तन, उज्ज्वल रंगीन कल्पना और मधुर सौन्दर्य-भावना। अतएव इनका प्रभाव भी तदनुकूल ही होगा। इनमें से पहले तत्त्व का प्रभाव एक प्रकार की बौद्धिक शान्ति और दूसरे का विस्मय और तीसरे का एक प्रकार की स्निग्ध माधुरी होती है; और ये तीनों मिल कर एक मधुर बौद्धिक शान्ति को जन्म देते हैं। मैंने यहां बौद्धिक शान्ति शब्द का प्रयोग जान-बूझकर इस आशय से किया है कि यह शान्ति आध्यात्मिक शान्ति से भिन्न है। आध्यात्मिक शान्ति का अर्थ है शुद्ध आत्मानुभूति की स्थिति, और इन कविताओं के आस्वादन में बौद्धिक चेतना का सर्वथा लोप नहीं होता। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि बौद्धिक शान्ति से क्या अभिप्राय है ? बौद्धिक शान्ति से मेरा अभिप्राय उस शान्ति से है जो बौद्धिक विश्वास के अवलम्बन से प्राप्त होती है—दूसरे शब्दों में वह शान्ति जो कि आध्यात्मिक विश्वासों को बुद्धि द्वारा ग्रहण करने से प्राप्त होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शान्ति वास्तविक एवं पूर्ण शान्ति नहीं है, आंशिक और एक प्रकार का शान्त्याभास है। परन्तु यह इन कविताओं का दोष नहीं है, यह तो आज के बुद्धि-प्राण मानव-जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है। वह इससे आगे बढ़ने में असमर्थ है क्योंकि वह बुद्धि को वश में नहीं कर सकता और जब तक बुद्धि की विजय रहेगी सच्ची आध्यात्मिक शान्ति सम्भव नहीं है। और फिर, पन्त जैसे व्यक्ति के लिए यह और भी दुर्लभ है क्योंकि पन्त के व्यक्तित्व का दुर्बलतम अंग है उनकी अनुभूति। पन्त ने जीवन का भोग कम किया है और अवलोकन अधिक। यहां पर मुझे 'गुंजन' की वे पंक्तियां फिर याद आ जाती हैं :

सुनता हूं उस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली
पर मुझे डूबने का भय है,
भाती तट की चल जल-माली।

यह पन्त की कदाचित् अचेतन स्वीकारोक्ति है।

निस्तल जल गहन-गम्भीर विश्व-जीवन है, मोती वाली मछली है जीवन का सत्य। जीवन के सत्य को पाने के लिए जीवन में डूबना अनिवार्य है। परन्तु पन्तजी यह नहीं कर पाये। वे तो तट पर बैठे हुए वीचि-माला अर्थात् जीवन और जगत् के मनोरम रूपों का अवलोकन करते रहे। आरम्भ में उनकी दृष्टि में विस्मय और मोह था जो मन को गुदगुदाता और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कल्पना को उद्‌बद्ध करता था; अब उसमें चिन्तन और विचार का मिश्रण हो गया है। परन्तु उस जीवन-सत्य को प्राप्त करने के लिए तो प्रबल अनुभूति, सम्पूर्ण राग-द्वेषमय जीवन (Passionate living) अपेक्षित है। पन्तजी के व्यक्तित्व का यह अंग सदा दुर्बल रहा है, इसीलिए उनके काव्य में प्राण-रस की क्षीणता है जिसकी उन्होंने समृद्ध कल्पना, गम्भीर विचार और सूक्ष्म चिन्तन द्वारा बहुत-कुछ क्षतिपूर्ति करने का प्रयत्न किया है। पर क्या प्राण-रस की क्षतिपूर्ति सम्भव है?

कला

कला का प्रयोग यहां मैं काव्य-शिल्प के अर्थ में कर रहा हूं। शिल्प बहुत-कुछ साधना की वस्तु है। उसके लिए परिष्कृत रुचि के अतिरिक्त कल्पना की समृद्धि और प्रयत्न-साधन अपेक्षित होता है। पन्त में ये तीनों गुण प्रभूत मात्रा में हैं. अतएव उनकी कला सदैव विकासशील रही है और 'स्वर्णकिरण' में वह अपनी चरम प्रौढ़ि पर पहुँच गई है। यह प्रौढ़ि तीन दिशाओं में लक्षित होती है: काव्य-सामग्री की समृद्धि, परिष्कार और विस्तार, प्रयोग-कौशल की सूक्ष्मता और अभिव्यक्ति की परिपक्वता। 'स्वर्णकिरण' में पन्त ने अत्यन्त समृद्ध काव्य-सामग्री का प्रयोग किया है। अनेक कविताओं का कलेवर रूप-रंग के ऐश्वर्य से जगमगा रहा है :

कलरव स्वप्नातप, सुरधनु पट
शशि मुख, हिमस्मित गात्र ले श्वसित,
षड्‌ऋतु देती थी परिक्रमा,
अप्सरियों-सी सुरपति प्रेषित।
शरद्-चन्द्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित-
हिम की परियों का अञ्चल उड़
जग को कर लेता था परिवृत।

× × ×

चूम विकच नलिनी उर गूँजे गीत पंख मधुकर दल,
नृत्य तरंगित बहे स्रोत, ज्यों मुखरित भू-पग-पायल
विहँसे हिमकण किरण-गर्भ, स्वर्गिक जीवन के से क्षण,
खोल तृणों के पुलक पंख, उड़ने को भू-रज के कण।

उपर्युक्त छंदों में चन्द्रमा और चाँदनी की अपार चाँदी, किरणों और आतप का राशि-राशि सोना और प्रकाश, सुरधनु के मणि-माणिक, स्वप्नों की पल-पल परिवर्तित छाया-प्रकाश की आँख-मिचौनी, और गीत, नृत्य, पायल का प्रभूत ऐश्वर्य बिखरा हुआ है। पन्त का प्राकृतिक वैभव पर तो पूर्ण अधिकार रहा ही है; प्रकृति के रम्य रूप—आकाश, चन्द्र, सूर्य, तारागण, आतप, चाँदनी, इन्द्रधनुष, असंख्य फूल, पक्षी, वृक्ष और लताएं, पर्वत, नदी, निर्झर और सागर, सोना-चाँदी, मणि-माणिक्य सभी अपने रूप-रंगों का वैभव लिये, कवि-कल्पना के संकेतों के साथ नाचते हैं। 'स्वर्णकिरण' में यह क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है और रूप-रंग के रोमानी उपकरणों के अतिरिक्त यहां आध्यात्मिक जीवन के मांगलिक उपकरणों—उदाहरण के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मन्दिर, कलश, दीपशिखा, यज्ञ-धूम, हवि, नीराजन, रजत घंटियां, अभिषेक, कर्पूर, गंगा-जल, अमृत आदि का भी यथेष्ट प्रयोग है :

१. चन्द्रातप-सी स्निग्ध नीलिमा
यज्ञ - धूम-सी छाई ऊपर ।

२. दीपशिखा-सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठ कर।

३. आज समस्त विश्व मन्दिर-सा
लगता एक अखंड चिरंतन,
सुख-दुख, जन्म-मरण नीराजन
करते, कहीं नहीं परिवर्तन ।

'स्वर्णधूलि' की कुछ कविताओं में नित्य-प्रति के भौतिक जीवन के साधारण उपकरणों का भी उपयोग हुआ है; परन्तु वे इस कालखंड की प्रतिनिधि रचनाएं नहीं हैं । 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की नैतिक जीवन की स्थूल सामग्री की ओर से विमुख होकर कवि फिर अपने चिर-परिचित रोमानी क्षेत्र में लौट आया है, जिस पर अब उसका अधिकार और भी व्यापक हो गया है। छायावादी कवियों में सबसे सीमित क्षेत्र सुश्री महादेवी वर्मा का है। उन्होंने एक ओर तो प्रकृति के थोड़े-से सांध्यकालीन उपकरणों को ग्रहण किया है, और दूसरी ओर पूजा की सामग्री को। अतएव उनके प्रतीकों और उपमानों में प्रायः पुनरावृत्ति मिलती है । पन्त का क्षेत्र अपेक्षाकृत कहीं अधिक विस्तृत है। यह सत्य है कि उन्होंने भी केवल मनोरम रूपों का ही ग्रहण किया है—प्रसाद और निराला की भाँति विराट् और अनगढ़ रूपों को नहीं, परन्तु उन्होंने इस क्षति की पूर्ति अपनी सामग्री के सूक्ष्म नियोजन द्वारा कर ली है। वास्तव में चयन और नियोजन की इतनी सूक्ष्मता, रूप और रंग का इतना बारीक मिश्रण अन्यत्र नहीं मिलता :

स्वर्ण-रजत के पत्रों की रत्नच्छाया में सुन्दर,
रजत घंटियों सा, सुवर्ण, किरणों का झरता निर्झर।
सिहर इन्द्र-धनुषी लहरों में इन्द्र नीलिमा का सर
गलित मोतियों के पीतोज्ज्वल फेनों से जाता भर।

× × ×

शशि किरणों के नभ के नीचे, उर के सुख से चंचल
तुहिनों का छाया-वन नित कँपता रहता तारोज्ज्वल ।

उपर्युक्त पंक्तियों में आप देखिये कि सौन्दर्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं के प्रति पन्त का ऐन्द्रिय संवेदन कितना सचेत और तीव्र है !

इन रचनाओं में कवि की अभिव्यक्ति भी स्वभावतः अत्यन्त परिपक्व और प्रौढ़ हो गई है। उनकी भाषा में सौन्दर्य के सूक्ष्म-तरल संवेदनों को अभिव्यक्त करने की शक्ति आरम्भ से ही रही है। 'ज्योत्स्ना' और 'युगान्त' में आकर उसमें गम्भीर सामाजिक-दार्शनिक तत्त्वों को व्यक्त करने की क्षमता भी आ गई थी । 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में अभिव्यक्ति में जन-साधारण के नैतिक जीवन की सरलता और ऋजुता लाने का प्रयत्न किया गया, जो 'स्वर्ण-धूलि' की अनेक सामाजिक कविताओं में चलता रहा—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

फूटा करम धरम भी लूटा।
शीश हिला रोते सब परिजन—
हा अभागिनी, हा कलंकिनी
खिसक रहे गा-गा कर पुरजन।
× × ×
सूट-बूट में सजे-धज तुम
डाल गले फाँसी का फंदा
तुम्हें कहे जो भारतीय, वह
है दो आँखों वाला अन्धा।

परन्तु 'स्वर्णकिरण' की कविताओं में, इधर 'स्वर्णधूलि' के वैदिक ऋचाओं के अनुवादों में कवि ने गहन आध्यात्मिक तथ्यों को व्यक्त करने की एक नवीन शक्ति का उपार्जन किया है। इस नवीन शक्ति का रहस्य है प्रसंगानुकूल आर्ष शब्दावली का प्रयोग :

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत् में उभय रूप तम में गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि, करे उन दोनों का संचालन।
श्रवण गगन में गूँज रहे स्वर
ॐ क्रतो स्मर कृतं क्रतो स्मर
सृजन हुताशन को हवि भास्वर
बनी पुनः जीवन रज नश्वर।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भगवतीचरण वर्मा के काव्य-रूपक

कुछ समय पूर्व भगवतीबाबू ने दिल्ली-विश्वविद्यालय की एक साहित्य-गोष्ठी में कहा था—"मैं मुख्य रूप से उपन्यासकार हूं, कवि नहीं; आज मेरा उपन्यासकार ही सजग रह गया है, कविता से लगाव छूट गया है।" मेरी धारणा है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य का जागरूक अध्येता उनकी इस आत्म-समीक्षा से विशेष सहमत नहीं होगा। इसमें सन्देह नहीं कि भगवती-बाबू हिन्दी के उत्कृष्ट उपन्यासकार हैं; उनकी 'चित्रलेखा' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यास हैं, उनके एकांकी और कहानियां भी निश्चय ही सफल कला-कृतियां हैं; परन्तु उनका प्रथम प्रणय कविता के साथ ही हुआ था, और आप जानते हैं कि प्रथम प्रणय का प्रेरक प्रभाव अनिवार्यतः गंभीर एवं जीवन-व्यापी होता है। अतएव उनका कवि उपन्यासकार अथवा नाटककार से पीछे कभी नहीं रहा और न आज है; कवि तो वास्तव में उन दोनों का प्रेरक रहा है।

भगवतीचरण वर्मा के काव्य का जन्म और प्रथम विकास छायावाद-युग में हुआ। वह युग अपने मूल रूप में वैयक्तिक चेतना की स्फूर्ति का युग था। कवि का अहं, जो शताब्दियों से—कभी काव्य और कभी नीति तथा आचार की रूढ़ियों में—जकड़ा पड़ा था, स्वच्छन्द अभिव्यक्ति में फूट उठा। इस वैयक्तिक चेतना के उस समय दो रूप थे: एक आस्तिक रूप, जिसमें अहं की विश्वासमयी रागात्मक प्रवृत्तियों का प्राधान्य था; यह अहं की रचनात्मक अभि-व्यक्ति थी। दूसरा नास्तिक रूप था, जिसमें अहं की विद्वेषमयी प्रवृत्तियों का—संदेह, दर्प, विद्रोह, घृणा, ध्वंस आदि का—प्राधान्य था; यह अहं का ध्वंसात्मक रूप था। एक में आत्मा का सात्त्विक शुभ्र-कोमल प्रकाश था, दूसरे में मन और देह की राजसिक-तामसिक शक्ति। युग की परिस्थितियां पहले रूप के ही अधिक अनुकूल थीं। युगपुरुष गांधी की अहिंसा उस युग की चेतना की प्रतीक थी, अतएव छायावाद में वैयक्तिक चेतना के आस्तिक अधिमानसिक रूप का ही विकास अधिक हुआ। पंत, महादेवी आदि सुकुमार कवियों ने तो स्वभाव से ही उसे आत्मसात् कर लिया। प्रसाद और निराला जैसे उद्दाम कवियों ने भी जीवन की अंतर्मुखी साधना और उस पर आश्रित सूक्ष्मतर अधिमानसिक मूल्यों को ही स्वीकार किया। परंतु देह का पक्ष भी अनभिव्यक्त नहीं रहा, रह भी नहीं सकता था; क्योंकि राजनीतिक और सामाजिक असफलता के उस युग में भौतिक कुण्ठाएं भी इतनी प्रबल थीं कि उनका उन्नयन सर्वदा सम्भव नहीं था। स्वयं प्रसादजी की कुछ कविताओं में, निराला की अनेक कृतियों में और भगवतीचरण वर्मा की अधिकांश रचनाओं में उस युग की वैयक्तिक चेतना की रक्त-मांस (देह) की प्रवृत्तियों को वाणी मिली। बाद में बच्चन और अंचल आदि कवियों ने भी इस स्वर को पकड़ लिया। संक्षेप में भगवतीबाबू की कविता के उद्भव का पृष्ठाधार यही है।

भगवतीबाबू की कविता का प्राण-तत्त्व अहंकार है। किन्तु इसमें आत्मा की अद्वैत स्थिति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अथवा सोऽहं की अनुभूति नहीं है, वरन् भौतिक कुण्ठाओं से पीड़ित मन और देह के असफल विद्रोह की हुंकार है। इस कवि की काव्य-चेतना का निर्माण बीसवीं शताब्दी के द्वितीय और तृतीय दशाब्दों में हुआ है। दो प्रबल देश-व्यापी संघर्षों की विफलता के साक्षी ये पन्द्रह-बीस वर्ष भारतीय जीवन के लिए अन्तर्मन्थन और आंतरिक विप्लव के वर्ष थे। देश ने समष्टि-रूप से विश्वासमयी प्रवृत्तियों का संगठन करके गांधी के साथ अपनी पराजय का अहिंसा में उन्नयन करने का सफल-असफल प्रयत्न किया; किन्तु ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं था जो विश्वास के पुष्ट आधार के अभाव में उन्नयन की चिंता छोड़ जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव का रस और विष पीते रहे। भगवतीबाबू ने इसी वर्ग की चेतना को काव्य की वाणी दी। उन्होंने चिंतन अथवा दर्शन का बौद्धिक कवच धारण नहीं किया। उनके संस्कार ही उसके अनुकूल नहीं थे; हरि-भक्ति के लिए भी तो भगवान् की कृपा की अपेक्षा होती है। अतएव प्रत्यक्ष अनुभव की आधार-भूत मूल मानव-वृत्तियों को ही उन्होंने अपनी कविता का विषय बनाया। स्थायी अहंकार और उसकी परिधि में संचरण करने वाली प्रेम, घृणा, दर्प, ग्लानि आदि मौलिक मनोवृत्तियां प्रकृत रूप में अपनी सम्पूर्ण माधुरी और कटुता को लिये उनके काव्य में अभिव्यक्त हैं। इस कविता का विचारपक्ष दुर्बल नहीं है किन्तु वह अनुभूति का सहज विकास है। विचार का इस कविता में अनुभूति के साथ प्रेरक-प्रेरित सम्बन्ध है। इस कवि ने कहीं भी शास्त्र से विचार उधार लेकर अपनी अनुभूति की स्वच्छन्द गति को बाँधने का प्रयत्न नहीं किया, कहीं भी इसने संस्कृतिवादियों की तरह दार्शनिक सत्यों के साथ, अथवा प्रगति-प्रयोगवादियों की तरह अर्थ-शास्त्र या मनोविज्ञान के तथ्यों के साथ प्रयत्नपूर्वक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। जीवन के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर कटु-मधुर अनुभवों को पूरी तरह भोगता हुआ यह अनेक विचारधाराओं में होकर गुज़रता रहा है: अद्वैतवाद, मानववाद, गांधीवाद, मार्क्सवाद, नियति-वाद, प्रवृत्तिवाद सभी में से वह गुज़र चुका है; परन्तु किसी एक ने न तो उसको अभिभूत कर लिया है, और न वही किसी एक को पकड़ कर बैठ गया है। हार्दिक विश्वास के अभाव में कभी भी उसने बौद्धिक विश्वास का अपनी चेतना पर आरोपण नहीं होने दिया। यह ठीक है कि विश्वास के अभाव में जीवन के सत्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं है, और सत्य के साक्षात्कार के अभाव में प्रख्या और उपाख्या दोनों में से किसी के लिए विराट् तत्त्व की उपलब्धि सम्भव नहीं है; अर्थात् व्यक्ति को दर्शनिक अथवा साहित्यिक किसी स्तर पर महत्तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती। किन्तु विराट् अथवा महत् से नीचे धरातल पर भी यदि अनुभूति के जीवन्त मांसल स्पर्शों से यह कवि अपने काव्य की सहज उष्णता को बनाये रख सका है, तो वह भी कम सफलता नहीं है।

इस आधार-फलक पर अब प्रस्तुत काव्य-रूपकों की समीक्षा करना सहज होगा। ये काव्य-रूपक तीन हैं: महाकाल, द्रौपदी और कर्ण। महाकाल प्रतीक-रूपक है। महाकाल चेतना-विशिष्ट शक्ति-पुंज का प्रतीक है। उसकी कल्पना में कवि ने विज्ञान और दर्शन दोनों का आश्रय लिया है। विज्ञान के अनुसार यह ब्रह्मांड शक्ति का एक बृहत् पुंज है, जो संकुचन और विस्तारण की क्रिया के कारण निरंतर गतिशील है। किन्तु केवल शक्ति तो अन्धी गति-मात्र है; वह सृष्टि-विकास के इस सुयोजित क्रम को किस प्रकार पूर्ण कर सकती है! अतएव आस्तिक दर्शन के आधार पर कवि ने उसमें चेतना की अवतारणा कर ली है। शक्ति-पुंज महाकाल के गर्भ से क्रमशः सृष्टि का उदय होता है और प्राणि-श्रेष्ठ मानव अपने व्यक्तित्व में निर्माण के साथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विनाश की प्रवृत्तियां लेकर उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अन्त में अपनी अहंता में नष्ट हो जाता है। सब कुछ फिर महाकाल में विलीन हो जाता है। उस समय चेतना थकी-सी, पराजित-सी महाकाल में लय हो जाती है और एक बार विस्तृत शक्ति-पुञ्ज निष्क्रिय-सा रह जाता है, जहां चेतना सोयी हुई-सी है। इस प्रकार इस रूपक का ध्वन्यर्थ लगभग यही हुआ कि सृजन असत् है, विनाश ही सत् है। यह निश्चय ही निराशावाद का प्रतिपादन है। भावना के धरातल पर यह रूपक मानव-अहंकार के पराजय की स्वीकृति है, और कवि अन्त में अंधकार के इस बादल में यही रूपहली रेखा ढूंढ़ने का प्रयत्न करता भी है। किन्तु जैसा कि मैंने आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है, यह कवि सन्देश देने के लिए कभी काव्य-रचना नहीं करता; जीवनानुभव की प्रबल अभिव्यक्ति ही इसका उद्देश्य रहता है। आज का जीवन निराशा से आच्छन्न है। अतएव आज का कवि निराशा के अंधकार का सजीव अंकन मात्र करके भी समर्थ काव्य की सृष्टि कर ही सकता है। रूपक होने के कारण महाकाल में मानवीय रागात्मकता का तो बहुत-कुछ अभाव है, क्योंकि वह तो रूपक की अनिवार्य परिसीमा है; किन्तु अहंवाद से प्रेरित कवि की ऊर्जस्वित कल्पना ने काव्य के सम्पूर्ण कलेवर में प्राण-शक्ति का संचार कर दिया है। गम्भीर ध्वनि-घोषों से निनादित इस रेडियो-नाटक का श्रोता के मन पर अत्यन्त प्रबल प्रभाव पड़ा होगा, इसकी कल्पना मैं बिना सुने कर सकता हूं; क्योंकि कवि ने अपने विराट् अवाक् कल्पना-चित्रों को नाद-गांभीर्य में मूर्त करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। वस्तु-संगठन की दृष्टि से मैं इसे अन्य दो नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल मानता हूं।

'द्रौपदी' में महाभारत के इस आग्नेय पात्र का आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में आख्यान किया गया है। महाभारत के आकाश में द्रौपदी की प्रतिहिंसा उल्का के समान ज्वलंत है। आखिरकार इस सर्वभक्षी प्रतिहिंसा का मूल आधार क्या था? स्वभाव से कोमल नारी का यह विद्रूप कैसा था? भारत का आस्तिक हृदय इसे क्षत्राणी का सहज दर्प या मानव-स्वभाव के वैचित्र्य का ही एक अतर्क्य रूप मान कर स्वीकार करता रहा है। परन्तु आज का युग तो स्वभाव का भी कार्य-कारण-परम्परा से विश्लेषण किये बिना संतुष्ट नहीं होता। चेतन और अचेतन में वह प्रत्येक मानसिक घटना का कारण ढूंढ़ निकालता है। द्रौपदी की प्रतिहिंसा के पीछे भी एक निश्चित कार्य-कारण-शृंखला थी। कवि के अनुसार द्रौपदी का जीवन अत्याचार का संचित पुंज था। पहले तो पिता की प्रतिहिंसा का प्रतीक मात्र उसका स्वयंवर ही नारी के स्वयंवरण-अधिकार पर कठोर व्यंग्य था। द्रुपद के अपमान का प्रतिशोध करने में समर्थ कोई भी शूर पुरस्कार के रूप में द्रौपदी का वरण कर सकता था। अर्थात्, द्रौपदी का अस्तित्व एक जड़ पुरस्कार के अतिरिक्त और क्या था! फिर दूसरा भयंकर व्यंग्य कुन्ती का वह आशीर्वाद था, जिसके द्वारा उसे पाँच पतियों की भार्या बनना पड़ा। और फिर, विवाह के उपरांत तो उसका जीवन यातनाओं और अपमानों का भीषण अट्टहास ही बन गया। इस प्रकार द्रौपदी का चिर-पीड़ित नारीत्व उसके अवचेतन में बैठकर निरन्तर घृणा और प्रतिहिंसा के विष का संचय करता रहा जो महाभारत पर विषाक्त धूम बन कर छा गया। सामान्यतः हमारे विश्वासमय संस्कार द्रौपदी के स्वयंवर को पिता के शौर्य-प्रेम और पंचपति-वरण को मातृ-भक्ति का प्रतीक मान कर ग्रहण करते रहे हैं। आस्तिक कवि के लिए पंचपतिव्रत से उसका गौरव पंचगुण हो जाता है। 'जयभारत' का कवि कृष्ण के श्रीमुख से द्रौपदी की प्रशस्ति में कहता है :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पाँचगुना पातिव्रत पाला यहां जिसने
मेरी उस एक शीलशालिनी बहिन की
घर्षणा का, कर्षणा का यह परिणाम है। (जयभारत)

किन्तु इतनी आस्तिकता क्या आज साधारणतः सम्भव है! भगवतीचरण वर्मा की द्रौपदी चरम निराशा की स्थिति में जीवन के निर्मम व्यंग्य के रूप में पंचपतियों के पातिव्रत का आशीर्वाद (?) ग्रहण करती है। कदाचित् यही आख्यान इस युग के अविश्वासी मन के अधिक अनुकूल पड़ता है। द्रौपदी के व्यक्तित्व का अंतर्विश्लेषण करने के उपरांत कवि फिर एक प्रश्न करता है: भीषण प्रतिहिंसा की प्रतीक होकर भी द्रौपदी पूज्या किस प्रकार हुई ? द्रौपदी के जीवन-नाटक का बीज इसी प्रश्न में निहित है। कवि स्वयं इसका समाधान नहीं कर पाया; वह यह कह कर मौन हो जाता है कि :

धैर्य की रही हो तुम अति कठोर अचल मूर्ति,
तुम थीं स्थित केवल पतियों की प्रतिछाया सी।
तुम थीं मानव की मर्यादा की परम पर्ति !
और यह विनाश नहीं मानव का, युग का था,
उस युग का, जिसमें थे घृणा और दर्प मान !

यह कोई समाधान नहीं है। परन्तु मैं तो आरम्भ में ही कह चुका हूं कि इस कवि से आप समाधान की आशा न करें; इसके पास समाधान नहीं है।

'कर्ण' इस संग्रह का सबसे प्रबल नाटक है। आहत अहंकार का यह युग पौराणिक पात्रों में सबसे अधिक कर्ण को ही प्यार करता रहा है। कर्ण परिस्थिति द्वारा पराभूत व्यक्ति के अहंकार का जीवन्त प्रतीक है। कदाचित् भारतीय इतिहास में इस दृष्टि से उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। इस नाटक में भी भगवतीचरण ने ऐतिहासिक चरित्र का मार्मिक पुनराख्यान प्रस्तुत किया है। शौर्य में अप्रतिम कर्ण का अहंकार सामाजिक तिरस्कार से पराभूत है। कुन्ती की स्वीकारोक्ति उसका परितोष न कर, उलटे जारज अस्तित्व की दंशमयी चेतना जगाकर, और भी कटुता उत्पन्न कर देती है। वह दान और चारित्र्य के द्वारा इस पराभव का भी उन्नयन करना चाहता है, किन्तु दान के लिए अपेक्षित सात्त्विक विनय के अभाव में उसे सफलता नहीं मिलती। उसकी दानशीलता उसी सर्वग्रासी अहंकार की अभिव्यक्ति-मात्र होकर रह जाती है। दानी के लिए तो अहं का दान पहली शर्त है। परन्तु कर्ण उसमें असमर्थ रहा; इसीलिए उसका जीवन केन्द्र-च्युत उल्का-पिण्ड की तरह निरन्तर जलता रहा। कृष्ण के द्वारा अंत में कवि ने कर्ण के अपने चरित्र-दोष को ही उसके पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है और यही ध्वनित करने का प्रयत्न किया है कि अहंकार का नाश अनिवार्य और श्रेयस्कर है किन्तु वह बुद्धिजन्य समाधान-मात्र है। इस नाटक के प्राणभूत रस का प्रेरक है कर्ण के अहंकार के प्रति कवि का अदम्य आकर्षण : 'कर्ण की अहम्मन्यता—इस पर मैं मुग्ध हूं।' यही मुग्ध-भाव, जो कर्ण के अहंकार के साथ कवि की व्यक्तिगत चेतना और युग की समष्टिगत चेतना के तादात्म्य की प्रबल अभिव्यक्ति है, इस ध्वनि-रूपक का रसस्रोत है।

भगवतीचरण वर्मा में शिल्प की अपेक्षा कला अधिक है। और स्पष्ट शब्दों में, उनकी कल्पना सूक्ष्म अवयवों से ललित क्रीड़ा करने की अपेक्षा नाटकीय स्थिति, चारित्रिक द्वन्द्व आदि की उद्भावना में अधिक सफल होती है। काव्य-सामग्री, अर्थात् आलंकारिक प्रसाधन, शब्द-संगीत आदि का वैभव उनके पास नहीं है, परन्तु नाट्य-प्रभाव, वक्र व्यंजना आदि के वे धनी हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बच्चन की कविता

छायावाद की कविता मूलतः व्यक्तिवादी है। आरम्भ से ही उसमें व्यक्तिवाद का स्वर अत्यन्त मुखर था। इसका मुख्य कारण यह था कि छायावाद को प्रभावित करने वाली चिन्ता-धारा—दूसरे शब्दों में दार्शनिक विधान और काव्य-परम्परा दोनों ही अपने मूल रूप में एकान्त व्यक्तिवादी थीं। यह दार्शनिक विधान प्राचीन भारतीय अद्वैतवाद और उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य आदर्शवाद के समान तत्त्वों से निर्मित था, जो विवेकानन्द जैसे धर्म-नायकों की वाणी में मुखरित होकर तत्कालीन चिन्तकों और विचारकों को प्रभावित कर रहा था। वास्तव में इन दोनों में कोई मूलगत भेद नहीं था। आदर्शवाद अद्वैतवाद का ही आधुनिक रूपान्तर था, जो भौतिक जीवन को अधिक ग्राह्य रूप में प्रस्तुत करने के कारण नवीन जीवन के अधिक अनुकूल पड़ता था। राजनीतिक-सामाजिक धरातल पर यह दर्शन सामन्तवाद की चिन्ताधारा के विद्रोह में पूंजीवाद की व्यक्तिगत साहसिकता के आधार पर खड़ा हुआ था। उधर, काव्य-क्षेत्र में छायावाद पर रोमांटिक भावधारा का प्रभाव था, जो जीवन के प्रति एक अतिशय व्यक्तिवादी भावात्मक दृष्टिकोण था। इस प्रकार भावना और चिन्ता दोनों के क्षेत्र में छायावाद को व्यक्तिवाद से प्रेरणा मिल रही थी। परन्तु उसका व्यक्ति-तत्त्व प्रच्छन्न अर्थात् अप्रत्यक्ष एवं सूक्ष्म था। तत्कालीन प्रतिकूल सामाजिक तथा बौद्धिक परिस्थितियों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की उस नव-उद्बुद्ध चेतना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिए यथेष्ट अवकाश नहीं था, निदान वह प्रत्यक्ष एवं निरावरण, स्थूल अथवा मूर्त नहीं हो सका। राजनीतिक जीवन में उसने अहिंसा का रूप धारण किया, सामाजिक जीवन में आत्म-संस्कार का और वैयक्तिक जीवन में वह अतीन्द्रिय प्रेम तथा जीवन और जगत् के प्रति एक मोहक रोमानी विद्रोह के रूप में अभिव्यक्त हुआ।

धीरे-धीरे यह धूमिल संसार और जीवन अधिक मूर्त और अनुभूत होने लगा और छायावाद का अप्रत्यक्ष एवं सूक्ष्म व्यक्तिवाद प्रत्यक्ष और स्थूल की महत्त्व-स्वीकृति का आग्रह करने लगा। धर्म, समाज, देश की भावना के नीचे दबा हुआ व्यक्ति का अहं जागरूक होकर अपने सुख-दुःख को, अपनी कुंठा और प्रसादन को सबसे अधिक महत्त्व देने लगा और साहित्य में उनकी अभि-व्यक्ति की माँग करने लगा। इस माँग को सबसे पहले साहसपूर्वक बच्चन ने पूरा किया और हमारी पीढ़ी का तरुण समाज अपने हर्ष-विषाद को—और उसके जीवन में विषाद ही अधिक था—इस समवयस्क कवि के गीतों में मुखरित पाकर आत्माभिव्यक्ति के सुख से झूम उठा।

बच्चन की कविता स्वीकृत रूप से व्यक्तिवादी कविता है :

१—मैं तो बस इतना कहता हूं—
वह एक दीप लौटा लाओ,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिसकी लघु बाड़व-ज्वाला से
घबरा उठता तम का सागर !

(सतरंगिनी)

२—एक चिड़िया चोंच में तिनका लिये जो जा रही है,
वह सहज में ही पवन उनचास को नीचा दिखाती।

(सतरंगिनी)

उन्होंने निर्भीक होकर बिना किसी प्रकार के दुराव-छिपाव के अपनी कविता को प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति का साधन बनाया है।

बच्चन के व्यक्तिवाद को समझने के लिए पहले उनके व्यक्तित्व और उनकी परिस्थिति का विश्लेषण अनिवार्य होगा। बच्चन के व्यक्तित्व का निर्माण इस शताब्दी के चौथे दशक में हुआ है। सन् '३३-'३४ से '३८-'३९ तक का समय उनके लिए आत्म-साक्षात्कार का समय था। भारतीय राजनीतिक-सामाजिक जीवन में यह अवसाद का समय था, जब राजनीति में दूसरा सत्याग्रह विफल हो चुका था और सामाजिक जीवन आर्थिक पराभव से आक्रान्त था। इस अवसाद का वैसे तो समस्त जनता पर ही प्रभाव था; परन्तु मूलतः इसका भागी था मध्यवर्ग, जो राजनीति, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में देश की चेतना का प्रतिनिधि था। बच्चन हिंदी-साहित्य में इसी मध्यवर्ग के युवक-समुदाय के प्रवक्ता रहे हैं। यह युवक-समुदाय जिन आशाओं और उमंगों को लेकर जीवन में प्रविष्ट हुआ था, उन्हें राजनीतिक पराजय और दिन-दिन बढ़ती हुई बेकारी ने निर्दयता के साथ कुचल दिया था। जिस सत्याग्रह-आन्दोलन में बच्चन ने विश्वविद्यालय छोड़ा था, वह विफल हो चुका था। प्रतिभाशाली विद्यार्थी-जीवन को असमय में ही समाप्त कर उनको एक स्कूल में अपने व्यक्तित्व और प्रतिभा के सर्वथा विपरीत एक बहुत साधारण-सी नौकरी करनी पड़ी। इस भूमिका में बच्चन के व्यक्तित्व का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है वह कुछ इस प्रकार है: राजनीतिक और आर्थिक पराभव से अवसन्न वातावरण में संघर्षरत मध्यवर्ग का एक प्राणवान् युवक जो समर्थ इच्छाशक्ति और उच्चाकांक्षाओं के साथ जीवन में प्रवेश करता है परन्तु अवश्य प्रतिकूल परिस्थतियों के आघात से सहसा गतिरुद्ध होकर एकान्त विवशता का अनुभव करता है। अतएव इस व्यक्तित्व के मूल निर्णायक तत्त्व हैं—संघर्षजन्य पराभव और अवसाद, जो उसे वातावरण से प्राप्त होते हैं; मध्य-वर्ग की व्यक्तिवादी चेतना अर्थात् समाज के व्यापक जीवन से विमुख होकर वैयक्तिक जीवन के सुख-दुःख पर अवधान; समर्थ चेतना और इच्छाशक्ति (ये दोनों गुण संस्कारगत हैं) और अवश्य प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष।

बच्चन के संघर्ष की प्रथम अभिव्यक्ति हमें 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' में मिलती है। इस अभिव्यक्ति को हिंदी में 'हालावाद' का नाम दिया गया। यह नाम अधिक विचारपूर्ण नहीं था, परन्तु विस्मरण की मनोवृत्ति को व्यक्त करने के लिए यह शब्द बुरा भी नहीं था। जैसा कि मैंने ऊपर निर्देश किया है, राजनीति और आर्थिक पराभव के कारण इस समय के वातावरण में गहन अवसाद छाया हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप तत्कालीन समाज, मुख्यतः मध्यवर्ग, की चेतना एक विशेष मानसिक-आध्यात्मिक क्लांति से अभिभूत हो गई थी। इस क्लांति को दूर करने के लिए बच्चन ने हाला का आह्वान किया—यह हाला थी आध्यात्मिक विद्रोह से प्रेरित भोगवाद की। उमरखैयाम से प्रेरणा लेकर बच्चन ने अपनी 'मधुशाला' का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निर्माण किया और उस युग के अवसादग्रस्त युवक-समाज को वहां बैठकर अपना ग़म ग़लत करने का निमन्त्रण दिया। और, इसमें सन्देह नहीं कि वह युवक-समाज, जो विश्वास का आधार खो बैठा था, बड़े उत्साह से उस ओर बढ़ा। इस हालावाद की व्याख्या बच्चन के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है: यह समस्त विश्व किसी क्रूर नियति के इंगित से परिचालित चक्रवत् घूम रहा है। वह भाग्य-चक्र के अधीन सर्वथा विवश और अपनी विवशता में एकान्त करुण है। उसकी सबसे बड़ी विवशता है अस्थायित्व। उसके सभी नाम-रूपात्मक प्रोद्भास क्षणभंगुर हैं। इस अस्थिरता पर विजय प्राप्त करने के लिए मानव के सभी प्रयत्न सर्वथा निष्फल सिद्ध हुए हैं। अतएव पाप और पुण्य पर आश्रित जीवन के सभी मूल्य जीवन की क्षणभंगुरता में एकान्त निस्सार हैं। उनके बन्धन के कारण मनुष्य और भी क्लीव बन गया है। ईश्वर और धर्म की कल्पना ने मनुष्य के मन को रूढ़िजाल में जकड़ कर निस्तेज बना दिया है जिसके परिणामस्वरूप वह प्रत्यक्ष का त्याग कर परोक्ष के मोह में भटक कर जीवन की क्षणभंगुरता को और भी अधिक करुण बना लेता है। जीवन की इस विफलता का तो बस एक ही उत्तर है—उपभोग। और उसके लिए इस कल्पित आध्यात्मिक-नैतिक रूढ़िपाश को छिन्न-भिन्न करना अनिवार्य है। नियति से जितने भी क्षण हमें मिले हैं उनका ही केवल तात्कालिक मूल्य है, अतएव उनकी सार्थकता भोग में ही है; पाप-पुण्य, भूत-भविष्यत् की चिन्ता में उन्हें भी गँवा देना मूर्खता है। इस प्रकार बच्चन की हाला ऐसे भोगवाद का प्रतीक है, जिसका मूल आधार है आध्यात्मिक विद्रोह। इसमें अविश्वास की सक्रिय शक्ति है, जड़वाद की निष्क्रियता नहीं। भारतीय चार्वाक दर्शन की अपेक्षा यह ख़ैयाम के रंगीन 'क्षणवाद' के अधिक निकट है। परिस्थितियों में क्लांत मध्य-वर्ग के युवक-कवि बच्चन ने अपने समकालीन समाज को यही तीखी ख़ुराक देकर उसमें उत्तेजना पैदा करने का प्रयत्न किया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह जीवन-दर्शन बहुत कुछ यौवन-सुलभ कल्पना के आश्रित था। बच्चन के लिए किसी स्वानुभूत जीवन-दर्शन के प्रतिपादन का अभी समय भी नहीं आया था। इसमें अनुभूति और कल्पना का रंगीन मिश्रण था। परन्तु कुछ समय में ही बच्चन के जीवन में एक ऐसी घटना घटित हुई जिसने उन्हें जीवन के आमने-सामने लाकर खड़ा कर दिया। वे अपनी विषम परिस्थिति से संघर्ष कर ही रहे थे कि उनकी पत्नी श्रीमती श्यामा क्षय-रोग से ग्रस्त हो गईं। मध्यवर्ग के साधारण आर्थिक परिस्थिति के व्यक्ति के लिए पत्नी का क्षयग्रस्त हो जाना कितनी भयंकर आपत्ति है, इसकी कल्पना कोई भी भुक्तभोगी कर सकता है। मैं समझता हूं कि मनुष्य इतना अधिक असहाय अपने को कदाचित् ही पाता हो। बच्चन को अपने यौवन के मध्य में इस घोर मानसिक यातना का अनुभव करना पड़ा जो पत्नी की मृत्यु से अपनी चरमावस्था को पहुँच गया। इसका संकेत एक स्थान पर उन्होंने स्वयं किया है— "उस मृत्युशैया के निकट कितनी बेचैनी थी, यौवन की कितनी अभिलाषाएं उसके पायों और पाटियों पर अपना सिर धुन चुकी थीं, उस पर चमकती हुई दो आँखों में जीवन की कितनी प्यास थी, मौत के अनजाने भेदभरे देश में जाने से कितना भय था और अकिंचन मानव की असमर्थता और विवशता पर कितना विक्षोभ था!"

मृत्यु के इस साहचर्य और साक्षात्कार ने कवि की चेतना को बाहर से खींच कर एकान्त अन्तर्मुखी बना दिया—वह समाज, राजनीति आदि से पराङ्मुखी होकर जीवन के मौलिक सत्यों के सामने खड़ा हो गया—जीवन का अभिप्राय, जीवन का सारतत्त्व, जीवन और जगत्

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की प्रेरक अथवा संचालक शक्ति और मानव के प्रति उसका और मानव का उसके प्रति दृष्टि-कोण, मृत्यु, जीवन, जीवन के मूल्य, पाप और पुण्य आदि के प्रश्न, जिनके विषय में अब तक उसने रंगीन कल्पनाएं की थीं, प्रत्यक्ष रूप से उसकी अनुभूति पर होकर उतर गए। इस प्रकार की परिस्थिति का मानव व्यक्तित्व पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। साधारण जन तो प्रायः असहाय होकर भगवान की शरण में जाकर अपने कष्ट को भूलने का प्रयत्न करता है, परन्तु प्राणवान् व्यक्ति की प्रतिक्रिया भिन्न होती है। यदि वह विश्वासी है तो अपनी जीवनगत विषमताओं को उस मृत्यु-भेदी परम शक्ति की समरसता में निमग्न कर शान्ति-लाभ करता है; और यदि उसके संस्कार में विश्वास की प्रवृत्ति नहीं है तो ऐसी दशा में उसकी चेतना पूरे बल से आस्तिकता के प्रति विद्रोह कर उठती है। बच्चन के संस्कार और परिस्थिति दोनों में अविश्वास का प्राबल्य था; अतएव इस आधिदैविक संकट ने एक ओर जहां उनके विषाद को और भी गहरा किया, वहां दूसरी ओर उनके आध्यात्मिक विद्रोह को और भी प्रबल बना दिया। 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' का रचनाकाल बच्चन के लिए आत्म-साक्षात्कार का समय है। इन कविताओं में भाग्य-चक्र के नीचे कुचले हुए मानव के चीत्कार और ललकार दोनों के मिले-जुले स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं।

परन्तु जीवन सहज ही पराजय स्वीकार नहीं करता। विषाद की काली निशा धीरे-धीरे बीतने लगी। यूनिवर्सिटी में अच्छी नौकरी मिल गई। बच्चन ने एक जीवन्त वास्तवदर्शी की भाँति परिवर्तन को स्वीकार किया : "जो बीत गई सो बात गई", और यह ठीक भी था। 'निर्माण के प्रतिनिधि' मानव ने यह अनुभव किया कि—

जो बसे हैं वे उजड़ते
हैं, प्रकृति के जड़ नियम से;
पर किसी उजड़े हुए को,
फिर बसाना कब मना है!

बच्चन ने अपना उजड़ा हुआ घर फिर बसाया। 'कितना अकेला आज मैं' की पुकार

और आज तेरी गोदी में,
ध्वनित अमित का हास हुआ।
और आज मेरे मानस में
राग-रंग रस-रास हुआ।

में परिणत हो गई। देवी श्यामा के स्वर्गवास के उपरान्त जो दुनिया उनसे दूर हो गई थी, वह श्रीमती तेजी के संसर्ग से फिर निकट आ गई। 'मिलन-यामिनी' की मादकता और उसके फल-स्वरूप जीवन में 'सतरंगिनी' ने प्रवेश किया। जीवन में स्वास्थ्य और सुख का आविर्भाव हुआ। बच्चन का गृहस्थ पुत्र-कलत्र, धन-मान से सम्पन्न हो गया। हिन्दी के कुछ लेखकों को यह परिवर्तन अच्छा नहीं लगा और कुछ आलोचकों में इसकी चर्चा हुई कि 'है चिता की राख कर में, माँगती सिन्दूर दुनिया' की ग्लानि :

घन-मन तंत्री को तेज-तड़ित छू लेती;
जीवन के नभ में नवरस बरसा देती।

—के उल्लास में किस प्रकार परिणत हो गई। परन्तु वास्तव में इन आलोचनाओं में जीवन को बहुत सतह से देखा गया है और हलकी भावुकता के मानदण्ड से मापा गया है। इस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रकार के आलोचक स्थूल आदर्शवाद के मोह में जीवन की अपराजेय शक्ति के महत्त्व को भूल जाते हैं; इस तरह का आदर्शवाद जीवन के एकांग को देख पाता है, सर्वांग को नहीं :

× × ×

मातम का तम आया माना,
अंतिम सत्य इसे यदि जाना,
तो तूने जीवन की अब तक आधी सुनी कहानी।

इन्हीं दिनों एक और व्यक्तिगत घटना हुई—माता जी की मृत्यु। इस बार बच्चन ने मृत्यु का सर्वथा भिन्न रूप में साक्षात्कार किया। "···इसके विपरीत माताजी की शैया के निकट कितनी शान्ति थी, जीवन की अभिलाषाएं या तो पूरी हो चुकी थीं या मिट चुकी थीं। आँखों में जीवन के प्रति उपेक्षा और उदासीनता का भाव था।···उनका यह विश्वास कि आत्मा अमर है, मृत्यु से आत्मा का अन्त नहीं, पुनर्जीवन होता है···जो कुछ हो रहा है वही ठीक और कल्याणकर है—उनके चेहरे से टपका करता था। श्यामा की मृत्यु के पश्चात् मुझे ऐसा लगता था कि जैसे उनकी आत्मा उनके शव के चारों ओर चक्कर काट रही है और सतत प्रयत्नशील है कि वह उनके चोले में फिर समा जाए। माताजी की मृत्यु के पश्चात् मुझे ऐसा लगता था कि जैसे उनकी आत्मा शरीर छोड़ कर अलग हो गई है और दूर बैठकर साँसों के साथ उसका खेल देख रही है—कब 'देह धरे' का दण्ड समाप्त हो और कब उसे मुक्ति मिले। उनकी मृत्यु मेरे लिए जीवन की नवीन व्याख्या थी। मेरी आँखों के सामने मृत्यु का एक नया अर्थ खुल रहा था।" यह तो ठीक ही है कि मृत्यु के प्रति श्रीमती श्यामा और माताजी के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न रहे होंगे, परन्तु बच्चन के दृष्टिकोण में भी तो इस समय तक कितना अन्तर आ गया था—और वास्तव में उसी का महत्त्व है। माताजी की मृत्यु के समय तक बच्चन की अपनी जीवन-दृष्टि भी बदल गई थी। अतएव यह अन्तर विषय के अतिरिक्त विषयी की दृष्टि का भी था। श्रीमती श्यामा की मृत्यु के समय बच्चन के अपने जीवन की अभिलाषाएं चारों ओर से कुण्ठित होकर मरणोन्मुखी पत्नी के शरीर से लिपट कर अकिंचन मानव की असमर्थता और विवशता पर विक्षोभ से छटपटा रही थीं। माताजी की मृत्यु के समय तक बच्चन की परिस्थिति बदल चुकी थी। पहली परिस्थिति में जहां उनकी विषादग्रस्त चेतना के लिए श्रीमती श्यामा की रोग-शैया से हट कर अन्यत्र आश्रय नहीं था, वह बाहर के असफल संघर्ष से आहत होकर घर में लौटती, और घर में उसका केन्द्र-बिन्दु था पत्नी का निरन्तर क्षीण होता हुआ अस्तित्व; और फिर उससे हटकर बाहर वही विफल संघर्ष था। ऐसी स्थिति में मृत्यु का विक्षुब्ध रूप ही सामने आ सकता था। इसके विपरीत माताजी की रुग्णावस्था में आहत चेतना की विशदता और शान्ति के लिए पर्याप्त अवकाश था : श्रीमती तेजी, अमित, यूनिवर्सिटी का रुचिकर कार्य, सफल साहित्यिक जीवन इत्यादि। स्वभावतः इस मृत्यु में बच्चन को वह बेबसी और छटपटाहट दृष्टिगत नहीं हुई—उसका शान्तिमय रूप ही सामने आया क्योंकि अब तक कवि का जीवन-दर्शन अभावात्मक से बहुत कुछ भावात्मक हो चुका था।

यह तो हुई बच्चन के व्यक्तिगत जीवन के आरोह-अवरोह की एक स्थूल रूप-रेखा। इसका प्रत्येक संस्थान बच्चन के काव्य-जीवन का एक संस्थान है—बच्चन के कवि और काव्य को पृथक् रूप से नहीं देखा जा सकता। परन्तु इस बीच में विश्व-जीवन में भी कई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुईं। उदाहरण के लिए—दूसरा विश्व-युद्ध, इधर भारत में बंगाल का अकाल,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भारत का विभाजन, और उसके बाद का भयंकर गृह-युद्ध, स्वराज्य की स्थापना, बापू की हत्या। और प्रश्न उठता है कि क्या इनका बच्चन के कवि-जीवन के आरोह-अवरोह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा ? साधारणतः तो इसका उत्तर 'हां' में देना चाहिए : विश्व-युद्ध के दिनों में बच्चन ने 'आकुल अन्तर' और 'बिकल विश्व' नाम से दो गीत-मालाएं आरम्भ की थीं। इनमें से 'आकुल अन्तर' प्रकाशित हो चुका है, 'बिकल विश्व' का पृथक् प्रकाशन नहीं हुआ। बंगाल के अकाल पर भी बच्चन ने एक स्वतन्त्र काव्य लिखा है 'बंगाल का काल', और इधर बापू की हत्या पर उन्होंने पूरे २०४ गीत लिखे हैं; और उनका कहना है कि मेरे लिखने की प्रगति इतनी तेज कभी नहीं रही। परन्तु यह असंदिग्ध है कि ये रचनाएं उत्कृष्ट नहीं हैं—'बंगाल का काल' शैली-शिल्प के नवीन प्रयोगों के होते हुए भी रिक्त है, 'विकल विश्व'-माला के अन्तर्गत लिखे हुए गीत भी निर्जीव हैं। स्वयं गांधीजी की हत्या पर लिखे हुए अधिकांश गीत खोखले हैं। और इसका कारण स्पष्ट है—बच्चन की चेतना एकान्त व्यक्तिवादी है। उपर्युक्त कृतियों में उनके चेतन मन ने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेष्ट होकर अपने अहं का सामाजीकरण करने का प्रयत्न किया है, परन्तु सामाजीकरण के अनभ्यस्त उनके अवचेतन ने साथ नहीं दिया। वह इन सामाजिक प्रेरणाओं में तन्मय नहीं हो सका :

कल सुधारूंगा हुई
संसार से जो भूल,
कल उठाऊंगा भुजा
अन्याय के प्रतिकूल,
आज तो कह दो कि मेरा
बन्द शयनागार !

इस प्रकार बच्चन की कविता एकान्त आत्मगत कविता है और उसका मुख्य विषय है मध्यवर्गीय जीवन के घात-प्रतिघात, जिनके अन्तर्गत प्रेम भी आ जाता है। परन्तु बच्चन प्रेम-कवि नहीं हैं। प्रेम जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, सम्पूर्ण जीवन नहीं। भौतिक घात-प्रतिघात से आन्दोलित जीवन की मूल धारा बच्चन के काव्य का प्रेरणा-स्रोत है, नारी के प्रति आत्मदान नहीं। इस रूप में अध्ययन न करने से बच्चन की कविता के साथ अन्याय किया जा सकता है।

प्रत्यक्षतः व्यक्तिगत जीवन की कविता होने के कारण बच्चन की कविता का मूल आधार है अनुभूति, और यही उसकी सबसे बड़ी और बहुत-कुछ अंशों में एकमात्र शक्ति है। इस दृष्टि से बच्चन की काव्य-चेतना पन्तजी की काव्य-चेतना के सर्वथा विपरीत है। पन्तजी ने जहां जीवन की कल्पना और चिंतन किया है, बच्चन ने वहां उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की है। इसके अतिरिक्त पन्तजी ने जहां अपनी अनुभूतियों का परिष्कार एवं उन्नयन करने का प्रयत्न किया है, वहां बच्चन ने उनको उनके प्रकृत रूप में प्रत्यक्ष रीति से व्यक्त किया है। इसीलिए उनकी अनुभूति अधिक संस्कृत न होकर काफ़ी हद तक आदिम (Primitive) है, परन्तु इसीलिए वह मौलिक और तत्त्वगत (elemental) भी है। इस प्रकार की अनुभूति में सूक्ष्म जटिलताएं नहीं होतीं—और इसी कारण उसमें ग्रन्थियां भी नहीं हैं। जीवन की वीचियों से खेलने वाली, सौन्दर्य के बारीक तत्त्वों को पकड़ने वाली पन्त की जैसी अतिशय सूक्ष्म संवेदनशीलता बच्चन में नहीं है, परन्तु जीवन के मौलिक मनोवेगों का संवेदन उनका अत्यन्त प्रत्यक्ष और प्रबल होता है। उनकी व्यक्ति-चेतना का यही सहज धरातल है और इसी के अनुरूप उनके भावन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एवं साधारणीकरण की विधि भी सहज और प्रकृत होती है। बच्चन चिन्तन की सूक्ष्मताओं, कल्पना की ललित क्रीड़ाओं, तथा आधुनिक बौद्धिक धारणाओं द्वारा अपनी वैयक्तिक अनुभूति का भावन नहीं करते। वे जीवन के सर्वमान्य मौलिक तथा मूर्त सत्यों के द्वारा और जीवनगत सरल कल्पना की सहायता से ही व्यक्ति की अनुभूति का साधारणीकरण करते हैं। इसके लिए वे या तो सरल प्राकृतिक सत्यों को ग्रहण करते हैं, या जीवन की विशद घटनाओं को। उदाहरण के लिए, अपनी पहली पत्नी के देहान्त पर कई वर्षों तक मानसिक यातना सहने के उपरान्त कवि धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ होता है और अतीत के साथ समझौता करना चाहता है। इसके लिए, जैसा कि अत्यन्त सहज था, वह दार्शनिक युक्तियां नहीं देता—अपनी पीड़ा का उन्नयन नहीं करता, वरन् कुछ विराट् प्राकृतिक तथ्यों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करता हुआ उसको एक विश्वव्यापी रूप दे देता है :

जो बीत गई सो बात गई !
जीवन में एक सितारा था,
माना, वह बेहद प्यारा था
वह टूट गया तो टूट गया;
अंबर के आनन को देखो !
कितने इसके तारे टूटे,
कितने इसके प्यारे छूटे,
जो छूट गए फिर कहां मिले,
पर बोलो टूटे तारों पर
कब अम्बर शोक मनाता है !

यहां अम्बर की विराटता के साथ अपनी जीवन-घटना का तादात्म्य स्थापित करते हुए कवि ने अपनी अनुभूति को विस्तार दे दिया है। इसी प्रकार :

तुम तूफ़ान समझ पाओगे ?
गंध भरा यह मंद पवन था
लहराता इससे मधुवन था
सहसा इसका टूट गया जो स्वप्न महान्, समझ पाओगे ?

यहां भी उसने अपने स्वप्न को तूफ़ान के महान् स्वप्न के साथ तदाकार करते हुए व्यक्तिगत अनुभूति को तत्त्वगत (elemental) बना दिया है।

कहने का तात्पर्य यह है : जीवन की मौलिक भावनाओं का व्यक्तिगत रूप में प्रबल संवेदन करते हुए उन्हीं के अनुरूप प्रकृति अथवा जीवन के व्यापक सरल सत्यों द्वारा उनका साधारणीकरण करना बच्चन की काव्य-चेतना की सबसे प्रमुख विशेषता है, और यही उनके व्यापक प्रभाव का मूल कारण है। अनुभूति की भाँति बच्चन के विचार भी सरल होते हैं। जीवन के प्रति उनकी बौद्धिक प्रतिक्रिया सदैव सीधी और प्रत्यक्ष रही है। पहले उन्होंने जीवन के अभावों को लेकर सरल विधि से भाग्यवाद को अपनाया : इस जीवन में सभी कुछ नाशवान् है अतएव जीवन के मूल्यों को ही क्यों महत्त्व देकर अपने को वर्तमान के क्षणिक सुख से वंचित रखा जाये। इसके लिए सबसे बड़ी बाधा नीति और आचार की संहिता है, अतएव मनुष्य को बलपूर्वक अपने को उससे मुक्त कर लेना चाहिए। मृत्यु पर विजय पाना सर्वथा असम्भव है, अत-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एव उसको भूलने का प्रयत्न करना चाहिए :

भुका कर इसके आगे शीश
नहीं मानव ने मानी हार।
मिटा सकने में यदि असमर्थ
भुला सकते हम यह संसार।

यह है बच्चन की विचारधारा का पहला संस्थान। किन्तु मनुष्य की शक्ति अत्यन्त सीमित है। काल के सम्मुख उसका यह विस्मरण-प्रयत्न भी निष्फल हो जाता है—मनुष्य वास्तव में सर्वथा दीन और असहाय है : 'मिट्टी दीन कितनी हाय'। नियति के विरुद्ध विद्रोह व्यर्थ है, उसके प्रति आत्म-समर्पण करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। यह है दूसरा संस्थान। किन्तु नहीं, जीवन का प्रेम मृत्यु के भय से अधिक समर्थ है। जीवन में दुःख आता है—ठीक है; परन्तु बीती को भूलना ही होगा। नाश की अपेक्षा निर्माण की प्रेरणा अधिक बलवती एवं स्वस्थ है।···यह है बच्चन की विचारधारा जो जीवन के उतार-चढ़ाव पर गिरती-उठती हुई सरल पथ से आगे बढ़ती है।

बच्चन पर अस्वस्थ जीवन-दर्शन के प्रतिपादन का आरोप लगाया गया है। कहा गया है कि उनका जीवन-दर्शन पराजय और मृत्यु पर आधृत है। उसमें मानव की विवशता और अन्धे भाग्यवाद का सन्देश है। जीवन का प्रकाश न होकर उसमें मरण का अन्धकार है। उधर नैतिक और आध्यात्मिक विश्वासों का तिरस्कार करने के कारण उस पर अनाचार का आरोप लगाया जाता है। दोनों ही आरोप मिथ्या नहीं हैं। जैसा कि मैंने अभी कहा, बच्चन ने जीवन के विचार-चिन्तन एवं कल्पना की अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभूति ही अधिक की है। अतएव उन्होंने अपने परिस्थिति-जन्य अनुभवों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है, किसी पूर्व-निश्चित जीवन-दर्शन के प्रकाश में उनका उन्नयन नहीं किया। सामाजिक तथा व्यक्तिगत पराजय और अवसाद के वातावरण में जीवन के विफल संघर्ष का अनुभूत दर्शन अवसाद और निराशा का दर्शन ही हो सकता था; या यों कहिये कि वह ही अधिक सहज था। परिस्थिति के साथ जीवन-अनुभव में परिवर्तन होने से धीरे-धीरे यह अवसाद घटता गया—नाश के स्थान पर निर्माण का महत्त्व अनुभव-गत हुआ और अभावात्मक दर्शन क्रमशः भावात्मक होने लगा :

आत्मा की अजर अमरता के हम विश्वासी,
काया को हमने जीर्ण वसन बस माना है,
इस महामोह की वेला में भी क्या हमको
वाजिब अपनी गीता का ज्ञान भुलाना है।

अतएव बच्चन के जीवन-दर्शन को बौद्धिक अथवा नैतिक मूल्यों से परखना ग़लत होगा। उसकी शक्ति उसके नैतिक अथवा बौद्धिक प्रतिपाद्य में नहीं है—उसकी शक्ति उसके अनुभूत्यात्मक स्वरूप में है। इसीलिये उसका प्रभाव सीधा पड़ता है।

अनुभूति और चिन्ता के अनुरूप ही बच्चन की कल्पना भी ऋजु-सरल है। उसमें छायावादी कल्पना के ऐश्वर्य का नितान्त अभाव है। प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी की तुलना में बच्चन की कल्पना कितनी अबोध है—राजभवन की किसी विदग्धा प्रौढ़ा के समक्ष जैसे कोई अर्धशिक्षिता मुग्धा। कल्पना में बुद्धि और अनुभूति का योग रहता है। उसका काम अनुभूत तथ्यों को लेकर नव-नव संयोजनाएं प्रस्तुत करना है, और संयोजन मूलतः बुद्धि की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्रिया है। अतएव कल्पना की समृद्धि मूलतः अनुभव और बुद्धि की समृद्धि पर आश्रित है। कल्पना की समृद्धि के लिए जहां एक ओर यह आवश्यक है कि अनुभव अनेकरूप, विस्तृत एवं सूक्ष्म हो, वहां दूसरी ओर यह कि बुद्धि प्रखर, सूक्ष्मग्राही और दूरदर्शी हो। तभी नानारूपिणी संयोजनाओं की सृष्टि सम्भव है। बच्चन का अनुभूति-क्षेत्र सीमित है। उनकी अनुभूति, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, प्रबल और सरल है और उसी के अनुरूप उनकी विचार-पद्धति भी सरल है। सुन्दर रूप-तत्त्वों का वह संगुम्फन, जो प्रसाद, पन्त या महादेवी में मिलता है, बच्चन में उपलब्ध नहीं है। उनके चित्रों में अवयवों की बारीकी और रेखाओं की तरलता नहीं है। सारांश यह कि बच्चन की काव्य-सामग्री के संयोजन में सारल्य और ऋजुता तो है, परन्तु औज्ज्वल्य और सूक्ष्म अंकन, जड़ाव-कढ़ाव अथवा नक्काशी नहीं है। दो-एक उदाहरण लीजिये :

१. संध्या सिंदूर लुटाती है !
रँगती स्वर्णिम रज से सुन्दर,
निज नीड़-अधीर खगों के पर,
तरुओं की डाली-डाली में कंचन के पात लगाती है।
करती सरिता का जल पीला,
जो था पल भर पहले नीला,
नावों के पालों को सोने की चादर-सा चमकाती है।

× × ×

रश्मियों में रँग पहन ली आज
किसने लाल सारी ?
फूल कलियों से प्रकृति ने
माँग है किसकी सँवारी ?

इन चित्रों की तुलना 'सांध्यगीत' अथवा 'स्वर्णकिरण' के चित्रों से कीजिये।

दूसरी ओर, प्रयोगवादी शैली-शिल्प का बौद्धिक प्रतीक-विधान एवं अप्रस्तुत-योजना भी बच्चन के काव्य से दूर है। उनका न इनमें विश्वास है और न वहां तक उनकी गति ही है। उन्होंने छायावाद के अतिशय परिष्कार और प्रयोगवाद की जटिल बुद्धि-क्रीड़ा, दोनों का समानरूप से तिरस्कार किया है। साथ ही प्रगतिवाद का वर्ग-चेतना-युक्त अप्रस्तुत-विधान भी उनमें नहीं है। उन्होंने साधारणता को आग्रह के साथ अपनाया है। असाधारण चयन या आविष्कार में उनकी कला विश्वास नहीं करती। प्रत्यक्ष अनुभूति का जिन प्राकृतिक और भौतिक उपकरणों से सीधा सम्बन्ध है, वे उन्हें सहज रूप में स्वीकार्य हैं; तभी वे धूलि, सुरभि, मधु, रस, हिमकण के उस वातावरण में भी तकिया, ककड़ी के खेत, मिट्टी के घरौंदे, श्वान, काक, सुराही, प्याला और कंकड़-पत्थर आदि का निस्संकोच प्रयोग कर सके। कहने का अभिप्राय यह है कि बच्चन के काव्य में ललित कल्पना (fancy) तथा निपुण कल्पना (यह डॉ० देवराज का शब्द है, और बौद्धिक कल्पना के लिए अत्यन्त उपयुक्त है) की अपेक्षा सहज कल्पना का ही प्राधान्य मिलता है।

परन्तु अनुभूति की इस सरलता ने बच्चन की कला को एक अन्य मूलगत विशेषता प्रदान की है। वह है अन्विति, जो कि छायावादी कविता में प्रायः विरल है। अनुभूति-प्राण होने के कारण बच्चन के गीतों में रागात्मक एकता प्रायः सर्वत्र मिलती है। मैं यहां उनके उन्हीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सफल गीतों की चर्चा कर रहा हूं जो अनुभूति से अनुप्राणित हैं, असफल गीतों में तो अनुभूति की प्रेरणा ही नहीं है। अनुभूति में समन्वय का गुण होता है, क्योंकि वह खण्ड-रूप नहीं होती। बुद्धि विश्लेषण-प्रधान है, अतएव जिस कविता में बुद्धि-आश्रित कल्पना का प्राधान्य रहता है उसमें अन्विति-सूत्र टूट जाता है, या फिर उसमें रागात्मक अन्विति के स्थान पर तार्किक अन्विति मिलती है जिससे काव्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। बच्चन के सफल गीतों की मूल अनुभूति इतनी प्रबल और सरल है कि उसका भावन करने में कवि को बौद्धिक प्रयत्न बहुत ही कम करना पड़ा है। बौद्धिक व्यक्ति के संवेदन इतने सूक्ष्म, उलझे हुए और विकीर्ण होते हैं कि उनकी समीकृति करने में बुद्धि और कल्पना को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि बुद्धि और कल्पना के शिकंजे में कस जाने से संवेदन अपनी शक्ति खो बैठते हैं और उनकी अन्विति इतनी सूक्ष्म तथा दूरारूढ़ हो जाती है कि पाठक के लिए उसका ग्रहण सहज नहीं होता। इनके विपरीत प्रबल एवं प्रत्यक्ष अनुभूतिजन्य सवेदन एक तो अपने आप में ही प्रबल और प्रत्यक्ष होते हैं, दूसरे उनमें अनुभूति की रागात्मक अखण्डता सहज रूप से वर्तमान रहती है, अतएव उनका समीकरण करने के लिए बुद्धि-आश्रित कल्पना का कम-से-कम उपयोग करना पड़ता है। 'निशा निमन्त्रण' के अनेक तथा 'एकान्त-संगीत' के कुछ गीतों की रागात्मक अन्विति हिन्दी-गीति-काव्य के लिए आदर्श है। और 'निशा-निमन्त्रण' में तो यह अन्विति पृथक्-पृथक् गीतों में ही नहीं मिलती, उसकी संपूर्ण गीतमाला में ही एक प्रबल रागात्मक अन्विति वर्तमान है; और यह ठीक ही कहा गया है कि 'निशा-निमन्त्रण' स्फुट गीतों का संकलन न होकर मानव-जीवन की करुणा का एक महागीत है। इन गीतों की प्रेरक अनुभूति की एकता ने मनोदशा की एकता उत्पन्न की है, और मनोदशा की एकता ने वातावरण की एकता को जन्म दिया है। इस व्यापक अन्विति का परिणाम यह हुआ है कि 'निशा-निमंत्रण' पाठक के मन में एक खण्ड अनुभूति मात्र नहीं जगाता, वरन् एक स्थायी मनोदशा एवं एक मानसिक वातावरण उत्पन्न कर देता है, जो कला की बहुत बड़ी सफलता है।

ये ही गुण बच्चन की भाषा तथा अभिव्यंजना और छन्द-विधान में मिलते हैं। छायावाद की प्रतीकात्मक, अतिशय लाक्षणिक, चित्रमयी भाषा से सर्वथा भिन्न बच्चन की भाषा का मुख्य गुण प्रत्यक्षता और सरलता है। 'मधुबाला', 'मधुकलश' और इधर 'मिलन-यामिनी' तथा 'सतरंगिनी' में भी, जहां काव्य-सामग्री अपेक्षाकृत अधिक रंगीन और समृद्ध है, अभिव्यंजना प्रत्यक्ष और सरल ही है—उसका आधार मूलतः अभिधा ही है। और, वास्तव में, जैसा कि मैंने अन्यत्र एक शास्त्रीय प्रसंग में स्पष्ट किया है, प्रबल अनुभूति का सहज माध्यम अभिधा ही है। उधर लक्षणा और व्यंजना में बुद्धि-तत्त्व मूलतः निहित रहता है, अतएव इन दोनों शक्तियों का मूल सम्बन्ध रागतत्त्व की अपेक्षा कल्पना और बुद्धि-तत्त्व से ही अधिक है। अभिधा का आधार होने से बचचन की अभिव्यक्ति अपने सफल रूप में व्यक्त, प्रसन्न और प्रबल है, और असफल रूप में मुखर और वाचाल (मुँहफट) है।

उदाहरण के लिए :

१. यह चाँद उदित होकर नभ में,
कुछ ताप मिटाता जीवन का;
लहरा लहरा ये शाखाएं,
कुछ शोक मिटा देतीं मन का।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कल मुर्झाने वाली कलियाँ,
हँस कर कहती हैं मग्न रहो;
बुलबुल तरु की फुनगी पर से,
संदेश सुनाती यौवन का।

कितनी प्रसन्न वाग्धारा है !

या, फिर

मेरे पूजन आराधन को,
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमज़ोरी कहकर मेरा पूजित पाषाण हँसा—
तब रोक न पाया मैं आँसू।

परन्तु अनुभूति की प्रेरणा से वंचित होकर इसका स्वरूप यह हो जाता है :

१. नत्थू खैरे ने बापू का कर अन्त दिया।

अथवा

२. वह आज हुआ है बिना गुरू का चेला।

आप कल्पना कीजिये भारत के भाग्यविधाता के नृशंस वध का सघन-गहन वातावरण, उसमें जलती हुई उस महामानव की चिता और शोकमग्न भारत का महान् प्रधानमन्त्री, और इस पंक्ति को पढ़िये, "वह आज हुआ है बिना गुरू का चेला।"

बच्चन ने यों तो छन्द-विधान में अनेक प्रयोग किये हैं : 'मधुशाला' की रुबाई से लेकर 'मधुबाला' और 'मधुकलश' के अनेक हिन्दी-छन्द, और फिर 'निशा-निमन्त्रण' से लेकर 'एकांत-संगीत' और 'मिलन-यामिनी' के भिन्न-भिन्न गेय पद और उधर 'बंगाल का काल' का लय-आश्रित मुक्त छन्द छन्द-विधान की विविधता के प्रमाण हैं; परन्तु प्रायः सर्वत्र ही उनकी स्वर-योजना और लय-विधान में एक सादगी और ऋजु-सरल वेग मिलता है। स्वर की वह सूक्ष्म-तरल योजना जो महादेवी के गीतों में घुलती रहती है, अथवा वह स्वर्ण-झंकृति जो पंत के छन्दों में मिलती है, अथवा वह नाद-गाम्भीर्य जो निराला के छन्दों को अनुप्राणित करता है, बच्चन में नहीं है। उनके लय-विधान में रोमानी सूक्ष्म प्रभावों के स्थान पर व्यवहार-जगत् की शक्ति मिलती है। इसी प्रकार स्वर-योजना में भी बारीक लोच न होकर सीधापन है। उनके स्वर और लय का भी सम्बन्ध, जैसा कि अनुभूति और अभिव्यक्ति का है, आधुनिक मध्यवर्ग के व्यवहारगत जीवन से है, और उसी के अनुरूप उसमें समृद्धि और बारीक लोच का अभाव तथा एक प्रकार की रुखाई और व्यवहार-जगत् की शक्ति मिलती है।

सारांश यह है कि बच्चन की कविता की सबसे बड़ी पूंजी है अनुभूति, जिसका आधार है मूल मनोवेग। बच्चन की वे कविताएं, जिनमें प्रकृति (उसे नियति या समाज भी कह लीजिये) के विरुद्ध शाश्वत मानव के सफल-विफल संघर्ष को—सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक आवरण से मुक्त—उसके मूलरूप में अंकित किया गया है, निस्संदेह महान् कविताएं हैं :

यह महान दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु, स्वेद, रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वास्तव में मूल मनोवेगों पर आधृत अनुभूति की पूँजी अपने आप में साधारण पूँजी नहीं है—वह काव्य की मूलभूत पूँजी है। परन्तु विचार, चिन्तन और कल्पना के द्वारा इसका विकास करना अत्यन्त आवश्यक होता है क्योंकि साधारणतः मूलधन की मात्रा सीमित ही होती है। बच्चन ऐसा नहीं कर सके हैं—उनका बुद्धि और कल्पना-पक्ष समृद्ध नहीं है। अतएव वे मूल अनुभूतियों के ही आश्रित रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जहां उनकी अनुभूति साथ नहीं देती वहां कविता सर्वथा गद्यमय हो जाती है। छायावाद का कवि तो अनुभूति की रिक्तता को कल्पना के फूलों या चिंतन के धूपछाँही आवरण अथवा कला की रेशमी जाली से ढँक लेता था, परन्तु बच्चन इस कला से अनभिज्ञ हैं। अनुभूति के क्षीण होते ही उनकी कविता नंगी हो जाती है। और चूँकि, अनुभूति के प्रबल क्षण अत्यन्त विरल होते हैं और वैसे ही बाह्य जीवन की सफलता के साथ-साथ उनकी शक्ति भी क्षीण होती चली जाती है, इसलिये बच्चन की रचनाओं में महान् कविताओं की संख्या बहुत कम है, और ऐसी कविताएं अनुपात से बहुत अधिक हैं जो प्राण-रस से वंचित, मुखर और वाचाल हैं। परन्तु किसी कवि का मूल्यांकन उसकी सर्वश्रेष्ठ कविताओं के आधार पर ही किया जाना चाहिये; और इस दृष्टि से बच्चन का स्थान हमारी पीढ़ी के कवियों में बहुत ऊँचा है—यद्यपि इसमें भी संदेह नहीं है कि गुण और परिमाण दोनों में बच्चन से अधिक खोखली कविताएं भी आज के किसी समर्थ कवि ने नहीं लिखीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यौवन के द्वार पर

अभी थोड़े दिनों की बात है, 'साहित्य-सन्देश' में हिन्दी के प्रौढ़ समालोचक पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का एक लेख छपा था, जिसमें वर्तमान हिन्दी-साहित्य के गतिरोध पर क्षोभ प्रकट किया गया था। इसी अंक में एक ज़ोरदार लेख प्रोफ़ेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त का भी था, जिसका आशय भी क़रीब-क़रीब यही था। इन लेखों से हिन्दी-संसार में एक खलबली-सी मच गई। हिन्दी के रिटायर्ड महारथियों को भी चिन्ता हुई। उधर रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुन्दर दास.और मिश्रबन्धु महोदयों में पत्र-व्यवहार हुआ, इधर नागरी-प्रचारिणी सभा और साहित्य-सम्मेलन भी इस गतिरोध को भंग करने के लिए कटिबद्ध हुए।

परिणामस्वरूप डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र की अध्यक्षता में काशी में एक सभा बुलाई गई, जिसमें हिन्दी के लगभग सभी नये-पुराने कलाकार उपस्थित थे। बहुत-कुछ वाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चित हुआ कि वर्तमान हिन्दी-साहित्य की गतिविधि की जाँच की जाय और सबसे पहले कविता से श्रीगणेश हो। इस कार्य के लिए उपसमिति बनाई गई जिसमें सर्वश्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, कृष्णबिहारी मिश्र और गुलाबराय के नाम सर्व-सम्मति से चुने गए। परन्तु एक नये लेखक ने आक्षेप किया कि उपर्युक्त तीनों ही सज्जन नवीन साहित्य से पूर्ण परिचित नहीं हैं, अतएव कम-से-कम एक नवीन आलोचक भी लिया जाय, जो मैटीरियलिस्टिक इण्टरप्रेटेशन ऑफ़ हिस्ट्री करना जानता हो, साइको-ऐनैलिसिस से परिचित हो, ऐगो और इड की सीमा-रेखाओं को समझता हो। इस पर वहां उपस्थित अनेक वयोवृद्ध लेखक आगबबूला हो गए—इन कल के लौंडों ने अन्धेर मचा रखा है; एक तो हिन्दी-साहित्य की यह दशा कर दी और फिर दूसरों पर विश्वास नहीं करते; हमारे साहित्य से श्रद्धा तो बिलकुल उठ गई है! बड़ी मुश्किल से इन लोगों को शान्त किया गया।

यह प्रस्ताव वहीं-का-वहीं रद्द हो जाता परन्तु जब श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने स्वयं विनयपूर्वक स्वीकार किया कि आक्षेप बहुत अनुचित नहीं, उसमें बहुत-कुछ सत्य है, तो एक नई समस्या उठ खड़ी हुई। फिर एक बहस शुरू हो गई। पक्ष में बोलने वालों में सर्वश्री रामबहोरी शुक्ल, ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', ललिताप्रसाद सुकुल आदि थे; विपक्ष में श्री किशोरीदास वाजपेयी, हितैषीजी और पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित के ज़ोरदार भाषण हुए। अन्त में पं० श्रीराम शर्मा खड़े हुए: "मैं न पक्ष में हूं न विपक्ष में, लेकिन चीज़ यह है..." इतने ही में यार-लोग चिल्ला उठे: "यदि ऐसा है तो बैठ जाइए, बैठ जाइए!..."

आखिर तय यह हुआ कि निर्णायक तो उपर्युक्त तीनों सज्जन ही रहेंगे, परन्तु जिन कवियों की कविता के विषय में निर्णय होना है, उनको यह अधिकार होगा कि वे अपने साथ एक नवीन आलोचक भी ले आएं।

अब बस एक प्रश्न शेष था: किन-किन नवीन कवियों को लिया जाय। और यह प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सचमुच भयंकर था। खुले अधिवेशन में तो ख़ून-ख़राबे की गुंजाइश थी, इसलिए अध्यक्ष महोदय ने बुद्धिमानी से इसे निर्णायकों पर ही छोड़ दिया। निर्णायकों ने कुछ नये आलोचकों की सम्मति लेकर दिनकर, अंचल और नरेन्द्र ये तीन नाम चुनकर सभापति महोदय की घोषणा के लिए दे दिए। इस बार 'जीवन-साहित्य' के सुधीन्द्रजी उठ खड़े हुए और बोले : "मुझे इस पर एक आक्षेप है। ये तीनों सज्जन समाजवादी हैं, इनमें गांधीवाद का प्रतिनिधि नहीं है। अतएव मैं प्रस्ताव करता हूं कि हिन्दी के प्रसिद्ध गांधीवादी राष्ट्रकवि श्रीसोहनलाल द्विवेदी को अवश्य सम्मिलित किया जाय। ऐसा न करना अनुचित, त्याज्य और घृणित होगा।" सुधीन्द्रजी की इस उक्ति पर डॉक्टर मिश्र चौंक पड़े—वर्गीकरण तो उन्होंने भी किया है, लेकिन यह नया वर्गीकरण गांधीवादी और समाजवादी क्या बदतमीज़ी है! और आप सच मानिए कि वे चिढ़-कर फ़ौरन ही इस प्रस्ताव को रूल-आउट कर देते, पर जब स्वयं रायबहादुर श्यामसुन्दरदासजी ने काव्य-गुण के आधार पर द्विवेदीजी की सिफ़ारिश की तो वे शान्त हो गए।

इस प्रकार चार कवि चुने गए—दिनकर, नरेन्द्र, अंचल और सोहनलाल द्विवेदी—और उनसे कहा गया कि वे स्वयं अपना व्याख्याता चुनकर तीनों निर्णायकों से अभी मिल लें जिससे भावी कार्यक्रम की रूपरेखा निश्चित हो जाय।

दिनकर ने इधर-उधर आँखें दौड़ाईं तो उन्हें ऐसा कोई व्यक्ति नज़र नहीं आया जिसने उनके काव्य का निकट से अध्ययन किया हो—बेनीपुरीजी तो जेल में थे! आख़िर उन्होंने स्वयं ही अपनी पैरवी करने का इरादा किया। इस पर कुछ लोगों को थोड़ा आश्चर्य हुआ कि 'कस्मै-देवाय' के इस लेखक ने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी-जैसे अभिभावक को—जिन्होंने 'रेणुका' को हिन्दी-कविता के शिखर पर आसीन करने के लिए भगीरथ प्रयत्न तो नहीं (क्योंकि वह तो सफल हो गया था) परन्तु गांधी-प्रयत्न अवश्य किया था—क्यों नहीं साथ लिया। पर दिनकर की दृष्टि मानो कह रही थी कि अब मैं ज़्यादा समझदार हो गया हूं।

नरेन्द्र उठे और चुपके से श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के पास जाकर खड़े हो गए, जैसे कुछ कहने-सुनने की ज़रूरत ही न हो—इन दोनों लघु-लघु गात व्यक्तियों का आलोचक-आलोच्य-सम्बन्ध सनातन काल से ही चला आया हो।

अंचल ने सविनय दृष्टि से पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की ओर देखा तो उनकी त्योरियां चढ़ गईं, बोले—"मुझे तुम्हारे लिए जो करना था कर दिया—'अपराजिता' की भूमिका लिख-कर तुम्हें हिन्दी के प्रमुख कवियों में प्रतिष्ठित कर दिया। अब इस काम के लिए किसी छोटे-मोटे आदमी को टटोलो।" लाचार होकर अंचल को श्री कान्तिचन्द्र सौनरिक्सा से ही, जो गहरी सुर्ख़ टाई लगाए हुए उनके साथ-साथ काफ़ी फ़ुर्ती से इधर-उधर घूम रहे थे, संतोष करना पड़ा।

सोहनलाल द्विवेदी के मन में इस समय विचित्र संघर्ष चल रहा था। उनको अपने योग्य कोई आलोचक ही नज़र न आता था। वे बार-बार सोचते थे किसको साथ ले चलूँ? महा-महिम महामना महर्षि मालवीयजी को? परन्तु वे तो कहीं आते-जाते नहीं। पं० जवाहरलाल जी को? लेकिन वे तो सुनते हैं रूज़वेल्ट से मिलने की तैयारी कर रहे हैं। आचार्य शुक्लजी वक़्त पर ही मर गए। रायबहादुर श्यामसुन्दरदास ने साहित्यिक संन्यास-सा ले लिया है। पन्त-जी? बड़े संकोची हैं, शायद तैयार न हों! लेकिन होंगे क्यों नहीं, मैंने भी तो उन पर एक कविता लिखी है। हरिभाऊजी का साहित्यिक महत्त्व लोग नहीं मानेंगे।

इसी उधेड़बुन में देर हो गई। शेष पाँचों सज्जन प्रस्तुत थे। निदान सभापति महोदय को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कहना पड़ा—"द्विवेदीजी, आपने अपना साथी नहीं चुना, जल्दी कीजिए।" द्विवेदीजी उत्तर भी न दे पाये थे कि डॉक्टर रामविलास शर्मा ने अत्यन्त विनयपूर्वक अपनी सेवाएं अर्पित कीं। बेचारे रावराजा को क्या मालूम था? सरल स्वभाव से बोल उठे—"हां-हां, सोहनलालजी, ठीक है। शर्माजी से अच्छा नई कविता का पारखी और कौन मिलेगा? वैसे भी पहलवान जँचते हैं। राम राखे, शाब्दिक हाथापाई से भी नहीं घबरायेंगे!" बस फिर क्या था! द्विवेदीजी का स्वाभिमानी चेहरा लाल हो गया। बोले—"आप वयोवृद्ध होकर मज़ाक करते हैं। मैं राष्ट्रकवि हूं, राष्ट्र की एकमात्र चिन्ताधारा का प्रतीक। मेरा घोर अपमान किया गया है।" और इतना कहकर श्री सोहनलाल द्विवेदी सुधीन्द्रजी को वहीं छोड़कर सभा से उठकर चले गए।

रावराजा अजब उलझन में थे, बेचारे बूढ़े आदमी खिसियाने-से रह गए। लेकिन बख्शी जी ने खड़े होकर कहा कि अब बहुत देर हो गई है; जो नहीं सम्मिलित होता उसे छोड़ दीजिए। विवशता है।

एक सप्ताह बाद!

साप्ताहिक 'भारत' और 'देशदूत' में निर्णायक उपसमिति का विस्तृत वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसकी यथार्थ प्रतिलिपि हम पाठकों की सुविधा के लिए यहां दे रहे हैं।

"दिनकर, अंचल और नरेन्द्र की कविताओं का अध्ययन करने के उपरान्त एक बात असंदिग्ध रूप से हमारे सामने आती है कि इन तीनों के काव्य-विषय मुख्यतः रति और उत्साह हैं। अथवा आज की शब्दावली में इनके काव्य की मूल प्रवृत्तियां हैं: सेक्स और क्रांति। क्रांति—सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार की।

रति और उत्साह, जिसमें ध्वंसमूलक क्रांति और रचनात्मक निर्माण-कार्य दोनों ही आ जाते हैं, यौवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है; और इन दोनों के संतुलित उपयोग एवं उपभोग में ही उसकी स्वस्थता है। इनमें पहली प्रवृत्ति प्रधानतः अन्तर्मुखी और दूसरी बहिर्मुखी है। पहली का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन और दूसरी का सामाजिक दायित्व से है। दायित्व शब्द का प्रयोग हम इसलिए कर रहे हैं कि ये तीनों ही कवि उसके प्रति अत्यन्त सचेत हैं—इतने अधिक कि अपनी पहली प्रवृत्ति के लिए तीनों को ही कुछ-न-कुछ सफ़ाई देनी पड़ती है।

१. नरेन्द्र—" 'प्रवासी के गीत' एक क्षयग्रस्त युवक कवि के गीत हैं।"

२. अंचल—"जहां मैं बहक गया हूं वहां मेरी दुर्बलता है, जीवन के क्षयी रोमान्स के प्रति अवांछनीय आसक्ति है।"

३. दिनकर—" 'रेणुका' और 'हुंकार' के विपरीत 'रसवन्ती' की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई और इसमें किसी निश्चित संदेश का अभाव-सा है। इन गीतों में मैं अपने हाथ से छूट-सा गया हूं और प्रायः अकर्मण्य आलसी की भाँति उस प्रगल्भ अप्सरी के पीछे-पीछे भटका फिरा हूं जिसे कल्पना कहते हैं। इस अलस भ्रमण में कुछ मेरे हाथ भी लगा या नहीं, यह तो याद नहीं; हां, यात्रा सुखद रही।"

नरेन्द्र और अंचल ने अपनी रति-भावनाओं को क्षयग्रस्त युवक के गीत और रोमांस कहा है। पर वास्तव में यह रोमांस ही इन दोनों के स्वभाव का धर्म है जिसे उन्होंने खिलवाड़ करके विकृत कर लिया है। ये दोनों ही कवि सचमुच अपने-अपने ढंग के 'न्यूरोसिस' के केस हैं। न्यूरोसिस शब्द पर चौंकने की आवश्यकता नहीं। यह एक वैज्ञानिक शब्द है, जिसका अर्थ है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साधारण मानसिक स्वास्थ्य से च्युति; और आज हममें से ६० प्रतिशत नवयुवक इसके शिकार हैं।

नरेन्द्र का नारी के प्रति दृष्टिकोण मूलतः छायावादी है। उनकी भावना मौग्ध्य से आगे नहीं बढ़ सकी, उन्होंने दूर से ही नारी को मुग्ध भाव से देखा है। स्पष्ट शब्दों में, उनकी सेक्स चेतना ने नारी की ओर बढ़ने, उसका निकट अनुभव प्राप्त करने, के स्थान पर कवि के भीतर ही प्रतिवर्तन किया है, वह कवि के मन में ही घुमड़ती रही है। अतएव उनकी शृंगार-कविता, उनके संयोग-वियोग के गीत, सभी सफल-विफल दिवा-स्वप्नों के ही मधुर चित्र हैं। हिन्दी का छायावाद अनेक प्रकार की सामाजिक कुण्ठाओं की सृष्टि है जिसमें मुख्यतम है कुण्ठित शृंगार-भावना। नरेन्द्र की रसाभिव्यक्तियों में इसी कुण्ठा का नग्नतम रूप मिलता है। इस कुण्ठा के लिए उनका अपना संकोची स्वभाव, जिसमें नारीत्व का भी पर्याप्त अंश विद्यमान है, और सामाजिक परिस्थितियां उत्तरदायी हैं। यह कुण्ठा जितनी ही विवशताजन्य यानी व्यक्तित्व के प्रतिकूल होगी उतनी ही अधिक मन में घुमड़न पैदा करेगी और फिर यह घुमड़न उतने ही अधिक दिवा-स्वप्नों की सृष्टि करेगी। 'शूल-फूल' और 'प्रवासी के गीत' दोनों में तो स्पष्टतः, स्वीकृत रूप में, छायावादी प्रेरणा है।

छायावाद में काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं की दो सीमाएं हैं: पंत और प्रसाद। पंत का दृष्टिकोण शुद्ध मानसिक है। उनका अन्तर्मुखी एवं अत्यन्त सूक्ष्मता-प्रिय स्वभाव किशोर-सुलभ मौग्ध्य से आगे नहीं जा सका। नारी के प्रति उनका भाव काम, विस्मय और श्रद्धा का एक विचित्र अशरीरी मिश्रण है। इसके विपरीत प्रसाद की प्रतिक्रिया में स्वस्थ शरीर की वांछित उष्णता है और इसीलिए उनके शृंगार-चित्रों में रूप-यौवन की स्वस्थ गन्ध है। नरेन्द्र में न तो पंत की-सी अत्यन्त परिष्कृति-प्रिय रुचि का संयम है और न प्रसाद के दृष्टिकोण का स्वास्थ्य। पंत ने अपने और नारी के बीच सदैव जो एक आदरपूर्ण अन्तर बनाए रखा है, वह नरेन्द्र में नहीं है। उनके विरह-चित्रों के पीछे जो कोई नारी-पात्र झांकता हुआ मिलता है वह शायद उनके काफ़ी पास आकर उनकी वासनाओं को उत्तेजित करके पृथक् हो गया है, जिससे उनके मानसिक स्वास्थ्य पर और भी बुरा प्रभाव पड़ा है। इसीलिए उनके चित्र काम-स्नात होते हुए भी पूर्ण स्वस्थ मन की उद्‌भूति नहीं हैं, उनमें नारी-अंगों के प्रति इतना अधिक लालच है कि उनको सर्वथा स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। आज नरेन्द्र का दृष्टिकोण बदल गया है। वे क्रियात्मक रूप में प्रगतिवादी हैं और उनकी ईमानदारी में शुबा करने की कोई गुंजाइश नहीं। अपने इस नये दृष्टिकोण के लिए उन्होंने सहर्ष एक बड़ा मूल्य भी दिया है; और यह भी ठीक ही है कि उन्होंने काफ़ी सचाई से अपने सौन्दर्य-रसिक हृदय को समाजवादी साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। परन्तु स्वभाव की मूल वृत्तियां सरलता से नहीं बदल सकतीं। जितना ही नरेन्द्र अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख को क्षय-ग्रस्त मनोविकार समझकर उसे सामाजिक हित में अंतर्भूत करने का प्रयत्न करते हैं उतना ही शायद उनका न्यूरोसिस बढ़ता जाता है।

अभी उनकी एक कहानी प्रकाशित हुई है—'शीराज़ी'। उसका दृष्टिकोण सर्वथा स्वस्थ है, शीराज़ी के चरित्र की शक्ति असंदिग्ध है; किन्तु कवि की अपनी भूखी वृत्ति भी नग्न रूप में प्रकट हुए बिना नहीं रह सकी :

"कहते हैं वहां हिन्दुस्तान के सब सूबों की ही सुन्दरियां नहीं वरन् विदेश के देशों से भी कई सुन्दर स्त्रियां उन्होंने रखी थीं। हिन्दुस्तानी स्त्रियां उन्हें विशेष प्रिय थीं—सुदूर सरहद्दी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सूबे की छरहरी लम्बी नाज़नी, जिसकी भाषा जीवन-पर्यन्त न राजा साहब ही समझ पाए और न जो राजा साहब की ही भाषा सीख सकी, वह कर्नाटकी जिसकी अटपटी बोली में वही चटपटापन था जो दक्षिण की भूमि में उगने वाले मिरच-मसालों में होता है, कुमायूं-गौरांगना नायक-कन्या जो अपने लिए हमेशा पुल्लिगवाचक शब्दों से कभी मोह ही न छोड़ सकी थी, बुन्देलखण्ड की कुमारी, जिसकी मांसपेशियाँ उस देश की चट्टानों की तरह दृढ़ और वहां की रातों की तरह कोमल थीं और बुन्देलखण्ड की तारों-भरी रात के समान ही जिसका साँवला-सलोनापन आँखों को चमत्कृत कर देता था, मालवा की कोमलांगी मालती जिसके श्वासों में मादक सौरभ था अहि-फेन के फूलों को चूमकर बहने वाली वासन्ती समीर का…"

अंचल में नरेन्द्र की अपेक्षा पौरुष अधिक है। छायावाद के मूल में जो विद्रोह या असन्तोष की भावना थी उसने दो रूप धारण किये। पन्त, महादेवी और रामकुमार-जैसे भाव-सुकुमार कवियों में वह अन्तर्मुखी होकर आत्मबद्ध हो गई; निराला, भगवतीबाबू और नवीन-जैसे शक्तिशाली व्यक्तियों में उसने बहिर्मुखी होकर क्रान्ति का रूप धारण किया जो मुक्ति का कोई मार्ग न पाकर अवरुद्ध वाष्प-समूह के समान विस्फोट करती रही। अंचल इन्हीं दूसरे प्रकार के कवियों की साहित्यिक सन्तान है, जिसने भौतिकवाद के वर्धमान प्रभाव को पूरी तरह ग्रहण करके अपने दृष्टिकोण को इन पूर्वजों की अपेक्षा अधिक स्थूल और भौतिक बना लिया है। स्वभावतः उसकी सेक्स-चेतना मांसलुब्ध है। अंचल दूर खड़ा होकर लालची निगाहों से नारी को नहीं देखता। उसकी सेक्स-प्रतिक्रिया तो ऐसे व्यक्ति की-सी है जिसकी भूख खाने पर भी नहीं मिटती। स्पष्टतः यह भी एक अस्वास्थ्य का ही लक्षण है। और सच-मुच अंचल का न्यूरोसिस नरेन्द्र के न्यूरोसिस से ज्यादा ख़तरनाक है। उसकी कविता में नारी की जिस बीभत्स प्रलयकारिणी शक्ति का बार-बार आह्वान किया गया है वह और कुछ नहीं उसकी यही विक्षुब्ध वासना है जो विकराल रूप धारण कर उसके मन में प्रकट होती रहती है।

अंचल के शृंगार-चित्रों में तमस् की शक्ति है और यह शृंगारिक तमस् रति, घृणा और क्रोध के तत्त्वों से बना हुआ है। हमारे स्वभाव में प्रेम करने की प्रवृत्ति और वध करने की प्रवृत्ति दोनों ही साथ-साथ वर्तमान रहती हैं। ये दोनों एक-दूसरे से इतनी मिली-जुली हैं कि किसी प्रकार का आघात पाते ही, जैसे हताश हो जाने पर, तुरन्त रूप-परिवर्तन कर लेती हैं। एक साथ ही हमारा प्रेम घृणा में और घृणा प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियों में इन दोनों का सामंजस्य भी गड़बड़ हो जाता है और वे अत्यन्त विशृंखल रूप धारण कर लेती हैं। आत्म-पीड़न एवं पर-पीड़न ऐसी ही प्रवृत्तियां हैं। अंचल की भूखी वासना में स्वभावतः ऐसा ही हुआ है। अंगरेज़ी में बायरनिज़्म बहुत-कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति का नाम है :

फिर दिगम्बरी के आँगन से लोथों के अम्बार सजाये
कौन चली आतीं तुम रूपसि ! रक्त-लिप्त अलकें उलझाये !
भर लाई हो तप्त कठिन अंगों में तूफानों का आसव
आज तुम्हें फिर विश्व बदलना आज तुम्हें क्या कठिन असम्भव ?

दिनकर का व्यक्तित्व मूलतः शृंगारी नहीं है। परन्तु उन्होंने शृंगार को जीवन की एक अत्यन्त स्वस्थ प्रवृत्ति के रूप में ग्रहण किया है और उसको, जैसा कि उनके उद्धरण से स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, वांछित आदर दिया है। दिनकर ने अपने को संघर्षमय पथ का पथिक मानते हुए शृंगार को सुखद विराम-स्थल माना है। उनके शृंगार-गीत शक्तिशाली व्यक्ति के हृदय में स्वभाव से वर्तमान रति-भावना की शुद्ध उद्गीतियां हैं। पुरुष-प्रिय के निरन्तर आकर्षण की मान्यता स्वीकार करते हुए उन्होंने नारी को पुरुष-जीवन के लिए एक अत्यन्त मधुर प्रभाव माना है।

छरहरे बदन वाले साधारणतः स्वस्थ इस युवक कवि की चैतन्य आँखों में मुस्कराती हुई रस-रेखा नारी-सौन्दर्य से इसी मधुर प्रभाव को ग्रहण करती है। उसमें नारी-अंगों के प्रति न कोई लालच है और न अमिट भूख। स्पष्टतः दिनकर में किसी प्रकार की मानसिक विकृति के लक्षण नहीं दिखाई देते। उसमें दिवा-स्वप्नों का लगभग अभाव-सा है। इसलिए उनकी सभी रसोक्तियां विकच और प्रसन्न हैं। दिनकर के शृंगारिक दृष्टिकोण में एक और विभिन्नता यह है कि वह सर्वथा भौतिक नहीं हो पाया, उसमें कहीं-कहीं आध्यात्मिक स्पर्श भी अत्यन्त सुव्यक्त हैं। और, इसका कारण शायद यही है कि दिनकर मूलतः देशभक्त कवि है। उसके हृदय में भारत के पवित्र अतीत के प्रति अक्षुण्ण श्रद्धा है। इसीलिए उपनिषद् और बौद्ध दर्शन की जन्मभूमि में उत्पन्न और पोषित यह कवि आत्मा का मोह नहीं छोड़ सका। 'रसवंती' की अनेक कविताओं में इस प्रकार के अभौतिक संकेत हैं। यह दूसरी बात रही कि अन्त में जाकर इस प्रकार के सभी अभौतिक संकेतों का भौतिक आधार मिल जाए, क्योंकि प्रेम तो भौतिक ही हो सकता है।

अब इन कवियों के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू लीजिए: उत्साह या क्रान्ति-भावना।

नरेन्द्र में यह भावना मुख्यतया प्रतिक्रिया-जन्य है। 'प्रवासी के गीत' से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके स्वभाव की कोमलता में जब परिस्थितियों के आघात से आत्मक्षय के चिह्न दिखाई देने लगे तो उन्होंने एक सचेत व्यक्ति की भाँति उसका उपचार करने का प्रयत्न किया। वैयक्तिक चेतनाएं जब किसी प्रकार के अतिचार के कारण रुग्ण या विकृत हो जाएं तो इसका उपचार यही है कि अहं का समाजीकरण किया जाय, यानी उन चेतनाओं को आत्म-प्रेम से मोड़कर विश्व-प्रेम की ओर नियोजित किया जाय। अतिशय भावुकता की मुक्ति है बुद्धि, और अतिशय आत्मप्रेम (जो वास्तव में इस अतिशय भावुकता का मूल कारण है) की मुक्ति है सामाजिकता। एक जागरूक व्यक्ति की भाँति नरेन्द्र ने यही मार्ग ग्रहण किया है।

आज नरेन्द्र प्रगतिवादी हैं, समाजवाद उनका स्वीकृत जीवन-दर्शन है। सामाजिक हितों के लिए वे उत्साहपूर्वक क्रियाशील हैं। समाजवादी होने के कारण स्पष्टतः ही उनकी क्रान्ति-भावना के पीछे एक निश्चित रचनात्मक विधान है। इसलिए उनकी इन कविताओं में संयत शक्ति मिलती है, उच्छृंखल विस्फोट नहीं। यह एक बुद्धिवादी की क्रांति है। इसमें भविष्य का एक स्वप्न है और सचमुच नरेन्द्र का स्वप्नदर्शी स्वभाव आज भी उसका मोह नहीं छोड़ सका। जब उनके संस्कार प्रबल हो उठते हैं तो वे फिर पुराने मधुर-विधुर सपने देखने लगते हैं, जब उनकी चेतना जागरूक रहती है तो वे लाल रूस के सपने देखते हैं, उनके व्यक्तित्व की द्विधा, जो अत्यन्त व्यक्त रूप में हमारे सामने है, इसी स्तर पर जाकर मिटती है।

अंचल की क्रान्ति के पीछे मूलतः कोई बौद्धिक विधान नहीं है: अंचल के स्वभाव में बौद्धिकता का प्राधान्य नहीं है। उसमें किसी प्रकार की राजनीतिक चेतना भी नहीं है। जो कुछ है वह सामाजिक ही है और यह सामाजिक चेतना भी प्रधानतः यौन-सम्बन्धों तक ही सीमित है। आज हमारे समाज में जो विकृतियां पैदा हो गई हैं उनमें एक विकृति है यौन-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सम्बन्धों की विषमता, जिसका सबसे स्पष्ट कारण यह है कि हमारा नीति-विधान यौन-सम्बन्धों को ही सबसे बड़ा निषेध मानकर उनके दमन को अप्राकृतिक महत्त्व देता रहा है। फलतः, आज के मामूली ढंग से खाते-पीते मध्यवर्गीय युवक ने जब सामाजिक बन्धनों के प्रति क्रांति की तो सबसे अधिक आक्रोश उसने यौन-नीति के विरुद्ध ही प्रकट किया—क्योंकि अन्य सभी बन्धनों की अपेक्षा यही उसे अधिक खल रही थी। जो इस उलझन का कोई समाधान न निकाल सका वह भाग्यवादी बन गया और जिसने समाजवाद का सहारा ले लिया उसने इसके मूल कारण अर्थ-विषमता को अपना मुख्य शत्रु मानकर उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया। अंचल ने समाज-वाद का आँचल इसी तरह पकड़ा है। अर्थात् यौन-सम्बन्धों की विषमता ही उन्हें अर्थ-सम्बन्धों की विषमता की ओर ले गई है। यही कारण है कि 'किरण-वेला' में भी, जहां स्पष्ट शब्दों में अंचल ने पुराने पापों का प्रायश्चित्त करते हुए प्रगतिवाद की दीक्षा ले ली है, जहाँ अत्यन्त ओज और तेज के साथ उन्होंने शोषितों की अग्निमयी पीड़ा को मुखर किया है, नारी-शोषण के वासना-लथपथ चित्रों का ही प्राधान्य है। अंचल की दुनिया में सबसे बड़ी मज़लूम नारी है और इन जुल्मों का अन्त करने के लिए भी उसने नारी की ही भैरव मूर्ति का आह्वान किया है।

अंचल बुद्धिजीवी नहीं है, और न श्रद्धावान् ही, इसलिए वह समाजवाद के भविष्य-स्वप्न को ग्रहण करने में असमर्थ रहा है। अतएव उसमें क्रांति का विध्वंसात्मक रूप ही मिलता है, रचनात्मक रूप नहीं। उसकी कविता में काले अन्धड़ की शक्ति है, आशा का उज्ज्वल सन्देश नहीं! परन्तु यही उसका अपना व्यक्तित्व और शक्ति है।

हमने अभी कहा कि दिनकर मूल रूप में देश-भक्त कवि हैं। उन्होंने अपने कवि-जीवन के प्रभात में 'रेणुका' में देश की गौरव-विभूति के प्रति अभिमान जागृत करते हुए पराधीनता के विरुद्ध क्रांति-घोष किया था। किन्तु केवल देशभक्ति पिछले युग की भावना है; आज तो मानववाद की भावना जागृत हो उठी है। स्वयं मानव ही मानवता का अन्त कर रहा है—आज के कवि की यही सबसे बड़ी पीड़ा है। दिनकर ऐसे प्रान्त का कवि है जहां निर्धनता अट्टहास करती है। वर्ग-वैषम्य भी बिहार से अधिक शायद रियासतों में ही मिले। इसके अतिरिक्त इन बेचारे भूखों-नंगों को प्रकृति के खूनी दाँत और पंजों का भी अक्सर शिकार बनना पड़ता है। इसीलिये समाजवादी आन्दोलन, किसान-आन्दोलन आदि वहां अधिक सक्रिय रूप धारण कर चुके हैं। दिनकर ने इन्हीं की तड़प को सस्वर कर दिया है। उसका अन्त करने के लिए विपथगा-क्रान्ति का आह्वान किया है। परन्तु फिर भी उसने समाजवादी जीवन-दर्शन को पूरी तरह ग्रहण नहीं किया, उसकी गति मानववाद तक ही सीमित रही है। इसीलिए उसकी कविता भी सैद्धान्तिक नहीं बनी। कुल मिलाकर दिनकर देशभक्त मानववादी है। पराधीनता के अभिशापों और शोषितों की पीड़ाओं से उसका शक्तिशाली व्यक्तित्व तड़प उठता है। परन्तु क्योंकि मुक्ति का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता इसीलिए वह केवल हुंकार भरकर रह जाता है। वह उन सशक्त व्यक्तियों का उच्चार है जो देश की परतन्त्रता की विषमताओं का तो पूरी तरह अनुभव करते हैं, परन्तु सक्रिय राजनीति से दूर होने के कारण कुछ समाधान नहीं सोच पाते।

अब तक हमने इन तीनों कवियों के व्यक्तित्वों का विश्लेषण करते हुए उनकी रति और उत्साह की भावनाओं का विवेचन किया। अब एक कार्य शेष रह जाता है: उनके काव्य-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गुण की परीक्षा। उसके लिए, नये आलोचक क्षमा करें—हमारे पास वही पुरानी कसौटी है, रस की। इनमें से एक कवि की क्रान्ति-भावना उचित दिशा को ग्रहण करने वाली है, दूसरे की क्रांति त्रिपथगा है—यह सब-कुछ इस समय हमारे लिए मूल्य नहीं रखता। इसके लिए पुरस्कार या दण्ड देने का दायित्व हम समाज पर छोड़ते हैं। रस-परीक्षण के लिए तो केवल एक बात द्रष्टव्य है: इन कविताओं में आनन्द देने की शक्ति कहां तक है। अर्थात् इनके रचयिता कहां तक अपने व्यक्तित्वों का सफल अनुवाद कर सके हैं। और भी स्पष्ट शब्दों में, इनकी आत्माभिव्यक्ति कितनी सच्ची, कितनी तीव्र, कितनी गहरी, कितनी सबल एवं प्रौढ़ है।

इस कसौटी पर कसने पर एक ओर नरेन्द्र की वे गीतियां अत्यन्त सरस बन पड़ी हैं जो उनके जीवन के सहचर दिवा-स्वप्नों की मधुर सृष्टि हैं। दूसरी ओर उनके वे उद्गार—ज्येष्ठ का मध्याह्न, बन्दी, पापी आदि—भी स्वस्थ रस से परिपुष्ट हैं जो कवि की उस समय की मनोदशा की अभिव्यक्ति हैं जबकि वे अपने रुग्ण मन के उपचार के लिए समाजवाद की 'प्राणधारा' का सेवन कर रहे थे। इनके अतिरिक्त उनकी बहुत-सी कविताएं, जैसे समाजवाद का प्रचार करने वाली रचनाएं या विरह-गीतों की माला पूरी करने वाले गीत, काफ़ी साधारण स्तर की हैं। हिन्दी के कई कम प्रसिद्ध कवियों ने (उदाहरणार्थ, गिरिजा-कुमार माथुर ने) उनसे मधुरतर गीत-रचना की है।

अंचल के विषय में हमने अभी निवेदन किया कि उनमें अन्धड़ की शक्ति है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' को पढ़कर आप सहज ही इसका अनुभव कर लीजिए। इनमें जिस व्यक्तित्व का अनुवाद है उसकी शक्तिअ संदिग्ध है, पर बौद्धिक सुलझाव उसके विचारों में प्रारम्भ से कम रहा है। इसलिए ये कविताएं कुहर-धूमिल एवं रिक्त हैं। इन्हें पढ़ते हुए क्या पाठक यह अनुभव नहीं करता कि वह एक बवण्डर के बीच खड़ा हुआ है, जिसमें गर्द-गुबार और रंग-बिरंगे फूल-पत्तों का मिला-जुला कुहराम मचा हुआ है, जो उसे झकझोर तो देता है पर कोई निश्चित प्रभाव नहीं डालता? परन्तु अंचल ने निश्चय ही उन्नति की है। 'किरण-वेला' में आकर उनका दृष्टिकोण आवर्त्त-बद्ध नहीं रहा, उनकी बौद्धिक पकड़ सुलझ गई है, उनको एक दिशा मिल गई है। और, उसके लिए सचमुच उन्हें प्रगतिवाद का आभार मानना चाहिए।

अंचल के आवेश और कल्पना दोनों में वेग है, पर उनको स्थिरता प्रदान करने वाली बौद्धिक शक्ति उनके पास कम है। इसीलिए भावगत कविताओं एवं अंतर्गीतों की अपेक्षा उनकी वस्तुगत कविताएं, जिनमें वस्तु की रूपरेखा और सीमाएं निश्चित होने के कारण स्थैर्य आप-से-आप वर्तमान रहता है, कहीं अधिक सफल और रस-पीन हैं। 'दानव', 'मज़दूर की अन्धी लड़की', 'शोषिता' आदि कविताएं हमारी गवाही देंगी। ये तीनों, और इस प्रकार की कुछ अन्य कविताएं भी अत्यन्त उच्च कोटि की हैं।

दिनकर का व्यक्तित्व इन दोनों की अपेक्षा अधिक शक्तिमान् है। उनके 'कम्बुघोष' में तो अधिक शक्ति है ही, 'वीणा-रव' में भी कम माधुरी नहीं। उनकी सर्वप्रथम काव्य-कृति है 'रेणुका'। उनकी कुछ कविताओं में देश की गौरव-भावनाओं का पवित्र जय-जयकार है जो मन में साहित्यिक रस का संचार करता है। परन्तु अधिकतर रचनाएं, मुख्यतः तो कवि-प्रतिभा का प्रथम स्फुरण होने के कारण, और कुछ अंशों में बाहर के कतिपय नैतिक अथवा दूसरे शब्दों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में असाहित्यिक प्रभावों के कारण इतिवृत्त-प्रधान हो गई हैं। दिनकर के व्यक्तित्व की सफलतम उद्भूतियां हैं 'हुंकार' और 'रसवन्ती' की विशिष्ट कविताएं। एक में यदि इस ज्वालामुखी का उष्ण-तरल लावा है, तो दूसरी में उसके हृदय में गूँजती हुई बाँसुरी का रस-भीगा स्वर ! दिनकर की कविता वहां असफल होती है जहां उसमें अनुभूति लुप्त हो जाने से एक खोखलापन शेष रह जाता है, जो निस्सार बजता रहता है। यह दोष अंचल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता' में और भी भयंकर रूप में मिलता है। अस्तु।

अन्त में दिनकर, अंचल और नरेन्द्र तीनों के काव्य का पूरी तरह अध्ययन कर लेने के उपरान्त हमें किसी प्रकार की निराशा नहीं हुई। ये कवि अपने पूर्ण यौवन की ओर स्वस्थ डगों से बढ़ रहे हैं और यौवन के द्वार तक पहुँच भी चुके हैं।"[1]

---

१. इस लेख के पूर्वार्ध में मेरी लेखनी से मौज में आकर निरुद्देश्य ही कुछ छींटे बिखर गए हैं। ये छींटे फ़्नेफ़्थलीन के छींटों की तरह सर्वथा निर्दोष हैं, इसलिए मुझे इनके लिए कोई सफ़ाई नहीं देनी। फिर भी यदि इनसे किसी का मन मैला होता है तो उसमें मैं अपने को दोषी न मान सकूँगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गिरिजाकुमार माथुर

सन् १९३६ में 'कामायनी' का प्रकाशन हुआ—और '३७ में प्रसादजी का स्वर्गवास। लगभग इसी समय से छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी। उन्हीं दिनों पंतजी के सम्पादन में 'रूपाभ' का प्रकाशन हुआ जो नवीन काव्य-चेतना की अभिव्यक्ति का कदाचित् पहला माध्यम बना। 'रूपाभ' में भावप्रवण छायावादी रचनाएं नहीं छपती थीं—पंतजी के नाम से आकृष्ट होकर छायावाद से प्रभावित जो कवि अपनी रचनाएं भेजते थे, उनसे अत्यन्त शिष्ट भाषा में—पंतजी और नरेन्द्र की अपनी मीठी भाषा में क्षमा माँग ली जाती थी। 'रूपाभ' शब्द केवल नाम ही नहीं था—नवीन चेतना का प्रतीक भी था। उसमें यह व्यंजना स्पष्ट थी कि छायावादी 'आभा' नवीन युग में सौन्दर्य-बोध को व्यक्त करने में असमर्थ हो चुकी है—नया युग केवल 'आभा' नहीं उसके साथ 'रूप' की भी माँग कर रहा है। अतः छायावाद के अमूर्त सौन्दर्य के स्थान पर मूर्त सौन्दर्य काव्य का विषय बना—भाव के तारल्य के स्थान पर वस्तु की दृढ़ रूपरेखा सौन्दर्य का प्रतिमान बनी। अंगरेज़ी काव्य में इससे काफ़ी पहले इसी प्रकार की घटना हो चुकी थी—वहां भी तीन-चार आत्मविश्वासी बिम्बवादी कवियों ने निजी तौर पर संगठन कर रोमानी प्रवृत्ति का अंत करने का निश्चय किया था और अपने निश्चय को मूर्तित करने के लिए निम्नलिखित उद्देश्य-पत्र प्रकाशित किया था :

१. जन-साधारण की भाषा का प्रयोग करना—किन्तु सदैव एकांत उपयुक्त (एग्ज़ैक्ट) शब्द का ही प्रयोग करना; न तो उपयुक्तप्राय शब्द का प्रयोग और न केवल अलंकृत शब्द का।

२. नई मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के लिए नई लयों की सृष्टि करना—और पुरानी लयों का अनुकरण न करना क्योंकि वे तो पुरानी मनोदशाओं की प्रतिध्वनि-मात्र हैं। हमारा यह आग्रह नहीं है कि मुक्त छन्द ही काव्य-रचना का एकमात्र माध्यम है। हम तो इसके लिए उसी प्रकार संघर्ष करते हैं जिस प्रकार स्वातन्त्र्य सिद्धान्त के लिए। हमारा यह विश्वास है कि कवि का वैशिष्ट्य रूढ़ छन्दों की अपेक्षा मुक्त छन्द में अधिक सफलता से अभिव्यक्त हो सकता है। कविता में नई लय का अर्थ है नया भाव।

३. विषय-निर्वाचन में पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करना। वायुयान और मोटरकार आदि के विषय में फूहड़ रचनाएं सुन्दर कला का निदर्शन नहीं मानी जा सकतीं और न अतीत-विषयक सुन्दर रचनाएं अनिवार्यतः कुकवित्व की ही परिचायक होती हैं। आधुनिक जीवन के कलात्मक महत्त्व में हमारी प्रबल आस्था है, किन्तु हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सन् १९११ में निर्मित वायुयान से अधिक निष्प्रभाव और पुराने ढंग की चीज दूसरी नहीं है।

४. बिम्ब प्रस्तुत करना (इसीलिए बिम्बवादी नामकरण हुआ है)। हम चित्रकला

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के किसी सम्प्रदाय के प्रतिनिधि नहीं हैं, किन्तु हमारा यह विश्वास है कि कविता में विशेष पदार्थों का यथावत् प्रत्यंकन होना चाहिए न कि अस्पष्ट सामान्य धारणाओं का, चाहे वे कितनी ही भव्य और मधुर क्यों न हों। इसी कारण हम 'भूमावादी' (कॉस्मिक) कवि का विरोध करते हैं क्योंकि हमें लगता है कि वह अपनी कला की वास्तविक कठिनाइयों से बचने का प्रयास करता है।

५. ऐसी कविता की रचना करना जिसकी रूपरेखा दृढ़-कठोर और स्पष्ट हो—कहीं भी आविल और अनिश्चित न हो।

६. अन्त में, हममें से अधिकांश का यह मत है कि एकाग्रता कविता का प्राण है।

—एक वाक्य में भावना की तरलता के स्थान पर नवीन चेतना वस्तु की दृढ़-स्पष्ट रूपरेखा के लिए आग्रह कर रही थी।

छायावाद के विरोध में हिंदी में कवियों के तीन वर्ग उभर कर सामने आए : १. बच्चन और उनके समसामयिक गीतकार : जिन्होंने छायावाद के व्यक्ति-तत्त्व को तो आग्रह के साथ ग्रहण किया किन्तु उसके रहस्यमय वायवीय और अमूर्त रूप का निषेध कर वास्तविक जीवन की सुख-दुःखमयी अनुभूतियों को प्रत्यक्षतः काव्य का विषय बनाया और उधर काव्य शिल्प में प्रतीक तथा लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक शब्दावली के आवरण हटा जीवन के परिचित बिम्बों तथा सीधी भाषा का प्रयोग आरम्भ किया। २. सामाजिक चेतना के प्रति आग्रहशील कवि : जो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में अपना आदर्श प्राप्त कर छायावाद की वैयक्तिक चेतना को उसके मूर्त-अमूर्त, प्रत्यक्ष-परोक्ष सभी रूपों में अनादृत कर भौतिक जीवन की समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे—और उसी के अनुरूप जन-भाषा तथा जन-जीवन के सहज बिम्बों का ग्रहण करना चाहते थे—पारिभाषिक शब्दावली में ये कवि प्रगतिवादी कहलाये; ३. प्रयोगवादी कवि : जो छायावाद की वैयक्तिकता को हृदय के स्थान पर बुद्धि के धरातल पर स्वीकार कर आधुनिक जीवन के अनुरूप एक नवीन सौन्दर्य-बोध का दावा कर रहे थे और उसको अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए आधुनिक जीवन के नवीन उपकरणों को सभी प्रकार की रंगीन भावनाओं के संसर्ग से मुक्त कर मूर्त बिम्बरूप में अंकित करने के लिए व्यग्र थे : ये कवि आगे चलकर अपनी काव्य-प्रवृत्ति को प्रयोगवाद के स्थान पर 'नई कविता' कहने का आग्रह करने लगे।

आरम्भ में इन तीनों प्रवृत्तियों का पार्थक्य स्पष्ट नहीं था—केवल इतना ही आभास मिलता था कि छायावाद की अमूर्त वायवीय काव्य-चेतना अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी और उसके स्थान पर जीवन की मूर्त और मांसल अभिव्यक्ति के लिए एक नयी काव्य-चेतना का उदय हो रहा था। गिरिजाकुमार माथुर की कवि-प्रतिभा का उदय इसी वातावरण में हुआ। अतः उनकी कविता में ये सभी तत्त्व सहज ही विद्यमान हैं। वे हिंदी के अत्यन्त मधुर गीतकार हैं। मंजीर के गीतों में उन्होंने किशोर-हृदय की रंगीन भाव-कल्पनाओं को स्वर प्रदान किया है। इन गीतों में छायावाद की रंगीनी तो है किन्तु इनकी भाव-वस्तु वायवीय नहीं है। इनका आलंबन किशोरभाव की प्रधानता के कारण कल्पनागम्य भले ही हो किंतु कल्पना-जात नहीं है। वह दूरस्थित अवश्य है किंतु यह दूरी उसके आकर्षण की वृद्धि करने के लिए ही है; उसको रहस्यमय या अगम्य बनाने के लिए नहीं। इस प्रकार इन गीतों में छायावाद की आभा को इस नये कवि ने रूप प्रदान किया है। उस समय और भी कवि छायावाद की आभा को मांसल रूप

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देने का सफल-असफल प्रयत्न कर रहे थे, किंतु कहीं तो आभा की तरलता मूर्त बिम्बों की पकड़ में नहीं आती थी और कहीं रूप ही अधिक मांसल बन जाता था। गिरिजाकुमार के गीतों में रूप और आभा का समन्वय पहली बार मिला। 'मंजीर' के गीत, 'नाश और निर्माण' के गीत और कुछ परवर्ती गीतिमयी रचनाएं भी हमारी उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि करेंगी।

कौन थकान हरे जीवन की ?
बीत गया संगीत प्यार का,
रूठ गई कविता भी मन की।
वंशी में अब नींद भरी है,
स्वर पर पीत साँझ उतरी है।
बुझती जाती गूँज अखीरी
इस उदास वन-पथ के ऊपर
पतझर की छाया गहरी है,
अब सपनों में शेष रह गयीं
सुधियाँ उस चन्दन के वन की।
रात हुई पंछी घर आए,
पथ के सारे स्वर सकुचाये,
म्लान दिया-बत्ती की बेला
थके प्रवासी की आँखों में
आँसू आ-आकर कुम्हलाये,
कहीं बहुत ही दूर उनींदी
झाँझ बज रही है पूजन की।
कौन थकान हरे जीवन की ?

इस गीत का पहला पद रोमानी आभा से मंडित है। मन की कविता का रूठना, वंशी में नींद का भर जाना, स्वर पर पीली साँझ उतरना और अन्तिम गूँज का क्रमशः तिरोभाव, उधर उदास वन-पथ के ऊपर पतझर की गहरी छाया का घिरना और अन्त में :

अब सपनों में शेष रह गयीं
सुधियाँ उस चन्दन के वन की।

ये सभी रोमानी आभा के रमणीय उपकरण हैं। यदि गीत के शेष भाग में कवि ऐसे ही तरल बिम्बों का प्रयोग करता, जिनमें अनुभूति की निकटता कम और कल्पना की दूरी अधिक रहती तो यह शुद्ध छायावादी गीत होता ! किन्तु दूसरे पद में जो चित्र अंकित किया गया है वह इस छायावादी दूरी को कम कर देता है। रात होने पर पंछियों के घर लौटने में, पथ के कोलाहल की परिश्रान्ति में, थके प्रवासी की आँखों में आँसुओं के भरने और सूख जाने में, दूर मंदिर में गूँजने वाले आरती के स्वरों में—अनुभूति का सामीप्य है जो प्रवासी के मन की उदासी को और भी भारी कर देता है। इस प्रकार छाया को आकार और आभा को रूप मिल गया है।

गिरिजाकुमार ने इन गीतों के अतिरिक्त अनेक रसमय श्रृंगार-कविताएं लिखी हैं। इन कविताओं की आधारभूत अनुभूतियां अत्यन्त सूक्ष्म और परिष्कृत होते हुए भी मूर्त और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मांसल हैं। उनमें एक ओर छायावाद की अतीन्द्रिय शृंगार-भावना का अभाव है और दूसरी ओर प्रगतिवाद की अनगढ़ स्थूलता भी नहीं है। रूप और रस के मांसल स्पर्श परिष्कृत कल्पना के संसर्ग से अत्यन्त रमणीय बन गये हैं। यह शृङ्गार न तो भूखे तन और भूखे मन का आहार है और न किसी अदृश्य आलंबन के साथ कल्पना-विहार है—कवि ने जीवन की मधुर भावना को बड़े ही हल्के हाथों से, किन्तु पूरी गहराई के साथ, बिम्बित करने का सफल प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, कवि की एक प्रसिद्ध कविता है 'चूड़ी का टुकड़ा' :

आज अचानक सूनी-सी सन्ध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था,
किसी काम में जी बहलाने,
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा,
गिरा रेशमी चूड़ी का
छोटा-सा टुकड़ा,
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं,
रंग-भरी उस मिलन-रात में।
मैं वैसा का वैसा ही
रह गया सोचता
पिछली बातें।
दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें,
सेज सुनहली,
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना,
निकल गईं सपने जैसी वे मीठी रातें,
याद दिलाने रहा
यही छोटा-सा टुकड़ा।

इस कविता का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी प्रेरक अनुभूति अतीन्द्रिय या वायवी न होकर मांसल है। उसकी सृष्टि कल्पना के द्वारा की गयी है अर्थात् उसमें अनुभूति की कल्पना नहीं है वरन् मधुर अनुभूति के एक लघु क्षण के ऊपर बड़ी बारीकी के साथ कल्पना की रंजित तस्वीरें अंकित की गयी हैं। जिस तरह कोई शिल्पी काँच के छोटे टुकड़े पर या रत्न पर पूरा चित्र अंकित कर देता है, इसी तरह :

दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें।

इस प्रकार गिरिजाकुमार छायावादोत्तर गीतकारों में अपने रुचि-परिष्कार तथा कल्पना की समृद्धि के कारण विशेष स्थान के अधिकारी बने और उन्होंने अर्थ के संगीत के साथ शब्द के संगीत का अपूर्व सामंजस्य कर हिन्दी-गीति-काव्य को निश्चय ही एक नवीन समृद्धि प्रदान की।

छायावाद के बाद हिन्दी-काव्य में जिस नवीन सामाजिक चेतना का उदय हुआ उसका भी प्रभाव गिरिजाकुमार की कविता पर स्पष्ट है। किन्तु उनकी चेतना यहां भी संयत है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उन्होंने सामाजिक वैषम्य की पीड़ा का अनुभव किया है और उसे अपने काव्य में स्वच्छ रूप में व्यक्त किया है। इन कविताओं में मध्यवर्ग की अनुभूतियों को ही आधार बनाया गया है, इसलिए इनमें एक ओर स्वानुभूति की सचाई है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति में असंयत आक्रोश का सर्वथा अभाव भी है। मध्यवर्ग की कुंठाओं की कटुता इस प्रकार की रचनाओं में आ सकती थी, परन्तु कवि के अपने स्वभाव की मिठास ने यह दोष भी नहीं आने दिया। इस कथन की सत्यता का अनुभव करने के लिए 'मशीन का पुर्ज़ा' शीर्षक कविता पढ़िए।

जैसा कि हमने अभी संकेत किया—आलोच्य कवि की प्रगति-चेतना मध्यवर्ग की ही प्रगति-चेतना है। इसलिए उग्र प्रगतिवादी आलोचक उसका उचित मूल्यांकन करने में कदाचित् असमर्थ रहे हैं। किन्तु यदि वर्ग-संघर्ष की भावना से मुक्त होकर विचार करें तो प्रगति-चेतना वस्तुतः एक प्रकार की नैतिक चेतना है जो वर्गों में विभाजित नहीं हो सकती। वह जीवन के स्वस्थ और विकासशील तत्त्वों के प्रति संवेदनशील होती है और जीवन-विकास में बाधक रुग्ण मनोवृत्तियों—निराशाजन्य कुण्ठा-विषाद आदि—का विरोध करती है। जीवन का विकास वर्गबद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वर्गों में बाँटकर जीवन को देखना तो स्वयं ही रुग्ण दृष्टि का परिचायक है। इसीलिए व्यापक जीवन-दर्शन का त्याग कर अपनी रूढ़ता में प्रगतिशील कलाकार अथवा आलोचक जब प्रगतिवादी बनने का आग्रह करने लगा तो न उसने कला और साहित्य का ही हित किया और न वह स्वस्थ प्रगति-चेतना का ही विकास कर सका। हिन्दी कविता में नवीन सामाजिक चेतना का समावेश करने में गिरिजाकुमार का योगदान कम नहीं है; किन्तु उन्होंने इसे व्यापक नैतिक धरातल पर ही ग्रहण किया, रूढ़ सिद्धान्तवाद के रूप में नहीं। उनके प्रायः सभी संग्रहों से इस प्रकार की अनेक कविताएं उद्धृत की जा सकती हैं।

नये युग की तीसरी प्रवृत्ति है प्रयोगवाद, जिसका नाम बाद में चलकर 'नयी कविता' पड़ गया। इस नयी प्रवृत्ति का विकास करने में गिरिजाकुमार का बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने जिस नवीन साहित्य-दृष्टि का उन्मेष किया वह केवल अध्ययन से प्राप्त नहीं थी। इस क्षेत्र में भी उनके रुचि-संस्कार सहायक हुए और उनकी कविता फूहड़ और अनगढ़ तत्त्वों से मुक्त रही। काव्यवस्तु के अन्तर्गत उन्होंने नवीन विषयों का चयन कर आधुनिक जीवन की कलात्मक संभावनाओं का बड़े संयम के साथ उपयोग किया। विज्ञान के नये आविष्कार और उनकी संभावनाएं इस नये कवि की काव्य-चेतना में ढलने लगीं—अणुयुग के वैज्ञानिक चमत्कारों को, अन्तरिक्ष-विजय की नयी संभावनाओं को और उनके प्रकाश में मानवता के भविष्य की कल्पनाओं को साकार करने के लिए कवि ने 'पृथ्वी-कल्प' के रूप में अत्यन्त साहसिक प्रयास किया है। हमारी धारणा है कि विज्ञान के नये उपकरणों को काव्य-सामग्री के रूप में प्रयुक्त करने का यह अपने ढंग का पहला प्रयास है। स्पष्ट है कि ये नये बिम्ब सर्वत्र पूरे नहीं उतर सके हैं और उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में भी हमें कठिनाई होती है, इसलिए ये कल्पना और विचार को अधिक झंकृत करते हैं—मन के कोमल तारों को नहीं। फिर भी, हमारा अनुमान है कि नये कवि यदि अणुयुग के नवीन उपकरणों का प्रयोग करेंगे तो उन्हें बहुत कुछ ऐसी ही पद्धति ग्रहण करनी होगी। विज्ञान के महान् चमत्कारों के अतिरिक्त आज के जीवन के ऐसे सामान्य उपकरण भी गिरिजाकुमार की कविता में प्रयुक्त हुए हैं जो नित्य प्रति के व्यवहार में हमारे अत्यधिक निकट होने पर भी अभी तक काव्य-परम्परा के अंग नहीं बन पाये। उनका यह प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आयासहीन भी है और कलापूर्ण भी। अपने समसामयिक अधिकांश कवियों की भाँति वे केवल सिद्धान्त का निर्वाह करने के लिए या पाठक को चौंकाने के लिए या बरबस अपहस्य तत्त्व का समावेश करने के लिए इन उपकरणों का प्रयोग नहीं करते। उनकी चेतना अन्य कवियों की अपेक्षा सहज काव्यमयी है—उनका सौन्दर्य-बोध पाश्चात्य विचारों से गढ़कर तैयार किया हुआ नहीं है। नये उपकरण नवजीवन की चेतना के साथ अनाविल सौन्दर्य-भावना को मूर्तित करने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं ; नये उपकरणों को जोड़कर नयी सौन्दर्य-भावना को संघटित करने का कृत्रिम प्रयास यहां नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने कवि-व्यापार के अन्तर्गत एक विशिष्ट गुण का उल्लेख किया है और वह है वस्तु-वक्रता। इस वस्तु-वक्रता का आधार कवि की प्रातिभ दृष्टि होती है जो वस्तु के अनेक अंगों में से केवल सारवान् का चयन कर उन्हीं को अपनी आभा से दीपित कर देती है। असार का त्याग और सार का ग्रहण प्रतिभा का एक वरदान है जो सबके लिए सुलभ नहीं है। नयी कविता में इस गुण की परीक्षा अनायास ही हो जाती है। सच्ची कवि-प्रतिभा जहां नवीन उपकरणों में सार-असार का भेद सहज ही कर लेती है, वहां नये युग का बरबस आह्वान करने वाले अनेक असमर्थ कवि बुरी तरह असफल होकर रह जाते हैं और उनके पास इसके अलावा कोई चारा नहीं रह जाता कि अपनी विफलता को बौद्धिक चमत्कार द्वारा सही-ग़लत ढंग से छिपाने का प्रयत्न करें। 'नयी कविता' का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है और नये कवियों में गिरिजाकुमार का यह सौभाग्य है कि वे इससे बहुत-कुछ मुक्त हैं।

शिल्प या क्रिया-कल्प इस कवि का अपना वैशिष्ट्य है। इस क्षेत्र में उसका सौन्दर्य-बोध अपने समसामयिक कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है। संगीत का सहज ज्ञान होने के कारण उसने नवीन स्वर-लय की अनेक सूक्ष्म संयोजनाएं प्रस्तुत करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है—और इसके लिए उसे प्रयास नहीं करना पड़ता। मात्रिक छंदों के आन्तरिक विधान में प्रवेश कर उसने अनेक कोमल गीति-लयों का आविष्कार किया है—उधर वर्णिक छन्दों के आधार पर मुक्त छन्द के अनेक सुपाठ्य रूपों का नवीन विकास किया है। हिन्दी में मुक्त छन्द के विकास का मूल आधार प्रायः 'घनाक्षरी' ही रहा है, परन्तु गिरिजाकुमार ने सवैया के लय-विधान का भी उपयोग किया है—और अनेक मात्रिक छंदों के बंधों का भी। इस कवि का पाश्चात्य छंद-विधान से भी परिचय है और नवीन संयोजनाओं की उद्भावना में इसने उसका भी यथास्थान पूरा लाभ उठाया है। नवीन कविता गद्य की निविड़ता में उलझकर अपना संगीत खोती जा रही है। आज जब अज्ञेय से लेकर छोटे-से-छोटे कवि तक व्याप्त शब्द तथा स्वर-लय के संगीत का यह दारिद्र्य नये कवियों की क्रियाविधि पर छाया हुआ है और ये कवि कविता को संगीत से मुक्त करने का झूठा दम्भ करते हुए अपने अभाव को छिपाने का निष्फल प्रयत्न कर रहे हैं—गिरिजाकुमार की कविता के शब्द-विधान और स्वर-लय-विधान में अन्तर्व्याप्त संगीत उनके पृथक् वैशिष्ट्य का प्रमाण है। मेरा विश्वास है कि वर्तमान युग के छंद-लय-शिल्पियों में उनका स्थान मूर्धा पर रहेगा।

यही बात उनकी बिम्बयोजना और अभिव्यंजना के विषय में इतने ही विश्वास के साथ कही जा सकती है। गिरिजाकुमार के अन्तःसंस्कार छायावाद के सूक्ष्म-कोमल, शतशत रंगोज्ज्वल बिम्बों से बसे हुए थे—उनकी काव्य-चेतना का पोषण एक ओर प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के काव्य-वैभव से और दूसरी ओर अंगरेजी रोमानी कवियों की चित्रमय विभूतियों से हुआ था। कवि ने इस वैभव-विलास का पूर्ण उपयोग करते हुए उसे नवीन उपकरणों से समृद्ध किया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

छायावाद के कवियों पर, विशेषतः छायावाद की अन्तिम प्रतिनिधि महादेवी पर, नये कवियों का यह आरोप था कि उनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और उपमान तथा प्रतीक रूढ़प्राय होने से उनकी बिम्बयोजना में वैचित्र्य नहीं रहा। प्रारम्भ में गिरिजाकुमार के उपमान और बिम्ब, शृंगार की प्रधानता के कारण छायावाद और रीतिकाव्य के उपमानों और बिम्बों से प्रायः अभिन्न थे। उनमें नवीन स्पर्श तो थे किन्तु पुनरावृत्ति के दोष से वे मुक्त नहीं थे। धीरे-धीरे उनका क्षेत्र-विस्तार हुआ और नयी सभ्यता के आकर्षक उपकरणों का सुरुचि के साथ समावेश किया गया—परम्परागत उपमान और प्रतीक नये उपमान-प्रतीकों के साथ मिलकर नूतन-बिम्बों का निर्माण करने लगे :

चंदरिमा

यह झकाझक रात
चाँदनी उजली कि सूई में पिरो लो ताग
चाँदनी को दिन समझकर बोलते हैं काग
हो रही ताज़ी सफेदी नये चूने से
पुत रहे घर-द्वार
चाँद पूरा साफ़
आर्ट पेपर ज्यों कटा हो गोल
चिकनी चमक का दलदार
यह नहीं चेहरा तुम्हारा
गोल पूनम-सा
मांसल चीकने तन का
क्योंकि यह तो सामने ही दिख रहा है
रुक रहा है
यह नहीं अब तक हुआ
बरसों पुरानी बात
भूली याद

(धूप के धान, पृ० ९४)

ये बिम्ब सामान्यतः कोमल हैं—किन्तु कवि में विराट् और परुष बिम्बों की भी क्षमता का अभाव नहीं है; जहां विषय की माँग हुई है बिम्बों का आयाम व्यापक और स्वरूप उदात्त हो गया है। 'पृथ्वी' काव्य में तो ऐसे चित्र हैं ही, 'राम', 'हृश देश', 'युग साँझ' आदि अनेक कविताओं में भी उनका समुचित प्रयोग है।

भाषा को नवीन कथ्य के अनुरूप ढालने के प्रयत्न सभी नये कवियों ने किये हैं—गिरिजाकुमार ने तद्भव तथा देशज शब्दों के प्रयोग, अंगरेज़ी के अनेक सचित्र शब्दों के अन्तर्भाव, बिम्बात्मक नवीन शब्दों के निर्माण आदि के द्वारा आधुनिक काव्य-भाषा के विकास में महत्त्व-पूर्ण योगदान किया है। भाषा के इन नव्य प्रयोगों में केवल विलक्षणता की चाह नहीं है और न नया अर्थ भरने का तर्कहीन प्रयास है; अधिकांश प्रयोगों के पीछे एक कलात्मक तर्क विद्यमान है। उदाहरण के लिए चंदिरा (चंद्रिका), चंदरिमा (चन्द्रमा की आभा), भूमानी (पृथ्वी की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आभा), मटीली (मिट्टी के रंग की), गरमीली (ऊष्मायुक्त) आदि शब्द-प्रयोगों को लिया जा सकता है। यह भाषा छायावाद के काव्य-संस्कारों को लेकर नवीन जीवन की अनुभूतियों को मूर्तित करने का प्रयास कर रही है : काव्य-परम्परा से उच्छिन्न होकर नवीन रूप गढ़ने के ऐसे अनर्गल प्रयत्न नहीं कर रही जिनसे भाषा की अर्थ-व्यक्ति ही नष्ट हो जाए। कहने की आवश्यकता नहीं कि अभी यह भाषा अपनी उचित निर्मिति को प्राप्त नहीं कर सकी, किन्तु उसमें तो समय लगेगा। हमें तो यह देखना है कि विकास की यह दिशा सही है या नहीं। सामान्य व्यवहार की भाषा को काव्य-रूप देने की प्रक्रिया अत्यन्त कठिन है—उसके लिए अर्थ-सौन्दर्य तथा नाद-सौन्दर्य की असाधारण पहचान आवश्यक होती है। हमारी धारणा है कि नये कवियों में गिरिजाकुमार में यह क्षमता औरों से अधिक है।

गिरिजाकुमार नये कवियों में अग्रणी हैं, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता—नयी कविता में जो स्थायी काव्य-तत्त्व है उसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उनका स्थान अज्ञेय के समकक्ष है। अज्ञेय की प्रतिभा गुरुतर है, इसलिए उनकी कला में अधिक गरिमा और प्रौढ़ता है। किन्तु उनका कथ्य इतना व्यक्तिलिप्त है कि प्रायः असामाजिक और अनैतिक हो जाता है। नर-नारी-सम्बन्ध उनका मुख्य विषय है, जिसमें उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक खुल-खेलती है : उसकी सूक्ष्मतम विवृतियां—चेतन और अवचेतन विज्ञान के सहारे उन्होंने की हैं। परन्तु अन्य क्षेत्रों की भाँति यहां भी उनका अहं आत्मदान के रस से वंचित होकर पर-शोषण के प्रति इतना अधिक आतुर रहता है कि बाह्य शिष्टाचार एवं शील के आडम्बर के पीछे उसकी कुरूपता नंगी हो जाती है और थोड़ा-सा भी गहरा झाँकने पर एक प्रकार की वितृष्णा उत्पन्न करती है। गिरिजाकुमार में स्नेह अर्थात् आत्मदान की प्रवृत्ति कहीं अधिक है—व्यक्ति-लिप्सा की वह क्रूरता उनमें नहीं है; इसलिए उनके अहं में अधिक मार्दव है और उसी अनुपात से सहज प्रगीत-तत्त्व भी अधिक है। शिल्प की दृष्टि से गिरिजाकुमार का पलड़ा और भी भारी है—अज्ञेय की अपेक्षा इन्हें अर्थ-सौन्दर्य की पहचान अधिक है और नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से तो तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि समर्थ कवियों में अज्ञेय का यह पक्ष सबसे अधिक दुर्बल है। इस प्रकार बौद्धिक गुरुता में अज्ञेय से कहीं पीछे होने पर भी प्रगीत-तत्त्व और शिल्प की दृष्टि से गिरिजाकुमार की कविता अधिक समृद्ध है। कालान्तर में, प्रचार का कोलाहल शान्त होने पर, 'नयी कविता' का इतिहास जब वस्तुपरक दृष्टि से लिखा जाएगा तो उसके निर्माताओं में गिरिजाकुमार का स्थान अन्यतम रहेगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रसाद के नाटक

मूल चेतना

शान्त गम्भीर सागर, जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत् को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।

प्रसाद अपने मूल रूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था, इसलिए शिव के उपासक थे। बस, शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गए और उसको पचाकर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नीला हो गया हो, परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था। वे बड़े गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह विष उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी थी। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है और यही उनके साहित्य की मूल चेतना है।

ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्त्व नहीं देगा। प्रायः वह उसको छोड़कर कहीं अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा। एक शब्द में, उसका दृष्टिकोण रोमांटिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण—जैसा रोमांटिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है—वह पुरातन की ओर जाएगा या कल्पना-लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमांटिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

नाटकों के आधार

प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य-संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है (चन्द्रगुप्त मौर्य से हर्षवर्धन तक), जिसमें उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी : ब्राह्मण और बौद्ध-संस्कृतियों के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था।

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण-धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है : "ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संगठन कर लेगा।" दूसरी ओर भगवान् बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है : "विश्व के कल्याण में अग्रसर हो! असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुःख-समुद्र में कूद पड़ो! यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे !···विश्व-मैत्री हो जाएगी—विश्व-भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा !" इन्हीं दोनों धूप-छाँही डोरों से बना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तजकर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विरामस्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रंगीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आर्कषित करता होगा। इसीलिए उनके नाटकों में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। 'कामना' का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारा वर्तमान इतिहास ही नहीं भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्त्व-ज्ञान का आधार प्राचीन शिलालेख, पाणिनि-व्याकरण, पतंजलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, 'कथासरित्सागर', 'राजतरंगिणी', पुराण, प्राचीन-काव्यग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की यह जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के लिए सिर्फ़ रामांटिक मोह ही नहीं था—चन्द्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कन्द-गुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोजें अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण-संचार किया।

उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में की है कि मौर्य एवं गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र-संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम-संस्कृति और उससे भी पूर्व की सामन्तीय-संस्कृति, इन तीनों को लाँघकर आर्य-संस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनरुत्थान इतने सहज ढंग से होता है कि दो हज़ार वर्ष का महान् अन्तर एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नहीं, उनके पात्रों के नाम, उपाधि, वेशभूषा, चरित्र और बातचीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य आदि शब्दों का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि युग-जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसादजी पर बिल्कुल नहीं है। मैंने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसादजी गहरे जीवन-द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएं स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एक बार आहत होकर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठकर प्रसादजी की देशभक्ति अमर स्वरों में फूट उठती है :

"मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला ! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध ?

सिंहरण—ठहरो मालव वीरो, ठहरो ! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।"

यह प्रसंग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नहीं परन्तु इसमें बोलती हुई देशभक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देशभक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी-साहित्य में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अन्यत्र नहीं देखा।

इसी प्रकार, आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर भी प्रसादजी के 'चन्द्रगुप्त' में अनेक तीखे व्यंग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्त्व एक राष्ट्र की स्थापना ही तो है—

"मालव और मगध को भूलकर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।

आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।"

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याओं—जैसे दाम्पत्य-सम्बन्ध-विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़ विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु प्रसाद की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएं उस पुरातन वातावरण में पूरी तरह से फ़िट कर दी गयी हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असंगति मानते हैं, वे वास्तव में मानव-भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता-मात्र प्रकट करते हैं।

सुख-दुःख की भावना

प्रसाद के नाटकों के मूल तत्त्व को समझने के लिए उनकी सुख-दुःख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके सभी नाटक सुखान्त हैं। परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है? नहीं। नाटक के ऊपर दुःख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह में छिपी हुई अनिवार्यतः मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिलकुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त-भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण शान्ति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा, जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी। बौद्ध इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों में बौद्ध और आर्य-दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव में दुःखवाद और आनन्द-मार्ग का ही संघर्ष और समन्वय है, जो उनके अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाववश उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त हैं और न दुःखान्त। उनमें सुख-दुःख जैसे एक-दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते। कवि आग्रहपूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है परन्तु तुरन्त ही दुःख भी अपनी झलक दिखा जाता है:

"सिल्यूकस—(कार्नेलिया की ओर देखता है; वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त! (दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जय-ध्वनि!)

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकड़कर) चलो, अब हम लोग चलें।"

इस प्रकार आप देख सकते हैं कि ये नाटक सुखान्त अथवा दुःखान्त न होकर प्रसादांत हैं। इसका एक प्रमाण और है, वह है रस का परिपाक। इन नाटकों में मुख्य रस दो हैं—शृङ्गार और वीर (देशभक्ति)। इन दोनों में भावना अत्यन्त गाढ़ी और तीव्र है। शृंगार में एक ओर अपने को लय कर देने की तीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उष्ण गन्ध और रूप-यौवन के गहरे चित्र, जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति हैं। इसी प्रकार वीरता—देशाभिमान अथवा आत्मगौरव की अभिव्यक्ति भी अन्तर की ही पुकार है। सिंहरण अथवा बन्धुवर्मा की देशभक्ति कर्तव्य-पूर्ति नहीं, आत्मा का आग्रह है। उनकी उक्तियां केवल नीति-मुखर ही नहीं हैं, उनमें हृदय का आक्रोश भी है। परन्तु इन दोनों के साथ तीसरा रस—शान्त रस—भी अनिवार्य रूप से मिलता है जो इन दोनों पर अनुशासन करता है। जब आवेश, चाहे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वह मधुर हो या परुष, उबलकर सीमा तोड़ना चाहता है तभी शान्त रस के छींटे उसे शान्त और संयत कर देते हैं। स्वभावतः यहां रस का प्रवाह आवेग से परिशान्ति की ओर बहता हुआ मिलता है। यही प्रसाद के नाटकों का 'प्रसादान्त' होना है।

चरित्र-प्रधान नाटक

स्पष्टतः ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है।

प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबसे महान् स्रष्टा थे। उन्होंने अपने नाटकों में अनेक अमर पात्रों की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतन्त्र एवं प्राणवान् व्यक्तित्व रखते हैं—दार्शनिक बिम्बसार और सनकी तत्त्वज्ञानी दाण्ड्यायन का व्यक्तित्व भी कितना साफ़ और तीखा है ! कारण यह है कि पात्रों में प्राण फूंकने वाली उनकी प्रतिभा की सजीवता और तीव्रता अद्वितीय थी। प्रसादजी के जीवन-रथ की परिधि भले ही घर से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से घर तक सीमित रही हो, परन्तु उनका भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन चिर-गतिशील था। उसकी गति प्रेमचन्द की तरह विस्तार में अधिक नहीं बढ़ी, परन्तु अन्दर गहराई में बहुत दूर पहुँच गई थी। वे अत्यन्त प्राणवान् कलाकार थे, उनके व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने ही पात्रों की रूपरेखा को काट-छाँटकर इतना तीखा कर दिया था।

एक दूसरे प्रकार से भी स्रष्टा ने अपने-आपको सृष्टि में व्यक्त किया है। प्रसाद के दर्शन-कवित्वमय व्यक्तित्व का थोड़ा-बहुत अंश उनके सभी पात्रों ने प्राप्त किया है। पुरुष-पात्र प्रायः तीन प्रकार के मिलते हैं :

१. जीवन के तत्त्वों को सुलझाने वाला तत्त्ववेत्ता आचार्य ;
२. जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर जूझने वाले कर्मठ सैनिक, और
३. राजपुत्रों को राजनीति के दाँव-पेंच सिखाने वाले कूटनीतिज्ञ।

स्त्रियों में भी स्पष्टतः कई श्रेणियां हैं :

१. राजनीति की आग से खेलने वाली राज-महिषियां,
२. जीवन-युद्ध में प्रेम का सम्बल लेकर कूदने वाली स्वाभिमानिनी राजपुत्रियां,
३. जीवन के भँवर में पड़ी हुई मध्यवर्गीय दुर्बल नारियां, और
४. अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में एक करुण गन्ध छोड़ जाने वाली फूल-सी सुकुमारियां।

बौद्ध और शैव दर्शनों के समन्वय से जीवन की व्याख्या करने वाले ये आचार्य दार्शनिक प्रसाद के ही प्रतिरूप हैं। उधर निरन्तर कर्म में रत किन्तु फल की ओर से विरक्त सैनिक-रूप राजपुत्रों को, प्रसाद का जीवन के विचार और उपभोग से परिपुष्ट पौरुष प्राप्त हुआ है। नारी-पात्रों में आपको उनके हृदय का रूप-मोह और प्राणों में बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी। इस प्रकार प्रसादजी ने सभी चरित्रों में अपने व्यक्तित्व की साँस फूँक दी है। स्वभावतः उनमें वह अव्यक्तिगत चित्रण न मिलेगा जो सच्चे अर्थ में नाटकीय कहा जाता है। जहां शेक्सपीयर-जैसे नाटककारों में, कौन-सा चरित्र उनकी प्रतिच्छाया है यह पता लगाना असम्भव है, वहां प्रसाद-जी के व्यक्तित्व की झलक स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य—किसी भी चरित्र में थोड़ी-बहुत देख सकते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा कहीं अधिक अव्यक्त रह सकते थे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रसाद के काव्य में विराट् और कोमल का अपूर्व संयोग है। जिस लेखक ने 'कामायनी' के विराट् रूपक की सृष्टि की है उसी ने अनेक मधु-स्निग्ध गीतियों की उद्भावना भी की है। अतएव आपको उनके नाटकों में इन दोनों तत्त्वों का अपूर्व योग मिलेगा। उनके दो प्रकार के चित्र साहित्य की अमर विभूतियां हैं :

१. सम्पूर्ण चित्र, २. रेखा-चित्र।

पहले चित्र कवि की विराट् भावना की प्रसूति हैं। उनमें सम्पूर्ण चरित्र-विकास शक्ति के आधार पर होता है। स्वभावतः यह चित्र समस्त नाटक की दीवार को घेरे हुए रहता है। चाणक्य और स्कन्दगुप्त ऐसे ही दो चित्र हैं। 'अजातशत्रु' की मल्लिका में विस्तार तो नहीं परन्तु शक्ति असीम है। इनमें महान् कोमल का एक स्पर्श-भर पाकर मुस्करा उठा है।

दूसरे चित्र गीतिमय हैं—वे प्रसादजी की सूक्ष्म-कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोद्भास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएं अथवा विभिन्न रंग नहीं हैं, इनमें एक रेखा है और एक धुंधला रेशमी रंग है—एक ही स्वर है। 'संगीत-सभाओं की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ—इन सबों की प्रतिकृति' हैं ये नारी-चरित्र। देवसेना, मालविका और कोमा—ये तीन चित्र प्रसाद के नाटकों में उनकी ट्रैजेडी की सार-प्रतिमाएं हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल-करुण व्यंग्य है।

मधु-सिंचन

प्रसाद के सभी नाटक मधु-सिंचित हैं। वे मूल रूप में कवि हैं, अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धारा बह रही है। उनके सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटकों में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी में कविता का रंगीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों को एकत्र करके उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया; अतएव परिणामस्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ, उनका वातावरण रूप और रंग से जगमगा रहा है।

सबसे प्रथम उनके गीतों को ही लीजिये। यह सत्य है कि ये सभी गीत नाटकीय नहीं हैं। कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गये हैं, परन्तु उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस, रूप-यौवन का चटकीला रंग एवं विलास की उष्ण गन्ध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भाँति संचरण करती रहती है।

यही बात वस्तु-विधान और चरित्रांकन में है। प्रसाद की घटनाएं रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं। अँधेरी रात में मागंधी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व-त्याग, स्कन्दगुप्त और देवसेना की विदा, मालविका का बलिदान—सभी-कुछ एक मूक कविता है। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का प्रभूत संचार हो रहा है। इनमें से कतिपय तो एकान्त कवित्वमय हैं। उनका अस्तित्व ही नाटक में कविता की साँस फूँकने को होता है। ये पात्र प्रायः नारी-पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर क्षण फूल के समान खिलकर अपना सौरभ छोड़ जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रायः और सब पात्र भी अपने स्रष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म-कठोर व्यक्तित्व में भी बाल्यकाल की स्मृतियां भाँवरियां ले रही हैं। ये नाटक गद्यगीतों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का अक्षय भण्डार हैं। उदाहरण के लिए :

१—"अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर क़ी सब क्यारियां हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है—राजकुमारी ! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियां मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

२—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रखकर, उस कम्पन में स्वर मिलाकर कामदेव गाता है, और राजकुमारी ! वही काम-संगीत की तान, सौन्दर्य की लहर बनकर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिए। वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धान्त का नहीं, काव्य का आग्रह है। देखिए 'स्कन्द-गुप्त' का अन्तिम दृश्य :

"स्कन्दगुप्त—देवी, यह न कहो। जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग, एक-दूसरे का मुँह देखकर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन की वसन्त-श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूं ? (कुछ ठहरकर सोचते हुए) और किस वज्र-कठोर हृदय से रोकूं ?···

···देवसेना ! देवसेना ! ! तुम जाओ। हत-भाग्य स्कन्दगुप्त ! अकेला स्कन्द, ओह ! !

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है; तपस्या अग्नि है। सम्राट्, यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !

(घुटने टेकती है; स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है।)"

दोष

प्रसाद के नाटकों के दोष शायद उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं।

सबसे पहला दोष रंगमंच-विषयक है। उनके नाटकों में अभिनय की त्रुटियां हैं। उनमें युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मंच पर काफ़ी गड़बड़ करेंगे। दूसरे, उनकी अपरिवर्तन-शील गम्भीर भाषा में अभिनयोचित चांचल्य नहीं है। अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है।

दूसरा बड़ा दोष है एकता का अभाव। उसके लिए शायद उत्तरदायी है प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख-दुःख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे। 'राज्यश्री' या 'ध्रुवस्वामिनी' में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया। 'ध्रुवस्वामिनी' का संकलित प्रभाव तो पूर्णतः एकसार है; परन्तु 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' जैसे बड़े नाटकों में घटना-बाहुल्य में फँसकर नाटक की एकता अस्तव्यस्त हो गयी है। इन दोनों नाटकों में ऐसी घटनाएं और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन् घातक भी हैं। 'स्कन्दगुप्त' में धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसंगों का क्या प्रयोजन है ? 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच में इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि कथावस्तु वहां एक बार दम तोड़कर फिर उठती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तीसरा प्रमुख दोष यह है कि वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी का ज़बर्दस्ती गला घोंटना पड़ा है। यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है।

महत्त्व

इस प्रकार इन नाटकों का महत्त्व असम है। एक ओर जहां पाठक उनके दोषों को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नहीं रह सकता। ये नाटक अंशों में जितने महान् हैं, सम्पूर्ण रूप में उतने नहीं। प्रसाद की ट्रैजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान्-कोमल चरित्र, उनके विराट्-मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओं के नाटकों की तुलना में भी उनकी ज्योति मलिन नहीं पड़ सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गुलेरीजी की कहानियां

हमारे एक साहित्यिक मित्र ने जीवन के कुछ सिद्धान्त स्थिर कर रखे हैं। उनमें से एक यह भी है कि अध्ययन का मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव वे व्यक्तित्व के मूल्यांकन में विद्वत्ता को प्रायः अवगुण ही मानते हैं। उनका कहना है (और बात काफ़ी हद तक ठीक भी है) कि विद्वत्ता के अनुपात से ही व्यक्ति की प्राणवत्ता में कमी होती जाती है। विद्वान् व्यक्ति प्रायः प्राणवान् नहीं रह पाता, उसके दृष्टिकोण में जीवन की ताज़गी न रहकर पुस्तक-ज्ञान का बोझीलापन आ जाता है।

गुलेरीजी इस सिद्धान्त के अपवाद हैं। उच्च कोटि की विद्वत्ता के साथ ही उतनी ही प्राणवत्ता भी उनके व्यक्तित्व में पायी जाती है। वे अपने युग में प्रथम श्रेणी के विद्वान् थे। पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, भाषा-विज्ञान—सभी में उनकी अबाध गति थी। संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं और हिन्दी, बँगला, मराठी, अंगरेज़ी आदि आधुनिक भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। लेटिन, जर्मन और फ्रेंच का भी उन्हें ज्ञान था। परन्तु अपने इस असाधारण पांडित्य को उन्होंने सदैव जीवन का साधन ही माना, साध्य नहीं बनने दिया। उनकी जीवन-चेतना इतनी प्रबल थी कि पांडित्य उसको पुष्ट तो कर सका, पर दबा नहीं सका।

गुलेरीजी का संक्षिप्त जीवन सब प्रकार से सफल ही कहा जा सकता है। वे पुत्र, वित्त और लोक—तीनों ओर से सुखी थे। विद्यार्थी-जीवन में उन्हें स्पृहणीय सफलता मिली थी। हाई-स्कूल और बी. ए. में वे सर्वप्रथम रहे थे। यौवनकाल में भी सफलता उनके चरण चूमती रही। पहले वे जयपुर राज्य के सभी सामन्त-पुत्रों के अभिभावक रहे। बाद में उन्होंने बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में कॉलेज ऑफ़ ओरियण्टल लर्निंग एण्ड थियॉलॉजी के प्रिंसिपल पद को सुशोभित किया। लोक-जीवन में भी उनको अक्षय गौरव प्राप्त हुआ था। काशी-नागरी-प्रचारिणी का सभापतित्व, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला एवं सूर्यकुमारी पुस्तकमाला का सम्पादन, अनेक लेखों का स्वदेशी-विदेशी विद्वानों द्वारा अभिनन्दन—ये सब उनके गौरव की स्वीकृति के विभिन्न रूप थे। परन्तु गौरव दीर्घजीवी नहीं होता। उन्तालीस वर्ष की अल्पायु में ही समस्त दिशाओं को उद्भासित करके यह प्रकाश-पुंज भी तिरोहित हो गया और विद्वान् लोग यह अनुमान लगाते ही रह गये कि अगर कुछ और समय मिलता तो शायद वह हिन्दी-जगत् को समग्रतः आच्छादित कर लेता।

गुलेरीजी ने हिन्दी-साहित्य के अनेक विभागों को समृद्ध किया। भाषा-तत्त्व और पुरातत्त्व पर उनका पर्याप्त साहित्य विद्यमान है। पुरानी हिन्दी और शिशुनाग-मूर्तियों पर लिखे हुए उनके लेख आज भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। परन्तु मैं उनके इस साहित्यांग को स्पर्श नहीं करूंगा, क्योंकि मैं उसकी मीमांसा करने का अधिकारी नहीं हूं। मैं तो केवल उनके सृजनात्मक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य, उनकी कहानियों की ही विवेचना करता हुआ यह दिखाने का प्रयत्न करूंगा कि किस प्रकार उनकी सृजन-प्रतिभा अविकसित ही रह गयी और कलाकार के रूप में वे अपना प्राप्य न पा सके।

गुलेरीजी की कहानियां

अभी एक-आध वर्ष पहले तक सबका यही खयाल था कि गुलेरीजी केवल एक ही कहानी 'उसने कहा था' लिखकर अमर हो गये। विद्वानों ने इस बात को पूरे विश्वास के साथ लिखित रूप में भी स्वीकार कर लिया था। परन्तु कुछ दिन हुए गुलेरीजी की दो और कहानियां सामने आयीं—'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा'—और आलोचक की यह उलझन कि गुलेरीजी ने एक साथ ही ऐसी 'ए-वन' कहानी कैसे लिख डाली, कुछ-कुछ सुलझी। इस दिशा में उन्होंने तीन पग रखे। पहला था 'सुखमय जीवन', दूसरा 'बुद्धू का काँटा' और तीसरा 'उसने कहा था'। सम्भव है, उन्होंने कुछ और भी प्रयत्न किये हों, जो आज उपलब्ध नहीं।

दृष्टिकोण

जीवन के प्रति गुलेरीजी का दृष्टिकोण, जैसा मैंने आरम्भ में कहा है, सर्वथा स्वस्थ है। उनके साहित्य का आधार छायानुभूतियां नहीं हैं, जीवन की मांसल अनुभूतियां ही हैं। निदान उनमें मानसिक ग्रन्थियों का सर्वथा अभाव मिलता है। जीवन में नीति और सदाचार को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी सेक्स के नाम पर बिदकने वाले आदमियों में से वे नहीं थे। जहां-कहीं भी प्रसंग आया है उन्होंने मुक्त भाव से बिना झिझके स्पष्ट व्यंजना की है—यहां तक कि 'उसने कहा था' कहानी में उद्धृत पंजाब के उस गाने में 'कर लेणा नाड़े दा सौदा अड़िये' के स्थान पर भी उन्होंने शरमाकर चिह्न-बिन्दु नहीं लगाये, साफ़ ही पंक्ति को उद्धृत कर दिया है। यह उनके मन के स्वास्थ्य का असंदिग्ध प्रमाण है। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं ही इस सत्य का उद्घाटन किया है : "जो कोने में बैठकर उपन्यास पढ़ा करते हैं, उनकी अपेक्षा खुले मैदानों में खेलने वालों के विचार अधिक पवित्र होते हैं।" गुलेरीजी प्रकृति के इन सच्चे चित्रों को ही देखते थे, उपन्यासों की मृगतृष्णा में चमत्कार नहीं ढूंढ़ते थे।

उनकी कहानियों में स्पष्ट ही शास्त्र के बँधे हुए वातावरण से प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण की ओर जाने की प्रवृत्ति है। उनके जीवन-मान सर्वथा प्राकृतिक हैं। कृत्रिम मान, चाहे उन पर सभ्यता और नागरिक शिष्टाचार का कितना ही मुलम्मा चढ़ा हो, उन्हें सह्य नहीं थे। दृष्टिकोण का यह स्वास्थ्य रस, विवेक और विचार—तीनों तत्त्वों के उचित सम्मिश्रण का फल था। उसमें अन्तरभिमुखता और बहिर्मुखता का वांछित संयोग था। जीवन के रस का उन्होंने सम्यक् उपभोग किया परन्तु अपने जाग्रत विवेक के कारण उसमें बहे नहीं। इससे अनुभूति में स्थिरता आयी। उधर विचार ने उसको गंभीरता और परिपक्वता प्रदान की। जीवन-तत्त्वों का यही सम्यक् संतुलन उनके जीवन और साहित्य की सफलता का कारण था।

सामाजिक चेतना

ऐसे व्यक्ति की सामाजिक चेतना स्वभावतः ही बलवती होनी चाहिए। और, वास्तव में हिन्दी-कहानी के उस प्रसव-काल में इस प्रकार की सामाजिक चेतना होना आश्चर्य की बात

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है। उन्होंने दृष्टि को अपने मन के राग-द्वेषों पर ही न गड़ाकर बाहर जीवन की धूप में विचरने दिया और समाज की सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूक रहे। उदाहरण के लिए पर्दे की अस्वस्थ प्रथा, उस समय बढ़ती हुई सभ्यता की दाम्भिक चेतना, विवाह से सम्बद्ध दहेज़-मुहूर्त आदि की प्रथाओं पर वे बीच-बीच में छींटे छोड़ते हुए चले हैं।

इसके साथ ही कुछ अन्य सामयिक प्रश्नों पर भी, जैसे हिन्दी में ग्रहण किये गये संस्कृत के तत्सम शब्दों के उच्चारण पर भी, उन्होंने मौक़ा देखकर फ़िक़रा कस दिया है। संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् होते हुए भी गुलेरीजी यह मानते थे कि संस्कृत तत्सम शब्दों का उच्चारण हिन्दी-व्याकरण के नियमों के अनुकूल ही होना चाहिए। आज से तीस वर्ष पूर्व एक संस्कृत के पंडित की इस प्रकार की धारणाएं कितनी प्रगतिशील थीं, यह देखकर उनके व्यक्तित्व की शक्ति का पता चलता है। इस दृष्टि से यह व्यक्ति अपने समय से कितना आगे था?

हास्य

ऐसे खुले हुए स्वभाव के व्यक्ति में निश्चय ही हास्य की अत्यन्त मुक्त भावना होगी। गुलेरीजी के हृदय में कुढ़न का विष नहीं था, संतोष का अमृत था; इसीलिए उनके हास्य में भी कुढ़न का विष नहीं, सन्तोष का अमृत है। उन्होंने स्वस्थ दृष्टि से अपने चारों ओर बहुत ग़ौर से देखा। जीवन और जगत् में सर्वत्र उन्हें ऐसी विचित्रता दिखाई पड़ी जिससे स्वभावतः ही उनके हृदय में गुदगुदी पैदा हो जाती थी। वास्तव में उनका हास्य एक ऐसे व्यक्ति का हास्य है जिसके हृदय में जीवन के प्रत्येक सुख से सहानुभूति है, जो विकृतियों में भी अद्भुत वैचित्र्य और आकर्षण पाता है, जिसके हृदय में किसी प्रकार का दम्भ या मैल नहीं है और जो खुलकर हँसता है। एक उदाहरण लीजिए। अमृतसर के इक्के-ताँगे वालों की बोलियों की तारीफ़ करते हुए आप फ़रमाते हैं—"क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' सुने बिना किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं: 'हट जा जीणे जोगिये, हट जा करमा वालिये, हट जा पुत्तां प्यारिये, बच जा लम्बी वालिये!' समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी आयु तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है—बच जा!"

दूसरी बात, जो गुलेरीजी के हास्य के विषय में जानने योग्य है, यह है कि वे हास्य की सृष्टि नहीं करते, उद्‌बुद्धि-मात्र करते हैं। उनका हास्य साध्य नहीं, साधन है। वे केवल हास्य के लिए परिस्थिति का सृजन नहीं करेंगे वरन् उपस्थित परिस्थिति में ही हास्य की तरंग पैदा कर देंगे। कहीं-कहीं तो गम्भीर परिस्थिति को भी वे हँसी में गुदगुदा देते हैं। 'सुखमय जीवन' के अन्त में परिस्थिति में काफ़ी खिचाव आ गया है, परन्तु ज्यों ही उत्तेजना शान्त होती है और परिस्थिति में लोच आता है, गुलेरीजी फ़ौरन ही उसे गुदगुदा देते हैं। बेचारे वृद्ध गुलाबराय वर्मा की आँखों में आँसू तो वास्तव में मानसिक स्तब्धता का अंत हो जाने के कारण—दूसरे शब्दों में, क्रोध के सहसा आनन्द में परिणत हो जाने के कारण—आते हैं, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि "वृद्ध की आँखों पर कमला की माता की विजय होने के क्षोभ के आँसू थे या घर बैठे पुत्री को योग्य पात्र मिलने के हर्ष के आँसू थे? राम जाने!" अच्छा, और यह सन्देह होता है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उस व्यक्ति को जो स्वयं ऐसी ही मानसिक स्थिति में होकर गुज़र चुका है। इस प्रकार गुलेरीजी के पात्र कभी-कभी अपने पर भी हँस लेते हैं।

गुलेरीजी अधिकतर अपने पात्रों पर नहीं हँसते—उनके साथ हँसते हैं। इसलिए उनके हास्य में विनोद की मात्रा अधिक रहती है। उनकी कहानियां विनोद की फुलझड़ियां छोड़ती हुई रस-दिशा में बढ़ती हैं। विनोद के अतिरिक्त वाक्-चापल्य और वाक्-चातुर्य का भी सम्यक् उपयोग उनमें मिलता है। लहनासिंह और नक़ली लेफ़्टिनेण्ट साहब की बातचीत इसका सुन्दर उदाहरण है। व्यंग्य का प्रयोग उन्होंने अपेक्षाकृत कम किया है। जहां है वहां अत्यन्त महीन और मधुर है। किसी गम्भीर नैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर सुधार करने के लिए वे किसी को हास्य द्वारा प्रताड़ित नहीं करते।

रस

इन सब गुणों के होते हुए भी गुलेरीजी की कहानियों का प्रमुख आकर्षण तो रस ही है। यह रस उथली रसिकता या मानसिक विलासिता का तरल द्रव नहीं है, जीवन के गम्भीर और स्वस्थ उपभोग में से खींचा हुआ गाढ़ा रस है। उसमें एक बलिष्ठ व्यक्तित्व का वज़न है। 'बुद्धू का काँटा' की परिणति में काफ़ी रस है। 'उसने कहा था' कहानी का आरम्भ चंचल-मधुर है। पर अंत में तो जैसे सारी ही कहानी रस में डूब जाती है। शैशव की उस मीठी घटना से माधुर्य और लहनासिंह के पुरुषार्थी व्यक्तित्व से शक्ति प्राप्त कर अंत में उसके बलिदान की करुणा कितनी गम्भीर हो जाती है। आप देखें कि रति, हास, ओज और कारुण्य—इनके मिश्रण से रस का जो परिपाक होता है वह अत्यन्त ही प्रगाढ़ और पुष्ट है, और यह रस-सिंचन घटनाओं और परिस्थितियों में ही नहीं है, वर्णनों में भी स्थान-स्थान पर इसकी रसीली मुस्कराहट मिलती है। उदाहरण के लिए :

१. "आँखों के डेले काले, कोए सफ़ेद नहीं कुछ मटियाले, और पिघलते हुए। जान पड़ता था कि अभी पिघलकर बह जाएंगे। आँखों के चौतरफ़ हँसी, होठों पर हँसी और सारे शरीर पर नीरोग स्वास्थ्य की हँसी।"

२. "पहाड़ी ज़मीन, बिना पानी सींचे हुए हरे मख़मल के गलीचे से ढँकी हुई ज़मीन, उस पर जंगली गुलदाऊदी की पीली टिमकियां और वसन्त के फूल, आलू-बुख़ारा और पहाड़ी करौंदे के रज से भरे हुए छोटे-छोटे रंगीले फूल, जो पेड़ का पत्ता भी न दिखने दें; क्षितिज पर लटके हुए बादलों की-सी बर्फ़ीले पहाड़ों की चोटियां जिन्हें देखते आँखें अपने-आप बड़ी हो जातीं और जिनकी हवा की साँस लेने से छाती बढ़ती हुई जान पड़ती; नदी से निकाली हुई छोटी-छोटी असंख्य नहरें, जो साँप के-से चक्कर खा-खाकर फिर प्रधान नदी की पथरीली तलेटी में जा मिलतीं।"

भाषा

सबसे अधिक आश्चर्यजनक है गुलेरीजी की भाषा। ऐसी प्रौढ़ भाषा उस समय तो कोई लिख ही क्या सकता था, गद्य के समुन्नत युग में भी कोई लिख सका है, इसमें मुझे सन्देह है! प्रेमचन्द की भाषा में इतनी प्रौढ़ता और शक्ति कहां है, और शुक्लजी की भाषा में जीवन की इतनी स्फूर्ति और यथार्थता कहां है ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व जब हिन्दी का गद्य व्याकरण की पुस्तकों से बाहर आते ही लड़खड़ाने लगता था, गुलेरीजी का भाषा की लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शक्तियों पर कितना व्यापक अधिकार था! उनकी भाषा में जीवनगत विभिन्न परिस्थितियों को—विभिन्न पात्रों की विभिन्न मनोदशाओं को—व्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता थी। और, उन्होंने सदैव ही भाषा के वास्तविक रूप को बनाये रखा है, इसलिए उसका माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वाभाविक ही है। उन्होंने कहीं भी न तो माधुर्य लाने के लिए शब्दों की हड्डियां तोड़कर उन्हें मुलायम बनाने की कोशिश की है और न ओज के लिए तीलियां बाँधकर ही उनको कड़ा और खड़ा करने की कोशिश की है।

इस व्यक्ति के जीवन की सफलता का यही रहस्य था कि इसने अपने पांडित्य की गम्भीरता को जीवन के उपभोग में अत्यन्त सतर्कता से प्रयुक्त किया। इसीलिए इसके व्यक्तित्व में स्फूर्ति और गम्भीरता का अद्‌भुत योग था! ठीक यही रहस्य उनकी भाषा की समर्थता का भी है—यहां भी उन्होंने अपनी व्यापक शब्द-शक्ति और भाषागत पांडित्य का उपयोग जीवनगत भाषा गढ़ने में किया। प्राणवान् व्यक्ति का पांडित्य जिस प्रकार जीवनगत अनुभव से शक्ति और उसका जीवनगत अनुभव पांडित्य से समृद्धि पाता रहता है, इसी प्रकार साहित्य की भाषा जीवन की भाषा से शक्ति और जीवन की भाषा साहित्य की भाषा से समृद्धि पाती रहती है। और, किसी व्यक्ति के लिए ये दो स्रोत जितने ही अधिक खुले होंगे उतनी ही समृद्ध और सशक्त उसकी भाषा होगी। गुलेरीजी को यह सुविधा भरपूर प्राप्त थी।

गुलेरीजी के बाद इस विषय का उनसे गुरुतर उदाहरण हमारे पास राहुलजी का है। परन्तु राहुलजी में एक दोष है—उनमें ह्यूमर नहीं। इसलिए उनकी भाषा में समृद्धि और शक्ति अधिक होते हुए भी स्फूर्ति और फड़क उतनी नहीं है जितनी कि गुलेरीजी की भाषा में।

गुलेरीजी के उपर्युक्त गुणों का अब तक जो उल्लेख किया गया है, उससे आप यह मत समझिए कि उनकी सभी कहानियां सर्वथा पूर्ण और निर्दोष हैं। यह बात बिलकुल नहीं है। उनकी अन्तिम कहानी 'उसने कहा था' तो अवश्य हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से है, परन्तु पहली दोनों कहानियों में बहुत-कुछ कच्चापन है। 'सुखमय जीवन' में तो वास्तव में कहानी अच्छी तरह बन भी नहीं पायी। उसकी चरम घटना में विस्मय का अत्यन्त अस्वाभाविक और अतिरंजित प्रयोग है। 'बुद्धू का काँटा' इससे कहीं अधिक सफल कहानी है, परन्तु उसमें भी अतिरंजना और अप्रासंगिकता है। इसकी नायिका—(शायद यह पारिभाषिक और कृत्रिम नागरिक विशेषण उसके लिए गुलेरीजी स्वीकार न करते)—कुछ अधिक वाग्वीर और पहलवान है। इसके अतिरिक्त उस पहाड़ी टट्टू वाले की सारी कहानी ही अप्रासंगिक है।

परन्तु जैसा कि मैंने आरम्भ में कहा है, ये दोनों कहानियां दो पहली मंज़िलें हैं। 'सुखमय जीवन' में गुलेरीजी की कहानी-कला का शैशव है, 'बुद्धू का काँटा' में किशोरावस्था, और 'उसने कहा था' में आकर वह पूर्ण योषिता हो गयी है। चूंकि वह समय से पूर्व ही पूर्णत्व को प्राप्त हो गयी थी, इसीलिए शायद उसकी अकाल-मृत्यु हो गयी। बहुत होनहार बालक अधिक दिन जीवित नहीं रहते।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रेमचन्द

आज वर्षों बाद प्रेमचन्द के सर्वतः स्वीकृत सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' का एक बार फिर अध्ययन करने के उपरान्त भी मेरी धारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव-पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन-दुःखी जनता, गाँव के अपढ़ और भोले किसान और शहर के शोषित मज़दूर, निम्न-वर्ग के वे असंख्य श्रम-श्रान्त वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी—उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, ज़मींदार और हुक्काम; उधर मध्य वर्ग के व्यवसायी, नौकरीपेशा लोग, समाज के पुराण-पन्थी पंडित-पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वंचित नहीं थे। इसका अर्थ यह नहीं कि उनको सत्-असत् की चेतना नहीं थी। नहीं, यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रान्त थी और इस विषय में उनका दृष्टिकोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परन्तु उनके मन में घृणा नहीं थी। उनके मन में मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होंने निर्मम होकर तिरस्कार किया है, परन्तु पाप को छोड़ उन्होंने कभी पापी से घृणा नहीं की। इसके लिए गांधी और गांधी से भी अधिक स्वयं गांधी को प्रभावित करने वाले विदेश के मानववादी लेखकों का प्रभाव काफ़ी हद तक उत्तरदायी था, किन्तु मूलतः तो यह उनके अपने स्वभाव-संस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही सन्त था—उनके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उस युग के आदर्शवाद ने, जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया, परन्तु उनका यह आदर्शवाद अथवा जनवाद स्वभाव-जात था, युग-प्रथा-मात्र नहीं था। इसका उनके संस्कारों के साथ पूर्ण सामंजस्य था। इसीलिए इस धरातल पर पहुँचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदों से मुक्त हो जाती थी। प्रगतिवादियों ने अपने मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्ग-चेतना का आरोप कर दिया है। परन्तु वास्तव में वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। उन्होंने पूंजीवादियों और ज़मींदारों के दोषों को क्षमा नहीं किया, किन्तु साथ ही उनकी तकलीफ़ के प्रति भी वे निर्मम नहीं थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पूंजीवादी भी तो मनुष्य है, जो उसी तरह दुख-दर्द का शिकार है जिस तरह मज़दूर। राजनीतिक दलबन्दी में आकर अपने मन में इस तरह से खाने बना लेना कि उसके दुख-दर्द का वहां प्रवेश ही न हो, सर्वथा अप्राकृतिक एवं अमानवीय है, और जिनके हृदय में इस तरह का विभाजन सम्भव होता है उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है, या प्रदर्शन-मात्र। क्योंकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सम्भव नहीं है कि एक की विवशता हमें करुणार्द्र करे और दूसरे की न करे। जिनकी सहानुभूति पर राजनीतिक बुद्धिवाद का अंकुश रहता है वे सहानुभूति का दम्भ करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द की सहानुभूति ऐसी नहीं थी। पापी को उन्होंने क्षमा नहीं किया, शोषण के अपराधों की उन्होंने कहीं भी उपेक्षा नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की। उनके उपन्यासों में दण्ड का निषेध नहीं है—उनमें एक ओर बहिष्कार से लेकर कारावास और मृत्यु तक और दूसरी ओर उपवास आदि से लेकर आत्मघात तक का दण्ड है। परन्तु सहानुभूति का अभाव किसी भी अवस्था में नहीं है। प्रेमचन्द कहीं भी कठोर नहीं होते और कहीं भी दम्भ नहीं करते। यह उनके व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी।

इसी व्यापक सहानुभूति के कारण उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। गांधी-युग के प्रथम तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का जितना सांगोपांग और सटीक चित्रण प्रेमचन्द में मिलता है वैसा हिन्दी के तो किसी साहित्यकार में मिलता ही नहीं है, भारत के अन्य किसी साहित्यकार में भी मिलता है, इसमें सन्देह है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमाएं होती हैं—जीवन के कुछ रूपों में वह रम सकता है, कुछ में नहीं; परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपों के प्रति उसमें राग था। उनकी प्रतिभा कई अंशों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिए उन्हें जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं, उतने औरों में नहीं। आप हिंदी के नये उपन्यासकारों से—जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र से—उनकी तुलना कीजिये : एक ओर विशाल जन-सागर है, दूसरी ओर व्यक्तियों के सरोवर-मात्र। शरत्, यहां तक कि रवीन्द्र का भी क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यन्त सीमित है।

जीवन के इस समग्र-ग्रहण का परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द ने उपन्यासों में अपने युग अर्थात् गांधी-युग के तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अत्यन्त पूर्ण इतिहास दे दिया है। वास्तव में जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस कालखंड का सामाजिक इतिहास लिखा जायेगा, उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी। और, यदि इतिहासकार राजनीति से आतंकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हें भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्र बाबू की जीवनियों से कम महत्त्व नहीं देगा। इसके मूलतः दो कारण हैं : एक तो यह कि प्रेमचन्द ने अत्यन्त सचेत होकर अपने साहित्य को युग-जीवन का माध्यम बनाया है, दूसरे यह कि उन्होंने युग-धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वांग जीवन को ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द का दूसरा प्रमुख गुण है उनका अत्यन्त स्वस्थ और साधारण व्यक्तित्व। साधारण का प्रयोग मैं यहां 'नॉर्मल' के अर्थ में कर रहा हूं, उनका दृष्टिकोण मनोग्रंथियों से रहित सर्वथा ऋजु-सरल था जिसमें प्रवृत्तियों का स्वस्थ संतुलन और अतिचार एवं अवचार का अभाव था। मनोग्रंथि से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है जो उचित रीति से विचार करने, उचित रीति से अनुभव करने और उचित रीति से जीवन-यापन करने में बाधक होती है। ये मनोग्रंथियां प्रायः दो प्रकार की होती हैं : अर्थ-मूलक व काम-मूलक। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है। गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में आर्थिक विषमताओं के जितने भी रूप सम्भव थे, प्रेमचन्द की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होंने अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है, परन्तु उन्होंने अर्थवैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रंथि नहीं बनने दिया। वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है। उनके पात्र आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हैं परन्तु वे बहिर्मुखी संघर्ष द्वारा उन पर विजय प्राप्त करने का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रयत्न करते हैं, मानसिक कुण्ठाओं के शिकार बनकर नहीं रह जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके स्रष्टा का दृष्टिकोण विवेक-प्रधान है। वे अनुपात-ज्ञान कभी नहीं खोते; समस्या का समाधान उसे समझ-सुलझाकर उसके मूल कारणों को दूर करने से होगा, उनके द्वारा अभिभूत हो जाने से नहीं। यह सुस्थिर विवेक और उसका आश्रयी अनुपात-ज्ञान प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विशेष गुण है, वह किसी भी परिस्थिति में उनका साथ नहीं छोड़ता; और इसी कारण प्रेमचन्द में अतिवाद नहीं मिलता। गांधी-दर्शन में आस्था रखते हुए भी उन्होंने कहीं भी उसके प्रति अनावश्यक, विवेकहीन उत्साह नहीं दिखाया है। गांधी-दर्शन के अहिंसा-सम्बन्धी अतिवादों को प्रेमचन्द ने सदैव अपनी यथार्थ दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धान्तों द्वारा। उधर किसानों और मज़दूरों के प्रति उनके हृदय में अगाध सहानुभूति है, वास्तव में शोषित-वर्ग का इतना बड़ा हिमायती हिंदी में दूसरा नहीं है। परन्तु ज़मींदारों और पूंजीपतियों के प्रति भी यह कलाकार अपना संतुलन नहीं खो बैठा—उनके दोषों पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह उनके गुणों को सर्वथा नहीं भुला बैठा। किसानों और मज़दूरों में अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वों के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में किया है; परन्तु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया है, अभावात्मक रूप को नहीं। कहीं भी उन्होंने ज़मींदारों और किसानों के प्रति घृणा एवं प्रतिशोध के भाव को उभारना न्याय्य नहीं समझा। दूसरे शब्दों में वर्ग-संघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होंने कहीं भी स्वतन्त्र महत्त्व नहीं दिया। संघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है। असत को परास्त कर सत् की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना जीवन का ध्येय है, परन्तु वर्ग-संघर्ष को—मानव के प्रति मानव के संघर्ष को—एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रंगों में चित्रित करना और फिर सम्पूर्ण जीवन को उसी रंग में रँगकर देखना एक घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचन्द ने सदा ही सतर्कता से बचाया है। उनके विवेक ने एकांगिता और प्रतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

जीवन की काम-मूलक ग्रंथियां कहीं अधिक विषम और सूक्ष्म-गहन होती हैं। फ्रॉयड के सिद्धान्त को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रंथियों का आधार काम है। साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूं विश्व-साहित्य का बृहदंश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संवर्धन प्राप्त करता है। आज के जीवन में और साहित्य में तो इसका योग और भी अधिक है। स्वदेश-विदेश का साहित्यकार—कवि, नाटककार और सबसे अधिक उपन्यासकार इन काममूलक मनोग्रंथियों से ही मुख्यतः उलझा है। भारत के उपन्यास-सम्राट् शरत्चन्द तो एक प्रकार से इनसे अभिभूत थे। हिंदी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल के उपन्यास भी काम-लिप्त हैं। प्रेमचन्द ने इस विषय में अद्भुत स्वास्थ्य का परिचय दिया है। इस क्षेत्र में उनके उपन्यासों में महाकाव्योचित दृष्टि-विस्तार मिलता है। महाकाव्यों में शृंगार, वीर आदि सभी प्रमुख वृत्तियों का यथोचित समावेश होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य सदैव जीवन-धर्म ही होता है। उनमें शृंगार की महत्त्व-स्वीकृति निःसंदेह होती है, परन्तु वह कहीं भी अपने में स्वतन्त्र होकर प्रतिपाद्य नहीं बन जाता। काम जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है परन्तु वह समग्र जीवन नहीं है; और न जीवन का साध्य ही। अतएव जीवनार्थी के लिए उसमें आवश्यकता से अधिक अनुरक्ति रखना श्रेयस्कर नहीं है। ठीक इसी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तरह जिस तरह कि उसके प्रति अनावश्यक विरक्ति और दमन का अभ्यास करना। जीवन-स्वास्थ्य का यही लक्षण है, और यह प्रेमचन्द में स्पष्ट रूप से मिलता है। प्रेमचन्द ने भी जीवन-धर्म को ही अपने उपन्यासों का प्रतिपाद्य बनाया है। काम का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया, परन्तु उसको प्रतिपाद्य का दर्जा कभी नहीं दिया। आरम्भ में उन्होंने अवैध काम-सम्बन्धों को प्रायः बचाया है, परन्तु बाद के उपन्यासों में इनको भी सहज रूप में अंकित कर दिया है। सामाजिक जीवन का एक रूप यह भी है—कुल मिलाकर यह कल्याणकर नहीं है; परन्तु फिर भी इसका अस्तित्व तो है ही। बस इसी रूप में प्रेमचन्द ने इसका अंकन किया है—उसमें कहीं भी रस नहीं लिया। उनकी अपनी जीवन-घटना, जिसका उन्होंने श्रीमती शिवरानी जी से अन्तिम क्षणों में उल्लेख किया था, इसकी साक्षी है। स्वस्थ-साधारण जीवन के लिए कामोपभोग आवश्यक है, परन्तु वह जीवन का उद्देश्य किसी भी रूप में—और किसी भी दशा में नहीं हो सकता; व्यक्ति को उसमें खो नहीं जाना चाहिए। ऐसा करने पर जीवन का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण यही था।

उपयोगितावाद श्रौर नीतिवाद

साधारण नॉर्मल व्यक्ति निसर्गतः उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है, और प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में ये दोनों विशेषताएं अत्यन्त मुखर हैं। दृष्टिकोण का सन्तुलन विचार-स्वातन्त्र्य और मानसिक स्वातन्त्र्य के प्रतिकूल पड़ता है, क्योंकि सन्तुलित दृष्टिकोण जीवन का एक विशेष स्तर निश्चित कर उससे अपने को बाँध लेता है। वह हानि-लाभ के मान स्थिर कर लेता है और उन्हीं के अनुसार जीवन-यापन करता है। यही हानि-लाभ-गणना जीवन की प्रत्येक वस्तु के विषय में उसकी स्वीकृति और अस्वीकृति का आधार बन जाती है। स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र में हानि-लाभ की यह भावना सर्वथा भौतिक और तुच्छ हो जाती है, परन्तु जीवन के व्यापक और उच्च स्तर पर यह नीतिवाद का रूप धारण कर लेती है। स्वार्थी व्यक्ति जहां अपने तुच्छ और तात्कालिक हानि-लाभ की गणना में उलझा रहता है, वहां मनीषी व्यक्ति जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर व्यापक और स्थायी हानि-लाभ की चिन्ता में रत रहता है। पहले दृष्टिकोण के लिए पारिभाषिक शब्द भूतवाद है और दूसरे के लिए नीतिवाद। उपयोगिता का आधार है हानि-लाभ-विचार, और नीतिवाद का आधार है उचित-अनुचित अथवा शिव-अशिव-विचार। हानि-लाभ जब एक का क्षणिक हानि-लाभ न रहकर अनेक का स्थायी हानि-लाभ हो जाता है तो उसे ही शिव-अशिव की संज्ञा दे दी जाती है और उपयोगितावाद नीतिवाद का रूप धारण कर लेता है। प्रेमचन्द का उपयोगितावाद इसी प्रकार का था। उसका मूल आधार था अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का अधिक-से-अधिक हित। प्रेमचन्द के साहित्य पर सर्वत्र शिव का शासन है—सत्य और सुन्दर शिव के अनुचर होकर आते हैं। उनकी कला स्वीकृत रूप में जीवन के लिए थी और जीवन का अर्थ भी उनके लिए वर्तमान सामाजिक जीवन ही था। अतीत और आगत की रंगीन कल्पनाओं के लोभ में वे कभी नहीं पड़े। कला उनके लिए जीवन का एक प्रत्यक्ष साधन थी और उसका उपयोग उन्होंने व्यक्त रूप से निर्भ्रान्त होकर किया। कला की स्वतन्त्रता की कल्पना वे स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। केवल मनोरंजिनी कला को वे मदारियों और भाँड़ों का खेल समझते थे। आनन्द की उनके लिए कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी; वह सामाजिक जीवन के मूल्यों से अनुशासित हित का ही एक अंग था। जो आनन्द सार्वजनिक हित में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

योग नहीं देता वह क्षणिक उत्तेजना-मात्र है, उसका कोई मूल्य नहीं। यही बात वे सौन्दर्य और सत्य (ज्ञान-विज्ञान) के लिए भी कहते थे। सुनते हैं प्राचीन वास्तुकला की इमारतों को देखकर वे कहा करते थे कि ये सब कला के नाम पर यों ही व्यर्थ पड़ी हुई हैं, इनका सार्वजनिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

जीवन-दर्शन

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व है मानववाद। इस मानववाद का धरातल सर्वथा भौतिक है। दूसरे शब्दों में यह मानववाद सर्वथा व्यावहारिक है। प्रेमचन्द की सहानुभूति व्यावहारिक उपयोगिता की सीमा से आगे नहीं बढ़ती; या यों कहिये कि इस सीमा से आगे बढ़ना प्रेमचन्द उचित नहीं समझते। भौतिक धरातल के नीचे जाकर आत्मा की अखंडता तक पहुँचने की उन्होंने जरूरत नहीं समझी—इसके अतिरिक्त यह उनके स्वभाव की सीमा भी थी। वहां तक उनकी गति भी नहीं थी। अतएव उनका मानववाद एकान्त नैतिक है—उनकी सहानुभूति पर हिताहित-विचार अथवा शिवाशिव-विचार का नियंत्रण है। वे नैतिक मर्यादाओं की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का—जो सत्-असत् से परे है—शास्त्रीय शब्दावली में मानव की उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं। इसलिए प्रेमचन्द का मानववाद सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ पाया। वास्तव में अपने अन्तिम रूप में मानववाद एक आध्यात्मिक दर्शन है और आत्मा की अखंडता का साक्षात्कार किये बिना मानववाद की प्रतिष्ठा संभव नहीं है। प्रेमचन्द स्वभाव से विचारक और कर्मठ थे, द्रष्टा नहीं थे। उनकी चेतना का धरातल व्यावहारिक ही रहा, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक नहीं हो सका। उन्होंने इसमें विश्वास भी कभी नहीं किया क्योंकि अपने ध्येय के लिए उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। उन्होंने तो अपने युग-जीवन का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अध्ययन किया और उसी दृष्टि से उसके समाधान की भी खोज की। इसीलिए उनको मानववाद का व्यावहारिक रूप जनवाद ही स्वीकार्य हुआ। जनवाद के दो रूप हैं: एक दक्षिण पक्ष का जनवाद, जो जागरण-सुधारमूलक है, दूसरा वाम पक्ष का जनवाद, जो क्रान्तिमूलक है। अपने युग-धर्म के अनुकूल, युगपुरुष गांधी के प्रभाव में, प्रेमचन्द ने जागरण-सुधार-मूलक जनवाद को ही ग्रहण किया। गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को वे नहीं अपना सके।

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचन्द के संबंध में आदर्श और यथार्थ विषयक भ्रान्ति प्रायः पायी जाती है। प्रेमचन्द से पूर्व हिंदी में जिन उपन्यासों का प्रचार था उनमें अद्भुत और काल्पनिक का साम्राज्य था। उस समय हिंदी-पाठकों के लिए उपन्यास का अर्थ था चित्र-विचित्र घटनाओं, दृश्यों एवं पात्रों का संकलन, जिनका इस लोक से नहीं कल्पना-लोक से संबंध था। प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें अपने नित्यप्रति का जीवन, अपने पास-पड़ोस के लोग, अपनी व्यावहारिक समस्याएं मिलीं। निदान उन्होंने इन उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास कहना आरम्भ कर दिया। परन्तु जब इनका गम्भीर अध्ययन होने लगा तो यह तुरन्त ही स्पष्ट हो गया कि ये उपन्यास सभी निर्भ्रान्त रूप से किसी-न-किसी आदर्श को लेकर चलते हैं। इनकी घटनाएं नैतिक और यथार्थ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है।

इसी प्रकार उनके पात्रों के व्यक्तित्व-विकास में भी प्रकृति की मनमानी नहीं चलती, वरन् कलाकार का ही आदर्श काम करता है। वास्तव में प्रेमचन्द-जैसा सुधारवादी उपन्यास-कार आदर्शवादी न होता तो क्या होता ? उनका जीवन-दर्शन, उनका नीतिवाद और उप-योगितावाद एक उत्कट आदर्शवाद के उपकरण-मात्र हैं। परन्तु अब यथार्थ का प्रश्न उठता है। इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द की कथाएं नित्यप्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं। अर्थात् उनकी समस्याएं इलाचन्द्र जोशी अथवा मार्क्सवादी उप-न्यासकारों की भाँति सैद्धान्तिक अथवा प्रतिज्ञात्मक (Hypothetical) नहीं हैं। वे सर्वथा व्यावहारिक एवं यथार्थ हैं। इसी प्रकार उनके पात्र और घटनाओं तथा वातावरण सभी में यथार्थता है। ऐसी स्थिति में उन्हें क्या समझा जाय ? यहीं उलझन पैदा हो जाती है। परन्तु वास्तव में यह उलझन भ्रांति-मात्र है और इसका कारण यह है कि यथार्थ और आदर्श के विषय में ही लोगों को भ्रांति है। यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है जिसमें कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासम्भव तटस्थ रखते हुए वस्तु को, जैसी वह है वैसी ही देखता है और चित्रित करता है—अर्थात् यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। इसके विपरीत दो दृष्टिकोण हैं : एक रोमानी, दूसरा आदर्शवादी। कलाकार जब वस्तु पर अपने भाव और कल्पना का आरोप कर देता है और उसको अपने स्वप्नों के रंगीन आवरण में लपेटकर देखता है और चित्रित करता है, तो उसका दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है। इसी प्रकार जब वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है और उसे अपने आदर्श के अनुकूल गढ़ता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है। प्रायः ये दोनों दृष्टिकोण——रोमानी और आदर्श-वादी—सम्मिलित ही रहते हैं। परन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है कि रोमानी धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा सम्भव है। इसके विपरीत रोमानी दृष्टिकोण के लिए भी आदर्श-वाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि भाव और कल्पना का प्राचुर्य होते हुए भी उसमें किसी नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा आवश्यक नहीं है। यह कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि उसे व्यवहार-जगत् प्रिय है या कल्पना-जगत्। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व, जैसा मैंने कहा, साधारण एवं व्यावहारिक था। साथ ही उनके जीवन-आदर्श भी सर्वथा प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित थे। अतएव उन्होंने व्यावहारिक धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है।——सारांश यह है कि आदर्श-वाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है। वह कल्पना-विलासी और स्वप्न-द्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार जगत् की समस्याओं के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है : वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है, व्यावहारिक आदर्शवाद है। परन्तु यथार्थ नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो। हां, यथार्थ उनकी शैली का अंग अवश्य है, उनके वर्णन अत्यन्त यथार्थ होते हैं, उनमें कल्पना के रूपरंग न होकर वस्तु का यथातथ्य चित्रण रहता है। परन्तु दृष्टिकोण का निर्णय तो वर्णन की शैली से न होकर उसके लक्ष्य से करना चाहिए। इसीलिए शैलीगत यथार्थ उनके आदर्शवाद के प्रतिकूल नहीं पड़ता, उसका अंग ही बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहां तक मैंने तटस्थ रूप से, अपने वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य को पृथक् रखते हुए, प्रेमचन्द का महत्त्वांकन करने का प्रयत्न किया है। मैं स्वीकार करता हूं कि जीवन के प्रति व्यक्तिगत कुण्ठाओं से मुक्त स्वस्थ दृष्टिकोण एक बड़ा गुण है––विशेषकर आज के कुण्ठाग्रस्त जीवन में। अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक जीवन का इतिहास प्रस्तुत कर सकना भी साधारण बात नहीं है। उधर अपनी कला का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करते हुए नैतिक सदादर्शों की प्रतिष्ठा करना भी कलाकार का कर्तव्य है। और अंत में, इतना व्यापक दृष्टिकोण भी एक असाधारण विशेषता है। परन्तु फिर भी मेरा मन प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं है। और इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द में कुछ ऐसे गुणों का अभाव है जो इनसे महत्तर हैं और जीवन और साहित्य में जिनका महत्त्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

प्रतिभा के अनेक अंग हैं : तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता और व्यापकता। इनमें से प्रेमचन्द के पास केवल व्यापकता ही थी—शेष तीन गुण अपर्याप्त मात्रा में थे। वास्तव में नॉर्मल व्यक्तित्व की यह सहज सीमा है कि व्यापकता की तो उसके साथ संगति बैठ जाती है परन्तु तेजस्विता, गहनता और तीव्रता अथवा बौद्धिक सघनता एवं दृढ़ता के लिए उसमें स्थान नहीं होता।

तेजस्विता प्रतिभा का स्पष्टतम रूप है। यह गुण गहन आन्तरिक संघर्ष की अपेक्षा करता है। अन्तर्द्वन्द्व की रगड़ खाकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व में तेज आता है—उसकी चेतना-शक्ति अत्यन्त प्रखर हो जाती है और उसकी अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। परन्तु प्रेमचन्द की साधारणता में इसके लिए अधिक स्थान नहीं है। व्यावहारिक व्यक्ति को सतर्क होकर इसको दबाना होता है क्योंकि व्यवहार-जगत् में तीव्र अनुभूतियां या प्रखर चेतना बाधक होती हैं। प्रेमचन्द के साहित्य में इस प्रकार की घटनाएं तथा पात्र अत्यन्त विरल हैं जो पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन में प्रखर चेतना उद्बुद्ध कर सकें। तीव्र अन्तर्द्वन्द्व के इसी अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों में नहीं उतरते––उतर भी नहीं सकते। आत्मा की पीड़ा, जो जीवन और साहित्य में गम्भीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल प्रेरणा कभी नहीं बन पायी। वह उनके जीवन-दर्शन के लिए अप्रासंगिक थी। उन्होंने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे डाला है। परन्तु जीवन में तो इनसे गहनतर समस्याएं भी हैं : अन्तर्जगत् की समस्याएं— जिन्हें प्रेमचन्द की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया। उनमें किसान-ज़मींदार, मज़दूर-पूंजीपति, छूत-अछूत, शिक्षा-अशिक्षा आदि बाह्य-जगत् के द्वन्द्वों का जितना विस्तृत और सफल वर्णन है उतना श्रेय और प्रेय, विवेक और प्रवृत्ति, श्रद्धा और क्रान्ति, कर्तव्य और लालसा आदि अंतर्जगत् के द्वन्द्वों का नहीं। यह बात नहीं कि ये प्रसंग आते ही नहीं। प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों और कहानियों में ये प्रसंग आये हैं क्योंकि बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का पूर्णतः पृथक्करण सम्भव नहीं। वे एक-दूसरे से लिपटे हुए हैं। परन्तु प्रेमचन्द ने उनको वांछित महत्त्व नहीं दिया। पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं को उन्होंने जितना महत्त्व दिया था उतना महत्त्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं दिया। प्रेमचन्द उस युग की आध्यात्मिक क्लान्ति का सजीव चित्र नहीं दे पाये जिसने कि उसकी आत्मा को खोखला कर दिया था—जबकि पुराने विश्वास निर्जीव पड़ गये थे, नये विश्वासों में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पायी थी, और भारत की आत्मा निराधार-सी होकर कभी पीछे की ओर, कभी आगे की ओर दौड़ती

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

थी। उन्होंने इस संघर्ष के बाह्य रूप को ही ग्रहण किया, शायद वहीं तक उनकी पहुँच थी। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द की दृष्टि सामयिक समस्याओं तक ही सीमित रही है, जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े ही हल्के हाथों से छुआ है या छुआ ही नहीं है। कोई भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान् नहीं हो सकता। परन्तु प्रेमचन्द का विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता। चिन्तन और गम्भीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इसीलिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है और उनके उपन्यासों के विवेचन आदि में एक प्रकार का पोलापन मिलता है। विचारों की सघनता, जो गहन दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से आती है, उनमें नहीं है। यों तो विभिन्न समस्याओं का विवेचन करते समय अपने मत के प्रचार में उन्होंने पृष्ठ-के-पृष्ठ लिख डाले हैं, परन्तु उनका बौद्धिक तत्त्व साधारण विवेक-सम्मत तर्कवाद पर आश्रित होने के कारण काफ़ी हल्का होता है, और पाठक के विचार पर उसका कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए प्रसाद के 'कंकाल' को लीजिए। उपन्यास-कला की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास उससे कहीं उत्कृष्ट हैं परन्तु 'कंकाल' का बुद्धिपक्ष निश्चित ही अधिक समृद्ध है। प्रसाद के विवेचन जहां दार्शनिक चिंतन पर आश्रित हैं, वहां प्रेमचन्द के विवेचन नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर। व्यावहारिक व्यक्ति जिस प्रकार बाल की खाल निकालना पसन्द नहीं करता, काम से काम रखता है, इसी प्रकार प्रेमचन्द भी किसी प्रश्न के तल तक जाने का प्रयत्न नहीं करते। निदान उनमें सूक्ष्म चिंतन और विश्लेषण का भी प्रायः अभाव है।

वास्तव में ये साधारण व्यक्तित्व के सहज अभाव हैं। साधारण व्यक्तित्व कुल मिला कर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है। महान् होने के लिए असाधारणता अपेक्षित है क्योंकि प्रतिभा भी तो असाधारण, लोकोत्तर शक्ति का नाम है। जीवन की असाधारणताओं का अनुभव कर साधारणत्व की प्राप्ति करना एक बात है, और असाधारणताओं को बचाकर लीक पर चलते रहना दूसरी। पहला लोकोत्तर प्रतिभावान् महान् व्यक्तित्व का काम है, दूसरा साधारण व्यावहारिक व्यक्ति का। प्रेमचन्द पहली श्रेणी में नहीं आते।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वाणी के न्याय-मन्दिर में

स्थान

काव्य-लोक जिसका प्रचलित नाम ब्रह्मलोक भी है।

पात्र

ज्ञानशंकर	प्रेमाश्रम का नायक	वादी
प्रेमचन्द	प्रेमाश्रम के रचयिता	प्रतिवादी
मनोहर	प्रेमाश्रम का पात्र	
भगवती वीणापाणि	काव्य-लोक की अधिष्ठात्री—न्यायालय की अध्यक्षा	

न्याय-मन्त्री, महाप्रतिहार आदि।

रंग-संकेत

[काव्य-लोक में विचार-सभा का मण्डप, प्राचीन भारतीय शैली का बना हुआ। मण्डप के मध्य में एक रत्न-जटित मराल सिंहासन जिस पर शुभ्रवसना भगवती वीणापाणि विराजमान हैं। वीणापाणि चिर-यौवना सुन्दरी हैं। उनका मुखमण्डल प्रशान्त आनन्द से दीप्त है और अंगों में जैसे काव्य का रस घनीभूत हो गया है।

उनसे कुछ ही हटकर वाम पार्श्व में काव्य-लोक के न्यायमन्त्री की स्वर्ण-आसन्दो है। न्यायमन्त्री परिपक्व अवस्था के व्यक्ति हैं। उनकी रस-स्निग्ध दृष्टि में बुद्धि का आलोक है।

उनसे लगभग पाँच हाथ की दूरी पर दो चाँदी की आसंदियां पड़ी हुई हैं। एक पर मूँछों में हँसते हुए उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द विराजमान हैं, दूसरी पर मुद्रा में क्रोध लिए हुए ज्ञानशंकर।

सभा-मण्डप में चारों ओर आसन्दियों की पंक्तियां सजी हुई हैं, जिन पर असंख्य दर्शक-समाज बैठा हुआ निर्निमेष नेत्रों से इस अद्भुत विचार-दृश्य को देख रहा है।]

कुमारामात्य— राज-राजेश्वरी भगवती वीणापाणि की जय हो! कल्याणी के विचारालय में मर्त्यलोक-निवासी ज्ञानशंकर ने श्री श्री परमादरणीय महाप्रतिभ पूत-दृष्टि उपन्यास-महारथी श्री प्रेमचन्द के विरुद्ध कतिपय गम्भीर अभियोग उपस्थित किये हैं। आज उन्हीं पर विचार करने का दिन है। आज्ञा हो तो वादी ज्ञानशंकर को श्रीचरणों में स्वयं प्रार्थना करने का अवसर दिया जाए।

वीणापाणि—वादी अपना अभियोग उपस्थित करे।

ज्ञानशंकर—राजेश्वरी परमपट्ट-महिषी भगवती वीणापाणि की जय हो! भगवती, मैं श्री प्रेमचन्द का भाव-जात हूं। इसके लिए मुझे उनका कृतज्ञ होना चाहिए, परन्तु उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो जन्म से ही मेरे विरुद्ध अत्याचार, अन्याय और पक्षपात किया है, उसके कारण मैं जीवन-भर अनेक यातनाओं का—निंदा, पातक और असफलताओं का भागी रहा। उन्होंने मेरे स्त्री, पुत्र, भाई, प्रजा सभी को मेरे विरुद्ध प्रोत्साहित किया और अन्त में मुझे आत्महत्या जैसे महाभिशाप को भोगने के लिए बाध्य किया। अब मैं अपने अभियोगों को क्रमानुसार उपस्थित करता हूं।

उपन्यास-सम्राट् का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे यथार्थवादी कलाकार होने का दम्भ करते हुए भी भयंकर आदर्शवादी—अथवा यों कहें कि आदर्शभीरु—हैं। विश्व के अन्य महान् स्रष्टाओं की भाँति उनका जीवन के तथ्य पर अधिकार नहीं है, वे तथ्य-दर्शन को पूरी तरह नहीं समझते। तभी तो वे सम्पूर्ण जीवन के साथ, उसकी समस्त विषमताओं के साथ समझौता करने में असमर्थ रहे हैं; इसी कारण उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी अतएव एकांगी है। वे स्पष्ट रूप से एक ऐसे आदर्श विधान में अन्ध आस्था रखते हैं जो पूर्णतः अव्यावहारिक और असंगत है—राजनीति के क्षेत्र में तो कम-से-कम जिसकी विफलता आज प्रत्यक्षतः सिद्ध हो चुकी है।

एक काल्पनिक स्वप्नदर्शी विधान के पीछे प्रेमचन्दजी पग-पग पर कला का तिरस्कार करते हैं, वे बार-बार कलाकार के उच्च गौरव को भूलकर प्रचार के निम्न धरातल पर उतर आते हैं और एक सामान्य मंचवीर की तरह प्रॉपैगैण्डा करने लगते हैं। उन्होंने 'प्रेमाश्रम' में एक ऐसी कठपुतली की सृष्टि की है जो सोलहों आने उनके इशारों पर नाचे। यह कठपुतली है प्रेमशंकर, जो गांधीवादी आदर्श—त्याग और अहिंसा का निर्जीव प्रतीक-मात्र है। इस व्यक्ति से उपन्यास-कार को इतना मोह है कि उसके चरित्र को उज्ज्वल रूप में उपस्थित करने के लिए ही उन्होंने मेरे व्यक्तित्व को काले रंग से भर दिया है। उन्होंने मुझ-जैसे शक्तिशाली व्यक्तित्व का वैषम्य के लिए ही उपयोग किया है। मेरे चरित्र की श्यामता प्रेमशंकर के व्यक्तित्व को उज्ज्वलतर रूप में प्रस्तुत करे, यही मानो मेरा उपयोग है। इतना ही नहीं, उन्होंने नायक के गौरव को भी मुझसे छीनने का प्रयत्न किया है। प्रेमाश्रम का कथा-विकास साक्षी है कि उसके सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र को मेरा ही महान् व्यक्तित्व आच्छादित किए हुए है। मैं ही उसकी प्रमुख घटनाओं का सूत्रधार हूं। परन्तु अन्त में जाकर साफ़तौर से उपन्यासकार की नीयत बिगड़ गयी है और बीच में ही मेरा गला घोंटकर उसने प्रेमशंकर-जैसे दुर्बल व्यक्ति को नायक पद पर आसीन कर दिया है। उपन्यासकार मेरे प्रति इस निराधार द्वेष का दोषी है।

मेरा दूसरा अभियोग, जो किसी अंश तक पहले अभियोग से ही सम्बद्ध है, यह है कि उपन्यासकार नीतिवादी है। वह स्थूल नीति-विधान में इतना अधिक विश्वास करता है कि मानव-चरित्र को समझने में भूल कर जाता है। साथ ही उसकी नीति भी आज पुरानी पड़ गयी है। देश-काल के अनुकूल उसमें शक्ति नहीं है। वह आज भी कर्म के सत्-असत् होने की कसौटी उसके परिणाम को न मानकर हिंसा-अहिंसा को मानता है। आत्मार्थ आज भी उसकी दृष्टि में भयंकर पाप है, आज भी वह सारे समाज को त्याग और तपस्या का पाठ पढ़ाने का साहस करता है। इसका परिणाम यह है कि वह फूंक-फूंककर पैर रखने वाले नीतिवादियों को ही गौरव का भागी समझता है; मुझ-जैसे जीवट के आदमी के चरित्रबल को समझने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। अतएव उसने अपनी दुर्बलताओं को छिपाने के लिए मेरा पग-पग पर अपमान किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मेरा तीसरा अभियोग यह है कि कलाकार के उच्चासन के लोभी ये महाशय मनोविज्ञान के इस युग में भी काव्य-न्याय में विश्वास करते मालूम पड़ते हैं; परन्तु न्याय की भी इनकी परिभाषा अत्यन्त संकुचित और एकांगी है। इनको अपने विचारों के प्रति अनुचित पक्षपात है। ये इतने असहिष्णु हैं कि यदि कोई व्यक्ति इनसे सहमत नहीं है तो वह निश्चय ही उनकी दृष्टि में घोर पापी और इस कारण दण्डनीय बन जाता है। इसीलिए जिस किसी को भी ये अपने सिद्धान्तों के अनुकूल बनाने में असमर्थ रहते हैं, उसी पर इनके न्यायदण्ड का निर्मम प्रहार होता है। अपने जीवनादर्श महात्मा गांधी की भाँति ये भी पुतलियों से खेलना चाहते हैं और स्वतन्त्र विचारशील सबल व्यक्तित्वों को सहन नहीं कर सकते। उपन्यास के सभी व्यक्तियों को इन्होंने उचित या अनुचित ढंग से अपनी नीति को मानने के लिए विवश किया है। मेरा और मनोहर का यही अपराध था कि हमने उनकी इस क्लीव नीति का विरोध किया। बस, इसीलिए हमको कठिन दण्ड भोगना पड़ा।

मेरा चौथा अभियोग यह है कि श्री प्रेमचन्द महोदय ने द्वेष से अंधे होकर मेरे चरित्रांकन में जिस शैली का अनुकरण किया है वह जितनी अनुचित है उतनी ही अस्वाभाविक भी। उनका उद्देश्य यही रहा है कि स्वाभाविक या अस्वाभाविक रीति से मुझको नीचा दिखाया जाए। इसके लिए वे बार-बार मेरे चरित्र की कालिमा को खूब गहरे रंग में लोगों के सम्मुख रखते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता कि इस प्रकार वे प्रायः परस्पर-विरोधी बातें कह रहे हैं। इसीलिए मेरे चरित्र-चित्रण में विरोधी तत्त्वों का अस्वाभाविक मिश्रण है। कारण यह है कि गांधीवादी होने के कारण प्रेमचन्दजी मानवात्मा की एकान्त पवित्रता पर विश्वास करते हैं, दूसरी ओर सिद्धान्त में मतभेद होने के कारण स्वयं उनका ही हृदय मेरे प्रति निर्मल नहीं है। उनको मेरे व्यक्तित्व से घृणा है, इसीलिए सिद्धान्त की झोंक में बार-बार मेरे चरित्र का शुभ्र पहलू दिखाने का प्रयत्न करते हुए भी उनकी लेखनी हृदय की प्रेरणा से तुरन्त उनके अपने कलुष को ही चित्रित कर उठती है। लेखक ने कहीं भी मेरे हृदय की कोमल वृत्तियों को उभरने नहीं दिया। इतना ही नहीं, वे सदैव मेरे प्रयत्नों के साथ खिलवाड़ भी करते रहे हैं। सफलता को उन्होंने मेरे जीवन की मृगतृष्णा बना दिया है। मैं अपने चरित्र और बुद्धिबल के सहारे जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त करता हूं, परन्तु दुर्दैव की भाँति पीछे पड़ा हुआ यह मेरा भाग्य-विधाता होंठों के छूते-छूते ही प्याला छीनकर फेंक देता है। मुझको विफल करने की धुन में वह प्रायः यह भी भूल जाता है कि ऐसा स्वाभाविक भी है या नहीं—परिस्थितियों की गति उसके अनुकूल भी है या नहीं, इसकी उपन्यास-सम्राट् को चिन्ता ही नहीं रहती।

मेरा अन्तिम और सब से बड़ा अभियोग यह है कि इन्होंने मुझे बरबस आत्महत्या के घृणित अभिशाप का भागी बनाया, जो मेरे प्राणवान् व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल है। मेरे हृदय में जीवन के प्रति असीम अनुराग है। जीवन के उपभोग के लिए मेरे मन में सदैव अदम्य उत्साह रहा है। मैंने एक पुरुषार्थी की भाँति जीवन की विषमताओं को पदाक्रान्त किया है। जीवन में एक बार भी मैंने उनके सम्मुख मस्तक नहीं झुकाया। बस, इसीलिए मेरे जन्मदाता ने मुझे ज़ाकर गंगा में डुबो दिया, क्योंकि मैं उनकी इच्छा का दास नहीं बन सका ? अनेक प्रकार के उचित-अनुचित उपायों का अवलम्बन करने के बाद भी जब वे हार गये तो अन्त में उन्होंने मेरे ऊपर अपने उसी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया जो उनका अन्तिम साधन है। जब कभी वे अपने किसी भी भाव-जात को वश में नहीं कर सकते तो वे उसका गला घोंट देते हैं। उन्होंने यह पाप

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सदैव और सर्वत्र किया है। मैं अपने पक्ष में अनेक साक्षियां उपस्थित कर सकता हूं। पर यहां केवल मनोहर की ही साक्षी काफ़ी होगी। मनोहर जीवन-भर मेरा घोर शत्रु रहा। परन्तु वह भी मेरी तरह जीवट का आदमी है, और इसीलिए एक ही दण्ड का समभागी होने के कारण मुझे विश्वास है कि वह मेरे पक्ष का समर्थन करेगा।

इन्हीं अत्याचारों को दृष्टि में रखते हुए मैं अन्त में श्रीयुत प्रेमचन्दजी को अन्याय, पक्षपात, मानहानि और हत्या का अपराधी ठहराता हूं और न्याय, मानवता एवं कला के नाम पर हंस-वाहिनी जगदम्बा वीणापाणि के चरणों में प्रार्थना करता हूं कि मेरे साथ नीर-क्षीर न्याय का पालन करते हुए इन स्वयं-भू उपन्यास-सम्राट् को स्रष्टा-कलाकारों के इस पुनीत लोक से निर्वासित कर मंचवीर प्रचारकों और उपदेशकों की अधोभूमि में भेज दिया जाए, जिससे मेरे रक्त के बदले में इनका जरा-मरण के भय से मुक्त यशःशरीर एकदम नष्ट हो जाए।

× × ×

भगवती वीणापाणि— महाप्रतिहार को आदेश होता है कि वह मनोहर को साक्षी-रूप में उपस्थित करे।

[महाप्रतिहार मस्तक झुकाये नम्रतापूर्वक बाहर जाता है और मनोहर के पीछे-पीछे उसी विनीत, गम्भीर मुद्रा में उपस्थित होता है।]

मनोहर—माता सारदा की जय हो।

वीणापाणि—मनोहर ! तुम्हारा वादी ज्ञानशंकर और प्रतिवादी श्रीयुत प्रेमचन्द से परिचय है ?

मनोहर—हां, भगवती ! एक मेरे मालिक, दूसरे मेरे जन्मदाता हैं।

वीणापाणि—शपथ करो कि ब्रह्मलोक के इस न्यायालय को एक भी असत्य शब्द से कलुषित न करोगे।

मनोहर—मां, मैं मानवता की सौगन्ध खाकर कहता हूं कि भगवती के सामने मुँह से एक बात भी झूठ नहीं निकालूंगा।

वीणापाणि—अच्छा तुम वादी और प्रतिवादी के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में क्या जानते हो ?

मनोहर—भगवती, मेरी ही तरह वादी के प्रतिवादी ही जन्मदाता हैं। ज़िन्दगी-भर मैंने बाबू ज्ञानशंकर से लड़ाई लड़ी, पर मैं इस बात के लिए सचाई का गला कैसे घोंटूँ ! मैंने उनकी नीति का विरोध किया, पर उनके पुरसारथ का मैं हमेशा कायल रहा। उन जैसा आदमी मैंने ज़िन्दगी-भर में दूसरा नहीं देखा—जन्म-भर वे विपदाओं से लड़ते रहे। मुन्सीजी ने आगे पीछे से उन पर वार किये, पर वह मेरा सेर अपनी ही धुन में मस्त रहा।

वीणापाणि—तुम्हें भी प्रतिवादी के विरोध में कोई अभियोग उपस्थित करना है ?

मनोहर—कैसे बताऊं मां, सरम लगती है। अपने माई-बाप के खिलाफ कैसे ज़बान खोलूं, पर सच्ची बात कहने की तो सौगन्ध खा चुका हूं—तुमसे क्या छिपाऊं ? मुन्सीजी को जीवट के आदमियों से कुछ बैर है। वे चाहते हैं कि हरएक आदमी उनकी तरह दब्बू बना रहे। मैं जब तक उनकी बात मानता रहा, वे मुझसे खुश रहे। पर जब मैं महरिया की बेइज्जती देख आपे से बाहर हो गया तो उन्होंने मेरे ही हाथों से जेल में मेरा गला घुटवा दिया।

वीणापाणि—प्रतिवादी के पास इन अभियोगों का क्या उत्तर है ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रेमचन्दजी—कल्याणी की जय हो ! अगर अपराध क्षमा हो तो मैं कचहरी की आम-फ़हम भाषा में अपना इज़हार दूं। मुझे कृत्रिम भाषा बोलने का अभ्यास नहीं है।

वीणापाणि—प्रतिवादी को आज्ञा होती है कि जिस प्रकार की भाषा का चाहे उपयोग करे। परन्तु किसी सांस्कृतिक भाषा को कृत्रिम कहना उस संस्कृति के प्रति अपराध करना है। अतएव पहले उसे न्यायालय से इस अपराध की क्षमा माँगनी चाहिए।

प्रेमचन्दजी—मेरा आशय यह नहीं था। फिर भी मैं अपने लफ़्ज़ों को वापस लेता हूं।

वीणापाणि—प्रतिवादी अपना वक्तव्य प्रारम्भ करे।

प्रेमचन्दजी—कल्याणी ! मेरे खिलाफ़ पाँच इल्ज़ाम लगाये गये हैं। साधारणतः मुझे उनको सुनकर तकलीफ़ होती, लेकिन चूंकि मैं मानव-चरित्र का ज्ञाता हूं, इसलिए बाबू ज्ञान-शंकर की मनोवृत्ति समझने में मुझे कोई मुश्किल नहीं हो रही। ख़ैर, मैं इनका एक-एक करके जवाब देता हूं।

मेरे खिलाफ़ पहला जुर्म यह है कि मैं यथार्थवाद का दम्भ भरते हुए भी आदर्श-भीरु हूं। मेरा तथ्य-दर्शन पर कोई अधिकार नहीं, इसलिए मैं अपनी आदर्श-नीति का प्रोपैगैण्डा करता हूं।

जहां तक मुझे याद है, मैंने कभी नहीं कहा कि मैं यथार्थवादी या आदर्शवादी हूं, और न मेरी निगाह में इन लफ़्ज़ों का कोई विशेष मूल्य है। मेरे पास आँखें और दिमाग़ दोनों हैं—आँखों से मैं जीवन की वास्तविकता को देखता हूं, दिमाग़ से न सिर्फ़ उनके विषय में चिन्तन और मनन ही करता हूं बल्कि उनका समाधान करने का प्रयत्न भी करता हूं। लिहाज़ा मेरे साहित्य में यथार्थ और आदर्श दोनों गले में बाँहें डालकर चलते हैं। मैंने यथार्थ में जो विषमताएं देखीं उन पर विवेकपूर्वक मनन किया, और उनका जो समाधान मुझे मिला वही मेरा आदर्श बन गया। इसलिए मेरा आदर्श यथार्थ की आधारभूमि पर ही खड़ा हुआ है, वह कोरी कल्पना या भावुकता की सृष्टि नहीं है।

जीवन के प्रवाह में आँखें मूँदकर बह जाना कहां की बुद्धिमानी है ! ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि इसलिए दी है कि वह उसका हृदय के साथ-साथ उपयोग करे और जीवन की गुत्थियों को सुलझाता हुआ अपना मार्ग प्रशस्त करे। साहित्य की सार्थकता भी ठीक यही है। मेरा अपना दृष्टिकोण सदैव यही रहा है और मैंने बिना किसी संकोच के अपने साहित्य में इसका तर्जुमा किया है। मैं आधुनिक जीवन की विषमताओं का एकमात्र समाधान त्याग और प्रेम समझता हूं। आज का भौतिक जीवन प्रवृत्ति के अतिचार से तड़प उठा है : उसमें निवृत्ति के लिए गुंजायश नहीं है। इसलिए वह संतुलन खो बैठा है। आज त्याग और प्रेम ही उसे फिर स्थापित कर सकते हैं। प्रेमशंकर के जीवन में यही सन्तुलन पाया जाता है। इसीलिए वह विजयी हुआ है। और ज्ञानशंकर भौतिक सुख की लालसा में अंधे होकर इसी को खो बैठे हैं। इसलिए वे ज़िन्दगी-भर बाज़ी हारते रहे हैं। यह उनकी नादानी है कि वे अपने को प्रेमशंकर से ज़्यादा जीवट का आदमी समझते हैं। जीवन का मोह ही तो पुरुषार्थ नहीं है—उसके लिए संयम और आत्मबल की ज़रूरत है।

दूसरा इल्ज़ाम मेरे ऊपर यह है कि मैं नीतिवादी हूं और मेरी नीति पुरानी पड़ गयी है।

जैसा मैंने अभी अर्ज़ किया, मैं नीति में विश्वास करता हूं—विषमताओं का समाधान नीति ही तो है। लेकिन नीति और रूढ़ि में फ़र्क़ है। नीति जीवन की विषमताओं के समाधान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का ही दूसरा नाम है। इससे ही हमारा जीवन चलता है। हां, उसे रूढ़िबद्ध कर लेना दरअसल भूल है। लेकिन यह सोचना कि समाज का जीवन बिना मॉरल्स के क़ायम रह सकता है, उससे भी बड़ी भूल होगी। मैंने अपनी दृष्टि हमेशा वर्तमान की समस्याओं और उनके समाधान पर ही रखी है। मैंने भारत के स्वर्ण-युग के सपने कभी नहीं देखे, हमेशा वर्तमान की समस्याओं से ही ताक़त आज़माई है। लिहाज़ा मेरी नीति विवेक पर ही अवलम्बित है। और, इसीलिए उसमें न परम्परा की दुहाई है, न धर्मशास्त्रों की।

ज्ञानशंकर की तरह मेरा भी भौतिक जीवन पर अखण्ड विश्वास है। फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि बाबू ज्ञानशंकर आग से आग बुझाना चाहते हैं, मैं पानी के छींटों को काम में लाना चाहता हूं। बस, यही मेरा क़सूर है।

अब तीसरा इल्ज़ाम सुनिये। मुद्दई को शिकायत है कि मैं काव्य-न्याय में विश्वास करता हूं।

इसका जवाब यह है कि जहां तक काव्य-न्याय के स्थूल रूप से सम्बन्ध है, मैं समझता हूं कि ऐसी हिमाक़त मैं कभी नहीं करता। अगर ऐसा होता तो गायत्री की आत्महत्या क्यों होती। लेकिन सूक्ष्म रूप से मेरा यह निश्चित मत है कि सम्पूर्ण विश्व-विधान के पीछे, उसके अणु-अणु में विधाता का न्याय काम कर रहा है। साहित्य जीवन का चित्र है। अतएव इस न्याय की सत्ता साहित्य में भी मान्य होनी चाहिए। न्याय का अर्थ है नियम, और प्रकृति का यह नियम है कि जो जीवनप्रद है वह सत् है क्योंकि जीवन सत् है और जो जीवन का घातक है वह असत् है। इसलिए प्रेम सत् है; हिंसा असत् है। प्रेम स्थायी रहेगा; हिंसा का नाश हो जाएगा। मैं जीवन और साहित्य दोनों में इस न्याय का क़ायल हूं।

आगे मुद्दई कहता है कि मेरे चरित्रांकन में पूर्वापर विरोध है। एक ओर गांधीवादी होने के नाते मैं मानव-हृदय की स्वाभाविक पवित्रता पर एतक़ाद करता हूं, दूसरी ओर ख़ुद मेरा ही दिल मुद्दई की तरफ़ से साफ़ नहीं है। लिहाज़ा मैंने उसकी ख़ूबियों की तरफ़ इशारा करते हुए भी उनको उभरने का मौक़ा नहीं दिया, और न उसे कभी अपने उद्देश्यों में कामयाब ही होने दिया।

मुझे अफ़सोस है कि मुद्दई को अपनी बाबत इतना मुग़ालता है। वह अपनी ख़ामियों को नहीं पहचानता। यह मैं भी मानता हूं कि उसमें ख़ूबियां हैं, लेकिन उसमें स्वार्थ इतना ज़्यादा है कि वह उसकी ख़ूबियों को उभरने का मौक़ा नहीं देता। और, रही कामयाब न होने की बात तो उसके लिए भी बाबू ज्ञानशंकर ख़ुद ही ज़िम्मेवार हैं। उनमें बुद्धि-बल है, पुरुषार्थ है, जीवन के लिए प्रेम है; लेकिन आत्म-बल नहीं है। इसलिए वे मौक़े पर अकसर अपने हाथ से ही अपने पाँव में कुल्हाड़ी मार लेते हैं। राय कमलानन्द के सामने वह एक धमकी में ही सब कुछ उगल बैठे। दरअसल उन-जैसा स्वार्थी आदमी आत्मबल लाएगा कहां से?

आख़िरी इलज़ाम और भी संगीन है। बाबूजी फ़र्माते हैं कि मैंने उनका जबरन गला घोंट दिया। उनको आत्महत्या करने पर मजबूर किया। वे ख़ुद मरना नहीं चाहते थे!

मेरा ख़याल था कि इसके लिए वादी मेरा अहसान मानेगा, लेकिन देखता हूं कि उसने उल्टा मेरे ऊपर दावा कर दिया है। क्या मैं पूछ सकता हूं कि जिस इमारत को उन्होंने इतनी मेहनत से बनाकर खड़ा किया उसको एक पल में ढहते देखकर ख़ुदकुशी के अलावा वे और क्या कर सकते थे? मैं समझता हूं कि उस वक़्त मृत्यु ही उनके लिए वरदान थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बस, मुझे अपनी सफ़ाई में और कुछ अर्ज़ नहीं करना है।

वीणापाणि—न्याय-मन्त्री को आदेश होता है कि वे अभियोग की सार्थकता पर प्रकाश डालें।

न्याय-मन्त्री—भगवती की जय हो ! मैंने अत्यन्त ध्यानपूर्वक वादी और प्रतिवादी की युक्तियों को सुना।

अभियोगों का विश्लेषण करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूं कि यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में उनकी संख्या पाँच है—और एक-एक अभियोग के अन्तर्गत कुछ और छोटे-मोटे अभियोगों की ओर संकेत भी है—परन्तु वास्तव में वे सभी पहले एक अभियोग की ही परिधि में आ जाते हैं। प्रतिवादी के विरुद्ध अभियोग यही है कि उसका तथ्य-दर्शन पर पूर्ण अधिकार नहीं है। वह जीवन के तथ्य को पूर्णतः नहीं समझ सका। वह जीवन के समग्र रूप से—उसकी समस्त विभीषिकाओं के साथ समझौता नहीं कर पाया। इसीलिए वह यथार्थ से सन्तोष न कर सदैव आदर्श की उपासना करता रहा है। यथार्थ से सन्तोष न करना वास्तव में यथार्थ को समझने में त्रुटि करना है। जिसको यथार्थ के रहस्य का अनुभव हो जाता है वह आदर्श की चिन्ता नहीं करता—वह तो जीवन के अन्तिम सत्य को प्राप्त कर लेता है। ऐसा ही तथ्यदर्शी कवि मनीषी कहलाता है। प्रेमचन्द जी जीवन को इतनी गहराई में जाकर नहीं देख सके। वादी का अभियोग इसी बिन्दु पर आकर केन्द्रित होता है। उसने अपने प्रति जिन अत्याचारों का वर्णन किया है वे सभी अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी सर्वथा निराधार नहीं हैं, क्योंकि उसने अपने पहले ही वाक्य में प्रतिवादी के सबसे दुर्बल अंग पर चोट दी है। इसका उत्तर उनके पास कोई नहीं है।

वीणापाणि—उपस्थित सभ्य समाज ! हमने वादी, प्रतिवादी एवं न्यायमन्त्री तीनों के वक्तव्यों पर मनन किया। हम न्यायमन्त्री के इस अभिमत से कि प्रतिवादी के पास पहले और केन्द्रीय अभियोग का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है, पूर्णतया सहमत हैं।

वास्तव में वे जीवन-तथ्य को समग्र रूप में ग्रहण नहीं कर पाये। उन्हें उसकी वास्तविकता से पूर्ण सहयोग नहीं है। वे उसकी विषमताओं को स्वस्थ रूप में ग्रहण करने में असमर्थ हैं। अतएव कहीं-कहीं वे वास्तव में वादी के प्रति अपराध कर बैठे हैं।

निदान हमारा न्याय-विचार हमें बाध्य करता है कि प्रतिवादी को उचित दण्ड दिया जाए। हमारा आदेश है कि आज से श्रीयुत प्रेमचन्दजी स्रष्टा-कलाकारों की प्रथम श्रेणी को छोड़कर द्वितीय श्रेणी में आसन प्राप्त करें।

आज की परिषद् समाप्त की जाती है।

सब उठकर समवेत स्वर में गाते हैं—

जय हो !
जय वीणापाणीऽऽ !
जय शब्दमूर्ति कल्याणीऽऽ !
जय हो !

(पर्दा गिरता है)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

डॉ० श्यामसुन्दरदास की आलोचना-पद्धति

बाबू श्यामसुन्दरदास ने यों तो अनेक आलोचना-ग्रंथ लिखे हैं—परन्तु उनकी आलोचना-पद्धति का विश्लेषण करने के लिए हम 'साहित्यालोचन' के परिवर्द्धित संस्करण और 'हिंदी भाषा और साहित्य' को आधार मानकर चल सकते हैं। 'साहित्यालोचन' में उसके सैद्धान्तिक रूप की चरम परिणति है और 'हिंदी भाषा और साहित्य' में व्यावहारिक रूप की। इस प्रकार इन दोनों ग्रंथों में बाबूजी का आलोचक रूप सम्पूर्ण हो जाता है।

काव्य-सिद्धान्त—बाबूजी के सिद्धान्तों में पूर्व और पश्चिम दोनों ही की स्वीकृति है—कला, साहित्य, कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि का विवेचन सर्वथा पश्चिमीय पद्धति पर है—नाटक, आलोचना और शैली के विवेचन में पश्चिमीय और पूर्वीय दोनों साहित्यशास्त्रों का आधार ग्रहण किया गया है, रस का विवेचन मुख्यतः भारतीय परम्परा के अनुसार है। इससे स्पष्ट है कि पौरस्त्य सिद्धान्तों की अपेक्षा बाबूजी पर पाश्चात्य सिद्धान्तों का प्रभाव कहीं अधिक है, इसीलिए उन्होंने निर्विवाद ही कविता को कला मान लिया है। कला में कविता का अन्तर्भाव सर्वथा पश्चिमीय सिद्धान्त है—जिसका सूत्रपात जर्मन दार्शनिक हीगेल ने किया था। भारतीय साहित्यशास्त्र काव्य को कला से सर्वथा पृथक् रखकर देखता आया है। कला का स्थान हमारे यहां काव्य की अपेक्षा अत्यन्त निम्न रहा है—काव्य का सम्बन्ध जहां अभौतिक रसचेतना से है, वहां कला का सम्बन्ध भौतिक जीवन-विलास से है। इसीलिए एक को जहां ब्रह्मानन्द-सहोदर की पदवी दी गयी है, वहां दूसरे को नागरिक जीवन का शृंगार-मात्र माना गया है। आज भी भारतीय दृष्टिकोण काव्य को कला के अंतर्गत मानने को प्रस्तुत नहीं है। प्रसादजी और शुक्लजी के मन्तव्य प्रमाण हैं—दोनों ने अत्यन्त सबल शब्दों में हीगेल के मत का तिरस्कार किया है।

प्रसाद—काव्य की गणना विद्या में थी—और कलाओं का वर्गीकरण अविद्या में था। × × × × कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।

—काव्य और कला

शुक्ल—× × × × कलाओं के सम्बन्ध में, जिनका लक्ष्य केवल सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है, यह मत बहुत ठीक कहा जा सकता है। इसी से ६४ कलाओं का उल्लेख हमारे यहां कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई।

—रसात्मक बोध के विविध रूप

इसके विपरीत बाबूजी ने कोई शंका ही नहीं उठाई। उन्होंने ज्यों-का-त्यों पश्चिमीय सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है। वे वास्तव में हीगेल तक पहुँचे भी नहीं हैं। हडसन और बर्सफ़ोल्ड को ही प्रमाण मानकर उपर्युक्त तथ्य को ग्रहण कर बैठे हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सामान्यत: बाबूजी रसवादी ही हैं—आपने स्पष्ट रूप से अनेक प्रसंगों में जीवन और काव्य में भावों की महत्ता स्वीकृत की है—

"ऊपर के विवेचन का सारतत्त्व इतना ही है कि साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक व्यापार से है और उस मानस-व्यापार में भी भाव की प्रधानता रही है···यह भी हम भली-भाँति जानते हैं कि कर्म तो प्रत्यक्ष व्यवहार में दीख पड़ता है; ज्ञान जन्म देता है दर्शन, विज्ञान आदि शास्त्रों को, और भाव का सम्बन्ध होता है साहित्य के सुकुमार जगत् से। इसी से साहित्य में भाव की प्रधानता रहती है।" साहित्य में रसवाद वास्तव में सबसे अधिक मान्य सिद्धान्त है। यूरोप के साहित्यशास्त्र में प्रायः तीन प्रकार के मूल्यों का प्रचलन रहा है—एक क्लासिकल जिनमें शान्ति और गम्भीरता का प्राधान्य था, दूसरे रोमांटिक जिनमें वैचित्र्य और आवेश की प्रभुता थी—और तीसरे बौद्धिक मूल्य जो इस युग की सृष्टि है और आज अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय भी हो रहे हैं। इनमें पहले दो तो निश्चित रूप से रसवाद के अन्तर्गत आ जाते हैं—एक काव्य की आत्मा गम्भीर एवं शान्तिमय आनन्द को मानता है और दूसरा उत्तेजना तथा आवेशपूर्ण आनन्द को। परन्तु दोनों ही निश्चित रूप से बुद्धितत्त्व की अपेक्षा रागतत्त्व पर बल देते हैं—और इस प्रकार ये नवीन बुद्धिवादियों के वर्ग से सर्वथा पृथक् हैं जिनका लक्ष्य रागात्मक आनन्द न होकर बौद्धिक उत्तेजना ही है। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में भी अलंकार-सम्प्रदाय और कुछ अंशों में ध्वनि-सम्प्रदाय ने भी राग की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया था—परन्तु धीरे-धीरे रसवाद ने उनको आच्छादित कर लिया। हिंदी के आरम्भ से ही रसवाद का प्रभुत्व रहा है—आधुनिक आलोचना में भी कुछ अति-प्रेमी प्रयोगवादियों को छोड़कर एक स्वर से रसवाद की ही प्रतिष्ठा है। यह दूसरी बात रही कि रस के स्वरूप के विषय में आधुनिक पंडितों के मत भिन्न-भिन्न हों। बाबूजी रस अथवा काव्यानन्द को प्राकृतिक आनन्द से केवल मात्रा में ही नहीं वरन् प्रकार में भी भिन्न मानते हैं: "तथापि यह भी हम जानते हैं कि दोनों में बड़ा भेद है—केवल मात्रा में नहीं, प्रकार में भी। प्राकृतिक आनन्द से काव्यानन्द भिन्न होता है।" उन्होंने उसके लिए अलौकिक और ब्रह्मानन्द-सहोदर दोनों ही विशेषणों का प्रयोग किया है—परन्तु उनका अर्थ विवेक-सम्मत और वैज्ञानिक रूप में किया है। अलौकिक से तात्पर्य इस लोक से परे का नहीं है—और न असाधारण अथवा असामान्य का। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि बिना प्राकृतिक आनन्द की भावना के काव्यानन्द नहीं मिलता, प्राकृतिक अनुभूति ही अलौकिक अनुभूति का आधार बनती है। इस प्रसंग में वे पं० केशवप्रसाद मिश्र की ही तरह अलौकिक का अर्थ अति-प्राकृतिक (Super-natural) अथवा असामान्य (Extra-ordinary) न मानकर पर-प्रत्यक्ष-गम्य (Super-Sensuous) ही मानते हैं। और स्पष्ट शब्दों में :

१. काव्यानन्द इसी लोक का अनुभव है; उसका आधार निश्चय ही ऐन्द्रिय अनुभव है।

२. परन्तु वह स्वयं ऐन्द्रिय अनुभव नहीं है, वह इन्द्रियातीत (Super-Sensuous) अनुभव है।

३. यह अनुभव पर-प्रत्यक्ष-गम्य है। पर-प्रत्यक्ष मन की सत्-प्रधान उस अवस्था को कहते हैं जिसमें वितर्क अथवा अपने-पराये का ज्ञान तथा अनुभव नहीं रहता। इस प्रकार पर-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रत्यक्ष-गम्य अनुभव से, एक प्रकार से, साधारणीकृत अनुभव का ही अभिप्राय है।[१]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विवेचन सर्वथा भारतीय काव्यशास्त्र के अनुकूल है और इसमें उसी के गुण-दोष वर्तमान हैं। उपर्युक्त विश्लेषणों में से 'पर-प्रत्यक्ष-गम्य' काव्यानन्द के केवल प्रकार की ओर संकेत करता है, और 'इन्द्रियातीत' अभावात्मक है। ये दोनों मिलकर भी रस के स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाते : पहला वर्णनात्मक है, दूसरा निषेधात्मक। इस प्रकार सार केवल यही रह जाता है कि काव्यानन्द एक विशिष्ट अनुभव है जो इन्द्रियों से परे है। परन्तु 'विशिष्ट' और 'इन्द्रियों से परे' पद भी तो व्याख्या चाहते हैं। 'इन्द्रियों से परे' का एक स्पष्ट अर्थ 'आध्यात्मिक' हो सकता है—किन्तु यह अर्थ यहां पर निश्चित ही अभिप्रेत नहीं है क्योंकि काव्यानन्द को शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव कहीं नहीं माना गया। स्थूल दृष्टि से दूसरा अर्थ 'बौद्धिक' भी किया जा सकता है, परन्तु वह भी यहां निर्दिष्ट नहीं है। इस प्रकार यह विश्लेषण अभाव का द्योतक-भर ही रह जाता है, वास्तविक रूप को स्पष्ट नहीं कर पाता। इसी को अनिर्वचनीय आदि शब्दों से व्यक्त करना अपनी बौद्धिक पराजय स्वीकार कर लेना है। काव्यानन्द की यह विशिष्टता एवं अतीन्द्रियता आज के मनोविज्ञान को सर्वथा अमान्य है। इसके प्रमाण में हम प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स का एक सबल तर्क उपस्थित करते हैं, जिसका आशय कुछ इस प्रकार है :

काव्यानुभूति को यदि विशिष्ट अनुभव मान लिया जाय तो फिर भी प्रश्न यह उठता है कि उसका माध्यम क्या है ? क्या उसके लिए किसी विशिष्ट इन्द्रिय अथवा अनुभूति-संस्थान की कल्पना की जायगी ?

काव्य के उद्देश्य के विषय में बाबूजी का दृष्टिकोण गम्भीर और व्यापक है। काव्य की सिद्धि आप केवल मनोरंजन में नहीं मानते और इसीलिए लोकप्रियता को उसकी गौरव-कसौटी मानने से साफ़ इन्कार करते हैं। काव्य की सिद्धि आनन्द की स्फूर्ति द्वारा भावनाओं के उन्नयन और परिष्कृति में है—इसी दृष्टि से वह लोक-हित में सहायक होता है।

आनन्द को बाबूजी ने मूल लोक-हित माना है—और उसको रूढ़िबद्ध नियमित लोक-हित से निश्चयपूर्वक पृथक् दिखाया है :

"पर केवल सौंदर्य से मुग्ध होकर, अथवा आनन्दपूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है और की गई है। वह सौंदर्य अथवा वह आनन्द-झलक उस काल में आकर स्वयं लोक-हित बन जाती है, और काव्य के लिए यही मूल लोक-हित है। काव्य तथा कला के संख्याहीन रूपों को देखते हुए और उसके प्रभाव को समझते हुए किसी रूढ़िबद्ध नियमित लोक-हित को हम काव्य या कला का अंग नहीं मान सकते।"

उन्होंने काव्य और आचार के सम्बन्ध को स्वीकार अवश्य किया है—परन्तु उसको अधिक दृढ़ और अनिवार्य नहीं बनाया। शुक्लजी के काव्यालोचन में नीति के बन्धन अत्यंत सुदृढ़ और कठोर हैं—वहां लोक-धर्म के प्रतीक शिव का प्रभुत्व है, सत्य और सुन्दर दोनों उसके पीछे हैं। परन्तु बाबूजी ने सुन्दर और सत्य को काव्य के लिए अनिवार्य माना है, शिव की अनिवार्यता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। धार्मिक आदेशों अथवा नीति-विधान को

१. 'साहित्यालोचन' में बाबू साहब ने पर-प्रत्यक्ष-गम्य (Super-Sensuous) को साथ-साथ दे दिया है, इससे दोनों के विषय में एक-दूसरे के पर्याय होने का भ्रम हो सकता है। परन्तु एक ही वस्तु के विशेषण होते हुए भी ये दो भिन्न अर्थों का बोध कराते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

काव्य की सिद्धि मानने वाले आलोचकों की रुचि को उन्होंने स्पष्ट रूप से निकृष्ट माना है—"उनका सार अर्थ यही जान पड़ता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार, कला और धर्म, कला और दार्शनिक परम्परा का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। परन्तु इतिहास के इस निष्कर्ष के विपरीत कुछ अद्भुत प्रकार के तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझकर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदर्शों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा मापदंड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुन्दरतम सुगठित मूर्ति का नग्न सौंदर्य सहन नहीं कर सकते, न उस कला-सत्य का अनुभव कर सकते हैं, जो उस नग्नता से स्फुटित हो रहा है। उनमें कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की भाव-व्यंजना उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। वे केवल उनके बाह्य रूप को ही अपने रूढ़ि-बद्ध आचार-विचारों की कसौटी पर कसते हैं।"

यही कारण है कि शुक्लजी जहां 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को सहन भी नहीं कर सकते, वहां श्यामसुन्दरदासजी थोड़ा व्यापक और विवेकसम्मत रूप देकर लगभग उसे स्वीकार कर लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे डॉ० ब्रैडले अथवा मि० क्लाइव बैल की तरह कला की दुनिया को एक नयी, अपने में पूर्ण एवं स्वतन्त्र सृष्टि नहीं मानते—परन्तु वे कला पर किन्हीं बाहरी मूल्यों का आरोपण करने के विरुद्ध हैं। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त में कला के आनन्द-पक्ष पर ही बल दिया गया है—इस दृष्टि से वह भारतीय रसवाद के अनुकूल है, यही उनका मत है; और इसीलिए वे उसको विशेष आपत्तिजनक नहीं मानते। हां, हठवादियों के 'वैचित्र्यवाद' का वे घोर विरोध करते हैं।

मौलिकता—बाबू श्यामसुन्दरदास ने काव्य के सभी अंगों का विस्तृत विवेचन किया है और पूर्व तथा पश्चिम के प्रायः सभी समीक्षा-सिद्धान्तों पर दृष्टिपात किया है। परन्तु उनकी मौलिकता पर अनेक बार और अनेक प्रकार से आपत्ति उठाई गई है। शुक्लजी ने अपनी अमोघ सव्यंग्य शैली में उनके साहित्यालोचन को संकलन कहा है। जहां तक नवीन विचारों तथा काव्य-सिद्धान्तों की उद्भावना का प्रश्न है, बाबूजी क्या हिन्दी का कोई भी आलोचक या विचारक इस श्रेय का अधिकारी नहीं है। विदेश के भी आधुनिक साहित्य-शास्त्री इससे वंचित रह जाते हैं। और, वास्तव में साहित्यशास्त्र की मौलिकता का अर्थ नवीन सिद्धान्तों अथवा तथ्यों की उद्भावना या आविष्कार नहीं है। यहां मौलिकता का अभिप्राय विवेचन की मौलिकता का ही है। बाबूजी ने अपनी सफ़ाई में यही तर्क उपस्थित किया है और जहां तक इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है, हम सर्वथा उनसे एकमत हैं। परन्तु 'साहित्यालोचन' के मूल-रूप पर यह सफ़ाई लागू नहीं होती—उसमें दिये हुए सिद्धान्त और विचार तो अमौलिक हैं ही, उसकी विवेचन-पद्धति भी अनुकृत है। उसकी रूपरेखा, उसका प्रसंग-विभाजन, उसके शीर्षक-उपशीर्षक प्रायः हडसन की लोकप्रिय पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ लिटरेचर' से ग्रहण किये गए हैं। कला के विवेचन में उनका आधार वर्सफ़ोल्ड की पुस्तिका 'जजमेण्ट इन लिटरेचर' है। काव्य, साहित्य, कविता, शैली, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि के विवेचन बहुत-कुछ हडसन की पुस्तक से अनूदित कर दिये गए हैं। नाटक के प्रसंग में भारतीय नाट्य-विधान की व्याख्या कीथ तथा विश्वनाथ से और पश्चिमीय नाटक के अंगों का विवेचन हडसन से प्रायः ज्यों-का-त्यों ले लिया गया है। इस प्रकार 'साहित्यालोचन' अपने आदिम रूप में मौलिक नहीं है—उसकी मौलिकता के विरुद्ध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किये गये आक्षेप अप्रिय सत्य हैं। अप्रिय हम इसलिए कह रहे हैं कि इनमें उस परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा गया जिसमें कि 'साहित्यालोचन' की रचना हुई थी। इस विषय में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर प्रथम संस्करण की भूमिका के कुछ वाक्य उद्धृत किये देते हैं—"एम० ए० के पाठ्यक्रम में तीन विषय ऐसे रखे गए जिनके लिए उपयुक्त पुस्तकें नहीं थीं। वे विषय थे भारतवर्ष का भाषा-विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, और साहित्यिक आलोचना। इन तीन विषयों के लिए अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया गया, जिनकी सहायता से इन विषयों का पठन-पाठन हो सके, परन्तु आधारस्वरूप कोई मुख्य ग्रन्थ न बनाया जा सका। सबसे पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिए जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया था, उन्हें देखना आरम्भ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली-भाँति अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तत्त्वों का आरम्भिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिए मैंने सामग्री एकत्र करना आरम्भ किया और सम्पूर्ण ग्रंथ के परिच्छेदों का क्रम, विषय का विभाग आदि अपने मन में बनाकर उसे लिखना आरम्भ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको पढ़ाता जाता था··· इस प्रकार यह ग्रन्थ क्रमशः प्रस्तुत हो गया।" स्वभावतः इस प्रकार रचे गये ग्रन्थ में 'उद्भावना' की अपेक्षा 'संकलन' की ही सम्भावना अधिक हो सकती थी।

संशोधित संस्करण में आकर इस दोष की कुछ शुद्धि हो गई है। यद्यपि मूल संस्करण की सामग्री भी इसमें प्रायः ज्यों-की-त्यों समाविष्ट कर दी गई है, फिर भी उसके अतिरिक्त इसमें और भी उपयोगी सामग्री जोड़ी गई है, जिससे विवेचन अधिक व्यापक तथा समयानुकूल होने के साथ ही भारतीय भी अधिक हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह सामग्री भी अधिकांशतः बाबूजी की अपनी नहीं है, परन्तु एक तो इसके आधार अनेक एवं विविध हैं—दूसरे अब बाबूजी को उसे पचाकर ग्रहण करने का अवकाश था। तीसरे, उनका दृष्टिकोण भी इस समय तक परिपक्व हो चुका था। अतएव इस संस्करण के विषय-प्रतिपादन में अपनापन आ गया है और इसे पढ़कर एक साथ संकलित अथवा अमौलिक नहीं कहा जा सकता।

मौलिकता की कमी का यह आरोप बाबूजी की व्यावहारिक आलोचना पर भी लगाया जाता है। जैसा कि आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है, उनकी व्यावहारिक आलोचना का सबसे अधिक विकसित रूप 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में मिलता है। उसका काल-विभाजन, कवियों और लेखकों पर आलोचनात्मक सम्मतियां प्रायः शुक्लजी के इतिहास पर आधारित हैं। परन्तु इस इतिहास की प्रमुख विशेषता कालगत प्रवृत्तियों का निरूपण ही है। इसमें विभिन्न कालों की राजनीतिक, सामाजिक तथा कालगत प्रवृत्तियों के प्रकाश में उनकी साहित्यिक विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। कहा जा सकता है कि सामग्री यहां भी प्रायः उधार ली हुई है। राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का हवाला इतिहास-ग्रंथों से लिया गया है और कला के प्रवृत्तिगत विकास की पूरी सामग्री, जैसा कि बाबूजी ने भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है, 'रायकृष्णदास की कृपा का फल है।' इसी प्रकार रीतिकाल की शास्त्रीय पृष्ठभूमि में विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों का विवेचन काणे से लिया गया है। परन्तु साहित्य के आलोचक से यह आशा करना कि वह राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का भी मौलिक इतिहास उपस्थित करे, अथवा कला का भी मर्मी हो—उसके साथ अन्याय होगा। हां, यह नक्शा बाबूजी का अपना है—हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना का यह प्रथम महत्त्व-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पूर्ण प्रयत्न है—और इससे अधिक श्रेय का अधिकारी उन बेचारों ने कभी अपने को माना भी नहीं—उन्होंने असंदिग्ध शब्दों में 'साहित्यालोचन' की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि "···इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है, परन्तु उस सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसको हिन्दी-भाषा में व्यंजित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है।"

आलोचना में 'मौलिकता' के हम तीन वर्ग बना सकते हैं :

१. जो आलोचक नवीन सिद्धान्तों की उद्‌भावना करे—और मौलिक सामग्री प्रस्तुत कर मौलिक रीति से विषय का प्रतिपादन करे, वह पहले वर्ग में आता है।

२. जो नवीन सिद्धान्तों की उद्‌भावना न कर सके—परन्तु सामग्री और उसका विवेचन जिसका अपना हो, वह दूसरे वर्ग में आता है।

३. जो सिद्धान्त और सामग्री दूसरों से ग्रहण करे, परन्तु उनको प्रस्तुत अपने ढंग से करे, वह तीसरे वर्ग में आता है।

मौलिकता की दृष्टि से बाबूजी इसी तीसरे वर्ग में आते हैं।

आलोचना-शैली—बाबूजी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं में भारतीय तथा पश्चिमीय काव्य-सिद्धान्तों को समन्वित करने का प्रयत्न लक्षित होता है—अपनी भूमिकाओं में भी उन्होंने दोनों के समन्वय पर बार-बार बल दिया है। परन्तु इस प्रयत्न में वे कृतकार्य नहीं हो सके—दोनों प्रकार के सिद्धान्त उनमें पृथक्-पृथक् ही मिलते हैं, मिलकर एकरूप नहीं हो पाए। इसका कारण यह है कि उनकी साहित्यिक चेतना इतनी प्रबल नहीं थी कि इन सिद्धान्तों को पचाकर आत्मसात् कर लें और इस प्रकार उन्हें अपनी अनुभूति का अंग बना लें। उन्होंने दोनों काव्यशास्त्रों का अध्ययन किया और उनके सिद्धान्तों को बुद्धि से ग्रहण भी किया, परन्तु उनको अनुभूत नहीं किया। बुद्धि में भेद का अस्तित्व अनिवार्य है, यह अनुभूति में आकर ही मिटता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल की यही विशेषता थी—उन्होंने पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों को बुद्धि से ग्रहण कर अपनी अनुभूति की अग्नि में पचाकर एक कर लिया था। इस प्रकार वे न केवल संश्लिष्ट ही हो गए थे, वरन् शुक्लजी की अपनी अनुभूति का अंग भी बन गये थे। उनकी साहित्यिक चेतना इतनी सजग और प्रखर थी कि नये-से-नये अथवा बड़े-से-बड़े सिद्धान्त के प्रति वह तीव्र प्रतिक्रिया करती थी और अपनी अनुभूति पर कसकर ही उसका निश्चयपूर्वक त्याग अथवा स्वीकार करती थी। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार उदारता की हानि हुई, परन्तु उसके स्थान पर शुक्लजी की आलोचना में वह प्रगाढ़ता, वह घनता तथा अनिवार्यता आ गई जिसके कारण उन्हें निःसंदेह विश्व के किसी आलोचक के समकक्ष खड़ा किया जा सकता है। बाबूजी ऐसा नहीं कर पाये—इसीलिए उनकी आलोचना में भारतीय और पश्चिमीय तथा प्राचीन और नवीन मूल्य समानान्तर चलते हैं—समन्वित और एकसार होकर 'श्यामसुन्दर दास' की वैयक्तिक छाप ग्रहण नहीं कर पाते। उन पर अमौलिक होने के आरोप, जो चारों ओर से लगाये गये, वे बहुत-कुछ इसी कारण थे। और, इसलिए वे सूक्ष्म जटिलताओं को चीरते हुए अपने निरूपण को अन्तिम स्तर तक पहुँचाने में समर्थ नहीं होते—उदाहरण के लिए काव्य के उपकरणों के अन्तर्गत उनके द्वारा किया हुआ सौंदर्य का निरूपण पेश किया जा सकता है। यहां आप देखिये कि बाबूजी ने विविध दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने के उपरान्त अन्त में यह कह दिया है—"क्या काव्यगत 'सुन्दर' की कोई निश्चित व्याख्या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की जा सकती है…? इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है, परन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकी। वह यह है कि सौंदर्य काव्य का एक अभिन्न अंग है। यह बात दूसरी है कि सौंदर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असम्भव हो।'' शुक्लजी के लिए इस प्रकार बीच ही में रुक जाना असम्भव था। इसीलिए तो मूलतः शिक्षक और व्याख्याता होते हुए भी वे चिन्तन की गहराइयों में बढ़ते हुए स्रष्टा के धरातल को भी अनेक बार छू लेते थे—परन्तु श्यामसुन्दरदासजी अध्यापक के धरातल से ऊपर-नीचे कभी नहीं गये। वे एक-रस साहित्य के शिक्षक और व्याख्याता ही रहे; और शिक्षक तथा व्याख्याता के तीन प्रमुख गुण उनमें वर्तमान थे : ग्रहण में विवेक, व्याख्यान में हठधर्मी का अभाव और अभिव्यक्ति में स्वच्छता। यही उनका अपना विशिष्ट धरातल था—और इस पर उनकी सफलता एवं महत्ता असंदिग्ध है। आरम्भ से ही हिन्दी के विद्यार्थी के लिए 'साहित्यालोचन' की अनिवार्यता इसका अकाट्य प्रमाण है। आज विदेशी आलोचना-साहित्य से उसका इतना घनिष्ठ परिचय है—हिन्दी का अपना आलोचना-साहित्य भी यथेष्ट विकसित और समृद्ध हो गया है, परन्तु कोई विद्यार्थी 'साहित्यालोचन' की उपेक्षा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से 'साहित्यालोचन' को हिन्दी में जितनी सफलता मिली है, उसकी आधी भी उसके आधार-ग्रंथ 'इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ लिटरेचर' को अंगरेज़ी में नहीं मिली।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आचार्य शुक्ल और डॉक्टर आई. ए. रिचर्ड्स : एक तुलनात्मक अध्ययन

कुछ दिन पहले जब विदेश के सौंदर्यशास्त्र का छाया-प्रभाव हिन्दी पर पड़ा और उसके फलस्वरूप यहां कविता की स्वतन्त्र सत्ता मानते हुए उसके विषय में एक काल्पनिक-सी चर्चा होने लगी, उस समय शुक्लजी ने इस अतिचार के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किया और अपने मत की पुष्टि के लिए विदेश के नवोत्थित आलोचक आई. ए. रिचर्ड्स का गर्मागर्म उद्धरण पेश किया। रिचर्ड्स को भी अपने यहां कुछ ऐसा ही संघर्ष करना पड़ा था। परन्तु इन दोनों आलोचकों का विपक्ष सर्वथा भिन्न था। रिचर्ड्स को डॉक्टर ब्रैडले-जैसे समर्थ प्रतिपक्षी के विरुद्ध खड़ा होना था। शुक्लजी के प्रतिपक्षी हिन्दी के नये उत्साही कवि-लेखक थे जो अपने पैर जमाने के लिए अर्धगृहीत ज्ञान के बल पर सौंदर्यशास्त्र की शरण ले रहे थे। फिर भी शुक्लजी को रिचर्ड्स महोदय से थोड़ी-सी सामयिक सहायता मिली और उन्हें उस ओर आकर्षण भी हुआ।

रिचर्ड्स का सीधा प्रभाव तो उन पर पड़ा नहीं, क्योंकि उस समय तक शुक्लजी की मानसिक आधारभूमि पूर्णतः बन चुकी थी; फिर भी रिचर्ड्स के साथ शुक्लजी का तुलनात्मक अध्ययन काफ़ी मनोरंजक होगा, और इस तुलना से शुक्लजी का अपना व्यक्तित्व भी काफ़ी निखर आयेगा।

कविता की परिभाषा

सबसे पहले कविता की परिभाषा लें।

शुक्लजी के अनुसार "कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है..."

"जो कुछ ऊपर कहा गया उससे स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मक प्रकृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या मनोभावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने के उद्योग भी करती है।"

इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार व्यक्ति और सृष्टि दो पृथक् सत्ताएं हैं। इन दोनों सत्ताओं में पारस्परिक सम्बन्ध होना आवश्यक है, और यह सम्बन्ध भावना का होना चाहिए। कविता इसका साधन है।

यहाँ वास्तव में शुक्लजी ने कविता के कर्तव्य-कर्म की व्याख्या की है, कविता की नहीं, यह कविता का स्वरूप नहीं, कविता का धर्म है। फिर भी इससे स्थापित होता है कि :

१. कविता में भावना का प्राधान्य है; और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

२. कविता सत्य नहीं, साधन है।

रिचर्ड्स का भी कहना है कि "वस्तु का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व कुछ नहीं, हमें तो यह देखना है कि उसका कर्म क्या है ? लोग काव्य और काव्यमय की बात करते हैं, पर वास्तव में उन्हें सोचना चाहिए मूर्त अनुभूतियों के विषय में क्योंकि वे ही कविता हैं।"

इस प्रकार उनके अनुसार भी कविता एक मूर्त्त अनुभूति है। अर्थात् कविता सत्य नहीं, अनुभूति—साधन—है। यह अनुभूति किसकी ? लेखक की या पाठक की ? मूल रूप में लेखक की, परन्तु व्यवहार रूप में पाठक की :

"कविता अनुभूतियों का एक वर्ग है। ये अनुभूतियां एक निश्चित—मौलिक—अनुभूति से विभिन्न होने के कारण अनेक रूप तो हैं, परन्तु उनके विभेद की एक सीमा है। यह निश्चित—मौलिक—अनुभूति है कविता रचते समय की लेखक की अपनी अनुभूति।"

अर्थात्—

(अ) दोनों की परिभाषा में कविता को सत्य-रूप में नहीं, क्रिया-रूप में ग्रहण किया गया है। शुक्लजी ने अपने स्वभाव के अनुसार उसकी उपयोगिता पर ज़ोर देते हुए उसे साधन माना है, रिचर्ड्स ने कोई ऐसी बात स्पष्ट रूप से नहीं कही, यद्यपि उस ओर संकेत अवश्य किया है।

(आ) कविता भाव-प्रधान है। भाव को शुक्लजी मनोवेग—मन का विकार—मानते हैं। यह विकार बाह्य प्रभाव-जन्य है, अर्थात् व्यक्ति पर सृष्टि की प्रतिक्रिया है—इसके आगे शुक्लजी मौन हैं। रिचर्ड्स वैज्ञानिक हैं : वे और आगे जाते हैं और इस प्रतिक्रिया को स्नायवी झंकृति तक घटाते हुए उसकी शत-प्रतिशत भौतिक व्याख्या करते हैं।

(इ) कविता अनुभूति है, परन्तु यह अनुभूति जीवन से बाहर की अनुभूति नहीं, जीवन-गत ही है। अर्थात् सौंदर्यानुभूति का कोई स्वतन्त्र या पृथक् अस्तित्व नहीं।

कविता और जीवन

कला के लिए कला अथवा कविता के लिए कविता का सिद्धान्त उन्हें सह्य नहीं है। इसलिए जहां तक ब्रैडले महोदय के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है कि :

"कला का रसास्वादन करने के लिए जीवन से कुछ भी हमें अपने साथ लाने की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए न तो उसके व्यापारों या विचारों का ज्ञान और न उसके भावों से परिचय ही अपेक्षित है...वह न तो इस संसार का एक अंग है और न अनुकरण। वह तो स्वयं अपने ही में एक संसार है—स्वतन्त्र, सम्पूर्ण और स्वायत्त।"

इसके विरोध में वे दोनों अक्षरशः एकस्वर हैं। कला या कविता इस जीवन से बाहर की कोई अनुभूति है, उसका इस लोक से सम्बन्ध नहीं—यह मत न शुक्लजी को क्षण-भर के लिए ग्राह्य है और न रिचर्ड्स को।

इसका तात्पर्य यह है कि शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों काव्यानुभूति को साधारण मानते हैं। फिर भी थोड़ा अन्तर अवश्य है। शुक्लजी रिचर्ड्स की भाँति कविता को मूर्त अनुभूति मानते हुए उसे स्नायवी क्रिया तक घटाने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी आधारभूमि भारत के रस-सिद्धान्त से परिपुष्ट है, अतः लोकोत्तर आनन्द को कम-से-कम बौद्धिक रूप में वे अवश्य स्वीकार करते हैं :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।"

इस प्रकार शुक्लजी कविता की अलौकिकता को चीरकर बिलकुल अलग नहीं फेंक देते। पर रिचर्ड्स उसको गणित के तथ्य की भाँति सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं में विभक्त करते हुए अंतिम रूप तक पहुँचने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं।

स्वभावतः कविता को दोनों सोद्देश्य मानते हैं और उद्देश्य के विषय में भी दोनों एक-मत हैं।

शुक्लजी के अनुसार : "कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहां जगत् की नाना जातियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"

इस तरह रिचर्ड्स भी मानते हैं कि कविता का लक्ष्य है मानव-संवेदनाओं का, न्यूनातिन्यून दमन करते हुए, समीकरण करना। संवेदनाओं का यह समीकरण ही शुक्लजी का अनुभूति-योग है, यही हृदय की मुक्तावस्था या रस-दशा है।

मूल्यांकन

लक्ष्य का निश्चय मूल्यांकन की ओर इंगित करता है। कविता की कसौटी क्या है ? शुक्लजी के मत से सत्कविता के गुण इस प्रकार हैं :

१. रागों या मनोवेगों का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करना एवं जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करना।

२. कार्य में प्रवृत्त करना अर्थात् हमारे मनोवेगों को उच्छ्‌वसित करते हुए हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देना।

३. मन को रमाते हुए स्वभाव-संशोधन तथा चरित्र-संशोधन करना। यह बात रागों के परिष्कार में आ जाती है।

रिचर्ड्स महोदय की धारणाएं भी बहुत भिन्न नहीं हैं। जीवन के मूल्यों का देश-काल से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हुए भी वे यह मानते हैं कि किसी वस्तु की मानव-वृत्ति और इच्छा के परितोष करने की शक्ति ही उसके मूल्य की कसौटी है। इस परितोष के लिए आवश्यक है मनोवृत्तियों की अन्विति जो मनुष्य के जीवन का सतत प्रयत्न रहा है। मनोवृत्तियां जितनी ही विविध और महत्त्वपूर्ण होंगी उतना ही उस अन्विति का मूल्य होगा। इस प्रकार जीवन में समरसता लाने का प्रयत्न ही मानव-जीवन का शाश्वत कर्तव्य-कर्म है और यही उसके मूल्यांकन का भी मानदंड है। यह अन्विति अनजाने, अवचेतन या अचेतन अवस्था में, घटित होती रहती है—प्रायः दूसरों के प्रभाववश, और इस प्रभाव का सर्वप्रमुख साधन है कला और साहित्य।

आप देखें कि इस अन्विति और शुक्लजी के सिद्धान्त में—रागों या मनोवेगों का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य करने में—कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों के मूल्यांकन की कसौटी रागों अथवा संवेदनाओं का परिष्कार और उनका उचित सामंजस्य ही है। रिचर्ड्स की उक्ति में व्यक्ति की अपनी संवेदनाओं के उचित सामंजस्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अर्थात् आंतरिक सामंजस्य पर बल दिया गया है। शुक्लजी के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सृष्टि के साथ उनके सामंजस्य की अर्थात् अंतर्बाह्य सामंजस्य की बात अधिक करते हैं।

परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि मूल सिद्धान्त की एकता होते हुए भी दोनों का प्रतिपादन काफ़ी भिन्न है। और, यह विभेद वास्तव में दृष्टिकोण का विभेद है।

दृष्टिकोण

हमने देखा शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों का ऑर्डर : विधान : में विश्वास है। परन्तु शुक्लजी का विधान जहां नैतिक है, रिचर्ड्स का एकदम वैज्ञानिक : मनोवैज्ञानिक। शुक्लजी सदाचार और सौंदर्य का अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं : "बात यह है कि कविता सौंदर्य और सात्त्विकशीलता या कर्तव्य-परायणता में भेद नहीं देखना चाहती है।...जो धर्म में शिव है, काव्य में वही सुन्दर है।" रिचर्ड्स स्पष्ट घोषित करते हैं कि नीति-सिद्धान्त प्रायः हमारे मानसिक सामंजस्य में बाधक होते हैं और साथ ही जीवन के विकास में भी। परन्तु यदि नीति का स्वरूप विकासशील है, देश-काल के अनुसार इस सामंजस्य में योग देता है तो नीति कला और साहित्य की साधक है। इस प्रकार शुक्लजी ने सुन्दरं का शिवं के साथ तादात्म्य कर दिया है, रिचर्ड्स ने सत्यं के साथ। शुक्लजी का आदर्श राम का आदर्श है : स्थिति-रक्षक का; रिचर्ड्स अन्वेषक हैं। इसीलिए दोनों कुछ दूर साथ चलकर पृथक् हो जाते हैं। शुक्लजी का निरपेक्ष मूल्यों में अटल विश्वास है—वे मर्यादावादी हैं। रिचर्ड्स एक सच्चे वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति विकासवादी हैं। स्वभावतः शुक्लजी का सत्य स्थिर है, रिचर्ड्स का गत्यात्मक।

यह बात दोनों की आनन्द की परिभाषा से और स्पष्ट हो जाती है। शुक्लजी आनन्द-दशा या रस-दशा को मुक्तावस्था मानते हैं। परन्तु रिचर्ड्स आनन्द को एक स्वतन्त्र मानसिक अवस्था नहीं मानते। वे तो उसे क्रिया को ग्रहण करने का एक प्रकार मानते हैं—एक प्रतिक्रिया मानते हैं। वे कहते हैं : "हम आनन्द का अनुभव नहीं करते, हम तो उस अनुभूति का ही अनुभव करते हैं जो आनन्ददायिनी है।" इस प्रकार आनन्द संवेदना का कोई रूप नहीं है, वह तो उसका एक परिणाम है अर्थात् मानसिक वृत्तियों का सामंजस्य स्थापित करने में उसकी सफलता का परिणाम है। वे आनन्द को साक्ष्य नहीं, केवल एक सूचना-चिह्न मानते हैं। मुख्य वस्तु, उनके अनुसार है क्रिया। आनन्द केवल यही सूचित करता है कि यह क्रिया सफल हो रही है।

बस, शुक्लजी और रिचर्ड्स के दृष्टिकोण में गति का यही प्रमुख अन्तर है। शुक्लजी गति की एक सीमा मानते हैं। रिचर्ड्स जीवन को ही एक गति मानते हैं और गणितज्ञ की तरह आगे बढ़ते ही चले जाते हैं।

शैली

शैली दृष्टिकोण का ही प्रतिबिम्ब है। अतः रिचर्ड्स और शुक्लजी की आलोचना-शैली में उनके दृष्टिकोण के अनुसार ही समता-असमता है। जहां तक दोनों की बौद्धिकता का सम्बन्ध है, उनकी शैलियों में भी विचारों का प्राधान्य एवं गवेषणा और उसके परिणामस्वरूप घनता तथा गम्भीरता मिलेगी। दोनों अध्यापक हैं अतः दोनों की शैली विश्लेषणात्मक है। पर शुक्लजी, जैसा मैंने निवेदन किया, मर्यादावादी थे और रिचर्ड्स हैं विकासवादी। इसलिए यह स्वाभाविक है कि शुक्लजी की शैली शास्त्रीय और रिचर्ड्स की वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक) हो।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शुक्लजी बार-बार शास्त्र-परम्परा को पकड़ते हुए शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करते हैं, वहां रिचर्ड्स आग्रहपूर्वक उसका तिरस्कार। इसके अतिरिक्त एक और स्पष्ट अन्तर दोनों की शैली में मिलेगा। शुक्लजी की शैली में रस-मग्नता है, रिचर्ड्स की शैली में वैज्ञानिक तथ्य-कथन-मात्र। कारण यह है कि शुक्लजी ने सुन्दरं का शिवं रूप लिया है, इसलिए उनमें श्रद्धा की भावना ओतप्रोत है। वे रस की निरपेक्ष सत्ता में विश्वास करते हैं। अतएव वे हमें स्थान-स्थान पर रसमग्न होते हुए दिखाई देते हैं। उनकी सहृदयता अद्वितीय थी, उनकी रसज्ञता इतनी प्रबल थी कि वे अवसर आने पर अवश्य बह जाते थे :

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर कहु समझाय, सौंह दै बूझत साँच न हाँसी।

"कसम है, हम ठीक-ठीक पूछती हैं। हँसी नहीं, कि तुम्हारा निर्गुण कहां का रहने वाला है :

कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलापन, कुछ घनिष्ठता—कितनी बातें इस छोटे-से वाक्य से टपकती हैं !"

ऐसे उद्धरण रसान्वेषी पाठक को शुक्ल-साहित्य में अनेक मिल जायेंगे—केवल धारणा-चित्रों को ले उड़ने वालों की बात हम नहीं कहते। यही रसमग्नता उनकी वाणी को उच्छ्वसित कर देती है और विरोधी पाठक भी उसकी शक्ति से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। प्रतिपादन की यह दुर्निवार शैली शुक्लजी की बहुत बड़ी विशेषता थी जो बुद्धि की दृढ़ता और हृदय के रस से परिपुष्ट थी। इसके विपरीत रिचर्ड्स में यह श्रद्धा की भावना दुर्लभ है। अतः वे कहीं रस-मग्न नहीं होते। रस-मग्नता शायद उनकी दृष्टि में आलोचना की दुर्बलता भी हो।

परिणाम

उपर्युक्त विवेचना से यह परिणाम निकालना कठिन न होगा कि :

१. शुक्लजी की अपेक्षा रिचर्ड्स अधिक मेधावी हैं। उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत तीखी और विवेचन अधिक मौलिक होता है। रिचर्ड्स की वैज्ञानिक दृष्टि जिस सूक्ष्म सत्य को सफ़ाई से पकड़ लेती है, वह शुक्लजी की नैतिक दृष्टि के लिए कठिन होता है।

२. रिचर्ड्स का दृष्टिकोण कहीं अधिक व्यापक है। उनका सत्य गत्यात्मक है, शुक्लजी का स्थिर। इसलिए विषमताओं का समन्वय जिस सरलता से रिचर्ड्स कर लेते हैं, उस सरलता से शुक्लजी नहीं। इसी कारण शुक्ल जी बहुत शीघ्र ही समय से पीछे रह गये, रिचर्ड्स कभी नहीं रह सकते। वे टी० एस० इलियट की कविताओं का भी आदर हृदय खोलकर करते हैं, शुक्लजी को प्रसाद के साथ समझौता करने में भी कठिनाई पड़ी। कविता के लोक-पक्ष ने उन्हें इतना पकड़ रखा था कि रस की एकान्त साधना उन्हें मुश्किल से ही ग्राह्य हो सकती थी। इसी कारण गीतिकाव्य के प्रति शुक्लजी का भाव सदा कठोर ही रहा।

३. परन्तु सूक्ष्मता, व्यापकता और मौलिकता की क्षति शुक्लजी अपने विवेक, शक्ति और गाम्भीर्य के द्वारा पूरी कर लेते हैं। शुक्लजी प्राणवान् पुरुष थे ! उनमें जीवन था, गति थी। यह गति संस्कारवश आगे को अधिक नहीं बढ़ी, इसलिए भीतर को बढ़ती गई और उसका परिणाम हुआ अतुल गाम्भीर्य और शक्ति। जो कुछ उन्होंने विस्तार में खोया वह गहराई में और घनता में पा लिया। समर्थ व्यक्ति अगर आगे को नहीं बढ़ता तो भीतर उसे बढ़ना ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, वह बाह्य विस्तार को छोड़कर जड़ों को गहरा और मज़बूत करेगा—प्रेमचन्द और प्रसाद की तुलना इस अन्तर को स्पष्ट कर देगी। शुक्लजी समय के साथ आगे नहीं बढ़ सके। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और जर्मन दार्शनिकों के सौंदर्यशास्त्र की विशेषताओं को ग्रहण करने में वे असमर्थ रहे। परन्तु अपने रसशास्त्र की शक्ति और सम्भावनाओं की वे निरन्तर छानबीन करते रहे और इसके परिणामस्वरूप भारतीय रसशास्त्र का जो मनोवैज्ञानिक विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया, वह भारत के आलोचना-साहित्य को हिंदी का अमूल्य उपहार है।

दूसरे, कविता के लोकोत्तर आनन्द का तिरस्कार न करके, उसकी मिस्टरी को भी थोड़ा-बहुत स्वीकार करते हुए शुक्लजी ने अपने दृढ़ विवेक का परिचय दिया। इसके विपरीत रिचर्ड्स महोदय का विवेक अतिचार के कारण अविवेक बन जाता है। इसका प्रमाण है 'कविता का विश्लेषण' परिच्छेद में दिया हुआ उनका रसास्वादन-सम्बन्धी चित्र। इस चित्र के द्वारा कविता के विश्लेषण का प्रयत्न 'कला कला के लिए है' सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं अधिक हास्यास्पद है।

४. इसी कारण शुक्लजी की आलोचना में हमारे विश्वास को पकड़ने की क्षमता रिचर्ड्स की अपेक्षा कहीं अधिक है। शुक्लजी की जायसी, तुलसी, सूर, प्रसाद आदि की आलोचना में विरोधी को भी विजित करने की क्षमता है। रिचर्ड्स ने सिद्धान्त-विवेचन ही अधिक किया है, परन्तु हमारी धारणा है कि वे काव्य-विशेष का विवेचन बहुत सफल शायद नहीं कर सकते। उनके अनेक प्रयत्न इसके साक्षी हैं। स्पष्ट कारण है—रसमग्न होने की शक्ति का अभाव।

६. दोनों के दोष भी समान हैं। अपने मत का प्रतिपादन करते समय दोनों में एकांगिता, हठधर्मी और मताभिमान मिलता है जो विक्षोभ उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स ने सत्य की अत्यधिक छानबीन के द्वारा और शुक्लजी ने शिव का बोझ रखकर सुन्दर के सहज रस-बोध में थोड़ी-बहुत बाधा भी उपस्थित की है।

ऐतिहासिक महत्त्व को मैं बहुत बड़ा गौरव नहीं मानता। पर यदि उस पर दृष्टिपात किया जाय तो रिचर्ड्स और शुक्लजी में कोई तुलना नहीं। यहां हमें यह न भूलना चाहिए कि रिचर्ड्स का जिस इतिहास से सम्बन्ध है, वह हमारे इतिहास की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है। अतः उस पर प्रभाव डालना साधारण गौरव नहीं, और यह गौरव उनको प्राप्त भी है—इलियट-जैसे प्रौढ़ आलोचक ने उन्हें प्रवर्तकों में स्थान दिया है। फिर भी, शुक्लजी ने तो अपने युग को प्रभावित ही नहीं, आच्छादित किया था :

वह देखी भीमा मूर्ति आज रण देखी जो।
आच्छादित किये हुए थी जो समग्र नभ को॥

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दिनकर के काव्य-सिद्धान्त

दिनकर वास्तव में प्रकृति और कर्म से आलोचक नहीं हैं—वे विचारक कवि हैं ! उनके लेखों में किसी विषय का सांगोपांग पर्यालोचन न होकर उसके प्रति कवि के अपने दृष्टिकोण का ही ओजस्वी वाणी में स्पष्टीकरण है। वैसे तो उन्होंने आधुनिक कविता की नवीनतम प्रवृत्तियों और समस्याओं को ही ग्रहण किया है, परन्तु उनका विवेचन करते हुए काव्य के मूलगत सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण अनिवार्यतः हो गया है। मैंने अभी कहा कि दिनकर कर्मणा आलोचक नहीं हैं, वे सर्जक साहित्यकार हैं। उनके निबन्धों में आलोचना की शास्त्रीय क्रमबद्धता ढूंढ़ना व्यर्थ होगा, इसीलिए आप देखेंगे कि उन्होंने काव्य के स्वरूप के विषय में, उसकी परिभाषा आदि के विषय में, प्रायः चर्चा ही नहीं की। सर्जक साहित्यकार स्वरूप आदि की मीमांसा में नहीं पड़ता, उसको तो वह स्वीकृत सत्य मानकर चलता है।

दिनकर स्पष्टतः ही काव्य को जीवन की व्याख्या मानकर चलते हैं, परन्तु यह भी निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं कि यह व्याख्या कवि के वैयक्तिक दृष्टिकोण पर आश्रित रहती है—"साहित्य को हम जीवन की व्याख्या मानते हैं। किन्तु जीवन और उसकी इस व्याख्या के बीच एक माध्यम है जो व्याख्याता कवि या कलाकार का निजी व्यक्तित्व है। कलाकार की मानसिक अवस्था-विशेष में जीवन अपने जिस अर्थ में प्रकट होता है, उसी के भावमय चित्रण को हम साहित्य कहते हैं।"[1] उनकी यह मान्यता काव्य में व्यक्ति-तत्त्व और समाज-तत्त्व दोनों की स्वीकृति है। कहा जा सकता है कि इन दोनों के संयोग से ही दिनकर की जीवन-दृष्टि तथा कवि-दृष्टि का निर्माण हुआ है। यहां मैंने संयोग शब्द का प्रयोग जान-बूझकर इसलिए किया है कि इन दोनों तत्त्वों में वे अभी समन्वय नहीं कर पाए हैं, दोनों के बीच जैसे अभी द्वन्द्व मिटा नहीं है, और परिस्थिति और मनःस्थिति के अनुसार उनमें से कोई-सा एक कभी इतना उभर आता है कि वह दूसरे का निषेध-सा करने लगता है। उदाहरण के लिए, मैं दो प्रकार के उद्धरण पेश करता हूं; आप देखिये कि पहले में आत्म-तत्त्व की अनिवार्यता की असंदिग्ध शब्दों में स्वीकृति है, और दूसरे में उतने ही बल के साथ उसका निषेध :

१. कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है वह केवल इतना ही है कि कवि अपने-आपके प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार रहे।

(मिट्टी की ओर, पृ० १३२)

२. कला में शुद्ध आत्माभिव्यंजन का स्थान कभी नहीं था, और आज तो उसकी बात भी नहीं चलाई जा सकती × × × आज का साहित्य तो वैयक्तिक अनुभूतियों की अपेक्षा स्वभावतः ही उन सार्वजनिक अनुभूतियों को अधिक महत्त्व देता है, जिनके कारण पृथ्वी अशांत एवं मनुष्य के लहू से लाल है···।

(मिट्टी की ओर)

---

१. मिट्टी की ओर, पृ० १४१।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मैं प्रसंग से विच्युत कर किसी उद्धरण का अनर्थ करना साहित्यिक बेईमानी समझता हूं और ऊपर से प्रतीत होने वाले विरोधों की आन्तरिक एकता के रहस्य से भी अनभिज्ञ नहीं हूं। मैं स्वीकार करता हूं कि दूसरे उद्धरण में 'शुद्ध आत्माभिव्यंजन' से तात्पर्य समूह से निरपेक्ष कवि के व्यक्तिगत राग-द्वेष का ही है—और उनका ही विरोध करना लेखक को अभीष्ट है। परन्तु फिर भी यह द्विविधा तो रह ही जाती है कि यदि उद्धरण (१) के अनुसार अपने प्रति पूरी ईमानदारी ही कवि के लिए प्रथम और अन्तिम बन्धन है और कविता कवि की अपनी आत्मा का आलोक है, तो फिर व्यक्तिगत राग-द्वेष की निश्छल अभिव्यक्ति का स्थान कला में क्यों नहीं माना जाएगा ? वास्तव में द्विविधा दिनकर के दृष्टिकोण में अत्यन्त स्पष्ट है और एक रूप में नहीं अनेक रूपों में स्थान-स्थान पर प्रकट हुई है।

अब काव्य के महत्तर प्रश्न 'उद्देश्य' को लीजिए। शास्त्रीय आलोचक के लिए तो स्वरूप और उद्देश्य दोनों का ही समान महत्त्व है—सम्भव है वह स्वरूप को ही अधिक महत्त्व दे, क्योंकि उसका विवेचन और निर्णय अपेक्षाकृत अधिक जटिल है। परन्तु रचनात्मक साहित्य की सृष्टि करने वाले के लिए उद्देश्य ही प्रधान होता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी कवि और सहृदय, नवीन शब्दावली में कलाकार और समाज दोनों के लिए उद्देश्य का ही अधिक महत्त्व है, क्योंकि दोनों के बीच यह एक प्रकार का सेतु है। दिनकर के काव्य-चिंतन की मूल समस्या यही है, अपने लेखों और भाषणों में वे पहलू बदल-बदलकर इसी से जूझे हैं। इस प्रसंग के अन्तर्गत पहले तो यही प्रश्न उठता है कि कला अथवा काव्य के लिए उद्देश्य की अपेक्षा भी है कि नहीं। चिन्तकों का एक वर्ग कहता है कि कला अपना उद्देश्य स्वयं है, और जब आप उससे पूछें कि क्या आनन्द भी उसका उद्देश्य नहीं है, तो इसका उत्तर या तो यह मिलेगा कि 'नहीं, आनन्द उसकी विधि है, उद्देश्य नहीं है', या फिर यह कि 'कविता का आनन्द' निरुद्देश्य होता है। दिनकर का मत इस विषय में असंदिग्ध है। वे कला या कविता को निश्चित रूप से सोद्देश्य मानते हैं। "सच तो यह है कि ऊँची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती; क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन का अनुकरण किए बिना जी नहीं सकती।" (पृ० ६०) परन्तु यह उद्देश्य क्या है, दूसरा प्रश्न स्वभावतः ही यह उठता है। इसके उत्तर में दिनकर एक स्थान पर लिखते हैं : "व्यापक मतभेदों के होते हुए भी अधिक लोग यह मानते हैं कि कविता का उद्देश्य आनन्द का सर्जन है।" (पृ० १४२)

"कविता हमें रुक्ष और स्थूल से हटाकर अलौकिक तथा मधुर आनन्द के देश में पहुँचाती है और इस प्रकार हम गद्य की नियमित शुष्कता से जितना अधिक ऊपर उठ सकें कवि-कला की सफलता उतनी अधिक मानी जानी चाहिए।" (पृ० १४६)—और स्पष्ट शब्दों में—"फूल हों या राजनीतिक समस्याएं, कवि का लक्ष्य आनन्दानुभूति होता है; प्रचार उसके लक्ष्य का कोई अंश नहीं हो सकता। उसका काम संसार को कुछ सिखाना नहीं, प्रसन्न करना है।"—यह निर्भ्रान्त शब्दों में काव्य में आनन्दवाद की प्रतिष्ठा है, परन्तु लेखक ने आनन्द की परिधि को अत्यन्त व्यापक माना है। आनन्द में केवल जीवन की मधुरता और कोमलता ही नहीं, वरन् उसके समस्त संघर्ष अपनी सम्पूर्ण कटुता के साथ समा जाते हैं। ऊपर के उद्धरण में फूल के साथ राजनीतिक समस्याएं जोड़कर उसने यही व्यक्त किया है।

फूलों को देखना, शहीदों की समाधि पर आँसू बहाना, हृदय-विदारक दृश्यों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सफलतापूर्वक चित्रित करना, अपने हृदय के क्रोध, विश्वास, भय एवं ग्लानि के भावों को सुन्दरतापूर्वक व्यक्त करना, यह सभी कुछ आनन्द के अन्तर्गत आता है। आनन्द से तात्पर्य ऐन्द्रिय-विलास और संवेदन से न होकर जीवन के स्वस्थ आनन्द का है, जिसके अन्तर्गत शृंगार के साथ ही हास्य, करुण, वीर, रौद्र, अद्भुत, शान्त, बीभत्स और भयानक भी आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त लेखक की उदार दृष्टि आध्यात्मिक अनुभूतियों को भी आदर की दृष्टि से देखती है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उसका पूरा बल जीवन और उसकी अनुभूतियों पर ही है। इस प्रकार वह आनन्द और कल्याण, दूसरे शब्दों में सुन्दर और शिव को एक रूप कर देखता है : "सुन्दर काव्य का प्रेय है परन्तु उपयोगी भी उसका श्रेय है। इसलिए बिना इन दोनों का ग्रंथि-बन्धन हुए सत्काव्य की सृष्टि सम्भव नहीं है। कला का उद्देश्य जीवन के उपयोगी तत्त्वों का संयोग उन तत्त्वों से स्थापित करना है जो हमें आनन्द देते हैं।"

उपयोगी की व्याख्या करते हुए दिनकर ने समकालीन भौतिक जीवन के विकास पर बल दिया है, राजनीति और समाज-नीति को भी वे काव्य की भूमि में स्थान देने को तैयार हैं बशर्ते कि उनसे सौन्दर्य की उद्‌बुद्धि हो। पर सिद्धान्तों के प्रचार, पार्टी के प्रस्ताव या हुकूमत के परवाने से कला का कोई सम्बन्ध नहीं है, इस विषय में उनकी सम्मति सर्वथा निर्भ्रान्त है। राजनीति काव्य की विरोधी नहीं है, परन्तु साथ ही उसकी निर्देशिका भी नहीं हो सकती। वास्तव में ये दोनों जीवन की एक ही अवस्था की अनुभूति की भिन्न-भिन्न पद्धतियां हैं। स्वयं लेखक के शब्दों में "कवि का काम किसी राजनीतिक दल के सिद्धान्तों की विवेचना नहीं, प्रत्युत उन अवस्थाओं की काव्यात्मक अनुभूति व्यक्त करना है जिनके भीतर से राजनीतिक सिद्धान्त भी पैदा होते हैं।" परन्तु उपयोगिता की परिधि वे यहीं तक नहीं मानते। अपने समाज के भौतिक जीवन से प्रेरणा प्राप्त करना, और फिर उलटकर उसको प्रेरणा देना कवि का धर्म है, इसमें सन्देह नहीं और इस धर्म का पालन करने वाला कवि धन्य है, किन्तु "जिस कवि ने मानवीय चेतना की सीमा विस्तृत की है, कल्पना के पर फैलाकर मानव-मन का विस्तार नापा है, जीवन के ईथर में विहार करते हुए मधु और अमृत के गीत गाए हैं, मनुष्य को ऊर्ध्वगामी होने का संकेत दिया है, और अपनी अनुभूति के सुन्दर-से-सुन्दर क्षणों का इतिहास साहित्य-देवता को अर्पित किया है उसे (भी) क्यों लज्जित होना चाहिए ?" पहला यदि जीवन को शक्ति देता है तो दूसरा वृत्तियों का परिष्कार करता हुआ चरित्र का संस्कार करता है। इस प्रकार दिनकर की काव्य-दृष्टि में वांछित औदार्य मिलता है जो एक ओर उन्हें निष्प्राण कलावादियों और दूसरी ओर प्रगतिवादियों से पृथक् कर काव्य की समतल और स्वच्छ भूमि पर आसीन करता है।

दिनकर के ये सिद्धान्त पुस्तकों अथवा घोषणा-पत्रों से ग्रहण किये हुए नहीं हैं, वे केवल विचारित ही नहीं हैं, वरन् अनुभूत भी हैं। पीछे एक प्राणवान् व्यक्तित्व का बल होने के कारण उनके सिद्धान्तों में बौद्धिक रूढ़ता न होकर भावों की उदग्र प्रेरणा सर्वत्र वर्तमान मिलती है। वास्तव में उनके व्यक्तित्व की भाँति उनके सिद्धान्त भी अभी क्रमशः निर्माण-पथ पर हैं। यह उनके व्यक्तित्व की सजीवता का प्रमाण है कि उन्होंने किसी एक विचार-पद्धति को नतशिर होकर स्वीकार नहीं कर लिया, वरन् अपने इस संक्रांति-युग की द्वन्द्वमयी चेतना को उसके सहज रूप में ग्रहण किया है। भारतीय आदर्शवाद और विदेश के भौतिकवाद (और निश्चित शब्दावली में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहिए) ने हमारी पीढ़ी के लोगों के मनों में जो एक खिचाव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पदा कर दिया है, दिनकर ने उनको पूरी ईमानदारी से व्यक्त भी किया है : उनके संस्कारों पर भारतीय आदर्शवाद की छाया है, परन्तु उनका चेतन मन सामाजिक कर्तव्य के प्रति जागरूक है। भारतीय आदर्शवाद उन्हें आकाश की ओर खींचता है, परन्तु बिहार का उत्क्रान्त वातावरण उन्हें धरती से अलग नहीं होने देता। इसी द्विविधा के कारण उनकी उक्तियों में कहीं-कहीं बड़ा विचित्र विरोध मिलता है। अपने 'काव्य-समीक्षा और दिशा-निर्देश' निबन्ध में उन्होंने कविता को शुद्ध कला माना है—यहां तक कि उसमें वस्तुतत्त्व की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्त्व दे दिया है, और उधर व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा करते हुए वे सीधे जन्मजात प्रतिभा की अनिर्वचनीयता तक पहुँच गये हैं।[१]

परन्तु इसके विपरीत 'प्रगतिवाद' 'समकालीनता की व्याख्या' और 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' आदि भाषणों में उन्होंने कविता की भौतिक तथा सामाजिक प्रकृति की अत्यन्त आवेगपूर्ण घोषणा की है।[२]

यह द्विविधा केवल दिनकर में ही नहीं, उनके सभी सहयोगी कवियों—नरेन्द्र, अंचल, सोहनलाल द्विवेदी आदि में उतनी ही स्पष्ट है। परन्तु अन्तर केवल एक है—नरेन्द्र ने समाजवाद की जीवन-दृष्टि को बुद्धि द्वारा ग्रहण कर लिया है, अंचल ने भी कम-से-कम दोनों हाथों से उसे पकड़ अवश्य लिया है, इसलिए ये दोनों सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए अपनी द्विविधा को समाजवाद की बौद्धिक रूढ़ियों में छिपा लेने का सफल-असफल प्रयत्न कर सकते हैं। सोहनलाल द्विवेदी भी गांधीवाद का दम भरते हैं, और उनकी दुहाई काफ़ी ज़ोर-शोर से देते रहते हैं, परन्तु उनके विचारों में बौद्धिक शक्ति और सचाई दोनों ही बहुत कम हैं।

दिनकर का व्यक्तित्व अनुभूति-प्रधान है, उसने पूर्वी भारत की भावोष्णता को उत्तराधिकार में पाया है, अतएव द्विविधा उसमें व्यक्त है—गांधीवाद के प्रति आकृष्ट होते हुए भी उसने कहीं भी उसकी बौद्धिक रूढ़ियों में इसे छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। इस द्विविधा को मिटाने की एक और विधि हो सकती थी आत्म-चिन्तन। चिन्तन की मन्द-मन्द आग में गलकर इसके कोने एकसार हो सकते थे, परन्तु दिनकर की जवानी अभी इसे शायद गवारा नहीं करती।

---

१. **पाद टिप्पणी**—"कविता कला है, और जहां कला है वहां हमें 'क्या' की अपेक्षा 'कैसे' पर अधिक ध्यान देना पड़ेगा, जब कवि-प्रतिभा इस 'कैसे' में दक्ष है, तब हर चीज़ उसके स्पर्श से काव्य बन सकती है।" (पृ० १४४) ××× "कवि-प्रतिभा एक ऐसा ही × (अनिर्वचनीय और ईश्वरीय) विलक्षण तत्त्व है, जिसका सन्तोषप्रद विश्लेषण अब तक नहीं हो सका (पृ० १४७)। काव्य को इस गोतीत माया के कारण ही तो शास्त्रीय नियमों से नहीं बाँधा जा सकता।"
(पृ० १४८)
कोष्ठ-बद्ध शब्द मेरे हैं।

२. **पाद टिप्पणी**—दरअसल साहित्य, राजनीति, दर्शन और विज्ञान सबके सब एक ही जीवन के पूरक अंश हैं, और उनमें से मूलतः कोई भी किसी का विरोधी नहीं है। ×× जीवन की एक ही अवस्था की भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न अनुभूतियां पद्धतियों की भिन्नता के क्रम से कविता, राजनीति और विज्ञान बन जाती हैं। (पृ० १२६)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

महादेवी जी की आलोचक-दृष्टि

जैसा मैंने एक और स्थान पर कहा भी है, महादेवी के काव्य में हमें छायावाद का शुद्ध अमिश्रित रूप मिलता है। छायावाद की अन्तर्मुखी अनुभूति, अशरीरी प्रेम, जो बाह्य तृप्ति न पाकर अमांसल सौन्दर्य की सृष्टि करता है, मानव और प्रकृति के चेतन संस्पर्श, रहस्य-चिंतन (अनुभूति नहीं), तितली के पंखों और फूलों की पंखुड़ियों से चुराई हुई कला, और इन सब के ऊपर स्वप्न-सा पुरा हुआ एक वायवी वातावरण—ये सभी तत्त्व जिसमें घुले मिलते हैं, वह है महादेवी की कविता। महादेवी ने छायावाद को पढ़ा नहीं है, अनुभव किया है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।

आज एक साथ ही महादेवी की लेखनी से उद्‌भूत विवेचनात्मक गद्य यथेष्ट रूप में हमारे सामने उपस्थित है। 'यामा', 'दीपशिखा' और 'आधुनिक कवि' की विस्तृत भूमिकाएं, पत्रिकाओं में प्रकाशित 'चिन्तन के क्षणों में' और अब पुस्तकाकार प्राप्त उनके कतिपय लेख काव्य के सनातन सत्यों का जितना स्वच्छ उद्‌घाटन करते हैं, उतना ही आधुनिक साहित्य की गतिविधि का निरूपण भी।

साहित्य-दर्शन

महदेवी के साहित्य-दर्शन का आधार है भारतीय आदर्शवाद, जो जीवन और जगत् में एक सत्य की अखण्ड सत्ता मानता है। जगत् के खण्ड-खण्ड में अखण्डता प्राप्त कर लेना ही सत्य है और उसकी विषमताओं में सामंजस्य देखना ही सौन्दर्य है। महादेवी इन्हीं दो तथ्यों को साहित्य के साध्य और साधन मानती हैं।

"......सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी एकता में अनन्त, इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।"

स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि सौंदर्य का सम्बन्ध रूप से होने के कारण वह हमारे निकट है, हमारा उससे स्नेह-परिचय है। रूपों की परिचित अनेकता की 'भावना' करता हुआ साहित्यकार जब क्रमशः उनकी मौलिक एकता की ओर बढ़ता है तो उसे एक विशिष्ट सामंजस्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यही सामंजस्य-दृष्टि साहित्य की मूल प्रेरणा है और स्वभावतः आनन्दरूपा है, क्योंकि आनन्द का अर्थ भी तो हमारी अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य ही है। 'रसो वै सः' को मानने वाला भारतीय साहित्यशास्त्र मूलतः इसी आनन्दरूप सामंजस्य या अखण्डता पर आधृत है। इसी से वह एक ओर साधारणीकरण के मौलिक तत्त्व तक पहुंच सका और दूसरी ओर क्रोध, शोक, जुगुप्सा और भय आदि में भी सात्विक आनन्द की उपलब्धि कर सका।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहीं आकर साहित्य की उपयोगिता का भी प्रश्न हल हो जाता है। जिसका साध्य सत्य है, साधन सौन्दर्य है और प्रक्रिया आनन्दरूप, उस साहित्य की उपयोगिता जीवन की चरम उपयोगिता है। परन्तु उसका माध्यम स्थूल विधिनिषेध न होकर आन्तरिक सामंजस्य ही है। इस प्रकार साहित्य एक ओर सिद्धान्तों का व्यवसाय होने से बच जाता है, दूसरी ओर सस्ता मनोरंजन होने से। इस रूप में स्वभावतः ही महादेवी साहित्य को एक शाश्वत सत्य मानती हैं। अनेकता में एकता ढूंढ़ने वाली उनकी दृष्टि जीवन और साहित्य के सनातन सिद्धान्तों और मूल्यों को लेकर चलती है, जो परिवर्तनों के बीच भी अक्षुण्ण रहते हैं।

"यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूप-रेखा बदलती रहती है, परन्तु मूल तत्त्वों का बदल जाना तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखण्ड और चारों ओर से घेर लेने वाला विशेष वायुमंडल ही न हटा लिया जाए।"

अतएव यह स्पष्ट है कि महादेवी कविता को गणित के अंकों में घटित होने वाला एक तथ्य-मात्र न मानकर, मूल रूप में रहस्यानुभूति ही मानती हैं। उपर्युक्त उद्धरण में एकता की स्थिति को विस्मयभरी कहने का यही तात्पर्य है। एक स्थान पर उन्होंने अपना मन्तव्य असंदिग्ध शब्दों में व्यक्त किया है—

"व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामंजस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अंश या सामंजस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य का द्वार नहीं खोल देता तो हमारे अन्तर्गत का उल्लास से आलोकित हो उठना सम्भव नहीं।"

वास्तव में कविता के ही नहीं, जीवन के विषय में भी कवि की ऐसी ही रहस्यात्मक भावना है। "मनुष्य चाहे प्रकृति के जड़ उपादानों का संघात-विशेष माना जाए और चाहे किसी व्यापक चेतना का अंशभूत, परन्तु किसी भी अवस्था में उसका जीवन इतना सरल नहीं है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अंकों के समान एक निश्चित सिद्धांत दे सकें।" इसलिए उनका दृष्टिकोण विदेश के भूतवादी दार्शनिकों के दृष्टिकोण से जो जीवन को काम या केवल अर्थ पर केन्द्रित मानकर चलते हैं, मूलतः भिन्न है! उनकी दृष्टि समन्वयवादी है जो काम और अर्थ के आंशिक महत्त्व को तो मुक्तकण्ठ से स्वीकार करती है परन्तु जीवन को समग्रतः इनकी ही इकाइयों में घटाना स्वीकार नहीं करती। भौतिक यथार्थवाद को वे स्वीकार करती हैं, परन्तु निरपेक्ष रूप में नहीं, आध्यात्मिक आदर्श के साथ। "जीवन की खण्ड-खण्ड विविधता ही भौतिक यथार्थ है, अखण्ड एकता ही आध्यात्मिक आदर्श। पहला पदार्थ या अर्थ-काम के घटकों में आँका जा सकता है, दूसरा अनुभूति का ही विषय होने के कारण निश्चय ही थोड़ा-बहुत रहस्यमय है।" इसीलिए एक ओर महादेवीजी साहित्य के व्याख्यान में भौतिक वातावरण को उचित महत्त्व देती हैं, दूसरी ओर वे सामंजस्य या एकता की आध्यात्मिक कसौटी का उपयोग करती हैं।

इसी प्रकार वे काव्यानन्द को भी ऐन्द्रिय संवेदनों में न ढूंढ़कर प्राण-चेतना के उस सूक्ष्म धरातल पर ढूंढ़ती हैं जहां बुद्धि और चित्त, ज्ञान और अनुभूति का पूर्ण सामंजस्य हो जाता है, जो चिन्तन का धरातल है, जहां भट्टनायक या अभिनव के शब्दों में सतोगुण, तमस् और रजस् पर विजयी होता है। यहां आकर उनकी स्थिति एक ओर अति-बुद्धिवादी और दूसरी ओर शुद्ध रसवादी साहित्यकारों से भिन्न हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सामंजस्य की यह दृष्टि, दूसरे शब्दों में संतुलन और संयम की दृष्टि है जिसमें किसी भी प्रकार के अतिचार को, जीवन-प्रवाह के उन असाधारण क्षणों को, जहां संतुलन और संयम तट के मृत्तिका-खण्डों की तरह बह जाते हैं, स्थान नहीं। यह दृष्टि या तो जीवन के साधारण धरातल पर ही रुक जाती है और या फिर एकदम पूर्ण स्थिति—वाल्मीकि, व्यास, शेक्सपियर पर ही रुकती है। इसलिए यह अमृत-दृष्टि बायरन जैसे विषपायियों के प्रति, जो सामंजस्य और संतुलन की अवस्था तक नहीं पहुँच पाये हैं, सदैव कितनी क्रूर रही है। एक ओर सामंजस्य-द्रष्टा रवीन्द्र माईकेल को क्षमा नहीं कर पाते थे, और दूसरी ओर सामंजस्य-द्रष्टा महादेवी उग्र या अंचल को क्षमा नहीं कर सकतीं। इनकी शक्ति को ये लोग आत्म-घातिनी शक्ति कहकर छोड़ देंगे। परन्तु क्या यह उचित है ? सत्य यह है कि यह सामंजस्य नैतिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सका, इसलिए एक स्थान पर जाकर उसमें भेद-बुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। महादेवी के साहित्यिक मान नैतिकता के बोझ से काफ़ी दबे हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं। और इसमें उनका स्त्रीत्व बाधक हुआ है, जो मर्यादा से बाहर जीवन की मुक्ति खोजने का अभ्यासी नहीं है। और, वास्तव में अभी महादेवीजी की दृष्टि पूर्ण सामंजस्य की अधिकारिणी भी नहीं हो पायी। क्योंकि उसमें पुरुषत्व से भिन्न नारीत्व की इतनी प्रखर चेतना वर्तमान है कि वह पुरुष को आततायी-प्रतिद्वन्द्वी के अतिरिक्त और कुछ कठिनाई से ही समझ पाती है। महादेवी जैसे उन्नत व्यक्तित्व में यह भाव अवश्य किसी ग्रन्थि की ही अभिव्यक्ति है जो अभी उलझी रह गई है।

सामयिक समस्या

इन सिद्धांतों का उपयोग उन्होंने आधुनिक हिंदी-साहित्य के विवेचन में किया है और यहां हमें महादेवीजी का सक्रिय आलोचक रूप मिलता है। छायावाद और प्रगतिवाद से सम्बद्ध लगभग सभी महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर उन्होंने सम्यक् प्रकाश डाला है जो संक्रांति की इस कुहर वेला में फैली हुई अनेक भ्रांतियों को दूर कर देता है। इन प्रसंगों में से मुख्यतम प्रसंग छायावाद को लेकर, आइए, बहस की जाए—

छायावाद

"मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता है। स्वच्छन्द घूमते-घूमते थककर वह अपने लिए सहस्र बंधनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बंधनों से ऊबकर उनको तोड़ने में सारी शक्तियां लगा देता है।"

"छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बंधन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।"

"स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छायावाद उपयुक्त ही था, और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।"

"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है।"

"बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भाव्य-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी हुई सौंदर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की, और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृति-वाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।"

"छायावाद करुणा की छाया में सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद ही है।"

इस प्रकार महादेवीजी के अनुसार :

१. छायावाद की मूल चेतना है सर्ववाद और इसकी भावभूमि है मुख्यतः प्रकृति, क्योंकि सर्ववाद की व्यंजना का मुख्य माध्यम वही है।

२. इस सामान्य चेतना पर कवि के व्यक्तिगत सुख-दुःख की चेतना का गहरा प्रभाव है। वास्तव में सिद्धांत में समष्टिवादी होती हुई भी यह चेतना व्यवहार में व्यष्टिवादी ही है।

३. सर्ववाद निसर्गतः ही करुणा को जन्म देता है, अतएव जन्म से ही छायावाद पर करुणा की छाया है।

४. उसका उद्गम-स्थान हमारी प्राण-चेतना का वह सूक्ष्म धरातल है जहां बुद्धि और चित्त का संयोग होता है। अर्थात् छायावाद चिंतन के क्षणों की उद्भूति है। अतएव वह स्वभावतः ही अन्तर्मुखी कविता है।

५. छायावाद में मूर्त-अमूर्त के सामंजस्य की पूर्णता है।

उपर्युक्त विवेचन मेरी अपनी धारणाओं के इतना निकट है कि इनमें विशेष आपत्ति के लिए स्थान नहीं है। फिर भी ऐसा अवश्य लगता है कि महादेवीजी ने छायावाद की तन्वी कविता पर दर्शन का बोझ कुछ अधिक लाद दिया है। अपने मूल रूप में छायावाद द्विवेदी-युग की स्थूल प्रवृत्तियों के विरोध में जागी हुई जीवन के प्रति एक रोमानी प्रतिक्रिया थी—स्थूल उपयोगिता के स्थान पर जिसमें एक रहस्योन्मुखी भावुकता थी। सामयिक परिस्थितियों के अनुरोध से जीवन से रस और माँस ग्रहण न कर सकने के कारण वह एक तो वांछित शक्ति का संचय नहीं कर पायी, दूसरे एकान्त अन्तर्मुखी हो गई। इस प्रकार उसके आविर्भाव में मानसिक दमन और अतृप्तियों का बहुत बड़ा योग है, इसको कैसे भुलाया जा सकता है ?

महादेवीजी ने कविता की तात्त्विक परिभाषा में छायावाद को कुछ ऐसा फ़िट कर दिया है कि वह कविता के परिपूर्ण क्षणों की वाणी ही लगता है—यह स्वभावतः असत्य है। छायावाद की अपनी सीमाएं हैं। उसकी कविताओं में जितनी सूक्ष्मता है उतनी शक्ति नहीं, जितनी सुकुमारता है उतनी तीव्रता नहीं, जितना अरूप-चिंतन है उतना मांसल रस नहीं आ सका—इसका निषेध कैसे किया जा सकता है ! हमारे दो प्रतिनिधि कवि पन्त और महादेवी जीवन में पूरी तरह उतर नहीं पाये। जब जीवन की भूख तड़पती थी तब तो वे परिस्थितिवश उसे झुठलाते रहे और जब भूख मंद पड़ गई तब ये जीवन में उतरे—पर इस समय उसका संस्कार करने के अतिरिक्त इनके पास दूसरा कोई उपाय नहीं रहा। संस्कार में रस तभी आता है जब उसके द्वारा खौलती हुई वासनाओं से संघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त की जाती है। प्रसाद और निराला में स्थान-स्थान पर वह भूख हुंकार उठी है, और वहीं वे महान् काव्य की सृष्टि कर सके हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आलोचना-शक्ति

महादेवीजी की आलोचना-शैली चिंतन की शैली है, जिसमें विचार और अनुभूति का संयोग है। वे जैसे बौद्धिक तथ्यों को पचा-पचाकर हमारे समक्ष रखती हैं। निदान बौद्धिक तीक्ष्णता तो उनके विवेचन में इतनी नहीं मिलती, परन्तु संश्लेषण सर्वत्र मिलता है। कहीं भी किसी प्रकार की उलझन नहीं है। यह दूसरी बात है कि पाठक को उसे तत्काल ग्रहण कर लेने में कठिनाई हो। क्योंकि उसका तो कारण है—यह कि विचार की अपेक्षा चिंतन को ग्रहण करने में देर लगती है। शुक्लजी की शास्त्रीय गवेषणा से सर्वथा भिन्न यह शैली प्रसाद और पन्त की ठोस बौद्धिक विवेचना की अपेक्षा टैगोर की लचीली काव्य-चिंतना के अधिक समीप है।

एक दूसरी विशेषता जो महादेवी की आलोचना में मिलती है वह है ऐतिहासिक एक-सूत्रता, जो सामंजस्य को जीवन का और साहित्य का मूलाधार मानकर चलने वाले आलोचक के लिए स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए एक ओर उन्होंने छायावाद की प्रकृति-भावना का वेदों से आरम्भ होने वाली प्रकृति-भावना की भारतीय परम्परा के साथ बड़ी सुन्दरता के साथ सम्बन्ध-निरूपण किया है; दूसरी ओर आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का समाज की आर्थिक परम्पराओं के साथ। इसलिए उनकी आलोचना प्रायः एकांगी नहीं हुई। उसमें अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों का संतुलन है और जीवन की विस्तृत भूमिका पर रखकर भी साहित्य को उसके अति-प्रत्यक्ष प्रश्नों से बचाये रखने का विवेक और सुरुचि है।

सारतः महादेवी के ये निबन्ध काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के अमर व्याख्यान हैं। आज साहित्यिक मूल्यों के बवण्डर में भटका हुआ जिज्ञासु इन्हें आलोक-स्तम्भ मानकर बहुत-कुछ स्थिरता पा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हाली के काव्य-सिद्धान्त[1]

हाली का युग

हाली का युग भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण का युग था। उस समय पाश्चात्य संस्कृति एवं साहित्य से संपर्क और संघर्ष के फलस्वरूप एक नवीन चेतना का उदय हो रहा था, जो भारतीय संस्कृति तथा साहित्य में आधुनिक युग के सूत्रपात का सूचक था। इस युग की मुख्य प्रवृत्तियों का आकलन संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है :

१. साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध—उत्तर-मध्यकाल में साहित्य और जीवन का सम्बन्ध प्रायः टूट चुका था। साहित्य एक प्रकार से विलास और मनोविनोद की सामग्री बन गया था। किन्तु अब साहित्य का जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ—अर्थात्, इस विस्मृत तथ्य की पुनः स्थापना हुई कि साहित्य का जीवन के साथ दुहरा सम्बन्ध है : दर्पण के समान वह जीवन को प्रतिबिंबित ही नहीं करता, वरन् सुधार-संस्कार की प्रेरणा भी देता है। परिणामतः युग की आवश्यकताओं के अनुकूल उसमें सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना का समावेश हुआ और नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा हुई; एक वाक्य में, साहित्य को जीवन्त रूप प्रदान किया गया।

२. विवेकशील एवं बौद्धिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण—पूर्ववर्ती साहित्य जहां भावुकता से अतिरंजित था, वहां अब विवेक का प्राधान्य हुआ। जीवन में भावना का अपना मूल्य है, किन्तु अतिशय भावुकता से अनेक प्रकार की विकृतियों का पोषण होता है, अतः जीवन के स्वास्थ्य के लिए विवेक-बुद्धि का आधार सर्वथा अनिवार्य है। नया साहित्य हृदय की माधुरी की क़द्र करता हुआ भी विवेक की दृढ़ता का अधिक क़ायल था।

३. परम्परा के अंधानुकरण तथा रूढ़िवाद का विरोध—यह युग जीवन और साहित्य दोनों में परम्परा के अंधानुकरण तथा रूढ़िवाद का विरोधी था। अतीत की गौरव-परंपराओं के प्रति श्रद्धावान् होता हुआ भी वह रूढ़ियों के प्रति असहिष्णु था, क्योंकि तत्कालीन अवनति का मूल कारण रूढ़िवाद ही था और उसको उच्छिन्न किये बिना जीवन एवं साहित्य में प्रगति असम्भव थी।

४. विस्तार और सुधार की आकांक्षा—वर्तमान से असंतुष्ट यह युग विस्तार और सुधार की आकांक्षा से अनुप्राणित था। नवीन जीवन के अनुरूप नवीन तत्त्वों के अंतर्भाव के प्रति आग्रह जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त था और साहित्य इसका अपवाद नहीं था।

हाली की प्रवुद्ध प्रतिभा इन समस्त प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओं के प्रति जागरूक थी और एक समर्थ साहित्य-नेता की भाँति उन्होंने इन सभी को आत्मसात् कर अपने युग का प्रतिनिधित्व तथा तत्कालीन उर्दू-साहित्य का नेतृत्व किया।

१. मुक़द्दमा-ए-शेर-ओ-शायरी के आधार पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ग्रन्थ का उद्देश्य

वास्तव में मुक़द्दम-ए-शेर-ओ-शायरी स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर हाली के काव्य-संग्रह की भूमिका है। हाली ने अपने युग की माँग के अनुरूप उर्दू-काव्य को नवीन दिशा प्रदान की। उर्दू-कविता में परम्परा से भिन्न नवीन वस्तुतत्त्व और नवीन शैली का समावेश हुआ जिसकी स्वीकृति एकाएक संभव नहीं थी। इसलिए अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पद्य से भी अधिक गद्य का—भावना से भी अधिक तर्क का—अवलम्ब लेना उनके लिए आवश्यक हो गया। परिणामतः प्रस्तुत भूमिका में सिद्धांत-विवेचन ही प्रमुख है, व्यावहारिक आलोचना केवल सिद्धांत को पुष्ट तथा उदाहृत करने के लिए ही की गई है। किन्तु सिद्धांत-विवेचन भी वास्तव में हाली के लिए साधन ही है, साध्य नहीं। साध्य है उर्दू-कविता का सुधार—उर्दू काव्य-प्रणाली का युगानुकूल सुधार और विस्तार : "फिर भी, हमें अपने देश के ऐसे युवकों से जिनकी कविता के प्रति अभिरुचि है और जो युग के तेवर पहचानते हैं, यह आशा है कि वे शायद इस निबन्ध को पढ़ें और कम-से-कम इतना स्वीकार करें कि उर्दू-कविता की वर्तमान स्थिति में निस्संदेह सुधार अथवा संशोधन की आवश्यकता है। हमने कविता के सुधार के सम्बन्ध में जो तुच्छ विचार इस लेख में प्रकट किये हैं यदि उनमें से एक भी मत स्वीकार न किया जाए, किन्तु यदि देश में इस लेख से आमतौर पर यह विचार फैल जाए कि वस्तुतः हमारी कविता में सुधार की आवश्यकता है, तो हम समझेंगे कि हमें पूरी सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि उन्नति की पहली सीढ़ी अपनी अवनति का विश्वास है।" (पृ० १३२)। —हाली के काव्य-सिद्धांतों का विश्लेषण तथा मूल्यांकन करने के लिए प्रस्तुत उद्देश्य को दृष्टि में रखना अत्यंत आवश्यक एवं उपयोगी होगा। अस्तु !

हाली के काव्य-सिद्धान्त

काव्य की परिभाषा और मूलतत्त्व—हाली ने काव्य या कविता की परिभाषा नहीं की। उनके मत से काव्य की 'कोई परिभाषा ऐसी नहीं है जो अकाट्य हो' (पृ० ३९)। फिर भी कुछ परिभाषाएं ऐसी हैं जिन्हें वे यथार्थ के निकट मानते हैं। उदाहरण के लिए :

१. कविता एक प्रकार की अनुकृति है।

२. एक विद्वान् ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है :

"जो विचार एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों द्वारा इस उद्देश्य से व्यक्त किया जाय कि श्रोता का मन उसे सुनकर प्रसन्न अथवा प्रभावित हो, वह काव्य है—चाहे पद्य में हो अथवा गद्य में।"

इब्ने रशीक़ के शब्दों में—

(३) "काव्य जब पढ़ा जाए तो प्रत्येक व्यक्ति का यह भाव हो कि ऐसा मैं भी कह सकता हूं; किन्तु जब वैसा कहने का इरादा किया जाए तो सिद्धहस्त भी असमर्थ रहें।"

वास्तव में ये तीनों परिभाषाएं भी अपूर्ण और एकांगी हैं। लक्षण की कसौटी यह है कि वह अपने में सर्वथा पूर्ण, स्वतः स्पष्ट, अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति से मुक्त हो।

पहली परिभाषा मूलतः अरस्तू की है। हाली ने यहां मैकाले का उल्लेख किया है और इस परिभाषा को उन्हीं की माना है। इसमें संदेह नहीं कि मैकाले ने कवि और चित्रकार को समानधर्मा मानते हुए अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त के प्रभाव को स्वीकार किया है, किन्तु ये शब्द

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हाली के काव्य-सिद्धान्त[1]

हाली का युग

हाली का युग भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण का युग था। उस समय पाश्चात्य संस्कृति एवं साहित्य से संपर्क और संघर्ष के फलस्वरूप एक नवीन चेतना का उदय हो रहा था, जो भारतीय संस्कृति तथा साहित्य में आधुनिक युग के सूत्रपात का सूचक था। इस युग की मुख्य प्रवृत्तियों का आकलन संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है :

१. साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध—उत्तर-मध्यकाल में साहित्य और जीवन का सम्बन्ध प्रायः टूट चुका था। साहित्य एक प्रकार से विलास और मनोविनोद की सामग्री बन गया था। किन्तु अब साहित्य का जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ—अर्थात्, इस विस्मृत तथ्य की पुनः स्थापना हुई कि साहित्य का जीवन के साथ दुहरा सम्बन्ध है : दर्पण के समान वह जीवन को प्रतिबिंबित ही नहीं करता, वरन् सुधार-संस्कार की प्रेरणा भी देता है। परिणामतः युग की आवश्यकताओं के अनुकूल उसमें सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना का समावेश हुआ और नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा हुई; एक वाक्य में, साहित्य को जीवन्त रूप प्रदान किया गया।

२. विवेकशील एवं बौद्धिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण—पूर्ववर्ती साहित्य जहां भावुकता से अतिरंजित था, वहां अब विवेक का प्राधान्य हुआ। जीवन में भावना का अपना मूल्य है, किन्तु अतिशय भावुकता से अनेक प्रकार की विकृतियों का पोषण होता है, अतः जीवन के स्वास्थ्य के लिए विवेक-बुद्धि का आधार सर्वथा अनिवार्य है। नया साहित्य हृदय की माधुरी की क़द्र करता हुआ भी विवेक की दृढ़ता का अधिक क़ायल था।

३. परम्परा के अंधानुकरण तथा रूढ़िवाद का विरोध—यह युग जीवन और साहित्य दोनों में परम्परा के अंधानुकरण तथा रूढ़िवाद का विरोधी था। अतीत की गौरव-परंपराओं के प्रति श्रद्धावान् होता हुआ भी वह रूढ़ियों के प्रति असहिष्णु था, क्योंकि तत्कालीन अवनति का मूल कारण रूढ़िवाद ही था और उसको उच्छिन्न किये बिना जीवन एवं साहित्य में प्रगति असम्भव थी।

४. विस्तार और सुधार की आकांक्षा—वर्तमान से असंतुष्ट यह युग विस्तार और सुधार की आकांक्षा से अनुप्राणित था। नवीन जीवन के अनुरूप नवीन तत्त्वों के अंतर्भाव के प्रति आग्रह जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त था और साहित्य इसका अपवाद नहीं था।

हाली की प्रबुद्ध प्रतिभा इन समस्त प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओं के प्रति जागरूक थी और एक समर्थ साहित्य-नेता की भाँति उन्होंने इन सभी को आत्मसात् कर अपने युग का प्रतिनिधित्व तथा तत्कालीन उर्दू-साहित्य का नेतृत्व किया।

१. मुक़द्दम-ए-शेर-ओ-शायरी के आधार पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ग्रन्थ का उद्देश्य

वास्तव में मुक़द्दम-ए-शेर-ओ-शायरी स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर हाली के काव्य-संग्रह की भूमिका है। हाली ने अपने युग की माँग के अनुरूप उर्दू-काव्य को नवीन दिशा प्रदान की। उर्दू-कविता में परम्परा से भिन्न नवीन वस्तुतत्त्व और नवीन शैली का समावेश हुआ जिसकी स्वीकृति एकाएक संभव नहीं थी। इसलिए अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पद्य से भी अधिक गद्य का—भावना से भी अधिक तर्क का—अवलम्ब लेना उनके लिए आवश्यक हो गया। परिणामतः प्रस्तुत भूमिका में सिद्धांत-विवेचन ही प्रमुख है, व्यावहारिक आलोचना केवल सिद्धांत को पुष्ट तथा उदाहृत करने के लिए ही की गई है। किन्तु सिद्धांत-विवेचन भी वास्तव में हाली के लिए साधन ही है, साध्य नहीं। साध्य है उर्दू-कविता का सुधार—उर्दू काव्य-प्रणाली का युगानुकूल सुधार और विस्तार : "फिर भी, हमें अपने देश के ऐसे युवकों से जिनकी कविता के प्रति अभिरुचि है और जो युग के तेवर पहचानते हैं, यह आशा है कि वे शायद इस निबन्ध को पढ़ें और कम-से-कम इतना स्वीकार करें कि उर्दू-कविता की वर्तमान स्थिति में निस्संदेह सुधार अथवा संशोधन की आवश्यकता है। हमने कविता के सुधार के सम्बन्ध में जो तुच्छ विचार इस लेख में प्रकट किये हैं यदि उनमें से एक भी मत स्वीकार न किया जाए, किन्तु यदि देश में इस लेख से आमतौर पर यह विचार फैल जाए कि वस्तुतः हमारी कविता में सुधार की आवश्यकता है, तो हम समझेंगे कि हमें पूरी सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि उन्नति की पहली सीढ़ी अपनी अवनति का विश्वास है।" (पृ० १३२)। —हाली के काव्य-सिद्धांतों का विश्लेषण तथा मूल्यांकन करने के लिए प्रस्तुत उद्देश्य को दृष्टि में रखना अत्यंत आवश्यक एवं उपयोगी होगा। अस्तु !

हाली के काव्य-सिद्धान्त

काव्य की परिभाषा और मूलतत्त्व—हाली ने काव्य या कविता की परिभाषा नहीं की। उनके मत से काव्य की 'कोई परिभाषा ऐसी नहीं है जो अकाट्य हो' (पृ० ३९)। फिर भी कुछ परिभाषाएं ऐसी हैं जिन्हें वे यथार्थ के निकट मानते हैं। उदाहरण के लिए :

१. कविता एक प्रकार की अनुकृति है।

२. एक विद्वान् ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है :

"जो विचार एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों द्वारा इस उद्देश्य से व्यक्त किया जाय कि श्रोता का मन उसे सुनकर प्रसन्न अथवा प्रभावित हो, वह काव्य है—चाहे पद्य में हो अथवा गद्य में।"

इब्ने रशीक़ के शब्दों में—

(३) "काव्य जब पढ़ा जाए तो प्रत्येक व्यक्ति का यह भाव हो कि ऐसा मैं भी कह सकता हूं; किन्तु जब वैसा कहने का इरादा किया जाए तो सिद्धहस्त भी असमर्थ रहें।"

वास्तव में ये तीनों परिभाषाएं भी अपूर्ण और एकांगी हैं। लक्षण की कसौटी यह है कि वह अपने में सर्वथा पूर्ण, स्वतः स्पष्ट, अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति से मुक्त हो।

पहली परिभाषा मूलतः अरस्तू की है। हाली ने यहां मैकाले का उल्लेख किया है और इस परिभाषा को उन्हीं की माना है। इसमें संदेह नहीं कि मैकाले ने कवि और चित्रकार को समानधर्मा मानते हुए अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त के प्रभाव को स्वीकार किया है, किन्तु ये शब्द

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मैकाले ने कहीं नहीं लिखे। उनका वाक्य इस प्रकार है, "कविता से हमारा अभिप्राय है शब्द-प्रयोग की वह कला जिससे कि कल्पना में भ्रम उत्पन्न हो जाये—शब्दों के द्वारा वही कर दिखाने की कला, जो चित्रकार रंगों के द्वारा करता है।"[1] अरस्तू का मूल वाक्य इस प्रकार है : "महा-काव्य, त्रासदी, कामदी और रौद्रस्तोत्र तथा वंशी-वीणा-संगीत के अधिकांश भेद अपने सामान्य रूप में अनुकरण के ही प्रकार हैं।"[2] जैसा कि हमने 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' की भूमिका में स्पष्ट किया है, अरस्तू ने भी वस्तुतः काव्य की कोई निश्चित परिभाषा नहीं की। उसके अनेक सूत्रों के आधार पर एक परिभाषा का निर्माण अवश्य किया जा सकता है जो इस प्रकार है—"काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।"[3] किन्तु इसमें 'प्रकृति' और 'अनुकरण' दोनों ही शब्द अस्पष्ट एवं व्याख्या-सापेक्ष हैं और 'अनुकरण' शब्द का वास्तविक अभिप्राय तो अनेक प्रकार की प्रामाणिक व्याख्याएं प्रस्तुत हो जाने के बाद आज भी अनिर्णीत है। इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप में काव्य की जो वस्तुपरक परिभाषाएं की गईं, उनका मूलाधार अरस्तू के शब्द ही हैं, फिर भी यह परिभाषा सहज ग्राह्य एवं निर्दोष तो नहीं मानी जा सकती।

दूसरी परिभाषा भी वस्तुतः काव्य की परिभाषा न होकर उसके उद्देश्य की व्याख्या ही अधिक है। लक्षण का पहला ही गुण—चुस्ती—उसमें नदारद है। इसका रूप कुछ इस प्रकार बनता है : काव्य से अभिप्राय गद्य या पद्य में व्यक्त ऐसे विचार का है जो श्रोता के मन को प्रसन्न और प्रभावित करे।—इसमें भी अनेक प्रकार की त्रुटियां हैं। एक तो इसमें 'विचार' शब्द भ्रामक है, किन्तु उस समय पारिभाषिक शब्दों के रूप स्थिर नहीं हुए थे, अतः यह मान लेना चाहिए कि 'विचार' यहां सामान्यतः 'अर्थ' का वाचक है। आगे 'विचार' की विशेषता—प्रसन्न और प्रभावित करने की क्षमता—इस शंका का और भी निराकरण कर देती है कि कहीं 'विचार' शब्द में भाव-तत्त्व की उपेक्षा तो निहित नहीं है। किन्तु काव्य में अर्थ और शब्द के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भ्रान्ति है। वाक्य-रचना के अनुसार तो स्पष्टतः यहां अर्थ (विचार) पर ही बल है (जो विचार प्रसन्न और प्रभावित करे वह काव्य है)। पर अभिव्यक्ति का 'निराला-पन' और 'असाधारणता' इस बात के प्रमाण हैं कि वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रस्तुत लक्षण में (१) शब्द, (२) अर्थ, और (३) शब्द-अर्थ का रमणीय सम्बन्ध—काव्य के इन तीनों तत्त्वों का स्पष्ट समावेश तो है, किन्तु इनका उचित संयोजन नहीं हुआ—अर्थात् शब्द और अर्थ के सामंजस्य की निर्भ्रान्त स्वीकृति यहां नहीं है, इसीलिए उनके प्रभाव (प्रसन्न और प्रभावित करना) का पृथक् रूप से उल्लेख करने की आवश्यकता हुई है। वस्तुस्थिति यह है कि काव्य में शब्द और अर्थ का पूर्ण तादात्म्य रहता है जो स्वभावतः आह्लादकारी होता है—आह्लादकता पृथक् तत्त्व न होकर सामंजस्य का सहज गुण है। आलोच्य लक्षण में काव्य के इस सूक्ष्म रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ है।

इब्ने रशीक़ का लक्षण वास्तव में लक्षण की अपेक्षा सूक्ति अधिक है। उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि काव्य सर्व-सामान्य अनुभूतियों की असामान्य अभिव्यक्ति है। मूल अर्थ इसका भी सत्य के निकट ही है—अर्थात् यहां भी इसी सर्वमान्य तथ्य की अभिव्यक्ति है कि काव्य की विषय-वस्तु का आधार साधारण अनुभव या स्थायी भाव आदि ही होते हैं और उसकी अभिव्यंजना में

१. लिटरेरी ऐसेज़ : मिल्टन, पृ० ६
२. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० ६
३. वही, भूमिका, पृ० २६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शब्दार्थ का असाधारण चमत्कार रहता है : संवेद्य अनुभव तो सर्व-सामान्य ही होता है, किन्तु अभिव्यक्ति की क्षमता प्रतिभा, निपुणता आदि विशिष्ट गुणों पर निर्भर रहती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हाली की काव्य-विषयक मान्यताओं का रूप कुछ-कुछ इस प्रकार बनता है :

१. काव्य के प्रति हाली का दृष्टिकोण प्रधानतः वस्तुपरक है। काव्य के प्रति स्थूलतः दो प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं : एक—आत्मपरक अथवा रोमानी दृष्टिकोण जिसका प्रतिनिधित्व करती है यह परिभाषा कि 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है' और, दूसरा—वस्तुपरक दृष्टिकोण जिसकी प्रतिनिधि परिभाषा यह मानी जा सकती है कि 'काव्य जीवन की आलोचना है।' पहले में आनन्द-तत्त्व पर बल है और दूसरे में जीवन-तत्त्व पर। हाली का मत दूसरे दृष्टिकोण के अन्तर्गत आता है।

२. शब्द और अर्थ में यद्यपि अर्थ का भी बड़ा महत्त्व है परन्तु प्राधान्य शब्द ही का है।

३. काव्य की अभिव्यंजना असाधारण होती है जिसके कारण उसमें चमत्कार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

ये तीनों लक्षण हाली के नहीं हैं, अतः इनकी आलोचना का सीधा सम्बन्ध हाली से नहीं है; फिर भी चूंकि इनमें उन्होंने अपनी आस्था व्यक्त की है, अतः इनके आधार पर काव्य के स्वरूप के विषय में हाली की मान्यताओं का आकलन किया जा सकता है और इस सम्बन्ध से इनके गुण-दोषों का भागी भी हाली को ठहराया ही जा सकता है।

काव्य के मूल तत्त्व (हेतु और उपादान)

हाली ने काव्य की आवश्यकताओं का ही विवेचन प्रत्यक्ष रूप से किया है, तत्त्वों का नहीं। वस्तुतः आवश्यकताओं के अन्तर्गत उन्होंने काव्य के हेतुओं तथा उपादानों—दोनों को ही समेट लिया है। काव्य की परिभाषा के बाद उन्होंने यह प्रसंग उठाया है कि काव्य के लिए क्या शर्तें ज़रूरी हैं ? (पृ० ४३) यहां वस्तुतः वे काव्य-हेतुओं का ही विवेचन करते हैं। उनके मत से कविता करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता है : (१) कल्पना, (२) प्रकृति का अध्ययन, और (३) शब्द-विन्यास। वस्तुतः एक प्रकार से तो ये कविता के हेतु हैं। कल्पना से अभिप्राय है कल्पना-शक्ति का अर्थात् 'प्रतिभा' का : "यह वह प्रतिभा है जिसे कवि मां के पेट से अपने साथ लेकर निकलता है और जो अभ्यास से प्राप्त नहीं हो सकती" (पृ० ४३)। प्रकृति के अध्ययन का अर्थ है 'निपुणता' : "कविता में निपुणता प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि सृष्टि-रूप ग्रंथ और उसमें से विशेषकर मानव-स्वभाव-रूपी पुस्तक का अध्ययन अत्यन्त विचारपूर्वक किया जाय" (पृ० ४६)। शब्द-विन्यास 'अभ्यास' का समानान्तर गुण है : "कविता कवि के मस्तिष्क से सर्वथा पूर्णरूप में प्रकट नहीं होती अपितु विचार की प्रारम्भिक अव्यवस्था से लेकर अन्त के परिष्कार और संस्कार तक बहुत से पड़ाव पार करने होते हैं।" (पृ० ५३)। प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास इन तीनों में संस्कृत के आचार्यों की भाँति हाली ने भी प्रतिभा को ही प्रमुख माना है : "यदि कवि के व्यक्तित्व में यह प्रतिभा विद्यमान है और बाक़ी शर्तों में, जो काव्य-कौशल के लिए आवश्यक हैं, कुछ कमी है, तो वह उस अभाव की पूर्ति उस प्रतिभा से कर सकता है।" (पृ० ४३)। ठीक यही भारतीय आचार्य का मत है :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
—(आनन्दवर्धन)

अर्थात् कवि की शक्ति व्युत्पत्ति के अभाव से उत्पन्न दोष का संवरण कर लेती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र के काव्यहेतु-विवेचन से प्रभावित है। उन्नीसवीं शती के अन्त में भारतीय ज्ञान-विज्ञान का प्रसार होने लगा था और नये विद्वान् प्राचीन सिद्धान्तों को नये ढंग से प्रस्तुत करने लग गए थे। हाली की ग्रहणशील जागरूक मेधा ने, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, उपर्युक्त विवेचन का लाभ उठाया है। परन्तु हाली के इस विवेचन में 'हेतुओं' के साथ 'उपादान' भी मिल गए हैं।

कल्पना के विवेचन में कल्पना-शक्ति अर्थात् प्रतिभा और कल्पना तत्त्व दोनों का ही अन्तर्भाव है : जहां काव्यकर्त्री शक्ति का विवेचन है वहां वह प्रतिभा का पर्याय होने के नाते हेतु है; किन्तु जहां आधार के रूप में उसका उल्लेख है वहां उपादान है। प्रकृति का अध्ययन जहां कारण है वहां काव्य-हेतु है, किन्तु जहां आधारभूत सामग्री है वहां वह अनुभव अर्थात् भाव-तत्त्व और ज्ञान-तत्त्व का वाचक होने के कारण उपादान है। इसी प्रकार जहां शब्द-विन्यास कवि के कर्तव्य का अंग है वहां हेतु है और जहां आधार है अर्थात् अभिव्यंजना का प्रतीक है वहां उपादान है। इस विश्लेषण के अनुसार काव्य के तीन उपादान हाली को मान्य हैं : (१) कल्पना तत्त्व, (२) अनुभव (भाव, ज्ञान) तत्त्व, और (३) अभिव्यंजना तत्त्व। कल्पना पौरस्त्य काव्यशास्त्र के लिए अपेक्षाकृत नया तत्त्व था, अतः हाली ने उसकी विस्तार से चर्चा की है। कल्पना से अभिप्राय उस तत्त्व से है जिसके द्वारा काव्य की आधारभूत सामग्री—अनुभव अर्थात् भाव, ज्ञान आदि—व्यवस्थित होकर नवीन रूप धारण करती है।[१] "कल्पना की यह प्रक्रिया जिस प्रकार विचारों में होती है, उसी प्रकार शब्दों (शैली) में भी होती है" (पृ० ४५)। इस प्रकार कल्पना का दुगुना महत्त्व है। यद्यपि कल्पना के नियमों और तर्क के नियमों में भेद है, फिर भी उस पर तर्क और विवेक का अंकुश आवश्यक है क्योंकि स्वैरिणी कल्पना अनर्गल वाग्विलास का रूप धारण कर लेती है। कल्पना वास्तव में अनुभव अर्थात् प्रकृति के कोष से संकलित सामग्री की सहायक ही है, स्थानापन्न नहीं। उसका स्वेच्छाचार वहीं होता है जहां अनुभव का कोष रिक्त हो जाता है।[२] अनुभव तत्त्व पर भी हाली ने बहुत बल दिया है। काव्य की सामग्री का आधार यही है। इसके अभाव में कल्पना और अभिव्यंजना दोनों ही असमर्थ रहती हैं। तीसरे तत्त्व—अभिव्यंजना की महत्ता भी स्वयंसिद्ध है : हाली ने उसे एक प्रकार से अर्थ से भी अधिक मौलिक तत्त्व माना है—"हम यह बात स्वीकार करते हैं कि काव्य का आधार जिस मात्रा में शब्दों पर निर्भर है उस मात्रा में अर्थ पर नहीं। अर्थ कैसा ही महान् और सूक्ष्म हो, यदि अच्छे शब्दों में व्यक्त न किया जाएगा, कभी दिलों में घर नहीं कर सकता। और एक घटिया विषय सुन्दर शब्दों में व्यक्त होने से प्रशंसनीय बन जाता है।" (पृ० ५७)

काव्य का महत्त्व और प्रयोजन

यद्यपि कवि और काव्य के विरुद्ध बहुत-कुछ कहा गया है, फिर भी उनका महत्त्व

---

१. पृ० ४५
२. पृ० ६२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अक्षुण्ण है। काव्य का महत्त्व सिद्ध करने के लिए हाली ने अनेक तर्क दिये हैं :

१. कविता प्रातिभ गुण है—"वह प्रकृति का वरदान है।" प्रकृति का गुण होने के कारण, भगवान् का वरदान होने के कारण वह समाज के लिए उपयोगी है। "इससे स्पष्ट है कि काव्य कोई अभ्यास से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं, बल्कि कुछ लोगों में यह गुण प्रकृति का वरदान होता है। अतः जो व्यक्ति भगवान् की इस देन को प्रकृति की इच्छा के अनुसार काम में लायेगा, यह सम्भव नहीं कि उससे समाज को कुछ लाभ न हो।" (पृ० ३)

२. कविता का प्रभाव सर्वमान्य है, इसलिए उसका सदुपयोग निश्चय ही लाभकारी होगा। "कविता के प्रभाव को कोई व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। श्रोताओं के मन में इससे अवसाद या आनन्द, उत्साह या निराशा, न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य ही उत्पन्न होती है और इससे अनुमान हो सकता है कि यदि उससे कुछ काम लिया जाय तो वह कहां तक लाभ-दायक हो सकती है।" (पृ० ४)

३. कविता का राजनीतिक प्रभाव भी इतिहास-प्रसिद्ध है। यूनानी, अंगरेज़ी, अरबी, फ़ारसी—सभी भाषाओं की कविता ने अनेक अवसरों पर राष्ट्रीय उत्थान में योगदान किया है।

४. कविता का सामाजिक प्रभाव भी स्वतःसिद्ध है। एक ओर कविता अपने समय के सामाजिक प्रभाव को ग्रहण करती है और दूसरी ओर समाज को प्रभावित भी करती है। सत्काव्य जहां समाज में उत्तम गुणों का विकास करता है वहां असत्काव्य रुचि को विकृत कर देता है, भूठ को बढ़ावा देता है और राष्ट्र के साहित्य तथा भाषा का विनाश कर देता है: "कवि. को यद्यपि आरम्भ में समाज की कुरुचियां बिगाड़ती हैं, किन्तु कविता जब बिगड़ जाती है तो उसकी ज़हरीली हवा समाज को भी अत्यधिक क्षति पहुँचाती है।" (पृ० ३०)

५. कविता का नैतिक प्रभाव : "कविता यद्यपि सीधे ढंग से नीतिशास्त्र की भाँति उपदेश और शिक्षा नहीं देती, किन्तु उसे न्यायपूर्वक नीतिशास्त्र का सहायक अथवा स्थानापन्न कह सकते हैं।" (पृ० १८)। "कविता से जिस प्रकार मनोभावनाएं उत्तेजित होती हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक आनन्द भी सजीव हो उठता है।" (पृ० १८)।—यह आध्यात्मिक आनन्द नैतिकता का ही एक रूप है। इस प्रकार के पवित्र आनन्द से मनुष्य का नैतिक उत्कर्ष होता है।

६. सांस्कृतिक प्रभाव—कविता हमारी चेतना का संस्कार करती है: "सांसारिक धन्धों में व्यस्त रहने के कारण जो शक्तियां सुषुप्त हो जाती हैं, काव्य उन्हें जाग्रत करता है।" वह हमारे बचपन की उन विशुद्ध और पवित्र भावनाओं को, जो स्वार्थ की अपवित्रता के धब्बों से मुक्त और निर्मल थीं, पुनर्जीवित करता है।"—काव्य दरिद्रता की स्थिति में मरहम और समृद्धि की स्थिति में विषहरण (तिर्याक) का काम देता है: अर्थात् विपत्ति और संपत्ति दोनों के दुष्प्रभावों से मानव-चेतना की रक्षा करता है।

७. कुछ विद्वानों का यह मत है कि कविता असभ्यता के युग में प्रगति करती है क्योंकि सभ्यता का आधार जहां ज्ञान और जिज्ञासा है वहां कविता के मूल तत्त्व हैं कल्पना और आवेग। यह मत केवल अंशतः सत्य है। ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ काव्य के लिए नवीन क्षेत्र उद्घाटित हुए हैं और मानव-कल्पना को नवीन उपकरण प्राप्त हुए हैं। अतः कविता का महत्त्व सार्वकालिक है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस प्रकार मानव-जीवन पर काव्य का प्रभाव अत्यन्त स्थायी और व्यापक होता है—राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक—सभी क्षेत्रों में वह मानव-जीवन का उपकार करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि हाली की दृष्टि आनन्द की अपेक्षा काव्य के नैतिक पक्ष पर ही अधिक केन्द्रित है। आनन्द की उन्होंने उपेक्षा नहीं की—आनन्द पर बल देने वाली उनकी दीर्घ काव्य-परम्परा ऐसा करने की अनुमति भी नहीं दे सकती थी, किन्तु उसकी अपेक्षा—कदाचित् युगधर्म के प्रभाव से—काव्य का शिवत्व ही उन्हें अधिक मान्य है। भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में मूलतः इन दोनों तत्त्वों का ही महत्त्व रहा है। किन्तु भारतीय दृष्टि जहां आनन्द और कल्याण को एक ही सत्य के दो पहलू मानती हुई दोनों में सामरस्य की कल्पना करती रही है, वहां पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रायः इन दोनों के बीच प्रतिद्वन्द्व रहा है। एक ओर जहां प्लेटो, होरेस, मिल्टन, रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड, ताल्सताय की लोककल्याणवादी परम्परा है, वहां दूसरी ओर ह्यूगो, पेटर, स्विनबर्न आदि की परम्परा है जो सौन्दर्य या उसके भावात्मक रूप आनन्द को ही एकमात्र सिद्धि मानकर चलती है। प्रथम वर्ग के आलोचकों के भी दो उपवर्ग हैं : एक की दृष्टि बहिर्मुखी है और वह लोक-कल्याण के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल देता है; दूसरे की जीवन-दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म है और वह कल्याण के स्थायी एवं गम्भीर रूप को मान्यता देता है। इस अन्तर को और भी स्पष्ट करने के लिए पहले उपवर्ग की काव्य-दृष्टि को नैतिक और दूसरे की दृष्टि को सांस्कृतिक कह सकते हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दी में—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्य-मूल्य नैतिक और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सांस्कृतिक थे। हाली का स्थान निश्चय ही पहले उपवर्ग में आता है—उनके काव्य-मूल्यों का आधार मूलतः नैतिक ही था। उनकी दृष्टि सुधार पर ही रुक जाती है—संस्कार और उन्नयन तक प्रायः नहीं पहुँचती। सुधार का मार्ग यम-नियम का मार्ग है, संस्कार का मार्ग आत्माभिव्यक्ति और आत्म-शुद्धि का मार्ग है। हाली के व्यक्तित्व और युग दोनों की परिधि सुधार तक ही सीमित थी।

काव्य का माध्यम

छन्द कविता का परम्परागत माध्यम है—किन्तु उसकी अनिवार्यता के विषय में प्रायः मतभेद रहा है। हाली का मत इस प्रसंग में सर्वथा संतुलित और विवेक-सम्मत है :

"कविता के लिए वज़्न (मात्रा-अनुपात अथवा छन्द) एक ऐसी वस्तु है जैसे राग के लिए बोल। जिस प्रकार राग अपने-आप में शब्दों पर आश्रित नहीं है उसी प्रकार कविता निजी रूप में वज़्न (छन्द) पर निर्भर नहीं है। इसके लिए जैसे अंगरेज़ी में दो शब्द प्रचलित हैं—एक पोयट्री और दूसरा वर्स, उसी प्रकार हमारे यहां भी दो शब्द प्रयुक्त होते हैं—एक 'शेर' और दूसरा 'नज़्म'। और जिस प्रकार उनके यहां वज़्न का बन्धन पोयट्री के लिए नहीं, अपितु वर्स के लिए है उसी प्रकार हमारे यहां भी बन्धन शेर में नहीं, नज़्म में अपेक्षित होना चाहिए।" (पृ० ३६)

उपर्युक्त अभिमत का विश्लेषण हम इस प्रकार करते हैं :

शेर	=	पोयट्री	=	कविता
नज़्म	=	वर्स	=	पद्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

छन्द पद्य का अनिवार्य माध्यम है, अर्थात् वह भेदक तत्त्व है जो पद्य को गद्य से पृथक् करता है। कविता के लिए वह अनिवार्य नहीं है—कविता अपने शुद्ध रूप में छन्द पर आश्रित नहीं है : उदाहरण के लिए, अरबी में क़ुरान शरीफ़ का माध्यम गद्य है, परन्तु उसकी गणना काव्य के अन्तर्गत होती है। परन्तु, अनिवार्य न होने पर भी छन्द कविता के लिए उपयोगी अवश्य है, उससे "कविता का गुण और प्रभाव दुगुना हो जाता है।" इस संदर्भ में हाली के मत का सारांश यह है : "यद्यपि कविता वज़न पर निर्भर नहीं है और प्रारम्भ में वह चिरकाल तक इस आभूषण से वंचित रही है, परन्तु वज़न से निस्संदेह उसका प्रभाव अधिक तीव्र और मन्त्र अधिक सफल हो जाता है।" (पृ० ३७)

यह निश्चय ही विवाद का प्रश्न है—यूरोप के आलोचकों में अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक इस विषय में मत-वैविध्य रहा है। अरस्तू का मत वही है जो प्राचीन अरबी विद्वानों का था—अर्थात् कविता का माध्यम पद्य और गद्य दोनों ही हो सकते हैं। परवर्ती आलोचकों में सिडनी, कोलरिज, रस्किन आदि ने स्पष्ट रूप से छन्द को कविता का अनिवार्य माध्यम मानने से इन्कार किया है :

सिडनी : छन्द कविता का अलंकार मात्र है, कारण (कारणभूत तत्त्व) नहीं है।

कोलरिज : सर्वश्रेष्ठ काव्य की सत्ता छन्द के बिना भी हो सकती है।

इसके विपरीत ड्राइडन, डॉ० जॉन्सन, कार्लायल, स्टुअर्ट मिल आदि ने अत्यन्त विश्वास-पूर्वक छन्द की अनिवार्यता की घोषणा की है :

ड्राइडन : कविता भावपूर्ण तथा छन्दोबद्ध भाषा में प्रकृति का अनुकरण है।

स्टुअर्ट मिल : जब से मानव मानव है, तभी से सब गहन और स्थायी भाव लययुक्त भाषा में ही अभिव्यक्त होते आये हैं—भाव जितना ही गहन होता है, लय उतनी ही विशिष्ट एवं सुनिश्चित हो जाती है।

पश्चिम में यह विवाद आज भी चल रहा है और उसकी प्रतिध्वनि हमारे देश में भी सुनाई पड़ जाती है। एक ओर वाल्ट ह्विटमैन और उनके अनुयायियों का मत छंद की अनिवार्यता के विरुद्ध है—'नई कविता' संगीत और कविता को दो पृथक् कलाएं मानकर कविता के लिए संगीत की अनिवार्यता का स्पष्ट शब्दों में निषेध करती है। दूसरी ओर रिचर्ड्स जैसे मनीषी छन्द का कविता के साथ मनोवैज्ञानिक संबंध मानते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में यह प्रश्न कभी इस रूप में सामने नहीं आया। आरम्भ से ही वैदिक छन्दों और अनुष्टुप के संगीत की समृद्धि का अभ्यस्त होने पर भी भारतीय आचार्य ने काव्य को गद्यपद्यमय ही माना है : गद्यपद्यमयं काव्यम्। यहां छन्द और अलंकार का अत्यधिक महत्त्व हो जाने पर भी छन्द का काव्य-लक्षण में अन्तर्भाव नहीं हुआ। परवर्ती साहित्य में यद्यपि गद्यकाव्य की रचना प्रायः निश्शेष हो गई थी, फिर भी पद्य की अनिवार्यता काव्य के लिए मान्य नहीं हुई। पंडितराज जैसे संगीत-रसिक आचार्य ने भी 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द' को ही काव्य माना, पद्य को नहीं।

कविता और छन्द के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में आज विशेष मतभेद नहीं रह गया। केवल पद्य या नज़्म कविता नहीं है; यह मत निर्विवाद है। कुछ-एक काल-खण्डों को छोड़कर जब कि काव्य-रूढ़ियां अत्यधिक जटिल हो गई थीं—और ऐसा समय प्रत्येक साहित्य के इतिहास में कभी-न-कभी अवश्य आया है—पद्य और कविता में भ्रांति के लिए स्थान कभी नहीं रहा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किन्तु प्रश्न दूसरा है : क्या छन्द के बिना कविता की स्थिति सम्भव है ? इसका समाधान भी आज प्रायः हो चुका है। आज कविता और काव्य में थोड़ा भेद हो गया है। काव्य यदि रस के साहित्य या ललित साहित्य का पर्याय है तो कविता उसका एक विशिष्ट रसात्मक भेद है—और यदि काव्य कविता (शेर या शायरी) का पर्याय है तो वह स्वयं रस के साहित्य (बेले लेत्र) का एक भेद है। वास्तव में प्राचीन काव्यशास्त्र में काव्य का रस के साहित्य या सर्जनात्मक साहित्य (बेले लेत्र) के अर्थ में प्रयोग हुआ है, इसीलिए वह गद्यपद्यमय है और उसमें उपन्यास तथा नाटक आदि का सहज समावेश है। आज यदि वह पोयट्री (शायरी) का पर्याय माना जाय तो नाटक और उपन्यास उसकी परिधि में नहीं आ सकते; नाटककार और उपन्यासकार आज कवि संज्ञा का अधिकारी नहीं रह गया। सरस नाटक अथवा कथा काव्यमय या कवित्वमय हो सकती है; किन्तु कविता नहीं। सारांश यह है कि जिस प्रकार कला के विभिन्न रूप—चित्र, संगीत, काव्य आदि—माध्यम के भेद से ही अपने विशिष्ट रूप को प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार रस के साहित्य के विभिन्न रूप भी अपने-अपने माध्यम के आधार पर ही परस्पर भिन्न होकर स्वत्व-रक्षा कर सकते हैं। कविता रस के साहित्य का अतिशय रसात्मक रूप है और अतिशय रसात्मक स्थिति मन की अतिशय उच्छ्वसित अवस्था का ही नाम है। मन का उच्छ्वास श्वास के आरोह-अवरोह में व्यक्त होता है और वही लय है। यही लय शब्द पर आरूढ़ होकर छन्द बन जाती है। इसी मनोवैज्ञानिक तर्क के आधार पर स्टुअर्ट मिल और रिचर्ड्स ने कविता और छन्द का नित्य सम्बन्ध माना है। इस प्रकार कविता या शे़र रस के साहित्य का वह अतिशय रसात्मक भेद है जिसका माध्यम छन्द है।

हाली ने इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यही है कि हाली के समय में उर्दू-कविता में छन्द, तुक आदि की जकड़बन्दी इतनी अधिक हो चली थी कि काव्य की आत्मा की ही उपेक्षा हो रही थी। इस विकृति की प्रतिक्रिया स्वभावतः यह हुई कि हाली जैसे सुधारवादी आलोचक को छन्द और तुक पर ही प्रहार करना पड़ा। दूसरे, हाली का युग पाश्चात्य साहित्य के साथ सम्पर्क का युग था—और हाली उन प्रगतिशील विचारकों में थे जो पश्चिम के प्रभाव को अपनी क़ौम के उत्कर्ष के लिए अत्यंत लाभकारी मानते थे। अतः उन्नीसवीं शती की पाश्चात्य काव्य-मान्यताओं को उन्होंने आग्रह के साथ स्वीकार किया। तीसरे कवित्व और कविता का भेद उस समय इतना स्पष्ट भी नहीं हुआ था जितना कि आज है। अतः उन्होंने एक अतिवाद का निराकरण करने के लिए दूसरे अतिवाद का आश्रय लिया।

छन्द के साथ तुक (क़ाफ़िया) का प्रश्न भी सम्बद्ध है। तुक का क्षेत्र निश्चय ही सीमित है क्योंकि विश्व की सभी भाषाओं की छन्द-योजना में तुक का विधान नहीं है। जहां नहीं है वहां तो ठीक ही है—जैसे संस्कृत के छान्दस संगीत में तुक का कोई महत्त्व नहीं है। किन्तु हिन्दी, उर्दू, अंगरेज़ी आदि भाषाओं में जहां ऐसी व्यवस्था है, वहां तुक या अन्त्यानुप्रास का अपना महत्त्व है और काव्य-माध्यम की सौन्दर्य-सज्जा में—अभिव्यंजना के संगीतशिल्प की रचना में—उसके योगदान का निषेध नहीं किया जा सकता। हाली ने इस विषय में भी सामान्य विवेक का परिचय दिया है—"यद्यपि तुक भी वज़न की तरह कविता के सौन्दर्य में वृद्धि करती है, जिससे कि उसका सुनना कानों को अत्यन्त प्रिय लगता है और उसके पाठ से जिह्वा अधिक आनन्द प्राप्त करती है, किन्तु तुक और विशेषकर ऐसी—जैसे कि ईरान के कवियों ने उसे अत्यन्त कठोर बन्धनों में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जकड़ रखा है—कवि को निस्सन्देह उसके कर्तव्य-पालन से रोकती है। जिस प्रकार शब्दालंकारों की पाबन्दी अर्थ की हत्या कर देती है, उसी प्रकार, अपितु उससे कहीं अधिक, तुक का बन्धन भावाभिव्यक्ति में बाधा डालता है।" अपने पक्ष में उन्होंने दो-एक तर्क दिये हैं जो निश्चय ही विवेक-पुष्ट हैं :

१. सामान्यतः भाव पहले आता है और फिर भाव के अनुकूल शब्द-रचना करनी पड़ती है; किन्तु कविता में तुक का प्राधान्य हो जाने पर उसके उपयुक्त विचार की व्यवस्था करने के लिए ऐसे शब्द जुटाए जाते हैं जिनके अन्तिम भाग में निर्धारित तुक स्थान प्राप्त कर सके।—निश्चय ही यह स्वाभाविक रचना-क्रम का विपर्यय है।

२. काव्य-रचना में तुक की वही स्थिति है जो वस्त्र में काट की। वस्त्र का उद्देश्य शरीर का सुख और संरक्षण है, सुन्दर काट आकर्षण उत्पन्न कर उसकी पूर्ति में सहायक होती है; किन्तु यदि काट का महत्त्व इतना बढ़ जाय कि वस्त्र का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाय, तो यह आकर्षण साधक के बदले बाधक बन जायेगा।

अतः हाली का स्पष्ट मत है कि छन्द और तुक दोनों कविता के मूल तत्त्व नहीं हैं।

अंगरेजी साहित्य में पन्द्रहवीं शती से लेकर अठारहवीं-उन्नीसवीं शती तक तुक के विषय में तीव्र विवाद रहा है। सिडनी, डेनिअल, ड्राइडन आदि ने जहां तुक का समर्थन किया है, वहां वैव, कैम्पियन, मिल्टन आदि ने उसका घोर विरोध किया है। अन्त्यानुप्रास के पक्ष में प्रायः चार-पाँच युक्तियां दी गई हैं :

१. तुकान्त का प्रयोग स्मृति का सहायक होता है और श्रोता स्मृति के द्वारा कविता के स्थायी प्रभाव को ग्रहण करता है। अतः तुकान्त कविता के प्रभाव को सहज ग्राह्य बनाने में सहायक होता है।

२. तुकान्त के प्रयोग से पद-बंध में चारुता आती है—प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर जड़ जाता है।

३. शब्दगत सामंजस्य की स्थापना अपेक्षाकृत सरल हो जाती है; अतः संगीत-गुण की वृद्धि होती है।

४. शब्दगत बलाबल से अर्थगत बलाबल में सहायता मिलती है।

५. कल्पना-विलास में संयम आता है।

विरोधी पक्ष के तर्क इस प्रकार हैं :

१. तुकान्त का प्रयोग भावना और कल्पना के लिए बन्धन बन जाता है।

२. भाषा के प्रयोग में कृत्रिमता आती है।

३. भावाभिव्यक्ति तुकान्त की वशवर्तिनी बन जाती है।

४. लय का वैचित्र्य नष्ट हो जाता है—उसमें एक प्रकार की जड़ता और एकरसता उत्पन्न हो जाती है।

हाली इतनी गहराई में नहीं गए—उन्होंने तुक के साधारण गुण-दोषों का विवेकपूर्वक संतुलन करते हुए यह अभिमत प्रकट कर दिया है कि यद्यपि तुकान्त-प्रयोग से कविता के सौंदर्य में वृद्धि होती है, फिर भी वह कविता का मूल तत्त्व नहीं है और उसका प्राधान्य निश्चय ही कवित्व के उत्कर्ष में बाधक होता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

काव्य-भाषा का स्वरूप

हाली ने काव्य-भाषा का भी विस्तार से विवेचन किया है। उनके मन्तव्य का सार यह है :

प्रकृति की दृष्टि से काव्य की भाषा बोलचाल की भाषा से मूलत: भिन्न नहीं होनी चाहिए। "सारांश यह है कि पद्य या गद्य, दोनों में रोज़मर्रा का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है।" (पृ० १७३)

इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य प्रयोगों और मुहावरों का काव्य-भाषा के लिए भी यथावत् महत्त्व है : प्रयोग और व्याकरण की स्वच्छता उनके लिए भी आवश्यक है

किन्तु गुण की दृष्टि से काव्य-भाषा का अपना वैशिष्ट्य होता है : उसका स्तर सामान्य भाषा—बातचीत—से भव्यतर होता है; रूपक, लक्षणा, संकेत (व्यंजना) और प्रतीक आदि के वैभव के कारण वह सामान्य व्यवहार या गद्य की भाषा से अधिक समृद्ध होती है।

फिर भी काव्य-भाषा का अर्थ कृत्रिम और रूढ़ भाषा नहीं है। काव्य-भाषा में संजीवन-शक्ति और ताज़गी होनी चाहिए और उसका रूप विकासशील होना चाहिए। पर विकास की प्रक्रिया में सदैव सावधानी बरतने की आवश्यकता है। "जहां तक सम्भव हो सके, नई शैलियां कम अंगीकार की जायं और अपरिचित शब्दों का प्रयोग कम किया जाए, किन्तु अज्ञात रूप से धीरे-धीरे उन्हें बढ़ाते रहें और अधिकांश रचनाओं की नींव पुरानी शैलियों और सामान्य शब्दों तथा मुहावरों पर रखें"। (पृष्ठ १६०) इसका विशेष कारण है: "यह सम्भव है कि किसी राष्ट्र के विचारों में एकाएक बहुत बड़ा परिवर्तन और विस्तार आ जाए, किन्तु भाषा एकाएक विस्तृत नहीं हो सकती।"

मैं समझता हूं, हाली ने इस प्रसंग में और भी अधिक विवेक का परिचय दिया है। उर्दू-साहित्य में भाषा का बड़ा महत्त्व रहा है—भाषा की सफ़ाई, चुस्ती, मुहावरा, प्रयोग-सौष्ठव, वक्रता और लक्षणा-व्यंजना के चमत्कार पर जितना बल उर्दू का कलाकार देता आया है उतना हिन्दी, बंगला तथा अन्य भारतीय भाषाओं का नहीं। इसका परिणाम अच्छा भी हुआ और अतिचार होने पर बुरा भी : एक ओर जहां भाषा-शैली का अत्यधिक परिमार्जन हुआ वहां दूसरी ओर बात में से बात निकालने की व्यग्रता में मुहावरा और रोज़मर्रा की बन्दिशों के कारण भाषा गतिरुद्ध और प्रयोग-रूढ़ हो गई। हाली का युग रीतिकाल का अन्तिम चरण था जबकि जीवन और साहित्य में सर्वत्र गतिरोध था। उन्होंने रोग का उचित निदान और सही उपचार किया।

स्वदेश-विदेश के मनीषियों के विवेचन के फलस्वरूप काव्य-भाषा के विषय में कुछ तथ्य आज सर्वथा स्पष्ट हो चुके हैं :

काव्य-भाषा का आधार व्यवहार की जीवन्त भाषा ही हो सकती है; काव्य जीवन की ही अभिव्यक्ति है, अत: उसकी माध्यम भाषा भी जीवन की भाषा से मूलत: भिन्न नहीं हो सकती।

किन्तु सामान्य व्यवहार की भाषा में और काव्य की भाषा में, उधर गद्य की भाषा में और काव्य की भाषा में भी, निश्चय ही भेद होता है। कविता जीवन के सामान्य क्षणों की नहीं वरन् उच्छ्वसित क्षणों की वाणी है, अत: उसकी अभिव्यक्ति की माध्यम-भाषा भी सामान्य न होकर उच्छ्वसित ही होगी। काव्य-भाषा का यह उच्छ्वास ही उसका वैशिष्ट्य है जो गद्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की भाषा से, सामान्य व्यवहार की भाषा से, उसे पृथक् करता है।

यह भेद रूप का न होकर गुण का या रंग का होता है। शास्त्र में शब्द-अर्थ के अनेक सम्बन्धों का विश्लेषण किया गया है—इनमें से कुछ सम्बन्ध ऐसे हैं जो भाषा के प्रयोग मात्र के लिए अनिवार्य हैं—व्यवहार, गद्य और पद्य में—सर्वत्र ही उनकी स्थिति अनिवार्य है; किन्तु उनके अतिरिक्त कुछ सम्बन्ध ऐसे भी हैं जो काव्य में ही अर्थात् उच्छ्वास की स्थिति में—राग और कल्पना की उत्तेजना की स्थिति में—उन सामान्य किन्तु अनिवार्य सम्बन्धों के भीतर ही घटित होते हैं। ये सम्बन्ध गुणात्मक होते हैं—रूप के अन्तर्गत घटित होने पर भी रूपात्मक नहीं होते। जिस प्रकार रंग आदि के गुण रूप के अन्तर्गत होने पर भी रूप से भिन्न होते हैं, इसी प्रकार काव्य-भाषा के वक्रता आदि गुण व्याकरणिक विधान के अन्तर्गत रहते हुए भी उससे भिन्न होते हैं।[1]

हाली के भाषा-विवेचन का सारांश भी प्रायः इससे बहुत भिन्न नहीं है। काव्य-भाषा की स्वच्छता, विकसन-क्षमता, व्यावहारिकता आदि पर बल देते हुए भी वे उसकी समृद्धि ही नहीं, वरन् मंत्र-शक्ति के भी उतने ही क़ायल हैं—"और उस तिलिस्म को जो पुराने कवि बाँध गए हैं कभी टूटने न दें, अन्यथा वह बहुत शीघ्र देखेगा कि उसने अपने मन्त्र में से वही अक्षर भुला दिये हैं जो मन को वशीभूत करते हैं।" (पृ० १६०–ए)

काव्य और अलंकार

अलंकार के प्रति हाली का रुख़ और भी कड़ा है :

१. "सनाया और बदाया (अलंकार और कलापूर्ण शैली) पर कविता की बुनियाद रखने से प्रायः अर्थसूत्र हाथ से छूट जाता है और कविता में प्रभावोत्पादकता नहीं रहती; क्योंकि श्रोता यदि मन में यह समझ ले कि कवि ने काव्य-रचना में कृत्रिमता से काम लिया है और शब्दों के द्वारा अपने कौशल का प्रदर्शन करना चाहा है, तो इससे पद्य की प्रभावोत्पादकता नष्ट हो जाती है। अतः अलंकारों के प्रयोग से सब प्रकार की कविताओं में, और विशेषकर ग़ज़ल में, सदैव बचना चाहिए।" (पृ० १७८)

२. "भोजन का वास्तविक गुण यह है कि स्वादिष्ट हो, ऐसा हो कि शरीर उसे आत्मसात् कर सके, सुगंध और रंग-रूप की दृष्टि से भी अच्छा हो। यदि इन सब बातों के अतिरिक्त चीनी के बर्तनों में खाया जाए तो और भी अच्छा है। यही हाल पद्य का है। पद्य का वास्तविक गुण यह है कि उसमें स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता हो तथा शब्द और अर्थ की दृष्टि से वह साँचे में ढला हो। यदि इसके साथ उसमें कुछ शाब्दिक अलंकरण भी हो तो अच्छा है, अन्यथा उसकी कुछ आवश्यकता नहीं।" (पृ० १८०)

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र में इस विषय का अत्यन्त स्पष्ट विवेचन किया गया है। भोज ने बारह प्रकार के शब्दार्थ-सम्बन्ध माने हैं। इनमें प्रथम आठ तो सभी प्रकार के भाषा-प्रयोग के लिए अनिवार्य हैं—ये प्रायः व्याकरणिक सम्बन्ध हैं। इनके अतिरिक्त चार विशेष सम्बन्ध हैं : दोषहीन, गुणोपादान, अलंकार-योग, रसावियोग—जो काव्य या साहित्य में घटित होते हैं। यह शब्दावली आज शास्त्ररूढ़ हो गई है, अतः इसका उतना उपयोग नहीं रह गया, किन्तु इसका मूल अर्थ आज भी यथावत् मान्य है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उपर्युक्त उद्धरणों से एक संकेत तो यह मिलता है कि अलंकार काव्य-शैली का प्राणतत्त्व अथवा अभिन्न अंग न होकर आभूषण मात्र है जिसका इच्छानुसार ग्रहण या त्याग किया जा सकता है और दूसरा यह कि वह शोभावर्धक होते हुए भी कृत्रिम उपकरण है जिससे सहज आकर्षण की हानि भी हो सकती है। यह ठेठ सुधारवादी दृष्टिकोण है : भारतीय जागरण-सुधार युग में रीति (उत्तरसामंतीय)-युगीन मूल्यों के प्रति जो तीव्र वितृष्णा उत्पन्न हो गई थी, उसी का परिणाम यह दृष्टिकोण था। अतः रीतिकालीन अलंकरण-प्रवृत्ति का उत्कट विरोध हुआ—अलंकार-मोह या अलंकार-प्रेम को नहीं, अलंकार-रुचि को ही विकृत मान लिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रतिक्रिया में भी एक प्रकार का अतिवाद था; तत्त्वरूप में न तो अलंकार काव्य-शैली का विभाज्य अंग है और न अलंकार-रुचि ही विकृति अथवा प्रदर्शन-वृत्ति की द्योतक है। जिस प्रकार अलंकार की अतिशय स्पृहा काव्य के लिए घातक है, इसी प्रकार अलंकार-त्याग की उत्कण्ठा भी, क्योंकि दोनों ही समान रूप से अस्वाभाविक हैं। अपने मूल रूप में अलंकार का अर्थ है शब्दार्थ-गत सौन्दर्य, जो भावगत सौन्दर्य का सहज माध्यम होता है। काव्य में यदि भाव का चमत्कार अनिवार्य है तो उसे अभिव्यक्त करने के लिए शब्द-अर्थ को भी चमत्कृत होना पड़ेगा—प्राण के उच्छ्वास के साथ वाणी भी स्वभावतः उच्छ्वसित हो जाएगी और वाणी का उच्छ्वास ही तो अलंकार है। अतः तात्त्विक रूप में अलंकार की स्थिति वैसी हेय नहीं है जैसी कि हाली ने मानी है। माना कि अलंकार काव्य का स्वाद नहीं है, वह उसका पोषक रस भी नहीं है; किन्तु सुगन्ध और रंग-रूप के समतुल्य उसकी स्थिति अवश्य है : अलंकार—चाहे वह शाब्दिक ही क्यों न हो, केवल पात्र (बरतन) नहीं है। वास्तव में हाली का यह अभिमत प्रतिक्रियाजन्य होने के कारण अतिरंजित एवं असंतुलित हो गया है।

काव्य के भेद

काव्य के केवल चार प्रमुख भेदों का हाली ने विस्तार से विवेचन किया है और यह विवेचन भी शास्त्रीय न होकर व्यावहारिक ही अधिक है, अर्थात् हाली ने उर्दू में प्रचलित इन चार काव्य-रूपों की समीक्षा करते हुए उनमें आवश्यक सुधार के संकेत दिये हैं। इस प्रकार उनका उद्देश्य स्वरूप का विवेचन न होकर संशोधन ही अधिक है।

१. ग़ज़ल—ग़ज़ल उर्दू-काव्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध और सरस भेद है। उसका स्थायी भाव प्रेम है जिसमें रहस्यानुभूति, मस्ती, रिन्दी, धार्मिक विद्रोह आदि भावनाएं संचारी रूप में ओत-प्रोत रहती हैं। विषय के अनुरूप उसका एक विशिष्ट काव्य-रूप भी है जो मतला, मक़ता, गिरह, क़ाफ़िया और रदीफ़ में परिबद्ध रहता है। हाली के समय तक अति-प्रचलन के कारण उर्दू ग़ज़ल की विषयवस्तु और शैली दोनों ही प्रायः रूढ़ हो गई थीं और ग़ज़ल एक निर्जीव काव्य-रूप बनकर रह गई थी। हाली ने इस रूढ़ि-पाश को छिन्न-भिन्न करने के लिए ग़ज़ल की विषयवस्तु और शैली दोनों के संशोधन और विस्तार की आवश्यकता पर बल दिया है। उनका परामर्श है कि आधुनिक राष्ट्रीय जीवन को ध्यान में रखकर नवीन उदात्त भावनाओं को भी ग़ज़ल में जगह मिलनी चाहिए जिससे नवप्राणों का संचार हो; इसी प्रकार शैली में भी क़ाफ़िया और रदीफ़ की मुश्किल जमीन के प्रति मोह त्याग कर सरलता, स्फीति और लोच-लचक पैदा करने के लिए सिफ़ारिश की गई है। विषय के क्षेत्र में हाली का मत है कि जीवन्त अनुभूति को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रमाण मानकर कवि को राग की परिधि के भीतर वैचित्र्य उत्पन्न करना चाहिए और शैली के क्षेत्र में कृत्रिम अलंकार तथा चमत्कार का त्याग कर प्राणवती भाषा, लाक्षणिक अलंकार और नूतन बिम्बावली का प्रयोग करना चाहिए।

क़सीदा और मरसिया—क़सीदा और मरसिया दोनों ही एक प्रकार से प्रशस्ति-काव्य के भेद हैं। एक में जीवित की प्रशस्ति रहती है और दूसरे में मृत की जिसमें करुण रस का संचार अनिवार्यतः हो जाता है। प्रशंसा और निन्दा क़सीदा के आधार हैं। कविता जीवन की आलोचना है, अतः मानव और प्रकृति के गुण-दोषों की समीक्षा कविता का आवश्यक अंग है। इस प्रकार क़सीदा एक आवश्यक काव्य-रूप है और उसका महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि प्रशंसा अथवा निन्दा का आधार सत्य हो, उसकी प्रेरक भावना उदात्त हो, उसके पीछे हार्दिक एवं जीवन्त अनुभूति का बल हो। स्वार्थ तथा राग-द्वेष से प्रेरित निन्दा-स्तुति तथा आश्रयदाताओं की चाटुकारिता काव्य की आत्मा को मलिन कर देती है। हाली ने उर्दू के क़सीदा-लेखकों को पाश्चात्य काव्य से प्रेरणा ग्रहण करने का परामर्श दिया है—जिसमें राष्ट्रीय वीरों और लोकनायकों के उदात्त गुणों का हार्दिक स्तवन मिलता है।

मरसिया का अंगी रस करुण है, किन्तु शोक पर आधृत होते हुए भी उसका कलेवर उदात्त और नैतिक भावों से परिपुष्ट होता है। उर्दू का मरसिया-साहित्य इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—उसका शोक केवल स्त्रैण विलाप से आर्द्र नहीं है, उसमें नैतिक आवेश और उदात्त जीवन-प्रेरणाओं की शक्ति है। करुणा का आलंबन सामान्य व्यक्ति न होकर असाधारण गुणों से सम्पन्न कोई महापुरुष होता है जिसका पतन व्यक्ति की हानि न होकर देश और जाति की हानि का प्रतीक होता है। स्वभावतः उसकी करुणा में आर्द्रता के साथ-साथ शक्ति और प्राणवत्ता भी रहती है।

मसनवी—हाली ने मसनवी को सर्वोत्तम काव्य-रूप माना है: "सारांश यह कि जितने भी काव्य-रूप फ़ारसी और उर्दू में प्रचलित हैं, उनमें कोई काव्य-रूप क्रमबद्ध विषयों के वर्णन के लिए मसनवी से उत्तम नहीं" (पृ० २००)। उनका तर्क यह है कि मसनवी में ग़ज़ल, क़सीदा और मरसिया के काव्य-गुणों के लिए भी पूर्ण अवकाश है और उनके अतिरिक्त और भी कई गुण उसमें विद्यमान रहते हैं। वास्तव में मसनवी प्रबंध-काव्य या आख्यान-काव्य का ही रूप-भेद है और हाली का तर्क वैसा ही सीधा तर्क है जैसा वामन ने निबद्ध काव्य के पक्ष में दिया है: "इन दोनों की सिद्धि माला और उत्तंस की भाँति क्रम से होती है—अर्थात् अनिबद्ध (मुक्तक) रचना में सिद्धि प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही निबद्ध (प्रबन्ध) की रचना में सफलता मिलती है, जिस प्रकार माला गूँथने के बाद ही उत्तंस (फूलों का मुकुट) गूँथना सम्भव है।" (काव्यालंकारसूत्र, १।३।२८)। इसमें सन्देह नहीं कि सब मिलाकर कदाचित् यह निष्कर्ष अशुद्ध नहीं है, किन्तु फिर भी इस प्रकार की तर्क-पद्धति सर्वथा स्थूल है और प्रबन्ध या आख्यान काव्य मुक्तक का विस्तार मात्र नहीं है। यह तो मान्य है कि उत्कृष्ट मसनवी में ग़ज़ल का तग़ज़्ज़ुल (प्रगीत-वैभव) हो, किन्तु मसनवी की आत्मा और ग़ज़ल की आत्मा एक नहीं हो सकती।—मसनवी में ग़ज़ल की तीव्रता और एकाग्रता असम्भव है, एक का विकास विस्तार में होता है, दूसरे का गहराई में: दोनों की रूपान्विति सर्वथा भिन्न है।

हाली ने मसनवी के गुणों का विस्तार से वर्णन-विवेचन किया है। उनके अनुसार मसनवी के गुण इस प्रकार हैं:

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

१. सम्बद्धता।
२. वर्णन-क्रम—पूर्वापर-क्रम ।
३. घटना-वर्णन की सम्भाव्यता—अलौकिक घटनाओं को भी विवेकसम्मत रूप में प्रस्तुत करना।
४. प्रसंगानुकूल वर्णन।
५. यथार्थता तथा स्वाभाविकता
६. अन्तर्विरोध का अभाव
७. अतिप्राकृत एवं अविश्वसनीय घटनाओं का बहिष्कार ।
८. वस्तु-वर्णन में अनुपात: महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उभारकर सामने रखना, नाज़ुक प्रसंगों को संकेत से प्रस्तुत करना, आदि ।
९. नैतिक स्वर का प्राधान्य : अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि दोषों का बहिष्कार।

हाली की आलोचना—शक्ति और सीमा

जैसा कि मैं संकेत कर चुका हूं, हाली वास्तव में साहित्य-स्रष्टा एवं साहित्य-मर्मज्ञ की अपेक्षा साहित्य-नेता अधिक थे। उनकी आलोचना का प्रयोजन मूलत: साहित्य के मर्म का उद्घाटन, सृजन और आस्वादन के रहस्यों का विश्लेषण नहीं था; उर्दू-साहित्य का सुधार-परिष्कार तथा नवीन राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल उसका विकास ही उनका स्पष्ट लक्ष्य था। अत: उनकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना के आधारभूत मूल्य शुद्ध शास्त्रीय-साहित्यिक न होकर नैतिक-साहित्यिक हैं। काव्य के प्रति मूलत: दो दृष्टिकोण मिलते हैं—(१) काव्य की मूल प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति है और उसका प्रयोजन आनन्द है, (२) काव्य जीवन की समीक्षा है और उसका प्रयोजन लोक-मंगल है। हाली निश्चय ही दूसरे मत के अनुयायी हैं। अतएव हाली की शक्ति और सीमा का मूल्यांकन इसी काव्य-मत की परिधि के भीतर करना है।

इस दृष्टिकोण की शक्ति यह है कि इसका आधार विवेक और नीति पर स्थित है। इससे प्रेरित या अनुशासित साहित्य जीवन के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहता है और सत् के ग्रहण तथा असत् के त्याग की प्रेरणा देकर जीवन के उत्कर्ष में सहायक होता है। हाली ने अपनी कविता और आलोचना द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास किया, अर्थात् क़ौम के चारित्रिक तथा सामाजिक विकास-सम्बन्धी आन्दोलन में साहित्य के माध्यम से योगदान का सफल प्रयत्न किया। इससे उर्दू साहित्य को नवीन दिशा मिली—रीतिकाल की रुग्ण विलासमयी परम्पराओं का उच्छेद और नवीन राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना का उन्मेष हुआ। काव्य की विषयवस्तु के अन्तर्गत शृंगार, राजप्रशस्ति, हास्य-व्यंग्य, कृत्रिम-अकृत्रिम रहस्यवाद, नीति-उपदेश आदि रूढ़ विषयों के अतिरिक्त युगधर्म के अनुकूल राष्ट्रीय-सामाजिक जागरण और उससे सम्बद्ध ऐतिहासिक प्रसंगों का समावेश हुआ, उसी प्रकार शैली के अन्तर्गत भी जीर्ण, प्रयोग-विजड़ित शब्दावली, कृत्रिम अलंकार-विलास, छन्द और तुक के सस्ते चमत्कार आदि के स्थान पर जीवन्त शब्दावली का प्रयोग, भाषा की स्वच्छता, नवीन व्यावहारिक उपमान और प्रतीक आदि के प्रति आग्रह बढ़ा। इसका शुभ प्रभाव यह हुआ कि उर्दू काव्य का गत्यवरोध भंग हुआ और विकास का पथ प्रशस्त हुआ। जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुआ, मनोविलास और अनुरंजन के स्थान पर समाज-कल्याण काव्य का उद्देश्य बना और उर्दू काव्य नवीन युग-चेतना की अभिव्यक्ति में तत्पर हुआ।

सीमा इस दृष्टिकोण की यह है कि कल्याण का अर्थ प्रायः संकुचित और उसका रूप स्थूल हो जाता है। प्रत्यक्ष हानि-लाभ का आकलन इतना प्रमुख हो जाता है कि हृदय के वैशद्य और आत्मा की विश्रांति जैसी स्थायी सिद्धियों की उपेक्षा हो जाती है। भौतिक कल्याण का नीतिशास्त्र इतना प्रबल हो जाता है कि आत्मास्वाद का अमृत तत्त्व गौण बन जाता है। वास्तव में जीवन की किसी भी उच्चतर भूमिका पर उपयोगितावाद का महत्त्व सीमित और अस्थायी ही रहता है। काव्य की भूमिका तो और भी ऊँची है, वहां पहुँचकर उपयोगितावाद की सीमाएं और भी व्यक्त हो जाती हैं। हाली के काव्य-दर्शन और आलोचना-पद्धति की ये सीमाएं सर्वथा स्पष्ट हैं। उनके सिद्धान्त-निरूपण और काव्य-विवेचन दोनों ही उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करते हैं : वे काव्य के मर्मी इतने नहीं हैं जितने कि काव्य के नीतिकार हैं। व्यावहारिक गुण-दोषों से परे जो काव्य का अमृत तत्त्व है, जिसकी सिद्धि विवेकरत बुद्धि द्वारा नहीं वरन् साधारणीकृत 'भावना' द्वारा ही सम्भव है---वहां तक हाली की पहुँच नहीं है। इसीलिए हाली की मौलिकता अत्यन्त सीमित है—वे काव्य के किसी सर्वग्राही सिद्धान्त की उद्भावना नहीं कर सके। प्राच्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की समरस भूमि तक भी वे नहीं पहुँच पाये, अतः दोनों के समन्वय द्वारा उर्दू के लिए आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण करने में भी वे असमर्थ रहे। उनकी मौलिकता की सीमा व्यवहार और प्रयोग से आगे नहीं जा सकती—अतः अंगरेज़ी के माध्यम से उपलब्ध नवीन काव्यादर्शों को अपने साहित्य के अनुरूप ढालकर इन काव्यादर्शों के प्रकाश में अपने साहित्य के निरीक्षण-परीक्षण द्वारा वे एक नये सुधार-युग का सूत्रपात तो कर सके, किन्तु अमर काव्य अथवा शाश्वत काव्य-दर्शन की रचना नहीं कर पाये। यह उनके युग की सीमा तो थी ही, उनकी अपनी प्रतिभा भी कदाचित् इससे आगे नहीं जा सकती थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

टी० एस० इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद

'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' शीर्षक लेख लिख चुकने के थोड़े ही दिन बाद एक दिन स्थानीय शनिवार-समाज में टी० एस० इलियट के अव्यक्तिवादी काव्य-सिद्धांत पर बहस छिड़ गई। इलियट के प्रायः मुख्य-मुख्य सभी आलोचनात्मक निबन्धों को मैं कई वर्ष पूर्व पढ़ चुका था और उनकी संगठित विचारधारा का मेरे मन पर बहुत-कुछ प्रभाव वर्तमान था। वास्तव में उनके काव्य की अपेक्षा उनकी आलोचना ने ही मुझे सदैव अधिक प्रभावित किया है। परन्तु उनके इस मूल सिद्धांत को मैं न तो कभी पूरी तरह ग्रहण कर पाया हूं और न स्वीकार ही। तब भी इलियट की धारणाओं को मन में उजागर करने के लिए मैंने उनके निबन्धों का अत्यंत जिज्ञासु भाव से, पूर्वाग्रह से मुक्त होकर, एक बार फिर मनन किया जिससे कि उनका आशय समझने में कोई त्रुटि न रह जाय। अस्तु।

काव्य के स्रष्टा और आलोचक दोनों ही रूपों में आधुनिक अंगरेज़ी साहित्य के अन्तर्गत इलियट का अन्यतम स्थान है--उन्होंने साहित्य में रोमानी-भावगत मूल्यों के विरुद्ध प्राचीन—वस्तुगत एवं तटस्थ दृष्टिकोण का समर्थन किया है। काव्य में अव्यक्तिवाद का यही सिद्धान्त साहित्यशास्त्र के प्रति उनका अत्यन्त विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण योग है। विवेचना करने से पूर्व इलियट की विचारधारा की भूमिका पर इसकी व्याख्या कर लेना केवल उचित ही नहीं अनिवार्य भी है।

इलियट के काव्य-सिद्धांतों का सार-संग्रह हमें उनके प्रसिद्ध निबन्ध 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा'[1] में मिल जाता है। जीवन और साहित्य दोनों में उनका दृष्टिकोण स्थिर परम्परावादी है—धर्म में वे कैथोलिक हैं--राजनीति में राजभक्त, और साहित्य में पुरातनवादी। उनकी दृष्टि में किसी एक काल अथवा किसी एक व्यक्ति का साहित्य अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, सम्पूर्ण साहित्य अखंड रूप है जिसमें परम्परा की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है। अतीत और वर्तमान इसी अखंड परंपरा में अनुस्यूत हैं--अतीत का तो वर्तमान पर प्रभाव पड़ता ही रहा है, वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। अपने पूर्ववर्ती के संस्कारों का उत्तराधिकारी होने के कारण वर्तमान उसका जन्मजात ऋणी है। यह तो स्पष्ट ही है, परन्तु अपने नवोद्भूत अस्तित्व के लिए अतीत की शृंखला में स्थान बनाता हुआ वह उसमें परिवर्तन भी तो करता है। इस प्रकार अतीत और वर्तमान अपृथक् ही हैं। इसी परंपरा का निभ्रन्ति ऐतिहासिक ज्ञान प्रत्येक कवि और आलोचक के लिए अनिवार्य है।[2] उसमें अतीत की अतीतता को ही नहीं वरन् उसके वर्तमान अस्तित्व को भी हृदयंगत करने की क्षमता होनी चाहिए क्योंकि किसी भी कवि का सन्देश अपने में पूर्ण नहीं है—उसका महत्त्व स्वतंत्र नहीं है,[3]

१. Tradition and Individual talent.

२. वही, पृ० १४ ३. वही, पृ० १५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसको समझने के लिए उसका पृथक् अध्ययन आवश्यक नहीं हैं, आवश्यक यह है कि उसको उसके पूर्ववर्ती कवियों की शृंखला में रखकर समझा जाय—उनसे उसका क्या सम्बन्ध है, इस बात को स्पष्ट रूप से हृदयंगत किया जाय। कवि के लिए अपनी चेतना का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, उसको समाज, जाति और देश की अखंड चेतना का ज्ञान होना चाहिए। यह जातीय चेतना सतत विकासशील है, काव्य या कला के प्राचीन या नवीन सभी प्रस्फुटन इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि को अपने अतीत की निर्भ्रान्त चेतना होनी चाहिए और उसे इस चेतना का जीवन-भर विकास करना चाहिए। इस प्रकार उसे परम्परा के लिए अपनी वर्तमान स्थिति का उत्सर्ग करना पड़ता है। कलाकार का विकास वास्तव में आत्मोत्सर्ग का, आत्म-निषेध का, एक अनवरत प्रयत्न है।[1] इस विवेचन के उपरान्त इलियट एक साथ अपने प्रसिद्ध अव्यक्तिवादी सिद्धान्त की स्थापना कर देते हैं—साहित्य (काव्य) आत्म की अभिव्यक्ति नहीं वरन् आत्म से पलायन है। साधारण व्यावहारिक-नैतिक अर्थ में यदि किसी का व्यक्तित्व दूसरे से गुरुतर है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि वह उसकी अपेक्षा अधिक सफल कवि और साहित्यकार भी है। सफल कवि होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसकी मानसिक शक्ति ही समृद्ध हो—आवश्यकता इस बात की है कि उसका मन अधिक-से-अधिक भावों और संवेदनाओं के समन्वय का अधिक-से-अधिक सफल माध्यम बन सके। सफल कवि में दूसरों की अपेक्षा विचार, संवेदन, संग्राहकता आदि की शक्ति का आधिक्य अनिवार्य नहीं है—उसके लिए कला-सृजन की प्रेरणा और उसके प्रभाव में भावों और संवेदनाओं को समन्वित करने की शक्ति ही अनिवार्य है। कला-सृजन की इस प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है उससे कवि के व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है—इस समस्त प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् एवं निर्विकार रहता है—जैसा कि किसी-किसी रासायनिक क्रिया में होता है।[2] उदाहरण के लिए ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड से भरे किसी कमरे में अगर आप प्लेटीनम का एक तन्तु डाल दें तो वे दोनों तो सल्फ़र-एसिड में परिवर्तित हो जाएंगे—परन्तु प्लेटीनम के तन्तु में किसी प्रकार का विकार नहीं आएगा। कवि का मन इसी प्लेटीनम तन्तु के समान है जो उसकी अनुभूतियों को प्रभावित और समन्वित करता हुआ भी स्वयं निर्विकार रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कलाकार जितना ही अधिक सफल होगा उतना ही अधिक उसके भोक्ता और स्रष्टा रूपों में अन्तर होगा; और उतनी ही अधिक सफलता से उसका मन सामग्री रूप में प्राप्त भावों और अनुभूतियों का ग्रहण कर उनको कलारूप में परिवर्तित कर सकेगा। संक्षेप में इलियट की मान्यताएं इस प्रकार हैं—

१. कवि का व्यक्तित्व और उसकी कृति दो भिन्न वस्तुएं हैं। भोक्ता मन और स्रष्टा मन में स्पष्ट अन्तर है। दोनों को किसी भी रूप में एक कर देना भ्रामक है।

२. व्यक्तिगत भाव और काव्यगत भाव सर्वथा भिन्न हैं, काव्य में हमें व्यक्तिगत अनुभूति न मिलकर काव्यगत भाव ही प्राप्त होता है। काव्यगत भाव की सृष्टि के लिए यह भी अनिवार्य नहीं है कि स्रष्टा ने उसके भौतिक रूप का अनुभव किया ही हो। काव्यगत भाव अनेक प्रकार के संवेदनों और अनुभूतियों का समन्वय होता है जिसके मूल में व्यक्तिगत अनुभूति नहीं वरन् कला-सृजन की उत्कट प्रेरणा ही सदैव वर्तमान रहती है।

---

१. पृ० १७ २. वही, पृ० २८

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

३. कला-सृजन के समय कलाकार तटस्थ रहता है—सृजन-प्रेरणा के फलस्वरूप उसकी धारणाएं, संवेदनाएं तथा अनुभूतियां उसके मन में समन्वित हो जाती हैं। ऐसा आप-से-आप एक विचित्र और अप्रत्याशित रीति से होता है।

४. इस प्रकार कलाकार विशिष्ट व्यक्तित्व न होकर एक माध्यम मात्र है। वह कला में अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता, वरन् उसका दमन, उत्सर्ग अथवा निषेध करता है।

विवेचन

इलियट के उपर्युक्त सिद्धांत आधुनिक साहित्य की अभिव्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया का परिणाम हैं—मुझे स्मरण है कि अपने एक लेख में उन्होंने यह शिकायत की है कि आधुनिक आलोचना दर्शन है, विज्ञान है, मानव-शास्त्र है, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि तो सब-कुछ है, परन्तु साहित्य बहुत कम रह गई है। इसमें संदेह नहीं कि मनोविश्लेषण के अनुसंधानों के फलस्वरूप आधुनिक आलोचना में कलाकार के व्यक्तित्व ने कृति को एक प्रकार से पूर्णतः आच्छादित कर दिया है—ऐसी आलोचनाओं में आलोचक कृति को तो एक ओर रख देता है और प्रतीकों के काँटे फेंककर कलाकार के मन के अतल गह्वरों में पड़े हुए रहस्यों को पकड़ने का प्रयत्न करता रहता है। इलियट ने इस अतिवाद के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई है, और मैं समझता हूं कि उनका यह विरोध काफ़ी हद तक ठीक भी है। आलोचक अपने मूल रूप में एक विशेष रसग्राही पाठक ही तो है, और उसकी आलोचना उस रस को सहृदय-सुलभ बनाने का प्रयत्न है। यदि आलोचक कलाकार के व्यक्तित्व के निश्चित और अनिश्चित तथ्यों में इतना उलझ जाता है कि कृति सर्वथा उपेक्षित हो जाती है, तो उसकी आलोचना किसी मनोविश्लेषण-ग्रंथ का एक अध्याय हो सकती है, परन्तु काव्यालोचन की दृष्टि से वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाती है। यहां तक तो उनका आक्षेप संगत है, और वास्तव में मनोविश्लेषण की रौ में कलाकृति का महत्त्व जिस प्रकार बहा जा रहा था वह अनिष्टकर था—उसको फिर से स्थिर कर इलियट ने साहित्य का निश्चय ही उपकार किया है। परन्तु इसके आगे जब वह कलाकृति को रचयिता के व्यक्तित्व से सर्वथा स्वतंत्र घोषित कर देते हैं, वह ज्यादती है। इलियट एक अतिवाद का निषेध करते हुए स्वयं एक दूसरे अतिवाद के दोषी बन जाते हैं। शेक्सपियर के सॉनेट का अध्ययन छोड़कर मेरी फ़िटन विषयक कल्पनाओं में फँस जाना अनुचित है, परन्तु इस प्रकार के अनुसंधानों का यदि उचित सीमा के भीतर उपयोग किया जाए तो इन कविताओं के अध्ययन में निश्चय ही सहायता मिलेगी। इस प्रकार इनकी काव्यगत अनुभूतियों का बिम्ब-ग्रहण अधिक पूर्ण होगा, और उसी के अनुपात से रसानुभूति में भी अधिक सहायता मिलेगी।

परन्तु मेरी उपर्युक्त युक्ति इलियट के सिद्धांतों के लिए अप्रासंगिक है, वे तो स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर चुके हैं कि जीवनगत भाव और काव्यगत भाव सर्वथा भिन्न हैं और यह भी सम्भव है कि कलाकार ने अपने जीवन में उसके भौतिक रूप का अनुभव ही न किया हो। यह प्रश्न मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है, इसका उत्तर देने के लिए हमें इलियट के मत के विरुद्ध काव्य की परिधि से बाहर जाना पड़ेगा। जीवनगत भाव और काव्यगत भाव में स्पष्ट अन्तर है, इसमें तो कोई संदेह नहीं—संस्कृत साहित्यशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों ही इसको स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करते हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र के अनुसार प्रत्यक्ष भौतिक भाव और काव्यगत भाव[1] में एक स्पष्ट अन्तर तो यही है कि भौतिक भाव का आस्वाद सुखमय और दुःखमय दोनों ही प्रकार का हो सकता है, परन्तु काव्यगत 'भाव', जो अपनी पूर्णावस्था में रस-रूप में परिणत हो जाता है अनिवार्यतः सुखमय ही होता है। इसका कारण यह है कि काव्यगत भाव व्यक्तिगत भाव का साधारणीकृत रूप है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह काव्यगत अनुभूति भौतिक अनुभूति का परिभावित[2] रूप है, जिसमें कल्पना-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व का अनिवार्य मिश्रण रहता है। इसलिए अन्तर तो सर्वथा असंदिग्ध है, परन्तु इसके आगे यह कहना कि दोनों कोई सम्बन्ध ही नहीं रखते, असत्य है। शाकुन्तलम् में अंकित दुष्यन्त और शकुन्तला की रति भौतिक रति से अवश्य ही भिन्न है—परन्तु शाकुन्तलम् की रसानुभूति का मूल इस लौकिक रति में ही है—कल्पना और बुद्धि-तत्त्व का मिश्रण हो जाने से इसमें अन्तर अवश्य पड़ गया है, परन्तु दोनों के आस्वादन में सूक्ष्म मूलगत समानता है। यही बातें करुण काव्य के लिए भी उतनी ही सत्य हैं। करुण काव्य का काव्यगत भाव अथवा रसानुभूति मधुर होती है, पर उसका भौतिक रूप कटु होता है; किन्तु फिर भी दोनों का मूलगत सम्बन्ध असंदिग्ध है। करुण और शृंगार रसों के आस्वादन का स्पष्ट अन्तर इसका प्रमाण है—उदाहरण के लिए एक ओर शाकुन्तलम् को पढ़कर और दूसरी ओर 'उत्तररामचरित' को पढ़कर जो रसानुभव होता है उसमें भेद है—एक में हर्ष, उल्लास की मात्रा अधिक है, दूसरे में गम्भीरता है। यह अन्तर उनके आधारभूत भौतिक तत्त्वों का ही परिणाम है। यहां यह प्रश्न उठता है कि यह आधारभूत भौतिक भाव किसका है? इसका समाधान करने के लिए संस्कृत आचार्यों में बड़ा विवाद रहा है, और अन्त में वे इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि सहृदय के हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायी भाव ही काव्य आदि के द्वारा उद्बुद्ध होकर रस में परिणत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि अन्त में सहृदय अपने भाव का ही आस्वादन करता है, परन्तु जैसा कि मैंने 'रस की स्थिति' शीर्षक लेख में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, इस भाव की मूल प्रेरणा कवि का अपना भाव ही है जिसे वह काव्य द्वारा सहृदय तक प्रेषित करता है। शाकुन्तलम् में दुष्यन्त और शकुन्तला की रति साधारणीकृत रूप में मिलती है, परन्तु यह साधारणीकरण आख़िर है किसका? दुष्यन्त और शकुन्तला व्यक्तियों की रति का तो है नहीं, क्योंकि वह तो उनके साथ समाप्त हुई—निश्चय ही यह कवि की अपनी विशिष्ट रति-भावना का ही साधारणीकरण है, जिसे उसने दो ऐतिहासिक व्यक्तियों के माध्यम से प्रक्षिप्त किया है—अतएव काव्यगत भाव और भौतिक भाव में निश्चय ही पल्लव और बीज का सम्बन्ध है, और यह भौतिक भाव व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत (ऐतिहासिक आदि) सभी प्रकार के काव्यों में मूलतः कवि का अपना भाव ही होता है।

यहीं इलियट की प्रासंगिक उपपत्ति को भी ले लिया जाय। वे कहते हैं कि कलाकार के

---

१. पारिभाषिक अर्थ में

२. Contemplated.

पाद-टिप्पणी : संस्कृत साहित्य-शास्त्र की आरम्भिक अवस्था में रस की स्थिति के विषय में अनेक भ्रम उत्पन्न हुए थे—कोई उसे मूल पात्रों में मानता था, कोई नट-नटी में—किसी-किसी ने काव्य-वस्तु में भी माना। उसी विचार-शृंखला को यदि आगे बढ़ाया जाय तो इलियट काव्य (या कला) का सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हुए रस की स्थिति स्वयं काव्य (या कला) में ही मानते मालूम पड़ते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही सिद्धांत लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के सिद्धान्तों से भी अधिक भ्रान्तिपूर्ण है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिए यह आवश्यक नहीं कि उसने काव्यगत 'भाव' के भौतिक रूप का अनुभव किया ही हो। वास्तव में इस प्रकार की शंका साहित्य के अध्ययन में अनेक बार पाठक के मन में उठती है : क्या शेक्सपियर, रोमियो, हेमलेट, मैकबेथ, ओथेलो, फ़ॉस्टाफ़, क्ल्योपेट्रा आदि सभी पात्रों की मानसिक स्थिति में होकर गुज़रा था ? बाबा तुलसीदास बेचारे ने युद्ध कभी देखा भी न होगा, लड़ने की तो बात ही क्या ? फिर कैसे मान लिया जाय कि कवि काव्यगत भाव के भौतिक रूप का अनुभव करता ही है। इसका उत्तर संस्कृत आचार्य ने बड़े सुन्दर ढंग से दिया है—उसने कवि को अनिवार्यतः 'सवासन' माना है—'सवासन' का अभिप्राय यह है कि एक अत्यन्त विस्तृत भाव-कोष वासना रूप में अर्थात् संस्कार रूप में उसके अधिकार में रहता है। 'वासना' और 'संस्कार' शब्दों का सम्बन्ध आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के उपचेतन मन से है। तुलसीदास ने युद्ध न किया हो परन्तु युद्ध के मूलभाव—युयुत्सु-संस्कार—तो उनके अन्दर वर्तमान थे ही—और जीवन में अनेक बार उन्होंने उद्बुद्ध रूप में उनका अनुभव किया होगा। युद्ध के वर्णन के लिए वातावरण और युद्ध-सामग्री आदि सर्वथा गौण हैं—उनका संचय तो कल्पना कर सकती है। उसका प्राण तो उत्साह, क्रोध और संचारी भाव ही हैं—जिनका अनुभव तुलसीदास को निस्सन्देह रहा ही होगा। यही बात शेक्सपियर के लिए या किसी के लिए भी कही जा सकती है।

काव्यगत भाव को इलियट ने अनेक प्रकार की संवेदनाओं, अनुभूतियों आदि का समन्वय माना है, जो कला-सृजन के दबाव से आप-से-आप अप्रत्याशित रीति से घटित हो जाता है। जहां तक इस सिद्धान्त के पूर्वार्ध का सम्बन्ध है, वह कुछ-कुछ क्रोचे के सहजानुभूति सिद्धान्त से मिलता-जुलता है—क्रोचे की सहजानुभूति भी, जो कला का मूलरूप है, अरूप संवेदनों और अस्पष्ट अनुभूतियों का ही समन्वय है। परन्तु क्रोचे जहां सहजानुभूति को मन की एक विशिष्ट शक्ति की सहज क्रिया मानते हैं, वहां इलियट आप-से-आप अप्रत्याशित रीति से होने वाली एक घटना मानते हैं। वैसे तो क्रोचे की सहजानुभूति भी आज मनोविज्ञान को मान्य नहीं है, परन्तु इलियट की यह स्वतःसम्भवा अप्रत्याशित घटना तो सर्वथा अवैज्ञानिक है। यहां वे भी सिद्धान्त की कार्य-कारण रूप में व्याख्या न कर अनिश्चित शब्दावली की शरण ले रहे हैं जैसे कि संस्कृत के आचार्य ने 'अनिर्वचनीय' की शरण ली थी। इस अप्रत्याशित घटना को इलियट[1] 'कला-सृजन' की प्रेरणा का परिणाम मानते हैं—यह 'कला-सृजन की' प्रेरणा' भी इलियट की नवीन उद्भावना नहीं है—यूरोप के साहित्यशास्त्रियों में[2] 'सृजन-प्रेरणा' की चर्चा काफ़ी दिनों से और काफ़ी ज़ोरों से चलती आ रही है। परन्तु अन्तर केवल यही है कि 'सृजन-प्रेरणा' में जहां अनिवार्य रूप से व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता रही है—वहां इलियट ने अपनी इस प्रेरणा या दबाव को सर्वथा वस्तुगत माना है। उनका सिद्धान्त है कि यह दबाव वस्तु-रचना का पड़ता है—परन्तु वस्तु-रचना रचयिता के व्यक्तित्व से निरपेक्ष किस प्रकार हो सकती है ? साधारण दस्तकारी में भी, जहां रचना-प्रक्रिया सर्वथा यांत्रिक है, रचयिता के व्यक्तित्व का स्पर्श बचाया नहीं जा सकता—फिर कला, जहां सम्पूर्ण प्रक्रिया ही मानसिक है, व्यक्ति-तत्त्व से अस्पृष्ट कैसे रह सकती है ? इसमें सन्देह नहीं कि स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने श्रेष्ठ कला के लिए यह आवश्यक एवं उपयोगी माना है कि कलाकार अपने ही में सदा न खोया रहे। परन्तु इस विषय में

१. Artistic Pressure
२. Creative urge

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मुझे दो निवेदन करने हैं—एक तो यह कि उपर्युक्त सिद्धान्त कला के सभी रूपों पर लागू नहीं हो सकता—उदाहरण के लिए तुलसी, सूर और मीरा के आत्म-निवेदन, इधर बच्चन आदि नवीन गीतकारों की आत्माभिव्यक्तियों का महत्त्व प्रत्यक्षत: कवि के आत्मतत्त्व के ही कारण है। वास्तव में गीत-काव्य का प्राण ही आत्मतत्त्व है। इलियट के कठोर-से-कठोर शास्त्र-प्रहार शैली के गीतों का गौरव नहीं घटा सकते। दूसरे यह कि जहां वस्तु की प्रधानता रहती है (जैसे नाटक, ऐतिहासिक काव्य आदि में) वहां भी व्यक्तित्व का अभाव किसी प्रकार नहीं होता। वस्तु के निर्माण में, घटनाओं के संगठन तथा पात्रों के अंकन में पद-पद पर कलाकार के व्यक्तित्व की अमिट छाप लगी रहती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य को व्यक्ति-प्रधान और वस्तु-प्रधान इन दो रूपों में विभक्त करते हुए तुलसीदास के काव्य को वस्तु-प्रधान होने के कारण अधिक गम्भीर और श्रेष्ठ माना है। उन्होंने अनेक प्रकार से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि तुलसीदास का गौरव इसी बात में है कि उन्होंने व्यक्तिगत राग-द्वेषों से तटस्थ होकर राम के मंगलकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। परन्तु इस रूप की प्रतिष्ठा करने में तुलसी ने अपने जीवन-आदर्शों का ही तो प्रतिफलन किया है—राम का यह लोक-मंगलकारी रूप तुलसी के अपने उच्चतर-रूप (Super Ego) का ही तो प्रक्षेपण है। वास्तव में मनुष्य की कोई भी क्रिया उसके अहं के चेतन अथवा अवचेतन स्पर्श से किस प्रकार मुक्त हो सकती है। जिन रचनाओं में चेतन व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं होता (यद्यपि ऐसा भी बहुत कम होता है) उनमें अवचेतन का प्रभाव होता है और अवचेतन जैसा कि अब प्राय: सभी मनोवैज्ञानिकों ने मान लिया है, चेतन की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। इस प्रकार सृजन-प्रेरणा का अप्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्तिमय रूप तो स्पष्ट है—(सृजन हमारा अपना ही तो पुनर्जन्म है) परन्तु व्यक्ति से निरपेक्ष, इलियट की यह कला-सृजन की प्रेरणा, सर्वथा अवैज्ञानिक कल्पना है। कहने का तात्पर्य यह है कि इलियट का यह कहना तो ठीक है कि काव्यगत भाव अनेक प्रकार के संवेदनों तथा अनुभूतियों आदि का समन्वय है—और यह भी ठीक है कि यह मस्तिष्क की सचेतन क्रिया नहीं है ! सृजन के क्षणों में कलाकार का मन अर्ध-समाधि की अवस्था में होता है। परन्तु जब वे 'कला-सृजन के दबाव' और 'अप्रत्याशित, स्वत:सम्भवा रीति' आदि की बात व्यक्ति से निरपेक्ष होकर करते हैं तभी गड़बड़ कर जाते हैं। वास्तव में उनकी इस उलझी शब्दावली की व्याख्या अवचेतन मन के सम्बन्ध में बड़ी सरलता से की जा सकती है। जिसे वे कला-सृजन का दबाव कहते हैं, वह अवचेतन मन में पड़े हुए उन संस्कारों का दबाव है, जो अनुकूल परिस्थिति में उद्बुद्ध होकर अभिव्यक्ति के लिए मचल उठते हैं, और चूंकि चेतन मन उनको पूरी तरह पहचानता नहीं है, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति का ढंग उसे अप्रत्याशित और अकारण-सा लगता है। इसी के साथ इलियट की यह सहकारी प्रतिज्ञा भी खंडित हो जाती है कि कलाकार व्यक्तित्व न होकर केवल माध्यम है, जिसमें कला-सृजन की प्रेरणा के दबाव से अनेक प्रकार के संवेदनों, अनुभूतियों आदि का समन्वय घटित होता है। यहां आप देखिए कि उन्होंने कृतित्व को कलाकार से छीन कर 'कला-सृजन की 'प्रेरणा' पर आरोपित कर दिया है। परन्तु जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है, यह केवल शब्दों का हेर-फेर है—यह 'प्रेरणा' भी कलाकार के व्यक्तित्व (अवचेतन) से ही सम्भूत होती है। जिसे वे व्यक्तित्व से पलायन कहते हैं, वह मनोविश्लेषण-शास्त्र में अवचेतन की एक नित्य घटना है। मनुष्य की वृत्तियां प्राय: चेतन से मुंह छिपाकर अवचेतन में शरण लेती हैं, और वहां जाकर संस्कार बनकर अपना रूप बदल डालती हैं। वास्तव में जीते जी न तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यक्तित्व से पलायन ही सम्भव है और न उसका निषेध ही। जब तक जीवन है तब तक अहं अनिवार्य रूप से वर्तमान रहेगा। कोई भी भावात्मक अथवा अभावात्मक प्रयत्न उसका निषेध नहीं कर सकता।

इलियट के साथ आरम्भ में ही एक दुर्घटना हो गई है—वह यह कि (जैसा उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है) वे मनोविज्ञान और दर्शन को बचाकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने बैठे हैं। साधारणतः काव्यशास्त्र मनोविज्ञान और दर्शन नहीं है, परन्तु जहां चरम सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा वहां केवल काव्यशास्त्र ही नहीं जीवन का कोई भी शास्त्र दर्शन और मनोविज्ञान को दूर कैसे रख सकता है ? इलियट के प्रतिपादन में संगठित और प्रौढ़ विचारधारा का योग होते हुए भी जो अत्यन्त स्पष्ट असंगतियां और भ्रांतियां आ गई हैं, उनका कारण यही है कि उनका आरम्भ ही ग़लत हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

फ्रॉयड और हिन्दी-साहित्य

फ़्रॉयड पर वार्ता प्रसारित करने का मुझसे आग्रह शायद इसलिए है कि मेरे सहयोगी और समसामयिक मुझे फ़्रॉयडवादी समझते हैं। उनकी यह धारणा ग़लत है।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि आज के विचार-जगत् में फ़्रॉयड ने भारी क्रान्ति की है, और हमारे युग की जीवन-दृष्टि पर जाने-अनजाने उनका गहरा प्रभाव है। वे उन चार मनीषियों में से हैं जिन्होंने हमारी आज की युग-चेतना का निर्माण किया है। ये चार मनीषी हैं: डार्विन, मार्क्स, गांधी और फ़्रॉयड। डार्विन का क्षेत्र है प्राकृतिक जगत्; मार्क्स का सामाजिक अर्थात् आर्थिक और राजनीतिक जीवन; गांधी का आध्यात्मिक जीवन और फ़्रॉयड का क्षेत्र है मनोजगत्। साधारणतः ये चारों क्षेत्र एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, फिर भी वैशिष्ट्य के विचार से उपर्युक्त विभाजन किया गया है। यह न पूर्ण है और न ऐकान्तिक, क्योंकि कोई भी जीवन-दर्शन ऐकान्तिक कैसे हो सकता है!

फ़्रॉयड उपचार-गृह (क्लिनिक) से दर्शन की ओर बढ़े, रोगियों का उपचार करते-करते उन्होंने व्याधियों के मूल उद्गम तक पहुँचकर अन्तर्मन के विज्ञान की उद्भावना की।

फ़्रॉयड के मूल सिद्धान्त और निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार हैं—हमारे मन के दो भाग हैं: चेतन और अचेतन (अवचेतन)। इनके बीच में एक तीसरा भाग भी है, जिसकी स्थिति चेतन से कुछ पहले है—इसे फ़्रॉयड ने 'प्रीकॉन्शस' अर्थात् पूर्व-चेतन कहा है। यह अचेतन के लिए एक प्रकार का द्वार है। चेतन की अपेक्षा अचेतन कहीं बृहत्तर और प्रबलतर है। फ़्रॉयड ने इसके स्पष्टीकरण के लिए एक ऐसे पत्थर का दृष्टान्त दिया है जिसका तीन-चौथाई भाग जल में है और एक-चौथाई जल से ऊपर। यह तीन-चौथाई अचेतन है और एक-चौथाई चेतन। चेतन वह भाग है जो सामाजिक जीवन में सक्रिय रहता है, जिसकी क्रियाओं का ज्ञान हमें रहता है। अचेतन वह भाग है जिसकी क्रियाओं का ज्ञान हमें नहीं होता, परन्तु जो निरन्तर क्रियाशील रहकर हमारी प्रत्येक गतिविधि को अज्ञात रूप से प्रेरित और प्रभावित करता रहता है। यह अचेतन हमारी उन इच्छाओं और चेष्टाओं का पुंज है जो अनेक सामाजिक कारणों से—मूलतः सामाजिक स्वीकृति अथवा मान्यता के अभाव में चेतन मन से मुंह छिपाकर नीचे पड़ जाती हैं और वहां से अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करती रहती हैं। इस अवस्था में उन्हें अधीक्षक (सेन्सर) का सामना करना पड़ता है जो हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक-रूप है। वह इन असामाजिक इच्छाओं का दमन करने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह दमन एक छल-मात्र होता है, दमित इच्छाएं अनेक छद्म रूप रखकर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ़ ही लेती हैं। ये मार्ग हैं स्वप्न, स्वप्न चित्र और कला-साहित्य आदि। एक प्रकार से ये सभी स्वप्न के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार 'स्वप्न की व्याख्या' फ़्रॉयड के शास्त्रीय विधान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मन का विभाजन फ्रॉयड ने एक और प्रकार से किया है। यहां भी उन्होंने उसके तीन अंग माने हैं—इड, ऐगो और सुपर-ऐगो; अर्थात् इद, अहं और अति-अहं। परन्तु ये वास्तव में क्रमश: अचेतन, चेतन और अधीक्षक (सेन्सर) से बहुत भिन्न नहीं हैं। इड या इद हमारे रागों का पुंज है, जिसमें अचेतन का ही प्राधान्य है। इसकी धारणा बहुत-कुछ हमारी वासना से मिलती-जुलती है। अहं चेतन मन है, जो नीचे इड या इद में से इच्छाओं के धक्के खाता हुआ सामाजिक मूल्यों के प्रति सचेष्ट रहता है। और अति-अहं संचित सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है जिसका काम आलोचना और अधीक्षण करना है। फ्रॉयड के शब्दों में : अहं, इद का वह भाग है जिसका निर्माण ऐन्द्रिय ज्ञानमय चेतन के माध्यम से बाह्य जगत् के सम्पर्क द्वारा हुआ है। इद का प्रेरक सिद्धान्त है आनन्दवाद, और अहं का प्रेरक सिद्धान्त है वस्तुवाद। अहं में ज्ञान का प्राधान्य है और इद में वासना का; अहं विवेक और बुद्धि का प्रतीक है, और इद रागों का आवास है।[1]

हमारा अचेतन जिन दमित इच्छाओं का पुंज है, वे मूलत: काम के चारों ओर केन्द्रित हैं। इस प्रकार जीवन की मूल वृत्ति फ्रॉयड के अनुसार है काम। उनके अनुसार जीवन में दो वृत्तियां प्रधान हैं: एक प्रेम करने की प्रवृत्ति 'इरॉस' अर्थात् काम; दूसरी नाश करने की प्रवृत्ति अर्थात् 'थैनेटॉस'। इसमें भी मुख्य है पहली, अर्थात् काम; दूसरी उसका विपर्यय-मात्र है। इसी काम को फ्रॉयड ने 'लिबिडो' कहा है। हमारी सभी व्यष्टिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में, यहां तक कि समष्टिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में भी, काम के सूक्ष्म अंतस्सूत्र विद्यमान रहते हैं। यह वृत्ति अनेक रूप धारण करती है जिसके फ्रॉयड ने कुछ वर्ग निश्चित किए हैं। परन्तु उनके विस्तार के लिए यहां अवकाश नहीं है।

रोग का निदान कर लेने के बाद फ्रॉयड उपचार के लिए अग्रसर होते हैं। यह तो निश्चित हो गया कि रोग का मूल कारण मन की ग्रन्थियां हैं, पर उनको खोला कैसे जाय! इसके लिए फ्रॉयड ने व्यावहारिक प्रयोगों द्वारा 'मुक्त सम्बन्ध' अथवा 'मुक्त-सम्बद्ध-विचार-प्रवाह' शैली का आविष्कार किया जिसके द्वारा वे मन के अतल गह्वरों में पड़े हुए विकारों को बाहर निकाल लाने का दावा करते थे। अचेतन से चेतन में आ जाने पर गाँठ चेष्टापूर्वक खोली जा सकती हैं; विकारों का 'उन्नयन' किया जा सकता है। इस उपचार-प्रक्रिया में वे 'कार्य-कारण-वाद' तक पहुँच गए। 'कार्य-कारण-वाद' के अनुसार प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है जो ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार का हो सकता है। अचानक अथवा दैवात् होने वाले कार्य भी सर्वथा सकारण हैं; उनके कारण हमारे चेतन या अचेतन में मिलते हैं। इस प्रकार फ्रॉयड ने कार्य-कारण-वाद को अपनी चिन्ताधारा का आधार बनाया और आनन्दवाद को जीवन का लक्ष्य माना।

---

१. It is easy to see that the ego is that part of the id which has been modified by the direct influence of the external world acting through the perception...Moreover, the ego has the task of bringing the influence of the external world to bear upon the id and its tendencies and endeavours to substitute the reality-principle for the pleasure-principle which reigns supreme in the id. In the ego perception plays the part which in the id devolves upon instinct. The ego represents what we call reason and sanity in contrast to the id which contains the Passions.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इन सिद्धान्तों के प्रकाश में धीरे-धीरे फ़ॉयड ने जीवन के प्रमुख तत्त्वों का व्याख्यान आरम्भ कर दिया। समाज-विधान, राजनीति, राष्ट्रीयता, संस्कृति, सभ्यता, धर्म, कला आदि पर फ़ॉयड की मर्म-भेदी दृष्टि पड़ी। उनके निष्कर्ष जितने मौलिक थे उतने ही विक्षोभकारी; परन्तु उनका प्रभाव अत्यन्त व्यापक हुआ और जीवन के पुनर्मूल्यांकन में उन्होंने बहुत बड़ा योग दिया। फ़ॉयड के अनुसार जीवन की मूल-शक्ति है काम अथवा राग, जिसकी माध्यम हैं सहज-वृत्तियां। इन सहज-वृत्तियों के उचित परितोष में ही जीवन की सिद्धि है। यही फ़ॉयड का आनन्द-सिद्धान्त —'प्लैज़र-प्रिंसिपल'—है। इसे ही वे जीवन का मूल सिद्धान्त मानते हैं।[१] मनुष्य की सभी चेष्टाएं इसी लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं—वस्तु-सिद्धान्त द्वारा आरोपित अनेक बाधाएं इसकी साधक ही हैं, अन्त में उनका लक्ष्य भी यही ठहरता है—संयम-नियम, विलम्बन आदि की विधियां सभी आनन्द की ओर उन्मुख हैं। समाज का विधान ऐसा होना चाहिए जिसमें जीवन की मूल प्रवृत्तियों के परितोष की व्यवस्था हो—अन्यथा समाज का विधान स्थिर नहीं रह सकता। वह विद्रोह, अशान्ति, दुःख-दारिद्रय, कुण्ठा आदि का शिकार हो जायेगा। मानव-जीवन की इन्हीं सहज आवश्यकताओं की पूर्ति समाज और शासन-व्यवस्था का— जिसके अन्तर्गत राजनीति आदि सत्तापरक व्यवस्थाएं आ जाती हैं—मूल और एकमात्र उद्देश्य है। यह परितोष सदा तात्कालिक ऐन्द्रिय स्तर पर ही नहीं होता, बौद्धिक-रागात्मक उन्नयन भी इसकी एक सफल विधि है। वास्तव में राग का प्राधान्य मानते हुए भी अन्त में फ़ॉयड को बुद्धि की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी; राग के अतिचार से त्राण पाने के लिए बुद्धि की शरण लेना अनिवार्य हो गया। फ़ॉयड को यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा कि रागमय जीवन और विवेकमय जीवन में सतत संघर्ष रहता है और यह संघर्ष ही सभ्यता का मूल आधार है। आज के सभ्य जीवन की विकृतियां और कुण्ठाएं राग और विवेक के असामंजस्य का ही परिणाम हैं। फ़ॉयड ने नैतिक विधि-निषेध के मार्ग की निन्दा करते हुए मनोवैज्ञानिक उन्नयन—उन्हीं के शब्दों में 'अहं के सामाजीकरण'—का मार्ग उपदिष्ट किया। नैतिक विधि-निषेध जहां ग्रंथियों की वृद्धि करते हैं तथा उन्हें और अधिक जटिल बनाते हैं, वहां उन्नयन अथवा अहं का सामाजीकरण—जो राग का बौद्धिक परितोष है—ग्रन्थियों को सहज ढंग से खोलकर मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। यह मानसिक स्वास्थ्य ही व्यष्टि की सफलता है, और यही व्यापक स्तर पर समष्टि अथवा समाज की। प्रगति अथवा विकास के मूल्यांकन का उचित आधार यही है; समाज की मुक्ति इन्हीं में है। धर्म को फ़ॉयड ने एक प्रकार की इच्छा-पूर्ति या निम्न स्तर पर सामूहिक भ्रम-मात्र माना है। वह मूलतः भविष्य-स्वप्न—यूटोपिया—आदि की भाँति एक प्रकार की परितोषदायिनी कल्पना या अधिक-से-अधिक उन्नयन का विधान ही है। ईश्वर पितृ-भाव का प्रक्षेपण है और धार्मिक प्रथाएं आदि स्वप्न-चित्रों के रूढ़ प्रतीक हैं। इसी प्रकार कला और साहित्य को भी फ़ॉयड ने एक प्रकार की क्षतिपूरक क्रिया एवं उन्नयन का साधन माना है और उनका उद्गम भी मानव के स्वप्न-चित्रों को ही माना है।

शक्ति और सीमा

फ़ॉयड-दर्शन की अपनी शक्ति और परिसीमाएं हैं। उसकी सबसे बड़ी शक्ति यह है

१. In the Psycho-analytical theory of the mind we take it for granted that the course of mental processes is automatically regulated by the 'pleasure-principle'.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कि अचेतन का अन्वेषण कर उसने मानव-मनोविश्लेषण के लिए अपार क्षेत्र का उद्घाटन कर दिया है। व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याएं, जिन पर रहस्य का घना आवरण पड़ा हुआ था, बुद्धि और विवेक के प्रकाश में आयीं और जीवन के पुनर्मूल्यन के नवीन साधन उपलब्ध हुए। व्यक्ति और समाज के अनेक जीर्ण रोगों का उपचार भी इसके द्वारा सम्भव हुआ और अन्तर्मनोविज्ञान का आरम्भ हुआ। अध्यात्म, दर्शन, समाजशास्त्र, इतिहास, साहित्य और कला के मौलिक रहस्यों के उद्घाटन में फ़ॉयड के सिद्धान्तों और उनकी पद्धति ने अभूतपूर्व योग दिया।

दूसरे, काम को मूलभूत वृत्ति मानते हुए उन्होंने मानव के रागात्मक सम्बन्धों का अत्यन्त सूक्ष्म-गहन और किन्हीं अंशों में सर्वथा सटीक व्याख्यान प्रस्तुत किया। इससे अनेक भ्रान्तियों तथा किंवदन्तियों का विघटन हुआ और जीवन में बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में सहायता मिली।

फ़ॉयड-दर्शन की परिसीमाएं भी अत्यन्त स्पष्ट हैं। उस पर अनेक आरोप लगाए गए हैं। पहला आरोप तो यह है कि वह वैज्ञानिक न होकर आनुमानिक है। उनकी व्याख्या स्थान-स्थान पर बड़ी दूरारूढ़ और अविश्वनसीय हो जाती है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए वे ज़मीन-आसमान के कुलावे मिला देते हैं। दूसरा यह कि फ़ॉयड के निष्कर्ष स्वस्थ व्यक्तियों की मनःस्थिति पर आवृत नहीं हैं, अतः विकृतियों के आधार पर प्रतिपादित जीवन-दर्शन स्वस्थ मानव का जीवन-दर्शन कैसे हो सकता है! यह फ़ॉयड के समसामयिक और प्रतिद्वन्द्वी विचारक युंग का आरोप है। तीसरा दोष इसका यह है कि यह एकांगी है; काम जीवन की मूल-प्रवृत्ति तो अवश्य है, परन्तु वह अंग ही है, सर्वांग नहीं है। फ़ॉयड ने उसी को सर्वस्व मानकर अपने जीवन-दर्शन को एकांगी बना दिया है।

फ़ॉयड के विरुद्ध चौथा आरोप यह है कि उनका जीवन-दर्शन अभावात्मक है, उसमें समाधान नहीं है; साथ ही वह व्यष्टि तक ही सीमित है, समष्टि के लिए उनके पास कोई संदेश नहीं है। इसलिए उसमें आशा और गति नहीं है, एक प्रकार का अवसाद और अगति है। मैं समझता हूं कि यह अन्तिम आरोप अनुचित और अन्यायपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि फ़ॉयड में प्रचारक या सुधारक की जैसी मुखर सोद्देश्यता नहीं थी; उनमें वैज्ञानिक की धीरता थी। आरम्भ में उनके प्रयोग और निष्कर्ष अभावात्मक अवश्य थे और प्रयोगावस्था में ऐसा होना स्वाभाविक भी है; परन्तु धीरे-धीरे उनकी दृष्टि भावात्मक हो गई थी और उन्नयन अथवा अहं के सामाजीकरण में उन्होंने अपना समाधान प्रस्तुत किया। फ़ॉयड पेशेवर डॉक्टर थे। केवल निदान करके ही छोड़ देना डॉक्टर का काम नहीं है। उनका दर्शन सहज प्रवृत्तिमूलक दर्शन है, जो निवृत्तिमूलक दर्शनों से अधिक कल्याणकारी और रुचिकर होना चाहिए।

फ़ॉयड हिंदी में पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में ही आए हैं। इससे पहले 'शुतुर्मुर्ग पुराण' आदि निकले थे। पर न उनका लेखक फ़ॉयड को समझ सका था और न पाठक उस लेखक को। वह एक अनर्गल प्रलाप-मात्र था। उसके बाद अज्ञेय-जैसे एक-आध कलाकार द्वारा फ़ॉयड कुछ व्यवस्थित ढंग से हिन्दी में आये और धीरे-धीरे उनकी ओर आकर्षण बढ़ा। फ़ॉयड का प्रभाव और प्रेरणा कई रूपों में आंके जा सकते हैं। एक तो फ़ॉयड की प्रेरणा से हिन्दी में शृंगार का पुनरुत्थान हुआ। द्विवेदी-युग की स्थूल नैतिकता और छायावाद की अतीन्द्रिय सौन्दर्योपासना के कारण शृंगार की जो प्रवृतियां दब गई थीं या रूपान्तरित हो गई थीं, वे फ़ॉयड के प्रभाव से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

फिर उभर आयीं और हिन्दी में शृंगार-साहित्य फिर ज़ोर पकड़ गया। परन्तु इस शृंगारिकता का रूप प्रचलित रूपों से भिन्न है। एक तो इसमें शृंगार स्वयं-साध्य नहीं है, वरन् मनोविश्लेषण का माध्यम है। लेखक का उद्देश्य काम-कथाएं लिखना अथवा रति-भाव की अभिव्यक्ति करना इतना नहीं होता, जितना काम-कुण्ठाओं का विश्लेषण करना। इस साहित्य में विकृतियों का चित्रण अधिक है और चौंका देनेवाली बातें भी हैं; परन्तु इसके द्वारा सस्ती शृंगारिकता, चलते-फिरते प्रेम की कथाओं को या प्रेम की हल्की अभिव्यक्तियों को दुरुत्साहन नहीं मिला। इसके द्वारा ऐसे रस का परिपाक हुआ, जिसमें गहरी शृंगारिकता के साथ बौद्धिक अन्वेषण का भी आनन्द मिला हुआ है।

इसी क्षेत्र में फ़ॉयड का दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि काम की छद्म चेतना और छद्म अभिव्यक्तियों की असलियत खुल गई। प्रकृति पर प्रणय-पात्र का आरोप अथवा परोक्ष के प्रति प्रणय-निवेदन अथवा अतीन्द्रिय प्रेम में आस्था कम हो गई और काम को भौतिक स्तर पर स्वीकृति मिली। मन की छलनाएं कम हुईं और वास्तविकता को स्वीकार करने का आग्रह बढ़ा।

अवचेतन-विज्ञान के प्रभाव से हिन्दी साहित्यकार के चिन्तन और भावन में गहराई, सूक्ष्मता तथा प्रखरता आयी। मन के सूक्ष्म स्तरों तक पहुँचने का, भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वीचियों को शब्द-बद्ध करने का आग्रह बढ़ा। छायावाद की सूक्ष्म चेतना को समर्थन प्राप्त हुआ। साथ ही और भी गहराइयों में जाने की प्रेरणा मिली तथा अवचेतन को यथावत् चित्रित करने के लिए सफल-असफल प्रयोग हुए। जिस समय प्रगतिवाद के प्रचारक जीवन की स्थूल आवश्यकताओं के साथ कला का सम्बन्ध जोड़ते हुए उसे बहिर्मुख करने के लिए नारे लगा रहे थे, फ़ॉयड के प्रभाव से कला के अन्तर्मुख रूपों को यथेष्ट बल मिला और वह इश्तिहारों के स्तर पर आने से बच गई। हिंदी के लिए फ़ॉयड का अवचेतन-विज्ञान वरदान सिद्ध हुआ।

विचार के क्षेत्र में भौतिक-बौद्धिक मूल्यों की अधिक विश्वसनीय तथा रोचक ढंग से स्थापना की गई और जीवन तथा साहित्य के पुनर्मूल्यांकन में सहायता मिली। इस प्रकार फ़ॉयड ने प्रगति की परम्परा को भी आगे बढ़ाया, साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा साहित्य की प्रवृत्तियों के विश्लेषण-व्याख्यान के लिए एक नवीन मार्ग खुल गया जिससे कर्ता तथा कृति का मूल सम्बन्ध स्पष्ट करने में बड़ी सुविधा हुई और साहित्य के अध्ययन-आलोचन के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा।

काव्य-शिल्प पर भी फ़ॉयड का प्रभाव कम नहीं पड़ा। उनकी 'मुक्त-सम्बन्ध' शैली को तो कथाकारों ने सीधा ही अपना लिया। साथ ही स्वप्न-चित्रों के सृजन और उद्घाटन का भी हमारे साहित्य में बड़े वेग के साथ प्रचार हुआ।

परन्तु यह तो एक पहलू हुआ। नादान उत्साहियों के हाथों में पड़कर फ़ॉयड की दुर्दशा और साहित्य की छीछालेदर भी हिंदी में कम नहीं हुई; क्योंकि फ़ॉयड-दर्शन एक दुधारा शस्त्र है, जो दोनों तरफ़ काट कर सकता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य पर प्रभाव

रवीन्द्र-जयन्ती का आयोजन जिस उल्लास और उत्साह के साथ, जिस व्यापक रूप में पूरे राजकीय वैभव के साथ हो रहा है वह हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में अभूतपूर्व घटना है। एक ओर हमारे लिए जहां यह गौरव का विषय है कि एक कवि-कलाकार को इस प्रकार का राजकीय एवं देशव्यापी सम्मान दिया जा रहा है, दूसरी ओर हमें इस प्रकार के राजनीतिक आयोजनों के असाहित्यिक प्रभावों के प्रति भी सतर्क होने की आवश्यकता है। इस प्रकार के राजनीतिक कोलाहल से कई अनिष्ट हो सकते हैं : एक तो यह कि स्वयं रवीन्द्र-साहित्य के भव्यतर रूप की उपेक्षा हो जाये और 'वे विश्वमानव थे', 'अन्तर्राष्ट्रीय पुरुष थे', 'महान् शिक्षाविद् थे', 'सिद्ध दार्शनिक थे', 'अद्वितीय जन-सेवक थे'—ऐसे या इस प्रकार के अन्य नारों के बीच उनका कलाकार ही खो जाये; और दूसरा यह कि राजनीतिक रंग में रँगे हुए इस प्रचार और प्रसार के फलस्वरूप रवीन्द्र-साहित्य का इतना अधिक अतिमूल्यन किया जाये कि देश की अन्य साहित्यिक विभूतियां रवीन्द्रनाथ की उपजीवी या उपग्रह बनकर रह जायें। एक वाक्य में इस प्रकार के अतिरंजित प्रयत्नों से साहित्य के क्षेत्र में भी राजनीतिक मूल्यों का प्रवेश होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। अतः भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का मूल्यांकन, राजनीतिक प्रचार-भावना से मुक्त होकर, उचित साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए और यह समझकर आगे बढ़ना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ ने बीसवीं शती के प्रथम चरण में जिस आलोक का वितरण किया वह उन्हें प्राचीन भारत की महान् परम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ—वह आलोक भारत के अन्य साहित्यकारों को भी प्राप्त था जिन्हें स्वदेश-विदेश की काव्य-परम्परा के साथ रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का अतिरिक्त वरदान भी मिला।

अंगरेजी आलोचना में कुछ कवियों के लिए एक प्रशस्ति का प्रयोग किया जाता है—पोइट्स पोइट : कवियों का कवि। इसका संस्कृत पर्याय बनता है 'कवीनां कविः', किन्तु संस्कृत आलोचना में इस अर्थ में 'कविकुलगुरुः' का प्रयोग हुआ है, 'कवीनां कविः' का नहीं। 'कविकुलगुरु' या 'कवियों के कवि' पद की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—एक तो वह कवि जो परवर्ती कवि-परम्परा को काव्य-वस्तु प्रदान करता है या काव्य-वस्तु के नव-निर्माण की प्रेरणा देता है, दूसरा वह कवि जो काव्य-सामग्री—विशेषतः काव्य-बिम्ब प्रदान करता है अथवा काव्य-बिम्बों के नव-निर्माण की प्रेरणा देता है। वाल्मीकि और व्यास पहली कोटि के कवि हैं, कालिदास दूसरी के। किन्तु जहां तक मुझे स्मरण है संस्कृत काव्य-परम्परा ने कालिदास को ही कविकुलगुरु की उपाधि से भूषित किया है—भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः—स्वयं कालिदास को काव्य-वस्तु का दान करने वाले वाल्मीकि और व्यास का अक्षय यशोगान करने पर भी उन्हें 'कवीनां कविः' का पर्यायवाचक 'कविकुलगुरु' विशेषण नहीं दिया। इसका अभिप्राय यह है कि 'कविकुलगुरुः' या 'कवीनां कविः' का प्रयोग प्रायः दूसरे अर्थ में अर्थात् काव्य-सामग्री या काव्य-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिम्ब प्रदान करने वाले ऐसे कवि के लिए ही किया गया है जो अतिशय भाव-वैभव और कल्पना-विलास से मण्डित हो—जिसके प्रचुर भण्डार से अन्य कवि अपने काव्य-कोष को परिपूर्ण करते हों। इस अर्थ में भारतीय साहित्य में कालिदास के उपरांत 'कविनां कविः' विशेषण के अधिकारी केवल रवीन्द्रनाथ ही हैं —यद्यपि देश की अनेक भाषाओं में ऐसे अनेक महाकवि हुए हैं जिन्हें रवीन्द्रनाथ के समप्रतिभ मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

रवीन्द्रनाथ मूलतः कवि थे। जीवन के जिस सत्य का उनके कवि ने कल्पना और अनुभूति के द्वारा साक्षात्कार किया उसी को वे अनेक माध्यम-प्रकारों से व्यक्त करते रहे। विश्व के विकीर्ण वैभव में आत्मा के स्पंदन को भाव-प्रेरित कल्पना और फिर कल्पना-समृद्ध अनुभूति से प्राप्त कर उन्होंने अनेकता में एकता के जिस सत्य को स्वानुभूत किया वही दर्शन के क्षेत्र में सर्वात्मवाद, संस्कृति के धरातल पर विश्व-मानवतावाद और राजनीति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रवाद का रूप धारण कर उनके सम्पूर्ण वाङ्मय में पुष्पित-पल्लवित होता रहा। इस प्रकार की अनुभूति स्पष्टतः एक प्रकार की रहस्यानुभूति है, जो एक ओर विचार और विवेक की बौद्धिक सीमाओं को और दूसरी ओर ऐन्द्रिय जगत् के भौतिक बन्धनों को पार कर चेतना के अतल गह्वर में जन्म लेती है—आप उसे आत्मा या चिति कहें या केवल चेतना मात्र। रवीन्द्रनाथ की काव्यानुभूति का यही मूल धरातल था। इसलिए उनकी काव्यानुभूति मूलतः रहस्यानुभूति है और उनकी काव्य-शैली का निर्माण स्वभावतः रम्याद्भुत तत्त्वों से हुआ है। भारतीय साहित्य पर उनके प्रभाव का आरम्भ 'गीतांजलि' की पुरस्कृति के पश्चात् ही माना जा सकता है। भारतीय काव्य-प्रतिभा की वह सार्वभौम स्वीकृति अपने देश के साहित्यिक इतिहास की अभूतपूर्व घटना थी जिसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

हिंदी साहित्य में उस समय जागरण-सुधार के नैतिक आदर्शों से मुखरित द्विवेदी-युग चल रहा था जिसकी दृष्टि सर्वथा बहिर्मुखी थी और जिसकी अभिव्यक्ति का रूप इतिवृत्तात्मक था। रीति-काव्य की परिचित रस-भूमि को अनैतिक और रोग-ग्रस्त मानकर हिंदी का कवि त्याग चुका था। किन्तु उसके स्थान पर नवीन रस-भूमि का अनुसन्धान वह नहीं कर पाया था। अन्तर्मुख जीवन के दुष्परिणामों से पीड़ित भारतीय चेतना जीवन और जगत् के मंगलमय प्रसार के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रही थी। सामाजिक जीवन के कल्याण की ओर उन्मुख अनेक आन्दोलन साहित्य में भी प्रतिध्वनित हो रहे थे किन्तु ऐसा लगता था जैसे कि वे विवेक के स्तर से ही टकराकर लौट आते हों। बंगला-साहित्य में भी बहुत-कुछ ऐसी ही परिस्थिति थी जिसके विरुद्ध रवीन्द्रनाथ की काव्य-चेतना ने विद्रोह किया था। हिंदी-कविता में 'गीतांजलि' की प्रसिद्धि के आसपास ही इस प्रकार की प्रतिक्रिया होने लगी थी। प्रसाद की आरंभिक रचनाओं में सामयिक काव्यादर्शों से कुंठित कवि-चेतना की यह व्यग्रता व्यक्त हो रही थी। भावना और विवेक का यह संघर्ष चेतना के विकास का चिरंतन सत्य है, न वह आकस्मिक घटना है और न किसी व्यक्ति-विशेष की सृष्टि। भारतीय चेतना स्थूल और सूक्ष्म, बहिरंग और अन्तरंग की क्रिया-प्रतिक्रिया में से गुज़रती हुई ऐसी परिस्थिति में पहुँच गयी थी जहां बहिर्मुख नैतिकता और मंगल-साधना के विरुद्ध अन्तर्मुख भावना तथा रहस्य-कल्पना की प्रतिष्ठा अवश्यम्भावी थी। रवीन्द्रनाथ युगात्मा की इस पुकार के अपने आप में सबसे प्रबल प्रतीक थे और दूसरों के लिए प्रेरणा-स्रोत भी बन गये थे। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हिंदी-कविता में द्विवेदीयुगीन काव्य की प्रतिक्रिया में छायावाद का जन्म होना अवश्यम्भावी था और उसके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिए न केवल भूमि तैयार हो गयी थी वरन् अंकुर भी फूटने लग गये थे—रवीन्द्रनाथ के बढ़ते हुए प्रकाश ने उनका पोषण किया और छायावाद का विकास बड़े वेग से हुआ, इसमें सन्देह नहीं। छायावाद की रोमानी प्रवृत्तियों की समृद्धि का श्रेय निश्चय ही रवीन्द्रनाथ को है और पंत, निराला, महादेवी जैसे समर्थ कवियों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उनसे प्रेरणा तथा बल प्राप्त किया। पंत की आरंभिक कविताओं में रवीन्द्र-काव्य की अनुगूंज मिलती है जिसको लेकर निराला ने एक बड़े लम्बे लेख में यह सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास किया था कि पंत न केवल मूल प्रेरणा के लिए वरन् अनेक भाव-छायाओं और बिम्ब-योजनाओं के लिए रवीन्द्रनाथ के ऋणी हैं। वास्तव में उस समय छायावाद को रवीन्द्र-काव्य की नक़ल मानने का कुछ ऐसा प्रवाद चल पड़ा था कि हिन्दी के आलोचक बिना किसी आधार के छायावादी कवियों पर रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करने का आरोप लगा रहे थे। पंत की अपेक्षा निराला का रवीन्द्र-काव्य से अधिक घनिष्ठ और प्रत्यक्ष परिचय था। बँगला एक प्रकार से उनके लिए मातृभाषा थी और रवीन्द्र-काव्य की अर्थछवियां तथा प्रयोग-वक्रताएं उनकी कवि-चेतना में सहज रूप में रम गयी थीं। किन्तु निराला में आरम्भ से ही बाह्य प्रभाव के प्रतिरोध का इतना उत्कट आग्रह था कि उनके काव्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रत्यक्ष प्रभाव ढूंढ़ निकालना कठिन है। फिर भी, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि निराला की कवि-चेतना का आरंभिक विकास जिस साहित्यिक वातावरण में हुआ उसके निर्माण में रवीन्द्रनाथ का प्रमुख योगदान था। महादेवी ने भी निश्चय ही यह प्रेरक प्रभाव ग्रहण किया; किन्तु उनकी प्रगीत-कला का विकास बहुत-कुछ स्वतन्त्र रूप में ही हुआ। वास्तव में छायावाद पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का उचित मूल्यांकन आरंभ में इसलिए नहीं हो सका कि उस समय छायावाद के स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार की भ्रांतियां फैली हुई थीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे एक ओर जहां रहस्यवाद का प्रतिरूप माना, वहां दूसरी ओर उसे अभिव्यंजना का प्रकार मात्र घोषित किया। शुक्ल जी स्वभाव और सिद्धान्त दोनों से रहस्यवाद के विरुद्ध थे। दर्शन के क्षेत्र में वे अव्यक्त के व्यक्त प्रसार पर मुग्ध थे; भावना के क्षेत्र में लोकमंगलकारी नैतिक अनुभूतियों को और कला के क्षेत्र में वे मूर्त सौंदर्य-बोध को ही प्राथमिक महत्त्व देते थे। छायावाद में एक प्रकार से इन तीनों का ही निषेध था—इसलिए वह आचार्य का अनुग्रहभाजन न बन सका। छायावाद का विरोध करते-करते वे उसके प्रेरक स्रोत रवीन्द्र-काव्य तक पहुँचे। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी आधुनिक कवि की रहस्यानुभूति। जब मध्ययुग के कबीर आदि निर्गुण साधकों में भी उसे यथावत् स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति होती थी तो आधुनिक विज्ञान-युग के कवि की रहस्यानुभूति को स्वीकार करना तो और भी कठिन था। इसलिए हिन्दी के उदीयमान कवियों की तो उन्होंने अनुकर्तामात्र कहकर उपेक्षा कर ही दी, साथ ही विश्वविख्यात रवीन्द्रनाथ की रहस्यानुभूति पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा से हतप्रभ होकर उन्होंने अपनी धारणाओं में संशोधन करना स्वीकार न किया और उन्हें रहस्यवादी की अपेक्षा महान् आलंकारिक मानना ही अधिक उपयुक्त समझा। अर्थात् रवि बाबू की रहस्याभिव्यक्तियों को उन्होंने अनुभूति-प्रेरित न मानकर अभिव्यंजना की विभूति ही अधिक माना। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने न केवल छायावाद का ही विरोध किया वरन् हिन्दी कविता पर रवीन्द्रनाथ के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का भी प्रयत्न किया। बाद में चलकर जब छायावाद का स्वरूप स्पष्ट हुआ और यह निश्चय हो गया कि छायावाद हिन्दी काव्य-परम्परा का स्वाभाविक विकास है—तो यह स्वीकार करने में देर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

न लगी कि काव्य की प्रत्येक प्रवृत्ति की भाँति यद्यपि छायावाद ने भी उधर अंगरेज़ी की रोमानी कविता और इधर रवीन्द्रनाथ की कविता से आरंभिक प्रेरणाएं प्राप्त की थीं—फिर भी वह उनकी छायामात्र नहीं है। तथ्य वास्तव में यह है कि पहले रवीन्द्रनाथ ने रोमानी कवियों से प्रेरणा ग्रहण की और फिर हिन्दी-कवियों ने बहुत-कुछ प्रत्यक्ष रूप में, और अंशतः रवीन्द्रनाथ के माध्यम से भी, अपने विकास के पहले चरण में उनका प्रभाव ग्रहण किया। छायावाद का जन्म होने तक रवीन्द्रनाथ विदेशी काव्य के उस प्रभाव को आत्मसात् कर चुके थे। उनकी महान् प्रतिभा शैली और कीट्स की किशोर कल्पनाओं को तब तक विराट् भारतीय आधार-फलक प्रदान कर चुकी थी और अंगरेज़ी की लाक्षणिक भंगिमाओं को संस्कृत के ऐश्वर्य से मंडित कर चुकी थी; इसलिए हिन्दी-कवियों का कार्य अपेक्षाकृत सुकर हो गया।

किन्तु यह सब होते हुए भी छायावाद के अग्रणी कवि प्रसाद इन दोनों प्रभावों से मुक्त रहे—न उन्होंने अंगरेज़ी के रोमानी कवियों का ऋण स्वीकार किया और न रवीन्द्रनाथ का। रवीन्द्रनाथ ने जहां पाश्चात्य रोमानी प्रभाव को कालिदास की रमणीय कल्पनाओं में ढालकर उन्हें भारतीय काव्य-चेतना का अंग बना लिया था, वहां प्रसाद की प्रेरणा का मूल स्रोत शुद्ध भारतीय ही रहा। अपने युग के रोमानी वातावरण से प्रेरित होकर वे पश्चिमी साहित्य की ओर नहीं गये वरन् भारत के प्राचीन साहित्य में बिखरे हुए रम्याद्भुत तत्त्वों का संधान करने लगे, जिसकी चरम परिणति हमें 'कामायनी' में मिलती है। इसलिए प्रसाद की काव्य-चेतना रवीन्द्रनाथ की काव्य-चेतना की अपेक्षा अधिक भारतीय और उसी सीमा तक अधिक मौलिक है। हिन्दी के सम्यक् प्रचार और प्रसार के उपरान्त जब भारतीय भाषाओं में 'कामायनी' के महत्त्व की उचित प्रतिष्ठा हो सकेगी, उस समय, मुझे विश्वास है कि मेरी स्थापना की सत्यता अनायास की सिद्ध हो जाएगी।

हिन्दी की भाँति अन्य भाषाओं के काव्य पर भी रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। प्रायः सभी भाषाओं में 'गीतांजलि' का अनुवाद हुआ, कुछ भाषाओं में सीधे बँगला से और कुछ में अंगरेज़ी से। कुछ में केवल गद्यानुवाद ही हुए किन्तु कतिपय भाषाओं में छन्द का माध्यम भी ग्रहण किया गया : जैसे मराठी में, तेलुगु में, हिन्दी में। शीघ्र ही भारतीय कवियों ने यह अनुभव किया कि 'गीतांजलि' रवीन्द्रनाथ की सर्वश्रेष्ठ कृति नहीं है और उन्होंने कवि की अन्य समृद्ध रचनाओं का मूल अथवा अनुवाद में अध्ययन किया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय काव्य में एक नवीन रहस्योन्मुख सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष हुआ। तेलुगु में रायप्रोलु सुब्बाराव और अ० रामकृष्ण राव की कविताएं इस नव प्रभाव से मंडित हैं। मलयालम में शंकर कुरूप, असन, उल्लूर और कन्नड़ में कुवेम्पु, बेन्द्रे तथा गोकाक इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं। बेन्द्रे में रवीन्द्रनाथ का तरल सौन्दर्य-संगीत और कुवेम्पु तथा गोकाक में बँगला कवि की अतीन्द्रिय रहस्योन्मुख सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष है। मराठी में 'गूढ़गुंजन' नाम से जिस नव्य रहस्य-प्रवृत्ति का जन्म हुआ उसका प्रेरणा-सोत रवीन्द्र-काव्य ही था। केशवसुत, ताम्बे, बी और उधर विदर्भ-कवि अनिल, गुणवन्त हनुमन्त देशपांडे, वामन नारायण देशपांडे आदि की रमणीय वायवी भाववस्तु तथा रम्याद्भुत बिम्ब-योजनाओं में भी यह प्रभाव लक्षित होता है। गुजराती में इस वर्ग के कवि हैं स्नेहरश्मि, प्रह्लाद परीख आदि। कान्त ने 'गीतांजलि' की निर्गुण भावना से प्रेरित होकर उसका गुजराती में अनुवाद किया। उत्तरपश्चिम की भाषाओं में पंजाबी के भाई वीरसिंह मूलतः सिक्ख गुरुओं की निर्गुण भक्ति से प्रेरित होने पर भी रवीन्द्रनाथ के सौन्दर्य-दर्शन से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रभावित हुए। उर्दू कविता में यद्यपि सूफ़ी-काव्य-परम्परा के प्रभाव के कारण बँगला कवि की मधुर रहस्य-भावना एकदम नयी नहीं थी, फिर भी बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़े विना नहीं रहा और नियाज़ फ़तेहपुरी ने सन् १९१४ में 'गीतांजलि' का अत्यन्त रसमय गद्य में अनुवाद प्रस्तुत किया। उर्दू साहित्य में 'अदबे लतीफ़' नाम से एक नई विधा का जन्म हुआ जो हिन्दी गद्य-काव्य का पर्याय था। इसको प्रेरणा मिली 'गीतांजलि' के अंगरेज़ी गद्यानुवाद से। सन् १९३५ में शांतिनिकेतन के मौलवी ज़ियाउद्दीन ने 'कलामे टैगोर' शीर्षक से मूल बँगला से अनूदित कवि की १२० कविताओं का संकलन प्रस्तुत किया। अप्रत्यक्ष प्रभाव या प्रेरणा की दृष्टि से भी उर्दू काव्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़ा किन्तु वह प्रायः सामान्य कवियों तक ही सीमित रहा। पूर्वी भाषाओं में उड़िया के 'सबुजा वर्ग' के कवि और असमिया के हितेश्वर-बरबरुआ, यतीन्द्रनाथ दुवारा तथा देवकान्त बरुआ जैसे कवि-कलाकारों में रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्टतः उपलब्ध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बीसवीं शताब्दी के दूसरे, तीसरे और चौथे दशक में भारतीय साहित्य में जिस स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति का जन्म और विकास हुआ उसके प्रेरक प्रभाव यद्यपि अनेक थे; जैसे कि अंगरेज़ी रोमानी-काव्य, मध्ययुग का सन्तकाव्य और सूफ़ीकाव्य, फिर भी उसका स्रष्टा नहीं तो नेता रवीन्द्रनाथ को निश्चय ही मानना पड़ेगा।

रवीन्द्र-काव्य का दूसरा प्रधान स्वर है सांस्कृतिक-राष्ट्रीय काव्य। सांस्कृतिक धरातल पर रवीन्द्रनाथ ने मानवता के अखंड रूप की प्रतिष्ठा कर देश, काल, जाति, वर्ग द्वारा अविभक्त एवं अविकृत मानव-गरिमा का यशोगान किया, राजनीतिक और सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त मनुष्य में प्रच्छन्न देवता का उद्‌घाटन किया। भारत के वे कवि भी जो रहस्य-द्रष्टा नहीं थे अथवा रहस्य-दर्शन में जिनकी आस्था नहीं थी, जो प्रत्यक्ष और मूर्त जीवन-जगत् के प्रति निष्ठावान थे, रवीन्द्र-काव्य के इस रूप की ओर आकृष्ट हुए। विश्व-मानव या सांस्कृतिक मानव का यह रूप निश्चय ही बड़ा भव्य था। इधर विदेशी दासता से आक्रांत भारतीय जन-मानस ने और उधर भौतिक संघर्ष से जर्जर पश्चिम के प्रबुद्ध समाज ने इसका मुक्त हृदय से स्वागत किया। खंडित राष्ट्रीयता से अबद्ध अखंड मानव-संस्कृति की कल्पना, जिसका निर्माण विश्वकवि की सार्वभौम प्रतिभा ने उपनिषद् की अद्वैत-कल्पना और उससे प्रभावित मध्ययुग के सन्त-काव्य, इष्ट की मधुर कल्पना में सांसारिक विभेद को निमज्जित करने वाली वैष्णव-भावना, बुद्ध की विश्व-करुणा और पश्चिम की मानवतावादी विचारधारा के रासायनिक तत्त्वों द्वारा किया था, हमारे कवि-कलाकारों के लिए अक्षय प्रेरणा-स्रोत बन गयी। राष्ट्रीय धरातल पर भी कवि ने अनेक संस्कृति-धाराओं के संगम में ऐसे ही भारत-तीर्थ की प्रकल्पना की। बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य की यह धारा अनन्त कल्लोलों के साथ प्रभावित होती रही। तमिल के भारती, मलयालम के वल्लतोल, गुजराती के उमाशंकर जोशी, मराठी के केशवसुत तथा गोविन्दाग्रज, हिन्दी के मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, पन्त, नवीन, दिनकर आदि, उर्दू के चकबस्त, पंजाबी के गुरुमुखसिंह मुसाफ़िर, हीरासिंह दर्द आदि ने अपने काव्यों में विभिन्न भंगिमाओं के साथ इस स्वर को मुखरित किया। इन कवियों ने वास्तव में रवीन्द्रनाथ से सीधा प्रभाव ग्रहण नहीं किया, अपने-अपने क्षेत्र में ये सभी 'साहबेकलाम' थे। किन्तु भाव-कल्पना के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ने और विचार तथा कर्म के क्षेत्र में गांधी ने जो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक वातावरण तैयार किया

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

था उसका लाभ इन सभी कवियों ने ग्रहण किया। गांधी ने देश की आत्मा को प्रबुद्ध कर उसमें जो उत्साह-स्फूर्ति एवं कर्म-चेतना उत्पन्न की थी, रवीन्द्रनाथ ने वैभवपूर्ण भारतीय संस्कृति के रंगों से उसे जगमग कर दिया और इस प्रकार कर्म का तेज भावना तथा कल्पना के ऐश्वर्य से मंडित हो गया। युग-धर्म से प्रेरित रवीन्द्रनाथ ने काव्य-रसायन की यह प्रक्रिया पूर्ण कर जागरण युग के भारतीय कवियों का मार्ग-प्रदर्शन किया।

आधुनिक युग के तीसरे चरण में रवीन्द्रनाथ का भारतीय कविता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिस प्रकार स्वयं बँगला में उनकी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई उसी प्रकार भारतीय भाषाओं के काव्य में भी अपनी-अपनी परिधि के भीतर रोमानी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह हुआ, जो आज भी चल रहा है।

गद्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव आरम्भ से ही बहुत कम रहा। भारतीय उपन्यास-कला ने बहुत शीघ्र ही युग-जीवन की बढ़ती हुई माँग को स्वीकार कर बँगला उपन्यास की रंगीन भावुकता का त्याग कर दिया और गांधी-दर्शन से प्रभावित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की स्वस्थ भूमिका पर अपना स्वतन्त्र विकास किया। हिन्दी में प्रेमचन्द ने इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया, गुजराती में रमणलाल वसन्तलाल देसाई ने और मराठी में हरिनारायण आप्टे ने। इन उपन्यासकारों का प्रभाव अपनी-अपनी भाषाओं से बाहर भी पड़ा। उदाहरण के लिए उर्दू और पंजाबी पर प्रेमचन्द का गहरा प्रभाव था। आगे चलकर इस विवेक-सम्मत उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जब हृदय की कोमल वृत्तियों ने विद्रोह किया तब भी शरत् की आत्म-पीड़नमयी कला का भींगा प्रभाव ही भारतीय उपन्यास ने अधिक ग्रहण किया। बाद में तो मार्क्स तथा फ़ॉयड की विचारधाराएं बँगला-उपन्यास की तरह भारत की विभिन्न भाषाओं के उपन्यास-साहित्य पर भी व्यापक एवं गहरा प्रभाव डालने लगीं। इस प्रकार भारतीय उपन्यास विचार के क्षेत्र में गांधी, मार्क्स तथा फ़ॉयड का और कला के क्षेत्र में प्रेमचन्द, तोल्स्ताय, शरत् तथा लारेंस आदि का जितना ऋणी है उतना रवीन्द्रनाथ का नहीं। नाटक के क्षेत्र में भी यही बात है। भारतीय नाट्य-साहित्य को संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से रोमांटिक ड्रामा के नाट्य-शिल्प की ओर उन्मुख करने में बँगला के द्विजेन्द्रलाल राय का ही योगदान अधिक है। हां, भारतीय लघुकथा रवीन्द्रनाथ की कहीं अधिक ऋणी है। आधुनिक कहानी में कवित्व, सघन मानव-तत्त्व और प्रतीकात्मकता के लिए रवीन्द्रनाथ का प्रभाव उत्तरदायी हो सकता है, क्योंकि रवीन्द्र-साहित्य में सबसे अधिक अनुवाद उनकी गल्पों के ही हुए हैं। इस व्यापक प्रचार और प्रसार का परिणाम स्पष्ट था और स्वयं प्रेमचन्द जैसे कथाकार को, जिनका दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था, कहानी के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्वीकार करना पड़ा। गद्य-रूपों में रवीन्द्रनाथ का सबसे अधिक प्रभाव कदाचित् गद्य-काव्य पर माना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ की कविता के अंगरेज़ी गद्यानुवाद की प्रेरणा से भारत की प्रायः सभी भाषाओं में भावप्रधान गद्य-गीतों का जन्म हुआ। भारतीय साहित्य की यह नयी विधा जो संस्कृत कवियों के निकष-रूप गद्यकाव्य से सर्वथा भिन्न थी, रवीन्द्रनाथ से तो नहीं—रवीन्द्र-साहित्य के अंगरेज़ी अनुवाद से प्रभावित होकर प्रकाश में आयी।

भारतीय आलोचना पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव नगण्य-सा ही है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि आधुनिक भारतीय आलोचना में रवीन्द्रनाथ ने फिर से आनंदवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की। पर यह अनुमान शायद सही नहीं है। भारतीय भाषाओं में आलोचना एवं आलो-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चनाशास्त्र का सर्वाधिक विकास हिन्दी और मराठी में हुआ है और इन दोनों ही भाषाओं में आलोचना की शास्त्रीय परम्परा सर्वथा अक्षुण्ण रही है। इसलिए इनकी आलोचना को भारतीय रसवाद का पुष्ट आधार प्राप्त है। संस्कृत काव्यशास्त्र में विभिन्न आचार्यों ने शब्द-अर्थ के चमत्कार और भाव की आनंदमयी परिणति के विषय में सूक्ष्म-गहन अनुसंधान कर अन्ततः रस को ही काव्य की आत्मा माना है और रस की नाना प्रकार से व्याख्या कर उसे आत्मास्वाद के रूप में ही स्वीकार किया है। हिन्दी और मराठी के आधुनिक आलोचकों ने रस-सिद्धांत का पुनराख्यान कर पाश्चात्य आलोचना के आनंदवादी अथवा सौंदर्यवादी मूल्यों के साथ उसका सामंजस्य स्थापित किया है। शास्त्र के प्रति अटूट निष्ठा होने के कारण इन दोनों भाषाओं के आलोचकों ने आलोचना में कल्पना और भावुकता को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। सिद्धांत रूप में रवीन्द्रनाथ की आलोचना भारतीय रसवाद और पाश्चात्य रोमानी आलोचना से प्रभावित है। वे काव्य में 'रसो वै सः' के ही क़ायल हैं। किन्तु उन्होंने सुन्दर को शिव और सत्य से अलग करके नहीं देखा और साहित्यिक क्षेत्र में उनकी आनंद-कल्पना लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत है। नैतिक मूल्यों में उनकी अटूट आस्था है किन्तु ये नैतिक मूल्य आत्मा के रस में पगे हुए हैं। स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण का रवींद्रनाथ ने जीवन और काव्य दोनों में निषेध किया है। युग-धर्म के प्रभाव के अनुरूप उन्होंने व्यापक सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर भारतीय रसकल्पना का विस्तार कर उसे पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी रोमानी आलोचना की पद्धति में ढालकर प्रस्तुत किया है। व्यावहारिक आलोचना उनकी प्रायः सर्जनात्मक है; शकुन्तला, मेघदूत आदि के आध्यात्मिक अथवा अर्ध-आध्यात्मिक आख्यान में कवि-कल्पना का ही प्रसार अधिक है। कहने का अभिप्राय यह है कि रवींद्रनाथ की आलोचना अशास्त्रीय और बहुधा कल्पनात्मक है। इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उसका प्रतिवाद किया और उसे शुद्ध आलोचना की कोटि में परिगणित नहीं किया। हिंदी के छायावादी कवियों—विशेषकर महादेवी का सिद्धांत-प्रतिपादन रवींद्रनाथ से मिलता-जुलता है, कदाचित् उनसे प्रभावित भी हो सकता है। महाराष्ट्रीय आलोचक प्रतिभा और भी अधिक शास्त्रनिष्ठ है। वहां के प्रतिनिधि आलोचकों ने भारतीय तथा यूरोपीय काव्य-सिद्धान्तों का अत्यन्त मनोनिवेश के साथ विवेचन-विश्लेषण किया है; किन्तु उनकी आलोचना के आधार शास्त्र अर्थात् काव्य-शास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शन ही रहे हैं, कल्पना और भावुकता को प्रश्रय नहीं दिया गया। इस प्रकार आधुनिक युग में भारतीय आलोचना, अपने परिनिष्ठित रूप में, देश-विदेश के विभिन्न मूल्यों और तत्त्वों को ग्रहण करती हुई भी शास्त्र के पथ से विचलित नहीं हुई—वह कालिदास और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा भरत, भामह, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट और उधर अरस्तू, आर्नल्ड, क्रोचे या व्यापक धरातल पर मार्क्स और फ्रॉयड को ही प्रमाण मानती रही है।

अन्त में, मेरे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१. अनेक भाषाओं के इस देश में किसी एक भाषा के कवि का जितना प्रभाव हो सकता था, अनुकूल परिस्थितियों के कारण, रवीन्द्रनाथ का प्रभाव भारतीय काव्य पर उससे अधिक ही मानना चाहिए। किन्तु इस प्रभाव के सूत्रों को अलग-अलग कर देखना सरल नहीं है, क्योंकि स्वयं रवीन्द्रनाथ के काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण स्वदेश-विदेश के ऐसे विभिन्न प्रभावों के संघात से हुआ था जो उनके समसामयिक एवं परवर्ती कवियों के लिए भी उसी रूप में सहज-सुलभ थे। उपनिषद् के आनन्दवाद, वैष्णव-काव्य की मधुर-भावना या इंग्लैंड के रोमानी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कवियों के स्वच्छंदतावाद या कालिदास-काव्य के सांस्कृतिक वैभव का उपयोग रवीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार किया है, उसी प्रकार अन्य कवियों ने भी। आरम्भ में कहीं-कहीं यह प्रभाव रवीन्द्रनाथ के माध्यम से आया है किन्तु बाद में चलकर इस माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ी।

२. आधुनिक भारतीय साहित्य में अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से पाश्चात्य रोमानी-काव्य से प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण कर जिस स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति का जन्म हुआ रवीन्द्रनाथ उसके स्रष्टा न होकर अग्रणी थे। अपनी महान् प्रतिभा के द्वारा वे इस रोमानी काव्य-प्रवृत्ति के प्रेरक प्रभावों को भारत के अन्य स्वच्छंदतावादी कवियों से बहुत पहले ही आत्मसात् कर चुके थे। इन नवीन स्वच्छंद अनुभूतियों और रहस्यमयी जिज्ञासाओं को मूर्त-रूप प्रदान करने के लिए जिस माध्यम की अपेक्षा थी, रवीन्द्रनाथ की समृद्ध कारयित्री प्रतिभा उसका निर्माण कर चुकी थी, जिससे परवर्ती कवियों का कार्य सुकर हो गया।

३. सामान्य रूप में बीसवीं शताब्दी का प्रतिनिधि जीवन-दर्शन है मानवतावाद, जिसके भारत में दो प्रमुख व्याख्याकार हुए: एक गांधी और दूसरे रवीन्द्र। गांधी ने मानव-सत्य का जहां अनुभव और व्यवहार के द्वारा साक्षात्कार किया वहां रवीन्द्रनाथ ने कल्पना के द्वारा। दोनों के मानवतावाद की परिणति भौतिक सीमाओं को पार कर आत्मावाद में होती है। किन्तु फिर भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। गांधी-दर्शन निरानंद है जबकि रवीन्द्र-दर्शन आनन्द से ओतप्रोत है। युग-धर्म के इन दोनो द्रष्टाओं ने स्वभावतः ही समसामयिक साहित्य को प्रभावित किया है। गांधी की दृष्टि आदर्शवादी एवं धार्मिक थी, अतः साहित्य के क्षेत्र में उसके प्रभाव से लोकमंगल की नये एवं प्रबल रूप में प्रतिष्ठा हुई और लोककल्याण को साहित्य का एकमात्र लक्ष्य माननेवाले प्रेमचन्द तथा उनके समानधर्मा साहित्यकार अपनी कला में उसकी अभिव्यक्ति करने लगे। उधर कल्पनाशील तथा भावुक कवि-लेखकों की गांधी के एकान्त उपयोगितावादी निरानन्द कला-दर्शन से तृप्ति नहीं हुई, इनके आदर्श बने रवीन्द्रनाथ। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने एक ओर स्वच्छंदतावादी-रहस्यवादी काव्य-प्रवृत्ति को प्रभावित किया और दूसरी ओर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा को भी।

४. गद्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत कम रहा। उनकी अपेक्षा बँगला के ही शरत् ने भारतीय उपन्यास को और द्विजेन्द्रलाल राय ने भारतीय नाटक को अधिक प्रभावित किया। जब तक इन दोनों कलाकारों की दुर्बलता का उद्‌घाटन हुआ तब तक भारतीय उपन्यासकार और नाटककार यूरोप की कलाकृतियों के प्रत्यक्ष संपर्क में आ चुके थे और स्वयं बँगला के कलाकार भी रवीन्द्रनाथ आदि से विमुख होकर दूसरी दिशा में प्रवृत्त हो गए थे।

५. सब मिलाकर रवीन्द्रनाथ ने भारत के साहित्यिक वातावरण के नवनिर्माण में सक्रिय योगदान कर प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा प्रेरणा ही अधिक प्रदान की। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय कवियों की प्रारंभिक रचनाओं तक ही सीमित रहा। बाद में प्रत्येक भाषा के समर्थ कवियों का स्वतंत्र विकास हुआ और अनेक ने ऐसी कलाकृतियां भी प्रस्तुत कीं जो रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ उपलब्धियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। रवीन्द्रनाथ की समवेत उपलब्धि इतनी प्रचुर और महान् है कि आधुनिक भारत का अन्य कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। किन्तु इस युग की कई समृद्ध भाषाओं में ऐसी प्रतिभाएं हुई हैं जिनकी उपलब्धियों का इकाई रूप में कम महत्त्व नहीं है। आज के जागरूक आलोचक का यह कर्तव्य है कि राजनीतिक प्रचार से अनातंकित रहकर संतुलित एवं अनासक्त बुद्धि से अन्य प्रतिभाओं का अवमूल्यन न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करता हुआ आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में रवीन्द्रनाथ के योगदान का मूल्यांकन करे। विश्वकवि के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने की यही सर्वश्रेष्ठ पद्धति है—अभाव में भाव का अनुसंधान कर, अनुमान के आधार पर, इधर-उधर से उक्तियां और विचार एकत्र कर बर-बस यह सिद्ध करना कि हमारे वर्तमान साहित्य में जो कुछ सुन्दर और उदात्त है वह सब रवीन्द्रनाथ का दान है, घोर साहित्यिक अपराध होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिन्दी-साहित्य पर नेहरू का प्रभाव

नेहरू अपने कृतित्व के बल पर ही आधुनिक युग के प्रमुख साहित्यकार थे और भारतीय लेखक-समाज के मन में उनके प्रति अपार श्रद्धा थी, फिर भी हमारे साहित्य पर उनका प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष ही था। नेहरू की श्रेष्ठ कृतियां अंगरेज़ी में हैं और इसमें संदेह नहीं कि अंगरेज़ी-गद्य के वे उत्तम शैलीकार थे। उनकी प्रतिभा एक ऐसी काव्यमयी ऐतिहासिक चेतना से समृद्ध थी, जिसमें अतीत के प्रति रोमानी संभ्रम और वर्तमान के प्रति प्रबल अनुराग का विचित्र संयोग था—और वे अत्यन्त सहज भाव से चित्रमय गद्य की रचना करते थे। किन्तु इस अभिव्यक्ति की माध्यम-भाषा अंगरेज़ी ही थी, अतः हिंदी की ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक गद्य-शैली पर उसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। उनकी हिंदी या हिन्दुस्तानी के प्रति किसी भी गम्भीर लेखक की रुचि नहीं हुई—उसका प्रभाव केवल कुछ कांग्रेसी नेताओं तक ही सीमित रहा, जो अपने भाषणों में कभी-कभी उनकी तरह हकलाने का कौशल के साथ प्रयत्न करते थे—थोड़ा-बहुत आज भी करते हैं, और अपने गद्य-लेखों में उनके प्रिय गर्भ-वाक्यों का प्रयोग करने के लिए यत्नपूर्वक सहज अन्वय-क्रम का विपर्यय कर देते थे। इस प्रकार लेखक के रूप में हिंदी-साहित्य पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उनके ग्रन्थों के हिंदी-अनुवादों में मूल के साहित्य-गुणों का प्रायः अभाव है और इस प्रकार उनका प्रभाव भी नगण्य ही है। अतः हिंदी-साहित्य पर नेहरू के प्रभाव का मूल्यांकन सामान्यतः दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है : (१) उनके युग-प्रेरक व्यक्तित्व का प्रभाव, और (२) राष्ट्रीय तथा कुछ सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि को प्रभावित करनेवाली उनकी विचारधारा का प्रभाव।

अपने युग में नेहरू का व्यक्तित्व कदाचित् सबसे अधिक आकर्षक था, और इस आकर्षण के कारण थे उनके भव्य आदर्श, उदात्त चरित्र, अत्यन्त परिष्कृत चेतना तथा शारीरिक सौंदर्य। राजाजी का वह तीखा वाक्य कि स्त्रियां नेहरू के व्यक्तित्व के आकर्षण के कारण ही कांग्रेस के पक्ष में मतदान करती हैं, व्यंग्य मात्र नहीं था। उनके जीवनकाल में ही, मृत्यु के बाद तो और भी अधिक, विभिन्न वर्गों के हिंदी-कवियों ने उनके प्रति अत्यन्त भाव-समृद्ध श्रद्धांजलियां अर्पित कीं। वरिष्ठ कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त ने सबसे पहले उनका अभिनन्दन किया—पन्तजी की 'नेहरू-युग' कविता आज अमर हो चुकी है। दिनकर ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उनकी शान्ति-नीति की उग्र आलोचना की, किन्तु उनके भव्य आदर्शों का दीप्त वाणी में यशोगान किया। निधन के उपरान्त तो हिंदी के समर्थ कवियों में उनका कीर्तिगान करने के लिए होड़-सी लग गई। माखनलाल चतुर्वेदी, बच्चन, भवानीप्रसाद मिश्र, शिवमंगलसिंह 'सुमन', गिरिजाकुमार माथुर आदि के अतिरिक्त नयी पीढ़ी के भी अनेक कवियों ने काव्य-गुण से सम्पन्न कविताएं लिखीं और गद्य में विपुल संख्या में करुण-मधुर स्मृति-चित्र अंकित किये गए। परिमाण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की दृष्टि से, नेहरू के प्रति सम्बोधित साहित्य-राशि की तुलना केवल गांधी-विषयक साहित्य से ही की जा सकती है। हिंदी कथा-साहित्य के अनेक नायकों की परिकल्पना नेहरू को दृष्टि में रखकर ही की गयी है—इसका एक दीप्तिमान उदाहरण है रंगभूमि का प्रमुख पात्र विनय, जिसकी सृष्टि नेहरू के यौवनकाल में ही हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त अनेक उपन्यासों और नाटकों में नेहरू जीवन्त पात्र बनकर प्रत्यक्ष रूप में भी अवतरित होते हैं। वास्तव में, हिंदी-कथाकार के लिए वे आधुनिक 'काव्य-नायक' के प्रतीक बन गए थे, जिनके व्यक्तित्व में उसे आज के लोकनायक के समस्त गुण—उज्ज्वल देशभक्ति, उदार मानव-भावना, प्रबल राष्ट्रवाद, अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श-कल्पना, आयोजन एवं निर्माण की विपुल क्षमता—एकत्र उपलब्ध हो जाते थे। वर्तमान युग के राष्ट्रनायकों में कलाकार के लिए कदाचित् सबसे अधिक आकर्षण नेहरू के व्यक्तित्व में ही था। गांधी का व्यक्तित्व कहीं अधिक गहन-गम्भीर और समंजस था, किन्तु उसमें पर्याप्त रंग नहीं थे; पटेल में अधिक घनत्व और दृढ़ता थी, पर आत्मा की वह समृद्धि उनमें नहीं थी; राजेन्द्र बाबू में आध्यात्मिक शांति नेहरू से अधिक थी, किन्तु प्राणों की वह ऊर्जा नहीं थी। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व में अनेक गुणों का ऐसा काम्य समन्वय था कि वे शास्त्र-निरूपित भारतीय काव्य-नायक के प्रतिरूप-से लगते थे।

नेहरू के जीवन-दर्शन का प्रभाव और भी अधिक व्यापक तथा सूक्ष्म-गहन था। उनके आदर्शों और नीतियों की विफलताएं भी, जो व्यवहार के क्षेत्र में क्षोभ का कारण बन सकती थीं, सिद्धान्त के स्तर पर आकर्षणशून्य नहीं थीं। अतः प्रत्येक हिंदी-लेखक, जिसके मन में आदर्श के प्रति थोड़ा-सा भी मोह था, जाने-अनजाने उनके आदर्शवाद को ग्रहण कर लेता था। इस प्रकार नेहरू आधुनिक हिंदी-साहित्य की अनेक प्रमुख प्रवृत्तियों के विकास के लिए अंशतः उत्तरदायी थे।

नेहरू का दृष्टिकोण मूलतः अन्तर्राष्ट्रीय था। उनके राजनीति-दर्शन की मुख्य विशेषता थी—मानव-जाति के सह-अस्तित्व में अडिग आस्था; और इसमें सन्देह नहीं कि आज के सभी वरिष्ठ लेखकों की कृतियों में आस्था का यह स्वर सर्वथा स्पष्ट है। प्रबन्ध हों या मुक्तक; उपन्यास हो या नाटक—ललित-साहित्य की चाहे कोई भी विधा क्यों न हो, जहां कहीं भी इस प्रकार का प्रसंग आता है, हिंदी-लेखक प्रायः निरपवाद रूप से शान्तिवाद का ही पक्ष लेता है और युद्ध-लिप्सा का प्रबल शब्दों में तिरस्कार करता है। इसमें सन्देह नहीं कि चीनी आक्रमण के समय यह सन्तुलन भंग हो गया था और दिनकर जैसे प्रमुख कवि का स्वर भारत की शान्ति-नीति के विरुद्ध अत्यन्त प्रचण्ड हो उठा था। किन्तु यह स्थिति बहुत दिन तक नहीं रही। शीघ्र ही सन्तुलन फिर से स्थापित हो गया। हिंदी-साहित्य में वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय—सभी स्तरों पर—आक्रमण के प्रति सामान्य रूप से घृणा की भावना ही मिलती है। पारस्परिक सौहार्द एवं सहयोग तथा विश्व-बन्धुत्व ही आधुनिक हिंदी-लेखक के अभिमत आदर्श हैं। आप कह सकते हैं कि ये सब आदर्श तो नेहरू के सत्तारोहण से पहले ही विद्यमान थे—गांधी और गांधी से अनेक युग पूर्व बुद्ध ने अहिंसा तथा विश्वमैत्री का प्रचार किया था और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महाकवि पचास वर्ष पूर्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को मुखरित कर चुके थे। ठीक है, किन्तु तब तक उनकी स्थिति आदर्श और स्वप्न से अधिक नहीं थी। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उन्हें मूर्त रूप नेहरू ने ही दिया। स्वतन्त्र भारत के कलाकार के लिए वे स्वप्न से यथार्थ बन गए और इसका श्रेय बहुत-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कुछ नेहरू को ही देना होगा, जिनके कोमल स्पर्श से, ऑल्डुअ हक्सले के शब्दों में, 'राजनीति का भी संस्कार हो गया था।'

आधुनिक हिंदी-साहित्य का, सामान्यतः आधुनिक भारतीय साहित्य का ही, एक प्रमुख वैशिष्ट्य है जीवन के प्रति असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण। अनेक कारण ऐसे थे, जिनसे हिंदी साम्प्रदायिकता के जाल में फँस सकती थी और उसकी यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण होने पर भी कदाचित् अस्वाभाविक न होती। अपने राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अंगरेज़ सरकार सही और ग़लत ढंग से हिंदी के विरुद्ध उर्दू को प्रोत्साहन देती थी और इस तरह उसने भाषा के क्षेत्र में एक प्रकार का साम्प्रदायिक वातावरण पैदा कर दिया था। अंगरेज़ सरकार के जाने के बाद हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया। किन्तु, फिर भी उसके प्रति अधिकारी वर्ग के मन में उपेक्षा का भाव बराबर बना रहा, और कांग्रेस-शासन भी अपने दायित्व का निर्वाह करने में असफल रहा—वरन् यह कहना चाहिए कि कांगरेस-शासन के अन्तर्गत भी ऊँचे-से-ऊँचे स्तर पर हिंदी के प्रति उदासीनता की भावना विद्यमान थी। स्वयं प्रधानमंत्री नेहरू ने भी हिंदी को इसलिए स्वीकार नहीं किया था कि उनके मन में अपनी मातृभाषा के प्रति प्रेम था, बल्कि इसलिए किया था कि लोकतन्त्र और राष्ट्रवाद के प्रति उनके मन में अटूट आस्था थी। अनेक बार उन्होंने हिंदी के प्रयोग के लिए जनता तथा शासन का आह्वान किया था और औपचारिक अवसरों पर स्वयं हिंदी में भाषण कर अंगरेज़ी के भक्तों को अनेक बार निराश भी कर दिया था। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि हिंदी के प्रति उनके मन में सहज अनुराग नहीं था, उनका हिंदी-प्रेम वस्तुतः अर्जित ही था। उनके इस दृष्टिकोण की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। हिंदी के कुछ 'दीवाने' अकसर हिन्दू और हिंदी का गठबन्धन कर प्रायः ऐसे असंगत वक्तव्य देते रहते थे, जिनमें साम्प्रदायिकता की गन्ध आती थी। नेहरू के अपने शिक्षा-संस्कार भी ऐसे थे जिनमें हिंदी के प्रति कोई विशेष सम्मान की भावना नहीं थी। और अन्त में, अंगरेज़ी, निश्चय ही, उनकी आत्मा की वाणी—उनकी आत्माभिव्यक्ति की सहज माध्यम-भाषा थी। अतः किसी भी ऐसी भाषा के प्रति, जो अंगरेज़ी को अपदस्थ कर आगे बढ़ना चाहती थी, उनके मन में, या कम-से-कम अवचेतन मन में, सद्भाव होना कठिन ही था। इस प्रकार, ऐसे अवसर बार-बार आते रहे जब कि उदार-से-उदार हिंदी-लेखक, अपनी समस्त सहिष्णुता के बावजूद, शासन द्वारा हिंदी की उपेक्षा देखकर क्षुब्ध हो उठते थे। ऐसी स्थिति में, जाने-अनजाने, उनकी भावना कुण्ठाग्रस्त होकर साम्प्रदायिकता की ओर प्रवृत्त हो सकती थी। लेकिन यह नहीं हुआ; और इसका मुख्य कारण, जहां तक मैं समझ सकता हूं, केवल एक था : नेहरू के नेतृत्व में साम्प्रदायिक भावना अपने शुद्ध अर्थ में भी इतनी अधिक तिरस्कृत हो गयी थी कि सर्जना के ऊँचे स्तर पर भावना और चिंतन करने वाला कोई भी सच्चा लेखक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसको स्वीकार नहीं कर सकता था। उर्दू और अंगरेज़ी के अनेक अनुदार समर्थक, जिनका सम्बन्ध विशिष्ट सम्प्रदायों से भी था, उसकी भावना को चोट पहुँचाने के लिए अकसर बहुत-कुछ कहते और करते रहे, लेकिन हिंदी का लेखक अपने असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण का धार्मिक निष्ठा के साथ पालन करता रहा। इसके पीछे निश्चय ही नेहरू की प्रेरणा थी।

अपने जीवन में जवाहरलाल नेहरू सामासिक संस्कृति के विकास के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे और आधुनिक भारत के निर्माण में उनका यह योगदान निश्चय ही महत्त्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

था। हिंदी-साहित्य का वातावरण, बल्कि यह कहना चाहिए कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का ही वातावरण, सामासिक संस्कृति के विकास के लिए अधिक अनुकूल नहीं था। भारत के आधुनिक इतिहास का स्वर्ण-युग है पुनर्जागरण काल और इस युग की प्राणशक्ति है पुनरुत्थान की प्रवृत्ति, जिसका आकर्षण आज भी कम नहीं हुआ। हिंदी में जयशंकर 'प्रसाद' के नेतृत्व में छायावाद के मूर्धन्य कवि स्वर्णिम अतीत के सपने देखते रहे और स्वर्णिम अतीत का अर्थ था वैदिक युग तथा उसका परवर्ती युग जबकि हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर थीं। हिन्दी के अनेक कलाकार ऐसे भी थे जिनकी कल्पना मुग़ल ऐश्वर्य के प्रति आकृष्ट होकर भारतीय इतिहास के मध्ययुग में ही रमण करती रही। किन्तु, इन दोनों संस्कृतियों का अस्तित्व पृथक् ही रहा और दोनों वर्गों के कलाकार अपने-अपने सपनों की संस्कृति को 'शुद्ध' रूप में ही चित्रित करने का आग्रहपूर्वक प्रयत्न करते रहे। यह प्रवृत्ति अपनी समग्र कलात्मक सम्भावनाओं और अत्यन्त परिष्कृत मानवीय संवेदनाओं के रहते हुए भी, कम-से-कम प्रत्यक्ष रूप में, सामासिक संस्कृति के विकास में बाधक थी। फिर भी, भारतीय कला और साहित्य के क्षेत्र में संस्कृति की इस नवीन धारा का भरपूर प्रभाव पड़ा और भारतीय कलाकारों तथा लेखकों का एक समर्थ वर्ग इसके विकास के लिए निरन्तर उद्योगशील रहा। इस प्रकार की कलाकृतियों पर नेहरू के चिन्तन और कृतित्व का गहरा प्रभाव स्वयंसिद्ध है।

अपने विचारों और कार्यों के माध्यम से नेहरू ने राष्ट्रीयता को एक व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया था। उनकी राष्ट्र-भावना में ऊष्मा की कमी नहीं थी। भारत-भूमि के प्रति उन्होंने अपने रिक्थ-पत्र में जो काव्यमय उद्गार व्यक्त किये हैं, उनकी तुलना हिन्दी अथवा किसी भी भाषा की सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र-गीतियों से की जा सकती है। फिर भी, उनकी राष्ट्रीयता व्यावहारिक तथा प्रगतिशील थी। उनकी देशभक्ति रचनात्मक थी, जिसकी अभिव्यक्ति के माध्यम थे विकास के विशाल आयोजन और उनकी कार्यान्विति के विराट् प्रयत्न। रचनात्मक प्रवृत्तियों में राग का यह उन्नयन स्वतन्त्रता के उपरान्त हिन्दी साहित्य में अनेक प्रकार से लक्षित होता है। राष्ट्र के प्रति हमारा दृष्टिकोण आज निश्चय ही रचनात्मक है और समसामयिक साहित्य पर भी व्यक्त-अव्यक्त रूप से इसका प्रभाव मिलता है। अतीत की गौरव-परम्पराओं के प्रति उनका हृदय काव्यमय भावनाओं से ओतप्रोत था, परन्तु वे जीते थे वर्तमान में और उपक्रम करते थे भविष्य का। कविता और दर्शन के प्रति उनके मन में गहरा अनुराग था, किन्तु उनका विश्वास था विज्ञान में। संस्कृति तथा विज्ञान के इस अपूर्व समन्वय के कारण ही उनके व्यक्तित्व में आधुनिक मानव का आदर्श रूप मिलता है और आधुनिक युग का सम्पूर्ण प्रगतिशील भारतीय साहित्य इस समन्वय की चेतना से मुद्रांकित है। उनमें मिथ्याचार तथा रूढ़िवाद का तिरस्कार है और वर्तमान जीवन को, सांस्कृतिक परिवेश में, विवेक की आँखों से देखने-परखने की प्रबल आकांक्षा है।

अपने देश और सम्पूर्ण विश्व में समाजवादी व्यवस्था क़ायम करने के लिए नेहरू के मन में अबाध उत्साह था, जिसका भारतीय साहित्य पर गहरा और सीधा प्रभाव पड़ा। यह उत्साह भी वस्तुतः उनके आधुनिक दृष्टिकोण का ही प्रमाण था। भारतीय परम्पराओं में—जीवन के शाश्वत आध्यात्मिक मूल्यों में—उनकी आस्था दृढ़ और बद्धमूल थी। आरम्भ में जो भी सन्देह इस विषय में थे वे सब गांधी के धर्मप्राण व्यक्तित्व के सम्पर्क में रहकर प्रायः दूर हो चुके थे। एक प्रकार की समाजवादी व्यवस्था में गांधी का भी विश्वास था, किन्तु गांधी का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समाजवाद प्रवृत्तिमय कम और निवृत्तिमय अधिक था। जवाहरलाल नेहरू ने गांधी-दर्शन को अंशतः ही स्वीकार किया था। अपने बौद्धिक संस्कारों के कारण वे गांधी के त्याग और तितिक्षा के सिद्धांत को स्वीकार करने में प्रायः असमर्थ ही रहे। इस प्रकार दक्षिणपंथियों के शिविर में उनकी स्थिति एक घोषित वामपंथी की ही थी और यही स्थिति जीवनपर्यन्त बनी रही। देश की शासक संस्था—कांग्रेस—के अपने शिविर के भीतर ही, समाजवादी तन्त्र की दक्षिणपंथी और वामपन्थी परिभाषाओं का यह अन्तर्द्वन्द्व और अन्ततः नेता की व्यक्तिगत धारणाओं के फलस्वरूप वामपक्ष की क्रमिक विजय हमारे आधुनिक साहित्य में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है : हिन्दी के कथा-साहित्य, नाटक और काव्य में यह प्रवृत्ति अनेक प्रकार से व्यक्त हुई है।

प्रभाव और शक्ति की अभिवृद्धि के साथ-साथ जनसाधारण के प्रति नेहरू की आस्था बराबर गहरी होती गई। उनके लिए राष्ट्र पर्याय था संघर्षरत अपार जनसमुदाय का, जिसके साथ, अपने सहज अभिजात संस्कारों की उपेक्षा कर, वे प्रायः एकाकार हो गये थे। "समस्त दर्शन और साहित्य का लक्ष्य है—जनकल्याण", यह घोषणा वे अत्यन्त प्रबल और निर्भ्रान्ति स्वर में अनेक बार कर चुके थे। इस प्रकार नेहरू भारतीय साहित्य के प्रगतिशील तत्त्वों के ही साथ थे, यद्यपि तथाकथित प्रगतिवादियों की रूढ़ मान्यताएं उन्हें कभी स्वीकार्य नहीं हुई।

अन्त में, देश की रागात्मक एकता के लिए उनका वह अभियान भी भारतीय साहित्यकार के लिए एक प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र बन गया। भारत की राजभाषा होने के कारण हिंदी पर इसका मुख्य दायित्व था, इसलिए हिंदी-साहित्य पर इसका प्रभाव और भी गहरा पड़ा। देश के सामने एक ज्वलन्त समस्या रही है—विभिन्न तत्त्वों का समाकलन। अलग-अलग धर्मों के सिद्धान्तों में, विभिन्न प्रदेशों की संस्कृतियों में, भारतीय सभ्यता और संस्कृति में अन्तर्भुक्त द्रविड़ और आर्य तत्त्वों में, तथा एक ओर देश के भीतर सक्रिय पुनरुत्थानवादी शक्तियों और दूसरी ओर पश्चिम के आधुनिक प्रभावों के बीच समन्वय की स्थापना का प्रश्न जितना महत्त्वपूर्ण आज बन गया है, उतना शायद कभी नहीं रहा। भारतीय संस्कृति की तरह भारतीय साहित्य का मूल धर्म है अनेकता में एकता की सिद्धि; और हिन्दी को, जो शताब्दियों से भारत के हृदय-देश तथा उसके बृहत्तम भू-भाग की भाषा रही है, यह शक्ति अपने सहज विकासक्रम के अन्तर्गत ही प्राप्त हो गई है। अतः इसका अर्जन करने के लिए हिंदी को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा; हिंदी का साहित्यकार सहज भाव से रागात्मक समाकलन के इस अनुष्ठान में मूल्यवान योग देने लगा। वास्तव में शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत विघटन की शक्तियों के लिए अवकाश ही बहुत कम रहता है—और इसीलिए, अभीष्ट संकेत मिलते ही, कला की सहज। समन्वयकारी शक्तियां १९६० ई० के आसपास हिंदी-साहित्य में अनायास ही सक्रिय हो उठीं। नेहरू के समंजस व्यक्तित्व एवं समन्वयवादी चिन्तन का इस प्रवृत्ति पर गहरा प्रभाव पड़ा और भारतीय कलाकार समग्र देश की रागात्मक एकता का प्रतीक मानकर उनसे सीधी प्रेरणा ग्रहण करने लगा।

यहां तक तो हुई उन सूक्ष्म प्रेरणाओं की चर्चा, जिन्हें हिंदी-साहित्य नेहरू के सुसंस्कृत व्यक्तित्व तथा कलात्मक जीवन-दर्शन से, अप्रत्यक्ष रूप में, ग्रहण करता रहा। इनके अतिरिक्त हिंदी के विकास पर, एक सीमा तक, नेहरू का प्रत्यक्ष प्रभाव भी अवश्य पड़ा। राज्य के प्रधान शासक होने के नाते राजभाषा के स्वरूप-विकास पर उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। राष्ट्र के वे नेता थे, अतः राष्ट्र की भाषा और साहित्य की प्रगति के प्रति सचेष्ट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

थे और भाषा तथा साहित्य की प्रगति के विषय में उनके स्पष्ट विचार थे। यह देखकर उन्हें बड़ा ही दुःख होता था कि सभी भारतीय भाषाओं में—और राजभाषा हिंदी में भी—वैज्ञानिक एवं प्राविधिक वाङ्मय इतना कम है ! इसकी भर्त्सना वे बार-बार करते रहे और केन्द्र तथा राज्यों की सरकारों को इस दिशा में क़दम उठाने के लिए निरन्तर प्रेरित करते रहे। इसका प्रभाव निश्चय ही पड़ा; भारतीय भाषाओं में ज्ञान के साहित्य की वृद्धि होने लगी: नेहरू का आशीर्वाद लेकर शब्दकोश, विश्वकोश, सामाजिक तथा भौतिक विज्ञानों से सम्बद्ध विपुल ग्रंथ-राशि आयोजित और प्रकाशित होने लगी। इसी प्रकार, बच्चों के प्रति नेहरू का सहज वात्सल्य हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में बाल-साहित्य की अभिवृद्धि का कारण बना। प्रत्येक बाल-समारोह में वे बड़े ही ज़ोरदार शब्दों में यह अपील करते थे कि हमारे बच्चों के लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था होनी चाहिए—और इन सुख-सुविधाओं में वे सबसे ऊँचा स्थान देते थे साहित्य को। इन प्रेरणाओं का वांछित परिणाम हुआ और उनके शासनकाल में बाल-साहित्य की प्रगति अपूर्व वेग से हुई।

भाषा के विषय में भी उनके विचार सर्वथा निर्भ्रान्त थे और वे चाहते थे कि हिन्दी का विकास सभी प्रकार के साम्प्रदायिक प्रभावों से मुक्त रहे। हिन्दू के साथ हिन्दी के गठबन्धन का संकेत मात्र भी उन्हें असह्य था और कदाचित् इसीलिए वे अपनी पूरी शक्ति से संस्कृत के वर्धमान प्रभाव का अवरोध करते रहे। स्वतन्त्रता के बाद हिंदी को संस्कृतनिष्ठ बनाने की प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती हो उठी थी और इसके मूल में एकदम शास्त्रीय तथा राष्ट्रीय प्रेरणा ही थी—जिसमें साम्प्रदायिक भावना का लेशमात्र नहीं था। डॉ० रघुवीर और उनके अनुयायी अनेक तर्क एवं प्रमाण देकर यह सिद्ध कर रहे थे कि राजभाषा के रूप में हिंदी का विकास संस्कृत के आधार पर ही हो सकता है, किन्तु नेहरू जैसे उनकी बात सुनने को तैयार ही नहीं थे। उन्हें कोई सन्देह नहीं था कि इस प्रकार के शास्त्रीय प्रयत्नों से, चाहे सिद्धान्ततः उनका उद्देश्य कितना ही भव्य क्यों न हो, हिन्दी की जड़ें धरती से उखड़ जाएंगी और हिंदी अपनी वह ताक़त व ताज़गी खो बैठेगी, जो उसे जन-साधारण के जीवन्त सम्पर्क से सहज ही प्राप्त होती रही है। इस प्रसंग के दोनों ही पक्ष हैं, और प्रत्येक के समर्थन में पुष्ट तर्क दिये जा सकते हैं; फिर भी, जैसा कि प्रायः होता है, सत्य की स्थिति यहां भी मध्यवर्ती ही है। मुझ जैसा व्यक्ति भी, जो संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का समर्थक है, इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि नेहरू के विश्वास के पीछे, निश्चय ही, एक प्रबल तर्क था और स्वतन्त्र भारत में हिंदी के स्वरूपविकास पर उनके इस प्रतिरोध का प्रभाव कुछ अर्थों में तो ज़रूर ही अच्छा पड़ा।

इस प्रकार, भारतीय साहित्य पर सामान्य रूप से, और हिंदी-साहित्य पर विशेष रूप से, नेहरू का प्रभाव व्यापक था और गहरा भी—किन्तु, जैसा कि मैं निवेदन कर चुका हूं, यह प्रभाव अधिकतर प्रच्छन्न और आंशिक ही था। भारतीय साहित्य पर उनका प्रभाव एक सामाजिक-राजनीतिक विचारक तथा लोकप्रिय राष्ट्रनायक के रूप में ही अधिक था, लेखक के रूप में प्रायः नहीं। उनका प्रभाव आंशिक इस अर्थ में था कि साहित्य की किसी भी नवीन प्रवृत्ति को सम्प्रेरित करने का श्रेय उन्हें नहीं दिया जा सकता। उनके गत्यात्मक व्यक्तित्व से हमारे साहित्य की कतिपय प्रबल प्रवृत्तियों को संवर्धन ही अधिक मिला। इनका आविर्भाव तो अनेक प्रकार के सामाजिक-राजनीतिक तथा सांस्कृतिक कारणों से पहले ही हो चुका था, पर नेहरू के जीवन्त व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन ने उनके प्रस्फुटन में सहायता अवश्य दी।—अस्तु !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सब मिलाकर, उपर्युक्त तथ्य-विश्लेषण से, हिंदी या भारतीय साहित्य पर नेहरू के प्रभाव का महत्त्व कम नहीं होता। वास्तव में साहित्य की प्रकृति ही इस प्रकार की है कि व्यक्ति का प्रभाव उस पर प्रायः प्रच्छन्न और सीमित ही रहता है। कारण यह है कि साहित्य की अभि-वृद्धि वस्तुतः मौलिक एवं स्वतन्त्र सर्जना पर ही निर्भर करती है और प्रतिभा की मौलिकता की कसौटी यह है कि वह, महान्-से-महान्, किसी भी दूसरे व्यक्ति के प्रभाव के आक्रमण को रोकने में कहां तक समर्थ है। इसीलिए तो हमारे साहित्य के इतिहासकार किसी युग का नाम-करण उसके शासक या शासकवंश के नाम पर नहीं करते आए हैं। हिन्दी-साहित्य या अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के पूर्व-मध्यकाल का नाम अकबर-जहांगीर या मुग़ल काल नहीं है। साहित्यिक आन्दोलन अथवा साहित्यिक प्रवृत्ति को ही सदा व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है, चाहे इस व्यक्ति का प्रभाव कितना ही व्यापक और गम्भीर क्यों न हो। उदाहरण के लिए, हिंदी-साहित्य का स्वर्ण-युग भक्तिकाल ही कहलाता है—तुलसी-काल या सूर-काल नहीं। आधुनिक युग में भी सन् १९२१ से १९३५ या उसके बाद तक भारतीय साहित्य पर गांधी का प्रत्यक्ष और गहरा प्रभाव पड़ा, परन्तु शायद गुजराती को छोड़ किसी भी अन्य भाषा के साहित्य का यह कालखण्ड गांधी-युग नहीं माना जाता। अतः यह सम्भावना नहीं है कि हिन्दी अथवा किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य में, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का यह सामयिक युग नेहरू-युग के नाम से अभिहित किया जाएगा—यद्यपि भारतीय इतिहास के क्षेत्र में सम्भावना प्रायः यही है कि इसका नाम नेहरू-युग ही रहेगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(ख) कृति

कामायनी के अध्ययन-अध्यापन की समस्याएं

काव्य का मूल प्रयोजन है रसास्वादन—कम-से-कम कामायनी तक तो यह स्थापना सर्वथा मान्य है ही : आगे की बात आगे देखेंगे। काव्य का अध्ययन (और अध्यापन भी, जो अध्ययन का ही एक साधन है) रसास्वादन की प्रक्रिया का ही अंग है—प्रत्येक रूप में अध्ययन का प्रयोजन और उद्देश्य रसास्वादन ही रहेगा—वह साधन ही रहेगा, साध्य नहीं बन सकता। साहित्य के क्षेत्र में जहां अध्ययन रसास्वादन से स्वतन्त्र हुआ, वहीं वह साधक न होकर बाधक हो जाएगा।

कामायनी महान् काव्य है—महाकाव्य है। अतः उसका अध्ययन स्पष्टतः ही उसके रसास्वादन की प्रक्रिया का एक अंग है। काव्य के रसास्वादन की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने उसके छह अवस्थान माने हैं :

१. चाक्षुष संवेदन (बिम्ब-विधान)
२. संबद्ध बिम्ब-विधान
३. स्वतन्त्र बिम्ब-विधान
४. विचार
५. भावोद्बोधन
६. दृष्टिकोण का निर्माण

चाक्षुष बिम्ब-विधान वह सबसे पहली अवस्था है जब पाठक चक्षुरिन्द्रिय द्वारा अक्षर-ज्ञान प्राप्त करता है। यह ऐन्द्रिय ज्ञान है—अर्थबोध की अपेक्षा लिपि-बोध से इसका सम्बन्ध अधिक है। पाठालोचन इसी के अध्ययन का वैज्ञानिक विकास है।

कामायनी के अध्ययन-अध्यापन में सबसे पहली समस्या पाठालोचन की है। आप आश्चर्य कर सकते हैं कि आधुनिक ग्रंथ का पाठालोचन कैसा ! किन्तु कामायनी का प्रत्येक अध्येता या अध्यापक इस कठिनाई का अनुभव करता है। वास्तव में कामायनी कवि की लगभग अंतिम रचना है—इसका मुद्रण जिस समय हो रहा था, उस समय प्रसादजी शैया-ग्रस्त थे। वैसे भी उस समय विराम-चिह्नों के प्रयोग के लिए, विशेषतः कविता में, कोई स्पष्ट नियम नहीं थे, अतः कामायनी में मुद्रण की भूलें तो इतनी नहीं हैं, किन्तु विराम-चिह्नों का प्रयोग इस तरह किया गया है कि उससे कई प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। यहां मैं केवल तीन प्रमुख कठिनाइयों की ओर इंगित करूंगा।

एक तो उन सर्गों में अर्थ-बोध कठिन हो जाता है जहां प्रूफ़-शोधक ने यांत्रिक रीति से छन्द के सामान्य यति-नियमों के अनुसार अर्द्धविराम या पूर्णविराम दे दिए हैं। एक उदाहरण लीजिए :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कोमल किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी;
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती-सी।
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
मन का उन्माद निखरता ज्यों;
सुरभित लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों;
वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उंगली धरे हुए;
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।
नीरव निशीथ में लतिका-सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ? (लज्जा : पृ० ९७)

'लज्जा' सर्ग के आरम्भ में प्रत्येक पद (स्टैन्ज़ा) की दूसरी पंक्ति के अन्त में अर्धविराम (सेमीकोलन;) और चौथी पंक्ति के अन्त में पूर्णविराम दे दिया गया है, जबकि इस लम्बे मिश्र वाक्य का प्रधान उपवाक्य "तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?" चौथे पद के पूर्वार्द्ध में आता है।

दूसरे उन स्थलों पर कठिनाई होती है जहां उद्धरण-चिह्नों (" ") का प्रयोग नियमानुसार नहीं हुआ। कामायनी में स्वगत-चिंतन, स्वगत-भाषण आदि अनेक हैं—वे कथा-विकास के माध्यम के प्रमुख अंग हैं। इनका स्पष्टीकरण करने के लिए उद्धरण-चिह्नों का प्रयोग किया गया है, परन्तु इस प्रकार के प्रयोगों में एकरूपता नहीं है। उदाहरण के लिए, 'काम' सर्ग के आरम्भ में मनु के चिन्तन-क्रम के तीन सोपान हैं जिन्हें उद्धरण-चिह्नों के द्वारा पृथक् किया गया है; किन्तु तीसरे सोपान में उद्धरण-चिह्न दो बार दे दिये गये हैं। इन प्रयोगों के कारण कई टीकाकारों को बड़ा भ्रम हो गया है और वे यह निर्णय नहीं कर पाये हैं कि मनु का चिंतन कहां समाप्त होता है और काम का वक्तव्य कहां से आरम्भ होता है। 'इड़ा' नामक सर्ग में भी कुछ स्थल इस प्रकार के हैं।

तीसरी कठिनाई वहां होती है जहां प्रूफ़-शोधक ने अपनी बुद्धि से विराम-चिह्न दे दिये हैं। इसका एक स्पष्ट प्रमाण 'श्रद्धा' सर्ग में पृष्ठ ४८ पर मिलता है—

कुसुम कानन-अंचल में मंद
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार

यहां कानन और अंचल के बीच में योजक चिह्न (हाइफ़न) लगा हुआ है जिससे सम्पूर्ण पद का अन्वय बदल जाता है। यह चिह्न न होता तो 'कुसुम-कानन-अंचल' को एक समस्त पद मान लिया जाता और दूरान्वय का दोष बच जाता—

"मानो फूलों के वन के अंचल में, पराग के परमाणुओं से रचित शरीर वाला, मन्द-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पवन-प्रेरित सौरभ साकार होकर मधु का आधार लिए खड़ा हो।" किन्तु योजक चिह्न लग जाने से अन्वय इस प्रकार होगा—

"मानो वन के अंचल में परमाणुओं से रचित शरीर वाला मन्द-पवन-प्रेरित, साकार सौरभ-रूप कुसुम मधु का आधार लिए खड़ा हो !"

मूल अर्थ में या बिम्ब में वस्तुतः कोई बड़ा भेद नहीं है। दोनों ही पाठों में श्रद्धा के मुख का उपमान फूल और उसकी मुसकान का उपमान मधु ही रहता है; संश्लिष्ट रूप में श्रद्धा के सस्मित मुख का उपमान मधु-चर्चित फूल ही रहता है, किन्तु कर्ता 'कुसुम' के दूर पड़ जाने से दूरान्वय की बाधा आ जाती है और अर्थ की विवृति में थोड़ी कठिनाई होती है। योजक चिह्नों के मन-माने प्रयोग से कामायनी की व्याख्या में इस प्रकार की कठिनाई स्थान-स्थान पर सामने आती है। कामायनी के मर्मज्ञों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि नवीनतम संस्करण में इस दोष का यथेष्ट परिमार्जन कर दिया गया है।

रसास्वादन की प्रक्रिया में दूसरा अवस्थान है संबद्ध बिम्बविधान, जो वास्तव में अभिधार्थ-ज्ञान का ही प्रतीक है। भट्टनायक ने इसी को काव्य का 'अभिधा' व्यापार माना है। कामायनी के अभिधार्थ-ज्ञान में भी अन्य समसामयिक काव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक कठिनाई होती है। इसके अनेक कारण हैं—जिनमें प्रमुख है पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग। ये पारिभाषिक शब्द प्रायः तीन प्रकार के हैं—(१) सांस्कृतिक, (२) दार्शनिक, और (३) मनोवैज्ञानिक। इनमें से अधिकांश शब्द ऐसे हैं जिनमें ये तीनों पक्ष ही एकत्र विद्यमान हैं। एक शब्द 'काम' को ही ले लीजिए। उसके सांस्कृतिक अर्थ की एक दीर्घ परम्परा है जो वेदों से लेकर पुराणों तक विस्तृत है। इसी प्रकार दार्शनिक अर्थ की भी; और इधर नवीन मनोविज्ञान का प्रभाव ग्रहण करने के कारण प्राचीन तथा नवीन मनोवैज्ञानिक अर्थों के अनेक सूत्र उसमें गुँथ गये हैं। वास्तव में इन पारिभाषिक शब्दों का कामायनी में इतना प्रचुर और सार्थक प्रयोग है कि इनका सर्वांग अध्ययन किये बिना कामायनी का अर्थ ही स्पष्ट नहीं हो सकता। कामायनी में सर्ग के सर्ग ऐसे हैं—विशेषकर उत्तरार्ध में—जहां इस प्रकार के शब्द भरे पड़े हैं और उनका वास्तविक रहस्य जाने बिना अर्थ की विवृति असम्भव है। 'इड़ा' सर्ग का वह प्रसिद्ध पद, जिसकी पहली पंक्ति है—"संकुचित असीम अमोघ शक्ति" (पृ० १६५)—इसका प्रमाण है। इस पद में राग, विद्या, काल, कला, नियति के पारिभाषिक अर्थों का सम्यक् ज्ञान तो अनिवार्य है ही, 'संकुचित' जैसे शब्द का पारिभाषिक अर्थ जाने बिना भी काम नहीं चल सकता। 'आनन्द' सर्ग अपेक्षाकृत सरल प्रतीत होता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। उसमें भी पद-पद पर इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों की समस्या खड़ी हो जाती है। एक साधारण-सी पंक्ति है—"मनु तन्मय बैठे उन्मन"—यहां 'तन्मय' और 'उन्मन' के सामान्य शब्दार्थ में विरोध है, किन्तु 'उन्मन' का पारिभाषिक अर्थ स्पष्ट हो जाने पर यह विरोध अपने-आप मिट जाता है। मेरे सामने भी समस्या आयी और मैं इसका समाधान ढूंढ़ने लगा। अनेक प्रकार की कल्पनाएं मेरे मन में उठीं किन्तु ज्योंही तन्त्रालोक की यह पंक्ति—'चित्ते समरसीभूते द्वयोरौन्मनसी स्थितिः'—मुझे मिल गई, सारा रहस्य खुल गया। यहां उन्मन का अर्थ है द्वैत के प्रति उन्मन, जो समरसीभूत अर्थात् तन्मय चित्त का सहज लक्षण है। इस प्रकार के शत-शत उदाहरण आपके सम्मुख प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किन्तु मैं प्रस्तुत प्रसंग का अनावश्यक विस्तार न कर इस बात पर बल देना चाहता हूं कि कामायनी के अध्ययन की एक अत्यन्त प्रमुख समस्या है उसके पारिभाषिक शब्दों का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक अध्य-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यन, जो अपने-आप में गम्भीर शोध का विषय है। दिल्ली-विश्वविद्यालय के एक अनुसंधाता इस विषय पर कार्य कर रहे हैं और मुझे आशा है कि उनका शोध-ग्रन्थ प्रकाशित होने पर कामायनी के व्याख्यान में निश्चय ही सहायता मिलेगी।

रसास्वादन का तीसरा अवस्थान है स्वतंत्र बिम्बविधान। अभिधार्थ-बोध के बाद शब्द की लक्षणा और व्यंजना-शक्तियों के चमत्कार से अनेक प्रकार के बिम्बों की सृष्टि प्रेक्षक के मन में होने लगती है। अपने अमूर्त संवेद्य को मूर्त रूप देने के लिए कवि की कल्पना जब शब्द पर आरूढ़ हो जाती है तो अनेक प्रकार के ऐसे बिम्बों का सृजन होता है जो अभिधार्थ से स्वतन्त्र होते हैं। जिस काव्य में कल्पना का जितना प्राचुर्य होगा, उसमें यह स्वतन्त्र बिम्ब-विधान उतना ही अधिक होगा। कामायनी में कल्पना का अपूर्व ऐश्वर्य है, फलतः उसमें स्वतंत्र बिम्ब-विधान अन्य आधुनिक महाकाव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अर्थ-व्यक्ति में इस प्रकार का प्राचुर्य बाधक ही होता है; क्योंकि बिम्ब जितना ही स्वतंत्र होगा, उतना ही उसमें वैचित्र्य होगा—और यह वैचित्र्य अपनी प्रतीति के लिए पाठक में समान्य से अधिक कल्पना की अपेक्षा करेगा। इसलिए कामायनी के अध्ययन की तीसरी समस्या हुई—उसके राशि-राशि बिम्बों का विश्लेषण-व्याख्यान।

इन स्फुट बिम्बों की शृंखला अन्त में काव्य के समग्र बिम्ब या महा-बिम्ब का निर्माण करती है। यह समग्र बिम्ब ही प्रबन्ध-काव्य में कथावस्तु के नाम से अभिहित होता है। किसी काव्य के स्फुट बिम्ब जितने संश्लिष्ट और वैचित्र्यपूर्ण होंगे, उसका समग्र बिम्ब भी उतना ही संश्लिष्ट होगा और उसकी रूपरेखा उतनी ही जटिल होगी। कामायनी के विषय में यह सर्वथा सत्य है और इसीलिए कामायनी की कथा के सूत्रों को पकड़ने के लिए अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक प्रयास करना पड़ता है। इसीलिए अभी तक कामायनी की कथा की एक निर्भ्रान्त रूपरेखा नहीं बन पायी और अनेक प्रसंगों के विषय में विद्वानों में मतभेद चला आ रहा है। कामायनी के एक मर्मज्ञ यह मानते हैं कि इड़ा और मनु के पुत्र मानव का विवाह हो जाता है और दूसरे मर्मज्ञ 'वासना' सर्ग के अन्तर्गत ही श्रद्धा और मनु के रतिकर्म की परिणति मान लेते हैं। जब प्रमुख घटनाओं के विषय में इस प्रकार का मतभेद है तो सामान्य प्रसंगों का कहना ही क्या ! अतः कामायनी के अध्ययन की एक आवश्यकता उसकी कथावस्तु की रूपरेखा का स्पष्टीकरण भी है।

इस प्रसंग का दूसरा पक्ष भी है। जैसा कि प्रसाद ने अपने आमुख में स्वयं स्वीकार किया है—कामायनी की कथा के अन्तःसूत्र वेदों से लेकर पुराणों और आगमों तक बिखरे पड़े हैं—अनेक देशों के पुराख्यान और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने भी उसके निर्माण में योगदान किया है। इन अन्तःसूत्रों का विश्लेषण और प्रत्येक के साथ जुड़ी कथा अथवा कथा-माला का अध्ययन कामायनी के अध्ययन की मौलिक आवश्यकता है। इस दिशा में अनुसंधाता अग्रसर हैं, परन्तु पिष्टपेषण काफ़ी हो रहा है। विद्वानों को चाहिए कि दूसरों के अनुसंहित तथ्यों को उद्धृत कर देने के स्थान पर उन सूत्रों के आधार ढूंढ़ने का प्रयास करें जो अभी अस्पष्ट हैं।

काव्य-रूप का प्रश्न भी इस समग्र बिम्ब से ही सम्बद्ध है। इस समग्र बिम्ब का भीतरी ढाँचा कथावस्तु है और बाहरी ढांचा काव्य-रूप है। कामायनी का काव्य-रूप विशिष्ट अध्ययन का विषय है। अब तक निगमन-शैली से परम्परागत महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर कामायनी की परीक्षा होती रही है और अध्येता उसमें अनेक आधारभूत तत्त्वों—जैसे काव्य-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यापार की सघनता, जीवन-स्थितियों के वैविध्य आदि—का अभाव देखकर उसके महाकाव्यत्व पर शंका करता रहा है, या स्थूल दृष्टि से बहिरंग तत्त्वों की गणना-मात्र कर उसे सिद्ध-असिद्ध करता रहा है। किन्तु परम्परा की यथावत् स्वीकृति प्रसाद के स्वभाव के विरुद्ध थी—नाटक, कहानी, उपन्यास, लघु काव्य—सभी में जब उन्होंने परम्परा का संशोधन किया, तो जिसमें उन्होंने अपनी सम्पूर्ण जीवन-साधना को अभिव्यक्ति प्रदान करने का अन्तिम प्रयास किया, उस महाकाव्य को परम्परागत रूप में स्वीकार करना उनके लिए किस प्रकार सम्भव हो सकता था ? अतः कामायनी के काव्य-रूप का उचित विचार अत्यंत आवश्यक है। क्या वह महाकाव्य है ? यदि है, तो महाकाव्य के आधारभूत तत्त्वों के अभाव के लिए आप क्या कहेंगे और रूपक तत्त्व के साथ उसकी संगति किस प्रकार स्थापित होगी ? महाकाव्य की प्रवृत्ति जहां बहिर्मुख होती है, वहां रूपक की अन्तर्मुख होती है—इन दोनों में सामंजस्य कैसे होगा ?

कामायनी में प्रगीत-तत्त्व भी कम समृद्ध नहीं है और शास्त्रीय दृष्टि से प्रगीत की समृद्धि महाकाव्य का दोष है। कामायनी का सम्यक् अध्ययन इन प्रश्नों का समाधान चाहता है। मेरा अपना समाधान यह है कि कामायनी परम्परागत महाकाव्य, अर्थात् ऐहिक-जीवन-प्रधान महाकाव्य की कोटि में नहीं आता—वह ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं है, मानव-चेतना का महाकाव्य है। ऐहिक घटनाओं में जो भौतिक विस्तार होता है, वह चेतना में घटित होने वाली घटनाओं में नहीं मिल सकता। उदाहरण के लिए अपने व्यक्तित्व के प्राबल्य से पुरुष द्वारा नारी-हृदय की विजय चेतनागत घटना है और शिवधनुर्भंग द्वारा या युद्ध में पराक्रम-प्रदर्शन द्वारा नारी का वरण भौतिक घटना है। सम्पूर्ण शास्त्रों का मंथन करने के उपरान्त बुद्धि-भ्रष्ट होकर ऋषि-मुनियों पर अत्याचार करना भौतिक घटना है और बुद्धि की प्रवंचना से जीवन-सत्य के प्रति आस्था खो बैठना चेतनागत घटना है। मध्ययुग के महाकाव्य में घटनाओं की यह बहिर्मुख प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट थी। द्विवेदी-युग मध्ययुग और आधुनिक युग का संधिकाल था। उसके महाकाव्यों में, उदाहरण के लिए 'प्रियप्रवास' में, जिसका मुख्य विषय विरह है, बहिर्मुख घटनाएं अन्तर्मुख होने लगीं और छायावाद में आकर काव्य की सम्पूर्ण प्रवृत्ति के साथ कथा भी एकान्तरूप से अन्तर्मुखी हो गई। इसलिए कामायनी की कथावस्तु में भौतिक विस्तार का अभाव देखकर उसके महाकाव्यत्व का निषेध करना आधुनिक काव्य की मूल प्रवृत्ति से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

कामायनी के काव्य-रूप की समस्या का यही समाधान है। जैसा कि मैंने अभी कहा—कामायनी मानव-चेतना के विकास का महाकाव्य है या मानव-सभ्यता के विकास का विराट् रूपक है; इसीलिए रूपक-तत्त्व, जो सामान्यतः महाकाव्य में बाधक होता है, यहां साधक बन कर आया है और इसीलिए प्रगीत-तत्त्व भी यहां बाधक न होकर साधक ही हुआ है।

काव्यास्वादन के अब अंतिम दो अवस्थान रह जाते हैं—भावोद्बोधन और दृष्टिकोण का निर्माण।

भावोद्बोधन का प्रश्न वास्तव में अंगी रस का प्रश्न है। कामायनी का अंगी रस निश्चय ही विवाद का विषय है। यों तो प्रायः सभी आलोचनात्मक ग्रंथों में इस प्रश्न का निर्णय किया गया है और प्रत्येक लेखक ने अपने मत की पुष्टि में शास्त्रीय तर्क दिये हैं, परन्तु समस्या इतनी सरल नहीं है।

जैसा कि हम तद्विषयक व्याख्यान में स्पष्ट करेंगे, कामायनी का अंगी रस शैवागम के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अन्तर्गत आनन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादियों द्वारा प्रतिपादित शान्तरस या आत्मरस या आनन्दरस है, जो पूर्वार्द्ध में शृंगार और उत्तरार्द्ध में शान्त की सीमाओं का स्पर्श करता है।

काव्यास्वादन का अंतिम अवस्थान है दृष्टिकोण का निर्माण। इसका अभिप्राय यह है कि काव्य के मनन से अन्त में पाठक को एक विशेष दृष्टिकोण या दृष्टि प्राप्त होती है। यहीं कामायनी के आधारभूत दर्शन का प्रश्न उठता है, जो मौलिक प्रश्न है। कामायनीकार का लक्ष्य एक ऐसे जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा करना रहा है, जो एक साथ समकालीन और सर्वकालीन समस्याओं का समाधान कर सके। कामायनी एक ऐसे युग की सृष्टि है जो नाना प्रकार के आध्यात्मिक या बौद्धिक द्वन्द्वों से आक्रान्त है—जिसमें अनेक प्रकार की विचार-क्रांतियां एक-दूसरे का खंडन करती हुई जीवनास्था को खंडित कर रही हैं। कामायनी में इस आध्यात्मिक विप्लव की प्रतिच्छाया स्पष्ट है—आधुनिक युग की परस्पर-विरोधी विचारधाराओं—साम्यवादी और पूंजीवादी जीवन-दृष्टि का अन्तर्विरोध, विज्ञान, राजनीति और संस्कृति का पारिस्परिक वैषम्य उसमें अत्यन्त मुखर है। समसामयिक प्रश्नों का शाश्वत अर्थात् तात्त्विक समाधान—यह प्रसाद की विवेचन-पद्धति का वैशिष्ट्य है। कामायनी में भी बड़े ऊँचे धरातल पर—गम्भीर दार्शनिक भूमिका पर, कवि इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रयासशील रहा है। आधुनिक विकासवाद की शैवदर्शन में परिणति—यह प्रसाद का लक्ष्य है; और कामायनी के अध्येता के लिए इस विकास-क्रम के सूत्रों का स्वच्छ विश्लेषण प्रस्तुत करना आवश्यक है। कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि के निर्माण में एक ओर इस युग की अनेक दार्शनिक-वैज्ञानिक विचारधाराओं—विकासवाद, सापेक्षवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि का और उधर प्राचीन विचारधाराओं—वैदिक कर्मवाद, औपनिषदिक एवं शैव आनन्दवाद, बौद्ध शून्यवाद आदि का योगदान है। दर्शन के इन उलझे हुए सूत्रों में अनुस्यूत आनन्दवाद के मूल सूत्र को पकड़कर कामायनी की दार्शनिक गुत्थी को सुलझाना कामायनी के अध्ययन-क्रम की अनिवार्य समस्या है।

कामायनी के अध्ययन की अन्तिम और सबसे जटिल समस्या है उसके मूल्यांकन की। एक ओर यदि कामायनी आधुनिक हिंदी-काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गौरव-ग्रन्थ है, तो दूसरी ओर वह सबसे अधिक विवादास्पद भी है। हिंदी में ऐसे विज्ञ आलोचकों और काव्य-मर्मज्ञों की कमी नहीं है जो कामायनी के प्रतिपाद्य, जीवन-दर्शन, वस्तु-कल्पना और शैली-शिल्प में अनेक दोष देखकर उसके उपलब्ध गौरव के प्रति वास्तव में सन्देहशील हैं। फिर भी कामायनी का गौरव अनुदिन बढ़ रहा है। कामायनी के अध्येता को, विशेषकर अध्यापक को, इस विषमता का समाधान करना होता है। पन्त और दिनकर जैसे काव्य-मनीषियों के लेख पढ़ने के बाद हिंदी का प्रबुद्ध विद्यार्थी प्रश्न करता है कि इन दोषों के रहते हुए भी कामायनी आधुनिक काव्य की सर्वोच्च उपलब्धि क्यों है, तो अध्यापक के लिए उसका परितोष करना सर्वथा सरल नहीं होता। कामायनी के दोषों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके प्रतिपाद्य, जीवन-दर्शन और वास्तुकौशल आदि में निश्चय ही अनेक छिद्र हैं; किन्तु उसकी समग्र परिकल्पना इतनी उदात्त और उसका आयाम इतना विराट् है कि अपूर्व प्रातिभ ऐश्वर्य के बिना वह सम्भव नहीं हो सकता था।

मूल्यांकन की कसौटी प्रतिभा का ऐश्वर्य है या काव्य-शिल्प की निर्दोषता?—कामायनी के मूल्यांकन की समस्या का समाधाम उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर पर निर्भर है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कामायनी का महाकाव्यत्व

ज्यों ही मैं कामायनी का मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता हूं, मुझे लांजाइनस की यह प्रसिद्ध उक्ति अनायास ही याद आ जाती है—

"महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है। क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है और औदात्त्य में···कुछ-न-कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं।" (काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ६६)

कामायनी के शिल्प-विधान में निश्चय ही अनेक छिद्र रह गये हैं—उसका वास्तु-शिल्प अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच सका; उसकी आधारभूत प्रकल्पना में जो अखंडता है, उसका प्रतिफलन वस्तु-विन्यास में नहीं हो पाया—अंगों की समन्विति कई जगह टूट गयी है; अभिव्यंजना में अनेक त्रुटियां रह गयी हैं जो व्याकरण और काव्यशास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं; कुछ विम्ब अधूरे रह गये हैं—अलंकार छिन्न-भिन्न हो गये हैं; शब्दों के फूलों की जाली में पंत के कोमल स्पर्श की साज-सँवार नहीं है; कहानी में मैथिलीशरण गुप्त की प्रबन्ध-कला की गठन और प्रवाह नहीं है—आदि-आदि। उसके दोषों की अन्वेषणा आज कुछ अधिक व्यग्रता से की जा रही है। आलोचक उसके गौरव के प्रति जितना आकृष्ट हो रहा है, आज का स्रष्टा कलाकार उसकी अपूर्णता के प्रति उतना ही आग्रहशील हो उठा है। इस प्रकार कामायनी आधुनिक हिंदी-साहित्य की सर्वाधिक विवादास्पद, और विवादों के रहते हुए भी कदाचित् सबसे महान्, उपलब्धि है।

कामायनी की रचना प्रसाद ने महाकाव्य के रूप में की है। आमुख में मनु-श्रद्धा की कथा के ऐतिह्य रूप को सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो उत्कट आग्रह व्यक्त किया है, उसका मुख्य प्रयोजन यही है। अतः महाकाव्य के रूप में ही कामायनी का मूल्यांकन करना कवि के मौलिक उद्देश्य के अधिक निकट रहेगा। स्वदेश-विदेश के काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों की गणना प्रस्तुत संदर्भ में कदाचित् अधिक सार्थक न होगी। इसलिए मैं महाकाव्य के उन्हीं मूल तत्त्वों को लेकर चलूंगा जो देशकाल-सापेक्ष नहीं हैं, जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सद्भाव में परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता। वे मूल तत्त्व हैं—१. उदात्त कथानक, २. उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य, ३. उदात्त चरित्र, ४. उदात्त भाव, और ५. उदात्त शैली। अर्थात् औदात्त्य ही महाकाव्य का प्राण है। किन्तु इस विषय में कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि औदात्त्य और माधुर्य में किसी प्रकार का प्रकट या प्रच्छन्न विरोध है। इस भ्रान्ति का निवारण करने के लिए मैं आधुनिक आलोचक ए० सी० ब्रैडले के औदात्त्य-सम्बन्धी प्रसिद्ध लेख की ओर इंगित करूंगा जिसमें उन्होंने उदात्त को सौंदर्यशास्त्र का शब्द मानते हुए उसे व्यापक अर्थ में सौंदर्य का ही एक रूप माना है। उनके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुसार स्थूलतः सुन्दर के पाँच भेद किये जा सकते हैं—उदात्त, भव्य, मधुर, मनोरम और ललित। इनमें परा कोटि है उदात्त और अपरा कोटि है ललित। अतः सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से ललित और उदात्त में भी कोई विरोध नहीं है—मधुर की स्थिति तो उदात्त के और भी अधिक निकट है। भारतीय दर्शन में ईश्वर की कल्पना और भारतीय काव्यशास्त्र में धीरोदात्त नायक की कल्पना ब्रैडले के मत का मंडन तथा उपर्युक्त विरोध का खंडन करती है। कामायनी का मूल्यांकन करने से पहले इस भ्रान्ति का निराकरण आवश्यक था।

उदात्त कथानक

कथानक का अर्थ है घटनाओं का समन्वय। अतः उदात्त या महान् कथानक का अर्थ हुआ महान् घटनाओं का समन्वय। घटनाओं की महत्ता का मापक है उसका प्रबल प्रभाव तथा देश-काल में विस्तार। इस प्रकार महाकाव्य के कथानक का निर्माण ऐसी घटनाओं से होता है जिनका प्रभाव प्रबल एवं स्थायी हो और देश तथा काल दोनों में जिनका विस्तार हो। इसके साथ ही उदात्त कथानक के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका स्वरूप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में ध्वंसात्मक न होकर रचनात्मक हो—उसकी परिणति शुभ और मंगलमयी हो। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि कामायनी की घटनाएं अत्यन्त उदात्त एवं महान् हैं, किन्तु उनका क्षेत्र ब्रह्माण्ड नहीं है, पिण्ड है—मानव-आत्मा या मानव-चेतना है। परम्परागत महाकाव्यों की आधारभूत घटनाओं—युद्ध आदि—की भाँति उनका विस्तार भौतिक जगत् में लक्षित नहीं होता—उनका विस्तार होता है मानव-चेतना के भीतर, जहां घटित होकर वे समग्र मानव-जीवन पर गहरा और स्थायी प्रभाव डालती हैं। कामायनी की प्रमुख घटनाएं हैं : स्वार्थपूर्ण अहंकार का पराभव, पुरुष और नारी का प्रथम मिलन, नारी का सर्वस्व-समर्पण, पुरुष और नारी के प्रणयपूर्ण संसर्ग से संसृति-विकास, पुरुष की अबाधित अधिकार-भावना—उसके लिए बुद्धि-बल से भौतिक संघर्ष और अधिकार-क्षेत्र का प्रसार, अतिचार एवं कुंठा, बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने का उद्दाम प्रयत्न और उसके परिणामस्वरूप मानव-चेतना की पूर्ण विफलता, इस विफलता के मूल कारण की अवगति, और अन्त में सामरस्य तथा उसके फलस्वरूप पूर्णानन्द की सिद्धि। मानव के अधिमानसिक जीवन में इन सभी घटनाओं का महत्त्व अक्षुण्ण है। विश्व में होने वाली प्रबल घटनाएं, नाश और निर्माण के समस्त दृश्य, भौतिक संघर्ष और विकास के विभिन्न रूप इन्हीं घटनाओं के प्रतिबिम्ब हैं। अवचेतन मनोजगत् के उद्घाटन और तत्सम्बन्धी अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया है कि भौतिक जगत् का विराट् घटना-चक्र मानव-चेतना के अतल गह्वरों में होने वाले घटना-चक्र की छाया-मात्र है। कामायनी के कवि ने इस रहस्य को समझा है और वर्तमान युग की वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग करते हुए अपने महाकाव्य में इसका प्रतिफलन किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि कामायनी की घटनाओं में निश्चय ही महाकाव्योचित प्रबलता और आयाम है; किन्तु यह प्रबलता और आयाम आधिभौतिक अर्थात् बाह्य एवं ऐहिक नहीं हैं—चेतनागत तथा आध्यात्मिक हैं।

उपर्युक्त स्थापना का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि कामायनी की घटनाओं में भौतिक जगत् की सघनता का सर्वत्र अभाव है। जहां कथा का विकास मूर्त जगत् की पृष्ठभूमि में होता है, वहां परम्परागत महाकाव्य की घटनाओं की सघनता एवं विस्तार भी यथावत् विद्यमान है। उदाहरण के लिए आरम्भिक सर्ग से देव-दम्भ और प्रलय के वर्णन अथवा 'संघर्ष' सर्ग से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सारस्वत नगर के वैभव के बीच प्रजा के साथ मनु के द्वन्द्व का चित्रण प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी कामायनी के कथानक की गरिमा इन प्रसंगों में उतनी नहीं है जितनी कि मनु (मानव) के अहंकार के विस्तार में अथवा बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने के लिए मानव-चेतना के निर्बाध प्रयास में, अथवा आत्मा की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक त्रिलोक के दर्शन से मानव-चेतना द्वारा सामरस्य की सिद्धि में। वाह्य दृष्टि से देखने पर ये घटनाएं अपनी अमूर्तता के कारण अनाकर्षक प्रतीत होती हैं, किन्तु वर्तमान युग में जिस प्रकार मानव-चेतना बुद्धि पर अबाध अधिकार प्राप्त करने का दुर्दम प्रयास कर रही है, उसे देखते हुए इससे प्रबलतर घटना की कल्पना करना सम्भव नहीं है।

सामासिक रूप से विचार करने पर भी कामायनी के कथानक में अपूर्व आयाम है। वह केवल एक महापुरुष की जीवन-गाथा नहीं है, एक राजवंश का वृत्तवर्णन-मात्र नहीं है, एक युग या राष्ट्र की कथा नहीं है; वह तो सम्पूर्ण मानवता के विकास की गाथा है—अथ से इति तक। अन्य महाकाव्य जहां मानव-सभ्यता के खंड-चित्र प्रस्तुत कर रह जाते हैं, वहां कामायनीकार ने उसका समग्र चित्र प्रस्तुत करने का साहसपूर्ण प्रयास किया है। यह प्रयास पूर्ण नहीं हुआ, किन्तु इसका परिधि-विस्तार इतना अधिक है कि अपनी अपूर्णता में भी यह अद्भुत है—असामान्य है।

उदात्त कार्य

कामायनी का कार्य है भाववृत्ति, कर्मवृत्ति तथा ज्ञानवृत्ति के सामंजस्य द्वारा समरसता और उसके फलस्वरूप आनन्द की सिद्धि। कवि ने इस कार्य की सिद्धि के लिए त्रिलोक के प्रतीक की उद्भावना कर अत्यन्त कौशलपूर्वक उसे दिगन्त विस्तार प्रदान कर दिया है। आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है इच्छा, क्रिया और ज्ञान की विशृंखलता। मानव-चेतना के इतिहास में जब-जब इन तीनों में असामंजस्य हुआ है, जीवन-विकास अवरुद्ध हो गया है—संसार में अराजकता और अशान्ति फैल गई है। आज के भौतिक जीवन का भी सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि हमारे धर्म और संस्कृति की दिशा एक है, राजनीति की दूसरी और विज्ञान की तीसरी—क्रमशः भाव, क्रिया और ज्ञान के ये प्रतिरूप एक-दूसरे से असम्बद्ध हैं। इसका परिणाम है वर्तमान अशान्ति—जो वास्तविक युद्ध अथवा शीत युद्ध आदि के रूप में व्यक्त हो रही है। इस भीषण समस्या का समाधान है—मानवता के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए जीवन की इन तीनों प्रवृत्तियों में ऐकात्म्य स्थापित करना। ज्योंही मानव-कल्याण को लक्ष्य बनाकर हमारी संस्कृति, हमारी राजनीति और हमारा विज्ञान एकान्वित हो जाएंगे, तुरन्त ही इस युग की विषम समस्या का समाधान हो जाएगा। इस प्रकार कामायनी में वर्तमान के आधार-फलक पर प्रसाद ने मानव-जीवन की उस मूल समस्या का चिरंतन समाधान प्रस्तुत किया है जो सामयिक होकर भी शाश्वत है। सामयिक तथा सार्वकालिक और एकदेशीय तथा सर्वदेशीय का यह एकीकरण महाकाव्य का प्रधान लक्षण है और इस लक्षण का निर्वाह जिस भव्य रूप में कामायनी के अन्तर्गत हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं। इस प्रकार कामायनी का कार्य सर्वथा उदात्त है। ऐसी गरिमा और ऐसा विराट् आयाम और किस महाकाव्य के कार्य में है?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उदात्त भाव

कामायनी का मूलवर्ती भाव अथवा महाभाव भी, जिसे काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'अंगी रस' कहा गया है, अपने प्रतिपाद्य के अनुरूप ही है। जिस प्रकार कामायनी का कथानक जीवन को अखण्डता में ग्रहण करता है और जिस प्रकार कामायनी का प्रतिपाद्य जीवन की एकांगी सिद्धि न होकर सर्वांगीण सिद्धि ही है, इसी प्रकार कामायनी का अंगी रस भी एकांगी शान्त या शृंगार नहीं है, वरन् अखंड आत्मरस है। इसी को महारस या आनन्दरस कहा गया है।

उदात्त चरित्र

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए और धीरोदात्त के लक्षण हैं महासत्त्व, अतिगम्भीर क्षमावान्, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ़-अहंकारवान् और दृढ़व्रत। इन लक्षणों के आधार पर स्पष्टतः मनु धीरोदात्त नायक सिद्ध नहीं होते। धीरोदात्त नायक के व्यक्तित्व का निर्माण जहां मानव-सभ्यता की अत्यन्त विकसित स्थिति में ही सम्भव है, वहां मनु का व्यक्तित्व-विकास मानव-चेतना के विकास का प्रतीक है। मनोविज्ञान तथा विकासवाद (जिनको प्रसाद ने आधार-रूप में ग्रहण किया है)—दोनों के ही अनुसार आदि-पुरुष मनु का चरित्र पूर्ण विकसित रूप में अंकित नहीं किया जा सकता था। सहज मानव-चेतना का प्रतीक होने के नाते मनु का चरित्र विकासशील है; शैव-दर्शन की शब्दावली में वह पाशव या आणव स्थिति से आरम्भ होकर शाम्भव स्थिति को प्राप्त करता है। नायक के चरित्र का यह विकास कामायनी के प्रतिपाद्य के अनुरूप ही नहीं है वरन् उसके लिए अनिवार्य भी है—धीरोदात्त गुणों से समन्वित विकसित चरित्र की संगति न कामायनी के कथानक के साथ बैठ सकती है और न उसके प्रतिपाद्य के साथ ही। इसलिए, मनु की दुर्बलताओं का उल्लेख कर जो कामायनी की दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हैं, वे कामायनी के स्वरूप तथा लक्ष्य दोनों के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण मनु अहंकार, स्वार्थ, इन्द्रिय-लिप्सा, अस्थिरता आदि अनगढ़ मानव-चेतना की हीनतर प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो सकते थे; किन्तु क्रमशः इन दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर वे पूर्ण समरस मानवत्व, आध्यात्मिक शब्दावली में शिवत्व, की सिद्धि करते हैं जहां वे धीरोदात्त स्थिति से भी ऊपर उठ जाते हैं।

एक पुरुष का प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष और उस पर विजय का महान् प्रयास!—मनु के चरित्र-चित्रण का एक रूप यह भी हो सकता था, जो परम्परागत महाकाव्य के अनुरूप होता। आचार्य शुक्ल प्रजापति मनु का चरित्र-विकास इसी रूप में देखना चाहते थे, इसीलिए कामायनी में उसका अभाव देखकर उनका मन खिन्न हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से मनु का वह विराट् व्यक्तित्व-विकास निश्चय ही बड़ा आकर्षक होता; किन्तु कामायनी का कवि तो अपने कथानक तथा प्रतिपाद्य की विशेष परिस्थितियों से विवश था, अतः उसके लिए यह पद्धति ग्रहण करना सम्भव ही नहीं था। अन्तर्मुख कथानक के नायक का व्यक्तित्व-प्रसार देश-काल के विस्तार में सम्भव नहीं था; इसीलिए चाणक्य, स्कन्दगुप्त आदि धीरोदात्त चरित्रों की सफल सर्जना करने के उपरान्त भी प्रसाद शुक्लजी की उस विराट् कल्पना-मूर्ति का अंकन नहीं कर सके। यह भव्य चित्र उनकी कल्पना में उभरा ही न हो, ऐसा नहीं है। इस शंका को निर्मूल करने के लिए कामायनी की आरम्भिक पंक्तियों का उद्धरण पर्याप्त होगा:

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छांह;
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।

(चिन्ता : पृ० ३)

प्रकृति के सार्वभौम आधार-फलक पर एक पुरुष के रूप में मनु की यह प्रतिष्ठा उसी विराट् कल्पना की ओर संकेत करती है; किन्तु स्पष्ट है कि उपर्युक्त कारणों से कवि उसे मूर्त-रूप नहीं दे सका।

श्रद्धा का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल है। सात्त्विक गुणों से पूर्ण विश्व-मंगल-भावना की प्रतीक श्रद्धा का व्यक्तित्व विकास की अपेक्षा नहीं करता; क्योंकि स्पष्टतः श्रद्धा, मनु की भाँति, अनगढ़ मानव-चेतना का उसके समग्र रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करती। मनु के व्यक्तित्व में जहां मानव-चेतना की हीनतर और उच्चतर दोनों ही प्रवृत्तियों का मिश्रण अनिवार्य था, वहां श्रद्धा केवल उच्चतर प्रवृत्तियों अर्थात् दया, माया, ममता, मधुरिमा और विश्वास आदि ऐसी प्रवृत्तियों का ही प्रतिनिधित्व करती है जो मानव-चेतना को पूर्णत्व, दार्शनिक शब्दावली में पूर्ण शिवत्व, प्राप्त करने में सहायता देती हैं। इस प्रकार श्रद्धा के चरित्रांकन में वह बाधा नहीं रही जो मनु के प्रसंग में थी; अतः उसमें परम्परागत महाकाव्योचित औज्ज्वल्य एवं गरिमा का ही अद्भुत समावेश हो गया है। यही इड़ा के विषय में भी सत्य है। उसके व्यक्तित्व में भी वांछित ऐश्वर्य एवं गरिमा है। किन्तु श्रद्धा और इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ का द्योतन भी करती हैं; स्वभावतः उनकी प्रतीकता के कारण चारित्रिक रूपरेखा में वैसी दृढ़ता और मूर्त सघनता नहीं आ सकी, जैसी कि पाश्चात्य महाकाव्यों के चरित्रों में मिलती है।

उदात्त शैली

कामायनी की शैली सर्वत्र ही एक अपूर्व लोकोत्तर स्तर पर अवस्थित रहती है। उसमें क्षुद्रता का एकान्त अभाव है; प्रयत्न करने पर सम्पूर्ण काव्य में एकाध अपवाद ही मिलेगा। पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य की शैली का प्रमुख गुण माना है, असाधारणता। कामायनी की शैली में इस गुण का प्राचुर्य प्रायः दोष की सीमा तक पहुँच गया है। यहां सामान्य प्रसंगों में भी शैली का स्तर प्रायः असामान्य ही रहता है; और जहां कवि सामान्य धरातल पर उतरने का प्रयत्न करता है, वहीं शैली का स्वरूप विकृत हो जाता है। फलतः उसमें अद्भुत ऐश्वर्य एवं अलंकार-विलास है, लक्षणा-व्यंजना का विचित्र चमत्कार है। कल्पना तथा भावना के अपूर्व वैभव के कारण इस शैली में मूर्त-विधान एवं बिम्ब-योजना की अद्भुत समृद्धि मिलती है। कामायनी की भाषा सर्वत्र ही चित्रभाषा एवं प्रतीक भाषा है जिसमें तत्सम तथा सचित्र, ससन्दर्भ शब्दावली का मुक्त प्रयोग हुआ है। भाषा और अभिव्यंजना के इन असाधारण गुणों के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

फलस्वरूप कामायनी की शैली सामान्य से सर्वथा भिन्न हो गई है।

शैली की असाधारणता के प्रति आग्रह के कारण ही कामायनी की शैली में इतिवृत्त-वर्णन का एकान्त अभाव है। कवि ने अत्यन्त सचेष्ट रूप से मनन, चिन्तन, संवाद, स्वगत, स्वप्न, दृश्य-विधान आदि के द्वारा कथा का विकास किया है। इतिवृत्त-शैली के प्रति प्रसाद के मन में एक विचित्र वितृष्णा रही है। कामायनी में कथा का स्तर कल्पना-विलास, दार्शनिक गरिमा और रागात्मक ऐश्वर्य के कारण सामान्य से इतना भिन्न रहा है कि वृत्त-वर्णन की ऋजुता इस समृद्धि को वहन नहीं कर सकती थी।

भारतीय काव्यशास्त्र में, व्यंजना से, महाकाव्य की शैली को नानावर्णन-क्षमा माना गया है। कामायनी की शैली में यह गुण स्पष्टतः विद्यमान है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और उदात्त-से-उदात्त मनःस्थिति का अंकन करने में पूर्णतः समर्थ है। सुन्दर और विराट्, मधुर और भयानक आदि के वर्णन में उसकी समान गति है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य की शैली के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह विस्तारगर्भा हो, मूर्त, सघन एवं प्रबल हो; उसमें दुर्दम नद-प्रवाह हो। ये गुण वास्तव में ऐहिक कथा-प्रधान महाकाव्यों की शैली में मिलते हैं। कामायनी में भी जहाँ भौतिक घटनाओं की प्रधानता है, इन गुणों का सम्यक् प्रयोग है—जैसे प्रलय-वर्णन, संघर्ष आदि में; मनु के अहंकार आदि की अभिव्यंजना में ओज गुण का भी उचित समावेश है। किन्तु शैली के अधिकांश कलेवर में सघनता आदि गुणों का निर्वाह सम्भव नहीं हुआ। क्योंकि कथा-वस्तु अन्तर्मुख है, बहिर्मुख नहीं है, इसलिए मूर्त घटनाओं और दृश्यों के संकुल वर्णन से शैली में जो एक प्रकार का सहज घनत्व एवं नद-प्रवाह उत्पन्न हो जाता है, वह यहां नहीं मिल सकता। इसी अन्तर्मुखता के कारण कामायनी की शैली में प्रगीत-तत्त्व स्थान-स्थान पर उभर आता है। सामान्यतः यह महाकाव्य का दोष है, किन्तु यहां तो विधान ही अन्तरंग है और घटनाओं की विकास-भूमि मानव-चेतना है, इसलिए प्रगीत-तत्त्व यहां बाधक न होकर साधक ही हुआ है।

समग्रतः कामायनी की शैली निश्चय ही भव्य है। कवि की प्रतिभा ने एक विराट् शून्य को कल्पना और भावना के ऐश्वर्य से जगमग कर दिया है।

निष्कर्ष

कामायनी का महाकाव्यत्व असंदिग्ध है। परम्परा का नितान्त निर्वाह प्रसाद के स्वभाव के विपरीत था, अतः कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र—दोनों में से किसी एक के भी लक्षणों का पूर्ण निर्वाह खोजना व्यर्थ होगा। फिर भी महाकाव्य के प्रायः सभी महत्तत्त्व कामायनी में स्पष्टतः विद्यमान हैं—केवल एक ही दोष है : वह है कार्य-व्यापार का अभाव जिसके परिणामस्वरूप कथा में वांछित भौतिक विस्तार नहीं आ सका। चूंकि कामायनी का वस्तु-विकास बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है, वह मानव-चेतना के विकास की कथा है जो मनु के जीवन-विकास के माध्यम से कही गई है, अतः साधारणीकरण के लिए यहां कवि ने रूपक की भावमय पद्धति ग्रहण की है जिसके द्वारा मनु मानव-चेतना के प्रतिनिधि बन जाते हैं। इस प्रकार परम्परागत महाकाव्य, ऐहिक-जीवन-प्रधान महाकाव्य की कोटि में कामायनी नहीं आती। वह ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं है, मानव-चेतना का महाकाव्य है—अतः रूपक-तत्त्व जो सामान्यतः महाकाव्य में बाधक होता है, यहां साधक बनकर आया है, इसलिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रगीत-तत्त्व भी यहां बाधक न होकर साधक ही हुआ है। मानव-चेतना के विकास का यह महाकाव्य अथवा मानव-सभ्यता के विकास का यह विराट्रूपक साहित्य के इतिहास में एक नवीन प्रयोग है—एक अद्‌भुत उपलब्धि है। इसी रूप में यह परम्परा से भिन्न है—रूपक और महाकाव्य के समन्वय के कारण—कथा के अन्तर्मुख विकास के कारण !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कामायनी का अंगी रस

यद्यपि संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रस्तुत प्रसंग में थोड़ा मतभेद है, फिर भी आचार्यों का बहुमत इसी पक्ष में रहा है कि महाकाव्य के अन्तर्गत, जहां प्रायः सभी रसों का समावेश होता है, उनमें से कोई एक प्रमुख रस अंगी रूप में विद्यमान रहता है। स्थिति स्पष्ट है—जीवन के वैविध्य एवं सर्वांग-चित्रण के कारण महाकाव्य में स्वभावतः ही विभिन्न रसों का वर्णन अनिवार्यतः रहता है; और यह भी स्वाभाविक ही है कि उनमें एक प्रकार का तारतम्य तथा अंगांगित्व हो। जिस प्रकार अनेक कथाओं के रहते हुए एक कथा की आधिकारिकता अनिवार्य है, अथवा यह कहना चाहिए कि घटना-बाहुल्य के रहते हुए भी समस्त कथा-विधान की एक घटना में परिणति अनिवार्य है और अनेक पात्रों के समारोह में एक पात्र की नायकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार अनेक रसों के मिश्रण में एक रस की अंगिता भी स्वयं-सिद्ध है। विरोधियों का तर्क यह है कि रस तो उसी का नाम है जो स्वयं चमत्कार-रूप है। यदि उसकी स्व-चमत्कार रूप में विश्रान्ति नहीं होती है, तो वह रस ही नहीं है। अंगांगी भाव अथवा उपकार्य-उपकारक भाव मानने में तो अंगभूत या उपकारक रस की स्व-चमत्कार में विश्रान्ति नहीं हो सकती है, अतः वह रस नहीं कहला सकता है। रस वह तभी होगा, जब स्व-चमत्कार में ही उसकी विश्रान्ति हो जाय। उस दशा में वह किसी दूसरे का अंग नहीं हो सकता है। इसीलिए रसों में अंगांगी भाव संभव नहीं है।—(हिंदी-ध्वन्यालोक, पृ० ३२०)। किन्तु ये विद्वान् भी अनेक-रस-सम्पन्न प्रबंध-काव्य में तारतम्य का निषेध नहीं कर सकते और तारतम्य की स्वीकृति के उपरान्त प्रकारान्तर से अंगांगी भाव की स्वीकृति भी अनिवार्य हो जाती है, अन्यथा घटना और प्रभाव की अन्विति का निषेध होता है। वास्तव में ये विरोधी आचार्य भी रसों के स्थान पर स्थायी भावों का प्रत्यक्ष रूप से, और रसों का परम्परा या लक्षणा से, अंगांगित्व स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिए आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त आदि शास्त्र-नायकों ने पारिभाषिक तर्कों और शब्दों के फेर में न पड़कर स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि महाकाव्य में एक रस अंगी रूप से प्रधानतया व्याप्त रहता है और शेष संचारी रूप से अंगभूत होकर उसका पोषण करते हैं।[1] उनकी इस स्थापना का आधार है भरत का निम्न श्लोक—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्‌बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः॥

(भ० ना०, ७-१२०)

---

१. प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः·········॥ (ध्वन्यालोक, ३।२१)
अर्थात्, प्रबन्ध-काव्यों में नाना रसों का समावेश प्रसिद्ध होने पर भी उनमें से एक रस का अंगी रूप में नियोजन करना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अर्थात् महाकाव्य में एकत्र अनेक रसों में से जो बहु, अर्थात् अधिक या प्रधानरूप से विद्यमान रहता है, वह रस स्थायी या अंगी और शेष रस संचारी या अंगभूत होते हैं। अभिनवगुप्त ने इसी संदर्भ में एक प्राचीन आचार्य भागुरि मुनि का उल्लेख किया है जो रसों में अंगांगी भाव के समर्थक थे—"तथा च भागुरिरपि, किं रसानामपि स्थायीसंचारितास्तीति आक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद् बाढमिति।"

अंगी रस के लक्षण

१. उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार अंगी रस का लक्षण है—बहुव्याप्ति।[1] महाकाव्य में अभिव्यक्त नाना रसों में जो रस कथानक के कलेवर में सर्वाधिक व्याप्त हो, वही अंगी रस है। महाकाव्य के रस-विधान में उसकी स्थिति वही होती है जो रस-परिपाक में स्थायी भाव की। जिस प्रकार रस के परिपाक में संचारी भाव उन्मग्न और निमग्न होकर स्थायी भाव का पोषण करते हैं, उसी प्रकार महाकाव्य में अन्य अंगभूत रस अंगी रस को समृद्ध करते हैं।

२. इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त शास्त्रीय लक्षण अत्यन्त प्रामाणिक है, किन्तु अनिश्चय की स्थिति में कभी-कभी रस-निर्णय के लिए यह पर्याप्त नहीं होता। इसलिए कुछ सहायक लक्षणों की भी आवश्यकता पड़ जाती है। एक सहायक लक्षण तो यह हो सकता है कि अंगी रस में मुख्य पात्र की—पुरुष अथवा नारी, जो भी कथा का नयन करे, उसकी—मूल वृत्ति का प्रतिफलन रहता है। तत्त्व-रूप में प्रबन्ध-काव्य का सम्पूर्ण विस्तार नायक की जीवन-साधना का ही प्रसार-रूप होता है। जिस प्रकार जीवन-साधना के दो पक्ष हैं—कर्म और भाव, इसी प्रकार कथानक के भी दो पक्ष हैं—घटना और भाव; और इन दोनों पक्षों का संचालन करती है नायक के चरित्र की मूल वृत्ति। यही मूल वृत्ति कर्म-पक्ष में चरम घटना और फलागम का निर्धारण करती है और भाव-पक्ष में मूल भाव या अंगी रस का।

३. इसी तर्क-परम्परा के अनुसार अंगी रस का तीसरा लक्षण यह बनता है कि अंगी रस मूल उद्देश्य या फलागम का आस्वाद-रूप होता है; या दूसरे शब्दों में, सारभूत प्रभाव का अभिव्यंजक होता है। वास्तव में जैसा कि प्रसादजी ने आचार्य शुक्ल द्वारा निम्नतर रस-कोटि की स्थापना के विरोध में लिखा है, फल का निर्णय अन्वय और व्यतिरेक दोनों पद्धतियों से फलयोग के आधार पर ही होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी सारभूत प्रभाव को निर्णायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। सम्पूर्ण महाकाव्य का भावन करने के उपरान्त जिस स्थायी मनःस्थिति का निर्माण होता है, काव्यास्वाद की दृष्टि से वही प्रमुख है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने काव्यास्वादन की अन्तिम परिणति इस प्रकार की मनःस्थिति (एटीट्यूड) के रूप में ही मानी है।

कामायनी में अनेक रसों का वर्णन

महाकाव्य होने के कारण कामायनी में स्वभावतः ही जीवन की विविध दशाओं का

---

१. प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसंधीयमानत्वेन स्थायी यो रसः—
(ध्वन्यालोक, ३।२२ वृत्ति)

अर्थात्, प्रबन्धों में प्रथम प्रस्तुत और बार-बार अनुसंहित होने से जो रस स्थायी है......

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वर्णन और उसके परिणामस्वरूप नाना रसों की अभिव्यंजना है। श्रद्धा और मनु के प्रणय-प्रसंगों में श्रृंगार के संयोग-पक्ष का दृप्त वर्णन है। 'स्वप्न' सर्ग में श्रद्धा का विरह और वात्सल्य है, और उधर 'चिन्ता' सर्ग में देवताओं के विलास में भी संयोग-श्रृंगार का उद्दाम चित्रण है जो करुणा का पोषक है। प्रलय के चित्र भयानक रस से आप्लावित हैं। 'संघर्ष' सर्ग के अन्तर्गत मनु और प्रजा के संघर्ष तथा रुद्र-कोप में वीर और रौद्र, मनु द्वारा शिव-ताण्डव के दर्शन तथा 'रहस्य' सर्ग में अद्भुत का परिपाक है; पशु की हत्या के प्रसंग में बीभत्स की झलक है, अनेक स्थलों पर 'चिन्ता' तथा 'निर्वेद' सर्गों में निर्वेदमूलक शान्त है और अन्त में आनन्दपूर्ण सामरस्य में, व्यापक अर्थ में, शान्त की सिद्धि है। बहुव्याप्ति लक्षण के अनुसार स्पष्टतः इनमें से केवल दो ही रस ऐसे रह जाते हैं जिनके अंगित्व की संभावना हो सकती है—श्रृंगार और शान्त, अन्य सभी रस एकदेशीय हैं। किन्तु श्रृंगार और शान्त के विषय में भी कम कठिनाई नहीं है। श्रृंगार के विषय में बाधा यह है कि उसका वर्णन अधिकतर पूर्वार्द्ध में ही है, उत्तरार्द्ध में श्रद्धा के स्वप्न में विप्रलम्भ श्रृंगार की झलक मात्र ही मिलती है और इड़ा के प्रति मनु का प्रणय-निवेदन तो रस की अपेक्षा रसाभास के अधिक निकट पड़ता है। उत्तरार्द्ध में क्रमशः श्रृंगार का तिरोभाव होता जाता है और फलयोग की अवस्था में जो भाव रह जाता है, वह श्रृंगार नहीं है। ऐसी स्थिति में श्रृंगार को अंगी रस मानना सम्भव नहीं है। शान्त का लक्षण संस्कृत-काव्यशास्त्र में दो प्रकार से किया गया है: एक निर्वेदमूलक शान्त और दूसरा शममूलक शान्त। कामायनी के 'चिन्ता' तथा 'निर्वेद' आदि सर्गों में, जहां अनित्य एवं दुःखमय संसार के प्रति मनु की विरक्ति या निर्वेद का वर्णन है, निर्वेदमूलक शान्त है। किन्तु मनु की वह विरक्ति वास्तव में वृद्धावस्था की ही अभिव्यक्ति है—कामायनी के जीवन-दर्शन का वह केवल पूर्वपक्ष है, जिसका प्रयोग व्यतिरेक-पद्धति से आनन्दवाद को सिद्ध करने के लिए किया गया है। अतः निर्वेदमूलक शान्त के अंगित्व की कल्पना कामायनी में असम्भव है। अब रह जाता है शम-मूलक शान्त जिसका लक्षण इस प्रकार है—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता, न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः॥

अर्थात् "जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिन्ता हो, न राग-द्वेष हो और न कोई इच्छा ही शेष हो, उसे मुनि शान्तरस कहते हैं।"

कामायनी की परिसमाप्ति यदि 'रहस्य' सर्ग के अन्त में—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे॥ (रहस्य : पृ० २७३)

के साथ ही हो जाती, तो उपर्युक्त शममूलक शान्त रस की कल्पना संगत होती, किन्तु जिस आग्रह के साथ प्रसाद ने 'रहस्य' सर्ग के उपरान्त माधुर्य-मंडित 'आनन्द' सर्ग की रचना की है, उसके साथ शान्त रस के प्रस्तुत रूप की भी संगति नहीं बैठती—क्योंकि यह रूप भी तो बहुत-कुछ अभावात्मक ही है। संक्षेप में शान्त रस के विषय में काव्यशास्त्र की तीन प्रमुख मान्यताएं हैं—

१. संसार की अनित्यता एवं दुःखमयता से उत्पन्न निर्वेद इसका स्थायी भाव है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(मम्मट : हिंदी-काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर-कृत व्याख्या, पृ० १३८)

२. शम इसका स्थायी भाव है और निर्वेद संचारी। शम का लक्षण है—शमो निरीहावस्थायामानन्दः। स्वात्मविश्रामादिति। अर्थात् "निरीहावस्था में आत्मविश्रान्तिजन्य आनन्द का नाम शम है।" (काव्यप्रदीप, काव्यमाला, तृ० सं०, पृ० ६१)

३. शृंगार इसका विरोधी रस है।

इनमें से (१) और (३) तो स्पष्टतः कामायनी में शान्त रस के अंगित्व के विरुद्ध पड़ते हैं। कामायनी में संसार को अनित्य एवं दुःखमय नहीं, वरन् 'चिति का विराट् वपु मंगल' और 'सत्य, सतत, चिर सुन्दर' माना गया है। इसके अतिरिक्त शृंगार कामायनी का अंगी नहीं तो अत्यन्त प्रमुख रस अवश्य है-—उसका प्रायः सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध शृंगार से परिव्याप्त है और यह शृंगार भी अत्यन्त दृप्त है। ऐसी स्थिति में शान्त का अंगित्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? दूसरी मान्यता वास्तव में काव्यशास्त्र की अपेक्षा दर्शन के अधिक निकट है, वह स्पष्टतः ही अभिनव की दार्शनिक प्रतिपत्तियों से प्रभावित है। आत्मविश्रान्तिजन्य आनन्द शान्त का ही नहीं, रस-मात्र का स्वरूप है। अभिनवगुप्त ने इसी आधार पर शान्त को ही मूल रस माना है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥

(नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, द्वि० सं०, पृ० १०४)

अर्थात्, "अपने-अपने निमित्त कारणों को प्राप्त कर शान्त से ही अन्य भाव आविर्भूत होते हैं और फिर निमित्तों के नष्ट होने पर शान्त में ही विलीन हो जाते हैं।"

यह वस्तुतः शैव रस-कल्पना है जिसका अभिनव के माध्यम से भारतीय काव्यशास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा है। किन्तु इसके अनुसार शान्त नवरस का एक भेद-मात्र न होकर मूल रस है, अन्य तथाकथित रस संचारियों के समान इसी से आविर्भूत होते हैं और अन्ततः इसी में तिरोभूत हो जाते हैं :

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥

(ना० शा०, काव्यमाला, द्वि० सं०, पृ० १०४)

अर्थात् "रति आदिक स्थायी भाव विकार हैं और शान्त मूल प्रकृति है। ये विकार प्रकृति से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाते हैं।"

कहने का अभिप्राय यह है कि काव्यशास्त्र में शान्त रस की कल्पना दो रूपों में की गई है—रस-भेद के रूप में और मूल रस के रूप में। रस-भेद के रूप में निर्वेद और शम दोनों के आधार पर उसका रूप एकांगी और बहुत-कुछ अभावात्मक ही रहता है। तृष्णा-क्षय का सुख भी वास्तव में अभावात्मक ही है, कामायनी में प्रतिपादित शैव-दर्शन की आनन्द-कल्पना को वह अपने में अन्तर्भुक्त नहीं कर सकता। मूल रस के अर्थ में वह शैव-रस-कल्पना का ही प्रतिरूप है जो काव्यशास्त्रीय रूढ़ शान्त रस से भिन्न है।

वस्तुतः कामायनी का अंगी रस यही मूल रस है। प्रसाद की अपनी रस-कल्पना भी सर्वथा इसी के अनुकूल है क्योंकि उसका आधार भी शैवाद्वैत ही है। प्रसाद के रस-विवेचन से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उद्धृत निम्नलिखित वाक्य इसके स्पष्ट प्रमाण हैं—

१. आनन्दवर्धन भी कश्मीर के थे और उन्होंने वहां के आगमानुयायी आनन्द-सिद्धान्त के रस को तार्किक अलंकार मत से सम्बद्ध किया। किन्तु माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हीं की व्याख्या करते हुए अभेदमय आनन्दपथ वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की। नाटकों के स्वरूप तो उनके सिद्धान्त और दार्शनिक पक्ष के अनुकूल ही थे। अभिनवगुप्त ने अपनी 'लोचन' नाम की टीका में स्पष्ट ही लिखा है—

तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रानुसरणेन विदितं तन्त्रालोकग्रन्थे विचारयेत्यास्ताम्।

२. अभिनवगुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्द-सिद्धान्त की अभिनेय काव्य वाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया। शिवसूत्रों में लिखा है—नर्त्तक आत्मा, प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि। इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है। शैवाद्वैत वादियों ने श्रुतियों के आनन्दवाद को नाट्य-गोष्ठियों में प्रचलित रखा था, इसलिए उनके यहां रस का साम्प्रदायिक प्रयोग होता था—विगलितभेदसंस्कारमानन्दरसप्रवाहमयमेव पश्यति (क्षेमराज)। इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है। अभिनवगुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय 'आनन्द रस' को पल्लवित किया।

३. भट्टनायक ने साधारणीकरण से जिस सिद्धान्त की पुष्टि की थी, अभिनवगुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मकतया स्थित रति आदि वृत्तियां ही साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित हो जाने पर आनन्दस्वरूप हो जाती हैं। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है—परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वम् वास्तवस्य रसस्य (लोचन)।

४. वासनात्मक रूप से स्थित रति आदि वृत्तियों में ब्रह्मास्वाद की कल्पना साहित्य में महान् परिवर्तन लेकर उपस्थित हुई। रति आदि कई वृत्तियां स्थायी मानी जा चुकी थीं, किन्तु आलोचक एक आत्मा की खोज में थे। रस को अपनाकर वे कुछ द्विविधा में पड़ गए थे। आनन्दवादियों की यह व्याख्या उन सब शंकाओं का समाधान कर देती थी। उनके यहां कहा गया है—लोकानन्दः समाधिसुखम् (शिवसूत्र १८)। क्षेमराज उसकी टीका में कहते हैं—प्रमातृपदविश्रान्ति अवधानान्तश्चमत्कारमयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधिसुखम्। इस प्रमातृपदविश्रान्ति में जिस चमत्कार या आनन्द का, लोकसंस्था आनन्द के नाम से संकेत किया गया है, वही रस के साधारणीकरण में प्रकाशानन्दमय संवित् विश्राम के रूप में नियोजित था। इन आलोचकों का यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि चित्तवृत्तियों की आत्मानन्द में तल्लीनता समाधिसुख ही है।

५. साहित्य में भी इस दार्शनिक परिभाषा को मान लेने से चित्त की स्थायी वृत्तियों की बहुसंख्या का कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया। सब वृत्तियों का प्रमातृपद, अहम् में विश्रान्ति होना ही पर्याप्त था। अभिनव के आगमाचार्य गुरु उत्पल ने कहा है—

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।

प्रकाश का यहां तात्पर्य है चैतन्य। यह चेतना जब आत्मा में ही विश्रान्ति पा जाय, वही पूर्ण अहंभाव है। साधारणीकरण द्वारा आत्म-चैतन्य का रसानुभूति में, पूर्ण अहंपद में, विश्रान्ति हो जाना ही आगमों की दार्शनिक सीमा है।

६. साहित्यदर्पणकार की रस-व्याख्या में भी उन्हीं लोगों की शब्दावली है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः। इत्यादि

यह रस बुद्धिवादियों के पास गया, तो धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्त्व है। फिर तो चमत्कारापरपर्याय अनुभवसाक्षिक रस को पंडितराज जगन्नाथ ने आगमवादियों की ही तरह 'रसो वै स: रसं ह्येव लब्ध्वानन्दी भवति' के प्रकाश में आनन्द-ब्रह्म ही मान लिया।

(काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, चतुर्थ संस्करण, (पृ० ७५-७७)

उपर्युक्त विवेचन का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. भारतीय काव्यशास्त्र में रस के विषय में दो प्रमुख दृष्टिकोण रहे हैं: एक शैवागम से प्रभावित आनन्दवादी दृष्टिकोण और दूसरा शास्त्र से प्रभावित बुद्धिवादी दृष्टिकोण। आनन्दवर्धन से पंडितराज जगन्नाथ पर्यन्त आचार्यों को प्रसादजी बुद्धिवादी ही मानते हैं।

२. आनन्दवादी आचार्य, जिनमें अभिनव प्रमुख हैं, एक ही अभेदमय आनन्दरस को मूल रस मानते हैं। इनके अनुसार वासना-रूप से स्थित रति आदि सभी वृत्तियां साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित हो जाने पर आनन्दरूप हो जाती हैं। इसीलिए चित्त की स्थायी वृत्तियों और उन पर आश्रित रसों की बहुसंख्या का कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता।

३. चित्तवृत्तियों की आनन्दमयी तल्लीनता ही रस है और वही समाधिसुख है; अतः रस और ब्रह्मास्वाद में मौलिक भेद नहीं है।

४. बुद्धिवादी आचार्यों ने भी रस-तत्त्व की व्याख्या में शैवाद्वैत के इस अभेदमय आनन्द सिद्धान्त को प्रत्यक्ष या परोक्ष या अपरोक्ष रूप से ग्रहण किया है। यद्यपि वे अपनी शास्त्रीय परम्परा के अनुसार बहुरस-कल्पना का मोह नहीं छोड़ सके, फिर भी रस को अखण्ड एवं ब्रह्मास्वाद-सहोदर मानकर नाना रसों में अनुस्यूत आत्मानन्द-रूप एक-रस-कल्पना के बिना उनका काम नहीं चला।

५. कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद की आस्था शैवागम के आनन्द-रस से प्रभावित इसी एकरस-सिद्धान्त में थी। रस के नानात्व के स्थान पर उसकी मौलिक एकता ही तत्त्वतः उन्हें मान्य थी।

इस विश्लेषण के प्रकाश में कामायनी के अंगी रस का निर्णय सरल हो जाता है। कामायनी में अनेक रस हैं, किन्तु वे शैवागम की साम्प्रदायिक शब्दावली में 'आनन्द रस' और अभिनवगुप्त की शास्त्रसम्मत शब्दावली में, तात्त्विक अर्थ में, 'शान्त रस' के विकार-मात्र हैं। अतः कामायनी का अंगी रस आनन्द रस, या व्यापक एवं मौलिक अर्थ में शान्त रस ही है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, अभिनव-प्रतिपादित शान्त शैवागम के आनन्द रस का ही पर्याय है—काव्यशास्त्र में रूढ़ शान्त रस में उसे सीमित करना अभिनव की दार्शनिक पार्श्वभूमिका के विरुद्ध होगा, प्रसाद की चिन्तन-परम्परा के प्रतिकूल होगा और कामायनी के प्रतिपाद्य तथा स्वरूप के भी प्रतिकूल होगा। जिस प्रकार कामायनी के तत्त्व-दर्शन में अभेद-कल्पना का आग्रह है, उसी प्रकार उसके रस-दर्शन में भी। ऐसी स्थिति में, काव्यशास्त्र के रूढ़ अर्थ में, कोई एक रस-भेद, चाहे वह पूर्वार्द्ध का श्रृंगार हो या उत्तरार्द्ध का शान्त, अंगी-रस-पद का अधिकारी नहीं हो सकता।

इस प्रकार आनन्द रस या व्यापक शान्त रस को अंगी रस मान लेने पर सभी समस्याओं का समाधान सहज हो जाता है। इस रस का स्वरूप इतना व्यापक और परिपूर्ण है कि इसमें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शान्त और शृंगार का विरोध नहीं है; वस्तुतः शृंगार और शान्त इसकी दो कोटियां हैं। स्वयं प्रसाद के शब्दों में, "शैवागम के आनन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनों सीमाओं, शृंगार और शान्त, को स्पर्श करते थे। भरत ने कहा है—

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥

यह शान्त रस निस्तरंग महोदधि-कल्प समरसता ही है।"

(काव्य-और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ७८)

कामायनी के पूर्वार्द्ध में शृंगार और उत्तरार्द्ध में शान्त के प्राधान्य का यही रहस्य है। पूर्वार्द्ध के उद्दाम शृंगार का उत्तरार्द्ध के शान्त में निलय सामान्य काव्यशास्त्रीय अर्थ में सम्भव नहीं है, क्योंकि शृंगार शान्त का विरोधी रस है: शान्तस्तु वीर शृंगाररौद्रहास्यभयानकैः (साहित्यदर्पण, ३।२४६ फ) अर्थात् शान्त का वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक से विरोध है। पर यहां तो शृंगार और शान्त दोनों परस्पर-विरोधी न होकर सामरस्य-रूप आनन्द या शान्त रस की दो सीमाएं हैं।

अंगी रस के सभी लक्षण इस रस पर नैसर्गिक रीति से घटित हो जाते हैं। कामायनी में यही रस सर्वव्याप्त है— शृंगार आदि सभी रस इसी के विकार हैं और अन्ततः इसी में लीन हो जाते हैं। कामायनी की प्रमुख पात्र है श्रद्धा—जो अभेद-रूप विश्वासमयी रागात्मिका प्रवृत्ति की प्रतीक है। उसकी मूल प्रवृत्ति सामरस्यमयी ही है—उसका सम्पूर्ण जीवन 'भेद में अभेद की साधना के लिए' समर्पित है। कामायनी के नायक मनु फलागम के रूप में इसी सामरस्य का भोग करते हैं। और अन्त में, सारभूत प्रभाव के रूप में, पाठक भी इसी को ग्रहण करता है—अर्थात् कामायनी का सारभूत प्रभाव शृंगारमय तो है नहीं, शान्तिमय भी नहीं है। कामायनी की अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं—

समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था। (आनन्द: पृ० २९४)

वास्तव में काव्य के संदर्भ में रस का ग्रहण दो रूपों में किया जाता है—एक विषयगत रूप में और दूसरे सहृदयगत रूप में। विषयगत रूप से अभिप्राय है कवि-निबद्ध विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोग का; सहृदयगत रूप से अभिप्राय है सहृदय के आस्वाद का—और ये दोनों रूप निश्चय ही परस्पर-सम्बद्ध हैं। कामायनी के अंगी रस के प्रसंग में भी ये दोनों रूप ही हमारे सामने आते हैं। विषयगत रूप में कवि-निबद्ध विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और स्थायी प्रधानतः अभेदमय सामरस्य से ही सम्बद्ध हैं। सहृदयगत रूप में प्रमाता भी अन्ततः इसी सामरस्य का आस्वादन करता है। किन्तु यहां शंका होती है कि सामरस्य तो आध्यात्मिक सिद्धि है, समरस आत्मा ही उसका आस्वादन कर सकती है—रागद्वेष में लिप्त जनसामान्य के लिए वह कैसे सम्भव है? इसका उत्तर दर्शन और (काव्य) मनोविज्ञान दोनों के प्रकाश में दिया जा सकता है। शैव दर्शन एवं भारतीय रस-सिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याता अभिनवगुप्त तथा कामायनी के रचयिता प्रसाद की दार्शनिक चिन्तन-परम्परा के अनुसार रसास्वाद की अवस्था में प्रमाता वीतविघ्न होकर जिस आत्मविश्रान्ति का भोग करता है वह सामरस्य ही तो है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रस-दशा निश्चय ही अभेदमय सामरस्य की दशा है, चाहे वह क्षणिक ही क्यों न हो। दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली को हटा दिया जाय तो यह धारणा सामान्य अनुभव से बहुत दूर नहीं पड़ती; क्योंकि आधुनिक आलोचनाशास्त्र भी यह मानता है कि रसास्वाद की स्थिति में प्रमाता का चित्त राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। शुक्लजी ने जिसे 'हृदय की मुक्तावस्था' और आई० ए० रिचर्ड्स ने जिसे 'मनोवृत्तियों का समीकरण' कहा है, वह मनःस्थिति कुछ इसी प्रकार की है; यद्यपि उसमें आनन्द के उद्रेक पर इतना बल नहीं दिया गया। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है: काव्य का आस्वादन प्रत्यक्ष भावास्वाद से भिन्न है। जिस प्रकार प्रमाता शृंगार रस के आस्वाद में रति-भाव के प्रत्यक्ष रूप का नहीं वरन् उसके कल्पनात्मक रूप का अनुभव करता है, उसी प्रकार कामायनी का रसानुभव भी वह सामरस्य के प्रत्यक्ष अनुभव के रूप में नहीं वरन् कल्पनात्मक रूप में ही करता है।

अतः कामायनी का अंगी रस भारतीय रस-सिद्धान्त का आधारभूत आनन्द रस ही है जिसका दूसरा नाम मौलिक अर्थ में शान्त भी है। यही कामायनी के वस्तु-विधान, प्रतिपाद्य तथा रूप-विधान के अनुकूल है। यही प्रसाद के काव्य-दर्शन के अनुकूल है, जिसके अनुसार काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अभिव्यक्ति का नाम है—शृंगार, शान्त आदि काव्यशास्त्रीय रस-विकल्पों की अपेक्षा संकल्पात्मक आनन्द रस की ही संगति उपर्युक्त काव्य-लक्षण के साथ ठीक बैठती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कामायनी में रूपक-तत्त्व

कामायनी के रूपक-तत्त्व की व्याख्या करने से पूर्व दो प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है—

१. रूपक से क्या अभिप्राय है ? और, २. कामायनी रूपक है भी या नहीं ?

रूपक के हमारे साहित्यशास्त्र में दो अर्थ हैं। एक तो साधारणतः समस्त दृश्य-काव्य को रूपक कहते हैं; दूसरे रूपक एक साम्यमूलक अलंकार का नाम है जिसमें अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद आरोप रहता है। इन दोनों से भिन्न रूपक का तीसरा अर्थ भी है जो अपेक्षाकृत अधुनातन अर्थ है और इस नवीन अर्थ में रूपक अंगरेज़ी के 'एलिगरी' का पर्याय है। 'एलिगरी' एक प्रकार के कथा-रूपक को कहते हैं। इस प्रकार की रचना में प्रायः एक द्वयर्थक कथा होती है जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ़ होता है। हमारे यहां इस प्रकार की रचना को प्रायः 'अन्योक्ति' कहा जाता था। जायसी के 'पद्मावत' के लिए आचार्य शुक्ल ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। रूपक के इस नवीन अर्थ में वास्तव में संस्कृत के रूपक और अन्योक्ति दोनों अलंकारों का योग है। इसमें जहां एक ओर साधारण अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ—गूढ़ार्थ—रहता है, वहां अप्रस्तुत अर्थ का प्रस्तुत अर्थ पर श्लेष, साम्य आदि के आधार पर अभेद आरोप भी रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रूपक अलंकार में जहां प्रायः एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद आरोप होता है, वहां कथा-रूपक में एक कथा का दूसरी पर अभेद आरोप होता है। वहां भी एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रहती है। प्रस्तुत कथा स्थूल, भौतिक घटनामयी होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म-सैद्धान्तिक होती है। यह सैद्धान्तिक कथा दार्शनिक, नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है, परन्तु इसका अस्तित्व मूर्त नहीं होता। वह प्रायः प्रस्तुत कथा का अन्य अर्थ ही होता है जो उससे ध्वनित होता है; किसी प्रबन्ध-काव्य की प्रासंगिक कथा की भाँति जुड़ा हुआ नहीं होता।

इस प्रकार, इस विशिष्ट अर्थ में रूपक से तात्पर्य एक ऐसी द्वयर्थक कथा से है जिसमें उससे ध्वनित किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुतार्थ अथवा अन्यार्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अभेद आरोप रहता है।

अतएव, 'क्या कामायनी रूपक है ?'—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह देखना है कि क्या कामायनी की कथा में प्रस्तुतार्थ के साथ किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुतार्थ की अन्तर्धारा भी वर्तमान है। इस प्रश्न के उत्तर का संकेत प्रसादजी ने स्वयं कामायनी के आमुख में दिया है :

"आर्य-साहित्य में मानवों के आदि-पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है'''इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है। × ×

"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।

× ×

"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।.........
इन सभी के आधार पर कामायनी की सृष्टि हुई है।"

इसका अभिप्राय यह है कि कामायनी को कवि ने मूलतः एक ऐतिहासिक काव्य के रूप में ही लिखा है; परन्तु इसकी कथा में रूपक की सम्भावनाएं निहित हैं और यदि इसे रूपक भी मान लिया जाय तो कवि को वह अस्वीकार्य नहीं होगा। अर्थात् मूलरूप से नहीं तो गौणरूप से कामायनी में रूपक-तत्त्व निश्चय ही वर्तमान है। कामायनी के पात्रों का प्रतीकमय सांकेतिक व्यक्तित्व तथा उसकी मुख्य घटनाओं का श्लेष-गर्भित गूढ़ार्थ दोनों ही इस मत की पुष्टि करते हैं। अतएव कामायनी में रूपक-तत्त्व की स्थिति के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। वह निश्चय ही है, और काफ़ी स्पष्ट है।

कामायनी की व्यक्त कथा में आदिम पुरुष मनु और उसकी सहचरी आदिम नारी श्रद्धा के संयोग से मानव-सृष्टि के विकास का वर्णन है। अहंकार की क्लेशमयी स्थिति से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक—मनोमय कोश से आनन्दमय कोश तक जीव का विकास—उसका अप्रस्तुत पक्ष है। कथा का प्रस्तुत पक्ष ऐतिहासिक-पौराणिक है और अप्रस्तुत पक्ष मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक है; और इस प्रकार दोनों पक्षों में निकट सम्बन्ध है जो इस कथा की एक विशेषता है—अन्यथा रूपकों में साधारणतः इस तरह का निकट सम्बन्ध रहता नहीं है।

पहले पात्रों को लीजिए। कामायनी के प्रमुख पात्र हैं—मनु, श्रद्धा और इड़ा। इनके अतिरिक्त अन्य पात्र हैं—मनु-श्रद्धा का पुत्र कुमार तथा असुर-पुरोहित आकुलि और किलात। काम और लज्जा अशरीरी पात्र हैं; वे मूलतः ही सांकेतिक हैं। मनु, जैसा कि स्वयं प्रसादजी ने लिखा है, मन का—मनोमय कोश में स्थित जीव का—प्रतीक है। एक स्थान पर व्याकरण में मनु और मन को एक-रूप माना गया है। 'मन्यते अनेन इति मनुः'—जिसके द्वारा मनन किया जाए वह मन है; वही मनु है। मन से अभिप्राय यहां चेतना (Consciousness) का है। उसका मूल लक्षण है अहंकार—'मैं हूं' की भावना, जो अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है। कामायनी के मनु के व्यक्तित्व का स्थायी आधार निस्सन्देह यही अहंकार है :

मैं हूं, यह वरदान सदृश क्यों
    लगा गूँजने कानों में;
मैं भी कहने लगा, मैं रहूं
    शाश्वत नभ के गानों में।

(आशा : पृ० २७)

किन्तु सकल कृतियों की सीमा
    हैं हम ही अपनी तो;

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पूरी हो कामना हमारी
विफल प्रयास नहीं तो।
(कर्म : पृ० १३१)

यह जीवन का वरदान मुझे
दे दो रानी अपना दुलार;
केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर सके भार। (ईर्ष्या : पृ० १४८)

× × ×

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूं बन एक तत्त्व। (ईर्ष्या : पृ० १५३)

मननशीलता अर्थात् निरन्तर संकल्प-विकल्प अहंकार के संचारी हैं। उपनिषदों में संकल्प-विकल्प को मन की प्रजा कहा गया है। प्रथम दर्शन के समय हमारा मनु के इसी मननशील, संकल्प-विकल्पमय रूप से साक्षात्कार होता है। मनु के व्यक्तित्व में आदि से अन्त तक भूत-भविष्यत्, स्व-पर, प्रकृति-परमतत्त्व आदि के चिन्तन और तज्जन्य संकल्प-विकल्प का प्राधान्य है।

कामायनी की दूसरी प्रमुख पात्र है श्रद्धा। श्रद्धा, प्रसादजी के अपने शब्दों में, हृदय की प्रतीक है :

श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसुः।
(ऋग्वेद)

कामायनी में स्थान-स्थान पर उसके इस रूप की स्पष्ट प्रतिकृति मिलती है :

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त। (श्रद्धा : पृ० ४६)

वह गन्धर्वों के देश में हृदय-सत्ता का सुन्दर सत्य खोजने के लिए आती है। उसके व्यक्तित्व के मूल तत्त्व हैं एक ओर सहानुभूति, दया, ममता, मधुरिमा, त्याग तथा क्षमा—और दूसरी ओर अगाध विश्वास, उत्साह, प्रेरणा, स्फूर्ति आदि, जो हृदय के कोमल और सबल पक्षों की विभूतियां हैं। शुक्लजी ने इसीलिए श्रद्धा को विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति कहा है। श्रद्धा को काम और रति की पुत्री माना गया है और वह इस संसृति में प्रेम-कला का सन्देश सुनाने के लिए अवतरित हुई है :

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला;
उसका संदेश सुनाने को
संसृति में आयी वह अमला। (काम : पृ० ७६)

तीसरी मुख्य पात्र है इड़ा जो स्पष्टतः बुद्धि की प्रतीक है। प्रसादजी ने व्यक्त रूप से उसके व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक चित्र अंकित किया है :

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल,
······भरी ताल। (इड़ा : पृ० १६८)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उपर्युक्त चित्र में बुद्धि के तर्क, भौतिक ज्ञान-विज्ञान, त्रिगुण आदि सभी तत्त्वों का अवयव-रूप में समावेश कर दिया गया है। वैसे भी उसका चरित्र एकान्त बौद्धिक है। वह हृदय की विभूतियों से वंचित व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा अनुशासित है। जीवन की अखण्डता के स्थान पर वह वर्ग-विभाजन और अभेद के स्थान पर भेद की व्यवस्था करती है।

अब गौण पात्र शेष रह जाते हैं : सबसे पहले श्रद्धा-मनु का पुत्र कुमार आता है। उसका कोई विशेष व्यक्तित्व नहीं है, यहां तक कि उसका नामकरण-संस्कार भी नहीं किया गया। वह नवमानव का प्रतीक है जो अपने पिता से मननशीलता, माता से श्रद्धा अर्थात् हार्दिक गुण और इड़ा से बुद्धि ग्रहण कर पूर्ण मानवत्व को प्राप्त करता है। असुर-पुरोहित आकुलि और किलात आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। ज्यों ही मनु (मन) पाप (हिंसा-यज्ञ) की ओर आकृष्ट होता है, आकुलि-किलात (आसुरी वृत्तियां) उसको दुष्प्रेरणा देने के लिए तुरन्त ही उपस्थित हो जाते हैं और उसे दुष्कर्म में प्रवृत्त करते हैं। फिर, जब मनु के विरुद्ध विद्रोह होता है तो वे ही विद्रोहियों के नेता बनकर सामने आते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि आसुरी वृत्तियां पहले मन को पाप-कर्म में प्रवृत्त करती हैं; फिर जब उसे इसके लिए कष्ट भोगना पड़ता है तो ये आसुरी वृत्तियां उलटे उसके कष्ट में योग देती हैं।

इनके अतिरिक्त देव, श्रद्धा का पशु, वृषभ और सोम-लता के भी निश्चय ही सांकेतिक अर्थ हैं। देव इन्द्रियों के प्रतीक हैं। देवों की निर्बाध आत्मतुष्टि का अर्थ है इन्द्रियों की निर्बाध तुष्टि :

अरी उपेक्षा-भरी अमरते !
री अतृप्ति ! निर्बाध विलास ! (चिन्ता : पृ० १२)

श्रद्धा का पशु भी, जिसका नाम तथा जाति आदि का वर्णन तक नहीं दिया हुआ है, स्पष्टतः एक प्रतीक है। वह सहज जीव-दया, करुणा—आधुनिक अर्थ में अहिंसा—का द्योतक है :

एक माया ! आ रहा था पशु अतिथि के साथ;
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ। (वासना : पृ० ८३)

वृषभ तो भारतीय अनुश्रुति में अनादि काल से ही धर्म का प्रतिनिधि माना जाता रहा है :

था सोमलता से आवृत,
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि। (आनन्द : पृ० २७७)

सोम-लता का सांकेतिक अर्थ है भोग। इस प्रकार सोम-लता से आवृत वृषभ का अर्थ हुआ भोग-संयुत कर्म, जिसका उत्सर्ग करके मानव चिरानन्दलीन हो जाता है।

अब तीन-चार प्रतीक और रह जाते हैं—जल-प्लावन, त्रिलोक और मानसरोवर। जल-प्लावन भारत के ही नहीं, पृथ्वी के इतिहास की अत्यन्त प्राचीन घटना है। हमारे दर्शन-साहित्य में प्रतीक-रूप में ग्रहण कर उसका सांकेतिक अर्थ भी किया गया है। जब मानव अबाध इन्द्रिय-लिप्सा का दास हो जाता है, अर्थात् जब मन, ऊपर विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश की ओर बढ़ने के स्थान पर निम्नतम अन्नमय कोश में ही रम जाता है तो चेतना पूर्णतः उस माया में डूब जाती है।

त्रिलोक में प्राचीन त्रिपुरदाह के रूपक से प्रेरणा ग्रहण की गई है और इसका प्रतीकार्थ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अत्यन्त व्यक्त है। तीन लोक—भावलोक, कर्मलोक तथा ज्ञानलोक चेतना को तोन अंगभूत-प्रवृत्तियों—भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति के प्रतीक हैं। जब तक ये तीनों वृत्तियां पृथक्-पृथक् कार्य करती हैं, मन अशान्त और उद्विग्न रहता है :

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की। (रहस्य : पृ० २७२)

परन्तु जब श्रद्धा के द्वारा इनका समन्वय हो जाता है तो मन समरसता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है :

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे। (रहस्य : पृ० २७३)

मानसरोवर, जिसे शतपथ-ब्राह्मण में मनोरवसर्पण कहा गया है—

तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति

—कैलास शिखर पर वह स्थान है जहां मनु श्रद्धा की सहायता से पहुँचते हैं और अपने मानसिक क्लेश से मुक्ति पाते हैं। यह समरसता की अवस्था है—मानसिक समन्वय की अवस्था, जहां भाव, कर्म और ज्ञान में पूर्ण सामंजस्य हो जाता है।

मानसरोवर या मानस (कामायनी में 'मानस' शब्द का प्रयोग है) इसी समरसता की अवस्था का प्रतीक है। यह मानस कैलास-शिखर पर स्थित है। कैलास पर्वत आनन्दमय कोश का प्रतीक है।

कामायनी की प्रस्तुत कथा में मनु की कैलास-शिखर पर स्थित मानसरोवर यात्रा का वर्णन है जहां पहुँचकर मनु के समस्त क्लेश दूर हो जाते हैं। रूपक को हटाकर, यह मन का समरसता की अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न है जिसके उपरान्त मन के समस्त भौतिक और आध्यात्मिक क्लेश नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्णानन्दलीन हो जाता है। पारिभाषिक शब्दावली में यह मनोमय कोश में स्थित जीव की आनन्दमय कोश में स्थित होने के लिए साधना है। यह आनन्दमय कोश पिण्डाण्डरूप पर्वत का उच्चतम शिखर कैलास है। कामायनी की रचना के समय यह वैदिक रूपक स्पष्टतः प्रसादजी के मन में विद्यमान था।

अपने प्रकृत रूप में मनु एकान्त मननशील तथा अहंकारी हैं। वे अहंकारमय निष्क्रिय चिंतन-मनन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। ज्यों ही काम की प्रेरणा से काम और रति की पुत्री श्रद्धा से मनु का संयोग होता है, उनमें जीवन के प्रति आकर्षण तथा स्फूर्ति का उदय होता है। श्रद्धा के साहचर्य से मनु के अहंकार का सम्मार्जन होता है, वह 'स्व' से 'पर' की ओर बढ़ता है। बीच-बीच में उनका अहंकार उभरता है और आसुरी वृत्तियों के प्रतीक आकुलि-किलात की सहायता से वे पशु-यज्ञ कर सोमरस की प्राप्ति करते हैं। परन्तु श्रद्धा उसका तीव्र विरोध करती है और कम-से-कम कुछ समय के लिए उन्हें उसका अनौचित्य स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है। इस प्रकार जब तक मनु श्रद्धा के प्रभाव में रहते हैं, उनके अहं का संस्कार होता रहता है। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती; मनु का अहंकार फिर प्रबल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हो जाता है—

यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में,
मैं रमण करूं बन एक तत्त्व। (ईर्ष्या : पृ० १५३)

और वे श्रद्धा से विरत होकर फिर अपने में खो जाते हैं। श्रद्धा से विमुख होने पर मनु की वृत्तियां पुनः अस्त-व्यस्त हो जाती हैं और वे जीवन-पथ पर भटकते हुए सारस्वत प्रदेश पहुँचते हैं। सारस्वत प्रदेश जीव के निम्नतर कोश—प्राणमय कोश—का प्रतीक है। यहां उनका साक्षात्कार इड़ा से होता है जो उन्हें बुद्धिवाद की दीक्षा देकर भौतिक जीवन की ओर प्रेरित करती है—

जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर नर किसकी शरण जाय !
... ...
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य-भरी शोधक-विहीन।
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते, बस, बढ़ा चलो अपनी क्षमता।
(इड़ा : पृ० १७१)

इड़ा के प्रभाव में मनु बुद्धि-बल से प्राकृतिक साधनों को एकत्र कर शासन-व्यवस्था करते हैं; कर्म-विभाजन होता है, जीवन में भौतिक संघर्ष का सूत्रपात होता है। मनु इन सबके नियामक हैं, किन्तु मनु का अहंकार इतने से सन्तुष्ट नहीं होता; इड़ा पर भी तो उनका अधिकार होना चाहिए। वे उसके लिए प्रयत्नशील होते हैं, पर यहां उन्हें घोर विफलता होती है। इस अनधिकार चेष्टा से वे रुद्र के कोप-भाजन बनते हैं। एक बार फिर प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है; मनु का विद्रोही प्रजा के साथ युद्ध होता है जिसमें मनु की पराजय होती है।

इसका संकेत-अर्थ यह हुआ कि मन अपने प्रकृत रूप में केवल मननशील तथा अहंकारी है। श्रद्धावान् होकर ही, और श्रद्धा का उदय मन में राग-वृत्ति के प्राधान्य के कारण ही सम्भव है, उसका उचित दिशा में विकास-संस्कार होता है। श्रद्धा विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति का नाम है। 'श्रद्धा-समवेत' मन में अपने प्रति विश्वास और जीवन के प्रति राग का उदय होता है। यों समय-समय पर उसके आसुरी संस्कार निश्चय ही उभरेंगे, उसका सहज भोगवाद ऊपर आयेगा; परन्तु जब तक वह श्रद्धावान् है, तब तक इन पर नियंत्रण रहेगा और उसके अहं का संस्कार होता रहेगा। परन्तु ज्यों ही मन श्रद्धा को त्याग देगा, वह नीचे प्राणमय कोश में पहुँच जायेगा और बुद्धि के चक्र में पड़ जायेगा। बुद्धि व्यवसायात्मिका वृत्ति है; वह उसको संघर्ष की निरन्तर प्रेरणा तो दे सकती है, परन्तु सुख नहीं दे सकती। अहंकार का संस्कार करने के स्थान पर वह उसे और भी उत्तेजित करती है। अन्त में एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि मन बुद्धि पर पूर्ण एकाधिकार करने के लिए लालायित हो उठता है। यहां उसका पूर्ण पराभव होता है और एक प्रकार की मानसिक प्रलय हो जाती है।

इस पराभव के उपरान्त मनु को बड़ी ग्लानि होती है। इतने में ही श्रद्धा के साथ उनका फिर संयोग होता है। श्रद्धा उन्हें ग्लानि और क्लेश का परित्याग कर फिर से कर्मशील होने के लिए उत्साहित करती है। इसी बीच में उसका साक्षात्कार इड़ा से होता है। वह पहले तो अति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बुद्धिवादी होने के लिए इड़ा की भर्त्सना करती है, अन्त में उसे क्षमा कर अपने पुत्र कुमार को उसे सौंप देती है और आप मनु को साथ लेकर चल देती है। मनु और श्रद्धा दोनों हिमालय के शिखरों पर चढ़ते-चढ़ते एक ऐसे स्थान पर पहुँचते हैं जहां से त्रिदिक् विश्व के तीन पृथक् ज्योतिष्पिण्ड उन्हें दिखायी पड़ते हैं। श्रद्धा मनु को इनका रहस्य समझाती है—"ये तीन ज्योतिष्पिण्ड भाव-लोक, कर्म-लोक और ज्ञान-लोक हैं। इनके पार्थक्य के कारण ही संसार में विडम्बना फैली हुई है।" ऐसा कहते-कहते श्रद्धा की मुसकान ज्योति-रेखा बनकर इन तीनों लोकों में दौड़ जाती है। तीनों लोक मिलकर एक हो जाते हैं; और बस, फिर मनु के मन के क्लेश और विश्व की सारी विडम्बनाओं का अन्त हो जाता है। श्रद्धायुत मनु पूर्ण आनन्दलीन हो जाते हैं।

इसका प्रतीकार्थ इस प्रकार है—सुखवाद और बुद्धिवाद के अतिचार के फलस्वरूप मन का पूर्णत. पराभूत होना स्वाभाविक ही था। इससे मन को भयंकर ग्लानि और निर्वेद होता है और वह फिर जीवन से पलायन करता है। इस स्थिति से श्रद्धा-संयुक्त मन फिर उचित दिशा की ओर विकासशील होता है और एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहां उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। श्रद्धा की प्रेरणा से उसे अपने पराभव का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। वह अनुभव करता है कि उसकी विडम्बनाओं का एकमात्र रहस्य यह है कि उसकी तीनों मूल वृत्तियों में सामंजस्य नहीं है। उसकी भाव-वृत्ति, ज्ञान-वृत्ति और कर्मवृत्ति ((to feel, to know, to will) तीनों ही एक-दूसरे से पृथक् रहकर क्रियाशील हैं। ज्योंही श्रद्धा के द्वारा इन तीनों का पूर्ण सामंजस्य हो जाता है, मन समरसता की अवस्था प्राप्त कर पूर्णानन्द में लीन हो जाता है। यह आनन्द शैव योगी का आत्मानन्द है जो अपने भीतर आत्म-साक्षात्कार द्वारा प्राप्त होता है; सगुण भक्त का आनन्द नहीं है जो चराचर में व्याप्त प्रभु के दर्शन कर प्राप्त होता है। श्रद्धा द्वारा अपने पुत्र कुमार का इड़ा को सौंपना भी इसी सामंजस्य का प्रतीक है। मनु और श्रद्धा का आत्मज होने के कारण मानव जन्मत: मननशीलता और श्रद्धा से युक्त है। इड़ा का निरीक्षण उसके बुद्धि-तत्त्व को भी परिपक्व कर मानवत्व को पूर्ण कर देता है।

साधारणत: कथा का अन्त यहीं होना चाहिए था, परन्तु इस प्रकार इड़ा, कुमार और सारस्वत-प्रदेशवासियों की कहानी अधूरी ही रह जाती। अतएव उसके पर्यवसानरूप में इड़ा, कुमार और सारस्वत-प्रदेशवासियों के भी मानसरोवर जाने का वर्णन किया गया है, जहां वे सोम-लता से मंडित वृषभ का उत्सर्ग कर मनु से सामरस्य की दीक्षा लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मूल कथा से इस प्रसंग का सहज सम्बन्ध नहीं है, परन्तु संकेत-अर्थ इसका भी सर्वथा स्पष्ट है और वह यह है कि समष्टि-रूप में भी मानव-जीवन की परिणति आनन्द में ही है। सोम-लता अर्थात् भोग और वृषभ अर्थात् धर्म (कर्म) का उत्सर्ग कर समरस मानव चिरानन्द-मग्न हो जाता है।

इस प्रकार कामायनी निस्सन्देह ही रूपक है। प्रसादजी ने कथा के मूल तत्त्वों को ऐतिहासिक मानते हुए उनके आधार पर ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना का उपक्रम किया था। किन्तु कथा का सांकेतिक रूप उनके मन में आरम्भ से अन्त तक वर्तमान था और मन के विकास का प्राचीन वैदिक रूपक उनको वैसे भी अत्यन्त प्रिय था।

परन्तु प्रसादजी ने इसे सर्वथा प्राचीन रूप में ही ग्रहण नहीं किया। आधुनिक देश-काल का प्रभाव भी उन पर अत्यन्त व्यक्त है। मनु के जीवन की विडम्बना आधुनिक जीवन की विडम्बना है। इस विडम्बना का मूल कारण यह है कि आज हमारी भाव-वृत्ति अर्थात् संस्कृति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिसमें धर्म, नैतिकता और कला-साहित्य आदि आते हैं, कर्म-वृत्ति अर्थात् राजनीति जिसके अंतर्गत आर्थिक व्यावस्था आदि भी समाविष्ट हैं और ज्ञान-वृत्ति अर्थात् दर्शन-विज्ञान, तीनों एक-दूसरे से पृथक् हैं। उनमें सामंजस्य न होने से जीवन आन्तरिक और बाह्य संघर्षों और विषमताओं से आक्रान्त है। व्यक्तिवादी मनु आधुनिक जीवन के व्यक्तिपरक भौतिक सुखवाद का प्रतीक है जिसका व्यक्त रूप पूंजीवाद में मिलता है। वह इड़ा अर्थात् विज्ञान की सहायता से जीवन के सम्पूर्ण सुखों को अपने में केन्द्रित करने का असफल प्रयत्न करता है। अन्त में वह अनुभव करता है कि श्रद्धा के बिना जीवन की विडम्बना का अन्त नहीं। यह श्रद्धा अर्थात् रागात्मिका वृत्ति गांधीजी की अहिंसा और पाश्चात्य दार्शनिकों की मानव-भावना की पर्याय है। आज इसी मानव-भावना की प्रेरणा से ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया अथवा संस्कृति, विज्ञान और राजनीति में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। जब इन तीनों के पीछे मानव-भावना की सद्प्रेरणा रहेगी तो इनका समन्वय स्वतः ही हो जाएगा। आज के पूंजीवाद से पीड़ित समाज की विडम्बनाओं का समाधान यही मानववाद है जिसका भौतिक रूप समाजवाद और आध्यात्मिक रूप गांधीवाद है।

आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के आचार्यों ने भी आज की विषमताओं का यही समाधान बताया है। उनका निदान यह है कि इस युग का मानव अनेक प्रकार के सामाजिक-ऐतिहासिक तथा व्यक्त-अव्यक्त कारणों से स्वरति की भावना से आक्रान्त है। स्वरति भयंकर रोग है जिसके कारण उसका मानसिक स्वास्थ्य सर्वथा नष्ट हो गया है। मानसिक स्वास्थ्य मन की भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति के समन्वय का नाम है। इसलिए मानसिक स्वास्थ्य के नष्ट होने का अर्थ यह है कि ये तीनों वृत्तियां पृथक् दिशाओं में क्रियाएं कर रही हैं। इस सामंजस्य को पुनः प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि रति-भावना को 'स्व' से निकालकर 'पर' की ओर प्रेरित किया जाए। यह उन्नयन-प्रक्रिया है, इसके पूर्ण हो जाने पर मन समरसता की अवस्था (Mental equilibrium) को प्राप्त कर लेता है। आज मानव-जीवन की समस्या का यही समाधान है।

एक प्रश्न और रह जाता है—यह रूपक कहां तक संगत है? जहां तक मूल कथा का सम्बन्ध है, रूपक सामान्यतः संगत और स्पष्ट है; उसमें कोई विशेष सैद्धांतिक असंगति नहीं है। हां, कथा के सूक्ष्म अवयवों में संगति पूरी तरह नहीं बैठती। जब मनु मानव-मन अथवा मनोमय कोश में स्थित जीव का प्रतीक है तो उसके पुत्र कुमार को नव मानव का प्रतिनिधि मानकर भी संगति नहीं बैठती; क्योंकि इस तरह पिता-पुत्र में लगभग एक ही प्रतीकार्थ की पुनरावृत्ति हो जाती है। प्रसादजी ने इस असंगति का अनुभव किया था, इसलिए आनन्द-लोक की यात्रा पर जाने से पूर्व श्रद्धा कुमार को छोड़ जाती है। इसी प्रकार सारस्वत-प्रदेशवासियों के साथ इड़ा और कुमार का चिरानन्दलीन मनु के पास वृषभ आदि का उत्सर्ग करने के लिए जाना भी अप्रस्तुतार्थ में एक पैबंद-जैसा ही है। इसकी सफ़ाई में दो कारण दिये जा सकते हैं। एक कारण तो यह है कि प्रस्तुत कथा को पूरी तरह अप्रस्तुतार्थ से जकड़ देना ठीक नहीं है। आखिर प्रस्तुत कथा को थोड़ा-सा तो स्वतंत्र अवकाश देना ही चाहिए। दूसरा यह है कि कामायनी की कथा का विकास ही असंगतियों से भरा हुआ है; उसमें ही काफ़ी जोड़ लगे हुए हैं। अतएव उपर्युक्त असंगतियों का सम्बन्ध बहुत-कुछ कथा की असंगतियों से भी है। इनके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने दो तात्त्विक असंगतियों की ओर संकेत किया है। एक तो यह कि जब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इड़ा की प्रेरणा से ही मनु कर्म-विस्तार करते हैं अर्थात् जब बुद्धि ही कर्म-व्यापार का कारण है, तो ज्ञान-लोक से पृथक् कर्म-लोक का अस्तित्व किस प्रकार संगत हो सकता है ? दूसरे, रति और काम की दुहिता तथा मानव-करुणा, सहानुभूति आदि की समानार्थी होने के कारण श्रद्धा की स्थिति शुद्ध भाव की स्थिति है; उसका अस्तित्व एकान्त भावात्मक है। ऐसी परिस्थिति में उसकी स्थिति भावलोक से ही नहीं, वरन् भाव, कर्म, ज्ञान तीनों से परे कैसे हो सकती है। इनमें से पहली आपत्ति तो अधिक संगत नहीं है । वैसे तो मानव-मन इतना जटिल है कि उसकी सभी वृत्तियां परस्पर अनुस्यूत और गुम्फित हैं; फिर भी दर्शन तथा मनोविज्ञान में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का भेद तो सर्वथा स्वीकृत है ही । भारतीय दर्शन में भक्ति, ज्ञान और कर्म-मार्ग का पृथक् विवेचन प्रायः आरम्भ से ही होता आया है । इसलिए कर्म के पीछे बुद्धि की प्रेरणा होने का यह अभिप्राय नहीं है कि इन दोनों में कोई तत्त्वगत पार्थक्य ही नहीं है ।

श्रद्धा-विषयक आपत्ति अधिक गम्भीर है। साधारण दृष्टि से निस्संदेह ही श्रद्धा एक भाव है और भाव, ज्ञान और क्रिया के पृथक् वर्णन के समय भाव से भिन्न उसका अस्तित्व वास्तव में समझ में नहीं आता । परन्तु प्रसादजी ने कामायनी की सम्पूर्ण कथा की धुरी श्रद्धा को ही बनाया है। श्रद्धा का अर्थ है—आस्तिक बुद्धि (भावना)—आस्तिकबुद्धिः इति श्रद्धा। आस्तिकता का अर्थ है—अस्तित्व में सहज आस्था; इस प्रकार आस्तिक-भावना जीवन की एकान्त मूलगत भावना है । इसी के द्वारा जीवन का संचालन होता है । प्रसादजी ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद की श्रद्धा में राग-तत्त्व की अत्यन्त प्रधानता है, परन्तु यह तो स्वाभाविक है । अस्तित्व में सहज आस्था स्वभावतः ही राग-प्रधान होनी चाहिए; जीवन के प्रति सहज आस्था निस्सन्देह ही रागमयी होनी चाहिए । परन्तु फिर भी तत्त्व-रूप में श्रद्धा कोरी भावुकता नहीं है; आस्तिक बुद्धि की पर्याय होने के कारण उसमें अस्तित्व की तीनों अभिव्यक्तियों—इच्छा, ज्ञान, क्रिया की स्थिति है। प्रसादजी ने भी श्रद्धा को कोरी भावुकता के प्रतीक-रूप में चित्रित नहीं किया, वह वास्तव में जीवन की प्रेरणा की प्रतीक है। इसके विपरीत, भाव-लोक कोरी भावुकता—इच्छा की रंगीन क्रीड़ाओं— का प्रतीक है; और स्पष्ट शब्दों में, भाव-लोक केवल इच्छा का प्रतीक है तथा श्रद्धा जीवन के अस्तित्व में आस्था अर्थात् विश्वास-युक्त जीवनेच्छा है :

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल।
× × ×
तप नहीं केवल जीवन सत्य,
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा,
सो रहा आशा का आह्लाद।
× × ×
एक तुम यह विस्तृत भू-खंड
प्रकृति-वैभव से भरा अमन्द;

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कर्म का भोग, भोग का कर्म,
यही जड़ का चेतन आनन्द।
(श्रद्धा : पृ० ५३; ५५; ५६)

पूर्व तथा पश्चिम के धर्म-शास्त्रों तथा दर्शनों में भी श्रद्धा की यही स्थिति स्वीकार की गयी है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी के लिए श्रद्धा (फ़ेथ) को आधारभूत वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है; उसके बिना मोक्ष (परमानन्द) की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार श्रद्धा की स्थिति वही है जो युंग-प्रतिपादित जीवन-चेतना की, जिसे कि उन्होंने जीवन की मूलभूत वृत्ति माना है। स्वभावतः ही वह रागवृत्ति (लिबिडो) से अधिक व्यापक है।

इसके अतिरिक्त वस्तु-रचना की दृष्टि से भी श्रद्धा की स्थिति का तीनों से स्वतन्त्र होना आवश्यक था। कामायनी की कथा का कार्य है त्रिपुर का एकीकरण, जिसके उपरान्त मनु को आनन्द-लोक की प्राप्ति होती है अर्थात् कथावस्तु के उद्देश्य की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अप्रस्तुत कथा का कार्य है भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति का समन्वय। इसके उपरान्त ही मन समरसता की स्थिति प्राप्त कर चिरानन्द-लीन हो जाता है और कथा का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। वस्तु-कौशल की दृष्टि से यह कार्य मुख्य पात्र के द्वारा ही सम्पादित होना चाहिए और मुख्य पात्र स्पष्टतः कामायनी अर्थात् श्रद्धा है। इस प्रकार शुक्लजी की इस दूसरी गम्भीर आपत्ति का भी निराकरण असम्भव नहीं है; और इसमें सन्देह नहीं, प्रसादजी ने श्रद्धा की मनोवैज्ञानिक स्थिति की इन संगति-असंगतियों पर पूर्णतः विचार करने के उपरान्त ही उसको यह रूप दिया था। शुक्लजी द्वारा उठायी गयी शंका उनके मन में न उठी हो, यह बात नहीं मानी जा सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि

इस प्रश्न पर अनुगम और निगमन दोनों विधियों से विचार किया जा सकता है। अनुगम-विधि के अनुसार पहले कामायनी के मूल प्रतिपाद्य का निर्णय और विवेचन करना होगा और फिर दर्शनशास्त्र की शब्दावली में उसका स्वरूप-निरूपण। निगमन-विधि से पहले बहि:साक्ष्य आदि के द्वारा कामायनी के मूलभूत दर्शन का निर्णय करना चाहिए और फिर उसके आधार पर कामायनी के प्रतिपाद्य का विश्लेषण। स्वभावतः इन दोनों में अनुगम-विधि ही अधिक मान्य है; क्योंकि निगमन विधि में जहां 'कागद-लेखी' का आश्रय अधिक रहता है, वहां अनुगम-विधि 'आंखिन-देखी' का ही विश्वास करती है। अनुगम-विधि के पक्ष में एक दूसरा तर्क भी दिया जा सकता है। काव्य का दर्शन, शास्त्र के दर्शन से भिन्न होता है। शास्त्र में दर्शन के तत्त्व तर्कगम्य और विचारसिद्ध होते हैं, किन्तु काव्य में उन्हें अनुभूति का विषय बनना पड़ता है। शास्त्र के दर्शन में हेतु-निगमन-दृष्टान्त की एक दृढ़ शृंखला विद्यमान रहती है जिसके आधार पर प्रतिपादित दर्शन का व्यवस्थित विधान सहज ही प्रस्तुत किया जा सकता है; किन्तु काव्य में, इसके विपरीत, अनुभव और कल्पना का प्राचुर्य होने के कारण इस प्रकार की तार्किक व्यवस्था सम्भव नहीं है—इसलिए किसी नियमित शास्त्रीय विधान की आशा भी नहीं की जा सकती। अतः काव्यगत दर्शन का निर्धारण करने में निगमन-विधि का विश्वास अधिक नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें पूर्व-निश्चित सिद्धान्तों के आरोपण या उनके अनुरूप विषय के अनुकूलन की आशंका रहती है। प्रत्येक महाकवि द्रष्टा तो अनिवार्यतः होता है और दार्शनिक भी प्रायः होता है, किन्तु शास्त्रकार नहीं हो सकता; क्योंकि शास्त्र और काव्य की तो प्रकृति ही मूलतः भिन्न है। इसी कारण जहां-कहीं भी कवि ने शास्त्र-निरूपण का प्रयत्न किया है, वहीं उसका कवित्व बाधित हो गया है; और जहां-कहीं आलोचक ने किसी कवि में नियमित शास्त्रीय विधान का अनुसन्धान करने की चेष्टा की है, वहीं उसकी विवेचना वस्तुपरक न रहकर आरोपित हो गयी है। काव्य का दर्शन वास्तव में भावित और व्यंजित ही हो सकता है—निरूपण और विवेचन के लिए काव्य में स्थान नहीं है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि उसका स्वरूप-निर्धारण करने के लिए निगमन-विधि अधिक उपादेय नहीं हो सकती।

अतः कामायनी की दार्शनिक भूमिका का निरूपण करने के लिए अनुगम-विधि का अवलम्बन ही अधिक श्रेयस्कर रहेगा और उसकी पहली आवश्यकता है कामायनी के प्रतिपाद्य का अनुसन्धान।

कामायनी का प्रतिपाद्य : आनन्दवाद

कामायनी की प्रमुख घटना है मनु की मानसरोवर-यात्रा, जिसका प्रतीकार्थ है मानव-मन की आनन्द-साधना। कामायनी के नायक का चरम प्राप्य है आनन्द—तदनुसार कामायनी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में निहित जीवन-दर्शन का चरम साध्य हुआ आनन्द और कामायनी का मूल प्रतिपाद्य हुआ आनन्दवाद। यह तर्क एकदम सीधा है, अतः इस विषय में विवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता। किन्तु आनन्द के स्वरूप के विषय में मतभेद हो सकता है, क्योंकि आनन्द की प्रतिष्ठा तो अनेक दर्शनों में हुई है जिन्होंने अपने-अपने सिद्धान्त के प्रकाश में आनन्द का स्वरूप-विवेचन किया है।

कामायनी में आनन्द के जिस रूप की प्रतिष्ठा है, वह स्पष्टतः आत्मस्थ है। वह अन्तर्मुख आनन्द या आत्मानन्द है—बाह्य, गोचर विश्व-रूप में प्रसरित आनन्द नहीं है। विश्व में माधुर्य का जो संचार दृष्टिगत होता है, वह उसकी ही प्रतिच्छाया-मात्र है (आनन्द-सर्ग)। इच्छा, क्रिया और ज्ञान के सामंजस्य से सम्पन्न मनःस्थिति इसकी भूमिका है, दूसरे शब्दों में यह आनन्द सामरस्य का पर्याय है :

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे। (रहस्य : पृ० २७३)

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था। (आनन्द : पृ० २९४)

इसकी सिद्धि श्रद्धा के द्वारा होती है, इड़ा प्राप्ति में बाधक होती है। अर्थात् आस्तिक बुद्धि या अभेद भावना इस आनन्द की साधक है और भेद-कल्पना बाधक।

यह आनन्द स्पष्टतः औपनिषदिक परम्परा से प्रभावित शैवाद्वैत-प्रतिपादित अभेदमय आत्मास्वाद है जिसमें आत्म और परमात्म के ही नहीं, वरन् आत्म और जगत् के भी पूर्ण ऐक्य की भावना निहित है। इस अखण्ड आत्मानुभूति में द्वयता के लिए कोई स्थान नहीं है—विश्व की बाह्य द्वयता, दुःख और सुख की, जड़ और चेतन की, इस सामरस्य में अन्तर्लीन हो जाती है :

सब भेद-भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे ! 'यह मैं हूं'
यह विश्व नीड़ बन जाता। (आनन्द : पृ० २८९)

यही शैवाद्वैत में प्रतिपादित अहम् और इदम् की अभेद-स्थिति है; परमशिव की चौथी शक्ति 'ईश्वर-तत्त्व' में 'इदमहम्' के द्वारा इसी की अनुभूति होती है।

यहां यह शंका हो सकती है कि मनु की दुःखमूलक उक्तियों का सामंजस्य इस आनन्दवाद के साथ कैसे स्थापित किया जा सकता है ? उदाहरणार्थ—

(१) विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते, बस, चुप कर दे। (चिंता : पृ० ६)

(२) मृत्यु अरी ! चिर निद्रे !
तेरा अंक हिमानी-सा शीतल ! (चिंता : पृ० १८)

(३) जीवन-निशीथ के अन्धकार ! (इड़ा : पृ० १५९, पद १)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसका उत्तर है कि यह कामायनी का पूर्व-पक्ष है, सिद्धांत-पक्ष नहीं। उपर्युक्त उक्तियां मनु की आवृत अवस्था—पाशव अवस्था की द्योतक हैं, शुद्धावस्था की नहीं। अतः अन्वय-व्यतिरेक से ये आनन्दवाद की प्रतिष्ठा में ही सहायक हैं क्योंकि दुःख की यह स्वीकृति सामंजस्य के अभाव और विषमता से प्रेरित है। सामरस्य की अवस्था में दुःख की स्थिति आत्मा के लीलाभिनय-रूप जीवन में विदूषक से अधिक नहीं रहती, जो कुछ क्षणों के लिए परिहासपूर्ण अभिनय कर अन्त में लुप्त हो जाता है :

सुख सहचर दुःख विदूषक,
परिहासपूर्ण कर अभिनय;
सबकी विस्मृति के पट में,
छिप बैठा था अब निर्भय। (आनन्द : पृ० २९३)

यह आनन्द अद्वैतजन्य है; किन्तु यह अद्वैत वेदांत-प्रतिपादित अद्वैत नहीं है, शैवाद्वैत ही है जो शिव को, मोक्ष को और संसार को भी पूर्णानन्दमय मानता है—जिसके अनुसार कहीं अशिव या निरानन्द के दर्शन नहीं होते :

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम्।
यत्र तत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित्॥

अतः यह सर्वथा निर्विवाद है कि कामायनी का आधारभूत दर्शन शैवाद्वैत—काश्मीरी शैवदर्शन—प्रत्यभिज्ञादर्शन ही है। कामायनी में प्रतिपादित आत्मा, जीव, जगत् आदि के स्वरूप से, उसमें प्रयुक्त प्रचुर पारिभाषिक शब्दावली से और बाह्य साक्ष्य के आधार पर इस स्थापना की सहज ही पुष्टि हो जाती है।

आत्मा का स्वरूप

कामायनी में आत्मा के लिए चिति, महाचिति, चेतना आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और उसे विश्व-प्रपंच का मूल तत्त्व माना गया है :

(१) कर रही लीलामय आनन्द
'महाचिति' सजग हुई-सी व्यक्त;
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त। (श्रद्धा : पृ० ५३)

(२) 'चिति' का विराट वपु मंगल,
यह सत्य, सतत, चिर-सुन्दर ! (आनन्द : पृ० २८८)

(३) 'चेतनता' एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था। (आनन्द : पृ० २९४)

यही परम तत्त्व है—यही परम शिव है, जो अपनी इच्छा से विश्व का लीलामय विस्तार करता है—

काम मंगल से मंडित श्रेय,
सर्ग इच्छा का है परिणाम। (श्रद्धा : पृ० ५३)
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

यह शिव-रूप आत्मतत्त्व अपनी अविच्छिन्न शक्ति से संयुक्त है, इस प्रकार यह वेदान्त के ब्रह्म से भिन्न स्वप्रकाशानन्द है। अन्ततः मनु इसी आत्मरूप को प्राप्त करते हैं :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चिरमिलित प्रकृति से पुलकित,
वह चेतन पुरुष पुरातन;
निज शक्ति-तरंगायित था
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन। (आनन्द : पृ० २८६)

मनु शिव-रूप हो जाते हैं और श्रद्धा शक्ति-रूप। शैव-दर्शन की भाँति कामायनी में भी शिव और शक्ति की प्रकल्पना आनन्द-सागर और उसकी तरंगावली के रूप में की गयी है—

आनन्दसागरः शम्भुः तच्छक्तिर्द्रव उच्यते। (बोधसार)

जीव

स्पष्टतः कामायनी में जीव या पुरुष के प्रतीक मनु हैं। मनु आरम्भ में चिन्ताग्रस्त हैं; जीवन में प्रविष्ट होकर क्रमशः उनमें जीवन की अनित्यता, घोर अकर्मण्यता, परिस्थिति की परवशता, परिमित भोग-भावना (स्वार्थ), अपने और पराये की भेद-बुद्धि, अपनी कर्तृत्वशक्ति का मिथ्याभिमान आदि दोषों का विकास होता है। इस प्रकार वे निरानन्द हो जाते हैं। उपर्युक्त चरित्र-दोष शैव दर्शन की शब्दावली में काल, कला, नियति, राग और विद्या आदि कंचुकों की प्रकल्पना से प्रभावित हैं, इसमें सन्देह नहीं। 'इड़ा' सर्ग में "संकुचित असीम अमोघ शक्ति !" —पद में काम का अभिशाप इस तथ्य का, स्पष्टतः पारिभाषिक शब्दावली में ही, उद्घाटन करता है।

शुद्ध रूप	लक्षण	कंचुक	अशुद्ध रूप
शिव	चित् (नित्यत्व)	काल	अनित्यता (समय)
शक्ति	आनन्द-स्वातन्त्र्य या व्यापकता	नियति	परतन्त्रता या देश
सदाशिव	इच्छा (पूर्णत्व)	राग	अपूर्ण अहंता
ईश्वर	ज्ञान (सर्वज्ञत्व)	विद्या	सीमित ज्ञान
सद्विद्या	क्रिया (सर्वकर्तृत्व)	कला	किंचित्कर्तृत्व

(थयोस बर्नार्ड की 'हिन्दू फ़िलॉसफ़ी' के आधार पर, पृ० १४१)

यह आत्मा की बद्धावस्था अर्थात् पशुस्थिति है, जब वह तीन मलों और छह कंचुकों से आवृत हो जाता है। कामायनी के पूर्वार्ध में मनु को इसी रूप में अंकित किया गया है—'निर्वेद' सर्ग तक आणव स्थिति (भेद-बुद्धि का प्राधान्य), निर्वेद से रहस्य-सर्ग तक शाक्त स्थिति (भेद और अभेद दोनों का प्राधान्य) और तदुपरांत शांभव स्थिति (केवल अभेद-भावना) को प्राप्त करते हैं जहां जीव की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को पार कर वे चतुर्थावस्था—तुरीयावस्था—में पहुँच जाते हैं। इसके उपरांत तुरीयातीत अवस्था है—पूर्ण शिवत्व की।

जगत्

कामायनी के पूर्वार्ध में जगत् की असत्यता, दुःखमयता आदि के विषय में मनु के अनेक उद्गार प्राप्त होते हैं। परन्तु जैसा कि हमने अभी स्पष्ट किया, वे मनु की आवृत अवस्था के द्योतक हैं, अतः वे सिद्धांत-पक्ष के अन्तर्गत नहीं आते। श्रद्धा-सर्ग में पहली बार प्रस्तुत विषय का सिद्धांत-कथन है। विषादग्रस्त मनु का यह विचार था कि जीवन जड़ता की राशि है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निराशा ही इसका परिणाम है; दीन जीवन का संगीत निरंतर तिमिर के गर्भ में बढ़ता जा रहा है (पृ० ४६)। किन्तु श्रद्धा इसका निराकरण करती हुई आत्म-विश्वास के साथ उत्तर देती है :

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त;
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।
काम मंगल से मंडित श्रेय,
सर्ग इच्छा का है परिणाम। (श्रद्धा : पृ० ५३)

कामायनी के वस्तु-विधान से यह स्पष्ट है कि मनु का पक्ष पूर्व-पक्ष है और श्रद्धा का पक्ष आरम्भ से ही उत्तर-पक्ष या सिद्धांत-पक्ष रहा है—मनु प्रश्न हैं और श्रद्धा उत्तर :

एक था यदि प्रश्न, तो उत्तर द्वितीय उदार। (वासना : पृ० ८१)

अत: श्रद्धा के शब्दों में कामायनी के जगत्-संबंधी विचारों की प्रथम प्रामाणिक अभिव्यक्ति है : अर्थात् यह संसार महाचिति की लीलामयी अभिव्यक्ति है—अतएव मूलत: ही यह मंगलमय, श्रेयस्कर और आनन्दमय है; इसके प्रति अनुराग स्वाभाविक है। आणव स्थिति में होने के कारण मनु इस मंगल रहस्य को नहीं समझ पाते और वे जीवन एवं जगत् को निस्सार मानते हुए निरंतर भटकते रहते हैं। परंतु अंत में श्रद्धा के संसर्ग से स्वस्थ, स्थिरचित्त हो जाने पर—पारिभाषिक शब्दावली में शांभव स्थिति में पहुँच जाने पर, वे भी इस सत्य को प्राप्त कर लेते हैं :

अपने दुख-सुख से पुलकित,
यह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल,
यह सत्य, सतत, चिर-सुन्दर। (आनन्द : पृ० २८८)

यही स्पष्टत: शैवाद्वैत में प्रतिपादित विश्व का स्वरूप है जहां उसे शिव का शरीर मानते हुए आनन्दमय घोषित किया गया है :

त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा। (सौंदर्यलहरी)

शैव दर्शन के अनुसार यह विश्व शिव या चिति से अभिन्न है—वही अपनी इच्छा से अभिन्न-रूप में इसका उन्मेष करती है।

चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवद् आभासयति इति सिद्धान्त:।
(अभिनवगुप्त)

संसार-विषयक यह मान्यता शुद्ध शैव-सिद्धांत पर आश्रित है और वेदान्त के अद्वैत से भिन्न है। इसे शैवागमों में आभासवाद, अभेदवाद आदि के नाम से अभिहित किया गया है। इसके अनुसार जगत् का ईश्वर के साथ अभेद या आभास-सम्बन्ध है, कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। इस विश्वप्रपंच के विकास के प्रसंग में शैवमत में शिव से लेकर धरणि-पर्यन्त ३६ तत्त्वों की कल्पना की गयी है। इनमें प्रथम पाँच तो परमेश्वर की शक्ति के विकसित रूप हैं, आगे माया से लेकर नियति तक षट् कंचुक हैं; और अंत में पुरुष से लेकर पंचभूत तक शेष २५ तत्त्व सांख्यादि के समान ही हैं। कामायनी में इन तत्त्वों का अनुसन्धान करना कठिन नहीं है—रहस्य-सर्ग में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनु क्रमशः 'नियति', 'काल' आदि से मुक्त होकर शुद्ध रूप की ओर बढ़ते हैं और आनन्द-सर्ग में प्रथम पाँच तत्वों की ओर भी संकेत मिल जाते हैं। इसी प्रकार भावलोक के वर्णन में पंच ज्ञानेन्द्रियों और तन्मात्राओं का तथा कर्म-लोक के वर्णन में पंच कर्मेन्द्रियों का उल्लेख है और आशा-सर्ग के अंतर्गत सृष्टि के विकास-क्रम में पंचभूत का। इसमें संदेह नहीं कि यह वर्णन व्यवस्थित और क्रमिक नहीं है. किन्तु काव्य के कलेवर में उसकी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती, और जितना हुआ है वह भी कवित्व का मूल्य देकर ही हुआ है।

अन्य प्रमाण

कामायनी में प्रयुक्त प्रचुर पारिभाषिक शब्दावली इस निष्कर्ष को पुष्टि में निश्चयपूर्वक सहायक होती है। कामायनी के प्रायः प्रत्येक सर्ग, विशेषकर उत्तरार्द्ध के 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' आदि सर्गों से, ऐसे अनेक उद्धरणों का संकलन किया जा सकता है जिन पर शैवागमों के सूत्रों की छाप स्पष्ट है। इनमें से कुछ-एक का उल्लेख उपर्युक्त प्रसंगों में हो ही चुका है, उनके अतिरिक्त 'रहस्य' सर्ग में वर्णित त्रिकोण और 'दर्शन' सर्ग में निरूपित शिवताण्डव भी इसी तथ्य का पोषण करते हैं—ये दोनों ही शैव-मत के अत्यन्त प्रसिद्ध प्रतीक हैं।

बहिःसाक्ष्य के अन्तर्गत प्रसाद के अनेक लेखों से प्रमाण दिये जा सकते हैं। 'काव्य और कला,' 'रहस्यवाद' तथा 'रस' आदि लेखों में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की असंदिग्ध स्वीकृति है और उधर 'इरावती' में भी इस का स्वर अत्यन्त मुखर हो गया है—

"जिसकी दुःख ज्वाला में मनुष्य व्याकुल हो जाता है, उस विश्व-चित्त में मंगलमय नटराज-नृत्य का अनुकरण आनन्द की भावना, महाकाल की उपासना का बाह्य स्वरूप है। और साथ ही कला की, सौंदर्य की अभिवृद्धि है, जिससे हम बाह्य विश्व में सौंदर्य-भावना को सजीव रख सके हैं। परन्तु अब हमें फिर से इसके लिए बल और स्फूर्तिदायक प्राचीन आर्य-क्रियाओं का पुनरुद्धार करना होगा। इस बौद्धिक दम्भ के अवसाद को आर्य जाति से हटाने के लिए आनन्द की प्रतिष्ठा करनी होगी। समझे !" (इरावती, च० सं०, पृ० २२)

और अन्त में प्रसाद की अपनी जीवनचर्या भी इसी तथ्य का समर्थन करती है। उनके परिवार में परम्परा से काश्मीरी शैव दर्शन के प्रति आस्था चली आ रही थी और प्रसाद की अपनी निष्ठा भी उसमें सर्वथा अटल एवं बद्धमूल थी। अतः यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि कामायनी का आधारभूत दर्शन आनन्दवादी शैवाद्वैत ही है।

अन्य दर्शनों का प्रभाव

शैवाद्वैत के अतिरिक्त अन्य दर्शनों का भी प्रभाव प्रसाद की चिन्ता-धारा पर सामान्यतः और कामायनी की वैचारिक भूमिका पर विशेष रूप से लक्षित होता है। उदाहरण के लिए, बौद्ध दर्शन के क्षणवाद, शून्यवाद, दुःखवाद और इनसे प्रभावित मध्ययुगीन नियतिवाद आदि की प्रतिध्वनि उनके नाटकों तथा कामायनी में अनेक स्थानों पर मिलती है—

शून्यवाद—

मौन नाश विध्वंस अँधेरा,
शून्य बना जो प्रकट अभाव;
वही सत्य है अरी अमरते,
तुझको यहां कहां अब ठांव ! (चिंता : पृ० १८)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्षणवाद—

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है,
व्यक्त नील घनमाला में;
सौदामिनी-संधि-सा सुन्दर,
क्षण भर रहा उजाला में।

(चिंता : पृ० १९)

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी,
श्रद्धे, वह भी कुछ है;
दो दिन के इस जीवन का तो,
वही चरम सब कुछ है।

(कर्म : पृ० १३०)

देखा क्या तुमने कभी नहीं,
स्वर्गीय सुखों पर प्रलय-नृत्य;
फिर नाश और चिर निद्रा है,
तब इतना क्यों विश्वास सत्य।

(ईर्ष्या : पृ० १४८)

इसी प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक चिन्ताधाराओं के अनेक सिद्धान्त भी कामायनी में प्रतिध्वनित हैं। उदाहरण के लिए, विकासवाद और उसके अंगभूत परिवर्तनवाद[1], परमाणुवाद,[2]

---

१. विश्व एक बन्धनविहीन परिवर्तन तो है;
इसकी गति में रवि-शशि-तारे ये सब जो हैं—
रूप बदलते रहते, वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती।
तरल अग्नि की दौड़ लगी है सब के भीतर,
गल कर बहते हिम-नग-सरिता लीला रचकर
यह स्फुलिंग का नृत्य एक पल आया बीता।
टिकने को कब मिला किसी को यहां सुभीता?

(संघर्ष : पृ० १९०)

२. वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किये;
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिये।
कुंकुम का चूर्ण उड़ाते-से,
मिलने को गले ललकते-से;
अन्तरिक्ष के मधु-उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते-से।
वह आकर्षण, वह मिलन हुआ,
प्रारम्भ माधुरी छाया में;
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी
मतवाली अपनी माया में।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शक्तिस्पर्धावाद[१] आदि। डार्विन के विकासवाद का कामायनी पर गहरा प्रभाव है। मानव-मन के विकास के माध्यम से मानव-सभ्यता के विकास-निरूपण में प्रसाद की कल्पना ने विकासवाद के सिद्धान्तों से प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण की है। सृष्टि के विकास-क्रम में आरम्भ में एक रूपाकारहीन विराट् कुहामंडल की कल्पना और फिर क्रमशः विद्युत्कण और परमाणुओं के संश्लेषण के द्वारा प्रकृति के नाना रूपों की अवतारणा, उधर मनु के मनोविकास में द्वन्द्व की मूल प्रेरणा और मनोविज्ञान में निरूपित, स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर, विभिन्न विकास अवस्थानों की स्वीकृति, 'उत्तम का अस्तित्व' सिद्धान्त के आधार पर कृषि, उद्योग आदि क्रम से भौतिक सभ्यता के विकास का वर्णन, आदि—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से —विकासवाद के सिद्धान्त से प्रभावित हैं। विकासवाद के इसी व्यापक प्रभाव के कारण कवि पन्त ने कामायनी के प्रति यह आक्षेप किया है कि उसका आधारभूत जीवन-दर्शन विकासवाद पर ही समाप्त हो जाता है, आधुनिक जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नहीं दे पाता।[२]

ये सभी विचार और सिद्धान्त अन्वय-व्यतिरेक शैली से शैवाद्वैत के पोषक होकर ही आये हैं। प्रसादजी ने प्रस्तुत सन्दर्भ में सम्भावित शंका का समाधान इस प्रकार किया है : "रस में फलयोग या अन्तिम सन्धि मुख्य है × × × × × बीच व्यापारों से, जो संचारी भावों के प्रतीक हैं, रस को खोजकर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। अन्वय और व्यतिरेक —दोनों प्रकार से वस्तु-निर्देश किया जाता है।" (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—सं० ५, पृ० ८३)। वास्तव में जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, दुःखवाद और क्षणवाद आदि पूर्वपक्ष-मात्र हैं—इनका प्रयोग कामायनी में व्यतिरेक-रूप में हुआ है। उधर विकासवाद और उसके अंगभूत परमाणुवाद आदि वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग अन्वय रूप में हुआ है; क्योंकि जीव और सृष्टि के विकास के ये सिद्धान्त, प्राकृत धरातल पर, शैवाद्वैत-प्रतिपादित आत्म-विकास के पोषक ही हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसाद ने भारतीय चिन्ताधारा के आधारभूत दो मौलिक दर्शनों का विवेचन किया है : एक तरुण आर्यों द्वारा गृहीत आत्मवाद जिसकी पूर्ण प्रतिष्ठा शैव आनन्द-

---

प्रत्येक नाश विश्लेषण भी,
संश्लिष्ट हुए बन सृष्टि रही;
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था,
मादक मरंद की वृष्टि रही।

(काम : पृ० ७२-७३)

१. यह नीड़ मनोहर कृतियों का,
यह विश्व कर्म-रंगस्थल है;
है परम्परा लग रही यहां
ठहरा जिसमें जितना बल है।

(काम : पृ० ७५)

स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें, वे रह जावें।
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।। (संघर्ष : पृ० १६२)

२. वह केवल आधुनिक युग के विकासवाद से काल्पनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा ग्रहण कर तथा अध्यात्म की दृष्टि से वहां चिर प्राचीन व्यक्तिवादी विकसित एवं समरस नित्य आनन्द चैतन्य का आरोहणमूलक आदर्श उपस्थित कर भारतीय पुनर्जागरण के काव्य-युग के अन्तिम स्वर्णिम परिच्छेद की तरह समाप्त हो जाती है। (गद्यपथ, पृ० १६२)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वाद में हुई; और दूसरा व्रात्यों द्वारा स्वीकृत बुद्धिवाद, जिसका विकास बौद्धों और जैनों के अनात्मवाद में हुआ—भक्ति भी इसी का संशोधित रूप है। इनमें से पहला दर्शन स्वस्थ-प्रसन्न जाति का जीवन-दर्शन है और दूसरा पतनोन्मुख हीनवीर्य जाति का :

"सप्तसिन्धु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्द वाली धारा का अधिक स्वागत किया। क्योंकि वे स्वत्व के उपासक थे। और वरुण यद्यपि आर्यों की उपासना में गौण रूप से सम्मिलित थे, तथापि उनकी प्रतिष्ठा असुर के रूप में असीरिया आदि अन्य देशों में हुई। आत्मा में आनन्द-भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया । उधर असुर के अनुयायी आर्य एकेश्वरवाद और विवेक के प्रतिष्ठापक हुए। भारत के आर्यों ने कर्मकाण्ड और बड़े बड़े यज्ञों में उल्लासपूर्ण आनन्द का ही दृश्य देखना आरम्भ किया और एकात्मवाद के प्रतिष्ठापक इन्द्र के उद्देश्य से बड़े-बड़े यज्ञों की कल्पनाएं हुईं। किन्तु इस आत्मवाद और यज्ञ वाली विचारधारा की वैदिक आर्यों में प्रधानता हो जाने पर भी, कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य-संघ में दीक्षित नहीं कर सके । वे व्रात्य कहे जाने लगे। वैदिक धर्म की प्रधान धारा में, जिसके अन्तर में आत्मवाद था और बाहर याज्ञिक क्रियाओं का उल्लास था, व्रात्यों के लिए स्थान नहीं रहा। उन व्रात्यों ने अत्यन्त प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदि के रूप में उपासना का क्रम प्रचलित रखा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने विवेक के आधार पर नये-नये तर्कों की उद्भावना की। × × × × × वृष्णि-संघ व्रज में और मगध के व्रात्य और अयाज्ञिक आर्य बुद्धिवाद के आधार पर नये-नये दर्शनों की स्थापना करने लगे। इन्हीं लोगों के उत्तराधिकारी वे तीर्थंकर लोग थे, जिन्होंने ईसा से हज़ारों वर्ष पहले मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पर दुःखवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विवेक के तर्क ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया, वह दार्शनिकों की उस विचार धारा को अभिव्यक्त कर सका जिसमें संसार दुःखमय माना गया और दुःख से छूटना ही परम पुरुषार्थ समझा गया।"

(काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, सं० ५, पृष्ठ ५०-५१)

प्रसाद की अपनी निष्ठा प्रथम दर्शन में अविचल है, दूसरे को उन्होंने व्यतिरेक-रूप में अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए ही ग्रहण किया है। कामायनी में फलयोग की सिद्धि श्रद्धा द्वारा होती है—अर्थात् आत्म-विश्वास पर आधृत अभेदमयी आस्तिक भावना ही आनन्द की साधिका है, भेदमयी बुद्धि, इड़ा, बाधक है। अतः बुद्धिवाद और उसके अनेक विकास-रूप कामायनी के पूर्व-पक्ष के ही अन्तर्गत मानने चाहिए, जो निषेध के द्वारा, व्यतिरेक पद्धति से, सिद्धान्त-पक्ष अर्थात् शैवाद्वैत पर आधृत आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जय भारत

'जय भारत' में महा भारत की सम्पूर्ण कथा है; नहुष के वृत्तान्त से लेकर पांडवों के स्वर्गारोहण तक की पूरी कथा इसमें पद्य-बद्ध है। यह ग्रन्थ, जैसा कि कवि ने निवेदन में स्वयं ही स्पष्ट किया है, एक समय की कृति नहीं है। इसमें समय-समय पर लिखी हुई महाभारत-सम्बन्धी रचनाएं संग्रथित हैं। इसमें से कुछ रचनाएं जैसे कि केशों की कथा, वक-संहार, वन-वैभव, सैरन्ध्री आदि तो गुप्तजी के कृतित्व के आरम्भिक काल की रचनाएं हैं, नहुष आदि मध्य-कालीन हैं, और शेष उत्तर-कालीन हैं। इस प्रकार 'जय भारत' राष्ट्र-कवि के सम्पूर्ण रचना-काल का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जा सकता है, और उसमें—कवि के अपने शब्दों में—उनकी लेखनी के क्रम-विकास की रूप-रेखा स्पष्ट रूप से मिल जाती है। इस ग्रन्थ में स्वभावतः कथा का प्रवाह आद्योपान्त एक-सा नहीं है। कहीं तो वह पहाड़ी नदी के समान तीर की तरह आगे बढ़ती है और कहीं जैसे चौरस भूमि पाकर विरम जाती है। शैली-भेद के कारण यह वैषम्य और भी उभर आता है, क्योंकि आरम्भिक शैली में जहां फैलाव है, वहां उत्तर-काल की शैली समास-गुण-प्रधान है। इस प्रकार कथा-वर्णन में वह वेगवान धारा-प्रवाह नहीं है जो महाकाव्य में होना चाहिए, और जिसमें मैथिलीशरणजी की लेखनी अत्यन्त समर्थ है। खंड-रूप से लिखी हुई वस्तु में प्रवाह आना सम्भव भी नहीं है। हां, जहां कवि को थोड़ा भी अवसर मिला है, जैसे 'युद्ध' में, ऐसा अनायास ही हो गया है। दूसरी कठिनाई 'जय भारत' के कथा-वर्णन में यह आ गयी है कि एक अत्यन्त घटना-संकुल तथा विस्तृत कथा को सूत्र-बद्ध करने के लिए कवि को जिस समास-शैली का प्रयोग करना पड़ा है उसके लिए महाभारत की सभी सूक्ष्म घटनाओं के ज्ञान का पाठक में आरोप करना अनिवार्य हो गया है, जो वास्तव में होता नहीं है; क्योंकि आज के पाठक के पास महाभारत तथा पुराणादि का उतना सम्पूर्ण पृष्ठाधार नहीं है। इसलिए कहीं-कहीं वांछित प्रसंग अथवा पात्र के परिचय के अभाव में पाठक का मन उलझ जाता है और उसकी अतृप्त जिज्ञासा को ऐसा लगता है मानो कथा का सूत्र भंग हो गया हो। परन्तु ऐसा होता नहीं है, कथा का अन्विति-सूत्र कहीं भी भंग नहीं हुआ। वास्तव में केवल वर्णन (Narration) की दृष्टि से गुप्तजी की कला और भी निखर आयी है। नवीन स्थलों में आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग कवि ने इतनी सफ़ाई से किया है कि सूत्र आप-से-आप बँधता चला जाता है। 'कौरव-पांडव' जैसे प्रसंग मेरे कथन की पुष्टि करेंगे।

इतिहास-पुराण आदि पर आश्रित काव्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है कथा और चरित्र का पुनर्निर्माण और उसका मूलवर्ती दृष्टिकोण। क्योंकि केवल कथा-वर्णन तो अपने-आप में लक्ष्य हो नहीं सकता, और विशेषकर पुरानी कथा की आवृत्ति-मात्र तो कोई क्यों करेगा! यही कवि की सर्जना-शक्ति और मौलिक प्रतिभा की परीक्षा होती है। इसी प्रकार एक युग का कवि दूसरे युग की कथा को और उसके द्वारा उस युग की आत्मा को अपने युग की आत्मा में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रचा लेता है। गुप्तजी ने यों तो महाभारत की घटनाओं में परिवर्तन प्रायः नहीं के बराबर ही किया है (इस दृष्टि से 'साकेत' में रामकथा के साथ उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता बरती है) परन्तु इन घटनाओं का पुनराख्यान कवि का अपना है। इस पुनराख्यान के मूल आधार दो हैं: एक युगोचित विवेक-बुद्धि और दूसरा युग-धर्म। महाभारत की कथा में अतिप्राकृत एवं अतिमानवीय तत्त्वों का समावेश स्वभावतः ही अधिक है। आज उनको मन में उतार लेना सहज नहीं है। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसी घटनाएं भी हैं जो आज असंगत अथवा अनुचित भी प्रतीत हो सकती हैं। कवि ने इनका विवेक और बुद्धि के द्वारा समाधान करने का सत्प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, केवल एक घटना लीजिये—महाभारत की सब से रोमांचक घटना: द्रौपदी-चीर-हरण। आज का पाठक न तो इस घटना की नग्नता को ही सहन कर सकता है और न व्यास के समाधान को ही समझ सकता है। ऐसी स्थिति में कवि का कर्तव्य-कर्म तथा दायित्व और भी कठिन हो जाता है। अपने युग को पकड़े या कथा के युग को! मैथिलीशरण गुप्त ने ऐसे स्थलों पर कौशल से काम लिया है और दोनों की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। चीर-हरण में द्रौपदी जहां एक ओर भगवान् की शरण में जाती है, वहां अपने आत्म-बल द्वारा दुःशासन के मन में भीति भी जगाती है:

रे नर, आगे नरक-वह्नि में तू निज मुख की लाली देख;
पीछे खड़ी पंचमुख शिव पर नग्न कराली काली देख।

इसके परिणाम-स्वरूप दुःशासन का पापी मन और शरीर भय से स्तंभित हो जाते हैं:

सहसा दुःशासन ने देखा अंधकार-सा चारों ओर;
जान पड़ा अम्बर-सा वह पट, जिसका कोई ओर न छोर।
आकर अकस्मात् अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया;
कर जड़ हुए और पद काँपे, गिरता-सा वह बैठ गया।

कवि इतने पर ही सन्तुष्ट नहीं होता, घटना को और भी विश्वसनीय बनाने के लिए वह तत्काल ही गांधारी को पाप-सभा में उपस्थित कर देता है। गांधारी की सामयिक उपस्थिति एक ओर जहां दुःशासन की असमर्थता को और भी निश्चित कर देती है वहां दूसरी ओर उस आघात का पर्याप्त शमन भी करती है जो इस नंगी तलवार जैसी घटना के द्वारा पाठक के मन पर अनायास ही हो जाता है। उस भयंकर पाप का प्रक्षालन गांधारी के इन ग्लानि-विगलित अश्रुओं द्वारा ही हो सकता था:

सिहर अंध पति से वह बोली सफल अन्धता अपनी आज;
नहीं देखते अपनों से

× × ×

भाई से पितृ-कुल पुत्रों से पति-कुल मेरा नष्ट हुआ;
अन्तर्यामी को ही अवगत, मुझको कैसा कष्ट हुआ!

× × ×

हाय लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई लक्षित क्या;
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या!

इतना ही नहीं कवि ने इस पाप-प्रसंग के मार्जन के लिए द्रोण और भीष्म को भी वहाँ से हटा दिया है और कर्ण को भी बाद में पश्चात्ताप करने पर विवश किया है:

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना,
कृष्णा का अपमान।

इसी प्रकार आप चाहें तो एक प्रसंग और भी लिया जा सकता है : द्रौपदी का पंच-पत्नीत्व। आज यह प्रसंग भी साधारणतः मन में नहीं उतर सकता। युधिष्ठिर और सहदेव दोनों की भोग्या कृष्णा का चित्र मन में किसी प्रकार भी सुरुचि उत्पन्न नहीं करता। उसे पचा लेने के लिए या तो अंधी श्रद्धा की अपेक्षा है, या फिर अंधे विज्ञान की। गुप्तजी के संस्कारों को दोनों ही स्वीकार्य नहीं। अतएव उन्होंने फिर नीति और विवेक का आंचल पकड़ा है। पहले तो कवि ने विवेक का आंचल पकड़ा :

बोले धर्मात्मज धृतिशाली,
वर पार्थ, वधू है पांचाली।
दो वर ज्येष्ठ का पद पावें,
दो देवरत्व पर बलि जावें।
भोगें ये पाँचों सुख इसका।

परन्तु इतनी दीर्घ परम्परा का तिरस्कार भी गुप्तजी का आस्तिक मन कैसे करता ! आर्य-समाज की तरह यदि वे पार्थ को ही द्रौपदी का वर मान लेते तो उपर्युक्त व्याख्या सटीक बैठ जाती। परन्तु यह सम्भव नहीं हुआ और अंत में कवि को धर्म-नीति-व्यवस्था तथा पूर्व-कर्म आदि का आश्रय लेना पड़ा :

मानी गई मां की वह आज्ञा अनजानी भी,
और व्यवस्थापक थे व्यास ऐसे ज्ञानी भी।
कहते हैं पाँच बार वर था महेश का,
और अनुमोदन था आप हृषीकेश का।
पांडवों के मन में ग्लानि नहीं होती है,
तो मैं मानता हूं, धर्म-हानि नहीं होती है।

आदि-आदि।

इससे मेरा-आपका परितोष न हो यह दूसरी बात है; पर इससे अधिक संस्कारी कवि के लिए सम्भव भी नहीं था। इनमें सबसे अधिक भव्य है पांडवों के देह-पात की घटना का पुनराख्यान। इस दृष्टि से मैं उसे इस काव्य का भव्यतम प्रसंग मानता हूं। मैथिलीशरण की प्रतिभा ऐसे प्रसंगों में ही खुल खेलती है। सुनिये, सबसे पूर्व द्रौपदी गिरती है : "गिरती हूं, यह गिरी प्रभो, पर पहुंचूंगी तुम से पहले।" युधिष्ठिर इसे अपनी मुक्ति का प्रथम सोपान मानते हुए कहते हैं : "तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति यह पक्षपातिता मेरी ही।"

युधिष्ठिर और आगे बढ़ते हैं। अबकी बार सहदेव गिरते हैं :

रुक कर न युधिष्ठिर ने उनसे चलते-चलते बस यही कहा;
तुम नहीं, गिरा तुम में मेरा रूपाभिमान जो उठा रहा।

फिर नकुल गिरे तो युधिष्ठिर ने उसे अपनी मति-गति के गर्व का ही विनाश माना। आगे अर्जुन गिरते हैं :

आगे चल गिरे धनंजय भी, "अब और नहीं उठता पद ही";
तुम नहीं गिरे, झड़ गिरा यहां तुम में मेरा मानी मद ही।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और अंत में :

बोले फिर भीम अंत में यों, हे आर्य ! यहां मैं भी टूटा;
तुम छूटे नहीं तुम्हारे मिस, मेरा औद्धत्य यहाँ छूटा।

इस प्रकार युधिष्ठिर के सभी भौतिक बन्धन छूट जाते हैं और वे शुद्ध-बुद्ध आत्मा रह जाते हैं :

खुल गये सभी बन्धन मानो, अब आप आप वे व्यक्त हुए।

पुनराख्यान का दूसरा मूल आधार है युग-धर्म। गुप्तजी सच्चे अर्थ में इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं। वे द्वापर, त्रेता, सतयुग जहां कहीं भी गये हैं, अपने युग को साथ ले गये हैं। आज का युग-धर्म है मानववाद और गुप्तजी ने महाभारत के पात्रों का पुर्नानिर्माण इसी के आधार पर किया है। उदाहरण के लिए, दुःशासन में भी गुप्त जी ने भ्रातृ-भक्ति खोज निकाली है :

इच्छा तुम्हारी अविचारणीया,
होती नहीं तो फिर सोचता मैं।
खींचूं न खींचूं बल से सभा में,
दुकूल किंवा कच द्रौपदी के।
कहे मुझे, जो कुछ लोक चाहे,
तो भी इसे कौन नहीं कहेगा !
भाई नहीं; किंकर मैं तुम्हारा,
मैं चाहता राज्य नहीं, तुम्हें ही।

दुर्योधन को तो उन्होंने सुयोधन बना ही दिया है। उसका अंत हृदय-द्रावक है; यदि युधिष्ठिर की उपस्थिति न हो तो पाठक का साधारणीकरण उसी के साथ हो जाए।

सबसे अधिक ध्यान उन्होंने युधिष्ठिर के चरित्रांकन पर ही दिया है। वैसे तो युधिष्ठिर अपने-आप ही मानवता के प्रतीक हैं, फिर भी गुप्तजी ने स्थान-स्थान पर उनके मानवत्व को और भी निखार कर सामने रख दिया है। कवि के युगादर्श सत्य और अहिंसा को जैसे उनके व्यक्तित्व में आधार मिल गया है। मानवता की परीक्षा में तीन बार उत्तीर्ण कराकर कवि ने उन्हें ही अपना मूल पात्र माना है—'जय भारत' वास्तव में युधिष्ठिर की मानवता की ही 'जय' है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'हिमकिरीटिनी' और 'वासवदत्ता'

'हिमकिरीटनी' (लेखक श्री माखनलाल चतुर्वेदी) और 'वासवदत्ता' (लेखक श्री सोहनलाल द्विवेदी)—इन दोनों पुस्तकों को साथ-साथ लेने का एक विशेष कारण यह है कि इस वर्ष 'देव पुरस्कार प्रतियोगिता' में हिन्दी के एक दर्जन प्रतिनिधि विद्वानों की कलम से इन्हें क्रमशः पहला और दूसरा स्थान प्राप्त हुआ है। अतएव मैं समझता हूं कि इन ग्रन्थों के विषय में किंचित् विस्तार से जानने की उत्कण्ठा होना स्वाभाविक है।

हिमकिरीटिनी

पं० माखनलाल चतुर्वेदी के व्यक्तित्व में मधुर कवि और ओजस्वी सैनिक एक आलिंगन पाश में आबद्ध हैं; उसमें भावुक नारी और कर्मशील पुरुष का संयोग है। नवीन या दिनकर की भाँति ये एक पौरुषमय व्यक्तित्व की दो पृथक् अवस्थाएं नहीं हैं, यहां तो एक ही व्यक्तित्व में दोनों तत्त्व मिल गये हैं और प्रायः एक ही क्षण में व्यक्त हो उठते हैं। इन दोनों तत्त्वों के साथ उनमें एक और तत्त्व स्पष्ट मिलता है, वह है उनका आत्मा की सत्ता के प्रति आकर्षण। उनकी आँखों को ग़ौर से देखिए तो उनमें कुछ ही क्षणों में नारी, पुरुष और संत तीनों झाँक जाते हैं। आप कितनी ही देर देखिए, जीवन की वास्तविकता को आर-पार देखने वाला बौद्धिक भूलकर भी नजर नहीं आएगा। इन आंखों में तीक्ष्णता और चमक नहीं है, एक स्निग्ध धुंधलापन-सा है। जैनेन्द्र की आँखों से मिलाने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। एक जैसे तथ्य के प्रतिबिम्ब-चित्रों को ग्रहण कर भीग उठी है; दूसरी जैसे उसको भेद आर-पार जाने के लिए चमक उठी है। यह भावुक और बौद्धिक का अन्तर है। माखनलाल जी की कविता की विशेषताएं उनके व्यक्तित्व की इन्हीं विशेषताओं के आलोक में पढ़ी और समझी जा सकती हैं। उनकी कविता में भावुकता (मधुर भाव) है, रहस्यात्मक प्रवृत्ति है और बौद्धिक पृष्ठ-भूमि के अभाव में एक धुंधली अस्पष्टता और असम्बद्धता है। जो कुछ है, वह काफ़ी मधुर और ओजस्वी है; पर यह प्रायः स्पष्ट नहीं है कि वह क्या है।

एकनिष्ठता का अभाव

बाह्य तथ्यों से प्रभावित होने वाली चित्त की वृत्ति को भावुकता कहते हैं। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से अभिधार्थ में भी भावुकता हृदय-द्रव है, उसका सीधा सम्बन्ध हमारी स्नायुओं में बहने वाली रक्त की धारा से है। बाह्य प्रभावों को ग्रहण करती हुई यह वृत्ति धीरे-धीरे एक संस्कार बन जाती है, और हम इसको भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में विभिन्न मात्राओं में देखते हैं। इस अवस्था में आकर बाह्य तथ्यों के साथ इसकी क्रिया-प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। एक ही वस्तु पर केन्द्रित होकर इसमें तीव्रता और गहराई आ जाती है, प्रभावों के पारस्परिक विरोध से इसमें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वल आ जाता है, किसी प्रकार की एकनिष्ठता और अन्तर्विरोध न होने से केवल तरलता ही रहती है, और इधर बाह्य संवेदनाओं के प्रभाव को प्रकृत रूप में ग्रहण करने से सरलता और स्पष्टता आ जाती है। माखनलालजी की भावुकता में तरलता के साथ एक विचित्र संकुलता मिलती है। इनकी कविताओं को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके माधुर्य भाव का आलम्बन व्यक्त और निश्चित नहीं है। इसलिए इनकी भाव-धारा को दिशा नहीं मिल पायी। वह एकनिष्ठ न होकर अनिर्दिष्ट बहती है। उसमें सरल गति न होकर भंवर है; अविच्छिन्न शृंखला नहीं है, असम्बद्धता है, जैसी कि छायावाद के प्रसव-काल की अन्य रचनाओं, 'झरना' आदि, में है।

छायावाद के आरम्भिक कवियों में माखनलालजी का नाम स्मरणीय है और उनके काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण सचमुच उसी काल में हुआ है जब द्विवेदी युग की इतिवृत्त-कविता से विद्रोह कर नवीन भावुकता, आलम्बन की अस्पष्टता और अभिव्यक्ति की अपरिपक्वता के कारण धूमिल कुहरे में भटक रही थी। उस समय के कवि को स्थूल विषयों से चिढ़ थी, वह सूक्ष्म की ओर आकृष्ट था। लेकिन इस सूक्ष्म की उसे कोई पहचान नहीं थी; कभी वह ब्रह्म प्रतीत होता था, कभी प्रकृति की चेतन सत्ता। उस युग के नवीन कवियों की शृंगार-भावनाएं प्रकृत आलम्बन से च्युत होकर इसी तरह भटक रही थीं। प्रसाद, निराला, पंत, माखनलालजी—सभी की उस समय की रची हुई कविताओं में यही बात मिलेगी। परन्तु जहां अन्य कवियों की कृति के पीछे आरम्भ से ही एक दृढ़ बौद्धिक आधार था—यथा प्रसाद में शैव-दर्शन, निराला में अद्वैतवाद, पंत में भविष्योन्मुख आदर्शवाद—वहां माखनलालजी में एक असम्बद्ध रहस्यमय चिंतन-मात्र था। इसके अतिरिक्त चूंकि दूसरे कवियों ने कवि-कर्म को निष्ठा से ग्रहण किया था अतएव वे अभिव्यञ्जना के प्रति अत्यन्त सचेत रहे; पर माखनलालजी का कार्य-क्षेत्र बहुत कुछ बँट जाने से वे इस क्षेत्र में विशेष अभ्यास नहीं कर पाये। परिणाम यह हुआ कि जहां अन्य कवि अपनी अनुभूति के स्वरूप को धीरे-धीरे पहचानते गये और फलतः उनकी कृतियां अधिक व्यक्त और स्पष्ट होती गयी, वहां, 'हिमकिरीटिनी' के कवि ने इस दिशा में कोई विशेष उन्नति नहीं की; उसकी नयी-पुरानी सभी कविताओं में एक-सी धूमिलता बनी रही।

ओजस्विता का उद्गम

इन कविताओं की ओजस्विता का उद्गम है कवि की सक्रिय राष्ट्रीयता। यह राष्ट्रीयता कविता में केवल देश-भक्ति के रूप में ही व्यक्त हुई है। माखनलालजी को गांधी के प्रति असीम विश्वास और श्रद्धा है, उनकी अहिंसा में पूर्ण आस्था। उनके ये वीर-गीत बन्दिनी वीरता के उद्घोष हैं जिनमें उत्साह और आक्रोश के साथ विवशता की करुणा भी मिली हुई है। इसलिए इनमें विजय का उत्साह नहीं बलिदान का उत्साह है। इस प्रकार की कविताओं का संबंध प्रायः जेल से है। उनमें से बहुत-सी तो जेल में ही लिखी गयी हैं। इन कविताओं में एक चीख है। 'कैदी और कोकिला' इसी प्रकार की कविता है :

काली तू, रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली;
काली लहर कल्पना काली,
मेरी काल-कोठरी काली।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

टोपी काली, कमली काली
मेरी लोह-शृंखला काली;
पहरे की हुंकृति की व्याली,
तिस पर है गाली ऐ आली !
इस काले संकट-सागर पर
करने को मदमाती।
कोकिल बोलो तो !
अपने गति वाले गीतों को
गाकर हो तैराती !
कोकिल बोलो तो !

मैंने जैसा अभी कहा है, इन कविताओं में ओज और माधुर्य अविभक्त हैं। प्रमाण-स्वरूप यही कविता ली जा सकती है—जेल की काली रात में कोकिला की पुकार उनके हृदय में बसे हुए मधुर कवि और आत्माभिमानी सैनिक दोनों को एक साथ जगा देती है। 'हिमकिरीटिनी' की ये कृतियां ही सबसे अधिक सफल हुई हैं। इनका ओज कवि के भावों की संकुलता को भेद कर फूट पड़ा है; अभिव्यक्ति तीर की तरह सीधी है :

लड़ने तक महमान,
एक पूंजी है तीर कमान !
मुझे भूलने में सुख पाती,
जग की काली स्याही;
बन्धन दूर कठिन सौदा है,
मैं हूं एक सिपाही !
सिर पर प्रलय, नेत्र में मस्ती,
मुट्ठी में मन-चाही;
लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है,
मैं हूं एक सिपाही !

इन कविताओं की सबसे बड़ी बाधा है कवि की रहस्यात्मक प्रवृत्ति। यह रहस्यात्मक प्रवृत्ति छायावाद के प्रसव-काल की सबसे बड़ी व्याधि थी जब रवीन्द्रनाथ और विदेशी साहित्य के मोह से अभिभूत नये कवि की भावुकता अपने वास्तविक स्वरूप को न पहचान कर काल्पनिक रहस्यानुभूतियों से खेलने में अपना गौरव समझती थी। माखनलालजी पर भी यह नशा काफ़ी गहरा है। राष्ट्रीय उत्साह उनके जीवन का सहज अंग रहा है और साधारणतः उसकी अभिव्यक्ति सीधी-सच्ची होनी चाहिए थी पर ऐसा प्रायः नहीं हो पाया; क्योंकि उनकी रहस्यात्मक प्रवृत्ति भावुकता में रँगकर प्रायः उनकी ओजमयी वाणी के मुक्त प्रवाह को जकड़ लेती है।

कहने वालों ने ठीक कहा है कि 'हिमकिरीटिनी' का प्रकाशन समय से बहुत बाद हुआ है। हिन्दी की रोमांटिक कविता के इतिहास में तो उसके महत्त्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जीवन के स्थूल तथ्यों से मन के 'सांवले शीशमहल' की ओर आँख उठाने वाले कवियों में माखनलालजी को कैसे भुलाया जा सकता है ! लेकिन ऐसी सम्पूर्ण कविताएं जो काल के पृष्ठ पर अंकित रहेंगी, शायद दो-चार ही हैं—कैदी और कोकिला, जवानी, मील का पत्थर,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आदि। वैसे मधुर-भाव-भरी असम्बद्ध पक्तियां आपको कितनी ही मिल जायेंगी।

'वासवदत्ता'

'वासवदत्ता' की कविताओं का आधार

'वासवदत्ता' की कविताएं घटनाओं का आधार लेकर चलती हैं। इनमें से अधिकांश में प्रवृत्ति और आदर्श का संघर्ष और अन्त में आदर्श की विजय की आनन्दपूर्ण स्वीकृति है। इनमें प्रायः सभी में वैभव-विलास की पृष्ठभूमि पर नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा है।

सोहनलालजी द्विवेदी-युग की परम्परा के कवि हैं, जिनकी प्रवृत्ति सदैव बहिर्मुखी रही है। फलतः उनकी कविता में युग की आवश्यकताओं की चेतना और उनके प्रति नैतिक उत्साह है। ये दोनों बातें उसे स्वभावतः ही गांधीवाद से सम्बद्ध कर देती हैं। गांधीवाद, नीति के अतिरिक्त एक दर्शन भी है; पर सोहनलालजी का उसके दर्शन से कोई सम्पर्क नहीं है। वे तो गांधीवाद के चारण हैं जो एक ओर खादी, किसान जैसे प्रतीकों, अथवा जवाहरलाल, मालवीयजी जैसे नेताओं या डांडी-अभियान जैसी घटनाओं का जय-जयकार करते हैं; दूसरी ओर देश के प्राचीन त्याग और तपस्या (अहिंसा) का गौरव-गान गाते हैं। पहली श्रेणी की कविताएं 'भैरवी' में संकलित हैं; दूसरी श्रेणी की 'वासवदत्ता' में। अतएव 'वासवदत्ता' के आमुख में की हुई सोहनलालजी की यह घोषणा कि 'भैरवी के साथ मेरी रचनाओं का एक युग समाप्त होता है, वासवदत्ता में मेरी कविताओं का नवीन युगारम्भ है,' सत्य से दूर है। उनकी ये दोनों रचनाएं एक ही युग की हैं, उनकी प्रेरणा एवं प्रवृत्ति में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों का केवल विषय भिन्न है, धरातल और दृष्टिकोण एक है। यह धरातल, जैसा मैंने अभी कहा, नैतिक है; और यह दृष्टिकोण है नैतिक महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति। कवि का हृदय जिस तरह डांडी के पथ पर चलते हुए गांधी के गौरव को सादर स्वीकार कर हर्षोच्चार करता है; उसी तरह गौतम को वासवदत्ता के प्रलोभन पर विजयी देखकर उनकी विजय का जय-जयकार करता है। सारांश यह कि 'वासवदत्ता' की अधिकांश कविताएं ऐसी कथाओं को लेकर चलती हैं जिनमें अन्तर्द्वन्द्व है।

कवि का दृष्टिकोण

इस प्रकार की कथाओं को तीन रूपों में उपस्थित किया जा सकता है—एक तो नाटकीय रूप में, जिनमें दोनों विरोधी भावनाओं के अन्तर्द्वन्द्व का तीखा चित्रण हो। ऐसा करना उसी कवि के लिए सम्भव है जिसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो, जिसने अपनी सूक्ष्म सत्ता में होने वाले चेतन और अचेतन प्रवृत्तियों के संघर्ष को झांक कर देखा हो, जिसकी एक प्रवृत्ति में वासवदत्ता की उत्कटता हो और दूसरी में गौतम की आत्म-शक्ति। दूसरा रूप हो सकता है इतिवृत्तात्मक, जिसमें नैतिक उपदेश आदि के लिए कथा का सरल वृत्त-वर्णन हो, जैसा कि मैथिलीशरण गुप्त के कुछ आख्यानों में हुआ है। इसके लिए केवल वर्णन-विवेक की आवश्यकता है। इन दोनों का मध्यवर्ती एक तीसरा रूप भी हो सकता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि कवि स्वयं उस अन्तर्द्वन्द्व से होकर गुज़रा हो; लेकिन यह अनिवार्य है कि वह उस अन्तर्द्वन्द्व को पहचानता हो और अन्त में होने वाली आदर्श की विजय को स्वीकार करने में आनन्द का अनुभव करता हो। इस कोटि के कवि का आनन्द अन्तर्द्वन्द्व और उसके उपरान्त होने वाली विजय के गौरव की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुभूति का आनन्द नहीं है, उसकी स्वीकृति-भर का आनन्द है; इसलिए इस रूप में तीव्रता और गहराई नहीं मिलेगी, परन्तु ओज और स्फूर्ति मिलेगी। 'वासवदत्ता' के कवि का दृष्टिकोण ठीक यही है। वह इन कथाओं में विद्यमान सूक्ष्म सत्ता के मन्थनकारी अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव नहीं कर पाया; केवल सानन्द स्वीकृत कर पाया है—उर्वशी, कुन्ती और कर्ण, महाभिनिष्क्रमण, सभी में। लेकिन इसके साथ ही उसमें केवल वृत्त-वर्णन मात्र ही नहीं है; उसके वर्णन में स्फूर्ति, ओज और वाग्मिता असंदिग्ध है, जिसकी प्रेरणा अनुभूति के नहीं, वरन् स्वीकृति के आनन्द में है। यही सच्चे चारण का दृष्टिकोण है और इसीलिए मैंने सोहनलालजी को गांधीवाद का चारण कहा है।

ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही है कि 'वासवदत्ता' की शैली व्यंग्य-संकेतमयी न होकर मुखर है। संकेत और व्यंजना के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने की सूक्ष्म कला उसके कवि में नहीं है। इसलिए जहां संकेत-मात्र वांछित था, वहां कवि सविस्तार वर्णन कर प्रायः प्रभाव को नष्ट कर देता है। उदाहरण के लिए, वासवदत्ता की कविता वहीं समाप्त हो जानी चाहिए थी जहां वासवदत्ता के पूछने पर कि 'कौन ?' गौतम उत्तर देते हैं—

मैं हूं तथागत,
आज आया हूं अतिथि बन।

परन्तु कवि को इतने से सन्तोष कहां ! वह आगे गौतम के नर्सिंग का सविस्तर वर्णन देकर कथा के नाटकीय प्रभाव को नष्ट कर देता है। इसी तरह जहां कोई पात्र मौन या व्यंग्य के द्वारा प्रतिपक्षी को तिलमिला सकता था, वहां वह अभिशाप एवं दुर्वचनों की पूरी सूची समाप्त करके ही शान्त होता है। उर्वशी और अर्जुन का अन्तिम संवाद इसका साक्षी है। यह हुआ मुखरता का दोष। मुखरता का गुण है अप्रतिहत धाराप्रवाह, जो 'वासवदत्ता' में अनिवार्यतः मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दीप-शिखा

इस युग में 'दीप-शिखा' का प्रकाशन एक घटना है। महादेवीजी के ही शब्द उधार लेकर हम कहेंगे कि 'जीवन और मरण के इन तूफ़ानी दिनों में रची हुई यह कविता ठीक ऐसी ही है जैसे झंझा और प्रलय के बीच में स्थित मन्दिर में जलने वाली निष्कम्प दीप-शिखा।'

इस पुस्तक का महत्त्व एक और दृष्टि से भी है। आज छह-सात वर्षों के बाद महादेवी-जी के साधना-मन्दिर का द्वार खुला है और करुणा के स्नेह से जलती हुई इस दीपक की लौ को अब भी एकाकीपन में तन्मय और विश्वास में मुस्कराती हुई देखकर हिन्दी के विद्यार्थी का सशंक मन उत्फुल्ल हो उठा है।

'दीप-शिखा' में ५१ गीत हैं, और प्रत्येक गीत का अर्थवाही एक चित्र है। इन चित्रों का कला की दृष्टि से क्या मूल्य है, यह कहने का तो मैं अधिकारी नहीं हूं; परन्तु इस प्रकार का चित्रित गीत-प्रकाशन हिन्दी के लिए एकदम नयी चीज़ है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गीत कवयित्री की अपनी ही हस्तलिपि में मुद्रित है। इस मुद्रण से जहां नवीनता तो सचमुच और भी बढ़ गयी है, वहां लिपि के सुन्दर न होने से पुस्तक की स्वच्छता में क्षति भी अवश्य हो गयी है।

हिन्दी में—विश्व के लगभग सभी साहित्यों में—गीत-परम्परा आदिकाल से ही चली आती है। या यों कहिये कि कविता का मूल रूप ही गीत है। गीत के इतिहास पर दृष्टि डालने से उसके दो प्रयोजन मिलते हैं :

१. आत्मनिवेदन, और २. मनोरंजन।

इनमें आत्मनिवेदन अधिक मौलिक है। उसको प्रयोजन के अतिरिक्त प्रेरणा भी कहना उचित है। परन्तु मनोरञ्जन भी कम प्राचीन नहीं है। आखेट-प्रिय आदिम पुरुष के वियोग में उसकी गृहिणी आदिम नारी ने आज से न-जाने कितने युगपूर्व अपने एकाकी मन और गृह-कर्म से भारी शरीर को हल्का करने के लिए गीत का आविष्कार किया था। 'कामायनी' के पाठकों को याद होगा कि मनु के मृगयार्थ वन में चले जाने पर श्रद्धा का हाथ तकली से और मन अनायास गीत की कड़ी से उलझ जाता था।

इस अवस्था में आकर गीत के दोनों प्रयोजनों का समन्वय हो जाता है। धीरे-धीरे ये ही दोनों प्रयोजन अनेक रूपों में बिखरते गये। आत्मनिवेदन पार्थिव और अपार्थिव अवलम्बों के अनुसार लौकिक और अलौकिक विरह-मिलन की कविता में फूट उठा; मनोरञ्जन उत्सव-पर्वों के गीतों में; और कहीं-कहीं ये दोनों ही मिलकर एक हो गये।

इस प्रकार गीत मानव-मन के हर्ष-विषाद का सहज वाहक है, जो अब तक अपनी परिभाषा को अक्षुण्ण बनाये हुए है। महादेवीजी ने भी इसी से मिलती-जुलती गीत की परिभाषा की है :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही रहेगी······साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

'दीप-शिखा' के गीतों में आत्मनिवेदन की प्रेरणा है, मनोरञ्जन स्पष्टतः ही उनका प्रयोजन नहीं है। परन्तु वह आत्मनिवेदन किस प्रकार का है, यह प्रश्न सरल नहीं है। साधारण रूप से यह कह देना कि इनमें अज्ञात के प्रति विरह-निवेदन है या रहस्योन्मुख प्रेम की अभिव्यक्ति है अथवा लौकिक धरातल पर कवि की अपनी अतृप्त वासना की प्रेरणा है—प्रश्न को और भी जटिल बना देना है। इस आत्मनिवेदन की प्रकृति को समझने के लिए तो कवि के व्यक्तित्व के विश्लेषण का सहारा लेना पड़ेगा।

'दीप-शिखा' के गीतों का अध्ययन करने पर हमारे मन में तीन प्राथमिक धारणाएं बनती हैं :

१. दीप-शिखा कवि के अपने मन का प्रतीक है।
२. 'दीप-शिखा' में फ़ारसी की शमअ की तरह ऐन्द्रिय वासना की दाहक ज्वाला नहीं है, वरन् करुणा की स्निग्ध लौ है, जो मधुर-मधुर जलती हुई पृथ्वी के कण-कण के लिए आलोक वितरित करती है।
३. और इस जलने के पीछे किसी अज्ञात प्रिय का संकेत है जो उसे असीम बल और अकम्प विश्वास प्रदान करता है।

महादेवी के काव्य में इसी प्रकार के संकेत मिलते हैं, और इन संकेतों की व्याख्या में हिन्दी आलोचकों ने सारा अध्यात्म एवं वेदान्त समाप्त कर दिया है। उनकी यह व्याख्या महादेवी को परमार्थी योगी की पदवी पर भले ही प्रतिष्ठित कर दे, परन्तु उनके काव्य की आत्मा अर्थात् उनकी अनुभूति के स्वरूप को समझने में अणुमात्र भी सहायक नहीं होती।

इस विषय में मैं पहले ही निवेदन कर दूं कि मुझे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में एकदम विश्वास नहीं है। काव्य का सम्बन्ध मानव-मन से है, और मन में किसी प्रकार की अपार्थिवता नहीं है। भारतीय दर्शन ने भी उसे सूक्ष्मेन्द्रिय ही माना है। हमारे साहित्य-शास्त्र में भी जहां काव्य की अनुभूति-अभिव्यक्ति का विवेचन है, पार्थिव जीवन के ही स्थायी-संचारियों का वर्णन है और रस की अलौकिकता भी अन्त में लौकिक ही ठहरती है। यह बात नहीं कि मुझे आध्यात्मिकता की सत्ता मान्य नहीं। मैं मानता हूं एक ओर चित्तवृत्ति के संयम और निरोध से और दूसरी ओर उसकी एकाग्रता के अभ्यास से आत्मचिन्तन और रहस्यानुभूति सम्भव है—और कम-से-कम कबीर की रहस्यानुभूति कल्पना की क्रीड़ा अथवा धार्मिक दम्भ कभी नहीं थी। परन्तु बुद्धि के इस युग में, जैसा कि महादेवीजी ने स्वयं अपनी भूमिका में स्वीकार किया है, इस प्रकार की रहस्यानुभूति कम-से-कम एक नवीन शिक्षा-दीक्षा में पोषित बुद्धि-जीवी के लिए सम्भव नहीं। एक बार व्यक्तिगत चर्चा करते समय भी जब मैंने अपना यह मन्तव्य उनके सम्मुख रखा तो उन्होंने स्पष्ट रूप में इसकी सत्यता स्वीकार की थी। अतएव 'दीप-शिखा' के गीतों की अनुभूति पार्थिव माने बिना काम नहीं चल सकता। उसका विश्लेषण करने पर तीन तत्त्व हम को मिलते हैं :

१. जलने की भावना, २. विश्व के प्रति गीला करुणाभाव, और ३. अज्ञात प्रिय का संकेत।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इनमें से तीसरे भाव के मूल में तो स्पष्टतः काम का स्पन्दन है ही; जलने की भावना में असन्तोष और अतृप्ति-भावना भी अनिवार्य है। इन दोनों को अगर संयुक्त कर दें तो पहला कारण और दूसरा कार्य हो जाता है। और वास्तव में सभी ललितकलाओं के—विशेषतः काव्य के और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के—मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिए स्थान नहीं है।

महादेवीजी का एकाकी जीवन उनके काव्य में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है। किसी अभाव ने ही उनके जीवन को एकाकिनी बरसात बना दिया है, सुख और दुलार के आधिक्य ने नहीं। अतिशय सुख और दुलार की प्रतिक्रिया से उत्पन्न दुःख का आकर्षण 'यामा' और 'दीप-शिखा' की सृष्टि नहीं कर सकता परन्तु इस अतृप्ति को स्थूल शारीरिक अर्थ में ग्रहण करना महादेवी के संस्कृत एवं संयत व्यक्तित्व के प्रति अपराध होगा। क्योंकि, और नहीं तो स्वभाव से ही पुरुष और स्त्री कवियों के लिखे हुए प्रणय-गीतों में उनकी प्रकृति के अनुसार अन्तर मिलना अनिवार्य है। पुरुष कवि का प्रणय-निवेदन अधिक व्यक्त, अतएव ऐन्द्रिय एवं रोमानी होगा। स्त्री का प्रणय-निवेदन संयत, अतएव गार्हस्थिक होगा। पुरुष में रोमांस की उन्मुक्तता होगी, नारी में स्थायित्व का बन्धन। अतएव स्त्रीकृत रूप से लौकिक तल पर स्त्री-कवि का प्रणय एकमात्र स्वकीया का घरेलू प्रणय ही हो सकता है। स्त्री अपनी प्रकृति के कारण और बहुत-कुछ अंशों में सामाजिक रीति-नीति के कारण न तो असंयत उद्‌गारों को ही व्यक्त कर सकती है और न स्वकीया की सौमित्रि-रेखा से बाहर ही जा सकती है। प्राचीन लोक-गीतों की गायि-काओं से लेकर सर्वश्री होमवती, उषा, चकोरी आदि आधुनिक हिन्दी कवयित्रियों तक यह बात अनिवार्य रूप से मिलेगी। जहां-कहीं भी लौकिक प्रणय की स्वीकृति है, वहां स्वकीयाभाव ही है। मीरा के अपार्थिव प्रेम में भी स्वकीया-भाव का आग्रह मिलता है।

स्वकीया की भावना छोड़कर तो स्त्री के पास सिर्फ़ एक ही उपाय रह जाता है—अपार्थिव प्रणय अथवा अज्ञात के प्रति प्रणय-निवेदन! यह प्रणय-निवेदन मूलतः पार्थिव प्रेम पर आश्रित होते हुए भी तत्त्वतः उससे भिन्न होता है। अर्थात् इसमें ऐन्द्रियता सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होती हुई अतीन्द्रियता-सी प्रतीत होने लगती है, यानी उसका संस्कार हो जाता है। परन्तु यह निश्चित है कि प्रणय-निवेदन में जो स्पन्दन होगा, वह प्रच्छन्न रूप से उसी आरम्भिक प्रेम का होगा।

सन्त कवियों तथा सगुण भक्तों ने अपनी अभुक्त वासनाओं को एक ओर तो भगवान् के चरणों पर उंडेलकर और दूसरी ओर सचराचर में वितरित कर उनका संस्कार किया था। वह विश्वास और साधना का युग था। भगवान् की प्रीति तब आज की अपेक्षा अधिक सरल थी। आज का कवि भगवान् से नाता जोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है। उसके लिए मानव-जाति से प्रीति बढ़ाना अपेक्षाकृत सरल है। इसलिए आज वासना के संस्कार की यही पद्धति व्यवहार्य है। महादेवीजी के जीवन में सन्तों की आत्मसाधना देखना तो उपहास्य होगा; परन्तु अपनी वासना का परिष्कार करने के लिए उन्होंने साधना की है और अब भी कर रही हैं; इसको अस्वीकार करना अनुचित होगा। उन्होंने बड़ी लगन से आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन किया है। अपने आसपास के प्राणियों के साथ परिवार-सम्बन्ध जोड़ा है। पीड़ित वर्ग की सक्रिय सेवा में आनन्द लिया है। मैं समझता हूं कि उनका काफ़ी समय आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन और मनन में बीतता है। अतएव उनके गीतों में जो रहस्य-संकेत मिलते हैं वे पूर्णतः स्वानुभूत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सत्य न होते हुए भी एकदम छायावाद-युग के कवि-समय-मात्र भी नहीं हैं। प्रत्यक्ष रूप से नहीं, तो अध्ययन के सहारे ही कवि का उनसे थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य है।

यही बात कण-कण के प्रति बिखरी हुई उनकी स्नेह-विगलित करुणा के लिए भी कही जा सकती है। बुद्धि के प्रति ममत्व और दर्शन के अध्ययन का प्रभाव उस पर स्पष्ट रूप से पड़ा है—'इन गीतों ने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अध्ययन की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव-प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।'

इस प्रकार 'दीप-शिखा' के गीतों में जिन तत्त्वों की ओर निर्देश किया गया है, वे तीनों एक दूसरे से कार्य-कारण-सम्बन्ध में बँधे हुए हैं और कवि के अपने जीवन के सम्बन्ध से भी उनका पूरी तरह व्याख्यान हो जाता है।

यहां तक तो हुआ 'दीप-शिखा' की प्रेरक अनुभूति का विश्लेषण, जो उनके गीतों को समझने में सहायक हो सकता है। परन्तु उनका मूल्यांकन करने के लिए अनुभूति की प्रकृति नहीं, उसकी शक्ति का विवेचन करना होगा। यानी अब हमें यह देखना है कि 'दीप-शिखा' को जिस अनुभूति से प्रेरणा मिली है, उसमें कितनी तीव्रता है।

इस दृष्टि से हमें निराश होना पड़ेगा। कारण स्पष्ट है। इस अनुभूति के मूल में जो काम का स्पन्दन है, उसके ऊपर कवि ने चिन्तन और कल्पना के इतने आवरण चढ़ा रखे हैं कि स्वभावतः उनकी तीव्रता दब गयी है और उसको टटोलने पर बहुत नीचे गहरे में एक हल्की-सी धड़कन मिलती है। साथ ही अनुभूति को पुंजीभूत होने का अवसर नहीं मिला। उसका वितरण प्रयत्नपूर्वक किया गया है, इसलिए वह तीव्र न रहकर हल्की-हल्की बिखर गयी है। स्पष्ट शब्दों में, इन गीतों में लोक-गीतों की जैसी मांस की उष्ण गन्ध प्रायः निःशेष हो गयी है। दूसरी ओर बुद्धिजीवी महादेवीजी में सन्त या भक्त कवियों का-सा विश्वास और समर्पण भी सम्भव नहीं हो सका। इसलिए उनके हृदय में अज्ञात के प्रति भी जिज्ञासा ही उत्पन्न हो सकी है, पीड़ा नहीं। कुल मिलाकर यह कहना होगा कि 'दीप-शिखा' की प्रेरक अनुभूति छाँह-सी सूक्ष्म और मोम-सी मृदुल तो है, परन्तु हूक-सी तीव्र नहीं। एक स्थान पर स्वयं कवयित्री ने ही अपने गीत की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

खोजता तुमको कहां से आ गया आलोक सपना
चौंक खोले पंख तुमने याद आया कौन अपना
कुहर में तुम उड़ चले किस छाँह को पहचान

स्वभावतः छाँह को पहचानकर कुहर में उड़ने वाले इन गीतों में विस्मय-भरे मधुर संकेत तो स्थान-स्थान पर मिलेंगे, परन्तु लपककर हृदय को पकड़ने वाली पंक्तियां दुर्लभ हैं।

मधुर संकेतों के कुछ उदाहरण लीजिये :

१. तम ने वर्ती को जाना है,
वर्ती ने यह स्नेह, स्नेह ने रज का अंचल पहचाना है,
चिर-बन्धन में बांध मुझे घुलने का वर दे जाना।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

२. सुधि विद्युत् की तूली लेकर
मृदु व्योम फलक-सा उर उन्मन
मैं घोल अश्रु में ज्वाला-कण
चिर-मुक्त तुम्हीं को जीवन के बन्धन हित विकल दिखा जाती।

'नीहार' से लेकर 'दीप-शिखा' तक आते-आते महादेवीजी की अनुभूति ने सूक्ष्मता और स्थिरता में जितनी वृद्धि की है, तीव्रता में उतनी क्षति भी भोगी है। इसका अर्थ यही है कि महादेवीजी का मन क्रमशः व्यक्तिगत पीड़ा को लोक-व्यापी बनाता हुआ दुःख-सुख का सामंजस्य स्थापित करता रहा है। यह सामञ्जस्य सर्वप्रथम हमें 'नीरजा' में मिलता है; परन्तु फिर भी उसमें व्यक्ति की पुकार दुर्बल नहीं पड़ी। 'सान्ध्य-गीत' में आकर जिस अनुपात से पीड़ा का अव्यक्तीकरण हुआ है, उसी अनुपात से उसमें अनुभूति की तीव्रता भी कम हो गयी है। 'दीप-शिखा' इसी दिशा में एक अगला क़दम है। 'सान्ध्य-गीत' में जहां दुःख और सुख का सामञ्जस्य पूर्ण हुआ था, वहां 'दीप-शिखा' में दुःख अपना दंशन खोकर सुख को समर्पण कर बैठा है। पीड़ा की ज्वाला यहां 'दीप-शिखा' बन गयी है, जो पृथ्वी के कण-कण को आलोक वितरित कर अपना घुल जाना ही वरदान मानती है। इस प्रकार 'दीप-शिखा' की अनुभूति में एक तो रज के प्रति ममत्व और दूसरे विश्वासमय अबन्ध गति—ये दो नवीन तत्त्व मिलते हैं, जिनके लिए हमारे युग-जीवन की प्रवृत्तियां उत्तरदायी हैं।

महादेवीजी के गीतों में कला का मूल्य अक्षुण्ण है। भाषा के रंगों को हल्के-हल्के स्पर्श से मिलाते हुए मृदुल-तरल चित्र आँक देना उनकी कला की विशेषता है। पन्त की कला में जड़ाव और कढ़ाई है, फलतः उनके चित्रों की रेखाएं पैनी होती हैं। महादेवी की कला में रंग-घुली तरलता है, जैसी की पंखुड़ियों पर पड़ी हुई ओस में होती है।

'सान्ध्य-गीत' में सन्ध्या की पृष्ठभूमि होने के कारण उनके चित्रों में रंगों का वैभव अधिक था; परन्तु 'दीप-शिखा' के गीतों में उसके चित्रों की ही तरह केवल दो रंग हैं—हल्का नीला और सफ़ेद। जहां कहीं अधिक रंगों का प्रयोग भी है, वहां ये सभी रंग इस प्रकार मिला दिये गये हैं कि किसी की स्वतन्त्र सत्ता न रहे—इसीलिए तो इन चित्रों में पारद के मोतियों-जैसी कोमलता आ गयी है:

रात-सी नीरव व्यथा, तम-सी अगम मेरी कहानी
फेरते हैं दृग सुनहले आंसुओं का क्षणिक पानी
श्याम कर देगी इसे छू प्रात की मुस्कान!

महादेवी के गीतों में प्रयुक्त चित्र-सामग्री अत्यन्त परिमित है। इसलिए 'नीरजा' के बाद से ही महादेवीजी के आलोचक को उनसे पुनरावृत्ति की शिकायत है। और, यह शिकायत जितनी उचित है उतनी ही सकारण भी। एक कारण तो यही है कि कवि की अनुभूति का क्षेत्र ही सीमित है। दूसरा कारण यह है कि उसने 'सान्ध्य-गीत' और 'दीप-शिखा' के गीतों को एक निश्चित पृष्ठभूमि दी है—'सान्ध्य-गीत' को सन्ध्या की, 'दीप-शिखा' को रात्रि की। यह सच है कि 'दीप-शिखा' तक पहुँचते-पहुँचते 'नीरजा' और 'सान्ध्य-गीत' की पुनरावृत्तियों से ऊबा हुआ पाठक एक बार तो सचमुच झुंझला उठता है—वे ही दीपक और बादल के छाया-चित्रों के टुकड़े नाना प्रकार के आकार और वेश धारणकर उनके काव्य के आधार-फलक पर उड़ते-तैरते दिखायी देते हैं। बादल के चित्रों से तो कवि को बेहद मोह है। परन्तु झुंझलाहट उतर जाने पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यदि वह धैर्य-पूर्वक सूक्ष्म दृष्टि से देखेगा तो उसे सूक्ष्म अवयवों की तरह-तरह की बारीकियां मिलेंगी। जैसे :

तैर तम-जल में जिन्होंने ज्योति के बुद्बुद् जगाये,
वे सजीले स्वर तुम्हारे क्षितिज-सीमा बाँध आये।
हँस उठा कब अरुण शतदल-सा ज्वलित दिनमान।

गीत की अपनी टेकनीक होती है। वह अपने जन्म से ही वन्य-कण्ठों में पला है। इसलिए उसकी गति और लय में, यहां तक कि उसकी शब्दावली में भी—वन्य संस्कार वर्तमान रहते हैं। यह असम्भव है कि एक सफल कलाकार कला-गीतों की रचना करते हुए इन वन्य गीतों की पंक्तियों को अनायास ही न गुनगुना उठे। सचमुच पाठक के संस्कार भी बिना इन स्पर्शों के गीत को गीत मानने के लिए तैयार नहीं होते। महादेवीजी इस ओर प्रारम्भ से ही सचेत रही हैं। 'दीप-शिखा' की भूमिका में उन्होंने लोक-गीतों का प्रभाव स्वीकार भी किया है। 'नीरजा' के कुछ गीतों की लय और शब्दावली में इस प्रकार के मधुर और मुखर संस्कार मिलते हैं। 'पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहचानी नहीं' या 'मुखर पिक हौले बोल, हठीले हौले-हौले बोल'—जैसी पंक्तियों को गुनगुनाते हुए पाठक के मन में लोक-गीतों की समानान्तर पंक्तियां आप-से-आप दौड़ जाती हैं। 'दीप-शिखा' में भी 'मैं न यह पथ जानती री' या 'कहां से आए बादल काले'—जैसी पंक्तियों में कुछ ऐसा ही सौंदर्य है, यद्यपि उतना नहीं जितना 'नीरजा' के गीतों में है। इस प्रकार प्रचलित लोक-गीतों की वन्य गति लय में अमूल्य काव्य-सामग्री भर कर महादेवीजी ने खड़ी-बोली की कविता में गीत के माध्यम को अमर कर दिया है।

गीत के आन्तरिक रूप का विश्लेषण यदि किया जाय तो वह कुछ इस प्रकार होगा—कभी अनायास ही कवि के मन में कोई बात चमक जाती है और चिन्तन की हल्की-हल्की आँच से गल-गलकर वह एक पंक्ति के रूप में ढल जाती है। यही गीत की पहली पंक्ति है जो प्रायः चिन्तन का परिणाम होती है। इसके उपरांत कवि उससे सम्बद्ध अन्य धूमिल भावनाओं को रूप देने का प्रयत्न करता है और गीत के अगले पदों की सृष्टि होती है। बस, इसी सृजन-प्रक्रिया में एक साथ कवि की मूल अनुभूति व्यक्त होकर शब्दों की पकड़ में आ जाती है और सारा गीत चमक उठता है। अनुभूति-प्राण गीतों के सृजन का यही इतिहास है। बच्चन के कुछ भाव-दीप्त गीत इसके साक्षी हैं। परन्तु 'दीप-शिखा' के अधिकांश गीतों में अनुभूति की तीव्रता के अभाव में ऐसा नहीं हो पाया। उनमें चिन्तन के प्राधान्य के कारण पहली पंक्ति के संकेत ही अधिक मधुर होते हैं।

'दीप-शिखा' की भूमिका का महत्त्व उसके गीतों से कम नहीं है। उसके विषय में सविस्तार चर्चा फिर कभी की जायगी। इस समय तो यही कहना पर्याप्त होगा कि आधुनिक तथाकथित प्रगतिशील या समाजवादी आलोचना की हलचल में काव्य के शाश्वत सत्यों के सहारे इस भूमिका में छायावाद की भव्य व्याख्या की गयी है जिसका स्थान हिन्दी-आलोचना के इतिहास में अमर रहेगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उन्मुक्त

'उन्मुक्त' का विश्लेषण करने से पूर्व उसके रचयिता के व्यक्तित्व का थोड़ा विश्लेषण करना संगत होगा। कवि सियारामशरण का व्यक्तित्व पीड़ा से बना हुआ है। उनका श्वास-रोग और एकाकी जीवन ये दोनों आज एक सुदीर्घकाल से उनके जीवन-सहचर हैं। स्वभावतः उनमें करुण-चिन्तन का प्राधान्य है। हिन्दी-जगत् से उपेक्षा पाकर यह पीड़ा अवश्य ही उनका कम्प-लैक्स बन जाती, यदि कवि के अतवर्य आस्तिक संस्कारों का प्रतीप प्रभाव उस पर न होता। यही आस्तिकता उसे पीड़ा को आनन्द का माध्यम मानने के लिए बाध्य करती है और वह दुःख में सुख, पराजय में विजय, और निर्बलता में बल प्राप्त करता है। ऐसी मनःस्थिति के कवि के लिए गांधीवाद का आकर्षण अनिवार्य है। गांधीवाद पीड़ित एवं पराजित देश की जितनी शुद्ध और स्वस्थ अभिव्यक्ति है, कवि सियारामशरण का काव्य गांधीवाद का उतना ही सच्चा प्रतीक है।

बुन्देलखण्ड की शस्य-श्यामला भूमि, रुग्ण कवि का एकान्त-वास, युद्ध के भीषण समाचारों को मोटे-मोटे अक्षरों में देने वाले दैनिक पत्र। कवि श्वास-रोग से पीड़ित है। पत्रों में हत्याकाण्ड के समाचार पढ़कर उसकी व्यथा द्विगुण हो जाती है। जी घुटने लगता है। मन के बोझ को हल्का करने के लिए वह बाहर देखता है। वसुन्धरा का अंचल उसे शरण देता है और वह कुछ स्वस्थ होकर कविता लिखता है जिसका सुफल होता है 'उन्मुक्त'।

'उन्मुक्त' रूपक है। लौहद्वीप के अधिपति ने समस्त संसार को अधिकृत करने का रक्तमय अनुष्ठान किया है। ताम्र-द्वीप, रौप्य-द्वीप ध्वस्त हो चुके। अब कुसुम-द्वीप पर आक्रमण हुआ है। कुसुम-द्वीपवासी वीरतापूर्वक लड़ते हैं। उनका सेनानी पुष्पदन्त अपनी समस्त शक्ति लगा देता है—यहां तक कि भस्मक किरण का भी उपयोग करने को बाध्य हो जाता है, परन्तु भाग्य साथ नहीं देता। भस्मक किरण से संयुक्त उनका विमान बीच में ही खराब होकर शत्रु के हाथ में पड़ जाता है और तुरन्त ही कुसुम-द्वीप भी अधिकृत हो जाता है।

कुसुम-द्वीप के शक्ति-संचालक तीन व्यक्ति हैं—पुष्पदन्त, गुणधर और मृदुला। वैसे तो ये तीनों ही अहिंसा में विश्वास रखने वाले हैं, परन्तु पुष्पदन्त और मृदुला आत्म-रक्षा के निमित्त हिंसा का प्रयोग न्याय्य समझते हैं। इसके विपरीत गुणधर एकान्त अहिंसा का उपासक है। आरम्भ में वह भी देश की विपत्तियों का विचार कर शस्त्र ग्रहण कर लेता है। परन्तु युद्ध की विभीषिका का प्रत्यक्ष दर्शन करने के उपरान्त, साथ ही पुष्पदन्त को भी भस्मक किरण का अवैध उपयोग करते देख वह एकदम युद्ध से विरक्त हो जाता है। पुष्पदन्त उसे मृत्यु-दण्ड देता है, परन्तु दण्ड-विधान पूर्ण होने से पूर्व ही ये तीनों समभोगी के रूप में मिलते हैं। अब पुष्पदन्त भी अपनी भूल स्वीकार कर लेता है, और अहिंसक मरण को ही जीवन की मुक्ति मानकर ये तीनों वीर उन्मुक्त हो जाते हैं। अतः 'उन्मुक्त' हिंसा की निष्फल भीषणता प्रदर्शित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करता हुआ सत्य और अहिंसा की स्थापना करता है। आधुनिक युद्ध का एकमात्र प्रतिकार अहिंसा है; क्योंकि उसी में सबका हित सुरक्षित है और विजय वही है जिसमें सबका हित हो —'सर्वोदय' हो।

"सब के हित में लाभ करो निज विजय-श्री का !" यही 'उन्मुक्त' का सन्देश है। पराधीन देश के दार्शनिक और कवि विश्व को और क्या सन्देश दे सकते हैं ? हो सकता है कि इसे सुनकर कुछ लोग (और उसमें किसी अंश तक मैं भी शामिल हूं) उसी प्रकार खिन्न हो उठें जिस प्रकार पिछली लड़ाई के दिनों में कतिपय अंगरेज़ गांधीजी के ऐसे ही सन्देश को सुनकर खिन्न हो उठे थे। परन्तु उसके पीछे मानव-करुणा से ओत-प्रोत एक तपोमयी आत्मा की तड़प है, जिसका प्रभाव अनिवार्य है।

इस प्रकार 'उन्मुक्त' की कथा उपलक्ष मात्र है और उसकी समस्त घटनाएं प्रतीक हैं कवि की उन भावनाओं की जो युद्ध के नृशंस समाचार सुन-सुनकर उसके एकाकी मन में जाग्रत हुई हैं। आप सहज ही उन्हें कथावस्तु में से पृथक् कर देख सकते हैं।

पहला चित्र आधुनिक युद्ध के सूत्रधार का है :

देखा मैंने सभी ओर घनघोर तिमिर है।
उजड़ गये ज्योतिष्क-पिण्ड शशि ग्रह तारादल,
नहीं कहीं कुछ, शून्य धरातल, शून्य नभस्थल।
फिर भी, फिर भी बोध हुआ ऐसा कुछ मन में,
कोई कुटिल कराल निखिल के प्रेत विजन में
शवसाधन में लीन; एक, बस एक वही है,
और अन्य वह अचल पड़ी आक्रान्त मही है।
किसी लोभ के ज्योतिहीन जन्मान्ध अनल में,
हुआ निखिल खग्रास !

आगे स्वयं अभियान का अवलोकन कर लीजिये :

बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ-सौ यानों से।
उनका क्या मैं कहूं—घोष दुर्घोष भयंकर;
प्रेतों का-सा अट्टहास; शतशत प्रलयंकर;
उल्काओं का पतन, वज्रपातों का तर्जन,
नीरव जिनके निकट,—हुआ ऐसा कटु-गर्जन।
कुछ ही क्षण उपरान्त एक अर्धांश नगर का,
युग-युग का श्रम-साध्य साधनाफल वह नर का,—
ध्वस्त दिखाई दिया। चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह-भवन, कुटीरों के चय के चय,
गिरकर अपनी ध्वंस चिताओं में थे जलते।

तीसरा चित्र है युद्ध में होने वाले नारीत्व के अपमान का—

सुनो, हुआ हेमा का फिर क्या;
सद्योधिक उस मांस-पिण्ड का, उष्ण रुधिर का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लोभी नरपशु उसे जिलाये रहा रात भर
सैन्य शिविर में ! पढ़ो, पढ़ सको यदि धीरज धर
तो पढ़ लो यह पत्र।

कवि की पुण्य भारती उस अत्याचार का वर्णन करने में शरमा जाती है और वह एक तीखा व्यंग्य कसकर रह जाता है :

धिक् धिक् ।
कुत्सित घृन्य जघन्य अरे ओ उच्च सांस्कृतिक !
तुम ऐसे हो !

'उन्मुक्त' का सबसे मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग है सुश्रूषालय। यह रुग्ण कवि की आत्मा की सीधी अभिव्यक्ति है। कवि के समान ही आहत गुणधर (जो सचमुच उन्हीं का प्रतिरूप है) सुश्रूषालय में पड़ा हुआ पिछले दिन की घटना का स्मरण कर रहा है। यह घटना भी युद्ध-सम्बन्धी एक कठोर विचित्रता ही की प्रतीक है। आज से बहुत दिन पूर्व—लगभग १०० वर्ष पूर्व कार्लायल ने इस पर व्यंग्य किया था :

...For example, there dwell and toil in the British village of Dumdrudge usually some five hundred souls. From these by certain natural enemies of the French there are successively selected say thirty able bodied men...And now to that same spot in the south of Spain are thirty similar French artisans from a French Dumdrudge in like manner wending; till at length after infinite effort the two parties come into actual juxtaposition. Straightway the word 'Fire' is given, and they blow the souls out of one another......Had these men any quarrel ? Busy as the devil is not the smallest ! They lived far enough apart; were the entirest strangers. How then ? Simpleton ! their governors had fallen out, and instead of shooting one another had the cunning to make these poor block-heads shoot.

—Carlyle

यही तथ्य कविता की गहराई लेकर इस प्रसंग में व्यक्त हुआ है। एक मरणासन्न शत्रु सैनिक को किसी अपरिचित भाषा में कराहते देखकर गुणधर को युद्ध की विषमता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसकी मानवात्मा पिघल पड़ती है :

अब यह किसका शत्रु, पड़ गया मैं संशय में।
अविकृत मानव-मात्र सभी का सहज सगोत्री
हम सब-सा ही मरण-यज्ञ में एक सहोत्री।

अत: यह भेद-भाव भूलकर सहानुभूति प्रदर्शित करने लिए उस सैनिक के पास जाता है, परन्तु आह रे वंचित मानव ! मरणप्राय वह सैनिक अपनी बची हुई शक्ति समेटकर गुणधर पर वार कर बैठता है। बस, यहीं पर मानवता की चरम विजय है—गुणधर उस पर रोष नहीं, दया करता है :

वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;
ऐसा मानव लाभ उठा जिसकी शिशुता का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल। आत्म-विस्मृति ने छाकर
उसका बोध विलोप कर दिया था, मैं उस पर
रोष करूं या दया ?

जिस प्रकार बरसात में विद्युत् अथवा आँसुओं के बीच आँख की ज्वाला जल उठती है, उसी प्रकार इन द्रवित भावनाओं में वीरता भी कहीं-कहीं चमक उठी है और युद्ध का गौरव-पक्ष भी उपेक्षित नहीं रहा :

—याद ऐसा भट आया
छिन्न-शीर्ष जो कटे हुए धड़ का मन भाया
देख रहा हो समर-पराक्रम खुले नयन से।
आ उतरा ज्यों वहां मरण के वातायन से
लोचन का फल-लाभ।

आगे कुछ ध्वंस के चित्र हैं, जिनमें से एक में अबोध शिशुओं की हत्या का दृश्य है—वहां स्वर्गगत बच्चों के द्वारा मानव नृशंसता की आलोचना करायी है। इसके उपरान्त पराजय है—कुसुम-द्वीप ने शस्त्र समर्पित कर दिये। अधिकार सौंपते हुए यूरोप के अनेक प्राइम-मिनिस्टरों की रुद्ध वाणी मानो 'उन्मुक्त' के महामात्य के कण्ठ में फूट पड़ी है :

प्रत्यय है मुझको—
द्वीप की नहीं है हार, हार यह मेरी है।
आप में से कोई किसी मांगलिक वेला में
आकर नवीन बल-बुद्धि से, महत्ता से
आज की पराजय को जय में बदल दें,
मेरी यही कामना है।
भावी उस जेता को
आज का पराजित मैं रुद्ध निज वाणी से
अर्पित प्रणाम किये जाता हूं, विनय से,
अच्छा नमस्कार !

परन्तु सचमुच यह पराजय कुसुम-द्वीप की नहीं है। यह हिंसा की पराजय है। पुष्पदन्त भी अपनी भूल स्वीकार करता है :

अच्छा ही यह हुआ कर सके निज में अनुभव
है कैसा पाशविक हिंस्र ज्वाला का ताण्डव।

अन्त में इस युद्ध की समस्या का समाधान है :

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

बस यहीं कवि की आस्तिकता उसको मुक्त करती है। अन्यथा दैहिक, दैविक और (युद्ध की) आत्मिक—तीनों प्रकार की पीड़ाएं मिलकर उसे कुछ और ही बना देतीं। इसी के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बल पर विनाश में भी मां वसुमती की सृजन-शक्ति को क्रियाशील देखकर उसे परितोष होता है :

आश्वसित, समाश्वसित हूं,
तुझे देखकर हरित भाव से आशान्वित हूं।
देख रहा हूं जहां क्रोध कुत्सित पाशव का
रूप विकट वीभत्स, जहां मूर्छित मानव का
शतशः खण्डीकरण दलन-विदलन कर कर के;
उसी ठौर पर, उसी ठिकाने के थल पर से
फूट पड़े हैं नये-नये अंकुर वे शोभन।
× × ×
जिसे घृणा की गयी उसी के लिए नमित है
धरणी की वह सुमन मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित
इधर उधर सब ओर।

युद्ध की विभीषिकाओं का वर्णन पढ़-सुनकर ऐसी ही भावनाएं कवि के मन में उठी हैं, जिनको उसने अपूर्व कौशल के साथ अन्वित कर एक कहानी का रूप दे दिया है। यद्यपि वास्तविक गौरव इन भाव-चित्रों का ही है, फिर भी कथा का संघटन एकदम निर्दोष है, उसके विकास में सहज क्रम, गति में अनुकूल प्रवाह और वृत्त-वर्णन में रोचकता लाने का सफल प्रयत्न है — उदाहरण के लिए मृदुला और जागरिता का अवचेतनात्मक वार्तालाप लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कहानी का आधार भी उसी के योग्य है। कवि ने इसके निमित्त अखण्ड देश-काल को चुना है, जिसका विराट् आकार समस्त दिङ्मण्डल को समेटे हुए वर्तमान, भूत और भविष्य के तीन पदों पर स्थित है। सियारामशरणजी अपने ढंग के अकेले टेकनीशियन हैं। उनकी टेकनीक में श्री-विलास चाहे अधिक न हो, परन्तु उसका 'सहज गुण' असंदिग्ध है। आज के जैसे एकान्त कवित्व-शून्य युद्ध को भी उन्होंने न केवल प्राणों की पीड़ा में डुबोकर ही, वरन् कवि-कौशल के द्वारा भी काव्यमय बना दिया है। आज अनेक प्रगतिवादी कलाकर प्रत्यक्ष को काव्यमय बनाने की कला 'उन्मुक्त' से सीख सकते हैं। इसी प्रसंग में मैं कवि की नित्य प्रौढ़तर होती हुई अभिव्यंजना-शैली के कुछ उदाहरण उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता :

१—रौप्य-द्वीप तो है ध्वस्त; नाम अब उसका
और कुछ हो गया है,—जैसे किसी जन की
मृत्यु हो गयी है, वह निम्न किसी योनि में
जाकर दिखाई पड़े, पोंछकर स्मृति से
अपना अतीत एक साथ।
२—स्वेद-सनी बन गयी सलोनी तेरी रोटी।

अन्त में हमें यह देखकर सुख होता है कि सियारामशरणजी की कविता उत्तरोत्तर गम्भीर और प्रौढ़ होती जा रही है। उनकी पिछली कृति 'बापू' एक महान् कविता थी— 'उन्मुक्त' उससे भी महत्तर है। इस श्रेणी की कविता पिछले दो-एक वर्षों में कष्ट-प्राप्य ही रही है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कवि सियारामशरण की काव्य-साधना अन्तर्मुखी है। उसमें चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है। बाह्य जीवन का उपभोग कम होने के कारण उसमें जीवन का वह खट्टा-मिट्ठा रस नहीं है जो उनके अग्रज मैथिली बाबू के काव्य में है। परन्तु हर एक स्थान पर आपको तपःपूत आत्मा का छना हुआ विशुद्ध रस मिलेगा, जिसमें चाहे स्वाद बहुत अधिक न हो, परन्तु शान्ति अनिवार्य है। गांधीवाद के दो पक्ष हैं—एक व्यवहार पक्ष, दूसरा दर्शन पक्ष। व्यवहार-पक्ष के कवि हैं मैथिलीशरण गुप्त और दर्शन-पक्ष के कवि हैं सियारामशरण। अथवा हम यह कह सकते हैं कि गांधीवाद के दो पक्ष हैं—एक ओज-पक्ष, दूसरा तप-पक्ष। ओज-पक्ष के कवि आज अनेक हैं जिनमें नवीन अग्रणी हैं, तप-पक्ष का एक अकेला कवि है सियारामशरण गुप्त।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' दिनकर की प्रौढ़तम काव्य-कृति है। पारिभाषिक रूप में तो इसे सप्त-सर्ग-बद्ध पौराणिक प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है; परन्तु वस्तुतः न तो यह पौराणिक है और न प्रबन्ध-काव्य ही। यह तो अभी समाप्त होने वाले यूरोप के द्वितीय महासमर से प्रेरित एक लम्बी चिन्ता-प्रधान कविता है। इसमें न तो कुरुक्षेत्र का घटना-चक्र है और न उसका क्रमिक निबन्ध; इसमें तो स्वयं कवि के शब्दों में उसका शंकाकुल हृदय ही मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है। वास्तव में चिन्ता-प्रधान कविता की यही परिभाषा है—जब हृदय अपने उद्‌गार सहज और प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करता है तब गीति-कविता का जन्म होता है, और जब मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोलता है तो चिन्ता-प्रधान कविता का उद्भव होता है। चिन्ता-प्रधान कविता और नवीन बौद्धिक कविता में स्पष्ट अंतर यही है कि उसमें मस्तिष्क हृदय के स्तर पर चढ़कर बोलता है; अर्थात् उसमें मस्तिष्क के विचार और तर्क-वितर्क भावना का आश्रय लेकर व्यक्त होते हैं, और इसमें हृदय की भावना विचार है और तर्क-वितर्क का आश्रय लेकर व्यक्त होती है। पहली में प्रेषणीय विचार है और भावना माध्यम है; दूसरी में प्रेषणीय भावना है और विचार माध्यम है। इसीलिए अपने सहज रूप में पहली की अपेक्षा दूसरी में काव्य-तत्त्व की प्रचुरता मिलती है। दिनकर ने स्वयं 'कुरुक्षेत्र' के प्रबन्ध-तत्त्व की सफ़ाई में कहा है कि इसके प्रबन्ध की एकता वर्णित विचारों को लेकर है; परन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्त है। इसमें एकता विचार की बिल्कुल नहीं है; वरन् युद्ध के औचित्य और अनौचित्य को लेकर उठने वाली उस शंका की है जिसने उनके मन को अस्थिर कर दिया था। इस काव्य में कुरुक्षेत्र युद्ध का प्रतीक है, युधिष्ठिर और भीष्म कवि के तर्क और वितर्क अर्थात् विचार के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं, जिन पर आरूढ़ होकर उनके मन की द्विविधा समाधान की ओर दौड़ती है। युधिष्ठिर अहिंसा के प्रतीक हैं जो युद्ध को किसी परिस्थिति में भी उचित नहीं मानते हैं; और भीष्म न्याय-भावना के प्रतीक हैं जो अन्याय के दमन के लिए युद्ध को उचित ही नहीं, आवश्यक भी मानते हैं। इन तीनों प्रतीकों को लेकर दिनकर ने युद्ध से विक्षुब्ध अपने हृदय और मस्तिष्क की संकुलता से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में, उपर्युक्त दोनों पक्ष ही प्रबल हैं, और कवि के अपने मन की द्विविधा भी उतनी ही तीव्र है। वह उस प्रान्त का निवासी है जिसमें एक ओर प्रतापी मौर्य और गुप्त-सम्राट् हुए हैं, और दूसरी ओर भगवान् बुद्ध। कहने का तात्पर्य यह है कि विनय और उदग्रता, क्षमा और शौर्य दिनकर के सस्कारों में रमे हुए हैं। इसीलिए वह इन दोनों पक्षों की अत्यन्त सशक्त और तीव्र अभिव्यक्ति करने में समर्थ हुए हैं।

देखिए, महाभारत-विजेता धर्मराज युधिष्ठिर अपनी विजय को कुरुक्षेत्र में बिछी लाशों से तोल रहे हैं। सामने महाभारत के उपरान्त कुरुक्षेत्र का दृश्य है :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जहां भयंकर भीमकाय शव-सा निस्पंद, अशांत;
शिथिल-श्रांत हो लेट गया है स्वयं काल विक्रांत।
रुधिर-सिक्त अंचल में नर के खंडित लिये शरीर;
मृत्वत्सला विषण्ण पड़ी है धरा, मौन गंभीर।

× × ×

यह उच्छिष्ट प्रलय का, अहि-दंशित मुमूर्षु यह देश;
मेरे हित श्री के गृह में वरदान यही था शेष !

युधिष्ठिर एक साथ चीख उठते हैं :

मनु का पुत्र बने पशु-भोजन, मानव का यह अंत !
भरत भूमि के नर-वीरों की यह दुर्गति, हा हंत !

इस महाश्मशान के साथ जब वे अपनी विजय की तुलना करते हैं तो उन्हें सहज ही इसकी तुच्छता का ज्ञान हो जाता है :

कुछ के अपमान के साथ, पितामह,
विश्व-विनाशक युद्ध को तोलिये।

उनका न्याय-अन्याय का विचार ही मानो उस महानाश की ज्वाला में जल कर भस्म हो जाता है, और वे सोचते हैं कि :

द्रुपदा के पराभव का बदला कर, देश का नाश चुकाना था क्या ?

वे ग्लानि से अभिभूत हो जाते हैं; उनकी विजय ही मानो उन पर व्यंग्य कर रही है :

एक शुष्क कंकाल, युधिष्ठिर की जय की पहचान;
एक शुष्क कंकाल, महाभारत का अनुपम दान।

यहाँ तक कि वे उससे डरने लगते हैं : उसका भोग करना उन्हें ऐसा लगता है जैसे हाल ही में विधवा हुई किसी 'दु:खिनी के साथ ब्याह का साज सँजोना'।

इस प्रकार एक ओर कुरुक्षेत्र में होने वाले भयंकर रक्तपात और दूसरी ओर विजेता युधिष्ठिर के मन को कचोटने वाली तीव्रतम ग्लानि के द्वारा कवि ने युद्ध के विपक्ष में अपनी भाव-प्रेरित गंभीर युक्तियां उपस्थित की हैं।

इस पाप का युधिष्ठिर के मन पर ऐसा आतंक छा जाता है कि वे अपने को सम्पूर्ण मानवता के प्रति अपराधी मान बैठते हैं और लज्जा को छिपाने के लिए दुनिया को ही छोड़कर भाग जाना चाहते हैं :

मानव को देख आँखें आप झुक जातीं, मन
चाहता अकेला कहीं भाग जाऊं वन में।

क्योंकि—

व्यंग्य से बिंधेगा वहां जर्जर हृदय तो नहीं,
वन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊंगा।

इसके विपरीत युद्ध का दूसरा पक्ष भी है; उसके समर्थन में मृत्युंजय भीष्म की भाव-दीप्त वाणी सुनिए :

है बहुत देखा सुना मैंने मगर, भेद खुल पाया न धर्माधर्म का।
आज तक ऐसा कि रेखा खींचकर, बाँट दूं मैं पुण्य को औ' पाप को।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जानता हूं किन्तु जीने के लिए, चाहिए अंगार जैसी वीरता।
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध, जो है खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

तप, करुणा, क्षमा, विनय और त्याग—-ये सभी व्यक्ति की शोभा हैं; परन्तु जब प्रश्न 'व्यक्ति' का न रहकर 'समुदाय' का हो जाता है, उस समय तो युद्ध द्वारा अन्याय का दमन मनुष्य का परम धर्म बन जाता है। और फिर युद्ध का होना किसी एक व्यक्ति या एक जाति पर निर्भर तो नहीं है; वह तो अनेक व्यक्तियों और जातियों के हृदय में न जाने कब से सुलगती हुई अग्नि का महा-विस्फोट है जो सर्वथा अनिवार्य होता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध के लिए केवल युधिष्ठिर और दुर्योधन ही उत्तरदायी नहीं थे, और न केवल उनके परिवार ही; वह तो सम्पूर्ण भारतवर्ष का ही विस्फोट था :

न केवल यह कुफल कुरुवंश के संघर्ष का था—
विकट विस्फोट यह सम्पूर्ण भारतवर्ष का था।

न जाने कितने युगों से विश्व में विष-वायु बहती आ रही थी। अनेक योद्धा और अनेक वंश परस्पर वैर-साधन के लिए तैयार बैठे थे और समर का कोई बड़ा आधार खोज रहे थे। कहीं कोई दूसरे की शूरता के प्रति ईर्ष्या से जल रहा था, किसी के हृदय में दूसरे की क्रूरता के प्रति क्षोभ था। कहीं एक राजा का उत्कर्ष दूसरे राजाओं को खटक रहा था, किसी के हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला जल रही थी। एक ओर राधेय कर्ण पार्थ-वध का प्रण निभाना चाहता था, दूसरी ओर द्रुपद गुरु द्रोण से वैर-शुद्धि के लिए व्यग्र था। इधर शकुनि अपने पिता का ऋण चुकाने के लिए दुर्योधन पर माया फैला रहा था, उधर भगवान् कृष्ण के सुधारों से चिढ़े हुए राजाओं का अभिमान भीतर-ही-भीतर धुंधुआ रहा था। इसके अतिरिक्त और जो कुछ शेष था वह पांडवों के राजसूय ने पूरा कर दिया। इस प्रकार परस्पर के कलह और वैर से अपने-आप ही सारा भारतवर्ष दो दलों में विभक्त हो चुका था, और दोनों ही दल :

खड़े थे वे हृदय में प्रज्ज्वलित अंगार लेकर—
धनुर्ज्या को चढ़ा कर म्यान में तलवार लेकर।

युद्ध के कारणों के इस क्रमिक विकास का, ज्वाला का प्रतीक लेकर, कवि ने अत्यन्त ही भावपूर्ण वर्णन किया है।

युद्ध-विषयक इन्हीं दो प्रतिक्रियाओं द्वारा विभक्त कवि का मन अन्त में समाधान की ओर दौड़ता है। आखिर, इस द्विविधा का अन्त कहां है! इसी का विचार करता हुआ वह फिर द्वापर के महाभारत को छोड़ बीसवीं शताब्दी के द्वितीय महायुद्ध की ओर लौट आता है और बुद्धि के अतिचार में युद्ध के कारण की खोज करता है :

किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।
चाहिए उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं मांगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान;
मोम-सी कोई मुलायम चीज,
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज-पसीज।

× × ×

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ले चुकी सुख-भाग समुचित से अधिक है देह,
देवता हैं मांगते मन के लिए लघु गेह।

मानव-मन के देवताओं को यह लघु-गेह बुद्धि के विशाल कक्ष में न मिलकर हृदय के छोटे और गर्म कोने में मिलेगा; अर्थात् आज की विषमताओं का, जिनका सबसे भयंकर परिणाम युद्ध में प्रकट होता है, समाधान विज्ञान द्वारा सम्भव न होकर स्नेह द्वारा ही सम्भव है :

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान कटु आग्नेय।
श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका आँसुओं की धार,
श्रेय उसका भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत में जागरण का गान
मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण-अभियान।

मानव का मानव के प्रति यही मुक्त आत्म-दान अन्त में जीवन के साम्य को जन्म देता है; वहां सारे वैषम्य दूर हो जाते हैं। वैयक्तिक भोगवाद इन वैषम्यों का मूल कारण है; इसी के कारण क्रमशः राज-तंत्र, दंड-विधान आदि शोषण की अनेक विधियों का जन्म हुआ है। इसका अन्त करते हुए साम्य-भाव की स्थापना ही मानो जीवन की मुक्ति है :

वल्कल-मुकुट, परे दोनों के छिपा एक जो नर है,
× × ×
जिस दिन देख उसे पावेगा मनुज ज्ञान के बल से,
× × ×
उस दिन होगा सुप्रभात नर के सौभाग्य-उदय का,
उस दिन होगा शंख ध्वनित मानव की महाविजय का।

भीष्म पितामह युधिष्ठिर को अन्त में यही उपदेश देते हैं—संन्यास, भाग्यवाद आदि सभी व्यक्तिवाद के छल-छंद हैं; वे तो जीवन से पलायन करने के मार्ग हैं, उन्हें मुक्ति-पथ समझना भ्रम है।

परन्तु सुख का वास्तविक रूप क्या है, यह प्रश्न भी कम गम्भीर नहीं है। साधारणतः इसके दो उत्तर सामने आते हैं : एक तो देह के आनन्द का सर्वथा निषेध करता हुआ आत्मा के आनन्द को ही सच्चा सुख मानता है; और दूसरा आत्मा के आनन्द को मिथ्या कल्पना कहता हुआ सुख का अर्थ भौतिक उपभोग ही कहता है। परन्तु वास्तविक सुख दोनों के सामंजस्य में ही है। इसमें सन्देह नहीं कि सुख का मूल आधार भौतिक ही है :

नर जिस पर चलता वह मिट्टी है, आकाश नहीं है।

परन्तु फिर भी लिप्सा पर विजय प्राप्त कर इस भौतिक सुख का संस्कार करना अनिवार्य है :

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को;
करें विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।

स्पष्टतः ही युद्ध-समस्या का यह मानववादी समाधान है। मिट्टी की महिमा, व्यक्तिवाद

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के सभी रूपों और उसकी सभी अभिव्यक्तियों का जैसे वैयक्तिक भोगवाद, राजतन्त्र, दण्ड-विधान, सामाजिक वैषम्य और उधर संन्यास, आध्यात्मिक साधना आदि का तिरस्कार, समाजवादी जीवन-दर्शन के प्रभाव की ओर, इंगित करता है। और, निश्चय ही दिनकर को उसके प्रति गहरी आस्था है; परन्तु उन्होंने उसके व्यापक और परिष्कृत रूप को ही ग्रहण किया है। उनके संस्कारों पर भारतीय आदर्शवाद का गहरा प्रभाव है, इसीलिए उनका दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक कहीं नहीं हो पाया। एक सूक्ष्म आदर्शोन्मुखी चेतना उसमें परिव्याप्त है जो उसे स्थूल ऐहिकता से ऊपर उठाये रखती है।

युद्ध के ये दोनों पक्ष वास्तव में वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण के ही परिणाम हैं, और उनके बीच की द्विविधा जीवन में व्यक्ति-तत्त्व और समाज-तत्त्व के बीच की द्विविधा ही है, जो दिनकर के मन का मूल द्वंद्व है। इन दोनों पक्षों को कवि ने इतने सबल रूप में रखा है कि पाठक दोनों ही दिशाओं में बहने लगता है। युधिष्ठिर और भीष्म दोनों के ही शब्दों में अनिवार्य बल है और उन्हें यह बल मिला है कवि की द्विधाभक्त अनुभूति से। केवल अन्तिम सर्ग में आकर जब समाधान की खोज हुई है, तभी उसे बुद्धि पर आश्रित होना पड़ा है; और ऐसा प्रतीत होता है जैसे बुद्धिपूर्वक इस द्विविधा को मिटाने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए काव्य की दृष्टि से यह सर्ग थोड़ा निर्बल हो गया है और विचारों में भी एक उलझन-सी पड़ गयी है। भीष्म के तर्क, जो इससे पूर्व अनुभूति से पुष्ट थे, यहां आकर सैद्धान्तिक व्याख्यान का रूप धारण कर प्रायः अपनी शक्ति खो बैठे हैं।

'कुरुक्षेत्र' में आकर दिनकर की कला में एक स्तुत्य प्रौढ़ता आ गयी है। उन्होंने यहां विस्तृत काव्य-सामग्री का बिना अभ्यास के प्रयोग करते हुए विराट् और कोमल चित्र उपस्थित किये हैं। मृत्युंजय भीष्म का एक विराट् चित्र देखिए:

शरों की नोक पर लेटे हुए गजराज जैसे,
थके-टूटे गरुड़-से, स्रस्त पन्नगराज जैसे;
मरण पर वीर-जीवन का अगम बल-भार डाले,
दबाये काल को, सायास संज्ञा को सँभाले;

नीचे की पंक्तियों में अन्यायपूर्ण शान्ति को कितने अर्थपूर्ण शब्दों में चित्र-बद्ध किया गया है:

आनन सरल, वचन मधुमय है, तन पर शुभ्र वसन है;
बचो युधिष्ठिर ! इस नागिन का विष से भरा दशन है।

इसी प्रकार अभिव्यंजना में भी अद्भुत वक्रता, अर्थ-गौरव और समास-गुण मिलता है।

दिनकर की कला की प्रमुख विशेषता उसकी सुख-सरल गति है। 'कुरुक्षेत्र' की काव्य-सामग्री के नियोजन में, शब्द-विन्यास में, छन्द और लय की योजना में, सर्वत्र यही सुख-सरल गति मिलती है। उसमें कहीं भी काट-छांट, जड़ाव या बनाव-सिंगार का प्रयत्न नहीं और इसका कारण भी उनकी सबल अनुभूति ही है जो अनायास ही वाग्धारा में फूट उठती है।

हिन्दी के कवियों ने वर्तमान युद्ध से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक कविताएं लिखी हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश स्थायी नहीं हो पायेंगी; इसका कारण एक तो यही है कि इस युद्ध का प्रभाव हमारे ऊपर सीधा नहीं पड़ा। अतएव इससे हमें वह गम्भीर प्रेरणा न प्राप्त हो सकी जो रस-दीप्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कविता को जन्म देती है। सब मिलाकर दो-चार रचनाएं ऐसी हैं जो आधुनिक हिन्दी-कविता की स्थायी निधि हो सकेंगी और इनमें सबसे उत्कृष्ट हैं श्री सियारामशरण का काव्य 'उन्मुक्त' और दिनकर का 'कुरुक्षेत्र'। इन दोनों के जीवन-दर्शनों में एक प्रकार का वैपरीत्य है, परन्तु उनमें एक बात समान है। वह यह कि युद्ध के प्रति इनकी प्रतिक्रिया शुद्ध मानवीय अथवा मानववादी है; सैद्धान्तिक अथवा राजनीतिक नहीं। युद्ध के सामयिक रूप को न लेकर इन कवियों ने उसके शाश्वत रूप को ही ग्रहण किया है। एक ओर युद्ध से होने वाले भीषण नर-मेध की मानव-वृत्तियों पर क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, और दूसरी ओर उसके आह्वान पर मनुष्य के सम्पूर्ण पौरुष और शौर्य की किस प्रकार परीक्षा होती है, मूलतः यही इनका वर्ण्य विषय रहा है। निदान उनमें युद्ध के विराट् और करुण दोनों पक्षों का भव्य चित्रण मिलता है। दोनों ने अपने-अपने स्वभाव और संस्कारों के अनुसार इसी की अभिव्यक्ति की है। इसमें सन्देह नहीं कि इन कवियों की बौद्धिक मान्यताएं भी उनके साथ रही हैं; परन्तु वे अनुभूति की पोषक ही रही हैं, उसकी प्रेरक अथवा स्थानापन्न प्रायः नहीं हो पायीं। इनकी सफलता का दूसरा कारण यह है कि उन्होंने युद्ध के विरुद्ध यों ही नारे बुलन्द नहीं किये, वरन् काव्य की व्यंजनात्मक शैली का प्रयोग किया है। सियारामशरणजी ने रूपक का और दिनकर ने कुरुक्षेत्र की पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर हमारे संस्कार और कल्पना को भी जगाने में सफलता प्राप्त की है। इसीलिए औरों की अपेक्षा इनका प्रभाव अधिक सूक्ष्म और गहरा हो गया है। हिन्दी में आजकल कोमल और मधुर भावना के अमर कवि अनेक हैं; परन्तु विराट्-भाव को अपने पौरुष-दीप्त स्वरों में बाँधने वाले कवि प्रसाद और निराला के बाद मुश्किल से नजर आते हैं। दिनकर का गौरव यह है कि उनको विराट् और कोमल पर समान अधिकार प्राप्त है। आज प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी का युग समाप्त-सा ही हो गया है, और अनेक प्रकार के नवीन जीवन-दर्शन तथा घोषणा-पत्रों के होते हुए भी हिन्दी काव्यधारा उतार पर है। जब मैं उनके उत्तराधिकारियों की ओर दृष्टि डालता हूं तो सबसे अधिक आशा दिनकर से ही होती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उर्वशी

आलोचना की प्रक्रिया के मूलत: तीन अंग या सोपान हैं—१. प्रभाव-ग्रहण, २. व्याख्यान-विश्लेषण, और ३. मूल्यांकन। आज कविता और आलोचना दोनों के क्षेत्र में नये प्रयोग हो रहे हैं और एक ओर जहां 'नयी कविता' का ज़ोर है, वहां दूसरी ओर उसी के वज़न पर 'नयी आलोचना' भी ज़ोर पकड़ रही है। 'उर्वशी' का प्रकाशन इस साहित्यिक सत्य का अतर्क्य प्रमाण है कि कविता को 'अच्छी' या 'बुरी' कहना जितना आसान है उतना आसान 'नयी' या 'पुरानी' कहना नहीं है। इसी तर्क से मेरे लिए आलोचक का कर्तव्य-कर्म और आलोचना की प्रक्रिया आज भी वही है। 'उर्वशी' का मैं, एक सहृदय पाठक की तरह, अंशत: कवि-मुख से सुनकर और अब बाद में स्वयं मनोयोग के साथ पढ़कर रस ले चुका हूं और अब इस स्थिति में हूं कि उसकी आलोचना कर सकूं।

प्रभाव-ग्रहण

'उर्वशी' के अधिकांश प्रसंगों को पढ़ने में मुझे निश्चय ही रस मिला। भाव, कल्पना और विचार से परिपुष्ट 'उर्वशी' की कविता में भावों को आन्दोलित करने, प्रबुद्ध कल्पना के सामने मूर्त-अमूर्त के रमणीय चित्र अंकित करने और विचार को उद्बुद्ध करने की अपूर्व क्षमता है। नर-नारी का प्रेम—दर्शन की शब्दावली में काम तथा काव्यशास्त्र की शब्दावली में रति मानव-जीवन की सबसे प्रबल वृत्ति है और 'उर्वशी' के काव्य का वही आधार-विषय है। काम की अनुभूति के सूक्ष्म-प्रबल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़, मोहक-पीड़क, उद्वेगकर और सुखकर, दाहक और शीतल, मृण्मय और चिन्मय अनेक रूपों का 'उर्वशी' में अत्यन्त मनोरम चित्रण है और सबसे अधिक आकर्षक है प्रेम की उस चिर-अतृप्ति का चित्रण जो भोग से त्याग और त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप और अरूप से रूप की ओर भटकती हुई मिलन तथा विरह में समान रूप से व्याप्त रहती है। भाव-संवेदन की यह अनेकरूपता अपने-आप में भी कम काम्य नहीं है, किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व है उस अन्तर्दर्शन का जो अवचेतन या अर्धचेतन में घुमड़ने वाले इन अंधे संवेदनों को चेतन मन के आलोक में प्रस्तुत करता है और कदाचित् इससे भी अधिक महत्त्व है कवि की उस प्रख्या का जो इन अरूप झंकृतियों को कल्पना-रमणीय रूप प्रदान करती है। इन सभी प्रसंगों के उदाहरण देना यहां संभव नहीं है—केवल तीन उद्धरण देकर मैं अपने मत को पुष्ट करता हूं जो क्रमश: संवेदन की सूक्ष्मता, तीव्रता और प्रगाढ़ शक्ति को चित्रित करते हैं—

१. (क) देह डूबने चली अतल मन के अकूल सागर में,
किरणें फेंक अरूप रूप को ऊपर खींच रहा है।

(ख) जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय में
नर-नारी मिलते समाधि-सुख के निश्चेत शिखर पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तब प्रहर्ष की अति से यों ही प्रकृति काँप उठती है,
और फूल यों ही प्रसन्न होकर हँसने लगते हैं।

२. (क) वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती, रोमों में दीपक बल उठते हैं !
वह आलिंगन अंधकार है, जिसमें बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं !
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रन्थियां निखिल तन-मन की खुल जाती हैं !

(ख) जला जा रहा अर्थ सत्य का सपनों की ज्वाला में,
निराकार में आकारों की पृथ्वी डूब रही है।
यह कैसी माधुरी ? कौन स्वर लय में गूँज रहा है ?
त्वचा-जाल पर, रक्त-शिराओं में, अकूल अन्तर में ?
ये ऊर्मियां ! अशब्द नाद ! उफ़ री बेबसी गिरा की !
दोगे कोई शब्द ? कहूं क्या कह कर इस महिमा को ?

३. उफ़ री यह माधुरी ! और ये अधर विकच फूलों-से !
ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते हैं,
रोम-कूप, जानें, भर जाते किन पीयूष-कणों से !
और सिमटते ही कठोर बाँहों के आलिंगन में,
चटुल एक पर एक उष्ण ऊर्मियां तुम्हारे मन की
मुझ में कर संक्रमण प्राण उन्मत्त बना देती हैं।
कुसुमायित पर्वत-समान तब लगी तुम्हारे तन से
मैं पुलकित-विह्वल, प्रसन्न-मूर्च्छित होने लगती हूं।
कितना है आनन्द फेंक देने में स्वयं स्वयं को
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में ?

इसी प्रकार कई प्रसंग ऐसे हैं जो काव्य-गुण की दृष्टि से अपूर्व हैं। जैसे प्रथम अंक में दिव्य और मानवीय प्रेम का भेदाभेद, पुरूरवा का अन्तर्द्वन्द्व, गर्भिणी उर्वशी का चित्र, अभिशप्ता उर्वशी की पीड़ा, अन्तिम अंक में औशीनरी की विचित्र स्थिति आदि। पुरूरवा के अन्तर्द्वन्द्व में विचारवान् पुरुष की कामानुभूति की द्विधा का चित्रण है—सामान्य, जैव स्तर पर कामानुभूति अंधी ऐन्द्रिय तृप्ति है—किन्तु मेधावी पुरुष की सक्रिय मेधा इस एकरस तृप्ति के अखण्ड उपभोग में बाधा पहुँचाती है। मन के अनेक संकल्प-विकल्पों के प्रभाव से रक्तधारा की इस क्रीड़ा में ऐसी विषमता उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण कामानुभूति मधुर और कटु संवेदनों का विचित्र मिश्रण बनकर रह जाती है। मनोविश्लेषणशास्त्र के पास इस द्विधा का अपना भौतिक समाधान है, किन्तु दिनकर आत्मवादी हैं—उनकी चेतना रूप से अरूप, मृण्मय से चिन्मय की ओर जाती है; अर्थात् काम के आधिभौतिक आस्वाद तथा आध्यात्मिक आस्वाद के बीच भटक जाती है। आत्मा की सत्ता में विश्वास करने वाले के लिए यह आध्यात्मिक या चिन्मय आस्वाद एक सहज सत्य है और वह मृण्मय से तुरन्त ही ऊपर उठकर वहां पहुँच जाता है, जैसा कि उपनिषद्-काल के ऋषियों या मध्यकाल के सूफ़ी सन्तों और मधुरोपासक भक्तों के विषय में माना जा सकता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है। उस स्थिति में द्विधा मिट जाती है। किन्तु पुरूरवा आज के युग का भारतीय पुरुष है—जो संस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार कर मृण्मय आस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न अपने पूर्वजों की भाँति मृण्मय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति में लीन हो सकता है। केवल मनोविज्ञान के धरातल पर भी इस द्वन्द्व की व्याख्या सम्भव है। आज के बुद्धिजीवी के लिए कामसुख में सर्वथा तल्लीन होना सम्भव नहीं है क्योंकि उसकी जागरूक बुद्धि और उसके द्वारा निरन्तर शाणित अहंकार आत्मनिलय में बाधक होता है, परन्तु साथ ही काम के प्रति अबाध आसक्ति से भी वह पीड़ित है और उससे भी मुक्ति पाना उसके लिए सम्भव नहीं है। इस प्रकार काम-चेतना की अनुभूति में एक विचित्र वैषम्य उत्पन्न हो जाता है जो प्रगाढ़ सुख देकर भी शान्ति से वंचित कर देता है। दिनकर ने स्वानुभूति में डूबकर इस अन्तर्द्वन्द्व का गहरा चित्रण किया है और यह चित्रण भाव-संवेदन तथा अभिव्यंजना-कला दोनों की दृष्टि से निश्चय ही अत्यन्त समृद्ध है।

अनुभूति का विचार भी कम रमणीय नहीं होता—परन्तु वह सबके लिए सम्भव नहीं है। भाव का दर्शन सहजानुभूति की, जिसे दिनकर ने संबुद्धि कहा है, प्रौढ़ता की अपेक्षा करता है। 'उर्वशी' के कवि की प्रतिभा इस विशिष्ट गुण से समृद्ध है। उसके अनुभूति और चिन्तन-पक्ष दोनों ही समृद्ध हैं इसलिए आवेश को विचार में अर्थात् संवेदनों को प्रत्ययों में और विशेष अनुभव को सामान्य ज्ञान में परिणत करने की कला में वह सिद्धहस्त है—

१. प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है।
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।।

२. गलती है हिमशिला सत्य है गठन देह की खोकर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर!

३. रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस-चुम्बन नहीं तो और क्या है?

४. बुद्धि बहुत करती बखान सागर-तट की सिकता का,
पर, तरंग-चुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है,
इसे जानती केवल सिहरित त्वचा नग्न चरणों की।।

५. नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शान्ति, करुणा है;
इसीलिए, इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के—
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।

इस प्रकार के प्रसंगों अथवा सूक्तियों की मार्मिकता का रहस्य यह है कि इनमें विचार अनुभूत होकर या अनुभव तर्क से पुष्ट होकर सामने आता है। केवल भावना प्रायः तरल होकर बह जाती है और केवल तर्क मस्तिष्क के आकाश में तरंगें पैदा कर विलीन हो जाता है—वह हृदय का स्पर्श नहीं करता। किन्तु जब कल्पना के द्वारा इनका समन्वय हो जाता है तो दोनों का ही विशेष उपकार होता है: भाव तर्क से शक्ति और तर्क भाव से रस पाकर रमणीय बन जाते हैं।

'उर्वशी' की बिम्ब-योजना अत्यन्त समृद्ध है। उसमें शब्द, रूप, रस और स्पर्श के छोटे-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बड़े अनेक बिम्ब हैं। इन बिम्बों की रेखाएं कहीं सूक्ष्म-तरल, कहीं तीखी और दृढ़, कहीं विराट् एवं सघन हैं—इनके रंग चित्र-विचित्र और भास्वर हैं। समृद्धि और वैचित्र्य में यदि वे पंत के बिम्बों से हीनतर हैं तो आयाम में उनसे बढ़कर भी हैं; इसी प्रकार यदि प्रसाद और निराला के बिम्बविधान अपने आयाम के कारण दिनकर के बिम्बविधान से भव्यतर हैं तो समृद्धि में दिनकर की बिम्ब-योजना भी उनसे कम नहीं है। छायावादी कवियों की अपेक्षा दिनकर का बिम्ब-विधान अधिक मूर्त, प्रत्यक्ष और अनुभवगम्य है। उसमें चित्रकला के साथ मूर्तिकला के गुण विद्यमान हैं—वह वायवी कम और लौकिक अधिक है। नयी कविता का वैविध्य—रूपरेखा की स्पष्टता और दृढ़ता तो इन बिम्बों में है, किन्तु दिनकर की शुद्ध कवि-रुचि ने उन्हें विद्रूप, बीभत्स, विशृंखल तत्त्वों से सर्वथा मुक्त रखा है। गोचर होने पर भी वे स्थूल नहीं हुए; पुनरावृत्ति दोष से मुक्त होने पर भी वैचित्र्य के मोह में वे अनगढ़ और भद्दे नहीं बने। वस्तुतः 'उर्वशी' की बिम्ब-योजना अत्यन्त समृद्ध है—विराट् और कोमल, उदात्त और मधुर बिम्बों का ऐसा अपूर्व संकलन आधुनिक युग के बहुत कम काव्यों में मिलता है। सम्पूर्ण काव्य ही एक रंगीन चित्रशाला है जिसमें शब्द और अर्थ की व्यंजनाओं से अंकित नखचित्र, रेखाचित्र, रंगचित्र, तैलचित्र और विराट् भित्तिचित्र जगमग कर रहे हैं। 'उर्वशी' की विषयवस्तु ऐहिक और मूर्त न होकर सूक्ष्म तथा मनोमय है, इसलिए 'उर्वशी' के कवि को उसे बिम्बित करने में सामान्य से अधिक आयास करना पड़ा है और उसका कौशल एवं सिद्धि उसी अनुपात से अधिक स्तुत्य है।

१. रात्रि के वैभव का एक मूर्त चित्र देखिए—

सम्राज्ञी विभ्राट, कभी जाते इसको देखा है
समारोह-प्रांगण में पहने हुए दुकूल तिमिर का
नक्षत्रों से खचित, कूल-कीलित झालरें विभा की,
गूंथे हुए चिकुर में सुरभित दाम श्वेत फूलों के ?
और सुना है वह अस्फुट मर्मर कौशेय वसन का
जो उठता मणिमय अलिन्द या नभ के प्राचीरों पर
मुक्ता-भर, लंबित दुकूल के मन्द-मन्द घर्षण से,
राज्ञी जब गर्वित गति से ज्योतिर्विहार करती है ?

२. अब आनन्द के क्षण को मूर्तित करनेवाला एक बिम्ब देखिए—

प्रिय ! उस पत्रक को समेट लो जिसमें समय सनातन
क्षण, मुहूर्त, संवत्, शताब्दि की बूंदों में अंकित है।
बहने दो निश्चेत शान्ति की इस अकूल धारा में,
देश-काल से परे, छूट कर अपने भी हाथों से।
किस समाधि का शिखर चेतना जिस पर ठहर गई है ?
उड़ता हुआ विशिख अम्बर में स्थिर-समान लगता है।

३. और अन्त में एक अत्यन्त सूक्ष्म बिम्ब का निरीक्षण और कीजिए—अपने ही घर की भयंकर उथल-पुथल को निरीह भाव से देखने वाली औशीनरी कहती है—

जो कुछ हुआ, देख उसको मैं कितनी मौन रही हूं;
कोलाहल के बीच मूकता की अकंप रेखा-सी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिम्ब-योजना की इस समृद्धि के लिए कल्पना के साथ ही दिनकर की समर्थ भाषा भी कम उत्तरदायी नहीं है। इस शती के चौथे दशक में छायावादी भाषा की असामान्यता के विरुद्ध विद्रोह करते हुए उसको व्यवहार की भाषा के निकट लाने का सफल प्रयत्न जिन कवियों ने किया था, दिनकर और बच्चन उनमें अग्रणी थे। दोनों ने सीधी अर्थव्यक्ति के लिए भाषा को तैयार किया। किन्तु बच्चन की भाषा जहां जनभाषा का नैकट्य प्राप्त करने के प्रयास में संस्कृत के अक्षय रत्नकोष से वंचित हो गयी, वहां दिनकर ने उसका भी भरपूर उपयोग किया। फलतः उसमें छायावाद की लाक्षणिक समृद्धि के साथ-साथ व्यावहारिक भाषा के प्रत्यक्ष प्रभाव का भी यथोचित समावेश हो गया और एक नयी शक्ति एवं स्फूर्ति आ गयी—

१. पर सोचो तो मर्त्य मनुज कितना मधुरस पीता है!
दो दिन ही हो, पर कैसे वह धधक-धधक जीता है!
२. जाने, कितनी बार चन्द्रमा को, बारी-बारी से
अमा चुरा ले गयी और फिर ज्योत्स्ना ले आयी है।
३. पर यह परिरंभण प्रकाश का मन का रश्मि-रमण है।
४. और वक्ष के कुसुम-कुंज सुरभित विश्राम-भवन ये,
जहां मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रांति दूर करते हैं।
५. हारी मैं इसलिए कि मेरे व्रीड़ा-विकल दृगों में
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गड़ती थी।

इन उद्धरणों की भाषा में सौन्दर्य-समृद्धि के साथ एक मोहक ताज़गी है जो छायावादोत्तर काव्य-भाषा की काम्य उपलब्धि है। किन्तु, जहां कवि में व्यवहार की भाषा या जनभाषा का जोश काव्य-रुचि का अतिक्रम कर उमड़ा है, वहां अभिव्यक्ति नग्न हो गयी है:

१. लगता है यह जिसे, उसे फिर नींद नहीं आती है;
दिवस रुदन में, रात आह भरने में कट जाती है।
२. अच्छी है यह भूमि यहां बूढ़ी होती है नारी।
३. तूने भी रंभे निर्घिन! क्या बातें बतलायी हैं।
४. नित्य नई सुन्दरताओं पर मरते ही रहते हैं।

—और, आप ध्यान रखें कि ये उक्तियां कल्पना-विलासिनी अप्सराओं की हैं ग्रामीणाओं की नहीं।

व्याख्यान-विश्लेषण

'उर्वशी' का मूल प्रतिपाद्य क्या है? यह प्रश्न स्वभावतः प्रत्येक जागरूक पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। जैसा कि कवि ने अपनी भूमिका में स्पष्ट किया है 'उर्वशी' का मूल, विषय काम या प्रेम है—यह काव्य दर्शन और मनोविज्ञान के द्वारा जीवन के काम-पक्ष की व्याख्या करता है। काम या प्रेम के अनेक रूप हैं। एक उर्वशी का प्रेम है जो शुद्ध ऐन्द्रिय भोग का प्रतीक है—उर्वशी देवलोक से मानवलोक में केवल ऐन्द्रिय सुख के सम्पूर्ण उपभोग के लिए आती है। देवसृष्टि का काम अतीन्द्रिय है जो चेतना भर उत्पन्न करता है किन्तु परितृप्ति की तन्मयता उसमें नहीं है। ऐसा लगता है जैसे उर्वशी के प्रेम के द्वारा कवि ने अपने पूर्ववर्ती छायावादी काव्य के अतीन्द्रिय श्रृंगार के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की है। उर्वशी की भावना के चित्रण में कवि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बड़े अनेक बिम्ब हैं। इन बिम्बों की रेखाएं कहीं सूक्ष्म-तरल, कहीं तीखी और दृढ़, कहीं विराट् एवं सघन हैं—इनके रंग चित्र-विचित्र और भास्वर हैं। समृद्धि और वैचित्र्य में यदि वे पंत के बिम्बों से हीनतर हैं तो आयाम में उनसे बढ़कर भी हैं; इसी प्रकार यदि प्रसाद और निराला के बिम्बविधान अपने आयाम के कारण दिनकर के बिम्बविधान से भव्यतर हैं तो समृद्धि में दिनकर की बिम्व-योजना भी उनसे कम नहीं है। छायावादी कवियों की अपेक्षा दिनकर का बिम्ब-विधान अधिक मूर्त, प्रत्यक्ष और अनुभवगम्य है। उसमें चित्रकला के साथ मूर्तिकला के गुण विद्यमान हैं—वह वायवी कम और लौकिक अधिक है। नयी कविता का वैविध्य—रूपरेखा की स्पष्टता और दृढ़ता तो इन बिम्बों में है, किन्तु दिनकर की शुद्ध कवि-रुचि ने उन्हें विद्रूप, बीभत्स, विश्रृंखल तत्त्वों से सर्वथा मुक्त रखा है। गोचर होने पर भी वे स्थूल नहीं हुए; पुनरावृत्ति दोष से मुक्त होने पर भी वैचित्र्य के मोह में वे अनगढ़ और भद्दे नहीं बने। वस्तुत: 'उर्वशी' की बिम्ब-योजना अत्यन्त समृद्ध है—विराट् और कोमल, उदात्त और मधुर बिम्बों का ऐसा अपूर्व संकलन आधुनिक युग के बहुत कम काव्यों में मिलता है। सम्पूर्ण काव्य ही एक रंगीन चित्रशाला है जिसमें शब्द और अर्थ की व्यंजनाओं से अंकित नखचित्र, रेखाचित्र, रंगचित्र, तैलचित्र और विराट् भित्तिचित्र जगमग कर रहे हैं। 'उर्वशी' की विषयवस्तु ऐहिक और मूर्त न होकर सूक्ष्म तथा मनोमय है, इसलिए 'उर्वशी' के कवि को उसे बिम्बित करने में सामान्य से अधिक आयास करना पड़ा है और उसका कौशल एवं सिद्धि उसी अनुपात से अधिक स्तुत्य है।

१. रात्रि के वैभव का एक मूर्त चित्र देखिए—

सम्राज्ञी विभ्राट, कभी जाते इसको देखा है
समारोह-प्रांगण में पहने हुए दुकूल तिमिर का
नक्षत्रों से खचित, कूल-कीलित झालरें विभा की,
गूंथे हुए चिकुर में सुरभित दाम श्वेत फूलों के ?
और सुना है वह अस्फुट मर्मर कौशेय वसन का
जो उठता मणिमय अलिन्द या नभ के प्राचीरों पर
मुक्ता-भर, लंबित दुकूल के मन्द-मन्द घर्षण से,
राज्ञी जब गर्वित गति से ज्योतिर्विहार करती है ?

२. अब आनन्द के क्षण को मूर्तित करनेवाला एक बिम्ब देखिए—

प्रिय ! उस पत्रक को समेट लो जिसमें समय सनातन
क्षण, मुहूर्त, संवत्, शताब्दि की बूंदों में अंकित है।
बहने दो निश्चेत शान्ति की इस अकूल धारा में,
देश-काल से परे, छूट कर अपने भी हाथों से।
किस समाधि का शिखर चेतना जिस पर ठहर गई है ?
उड़ता हुआ विशिख अम्बर में स्थिर-समान लगता है।

३. और अन्त में एक अत्यन्त सूक्ष्म बिम्ब का निरीक्षण और कीजिए—अपने ही घर की भयंकर उथल-पुथल को निरीह भाव से देखने वाली औशीनरी कहती है—

जो कुछ हुआ, देख उसको मैं कितनी मौन रही हूं;
कोलाहल के बीच मूकता की अकंप रेखा-सी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिम्ब-योजना की इस समृद्धि के लिए कल्पना के साथ ही दिनकर की समर्थ भाषा भी कम उत्तरदायी नहीं है। इस शती के चौथे दशक में छायावादी भाषा की असामान्यता के विरुद्ध विद्रोह करते हुए उसको व्यवहार की भाषा के निकट लाने का सफल प्रयत्न जिन कवियों ने किया था, दिनकर और बच्चन उनमें अग्रणी थे। दोनों ने सीधी अर्थव्यक्ति के लिए भाषा को तैयार किया। किन्तु बच्चन की भाषा जहां जनभाषा का नैकटच प्राप्त करने के प्रयास में संस्कृत के अक्षय रत्नकोष से वंचित हो गयी, वहां दिनकर ने उसका भी भरपूर उपयोग किया। फलतः उसमें छायावाद की लाक्षणिक समृद्धि के साथ-साथ व्यावहारिक भाषा के प्रत्यक्ष प्रभाव का भी यथोचित समावेश हो गया और एक नयी शक्ति एवं स्फूर्ति आ गयी—

१. पर सोचो तो मर्त्य मनुज कितना मधुरस पीता है!
दो दिन ही हो, पर कैसे वह धधक-धधक जीता है!
२. जाने, कितनी बार चन्द्रमा को, बारी-बारी से
अमा चुरा ले गयी और फिर ज्योत्स्ना ले आयी है।
३. पर यह परिरंभण प्रकाश का मन का रश्मि-रमण है।
४. और वक्ष के कुसुम-कुंज सुरभित विश्राम-भवन ये,
जहां मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रांति दूर करते हैं।
५. हारी मैं इसलिए कि मेरे व्रीड़ा-विकल दृगों में
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गड़ती थी।

इन उद्धरणों की भाषा में सौन्दर्य-समृद्धि के साथ एक मोहक ताज़गी है जो छायावादोत्तर काव्य-भाषा की काम्य उपलब्धि है। किन्तु, जहां कवि में व्यवहार की भाषा या जनभाषा का जोश काव्य-रुचि का अतिक्रम कर उमड़ा है, वहां अभिव्यक्ति नग्न हो गयी है :

१. लगता है यह जिसे, उसे फिर नींद नहीं आती है;
दिवस रुदन में, रात आह भरने में कट जाती है।
२. अच्छी है यह भूमि यहां बूढ़ी होती है नारी।
३. तूने भी रंभे निर्घिन ! क्या बातें बतलायी हैं।
४. नित्य नई सुन्दरताओं पर मरते ही रहते हैं।

—और, आप ध्यान रखें कि ये उक्तियां कल्पना-विलासिनी अप्सराओं की हैं ग्रामीणाओं की नहीं।

व्याख्यान-विश्लेषण

'उर्वशी' का मूल प्रतिपाद्य क्या है ? यह प्रश्न स्वभावतः प्रत्येक जागरूक पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। जैसा कि कवि ने अपनी भूमिका में स्पष्ट किया है 'उर्वशी' का मूल, विषय काम या प्रेम है—यह काव्य दर्शन और मनोविज्ञान के द्वारा जीवन के काम-पक्ष की व्याख्या करता है। काम या प्रेम के अनेक रूप हैं। एक उर्वशी का प्रेम है जो शुद्ध ऐन्द्रिय भोग का प्रतीक है—उर्वशी देवलोक से मानवलोक में केवल ऐन्द्रिय सुख के सम्पूर्ण उपभोग के लिए आती है। देवसृष्टि का काम अतीन्द्रिय है जो चेतना भर उत्पन्न करता है किन्तु परितृप्ति की तन्मयता उसमें नहीं है। ऐसा लगता है जैसे उर्वशी के प्रेम के द्वारा कवि ने अपने पूर्ववर्ती छायावादी काव्य के अतीन्द्रिय शृंगार के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की है। उर्वशी की भावना के चित्रण में कवि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पर फ़ायड के मनोविश्लेषणशास्त्र का भी गहरा प्रभाव है—फ़ायड की काम-चेतना (लिबिडो) विषयक मौलिक धारणा उर्वशी के स्वरूप-विश्लेषण में स्थान-स्थान पर मुखरित हो उठी है (देखिए, पृष्ठ ६०)। काम का दूसरा रूप मिलता है पुरूरवा में। पुरूरवा का प्रेम, जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है, सहज मानवीय प्रेम है। मानव-चेतना के आधार-तत्त्व तीन हैं—इन्द्रियां, मन और चैतन्य आत्मा; इनमें प्रथम दो सर्वस्वीकृत हैं, तीसरे के विषय में मतभेद है। पुरूरवा का स्रष्टा तीसरे तत्त्व में विश्वास करता है, अतः प्रस्तुत प्रसंग में उसे भी मानकर चलना होगा। आत्मा की सत्ता स्वीकार कर लेने पर इतिहास और पुराण में वर्णित शरीर और आत्मा के चिर द्वन्द्व की समस्या सामने आ जाती है। शरीर का काम विष है और आत्मा का काम अमृत है—उपनिषद् के रहस्य-द्रष्टा ने आत्मा के काम का उच्छ्वसित वाणी में उद्गीथ किया है—मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त ने भी, विरह के प्राधान्य से ही सही, इसका स्तवन किया है और शरीर के काम की गर्हणा। किन्तु मानव-चेतना का सम्पूर्ण इतिहास तो शरीर के काम से उद्वेलित है। फिर सत्य क्या है? दिनकर ने दोनों के समन्वय में इसका अनुसंधान किया है—समन्वय ही नहीं, वे दोनों के तादात्म्य की प्रतिष्ठा करते हैं। पुरूरवा जिस मानवीय काम का प्रतीक है वह ऐन्द्रिय होकर भी आत्मिक है, पार्थिव होकर भी अपार्थिव है—अर्थात् अभिन्नतः मृण्मय और चिन्मय दोनों ही है।—काम का तीसरा रूप है औशीनरी का प्रेम—जो निर्भोग समर्पण का प्रतीक है, सम्पूर्ण आत्मदान का प्रतीक है। इसमें काम का भोग-पक्ष अनुपस्थित है, केवल दान की ही महिमा है। अतः यह विरह-प्रधान है, इसमें काम की तृप्ति नहीं, उन्नयन है। साहित्य की शब्दावली में यही आदर्श प्रेम (प्लेटोनिक लव) है। सुकन्या के प्रेम में काम का एक और ही रूप मिलता है—यह काम का सफल (फलयुक्त) रूप है, गार्हस्थ रूप—जिसमें काम का पूर्ण उपभोग तो है, पर वह स्वतन्त्र न होकर धर्म का ही अंग है। काम यहां सिद्धि नहीं है, साधन है; वह अपनी सत्ता धर्म को समर्पित कर सफल हो जाता है, अतः वह पूर्ण तृप्त भी है क्योंकि अतृप्ति के लिए उसमें अवकाश नहीं रह जाता।

'उर्वशी' में काम के ये चार प्रतिनिधि रूप हैं। कवि इनमें से किसको अन्ततः स्वीकार करता है? अर्थात् काम की इस समस्या का, जो मानव-जीवन की चिरन्तन समस्या है, कवि क्या समाधान प्रस्तुत करता है?—स्वभावतः 'उर्वशी' का अध्येता अन्त में यह माँग करता है?

काव्य की नायिका है उर्वशी—उसी से आरम्भ कीजिए: (क) उर्वशी दिव्य या अतीन्द्रिय प्रेम से कुण्ठित होकर मानव-प्रेम की पूर्णता का सुख भोगने आती है—वायव्य गगन से रसवती भूमि का आनन्द लेने स्वर्ग छोड़ कर पृथ्वी पर आती है। यदि उसके पक्ष को स्वीकार किया जाय तो प्रश्न का उत्तर यह बनता है कि अतीन्द्रिय प्रेम—भावना और कल्पना का प्रेम—सर्वथा अपूर्ण है, वह चेतना में एक व्यथाभरी रिक्तता उत्पन्न कर रह जाता है, परितोष नहीं दे पाता—चेतना का परितोष तो उस प्रेम में है जो अपनी पूर्णता में तन-मन की समन्वित तृषा-पूर्ति का पर्याय है। काव्य में उर्वशी की प्रमुखता के आधार पर समस्या का यह एक समाधान माना जा सकता था, परन्तु उर्वशी के प्रेम का अन्त तो चिर-वियोग में होता है, अतएव स्पष्टतः ही यह कवि का समाधान नहीं है। काव्य को दुःखान्त मानकर यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता था कि उर्वशी का पक्ष पूर्वपक्ष मात्र है, उसका चिर-वियोग अन्ततः यह सिद्ध करता है कि ऐन्द्रिय काम पूर्ण या सफल काम नहीं है। किन्तु स्वर्ग में उर्वशी की दारुण व्यथा फिर इसका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निषेध कर देती है। (२) पुरूरवा का प्रेम चिर-द्वन्द्वमय मानव-प्रेम है जो अरूप से रूप की ओर और रूप से अरूप की ओर भटकता रहता है। इस द्वन्द्व के कारण मिलन के तन्मय क्षणों में भी पुरूरवा बेचैन है। यह बेचैनी बराबर बनी रहती है और अन्त में पुरूरवा संन्यास ले लेता है। इसका ध्वन्यर्थ यह हो सकता था कि मानव-प्रेम अपने प्रकृत रूप में शान्तिकर नहीं हो सकता—जब तक उसमें मृण्मय अंश विद्यमान रहेगा तब तक वैषम्य या उद्वेग बना रहेगा; सामरस्य की सिद्धि के लिए मृण्मय अंश का संन्यास अनिवार्य है। उपनिषद्-काल के ऋषि और मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त लौकिक प्रेम को स्वीकार करते हुए भी अन्ततः साधु ही हो जाते थे। 'उर्वशी' काव्य को पुरूरवा की दुःखान्त कथा मान लेने पर यह समाधान प्राप्त हो सकता है। किन्तु 'उर्वशी' काव्य की परिसमाप्ति पुरूरवा के संन्यास के साथ नहीं होती। अतः कवि का यह भी अभीष्ट नहीं है। (३) तीसरा पक्ष है औशीनरी का। निष्काम प्रेम ही काम की सिद्धि है—इष्ट के प्रति सम्पूर्ण आत्मदान का प्रतीक यह निर्भोग प्रेम आत्मलाभ का ही पर्याय है। स्वदेश-विदेश के लौकिक प्रेमाख्यान इसी का माहात्म्य-गान करते हैं और मनोविश्लेषणशास्त्र भी इसका समर्थन करता है। किन्तु 'उर्वशी' में औशीनरी की बेबसी का विस्तृत वर्णन क्या इसको स्वीकार करने देता है? (४) अन्त में सुकन्या का प्रेम है जो स्वतन्त्र न होकर धर्म (गृहस्थ धर्म) का ही अंग है—सिद्धि न होकर साधन है। उसमें उपभोग है पर उद्वेग या द्वन्द्व नहीं है, इसलिए वह तृप्त है। आयु के राज्यारोहण में काव्य का अन्त इसकी ओर संकेत करता है कि कदाचित् सुकन्या का पक्ष कवि को ग्राह्य है किन्तु काव्य में उर्वशी तथा पुरूरवा के पक्ष इतने प्रबल हैं कि उनकी तुलना में यह पक्ष बड़ा मुलायम और कमजोर पड़ जाता है। सुनिए —

> और पुत्र-कामना कहो तो, यद्यपि, वह सुखकर है,
> पर, निष्काम काम का, सचमुच, वह भी ध्येय नहीं है।
> निरुद्देश्य, निष्काम काम-सुख की अचेत धारा में,
> संतानें अज्ञात लोक से आकर खिल जाती हैं।
> वारि-वल्लरी में फूलों-सी, निराकार के गृह से
> स्वयं निकल पड़ने वाली जीवन की प्रतिमाओं सी।

अतः कवि का मंतव्य हमें उर्वशी या पुरूरवा के शब्दों में ही ढूंढ़ना होगा।

उर्वशी का समाधान है—

> प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को
> हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलों) से
> एकतान होकर खो जाते हैं समाधि निस्तल में,
> खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है,
> दैहिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुँच जाते हैं,
> मानो, मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।
>
> × × ×
>
> पर, खोजें क्यों मुक्ति? प्रकृति के हम प्रसन्न अवयव हैं;
> जब तक शेष प्रकृति, तब तक हम भी बहते जायेंगे—
> लीलामय की सहज, शान्त, आनन्दमयी धारा में।

और; उधर पुरूरवा का समाधान है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पर फ़ायड के मनोविश्लेषणशास्त्र का भी गहरा प्रभाव है—फ़ायड की काम-चेतना (लिबिडो) विषयक मौलिक धारणा उर्वशी के स्वरूप-विश्लेषण में स्थान-स्थान पर मुखरित हो उठी है (देखिए, पृष्ठ ६०)। काम का दूसरा रूप मिलता है पुरूरवा में। पुरूरवा का प्रेम, जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है, सहज मानवीय प्रेम है। मानव-चेतना के आधार-तत्त्व तीन हैं—इन्द्रियां, मन और चैतन्य आत्मा; इनमें प्रथम दो सर्वस्वीकृत हैं, तीसरे के विषय में मतभेद है। पुरूरवा का स्रष्टा तीसरे तत्त्व में विश्वास करता है, अतः प्रस्तुत प्रसंग में उसे भी मानकर चलना होगा। आत्मा की सत्ता स्वीकार कर लेने पर इतिहास और पुराण में वर्णित शरीर और आत्मा के चिर द्वन्द्व की समस्या सामने आ जाती है। शरीर का काम विष है और आत्मा का काम अमृत है—उपनिषद् के रहस्य-द्रष्टा ने आत्मा के काम का उच्छ्वसित वाणी में उद्गीथ किया है—मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त ने भी, विरह के प्राधान्य से ही सही, इसका स्तवन किया है और शरीर के काम की गर्हणा। किन्तु मानव-चेतना का सम्पूर्ण इतिहास तो शरीर के काम से उद्वेलित है। फिर सत्य क्या है? दिनकर ने दोनों के समन्वय में इसका अनुसंधान किया है—समन्वय ही नहीं, वे दोनों के तादात्म्य की प्रतिष्ठा करते हैं। पुरूरवा जिस मानवीय काम का प्रतीक है वह ऐन्द्रिय होकर भी आत्मिक है, पार्थिव होकर भी अपार्थिव है—अर्थात् अभिन्नतः मृण्मय और चिन्मय दोनों ही है।—काम का तीसरा रूप है औशीनरी का प्रेम—जो निर्भोग समर्पण का प्रतीक है, सम्पूर्ण आत्मदान का प्रतीक है। इसमें काम का भोग-पक्ष अनुपस्थित है, केवल दान की ही महिमा है। अतः यह विरह-प्रधान है, इसमें काम की तृप्ति नहीं, उन्नयन है। साहित्य की शब्दावली में यही आदर्श प्रेम (प्लेटोनिक लव) है। सुकन्या के प्रेम में काम का एक और ही रूप मिलता है—यह काम का सफल (फलयुक्त) रूप है, गार्हस्थ रूप—जिसमें काम का पूर्ण उपभोग तो है, पर वह स्वतन्त्र न होकर धर्म का ही अंग है। काम यहां सिद्धि नहीं है, साधन है; वह अपनी सत्ता धर्म को समर्पित कर सफल हो जाता है, अतः वह पूर्ण तृप्त भी है क्योंकि अतृप्ति के लिए उसमें अवकाश नहीं रह जाता।

'उर्वशी' में काम के ये चार प्रतिनिधि रूप हैं। कवि इनमें से किसको अन्ततः स्वीकार करता है? अर्थात् काम की इस समस्या का, जो मानव-जीवन की चिरन्तन समस्या है, कवि क्या समाधान प्रस्तुत करता है?—स्वभावतः 'उर्वशी' का अध्येता अन्त में यह माँग करता है?

काव्य की नायिका है उर्वशी—उसी से आरम्भ कीजिए: (क) उर्वशी दिव्य या अतीन्द्रिय प्रेम से कुण्ठित होकर मानव-प्रेम की पूर्णता का सुख भोगने आती है—वायव्य गगन से रसवती भूमि का आनन्द लेने स्वर्ग छोड़ कर पृथ्वी पर आती है। यदि उसके पक्ष को स्वीकार किया जाय तो प्रश्न का उत्तर यह बनता है कि अतीन्द्रिय प्रेम—भावना और कल्पना का प्रेम—सर्वथा अपूर्ण है, वह चेतना में एक व्यथाभरी रिक्तता उत्पन्न कर रह जाता है, परितोष नहीं दे पाता—चेतना का परितोष तो उस प्रेम में है जो अपनी पूर्णता में तन-मन की समन्वित तृषा-पूर्ति का पर्याय है। काव्य में उर्वशी की प्रमुखता के आधार पर समस्या का यह एक समाधान माना जा सकता था, परन्तु उर्वशी के प्रेम का अन्त तो चिर-वियोग में होता है, अतएव स्पष्टतः ही यह कवि का समाधान नहीं है। काव्य को दुःखान्त मानकर यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता था कि उर्वशी का पक्ष पूर्वपक्ष मात्र है, उसका चिर-वियोग अन्ततः यह सिद्ध करता है कि ऐन्द्रिय काम पूर्ण या सफल काम नहीं है। किन्तु स्वर्ग में उर्वशी की दारुण व्यथा फिर इसका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निषेध कर देती है। (२) पुरूरवा का प्रेम चिर-द्वन्द्वमय मानव-प्रेम है जो अरूप से रूप की ओर और रूप से अरूप की ओर भटकता रहता है। इस द्वन्द्व के कारण मिलन के तन्मय क्षणों में भी पुरूरवा बेचैन है। यह बेचैनी बराबर बनी रहती है और अन्त में पुरूरवा संन्यास ले लेता है। इसका ध्वन्यर्थ यह हो सकता था कि मानव-प्रेम अपने प्रकृत रूप में शान्तिकर नहीं हो सकता—जब तक उसमें मृण्मय अंश विद्यमान रहेगा तब तक वैषम्य या उद्वेग बना रहेगा; सामरस्य की सिद्धि के लिए मृण्मय अंश का संन्यास अनिवार्य है। उपनिषद्-काल के ऋषि और मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त लौकिक प्रेम को स्वीकार करते हुए भी अन्ततः साधु ही हो जाते थे। 'उर्वशी' काव्य को पुरूरवा की दुःखान्त कथा मान लेने पर यह समाधान प्राप्त हो सकता है। किन्तु 'उर्वशी' काव्य की परिसमाप्ति पुरूरवा के संन्यास के साथ नहीं होती। अतः कवि का यह भी अभीष्ट नहीं है। (३) तीसरा पक्ष है औशीनरी का। निष्काम प्रेम ही काम की सिद्धि है—इष्ट के प्रति सम्पूर्ण आत्मदान का प्रतीक यह निर्भोग प्रेम आत्मलाभ का ही पर्याय है। स्वदेश-विदेश के लौकिक प्रेमाख्यान इसी का माहात्म्य-गान करते हैं और मनोविश्लेषणशास्त्र भी इसका समर्थन करता है। किन्तु 'उर्वशी' में औशीनरी की बेबसी का विस्तृत वर्णन क्या इसको स्वीकार करने देता है? (४) अन्त में सुकन्या का प्रेम है जो स्वतन्त्र न होकर धर्म (गृहस्थ धर्म) का ही अंग है—सिद्धि न होकर साधन है। उसमें उपभोग है पर उद्वेग या द्वन्द्व नहीं है, इसलिए वह तृप्त है। आयु के राज्यारोहण में काव्य का अन्त इसकी ओर संकेत करता है कि कदाचित् सुकन्या का पक्ष कवि को ग्राह्य है किन्तु काव्य में उर्वशी तथा पुरूरवा के पक्ष इतने प्रबल हैं कि उनकी तुलना में यह पक्ष बड़ा मुलायम और कमज़ोर पड़ जाता है। सुनिए—

> और पुत्र-कामना कहो तो, यद्यपि, वह सुखकर है,
> पर, निष्काम काम का, सचमुच, वह भी ध्येय नहीं है।
> निरुद्देश्य, निष्काम काम-सुख की अचेत धारा में,
> संतानें अज्ञात लोक से आकर खिल जाती हैं।
> वारि-वल्लरी में फूलों-सी, निराकार के गृह से
> स्वयं निकल पड़ने वाली जीवन की प्रतिमाओं सी।

अतः कवि का मंतव्य हमें उर्वशी या पुरूरवा के शब्दों में ही ढूंढ़ना होगा।

उर्वशी का समाधान है—

> प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को
> हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलों) से
> एकतान होकर खो जाते हैं समाधि निस्तल में,
> खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है,
> दैहिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुँच जाते हैं,
> मानो, मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।
>
> × × ×
>
> पर, खोजें क्यों मुक्ति? प्रकृति के हम प्रसन्न अवयव हैं;
> जब तक शेष प्रकृति, तब तक हम भी बहते जायेंगे—
> लीलामय की सहज, शान्त, आनन्दमयी धारा में।

और; उधर पुरूरवा का समाधान है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहां रूप की लिपि अरूप की छवि आंका करती है;
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुखमण्डल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

× × ×

यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, शोणित के तप्त ज्वलन का
परिवर्तन है स्निग्ध, शान्त दीपक की सौम्य शिखा में।
निन्दा नहीं, प्रशस्ति प्रेम की; छलना नहीं, समर्पण;
त्याग नहीं, संचय; उपत्यकाओं के कुसुम-द्रुमों को
ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहां जहां कैलास-प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।

उर्वशी का पक्ष प्रकृति का पक्ष है—उसके लिए प्रकृति अर्थात् ऐन्द्रिय धरातल पर काम-सुख ही पूर्ण सत्य है, उसके आगे कुछ और का अनुसंधान अनावश्यक है। यह प्रकृत आनन्द अर्थात् प्रकृति के प्रति पूर्ण आत्मार्पण ही अपने सहज रूप में जीवन की सिद्धि है; सहज का अर्थ है निर्बाध और निष्काम। कामना या वासना से दूषित होकर सहज काम-रूप यह अमृत गरल में परिणत हो जाता है; अतः निष्काम भाव से ऐन्द्रिय काम का आनन्द ही जीवन का चरम साध्य है। मोक्ष का अर्थ प्रकृति से मोक्ष नहीं है, कामना से मोक्ष—निष्काम आत्मार्पण ही वास्तविक मोक्ष है—शेष प्रवंचना है। पुरूरवा की लौकिक काम में पूर्ण आस्था है, किन्तु उसके लिए वह साधन है सिद्धि नहीं है। वह आत्मावादी है; ऐन्द्रिय रति को वह आत्म-रति की साधना मानता है—अर्थात् प्रकृति की आराधना वह ईश्वर की ही आराधना के निमित्त करता है। इस प्रकार उर्वशी और पुरूरवा के दृष्टिकोण में अभेद तो यह है कि दोनों ही निष्काम आत्मार्पण को जीवन का चरम सत्य मानते हैं; भेद यह है कि उर्वशी के लिए अन्तिम सत्ता प्रकृति है—उसी के प्रति निष्काम आत्मार्पण जीवन की सिद्धि है, जबकि पुरूरवा के लिए परम तत्त्व ईश्वर है—प्रकृति के माध्यम से उसी के प्रति पूर्ण समर्पण जीवन की सिद्धि है।

कवि का अपना मन्तव्य इन दोनों में से कौन-सा है? कदाचित् पुरूरवा का मन्तव्य ही उसका मन्तव्य है। किन्तु क्या वह मान्य है—और क्या 'उर्वशी' काव्य का सम्पूर्ण विधान उसे निर्भ्रान्त रूप से अभिव्यक्त एवं प्रतिफलित करता है? ये प्रश्न तुरन्त ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। पर ये प्रश्न तो व्याख्यान-विश्लेषण से आगे मूल्यांकन के अन्तर्गत आते हैं।

मूल्यांकन

पहला प्रश्न यह है कि क्या 'उर्वशी' काव्य में प्रस्तुत काम-विषयक उपर्युक्त मन्तव्य —दोनों या उनमें से कोई एक, जीवन के बृहत्तर मूल्यों की कसौटी पर शुद्ध ठहरता है? क्या काम-साधना, संपूर्णतः निष्काम ही सही, जीवन की सिद्धि है? इसमें सन्देह नहीं कि काम अत्यन्त मौलिक वृत्ति है और जीवन की समृद्धि में उसका योगदान निश्चय ही सर्वाधिक है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परन्तु एक तो निष्काम काम की धारणा ही कुछ अटपटी-सी है—मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि के द्वारा वह सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि काम-सुख की समृद्धि का मूल आधार मानसिक ही मानना पड़ेगा—इसीलिए काम को (ब्रह्म का) 'मनसो रेतः' कहा गया है। मन के काम के बिना केवल तन के काम की स्पृहा क्या सम्भव है ? तन के आनन्द में जो आस्वाद है वह तो मन की ही क्रिया है। मन का काम ही तो तन के काम को ऐश्वर्य प्रदान करता है—भोज्य रस में जो स्थान सुगंध का है, वही, वरन् उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ऐन्द्रिय रस में मन के रस का है। इसलिए केवल घुमड़न और कुण्ठा की स्थिति को छोड़ मन के काम को गरल मानना न सत्य है और न उचित ही। दूसरे, निष्काम या सकाम—कैसा भी काम जीवन की सिद्धि कैसे हो सकता है ? जीवन के व्यापक और स्वस्थ मूल्यों के आधार पर इस प्रकार की स्थापना क्या स्वीकार्य हो सकती है ? अब रहा पुरूरवा का दृष्टिकोण—अर्थात् ऐन्द्रिय रति आत्मरति की ही साधना है। आज के युग में इस तर्क को भी स्वीकार करना कठिन है। यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो यह भी मानना होगा कि जीवन का चरम पुरुषार्थ काम है; और जो व्यक्ति ऐन्द्रिय काम में जितना लीन है उतना ही सिद्ध है—पारमार्थिक दृष्टि से और लौकिक दृष्टि से भी। आज इस जीवन-दर्शन को कौन स्वीकार कर सकता है और कैसे स्वीकार कर सकता है ? मध्ययुग में भी जब जीवन अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुख था और जीवन-मूल्य भी उसी के अनुरूप थे, मधुरोपासना से सम्बद्ध दार्शनिक पद्धतियां पारमार्थिक दृष्टि से ऐन्द्रिय काम को जड़ प्रकृति का अंश मानकर, उसको चिन्मय आनन्द-साधना का प्रेरक साधन मात्र मानकर छोड़ देती थीं—सहज-साधना की कुछ वाममार्गीय पद्धतियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी ऐन्द्रिय काम को आत्यन्तिक रूप में स्वीकार नहीं किया गया। अतएव उपर्युक्त दोनों में से किसी भी रूप में—उर्वशी अथवा पुरूरवा का—यह अद्भुत काम-दर्शन न ग्राह्य हो सकता है और न काम्य ही। हां, पुरूरवा के संन्यास को चरम परिणति मानकर—उसी पर काव्यार्थ को केन्द्रित कर, यदि वहीं काव्य का समापन कर दिया जाता तो अन्तिम अर्थ-व्यंजना बदल जाती तथा ऐन्द्रिय काम का पारमार्थिक उन्नयन—आत्मकाम में उन्नयनस—फल हो जाता और यह जीवन-दर्शन वर्तमान युग-धर्म के अनुरूप न होते हुए भी एक विशेष चिंतन-परम्परा के अनुकूल अवश्य होता। परन्तु दिनकर की युग-चेतना संन्यास को स्वीकार करने में असमर्थ है—'कुरुक्षेत्र' में हमें उसका प्रमाण मिल चुका है। युग-धर्म के अनुरूप काम की परिणति का एक और रूप हो सकता है जिसका प्रतिफलन हमें सुकन्या के जीवन-दर्शन में मिलता है और अन्त में औशीनरी जिसकी ओर प्रकारान्तर से इंगित करती है : संतति द्वारा आत्म-विकास। वर्तमान मनोविश्लेषणशास्त्र भी इसका समर्थन करता है—रति की सफल परिणति है संतति और उसके द्वारा व्यक्ति के धरातल पर प्रवृत्ति का उन्नयन एवं सामाजिक धरातल पर अहं का समाजीकरण कर मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है। दिनकर का जागरूक विचारक-कवि इस पक्ष से अवगत है और उसका प्रतिपादन 'उर्वशी' में हुआ है, परन्तु काव्य का वस्तु-विधान जिस रूप में किया गया है, उससे यह पक्ष बड़ा दुर्बल पड़ जाता है और पाठक सारभूत प्रभाव के रूप में इसे ग्रहण नहीं कर पाता, क्योंकि स्पष्टतः ही यह कवि का अभिप्राय नहीं है। ऐसी स्थिति में समाधान क्या है ?

वास्तव में काम को महत्पुरुषार्थ से आगे जीवन का चरम पुरुषार्थ मानना ही ग़लत है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहां रूप की लिपि अरूप की छवि आंका करती है;
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुखमण्डल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

× × ×

यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, शोणित के तप्त ज्वलन का
परिवर्तन है स्निग्ध, शान्त दीपक की सौम्य शिखा में।
निन्दा नहीं, प्रशस्ति प्रेम की; छलना नहीं, समर्पण;
त्याग नहीं, संचय; उपत्यकाओं के कुसुम-द्रुमों को
ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहां जहां कैलास-प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।

उर्वशी का पक्ष प्रकृति का पक्ष है—उसके लिए प्रकृति अर्थात् ऐन्द्रिय धरातल पर काम-सुख ही पूर्ण सत्य है, उसके आगे कुछ और का अनुसंधान अनावश्यक है। यह प्रकृत आनन्द अर्थात् प्रकृति के प्रति पूर्ण आत्मार्पण ही अपने सहज रूप में जीवन की सिद्धि है; सहज का अर्थ है निर्बाध और निष्काम। कामना या वासना से दूषित होकर सहज काम-रूप यह अमृत गरल में परिणत हो जाता है; अतः निष्काम भाव से ऐन्द्रिय काम का आनन्द ही जीवन का चरम साध्य है। मोक्ष का अर्थ प्रकृति से मोक्ष नहीं है, कामना से मोक्ष—निष्काम आत्मार्पण ही वास्तविक मोक्ष है—शेष प्रवंचना है। पुरूरवा की लौकिक काम में पूर्ण आस्था है, किन्तु उसके लिए वह साधन है सिद्धि नहीं है। वह आत्मावादी है; ऐन्द्रिय रति को वह आत्म-रति की साधना मानता है—अर्थात् प्रकृति की आराधना वह ईश्वर की ही आराधना के निमित्त करता है। इस प्रकार उर्वशी और पुरूरवा के दृष्टिकोण में अभेद तो यह है कि दोनों ही निष्काम आत्मार्पण को जीवन का चरम सत्य मानते हैं; भेद यह है कि उर्वशी के लिए अन्तिम सत्ता प्रकृति है—उसी के प्रति निष्काम आत्मार्पण जीवन की सिद्धि है, जबकि पुरूरवा के लिए परम तत्त्व ईश्वर है—प्रकृति के माध्यम से उसी के प्रति पूर्ण समर्पण जीवन की सिद्धि है।

कवि का अपना मन्तव्य इन दोनों में से कौन-सा है? कदाचित् पुरूरवा का मन्तव्य ही उसका मन्तव्य है। किन्तु क्या वह मान्य है—और क्या 'उर्वशी' काव्य का सम्पूर्ण विधान उसे निर्भ्रान्त रूप से अभिव्यक्त एवं प्रतिफलित करता है? ये प्रश्न तुरन्त ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। पर ये प्रश्न तो व्याख्यान-विश्लेषण से आगे मूल्यांकन के अन्तर्गत आते हैं।

मूल्यांकन

पहला प्रश्न यह है कि क्या 'उर्वशी' काव्य में प्रस्तुत काम-विषयक उपर्युक्त मन्तव्य—दोनों या उनमें से कोई एक, जीवन के बृहत्तर मूल्यों की कसौटी पर शुद्ध ठहरता है? क्या काम-साधना, संपूर्णतः निष्काम ही सही, जीवन की सिद्धि है? इसमें सन्देह नहीं कि काम अत्यन्त मौलिक वृत्ति है और जीवन की समृद्धि में उसका योगदान निश्चय ही सर्वाधिक है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परन्तु एक तो निष्काम काम की धारणा ही कुछ अटपटी-सी है—मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि के द्वारा वह सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि काम-सुख की समृद्धि का मूल आधार मानसिक ही मानना पड़ेगा—इसीलिए काम को (ब्रह्म का) 'मनसो रेतः' कहा गया है। मन के काम के बिना केवल तन के काम की स्पृहा क्या सम्भव है ? तन के आनन्द में जो आस्वाद है वह तो मन की ही क्रिया है। मन का काम ही तो तन के काम को ऐश्वर्य प्रदान करता है—भोज्य रस में जो स्थान सुगंध का है, वही, वरन् उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ऐन्द्रिय रस में मन के रस का है। इसलिए केवल घुमड़न और कुण्ठा की स्थिति को छोड़ मन के काम को गरल मानना न सत्य है और न उचित ही। दूसरे, निष्काम या सकाम—कैसा भी काम जीवन की सिद्धि कैसे हो सकता है ? जीवन के व्यापक और स्वस्थ मूल्यों के आधार पर इस प्रकार की स्थापना क्या स्वीकार्य हो सकती है ? अब रहा पुरूरवा का दृष्टिकोण—अर्थात् ऐन्द्रिय रति आत्मरति की ही साधना है। आज के युग में इस तर्क को भी स्वीकार करना कठिन है। यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो यह भी मानना होगा कि जीवन का चरम पुरुषार्थ काम है; और जो व्यक्ति ऐन्द्रिय काम में जितना लीन है उतना ही सिद्ध है—पारमार्थिक दृष्टि से और लौकिक दृष्टि से भी। आज इस जीवन-दर्शन को कौन स्वीकार कर सकता है और कैसे स्वीकार कर सकता है ? मध्ययुग में भी जब जीवन अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुख था और जीवन-मूल्य भी उसी के अनुरूप थे, मधुरोपासना से सम्बद्ध दार्शनिक पद्धतियां पारमार्थिक दृष्टि से ऐन्द्रिय काम को जड़ प्रकृति का अंश मानकर, उसको चिन्मय आनन्द-साधना का प्रेरक साधन मात्र मानकर छोड़ देती थीं—सहज-साधना की कुछ वाममार्गीय पद्धतियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी ऐन्द्रिय काम को आत्यन्तिक रूप में स्वीकार नहीं किया गया। अतएव उपर्युक्त दोनों में से किसी भी रूप में—उर्वशी अथवा पुरूरवा का—यह अद्भुत काम-दर्शन न ग्राह्य हो सकता है और न काम्य ही। हां, पुरूरवा के संन्यास को चरम परिणति मानकर—उसी पर काव्यार्थ को केन्द्रित कर, यदि वहीं काव्य का समापन कर दिया जाता तो अन्तिम अर्थ-व्यंजना बदल जाती तथा ऐन्द्रिय काम का पारमार्थिक उन्नयन—आत्मकाम में उन्नयनस—फल हो जाता और यह जीवन-दर्शन वर्तमान युग-धर्म के अनुरूप न होते हुए भी एक विशेष चिंतन-परम्परा के अनुकूल अवश्य होता। परन्तु दिनकर की युग-चेतना संन्यास को स्वीकार करने में असमर्थ है—'कुरुक्षेत्र' में हमें उसका प्रमाण मिल चुका है। युग-धर्म के अनुरूप काम की परिणति का एक और रूप हो सकता है जिसका प्रतिफलन हमें सुकन्या के जीवन-दर्शन में मिलता है और अन्त में औशीनरी जिसकी ओर प्रकारान्तर से इंगित करती है : संतति द्वारा आत्म-विकास। वर्तमान मनोविश्लेषणशास्त्र भी इसका समर्थन करता है—रति की सफल परिणति है संतति और उसके द्वारा व्यक्ति के धरातल पर प्रवृत्ति का उन्नयन एवं सामाजिक धरातल पर अहं का समाजीकरण कर मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है। दिनकर का जागरूक विचारक-कवि इस पक्ष से अवगत है और उसका प्रतिपादन 'उर्वशी' में हुआ है, परन्तु काव्य का वस्तु-विधान जिस रूप में किया गया है, उससे यह पक्ष बड़ा दुर्बल पड़ जाता है और पाठक सारभूत प्रभाव के रूप में इसे ग्रहण नहीं कर पाता, क्योंकि स्पष्टतः ही यह कवि का अभिप्राय नहीं है। ऐसी स्थिति में समाधान क्या है ?

वास्तव में काम को महत्पुरुषार्थ से आगे जीवन का चरम पुरुषार्थ मानना ही ग़लत है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जीवन का चरम पुरुषार्थ धर्म ही हो सकता है जिसमें लौकिक दृष्टि से अभ्युदय और आध्यात्मिक दृष्टि से निःश्रेयस् की सिद्धि अन्तर्भूत है। अर्थ और काम उसके साधन हैं—ये दोनों ही महान् पुरुषार्थ हैं किन्तु अन्ततः साधन-रूप ही हैं—साध्य नहीं बन सकते। काम अर्थ की अपेक्षा निश्चय ही अधिक समृद्ध और काम्य है अर्थात् उसमें चिदंश अधिक है; किन्तु साध्य उसे भी नहीं माना जा सकता। मेरे मत से 'उर्वशी' के मूल विचार की सबसे बड़ी बाधा यही है कि वह साधन में सिद्धि ढूंढ़ने के लिए प्रयासशील है। 'कामायनी' में लौकिक दृष्टि से धर्म को और आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म का भी उत्सर्ग कर—अन्ततः आनन्दरूप मोक्ष को, चरम पुरुषार्थ माना गया है। इसलिए उसकी परिणति, मध्यवर्ती बाधाओं के रहते हुए भी, अखण्ड है। 'कामायनी' श्रद्धा और मनु का कथानक है, 'मनु और इड़ा का आख्यान' नहीं; और उसी के अनुरूप वह पुरुषार्थ के धर्म और आनन्द-पक्ष को ही महत्त्व देता है, अर्थ-पक्ष को नहीं। मुझे आश्चर्य है कि 'उर्वशी' की भूमिका में 'कामायनी' के विषय में इस प्रकार की विचित्र कल्पनाओं की आवश्यकता क्यों हुई है?

तब फिर कवि का समाधान क्या है? कवि ने भूमिका में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि 'उर्वशी' में वह कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। और, वस्तुस्थिति यही है। दिनकर द्वन्द्व का कवि है, समाहिति का कवि नहीं है; समस्या के सम्पूर्ण उद्वेलन का अनुभव कर प्राणों के पूरे आवेग के साथ अत्यन्त प्रभावमय अभिव्यंजन करना उसके लिए जितना स्वाभाविक है, उतना समाधान प्रस्तुत करना नहीं। इसलिए दिनकर के काव्य में स्वानुभूति का बल है और आत्मस्वीकृति की स्वाभाविकता भी उसे प्राप्त है। द्वन्द्व उसका अनुभूत है, समाधान अनुभूत नहीं है—विचार के द्वारा समाधान वह भी प्रस्तुत कर सकता है, किन्तु वह करना नहीं चाहता। 'उर्वशी' काव्य का प्रभाव इसी तथ्य की पुष्टि करता है—उसमें अन्तर्मन्थन की अद्भुत शक्ति है, किन्तु चित्त की समाहिति उसके द्वारा सम्पन्न नहीं होती। उद्वेलक प्रभाव की दृष्टि से 'उर्वशी' निश्चय ही अत्यन्त प्रबल काव्य है—छायावादोत्तर युग में ऐसा प्रबल काव्य हिन्दी में दूसरा नहीं लिखा गया और जहां तक मेरा ज्ञान है (यद्यपि यह ज्ञान अनुवाद पर आश्रित और अत्यन्त सीमित है), अन्य भारतीय भाषाओं में भी इतनी प्रबल समसामयिक रचना कदाचित् नहीं है।

एक प्रकार से 'उर्वशी' की समीक्षा यहां पर भी समाप्त हो सकती है। परन्तु मुझे लगता है कि मैं अभी अपना मन्तव्य पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाया और उसे यहीं पर छोड़ देने से 'उर्वशी' का मूल्यांकन शायद अधूरा रह जायेगा। मेरे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि काव्य के मूल्यांकन में समाधान का क्या स्थान है? रस के साहित्य में मैं नैतिक उद्देश्य अथवा समाधान का क़ायल नहीं हूं। इस प्रकार का समाधान कला के उत्कर्ष में बाधक ही होता है। किन्तु समाधान का यह तो स्थूल अर्थ हुआ; अपने सूक्ष्म अर्थ में वह अन्विति का पर्याय है और प्रत्येक कला-रूप के लिए अन्विति की अनिवार्यता असंदिग्ध है। कला के मूलाधार के विषय में यों तो अनेक मत प्रचलित हैं किन्तु यह मत प्रायः सर्वमान्य, कम-से-कम बहुमान्य, अवश्य है कि कला का प्राणतत्त्व है सामंजस्य, अर्थात् अनेकता की एकता में परिणति। अतिवादों के इस युग में, यूरोप में और इधर भारत में भी, इस मत के विरोध में अनेक विचित्र स्थापनाएं हुई हैं जो नाना प्रकार के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील हैं कि सामंजस्य या एकान्विति का अनुसंधान एक कृत्रिम कला-चेष्टा है—आधुनिक जीवन की विकीर्णता ही आज के जीवन एवं कला का सत्य है। इन स्थापनाओं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के खंडन-मंडन के लिए यहां अवकाश नहीं है और वास्तव में कृति तथा विकृति के भेद का लोप करने वाली इन अतिवादी धारणाओं का प्रतिवाद करना प्रस्तुत प्रसंग में आवश्यक भी नहीं है क्योंकि दिनकर के कला-संस्कार निश्चय ही इस प्रकार के अतिवाद से मुक्त हैं। अब, यदि सामंजस्य कला का आधारतत्त्व है तो 'उर्वशी' के वस्तु-विधान में, उसके अन्तरंग अर्थात् 'विचार' में और बहिरंग अर्थात् 'काव्यरूप'—दोनों में, एकान्विति ढूंढ़ने का प्रयास कला-रसिक पाठक के लिए स्वाभाविक है—और यहीं बाधा खड़ी हो जाती है; क्योंकि 'उर्वशी' के मूल विचार तथा उसको प्रतिफलित करने वाले वस्तुविधान में अन्विति नहीं है : विचार का अन्वय-भंग कला-रूप की अन्विति को भी भंग कर देता है। यथार्थ दृष्टि से यदि कवि द्वन्द्व को ही अन्तिम सत्य मान लेता और पुरूरवा के संन्यास में ही इस प्रणय-कथा का विसर्जन कर देता तब भी कला-रूप की पूर्णता बनी रहती। किन्तु उसके आदर्शवादी संस्कार समाधान के लिए आकुल और विफल प्रयास करते हैं। इससे एक ओर जहां 'उर्वशी' की सुन्दर कला-प्रतिमा में, पूर्ण होते-होते, दरारें पड़ जाती हैं, वहां दूसरी ओर सहृदय पाठक के चित्त की समाहिति भी बिखरने लगती है। इसीलिए सामयिक हिन्दी-काव्य की यह श्रेष्ठ उपलब्धि अंशरूप में अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध एवं प्रबल होने पर भी अपने समग्र रूप में न 'कामायनी' की श्रेणी में आती है, और न 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत' की श्रेणी में।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इरावती

कवि दिनकर की एक मार्मिक पंक्ति है—'गीत-अगीत कौन सुन्दर है ?' गीत और अगीत के बीच एक और भी स्थिति है, अर्धगीत की। गीत का माधुर्य प्रत्यक्ष अनुभव-गम्य है, अगीत का कल्पना-गम्य। किन्तु अर्धगीत का माधुर्य कितना करुण है ! उसमें जो गीत है वह अगीत का संकेत देकर असहाय मौन हो जाता है। विश्व के साहित्य में ऐसे काव्य अनेक हैं जो अर्धगीत ही रह गये। भारत में प्रवाद है कि बाण की 'कादम्बरी' अपरिसमाप्त ही रह गयी थी, अन्त में उनके पुत्र ने उसे पूरा किया। एक किंवदन्ती के अनुसार चन्द भी गज़नी जाने से पूर्व रासो को अपने पुत्र जल्हन के हाथ सौंप गये थे : 'पुस्तक जल्हण हत्थ दै गे गज्जन नृप काज।' किन्तु आज तो वह भी सम्भव नहीं है। यदि कोई दूसरा प्रयत्न करके अपूर्ण को पूर्ण कर भी दे तो एक तो वह भिन्न कृति होगी, और दूसरे सहृदय-समाज उसे क्यों स्वीकार करेगा ! इस दृष्टि से ये अपूर्ण कृतियां अपनी अपूर्णता में ही महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रसादजी का उपन्यास 'इरावती' उनके जीवन के समान ही अपूर्ण रह गया। यह उनका तीसरा उपन्यास था। इससे पूर्व उनकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक काव्यों, नाटकों तथा कहानियों आदि के अतिरिक्त 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों का भी सृजन कर चुकी थी। ये दोनों उपन्यास सामाजिक थे; पर प्रसादजी की प्रतिभा की सहज क्रीड़ा-भूमि तो भारत का स्वर्णिम इतिहास था। उन्होंने अपने नाटकों में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का अनुसन्धान अथवा पुनराख्यान प्रस्तुत किया है। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' आदि की विस्तृत गवेषणात्मक भूमिकाएं उनके पुरातत्त्व-प्रेम और ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि की साक्षिणी हैं। इतिहास के बिखरे सूत्रों को समन्वित कर उस कंकाल में प्राण-प्रतिष्ठा करने में उनकी कल्पना विशेष रूप से रमती थी। किन्तु नाटक में कदाचित् उसे वांछित अवकाश नहीं मिल पाया और इसमें सन्देह नहीं कि दृश्यों में खण्डित नाटक के सीमित कलेवर की अपेक्षा उपन्यास का अखण्ड विस्तार इस प्रकार के कल्पना-विलास के अधिक अनुकूल है। प्रसाद के नाटकों के अध्येता के मन में अनायास ही यह बात उठ आती थी, और वह वास्तव में बहुत दिनों से उनसे किसी ऐतिहासिक उपन्यास की आशा लगाये बैठा था। वह आशा 'इरावती' में फलित हो रही थी, किन्तु दैव के विधान से वह अपूर्ण ही रह गयी।

'इरावती' के केवल १०८ पृष्ठ प्रकाशित हुए हैं; इतने ही लिखे गये थे। यह सम्भव था कि प्रकाशन से पूर्व सम्पादन करने में एकाध पृष्ठ छोड़कर कहानी को कहीं उपयुक्त विराम देने का प्रयत्न किया जाता; परन्तु वैसा नहीं हुआ, अन्तिम शब्द तक प्रकाशित कर दिया गया है। अन्तिम वाक्य अधूरा है : 'चतुष्पथ तथा और भी आवश्यक स्थानों पर उल्काएं जल रही थीं। वर्षा कुछ कम...'

'इरावती' की कथा मौर्य-साम्राज्य के अधःपतन-काल से सम्बद्ध है जिसे डॉ० जायसवाल आदि ने अंधकार-युग कहा है। उस समय शतधनुष के पुत्र बृहस्पतिमित्र मगध के सिंहासन पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आसीन थे। सम्राट् अशोक का जीवन-काल और उनके द्वारा अर्जित मौर्य-वंश का वैभव-प्रताप छाया-शेष रह गया था। बौद्ध राज्य की अहिंसा दुर्बलता और पाखण्ड में परिणत हो चुकी थी। पश्चिम से यवन, पूर्व में कलिंग से खारवेल, और दक्षिण से आंध्रों के आक्रमण का आतंक बढ़ता जा रहा था। उधर आन्तर विद्रोह की अग्नि भी धीरे-धीरे सुलग रही थी; बौद्धों के विरुद्ध ब्राह्मण-धर्म का विद्रोह बल पकड़ता जा रहा था। मगध-नरेश के सेनापति, सामन्त आदि सर्वथा असन्तुष्ट थे और कुचक्र का वातावरण तैयार हो रहा था। वृद्ध सेनापति के कान्यकुब्ज में वीरगति को प्राप्त हो जाने पर पुष्यमित्र सेनापति-पद पर आरूढ़ हुए और उनका प्रतापी आत्मज विदिशा का कुलपुत्र अग्निमित्र, जो अब तक निराश प्रेम और निरुद्देश्य साहसिकता का जीवन व्यतीत कर रहा था, खारवेल से लोहा लेने के लिए महानायक नियुक्त किया गया। खारवेल ने भगवान् जिन की मूर्ति लौटाने के बहाने मगध-नरेश का आह्वान किया था, और भीरु तथा विलासी बृहस्पति-मित्र ने उससे गुप्त संधि भी कर ली थी। पाटलिपुत्र में आतंक छाया हुआ था, नागरिकों में—विशेषकर धनिक-वर्ग में—भगदड़ मची हुई थी। ये लोग राजगृह की पहाड़ियों में शरण ले रहे थे। यह तो कथा का बाह्य पक्ष है। कथा के अंतरंग पक्ष का सम्बन्ध इरावती से है। इरावती कदाचित् पाटलिपुत्र की नगर-नर्तकी थी, जो अग्निमित्र के प्रेम में असफल होकर महाकाल के मन्दिर में देवदासी हो गयी थी। बृहस्पतिमित्र की दृष्टि उस पर आरम्भ से ही थी। एक दिन महाकाल के मन्दिर में देवता के सामने नृत्य-निरत इरावती को धर्म के नाम पर विलासिता का प्रचार करने के अपराध में बृहस्पतिमित्र ने भिक्षुणी होने का आदेश देकर बौद्ध विहार में भेज दिया। अग्निमित्र ने, जो उस समय वहां उपस्थित था, प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया, परन्तु इरावती ने स्वयं बन्दी बनने की इच्छा प्रकट की, और विहार में चली गयी। विहार में एक रात को पूर्णिमा के वैभव से उद्दीप्त होकर वह अनायास ही नाच उठी, और इस प्रकार संघ के नियम का उल्लंघन करने के अपराध में उसे विहार से भी हटकर अन्त में बृहस्पतिमित्र के अन्त.पुर में आना पड़ा। इरावती के अतिरिक्त उपन्यास की दूसरी नारी-पात्र है कालिन्दी। यह रहस्यमयी नारी नन्द-वंश की कन्या है जो अग्निमित्र की सहायता से अपने पूर्वज नन्दराज की निधि की कुंजी प्राप्त कर लेती है। रूप और यौवन से सम्पन्न कालिन्दी मौर्यों की शत्रु और अग्निमित्र पर आसक्त है। इन प्रमुख कथा-सूत्रों के साथ लिपटी हुई एक उपकथा और है जिसका सम्बन्ध श्रेष्ठी धनदत्त और उसकी स्त्री मणिमाला से है। इन कथाओं के सूत्र धीरे-धीरे आपस में संग्रथित होते जा रहे हैं, और एक-दूसरे के साथ घात-प्रतिघात करती हुई वे आगे बढ़ रही थीं कि अकस्मात् ही सारा खेल बिगड़ गया; और एक अत्यन्त सघन, कुतूहलमय दृश्य के बीचों-बीच कथा की गति सहसा रुक गयी। सन्ध्या के उपरान्त बादलों के साथ-साथ रात्रि का अन्धकार गहरा हो रहा है, वर्षा भी आरम्भ हो गयी है। श्रेष्ठी धनदत्त के निवास-स्थान पर भोजनादि के उपरान्त संगीत की गोष्ठी जमी हुई है, जिसमें तीन स्त्रियां हैं—कालिन्दी, इरावती तथा मणिमाला; और चार पुरुष हैं, स्वयं धनदत्त, अग्निमित्र, एक ब्रह्मचारी और एक संभ्रान्त आगन्तुक। यह आगन्तुक सगर्व अपनी वीणावादन-कला का प्रदर्शन कर रहा है, इतने ही में श्रेष्ठी-भवन को स्वस्तिक दल के सैनिक आकर घेर लेते हैं और सूचना मिलती है कि यह चौथा पुरुष—वीणाप्रवीण आगन्तुक—चक्रवर्ती खारवेल ही है। एक साथ खलबली मच जाती है। अग्निमित्र खारवेल की प्राण-रक्षा के लिए प्रतिश्रुत होता है।—बस, यहीं यक्ष्मा-पीड़ित मेधावी कलाकार की उंगलियां कांप जाती हैं और लेखनी रुक जाती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इरावती

कवि दिनकर की एक मार्मिक पंक्ति है—'गीत-अगीत कौन सुन्दर है ?' गीत और अगीत के बीच एक और भी स्थिति है, अर्धगीत की। गीत का माधुर्य प्रत्यक्ष अनुभव-गम्य है, अगीत का कल्पना-गम्य। किन्तु अर्धगीत का माधुर्य कितना करुण है ! उसमें जो गीत है वह अगीत का संकेत देकर असहाय मौन हो जाता है। विश्व के साहित्य में ऐसे काव्य अनेक हैं जो अर्धगीत ही रह गये। भारत में प्रवाद है कि बाण की 'कादम्बरी' अपरिसमाप्त ही रह गयी थी, अन्त में उनके पुत्र ने उसे पूरा किया। एक किंवदन्ती के अनुसार चन्द भी गज़नी जाने से पूर्व रासो को अपने पुत्र जल्हन के हाथ सौंप गये थे : 'पुस्तक जल्हण हत्थ दै गे गज्जन नृप काज।' किन्तु आज तो वह भी सम्भव नहीं है। यदि कोई दूसरा प्रयत्न करके अपूर्ण को पूर्ण कर भी दे तो एक तो वह भिन्न कृति होगी, और दूसरे सहृदय-समाज उसे क्यों स्वीकार करेगा ! इस दृष्टि से ये अपूर्ण कृतियां अपनी अपूर्णता में ही महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रसादजी का उपन्यास 'इरावती' उनके जीवन के समान ही अपूर्ण रह गया। यह उनका तीसरा उपन्यास था। इससे पूर्व उनकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक काव्यों, नाटकों तथा कहानियों आदि के अतिरिक्त 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों का भी सृजन कर चुकी थी। ये दोनों उपन्यास सामाजिक थे; पर प्रसादजी की प्रतिभा की सहज क्रीड़ा-भूमि तो भारत का स्वर्णिम इतिहास था। उन्होंने अपने नाटकों में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का अनुसन्धान अथवा पुनराख्यान प्रस्तुत किया है। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' आदि की विस्तृत गवेषणात्मक भूमिकाएं उनके पुरातत्त्व-प्रेम और ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि की साक्षिणी हैं। इतिहास के बिखरे सूत्रों को समन्वित कर उस कंकाल में प्राण-प्रतिष्ठा करने में उनकी कल्पना विशेष रूप से रमती थी। किन्तु नाटक में कदाचित् उसे वांछित अवकाश नहीं मिल पाया और इसमें सन्देह नहीं कि दृश्यों में खण्डित नाटक के सीमित कलेवर की अपेक्षा उपन्यास का अखण्ड विस्तार इस प्रकार के कल्पना-विलास के अधिक अनुकूल है। प्रसाद के नाटकों के अध्येता के मन में अनायास ही यह बात उठ आती थी, और वह वास्तव में बहुत दिनों से उनसे किसी ऐतिहासिक उपन्यास की आशा लगाये बैठा था। वह आशा 'इरावती' में फलित हो रही थी, किन्तु दैव के विधान से वह अपूर्ण ही रह गयी।

'इरावती' के केवल १०८ पृष्ठ प्रकाशित हुए हैं; इतने ही लिखे गये थे। यह सम्भव था कि प्रकाशन से पूर्व सम्पादन करने में एकाध पृष्ठ छोड़कर कहानी को कहीं उपयुक्त विराम देने का प्रयत्न किया जाता; परन्तु वैसा नहीं हुआ, अन्तिम शब्द तक प्रकाशित कर दिया गया है। अन्तिम वाक्य अधूरा है : 'चतुष्पथ तथा और भी आवश्यक स्थानों पर उल्काएं जल रही थीं। वर्षा कुछ कम…'

'इरावती' की कथा मौर्य-साम्राज्य के अधःपतन-काल से सम्बद्ध है जिसे डॉ० जायसवाल आदि ने अंधकार-युग कहा है। उस समय शतधनुष के पुत्र बृहस्पतिमित्र मगध के सिंहासन पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आसीन थे। सम्राट् अशोक का जीवन-काल और उनके द्वारा अर्जित मौर्य-वंश का वैभव-प्रताप छाया-शेष रह गया था। बौद्ध राज्य की अहिंसा दुर्बलता और पाखण्ड में परिणत हो चुकी थी। पश्चिम से यवन, पूर्व में कलिंग से खारवेल, और दक्षिण से आंध्रों के आक्रमण का आतंक बढ़ता जा रहा था। उधर आन्तर विद्रोह की अग्नि भी धीरे-धीरे सुलग रही थी; बौद्धों के विरुद्ध ब्राह्मण-धर्म का विद्रोह बल पकड़ता जा रहा था। मगध-नरेश के सेनापति, सामन्त आदि सर्वथा असन्तुष्ट थे और कुचक्र का वातावरण तैयार हो रहा था। वृद्ध सेनापति के कान्यकुब्ज में वीरगति को प्राप्त हो जाने पर पुष्यमित्र सेनापति-पद पर आरूढ़ हुए और उनका प्रतापी आत्मज विदिशा का कुलपुत्र अग्निमित्र, जो अब तक निराश प्रेम और निरुद्देश्य साहसिकता का जीवन व्यतीत कर रहा था, खारवेल से लोहा लेने के लिए महानायक नियुक्त किया गया। खारवेल ने भगवान् जिन की मूर्ति लौटाने के बहाने मगध-नरेश का आह्वान किया था, और भीरु तथा विलासी बृहस्पति-मित्र ने उससे गुप्त संधि भी कर ली थी। पाटलिपुत्र में आतंक छाया हुआ था, नागरिकों में—विशेषकर धनिक-वर्ग में—भगदड़ मची हुई थी। ये लोग राजगृह की पहाड़ियों में शरण ले रहे थे। यह तो कथा का बाह्य पक्ष है। कथा के अंतरंग पक्ष का सम्बन्ध इरावती से है। इरावती कदाचित् पाटलिपुत्र की नगर-नर्तकी थी, जो अग्निमित्र के प्रेम में असफल होकर महाकाल के मन्दिर में देवदासी हो गयी थी। बृहस्पतिमित्र की दृष्टि उस पर आरम्भ से ही थी। एक दिन महाकाल के मन्दिर में देवता के सामने नृत्य-निरत इरावती को धर्म के नाम पर विलासिता का प्रचार करने के अपराध में बृहस्पतिमित्र ने भिक्षुणी होने का आदेश देकर बौद्ध विहार में भेज दिया। अग्निमित्र ने, जो उस समय वहां उपस्थित था, प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया, परन्तु इरावती ने स्वयं बन्दी बनने की इच्छा प्रकट की, और विहार में चली गयी। विहार में एक रात को पूर्णिमा के वैभव से उद्दीप्त होकर वह अनायास ही नाच उठी, और इस प्रकार संघ के नियम का उल्लंघन करने के अपराध में उसे विहार से भी हटकर अन्त में बृहस्पतिमित्र के अन्तःपुर में आना पड़ा। इरावती के अतिरिक्त उपन्यास की दूसरी नारी-पात्र है कालिन्दी। यह रहस्यमयी नारी नन्द-वंश की कन्या है जो अग्निमित्र की सहायता से अपने पूर्वज नन्दराज की निधि की कुंजी प्राप्त कर लेती है। रूप और यौवन से सम्पन्न कालिन्दी मौर्यों की शत्रु और अग्निमित्र पर आसक्त है। इन प्रमुख कथा-सूत्रों के साथ लिपटी हुई एक उपकथा और है जिसका सम्बन्ध श्रेष्ठी धनदत्त और उसकी स्त्री मणिमाला से है। इन कथाओं के सूत्र धीरे-धीरे आपस में संग्रथित होते जा रहे हैं, और एक-दूसरे के साथ घात-प्रतिघात करती हुई वे आगे बढ़ रही थीं कि अकस्मात् ही सारा खेल बिगड़ गया; और एक अत्यन्त सघन, कुतूहलमय दृश्य के बीचों-बीच कथा की गति सहसा रुक गयी। सन्ध्या के उपरान्त बादलों के साथ-साथ रात्रि का अन्धकार गहरा हो रहा है, वर्षा भी आरम्भ हो गयी है। श्रेष्ठी धनदत्त के निवास-स्थान पर भोजनादि के उपरान्त संगीत की गोष्ठी जमी हुई है, जिसमें तीन स्त्रियां हैं—कालिन्दी, इरावती तथा मणिमाला; और चार पुरुष हैं, स्वयं धनदत्त, अग्निमित्र, एक ब्रह्मचारी और एक संभ्रान्त आगन्तुक। यह आगन्तुक सगर्व अपनी वीणावादन-कला का प्रदर्शन कर रहा है, इतने ही में श्रेष्ठी-भवन को स्वस्तिक दल के सैनिक आकर घेर लेते हैं और सूचना मिलती है कि यह चौथा पुरुष—वीणाप्रवीण आगन्तुक—चक्रवर्ती खारवेल ही है। एक साथ खलबली मच जाती है। अग्निमित्र खारवेल की प्राण-रक्षा के लिए प्रतिश्रुत होता है।—बस, यहीं यक्ष्मा-पीड़ित मेधावी कलाकार की उंगलियां काँप जाती हैं और लेखनी रुक जाती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'इरावती' का आधार इतिहास-पुष्ट है। उसकी प्रायः सभी मुख्य घटनाओं और पात्रों के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य वर्तमान हैं। प्राचीन भारत के इतिहास का निर्माण मुख्यतः पुराण, काव्य, शास्त्र, बौद्ध-जैन साहित्य तथा शिलालेखों के आधार पर हुआ है, और इन पर आश्रित स्मिथ, जायसवाल, त्रिपाठी तथा मजूमदार के इतिहास-ग्रन्थ आज हमारे सामने हैं। डॉ० मजूमदार की धारणा है कि वहसतिमित्र—जिसका संस्कृत रूप स्पष्टतया बृहस्पतिमित्र है—उन मित्र-राजाओं में से था जिन्होंने कदाचित् मौर्य-साम्राज्य के अधःपतन-काल में मगध पर राज्य किया था। डॉ० जायसवाल वहसतिमित्र या बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र का ही दूसरा नाम मानते हैं। प्राचीन भारत की पर्याय-नामों की प्रथा उस समय प्रचलित थी; जैसे चन्द्रगुप्त का नाम शशिगुप्त भी था। परन्तु अनेक साक्ष्यों के आधार पर आजयह मत खण्डित हो चुका है। प्रसादजी ने अन्तिम मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ का ही दूसरा नाम बृहस्पतिमित्र माना है। उनके इस निष्कर्ष का आधार क्या है, यह कहना कठिन है; क्योंकि 'इरावती' के साथ उनका कोई ऐतिहासिक लेख संलग्न नहीं है। परन्तु बृहद्रथ और बृहस्पतिमित्र की अभिन्नता में उन्हें सन्देह नहीं था। पुराणों में बृहद्रथ को शतधन्वा या शतधनुप का पुत्र कहा गया है। 'इरावती' के बृहस्पतिमित्र के पिता का नाम भी शतधनुप ही है जिसकी मृत्यु का समाचार महाकाल के मन्दिर में प्राप्त होता है। बौद्ध राजाओं के नाम मित्र पर प्रायः रहते थे। अशोक की पुत्री का ही नाम संघमित्रा था। संघमित्र, धम्म या धर्ममित्र नामों का उस युग में प्रचार था जो प्रायः धार्मिक उपाधि के रूप में ही प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार के किसी साक्ष्य या तर्क के आधार पर प्रसादजी ने बृहद्रथ और बृहस्पतिमित्र को अभिन्न माना है। दूसरा पात्र है खारवेल जो इतिहास में कलिंग-नरेश चक्रवर्ती खारवेल के नाम से प्रसिद्ध है। पुरी में हाथीगुफा के शिलालेख में महामेघवाहन खारवेल के पराक्रम की प्रशस्ति मिलती है। उसने मगध-नरेश बृहस्पतिमित्र को हराकर अशोक की कलिंग-विजय का प्रतिशोध लिया था और मगध के राजा नन्द द्वारा अपहृत जैन-तीर्थंकर की मूर्ति उससे छीन ली थी। 'इरावती' में इस घटना का स्पष्ट उल्लेख है; भेद केवल इतना ही है कि यह मूर्ति जिन मूर्ति है और अपहर्ता नन्दराज न होकर सम्राट् अशोक हैं। इतिहास में अशोक की कलिंग-विजय का ही उल्लेख है; किसी नन्दराजा के विषय में ऐसा उल्लेख नहीं है। इसीलिए प्रसादजी ने यह संशोधन कर दिया है। या फिर सम्भव है उन्हें इसका आधार किसी अन्य ग्रन्थ में मिला हो। पुष्यमित्र और अग्निमित्र क्रमशः ब्राह्मण-राजवंश शुंग के प्रथम तथा द्वितीय सम्राट् हैं। इतिहास के अनुसार पुष्यमित्र बृहद्रथ का सेनापति था, जिसने प्रतिज्ञा-दुर्बल मगध-नरेश का वध कर स्वयं राज्य-सत्ता हस्तगत कर ली थी। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का नायक अग्निमित्र उसका पराक्रमी पुत्र था। 'इरावती' में पुष्यमित्र वृद्ध सेनापति की मृत्यु के उपरान्त पदारूढ़ होता है और धीरे-धीरे शक्ति अर्जन कर रहा है, जिससे अनुमान होता है कि इतिहास-प्रसिद्ध घटना के लिए भूमिका प्रस्तुत हो रही है। अब दो पुरुष पात्र—ब्रह्मचारी और धनदत्त तथा तीन नारी-पात्र—इरावती, कालिन्दी और मणिमाला रह जाते हैं। इनमें धनदत्त और उसकी पत्नी मणिमाला जैसे श्रेष्ठी और श्रेष्ठि-पत्नियां उस युग के धनिक-वर्ग के प्रतिनिधि हैं; वे व्यक्ति न होकर कदाचित् वर्ग-प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार कालिन्दी जैसी राजकुमारियों का अस्तित्व भी उस युग में सहज कल्पनीय है जो अपने पद-च्युत वंश का प्रतिशोध लेने के लिए राजनीतिक कुचक्रों में सक्रिय भाग लेती थीं। अब शेष रहे दो पात्र : ब्रह्मचारी और इरावती; इरावती उपन्यास की नायिका है और ब्रह्मचारी के हाथ में उपन्यास की कथा का मूल उद्देश्य-सूत्र है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इरावती का स्पष्ट उल्लेख 'मालविकाग्निमित्र' में है; वह सम्राट् अग्निमित्र की दूसरी रानी है। नाटक में वह गौण पात्र है और केवल दो बार उपस्थित होकर मालविका के विरुद्ध अपने ईर्ष्या-ज्वलित असंयत स्वभाव का परिचय देती है। प्रसादजी ने यह नाम तो निस्सन्देह यहीं से लिया है, और बहुत सम्भव है इरावती ऐतिहासिक पात्र ही रही हो; क्योंकि 'मालविकाग्निमित्र' की कथा निश्चय ही कालिदास के बहुत-कुछ समसामयिक इतिहास पर आश्रित है। परन्तु चरित्र का विकास प्रसाद ने सर्वथा स्वतन्त्र रूप में किया है। कहां कालिदास की ईर्ष्यान्ध गरिमाहीन इरावती और कहां प्रसाद की संयम, संस्कार तथा कला से अलंकृत इरावती; इस दृष्टि से यह मालविका के अधिक निकट है। परन्तु वास्तव में ये दोनों पात्र—इरावती और ब्रह्मचारी व्यक्ति तथा वर्ग दोनों से भी ऊपर प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। इरावती भारत के प्राचीन वैभव की कला-प्रवृत्ति की प्रतीक है। उस युग में पुर-सुन्दरी के वरण की प्रथा प्रचलित थी ही। ब्रह्मचारी तेजस्वी ब्राह्मण-दर्शन का प्रतीक है जो बौद्ध-धर्म के विरुद्ध फिर शक्ति-संचय कर रहा था। काव्य-मनोविज्ञान की दृष्टि से इरावती राग-विराग से पुष्ट प्रसादजी की कला-दृष्टि की, और ब्रह्मचारी उनके उस स्वस्थ जीवन-दर्शन का प्रतीक है, जो उपभोग और संयम का पूर्ण समन्वय-रूप है। प्रसाद का स्रष्टा कलाकार आत्माभिव्यंजन के लिए ऐसे दो पात्रों की सृष्टि सर्वत्र करता रहा है। इन पात्रों को भी ऐतिहासिक ही मानना चाहिए; क्योंकि इनका अस्तित्व चाहे तथ्य-परक न हो परन्तु तत्त्व-परक अवश्य है; अर्थात् इनका यह विशेष नाम या रूप चाहे न रहा हो, परन्तु ये उस युग-विशेष की प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं इसमें सन्देह नहीं। इनसे इतिहास जुटाने में कोई विशेष लाभ न होता हो, परन्तु युग का इतिहास जगाने के ये अमोघ साधन हैं। ये तथ्य-संकलन में सहायक न होकर वातावरण तैयार करते हैं, और ऐतिहासिक कथाओं में घटनाओं और नामों की अपेक्षा वातावरण का महत्त्व कहीं अधिक है; क्योंकि इतिहास की आत्मा नामों और घटनाओं में न रहकर वातावरण में ही निहित रहती है। प्रसादजी की ऐतिहासिक दृष्टि इस सत्य से परिचित थी। उन्होंने शिक्षालयों के लिए लिखे हुए इतिहास-ग्रन्थों पर निर्भर न रहकर काव्य, शास्त्र तथा पुरातत्त्व-सम्बन्धी अभिलेखों के अध्ययन-मनन द्वारा प्राचीन भारत की आत्मा में प्रवेश कर उसके संस्कार अपनी आत्मा में रमा लिये थे। उनकी रोमानी सृजनात्मक प्रतिभा और प्राचीन भारत की आत्मा में इस प्रकार तादात्म्य स्थापित हो गया था। इसीलिए वातावरण की सृष्टि में उन्हें सहज दक्षता प्राप्त थी। प्राचीन युग की प्रवृत्तियों का जीवन्त वर्णन, प्राचीन नाम-उपाधियां, प्रथा-रीतियां, प्राचीन वाङ्मय के पारिभाषिक शब्दों से सम्पन्न उनकी संस्कृत-निष्ठ भाषा—सभी का इसमें विचित्र योग रहता था; परन्तु यह यान्त्रिक क्रिया नहीं थी। इन तत्त्वों के संयोजन-मात्र से युग का इतिहास नहीं जगाया जा सकता। इतिहास की आत्मा को जगाने के लिए अपनी आत्मा में ही उसे रचाना पड़ता है। प्रसाद की ऐतिहासिक कला का यही रहस्य था। इस दृष्टि से 'इरावती' उनकी और सभी कृतियों से भी अधिक सफल है। वास्तव में इस अपूर्ण कथा का सबसे उज्ज्वल पक्ष यही है। शतधनुष, बृहस्पतिमित्र, पुष्यमित्र, खारवेल, अग्निमित्र, इरावती, कालिन्दी, धनदत्त, मणिमाला, उत्पला आदि व्यक्तियों के नाम; कलिंग, विदिशा, रोहिताश्व, राजगृह, मुग्दगिरि, कुक्कुटाराम आदि स्थानों के नाम; उधर चंक्रम, उपोसथागार, महास्थविर, श्रामणेरी, संघाटी जैसी बौद्ध धर्म-सम्बन्धी शब्दावली; तथा महामात्य, संधि-विग्रहिक, महादण्ड-नायक, गुल्म सदृश राजनीति के शब्द—प्राचीन हिन्दू भारत का वातावरण उपस्थित करने में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'इरावती' का आधार इतिहास-पुष्ट है। उसकी प्रायः सभी मुख्य घटनाओं और पात्रों के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य वर्तमान हैं। प्राचीन भारत के इतिहास का निर्माण मुख्यतः पुराण, काव्य, शास्त्र, बौद्ध-जैन साहित्य तथा शिलालेखों के आधार पर हुआ है, और इन पर आश्रित स्मिथ, जायसवाल, त्रिपाठी तथा मजूमदार के इतिहास-ग्रन्थ आज हमारे सामने हैं। डॉ० मजूमदार की धारणा है कि वहसतिमित्र—जिसका संस्कृत रूप स्पष्टतया बृहस्पतिमित्र है—उन मित्र-राजाओं में से था जिन्होंने कदाचित् मौर्य-साम्राज्य के अधःपतन-काल में मगध पर राज्य किया था। डॉ० जायसवाल वहसतिमित्र या बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र का ही दूसरा नाम मानते हैं। प्राचीन भारत की पर्याय-नामों की प्रथा उस समय प्रचलित थी; जैसे चन्द्रगुप्त का नाम शशिगुप्त भी था। परन्तु अनेक साक्ष्यों के आधार पर आजयह मत खण्डित हो चुका है। प्रसादजी ने अन्तिम मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ का ही दूसरा नाम बृहस्पतिमित्र माना है। उनके इस निष्कर्ष का आधार क्या है, यह कहना कठिन है; क्योंकि 'इरावती' के साथ उनका कोई ऐतिहासिक लेख संलग्न नहीं है। परन्तु बृहद्रथ और बृहस्पतिमित्र की अभिन्नता में उन्हें सन्देह नहीं था। पुराणों में बृहद्रथ को शतधन्वा या शतधनुप का पुत्र कहा गया है। 'इरावती' के बृहस्पतिमित्र के पिता का नाम भी शतधनुष ही है जिसकी मृत्यु का समाचार महाकाल के मन्दिर में प्राप्त होता है। बौद्ध राजाओं के नाम मित्र पर प्रायः रहते थे। अशोक की पुत्री का ही नाम संघमित्रा था। संघमित्र, धम्म या धर्ममित्र नामों का उस युग में प्रचार था जो प्रायः धार्मिक उपाधि के रूप में ही प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार के किसी साक्ष्य या तर्क के आधार पर प्रसादजी ने बृहद्रथ और बृहस्पतिमित्र को अभिन्न माना है। दूसरा पात्र है खारवेल जो इतिहास में कलिंग-नरेश चक्रवर्ती खारवेल के नाम से प्रसिद्ध है। पुरी में हाथीगुफा के शिलालेख में महामेघवाहन खारवेल के पराक्रम की प्रशस्ति मिलती है। उसने मगध-नरेश बृहस्पतिमित्र को हराकर अशोक की कलिंग-विजय का प्रतिशोध लिया था और मगध के राजा नन्द द्वारा अपहृत जैन-तीर्थंकर की मूर्ति उससे छीन ली थी। 'इरावती' में इस घटना का स्पष्ट उल्लेख है; भेद केवल इतना ही है कि यह मूर्ति जिन मूर्ति है और अपहर्ता नन्दराज न होकर सम्राट् अशोक हैं। इतिहास में अशोक की कलिंग-विजय का ही उल्लेख है; किसी नन्दराजा के विषय में ऐसा उल्लेख नहीं है। इसीलिए प्रसादजी ने यह संशोधन कर दिया है। या फिर सम्भव है उन्हें इसका आधार किसी अन्य ग्रन्थ में मिला हो। पुष्यमित्र और अग्निमित्र क्रमशः ब्राह्मण-राजवंश शुंग के प्रथम तथा द्वितीय सम्राट् हैं। इतिहास के अनुसार पुष्यमित्र बृहद्रथ का सेनापति था, जिसने प्रतिज्ञा-दुर्बल मगध-नरेश का वध कर स्वयं राज्य-सत्ता हस्तगत कर ली थी। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का नायक अग्निमित्र उसका पराक्रमी पुत्र था। 'इरावती' में पुष्यमित्र वृद्ध सेनापति की मृत्यु के उपरान्त पदारूढ़ होता है और धीरे-धीरे शक्ति-अर्जन कर रहा है, जिससे अनुमान होता है कि इतिहास-प्रसिद्ध घटना के लिए भूमिका प्रस्तुत हो रही है। अब दो पुरुष पात्र—ब्रह्मचारी और धनदत्त तथा तीन नारी-पात्र—इरावती, कालिन्दी और मणिमाला रह जाते हैं। इनमें धनदत्त और उसकी पत्नी मणिमाला जैसे श्रेष्ठी और श्रेष्ठि-पत्नियां उस युग के धनिक-वर्ग के प्रतिनिधि हैं; वे व्यक्ति न होकर कदाचित् वर्ग-प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार कालिन्दी जैसी राजकुमारियों का अस्तित्व भी उस युग में सहज कल्पनीय है जो अपने पद-च्युत वंश का प्रतिशोध लेने के लिए राजनीतिक कुचक्रों में सक्रिय भाग लेती थीं। अब शेष रहे दो पात्र : ब्रह्मचारी और इरावती; इरावती उपन्यास की नायिका है और ब्रह्मचारी के हाथ में उपन्यास की कथा का मूल उद्देश्य-सूत्र है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इरावती का स्पष्ट उल्लेख 'मालविकाग्निमित्र' में है; वह सम्राट् अग्निमित्र की दूसरी रानी है। नाटक में वह गौण पात्र है और केवल दो बार उपस्थित होकर मालविका के विरुद्ध अपने ईर्ष्या-ज्वलित असंयत स्वभाव का परिचय देती है। प्रसादजी ने यह नाम तो निस्सन्देह यहीं से लिया है, और बहुत सम्भव है इरावती ऐतिहासिक पात्र ही रही हो; क्योंकि 'मालविकाग्निमित्र' की कथा निश्चय ही कालिदास के बहुत-कुछ समसामयिक इतिहास पर आश्रित है। परन्तु चरित्र का विकास प्रसाद ने सर्वथा स्वतन्त्र रूप में किया है। कहां कालिदास की ईर्ष्यान्ध गरिमाहीन इरावती और कहां प्रसाद की संयम, संस्कार तथा कला से अलंकृत इरावती; इस दृष्टि से यह मालविका के अधिक निकट है। परन्तु वास्तव में ये दोनों पात्र—इरावती और ब्रह्मचारी व्यक्ति तथा वर्ग दोनों से भी ऊपर प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। इरावती भारत के प्राचीन वैभव की कला-प्रवृत्ति की प्रतीक है। उस युग में पुर-सुन्दरी के वरण की प्रथा प्रचलित थी ही। ब्रह्मचारी तेजस्वी ब्राह्मण-दर्शन का प्रतीक है जो बौद्ध-धर्म के विरुद्ध फिर शक्ति-संचय कर रहा था। काव्य-मनोविज्ञान की दृष्टि से इरावती राग-विराग से पुष्ट प्रसादजी की कला-दृष्टि की, और ब्रह्मचारी उनके उस स्वस्थ जीवन-दर्शन का प्रतीक है, जो उपभोग और संयम का पूर्ण समन्वय-रूप है। प्रसाद का स्रष्टा कलाकार आत्माभिव्यंजन के लिए ऐसे दो पात्रों की सृष्टि सर्वत्र करता रहा है। इन पात्रों को भी ऐतिहासिक ही मानना चाहिए; क्योंकि इनका अस्तित्व चाहे तथ्य-परक न हो परन्तु तत्त्व-परक अवश्य है; अर्थात् इनका यह विशेष नाम या रूप चाहे न रहा हो, परन्तु ये उस युग-विशेष की प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं इसमें सन्देह नहीं। इनसे इतिहास जुटाने में कोई विशेष लाभ न होता हो, परन्तु युग का इतिहास जगाने के ये अमोघ साधन हैं। ये तथ्य-संकलन में सहायक न होकर वातावरण तैयार करते हैं, और ऐतिहासिक कथाओं में घटनाओं और नामों की अपेक्षा वातावरण का महत्त्व कहीं अधिक है; क्योंकि इतिहास की आत्मा नामों और घटनाओं में न रहकर वातावरण में ही निहित रहती है। प्रसादजी की ऐतिहासिक दृष्टि इस सत्य से परिचित थी। उन्होंने शिक्षालयों के लिए लिखे हुए इतिहास-ग्रन्थों पर निर्भर न रहकर काव्य, शास्त्र तथा पुरातत्त्व-सम्बन्धी अभिलेखों के अध्ययन-मनन द्वारा प्राचीन भारत की आत्मा में प्रवेश कर उसके संस्कार अपनी आत्मा में रमा लिये थे। उनकी रोमानी सृजनात्मक प्रतिभा और प्राचीन भारत की आत्मा में इस प्रकार तादात्म्य स्थापित हो गया था। इसीलिए वातावरण की सृष्टि में उन्हें सहज दक्षता प्राप्त थी। प्राचीन युग की प्रवृत्तियों का जीवन्त वर्णन, प्राचीन नाम-उपाधियां, प्रथा-रीतियां, प्राचीन वाङ्मय के पारिभाषिक शब्दों से सम्पन्न उनकी संस्कृत-निष्ठ भाषा—सभी का इसमें विचित्र योग रहता था; परन्तु यह यान्त्रिक क्रिया नहीं थी। इन तत्त्वों के संयोजन-मात्र से युग का इतिहास नहीं जगाया जा सकता। इतिहास की आत्मा को जगाने के लिए अपनी आत्मा में ही उसे रचाना पड़ता है। प्रसाद की ऐतिहासिक कला का यही रहस्य था। इस दृष्टि से 'इरावती' उनकी और सभी कृतियों से भी अधिक सफल है। वास्तव में इस अपूर्ण कथा का सबसे उज्ज्वल पक्ष यही है। शतधनुष, बृहस्पतिमित्र, पुष्यमित्र, खारवेल, अग्निमित्र, इरावती, कालिन्दी, धनदत्त, मणिमाला, उत्पला आदि व्यक्तियों के नाम; कलिंग, विदिशा, रोहिताश्व, राजगृह, मुद्गगिरि, कुक्कुटाराम आदि स्थानों के नाम; उधर चंक्रम, उपोसथागार, महास्थविर, श्रामणेरी, संघाटी जैसी बौद्ध धर्म-सम्बन्धी शब्दावली; तथा महामात्य, संधि-विग्रहिक, महादण्डनायक, गुल्म सदृश राजनीति के शब्द—प्राचीन हिन्दू भारत का वातावरण उपस्थित करने में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। और फिर प्रसाद अपने उन अंतः-स्थित संस्कारों की प्रेरणा से रोमानी कल्पना द्वारा प्राचीन रीति-नीति, उत्सव आदि का इतना सटीक, अनुभूति-प्रवण वर्णन करते हैं कि समस्त वातावरण जगमग हो उठता है।

देशकाल या वातावरण के अतिरिक्त उपन्यास के तीन प्रमुख तत्त्व और हैं: कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण और उद्देश्य अथवा आधार-भूत जीवन-दर्शन। अपूर्ण उपन्यास के इन तीनों तत्त्वों के विषय में कथित के आधार पर कथनीय का अनुमान भर लगाया जा सकता है। जहां तक कथावस्तु का सम्बन्ध है, 'इरावती' में प्रसादजी की कला के इस दुर्बलतम अंग ने आश्चर्य-जनक प्रगति की है। प्रसाद की कथा-वर्णन शैली का—उनके नाटकों, उपन्यासों तथा महा-काव्य सभी में—यह प्रमुख दोष है कि दार्शनिक विश्लेषण और रम्य कल्पना-विलास के आवर्तों में कथा उलझकर गतिरुद्ध हो जाती है, या ऋजु विकास-पथ छोड़कर इधर-उधर फैल जाती है। 'इरावती' में प्रसादजी ने आरम्भ से ही संयम से काम लिया है और कथा के सूत्रों को कस कर हाथ में रखा है। 'इरावती' के १०८ पृष्ठों में वर्णित घटनाओं में पूर्ण अन्विति है। मुख्य ऐतिहासिक कथा का सूत्र अभी बृहस्पतिमित्र के हाथ में है परन्तु धीरे-धीरे पुष्यमित्र के हाथ में आता जा रहा है। दूसरी कथा का सूत्र कालिन्दी के हाथ में है और तीसरी का कदाचित् धनदत्त के। नायक और नायिका अग्निमित्र और इरावती अभी घटनाओं के भोक्ता-रूप में आगे उठ रहे हैं; नियंता और कर्ता दूसरे ही हैं। अभी तक इनके चरित्र की रेखाओं में उभार और रंगों में भास्वरता नहीं आयी है। इनकी अपेक्षा पुष्यमित्र, ब्रह्मचारी, कालिन्दी तथा अपने ढंग से धन-दत्त के चित्रों की रेखाएं अधिक पुष्ट हैं। कालिन्दी का चित्र सबसे अधिक भास्वर है। उद्देश्य की दृष्टि से 'इरावती' में बौद्ध और आर्य (शैव) दर्शन का संघर्ष और आर्य-दर्शन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। प्रसादजी की अपनी चिन्ताधारा में विवेक-मूलक दुःखवाद और प्रवृत्ति-मूलक आनन्दवाद का द्वन्द्व आरम्भ से लक्षित होता है। आरम्भिक नाटकों में—अजातशत्रु आदि में—बौद्ध-दर्शन की विश्व-करुणा भावना के साथ समझौता करने की थोड़ी-सी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है; परन्तु 'कामायनी' तक आते-आते वे शैव-दर्शन के आनन्दवाद को पूर्ण आग्रह के साथ स्वीकार कर लेते हैं। 'इरावती' में यह आग्रह और भी स्पष्ट हो जाता है:

(१) इस बौद्धिक दम्भ के अवसाद को आर्य जाति से हटाने के लिए आनन्द की प्रतिष्ठा करनी होगी।

(२) चारों ओर उजला-उजला प्रकाश जैसा, जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतंत्र सत्ता अलग बना कर लड़ते नहीं। विश्व का उज्ज्वल पक्ष अंधकार की भूमिका पर नृत्य करता-सा दीख पड़े, सबको आलिंगन करके आत्मा का आनन्द स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे; यह स्थिति क्या अच्छी नहीं! × × × कहीं अशिव नहीं, सर्वत्र शिव! सर्वत्र आनन्द!

यह वास्तव में प्राचीन शैव-दर्शन का नवीन प्रगतिशील चिन्ताधारा के अनुकूल पुन-राख्यान है। प्रसादजी के अनुसार इस युग की अथवा किसी भी युग की जीवन-समस्या का यही समाधान है जो अपनी चिरंतनता में आधुनिक और आधुनिकता में चिरंतन है।

उपन्यास का पाठ समाप्त करते-करते अनेक करुण जिज्ञासाएं मन में उद्‌बुद्ध होने लगती हैं—विलासी बृहस्पतिमित्र का अन्त कैसा हुआ? पुष्यमित्र और अग्निमित्र का क्या हुआ? इरावती और कालिन्दी की जीवन-नौका अन्त में किस तट से जाकर टकरायी? अग्नि-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मित्र और इरावती के असफल प्रेम का क्या परिणाम हुआ ? इनमें से कुछ का समाधान तो इतिहास ही कर देता है। उदाहरण के लिए, वृहस्पतिमित्र का वध कर पुष्यमित्र सत्तारूढ़ हुआ। अग्निमित्र का जीवन भी वैयक्तिक आशा-निराशाओं से उद्वेलित होता हुआ उत्कर्ष के पथ पर आगे बढ़ा होगा और उधर अनेक आवर्तों को पार कर इरावती ने भी अग्निमित्र के विशाल वक्ष पर विश्राम लिया होगा। किन्तु कालिन्दी !—उसकी प्रवृत्ति में इतना वेग है कि अंत में कदाचित् आत्मघात में ही उसका अंत हुआ हो। इस प्रकार की अनेक करुण-मधुर कल्पनाएं मन में जगती हैं और दिनकर की ये पंक्तियां एक निःश्वास के समान अनायास ही फिर निकल जाती हैं :

गीत-अगीत कौन सुन्दर है ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। और फिर प्रसाद अपने उन अंतः-स्थित संस्कारों की प्रेरणा से रोमानी कल्पना द्वारा प्राचीन रीति-नीति, उत्सव आदि का इतना सटीक, अनुभूति-प्रवण वर्णन करते हैं कि समस्त वातावरण जगमग हो उठता है।

देशकाल या वातावरण के अतिरिक्त उपन्यास के तीन प्रमुख तत्त्व और हैं : कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण और उद्देश्य अथवा आधार-भूत जीवन-दर्शन। अपूर्ण उपन्यास के इन तीनों तत्त्वों के विषय में कथित के आधार पर कथनीय का अनुमान भर लगाया जा सकता है। जहां तक कथावस्तु का सम्बन्ध है, 'इरावती' में प्रसादजी की कला के इस दुर्बलतम अंग ने आश्चर्य-जनक प्रगति की है। प्रसाद की कथा-वर्णन शैली का—उनके नाटकों, उपन्यासों तथा महा-काव्य सभी में—यह प्रमुख दोष है कि दार्शनिक विश्लेषण और रम्य कल्पना-विलास के आवर्तों में कथा उलझकर गतिरुद्ध हो जाती है, या ऋजु विकास-पथ छोड़कर इधर-उधर फैल जाती है। 'इरावती' में प्रसादजी ने आरम्भ से ही संयम से काम लिया है और कथा के सूत्रों को कस कर हाथ में रखा है। 'इरावती 'के १०८ पृष्ठों में वर्णित घटनाओं में पूर्ण अन्विति है। मुख्य ऐतिहासिक कथा का सूत्र अभी बृहस्पतिमित्र के हाथ में है परन्तु धीरे-धीरे पुष्यमित्र के हाथ में आता जा रहा है। दूसरी कथा का सूत्र कालिन्दी के हाथ में है और तीसरी का कदाचित् धनदत्त के। नायक और नायिका अग्निमित्र और इरावती अभी घटनाओं के भोक्ता-रूप में आगे उठ रहे हैं; नियंता और कर्ता दूसरे ही हैं। अभी तक इनके चरित्र की रेखाओं में उभार और रंगों में भास्वरता नहीं आयी है। इनकी अपेक्षा पुष्यमित्र, ब्रह्मचारी, कालिन्दी तथा अपने ढंग से धन-दत्त के चित्रों की रेखाएं अधिक पुष्ट हैं। कालिन्दी का चित्र सबसे अधिक भास्वर है। उद्देश्य की दृष्टि से 'इरावती' में बौद्ध और आर्य (शैव) दर्शन का संघर्ष और आर्य-दर्शन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। प्रसादजी की अपनी चिन्ताधारा में विवेक-मूलक दुःखवाद और प्रवृत्ति-मूलक आनन्दवाद का द्वन्द्व आरम्भ से लक्षित होता है। आरम्भिक नाटकों में—अजातशत्रु आदि में—बौद्ध-दर्शन की विश्व-करुणा भावना के साथ समझौता करने की थोड़ी-सी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है; परन्तु 'कामायनी' तक आते-आते वे शैव-दर्शन के आनन्दवाद को पूर्ण आग्रह के साथ स्वीकार कर लेते हैं। 'इरावती' में यह आग्रह और भी स्पष्ट हो जाता है :

(१) इस बौद्धिक दम्भ के अवसाद को आर्य जाति से हटाने के लिए आनन्द की प्रतिष्ठा करनी होगी।

(२) चारों ओर उजला-उजला प्रकाश जैसा, जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतंत्र सत्ता अलग बना कर लड़ते नहीं। विश्व का उज्ज्वल पक्ष अंधकार की भूमिका पर नृत्य करता-सा दीख पड़े, सबको आलिंगन करके आत्मा का आनन्द स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे; यह स्थिति क्या अच्छी नहीं! × × × कहीं अशिव नहीं, सर्वत्र शिव! सर्वत्र आनन्द!

यह वास्तव में प्राचीन शैव-दर्शन का नवीन प्रगतिशील चिन्ताधारा के अनुकूल पुन-राख्यान है। प्रसादजी के अनुसार इस युग की अथवा किसी भी युग की जीवन-समस्या का यही समाधान है जो अपनी चिरंतनता में आधुनिक और आधुनिकता में चिरंतन है।

उपन्यास का पाठ समाप्त करते-करते अनेक करुण जिज्ञासाएं मन में उद्बुद्ध होने लगती हैं—विलासी बृहस्पतिमित्र का अन्त कैसा हुआ? पुष्यमित्र और अग्निमित्र का क्या हुआ? इरावती और कालिन्दी की जीवन-नौका अन्त में किस तट से जाकर टकरायी? अग्नि-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मित्र और इरावती के असफल प्रेम का क्या परिणाम हुआ ? इनमें से कुछ का समाधान तो इतिहास ही कर देता है। उदाहरण के लिए, बृहस्पतिमित्र का वध कर पुष्यमित्र सत्तारूढ़ हुआ। अग्निमित्र का जीवन भी वैयक्तिक आशा-निराशाओं से उद्वेलित होता हुआ उत्कर्ष के पथ पर आगे बढ़ा होगा और उधर अनेक आवर्तों को पार कर इरावती ने भी अग्निमित्र के विशाल वक्ष पर विश्राम लिया होगा। किन्तु कालिन्दी !—उसकी प्रवृत्ति में इतना वेग है कि अंत में कदाचित् आत्मघात में ही उसका अंत हुआ हो। इस प्रकार की अनेक करुण-मधुर कल्पनाएं मन में जगती हैं और दिनकर की ये पंक्तियां एक निःश्वास के समान अनायास ही फिर निकल जाती हैं :

गीत-अगीत कौन सुन्दर है ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'त्यागपत्र' और 'नारी'

प्रेमचन्दजी के सभी उपन्यास हिन्दी ,की मूर्धा पर आसीन होने योग्य नहीं हैं। 'गोदान' उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। उसके अतिरिक्त 'ग़बन', 'सेवासदन', 'रंगभूमि' आदि में भी बहुत-कुछ है जो अमर रहेगा। हिन्दी में इनसे टक्कर लेने वाले उपन्यास बहुत नहीं प्रकाशित हुए। जो हुए वे उंगलियों पर गिने जा सकते हैं, जैसे 'त्यागपत्र', 'नारी', 'चित्रलेखा', 'शेखर' इत्यादि।

समय और सुविधा को देखते हुए मैं यहां श्री जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और श्री सियारामशरण गुप्त के 'नारी' उपन्यासों को लूंगा। ये दोनों उपन्यास मुझे काफ़ी प्रिय हैं। इनमें कुछ इस प्रकार की समता और विषमता है जो तुलनात्मक अध्ययन को रोचक और उपयोगी बना देती है।

'त्यागपत्र' और 'नारी' दोनों ही में एक नारी की कहानी है। 'त्यागपत्र' एकमात्र मृणाल की व्यक्तिगत कहानी है, और 'नारी' जमुना की। मृणाल और जमुना दोनों के ही व्यक्तित्वों के मूल में अतृप्ति है, दोनों ही हमारे सम्मुख एक अभुक्त वासना लिए आती हैं। मृणाल के तो जीवन का ही आरम्भ इस अतृप्ति से होता है। उसके माता-पिता नहीं हैं। भाई का स्नेह उनके स्नेह की कमी को भर नहीं पाता। उसको स्नेह की झलक एक दूसरे व्यक्ति से मिलती है; पर मिलने के साथ ही वह एक तीखा घाव छोड़कर सदा के लिए मिट जाती है। भावज की कठोर ताड़ना उस अभाव की अग्नि को और भी भड़काती है, और अन्त में उसका बेमेल विवाह एवम् पति की यंत्रणाएं इस जीवन-व्यापी अतृप्ति में पूर्ण आहुति बन जाती हैं। इस प्रकार वासना पूर्णतः अभुक्त और अतृप्त रहकर उसके जीवन में एक अद्भुत गति और शक्ति का संचरण करती है। जीवन के मध्याह्न तक तो उसे इस वासना के संस्कार का उचित माध्यम नहीं मिल पाता और वह एक उद्दाम तीव्रता लिए झुलसती और झुलसाती—जीवन को मानो चीरती हुई—भटकती रहती है। बीच में वह पातिव्रत की बात करती है, अपने पति के साथ समझौते का प्रयत्न करती है, एक अत्यन्त निकृष्ट व्यक्ति—कोयले वाले—के साथ ममता का खेल करती है, पत्नी-धर्म के निर्वाह का दावा करती है। पर यह सब कुछ जैसे एक तीखा व्यंग्य है। सचमुच चारों ओर से नकार प्राप्त कर मृणाल का जीवन ही तीव्र व्यंग्य बन गया है।

जमुना का व्यक्तित्व व्यंग्यमय नहीं है। कारण यह है कि उसमें आरम्भ से ही निषेध और स्वीकृति का मिश्रण रहा है। उसको चारों ओर से नकार ही नहीं मिला। आरम्भ में पति का मुक्त प्रणयदान, उसके चले जाने पर श्वसुर का स्निग्ध वात्सल्य, और उनके मरने के बाद हल्ली के स्नेह में उसे जीवन की मधुर स्वीकृति भी मिली है। इसके साथ ही बाद में पति की उपेक्षा में, गांववालों के—विशेषकर चौधरी के—कटु-व्यवहार में उसे तिरस्कार भी मिला है। परन्तु कुल मिलाकर वास्तव में यह नकार उस स्वीकृति से कहीं हल्का बैठता है। इसीलिए जमुना कई बार विचलित होकर भी विश्वास नहीं खो पाती—जीवन की स्वीकृति का अपमान नहीं कर पाती। जीवन की चरम परिणति में भी—जब वह पति का ध्यान छोड़कर एक दूसरे व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

को ग्रहण करने का निश्चय कर लेती है—वह जीवन को स्वीकार ही करती है, उसका निषेध नहीं करती। उसके जीवन में अतृप्ति है। उसकी वासना प्रणय के अभाव में अतृप्त और अभुक्त रहती है। परन्तु उसके साथ ही उसको व्यक्त और तुष्ट करने का साधन भी तो पुत्र-रूप में उसके पास है। वह गृहिणी है। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का भी, जिसके समतल गमले में हल्ली-जैसा सुन्दर पौधा पनप रहा है, उसकी वासना पर अधिकार है। इसलिए उसके व्यक्तित्व में मृणाल की-सी तीव्रता और गति नहीं रह गयी; परन्तु विश्वास की प्रशान्त गम्भीरता उसमें है। मृणाल यदि लैम्प की प्रखर लौ है जिसमें प्रकाश के साथ विषाक्त धुआं भी है तो जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुआं बिल्कुल नहीं है।

इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्वों के अनुसार ही दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों में भी साम्य है।

इन दोनों रचयिताओं की विचारधारा की एक दिशा है। दोनों ही दार्शनिक या सामाजिक शब्दावली में गांधी-नीति में, और मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न में विश्वास करते हैं। दोनों ही एक स्वर में कह उठते हैं :

"सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्मव्यथा में मिल जाता है।"—त्यागपत्र

"लोग ऊपर-ऊपर देखते हैं कि इसे दुःख है। किसी को दुःख ही दुःख हो तो वह जिन्दा कैसे रहे ? आज तो पूरा उपाय करने की सोच ली है। आनन्द इसमें भी है।"—नारी

और अधिक स्पष्ट किया जाए तो वास्तव में इस दृष्टिकोण का निर्माण अहिंसा के आधार पर काम की स्वीकृति के द्वारा हुआ है।

दोनों उपन्यासों में आत्मव्यथा में जीवन की शक्ति का मूल स्रोत माना गया है। कष्ट के कारणों से घृणा न करते हुए, कष्ट की अनिवार्यता से त्रास न खाकर, उसमें आनन्द की भावना करना अहिंसा है; और अहिंसा यह सिखाती है कि अभुक्त वासना का वितरण करना ही उसकी सफलता है। मृणाल अन्त में जाकर इसी उपचार को ग्रहण करने में अपनी मुक्ति समझती है। जमुना में यह भावना प्रारम्भ से ही वर्तमान है। परन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में एक अन्तर है—'नारी' की विचारधारा में समाज-नीति की मर्यादा का रक्षण है, परन्तु 'त्यागपत्र' में यह बात नहीं है। जमुना के स्रष्टा ने इस बात का ध्यान रखा है कि दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने में भी वह समाज-नीति का उल्लंघन न कर पाए। जमुना जिस वर्ग की नारी है, उसमें पुनर्विवाह या दूसरा घर बसा लेना जायज़ है। इसके विपरीत 'त्यागपत्र' में सामाजिक मानों की अन्तिम स्वीकृति नहीं है। पति के होते भी मृणाल अपने प्रति सद्व्यवहार करने वाले व्यक्ति को शरीर-समर्पण कर बैठती है और उत्तेजना में आकर नहीं, ठण्डे मस्तिष्क से। जैनेन्द्रजी नीति की चहारदीवारी को तोड़ जीवन में प्रवेश करना शायद आत्म-कल्याण के लिए उचित समझते हैं, परन्तु सियारामशरणजी समाज की मर्यादा-भंग करना श्रेयस्कर नहीं मानते।

दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों को ऋजु शैली से समझिए :

सबसे पहले दो नारियां अपने जीवन का संघर्ष लेकर हमारे सामने आती हैं और हमारे मन में प्रश्न उठता है कि नारी-जीवन की मुक्ति किस में है—विवाह की मर्यादा में, या प्रवृत्ति के उपभोग में ? प्रत्यक्ष रूप में यही धारणा होती है कि सियारामशरणजी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी विवाह की मर्यादा के पक्ष में हैं और जैनेन्द्रजी समाज-मर्यादा का आदर करते हुए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'त्यागपत्र' और 'नारी'

प्रेमचन्दजी के सभी उपन्यास हिन्दी की मूर्धा पर आसीन होने योग्य नहीं हैं। 'गोदान' उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। उसके अतिरिक्त 'ग़बन', 'सेवासदन', 'रंगभूमि' आदि में भी बहुत-कुछ है जो अमर रहेगा। हिन्दी में इनसे टक्कर लेने वाले उपन्यास बहुत नहीं प्रकाशित हुए। जो हुए वे उंगलियों पर गिने जा सकते हैं, जैसे 'त्यागपत्र', 'नारी', 'चित्रलेखा', 'शेखर' इत्यादि।

समय और सुविधा को देखते हुए मैं यहां श्री जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और श्री सियारामशरण गुप्त के 'नारी' उपन्यासों को लूंगा। ये दोनों उपन्यास मुझे काफ़ी प्रिय हैं। इनमें कुछ इस प्रकार की समता और विषमता है जो तुलनात्मक अध्ययन को रोचक और उपयोगी बना देती है।

'त्यागपत्र' और 'नारी' दोनों ही में एक नारी की कहानी है। 'त्यागपत्र' एकमात्र मृणाल की व्यक्तिगत कहानी है, और 'नारी' जमुना की। मृणाल और जमुना दोनों के ही व्यक्तित्वों के मूल में अतृप्ति है, दोनों ही हमारे सम्मुख एक अभुक्त वासना लिए आती हैं। मृणाल के तो जीवन का ही आरम्भ इस अतृप्ति से होता है। उसके माता-पिता नहीं हैं। भाई का स्नेह उनके स्नेह की कमी को भर नहीं पाता। उसको स्नेह की झलक एक दूसरे व्यक्ति से मिलती है; पर मिलने के साथ ही वह एक तीखा घाव छोड़कर सदा के लिए मिट जाती है। भावज की कठोर ताड़ना उस अभाव की अग्नि को और भी भड़काती है, और अन्त में उसका बेमेल विवाह एवम् पति की यंत्रणाएं इस जीवन-व्यापी अतृप्ति में पूर्ण आहुति बन जाती हैं। इस प्रकार वासना पूर्णतः अभुक्त और अतृप्त रहकर उसके जीवन में एक अद्भुत गति और शक्ति का संचरण करती है। जीवन के मध्याह्न तक तो उसे इस वासना के संस्कार का उचित माध्यम नहीं मिल पाता और वह एक उद्दाम तीव्रता लिए झुलसती और झुलसाती—जीवन को मानो चीरती हुई—भटकती रहती है। बीच में वह पातिव्रत की बात करती है, अपने पति के साथ समझौते का प्रयत्न करती है, एक अत्यन्त निकृष्ट व्यक्ति—कोयले वाले—के साथ ममता का खेल करती है, पत्नी-धर्म के निर्वाह का दावा करती है। पर यह सब कुछ जैसे एक तीखा व्यंग्य है। सचमुच चारों ओर से नकार प्राप्त कर मृणाल का जीवन ही तीव्र व्यंग्य बन गया है।

जमुना का व्यक्तित्व व्यंग्यमय नहीं है। कारण यह है कि उसमें आरम्भ से ही निषेध और स्वीकृति का मिश्रण रहा है। उसको चारों ओर से नकार ही नहीं मिला। आरम्भ में पति का मुक्त प्रणयदान, उसके चले जाने पर श्वसुर का स्निग्ध वातसल्य, और उनके मरने के बाद हल्ली के स्नेह में उसे जीवन की मधुर स्वीकृति भी मिली है। इसके साथ ही बाद में पति की उपेक्षा में, गांववालों के—विशेषकर चौधरी के—कटु-व्यवहार में उसे तिरस्कार भी मिला है। परन्तु कुल मिलाकर वास्तव में यह नकार उस स्वीकृति से कहीं हल्का बैठता है। इसीलिए जमुना कई बार विचलित होकर भी विश्वास नहीं खो पाती—जीवन की स्वीकृति का अपमान नहीं कर पाती। जीवन की चरम परिणति में भी—जब वह पति का ध्यान छोड़कर एक दूसरे व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

को ग्रहण करने का निश्चय कर लेती है—वह जीवन को स्वीकार ही करती है, उसका निषेध नहीं करती। उसके जीवन में अतृप्ति है। उसकी वासना प्रणय के अभाव में अतृप्त और अभुक्त रहती है। परन्तु उसके साथ ही उसको व्यक्त और तुष्ट करने का साधन भी तो पुत्र-रूप में उसके पास है। वह गृहिणी है। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का भी, जिसके समतल गमले में हल्ली-जैसा सुन्दर पौधा पनप रहा है, उसकी वासना पर अधिकार है। इसलिए उसके व्यक्तित्व में मृणाल की-सी तीव्रता और गति नहीं रह गयी; परन्तु विश्वास की प्रशान्त गम्भीरता उसमें है। मृणाल यदि लैम्प की प्रखर लौ है जिसमें प्रकाश के साथ विषाक्त धुआं भी है तो जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुआं बिल्कुल नहीं है।

इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्वों के अनुसार ही दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों में भी साम्य है।

इन दोनों रचयिताओं की विचारधारा की एक दिशा है। दोनों ही दार्शनिक या सामाजिक शब्दावली में गांधी-नीति में, और मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न में विश्वास करते हैं। दोनों ही एक स्वर में कह उठते हैं :

"सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्मव्यथा में मिल जाता है।"—त्यागपत्र

"लोग ऊपर-ऊपर देखते हैं कि इसे दुःख है। किसी को दुःख ही दुःख हो तो वह जिन्दा कैसे रहे ? आज तो पूरा उपाय करने की सोच ली है। आनन्द इसमें भी है।"—नारी

और अधिक स्पष्ट किया जाए तो वास्तव में इस दृष्टिकोण का निर्माण अहिंसा के आधार पर काम की स्वीकृति के द्वारा हुआ है।

दोनों उपन्यासों में आत्मव्यथा में जीवन की शक्ति का मूल स्रोत माना गया है। कष्ट के कारणों से घृणा न करते हुए, कष्ट की अनिवार्यता से त्रास न खाकर, उसमें आनन्द की भावना करना अहिंसा है; और अहिंसा यह सिखाती है कि अभुक्त वासना का वितरण करना ही उसकी सफलता है। मृणाल अन्त में जाकर इसी उपचार को ग्रहण करने में अपनी मुक्ति समझती है। जमुना में यह भावना प्रारम्भ से ही वर्तमान है। परन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में एक अन्तर है—'नारी' की विचारधारा में समाज-नीति की मर्यादा का रक्षण है, परन्तु 'त्यागपत्र' में यह बात नहीं है। जमुना के स्रष्टा ने इस बात का ध्यान रखा है कि दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने में भी वह समाज-नीति का उल्लंघन न कर पाए। जमुना जिस वर्ग की नारी है, उसमें पुनर्विवाह या दूसरा घर बसा लेना जायज़ है। इसके विपरीत 'त्यागपत्र' में सामाजिक मानों की अन्तिम स्वीकृति नहीं है। पति के होते भी मृणाल अपने प्रति सद्व्यवहार करने वाले व्यक्ति को शरीर-समर्पण कर बैठती है और उत्तेजना में आकर नहीं, ठण्डे मस्तिष्क से। जैनेन्द्रजी नीति की चहारदीवारी को तोड़ जीवन में प्रवेश करना शायद आत्म-कल्याण के लिए उचित समझते हैं, परन्तु सियारामशरणजी समाज की मर्यादा-भंग करना श्रेयस्कर नहीं मानते।

दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों को ऋजु शैली से समझिए :

सबसे पहले दो नारियां अपने जीवन का संघर्ष लेकर हमारे सामने आती हैं और हमारे मन में प्रश्न उठता है कि नारी-जीवन की मुक्ति किस में है—विवाह की मर्यादा में, या प्रवृत्ति के उपभोग में ? प्रत्यक्ष रूप में यही धारणा होती है कि सियारामशरणजी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी विवाह की मर्यादा के पक्ष में हैं और जैनेन्द्रजी समाज-मर्यादा का आदर करते हुए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी प्रवृति के ही समर्थक हैं। पर यह तो हमारे अध्ययन की पहली मंज़िल है। 'त्यागपत्र' और 'नारी' का मूल प्रश्न अभी हमारे हाथ नहीं आया। अभी और आगे चलना है और उसके लिए हमें मृणाल और जमुना के व्यक्तित्वों के पार देखना पड़ेगा क्योंकि 'त्यागपत्र' और 'नारी' स्पष्टतः ही सामाजिक समस्या के उपन्यास नहीं हैं। उनका —विशेषकर 'त्यागपत्र' का—सम्बन्ध मानव-जीवन के मौलिक प्रश्न से है : जीवन की मुक्ति क्या है ?

'त्यागपत्र' के साथ यह विशेषता लगा देने का अर्थ यह है कि 'नारी' में पाठक की दृष्टि उसके सामाजिक समस्या वाले पहलू पर अपेक्षाकृत अधिक ठहरती है। मृणाल की अपेक्षा जमुना समाज की इकाई ज्यादा है, उसके जीवन में सामाजिक समस्या भी थोड़ा-बहुत महत्त्व तो रखती ही है। लेकिन फिर भी यह पहली मंज़िल आपको पार करनी ही होगी, तभी आप इन उपन्यासों की अन्तर्धारा में प्रवेश कर सकेंगे। यहां आकर मृणाल और जमुना उपलक्ष्य बन जाते हैं—समाज तथा पुरुष और नारी के आवरणों को पार कर जैसे ये दोनों शुद्ध व्यक्ति रह जाते हैं और जीवन का समाधान ढूंढ़ने में व्यस्त दिखाई देते हैं ! विधान या प्रवृत्ति ?—यह इनका मूल प्रश्न है और यही सामाजिक मानव का चिरन्तन प्रश्न भी है।

जैसा मैंने ऊपर कहा, जैनेन्द्रजी विधान का साधारण रूप में आदर करते हुए भी अन्तिम परिणति पर पहुँचकर उसका निषेध कर देते हैं। सर एम० दयाल का त्यागपत्र पर सही करना स्पष्ट रूप में जैनेन्द्रजी का विधान के निषेध पर सही करना है। वह महसूस करते हैं : "कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों ? सब गड़बड़ ही गड़बड़ है : सृष्टि ग़लत है। समाज ग़लत है···इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इसे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा।"

आगे एक प्रश्न उठता है—'पर क्या···आ ?' यहां आकर अधिकांश संक्रांति-काल के विचारकों की भाँति वे घबराकर रुक जाते हैं। परन्तु उनकी आस्था, जिसका पोषण गांधी-नीति के प्रभाव में हुआ है, उनकी मदद करती है; और वे अहिंसा या तपस्या में जीवन का समाधान मान लेते हैं—यद्यपि वह पूर्णतः उनके घट में उतर जाता है, इसमें मुझे सन्देह है। उनके पास एक यही उत्तर है और यही उत्तर सियारामशणजी के पास भी है। दोनों का प्रश्न एक है, उत्तर भी एक है, परन्तु क्रिया भिन्न है।

सियारामशरणजी को जीवन-विधान की गड़बड़ का इतना तीखा अनुभव नहीं होता, लेकिन वे उस पर सन्देह अवश्य करते हैं। उसको तोड़ने का लोभ भी उनको कम नहीं होता है—क़रीब-क़रीब तोड़ ही देते हैं—लेकिन अन्त में उन्हें उसी की ओर लौटना पड़ता है। वे मानो इस प्रकार सोचते हों—पीड़ा जीवन में अनिवार्य है, उसी में आनन्द की भावना कर लेना जीवन का समाधान प्राप्त कर लेना है; और प्रवृत्ति के बन्धन की पीड़ा ही सच्ची पीड़ा है।

इस प्रकार आत्म-पीड़न की फ़िलॉसफ़ी में विश्वास रखने वाले ये लेखक दो विभिन्न क्रियाओं द्वारा जीवन का समाधान ढूंढ़ निकालते हैं—जैनेन्द्रजी विधान से युद्ध करते हुए और सियारामशरणजी प्रवृत्ति से लड़ते हुए।

दृष्टिकोण का यही अन्तर दोनों व्यक्तियों के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। प्रवृत्ति के समर्थक जैनेन्द्रजी का अहं स्वभावतः ही अधिक बलिष्ठ और तीखा होना चाहिए, उधर विधान में आस्था रखने वाले सियारामशरणजी में अधिक आत्मनिषेध होना उतना ही स्वाभाविक है। दोनों व्यक्तियों का जीवनादर्श एक है—पूर्ण अहिंसा की स्थिति प्राप्त कर लेना, अर्थात् अपने अहं को पूर्णतः घुला देना। इस साध्य के लिए सियारामशरणजी की साधना अधिक हार्दिक है,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नैतिक दमन का अभ्यास उनको अधिक है, और उनका अहं सचमुच बहुत काफ़ी घुल चुका है। अहिंसा बहुत-कुछ उनके व्यक्तित्व का अंग बन चुकी है। इसके विपरीत जैनेन्द्र का अहं अब भी इतना सजग और पैना है कि उनकी सादगी, विनम्रता और सरलता को चीरता हुआ क्षण-क्षण सामने आ जाता है। इसीलिए अपने प्राप्य के लिए उनको सियारामशरण की अपेक्षा अधिक संघर्ष करना पड़ता है। उनके जीवन में संघर्ष अधिक है, ठीक उतना ही अधिक जितना मृणाल के जीवन में जमुना की अपेक्षा। सियारामशरणजी में हृदय का अंश अधिक है, वे अधिक आस्तिक हैं। जैनेन्द्रजी में बुद्धि की तीव्रता है, अतएव उनके मन में सन्देह का संघर्ष अधिक है। इसीलिए जैनेन्द्र अधिक व्यक्तिवादी हैं--सियारामशरणजी में सामाजिकता की भावना अधिक है। सियारामशरणजी के लिए अहिंसा का आदर्श कुछ सीमा तक प्राप्त भी है, परन्तु जैनेन्द्रजी के लिए अभी वह एक प्राप्य-मात्र है। उनकी जागरूक मेधा और उससे भी अधिक जागरूक अहंकार स्वभाव से ही अहिंसा के आत्म-निषेध के प्रतिकूल हैं। इसीलिए उनको उसके प्रति आग्रह अधिक है। यही कारण है कि उनके उपन्यास में संघर्ष तीखा और सशक्त है।

मेरी अपनी धारणा यह है कि साहित्य की शक्ति और तीव्रता उसके स्रष्टा के अहं की शक्ति और तीव्रता के अनुसार ही होती है। दुर्बल अहं, अथवा किसी भी कारण से दबा हुआ अहं, यहां तक कि घुला हुआ अहं भी, आर्द्रता की ही सृष्टि कर पाता है, शक्ति की नहीं। निदान 'त्यागपत्र' में जहां तीव्रता है वहां 'नारी' में आर्द्रता है।

शैली में भी दोनों का वही सम्बन्ध है जो उनके व्यक्तित्व में--यानी 'त्यागपत्र' की शैली में तीखापन और वक्रता है, 'नारी' की शैली में कोमलता और सरलता है। 'त्यागपत्र' की कहानी जैसे दिल और दिमाग़ को चीरती हुई आगे बढ़ती है, और 'नारी' की कहानी को सुनकर जैसे पीड़ा मधुर-मधुर घुल उठती है। 'त्यागपत्र' की शैली में कठोर निर्ममता है। उसके कुछ क्षणों की निर्ममता तो असह्य है। अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुंह की रंगत को बिगाड़ता हुआ तकलीफ़ के साथ ज़हर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे ? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भाव-परिवर्तन के गम्भीरता के साथ ज़हर को गट-गट कर जाए, तो आपको कैसा लगेगा ? मृणाल की कुछ आत्म-यन्त्रणाएं ऐसी ही हैं। इसके विपरीत नारी की शैली में घरेलू स्निग्धता है। जमुना आत्मव्यथा में विश्वास करती हुई भी अपने प्रति स्निग्ध और करुण है। अतएव 'नारी' की कहानी में कोमल-स्निग्ध गति है। उसमें हृदय को स्पर्श करने वाले स्थल अनेक हैं, हृदय को चीरने वाले स्थल नहीं हैं। 'नारी' की यह करुण कहानी हल्ली के बाल-सुलभ क्रिया-व्यापारों से मन बहलाती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती है--यहां तक कि कहीं-कहीं इसकी गति मन्द पड़ जाती है और पाठक सोचता है कि हल्ली के ये खेल और मुकदमे कुछ कम होते तो अच्छा था क्योंकि कहीं-कहीं वे कहानी को उलझा देते हैं। 'नारी' की कहानी का यह दोष उसके प्रभाव में बाधक होता है।

इन दोनों कहानियों की गठन में एक-एक स्थल ऐसा मिलता है जहां पाठक का मन रुककर उसकी स्वाभाविकता पर सन्देह कर उठता है।

'त्यागपत्र' में जब मृणाल पति के घर से निकलकर एक कोयले वाले को ग्रहण कर लेती है तो शायद अनेक पाठकों की भाँति मेरा मन भी पूछ उठता है—क्या एक शिक्षित मध्यवर्गीय बाला के लिए वह स्वाभाविक है ? क्या वह अपने पैरों पर नहीं खड़ी हो सकती थी, जैसा कि उसने बाद में कुछ दिन के लिए किया ? और अगर उसे किसी पुरुष के सहारे की ही आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी प्रवृत्ति के ही समर्थक हैं। पर यह तो हमारे अध्ययन की पहली मंज़िल है। 'त्यागपत्र' और 'नारी' का मूल प्रश्न अभी हमारे हाथ नहीं आया। अभी और आगे चलना है और उसके लिए हमें मृणाल और जमुना के व्यक्तित्वों के पार देखना पड़ेगा क्योंकि 'त्यागपत्र' और 'नारी' स्पष्टतः ही सामाजिक समस्या के उपन्यास नहीं हैं। उनका—विशेषकर 'त्यागपत्र' का—सम्बन्ध मानव-जीवन के मौलिक प्रश्न से है : जीवन की मुक्ति क्या है ?

'त्यागपत्र' के साथ यह विशेषता लगा देने का अर्थ यह है कि 'नारी' में पाठक की दृष्टि उसके सामाजिक समस्या वाले पहलू पर अपेक्षाकृत अधिक ठहरती है। मृणाल की अपेक्षा जमुना समाज की इकाई ज्यादा है, उसके जीवन में सामाजिक समस्या भी थोड़ा-बहुत महत्त्व तो रखती ही है। लेकिन फिर भी यह पहली मंज़िल आपको पार करनी ही होगी, तभी आप इन उपन्यासों की अन्तर्धारा में प्रवेश कर सकेंगे। यहां आकर मृणाल और जमुना उपलक्ष्य बन जाते हैं—समाज तथा पुरुष और नारी के आवरणों को पार कर जैसे ये दोनों शुद्ध व्यक्ति रह जाते हैं और जीवन का समाधान ढूंढ़ने में व्यस्त दिखाई देते हैं! विधान या प्रवृत्ति ?—यह इनका मूल प्रश्न है और यही सामाजिक मानव का चिरन्तन प्रश्न भी है।

जैसा मैंने ऊपर कहा, जैनेन्द्रजी विधान का साधारण रूप में आदर करते हुए भी अन्तिम परिणति पर पहुँचकर उसका निषेध कर देते हैं। सर एम० दयाल का त्यागपत्र पर सही करना स्पष्ट रूप में जैनेन्द्रजी का विधान के निषेध पर सही करना है। वह महसूस करते हैं : "कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों ? सब गड़बड़ ही गड़बड़ है : सृष्टि ग़लत है। समाज ग़लत है···इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इसे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा।"

आगे एक प्रश्न उठता है—'पर क्या···आ ?' यहां आकर अधिकांश संक्रांति-काल के विचारकों की भाँति वे घबराकर रुक जाते हैं। परन्तु उनकी आस्था, जिसका पोषण गांधी-नीति के प्रभाव में हुआ है, उनकी मदद करती है; और वे अहिंसा या तपस्या में जीवन का समाधान मान लेते हैं—यद्यपि वह पूर्णतः उनके घट में उतर जाता है, इसमें मुझे सन्देह है। उनके पास एक यही उत्तर है और यही उत्तर सियारामशणजी के पास भी है। दोनों का प्रश्न एक है, उत्तर भी एक है, परन्तु क्रिया भिन्न है।

सियारामशरणजी को जीवन-विधान की गड़बड़ का इतना तीखा अनुभव नहीं होता, लेकिन वे उस पर सन्देह अवश्य करते हैं। उसको तोड़ने का लोभ भी उनको कम नहीं होता है—क़रीब-क़रीब तोड़ ही देते हैं—लेकिन अन्त में उन्हें उसी की ओर लौटना पड़ता है। वे मानो इस प्रकार सोचते हों—पीड़ा जीवन में अनिवार्य है, उसी में आनन्द की भावना कर लेना जीवन का समाधान प्राप्त कर लेना है; और प्रवृत्ति के बन्धन की पीड़ा ही सच्ची पीड़ा है।

इस प्रकार आत्म-पीड़न की फ़िलॉसफ़ी में विश्वास रखने वाले ये लेखक दो विभिन्न क्रियाओं द्वारा जीवन का समाधान ढूंढ़ निकालते हैं—जैनेन्द्रजी विधान से युद्ध करते हुए और सियारामशरणजी प्रवृत्ति से लड़ते हुए।

दृष्टिकोण का यही अन्तर दोनों व्यक्तियों के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। प्रवृत्ति के समर्थक जैनेन्द्रजी का अहं स्वभावतः ही अधिक बलिष्ठ और तीखा होना चाहिए, उधर विधान में आस्था रखने वाले सियारामशरणजी में अधिक आत्मनिषेध होना उतना ही स्वाभाविक है। दोनों व्यक्तियों का जीवनादर्श एक है—पूर्ण अहिंसा की स्थिति प्राप्त कर लेना, अर्थात् अपने अहं को पूर्णतः घुला देना। इस साध्य के लिए सियारामशरणजी की साधना अधिक हार्दिक है,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नैतिक दमन का अभ्यास उनको अधिक है, और उनका अहं सचमुच बहुत काफ़ी घुल चुका है। अहिंसा बहुत-कुछ उनके व्यक्तित्व का अंग बन चुकी है। इसके विपरीत जैनेन्द्र का अहं अब भी इतना सजग और पैना है कि उनकी सादगी, विनम्रता और सरलता को चीरता हुआ क्षण-क्षण सामने आ जाता है। इसीलिए अपने प्राप्य के लिए उनको सियारामशरण की अपेक्षा अधिक संघर्ष करना पड़ता है। उनके जीवन में संघर्ष अधिक है, ठीक उतना ही अधिक जितना मृणाल के जीवन में जमुना की अपेक्षा। सियारामशरणजी में हृदय का अंश अधिक है, वे अधिक आस्तिक हैं। जैनेन्द्रजी में बुद्धि की तीव्रता है, अतएव उनके मन में सन्देह का संघर्ष अधिक है। इसीलिए जैनेन्द्र अधिक व्यक्तिवादी हैं--सियारामशरणजी में सामाजिकता की भावना अधिक है। सियारामशरणजी के लिए अहिंसा का आदर्श कुछ सीमा तक प्राप्त भी है, परन्तु जैनेन्द्रजी के लिए अभी वह एक प्राप्य-मात्र है। उनकी जागरूक मेधा और उससे भी अधिक जागरूक अहंकार स्वभाव से ही अहिंसा के आत्म-निषेध के प्रतिकूल हैं। इसीलिए उनको उसके प्रति आग्रह अधिक है। यही कारण है कि उनके उपन्यास में संघर्ष तीखा और सशक्त है।

मेरी अपनी धारणा यह है कि साहित्य की शक्ति और तीव्रता उसके स्रष्टा के अहं की शक्ति और तीव्रता के अनुसार ही होती है। दुर्बल अहं, अथवा किसी भी कारण से दबा हुआ अहं, यहां तक कि घुला हुआ अहं भी, आर्द्रता की ही सृष्टि कर पाता है, शक्ति की नहीं। निदान 'त्यागपत्र' में जहां तीव्रता है वहां 'नारी' में आर्द्रता है।

शैली में भी दोनों का वही सम्बन्ध है जो उनके व्यक्तित्व में—यानी 'त्यागपत्र' की शैली में तीखापन और वक्रता है, 'नारी' की शैली में कोमलता और सरलता है। 'त्यागपत्र' की कहानी जैसे दिल और दिमाग़ को चीरती हुई आगे बढ़ती है, और 'नारी' की कहानी को सुनकर जैसे पीड़ा मधुर-मधुर घुल उठती है। 'त्यागपत्र' की शैली में कठोर निर्ममता है। उसके कुछ क्षणों की निर्ममता तो असह्य है। अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुंह की रंगत को बिगाड़ता हुआ तकलीफ़ के साथ ज़हर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे ? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भाव-परिवर्तन के गम्भीरता के साथ ज़हर को गट-गट कर जाए, तो आपको कैसा लगेगा ? मृणाल की कुछ आत्म-यन्त्रणाएं ऐसी ही हैं। इसके विपरीत नारी की शैली में घरेलू स्निग्धता है। जमुना आत्मव्यथा में विश्वास करती हुई भी अपने प्रति स्निग्ध और करुण है। अतएव 'नारी' की कहानी में कोमल-स्निग्ध गति है। उसमें हृदय को स्पर्श करने वाले स्थल अनेक हैं, हृदय को चीरने वाले स्थल नहीं हैं। 'नारी' की यह करुण कहानी हल्ली के बाल-सुलभ क्रिया-व्यापारों से मन बहलाती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती है—यहां तक कि कहीं-कहीं इसकी गति मन्द पड़ जाती है और पाठक सोचता है कि हल्ली के ये खेल और मुकदमे कुछ कम होते तो अच्छा था क्योंकि कहीं-कहीं वे कहानी को उलझा देते हैं। 'नारी' की कहानी का यह दोष उसके प्रभाव में बाधक होता है।

इन दोनों कहानियों की गठन में एक-एक स्थल ऐसा मिलता है जहां पाठक का मन रुककर उसकी स्वाभाविकता पर सन्देह कर उठता है।

'त्यागपत्र' में जब मृणाल पति के घर से निकलकर एक कोयले वाले को ग्रहण कर लेती है तो शायद अनेक पाठकों की भाँति मेरा मन भी पूछ उठता है—क्या एक शिक्षित मध्यवर्गीय बाला के लिए वह स्वाभाविक है ? क्या वह अपने पैरों पर नहीं खड़ी हो सकती थी, जैसा कि उसने बाद में कुछ दिन के लिए किया ? और अगर उसे किसी पुरुष के सहारे की ही आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

थी तो क्या कोयले वाले की अपेक्षा अच्छे चुनाव की गुंजाइश नहीं थी ? यह सन्देह एक बार ज़रूर उठता है। लेकिन इसका समाधान प्राप्त कर लेना भी समझदार पाठक के लिए असम्भव नहीं है। मृणाल के व्यक्तित्व में बुद्धि और संवेदना की प्रखरता के कारण एक असाधारणता है। अतएव एक साधारण मध्यवर्ग की युवती को दृष्टि में रखकर उसके व्यवहार की समीक्षा करना ग़लत होगा। जीवन में नकार पाकर उसका स्वभाव से ही संवेदनाशील मन अतिशय संवेदनाशील हो गया है। बस उस आख़िरी धक्के से यह एक बार कुछ समय के लिए समग्रतः डूब जाता है। ऐसी स्थिति में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता—उस समय पर अहसान करने वाला पहला पुरुष बड़ी आसानी से कुछ समय के लिए तो उसके जीवन में प्रवेश कर ही सकता है। बड़े-बड़े करोड़पतियों की स्त्रियां फ़क़ीरों के साथ भाग जाती हैं ! और मृणाल के साथ तो यह स्थिति मानसिक विवशता के अतिरिक्त चैलेंज का परिणाम भी हो सकती है ! ! शरत् के पाठक को इस प्रकार के पात्रों को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

'नारी' में भी एक स्थल सन्देहप्रद है। ज्यों ही जमुना की कहानी अन्तिम स्थिति पर पहुँचती है, हल्ली का एक साथी हीरा, सिर्फ़ हल्ली से बदला लेने के लिए, जमुना के पति को एक ऐसा पत्र लिख देता है कि सारा खेल बिगड़ जाता है। यह पत्र इतना कौशलपूर्ण है कि इसको हीरा-जैसा छोटा बालक तभी लिख सकता था जब सियारामशरणजी इबारत बोलते गये होते। माना कि यह घटना जमुना के व्यक्तित्व-विकास में प्रत्यक्ष-रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु कथा के विकास में इसका महत्त्व असंदिग्ध है। इसकी त्रुटि कथा-शिल्प की एक त्रुटि है। इसका समाधान मुझे बहुत सोचने पर भी नहीं मिल पाया।

यहीं आकर जैनेन्द्रजी और सियारामशरणजी की शैली का एक और अन्तर स्पष्ट हो जाता है—जैनेन्द्रजी अपनी शैली के प्रति जागरूक हैं : प्रभाव को तीव्र करने के लिए उन्होंने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होंने इसीलिए संवेदना के मापक रूप में सर एम० दयाल की सृष्टि की है। वह प्रभाव को तीव्र करते जाते हैं और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त में मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यन्त्र टूट जाता है, सर एम० दयाल जजी से इस्तीफ़ा दे देते हैं। यह उपन्यास-शिल्पी का अद्भुत कौशल है। इसलिए जब कभी जैनेन्द्रजी सादगी में आकर टेकनीक या शिल्प से सर्वथा अबोध होने की बात करने लगते हैं तो हँसी आ जाती है।

उधर सियारामशरणजी का लक्ष्य—कम-से-कम 'नारी' में—एक सीधी-सच्ची करुण-स्निग्ध कहानी ही रहा है। उन्होंने जागरूक होकर प्रभाव को तीव्र करने का प्रयत्न नहीं किया, या किया है तो इतने हल्के हाथों से कि वह लक्षित नहीं होता। उदाहरण के लिए आप वह स्थल ले सकते हैं जहां एक दूसरा व्यक्ति जमुना के जीवन में प्रवेश करता है और जमुना उसे समर्पण कर देती है। यह सब ऐसे होता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। पाठक के मन में जमुना के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार सरक जाता है कि वह बिल्कुल नहीं चौंकता। इसके विपरीत आप मृणाल का समर्पण लीजिए। उसमें कितना व्यंग्य है, कितनी कचोट है, कितनी तीव्रता है ! उसके जीवन का यह तथ्य पाठक के मन को चीरता हुआ, उसकी वृत्तियों को झनझनाता हुआ, प्रवेश करता है।

'त्यागपत्र' का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और 'नारी' का कौशल अपने को छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफ़ारिश करता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सुखदा

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द व्यक्ति नहीं, संस्था थे। उन्होंने अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक चेतनाओं को युग-धर्म के दृढ़ आधार पर समन्वित किया। वे अपने सामाजिक-नैतिक व्यक्तित्व के बल पर हिन्दी-उपन्यास पर कई दशाब्दों तक छाये रहे। परन्तु उनके अतिरिक्त भी हमारे उपन्यास में काफ़ी है, जो नगण्य नहीं है। स्थूल रूप से वर्त-मान हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्तियों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है :

सबसे पहले तो प्रेमचन्द से प्रभावित सुधारवादी सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास आते हैं। फिर शरत् से प्रेरित व्यक्तिवादी उपन्यास हैं। तीसरा वर्ग प्रगतिवादी उपन्यासों का है जिनका आधार है साम्यवाद; यशपाल इस वर्ग के प्रमुख उपन्यासकार हैं। चौथे वर्ग को मनो-वैज्ञानिक उपन्यास का नाम दिया जा सकता है। उसमें मनोविश्लेषणशास्त्र और काम की समस्या को मूल आधार माना गया है। इस वर्ग में दो नाम प्रमुख हैं—अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा भी अभी चल रही है, जिसके प्रतिनिधि हैं वृन्दावनलाल वर्मा।

जैनेन्द्रजी के उपन्यास दूसरे वर्ग में आते हैं जो प्रेमचन्द के समय में ही प्रेमचन्द की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के विरुद्ध शरत् से प्रेरणा प्राप्त कर उठ खड़ा हुआ था। 'सुखदा' उनका नया उपन्यास है जो कोई पन्द्रह वर्ष के बाद लिखा गया है। इस बीच जैनेन्द्रजी के मित्र और प्रशंसक कुछ निराश-से होने लग गये थे कि कदाचित् यही अकाल-बन्ध्यत्व है; पर 'सुखदा' ने यह शंका निर्मूल कर दी है। उसकी एक बड़ी सफलता तो यही है। 'परख' के उपरान्त 'सुनीता', फिर 'त्यागपत्र' और उसके बाद 'कल्याणी'—यह एक स्पष्ट क्रम था। 'परख' में किशोर भाव था; प्रतिभा के अंकुर व्यक्त थे परन्तु अपरिपक्वता भी थी ही; 'सुनीता' में यौवन है, संकोच कम हो गया है, आत्म-विश्वास तथा उत्साह और उसके साथ अपने प्रति सचेष्टता भी वर्तमान है। 'त्यागपत्र' में युवती प्रगल्भा हो गयी है—अभिव्यक्ति और गोपन दोनों में निपुण—इस-लिए अधिक सफल; 'कल्याणी' की गम्भीरता में वार्धक्य का आभास है। यह विकास-क्रम स्पष्ट था और स्वाभाविक भी। 'कल्याणी' के बाद जैनेन्द्रजी ने विचारात्मक निबन्ध और प्रश्नो-त्तर लिखना शुरू कर दिया था; उसमें भी 'कल्याणी' के पाठक को कोई अप्रत्याशित बात नहीं प्रतीत हुई। क्या 'सुखदा' इसी क्रम में कल्याणी के बाद की रचना है? नहीं! उसमें ऐसा काफ़ी कुछ है जो 'त्यागपत्र' से भी पहले का है; और कदाचित् यह ठीक ही है कि उसका आरम्भ पहले ही हुआ था।

जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में कहानी केवल निमित्त-मात्र होती है। 'सुखदा' में भी उसका वही उपयोग है, यद्यपि उसमें 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' की अपेक्षा घटनाएं निस्सन्देह ही अधिक हैं, झटके भी अधिक हैं और कहीं-कहीं कुतूहल की भी सृष्टि हुई है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

थी तो क्या कोयले वाले की अपेक्षा अच्छे चुनाव की गुंजाइश नहीं थी ? यह सन्देह एक बार जरूर उठता है। लेकिन इसका समाधान प्राप्त कर लेना भी समझदार पाठक के लिए असम्भव नहीं है। मृणाल के व्यक्तित्व में बुद्धि और संवेदना की प्रखरता के कारण एक असाधारणता है। अतएव एक साधारण मध्यवर्ग की युवती को दृष्टि में रखकर उसके व्यवहार की समीक्षा करना ग़लत होगा। जीवन में नकार पाकर उसका स्वभाव से ही संवेदनाशील मन अतिशय संवेदनाशील हो गया है। बस उस आख़िरी धक्के से यह एक बार कुछ समय के लिए समग्रतः डूब जाता है। ऐसी स्थिति में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता—उस समय पर अहसान करने वाला पहला पुरुष बड़ी आसानी से कुछ समय के लिए तो उसके जीवन में प्रवेश कर ही सकता है। बड़े-बड़े करोड़पतियों की स्त्रियां फ़क़ीरों के साथ भाग जाती हैं ! और मृणाल के साथ तो यह स्थिति मानसिक विवशता के अतिरिक्त चैलेंज का परिणाम भी हो सकती है ! ! शरत् के पाठक को इस प्रकार के पात्रों को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

'नारी' में भी एक स्थल सन्देहप्रद है। ज्यों ही जमुना की कहानी अन्तिम स्थिति पर पहुँचती है, हल्ली का एक साथी हीरा, सिर्फ़ हल्ली से बदला लेने के लिए, जमुना के पति को एक ऐसा पत्र लिख देता है कि सारा खेल बिगड़ जाता है। यह पत्र इतना कौशलपूर्ण है कि इसको हीरा-जैसा छोटा बालक तभी लिख सकता था जब सियारामशरणजी इबारत बोलते गये होते। माना कि यह घटना जमुना के व्यक्तित्व-विकास में प्रत्यक्ष-रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु कथा के विकास में इसका महत्त्व असंदिग्ध है। इसकी त्रुटि कथा-शिल्प की एक त्रुटि है। इसका समाधान मुझे बहुत सोचने पर भी नहीं मिल पाया।

यहीं आकर जैनेन्द्रजी और सियारामशरणजी की शैली का एक और अन्तर स्पष्ट हो जाता है—जैनेन्द्रजी अपनी शैली के प्रति जागरूक हैं : प्रभाव को तीव्र करने के लिए उन्होंने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होंने इसीलिए संवेदना के मापक रूप में सर एम० दयाल की सृष्टि की है। वह प्रभाव को तीव्र करते जाते हैं और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त में मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यन्त्र टूट जाता है, सर एम० दयाल जजी से इस्तीफ़ा दे देते हैं। यह उपन्यास-शिल्पी का अद्भुत कौशल है। इसलिए जब कभी जैनेन्द्रजी सादगी में आकर टेकनीक या शिल्प से सर्वथा अबोध होने की बात करने लगते हैं तो हँसी आ जाती है।

उधर सियारामशरणजी का लक्ष्य—कम-से-कम 'नारी' में—एक सीधी-सच्ची करुण-स्निग्ध कहानी ही रहा है। उन्होंने जागरूक होकर प्रभाव को तीव्र करने का प्रयत्न नहीं किया, या किया है तो इतने हल्के हाथों से कि वह लक्षित नहीं होता। उदाहरण के लिए आप वह स्थल ले सकते हैं जहां एक दूसरा व्यक्ति जमुना के जीवन में प्रवेश करता है और जमुना उसे समर्पण कर देती है। यह सब ऐसे होता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। पाठक के मन में जमुना के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार सरक जाता है कि वह बिल्कुल नहीं चौंकता। इसके विपरीत आप मृणाल का समर्पण लीजिए। उसमें कितना व्यंग्य है, कितनी कचोट है, कितनी तीव्रता है ! उसके जीवन का यह तथ्य पाठक के मन को चीरता हुआ, उसकी वृत्तियों को झनझनाता हुआ, प्रवेश करता है।

'त्यागपत्र' का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और 'नारी' का कौशल अपने को छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफ़ारिश करता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सुखदा

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द व्यक्ति नहीं, संस्था थे। उन्होंने अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक चेतनाओं को युग-धर्म के दृढ़ आधार पर समन्वित किया। वे अपने सामाजिक-नैतिक व्यक्तित्व के बल पर हिन्दी-उपन्यास पर कई दशाब्दों तक छाये रहे। परन्तु उनके अतिरिक्त भी हमारे उपन्यास में काफ़ी है, जो नगण्य नहीं है। स्थूल रूप से वर्तमान हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्तियों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है :

सबसे पहले तो प्रेमचन्द से प्रभावित सुधारवादी सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास आते हैं। फिर शरत् से प्रेरित व्यक्तिवादी उपन्यास हैं। तीसरा वर्ग प्रगतिवादी उपन्यासों का है जिनका आधार है साम्यवाद; यशपाल इस वर्ग के प्रमुख उपन्यासकार हैं। चौथे वर्ग को मनोवैज्ञानिक उपन्यास का नाम दिया जा सकता है। उसमें मनोविश्लेषणशास्त्र और काम की समस्या को मूल आधार माना गया है। इस वर्ग में दो नाम प्रमुख हैं—अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा भी अभी चल रही है, जिसके प्रतिनिधि हैं वृन्दावनलाल वर्मा।

जैनेन्द्रजी के उपन्यास दूसरे वर्ग में आते हैं जो प्रेमचन्द के समय में ही प्रेमचन्द की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के विरुद्ध शरत् से प्रेरणा प्राप्त कर उठ खड़ा हुआ था। 'सुखदा' उनका नया उपन्यास है जो कोई पन्द्रह वर्ष के बाद लिखा गया है। इस बीच जैनेन्द्रजी के मित्र और प्रशंसक कुछ निराश-से होने लग गये थे कि कदाचित् यही अकाल-बन्ध्यत्व है; पर 'सुखदा' ने यह शंका निर्मूल कर दी है। उसकी एक बड़ी सफलता तो यही है। 'परख' के उपरान्त 'सुनीता', फिर 'त्यागपत्र' और उसके बाद 'कल्याणी'—यह एक स्पष्ट क्रम था। 'परख' में किशोर भाव था; प्रतिभा के अंकुर व्यक्त थे परन्तु अपरिपक्वता भी थी ही; 'सुनीता' में यौवन है, संकोच कम हो गया है, आत्म-विश्वास तथा उत्साह और उसके साथ अपने प्रति सचेष्टता भी वर्तमान है। 'त्यागपत्र' में युवती प्रगल्भा हो गयी है—अभिव्यक्ति और गोपन दोनों में निपुण—इसलिए अधिक सफल; 'कल्याणी' की गम्भीरता में वार्धक्य का आभास है। यह विकास-क्रम स्पष्ट था और स्वाभाविक भी। 'कल्याणी' के बाद जैनेन्द्रजी ने विचारात्मक निबन्ध और प्रश्नोत्तर लिखना शुरू कर दिया था; उसमें भी 'कल्याणी' के पाठक को कोई अप्रत्याशित बात नहीं प्रतीत हुई। क्या 'सुखदा' इसी क्रम में कल्याणी के बाद की रचना है? नहीं! उसमें ऐसा काफ़ी कुछ है जो 'त्यागपत्र' से भी पहले का है; और कदाचित् यह ठीक ही है कि उसका आरम्भ पहले ही हुआ था।

जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में कहानी केवल निमित्त-मात्र होती है। 'सुखदा' में भी उसका वही उपयोग है, यद्यपि उसमें 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' की अपेक्षा घटनाएं निस्सन्देह ही अधिक हैं, झटके भी अधिक हैं और कहीं-कहीं कुतूहल की भी सृष्टि हुई है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सुखदा एक मनस्वी स्त्री है। उसका अहंकार तीखा है और आकांक्षाएं प्रबल। उसका विवाह होता है मध्यम वर्ग के कान्त नामक व्यक्ति से, जो स्वभाव में उसके सर्वथा विपरीत है। पति की निरीहता और समर्पण-भाव उसके अहंकार को और भी उत्तेजित कर देते हैं और साधारण गृहस्थ जीवन की संकीर्ण सीमा में उसका मन घुटने लगता है। हठात् वह क्रान्तिकारी दल से सम्पर्क स्थापित करती है जिसके नेता हैं हरिदा। उसी दल में एक सदस्य और भी है—लाल, जो मानो सुखदा की समस्या का उत्तर है। उसकी अधीर सक्रियता और आक्रमण-शील स्वभाव निस्सन्देह ही सुखदा को अपनी ओर बलपूर्वक आकृष्ट करता है। दल में लाल के प्रति ईर्ष्या और सन्देह जगता है और सदस्य उसको मृत्युदण्ड देना चाहते हैं, परन्तु हरिदा लाल का मूल्य जानते हैं और वे अनेक कारणों से दल भंग कर अपने को पुलिस के हाथ में सौंपने के लिए तैयार हो जाते हैं। उन पर पाँच हज़ार का इनाम है। कान्त हरिदा के बाल-बन्धु हैं, वे तरह-तरह के नैतिक तर्क देकर अन्त में कान्त को इस बात के लिए तैयार कर लेते हैं कि वह जाकर पुलिस में सूचना दे दें। कांत निरीह भाव से यह सब कुछ कर डालते हैं। हरिदा को बचाने का प्रयत्न करते हुए लाल दल के एक अन्य सदस्य प्रभात की गोली से आहत होते हैं और उनका विश्वासपात्र साथी डाकू केदार इस धर-पकड़ में पुलिस की गोली से मारा जाता है। लाल का क्या होता है, यह अज्ञात है; परन्तु रहस्य का उद्‌घाटन होने पर सुखदा कान्त से सदा के लिए विदा ले लेती है। ऐहिक और आध्यात्मिक व्यथा से पीड़ित सुखदा क्षय-रोग का शिकार बनकर अन्त में सैनेटोरियम पहुँच जाती है जहां से वह पुनरव-लोकन के रूप में यह कहानी लिपिबद्ध करती है। परन्तु मैंने अभी कहा कि यह कहानी तो निमित्त-मात्र है। फिर तत्त्व क्या है! 'सुखदा' में लेखक का मन घटनाओं में न रमकर सुखदा के चरित्रोद्‌घाटन में ही रमा है। पाठक को भी रस घटनाओं से नहीं मिलता, मन के विश्ले-षण से मिलता है। तो क्या मन का विश्लेषण ही इस उपन्यास का उद्देश्य है! वास्तव में लेखक ने आरम्भ से अन्त तक उसको इतना अधिक महत्त्व दिया है कि साधारणतः इस प्रश्न के उत्तर में 'हां' कहने का लोभ हो जाता है। परन्तु जैनेन्द्रजी को यह स्वीकार्य नहीं होगा। लेखक यदि तटस्थ कलाकार मात्र होता तो मन का विश्लेषण भर कर देना उसके लिए अलम् होता; किन्तु जैनेन्द्रजी का उद्देश्य कला की निरुद्देश्यता नहीं हो सकता। उनके लिए कला एक विशिष्ट प्रेष्य अर्थ की माध्यम है। यह प्रेष्य अर्थ है अहं का उत्सर्ग। जीवन की सबसे बड़ी समस्या है अहं, और सबसे सफलसमाधान है उसका उत्सर्ग। इस उत्सर्ग की विधि है आत्म-पीड़न। सुखदा के जीवन की भी मूल समस्या उसका यही अहंकार है, जिसके उत्सर्ग के लिए वह अपने को हठात् पीड़ा की अग्नि में डाल देती है। साधारण पाठक को लगता है कि आखिर इससे बाहर आना क्या मुश्किल है! थोड़ा विवेक और थोड़ी-सी व्यावहारिक इच्छा-शक्ति उसे इस अग्नि-कुण्ड से निकाल सकती है; परन्तु सुखदा बचना चाहे तब न! या यों कहिये कि लेखक उसको बचने दे, तभी न! सुखदा के लिए तो जैसे यह अग्नि-परीक्षा ही जीवन है। अपने को पीड़ा देकर ही वह अपने से त्राण पा सकती है। लेखक के लिए भी कदाचित् यही शरण-भूमि है। इसीलिए उसने इसे ही कला की चरम सिद्धि माना है। समूचे उपन्यास में आत्म-व्यथा की ही प्रेरणा है। केवल सुखदा ही नहीं, अन्य पात्र भी जैसे व्यथापूर्वक अपने को घुलाकर या अपना निषेध करके ही प्राप्य की ओर बढ़ते हैं। गृहस्थ कान्त, संन्यासी क्रान्तिकारी हरिदा, समाज-वादी क्रान्तिकारी लाल और डाक केदार—सभी के जीवन की एक ही साधना है, अपनेपन का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समर्पण। सभी पीड़ा को पाल रहे हैं। महादेवीजी की एक पंक्ति है :

तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा, तुम में ढूंढूंगी पीड़ा।

सुखदा स्वयं और उसके सभी सहयोगी पात्र पीड़ा में ही मुक्ति ढूंढ़ते हैं। क्रान्तिकारी दल के नेता हरिदा जीवन-भर क्रान्ति का संगठन करने के उपरान्त अन्त में एक प्रकार से समर्पण ही कर देते हैं। हिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति का प्रवक्ता लाल अपनी भौतिक मान्यताओं के बावजूद अपने जीवन में समर्पित होकर ही रहता है। हिंसाजीवी डाकू केदार का समर्पण इनसे कम नहीं है। ये तो अपने लिए और अपनी तरह सोचते भी हैं, केदार ने वह अधिकार भी छोड़ दिया है। कान्त की अक्षुब्ध निरीहता प्रश्न नहीं रह गयी, उत्तर ही बन गयी है। उसकी साधना में भी कितनी मूक पीड़ा है, यह गुप्त नहीं है। परन्तु यह ठीक है कि वह कर्ता न रहकर भोक्ता-मात्र बन गया है। कथा की चरम घटना का भोक्ता भी वही है; वही सूचना देकर हरिदा को गिरफ्तार कराता है और पाँच हज़ार का इनाम लेता है। यह घटना अपने-आप में इतनी रहस्यमय है कि पाठक के मन में आसानी से नहीं बैठती। कान्त के चरित्र के साथ भी उसकी संगति नहीं बैठती। क्या कान्त जैसा व्यक्ति इतना निस्तेज हो सकता है ! क्या कान्त, हरिदा का बाल-बन्धु, उनके आदर्शों से सक्रिय सहानुभूति रखने वाला व्यक्ति इतना असमर्थ हो सकता है कि एकदम हिप्नोटाइज़ होकर ऐसी भयंकर जघन्यता को अपने ऊपर ओढ़ ले ! हरिदा ने समर्पण क्यों नहीं कर दिया ! दल तो भंग हो ही गया था, रुपये की उसके लिए तो कोई सार्थकता नहीं थी, और फिर सिर्फ़ पाँच हज़ार की रक़म ! मान लीजिए उससे थोड़ा भौतिक लाभ भी हो, परन्तु अपरिमेय नैतिक हानि को वह कैसे भर सकता है ! और यह नैतिक हानि केवल व्यक्ति की ही नहीं, समाज की भी है। हरिदा जैसे अध्यात्मदर्शी ने यह सब क्यों किया ? यह शंका स्वाभाविक है, और इसका समाधान सहज नहीं है। परन्तु मुझे लगता है मानो लेखक ने आत्म-पीड़ा को कसौटी मानकर ही इसका सचेष्ट प्रयोग किया है। शरीर का बलिदान भी अहंकार का पूर्ण उत्सर्ग नहीं है; सामाजिक स्वीकृति—'यश' के मद में व्यक्ति ऐसा हँसते-हँसते कर सकता है। शारीरिक मृत्यु सह्य है, सामाजिक मृत्यु असह्य ! हरिदा ने यशःकाय के लिए काया की बलि दे दी। लाल के व्यक्तित्व की तीव्रता अपने-आप में एक बड़ा नशा थी; परन्तु कान्त ने विवश भाव से, बिना एनेस्थेशिया के,यह भयंकर ऑपरेशन करा लिया। इस बालबन्धु की गिरफ्तारी के लिए पुलिस में सूचना देना और वह भी जब कि उस पर इनाम हो ! इसकी केवल एक ही सार्थकता हो सकती है और वह यह कि लेखक ने इसे अहं के उत्सर्ग की कसौटी बनाया है।

उत्सर्ग की इस भूमिका पर सुखदा के अहं का विकास होता है। और पात्र तो अहं का उत्सर्ग कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु सुखदा ऐसा नहीं कर सकी, इसीलिए उसकी पीड़ा-तपस्या अभी चल रही है। साहित्य-शास्त्र का नियम है कि नायक कभी नहीं मरता। मेरेडिथ की प्रसिद्ध उक्ति है 'हीरोज़ नैवर डाई, यू नो।' इसलिए लेखक ने अपने उपन्यास के मुख्य पात्र की पीड़ा को नहीं मरने दिया, अन्यथा कहानी ही समाप्त हो जाती। सुखदा के मन की पीड़ा जी रही है। और आगे कहूं, तो इसी को लेकर जैनेन्द्र की कला जी रहीहै, या जी उठी है।

'सुखदा' की शैली के विषय में मुझे कुछ नया नहीं कहना। जैनेन्द्रजी को अपनी सतर्क सहजता का अब पर्याप्त आभास हो गया है। उनके वर्णन की वह अभ्यस्त विधि हो गयी है। 'सुखदा' में हाथ की सफ़ाई और भी व्यक्त है। पर शैली का एक सीमित रूप भी है—अभि-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सुखदा एक मनस्वी स्त्री है। उसका अहंकार तीखा है और आकांक्षाएं प्रबल। उसका विवाह होता है मध्यम वर्ग के कान्त नामक व्यक्ति से, जो स्वभाव में उसके सर्वथा विपरीत है। पति की निरीहता और समर्पण-भाव उसके अहंकार को और भी उत्तेजित कर देते हैं और साधारण गृहस्थ जीवन की संकीर्ण सीमा में उसका मन घुटने लगता है। हठात् वह क्रान्तिकारी दल से सम्पर्क स्थापित करती है जिसके नेता हैं हरिदा। उसी दल में एक सदस्य और भी है—लाल, जो मानो सुखदा की समस्या का उत्तर है। उसकी अधीर सक्रियता और आक्रमण-शील स्वभाव निस्सन्देह ही सुखदा को अपनी ओर बलपूर्वक आकृष्ट करता है। दल में लाल के प्रति ईर्ष्या और सन्देह जगता है और सदस्य उसको मृत्युदण्ड देना चाहते हैं, परन्तु हरिदा लाल का मूल्य जानते हैं और वे अनेक कारणों से दल भंग कर अपने को पुलिस के हाथ में सौंपने के लिए तैयार हो जाते हैं। उन पर पाँच हज़ार का इनाम है। कान्त हरिदा के बाल-बन्धु हैं, वे तरह-तरह के नैतिक तर्क देकर अन्त में कान्त को इस बात के लिए तैयार कर लेते हैं कि वह जाकर पुलिस में सूचना दे दें। कांत निरीह भाव से यह सब कुछ कर डालते हैं। हरिदा को बचाने का प्रयत्न करते हुए लाल दल के एक अन्य सदस्य प्रभात की गोली से आहत होते हैं और उनका विश्वासपात्र साथी डाकू केदार इस धर-पकड़ में पुलिस की गोली से मारा जाता है। लाल का क्या होता है, यह अज्ञात है; परन्तु रहस्य का उद्घाटन होने पर सुखदा कान्त से सदा के लिए विदा ले लेती है। ऐहिक और आध्यात्मिक व्यथा से पीड़ित सुखदा क्षय-रोग का शिकार बनकर अन्त में सैनेटोरियम पहुँच जाती है जहां से वह पुनरव-लोकन के रूप में यह कहानी लिपिबद्ध करती है। परन्तु मैंने अभी कहा कि यह कहानी तो निमित्त-मात्र है। फिर तत्त्व क्या है ! 'सुखदा' में लेखक का मन घटनाओं में न रमकर सुखदा के चरित्रोद्घाटन में ही रमा है। पाठक को भी रस घटनाओं से नहीं मिलता, मन के विश्ले-षण से मिलता है। तो क्या मन का विश्लेषण ही इस उपन्यास का उद्देश्य है ! वास्तव में लेखक ने आरम्भ से अन्त तक उसको इतना अधिक महत्त्व दिया है कि साधारणतः इस प्रश्न के उत्तर में 'हां' कहने का लोभ हो जाता है। परन्तु जैनेन्द्रजी को यह स्वीकार्य नहीं होगा। लेखक यदि तटस्थ कलाकार मात्र होता तो मन का विश्लेषण भर कर देना उसके लिए अलम् होता; किन्तु जैनेन्द्रजी का उद्देश्य कला की निरुद्देश्यता नहीं हो सकता। उनके लिए कला एक विशिष्ट प्रेष्य अर्थ की माध्यम है। यह प्रेष्य अर्थ है अहं का उत्सर्ग। जीवन की सबसे बड़ी समस्या है अहं, और सबसे सफलसमाधान है उसका उत्सर्ग। इस उत्सर्ग की विधि है आत्म-पीड़न। सुखदा के जीवन की भी मूल समस्या उसका यही अहंकार है, जिसके उत्सर्ग के लिए वह अपने को हठात् पीड़ा की अग्नि में डाल देती है। साधारण पाठक को लगता है कि आखिर इससे बाहर आना क्या मुश्किल है ! थोड़ा विवेक और थोड़ी-सी व्यावहारिक इच्छा-शक्ति उसे इस अग्नि-कुण्ड से निकाल सकती है; परन्तु सुखदा बचना चाहे तब न ! या यों कहिये कि लेखक उसको बचने दे, तभी न ! सुखदा के लिए तो जैसे यह अग्नि-परीक्षा ही जीवन है। अपने को पीड़ा देकर ही वह अपने से त्राण पा सकती है। लेखक के लिए भी कदाचित् यही शरण-भूमि है। इसीलिए उसने इसे ही कला की चरम सिद्धि माना है। समूचे उपन्यास में आत्म-व्यथा की ही प्रेरणा है। केवल सुखदा ही नहीं, अन्य पात्र भी जैसे व्यथापूर्वक अपने को घुलाकर या अपना निषेध करके ही प्राप्य की ओर बढ़ते हैं। गृहस्थ कान्त, संन्यासी क्रान्तिकारी हरिदा, समाज-वादी क्रान्तिकारी लाल और डाक केदार—सभी के जीवन की एक ही साधना है, अपनेपन का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समर्पण। सभी पीड़ा को पाल रहे हैं। महादेवीजी की एक पंक्ति है :

तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा, तुम में ढूंढूंगी पीड़ा।

सुखदा स्वयं और उसके सभी सहयोगी पात्र पीड़ा में ही मुक्ति ढूंढ़ते हैं। क्रान्तिकारी दल के नेता हरिदा जीवन-भर क्रान्ति का संगठन करने के उपरान्त अन्त में एक प्रकार से समर्पण ही कर देते हैं। हिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति का प्रवक्ता लाल अपनी भौतिक मान्यताओं के बावजूद अपने जीवन में समर्पित होकर ही रहता है। हिंसाजीवी डाकू केदार का समर्पण इनसे कम नहीं है। ये तो अपने लिए और अपनी तरह सोचते भी हैं, केदार ने वह अधिकार भी छोड़ दिया है। कान्त की अक्षुब्ध निरीहता प्रश्न नहीं रह गयी, उत्तर ही बन गयी है। उसकी साधना में भी कितनी मूक पीड़ा है, यह गुप्त नहीं है। परन्तु यह ठीक है कि वह कर्ता न रहकर भोक्ता-मात्र बन गया है। कथा की चरम घटना का भोक्ता भी वही है; वही सूचना देकर हरिदा को गिरफ्तार कराता है और पाँच हज़ार का इनाम लेता है। यह घटना अपने-आप में इतनी रहस्यमय है कि पाठक के मन में आसानी से नहीं बैठती। कान्त के चरित्र के साथ भी उसकी संगति नहीं बैठती। क्या कान्त जैसा व्यक्ति इतना निस्तेज हो सकता है ! क्या कान्त, हरिदा का बाल-बन्धु, उनके आदर्शों से सक्रिय सहानुभूति रखने वाला व्यक्ति इतना असमर्थ हो सकता है कि एकदम हिप्नोटाइज़ होकर ऐसी भयंकर जघन्यता को अपने ऊपर ओढ़ ले ! हरिदा ने समर्पण क्यों नहीं कर दिया ! दल तो भंग हो ही गया था, रुपये की उसके लिए तो कोई सार्थकता नहीं थी, और फिर सिर्फ़ पाँच हज़ार की रक़म ! मान लीजिए उससे थोड़ा भौतिक लाभ भी हो, परन्तु अपरिमेय नैतिक हानि को वह कैसे भर सकता है ! और यह नैतिक हानि केवल व्यक्ति की ही नहीं, समाज की भी है। हरिदा जैसे अध्यात्मदर्शी ने यह सब क्यों किया ? यह शंका स्वाभाविक है, और इसका समाधान सहज नहीं है। परन्तु मुझे लगता है मानो लेखक ने आत्म-पीड़ा को कसौटी मानकर ही इसका सचेष्ट प्रयोग किया है। शरीर का बलिदान भी अहंकार का पूर्ण उत्सर्ग नहीं है; सामाजिक स्वीकृति—'यश' के मद में व्यक्ति ऐसा हँसते-हँसते कर सकता है। शारीरिक मृत्यु सह्य है, सामाजिक मृत्यु असह्य ! हरिदा ने यशःकाय के लिए काया की बलि दे दी। लाल के व्यक्तित्व की तीव्रता अपने-आप में एक बड़ा नशा थी; परन्तु कान्त ने विवश भाव से, बिना एनेस्थेशिया के, यह भयंकर ऑपरेशन करा लिया। इस बालबन्धु की गिरफ्तारी के लिए पुलिस में सूचना देना और वह भी जब कि उस पर इनाम हो ! इसकी केवल एक ही सार्थकता हो सकती है और वह यह कि लेखक ने इसे अहं के उत्सर्ग की कसौटी बनाया है।

उत्सर्ग की इस भूमिका पर सुखदा के अहं का विकास होता है। और पात्र तो अहं का उत्सर्ग कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु सुखदा ऐसा नहीं कर सकी, इसीलिए उसकी पीड़ा-तपस्या अभी चल रही है। साहित्य-शास्त्र का नियम है कि नायक कभी नहीं मरता। मेरेडिथ की प्रसिद्ध उक्ति है 'हीरोज़ नैवर डाई, यू नो।' इसलिए लेखक ने अपने उपन्यास के मुख्य पात्र की पीड़ा को नहीं मरने दिया, अन्यथा कहानी ही समाप्त हो जाती। सुखदा के मन की पीड़ा जी रही है। और आगे कहूं, तो इसी को लेकर जैनेन्द्र की कला जी रही है, या जी उठी है।

'सुखदा' की शैली के विषय में मुझे कुछ नया नहीं कहना। जैनेन्द्रजी को अपनी सतर्क सहजता का अब पर्याप्त आभास हो गया है। उनके वर्णन की वह अभ्यस्त विधि हो गयी है। 'सुखदा' में हाथ की सफ़ाई और भी व्यक्त है। पर शैली का एक सीमित रूप भी है—अभि-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यक्ति। अभिव्यक्ति के दो अंग हैं: उक्ति और भाषा। उक्ति कला है और भाषा शास्त्र है। जैनेन्द्रजी उक्ति के माहिर हैं। वक्रता पर ऐसा अधिकार कदाचित् ही किसी गद्य-लेखक का हो; शायद निराला का है। परन्तु भाषा वाला अंग जैनेन्द्रजी का कच्चा है और उसके लिए जैनेन्द्रजी की अपनी बौद्धिक मिथ्या धारणा ही उत्तरदायी है। वे कम अधीत नहीं हैं, परन्तु शास्त्र के प्रति उन्हें अक्षम्य अनास्था है। यह ठीक ही है कि कला की अपेक्षा शास्त्र का स्थान निम्नतर है; परन्तु शास्त्र का तिरस्कार करने का अधिकार लेखक को नहीं है। जैनेन्द्रजी ने अपनी कृत्रिम सहजता के चाव में शास्त्र का तिरस्कार किया है, इसीलिए उनके अनेक प्रयोग स्पष्टतः अशुद्ध, संस्कार-भ्रष्ट और कहीं-कहीं ग्राम्य भी हो गये हैं:

वह भी अपनी कुर्सी में आ गये। × × × वह कोच में हो उठे। × × × मैं हिल आयी। × × × कहकर मुझ थमी हुई की उंगली पकड़ी। × × ×

कुछ विचित्र प्रयोग भी देखिए:

(१) कतिपय युवकों ने मिलकर कुछ प्रवृत्ति करने की योजना की। (२) संघ के सदस्यों के मनों का स्वप्न सांगोपांग होता है। (३) लेकिन मैं देख सकी, प्रसन्नता नियम की है। ['नियम' का प्रयोग यहां औपचारिक (फ़ार्मल) के अर्थ में किया गया है।] (४) इससे अपना ही व्यवच्छेद करती चलूंगी।

मैंने इनका उल्लेख जान-बूझकर किया है; क्योंकि इन्हें आसानी से, या थोड़े-से ही परिश्रम से, बचाया जा सकता था। इनसे कुछ बनता नहीं है, बिगड़ता ही है; क्योंकि यही व्यक्ति इस प्रकार की शानदार भाषा का भी प्रयोग कर सकता है:

(१) जीवन और मृत्यु के बीच का वह क्षण—दोनों मानो एक होकर उसमें पिघल आये थे।

(२) सिर्फ़ एक क्रम है और हर व्यतिक्रम अपराध।

(३) इन पर विराग का व्यंग्य भी नहीं था।

कुल मिलाकर 'सुखदा' जैनेन्द्रजी का सफल उपन्यास है, उसमें 'सुनीता' की अपेक्षा स्वच्छता और सूक्ष्मता अधिक है, परन्तु 'त्यागपत्र' का तीखापन और धार नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अज्ञेय और 'शेखर'

'शेखर' का दूसरा भाग अभी कुछ दिन हुए, तीन-चार वर्ष के अन्तराल के उपरान्त, प्रकाशित हुआ है। यद्यपि पहले और दूसरे भागों में 'शेखर' सम्पूर्ण नहीं है—अभी कुछ और भी है जो सामने आएगा—और वास्तव में तभी हमारा दृष्टिकोण भी निश्चित एवं स्थिर हो सकेगा—फिर भी तीसरे (और शायद चौथे भी ?—) भाग का अभाव 'शेखर' की गरिमा और सौन्दर्य को ग्रहण करने में विशेष बाधक नहीं होता।

'शेखर' हिन्दी के उन गौरव-ग्रन्थों में से है जो प्रत्येक जागरूक आलोचक का आह्वान कर कहते हैं—"आओ हमारे सहारे अपनी शक्ति की परीक्षा करो।" और सचमुच उसमें इतना-कुछ है जो मन और मस्तिष्क को उद्वेलित करता है कि उसे पढ़कर मौन हो जाना, अगर वह लेखक की आत्मा से सायुज्य स्थापित कर लेना नहीं है तो, निश्चय ही साहित्यिक चेतना के दौर्बल्य का द्योतक है।

'शेखर' एक शक्तिपूर्ण व्यक्ति का अपने जीवन का प्रत्यालोकन है। और चूंकि इस व्यक्ति को शीघ्र ही फांसी पा जाने का लगभग निश्चय-सा है, इसलिए इस प्रत्यालोकन में एक अनिवार्य तीव्रता आ गयी है, जिसके कारण अपने जीवन के आर-पार देख लेना उसे सहज-सम्भव हो गया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, मृत्यु का साक्षात्कार हठयोग की एक सफल क्रिया है जो मनुष्य को प्रायः अन्तर्भेदी दृष्टि प्रदान कर देती है। यह दृष्टि केवल साधन-शक्ति—केवल देखने वाली शक्ति नहीं होती। इसका एक आत्मरूप भी होता है, जो देखता नहीं दीखता है। उसे ही लेखक ने विज़न कहा है। पहले दो भागों में इस विज़न की झिलमिली ही मिलती है—पूर्ण दर्शन शायद तीसरे में होगा—इसलिए हम इसे अभी छोड़ देते हैं। इसके द्वारा जो देखा गया वही हमारा आलोच्य है। अस्तु !

'शेखर' के पहले भाग में एक संक्षिप्त परंतु अत्यन्त मूल्यवान् भूमिका दी हुई है। उसके तीन चरण हैं। पहले में 'शेखर' के सृजन-क्षणों की व्याख्या है। दूसरे में, हिन्दी के नासमझ पाठक उसे कहीं लेखक की आत्मजीवनी न समझ बैठें, इस बात का सतर्क और सप्रमाण—आधुनिक अंगरेज़ी साहित्यकार इलियट के साक्ष्य के साथ—प्रतिषेध है। और तीसरे में 'शेखर' के प्लान की ओर संकेत है। इसमें पहला और तीसरा भाग जितना सत्य और सटीक है, दूसरा भाग उतना ही झूठ लगता है—लगता है मैं इसलिए कह रहा हूं कि इससे अधिक समर्थ शब्दावली का प्रयोग कर नहीं सकता हूं। आप एक बार फिर भूमिका के इस द्वितीय चरण को पढ़िए; और मुझे विश्वास है कि आप भी यह आसानी से पकड़ पाएंगे कि उसमें एक ऐसा आदमी झूठ बोलने का प्रयत्न कर रहा है जिसे उसका अभ्यास नहीं है।[1] इसीलिए उसकी तर्क-पद्धति में असंगति है,

---

१. यह शायद मेरी बालबुद्धि का भ्रम था। ऐसा मानना लेखक के अतिशय 'प्रशिक्षित' व्यक्तित्व के प्रति अन्याय होगा।—न०

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसके वाक्यों में उलझन है—जैसे कोई सत्य का गला घोंट रहा हो और वह छटपटा रहा हो। इलियट के क्लासीकी आदर्श की दुहाई इतने ज़ोर से देने के पूर्व अज्ञेय ने एक बात नहीं सोची कि अन्ततः रूढ़िवादी विचारधारा के कवि इलियट और रूढ़ि को किसी भी रूप में सत्य न मानने वाले 'शेखर' के स्रष्टा में कम-से-कम जीवन-दर्शन का कोई साम्य नहीं है। फिर कोई भी व्यक्ति अपने सभी कवचों के बावजूद भी इतना अज्ञेय नहीं बन सकता कि दूसरे उसके विषय में सर्वथा अंधकार में ही रहें और अपनी आँखों से न देखकर जो वह कह दे उसे मान लें। हमारी यह धारणा है कि शेखर और अज्ञेय में भोक्ता और कलाकार का अन्तर मानना दोनों के प्रति अन्याय करना है। अतएव हम यह मानकर चलते हैं कि 'शेखर' अज्ञेय के अपने ही जीवन का प्रत्यालोकन है और उसकी घटनाएं जीवन के प्रति सच्ची हैं—जो नहीं हैं वे ज़बरदस्ती तोड़ी-मोड़ी और गढ़ी हुई साफ़ नज़र आ जाती हैं।

'शेखर' को पढ़ने के उपरान्त पाठक के मन पर दो प्रभाव पड़ते हैं—एक अभिभूत करने वाली शक्ति का और दूसरा गहरी करुणा का। गहरी से मेरा अभिप्राय यह है कि इसकी करुणा सतह पर नहीं है। अतएव उसमें तुरन्त ही हृदय को काटने वाली करुणा नहीं मिलती, दूर पहुँच कर गहरे में कचोटने वाली करुणा ही मिलती है। परन्तु ये दोनों तत्त्व पृथक् नहीं हैं—इनमें पूर्वापर कार्य-कारण सम्बन्ध स्पष्ट है—अर्थात् यह शक्ति ही अन्त में अपनी एकान्तता में करुण बन जाती है।

शेखर की शक्ति उसके अदम्य अहंकार की शक्ति है जो अभ्रभेदी त्रिशूल की तरह ऊपर को बढ़ रही है। शेखर की जितनी घटनाएं हैं वे जैसे एक माला के मनके हैं जिनका सुमेरु है उसका अहं। उसने पाना ही जाना है, देना नहीं। इस विषय में आप बस उसकी एक उक्ति ही सुन लीजिए—"मुझे मूर्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्ति-पूजक चाहिए। मुझे कोई ऐसा उतना नहीं चाहिए जिसकी ओर मैं देखूं, मुझे वह चाहिए जो मेरी ओर देखे। यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिएं, पर उन्हें मैं स्वयं बना सकता हूं। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर-रचना मेरे बस में है, लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नहीं···।" आरम्भ से ही उसने अहंकार को इतने समरूप में स्वीकृत कर लिया है कि वह अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों से उसके पोषण की माँग करता है। पुरुषों से वह आदर माँगता है, स्त्रियों से प्यार। और वे जैसे-जैसे उसकी इस माँग को पूरा करते हैं, उसी के अनुसार उसकी उनके प्रति प्रतिक्रिया होती है। पिता की कठोरता को भी उसने जो एक भव्य रूप दिया है, उसका भी एकमात्र कारण यही है कि उनकी अपनी गौरव-भावना और कठोरता के नीचे ऐसा कुछ उसे अवश्य मिल जाता है जो बड़े अभिमान से उसके अहं को दुलारता है। मां को उसके प्रति स्नेह नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु वे बेचारी उसकी यह माँग पूरी करने में असमर्थ रहीं। इसलिए उसने जीवन-भर उन्हें क्षमा नहीं किया। इस विषय में वह इतना निर्मम है कि मां को घृणा का पहला पाठ पढ़ाने का श्रेय भी वह नहीं दे सकता। उसके जीवन में कई स्त्रियां थोड़े-थोड़े समय के लिए आती हैं। पहले उसकी बड़ी बहन सरस्वती, फिर शीला, फिर शारदा। रुग्णा शान्ति का भी नाम लिया जा सकता है। ये सभी उसे प्यार देती ही हैं। जो कुछ पाती हैं वह अधिक-से-अधिक एक हल्का-सा आत्मद्रव ही होता है : उसमें वह सम्पूर्ण आत्म-प्रणति नहीं होती, वह आत्मोत्सर्ग नहीं होता जिसे प्यार का पूरा नाम दिया जा सके।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अब दो व्यक्ति रह जाते हैं जिनके प्रति वह प्रणत होता है—एक बाबा मदनसिंह, दूसरी शशि। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या बाबा मदनसिंह के प्रति वह आत्म-प्रणति का अनुभव नहीं करता, और क्या शशि के प्रति भी उसकी भावना आत्मोत्सर्ग की नहीं है? बाबा मदनसिंह का यातना-पूत व्यक्तित्व उसको झुका देता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु आप थोड़ी बारीकी से देखेंगे तो आपको स्पष्ट हो जाएगा कि बाबा की विनय में और उनके सूत्रों में बराबर उसके अहं को खाद्य मिलता रहा है। अपने को झुकाकर तोड़ देने वाले इस व्यक्ति के सूत्रों में शेखर को अपने अहंवाद का जो समर्थन मिला वह अन्यत्र दुर्लभ था।

अब शशि को लीजिए। जिस शशि के लिए वह इतना संघर्ष करता है, इतने कष्ट सहता है, जिसके उपचार में वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, जिसके प्रति उसका सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य तुषारधवल गिरि-शृंग की तरह पिघल उठता है, क्या उसके प्रति भी वह आत्मा का उत्सर्ग नहीं करता? वास्तव में शशि-शेखर का अंतिम प्रसंग रस से इतना भीगा हुआ है कि यहां तो 'हां!' कह देने का लोभ हो उठता है। परन्तु यहां भी शेखर के स्वयं अपने शब्द उद्धृत कर हम अपनी धारणा को ही पुष्ट करेंगे :

"तुम वह सान रही हो जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज़ होता रहा, जिस पर मँज-मँजकर मैं कुछ बना हूं, जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं है।···तुम जीवित नहीं हो। मेरे, शेखर के, बनने में ही तुम टूट गयी हो—शायद स्वयं शेखर के हाथों ही टूट गयी हो।" आप देखिए, शशि का अस्तित्व शेखर के लिए है, शेखर का शशि के लिए नहीं! अपने भव्यतम क्षणों में भी शेखर नहीं भूल पाता कि उसका और शशि का सम्बन्ध तलवार और सान का सम्बन्ध है। सान का अस्तित्व तलवार के लिए है—इसलिए शशि ही शेखर के लिए जीती है, उसी के लिए मर जाती है। इतना बलिष्ठ अहं इससे कम खाद्य पाकर क्या सन्तुष्ट होता!

शेखर और उसके स्रष्टा को एकरूप देखने वाला पाठक यहां आकर इस घटना पर चौंक सकता है। परन्तु यह एक सतर्क क्रिया है। यहां अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अज्ञेय ने इलियट के सिद्धान्त को अपनाते हुए आत्म से पलायन किया है। उसकी ज़रूरत और तकलीफ़ आसानी से समझी जा सकती है—आत्मकथा लिखने में पूर्ण सत्य का निर्वाह शायद कोई गांधी ही कर पाता हो!

इतना सर्वग्राही अहं निश्चय ही अपनी नग्नता में एकान्त और एकान्तता में करुण होगा—यह एक सहज परिणाम है; इसीलिए तो मैंने कहा कि शेखर की महत्ता और दीनता में अभिन्न सम्बन्ध है। मैंने आरम्भ में ही कहा था कि 'शेखर' जीवन का एक अध्ययन है। परन्तु यह जीवन व्यक्ति का जीवन है, समाज या युग का जीवन नहीं है। मेरा यह मत अज्ञेय की अपनी स्थापना से भिन्न है। वे कहते हैं कि 'शेखर' एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज़ होने के साथ युग-संघर्ष का भी प्रतिविम्ब है। उनका आग्रह है कि उसमें उनका समाज और उनका युग बोलता है। निस्संदेह 'शेखर' में उनके स्रष्टा के समाज और युग की जाति-वैषम्य, हिंसा-अहिंसा, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति आदि गम्भीर समस्याओं का विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म-गहन है। परन्तु उसमें समाज और युग नहीं बोलते, शेखर—अज्ञेय बोलता है। यह सभी समाज के प्रवहमान जीवन का अंग नहीं है, शेखर की चेतना—उसके चिन्तन का ही अंग है। यह विवेचन सामाजिक जीवन के आलोड़न में से नहीं निकला, शेखर की अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का ही समीकरण है, और स्पष्ट शब्दों में, इन प्रश्नों का विवेचन जीवित नहीं है,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

केवल विचारित है। इसलिए वह विश्लेषण पर समाप्त हो जाता है—संश्लेषण और समाधान पर नहीं पहुँच पाता। मैं अपनी पुष्टि के लिए एक बार फिर शेखर के ही शब्दों की शरण लेता हूं—"जो व्यक्ति के लिए ऊँची-से-ऊँची चोटी तक ऊबड़-खाबड़ पगडण्डी दिखाने को तैयार है, किन्तु समष्टि के लिए थोड़ी-सी दूर तक भी प्रशस्त पथ बतलाने के लिए रुक नहीं सकता।" पूछा जा सकता है कि आखिर व्यक्ति के लिए ही शेखर क्या देता ? तो वास्तव में, जैसा मैंने आरम्भ में ही कह दिया है, अभी उसकी देन मूर्तरूप में, एक बँधे हुए सन्देश के रूप में, सामने नहीं आयी। हो सकता है तीसरे भाग में आए—और बहुत मुमकिन है न भी आए। क्योंकि अज्ञेय स्वयं ऐसा कुछ पा सके हैं, इसमें ही बड़ा सन्देह है—उनके प्रयोग अभी तो चल ही रहे हैं।

फिर भी शेखर की आत्मानुभूति बड़ी तीव्र और सच्ची है और उसकी बुद्धि भी इतनी ही प्रखर है। इसलिए अपने अनुभूत सत्य को बुद्धि के द्वारा अन्वित कर सूत्र में उपस्थित कर देना उसके लिए अत्यन्त सहज हुआ है। और, 'शेखर' हमें जीवन के चिर-मौलिक प्रश्न—अहं—से सम्बद्ध कुछ आत्मानुभूत सूत्र देता है—

"दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश नहीं करता है।"

"किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है—किसी के लिए लड़ना भी ज़रूरी है।"

पहला सूत्र शशि ने दिया है, दूसरा उसी के आलोक में शेखर ने प्राप्त किया है। सन्देश के नाम पर 'शेखर' के दो भागों में इतना ही है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शेखर का अपना कोई जीवन-दर्शन नहीं है—तात्त्विक धरातल पर वह कार्य-कारणवाद को काफ़ी मजबूती से पकड़े बैठा है। जीवन और जगत् के सभी तथ्यों की कार्य-कारण-परम्परा में उसका अखण्ड विश्वास है। यह मूलतः उसे अपने अहंवाद और फिर आधुनिक विज्ञान विशेषतः मनोविश्लेषण-विज्ञान की देन है। कार्य-कारणवाद एक अभावात्मक दर्शन है। वह जीवन का विश्लेषण करके छोड़ देता है, संश्लेषण तक नहीं पहुँच पाता। इसलिए भारत में बहुत पहले से और विदेश में भी काफ़ी दिनों से उसका विरोध होता रहा है। इसी कारण शेखर तत्त्वबोध के धरातल पर नास्तिक है और समाज के धरातल पर निरुद्देश्य क्रांतिकारी, जो एतादृशत्व मात्र को उलटने के लिए टकरा रहा है। यह कार्य-कारणवाद शेखर के जीवन को कुछ दे पाया या नहीं—(और वास्तव में 'नहीं' कहना सर्वथा मिथ्या होगा क्योंकि वह शेखर के सुख का कारण तो नहीं रहा परन्तु शक्ति का कारण अवश्य रहा है)—परन्तु उसकी कला को उसने एक अमूल्य निधि भेंट की है।

यह है उसकी बौद्धिक तटस्थता जो अपनी निर्ममता के कारण विश्लेषण के क्षेत्र में अद्वितीय है। मनोगुम्फों की तहों में इतना गहरा घुसने वाला कलाकार हिन्दी ने उपन्यास के क्षेत्र में दूसरा पैदा नहीं किया। आप कहीं पर देख लीजिए, लेखक की दृष्टि जैसे तथ्य के भीतर घुसती ही चली जाती है—भीतर, बहुत भीतर, जहां उसका कारण छिपा बैठा है। उससे पहले वह नहीं रुकती, नहीं रुक सकती। बस, फिर पर्त के पर्त खुलते चले जाते हैं। यह तटस्थता शेखर को काफ़ी ईमानदार बना देती है—दूसरों के प्रति भी और अपने प्रति भी। दूसरों के विश्लेषण में तो उसकी दृष्टि वस्तुगत ही है; अपने प्रति भी वह काफ़ी हद तक वस्तुगत ही है। इतने भयंकर अहंवाद और उस पर आश्रित आत्मगौरव के बावजूद उसने चित्रण में दूर तक वस्तुगत दृष्टि को बनाये रखा है, यह कलाकार की बहुत बड़ी विजय है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहां अपनी बात को ज़रा और स्पष्ट करना होगा। अहंवाद व आत्मगौरव और वस्तुगत-दृष्टि क्या ये दोनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं? जो आत्मगौरव का अभ्यस्त है वह अपना वस्तुगत चित्रण कैसे कर सकता है? परन्तु बात ऐसी नहीं है। अहंवाद तो शेखर के लिए एक सत्य है, एक अनिवार्य तथ्य है, जिसे वह पूर्णरूप से स्वीकार कर चलता है। परन्तु उसको स्वीकार करने के बाद, उसको अनिवार्य तथ्य मान लेने के उपरान्त, वह जैसे उसके प्रति तटस्थ होने का पूरा प्रयत्न करता है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वह अवश्य ही या तो उससे पीड़ित होकर उसकी भर्त्सना करता या उसमें गर्व की अनुभूति करता। परन्तु वह इन दोनों भावगत या आत्मगत प्रतिक्रियाओं को काफ़ी हद तक बचाता हुआ अपने विश्लेषण को बौद्धिक एवं वैज्ञानिक बनाये रखने में सफल हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि उसके रंग प्रायः चटकीले नहीं हुए।

अतएव कम-से-कम जहां तक अंकन का सम्बन्ध है, वहां तक शेखर की वस्तुगत दृष्टि काफ़ी स्थिर रही है। आत्मगत भावना है तो उसमें अनिवार्यतः ही, परन्तु वह बड़ी प्रच्छन्न और सूक्ष्म-तरल है। उदाहरण के लिए आरम्भिक भावन में शेखर को स्पष्ट ही बहुत कुछ काट-छाँट करनी पड़ी है। उसमें एक भी घटना ऐसी नहीं दी गयी जो उसकी क्षुद्रता की द्योतक हो। परन्तु इतनी आत्मगत भावना का अधिकार तो साहित्य-सृजन के लिए अनिवार्यतः देना ही पड़ेगा। आत्मभाव के इसी सूक्ष्म संयमन के कारण ही शेखर की अंकन-कला हिन्दी की एक विभूति बन गयी है। वह अपनी कारीगरी और नक्काशी में एकदम पूरी है।

आप कल्पना कीजिए मृत्यु के साक्षात्कार से दीप्त एक पारदर्शी क्षण। उसमें सहज रूप से जीवन का प्रत्यालोचन। धीरे-धीरे जीवन की घटनाएं उठती हुई चली आती हैं। पहले वे जिनका व्यक्ति के अन्तरतम पर सबसे गहरा प्रभाव है, जो उसके निर्माण के मूल तत्त्वों से सम्बद्ध हैं। फिर धीरे-धीरे उनके साथ गुँथी हुई प्रासंगिक घटनाएं। इस घटना-चक्र का केन्द्र है व्यक्ति का अहं जो कार्य-कारण के सूत्र में इन सभी को गुम्फित कर देता है। घटनाएं स्वभावतः बिखरी हुई हैं। परन्तु वे अहं के विद्युत्-सूत्रों से खिंचकर इतने सहज रूप में समीकृत हो गयी हैं—कर दी गयी हैं—कि उनका गुम्फन सर्वथा निर्दोष बन गया है।

फिर, इसके उपरान्त उसके सूक्ष्म अवयवों पर पच्चीकारी की गयी है—अंकन में अन्विति और अलंकरण दोनों का सौन्दर्य आ गया है। अवयवों का यह अलंकरण अनायास ही 'शेखर' की समृद्ध भाषा की ओर संकेत करता है, जो अपनी प्रौढ़ि और सौन्दर्य में अद्वितीय है। वह मनो-गुम्फों की उलझनों को इतनी स्वच्छता से चित्रित करता है और मन और मस्तिष्क की तरल सूक्ष्मताओं को इतनी बारीकी से शब्द-बद्ध करता है कि पाठक को चकित रह जाना पड़ता है। उसमें तीखी वीचियों से खेलने वाली सूक्ष्मता है, आवेश को भर लेने वाली उष्णता है और उदात्त क्षणों में विराट् अनुभूति तक उठने की महान् शक्ति है। सर्वत्र आपको ऐसा लगेगा कि अनुभूति पर जैसे तीव्र चिन्तन की धार ने शान रख दी हो और वह चमक उठी हो। 'शेखर' की साधारण पंक्तियां भी इस चमक के बिना नहीं मिलेंगी, भाव-दीप्त प्रसंगों की तो बात ही क्या? वास्तव में केवल भाषा की दृष्टि से ही हिन्दी-गद्य के विकास में 'शेखर' एक बहुत बड़ा मार्गस्तम्भ है। गद्य-निर्माताओं में अज्ञेय का नाम चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और राहुल सांकृत्यायन आदि के साथ लिया जाएगा।

'शेखर' से मुझको और मेरे समान हिन्दी के और भी बहुत से पाठकों को एक शिकायत रही है। उसमें रस क्षीण है, या यों कहें उसमें रस के क्षण अत्यन्त विरल हैं। पहले भाग का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

केवल विचारित है। इसलिए वह विश्लेषण पर समाप्त हो जाता है—संश्लेषण और समाधान पर नहीं पहुँच पाता। मैं अपनी पुष्टि के लिए एक बार फिर शेखर के ही शब्दों की शरण लेता हूं—"जो व्यक्ति के लिए ऊँची-से-ऊँची चोटी तक ऊबड़-खाबड़ पगडण्डी दिखाने को तैयार है, किन्तु समष्टि के लिए थोड़ी-सी दूर तक भी प्रशस्त पथ बतलाने के लिए रुक नहीं सकता।" पूछा जा सकता है कि आखिर व्यक्ति के लिए ही शेखर क्या देता? तो वास्तव में, जैसा मैंने आरम्भ में ही कह दिया है, अभी उसकी देन मूर्तरूप में, एक बँधे हुए सन्देश के रूप में, सामने नहीं आयी। हो सकता है तीसरे भाग में आए—और बहुत मुमकिन है न भी आए। क्योंकि अज्ञेय स्वयं ऐसा कुछ पा सके हैं, इसमें ही बड़ा सन्देह है—उनके प्रयोग अभी तो चल ही रहे हैं।

फिर भी शेखर की आत्मानुभूति बड़ी तीव्र और सच्ची है और उसकी बुद्धि भी इतनी ही प्रखर है। इसलिए अपने अनुभूत सत्य को बुद्धि के द्वारा अन्वित कर सूत्र में उपस्थित कर देना उसके लिए अत्यन्त सहज हुआ है। और, 'शेखर' हमें जीवन के चिर-मौलिक प्रश्न—अहं—से सम्बद्ध कुछ आत्मानुभूत सूत्र देता है—

"दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश नहीं करता है।"

"किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है—किसी के लिए लड़ना भी ज़रूरी है।"

पहला सूत्र शशि ने दिया है, दूसरा उसी के आलोक में शेखर ने प्राप्त किया है। सन्देश के नाम पर 'शेखर' के दो भागों में इतना ही है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शेखर का अपना कोई जीवन-दर्शन नहीं है—तात्त्विक धरातल पर वह कार्य-कारणवाद को काफ़ी मज़बूती से पकड़े बैठा है। जीवन और जगत् के सभी तथ्यों की कार्य-कारण-परम्परा में उसका अखण्ड विश्वास है। यह मूलतः उसे अपने अहंवाद और फिर आधुनिक विज्ञान विशेषतः मनोविश्लेषण-विज्ञान की देन है। कार्य-कारणवाद एक अभावात्मक दर्शन है। वह जीवन का विश्लेषण करके छोड़ देता है, संश्लेषण तक नहीं पहुँच पाता। इसलिए भारत में बहुत पहले से और विदेश में भी काफ़ी दिनों से उसका विरोध होता रहा है। इसी कारण शेखर तत्त्वबोध के धरातल पर नास्तिक है और समाज के धरातल पर निरुद्देश्य क्रांतिकारी, जो एतादृशत्व मात्र को उलटने के लिए टकरा रहा है। यह कार्य-कारण-वाद शेखर के जीवन को कुछ दे पाया या नहीं—(और वास्तव में 'नहीं' कहना सर्वथा मिथ्या होगा क्योंकि वह शेखर के सुख का कारण तो नहीं रहा परन्तु शक्ति का कारण अवश्य रहा है)—परन्तु उसकी कला को उसने एक अमूल्य निधि भेंट की है।

यह है उसकी बौद्धिक तटस्थता जो अपनी निर्ममता के कारण विश्लेषण के क्षेत्र में अद्वितीय है। मनोगुम्फों की तहों में इतना गहरा घुसने वाला कलाकार हिन्दी ने उपन्यास के क्षेत्र में दूसरा पैदा नहीं किया। आप कहीं पर देख लीजिए, लेखक की दृष्टि जैसे तथ्य के भीतर घुसती ही चली जाती है—भीतर, बहुत भीतर, जहां उसका कारण छिपा बैठा है। उससे पहले वह नहीं रुकती, नहीं रुक सकती। बस, फिर पर्त के पर्त खुलते चले जाते हैं। यह तटस्थता शेखर को काफ़ी ईमानदार बना देती है—दूसरों के प्रति भी और अपने प्रति भी। दूसरों के विश्लेषण में तो उसकी दृष्टि वस्तुगत ही है; अपने प्रति भी वह काफ़ी हद तक वस्तुगत ही है। इतने भयंकर अहंवाद और उस पर आश्रित आत्मगौरव के बावजूद उसने चित्रण में दूर तक वस्तुगत दृष्टि को बनाये रखा है, यह कलाकार की बहुत बड़ी विजय है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहां अपनी बात को ज़रा और स्पष्ट करना होगा। अहंवाद व आत्मगौरव और वस्तुगत-दृष्टि क्या ये दोनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं? जो आत्मगौरव का अभ्यस्त है वह अपना वस्तुगत चित्रण कैसे कर सकता है? परन्तु बात ऐसी नहीं है। अहंवाद तो शेखर के लिए एक सत्य है, एक अनिवार्य तथ्य है, जिसे वह पूर्णरूप से स्वीकार कर चलता है। परन्तु उसको स्वीकार करने के बाद, उसको अनिवार्य तथ्य मान लेने के उपरान्त, वह जैसे उसके प्रति तटस्थ होने का पूरा प्रयत्न करता है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वह अवश्य ही या तो उससे पीड़ित होकर उसकी भर्त्सना करता या उसमें गर्व की अनुभूति करता। परन्तु वह इन दोनों भावगत या आत्मगत प्रतिक्रियाओं को काफ़ी हद तक बचाता हुआ अपने विश्लेषण को बौद्धिक एवं वैज्ञानिक बनाये रखने में सफल हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि उसके रंग प्रायः चटकीले नहीं हुए।

अतएव कम-से-कम जहां तक अंकन का सम्बन्ध है, वहां तक शेखर की वस्तुगत दृष्टि काफ़ी स्थिर रही है। आत्मगत भावना है तो उसमें अनिवार्यतः ही, परन्तु वह बड़ी प्रच्छन्न और सूक्ष्म-तरल है। उदाहरण के लिए आरम्भिक भावन में शेखर को स्पष्ट ही बहुत कुछ काट-छांट करनी पड़ी है। उसमें एक भी घटना ऐसी नहीं दी गयी जो उसकी क्षुद्रता की द्योतक हो। परन्तु इतनी आत्मगत भावना का अधिकार तो साहित्य-सृजन के लिए अनिवार्यतः देना ही पड़ेगा। आत्मभाव के इसी सूक्ष्म संयमन के कारण ही शेखर की अंकन-कला हिन्दी की एक विभूति बन गयी है। वह अपनी कारीगरी और नक्काशी में एकदम पूरी है।

आप कल्पना कीजिए मृत्यु के साक्षात्कार से दीप्त एक पारदर्शी क्षण। उसमें सहज रूप से जीवन का प्रत्यालोचन। धीरे-धीरे जीवन की घटनाएं उठती हुई चली आती हैं। पहले वे जिनका व्यक्ति के अन्तरतम पर सबसे गहरा प्रभाव है, जो उसके निर्माण के मूल तत्त्वों से सम्बद्ध हैं। फिर धीरे-धीरे उनके साथ गुँथी हुई प्रासंगिक घटनाएं। इस घटना-चक्र का केन्द्र है व्यक्ति का अहं जो कार्य-कारण के सूत्र में इन सभी को गुम्फित कर देता है। घटनाएं स्वभावतः बिखरी हुई हैं। परन्तु वे अहं के विद्युत्-सूत्रों से खिचकर इतने सहज रूप में समीकृत हो गयी हैं—कर दी गयी हैं—कि उनका गुम्फन सर्वथा निर्दोष बन गया है।

फिर, इसके उपरान्त उसके सूक्ष्म अवयवों पर पच्चीकारी की गयी है—अंकन में अन्विति और अलंकरण दोनों का सौन्दर्य आ गया है। अवयवों का यह अलंकरण अनायास ही 'शेखर' की समृद्ध भाषा की ओर संकेत करता है, जो अपनी प्रौढ़ि और सौन्दर्य में अद्वितीय है। वह मनो-गुम्फों की उलझनों को इतनी स्वच्छता से चित्रित करता है और मन और मस्तिष्क की तरल सूक्ष्मताओं को इतनी बारीकी से शब्द-बद्ध करता है कि पाठक को चकित रह जाना पड़ता है। उसमें तीखी वीचियों से खेलने वाली सूक्ष्मता है, आवेश को भर लेने वाली उष्णता है और उदात्त क्षणों में विराट् अनुभूति तक उठने की महान् शक्ति है। सर्वत्र आपको ऐसा लगेगा कि अनुभूति पर जैसे तीव्र चिन्तन की धार ने शान रख दी हो और वह चमक उठी हो। 'शेखर' की साधारण पंक्तियां भी इस चमक के बिना नहीं मिलेंगी, भाव-दीप्त प्रसंगों की तो बात ही क्या? वास्तव में केवल भाषा की दृष्टि से ही हिन्दी-गद्य के विकास में 'शेखर' एक बहुत बड़ा मार्गस्तम्भ है। गद्य-निर्माताओं में अज्ञेय का नाम चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और राहुल सांकृत्यायन आदि के साथ लिया जाएगा।

'शेखर' से मुझको और मेरे समान हिन्दी के और भी बहुत से पाठकों को एक शिकायत रही है। उसमें रस क्षीण है, या यों कहें उसमें रस के क्षण अत्यन्त विरल हैं। पहले भाग का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

केवल विचारित है। इसलिए वह विश्लेषण पर समाप्त हो जाता है—संश्लेषण और समाधान पर नहीं पहुँच पाता। मैं अपनी पुष्टि के लिए एक बार फिर शेखर के ही शब्दों की शरण लेता हूं—"जो व्यक्ति के लिए ऊँची-से-ऊँची चोटी तक ऊबड़-खाबड़ पगडण्डी दिखाने को तैयार है, किन्तु समष्टि के लिए थोड़ी-सी दूर तक भी प्रशस्त पथ बतलाने के लिए रुक नहीं सकता।" पूछा जा सकता है कि आखिर व्यक्ति के लिए ही शेखर क्या देता? तो वास्तव में, जैसा मैंने आरम्भ में ही कह दिया है, अभी उसकी देन मूर्तरूप में, एक बँधे हुए सन्देश के रूप में, सामने नहीं आयी। हो सकता है तीसरे भाग में आए—और बहुत मुमकिन है न भी आए। क्योंकि अज्ञेय स्वयं ऐसा कुछ पा सके हैं, इसमें ही बड़ा सन्देह है—उनके प्रयोग अभी तो चल ही रहे हैं।

फिर भी शेखर की आत्मानुभूति बड़ी तीव्र और सच्ची है और उसकी बुद्धि भी इतनी ही प्रखर है। इसलिए अपने अनुभूत सत्य को बुद्धि के द्वारा अन्वित कर सूत्र में उपस्थित कर देना उसके लिए अत्यन्त सहज हुआ है। और, 'शेखर' हमें जीवन के चिर-मौलिक प्रश्न—अहं—से सम्बद्ध कुछ आत्मानुभूत सूत्र देता है—

"दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश नहीं करता है।"

"किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है—किसी के लिए लड़ना भी ज़रूरी है।"

पहला सूत्र शशि ने दिया है, दूसरा उसी के आलोक में शेखर ने प्राप्त किया है। सन्देश के नाम पर 'शेखर' के दो भागों में इतना ही है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शेखर का अपना कोई जीवन-दर्शन नहीं है—तात्त्विक धरातल पर वह कार्य-कारणवाद को काफ़ी मज़बूती से पकड़े बैठा है। जीवन और जगत् के सभी तथ्यों की कार्य-कारण-परम्परा में उसका अखण्ड विश्वास है। यह मूलतः उसे अपने अहंवाद और फिर आधुनिक विज्ञान विशेषतः मनोविश्लेषण-विज्ञान की देन है। कार्य-कारणवाद एक अभावात्मक दर्शन है। वह जीवन का विश्लेषण करके छोड़ देता है, संश्लेषण तक नहीं पहुँच पाता। इसलिए भारत में बहुत पहले से और विदेश में भी काफ़ी दिनों से उसका विरोध होता रहा है। इसी कारण शेखर तत्त्वबोध के धरातल पर नास्तिक है और समाज के धरातल पर निरुद्देश्य क्रांतिकारी, जो एतादृशत्व मात्र को उलटने के लिए टकरा रहा है। यह कार्य-कारण-वाद शेखर के जीवन को कुछ दे पाया या नहीं—(और वास्तव में 'नहीं' कहना सर्वथा मिथ्या होगा क्योंकि वह शेखर के सुख का कारण तो नहीं रहा परन्तु शक्ति का कारण अवश्य रहा है)—परन्तु उसकी कला को उसने एक अमूल्य निधि भेंट की है।

यह है उसकी बौद्धिक तटस्थता जो अपनी निर्ममता के कारण विश्लेषण के क्षेत्र में अद्वितीय है। मनोगुम्फों की तहों में इतना गहरा घुसने वाला कलाकार हिन्दी ने उपन्यास के क्षेत्र में दूसरा पैदा नहीं किया। आप कहीं पर देख लीजिए, लेखक की दृष्टि जैसे तथ्य के भीतर घुसती ही चली जाती है—भीतर, बहुत भीतर, जहां उसका कारण छिपा बैठा है। उससे पहले वह नहीं रुकती, नहीं रुक सकती। बस, फिर पर्त के पर्त खुलते चले जाते हैं। यह तटस्थता शेखर को काफ़ी ईमानदार बना देती है—दूसरों के प्रति भी और अपने प्रति भी। दूसरों के विश्लेषण में तो उसकी दृष्टि वस्तुगत ही है; अपने प्रति भी वह काफ़ी हद तक वस्तुगत ही है। इतने भयंकर अहंवाद और उस पर आश्रित आत्मगौरव के बावजूद उसने चित्रण में दूर तक वस्तुगत दृष्टि को बनाये रखा है, यह कलाकार की बहुत बड़ी विजय है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहां अपनी बात को ज़रा और स्पष्ट करना होगा। अहंवाद व आत्मगौरव और वस्तुगत-दृष्टि क्या ये दोनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं? जो आत्मगौरव का अभ्यस्त है वह अपना वस्तुगत चित्रण कैसे कर सकता है? परन्तु बात ऐसी नहीं है। अहंवाद तो शेखर के लिए एक सत्य है, एक अनिवार्य तथ्य है, जिसे वह पूर्णरूप से स्वीकार कर चलता है। परन्तु उसको स्वीकार करने के बाद, उसको अनिवार्य तथ्य मान लेने के उपरान्त, वह जैसे उसके प्रति तटस्थ होने का पूरा प्रयत्न करता है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वह अवश्य ही या तो उससे पीड़ित होकर उसकी भर्त्सना करता या उसमें गर्व की अनुभूति करता। परन्तु वह इन दोनों भावगत या आत्मगत प्रतिक्रियाओं को काफ़ी हद तक बचाता हुआ अपने विश्लेषण को बौद्धिक एवं वैज्ञानिक बनाये रखने में सफल हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि उसके रंग प्रायः चटकीले नहीं हुए।

अतएव कम-से-कम जहां तक अंकन का सम्बन्ध है, वहां तक शेखर की वस्तुगत दृष्टि काफ़ी स्थिर रही है। आत्मगत भावना है तो उसमें अनिवार्यतः ही, परन्तु वह बड़ी प्रच्छन्न और सूक्ष्म-तरल है। उदाहरण के लिए आरम्भिक भावन में शेखर को स्पष्ट ही बहुत कुछ काट-छांट करनी पड़ी है। उसमें एक भी घटना ऐसी नहीं दी गयी जो उसकी क्षुद्रता की द्योतक हो। परन्तु इतनी आत्मगत भावना का अधिकार तो साहित्य-सृजन के लिए अनिवार्यतः देना ही पड़ेगा। आत्मभाव के इसी सूक्ष्म संयमन के कारण ही शेखर की अंकन-कला हिन्दी की एक विभूति बन गयी है। वह अपनी कारीगरी और नक्काशी में एकदम पूरी है।

आप कल्पना कीजिए मृत्यु के साक्षात्कार से दीप्त एक पारदर्शी क्षण। उसमें सहज रूप से जीवन का प्रत्यालोचन। धीरे-धीरे जीवन की घटनाएं उठती हुई चली आती हैं। पहले वे जिनका व्यक्ति के अन्तरतम पर सबसे गहरा प्रभाव है, जो उसके निर्माण के मूल तत्त्वों से सम्बद्ध हैं। फिर धीरे-धीरे उनके साथ गुँथी हुई प्रासंगिक घटनाएं। इस घटना-चक्र का केन्द्र है व्यक्ति का अहं जो कार्य-कारण के सूत्र में इन सभी को गुम्फित कर देता है। घटनाएं स्वभावतः बिखरी हुई हैं। परन्तु वे अहं के विद्युत्-सूत्रों से खिंचकर इतने सहज रूप में समीकृत हो गयी हैं—कर दी गयी हैं—कि उनका गुम्फन सर्वथा निर्दोष बन गया है।

फिर, इसके उपरान्त उसके सूक्ष्म अवयवों पर पच्चीकारी की गयी है—अंकन में अन्विति और अलंकरण दोनों का सौन्दर्य आ गया है। अवयवों का यह अलंकरण अनायास ही 'शेखर' की समृद्ध भाषा की ओर संकेत करता है, जो अपनी प्रौढ़ि और सौन्दर्य में अद्वितीय है। वह मनोगुम्फों की उलझनों को इतनी स्वच्छता से चित्रित करता है और मन और मस्तिष्क की तरल सूक्ष्मताओं को इतनी बारीकी से शब्द-बद्ध करता है कि पाठक को चकित रह जाना पड़ता है। उसमें तीखी वीचियों से खेलने वाली सूक्ष्मता है, आवेश को भर लेने वाली उष्णता है और उदात्त क्षणों में विराट् अनुभूति तक उठने की महान् शक्ति है। सर्वत्र आपको ऐसा लगेगा कि अनुभूति पर जैसे तीव्र चिन्तन की धार ने शान रख दी हो और वह चमक उठी हो। 'शेखर' की साधारण पंक्तियां भी इस चमक के बिना नहीं मिलेंगी, भाव-दीप्त प्रसंगों की तो बात ही क्या? वास्तव में केवल भाषा की दृष्टि से ही हिन्दी-गद्य के विकास में 'शेखर' एक बहुत बड़ा मार्गस्तम्भ है। गद्य-निर्माताओं में अज्ञेय का नाम चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और राहुल सांकृत्यायन आदि के साथ लिया जाएगा।

'शेखर' से मुझको और मेरे समान हिन्दी के और भी बहुत से पाठकों को एक शिकायत रही है। उसमें रस क्षीण है, या यों कहें उसमें रस के क्षण अत्यन्त विरल हैं। पहले भाग का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उत्तरार्द्ध —शारदा के प्रसंग को छोड़कर—और दूसरे भाग का पूर्वार्ध पढ़ने में काफ़ी बोझिल लगते हैं। केवल मन को रमाने के लिए पढ़ने वाले पाठक को उनको पार करने में प्रयत्न करना पड़ेगा। परन्तु जैसा मैंने एक और स्थान पर कहा है, 'शेखर' का आनन्द बौद्धिक आनन्द है—तटस्थता का आनन्द, भाव के संयम का आनन्द है। वह आत्मसंरक्षण का आनन्द है, जो आत्मदान के आनन्द से भिन्न है, और कहा जा सकता है कि निम्नतर भी है। सत्य का, वस्तु का, भरसक ईमानदारी से अपने राग-द्वेषों को दूर रखकर चित्रण करना, साधारण से कहीं अधिक मानसिक-शिक्षण और संतुलन की अपेक्षा करता है। इस शिक्षण और संतुलन में एक प्रकार के बुद्धि-नियन्त्रित संयम का आनन्द है, और यह आनन्द 'शेखर' के विश्लेषण में आपको अनिवार्यतः मिलेगा।

दूसरे प्रकार के आनन्द का भी अत्यन्त अभाव नहीं है। जहां-जहां शेखर अपने को ढीला कर पाया है, वहीं दूसरे प्रकार के आनन्द की भी लहरें उसके आत्मबद्ध प्राणों से फूट पड़ी हैं। ये लहरें सघन नहीं हैं। परन्तु इनमें एक तीव्रता अवश्य है जैसी कि बन्धन तोड़कर उछलने वाली पतली-से-पतली धारा में भी होती है। प्रकृति के चित्रों में; सरस्वती, शीला, शान्ति और शारदा के प्रसंगों में; और मोहसिन और रामजी के संकेत-चित्रों में यह बात स्पष्ट है। रुग्णा शान्ति से उसके गले की स्नायु-रेखा का स्पर्श करने की प्रार्थना कितनी तरल-कोमल है! इन सबसे आगे शशि-प्रसंग है, जहां शेखर आत्मचेतना को लगभग डुबो ही देता है। साल-भर तक घनीभूत तुषार-राशि को आपने ग्रीष्म-सूर्य की किरणों से पहले धीरे-धीरे फिर पुंज-रूप में पिघलते हुए देखा है? न देखा हो तो कल्पना कर लीजिए। तब आपको शशि-शेखर-प्रसंग के पूत-सौन्दर्य का अनुभव हो सकेगा। तब आप सहज ही समझ सकेंगे कि पूर्व और पश्चिम की दृष्टि में जो जघन्य पाप है—बहन के प्रति रति—उसको पवित्र रूप देने के लिए हृदय में कितने सतोगुण की आवश्यकता हुई होगी।

इस अन्तिम रस-स्थिति पर पहुँचकर मेरा मन यात्रा के सभी श्रम को भूलकर लेखक के प्रति एक अमिश्रित कृतज्ञ-भाव से भर जाता है। क्या आप मुझसे सहमत नहीं हैं?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास

राहुलजी का महाप्राण व्यक्तित्व कर्म, वाणी और विचार तीनों की विभूतियों से सम्पन्न है। उनके विचार—पांडित्य—के दो पक्ष हैं—एक पुरातत्व का व्यापक और गम्भीर ज्ञान, दूसरा आधुनिक समाजवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ठोस व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान। प्रस्तुत उपन्यासों का सम्पूर्ण कलेवर इन्हीं दो आधार-स्तम्भों पर खड़ा हुआ है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास राजा तथा राजतन्त्र के प्रभुत्व से अभिभूत है। वह स्वीकृत रूप से महत्त्वाकांक्षी नृपति व्यक्तियों का इतिवृत्त रहा है। परन्तु फिर भी इससे यह परिणाम निकालना भ्रामक होगा कि भारत गणतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ था। प्राचीन युग में भी—विशेषकर उस युग में भी—जब राजा का एकच्छत्र आधिपत्य और साम्राज्यवादी नीति अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई थी, लिच्छवि, मालव, यौधेय, गंधार आदि अनेक स्वतन्त्र गण थे जो क्रमशः वैशाली, मालवा, अग्रोदका, तक्षशिला आदि में प्रतिष्ठित थे। इसमें सन्देह नहीं कि जैसा व्यवस्थित विवरण राजतन्त्रों के अधिष्ठाता राजाओं और उनके परिवारों का मिलता है वैसा इन गणतन्त्रों और उनकी कार्यकारिणी परिषदों का नहीं मिलता; क्योंकि व्यक्तिवादी राजा जहां अपने व्यक्तित्व की सभी प्रकार से संवर्धना करते हुए उसे अमर बनाने का प्रयत्न करते थे वहां गणतन्त्रों का जीवन सामूहिक था और समूह की अपेक्षा व्यक्ति की स्मृति-रक्षा सहज होती है। निदान इनके विषय में स्फुट उल्लेख विजेता राजाओं की प्रशस्तियों में, सिक्कों अथवा शिलालेखों में, या फिर तत्कालीन साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। महापंडित राहुल ने इस विकीर्ण सामग्री को एकत्रित कर उस विलुप्तप्राय इतिहास को फिर से जगाया है। इस महान् अनुष्ठान में उनका समृद्ध पुरातत्त्व ज्ञान तो सहायक हुआ ही है परन्तु साथ ही बौद्ध संघ और सोवियत विधान का क्रियात्मक ज्ञान भी कम उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।

'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' क्रमशः लिच्छविगण और यौधेयगण के सामूहिक जीवन-संघर्ष का चित्रण करते हैं, जैसा कि इनके नामों से स्पष्ट है। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों उपन्यासों में प्रधानतः एक-एक व्यक्ति के जीवन-वृत्त का विवरण है—'सिंह सेनापति' में लिच्छवि-वीर सिंह और 'जय यौधेय' में यौधेय-वीर जय का, परन्तु फिर भी इनमें से कोई भी व्यक्ति-प्रधान उपन्यास नहीं है। ये दोनों व्यक्ति वास्तव में गण-जीवन के भी प्रतीक हैं।[1]

---

१. सिंह एक तरुण लिच्छवि कुमार है जो तक्षशिला जाकर शस्त्र-शास्त्र और उनसे भी अधिक गण-सिद्धान्तों का अध्ययन करता है। वहां वह थोड़े ही दिनों में गंधार-गण का अंग बन जाता है—और उनकी ओर से पार्शवों के शासानुशास अर्थात् फ़ारस के शाहंशाह से युद्ध करता है—तथा उसमें विजय और यश का अर्जन करता है। यहां आचार्य-पुत्री रोहिणी से उसका प्रेम-विवाह होता है और फिर कुछ दिन पश्चात् वह सपत्नीक वैशाली लौट आता है। वैशाली में वह यथा-समय संस्थागार का सदस्य बनता है—और वहां के सामहिक जीवन का यथोचित विकास करता हुआ मगध के अधिपति बिम्बसार को पराजित कर अपनी शर्तें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उत्तरार्द्ध —शारदा के प्रसंग को छोड़कर—और दूसरे भाग का पूर्वार्ध पढ़ने में काफ़ी बोझिल लगते हैं। केवल मन को रमाने के लिए पढ़ने वाले पाठक को उनको पार करने में प्रयत्न करना पड़ेगा। परन्तु जैसा मैंने एक और स्थान पर कहा है, 'शेखर' का आनन्द बौद्धिक आनन्द है—तटस्थता का आनन्द, भाव के संयम का आनन्द है। वह आत्मसंरक्षण का आनन्द है, जो आत्म-दान के आनन्द से भिन्न है, और कहा जा सकता है कि निम्नतर भी है। सत्य का, वस्तु का, भरसक ईमानदारी से अपने राग-द्वेषों को दूर रखकर चित्रण करना, साधारण से कहीं अधिक मानसिक-शिक्षण और संतुलन की अपेक्षा करता है। इस शिक्षण और संतुलन में एक प्रकार के बुद्धि-नियन्त्रित संयम का आनन्द है, और यह आनन्द 'शेखर' के विश्लेषण में आपको अनिवार्यत: मिलेगा।

दूसरे प्रकार के आनन्द का भी अत्यन्त अभाव नहीं है। जहां-जहां शेखर अपने को ढीला कर पाया है, वहीं दूसरे प्रकार के आनन्द की भी लहरें उसके आत्मबद्ध प्राणों से फूट पड़ी हैं। ये लहरें सघन नहीं हैं। परन्तु इनमें एक तीव्रता अवश्य है जैसी कि बन्धन तोड़कर उछलने वाली पतली-से-पतली धारा में भी होती है। प्रकृति के चित्रों में; सरस्वती, शीला, शान्ति और शारदा के प्रसंगों में; और मोहसिन और रामजी के संकेत-चित्रों में यह बात स्पष्ट है। रुग्णा शान्ति से उसके गले की स्नायु-रेखा का स्पर्श करने की प्रार्थना कितनी तरल-कोमल है! इन सबसे आगे शशि-प्रसंग है, जहां शेखर आत्मचेतना को लगभग डुबो ही देता है। साल-भर तक घनीभूत तुषार-राशि को आपने ग्रीष्म-सूर्य की किरणों से पहले धीरे-धीरे फिर पुंज-रूप में पिघलते हुए देखा है? न देखा हो तो कल्पना कर लीजिए। तब आपको शशि-शेखर-प्रसंग के पूत-सौन्दर्य का अनुभव हो सकेगा। तब आप सहज ही समझ सकेंगे कि पूर्व और पश्चिम की दृष्टि में जो जघन्य पाप है—बहन के प्रति रति—उसको पवित्र रूप देने के लिए हृदय में कितने सतोगुण की आवश्यकता हुई होगी।

इस अन्तिम रस-स्थिति पर पहुँचकर मेरा मन यात्रा के सभी श्रम को भूलकर लेखक के प्रति एक अमिश्रित कृतज्ञ-भाव से भर जाता है। क्या आप मुझसे सहमत नहीं हैं?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास

राहुलजी का महाप्राण व्यक्तित्व कर्म, वाणी और विचार तीनों की विभूतियों से सम्पन्न है। उनके विचार—पांडित्य—के दो पक्ष हैं—एक पुरातत्त्व का व्यापक और गम्भीर ज्ञान, दूसरा आधुनिक समाजवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ठोस व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान। प्रस्तुत उपन्यासों का सम्पूर्ण कलेवर इन्हीं दो आधार-स्तम्भों पर खड़ा हुआ है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास राजा तथा राजतन्त्र के प्रभुत्व से अभिभूत है। वह स्वीकृत रूप से महत्त्वाकांक्षी नृपति व्यक्तियों का इतिवृत्त रहा है। परन्तु फिर भी इससे यह परिणाम निकालना भ्रामक होगा कि भारत गणतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ था। प्राचीन युग में भी—विशेषकर उस युग में भी—जब राजा का एकच्छत्र आधिपत्य और साम्राज्यवादी नीति अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई थी, लिच्छवि, मालव, यौधेय, गंधार आदि अनेक स्वतन्त्र गण थे जो क्रमशः वैशाली, मालवा, अग्रोदका, तक्षशिला आदि में प्रतिष्ठित थे। इसमें सन्देह नहीं कि जैसा व्यवस्थित विवरण राजतन्त्रों के अधिष्ठाता राजाओं और उनके परिवारों का मिलता है वैसा इन गणतन्त्रों और उनकी कार्यकारिणी परिषदों का नहीं मिलता; क्योंकि व्यक्तिवादी राजा जहां अपने व्यक्तित्व की सभी प्रकार से संवर्धना करते हुए उसे अमर बनाने का प्रयत्न करते थे वहां गणतन्त्रों का जीवन सामूहिक था और समूह की अपेक्षा व्यक्ति की स्मृति-रक्षा सहज होती है। निदान इनके विषय में स्फुट उल्लेख विजेता राजाओं की प्रशस्तियों में, सिक्कों अथवा शिलालेखों में, या फिर तत्कालीन साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। महापंडित राहुल ने इस विकीर्ण सामग्री को एकत्रित कर उस विलुप्तप्राय इतिहास को फिर से जगाया है। इस महान् अनुष्ठान में उनका समृद्ध पुरातत्त्व ज्ञान तो सहायक हुआ ही है परन्तु साथ ही बौद्ध संघ और सोवियत विधान का क्रियात्मक ज्ञान भी कम उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।

'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' क्रमशः लिच्छविगण और यौधेयगण के सामूहिक जीवन-संघर्ष का चित्रण करते हैं, जैसा कि इनके नामों से स्पष्ट है। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों उपन्यासों में प्रधानतः एक-एक व्यक्ति के जीवन-वृत्त का विवरण है—'सिंह सेनापति' में लिच्छवि-वीर सिंह और 'जय यौधेय' में यौधेय-वीर जय का, परन्तु फिर भी इनमें से कोई भी व्यक्ति-प्रधान उपन्यास नहीं है। ये दोनों व्यक्ति वास्तव में गण-जीवन के भी प्रतीक हैं।[1]

---

१. सिंह एक तरुण लिच्छवि कुमार है जो तक्षशिला जाकर शस्त्र-शास्त्र और उनसे भी अधिक गण-सिद्धान्तों का अध्ययन करता है। वहां वह थोड़े ही दिनों में गंधार-गण का अंग बन जाता है—और उनकी ओर से पार्शवों के शासानुशास अर्थात् फ़ारस के शाहंशाह से युद्ध करता है—तथा उसमें विजय और यश का अर्जन करता है। यहां आचार्य-पुत्री रोहिणी से उसका प्रेम-विवाह होता है और फिर कुछ दिन पश्चात् वह सपत्नीक वैशाली लौट आता है। वैशाली में वह यथा-समय संस्थागार का सदस्य बनता है—और वहां के सामहिक जीवन का यथोचित विकास करता हुआ मगध के अधिपति बिम्बसार को पराजित कर अपनी शर्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्व

यहां स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इन उपन्यासों में ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्वों का परस्पर क्या अनुपात है। इस प्रश्न का उत्तर इतिहास के साधारण ज्ञान के आधार पर भी दिया जा सकता है। यद्यपि इनकी मुख्य कथावस्तु लिच्छवि और यौधेयों के गण-जीवन से सम्बन्धित है, परन्तु प्रामाणिक इतिहास का उपयोग वास्तव में उनके विरोधी राजकुलों के

मानने के लिए बाध्य करता है। पहले वह निर्ग्रन्थ-आचार्य महावीर का शिष्य होकर तप और अहिंसा का व्रत लेता है, पर उनसे मानसिक परितोष न पाकर अन्त में वह बुद्ध का अनुयायी हो जाता है और उनके बहुजनहिताय अनात्मवादी सिद्धान्तों में जीवन का समाधान प्राप्त करता है। 'जय यौधेय' यौधेय-कुमार है। जब सम्राट् समुद्रगुप्त ने यौधेयों को हराकर भी उनकी स्वतन्त्रता को थोड़ा-सा कर लेकर सम्मानपूर्वक उन्हें लौटा दिया और जय की बहन से विवाह कर उसे अपनी पट्टमहिषी बना लिया, तो गुप्त परिवार और यौधेय-गण में सैद्धान्तिक वैषम्य के होते हुए भी स्नेह-मैत्री स्थापित हो गयी। जय की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा पाटलीपुत्र के राजपरिवार में राजसी-ऐश्वर्य और वैभव के बीच होती है—परन्तु फिर भी उसके यौधेय-संस्कार इतने प्रबल हैं कि वह अपने व्यक्तित्व को उस वातावरण में लिप्त नहीं होने देता और आचार्य वसुबन्धु का संसर्ग प्राप्त करते ही अपने अस्तित्व और वैशिष्ट्य को पूर्णतः पहचान लेता है। शास्त्रीय शिक्षा में निष्णात होने के उपरान्त जय की यात्राएं आरम्भ हो जाती हैं—तक्षशिला की यात्रा तो वह पहले ही कर चुका था। अब हिमालय-उत्सव और उसके बाद सिंहल की सुदीर्घ यात्रा के लिए चल पड़ता है। सिंहल की यात्रा में उसे अनेक प्रकार के संघर्षों में होकर गुज़रना पड़ता है। पहले तो जहाज़ के टूट जाने से वह और उसका मित्र सिंहवर्मा तथा उसकी पत्नी शवर-पल्ली में जा पहुँचते हैं—शवर-पल्ली का जीवन मानवता की बाल्यावस्था का जीवन है जो कृत्रिम नागरिक सभ्यता और संस्कार से सर्वथा अस्पृष्ट है। यहां जय को एक नवीन जीवन-व्यवस्था का अध्ययन करने को मिलता है। यहीं श्यामा नाम की तरुणी से उसका विवाह होता है—परन्तु फिर कुछ ही दिन बाद उसे और उसके मित्रों को पल्ली छोड़ने को बाध्य होना पड़ता है। वहां से वह पिष्ठपुर और कांची होता हुआ सिंहल पहुँचता है और वहां जाकर अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार बौद्ध भिक्षु हो जाता है; पर भिक्षु होने का उसका उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक ही है। उसकी या यों कहिए कि उसके स्रष्टा राहुलजी की धारणा है कि बौद्ध विहारों की व्यवस्था और गणतन्त्र-विधान दोनों का घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है—अतएव जय गण-व्यवस्था का आन्तरिक ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ही बौद्ध भिक्षु बनता है। यहां उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर एक श्रेष्ठी तरुणी आत्म-समर्पण करती है, परन्तु मुक्त प्रेम में विश्वास करता हुआ भी वह मिथ्याचार से बचने के लिए उसे अस्वीकृत कर देता है। इसके उपरान्त वह सीधा प्रतिष्ठान पहुँचता है और वहां सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और उसकी नव-परिणीता महारानी ध्रुवस्वामिनी से भेंट करता है। यहां उसे विक्रमादित्य के मनसूबों को समझने का अवसर मिलता है जिससे वह यौधेय जाति के भविष्य की ओर सचेष्ट हो जाता है और अग्रोदका आकर तरुण यौधेय और यौधेयानियों की सहायता से गण-जीवन को सुसंगठित और व्यवस्थित करने में लग जाता है। कुछ दिन बाद ही चन्द्रगुप्त का आक्रमण होता है—जिसमें यौधेयों के नवीन उत्साह की विजय होती है और विक्रमादित्य की आकांक्षा अपूर्ण रह जाती है। इस विजय के पश्चात् यौधेयों का आत्म-विश्वास और भी बढ़ जाता है और अब वे सेनापति जय के संयोजन में नित्य नवीन प्रयोगों के द्वारा कर्मान्त वाणिज्य आदि का विकास तथा योग्य सन्तान उत्पन्न करते हुए अपनी गण-शक्ति का संगठन और संवर्धन करते हैं। जय भी एक वीर-यौधेय तरुणी वसुनन्दा से, जिसने युद्ध में उसकी सहायता की थी, विवाह कर लेता है और विजय, रिपुजय आदि वीर पुत्रों को गण की भेंट करता है। पर विक्रमादित्य की दृष्टि अभी इधर ही लगी हुई थी—उसने कालिदास को भेजकर जय को लोभ देने का भी प्रयत्न किया, परन्तु जब इस प्रकार सफलता न मिली तो अन्त में पूरी तैयारी के लिए यौधेयों पर आक्रमण कर दिया। जय अब पचास वर्ष का हो चुका था—उसके निरीक्षण में यौधेय युवक और युवतियों ने प्राणों की बाजी लगाकर आत्मरक्षा का प्रयत्न किया परन्तु प्रतापी गुप्त सम्राट् ने उसका पूर्णान्त ही कर दिया। इतिहास के पृष्ठ से ही वह महान् गणतन्त्र लुप्त हो गया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वर्णन में ही किया जा सकता था। 'सिंह सेनापति' में बिम्बसार और अजातशत्रु के व्यक्तित्व तथा उनका लिच्छवियों से युद्ध ही प्रामाणिक रूप से ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'जय यौधेय' में गुप्त वंश के मुख्य व्यक्ति समुद्रगुप्त, रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि तथा उनके जीवन की मुख्य घटनाएं ही प्रामाणिक हैं—आधिकारिक वस्तु में तो केवल यौधेयों का समुद्रगुप्त से युद्ध ही प्रामाणिक माना जा सकता है। शेष सम्पूर्ण विवरण ऐतिहासिक तथ्यों पर आश्रित न होकर ऐतिहासिक कल्पना पर ही आधारित है—यहां तक कि दोनों नायक सिंह और जय भी काल्पनिक व्यक्ति हैं। पर इसके अतिरिक्त चारा ही क्या था? दो-चार सिक्कों और एक-आध प्रशस्ति में दिये हुए स्फुट उल्लेखों में सामग्री ही क्या मिल सकती थी—केवल संकेत ही मिल सकते थे और उन संकेतों का उपयोग लेखक ने अपने सम्पूर्ण कल्पना-वैभव की सहायता से किया है, इसमें सन्देह नहीं।

उपन्यास-कला

आज से तीन वर्ष पूर्व 'वोल्गा से गंगा' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था कि राहुलजी के पास ऐश्वर्यमती कल्पना है, ऐतिहासिक सामग्री का अक्षय भाण्डार है, एकान्त स्वच्छ और निर्भ्रान्त जीवन-दर्शन है और सहस्रों वर्षों के व्यवधान के आर-पार देखने वाली तीव्र दृष्टि है, परन्तु कथा-शिल्प विशेष नहीं है। आज इन दोनों उपन्यासों का अध्ययन करते हुए मेरी यह धारणा और भी पुष्ट होती जाती है और मैं एक बार फिर उसी निर्णय को दुहराता हूं। इन उपन्यासों में औपन्यासिक घटना-विधान और चरित्र-चित्रण का बहुत-कुछ अभाव-सा ही है—राहुलजी न तो आकर्षक नाटकीय परिस्थितियों की सृष्टि कर सके हैं और न चारित्रिक द्वन्द्वों की उद्भावना ही। यह बात नहीं है कि इन घटनाओं में नाट्य-तत्त्व नहीं है अथवा पात्रों के जीवन में संघर्ष नहीं है। उदाहरण के लिए 'जय यौधेय' की कथावस्तु और उसके व्यक्तित्व में परिस्थिति और चरित्र दोनों के निर्माण की यथेष्ट सम्भावना है, परन्तु राहुलजी इससे यथोचित लाभ नहीं उठा सके। और उसका कारण है, वह यह कि राहुलजी की दृष्टि प्रतिपाद्य और इतिहास पर ही केन्द्रित रही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का धैर्य उनमें नहीं है। उनकी घटनाओं की गतिविधि और पात्रों का चरित्र-विकास प्रतिपाद्य के अनुसार पहले से ही इतने स्पष्ट रूप में निर्धारित हो जाते हैं कि द्वन्द्व उत्पन्न ही नहीं हो पाता। सिंह और जय दोनों के व्यक्तित्व-विकास की रेखाएं एकदम सीधी हैं, उनका बहिर्मुखी जीवन सर्वथा स्वस्थ है, उनमें प्राणवत्ता है। स्रष्टा के महाप्राण जीवन की शक्ति और स्वास्थ्य उनमें साफ़ दिखायी पड़ता है। जय के चरित्र में तो अन्तर की विभूतियां भी पर्याप्त मात्रा में हैं, फिर भी हम अनुभव करते हैं कि उपर्युक्त सभी विशेषताएं होने पर भी वह हमारे हृदय को बहुत गहरे में जाकर नहीं पकड़ता जैसा कि होरी, सूरदास, शेखर या जैनेन्द्र, यशपाल अथवा इलाचन्द्र के सफल नारी पात्र करते हैं। नारी पात्रों में 'सिंह सेनापति' की रोहिणी और क्षेमा 'जय यौधेय' की वासन्ती व सुनन्दा एक ही साँचे में ढली हुई हैं। भामा और नन्दा में तीखापन और ज़्यादा है। उनका चित्रण देखकर अमरीकी सैनिकों द्वारा किये हुए रूसी स्त्रियों के वर्णन का स्मरण हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राहुलजी की कला सृजनात्मक होने की अपेक्षा विवरणात्मक ही अधिक है। उनमें विवरण उपस्थित करने की अतुल क्षमता है—और ये विवरण सर्वत्र अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण एवं सजीव होते हैं। इसका कारण है राहुलजी का अनुभव, जो विस्तृत पांडित्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्व

यहां स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इन उपन्यासों में ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्वों का परस्पर क्या अनुपात है। इस प्रश्न का उत्तर इतिहास के साधारण ज्ञान के आधार पर भी दिया जा सकता है। यद्यपि इनकी मुख्य कथावस्तु लिच्छवि और यौधेयों के गण-जीवन से सम्बन्धित है, परन्तु प्रामाणिक इतिहास का उपयोग वास्तव में उनके विरोधी राजकुलों के

मानने के लिए बाध्य करता है। पहले वह निर्ग्रन्थ-आचार्य महावीर का शिष्य होकर तप और अहिंसा का व्रत लेता है, पर उनसे मानसिक परितोष न पाकर अन्त में वह बुद्ध का अनुयायी हो जाता है और उनके बहुजनहिताय अनात्मवादी सिद्धान्तों में जीवन का समाधान प्राप्त करता है। 'जय यौधेय' यौधेय-कुमार है। जब सम्राट् समुद्रगुप्त ने यौधेयों को हराकर भी उनकी स्वतन्त्रता को थोड़ा-सा कर लेकर सम्मानपूर्वक उन्हें लौटा दिया और जय की बहन से विवाह कर उसे अपनी पट्टमहिषी बना लिया, तो गुप्त परिवार और यौधेय-गण में सैद्धान्तिक वैषम्य के होते हुए भी स्नेह-मैत्री स्थापित हो गयी। जय की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा पाटलीपुत्र के राजपरिवार में राजसी-ऐश्वर्य और वैभव के बीच होती है—परन्तु फिर भी उसके यौधेय-संस्कार इतने प्रबल हैं कि वह अपने व्यक्तित्व को उस वातावरण में लिप्त नहीं होने देता और आचार्य वसुबन्धु का संसर्ग प्राप्त करते ही अपने अस्तित्व और वैशिष्ट्य को पूर्णतः पहचान लेता है। शास्त्रीय शिक्षा में निष्णात होने के उपरान्त जय की यात्राएं आरम्भ हो जाती हैं—तक्षशिला की यात्रा तो वह पहले ही कर चुका था। अब हिमालय-उत्सव और उसके बाद सिंहल की सुदीर्घ यात्रा के लिए चल पड़ता है। सिंहल की यात्रा में उसे अनेक प्रकार के संघर्षों में होकर गुज़रना पड़ता है। पहले तो जहाज़ के टूट जाने से वह और उसका मित्र सिंहवर्मा तथा उसकी पत्नी शवर-पल्ली में जा पहुँचते हैं—शवर-पल्ली का जीवन मानवता की बाल्यावस्था का जीवन है जो कृत्रिम नागरिक सभ्यता और संस्कार से सर्वथा अस्पृष्ट है। यहां जय को एक नवीन जीवन-व्यवस्था का अध्ययन करने को मिलता है। यहीं श्यामा नाम की तरुणी से उसका विवाह होता है—परन्तु फिर कुछ ही दिन बाद उसे और उसके मित्रों को पल्ली छोड़ने को बाध्य होना पड़ता है। वहां से वह पिष्ठपुर और कांची होता हुआ सिंहल पहुँचता है और वहां जाकर अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार बौद्ध भिक्षु हो जाता है; पर भिक्षु होने का उसका उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक ही है। उसकी या यों कहिए कि उसके स्रष्टा राहुलजी की धारणा है कि बौद्ध विहारों की व्यवस्था और गणतन्त्र-विधान दोनों का घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है—अतएव जय गण-व्यवस्था का आन्तरिक ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ही बौद्ध भिक्षु बनता है। यहां उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर एक श्रेष्ठी तरुणी आत्म-समर्पण करती है, परन्तु मुक्त प्रेम में विश्वास करता हुआ भी वह मिथ्याचार से बचने के लिए उसे अस्वीकृत कर देता है। इसके उपरान्त वह सीधा प्रतिष्ठान पहुँचता है और वहां सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और उसकी नव-परिणीता महारानी ध्रुवस्वामिनी से भेंट करता है। यहां उसे विक्रमादित्य के मनसूबों को समझने का अवसर मिलता है जिससे वह यौधेय जाति के भविष्य की ओर सचेष्ट हो जाता है और अग्रोदका आकर तरुण यौधेय और यौधेयानियों की सहायता से गण-जीवन को सुसंगठित और व्यवस्थित करने में लग जाता है। कुछ दिन बाद ही चन्द्रगुप्त का आक्रमण होता है—जिसमें यौधेयों के नवीन उत्साह की विजय होती है और विक्रमादित्य की आकांक्षा अपूर्ण रह जाती है। इस विजय के पश्चात् यौधेयों का आत्म-विश्वास और भी बढ़ जाता है और अब वे सेनापति जय के संयोजन में नित्य नवीन प्रयोगों के द्वारा कर्मान्त वाणिज्य आदि का विकास तथा योग्य सन्तान उत्पन्न करते हुए अपनी गण-शक्ति का संगठन और संवर्धन करते हैं। जय भी एक वीर-यौधेय तरुणी वसुनन्दा से, जिसने युद्ध में उसकी सहायता की थी, विवाह कर लेता है और विजय, रिपुजय आदि वीर पुत्रों को गण की भेंट करता है। पर विक्रमादित्य की दृष्टि अभी इधर ही लगी हुई थी—उसने कालिदास को भेजकर जय को लोभ देने का भी प्रयत्न किया, परन्तु जब इस प्रकार सफलता न मिली तो अन्त में पूरी तैयारी के लिए यौधेयों पर आक्रमण कर दिया। जय अब पचास वर्ष का हो चुका था—उसके निरीक्षण में यौधेय युवक और युवतियों ने प्राणों की बाजी लगाकर आत्मरक्षा का प्रयत्न किया परन्तु प्रतापी गुप्त सम्राट् ने उसका पूर्णान्त ही कर दिया। इतिहास के पृष्ठ से ही वह महान् गणतन्त्र लुप्त हो गया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वर्णन में ही किया जा सकता था। 'सिंह सेनापति' में बिम्बसार और अजातशत्रु के व्यक्तित्व तथा उनका लिच्छवियों से युद्ध ही प्रामाणिक रूप से ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'जय यौधेय' में गुप्त वंश के मुख्य व्यक्ति समुद्रगुप्त, रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि तथा उनके जीवन की मुख्य घटनाएं ही प्रामाणिक हैं—आधिकारिक वस्तु में तो केवल यौधेयों का समुद्रगुप्त से युद्ध ही प्रामाणिक माना जा सकता है। शेष सम्पूर्ण विवरण ऐतिहासिक तथ्यों पर आश्रित न होकर ऐतिहासिक कल्पना पर ही आधारित है—यहां तक कि दोनों नायक सिंह और जय भी काल्पनिक व्यक्ति हैं। पर इसके अतिरिक्त चारा ही क्या था ? दो-चार सिक्कों और एक-आध प्रशस्ति में दिये हुए स्फुट उल्लेखों में सामग्री ही क्या मिल सकती थी—केवल संकेत ही मिल सकते थे और उन संकेतों का उपयोग लेखक ने अपने सम्पूर्ण कल्पना-वैभव की सहायता से किया है, इसमें सन्देह नहीं।

उपन्यास-कला

आज से तीन वर्ष पूर्व 'वोलगा से गंगा' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था कि राहुलजी के पास ऐश्वर्यमती कल्पना है, ऐतिहासिक सामग्री का अक्षय भाण्डार है, एकान्त स्वच्छ और निर्भ्रान्त जीवन-दर्शन है और सहस्रों वर्षों के व्यवधान के आर-पार देखने वाली तीव्र दृष्टि है, परन्तु कथा-शिल्प विशेष नहीं है। आज इन दोनों उपन्यासों का अध्ययन करते हुए मेरी यह धारणा और भी पुष्ट होती जाती है और मैं एक बार फिर उसी निर्णय को दुहराता हूं। इन उपन्यासों में औपन्यासिक घटना-विधान और चरित्र-चित्रण का बहुत-कुछ अभाव-सा ही है—राहुलजी न तो आकर्षक नाटकीय परिस्थितियों की सृष्टि कर सके हैं और न चारित्रिक द्वन्द्वों की उद्भावना ही। यह बात नहीं है कि इन घटनाओं में नाट्य-तत्त्व नहीं है अथवा पात्रों के जीवन में संघर्ष नहीं है। उदाहरण के लिए 'जय यौधेय' की कथावस्तु और उसके व्यक्तित्व में परिस्थिति और चरित्र दोनों के निर्माण की यथेष्ट सम्भावना है, परन्तु राहुलजी इससे यथोचित लाभ नहीं उठा सके। और उसका कारण है, वह यह कि राहुलजी की दृष्टि प्रतिपाद्य और इतिहास पर ही केन्द्रित रही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का धैर्य उनमें नहीं है। उनकी घटनाओं की गतिविधि और पात्रों का चरित्र-विकास प्रतिपाद्य के अनुसार पहले से ही इतने स्पष्ट रूप में निर्धारित हो जाते हैं कि द्वन्द्व उत्पन्न ही नहीं हो पाता। सिंह और जय दोनों के व्यक्तित्व-विकास की रेखाएं एकदम सीधी हैं, उनका बहिर्मुखी जीवन सर्वथा स्वस्थ है, उनमें प्राणवत्ता है। स्रष्टा के महाप्राण जीवन की शक्ति और स्वास्थ्य उनमें साफ़ दिखायी पड़ता है। जय के चरित्र में तो अन्तर की विभूतियां भी पर्याप्त मात्रा में हैं, फिर भी हम अनुभव करते हैं कि उपर्युक्त सभी विशेषताएं होने पर भी वह हमारे हृदय को बहुत गहरे में जाकर नहीं पकड़ता जैसा कि होरी, सूरदास, शेखर या जैनेन्द्र, यशपाल अथवा इलाचन्द्र के सफल नारी पात्र करते हैं। नारी पात्रों में 'सिंह सेनापति' की रोहिणी और क्षेमा 'जय यौधेय' की वासन्ती व सुनन्दा एक ही साँचे में ढली हुई हैं। भामा और नन्दा में तीखापन और ज़्यादा है। उनका चित्रण देखकर अमरीकी सैनिकों द्वारा किये हुए रूसी स्त्रियों के वर्णन का स्मरण हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राहुलजी की कला सृजनात्मक होने की अपेक्षा विवरणात्मक ही अधिक है। उनमें विवरण उपस्थित करने की अतुल क्षमता है—और ये विवरण सर्वत्र अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण एवं सजीव होते हैं। इसका कारण है राहुलजी का अनुभव, जो विस्तृत पांडित्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तथा देश-विदेश की यात्राओं से समृद्ध और परिपुष्ट है। मैं समझता हूं जीवन का ऐसा चित्र-विचित्र अनुभव किसी एक व्यक्ति के लिए दुःसाध्य-सा ही है। इन उपन्यासों की वास्तविक महिमा अतीत भारत के सजीव चित्र उपस्थित करने में है—मौर्य और गुप्तकालीन भारत की सामाजिक अवस्थाओं का इतना विस्तृत वर्णन किसी इतिहास-ग्रन्थ में भी नहीं मिलेगा। परन्तु इतिहास की दृष्टि से वह कितना प्रामाणिक है इसका निर्णय कोई अधिकारी विशेषज्ञ ही कर सकता है। मैं तो यही स्वीकार कर सकता हूं कि वह अत्यन्त रोचक, सजीव और ज्ञानवर्धक है। हां, इतना अवश्य है कि उसके सम्बन्ध में अनेक सन्देह मेरे मन में अनिवार्यतः उठते हैं : क्या उस समय मांस और मदिरा का इतना ही अधिक प्रचार था ? क्या चन्द्रगुप्त आदि यशस्वी राजा और उनके विद्वान् पुरोहित ऐसे ही धूर्त थे जैसे कि राहुलजी ने अंकित किये हैं ? क्या गणतन्त्र वास्तव में ही इतने सुव्यवस्थित थे—उनके कर्मान्ति आदि भी क्या ऐसे ही सम्मिलित थे—इन गणों में वर्ण-भेद क्या एकदम नहीं था ? क्या आधुनिक सोवियत-विधान का उस युग के इतिहास पर आरोप नहीं किया गया ?

इन सबका सप्रमाण उत्तर तो मैं नहीं दे सकता—पर ऐसी धारणा अवश्य बनती है कि राहुलजी को अपने प्रतिपाद्य के प्रति इतना उत्कट आग्रह रहता है कि वे उसके अनुकूल तथ्यों को मोड़ने में संकोच नहीं करते—उनके विषयों में प्रायः जल्दबाज़ी रहती है।

इसके अतिरिक्त कुछ बातें तो निस्संदेह ही आपत्तिजनक हैं—उदाहरण के लिए जिस उदारता से राहुलजी के पात्र एक-दूसरे पर चुम्बनों की बौछारें करते हैं वह अनैतिक न भी मानी जाय, परन्तु अभद्र अवश्य है—वास्तव में रस की उद्भावना करने का यह सस्ता उपाय इतने असंयम के साथ व्यवहृत किया गया है कि उससे अरुचि होने लगती है—इसी तरह एक जगह जोश में आकर नन्दा कहती है—"चाहे तो मेरी टांग के भीतर से जाओ या मुझे हराकर जाओ।" महावीर स्वामी और उनके उपदेशों का जो खाका खींचा गया है, उसमें स्पष्ट ही पर-धर्म-विद्वेष की गंध आती है।

जीवन-दर्शन

इन उपन्यासों का प्रतिपाद्य जीवन-दर्शन स्पष्ट रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। उसमें आत्मा, परलोक, ब्रह्म आदि आध्यात्मिक तत्त्वों का तीव्र निषेध करते हुए भौतिकवाद की प्रतिष्ठा है। त्याग, वैराग्य आदि काल्पनिक सुख-साधनों का तिरस्कार करते हुए स्वस्थ जीवन-उपभोग की स्वीकृति है। वैयक्तिक जीवन के ऊपर सामूहिक जीवन की सफलता का दिग्दर्शन है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार राहुलजी राजतन्त्र और अध्यात्मवाद दोनों को एक ही सिद्धान्त की दो अभिव्यक्तियां मानते हैं—और स्पष्ट शब्दों में—उनकी धारणा है कि अध्यात्म की कल्पना राज-सत्ता को स्थिर रखने के लिए ही की गयी है। निदान इन दोनों के विरुद्ध उनके संस्कार घोर विद्रोह कर उठते हैं। उनके सभी ग्रन्थों की तरह प्रस्तुत उपन्यासों में भी इन दोनों का कठोर प्रतिवाद किया गया है। राजा के लिए प्रायः रजुल्ला शब्द का प्रयोग इस घृणा का प्रमाण है। कुछ तो अन्तर में पड़े हुए संस्कारों के कारण और कुछ इसलिए भी कि उसका विधान गणतन्त्रात्मक है, राहुलजी के मन में बौद्ध धर्म के प्रति अब भी आस्था वर्तमान है। 'सिंह सेनापति' का नायक अन्त में बुद्ध और संघ की शरण में चला जाता है। 'जय यौधेय' में इस प्रकार की स्वीकृति तो नहीं है, परन्तु बुद्ध के अनात्मवाद और परिवर्तनवाद आदि का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनेक स्थानों पर गौरव-गान करते हुए लेखक ने अपने जीवन-दर्शन की पुष्टि की है। यह कहां तक संगत है? अर्थात् राहुलजी का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और बुद्ध-प्रतिपादित अनात्मवाद कहां तक समान हैं? इस बात का अधिकारपूर्वक निर्णय तो कोई बौद्ध पंडित ही कर सकता है, परन्तु धम्मपद का जो प्रचलित संस्करण आज उपलब्ध है, उसमें परलोकवाद का साधारण अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ में ही स्पष्ट प्रयोग है।

इसके प्रतिकूल राहुलजी ने परलोकवाद की सर्वथा भौतिक व्याख्या की है। "मैं केवल 'बहुजनहिताय' काम को मानता हूं—परलोकवाद को केवल एक ही रूप में मानता हूं—पुत्र पिता का परलोक है, पुत्र पिता का पुनर्जन्म है, पिता मरने से पहले अपने शरीर द्वारा अपने मानसिक और शारीरिक संस्कार का एक अंश माता के शरीर में स्थापित करता है। माता उसमें अपना अंश मिलाती है और नौ मास गर्भ में रख उसे शिशु के रूप में अगले लोक, अगली पीढ़ी के लिए देती है। इसे मैं परलोक मानता हूं।"—इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण और बौद्ध आचार्य आज भी अनेक सबल युक्तियों द्वारा उपर्युक्त व्याख्यान का खंडन करने को प्रस्तुत हो जाएंगे। परन्तु इसमें भी एक विशेष संगति है, यह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। यह व्याख्यान भी अपने ढंग से सटीक और मनोग्राही है। और, आज के वैज्ञानिक युग में अधिक ग्राह्य भी हो सकता है।

उपसंहार

अन्त में दो बात और कह दूं। एक तो यह कि औपन्यासिक कला की न्यूनता होते हुए भी राहुलजी के ये दोनों ग्रंथ (विशेषकर 'जय यौधेय') हिन्दी के कथा-साहित्य में निश्चय ही एक विशेष गौरव के भागी होंगे। राहुलजी अपनी कमी को जानते मालूम पड़ते हैं और धीरे-धीरे वे इस कला का भी अर्जन कर रहे हैं—'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' का अन्तर इसका असंदिग्ध प्रमाण है। दूसरी यह कि हिन्दी की भाषा-शैली के विकास में इन उपन्यासों का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतीत के सांस्कृतिक ऐश्वर्य को अभिव्यक्त करने के लिए जिस समृद्ध और समर्थ शब्दावली का प्रयोग स्वर्गीय प्रसादजी ने अपने नाटकों में आरम्भ किया था, राहुलजी ने उसकी और भी अधिक श्रीवृद्धि की है। वास्तव में इस क्षेत्र पर उनका अधिकार प्रसादजी की अपेक्षा अधिक व्यापक है। वोट के लिए छन्द, बन्दरगाह के लिए पत्तन या तीर्थ, खेती के लिए कर्मान्त आदि कितने समर्थ शब्द हैं। इसी प्रकार आज की राजनीति और भौगोलिक शब्दावली के भी प्राचीन पर्याय देकर एक बहुत बड़ी क्षति की पूर्ति की गयी है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'वोल्गा से गंगा' और 'बिल्लेसुर बकरिहा'

आज की दो पुस्तकें हैं—'वोलगा से गंगा' : राहुल सांकृत्यायन की कहानियों का संग्रह; 'बिल्लेसुर बकरिहा' निरालाजी का रचा हुआ एक हास्यमय स्केच। इन दोनों पुस्तकों में प्रकार और मूल विषय का कोई साम्य नहीं है; परन्तु दोनों हिन्दी में अपने-अपने ढंग के दो नये प्रयत्न हैं।

'वोलगा से गंगा' में मानव-जीवन के सामाजिक विकास का इतिहास है। राहुलजी के शब्दों में : मानव आज जहां है वहां वह प्रारम्भ में ही नहीं पहुँच गया था, इसके लिए उसे बड़े-बड़े संघर्षों में होकर गुज़रना पड़ा है। विवेचन को बोधगम्य और सहज-ग्राह्य बनाने के लिए उन्होंने हिन्दी-यूरोपीय जाति के इतिहास को चुना है।

पिछले ८००० वर्षों में, ईसा से ६००० वर्ष पूर्व से लेकर जब मानव वोल्गा के किनारे पर्वत-गुहा में अपने सहचर पशुओं के समान ही रहा करता था, आज तक अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए उसने जो संघर्ष किये हैं, उन सभी का इस पुस्तक में सरल और रोचक चित्रण है। इस पुस्तक का मूल विषय मानवशास्त्र और समाजशास्त्र है। जहां तक मूल विषय का संबंध है, कोई विशेषज्ञ ही उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता का विचार करने का अधिकारी हो सकता है। मुझ-जैसा व्यक्ति, जिसने ललित साहित्य की मधुर सीमा-रेखा से बाहर झाँककर यदा-कदा ही देखा है, उसके कुछ तथ्यों पर संदेह-चकित होकर शंका ही उपस्थित कर सकता है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि-रामायण का रचना-काल ही ले लीजिए। विद्वान् लेखक ने उसे अश्वघोष से कुछ पहले शुंग-वंश के शासन-काल की रचना माना है। परन्तु आदि काव्य से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण परम्परा के विरुद्ध उनके पास कोई प्रमाण नहीं है, केवल एक क्षीण अनुमान-भर है : 'कोई ताज्जुब नहीं, कवि वाल्मीकि शुंग-वंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के; और शुंग-वंश की राजधानी की महिमा को बढ़ाने के लिए ही उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या कर दी, और राम के रूप में शुंग-सम्राट् पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की; वैसे ही, जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' के रघु और 'कुमारसम्भव' के कुमार के नाम से पिता-पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की।'—इसी प्रकार भारतीय नाटक को यवन-प्रभाव की सृष्टि घोषित करना एक बड़ी पुरानी बात को दुहराना है, जो आज सर्वथा अमान्य प्रमाणित हो चुकी है। सबसे अधिक अविश्वसनीय है राहुलजी का धर्म-विषयक सिद्धान्त कि 'धर्म केवल परधन-अपहारकों को शान्ति से परधन उपभोग करने का अवसर देने के लिए है।' धर्म के कारण शोषक की शक्ति बढ़ गयी है और शोषित लाचार हो गया है, ऐसा मान लेने पर भी, शोषक-वर्ग ने अथवा शोषक-वर्ग के सहायकों ने जान-बूझकर धार्मिक दर्शन का समय-समय पर आविष्कार किया है, यह मानना तो सर्वथा असम्भव है। सामाजिक अवस्था के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धर्म और दर्शन का विकास हुआ—इसे मानने से कौन इन्कार करेगा ! वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं हैं वरन् एक काल-विशेष की रचना हैं, जिनमें तत्कालीन राजाओं का यशोगान है—ठीक है। यह भी माना जा सकता है कि विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि ऋषियों की इन ऋचाओं ने सम-सामयिक राजाओं को शक्ति-संचय में सहायता दी हो, और इन ऋषियों ने अपना स्वार्थ साधने के लिए ऐसा किया हो; परन्तु वेद की सभी ऋचाओं के पीछे ऐसी ही कुत्सित प्रेरणा है, यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। प्रकृति के स्वर्गिक सौन्दर्य को देखकर वन के उन्मुक्त वातावरण में निवास करने वाले ऋषियों की जो वाणी विस्मय और आनन्द से विभोर हो नाच उठी थी, उसको एक साथ ही स्वार्थ से प्रेरित कह देना अनुचित है। इसी प्रकार प्रवाहण ने अपने शोषण-कार्य को निर्विघ्न चलाते रहने के लिए उपनिषद् (असली) रहस्य की उद्भावना की—यह भी अमान्य है। प्रवाहण कहता है —

"पीढ़ियों से किसी ने इन्द्र, वरुण, ब्रह्म को नहीं देखा। अब कितनों के मन में सन्देह होने लगा है !"

"ब्रह्म का स्वरूप मैंने ऐसा वतलाया है कि कोई उसके देखने की माँग नहीं पेश करेगा। जो आकाश की भाँति देखने-सुनने का विषय नहीं, जो यहां-वहां सर्वत्र है, उसके देखने का सवाल कैसे उठ सकता है ! सवाल तो उन साकार देवताओं के बारे में उठता था।"

"वसिष्ठ और विश्वामित्र की नाव ने हज़ार वर्ष भी काम नहीं दिया; किन्तु जिस नाव को प्रवाहण तैयार कर रहा है, वह दो हज़ार वर्ष आगे तक राजाओं और सामन्तों, पर-धन-भोगियों को पार उतारती रहेगी। यज्ञ-रूपी नाव को, लोपा, मैंने अदृढ़ समझा। इसीलिए इस दृढ़ नाव को तैयार किया है, जिसे ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल कर ठीक से इस्तेमाल करते हुए ऐश्वर्य भोगते रहेंगे।"

यह स्वभावतः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने वाले मानव-ज्ञान का स्पष्ट शब्दों में अप-मान है। यज्ञों की प्रतिष्ठा करने वाले वेद एक युग की सामाजिक अवस्था की अभिव्यक्ति थे; ब्रह्म की सूक्ष्म सत्ता का निदर्शन करने वाले उपनिषद् दूसरे की—यह तो एक सहज सत्य है; लेकिन दोनों का सृजन शोषक-वर्ग की सहायता करने के लिए हुआ था, यह एक वितण्डा-मात्र है। अज्ञात के प्रति किसी-न-किसी रूप में मानव को सदैव ही जिज्ञासा रही है—और ब्रह्म-ज्ञान का इतिहास इसी जिज्ञासा का आलेखन है। वास्तव में यह एक विशिष्ट दृष्टिकोण के प्रति आग्रह के कारण हुआ है। राहुलजी निश्चित रूप से यह मानते हैं कि जो शक्तियां जनता के साथ रही हैं वे समाज की प्रगति का कारण हुई हैं; और जो व्यक्ति या व्यक्तियों की पोषक रही हैं वे सदैव ही प्रतिक्रिया के लिए उत्तरदायी रही हैं और इसी को लेकर उन्होंने अपने सामाजिक इतिहास की रूप-रेखा आँकी है। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि एक विशेष जीवन-दर्शन के प्रति आग्रह होने के कारण उनका विवेचन भी कुछ अंशों में एकांगी और अवैज्ञानिक हो गया है। एक आश्चर्य की बात यह है कि धर्म का इतना घोर विरोध करने वाले राहुलजी के सामने जब बौद्ध धर्म का प्रसंग आता है तो उनकी आलोचना सर्वथा शिथिल पड़ जाती है। बौद्ध-धर्म के अनीश्वरवाद और अनात्मवाद को ही लेकर उसको प्रगतिशील संस्था मान लेना काफ़ी नहीं होगा। यह ठीक है कि आरम्भ में उसने जनता से बल प्राप्त किया था, परन्तु फिर भी उसके घोर प्रतिक्रियात्मक प्रभावों को तो इतिहास आज भी गला फाड़-फाड़ कर घोषित कर रहा है। यह लेखक पर संस्कारों का प्रभाव है जो प्रायः शिक्षा और सिद्धान्त का तिरस्कार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'वोल्गा से गंगा' और 'बिल्लेसुर बकरिहा'

आज की दो पुस्तकें हैं—'वोल्गा से गंगा' : राहुल सांकृत्यायन की कहानियों का संग्रह; 'बिल्लेसुर बकरिहा' निरालाजी का रचा हुआ एक हास्यमय स्केच। इन दोनों पुस्तकों में प्रकार और मूल विषय का कोई साम्य नहीं है; परन्तु दोनों हिन्दी में अपने-अपने ढंग के दो नये प्रयत्न हैं।

'वोल्गा से गंगा' में मानव-जीवन के सामाजिक विकास का इतिहास है। राहुलजी के शब्दों में : मानव आज जहां है वहां वह प्रारम्भ में ही नहीं पहुँच गया था, इसके लिए उसे बड़े-बड़े संघर्षों में होकर गुज़रना पड़ा है। विवेचन को बोधगम्य और सहज-ग्राह्य बनाने के लिए उन्होंने हिन्दी-यूरोपीय जाति के इतिहास को चुना है।

पिछले ८००० वर्षों में, ईसा से ६००० वर्ष पूर्व से लेकर जब मानव वोल्गा के किनारे पर्वत-गुहा में अपने सहचर पशुओं के समान ही रहा करता था, आज तक अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए उसने जो संघर्ष किये हैं, उन सभी का इस पुस्तक में सरल और रोचक चित्रण है। इस पुस्तक का मूल विषय मानवशास्त्र और समाजशास्त्र है। जहां तक मूल विषय का संबंध है, कोई विशेषज्ञ ही उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता का विचार करने का अधिकारी हो सकता है। मुझ-जैसा व्यक्ति, जिसने ललित साहित्य की मधुर सीमा-रेखा से बाहर झांककर यदा-कदा ही देखा है, उसके कुछ तथ्यों पर संदेह-चकित होकर शंका ही उपस्थित कर सकता है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि-रामायण का रचना-काल ही ले लीजिए। विद्वान् लेखक ने उसे अश्वघोष से कुछ पहले शुंग-वंश के शासन-काल की रचना माना है। परन्तु आदि काव्य से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण परम्परा के विरुद्ध उनके पास कोई प्रमाण नहीं है, केवल एक क्षीण अनुमान-भर है : 'कोई ताज्जुब नहीं, कवि वाल्मीकि शुंग-वंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के; और शुंग-वंश की राजधानी की महिमा को बढ़ाने के लिए ही उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या कर दी, और राम के रूप में शुंग-सम्राट् पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की; वैसे ही, जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' के रघु और 'कुमारसम्भव' के कुमार के नाम से पिता-पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की।'—इसी प्रकार भारतीय नाटक को यवन-प्रभाव की सृष्टि घोषित करना एक बड़ी पुरानी बात को दुहराना है, जो आज सर्वथा अमान्य प्रमाणित हो चुकी है। सबसे अधिक अविश्वसनीय है राहुलजी का धर्म-विषयक सिद्धान्त कि 'धर्म केवल परधन-अपहारकों को शान्ति से परधन उपभोग करने का अवसर देने के लिए है।' धर्म के कारण शोषक की शक्ति बढ़ गयी है और शोषित लाचार हो गया है, ऐसा मान लेने पर भी, शोषक-वर्ग ने अथवा शोषक-वर्ग के सहायकों ने जान-बूझकर धार्मिक दर्शन का समय-समय पर आविष्कार किया है, यह मानना तो सर्वथा असम्भव है। सामाजिक अवस्था के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धर्म और दर्शन का विकास हुआ—इसे मानने से कौन इन्कार करेगा ! वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं हैं बरन् एक काल-विशेष की रचना हैं, जिनमें तत्कालीन राजाओं का यशोगान है—ठीक है। यह भी माना जा सकता है कि विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि ऋषियों की इन ऋचाओं ने सम-सामयिक राजाओं को शक्ति-संचय में सहायता दी हो, और इन ऋषियों ने अपना स्वार्थ साधने के लिए ऐसा किया हो; परन्तु वेद की सभी ऋचाओं के पीछे ऐसी ही कुत्सित प्रेरणा है, यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। प्रकृति के स्वर्गिक सौन्दर्य को देखकर वन के उन्मुक्त वातावरण में निवास करने वाले ऋषियों की जो वाणी विस्मय और आनन्द से विभोर हो नाच उठी थी, उसको एक साथ ही स्वार्थ से प्रेरित कह देना अनुचित है। इसी प्रकार प्रवाहण ने अपने शोषण-कार्य को निर्विघ्न चलाते रहने के लिए उपनिषद् (असली) रहस्य की उद्भावना की—यह भी अमान्य है। प्रवाहण कहता है—

"पीढ़ियों से किसी ने इन्द्र, वरुण, ब्रह्म को नहीं देखा। अब कितनों के मन में सन्देह होने लगा है !"

"ब्रह्म का स्वरूप मैंने ऐसा बतलाया है कि कोई उसके देखने की माँग नहीं पेश करेगा। जो आकाश की भाँति देखने-सुनने का विषय नहीं, जो यहां-वहां सर्वत्र है, उसके देखने का सवाल कैसे उठ सकता है ! सवाल तो उन साकार देवताओं के बारे में उठता था।"

"वसिष्ठ और विश्वामित्र की नाव ने हज़ार वर्ष भी काम नहीं दिया; किन्तु जिस नाव को प्रवाहण तैयार कर रहा है, वह दो हज़ार वर्ष आगे तक राजाओं और सामन्तों, पर-धन-भोगियों को पार उतारती रहेगी। यज्ञ-रूपी नाव को, लोपा, मैंने अदृढ़ समझा। इसीलिए इस दृढ़ नाव को तैयार किया है, जिसे ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल कर ठीक से इस्तेमाल करते हुए ऐश्वर्य भोगते रहेंगे।"

यह स्वभावतः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने वाले मानव-ज्ञान का स्पष्ट शब्दों में अप-मान है। यज्ञों की प्रतिष्ठा करने वाले वेद एक युग की सामाजिक अवस्था की अभिव्यक्ति थे; ब्रह्म की सूक्ष्म सत्ता का निदर्शन करने वाले उपनिषद् दूसरे की—यह तो एक सहज सत्य है; लेकिन दोनों का सृजन शोषक-वर्ग की सहायता करने के लिए हुआ था, यह एक वितण्डा-मात्र है। अज्ञात के प्रति किसी-न-किसी रूप में मानव को सदैव ही जिज्ञासा रही है—और ब्रह्म-ज्ञान का इतिहास इसी जिज्ञासा का आलेखन है। वास्तव में यह एक विशिष्ट दृष्टिकोण के प्रति आग्रह के कारण हुआ है। राहुलजी निश्चित रूप से यह मानते हैं कि जो शक्तियां जनता के साथ रही हैं वे समाज की प्रगति का कारण हुई हैं; और जो व्यक्ति या व्यक्तियों की पोषक रही हैं वे सदैव ही प्रतिक्रिया के लिए उत्तरदायी रही हैं और इसी को लेकर उन्होंने अपने सामाजिक इतिहास की रूप-रेखा आँकी है। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि एक विशेष जीवन-दर्शन के प्रति आग्रह होने के कारण उनका विवेचन भी कुछ अंशों में एकांगी और अवैज्ञानिक हो गया है। एक आश्चर्य की बात यह है कि धर्म का इतना घोर विरोध करने वाले राहुलजी के सामने जब बौद्ध धर्म का प्रसंग आता है तो उनकी आलोचना सर्वथा शिथिल पड़ जाती है। बौद्ध-धर्म के अनीश्वरवाद और अनात्मवाद को ही लेकर उसको प्रगतिशील संस्था मान लेना काफ़ी नहीं होगा। यह ठीक है कि आरम्भ में उसने जनता से बल प्राप्त किया था, परन्तु फिर भी उसके घोर प्रतिक्रियात्मक प्रभावों को तो इतिहास आज भी गला फाड़-फाड़ कर घोषित कर रहा है। यह लेखक पर संस्कारों का प्रभाव है जो प्रायः शिक्षा और सिद्धान्त का तिरस्कार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कर अपना अस्तित्व प्रमाणित करते हैं।

परन्तु यह तो इस पुस्तक का गौण पक्ष है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है लेखक का व्यापक दृष्टि-विस्तार, जो ८००० वर्ष तक प्रसरित मानव-जीवन के इतिहास का पूरी तरह साक्षात्कार कर उसको हमारे मानस के सामने प्रत्यक्ष कर सका। इतने विस्तृत देश-काल पर समग्रत: अधिकार रखने वाली दृष्टि हिन्दी के एक-आध विद्वान् को ही प्राप्त होगी। और गौरव की बात यह है कि वह कहीं भी उलझी नहीं है—मानव-जीवन के विकास में पड़ने वाले भिन्न-भिन्न संस्थानों पर ठहरती हुई बड़ी सफ़ाई के साथ १९४२ पर आकर ही रुकी है। इस दृष्टि-विस्तार को सहायता मिली है लेखक के व्यापक पांडित्य से। पुरातत्त्व, मानवशास्त्र, समाज-शास्त्र, दर्शन, साहित्य और इतिहास के विस्तृत पर्यालोचन के बिना यह सब सम्भव नहीं था। लेखक की सृजन-शक्ति का परिचय वातावरण की सृष्टि से भी मिलता है। इतिहास के प्रस्तर-खण्डों को बड़े कौशल से जोड़ कर उसने प्रत्येक युग के वातावरण की सजीव सृष्टि की है। इस दृष्टि से प्रागैतिहासिक-काल की कहानियां तो सचमुच अद्भुत हैं। वातावरण की सृष्टि के लिए लेखक ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सफल चित्रण करने के अतिरिक्त उनके अनुकूल प्रकृति-चित्रों का भी अंकन किया है। ये चित्र अत्यन्त सजीव और वैज्ञानिक हैं; इनकी रेखाएं अत्यन्त पुष्ट हैं और रंग अत्यन्त मनोरम। निशा और दिवा की कथाओं में वोल्गा-तट के तुषारमण्डित विभिन्न प्रदेशों के वर्णन चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त भाषा का प्रयोग भी देश-काल के अनुसार किया गया है—आदिम-युग का मानव पूरे वाक्य नहीं बोलता। पूरक संज्ञाएं उसकी भाषा में नहीं हैं। वैदिक काल का मानव जो भाषा बोलता है उसमें वैदिक संस्कृत की शब्दावली की प्रचुरता है। मुसलमानों के आगमन के बाद भाषा में अरबी-फ़ारसी का पुट आने लगता है। इसी प्रकार काफ़ी सावधानी से वातावरण को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

यह सब होते हुए भी 'वोल्गा से गंगा' की रोचकता सीमित-सी रहती यदि इन कहानियों में शुष्क इतिहास-मात्र होता। परन्तु राहुलजी ने स्थान-स्थान पर मानवीय तत्त्व का आरोप कर इन कथाओं में रक्त और मांस भरने का प्रयत्न भी किया है, जिससे वे हृदयग्राही हो गयी हैं। हां, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि ऐतिहासिक तथ्यों में मानवीय रंग भरने का राहुलजी के पास केवल एक ही साधन है—सेक्स, जिसका प्रयोग बार-बार दुहराया गया है। प्रत्येक युग के जीवन-नाटक के सूत्रधार-रूप में कोई एक प्रेमी-प्रेमिका ही रंगमंच पर अवतरित होते हैं, और कहानी के मध्य में उनकी प्रगाढ़ प्रेम-क्रीड़ाएं, विशेषकर चुम्बनों की बौछारें, और अन्त में किसी-न-किसी रूप में उनका अनन्त जीवन में लय हो जाना—घटना-चक्र में रस-संचार करता है। कहानी-कला की दृष्टि से 'वोल्गा से गंगा' के अधिकांश प्रयत्न असफल हैं। विशेष रूप में सुदास, और साधारणत: नागदत्त तथा सुरैया को छोड़कर शेष कोई भी प्रसंग कहानी के गौरव का अधिकारी नहीं है। उनमें घटनाओं या मनोवृत्तियों के उत्थान-पतन का सर्वथा अभाव है—चरम स्थिति का कहीं भी पता नहीं है। और उसके लिए पुरातत्त्व के एक विद्वान् को दोषी ठहराना भी अनुचित होगा।

कुल मिलाकर 'वोल्गा से गंगा' हिन्दी-साहित्य के लिए एक नवीन उपहार है। युग-युग तक प्रसरित मानव-जीवन की अनंतता के आर-पार झांकने वाली राहुलजी की दृष्टि हिन्दी के लिए एक वरदान है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आज की दूसरी पुस्तक है निरालाजी की 'बिल्लेसुर बकरिहा'। 'बिल्लेसुर बकरिहा' निरालाजी के शब्दों में हास्य लिये एक स्केच है। इसका हीरो—और उसमें एक ही व्यक्ति है, भी एक साधारण मनुष्य है—उसके जीवन-वृत्त में किसी प्रकार का रंग-रोमांस या किसी प्रकार की भी असाधारणता नहीं है। उसके चरित्र की विशेषता ही सचमुच यही है कि उसमें बाहर से आकृष्ट करने वाली कोई भी विशेषता नहीं है; उसकी तस्वीर में एक भी रंग अच्छा या बुरा ऐसा नहीं है जो चटकीलेपन से आपको आकृष्ट करता हो। अतएव उसमें रस ढूंढ़ने के लिए आपको थोड़ा गहरा घुसना पड़ेगा, और मानव के अपने सहज-सामान्य रूप में दिलचस्पी पैदा करनी होगी। तब आपको बिल्लेसुर के व्यक्तित्व में एक आकर्षण मिलेगा। उसके चरित्र की सबसे बड़ी क्षमता यही है कि उसने जीवन को निर्विवाद रूप में एक संघर्ष मान लिया है, अतएव वह धीरतापूर्वक उसकी चोटों को, उसके उतार-चढ़ाव को सहते हुए आगे बढ़ते रहने की शक्ति रखता है। उसे जीवन के प्रति निर्जीव मोह नहीं है; वह तो निर्भ्रान्ति होकर बिना किसी प्रकार की हड़बड़ी या अधीरता के रचनात्मक शक्तियों का उपयोग करता हुआ प्रगति के पथ पर अग्रसर है। बाधाएं आती हैं, उसको तकलीफ़ होती है; परन्तु विचलित होकर हार बैठने की बात उसके मन में कभी नहीं आती। वह धैर्यपूर्वक उसको जीवन का एक अनिवार्य अनुभव मानकर फिर आगे बढ़ जाता है। और इसीलिए जीवन में एकाकी होकर भी वह व्यक्तिवादी नहीं है। गाँव के उपहास और उपेक्षा का पात्र होकर भी वह यही सोचता है:

"क्यों एक-दूसरे के लिए नहीं खड़ा होता ! जवाब कभी कुछ नहीं मिला। फिर भी जान रहते काम करना पड़ता है, यह सच है।"

बिल्लेसुर के व्यक्तित्व का मूल्यांकन लेखक ने स्वयं ही बड़े सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में किया है। सुनिए :

"हमारे सुकरात के ज़बान न थी, पर इसकी फ़िलासफ़ी लचर न थी। सिर्फ़ कोई इसकी सुनता न था; इसे भूल-भुलैया से निकलने का रास्ता नहीं दिखा, इसलिए यह भटकता रहा।"

इस प्रकार का निर्विशेष स्केच इतना सफल और रोचक किस प्रकार बन सका, यह प्रश्न उठता है। वास्तव में व्यक्तित्व-चित्रण की सफलता का रहस्य उसकी सचाई और यथा-तथ्यता है। निराला वैसे तो छायावादी होने के नाते घोर व्यक्तिपरक कविताएं लिखते रहे हैं, परन्तु उनकी साहित्यिक प्रतिभा इतनी समर्थ है कि वह एक साथ ही दो सर्वथा विरोधी दृष्टि-कोणों को ग्रहण कर अत्यन्त सफल रचना कर सकते हैं। परस्पर-विरोधी तत्त्वों पर इतना सबल अधिकार आज हिन्दी के दूसरे साहित्यकार को प्राप्त नहीं है। उनके गीत जहां शुद्ध भावगत हैं, वहां उनके स्केच और कहानियों में स्वच्छ वस्तुगत दृष्टिकोण मिलता है। प्रस्तुत स्केच की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य है लेखक की एकांत तटस्थता। लेखक ने जिस कौशल के साथ अपनी सहानुभूति को संयत रखा है, वह वास्तव में आश्चर्यजनक है; कहीं पर भी उसने अपनी तस्वीर के रंगों को भड़कीला नहीं होने दिया। प्रगति की ओर झुका हुआ होने पर भी लेखक न कहीं जीवन के संघर्ष का उद्घोष करता है, न कहीं बिल्लेसुर की रचनात्मक शक्तियों अथवा उसकी सामाजिक फ़िलासफ़ी का प्रचार करता है, और न कहीं शोषक-वर्ग का काला चित्र खींचकर शोषित-वर्ग के इस प्राणी के लिए करुणा का ही संचार कराता है। इन सभी तत्त्वों को उसने बड़े सहज ढंग से अप्रत्यक्ष रूप में बिल्लेसुर के व्यक्तित्व में ही समन्वित किया

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है। व्यक्ति का सच्चा चित्रण अव्यक्तिगत शैली से ही हो सकता है; चित्रकार को अपना व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् रखना पड़ेगा, तभी वह ईमानदारी से उसका मूल्यांकन कर सकेगा। और सचमुच निरालाजी ने यह सब-कुछ इतनी सावधानी से किया है कि कहीं उसमें गढ़ने या दिशा-विशेष में ढालने की कोशिश नज़र नहीं आती। उसका अन्त भी सहज रूप में, रूढ़ शब्दावली में, अन्तहीन अन्त के ढंग पर, होता है। और, इसके लिए एक विशेष कलात्मक संयम की आवश्यकता है जो कला को आत्म-गोपन की शक्ति प्रदान करता है।

फिर भी, पुस्तक की सफलता का सम्पूर्ण श्रेय तटस्थता को ही दे देना ग़लत होगा। उसके लिए निरालाजी का हास्य भी बहुत कुछ उत्तरदायी है; रोचकता तो स्पष्ट रूप से बहुत-कुछ हास्य के ही आश्रित है। और वैसे भी, हास्य तटस्थता से सर्वथा भिन्न अथवा असम्बद्ध तत्त्व भी नहीं है। वह उसका एक आवश्यक उपकरण है; बिना हास्य के तटस्थता आ ही नहीं सकती। जीवन में वे लोग ही स्वस्थ रूप से तटस्थ कहे जा सकते हैं जो जीवन की विषमताओं पर हँसने की क्षमता रखते हैं। विदेश में रस के दो मुख्य भेद माने गये हैं—करुण और हास्य। करुण हमारे दृष्टिकोण को वैयक्तिक बनाकर हमें आलम्बन की ओर आकृष्ट करता है; हास्य उसे निर्वैयक्तिक बनाकर आलम्बन से पृथक् रहने का अवसर देता है। दृष्टिकोण की तटस्थता के कारण ही इस रचना का हास्य न तो बारीक और संस्कृत ही बन पाया है, और न उसमें व्यंग्य या वक्रता की तीखी धार ही है। वह सर्वथा स्पष्ट और उन्मुक्त है; उसमें न किसी प्रकार की ग्रंथि है और न बात को दबा-छिपाकर बारीकी और मुलायमियत लाने की कोशिश है।

इसके साथ ही हास्य यहां साधन बनकर प्रयुक्त हुआ है, साध्य बनकर नहीं। इसलिए स्केच के अंग-निर्माण में ही उसका प्रयोग है, मूलात्मा में, अर्थात् सारभूत प्रभाव में नहीं। सारभूत प्रभाव से तो जीवन की गम्भीरता की ही ध्वनि निकलती है। मूल धारणा का विश्लेषण कीजिए तो वह यही होगा कि जीवन एक गम्भीर सत्य है; परन्तु मुंह लटकाकर या आँखों में आँसू भर कर, भारी दिल से उसकी गम्भीरता को स्वीकार करना वास्तव में उससे हार मान लेना है; और हँसी-खुशी उसकी विषमताओं को स्वीकार करते हुए उसे ग्रहण करना जीवन का रहस्य समझ लेना है। इसीलिए 'बिल्लेसुर बकरिहा' में हास्य का निवास प्रायः परिस्थिति में नहीं है, वरन् वर्णनों अथवा लेखक के अपने संकेत-स्पर्शों में ही है। अपने वर्णनों और उक्तियों को निरालाजी ने प्रायः एक साधारण तथ्य को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक सामने उपस्थित कर, साधारण और विशेष का अन्तर मिटाते हुए, हास्यमय बनाया है। ऐसा करने के लिए कहीं तो वे व्याकरण अथवा किसी शास्त्र का उद्धरण देकर उसको सर्वथा प्रामाणिक बनाने की पूरी चेष्टा करते हैं; जैसा कि शुरू ही में बिल्लेसुर बकरिहा नाम की व्याख्या में किया है :

"बिल्लेसुर नाम का शुद्ध रूप, बड़े पते से मालूम हुआ, बिल्वेश्वर है। पुरवा डिवीज़न में, जहां का नाम है, लोकमत बिल्लेसुर शब्द की ओर है। कारण, पुरवा में उक्त नाम के प्रतिष्ठित शिव हैं। अन्यत्र यह नाम न मिलेगा, इसलिए भाषा-तत्त्व की दृष्टि से गौरवपूर्ण है। बकरिहा जहां का शब्द है, वहां बोकरिहा कहते हैं। वहां बकरी को बोकरी कहते हैं। मैंने उसका हिन्दुस्तानी-रूप निकाला है। 'हा' का प्रयोग हनन करने के अर्थ में नहीं, पालन के अर्थ में है।"

—और कहीं किसी मामूली-सी बात के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों का बड़ी सावधानी से वर्णन कर हास्य का संचार किया गया है, मानो उनकी शुद्ध गणना के बिना बात अपना अर्थ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही खो बैठेगी। एक उदाहरण लीजिये :

"सास को दिखाने के लिए बिल्लेसुर रोज़ अगरासन निकालते थे। भोजन करके उठते वक्त हाथ में ले लेते थे और हाथ-मुंह धोकर कुल्ले करके बकरी के बच्चे को खिला देते थे। अगरासन निकालने से पहले लोटे से पानी लेकर तीन दफे थाली के बाहर से चुवाते हुए घुमाते थे। अगरासन निकालकर टुनिक्रियां देते हुए लोटा बजाते थे और आँखें बन्द कर लेते थे।"

या फिर कभी किसी अत्यन्त प्रसिद्ध सामयिक प्रसंग से किसी छोटी-मोटी घटना का सम्बन्ध बैठाकर वर्णन को हास्यमय बनाया गया है :

"बिल्लेसुर बिना टिकट कटाये कलकत्ता वाली गाड़ी में बैठ गये। इलाहाबाद पहुँचते-पहुँचते चैकर ने कान पकड़कर उतार दिया। बिल्लेसुर हिन्दुस्तान की जलवायु के अनुसार सविनय कानून भंग कर रहे थे, कुछ बोले नहीं, चुपचाप उतर आये; लेकिन सिद्धान्त नहीं छोड़ा।"

'बिल्लेसुर बकरिहा' हिन्दी के लिए एक नयी चीज़ है। दृष्टिकोण की यह तटस्थता उससे पहले केवल 'कुल्ली भाट' में ही मिलती है। मैं समझता हूं, अभी एकांत हिन्दी के पाठक को उसका रस लेने में कुछ कठिनाई पड़ेगी—और स्केच को समाप्त करने के बाद शायद वह कह उठेगा कि कोई बात बनी नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पंतजी की भूमिकाएं

(क) 'पल्लव' का प्रवेश

'पल्लव' की भूमिका हिन्दी में छायावाद-युग के आविर्भाव का ऐतिहासिक घोषणा-पत्र है। छायावाद हिन्दी-साहित्य का अत्यन्त समृद्ध युग है। वास्तव में भक्ति-काल के अतिरिक्त काव्य का इतना उत्कर्ष और किसी युग में नहीं हुआ। इस दृष्टि से हमारे साहित्य में 'पल्लव' की भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कि अंगरेज़ी साहित्य में वर्ड्सवर्थ के 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका का।

'पल्लव' के इस आरम्भिक वक्तव्य का वास्तविक नाम भूमिका न होकर 'प्रवेश' है जिसमें छोटे आकार के ५८ पृष्ठ हैं। प्रवेश से पूर्व छः पृष्ठ का एक छोटा-सा 'विज्ञापन' भी है। इसमें पंतजी ने 'पल्लव' की कविताओं के विषय में कुछ विशेष तथ्यों का उल्लेख किया है। इन दोनों को पृथक् रखने का कारण यह है कि 'विज्ञापन' में विशेष की चर्चा है और 'प्रवेश' में सामान्य सिद्धान्त का निरूपण। फिर भी 'विज्ञापन' को 'पल्लव' की भूमिका का ही भाग मानना चाहिए; उसमें भी काव्य-भाषा के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकेत मिलता है जो सिद्धान्त के ही अंग हैं।

जैसा कि पंतजी ने स्वयं ही स्वीकार किया है, प्रस्तुत भूमिका में काव्यकला के आभ्यन्तरिक रूप का विशेष विश्लेषण नहीं किया गया, उसके बाह्य रूप का ही विवेचन किया गया है। काव्य के बाह्य रूप के अन्तर्गत कवि ने मुख्य रूप से इन विषयों को ग्रहण किया है: १—आधुनिक हिन्दी-काव्य की माध्यम भाषा : ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली; २—काव्य-भाषा का स्वरूप—(क) पर्याय शब्दों का चमत्कार, (ख) लिंग-निर्णय, (ग) समास आदि; ३—अलंकार; ४—खड़ी बोली का संगीत और छन्द-विधान।

आइए, एक-एक कर इनका पर्यालोचन किया जाए।

ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली

आधुनिक हिन्दी-काव्य की माध्यम भाषा के प्रश्न को पंतजी ने सबसे अधिक उत्साह एवं उच्छ्वास के साथ ग्रहण किया है। उस समय हिन्दी-साहित्य में कदाचित् सबसे अधिक ज्वलंत विवाद का प्रश्न था ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली। काव्य की नवीन जागृति का अग्रदूत यह युवा कवि सन्नद्ध होकर उस विवाद में अवतीर्ण हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पंतजी का निर्णय ब्रज-भाषा के विरुद्ध और खड़ी बोली के पक्ष में ही है। उन्होंने ब्रज-भाषा पर अनेक प्रबल प्रहार किये हैं। उदाहरण के लिए :

(१) ब्रज-भाषा का विकास एक कृत्रिम काव्य-भाषा के रूप में हुआ है, अतएव वह पुस्तकों की भाषा-मात्र बनकर रह गयी है। वह एक नव-जागृत राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसका शब्द-भण्डार, अभिव्यंजना और संगीत कृत्रिम है। पंतजी ने उसके सौन्दर्य की उपमा पुरानी छींट की चोली या पुराने फ़ैशन की मिस्सी से दी है।

(२) उसमें माधुर्य और सौन्दर्य तो है, किन्तु व्यापकता और महाप्राणता नहीं है।

(३) ब्रज-भाषा की साहित्यिक परम्परा विलास-रुग्ण और संकीर्ण है—उसमें ईश्वरानुराग की बांसुरी अन्धबिलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़-छेड़कर नचाती रही है।

(४) जब लोक-व्यवहार तथा गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है, तब काव्य की भाषा ब्रज-भाषा कैसे हो सकती है ?

जो भाषा मुग़लों के समृद्ध राज्य-काल में समस्त उत्तरापथ की राष्ट्र-भाषा रह चुकी हो, जिसमें सूर का सागर लहराता हो, जिसमें भगवान् कृष्ण ने मचल-मचलकर माखन-रोटी माँगी हो, उस भाषा पर ये प्रहार वास्तव में अत्यन्त निर्मम हैं। फिर भी उनके पीछे एक निश्चित दृष्टिकोण है और उनके औचित्य पर विचार करना असंगत न होगा।

पंतजी का पहला आरोप यह है कि ब्रज-भाषा साज-सँवारकर गढ़ी हुई काव्य-भाषा मात्र है, वह काव्य-रूढ़ियों में ग्रस्त है, उसके उपकरण कृत्रिम हैं, अतएव वह जीवन्त राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती। वास्तव में पंतजी के इस प्रहार का लक्ष्य रीतिकालीन ब्रज-भाषा है। इसमें सन्देह नहीं कि रीति-युग में ब्रज-भाषा की इतनी प्रसाधना हुई थी, मसृणता और कांति की स्पृहा इतनी बलवती हो गयी थी कि उसका विकास-पथ अवरुद्ध हो गया, कोमलता और कमनीयता के लिए प्राणों के विराट् तत्त्व और जीवन के विस्तार का उत्सर्ग कर दिया गया। देव, मतिराम और घनानन्द की भाषा में स्निग्धता ही है, महाप्राणता और ओज नहीं है; एक-रस माधुरी है, अनेकरूपा जीवनाभिव्यक्ति नहीं है। निरन्तर व्यवहार से जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार बनते रहते हैं, इसी प्रकार भाषा के भी। आरम्भ से ही कोमल भावों और प्रगीत काव्यरूपों का माध्यम होने के कारण ब्रज-भाषा के भी अपने संस्कार बन गये हैं जिनमें निश्चय ही ओज की अपेक्षा सौकुमार्य का प्राधान्य है। अतएव ब्रज-भाषा पर यह आरोप तो बहुत अंशों में ठीक है कि वह जीवन के आनन्द-पक्ष के ही अधिक अनुकूल है, संघर्ष-पक्ष के नहीं; परन्तु इस तथ्य को भी बहुत दूर तक नहीं घसीटना चाहिए। संस्कारों का प्रभाव निश्चय ही गहरा होता है किन्तु उनमें भी शिक्षा और अभ्यास से परिवर्तन-परिशोधन संभव है। और फिर भाषा का, विशेषकर काव्य-भाषा का, आधार वस्तुगत की अपेक्षा व्यक्तिगत या भावगत ही अधिक मानना चाहिए। शब्द तो प्रतीक-मात्र है। उसका वस्तु-आधार है अवश्य; अर्थात् उसके नादात्मक रूप का महत्त्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व तो उसमें निहित धारणा या भावना का है जिसका कि वह वाहक है। इसलिए किसी भाषा को जीवन के केवल एक ही पक्ष के साथ बाँध देना सर्वथा मनोवैज्ञानिक नहीं है। ब्रज-भाषा के संस्कार मधुर अवश्य हैं, वह प्रगल्भा की अपेक्षा मुग्धा ही अधिक है। वह इतनी कोमल-मना है कि 'प्रिय' में से भी रेफ निकाल कर उसे अपने होठों की मिठास में घोलकर 'पिय' बना देती है। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर मूंछों पर हाथ फिरवाने की शक्ति भी उसमें आ ही जाती है। और, यदि परिस्थितियां इस प्रकार की होतीं तो उसकी ऊर्जस्विनी शक्तियों का विकास भी हो सकता था, जैसे कि खड़ी बोली का हुआ। रामचरित उपाध्याय की खड़ी बोली अन्त में पंत की समृद्ध भाषा बन गयी। अतएव हमारा मत यही है कि इसमें सन्देह नहीं ब्रज-भाषा जीवन के सुकुमार-पक्ष के अधिक अनुकूल है; परन्तु उदात्त पक्ष की अभिव्यक्ति का माध्यम वह बन ही नहीं सकती, यह कहना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पंतजी की भूमिकाएं

(क) 'पल्लव' का प्रवेश

'पल्लव' की भूमिका हिन्दी में छायावाद-युग के आविर्भाव का ऐतिहासिक घोषणा-पत्र है। छायावाद हिन्दी-साहित्य का अत्यन्त समृद्ध युग है। वास्तव में भक्ति-काल के अतिरिक्त काव्य का इतना उत्कर्ष और किसी युग में नहीं हुआ। इस दृष्टि से हमारे साहित्य में 'पल्लव' की भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कि अंगरेज़ी साहित्य में वर्ड्सवर्थ के 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका का।

'पल्लव' के इस आरम्भिक वक्तव्य का वास्तविक नाम भूमिका न होकर 'प्रवेश' है जिसमें छोटे आकार के ५८ पृष्ठ हैं। प्रवेश से पूर्व छः पृष्ठ का एक छोटा-सा 'विज्ञापन' भी है। इसमें पंतजी ने 'पल्लव' की कविताओं के विषय में कुछ विशेष तथ्यों का उल्लेख किया है। इन दोनों को पृथक् रखने का कारण यह है कि 'विज्ञापन' में विशेष की चर्चा है और 'प्रवेश' में सामान्य सिद्धान्त का निरूपण। फिर भी 'विज्ञापन' को 'पल्लव' की भूमिका का ही भाग मानना चाहिए; उसमें भी काव्य-भाषा के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकेत मिलता है जो सिद्धान्त के ही अंग हैं।

जैसा कि पंतजी ने स्वयं ही स्वीकार किया है, प्रस्तुत भूमिका में काव्यकला के आभ्यन्तरिक रूप का विशेष विश्लेषण नहीं किया गया, उसके बाह्य रूप का ही विवेचन किया गया है। काव्य के बाह्य रूप के अन्तर्गत कवि ने मुख्य रूप से इन विषयों को ग्रहण किया है : १—आधुनिक हिन्दी-काव्य की माध्यम भाषा : ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली; २—काव्य-भाषा का स्वरूप—(क) पर्याय शब्दों का चमत्कार, (ख) लिंग-निर्णय, (ग) समास आदि; ३—अलंकार; ४—खड़ी बोली का संगीत और छन्द-विधान।

आइए, एक-एक कर इनका पर्यालोचन किया जाए।

ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली

आधुनिक हिन्दी-काव्य की माध्यम भाषा के प्रश्न को पंतजी ने सबसे अधिक उत्साह एवं उच्छ्वास के साथ ग्रहण किया है। उस समय हिन्दी-साहित्य में कदाचित् सबसे अधिक ज्वलंत विवाद का प्रश्न था ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली। काव्य की नवीन जागृति का अग्रदूत यह युवा कवि सन्नद्ध होकर उस विवाद में अवतीर्ण हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पंतजी का निर्णय ब्रज-भाषा के विरुद्ध और खड़ी बोली के पक्ष में ही है। उन्होंने ब्रज-भाषा पर अनेक प्रबल प्रहार किये हैं। उदाहरण के लिए :

(१) ब्रज-भाषा का विकास एक कृत्रिम काव्य-भाषा के रूप में हुआ है, अतएव वह पुस्तकों की भाषा-मात्र बनकर रह गयी है। वह एक नव-जागृत राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसका शब्द-भण्डार, अभिव्यंजना और संगीत कृत्रिम है। पंतजी ने उसके सौन्दर्य की उपमा पुरानी छींट की चोली या पुराने फ़ैशन की मिस्सी से दी है।

(२) उसमें माधुर्य और सौन्दर्य तो है, किन्तु व्यापकता और महाप्राणता नहीं है।

(३) ब्रज-भाषा की साहित्यिक परम्परा विलास-रुग्ण और संकीर्ण है—उसमें ईश्वरानुराग की बांसुरी अन्धविलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़-छेड़कर नचाती रही है।

(४) जब लोक-व्यवहार तथा गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है, तब काव्य की भाषा ब्रज-भाषा कैसे हो सकती है ?

जो भाषा मुग़लों के समृद्ध राज्य-काल में समस्त उत्तरापथ की राष्ट्र-भाषा रह चुकी हो, जिसमें सूर का सागर लहराता हो, जिसमें भगवान् कृष्ण ने मचल-मचलकर माखन-रोटी माँगी हो, उस भाषा पर ये प्रहार वास्तव में अत्यन्त निर्मम हैं। फिर भी उनके पीछे एक निश्चित दृष्टिकोण है और उनके औचित्य पर विचार करना असंगत न होगा।

पंतजी का पहला आरोप यह है कि ब्रज-भाषा साज-सँवारकर गढ़ी हुई काव्य-भाषा मात्र है, वह काव्य-रूढ़ियों में ग्रस्त है, उसके उपकरण कृत्रिम हैं, अतएव वह जीवन्त राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती। वास्तव में पंतजी के इस प्रहार का लक्ष्य रीतिकालीन ब्रज-भाषा है। इसमें सन्देह नहीं कि रीति-युग में ब्रज-भाषा की इतनी प्रसाधना हुई थी, मसृणता और कांति की स्पृहा इतनी बलवती हो गयी थी कि उसका विकास-पथ अवरुद्ध हो गया, कोमलता और कमनीयता के लिए प्राणों के विराट् तत्त्व और जीवन के विस्तार का उत्सर्ग कर दिया गया। देव, मतिराम और घनानन्द की भाषा में स्निग्धता ही है, महाप्राणता और ओज नहीं है; एक-रस माधुरी है, अनेकरूपा जीवनाभिव्यक्ति नहीं है। निरन्तर व्यवहार से जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार बनते रहते हैं, इसी प्रकार भाषा के भी। आरम्भ से ही कोमल भावों और प्रगीत काव्यरूपों का माध्यम होने के कारण ब्रज-भाषा के भी अपने संस्कार बन गये हैं जिनमें निश्चय ही ओज की अपेक्षा सौकुमार्य का प्राधान्य है। अतएव ब्रज-भाषा पर यह आरोप तो बहुत अंशों में ठीक है कि वह जीवन के आनन्द-पक्ष के ही अधिक अनुकूल है, संघर्ष-पक्ष के नहीं; परन्तु इस तथ्य को भी बहुत दूर तक नहीं घसीटना चाहिए। संस्कारों का प्रभाव निश्चय ही गहरा होता है किन्तु उनमें भी शिक्षा और अभ्यास से परिवर्तन-परिशोधन संभव है। और फिर भाषा का, विशेषकर काव्य-भाषा का, आधार वस्तुगत की अपेक्षा व्यक्तिगत या भावगत ही अधिक मानना चाहिए। शब्द तो प्रतीक-मात्र है। उसका वस्तु-आधार है अवश्य; अर्थात् उसके नादात्मक रूप का महत्त्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व तो उसमें निहित धारणा या भावना का है जिसका कि वह वाहक है। इसलिए किसी भाषा को जीवन के केवल एक ही पक्ष के साथ बाँध देना सर्वथा मनोवैज्ञानिक नहीं है। ब्रज-भाषा के संस्कार मधुर अवश्य हैं, वह प्रगल्भा की अपेक्षा मुग्धा ही अधिक है। वह इतनी कोमल-मना है कि 'प्रिय' में से भी रेफ निकाल कर उसे अपने होठों की मिठास में घोलकर 'पिय' बना देती है। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर मूंछों पर हाथ फिरवाने की शक्ति भी उसमें आ ही जाती है। और, यदि परिस्थितियां इस प्रकार की होतीं तो उसकी ऊर्जस्विनी शक्तियों का विकास भी हो सकता था, जैसे कि खड़ी बोली का हुआ। रामचरित उपाध्याय की खड़ी बोली अन्त में पंत की समृद्ध भाषा बन गयी। अतएव हमारा मत यही है कि इसमें सन्देह नहीं ब्रज-भाषा जीवन के सुकुमार-पक्ष के अधिक अनुकूल है; परन्तु उदात्त पक्ष की अभिव्यक्ति का माध्यम वह बन ही नहीं सकती, यह कहना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पंतजी की भूमिकाएं

(क) 'पल्लव' का प्रवेश

'पल्लव' की भूमिका हिन्दी में छायावाद-युग के आविर्भाव का ऐतिहासिक घोषणा-पत्र है। छायावाद हिन्दी-साहित्य का अत्यन्त समृद्ध युग है। वास्तव में भक्ति-काल के अतिरिक्त काव्य का इतना उत्कर्ष और किसी युग में नहीं हुआ। इस दृष्टि से हमारे साहित्य में 'पल्लव' की भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कि अंगरेजी साहित्य में वर्ड्सवर्थ के 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका का।

'पल्लव' के इस आरम्भिक वक्तव्य का वास्तविक नाम भूमिका न होकर 'प्रवेश' है जिसमें छोटे आकार के ५८ पृष्ठ हैं। प्रवेश से पूर्व छः पृष्ठ का एक छोटा-सा 'विज्ञापन' भी है। इसमें पंतजी ने 'पल्लव' की कविताओं के विषय में कुछ विशेष तथ्यों का उल्लेख किया है। इन दोनों को पृथक् रखने का कारण यह है कि 'विज्ञापन' में विशेष की चर्चा है और 'प्रवेश' में सामान्य सिद्धान्त का निरूपण। फिर भी 'विज्ञापन' को 'पल्लव' की भूमिका का ही भाग मानना चाहिए; उसमें भी काव्य-भाषा के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकेत मिलता है जो सिद्धान्त के ही अंग हैं।

जैसा कि पंतजी ने स्वयं ही स्वीकार किया है, प्रस्तुत भूमिका में काव्यकला के आभ्यन्तरिक रूप का विशेष विश्लेषण नहीं किया गया, उसके बाह्य रूप का ही विवेचन किया गया है। काव्य के बाह्य रूप के अन्तर्गत कवि ने मुख्य रूप से इन विषयों को ग्रहण किया है: १—आधुनिक हिन्दी-काव्य की माध्यम भाषा : ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली; २—काव्य-भाषा का स्वरूप—(क) पर्याय शब्दों का चमत्कार, (ख) लिंग-निर्णय, (ग) समास आदि; ३—अलंकार; ४—खड़ी बोली का संगीत और छन्द-विधान।

आइए, एक-एक कर इनका पर्यालोचन किया जाए।

ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली

आधुनिक हिन्दी-काव्य की माध्यम भाषा के प्रश्न को पंतजी ने सबसे अधिक उत्साह एवं उच्छ्वास के साथ ग्रहण किया है। उस समय हिन्दी-साहित्य में कदाचित् सबसे अधिक ज्वलंत विवाद का प्रश्न था ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली। काव्य की नवीन जागृति का अग्रदूत यह युवा कवि सन्नद्ध होकर उस विवाद में अवतीर्ण हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पंतजी का निर्णय ब्रज-भाषा के विरुद्ध और खड़ी बोली के पक्ष में ही है। उन्होंने ब्रज-भाषा पर अनेक प्रबल प्रहार किये हैं। उदाहरण के लिए :

(१) ब्रज-भाषा का विकास एक कृत्रिम काव्य-भाषा के रूप में हुआ है, अतएव वह पुस्तकों की भाषा-मात्र बनकर रह गयी है। वह एक नव-जागृत राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसका शब्द-भण्डार, अभिव्यंजना और संगीत कृत्रिम है। पंतजी ने उसके सौन्दर्य की उपमा पुरानी छींट की चोली या पुराने फ़ैशन की मिस्सी से दी है।

(२) उसमें माधुर्य और सौन्दर्य तो है, किन्तु व्यापकता और महाप्राणता नहीं है।

(३) ब्रज-भाषा की साहित्यिक परम्परा विलास-रुग्ण और संकीर्ण है—उसमें ईश्वरानुराग की बांसुरी अन्धविलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़-छेड़कर नचाती रही है।

(४) जब लोक-व्यवहार तथा गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है, तब काव्य की भाषा ब्रज-भाषा कैसे हो सकती है ?

जो भाषा मुग़लों के समृद्ध राज्य-काल में समस्त उत्तरापथ की राष्ट्र-भाषा रह चुकी हो, जिसमें सूर का सागर लहराता हो, जिसमें भगवान् कृष्ण ने मचल-मचलकर माखन-रोटी माँगी हो, उस भाषा पर ये प्रहार वास्तव में अत्यन्त निर्मम हैं। फिर भी उनके पीछे एक निश्चित दृष्टिकोण है और उनके औचित्य पर विचार करना असंगत न होगा।

पंतजी का पहला आरोप यह है कि ब्रज-भाषा साज-सँवारकर गढ़ी हुई काव्य-भाषा मात्र है, वह काव्य-रूढ़ियों में ग्रस्त है, उसके उपकरण कृत्रिम हैं, अतएव वह जीवन्त राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती। वास्तव में पंतजी के इस प्रहार का लक्ष्य रीतिकालीन ब्रज-भाषा है। इसमें सन्देह नहीं कि रीति-युग में ब्रज-भाषा की इतनी प्रसाधना हुई थी, मसृणता और कांति की स्पृहा इतनी बलवती हो गयी थी कि उसका विकास-पथ अवरुद्ध हो गया, कोमलता और कमनीयता के लिए प्राणों के विराट् तत्त्व और जीवन के विस्तार का उत्सर्ग कर दिया गया। देव, मतिराम और घनानन्द की भाषा में स्निग्धता ही है, महाप्राणता और ओज नहीं है; एक-रस माधुरी है, अनेकरूपा जीवनाभिव्यक्ति नहीं है। निरन्तर व्यवहार से जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार बनते रहते हैं, इसी प्रकार भाषा के भी। आरम्भ से ही कोमल भावों और प्रगीत काव्यरूपों का माध्यम होने के कारण ब्रज-भाषा के भी अपने संस्कार बन गये हैं जिनमें निश्चय ही ओज की अपेक्षा सौकुमार्य का प्राधान्य है। अतएव ब्रज-भाषा पर यह आरोप तो बहुत अंशों में ठीक है कि वह जीवन के आनन्द-पक्ष के ही अधिक अनुकूल है, संघर्ष-पक्ष के नहीं; परन्तु इस तथ्य को भी बहुत दूर तक नहीं घसीटना चाहिए। संस्कारों का प्रभाव निश्चय ही गहरा होता है किन्तु उनमें भी शिक्षा और अभ्यास से परिवर्तन-परिशोधन संभव है। और फिर भाषा का, विशेषकर काव्य-भाषा का, आधार वस्तुगत की अपेक्षा व्यक्तिगत या भावगत ही अधिक मानना चाहिए। शब्द तो प्रतीक-मात्र है। उसका वस्तु-आधार है अवश्य; अर्थात् उसके नादात्मक रूप का महत्त्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व तो उसमें निहित धारणा या भावना का है जिसका कि वह वाहक है। इसलिए किसी भाषा को जीवन के केवल एक ही पक्ष के साथ बाँध देना सर्वथा मनोवैज्ञानिक नहीं है। ब्रज-भाषा के संस्कार मधुर अवश्य हैं, वह प्रगल्भा की अपेक्षा मुग्धा ही अधिक है। वह इतनी कोमल-मना है कि 'प्रिय' में से भी रेफ निकाल कर उसे अपने होठों की मिठास में घोलकर 'पिय' बना देती है। क़िन्तु आवश्यकता पड़ने पर मूंछों पर हाथ फिरवाने की शक्ति भी उसमें आ ही जाती है। और, यदि परिस्थितियां इस प्रकार की होतीं तो उसकी ऊर्जस्विनी शक्तियों का विकास भी हो सकता था, जैसे कि खड़ी बोली का हुआ। रामचरित उपाध्याय की खड़ी बोली अन्त में पंत की समृद्ध भाषा बन गयी। अतएव हमारा मत यही है कि इसमें सन्देह नहीं ब्रज-भाषा जीवन के सुकुमार-पक्ष के अधिक अनुकूल है; परन्तु उदात्त पक्ष की अभिव्यक्ति का माध्यम वह बन ही नहीं सकती, यह कहना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुचित होगा। इसके आगे कृत्रिमता का आरोप और भी गंभीर तथा अनुचित है। पंतजी का आशय यह है कि ब्रज-भाषा में वक्रता और वैदग्ध्य पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं। उसमें लक्षणा और व्यंजना की वे विभूतियां नहीं हैं जिनका विकास वे स्वयं तथा उनके सहयोगी कवि खड़ी बोली में कर रहे थे। इसमें तो सन्देह नहीं कि ब्रज-भाषा के रीति-कवियों का जितना आग्रह मसृणता और कान्ति के प्रति था, उतना वक्रता एवं वैदग्ध्य, अथवा भाषा की लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शक्तियों के विकास के प्रति नहीं था; परन्तु रीति-युग के उस रसात्मक काव्य में वक्रता का उतना अभाव नहीं है जितना पंतजी अथवा अन्य छायावादी कवि-आलोचक समझते थे। उस समय तक वास्तव में रीति-काव्य का इस दृष्टि से अध्ययन नहीं हुआ था। परन्तु उसके बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा घनानन्द की अभिव्यंजना का और प्रस्तुत लेखक द्वारा देव की अभिव्यंजना का विश्लेषण इस बात का साक्षी है कि इस काव्य में भी पूर्वोक्त काव्य-गुणों का दुष्काल नहीं है : उनका उद्घाटन नहीं हो पाया है। विहारी, देव, घनानन्द, पद्माकर आदि कवियों में राशि-राशि वक्र प्रयोग मिलेंगे :

१. अंग-अंग मदन विहंगम जगतु है —(देव)
२. पावस ते उठि कीजिए चैत अमावस ते उठि कीजिए पूनो —(देव)
३. अरसाइ गयी वह बानि कछू······ —(घनानन्द)

इसके अतिरिक्त सूर की ब्रज-भाषा में तो वक्रता का वैचित्र्य अपूर्व है—'भ्रमर-गीत' का प्रत्येक पद वक्रता के सौन्दर्य से दीपित है। अतएव यहां भी वस्तु-स्थिति यही है कि ब्रज-भाषा में न तो वक्रता और नवीन वैचित्र्य-उत्कर्ष का उतना अभाव है और न उसकी प्रकृति लाक्षणिक शक्तियों के विकास के प्रतिकूल ही है। उसकी भी लाक्षणिक और व्यंजनात्मक विभूतियों का विकास सहज सम्भाव्य था। रहा कृत्रिमता का प्रश्न; तो यह ठीक ही है कि रीति-युग के अथवा कृष्ण-काव्य के भी हीन-प्रतिभ कवियों की काव्य-भाषा रूढ़ि-ग्रस्त तथा कृत्रिम है। परन्तु कृत्रिमता अथवा रूढ़ता किसी भाषा-विशेष का सहजात दोष नहीं है; सृजन-स्फूर्ति मन्द पड़ जाने पर प्रत्येक भाषा कृत्रिम और रूढ़ि-ग्रस्त हो जाती है। स्वयं छायावाद की भाषा पर प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवियों ने कृत्रिमता का ठीक यही आरोप लगाया है। प्राणों के राग के अभाव में यदि पुराने फ़ैशन की मिस्सी आकर्षण खो बैठती है तो नये फ़ैशन की लिपस्टिक को देखकर भी उबकाई आने लगती है। अतः कृत्रिमता भाषा का दोष नहीं है, प्रयोक्ता और उसके प्रयोग का दोष है।

यही तर्क इस तीसरे आरोप के विरुद्ध दिया जा सकता है कि ब्रज-भाषा का काव्य विलास-रुग्ण है। विलास-रुग्ण भाषा नहीं हो सकती; 'सूर-सागर' और 'विनय-पत्रिका' की पवित्र भाषा का उपमान मिलना दुर्लभ है। विलास-रुग्ण तो व्यक्ति और परिस्थितियां ही होती हैं; प्राणों का रस सख जाने पर जैसे भारतीय जीवन विलास-जर्जर हो गया था, वैसे ही भारतीय काव्य भी। और फिर, इस युग में भी जिन कवियों की प्राणधारा प्रवहमान थी, उनके शृंगार-काव्य में भी जीवन की ताज़गी और आनन्द-स्फूर्ति वर्तमान है।

पंतजी की चौथी युक्ति वास्तव में न्याय-संगत है और युग-चेता कवि की प्रबुद्ध मनीषा का प्रमाण है। वह तर्क यह है कि लोक-व्यवहार तथा गद्य-साहित्य की भाषा और काव्य-भाषा में प्रकृतिगत भेद नहीं होना चाहिए। यों तो गद्य तथा व्यवहार की भाषा से 'काव्य-भाषा' का स्वरूप निश्चय ही भिन्न होता है—अंगरेज़ी में वर्ड्सवर्थ और हिन्दी में द्विवेदीजी आदि के प्रयत्नों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की असफलता इस ज्वलंत मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रमाण है—परन्तु यह भेद रूप में ही होना चाहिए, प्रकृति तथा प्रकार में नहीं। लोक-व्यवहार और गद्य-साहित्य के लिए खड़ी बोली को स्वीकृति मिल जाने के उपरान्त काव्य-भाषा के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं था। विचार और राग की भाषा की जाति एक ही होनी चाहिए। उनमें जातिगत भेद होने से जीवन की साहित्यिक अभिव्यक्ति में एक विचित्र विषमता उत्पन्न हो जाती है। एक और दृष्टि से भी ब्रज-भाषा का त्याग श्रेयस्कर हुआ। आज हिन्दी में राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का समावेश अथवा निर्माण निरन्तर किया जा रहा है। राष्ट्र-भाषा के विकास का सबसे ऋजु-सरल मार्ग यही है। ब्रज-भाषा की प्रकृति में तत्सम शब्दों का घुल-मिल जाना उतना सहज न होता जितना खड़ी बोली में है। ब्रज-भाषा की प्रकृति तत्सम तथा समस्त शब्दावली के विरुद्ध विद्रोह करती और राष्ट्र-भाषा का विकास-पथ अवरुद्ध हो जाता। अतएव, ब्रज-भाषा का परित्याग राष्ट्र-भाषा के हित में ही हुआ, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ब्रज-भाषा के काव्य-गुणों का तिरस्कार उचित नहीं था। 'पल्लव' में पंतजी के आक्रोश से हमें यही शिकायत है। किन्तु, जैसा कि हमने आरम्भ में ही कहा है, 'पल्लव' की भूमिका एक युग-प्रवर्तक भूमिका है; अतएव इस आक्रोश के पीछे स्वभावतः ही युग-प्रवर्तन का उत्साह है, संतुलित पर्यालोचन का नीर-क्षीर विवेचन नहीं।

काव्य-भाषा

ब्रज-भाषा का विवेचन करते हुए, उसी प्रसंग में काव्य-भाषा का सामान्य विवेचन भी संक्षेप में किया गया है। काव्य-भाषा का मूल आधार भाव और भाषा का सामंजस्य है : "जहां भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहां स्वरों के पावस में केवल शब्दों के बटु-समुदाय ही दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते हैं।" सामंजस्य के अतिरिक्त काव्य-भाषा की दूसरी विशेषता है चित्रात्मकता—"कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों।"—इस दूसरी विशेषता में ही, शास्त्रीय शब्दावली में, काव्य-भाषा की व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों का विकास निहित है। आगे चलकर इसी संदर्भ में पंतजी ने पर्याय शब्दों की व्यंजना-शक्ति का मार्मिक विवेचन किया है। हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास में वह अभूत-पूर्व घटना थी। भाषा के मनोविज्ञान के अनुसार कोई भी दो शब्द सर्वथा एक ही अर्थ को प्रकट नहीं करते; व्याकरण भी यही कहता है। अतएव "भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं।" पर्याय वास्तव में भाषा की व्यंजना-शक्ति का अत्यन्त समर्थ उपकरण है। संस्कृत के ह्रास-काल तथा रीति-युग में आकर जब शब्द के अर्थ-चित्र के स्थान पर संगीत का मूल्य बढ़ गया, तो पर्याय-शब्दों का यह सुन्दर रहस्य भी विस्मृत हो गया। परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र के लिए यह अज्ञात नहीं था; आनन्द-वर्धन पर्याय-ध्वनि और कुंतक पर्याय-वक्रता के अन्तर्गत इसका मार्मिक विश्लेषण कर चुके हैं। पंतजी ने पाश्चात्य काव्य के मनन तथा अपनी अन्तर्दर्शी प्रतिभा के द्वारा पर्याय-सौन्दर्य के उद्घाटन में अद्भुत मर्मज्ञता का परिचय दिया है। उन्होंने मर्मज्ञ प्रज्ञा के साथ कवि-कल्पना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का संयोग कर इस प्रसंग को आलोकित कर दिया है। उदाहरण के लिए, 'लहर' के पर्याय-शब्दों का विश्लेषण लीजिए : 'ऐसे ही हिलोर में उठान···का आभास मिलता है।" (पृ० २५)। इस विषय में पंतजी का अभिमत है कि संस्कृत की पर्याय-कल्पना से अंगरेज़ी की पर्याय-कल्पना अधिक सार्थक तथा वैज्ञानिक है। उनका निष्कर्ष है कि संस्कृत में पर्याय-शब्दों का प्राचुर्य वर्ण-वृत्तों की आवश्यकता की पूर्ति का साधन है; भावों के छोटे-बड़े चढ़ाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्च्छनाओं, लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने का साधन नहीं है, जैसा कि अंगरेज़ी में है। यह धारणा अशुद्ध है; वास्तव में किशोर कवि के मन पर उन दिनों विदेश का जादू चढ़कर बोल रहा था, अतः वह भारतीय उपकरणों का उचित मूल्यांकन नहीं कर सका। संस्कृत की जैसी निर्माण-क्षमता और अभिव्यंजकता किसी भी अन्य भाषा में नहीं है; अंगरेज़ी में तो फ़्रेंच आदि से भी कम है।

काव्य-भाषा के प्रसंग में पंतजी ने हिन्दी में लिंग-निर्णय और समास-प्रयोग पर भी विचार प्रकट किये हैं। उनका मत है कि लिंग का निर्णय शब्द के अर्थ के अनुसार होना चाहिए, अकारान्त-इकारान्त के अनुसार नहीं। जिस वाच्य में कोमलता, लघुता आदि स्त्रियोचित गुण हैं उसे स्त्रीलिंग; और जिसमें परुषता, आकार आदि पुरुषोचित गुण हों उसे पुल्लिंग मानना चाहिए। "लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य अनिवार्य है; अन्यथा शब्दों का ठीक-ठीक चित्र सामने नहीं उतरता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित-सी हो जाती है।" इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के लिंग-निर्णय के मूल में जो धारणाएं प्रच्छन्न अथवा प्रकट रूप से वर्तमान हैं, उनमें एक प्रमुख धारणा 'लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य' भी है। परन्तु इसका सार्वभौम प्रयोग नहीं हो सकता—एक तो यह धारणा स्वयं ही अत्यंत भाव-परक है—क्योंकि स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आरोप मूलतः भावना का ही विषय है; दूसरे लोक-व्यवहार का उल्लंघन भी सरल नहीं है। पंतजी के अपने प्रयोग ही सफल नहीं हुए; 'प्रभात' को वे स्त्रीलिंग नहीं बना सके और अन्त में उनको अपनी धारणा में ही परिशोधन करना पड़ा। फिर भी आज से तीस वर्ष पूर्व नवयुवा कवि के ये विचार अत्यन्त प्रौढ़ और क्रान्तदर्शी थे, इसमें सन्देह नहीं; और आज भी यदि हिन्दी के लिंग को विवेक-सम्मत आधार देना है तो अर्थ और लिंग का यह सामंजस्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

हिन्दी के लिए पंतजी एक ओर समास को और दूसरी ओर पूरक क्रिया 'है' को त्याज्य मानते हैं। समास की वर्जना तो अन्य मनीषियों ने भी उनसे पहले और बाद में की है; परन्तु 'है' का बहिष्कार कुछ विचित्र-सा था। उसके बिना प्रस्तुत भूमिका के अनेक वाक्य अजीब-से लगते हैं, और परिणाम यह हुआ कि स्वयं पंतजी ने 'गद्य-पथ' में आकर सर्वत्र 'है' जोड़ दिया है। यद्यपि 'है' पर कवि का प्रकोप साधारणतः हमारी समझ में नहीं आता; फिर भी यह विचार सर्वथा अनर्गल नहीं था। खड़ी बोली का रूप इतना विश्लेषात्मक है कि उसे काव्य-भाषा के साँचे में ढालने के लिए निश्चय ही प्रवर्तक कवियों को कठिन श्रम करना पड़ा है। समास-गुण, काव्य-भाषा का अनिवार्य लक्षण है और पूरक क्रियाएं तथा अन्य पूरक पद लगाने से उसमें निश्चय ही शैथिल्य आ जाता है। द्विवेदी-युग के कवियों की आरम्भिक भाषा इसका प्रमाण है। इसी शैथिल्य से खीझकर अनगढ़ खड़ी बोली को काव्य-रूपों में ढालते हुए कलाकार कवि ने बंगला तथा अन्य भाषाओं से प्रेरणा लेकर यह प्रस्ताव रखा था। लोकमत इस सम्बन्ध में भी इतना प्रबल था कि पंतजी का प्रयत्न बुरी तरह विफल हुआ; परन्तु फिर भी उनकी सदाशयता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की दाद देनी ही चाहिए।

अलंकार

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। वे वाणी के हास-अश्रु, स्वप्न-पुलक, हाव-भाव हैं।" कहने का तात्पर्य यह है कि—१. अलंकार अभिव्यक्ति के अभिन्न अंग हैं : वे ऊपर से धारण किये हुए आभूषण नहीं हैं, और २. इस रूप में भी वे साधन-मात्र हैं, उनकी स्वतंत्र सत्ता भी नहीं है, साध्य होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अलंकार जहां अंग से अंगी हुए, वहीं अराजकता फैल जाती है। यह स्थिति क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और भारतीय अलंकारवाद की मध्यवर्ती है। पंतजी क्रोचे की भाँति अलंकार को अलंकार्य से अभिन्न तो नहीं मानते हैं; उस रूप में तो अलंकार का अस्तित्व ही मिट जाता है, परन्तु वे उसकी स्वतंत्र सत्ता के समर्थक नहीं हैं। वास्तव में यही दृष्टिकोण संगत भी है; इसमें दोनों प्रकार का अतिवाद बच जाता है। इसके अतिरिक्त पंतजी अलंकारों की संख्या निश्चित करने के विरुद्ध हैं। अलंकार वास्तव में भाषा का भाव-प्रेरित वक्र प्रयोग है और ऐसे प्रयोगों को संख्या में बाँधना सम्भव नहीं है : अनन्ताः हि वाग्विकल्पाः।

छन्द-विधान

प्रस्तुत भूमिका का सबसे मार्मिक अंश छंद-विवेचन है। उस समय जब कि छंद-विचार वर्ण, मात्रा की गणना तथा यति-गति आदि से आगे नहीं जाता था, पंतजी ने छन्द के मनोविज्ञान का सूक्ष्म-सरस विश्लेषण किया है। छन्द के प्रकरण में पंतजी की मान्यताएं इस प्रकार हैं :

१. कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है।

२. छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ गहरा सम्बन्ध है। संस्कृत का संगीत भाषा की संश्लेषात्मक प्रकृति के कारण शृंखलाकार, मेखलाकार हो गया है, वह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है। हिन्दी की प्रकृति विश्लेषात्मक है, अतएव उसका संगीत लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल-झंकारों का छेकानुप्रास है।

३. अतएव संस्कृत का संगीत व्यंजन-प्रधान है, और वर्ण-वृत्त उसके सहज वाहन हैं। हिन्दी का संगीत स्वर-प्रधान है जिसके सहज माध्यम हैं मात्रिक वृत्त। इस दृष्टि से रीति-कवियों के प्रिय छंद सवैया और कवित्त हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से एक प्रकार की जड़ता तथा एकस्वरता आ जाती है और राग का वैचित्र्य नष्ट हो जाता है। कवित्त में राग शब्द-प्रधान हो जाता है, वाणी के स्वाभाविक स्वर और संगीत का प्रभाव रुक जाता है जिसकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलंकारों की अधिकता से करनी पड़ती है।

४. तुक राग का हृदय है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियां मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहती हैं। तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी भावना का आधार-स्वरूप हो। अतुकान्त छन्द में दिन की कर्म-व्यस्त अनवरत गति है और तुकान्त में प्रभात तथा सन्ध्या का विरामयुक्त सन्तुलित पर्यटन।

५. मुक्त छन्द का आधार लय है; वह आन्तरिक ऐक्य अर्थात् भाव-साम्य पर अव-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का संयोग कर इस प्रसंग को आलोकित कर दिया है। उदाहरण के लिए, 'लहर' के पर्याय-शब्दों का विश्लेषण लीजिए : 'ऐसे ही हिलोर में उठान'''का आभास मिलता है।" (पृ० २५)। इस विषय में पंतजी का अभिमत है कि संस्कृत की पर्याय-कल्पना से अंगरेज़ी की पर्याय-कल्पना अधिक सार्थक तथा वैज्ञानिक है। उनका निष्कर्ष है कि संस्कृत में पर्याय-शब्दों का प्राचुर्य वर्ण-वृत्तों की आवश्यकता की पूर्ति का साधन है; भावों के छोटे-बड़े चढ़ाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्च्छनाओं, लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने का साधन नहीं है, जैसा कि अंगरेज़ी में है। यह धारणा अशुद्ध है; वास्तव में किशोर कवि के मन पर उन दिनों विदेश का जादू चढ़कर बोल रहा था, अतः वह भारतीय उपकरणों का उचित मूल्यांकन नहीं कर सका। संस्कृत की जैसी निर्माण-क्षमता और अभिव्यंजकता किसी भी अन्य भाषा में नहीं है; अंगरेज़ी में तो फ़्रैंच आदि से भी कम है।

काव्य-भाषा के प्रसंग में पंतजी ने हिन्दी में लिंग-निर्णय और समास-प्रयोग पर भी विचार प्रकट किये हैं। उनका मत है कि लिंग का निर्णय शब्द के अर्थ के अनुसार होना चाहिए, अकारान्त-इकारान्त के अनुसार नहीं। जिस वाच्य में कोमलता, लघुता आदि स्त्रियोचित गुण हैं उसे स्त्रीलिंग; और जिसमें परुषता, आकार आदि पुरुषोचित गुण हों उसे पुल्लिंग मानना चाहिए। "लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य अनिवार्य है; अन्यथा शब्दों का ठीक-ठीक चित्र सामने नहीं उतरता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित-सी हो जाती है।" इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के लिंग-निर्णय के मूल में जो धारणाएं प्रच्छन्न अथवा प्रकट रूप से वर्तमान हैं, उनमें एक प्रमुख धारणा 'लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य' भी है। परन्तु इसका सार्वभौम प्रयोग नहीं हो सकता—एक तो यह धारणा स्वयं ही अत्यंत भाव-परक है—क्योंकि स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आरोप मूलतः भावना का ही विषय है; दूसरे लोक-व्यवहार का उल्लंघन भी सरल नहीं है। पंतजी के अपने प्रयोग ही सफल नहीं हुए; 'प्रभात' को वे स्त्रीलिंग नहीं बना सके और अन्त में उनको अपनी धारणा में ही परिशोधन करना पड़ा। फिर भी आज से तीस वर्ष पूर्व नवयुवा कवि के ये विचार अत्यन्त प्रौढ़ और क्रान्तदर्शी थे, इसमें सन्देह नहीं; और आज भी यदि हिन्दी के लिंग को विवेक-सम्मत आधार देना है तो अर्थ और लिंग का यह सामंजस्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

हिन्दी के लिए पंतजी एक ओर समास को और दूसरी ओर पूरक क्रिया 'है' को त्याज्य मानते हैं। समास की वर्जना तो अन्य मनीषियों ने भी उनसे पहले और बाद में की है; परन्तु 'है' का बहिष्कार कुछ विचित्र-सा था। उसके बिना प्रस्तुत भूमिका के अनेक वाक्य अजीब-से लगते हैं, और परिणाम यह हुआ कि स्वयं पंतजी ने 'गद्य-पथ' में आकर सर्वत्र 'है' जोड़ दिया है। यद्यपि 'है' पर कवि का प्रकोप साधारणतः हमारी समझ में नहीं आता; फिर भी यह विचार सर्वथा अनर्गल नहीं था। खड़ी बोली का रूप इतना विश्लेषात्मक है कि उसे काव्य-भाषा के साँचे में ढालने के लिए निश्चय ही प्रवर्तक कवियों को कठिन श्रम करना पड़ा है। समास-गुण, काव्य-भाषा का अनिवार्य लक्षण है और पूरक क्रियाएं तथा अन्य पूरक पद लगाने से उसमें निश्चय ही शैथिल्य आ जाता है। द्विवेदी-युग के कवियों की आरम्भिक भाषा इसका प्रमाण है। इसी शैथिल्य से खीझकर अनगढ़ खड़ी बोली को काव्य-रूपों में ढालते हुए कलाकार कवि ने बंगला तथा अन्य भाषाओं से प्रेरणा लेकर यह प्रस्ताव रखा था। लोकमत इस सम्बन्ध में भी इतना प्रबल था कि पंतजी का प्रयत्न बुरी तरह विफल हुआ; परन्तु फिर भी उनकी सदाशयता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की दाद देनी ही चाहिए।

अलंकार

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। वे वाणी के हास-अश्रु, स्वप्न-पुलक, हाव-भाव हैं।" कहने का तात्पर्य यह है कि—१. अलंकार अभिव्यक्ति के अभिन्न अंग हैं : वे ऊपर से धारण किये हुए आभूषण नहीं हैं, और २. इस रूप में भी वे साधन-मात्र हैं, उनकी स्वतंत्र सत्ता भी नहीं है, साध्य होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अलंकार जहां अंग से अंगी हुए, वहीं अराजकता फैल जाती है। यह स्थिति क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और भारतीय अलंकारवाद की मध्यवर्ती है। पंतजी क्रोचे की भाँति अलंकार को अलंकार्य से अभिन्न तो नहीं मानते हैं; उस रूप में तो अलंकार का अस्तित्व ही मिट जाता है, परन्तु वे उसकी स्वतंत्र सत्ता के समर्थक नहीं हैं। वास्तव में यही दृष्टिकोण संगत भी है; इसमें दोनों प्रकार का अतिवाद बच जाता है। इसके अतिरिक्त पंतजी अलंकारों की संख्या निश्चित करने के विरुद्ध हैं। अलंकार वास्तव में भाषा का भाव-प्रेरित वक्र प्रयोग है और ऐसे प्रयोगों को संख्या में बाँधना सम्भव नहीं है : अनन्ताः हि वाग्विकल्पाः।

छन्द-विधान

प्रस्तुत भूमिका का सबसे मार्मिक अंश छंद-विवेचन है। उस समय जब कि छंद-विचार वर्ण, मात्रा की गणना तथा यति-गति आदि से आगे नहीं जाता था, पंतजी ने छन्द के मनोविज्ञान का सूक्ष्म-सरस विश्लेषण किया है। छन्द के प्रकरण में पंतजी की मान्यताएं इस प्रकार हैं :

१. कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है।

२. छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ गहरा सम्बन्ध है। संस्कृत का संगीत भाषा की संश्लेषात्मक प्रकृति के कारण शृंखलाकार, मेखलाकार हो गया है, वह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है। हिन्दी की प्रकृति विश्लेषात्मक है, अतएव उसका संगीत लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल-झंकारों का छेकानुप्रास है।

३. अतएव संस्कृत का संगीत व्यंजन-प्रधान है, और वर्ण-वृत्त उसके सहज वाहन हैं। हिन्दी का संगीत स्वर-प्रधान है जिसके सहज माध्यम हैं मात्रिक वृत्त। इस दृष्टि से रीति-कवियों के प्रिय छंद सवैया और कवित्त हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से एक प्रकार की जड़ता तथा एकस्वरता आ जाती है और राग का वैचित्र्य नष्ट हो जाता है। कवित्त में राग शब्द-प्रधान हो जाता है, वाणी के स्वाभाविक स्वर और संगीत का प्रभाव रुक जाता है जिसकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलंकारों की अधिकता से करनी पड़ती है।

४. तुक राग का हृदय है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियां मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहती हैं। तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी भावना का आधार-स्वरूप हो। अतुकान्त छन्द में दिन की कर्म-व्यस्त अनवरत गति है और तुकान्त में प्रभात तथा सन्ध्या का विरामयुक्त सन्तुलित पर्यटन।

५. मुक्त छन्द का आधार लय है; वह आन्तरिक ऐक्य अर्थात् भाव-साम्य पर अव-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लम्बित है। इस प्रकार की कविता में अंगों के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। अन्य छन्दों की तरह हिन्दी में मुक्त छन्द भी ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।

ये विचार निश्चय ही छन्द के गम्भीर मर्म-ज्ञान के परिचायक हैं। युवा कवि ने भाषा और छन्द की आत्मा में पैठकर उनके मूलवर्ती रहस्यों का उद्घाटन किया है। तुक का विवेचन हिन्दी में बहुत कम हुआ है; आज भी इस उपेक्षित किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व के विवेचन के लिए रीति-युग के आचार्य दास की प्रशंसा की जाती है। किन्तु दास ने जहां उसके बाह्य रूप और स्थूल भेदों की ही चर्चा की है, वहां पंतजी ने पहली बार हिन्दी में तुक के मर्म का विश्लेषण किया है: "तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी भावना का आधार-स्वरूप हो।"—इस मार्मिक तथ्य को उस समय कितने तुक्कड़ कवि और पिंगलाचार्य समझते थे ! परन्तु फिर भी पंतजी के सभी विचार अतर्क्य नहीं हैं; कुछ तो निश्चय ही अमान्य हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी की प्रकृति विश्लेषात्मक है; परन्तु पंतजी अपने कोमल स्वभाव के आग्रह से इस तथ्य को बहुत दूर तक घसीट ले गये हैं और उनके कुछ निष्कर्ष अत्यन्त एकांगी हो गये हैं। उदाहरण के लिए, उनका यह निष्कर्ष कि हिन्दी के संगीत का मूल आधार स्वर है, व्यंजन नहीं, उनकी अपनी गीति-प्रतिभा की अभिव्यक्ति में तो निश्चय ही सहायक हुआ है, किन्तु उनके काव्य में उदात्त और विराट् तत्त्व का अभाव भी बहुत-कुछ इसी का परिणाम है। व्यक्तित्व की बलिष्ठता के लिए केवल रक्तवाही नाड़ियां ही पर्याप्त नहीं हैं, दृढ़ अस्थि-जाल और पुष्ट मांस-पेशियां भी उतनी ही आवश्यक हैं। पंत-काव्य का विवेचन करते समय मेरे मन में अनेक बार यह बात आयी है कि जहां आन्तरिक भाव-चित्र विराट् है वहां भी उसका मूर्त्ताकार विराट् नहीं हो पाया। 'सन् १९४०' नामक कविता मेरे कथन को पुष्ट करेगी। इसका एक कारण यह धारणा भी है कि हिन्दी के संगीत का मूल आधार स्वर है, व्यंजन नहीं। मुक्त छन्द तो केवल स्वर के आधार पर अपनी गरिमा का विकास कर ही नहीं सकता; निराला और पंत के मुक्त छन्दों का अन्तर इसका प्रमाण है। वास्तव में संगीत की गरिमा स्वर और व्यंजन दोनों की मैत्री पर ही निर्भर है। उनकी ऊर्जस्वित संयोजनाओं के द्वारा ही उदात्त संगीत की सृष्टि सम्भव है। इसी प्रकार सवैया की मत्तगयन्द गति और कवित्त के तरंगायित आवर्त-प्रवाह के प्रति भी पंतजी की गीतिमयी स्वरप्रियता ने अन्याय किया है। नाद की गरिमा की उपेक्षा करके पंतजी की कविता विराट्-तत्त्व से वंचित हो गयी है।

मूल्यांकन

विभिन्न प्रसंगों का विवेचन करने के उपरान्त अब 'पल्लव' की भूमिका का सामान्य मूल्यांकन किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसमें मुख्यतः काव्य के बाह्य रूप की विवेचना है। यह भूमिका आज से तीस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी। उस समय हिन्दी-आलोचना अत्यन्त निर्धन थी। सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत दो-एक अलंकार-सम्बन्धी पाठ्य-ग्रन्थ, भानुजी का 'काव्य-प्रभाकर' तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के कतिपय लेख थे; व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं के ग्रन्थ 'नवरत्न' और 'विनोद' थे। उन दिनों देव-बिहारी के सम्बन्ध में विवाद भी इतने ज़ोर पर था कि पंतजी को उस पर व्यंग्य करना पड़ा है। शुक्लजी की सिद्धान्त-सम्बन्धी गम्भीर मनोवैज्ञानिक विवेचनाएं अभी सामने नहीं आयी थीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस पृष्ठभूमि में, पंतजी के इस सूक्ष्म विश्लेषण का अध्ययन कर वास्तव में चकित हो जाना पड़ता है। हिन्दी-साहित्य में पहली बार काव्य में बाह्य उपकरणों का—भाषा, अलंकार, छन्द आदि का—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया और इतनी सूक्ष्म मर्मभेदी दृष्टि से! उस समय तक हमारे आलोचक इन सभी उपकरणों के वस्तु-आधार से ही परिचित थे। भाषा, अलंकार, छन्द की लय, तुक आदि यांत्रिक शब्द-योजना, अप्रस्तुत-विधान अथवा वर्ण-मात्रा-गणना मात्र नहीं हैं, उनका निश्चित मनोविज्ञान है, अर्थात् वे भी प्रेषणीय भाव और विचार द्वारा प्रेरित होते हैं—बाह्य रूपों का यह अन्तर्दर्शन उनको नहीं हुआ था। 'पल्लव' की भूमिका में काव्य की बाह्य छवियों के इन रहस्यों का पहली बार अत्यन्त मार्मिक विश्लेषण हुआ। यह विश्लेषण वास्तव में अपने समय से इतना आगे था कि कम-से-कम एक दशाब्द तक हिन्दी-आलोचक इसके मर्म को नहीं समझ पाये।

छायावाद-युग में आकर जब पाश्चात्य आलोचना से सम्पर्क गहरा हुआ और हमारी आलोचना में भी अन्तर्विश्लेषण की प्रवृत्ति का विकास हुआ, तो 'पल्लव' की भूमिका का गहरा प्रभाव पड़ा। काव्य के कला-पक्ष के प्रति हिन्दी में एक नवीन दृष्टिकोण का विकास हुआ। काव्य-भाषा के क्षेत्र में व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धता के अतिरिक्त शब्द-अर्थ के अनेक चमत्कारों की ओर ध्यान गया, अलंकारों के नाम गिनाना यथेष्ट नहीं समझा गया; उनके अंतश्चमत्कारों का विश्लेषण होने लगा, छन्द में गति-भंग, यति-भंग, मात्रा-वर्ण आदि की गणना के स्थान पर उनके आन्तरिक संगीत और भावानुकूल लय आदि का विवेचन अधिक सार्थक माना जाने लगा। शास्त्र की शब्दावली में, काव्य के कला-पक्ष की आलोचना रीति-रूढ़ियों से मुक्त होकर मनोवैज्ञानिक होने लगी।

इसका एक विपरीत प्रभाव पड़ा; कला-पक्ष के विवेचन में रुचि बढ़ जाने से छायावाद के विषय में यह धारणा बनने लगी कि वह काव्य-शिल्प का, अभिव्यंजना का, एक प्रकार-मात्र है। शुक्लजी जैसे उद्भट आलोचक इस भ्रान्ति के शिकार हो गये। परन्तु इसमें बेचारे पंतजी का क्या दोष! उस समय कदाचित् इसकी आवश्यकता अधिक थी। बाद में काव्य के विचार और भाव-पक्ष का उन्होंने अत्यन्त प्रौढ़ विवेचन किया है, वरन् यह कहना चाहिए कि बाद में तो उन्होंने कला-पक्ष को एक प्रकार से छोड़ ही दिया है।

प्रस्तुत भूमिका के दोष भी उतने ही मुखर हैं जितने कि गुण। पंतजी प्रतिभावान् कवि हैं, उनमें युग-प्रवर्तक की असाधारण प्रतिभा है। अतएव अपनी प्रतिभा के बल पर वे काव्य के ऐसे अनेक रहस्यों का सहज ही साक्षात्कार कर सके जो शिक्षा और अभ्यास के लिए सामान्यतः सम्भव नहीं थे। परन्तु विचार के लिए प्रौढ़ि का भी महत्त्व कम नहीं है। भूमिका में प्रतिभा की दीप्ति तो अवश्य है; परन्तु प्रौढ़ और संतुलित विचार की न्यूनता है। ब्रज-भाषा और साहित्य के विरुद्ध उनका आक्रोश सर्वथा न्याय्य नहीं है। रीति-काव्य के रस-सिद्ध कवियों के प्रति भी वे अत्यन्त कठोर हैं। उसी प्रवाह में वे कवित्त और सवैया का भी तिरस्कार कर बैठे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक तो कवि पर पाश्चात्य साहित्य और दर्शन का प्रभाव इतना अधिक है कि उसके मन में भारतीय वाङ्मय के प्रति उपेक्षा-भाव उत्पन्न हो गया है; दूसरे नवीन काव्य-प्रवृत्ति के तत्कालीन विरोध ने, जो बड़े स्थूल रूप में प्रकट हो रहा था, उसे कुछ और उत्तेजित कर दिया है। इसलिए पंतजी का व्यंग्य स्थान-स्थान पर उनके सौम्य स्वभाव के विपरीत बड़ा तीखा हो उठा है। फिर भी, कारण चाहे जो कुछ हो, 'पल्लव' की भूमिका में वांछित प्रौढ़ता और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लम्बित है। इस प्रकार की कविता में अंगों के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। अन्य छन्दों की तरह हिन्दी में मुक्त छन्द भी ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।

ये विचार निश्चय ही छन्द के गम्भीर मर्म-ज्ञान के परिचायक हैं। युवा कवि ने भाषा और छन्द की आत्मा में पैठकर उनके मूलवर्ती रहस्यों का उद्घाटन किया है। तुक का विवेचन हिन्दी में बहुत कम हुआ है; आज भी इस उपेक्षित किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व के विवेचन के लिए रीति-युग के आचार्य दास की प्रशंसा की जाती है। किन्तु दास ने जहां उसके बाह्य रूप और स्थूल भेदों की ही चर्चा की है, वहां पंतजी ने पहली बार हिन्दी में तुक के मर्म का विश्लेषण किया है : "तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी भावना का आधार-स्वरूप हो।"—इस मार्मिक तथ्य को उस समय कितने तुक्कड़ कवि और पिंगलाचार्य समझते थे ! परन्तु फिर भी पंतजी के सभी विचार अतर्क्य नहीं हैं; कुछ तो निश्चय ही अमान्य हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी की प्रकृति विश्लेषात्मक है; परन्तु पंतजी अपने कोमल स्वभाव के आग्रह से इस तथ्य को बहुत दूर तक घसीट ले गये हैं और उनके कुछ निष्कर्ष अत्यन्त एकांगी हो गये हैं। उदाहरण के लिए, उनका यह निष्कर्ष कि हिन्दी के संगीत का मूल आधार स्वर है, व्यंजन नहीं, उनकी अपनी गीति-प्रतिभा की अभिव्यक्ति में तो निश्चय ही सहायक हुआ है, किन्तु उनके काव्य में उदात्त और विराट् तत्त्व का अभाव भी बहुत-कुछ इसी का परिणाम है। व्यक्तित्व की वलिष्ठता के लिए केवल रक्तवाही नाड़ियां ही पर्याप्त नहीं हैं, दृढ़ अस्थि-जाल और पुष्ट मांस-पेशियां भी उतनी ही आवश्यक हैं। पंत-काव्य का विवेचन करते समय मेरे मन में अनेक बार यह बात आयी है कि जहां आन्तरिक भाव-चित्र विराट् है वहां भी उसका मूर्त्ताकार विराट् नहीं हो पाया। 'सन् १९४०' नामक कविता मेरे कथन को पुष्ट करेगी। इसका एक कारण यह धारणा भी है कि हिन्दी के संगीत का मूल आधार स्वर है, व्यंजन नहीं। मुक्त छन्द तो केवल स्वर के आधार पर अपनी गरिमा का विकास कर ही नहीं सकता; निराला और पंत के मुक्त छन्दों का अन्तर इसका प्रमाण है। वास्तव में संगीत की गरिमा स्वर और व्यंजन दोनों की मैत्री पर ही निर्भर है। उनकी ऊर्जस्वित संयोजनाओं के द्वारा ही उदात्त संगीत की सृष्टि सम्भव है। इसी प्रकार सवैया की मत्तगयन्द गति और कवित्त के तरंगायित आवर्त-प्रवाह के प्रति भी पंतजी की गीतिमयी स्वरप्रियता ने अन्याय किया है। नाद की गरिमा की उपेक्षा करके पंतजी की कविता विराट्-तत्त्व से वंचित हो गयी है।

मूल्यांकन

विभिन्न प्रसंगों का विवेचन करने के उपरान्त अब 'पल्लव' की भूमिका का सामान्य मूल्यांकन किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसमें मुख्यतः काव्य के बाह्य रूप की विवेचना है। यह भूमिका आज से तीस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी। उस समय हिन्दी-आलोचना अत्यन्त निर्धन थी। सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत दो-एक अलंकार-सम्बन्धी पाठ्य-ग्रन्थ, भानुजी का 'काव्य-प्रभाकर' तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के कतिपय लेख थे; व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं के ग्रन्थ 'नवरत्न' और 'विनोद' थे। उन दिनों देव-बिहारी के सम्बन्ध में विवाद भी इतने ज़ोर पर था कि पंतजी को उस पर व्यंग्य करना पड़ा है। शुक्लजी की सिद्धान्त-सम्बन्धी गम्भीर मनोवैज्ञानिक विवेचनाएं अभी सामने नहीं आयी थीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस पृष्ठभूमि में, पंतजी के इस सूक्ष्म विश्लेषण का अध्ययन कर वास्तव में चकित हो जाना पड़ता है। हिन्दी-साहित्य में पहली बार काव्य में बाह्य उपकरणों का—भाषा, अलंकार, छन्द आदि का—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया और इतनी सूक्ष्म मर्मभेदी दृष्टि से ! उस समय तक हमारे आलोचक इन सभी उपकरणों के वस्तु-आधार से ही परिचित थे। भाषा, अलंकार, छन्द की लय, तुक आदि यांत्रिक शब्द-योजना, अप्रस्तुत-विधान अथवा वर्ण-मात्रा-गणना मात्र नहीं हैं, उनका निश्चित मनोविज्ञान है, अर्थात् वे भी प्रेषणीय भाव और विचार द्वारा प्रेरित होते हैं—बाह्य रूपों का यह अन्तर्दर्शन उनको नहीं हुआ था। 'पल्लव' की भूमिका में काव्य की बाह्य छवियों के इन रहस्यों का पहली बार अत्यन्त मार्मिक विश्लेषण हुआ। यह विश्लेषण वास्तव में अपने समय से इतना आगे था कि कम-से-कम एक दशाब्द तक हिन्दी-आलोचक इसके मर्म को नहीं समझ पाये।

छायावाद-युग में आकर जब पाश्चात्य आलोचना से सम्पर्क गहरा हुआ और हमारी आलोचना में भी अन्तर्विश्लेषण की प्रवृत्ति का विकास हुआ, तो 'पल्लव' की भूमिका का गहरा प्रभाव पड़ा। काव्य के कला-पक्ष के प्रति हिन्दी में एक नवीन दृष्टिकोण का विकास हुआ। काव्य-भाषा के क्षेत्र में व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धता के अतिरिक्त शब्द-अर्थ के अनेक चमत्कारों की ओर ध्यान गया, अलंकारों के नाम गिनाना यथेष्ट नहीं समझा गया; उनके अंतश्चमत्कारों का विश्लेषण होने लगा, छन्द में गति-भंग, यति-भंग, मात्रा-वर्ण आदि की गणना के स्थान पर उनके आन्तरिक संगीत और भावानुकूल लय आदि का विवेचन अधिक सार्थक माना जाने लगा। शास्त्र की शब्दावली में, काव्य के कला-पक्ष की आलोचना रीति-रूढ़ियों से मुक्त होकर मनोवैज्ञानिक होने लगी।

इसका एक विपरीत प्रभाव पड़ा; कला-पक्ष के विवेचन में रुचि बढ़ जाने से छायावाद के विषय में यह धारणा बनने लगी कि वह काव्य-शिल्प का, अभिव्यंजना का, एक प्रकार-मात्र है। शुक्लजी जैसे उद्‌भट आलोचक इस भ्रान्ति के शिकार हो गये। परन्तु इसमें वेचारे पंतजी का क्या दोष ! उस समय कदाचित् इसकी आवश्यकता अधिक थी। बाद में काव्य के विचार और भाव-पक्ष का उन्होंने अत्यन्त प्रौढ़ विवेचन किया है, वरन् यह कहना चाहिए कि बाद में तो उन्होंने कला-पक्ष को एक प्रकार से छोड़ ही दिया है।

प्रस्तुत भूमिका के दोष भी उतने ही मुखर हैं जितने कि गुण। पंतजी प्रतिभावान् कवि हैं, उनमें युग-प्रवर्तक की असाधारण प्रतिभा है। अतएव अपनी प्रतिभा के बल पर वे काव्य के ऐसे अनेक रहस्यों का सहज ही साक्षात्कार कर सके जो शिक्षा और अभ्यास के लिए सामान्यतः सम्भव नहीं थे। परन्तु विचार के लिए प्रौढ़ि का भी महत्त्व कम नहीं है। भूमिका में प्रतिभा की दीप्ति तो अवश्य है; परन्तु प्रौढ़ और संतुलित विचार की न्यूनता है। ब्रज-भाषा और साहित्य के विरुद्ध उनका आक्रोश सर्वथा न्याय्य नहीं है। रीति-काव्य के रस-सिद्ध कवियों के प्रति भी वे अत्यन्त कठोर हैं। उसी प्रवाह में वे कवित्त और सवैया का भी तिरस्कार कर बैठे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक तो कवि पर पाश्चात्य साहित्य और दर्शन का प्रभाव इतना अधिक है कि उसके मन में भारतीय वाङ्मय के प्रति उपेक्षा-भाव उत्पन्न हो गया है; दूसरे नवीन काव्य-प्रवृत्ति के तत्कालीन विरोध ने, जो बड़े स्थूल रूप में प्रकट हो रहा था, उसे कुछ और उत्तेजित कर दिया है। इसलिए पंतजी का व्यंग्य स्थान-स्थान पर उनके सौम्य स्वभाव के विपरीत बड़ा तीखा हो उठा है। फिर भी, कारण चाहे जो कुछ हो, 'पल्लव' की भूमिका में वांछित प्रौढ़ता और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संतुलन का अभाव है। यही बात इसकी भाषा के विषय में है; भूमिका की भाषा के गुण-दोष भी साफ़ अलग-अलग चमक जाते हैं। एक ओर उसमें कवित्व की छटा और अत्यन्त मार्मिक लाक्षणिक प्रयोग हैं, तो दूसरी ओर कृत्रिमता और वागाडम्बर भी कम नहीं है। कहीं-कहीं भाषा के शब्दावर्त में विचार एकदम छिप जाता है। पुनरावृत्ति का भी अभाव नहीं है, और स्थान-स्थान पर ऐसा लगता है जैसे कवि अपने उद्देश्य को भूलकर भाषा की छटा को ही साध्य मान बैठा है। उद्देश्यों का यह विपर्यय अपने-आप में एक बड़ा अपराध है। कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी अस्पष्ट या अशुद्ध है। जैसे 'राग' का प्रयोग अस्पष्ट है; यह स्पष्ट नहीं होता कि राग से अभिप्राय आधारभूत भाव का है या संगीत का। इसी प्रकार 'एक्सप्रेशन' के लिए एक स्थान पर 'स्वर' पर्याय का प्रयोग हुआ है जो किसी भी रूप में शुद्ध नहीं है। 'स्वर' 'टोन' का पर्याय तो हो सकता है, 'एक्सप्रेशन' का नहीं।

परन्तु यह सब छिद्रान्वेषण तो विश्लेषात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है; तनिक संश्लेषात्मक दृष्टि से विचार कीजिये। आज से तीस वर्ष पूर्व हिन्दी-आलोचना का अन्धकार-युग, २४–२५ वर्ष की आयु का युवा कवि और काव्य-कला के मर्म का यह अपूर्व उद्घाटन! आलोचक का मन सम्भ्रम और विस्मय से भर जाता है और अभिनवगुप्त के शब्दों में वह अनायास ही कह उठता है:

क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसरसुभगं भासयति तत्,
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्!

(ख) गद्य-पथ

'गद्य-पथ' में दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में पंतजी की पाँच भूमिकाएं हैं, इनमें 'पल्लव' का प्रसिद्ध युग-परिवर्तनकारी 'प्रवेश', 'आधुनिक कवि' का सूक्ष्म 'पर्यालोचन' तथा 'उत्तरा' की प्रतिरक्षात्मक 'प्रस्तावना' है, जिसमें अन्तर्मन का गहन विश्लेषण है। 'युगवाणी' का 'दृष्टिपात' भी पंतजी की अन्तश्चेतना के विकास के उस मोड़-विशेष के बहिरन्तर वातावरण को स्पष्ट करता है। 'विज्ञप्ति' का मूल्य साहित्यिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है। प्रस्तुत संकलन में पहली बार यह अविकल रूप से हिन्दी-पाठकों के समक्ष आयी है। इसमें 'सुकवि-किंकर' जी पर बाल-कवि का वह कठोर प्रहार भी यथावत् वर्तमान है। मधुमक्खी भी चिढ़कर डंक मारने पर बाध्य हो जाती है—यह भाव हमारे मन में इसे पढ़कर अनायास ही जाग्रत हो जाता है। 'पल्लव' के प्रवेश में पहली बार शब्द, अलंकार तथा छन्द की अन्तरात्मा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण हुआ और काव्य-शिल्प के विश्लेषण को नवीन दिशा मिली। 'पल्लव' के प्रवेश में केवल बहिरंग का ही विवेचन था, किन्तु 'आधुनिक कवि' के पर्यालोचन में काव्य की अन्तश्चेतना का भी विस्तार के साथ विश्लेषण किया गया। यद्यपि पंतजी ने यहां मुख्य रूप से अपनी ही विकासमयी काव्य-चेतना का विश्लेषण प्रस्तुत किया है; फिर भी विशिष्ट के साथ सामान्य का विवेचन भी हो ही गया है। कवि ने यहां आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-विश्लेषण करते हुए अपने काव्य के विषय में अनेक मौलिक तथ्यों का उद्घाटन किया है। 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक कवि की अन्तश्चेतना किस प्रकार सुन्दर से शिव की ओर सत्य के मार्ग से बढ़ी है, किस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रेरित उनकी कल्पना क्रमशः ऐतिहासिक विचारधारा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से प्रभाव ग्रहण करने लगी है—इस विकास-क्रम का अत्यन्त सफल निरूपण प्रस्तुत पर्यालोचन में मिलता है। पंतजी की काव्य-चेतना का मूल आधार कल्पना है, इस तथ्य की अत्यन्त निर्भ्रान्त स्वीकृति भी यहां पहली बार मिलती है : "मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूं···मेरा विचार है कि 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते हैं।" इस स्पष्ट स्वीकारोक्ति में पंत-काव्य की शक्ति और परिसीमा निहित है। पंतजी ने भाव अथवा अनुभूति के स्थान पर कल्पना को जीवन का सबसे बड़ा सत्य माना है। यह मान्यता इस सत्य की स्वीकृति है कि आदर्श सदा हमारे स्वभाव अथवा अन्तःसंस्कारों के उन्नयन-मात्र होते हैं। पंतजी के संकोचशील, अनुभव-भीरु स्वभाव का सबसे बड़ा सहारा कल्पना ही है। अनुभूति के रक्त-मांस से अपुष्ट उनके संस्कार कल्पना की वायवी क्रीड़ाओं में ही सुख ले सकते हैं। कल्पना जीवन के लिए वरदान है, इसमें क्या सन्देह है; किन्तु अनुभूति तो स्वयं जीवन ही है। अनुभूति के पोषण में ही कल्पना की सिद्धि है, परन्तु पंतजी भाव को कल्पना का पोषक उपकरण मानते हैं। यह वास्तव में जीवन-तत्त्वों का मौलिक विपर्यय है और पंतजी के काव्य में जीवन की प्राणवत्ता तथा रक्त-मांस का अभाव इसी के कारण है। 'ग्राम्या' के विषय में उनकी सफ़ाई है : "ग्राम-जीवन में मिलकर उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने ग्राम-जनता को 'रक्त-मांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव के रूप में देखा है।"—पंतजी क्षमा करें, यह तर्क निष्प्राण है ! 'ग्राम्या' की सृष्टि, जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, विचारधाराओं, स्वप्नों और कल्पनाओं से प्रेरित होकर की गयी है; उसके पीछे अनुभूत सत्यों की जीवन्त प्रेरणा नहीं है, विचार, कल्पना और स्वप्नों की अप्रत्यक्ष प्रेरणा है। वास्तव में विचार और कल्पना की अधिक-से-अधिक सम्भव विभूतियों का अर्जन पंतजी कर चुके हैं, पर प्रत्यक्ष अनुभूति की आग में तपे बिना जीवन की मूर्ति पूर्णतम कैसे हो सकती है !

अन्तश्चेतना का विश्लेषण 'उत्तरा' की प्रस्तावना में और भी सूक्ष्म-गहन हो गया है। कवि का चिन्तन इस समय श्री अरविंद के 'अन्तश्चेतनावाद' से प्रभावित है। परन्तु अन्तश्चेतनावाद की यह आग्रहपूर्ण स्वीकृति कोई नवीन घटना नहीं है। जैसा कि पंतजी ने स्वयं स्पष्ट किया है, यह उनकी विचार-परम्परा की सहज परिणति-मात्र है :

"'ज्योत्स्ना' में मैंने जीवन की जिन बहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपान्तरित होने की ओर इंगित किया है, 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्णकिरण' में अन्तर्मुखी (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है : किन्तु, समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएं दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं और दोनों कालों की रचनाओं से इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है, तो 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं।"

पंतजी के अनुसार इस युग की विषमताओं का समाधान है लोक-संगठन और मनःसंगठन—स्वस्थ भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय से निर्मित सांस्कृतिक चेतना,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संतुलन का अभाव है। यही बात इसकी भाषा के विषय में है; भूमिका की भाषा के गुण-दोष भी साफ़ अलग-अलग चमक जाते हैं। एक ओर उसमें कवित्व की छटा और अत्यन्त मार्मिक लाक्षणिक प्रयोग हैं, तो दूसरी ओर कृत्रिमता और वागाडम्बर भी कम नहीं है। कहीं-कहीं भाषा के शब्दावर्त में विचार एकदम छिप जाता है। पुनरावृत्ति का भी अभाव नहीं है, और स्थान-स्थान पर ऐसा लगता है जैसे कवि अपने उद्देश्य को भूलकर भाषा की छटा को ही साध्य मान बैठा है। उद्देश्यों का यह विपर्यय अपने-आप में एक बड़ा अपराध है। कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी अस्पष्ट या अशुद्ध है। जैसे 'राग' का प्रयोग अस्पष्ट है; यह स्पष्ट नहीं होता कि राग से अभिप्राय आधारभूत भाव का है या संगीत का। इसी प्रकार 'एक्सप्रेशन' के लिए एक स्थान पर 'स्वर' पर्याय का प्रयोग हुआ है जो किसी भी रूप में शुद्ध नहीं है। 'स्वर' 'टोन' का पर्याय तो हो सकता है, 'एक्सप्रेशन' का नहीं।

परन्तु यह सब छिद्रान्वेषण तो विश्लेषात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है; तनिक संश्लेषात्मक दृष्टि से विचार कीजिये। आज से तीस वर्ष पूर्व हिन्दी-आलोचना का अन्धकार-युग, २४–२५ वर्ष की आयु का युवा कवि और काव्य-कला के मर्म का यह अपूर्व उद्घाटन! आलोचक का मन सम्भ्रम और विस्मय से भर जाता है और अभिनवगुप्त के शब्दों में वह अनायास ही कह उठता है :

क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसरसुभगं भासयति तत्,
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्!

(ख) गद्य-पथ

'गद्य-पथ' में दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में पंतजी की पाँच भूमिकाएं हैं, इनमें 'पल्लव' का प्रसिद्ध युग-परिवर्तनकारी 'प्रवेश', 'आधुनिक कवि' का सूक्ष्म 'पर्यालोचन' तथा 'उत्तरा' की प्रतिरक्षात्मक 'प्रस्तावना' है, जिसमें अन्तर्मन का गहन विश्लेषण है। 'युगवाणी' का 'दृष्टिपात' भी पंतजी की अन्तश्चेतना के विकास के उस मोड़-विशेष के बहिरन्तर वातावरण को स्पष्ट करता है। 'विज्ञप्ति' का मूल्य साहित्यिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है। प्रस्तुत संकलन में पहली बार यह अविकल रूप से हिन्दी-पाठकों के समक्ष आयी है। इसमें 'सुकवि-किंकर' जी पर बाल-कवि का वह कठोर प्रहार भी यथावत् वर्तमान है। मधुमक्खी भी चिढ़कर डंक मारने पर बाध्य हो जाती है—यह भाव हमारे मन में इसे पढ़कर अनायास ही जाग्रत हो जाता है। 'पल्लव' के प्रवेश में पहली बार शब्द, अलंकार तथा छन्द की अन्तरात्मा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण हुआ और काव्य-शिल्प के विश्लेषण को नवीन दिशा मिली। 'पल्लव' के प्रवेश में केवल बहिरंग का ही विवेचन था, किन्तु 'आधुनिक कवि' के पर्यालोचन में काव्य की अन्तश्चेतना का भी विस्तार के साथ विश्लेषण किया गया। यद्यपि पंतजी ने यहां मुख्य रूप से अपनी ही विकासमयी काव्य-चेतना का विश्लेषण प्रस्तुत किया है; फिर भी विशिष्ट के साथ सामान्य का विवेचन भी हो ही गया है। कवि ने यहां आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-विश्लेषण करते हुए अपने काव्य के विषय में अनेक मौलिक तथ्यों का उद्घाटन किया है। 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक कवि की अन्तश्चेतना किस प्रकार सुन्दर से शिव की ओर सत्य के मार्ग से बढ़ी है, किस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रेरित उनकी कल्पना क्रमशः ऐतिहासिक विचारधारा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से प्रभाव ग्रहण करने लगी है—इस विकास-क्रम का अत्यन्त सफल निरूपण प्रस्तुत पर्यालोचन में मिलता है। पंतजी की काव्य-चेतना का मूल आधार कल्पना है, इस तथ्य की अत्यन्त निर्भ्रान्त स्वीकृति भी यहां पहली बार मिलती है : "मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूं···मेरा विचार है कि 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते हैं।" इस स्पष्ट स्वीकारोक्ति में पंत-काव्य की शक्ति और परिसीमा निहित है। पंतजी ने भाव अथवा अनुभूति के स्थान पर कल्पना को जीवन का सबसे बड़ा सत्य माना है। यह मान्यता इस सत्य की स्वीकृति है कि आदर्श सदा हमारे स्वभाव अथवा अन्त:संस्कारों के उन्नयन-मात्र होते हैं। पंतजी के संकोचशील, अनुभव-भीरु स्वभाव का सबसे बड़ा सहारा कल्पना ही है। अनुभूति के रक्त-मांस से अपुष्ट उनके संस्कार कल्पना की वायवी क्रीड़ाओं में ही सुख ले सकते हैं। कल्पना जीवन के लिए वरदान है, इसमें क्या सन्देह है; किन्तु अनुभूति तो स्वयं जीवन ही है। अनुभूति के पोषण में ही कल्पना की सिद्धि है, परन्तु पंतजी भाव को कल्पना का पोषक उपकरण मानते हैं। यह वास्तव में जीवन-तत्त्वों का मौलिक विपर्यय है और पंतजी के काव्य में जीवन की प्राणवत्ता तथा रक्त-मांस का अभाव इसी के कारण है। 'ग्राम्या' के विषय में उनकी सफ़ाई है : "ग्राम-जीवन में मिलकर उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने ग्राम-जनता को 'रक्त-मांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव के रूप में देखा है।"—पंतजी क्षमा करें, यह तर्क निष्प्राण है ! 'ग्राम्या' की सृष्टि, जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, विचारधाराओं, स्वप्नों और कल्पनाओं से प्रेरित होकर की गयी है; उसके पीछे अनुभूत सत्यों की जीवन्त प्रेरणा नहीं है, विचार, कल्पना और स्वप्नों की अप्रत्यक्ष प्रेरणा है। वास्तव में विचार और कल्पना की अधिक-से-अधिक सम्भव विभूतियों का अर्जन पंतजी कर चुके हैं, पर प्रत्यक्ष अनुभूति की आग में तपे विना जीवन की मूर्ति पूर्णतम कैसे हो सकती है !

अन्तश्चेतना का विश्लेषण 'उत्तरा' की प्रस्तावना में और भी सूक्ष्म-गहन हो गया है। कवि का चिन्तन इस समय श्री अरविंद के 'अन्तश्चेतनावाद' से प्रभावित है। परन्तु अन्तश्चेतनावाद की यह आग्रहपूर्ण स्वीकृति कोई नवीन घटना नहीं है। जैसा कि पंतजी ने स्वयं स्पष्ट किया है, यह उनकी विचार-परम्परा की सहज परिणति-मात्र है :

"'ज्योत्स्ना' में मैंने जीवन की जिन बहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपान्तरित होने की ओर इंगित किया है, 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्णकिरण' में अन्तर्मुखी (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है : किन्तु, समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएं दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं और दोनों कालों की रचनाओं से इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है, तो 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्त्वत: एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं।"

पंतजी के अनुसार इस युग की विषमताओं का समाधान है लोक-संगठन और मन:-संगठन—स्वस्थ भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय से निर्मित सांस्कृतिक चेतना,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिसे उन्होंने अन्तश्चेतना तथा नवमानववाद भी कहा है। यह चेतना मानव के ऊर्ध्व विकास और समतल विकास की पूर्ण संतुलित स्थिति है। आज के कलाकार को भी इसी से अपना सौन्दर्य-बोध प्राप्त करना होगा। कवि के अपने शब्दों में : "जीवन के शतदल को मानस-तल के ऊपर नवीन सौन्दर्य-बोध में प्रतिष्ठित कर उसमें पदार्थ की पंखुड़ियों का संतुलित प्रसार तथा चेतना की किरणों का सतरंग ऐश्वर्य भरना होगा।" पंतजी की विचारधारा की यही परिणति है। पंतजी के इस दार्शनिक चिन्तन पर फ़ायड आदि के नवीन अनुसंधान का भी प्रभाव है; परन्तु कवि ने प्राणिशास्त्र पर आश्रित उनके उपचेतनवाद को मान्यता-रूप में स्वीकार नहीं किया, उसकी प्रक्रिया-मात्र का उपयोग किया है। वास्तव में पंतजी की चिन्ता-धारा के चरम परिपाक-रूप इस दर्शन का, प्रस्तुत भूमिका में अत्यन्त सफल तथा गम्भीर विवेचन हुआ है। इस प्रौढ़ विवेचना को डॉ० रामविलास के एक लेख से प्रेरणा मिली है। उसका उत्तर या प्रत्यालोचन तो यह नहीं है, क्योंकि उत्तर का अधिकारी तो समकक्ष व्यक्ति ही हो सकता है; किन्तु फिर भी इसकी पृष्ठभूमि में डाक्टर शर्मा का वह युगान्तक लेख था अवश्य, जिसकी कृपा से साहित्यिक विप्लव के उस अल्पायु तथाकथित प्रगतिवादी युग का सहज अन्त हो गया। काव्य के आत्मदर्शी मर्म-ज्ञाता और सिद्धान्त-व्यवसायी के सांस्कृतिक स्तर में कितना अन्तर होता है, इसका आभास प्रस्तुत भूमिका और उधर डॉ० शर्मा के लेख के युगपत् अध्ययन से आपको सहज ही मिल जाएगा।

'गद्य-पथ' का दूसरा खंड इतना गम्भीर चाहे न हो, किन्तु रोचक अधिक है। उसमें पंतजी के कवि-जीवन के अनेक ऐसे संस्मरण हैं जो अत्यन्त ज्ञान-वर्धक हैं और रोचक भी हैं। उदाहरण के लिए, पंत-साहित्य के कितने अध्येता यह जानते हैं कि पंतजी को सबसे पहले काव्य-प्रेरणा लक्ष्मणसिंह के हिन्दी-मेघदूत से मिली थी। पंत के काव्य पर कालिदास का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिए यह अनुमान चाहे आप कर भी लें; किन्तु क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि पंत के आरम्भिक प्रेरक प्रभावों में नरोत्तमदास-कृत 'सुदामा-चरित' भी है और शुरू में नाथूराम 'शंकर' शर्मा की कविता भी पंतजी को अच्छी लगती थी। पंतजी अल्प-अधीत नहीं हैं, किन्तु उन्होंने पुस्तकों की अपेक्षा प्रकृति और प्रकृति के बाद महापुरुषों के दर्शन अथवा मानसिक सत्संग से अधिक सीखा है। जिन दो पुस्तकों का उन्होंने विशेष रूप से उल्लेख किया है, उनमें पहले बाइबिल और तत्पश्चात् उपनिषद् का नाम आता है। वास्तव में यह स्वीकृति कितनी सहज सत्य है! पंतजी के बाल-सरल स्वभाव को निश्चय ही बाइबिल का सरल चिन्तन अधिक अनुकूल रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। इस खंड का दूसरा लेख भी काफ़ी रोचक है, और वह है 'यदि मैं कामायनी लिखता'। पंतजी ने अत्यन्त निश्छल भाव से स्वीकार किया है कि 'कामायनी' लिखना उनके लिए असम्भव था, और यह बात भी ठीक ही है। पंत और प्रसाद दोनों की प्रतिभाओं में मौलिक भेद है। पंतजी की प्रतिभा यदि मुग्धा किशोरी है तो प्रसादजी की प्रतिभा रसम्भरा युवती। प्रसाद का मधुर और विराट् दोनों पर अधिकार था; पंतजी की कोमल कल्पना मधुर के साथ तो विस्मय-विमुग्ध क्रीड़ाएं करने में प्रगल्भ है, किन्तु उसकी कोमल बांहें विराट् को अपने आलिंगन में नहीं बाँध सकतीं। फिर भी 'कामायनी' के विषय में पंतजी के कुछ निष्कर्ष इतने पैने हैं कि तुरन्त ही 'कामायनी' के अध्येता के मन में प्रवेश कर जाते हैं। उदाहरण के लिए, उनका यह आरोप कितना मार्मिक और तलस्पर्शी है कि 'कामायनी' में अत्यन्त साधारणीकरण के कारण वैशिष्ट्य का अभाव मिलता है, इसलिए यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मन को पकड़ नहीं सकती ! कला के सम्बन्ध में भी उनका यह आरोप अत्यन्त सार्थक है कि 'कामायनी' की कला-चेतना में जैसा निखार मिलता है, कला-शिल्प अथवा शब्द-शिल्प में वैसी प्रौढ़ता नहीं मिलती। 'कामायनी' में कला-वैभव कम नहीं है, किन्तु फिर भी पंत के काव्य-शिल्प की निर्दोषता उसमें कहां ! 'कामायनी' के प्रति मेरा पक्षपाती मन इसका उत्तर भी तुरन्त दे देता है और वह यह कि निर्दोषता प्रायः प्राण-शक्ति की न्यूनता का पर्याय हो जाती है। कामायनीकार की कला अपनी महाप्राणता में यदि कहीं-कहीं अनगढ़ भी है, तो उसकी अनगढ़ता भी कनक-तुषार-मण्डित हिमालय की अनगढ़ता है। इस खंड में भी कुछ लेख अत्यन्त गम्भीर और मौलिक हैं; जैसे कला का प्रयोजन, आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत आदि। उनकी चर्चा फिर कभी और कहीं करूंगा। कुल मिलाकर, 'गद्य-पथ' आधुनिक हिन्दी-साहित्य का अमूल्य प्रलेख है। वह पंत के काव्य-रत्नागार की स्वर्ण-कुन्जी तो है ही, उसके द्वारा आधुनिक काव्य के अनेक सुन्दर रहस्यों का उद्घाटन भी सहज ही हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिसे उन्होंने अन्तश्चेतना तथा नवमानववाद भी कहा है। यह चेतना मानव के ऊर्ध्व विकास और समतल विकास की पूर्ण संतुलित स्थिति है। आज के कलाकार को भी इसी से अपना सौन्दर्य-बोध प्राप्त करना होगा। कवि के अपने शब्दों में : "जीवन के शतदल को मानस-तल के ऊपर नवीन सौन्दर्य-बोध में प्रतिष्ठित कर उसमें पदार्थ की पंखुड़ियों का संतुलित प्रसार तथा चेतना की किरणों का सतरंग ऐश्वर्य भरना होगा।" पंतजी की विचारधारा की यही परिणति है। पंतजी के इस दार्शनिक चिन्तन पर फ़ायड आदि के नवीन अनुसंधान का भी प्रभाव है; परन्तु कवि ने प्राणिशास्त्र पर आश्रित उनके उपचेतनवाद को मान्यता-रूप में स्वीकार नहीं किया, उसकी प्रक्रिया-मात्र का उपयोग किया है। वास्तव में पंतजी की चिन्ता-धारा के चरम परिपाक-रूप इस दर्शन का, प्रस्तुत भूमिका में अत्यन्त सफल तथा गम्भीर विवेचन हुआ है। इस प्रौढ़ विवेचना को डॉ० रामविलास के एक लेख से प्रेरणा मिली है। उसका उत्तर या प्रत्यालोचन तो यह नहीं है, क्योंकि उत्तर का अधिकारी तो समकक्ष व्यक्ति ही हो सकता है; किन्तु फिर भी इसकी पृष्ठभूमि में डाक्टर शर्मा का वह युगान्तक लेख था अवश्य, जिसकी कृपा से साहित्यिक विप्लव के उस अल्पायु तथाकथित प्रगतिवादी युग का सहज अन्त हो गया। काव्य के आत्मदर्शी मर्म-ज्ञाता और सिद्धान्त-व्यवसायी के सांस्कृतिक स्तर में कितना अन्तर होता है, इसका आभास प्रस्तुत भूमिका और उधर डॉ० शर्मा के लेख के युगपत् अध्ययन से आपको सहज ही मिल जाएगा।

'गद्य-पथ' का दूसरा खंड इतना गम्भीर चाहे न हो, किन्तु रोचक अधिक है। उसमें पंतजी के कवि-जीवन के अनेक ऐसे संस्मरण हैं जो अत्यन्त ज्ञान-वर्धक हैं और रोचक भी हैं। उदाहरण के लिए, पंत-साहित्य के कितने अध्येता यह जानते हैं कि पंतजी को सबसे पहले काव्य-प्रेरणा लक्ष्मणसिंह के हिन्दी-मेघदूत से मिली थी। पंत के काव्य पर कालिदास का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिए यह अनुमान चाहे आप कर भी लें; किन्तु क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि पंत के आरम्भिक प्रेरक प्रभावों में नरोत्तमदास-कृत 'सुदामा-चरित' भी है और शुरू में नाथूराम 'शंकर' शर्मा की कविता भी पंतजी को अच्छी लगती थी। पंतजी अल्प-अधीत नहीं हैं, किन्तु उन्होंने पुस्तकों की अपेक्षा प्रकृति और प्रकृति के बाद महापुरुषों के दर्शन अथवा मानसिक सत्संग से अधिक सीखा है। जिन दो पुस्तकों का उन्होंने विशेष रूप से उल्लेख किया है, उनमें पहले बाइबिल और तत्पश्चात् उपनिषद् का नाम आता है। वास्तव में यह स्वीकृति कितनी सहज सत्य है! पंतजी के बाल-सरल स्वभाव को निश्चय ही बाइबिल का सरल चिन्तन अधिक अनुकूल रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। इस खंड का दूसरा लेख भी काफ़ी रोचक है, और वह है 'यदि मैं कामायनी लिखता'। पंतजी ने अत्यन्त निश्छल भाव से स्वीकार किया है कि 'कामायनी' लिखना उनके लिए असम्भव था, और यह बात भी ठीक ही है। पंत और प्रसाद दोनों की प्रतिभाओं में मौलिक भेद है। पंतजी की प्रतिभा यदि मुग्धा किशोरी है तो प्रसादजी की प्रतिभा रसम्भरा युवती। प्रसाद का मधुर और विराट् दोनों पर अधिकार था; पंतजी की कोमल कल्पना मधुर के साथ तो विस्मय-विमुग्ध क्रीड़ाएं करने में प्रगल्भ है, किन्तु उसकी कोमल बांहें विराट् को अपने आलिंगन में नहीं बाँध सकतीं। फिर भी 'कामायनी' के विषय में पंतजी के कुछ निष्कर्ष इतने पैने हैं कि तुरन्त ही 'कामायनी' के अध्येता के मन में प्रवेश कर जाते हैं। उदाहरण के लिए, उनका यह आरोप कितना मार्मिक और तलस्पर्शी है कि 'कामायनी' में अत्यन्त साधारणीकरण के कारण वैशिष्ट्य का अभाव मिलता है, इसलिए यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मन को पकड़ नहीं सकती ! कला के सम्बन्ध में भी उनका यह आरोप अत्यन्त सार्थक है कि 'कामायनी' की कला-चेतना में जैसा निखार मिलता है, कला-शिल्प अथवा शब्द-शिल्प में वैसी प्रौढ़ता नहीं मिलती। 'कामायनी' में कला-वैभव कम नहीं है, किन्तु फिर भी पंत के काव्य-शिल्प की निर्दोषता उसमें कहां ! 'कामायनी' के प्रति मेरा पक्षपाती मन इसका उत्तर भी तुरन्त दे देता है और वह यह कि निर्दोषता प्रायः प्राण-शक्ति की न्यूनता का पर्याय हो जाती है। कामायनीकार की कला अपनी महाप्राणता में यदि कहीं-कहीं अनगढ़ भी है, तो उसकी अनगढ़ता भी कनक-तुषार-मण्डित हिमालय की अनगढ़ता है। इस खंड में भी कुछ लेख अत्यन्त गम्भीर और मौलिक हैं; जैसे कला का प्रयोजन, आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत आदि। उनकी चर्चा फिर कभी और कहीं करूंगा। कुल मिलाकर, 'गद्य-पथ' आधुनिक हिन्दी-साहित्य का अमूल्य प्रलेख है। वह पंत के काव्य-रत्नागार की स्वर्ण-कुन्जी तो है ही, उसके द्वारा आधुनिक काव्य के अनेक सुन्दर रहस्यों का उद्घाटन भी सहज ही हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दीप-शिखा की भूमिका

'दीप-शिखा' महादेवीजी की पाँचवीं काव्य-कृति है—इससे पूर्व उनकी चार रचनाएं क्रमशः 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' नाम से प्रकाशित हो चुकी थीं। 'नीहार' में महादेवी का किशोर कवि एक प्रकार से अपरिचित काव्यलोक में प्रवेश करता है, अतः वहां परिचायक रूप में कवि-सम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की अत्यन्त संक्षिप्त भूमिका है। 'रश्मि' में दर्शन के अध्ययन के प्रभाव से कवि में थोड़ा आत्म-विश्वास आता है और 'अपनी बात' नाम से एक छोटी-सी भूमिका के दर्शन पहली बार होते हैं, 'नीरजा' का परिचय फिर रायकृष्णदासजी के शब्दों में दिया गया है, किन्तु 'सान्ध्यगीत' के आरम्भ में कवि की अपनी भूमिका है जिसमें स्थिर रूप से काव्य से सम्बद्ध कतिपय मौलिक प्रश्नों का विवेचन किया गया है। 'दीप-शिखा' की भूमिका का कलेवर इन सब की अपेक्षा कहीं व्यापक और उसका स्वर कहीं अधिक आश्वस्त है। यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को उत्तेजित कर दिया गया है। इस उत्ते-जना की पृष्ठभूमि भी स्पष्ट ही है। उन दिनों प्रगतिवाद का आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था—और यह ज़ोर रचनात्मक कम, ध्वंसात्मक अधिक था। प्रगतिवाद के पक्षधर आलोचक पूर्ववर्ती काव्य-मूल्यों की भस्म पर नवीन सामाजिक मूल्यों का आरोपण करने के लिए प्रयत्नशील थे और उनका सीधा प्रहार था छायावाद पर, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवाद का जन्म हो रहा था। कुछ कवि और आलोचक इस कोलाहल में कच्चे पड़ने लग गये थे—छायावाद के प्रबल समर्थक 'प्रगतिवाद को कवि के चारित्र्य की कसौटी' मानने पर आमादा हो गये थे। उस वातावरण में 'दीप-शिखा' का और उससे भी अधिक 'दीप-शिखा' की भूमिका का प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सामयिक घटना थी।

इस भूमिका में कवयित्री ने काव्य से सम्बद्ध अनेक मौलिक प्रश्न उठाये हैं: उदाहरण के लिए—सत्य का स्वरूप, काव्य और सत्य, सौन्दर्य का स्वरूप, काव्य और उपयोगिता, ललित और उपयोगी कलाओं का भेद और उसकी निरर्थकता, आदर्श एवं यथार्थ की परिभाषा और दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध, रहस्यानुभूति और आधुनिक काव्य में उसकी स्थिति, छायावाद, और, अंत में, प्रगतिवाद, जिसके लिए इस नवीन और राजनीतिक नामकरण को छोड़ अपेक्षाकृत व्यापक शब्द यथार्थवाद का प्रयोग किया गया है। भूमिका का चतुर्थ एवं अंतिम खंड 'दीप-शिखा' की कविता के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध है—यहां कवि ने गीत की परिभाषा और स्वरूप, गीत के दो प्रमुख भेद—रहस्य-गीत और सगुण-गीत, 'दीप-शिखा' में गीत और चित्रकला के योग, इन दोनों के लिए प्रयुक्त प्रकृति के उपकरण आदि पर संक्षिप्त किन्तु मार्मिक वक्तव्य दिये हैं। इस विवेचन के अन्त में यह भी संकेत किया गया है कि कवि का अपना जीवन एकांत काव्य-साधना का जीवन नहीं है—उसके 'कर्मक्षेत्र की विविधता भी कम सारवती नहीं' है—उसने आज के 'उपेक्षित संसार में भी बहुत-कुछ भव्य पाया है अन्यथा सभ्य समाज से इतनी दूरी असह्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हो जाती।'

सत्य मूलतः अखंड अतः असीम है, किन्तु जब वह व्यक्ति की चेतना का विषय बनता है तो उसके लिए एक विशेष सीमा में आना अनिवार्य हो जाता है—इस प्रकार सत्य की यह दोहरी स्थिति सहज स्वाभाविक है : वास्तव में इस दोहरी स्थिति में ही वह हमारे सामने आता है। भाव-क्षेत्र और ज्ञान-क्षेत्र पृथ्वी के उन दो गोलार्धों के समान हैं जो मिलकर सत्य की इस चेतना को पूर्णता प्रदान करते हैं। व्यक्ति का सत्य राग और बुद्धि के इन दो अर्धवृत्तों से अनिवार्यतः घिरा रहता है।—इनमें राग अथवा अनुभूति की प्रवृत्ति गहराई की ओर है और बुद्धि की विस्तार की ओर; जीवन का सत्य इन्हीं दोनों में परिवेष्टित रहता है। असीम सत्य को व्यक्ति की सीमित चेतना में प्राप्त करना—अखंड को खंड में सिद्ध कर लेना मानव-चेतना के लिए जितना दुष्कर है उतना ही अनिवार्य भी। मानव-चेतना ने सत्य की इस सिद्धि के लिए जितने माध्यमों का अनुसंधान किया है, काव्य या कला उनमें सबसे सफल माध्यम है। इसीलिए महादेवी का मत है कि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है। सौन्दर्य बाह्य रेखाओं और रंगों का सामंजस्य मात्र नहीं है—'सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएं जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है।' सौन्दर्य वस्तुतः विकास के लिए अपेक्षित जीवन के प्रत्येक स्पर्श का पर्याय है; उसकी परिधि से छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक कुछ भी बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। उसके भीतर बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् दोनों का वैविध्य समंजित है। इस प्रकार, महादेवी के अनुसार, उपर्युक्त संदर्भ में, कला सौन्दर्य के माध्यम से सत्य की अभिव्यक्ति का नाम है।

उपयोगी और ललित कलाओं के रूप में कला का वर्गीकरण महादेवीजी को स्वीकार्य नहीं है—इस प्रकार का वर्गीकरण अत्यंत स्थूल है क्योंकि तत्त्व-दृष्टि से उपयोगिता और लालित्य अथवा सौन्दर्य में कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता। स्थूल-द्रष्टा आलोचकों ने उपयोगिता का अर्थ जीवन की बहिरंग आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित कर सौन्दर्य से उसका भेद कर दिया है। किन्तु यह भेद मिथ्या है। उपयोगिता के स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक असंख्य रूप हो सकते हैं और ये सूक्ष्मतर रूप ही वास्तव में सौन्दर्य के पर्याय बन जाते हैं। इसी प्रकार सौन्दर्य की भी अपनी विशेष उपयोगिता है जो जीवन की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, काव्य और ललित कलाओं का उपयोग उस उन्नत रागात्मक भूमिका पर स्थित होता है जो साधारणीकृत होने के कारण सहज रमणीय या सुन्दर होती है। इसी परिप्रेक्ष्य में कवि ने काव्यगत नैतिक मूल्यों की भी व्याख्या की है—काव्य में नैतिकता का अर्थ विधि-निषेध नहीं है। 'जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो बाह्यानुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे अन्तर्जगत में ऐसी स्फूर्ति पैदा कर देना जिससे सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे।' काव्यगत नैतिक मूल्य दूसरे प्रकार के अन्तर्गत ही आते हैं—अर्थात् काव्य के क्षेत्र में नैतिकता उन मूल्यों का नाम है जो जीवन के सामंजस्यपूर्ण विकास में सहायक होते हैं और चूंकि सामंजस्य ही सौन्दर्य का भी आधार तत्त्व है, इसलिए नीतिगत मूल्यों में और सौन्दर्यगत मूल्यों में कोई तात्त्विक भेद नहीं रह जाता।

इसी प्रकार पूर्वोक्त अन्य विषयों का भी महादेवी ने गम्भीर चिन्तन किया है। अनुभूत होने के कारण उनके विचारों में एक विशेष प्रकार की मार्मिकता और विश्वास की दीप्ति आ गयी है। इसलिए हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में उनके अनेक वाक्य सूत्र बनकर प्रचलित हो गये हैं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जैसे—बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्यसत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।"...."साधारणत: गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दु:खात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

प्रस्तुत प्रसंग में महादेवी की इन सभी मान्यताओं की समीक्षा करने का अवकाश नहीं है। इसलिए मैं केवल एक ऐसे प्रश्न को ही लेता हूं जो अधिक ज्वलंत है और जिसका महादेवी के काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह है आधुनिक काव्य में रहस्यानुभूति का प्रश्न। बौद्धिकता के इस युग में छायावाद के कवि ने जब अपनी कविताओं में परोक्ष आलंबन के प्रति प्रणय-निवेदन का आग्रह किया तो अनेक आलोचकों ने उसकी अनुभूति की सत्यता पर सन्देह किया। महादेवी ने प्रस्तुत भूमिका में अपने पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं : १—प्रत्येक सामंजस्य अथवा सौन्दर्य की अनुभूति ही अपने मूल में रहस्यानुभूति होती है। २—अपनी अपूर्णताओं को किसी पूर्ण आदर्श की कल्पना में समर्पित करने की लालसा मानव में जन्मजात है। उन्हीं के शब्दों में "स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी पूर्णता के प्रति सजग भी। अत: किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है।" ३—यह आत्मसमर्पण किसी न किसी प्रकार के रागात्मक सम्बन्ध की ओर इंगित करता है और रागात्मक सम्बन्धों में भी केवल माधुर्य-भाव के द्वारा ही पूर्ण के साथ अपूर्ण का एकान्त तादात्म्य संभव हो सकता है। इस प्रकार से परोक्ष या रहस्यमय आलंबन के प्रति प्रणय-निवेदन मानव-हृदय की एक सहज प्रवृत्ति और प्राय: एक सहज आवश्यकता भी हो जाती है। ४—प्राचीन काव्य का इतिहास भी इस प्रकार की रहस्यानुभूति को सिद्ध करता है। कवि के अपने शब्दों में ही—"अखंड और व्यापक चेतना के प्रति कवि का आत्मसमर्पण संभव है या नहीं—इसका जो उत्तर अनेक युगों से रहस्यात्मक कृतियां देती आ रही हैं वही पर्याप्त होना चाहिए।"...."प्रकृति के अस्तव्यस्त सौन्दर्य में रूप-प्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुण-प्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अन्त में रहस्यानुभूति का जैसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।"

इसमें सन्देह नहीं कि ये तर्क अपने-आप में बड़े प्रबल हैं और वास्तव में आधुनिक बुद्धि-जीवी कवि की रहस्यानुभूति के पक्ष में कल्पना और वैदग्ध्य जितने भी उपकरण एकत्र कर सकते थे, वे सब यहां उपस्थित हैं। किन्तु हमारा विनम्र निवेदन है कि इन तर्कों में कल्पना की रमणीयता ही अधिक है। इनसे न प्रश्नकर्ता की बुद्धि ही निरुत्तर होती है और न उसका हृदय ही इन पर प्रत्यय कर पाता है। बुद्धि उत्तर देती है कि आपने जो कुछ कहा अर्थात् उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व और उसके प्रति माधुर्य-मूलक आत्मसमर्पण, यह सब तो कल्पना का चमत्कार है। इन सबकी कल्पना पर किसी को आपत्ति नहीं है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के काव्य का मूलाधार रहस्य-प्रणय की अनुभूति है या उसकी कल्पना? यदि कल्पना है तब तो वैमत्य का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु यदि रहस्य-प्रणय की अनुभूति का आग्रह है तो वह पूर्वोक्त तर्कों से सिद्ध नहीं होती। अत: छायावादी काव्य में अभिव्यक्त रहस्यानुभूति की व्याख्या के दो मार्ग हैं—एक पार्थिव से अपार्थिव की ओर जाता है अर्थात् पार्थिव प्रणय-भावना के उन्नयन की ओर इंगित करता है और दूसरा, जैसा कि महादेवीजी मानती हैं, अपार्थिव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रहस्यानुभूति को लौकिक प्रणय-प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करता है अर्थात् अपार्थिव से पार्थिव की ओर आता है। महादेवीजी की मान्यता को स्वीकार कर लेने से एक बड़ा अहित यह होता है कि छायावाद की, विशेषकर उनके काव्य की, प्रेरक शक्ति 'अनुभूति' न होकर 'अनुभूति की कल्पना' मात्र रह जाती है और प्रकारान्तर से छायावाद का समर्थक उसके आलोचकों के आक्षेप के सामने सिर झुका देता है।

किन्तु, यह तो एक प्रसंग मात्र है और इसके विषय में भी अन्तिम निर्णय देना संभव नहीं। हिन्दी-आलोचना के विकास में इस भूमिका का महत्त्व अक्षय है। इससे छायावादी काव्य-दृष्टि अनाविल हुई, उसके सम्बन्ध में प्रचारित अनेक भ्रांतियों का निराकरण हुआ, शाश्वत काव्य-मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा हुई और हिन्दी में सौष्ठववादी आलोचना का पथ प्रशस्त हुआ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

समीक्षा के लिए इस ग्रन्थ का चयन मैंने अध्ययन तथा ज्ञान-वर्धन के उद्देश्य से ही किया है, आलोचना तो केवल एक प्रासंगिक क्रिया-मात्र है। वास्तव में हमारे साहित्य का आदिकाल इतना तमसाच्छन्न है कि उसमें प्रवेश करना साधारणतः सम्भव नहीं है। उसके ऊपर ऐतिहासिक भ्रान्तियों तथा भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी उलझनों का ऐसा भयंकर जगड्वाल छाया हुआ है कि सत्य की शोध करना अत्यन्त दुस्साध्य हो जाता है। यह युग साहित्य के इतिहास में ही नहीं, देश के इतिहास में भी भयंकर अराजकता का युग था। इसका अनुसन्धाता इतिहास के लिए साहित्य के जंगल में और साहित्य के लिए इतिहास के खंडहरों में भटकता फिरता है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य के इस युग का इतिहास केवल अपूर्ण ही नहीं, वरन् भ्रान्तिपूर्ण भी रहा है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-पथ के तीन प्रमुख स्तम्भ माने जा सकते हैं। पहला स्तम्भ 'शिवसिंह-सरोज' है, दूसरा 'मिश्रबन्धु-विनोद' और तीसरा आचार्य शुक्ल-रचित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निस्सन्देह ही शुक्लजी का इतिहास है। वास्तव में यही सच्चे अर्थ में साहित्य का इतिहास है। उसका गौरव आज भी अक्षुण्ण है, आज भी अनेक इतिहास पृथक् रूप से अथवा मिलकर उसके स्थानापन्न नहीं हो सकते। हमारा यह कथन शुक्लजी की गौरव-स्वीकृति के अतिरिक्त हिन्दी के इस अंग की निर्धनता का भी द्योतक है क्योंकि शुक्लजी का इतिहास निस्सन्देह ही निर्दोष नहीं है। वह अपने-आप में सर्वथा पर्याप्त भी नहीं है। उसके आदिकाल तथा आधुनिक काल दोनों ही असन्तोषप्रद हैं—आदिकाल पर्याप्त ज्ञान के अभाव के कारण और आधुनिक काल वांछित सहानुभूति एवं रागात्मक तादात्म्य के अभाव में। आधुनिक युग तो हमारा अपना युग है; उसको समझने-समझाने का समय भी है और साधन भी। परन्तु आदियुग वास्तव में एक समस्या-युग है और वहां पहुँच भी केवल उन्हीं की हो सकती है, जो प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी आदि के विशेषज्ञ हैं। वह साहित्य के साथ ही भाषा-विज्ञान और इतिहास तथा प्राच्य-विद्यादि के शोधपूर्ण अध्ययन की अपेक्षा रखता है। इस दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के आदिकाल के प्रामाणिक अध्ययन के लिए विशेष रूप से अधिकारी हैं। वे इस कार्य के लिए सभी प्रकार व्युत्पन्न हैं। उन्होंने अपने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्यों एवं भाषाओं के विशिष्ट ज्ञान तथा परम्परा-शोधक ऐतिहासिक दृष्टि का पूर्ण मनोयोग के साथ सदुपयोग किया है और उसके परिणामस्वरूप जो अध्ययन प्रस्तुत किया है वह निस्सन्देह अत्यन्त उपादेय है। वह हमारे आदिकाल के सम्बन्ध में अनेक समस्याओं का समाधान करता है, अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उदघाटन करता है, और उस बीहड़ में प्रवेश करने के लिए नवीन सरणियों का निर्देशन करता है।

'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' में उन पाँच व्याख्यानों का संकलन है जो बिहार राष्ट्र-भाषा-परिषद् के तत्त्वावधान में द्विवेदीजी ने इस विषय पर दिये थे। इनमें से पहला व्याख्यान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य के आधार पर प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध भ्रान्तियों की ओर संकेत करता हुआ द्विवेदीजी के अपने अभिमत की सूचना देता है—"इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी पुरानी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग अन्तर्कालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग हिन्दी।······" इसके अतिरिक्त उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार इस बात को ज़ोर देकर नहीं कहा; पर इस काल का नाम वीरगाथा-काल संगत नहीं है। वे भाषा की दृष्टि से इसे अपभ्रंश-काल कहना ही पसन्द करते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"जो एकाध शिलालेख और ग्रन्थ, जैसे 'युक्ति-व्यक्ति प्रकरण' मिल जाते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था, पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था। इसलिए इस काल को अपभ्रंश-काल कहना उचित ही है।" विषयवस्तु को दृष्टि में रखकर वे राहुलजी के सुझाये हुए नाम सिद्ध-सामन्तकाल को वीरगाथा-काल की अपेक्षा ज़्यादा पसन्द करते हैं। द्वितीय व्याख्यान में द्विवेदीजी ने वर्तमान हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के तत्कालीन हिन्दी-साहित्य की अपेक्षाकृत न्यूनता के ऐतिहासिक कार्यों का उल्लेख करते हुए, दो-चार उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर हिन्दी-क्षेत्र की भाषा की अनेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण उपस्थित किया है, जिनके द्वारा पुरानी अथवा प्राचीन हिन्दी के अनेक सामान्य रूपों का स्पष्टीकरण हो जाता है। और वास्तव में पुरानी हिन्दी की ही नहीं, ब्रज-भाषा, अवधी तथा वर्तमान हिन्दी की अनेक प्रवृत्तियों को समझने के लिए भी द्विवेदीजी की इन टिप्पणियों की उपादेयता असंदिग्ध है। तृतीय और चतुर्थ व्याख्यानों में विद्वान् वक्ता ने 'पृथ्वीराज रासो' पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस अध्ययन की भूमिका के रूप में उन्होंने कथा, चरित-काव्य तथा रासो आदि सम्बन्धित काव्यरूपों का शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन भी किया है। यह विवेचन हिन्दी-विद्वानों में प्रचलित रासो-विषयक विवाद का तो अन्त कर ही देता है, उसके साथ ही पृथ्वीराज-रासो, तत्कालीन अन्य चरित-काव्यों, तथा परवर्ती प्रबन्ध-काव्यों में प्रयुक्त अनेक साहित्य-रूढ़ियों का मार्मिक विश्लेषण उपस्थित करता हुआ मध्ययुगीन प्रबन्ध-काव्य के अध्ययन के लिए एक नवीन मार्ग का उद्घाटन भी करता है। रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में आचार्यजी ने कुछ स्थापनाएं भी की हैं, जो तद्विषयक विद्वानों तथा विशेषज्ञों के लिए विचारणीय हैं। कुछ विशिष्ट स्थापनाएं इस प्रकार हैं:

"चन्द का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी-सम्वाद के रूप में लिखा गया था और जितना अंश इस सम्वाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है।"

"इससे लगता है कि पृथ्वीराज-रासो आरम्भ में ऐसा कथा-काव्य था, जो प्रधान रूप से उद्धत-प्रयोग-प्रधान, मसृण-प्रयोग-युक्त गेय रूपक था। उसमें कथाओं के भी लक्षण थे और रासकों के भी।

"संयोगिता-प्रसंग निस्संदिग्ध रूप से मूल रासो का सर्वप्रधान अंग था। यद्यपि अपने वर्तमान रूप में वह बहुत-से प्रक्षिप्त अंशों के कारण विकृत हो गया है।"

"सभी ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्यों के समान इसमें, अर्थात् रासो में, इतिहास और कल्पना का, फ़ैक्ट और फ़िक्शन का, मिश्रण है।"

अन्तिम अर्थात् पंचम व्याख्यान में हिन्दी के आदिकाल में प्रचलित विभिन्न काव्यरूपों का प्रामाणिक अनुसन्धान किया गया है, जिसके प्रकाश में हिन्दी के परवर्ती काव्यरूपों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

प्रस्तुत विवेचन की दो दृष्टियों से समीक्षा की जा सकती है : विषय की प्रामाणिकता की दृष्टि से और लेखक की आलोचना-पद्धति की दृष्टि से।

पहली के विषय में मैं आरम्भ में ही अपनी असमर्थता और द्विवेदीजी की समर्थता की घोषणा कर चुका हूं। उनकी स्थापनाएं निःसन्देह ही हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार के लिए विचारणीय हैं। वे रासो के अनुसन्धाताओं के लिए प्रोत्साहन और उत्तेजना का कारण बन सकती हैं। हिन्दी-काव्य के विद्यार्थियों का उनके द्वारा ज्ञानवर्धन होता है। इस दृष्टि से मैं स्वयं उपकृत हुआ हूं। इस छोटी-सी पुस्तिका में हिन्दी के आदिकाल के विषय में बहुत-कुछ जानकारी मिलती है जो उपादेय है, और एक अधिकारी शोधक से प्राप्त होने के कारण प्रामाणिक भी होनी ही चाहिए। केवल विषय-सामग्री की दृष्टि से भी यह पुस्तिका हिन्दी-साहित्य के निर्माण में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ती है। इसके आगे और कुछ कहने का अधिकार केवल विशेषज्ञों को ही है।

आलोचना-पद्धति की थोड़ी-सी विवेचना हम कदाचित् अधिक विश्वास के साथ कर सकेंगे। इस विषय में सबसे पहली बात तो यह है कि द्विवेदीजी की आलोचक-दृष्टि ऐतिहासिक तथा समष्टि-परक है। उनकी दृष्टि भारतीय वाङ्मय के विशाल क्षेत्र की यात्रा करती हुई बड़े परिश्रम से उन परम्परा-सूत्रों को ढूंढ़ निकालती हैं जिनके द्वारा इस महान् देश का प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य एकता में बँधा चला आ रहा है। उनकी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' ने हिन्दी-आलोचना की इसी नवीन दिशा की ओर संकेत किया था। आज वह दृष्टि और भी स्थिर हो गयी है। इस व्यापक दृष्टि के पीछे द्विवेदीजी की व्यापक मानव-सहानुभूति की प्रेरणा रहती है। जैसा कि उन्होंने स्थान-स्थान पर कहा और लिखा है : "मानव-यात्रा की प्रगति में सहायक होना ही साहित्य का चरमोद्देश्य है। तभी साहित्य शिव-साधना बन सकता है, अन्यथा वह शब्द-साधना मात्र रह जाएगा।" इसीलिए वे सम्पूर्ण मानव-जीवन की पूर्व-पीठिका पर ही साहित्य और कला का अध्ययन करते हैं। हमारे साहित्य में शुक्लजी ने पहली बार साहित्य के कृत्रिम बांधों को तोड़कर उसे मानव-जीवन के चिरन्तन स्रोत-प्रवाह के साथ मिलाने का प्रयत्न किया था। परन्तु शुक्लजी के लिए मानव-जीवन का अर्थ शिक्षित जन-समुदाय का जीवन ही था। साहित्य के लिए वे उसी को प्रासंगिक मानते थे, उनकी दृष्टि में जन-जीवन साहित्य के लिए अप्रासंगिक था। द्विवेदीजी ने समग्र जन-जीवन के साथ ही साहित्य का मूल सम्बन्ध माना है। यह उनके युग-धर्म की आवश्यकता है। शुक्लजी की धारणा उनके अपने युग की उद्भूति थी। द्विवेदीजी इसी परम्परा-सम्बन्ध की उद्घाटना को आलोचना और साहित्यिक गवेषणा की चरम सिद्धि मानते हैं। चरम सिद्धि के विषय में तो दो मत हो सकते हैं, परन्तु सार्थकता के विषय में मतभेद के लिए अवकाश नहीं है। हमारा अपना मत इससे भिन्न है। साहित्य समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की साधना ही अधिक है; उसका अध्ययन मूलतः इसी रूप में होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खण्ड—४

(क) चित्र
(ख) समस्याएं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(क)—चित्र

कवीन्द्र के प्रति

एक प्रशस्ति

कविगुरो ! तुम्हारा ध्यान आते ही मेरे सम्मुख एक विराट् पुरुष-मूर्ति का चित्र उपस्थित हो जाता है जो भारत के कन्धों पर खड़ी हुई समस्त विश्व का आलिगन करने के लिए बाँहें पसार रही है ।

तुम्हारे व्यक्तित्व को भारत ने बड़ी ममता से अपने अनेक उपकरणों से गढ़ा था । उसने तुम्हें अपनी आनन्दमयी आत्मा, अपना गहन रहस्यदर्शी मस्तिष्क और सबसे अधिक अपना भावोष्ण हृदय दिया था । तुम्हारा व्यक्तित्व भारत की विराट् संस्कृति का प्रतीक था—उसमें वेदों का भय-श्रद्धा-समवेत विस्मय, उपनिषद् की अतल जिज्ञासा, वैष्णव धर्म की तीव्र भक्ति-भावना और आधुनिक युग का अदम्य विद्रोह था । भारत ने अपना सत्य, शिव, सुन्दर तुममें साकार कर दिया था ।

सत्य-द्रष्टा ! तुम्हारी पारदर्शिका आँखें जग के भौतिक आवरण को वेधती हुई उसके अन्तर-तत्त्वों पर जाकर टिकती थीं । तुमने विश्व की सत्ता को अखण्ड रूप में प्राप्त करके जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किया । तुम्हारी आप्त वाणी आज की भौतिकता के विरुद्ध एक ललकार थी । तुमने पदार्थ का तिरस्कार न कर उसी की दिव्यता का प्रतिपादन किया—भोग की स्वर्गिक महिमा का गान करने वाले तुम पहले ऋषि थे ।

शिव-संकल्प ! तुमने पूर्व और पश्चिम को अपने अमर स्वरों में बाँध दिया, और देश-देश में खण्डित मानवता को पुनः समन्वित कर विश्व-मानव का निर्माण किया, जिसकी आत्मा में पूर्व की तपस्या और शरीर में पश्चिम की कला थी । कंचन के महलों में रहकर तुमने धूलिशायी की पीड़ा का अमर गान किया—पद-दलित और त्रस्त मानवता तुम्हारी वाणी को सुनकर आश्वस्त हो गयी ।

सौन्दर्य-स्रष्टा ! तुम्हारी सृष्टि में रूप का पारावार हिलोरें ले रहा है । विश्व-कामिनी ने मानो वांछित आराधक पाकर अपने अंग-अंग का सौन्दर्य-रहस्य तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया और तुम्हारी आत्मा उसका पान कर रूप-विह्वल हो उठी । अर्चना समाप्त करके ज्यों ही तुमने अपनी छवि-मदिर दृष्टि का उन्मेष किया, वसुधा का कण-कण स्वर्ग के सौन्दर्य से जगमगा उठा ।

युग-पुरुष ! संसार ने तुममें युग-धर्म का साक्षात् दर्शन किया । भारत का प्राचीन और नवीन तुम्हारे व्यक्तित्व में एकरूप होकर उसके लिए अपना सन्देश बन गया । घर में ही मां की बन्दिनी मूर्ति को देखकर तुम्हारा अन्तर्बाह्य काँप उठा, और तुम्हारी प्रताड़ित आत्मा का चीत्कार दुर्धर सीखचों को हिलाने लगा—"इस मृत्यु का उच्छेद करना ही होगा, इस भय-पाश का कृतान्त करना ही होगा—यह एकत्र हुई जड़ की राशि मृत—निस्सार पदार्थ दूर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(क)—चित्र

कवीन्द्र के प्रति

एक प्रशस्ति

कविगुरो ! तुम्हारा ध्यान आते ही मेरे सम्मुख एक विराट् पुरुष-मूर्ति का चित्र उपस्थित हो जाता है जो भारत के कन्धों पर खड़ी हुई समस्त विश्व का आलिंगन करने के लिए बाँहें पसार रही है।

तुम्हारे व्यक्तित्व को भारत ने बड़ी ममता से अपने अनेक उपकरणों से गढ़ा था। उसने तुम्हें अपनी आनन्दमयी आत्मा, अपना गहन रहस्यदर्शी मस्तिष्क और सबसे अधिक अपना भावोष्ण हृदय दिया था। तुम्हारा व्यक्तित्व भारत की विराट् संस्कृति का प्रतीक था—उसमें वेदों का भय-श्रद्धा-समवेत विस्मय, उपनिषद् की अतल जिज्ञासा, वैष्णव धर्म की तीव्र भक्ति-भावना और आधुनिक युग का अदम्य विद्रोह था। भारत ने अपना सत्य, शिव, सुन्दर तुममें साकार कर दिया था।

सत्य-द्रष्टा ! तुम्हारी पारदर्शिका आँखें जग के भौतिक आवरण को वेधती हुई उसके अन्तर-तत्त्वों पर जाकर टिकती थीं। तुमने विश्व की सत्ता को अखण्ड रूप में प्राप्त करके जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किया। तुम्हारी आप्त वाणी आज की भौतिकता के विरुद्ध एक ललकार थी। तुमने पदार्थ का तिरस्कार न कर उसी की दिव्यता का प्रतिपादन किया—भोग की स्वर्गिक महिमा का गान करने वाले तुम पहले ऋषि थे।

शिव-संकल्प ! तुमने पूर्व और पश्चिम को अपने अमर स्वरों में बाँध दिया, और देश-देश में खण्डित मानवता को पुनः समन्वित कर विश्व-मानव का निर्माण किया, जिसकी आत्मा में पूर्व की तपस्या और शरीर में पश्चिम की कला थी। कंचन के महलों में रहकर तुमने धूलिशायी की पीड़ा का अमर गान किया—पद-दलित और त्रस्त मानवता तुम्हारी वाणी को सुनकर आश्वस्त हो गयी।

सौन्दर्य-स्रष्टा ! तुम्हारी सृष्टि में रूप का पारावार हिलोरें ले रहा है। विश्व-कामिनी ने मानो वांछित आराधक पाकर अपने अंग-अंग का सौन्दर्य-रहस्य तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया और तुम्हारी आत्मा उसका पान कर रूप-विह्वल हो उठी। अर्चना समाप्त करके ज्यों ही तुमने अपनी छवि-मदिर दृष्टि का उन्मेष किया, वसुधा का कण-कण स्वर्ग के सौन्दर्य से जगमगा उठा।

युग-पुरुष ! संसार ने तुममें युग-धर्म का साक्षात् दर्शन किया। भारत का प्राचीन और नवीन तुम्हारे व्यक्तित्व में एकरूप होकर उसके लिए अपना सन्देश बन गया। घर में ही मां की बन्दिनी मूर्ति को देखकर तुम्हारा अन्तर्बाह्य काँप उठा, और तुम्हारी प्रताड़ित आत्मा का चीत्कार दुर्धर सीखचों को हिलाने लगा—"इस मृत्यु का उच्छेद करना ही होगा, इस भय-पाश का कृतान्त करना ही होगा—यह एकत्र हुई जड़ की राशि मृत—निस्सार पदार्थ दूर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करना होगा"—और अन्त में गौरव-दीप्त मस्तक ऊँचा करके तुमने यह घोषणा कर ही दी—"हे दिव्यधामवासी देवताओ, तुम्हारी तरह हम भी अमृत के पुत्र हैं—हम भी अमृत के पुत्र हैं।"

भारतीय जागरण के अग्रदूत ! तुम प्राची के आँगन में बाल-रवि के समान उदित हुए, तुम्हारी प्रखर किरणों ने भारत के जड़ीभूत अंधकार को विदीर्ण कर दिया—ज्यों-ज्यों तुम अपना स्वर ऊँचा करते गये, हमारे रूढ़ि-बन्धन शिथिल होते गये। हमारे जागरण का इतिहास तुम्हारे ही विकास का तो इतिहास है। भारतीय जीवन के एक विशाल युग पर तुम्हारा व्यक्तित्व प्रसारित है। हमारे युग ने अपनी जागृति के शैशव में तुम्हारे ही जागरण-गान गाये, यौवन में तुम्हारी ही रस-स्नात रचनाओं का आनन्द लिया और प्रौढ़ावस्था में, हे मर्मी, तुमने ही उसे आत्मा का रहस्य-चिन्तन सिखाया। देश के एक विस्तृत भू-भाग के हँसने और रोने में, करुणा और क्रोध में, प्रेम और घृणा में तुम्हारे गीतों की प्रतिध्वनि अब भी गूँजती है।

आज जब तुम्हारे ही अपने शब्दों में—रक्तवर्ण मेघों में शताब्दियों के सूर्य अस्त हो गये हैं, जब हिंसा के उत्सव में अस्त्रों की झंकार के साथ-ही-साथ मृत्यु की भयंकर उन्माद-रागिनी बज रही है, जब भद्रवेशिनी बर्बरता पंकशैया से जगकर उठी है, जब कवियों का स्वर श्मशान-श्वानों की छीना-झपटी के गीत अलाप रहा है, हे विश्व-शान्ति के गायक, तुम्हारे स्वर सदा के लिए मौन हैं। आज तुम्हारी विश्व-प्रिया अर्द्धनग्न होकर, दोनों बाँहें शून्य में पसारे हुए रक्तार्द्र स्वरों में कह रही है : "जेते नाही देबे"—तुम्हें न जाने दूंगी ! तुम्हें नहीं जाने दूंगी !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद से मेरा परिचय सन् १९४७ में हुआ, पर यह परिचय अत्यंत अंतरंग होते हुए भी सर्वथा परोक्ष था। मैंने उन्हें पहली बार उनकी 'आत्मकथा' के माध्यम से ही जाना था: आत्मकथा में व्यक्ति का अंतरंग चित्र मिलना स्वाभाविक है, पर वह परोक्ष तो रहेगा ही; और फिर राजेन्द्र बाबू जैसे शीलवान पुरुष की आत्मकथा में तो आत्मप्रकाशन की अपेक्षा आत्मगोपन की ही प्रवृत्ति प्रमुख हो सकती है। प्रकाशन के कुछ ही समय बाद श्री राजेन्द्रलाल हांडा ने, जो उस समय सरकार के समाचार विभाग में अधिकारी थे (और बाद में राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद के परिकर में सम्मिलित हो गये थे) यह अनुरोध किया कि आकाशवाणी से मैं 'आत्मकथा' की समीक्षा करूं। मैंने थोड़ी-सी झिझक के साथ यह कहकर दायित्व स्वीकार कर लिया कि समीक्षा पुस्तक की की जाएगी। आज मैं सोचता हूं कि मैंने यह बेकार बात क्यों कही?—मैं न तो कोई क्रुद्ध युवा था और न भूखा जवान—वास्तव में मैं उस समय बहुत अधिक जवान भी नहीं था।

मैंने परिश्रम के साथ 'आत्मकथा' का अध्ययन किया। पुस्तक की सम्पूर्ण सामग्री मेरे लिए सहज रुचिकर नहीं थी, फिर भी मैंने उसे आदि से अंत तक ध्यानपूर्वक पढ़ा। उसमें आधुनिक भारत के राजनीतिक जीवन का अत्यन्त परिपूर्ण विवरण था—लेखक ने अपनी प्रबल स्मरण-शक्ति के द्वारा प्रत्येक घटना से सम्बद्ध तथ्यों का पूरा ब्योरा दिया था जो व्यावसायिक इतिहासकार के लिए अक्षय स्रोत सिद्ध होगा, पर साहित्य के पाठक के लिए वे सभी तथ्य रुचिकर नहीं थे। फिर भी इस विवरण से 'आत्मकथा' के लेखक के दो विशिष्ट गुण उभरकर सामने आये—(१) सूक्ष्म और परिपूर्ण विवरण प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता, और (२) सहज तटस्थ दृष्टि जो तथ्यों को संयोजित करने की अपेक्षा उन्हें प्रस्तुत करने में ही अधिक विश्वास करती थी। इनके अतिरिक्त एक तीसरा दुर्लभ गुण भी उसमें था—लेखक का आत्म-निर्लिप्त भाव—आरम्भ से अंत तक ऐसा लगता था जैसे वह किसी अन्य पुरुष का जीवन-विवरण लिख रहा हो। वर्णन सहज क्रम से चलता जाता था, प्रत्येक घटना—छोटी और बड़ी—जीवन का एक तथ्य थी जिसका निस्संग भाव से सटीक वर्णन कर लेखक आगे बढ़ जाता था। जीवनी में स्वभावतः अनेक रागसंकुल प्रसंग आते थे, परन्तु लेखक का काम सम्बद्ध भावों का कथन मात्र करके ही चल जाता था: जैसे 'वह बड़ा हृदय-द्रावक दृश्य था'; 'देशभर में उत्साह की लहर दौड़ गयी'; 'हम सबको बड़ा क्रोध आया'—आदि। जिस क्रांतिमय राजनीतिक जीवन को उन्होंने स्वयं भोगा था, उसका ऐसा सीधा-सादा वस्तुपरक वर्णन या तो वह लेखक कर सकता था जिसके मन में उच्छ्वास की तरंगें ही न उठती हों, और या फिर जिसने साधना के द्वारा तटस्थ-भाव का अभ्यास कर लिया हो। सम्पूर्ण 'आत्मकथा' में वर्णन की धारा अधिकाधिक तथ्यों को समेटती हुई सहज-मंथर गति से आगे बढ़ती जाती थी—न उसमें भीतर से तरंगें उठती थीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और न बाहर से। जैसे कोई सफल साधक मन या शरीर की सख्त से सख्त पीड़ा को चेहरे पर शिकन लाये बिना ही झेल जाता है, इसी तरह लेखक ने अपने व्यक्तिगत और राजनीतिक जीवन के कड़वे-से-कड़वे अनुभव बिना किसी तलखी के लिपिबद्ध कर दिये थे। उस जीवन-कथा में आदि से अंत तक सद्भाव की एक हल्की-सी अंतर्धारा सर्वत्र व्याप्त थी। उसे पढ़कर एक ऐसा विशाल चित्र मेरी कल्पना में उभरता आ रहा था जिसकी रेखाएं सरल और गहरी थीं, पर रंग देसी और हल्के थे—यह निश्चय ही एक महापुरुष का चित्र था जिसने हृदय और मेधा की असामान्य विभूतियों से सम्पन्न होने पर भी, अपनी सहजता को यथावत् सुरक्षित रखा था—जिसमें असाधारण गुणों को साधारण रूप में वहन करने की अपूर्व क्षमता थी।

फिर भी, मुझे लगा कि उस आत्मकथा में आत्म का पक्ष जैसे उपेक्षित ही रह गया हो। उसमें आत्म के आस्वाद का तो प्राय: अभाव ही था—लेखक ने अपने अहंकार को इतना विगलित कर दिया था कि बार-बार अवसर आने पर भी, उसके उपभोग से अनायास ही विमुख हो जाता था; मन की ग्रंथियों को सुलझाकर आत्म का अनुसंधान करने की व्यग्रता भी उसमें कहीं नहीं मिली: लगता था जैसे लेखक कहीं अपने में डूबता ही नहीं है। यह सब करने की शायद उसको आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी—लेखक की आस्तिक भावना ने जीवन के सुख और दु:ख को, उत्कर्ष और अपकर्ष को, मान और अपमान को भगवान् का वरदान मानकर इतने सहज रूप में स्वीकार कर लिया था कि उसकी चेतना में किसी प्रकार की ग्रंथियां नहीं रह गयी थीं: जहां सभी कुछ ऋजु और सरल हो वहां सुलझाया किसे जाए? मैं नहीं कह सकता कि मन के ये भाव और अभाव मानव के व्यक्तित्व का कहां तक उत्कर्ष करते हैं और कहां तक अपकर्ष—इन्हें चरित्र की शक्ति माना जाए या सीमा—शायद शक्ति ही मानना उचित होगा। परन्तु न जाने क्यों मेरी यह धारणा बन गयी है कि नैतिक मूल्य चाहे इनका कुछ भी हो, इस प्रकार की ऋजुता और सारल्य साहित्य की समृद्धि में योगदान नहीं कर पाते।

'आत्मकथा' को पढ़ने के बाद कुछ ऐसी ही मिश्रित प्रतिक्रिया मेरे मन में हुई—और मैंने पूरी ईमानदारी के साथ उसे लेखबद्ध कर दिया। आधुनिक भारत के एक समर्थ निर्माता के साथ, जिसे स्वतंत्र भारत ने अपना प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया, मेरा यही पहला परिचय था जो अत्यंत अंतरंग होने पर भी सर्वथा परोक्ष ही था।

इसके पूर्व मैं अनेक बार उनके दर्शन कर चुका था—एक बार तो उनके बिलकुल पास खड़े होने का सौभाग्य भी मुझे मिल चुका था जिसे मेरा किशोर मन वर्षों तक अपने जीवन की अमूल्य थाती के रूप में आग्रह के साथ संजोये रहा। यह घटना है आगरा विश्वविद्यालय के सन् १६४७ के दीक्षांत-समारोह की। उस वर्ष पी-एच० डी० की उपाधि तो अनेक शोधछात्रों को मिली थी, परन्तु डी० लिट्० के लिए केवल दो ही नाम थे—एक देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद का और दूसरा मेरा। उस सारस्वत सम्मान में देशरत्न का सहभागी बनने की कल्पना-मात्र से मेरा मन एक विचित्र सात्त्विक गर्व से भर गया। नियत कार्यक्रम के अनुसार विश्वविद्यालय के तत्कालीन उप-कुलपति डॉ० नरायनप्रसाद अस्थाना ने विशिष्ट अतिथि का अभिनन्दन किया और प्रशस्तिवाचन के उपरांत सम्मानार्थ डॉक्टर ऑफ़ लैटर्स की उपाधि के लिए उनके नाम का प्रस्ताव करते हुए संभ्रमपूर्ण स्वर में कहा: "मेरा सौभाग्य है कि मैं अपने कार्यकाल में एक ऐसे महापुरुष को उपाधि प्रदान कर रहा हूं जो लोकनायकों में विद्वान् और विद्वानों में लोकनायक के गुणों से मण्डित है।" राजेन्द्र बाबू ने अत्यंत विनीत भाव से श्रद्धावान् छात्र की भांति उपाधि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ग्रहण की और अपने स्थान पर बैठ गये। उनके तुरंत बाद ही मेरा नाम था : संस्तुति-वाचन के उपरांत मैं भी जाकर ठीक उसी स्थान पर उपस्थित हुआ और विधिपूर्वक उपाधि प्राप्त कर अपने स्थान पर लौट आया। यों सामान्य रूप से भी यह मेरे शैक्षिक जीवन का स्वर्ण-दिवस था क्योंकि इससे पूर्व मेरी कोई विशेष उपलब्धियां नहीं थीं, परन्तु डी० लिट्० की उपाधि के साथ-साथ जो अतिरिक्त सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ वह सर्वथा अप्रत्याशित था। मुझे लगा जैसे विगत जीवन के अभाव सहसा पूरे हो गये हों—और कुछ क्षणों के लिए मैं अपनी ही दृष्टि में ऊँचा उठ गया। फिर भी प्रत्यक्ष परिचय मेरा उनके साथ नहीं हुआ—होने का प्रश्न भी क्या था ?—उक्त घटना के पाँच-छह वर्ष बाद जब एक दिन मैंने राष्ट्रपति-भवन में राजेन्द्र बाबू से इसका उल्लेख किया, तो वे बोले—"हां, मुझे याद है, मेरे साथ एक नवयुवक को भी यही उपाधि मिली थी, पर आपका नाम मुझे याद नहीं रहा।" फिर सहज भाव से कहने लगे : "इसका मतलब यह हुआ कि हम लोग सहपाठी हैं; पर आपको डिग्री मेहनत से मिली है, हमें तो मुफ़्त में ही हाथ लग गयी है।" मैंने उत्तर दिया : "बाबूजी, जितना निस्स्वार्थ परिश्रम आपने किया है उतना तो मैं अनेक जन्म लेकर भी नहीं कर सकता। फिर, डॉक्टरेट की उपाधि जितनी सार्थक आपके नाम के साथ हुई है, उतनी कहां हुई है ?" और वास्तव में यह बात सोलह आने ठीक थी। उनसे पहले और उनके बाद भी न जाने कितने प्रभावशाली व्यक्तियों को डॉक्टरेट की उपाधि मिली—एक-एक मंत्री या मुख्यमंत्री को चार-चार उपाधियां मिलीं, परन्तु जिस सहज रूप में यह उपाधि राजेन्द्रप्रसाद के नाम के साथ संयुक्त हो गयी, वैसा अन्यत्र नहीं हुआ। कारण यह था कि उनका छात्र-जीवन इतना उज्ज्वल था कि डॉक्टरेट की उपाधि एक प्रकार से उसकी स्वाभाविक परिणति मात्र थी। अपने अंतरंग वृत्त में, जिसमें सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हो गया था, वे कभी-कभी अपनी परीक्षा आदि के विषय में चर्चा किया करते थे। एक बार उनके क़ानून के किसी प्रश्नपत्र को देखकर एक अंगरेज़ परीक्षक ने प्रायः पूरे के पूरे अंक दे दिये थे और जब विश्वविद्यालय की ओर से इसके बारे में पूछा गया तो परीक्षक ने लिखा कि ऐसे उत्तर मैं स्वयं भी नहीं लिख सकता। इतने शानदार छात्र-जीवन की उचित परिणति डॉक्टरेट के बिना कैसे होती ?—अतः अनुकूल अवसर आते ही वह रिक्ति अपने आप ही पूरी हो गयी।

सन् १९४७ में देश की राजनीति ने एकदम पलटा खाया : डॉ० राजेन्द्रप्रसाद पहले सम्मिलित सरकार के खाद्य-मंत्री बने और फिर विभाजन के बाद संविधान-सभा के अध्यक्ष। तभी संविधान का हिन्दी-अनुवाद करने के लिए एक समिति का गठन किया गया जिसके सभापति थे मध्यप्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष श्री घनश्याम सिंह गुप्त और सदस्य थे डॉ० रघुवीर, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, पं० कमलापति त्रिपाठी आदि। मैं उन दिनों आकाशवाणी के समाचार-विभाग में हिन्दी-निरीक्षक था : राजेन्द्रबाबू ने कुछ दिनों बाद मुझे भी उस समिति का सदस्य मनोनीत किया। यह समिति यों तो स्वतंत्र रूप से काम करती थी, पर संविधान सभा के अध्यक्ष के नाते राजेन्द्र बाबू कभी-कभी सदस्यों से अनुवाद की प्रगति के बारे में परामर्श करते और उन्हें उचित निर्देश देते थे। हिन्दी के प्रति उनका आरम्भ से ही गहरा अनुराग था। वे हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक थे—अंगरेजी पर समान—आरम्भ में कदाचित् कहीं अधिक—अधिकार होने पर भी उन्होंने 'आत्मकथा' हिन्दी में ही लिखी। भारत के प्रथम श्रेणी के नेताओं में उनका अग्रिम स्थान था और इस दृष्टि से वे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे; अतः अंगरेजी में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आत्मकथा लिखना उनके लिए हर तरह से अधिक लाभप्रद होता। परन्तु उन्होंने इस लोभ का संवरण करते हुए हिन्दी को ही आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर एक नया आदर्श उपस्थित किया जिसमें एक ओर राष्ट्रभाषा के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा और दूसरी ओर सहज त्याग-भावना भी निहित थी। संविधान में हिन्दी को राजभाषा के पद पर अधिष्ठित कराने में हिन्दी के समर्थकों को बड़ा संघर्ष करना पड़ा था, जिसमें अध्यक्ष होने पर भी राजेन्द्र बाबू ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव का पूरा-पूरा उपयोग किया था। राष्ट्रपति होने के बाद अपने सम्पूर्ण कार्यकाल में वे हिन्दी का हित-चिंतन करते रहे। हिन्दी के प्रश्न को लेकर उनमें और उनके तेजस्वी प्रधानमंत्री में थोड़ा मतभेद था, इसलिए इच्छा रखने पर भी वे राजकाज में उसकी उचित प्रतिष्ठा तो नहीं कर सके, फिर भी हिन्दी के विरुद्ध समय-समय पर जो अनेक प्रकार के कुचक्र रचे जाते थे, उन्हें वे बराबर विफल करते रहे।

सन् १९५२ में विश्वविद्यालय में नियुक्त हो जाने के बाद राष्ट्रपति-भवन में मेरा आना-जाना अधिक हो गया। कभी-कभी राष्ट्रपतिजी स्वयं किसी कार्यवश मुझे बुला लेते थे और कई बार मैं किसी छोटे-बड़े शैक्षिक-साहित्यिक कार्य से उनकी सेवा में उपस्थित होता। अनेक बार राष्ट्रपति-भवन में आयोजित अंतरंग सांस्कृतिक कार्यक्रमों में—जैसे वैदिक प्रवचन, रामचरितमानस की कथा, कवि-गोष्ठी आदि में भाग लेने का सुयोग भी मिलता था—और तीन दिसम्बर को राजेन्द्र बाबू के जन्म-दिवस पर प्रणाम करने के लिए तो मैं नियमित रूप से जाता था। पर दो-चार विशेष अवसरों को छोड़कर, अकेला मैं नहीं जाता था : दद्दा—स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त प्रायः मेरे साथ रहते थे जिन्हें कहीं भी अकेले जाने में बड़ा ही आलस्य और संकोच होता था, कभी-कभी स्वर्गीय नवीनजी और सियारामशरणजी भी होते थे। यद्यपि राष्ट्रपति बनने पर राजेन्द्र बाबू की सहजता में अणुमात्र भी अन्तर नहीं पड़ा था, फिर भी उनका व्यक्तित्व अनायास एक विशेष गरिमा से मण्डित हो गया था। उनके कक्ष का वातावरण शांत और गम्भीर रहता था। हम लोगों का वे नियमतः खड़े होकर स्वागत करते थे, बड़े लोगों के बार-बार आग्रह करने पर भी उन्होंने अपने इस नियम में अपवाद नहीं किया। दद्दा—श्री मैथिलीशरण गुप्त—के साथ सविनय अभिवादन का आदान-प्रदान होता था। नवीनजी, उनके पीछे-पीछे सियारामजी और मैं चरण-स्पर्श करते थे। आरम्भ में उन्हें हमारे इस विनयाचार से थोड़ा संकोच होता था—जब उन्हें यह पता लग गया कि मैं ब्राह्मण हूं तो यह संकोच और भी स्पष्ट हो गया था और एक लम्बी अवधि के बाद ही वे इससे मुक्त हो सके। लौटते हुए जब हम आपस में इसका उल्लेख करते तो, नवीनजी कहते : "भाईजान, मैं तो इस संघर्ष का सामना वर्षों तक कर चुका हूं—मेरे हाथ बढ़ाते ही राजेन्द्र बाबू के पैर अपने आप पीछे हट जाते थे।" उनके साथ चर्चा प्रायः गम्भीर विषयों पर—साहित्य, शिक्षा, भाषा आदि के प्रश्नों पर—ही होती थी। इन सभी विषयों पर उनकी दृष्टि सर्वथा अनाविल और विचार सहज सम्बद्ध थे। दूसरों की बात वे पूरे आदर के साथ सुनते, पर अपनी बात भी दृढ़ता के साथ कहते थे। एक बार हिन्दी के स्वरूप के बारे में चर्चा हो रही थी : उन दिनों रेडियो की भाषा-नीति का एक सिद्धान्त-सूत्र था—सर्वाधिक सुबोधता[1], जिसका मूल अर्थ प्रायः सभी के लिए अत्यन्त दुर्बोध बन गया था। राजेन्द्र बाबू स्वयं सरल हिन्दी के समर्थक थे—आरम्भ में तो वे

१. मैक्सिमम इंटैलिजिबिलिटी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिन्दुस्तानी के ही पक्षधर थे। फिर भी स्वतंत्र भारत में देश की निरंतर बढ़ती हुई सांस्कृतिक आवश्यकताओं और विविध भारतीय भाषाओं के निकटतर सम्पर्क के कारण यह स्पष्ट हो गया था कि हिन्दी के लिए सिर्फ़ उर्दू को ही साथ लेकर चलना काफ़ी नहीं है, उसे तो भारत की सभी भाषाओं के बीच माध्यम-सूत्र बनना है। अतः यह आग्रह करना कि वह दिल्ली के बाज़ारों या उसके आस-पास की शहरी जनता के लिए ही बोधगम्य हो, उसके राष्ट्रीय स्वरूप की कल्पना के विरुद्ध था। एक जागरूक विचारक होने के नाते राष्ट्रपति को यह सीधा तर्क स्वीकार कर लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी और हिन्दी के बृहत्तर रूप का बिम्ब उनके मन में स्पष्ट हो चुका था। यह बातचीत हो ही रही थी कि इतने में उनका एक पौत्र, जिसकी अवस्था चार-पाँच वर्ष की रही होगी, वहां आ गया। उसे देखते ही वे कहने लगे—"यह लड़का घर के सभी लोगों के साथ, यहां तक कि बाहर से आने वाले मेहमानों के साथ तो भोजपुरी में बोलता है, पर यहां के बैरों और ख़ानसामों से खड़ी बोली में बोलता है। इसे किसी ने भी नहीं सिखाया, अपने आप ही यह ऐसा करने लगा है।" नवीनजी फड़क उठे: "वाह वा! आमफ़हम भाषा पर कितनी सुन्दर टिप्पणी है यह!" और मुझे भी अनायास ही गिलक्राइस्ट का वह वाक्य याद आ गया जिसमें उन्होंने बड़े तुर्रे के साथ कहा था कि फ़ोर्ट विलियम द्वारा संवर्धित 'हिन्दुस्तानी' भाषा का आदर्श रूप आयाओं और ख़ानसामों की ज़ुबान में मिलता है।

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के व्यक्तित्व में, सामान्यतः—रंग-रूप आदि की दृष्टि से, कोई विशेष आकर्षण नहीं था; परन्तु राजसी वेशभूषा में वह एक अपूर्व महिमा से मण्डित हो उठता था। गणतंत्र-पर्व पर अथवा अन्य राजकीय समारोहों में उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो भारत का सात्त्विक गौरव अपने प्रकृत रूप में साकार हो गया हो। उस गौरव में भारत की भूमि के सहज गुण—परम्परागत शील और विनय-सम्पन्न गांभीर्य, अनायास ही समाहृत हो गये थे: उसमें ऐसा कुछ भी नहीं था जो विदेश से उधार लिया गया हो। उन्होंने अपने युग की उच्चतम शिक्षा—आधुनिक शिक्षा, प्राप्त की थी: तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसार, भारत-विद्या की अपेक्षा पाश्चात्य विद्या—इतिहास, अर्थशास्त्र, क़ानून, अंगरेज़ी साहित्य आदि—का अध्ययन उन्होंने कहीं अधिक किया था, परन्तु उनकी चेतना भारतीय संस्कारों से इतनी ओतप्रोत थी कि यह सम्पूर्ण ज्ञान-भाण्डार भारतीय परम्परा का अविभाज्य अंग बनकर उसमें व्याप्त हो गया था। इस प्रकार उनकी प्रतिभा में आधुनिक ज्ञान से संस्कृत भारतीय मनीषा का सहज रूप मिलता था—जिसमें बाहरी चमक और तेज विशेष न होने पर भी वृत्तियों का एक अपूर्व सामंजस्य अंतर्व्याप्त रहता था, जो वर्तमान युग में दुर्लभ है। शक्ति और तेज का उनमें अभाव नहीं था—वास्तव में गांधी के सहयोगी और स्वातंत्र्य-युद्ध के किसी भी सेनानी में इन गुणों के अभाव की कल्पना ही संभव नहीं है। परन्तु शक्ति के वे स्फुलिंग उनकी आत्मा में समाहित हो गये थे—छोटी-मोटी रगड़ से भड़क उठने का उनका स्वभाव नहीं था। जब कभी उचित अवसर आया, उन्होंने अपनी शक्ति और दृढ़ता का उपयोग किया। श्वास-रोग के कारण उनकी मुखमुद्रा में एक प्रकार की कठोरता आ गयी थी। यह कठोरता उनकी प्रकृति के सर्वथा विपरीत थी, इससे उनके मन के कोमल भावों पर आवरण-सा पड़ जाता था। उनसे परिचित व्यक्ति प्रायः इस अस्वाभाविक परिवर्तन की चर्चा करते थे, पर मुझे लगता था कि राष्ट्रपति की राजकीय गरिमा के संघटन में आकृति के इस काठिन्य ने भी निश्चय ही योगदान किया था। इसके बिना उनका वह सहज ग्रामीण स्वरूप, जिसकी रक्षा वे नागरिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आकर्षणों का निषेध करते हुए बड़े यत्न के साथ जीवन-भर करते आये थे, कम-से-कम बाहरी दुनिया की निगाहों में, राष्ट्रपति के राजसी वैभव के साथ थोड़ी-बहुत विसंगति उत्पन्न कर सकता था। इसीलिए तो एक विदेशी दर्शक ने उनके बारे में सम्भ्रमपूर्वक लिखा था : "जिस गरिमा के साथ वे राष्ट्रपति-पद के सम्भार का वहन करते हैं, उसे देखकर एक सुखद आश्चर्य होता है—ऐसा लगता है जैसे आरम्भ से ही वे इसके अभ्यस्त रहे हों।"

परन्तु यह कोई आश्चर्यजनक सिद्धि नहीं थी। व्यक्तित्व का बाह्य रूप एक सीमा तक निश्चय ही आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है और जिसकी आत्मा गौरव-गाम्भीर्य से मण्डित रही हो, उसके लिए अपने बाह्य व्यक्तित्व में इन गुणों को धारण कर लेना बहुत कठिन नहीं था। वास्तव में, आश्चर्यजनक थी राष्ट्रपति की वह अपार संधारण-शक्ति जो विपत्ति और सम्पत्ति दोनों का समान रूप से वहन कर सकती थी। राजेन्द्र बाबू ने अपने जीवन में अनेक विपत्तियां और अपार कष्ट सहे। स्वतंत्रता-युद्ध का हर सैनिक ही मरजीवा था—राजेन्द्र बाबू जैसे सेनानी की तो बात ही क्या ? उस युद्ध के प्रत्येक नेता का किसी-न-किसी रूप में अनेक बार मृत्यु से साम्मुख्य हो चुका था—उनके जीवन में भी ऐसे अवसर अनेक आ चुके थे जब जीवन और मरण के बीच थोड़ा-सा ही अन्तर रह गया था। किसी अफ़सर के आदेश मात्र से क्षण-भर में जीवन-लीला समाप्त हो सकती थी। इसके अतिरिक्त अनेक दैविक विपत्तियां आयीं—पितृ-तुल्य अग्रज की असामयिक मृत्यु, परिवार में कई बच्चों का अकाल निधन वे शान्ति के साथ भोग चुके थे। एक घटना तो अभूतपूर्व है। राजेन्द्र बाबू की एक बड़ी बहन थीं, जिनका पूरे परिवार पर बड़ा प्रभाव था; राजेन्द्र बाबू के प्रति उनके मन में अपार वात्सल्य था और ये भी उन्हें मातृवत् मानते थे। वे बीमार पड़ीं और सन् १९६० के गणतंत्र-पर्व से कुछ घंटे पूर्व जनवरी २५-२६ की मध्यरात्रि में उनका देहान्त हो गया। राजेन्द्र बाबू पर अचानक वज्रपात हुआ; वे मातृहीन बालक के समान बिलख उठे। परन्तु उन्हें तो बिलखने का भी अवकाश प्राप्त नहीं था—कुछ ही घंटों के बाद विजय चौक में गणतंत्र-पर्व आरम्भ होने वाला था जहां सभी तैयारियां पूरी हो चुकी थीं और असंख्य नर-नारी राष्ट्रपति के दर्शन के लिए एकत्र थे। वे पुराने संस्कारों के आदमी थे और पूरी निष्ठा के साथ धार्मिक रीति-नियमों का पालन करते थे। अतः एक दारुण समस्या खड़ी हो गयी। परन्तु उनके अन्तर का ब्रह्म तुरन्त ही प्रबुद्ध हो गया और तत्काल यह निर्णय किया गया कि गणतंत्र-पर्व की समाप्ति तक मृत्यु का समाचार गुप्त रखा जाए, अन्यथा एकदम रंग में भंग हो जाएगा। हृदय की असीम वेदना को दबाकर वे उठे और दिवंगता बहन को प्रणाम कर नैत्यिक कार्यक्रम के लिए तैयार हो गये। उधर सम्पूर्ण ऐश्वर्य और उल्लास के साथ राष्ट्रपति का शोभायान चल रहा था और इधर राष्ट्रपति के मन के भीतर बहन के शव का जुलूस निकल रहा था—बाहर राष्ट्रपति का जय-जयकार हो रहा था और भीतर 'राम नाम सत्य है' का शोकोच्चार गूंज रहा था। भारत के राष्ट्रपति ने पूरी मुस्तैदी के साथ सलामी ली, समारोह की हर-एक रस्म अविचल भाव से अदा की और लौटकर क्रियाकर्म की व्यवस्था की। दुर्घटना की ख़बर जब फैली तो छोटे-बड़े सभी लोग दंग रह गये—स्वयं प्रधानमंत्री को भी उसकी सूचना नहीं थी।

विपत्ति को समाहित चित्त से झेलना अपने आप में बड़ी सिद्धि है, इसमें संदेह नहीं, परन्तु सम्पत्ति को भी उसी भाव से झेल लेना दैविक सिद्धि है : और, राजेन्द्रप्रसाद को वह प्राप्त थी। स्वतंत्र भारत का प्रथम राष्ट्रपति होना सबसे बड़ा गौरव था : लौकिक दृष्टि से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इससे बड़े सम्मान की कल्पना और क्या हो सकती है ? पर राजेन्द्रप्रसाद उसको वैसे ही सहज भाव से धारण किये रहते थे जैसे कि अपनी सामान्य जीवन की वेशभूषा को। उनके व्यवहार से यह स्पष्ट था कि पद की गुरुता उनकी आत्मा पर आरूढ़ नहीं हुई थी। ऐसा लगता था कि राष्ट्रपति-पद का गौरव उनके लिए उस राजसी लिबास से अधिक और कुछ नहीं था जिसे यथावसर धारण करने के बाद फिर वे अपनी सहज वस्त्रभूषा ग्रहण कर लिया करते थे। इस प्रकार वे पूरे दस वर्ष तक विदेह के रूप में राष्ट्रपति-भवन में राज करते रहे। वहां के वातावरण में व्याप्त ईर्ष्या-द्वेष, लोभ-मद आदि उनकी शुभ्र मानवता को मलिन नहीं कर सके। भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा का यह लक्षण है कि वह अपने सहज रूप में निरुपाधि है—माया या अज्ञान का आवरण पड़ जाने पर ही वह उपाधिग्रस्त बनती है। मानव-चेतना के विषय में भी यही सत्य है : वह भी अपने सहज रूप में उपाधि से मुक्त रहती है, और अज्ञान से ग्रस्त हो जाने पर ही उपाधि-जन्य दोष उसका स्पर्श कर पाते हैं। राष्ट्रपति अत्यन्त सतर्क भाव से 'माया' के प्रभाव को निरन्तर विफल करते रहे। और उनकी अमोघ शक्ति थी जन्मजात आस्तिकता, जो गांधी के सम्पर्क से सर्वथा अभेद्य बन गयी थी।

राजेन्द्र बाबू अत्यन्त धर्मप्राण हिन्दू थे—सनातन धर्म को उन्होंने समग्र रूप में—उसके तत्त्व और आचार दोनों को—पूर्ण निष्ठा से ग्रहण किया था। तत्त्व रूप में ईश्वर की सत्ता और शक्ति में उनकी अखण्ड आस्था थी। उनका यह विश्वास था कि मनुष्य के सुख-दुःख—सम्पत्ति और विपत्ति—भगवान् का वरदान हैं। दुःख का विधान मानव-आत्मा की शुद्धि के लिए ईश्वर ने किया है और वही उसे दुःख सहन करने की शक्ति भी प्रदान करता है। अतः दुःख को भी उन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ स्वीकार किया; बड़ी-से-बड़ी विपत्ति में भी उनके मन में कटुता नहीं आयी—न मानव के प्रति, न जीवन के प्रति और न ईश्वर के प्रति। सामयिक विषाद की कड़वाहट जल्दी ही सहज आस्था के अमृत में घुल-मिल जाती थी। सौभाग्य के क्षणों में इस आस्था का स्वरूप और भी उज्ज्वल हो जाता था। सन् १९५७ में राष्ट्रपति-पद के लिए उनका पुनर्निर्वाचन हुआ। उसी वर्ष के अन्त में, ३ दिसम्बर को, जन्मदिवस पर प्रणाम करने के लिए जब मैं प्रातः ८-९ बजे राष्ट्रपति भवन गया तो उनके निजी सचिव श्री वाल्मीकि चौधरी ने डायरी का वह पृष्ठ दिखाया जो उन्होंने उसी दिन लिखवाया था। वे प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठते थे और पूजा-उपासना के उपरान्त नियम से डायरी लिखते थे। यह क्रम निरंतर चलता रहा—बाद में डायरी अपने हाथ से न लिखकर निजी सचिव से लिखवाने लगे थे। अद्भुत था उनका वह जन्मदिवस का सन्देश जो दूसरों के लिए नहीं, केवल अपने लिए था। शब्द मुझे याद नहीं, पर भाव यह था : "हे प्रभो ! आपने मुझे कितना दिया ! यदि मैं कहूं कि मैं इसका अधिकारी नहीं था, तो यह काफ़ी नहीं होगा। सत्य तो यह है कि आपने मुझे इतना दिया जितने की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता था—मेरी प्रबल-से-प्रबल वासना भी इतनी दूर नहीं जा सकती थी। अब मेरी कोई इच्छा नहीं है। बस मैं यही चाहता हूं कि जब तक जिऊं तब तक आपके आदेश से मानवता की सेवा करता रहूं और जब आपके विधान के अनुसार मेरा जीवन समाप्त हो जाए तो सभी वासनाओं से मुक्त होकर आपके चरणों में लीन हो जाऊं।"—ये वाक्य मेरे हैं, अर्थ प्रायः उन्हीं का है, हां, इनमें प्रयुक्त कुछ मार्मिक शब्द निश्चय ही उनके हैं। मैं चाहता था कि उस वक्तव्य की प्रतिलिपि कर लूं, पर वह उनकी ऐकान्तिक साधना का अंश था—जैसे बाहर लाने से मन्दिर की सामग्री की पवित्रता खण्डित हो जाती है, ऐसे ही मुझे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लगा कि प्रकाशन के द्वारा उस आत्म-संदेश की पवित्रता भी क्षीण हो जाएगी। मेरे मन पर उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा—ऐसा निश्छल आत्म-समर्पण, अहंकार का ऐसा सम्पूर्ण विसर्जन काव्य में तो मिलता है, परन्तु प्रत्यक्ष जीवन में प्रायः दुर्लभ है। विपत्ति और सम्पत्ति को सम-भाव से सहार लेने की उस दुर्लभ क्षमता के मूल में यही आस्तिक भावना थी।

धर्म के बाह्य विधि-विधान में भी उनकी आस्था कम नहीं थी। राष्ट्रपति बनने के बाद भी वे अपने सम्पूर्ण वैभव के बीच इन बाह्याचारों का उसी निष्ठा से पालन करते थे। मन्दिरों में चरणामृत ग्रहण करते और धर्मगुरुओं का विधिवत् चरण-स्पर्श करते थे। रामलीला में राम-लक्ष्मण की आरती वे सहज आस्तिक बुद्धि से उतारते—जो आज के सामान्य-से-सामान्य बुद्धि-जीवी के लिए भी सम्भव नहीं है। पितृपक्ष में क्षौरकर्म उन्होंने कभी नहीं कराया; यद्यपि उससे राज्य-कार्यों में थोड़ी-बहुत बाधा होती थी, फिर भी वे इस धार्मिक प्रथा का निरन्तर पालन करते रहे। राजनीति के अतिशय बुद्धिप्रवण प्रगतिशील तत्त्वों में उनके इन कार्यों की कभी-कभी आलोचना भी होती थी और कुछ अहम्मन्य लोगों की धारणा यह बन गयी थी कि पश्चिम के देशों में—विशेषकर धर्म-निरपेक्ष देशों में उनका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ेगा। परन्तु यह धारणा सर्वथा निर्मूल सिद्ध हुई—रूस में जितना गहरा प्रभाव उनके सहज व्यक्तित्व का पड़ा उतना किसी भी तथाकथित प्रगतिशील नेता का नहीं पड़ा। वहां के प्रत्येक वर्ग के सदस्यों को उन्हें देखकर और सुनकर यह विश्वास हो गया कि भारत का सर्वोच्च प्रतिनिधि राजेन्द्रप्रसाद जैसा व्यक्ति ही हो सकता था। और, यह एकदम सत्य था—उनके व्यक्तित्व में भारत की प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ तत्त्व सहज रूप में समाकलित हो गये थे : उसमें भारत की अविचल आस्तिकता, गम्भीर ज्ञान, भूमिजात धीरता, स्वभावगत शील-सौजन्य आदि गुणों का अपूर्व समन्वय था जिसका प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता था। इसीलिए विदेश के लोगों को लगा मानो भारत का चैतन्य रूप ही सामने उपस्थित हो—पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव को ग्रहण कर लेने के बाद भी जिसका स्वरूप अक्षुण्ण बना हुआ था।

राजेन्द्र बाबू परम्परानिष्ठ सत्पुरुष थे—वे प्रतिक्रियावादी नहीं थे। जिसने अपना पूरा जीवन स्वतंत्रता और जन-कल्याण में लगा दिया हो वह व्यक्ति अप्रगतिशील कैसे हो सकता था? उन्होंने प्रगति के समस्त मूलभूत तत्त्वों को आग्रह के साथ स्वीकार किया था—वर्ण-भेद, वर्ग-भेद आदि का वे पूर्णतः निषेध कर चुके थे, सर्वोदय में उनका अखण्ड विश्वास था, राजतंत्र के वे विरोधी और प्रजातंत्र के एकांत पक्षपाती थे, धर्म और जाति की उन समस्त रूढ़ियों का वे त्याग कर चुके थे जो सामाजिक विकास में बाधक थीं। परन्तु इसके आगे धर्म और प्राचीन परम्परा मात्र का विरोध करने वाली विदेश की हर प्रवृत्ति को स्वस्थ-उपयोगी और अपने देश की प्रत्येक प्रथा को अस्वस्थ मानने वाली आधुनिकता में उनकी आस्था नहीं थी। उनकी प्रगति-भावना पूर्णतः राष्ट्रीय एवं भारतीय थी—वे भारतीय जीवन का ही विकास करने के हामी थे, विदेशी जीवन-मूल्यों को भारत की भूमि में आरोपित करने के क़ायल नहीं थे। उनका जीवन-दर्शन सामान्यतः गांधी-दर्शन के ही अनुरूप था : उसका विकास ही वास्तव में गांधी के प्रभाव में हुआ था। स्वभावतः गांधी-दर्शन के ही मूल सिद्धान्त—सत्य, अहिंसा, सर्वधर्म-समभाव, सर्वोदय आदि—उन्हें यथावत् मान्य थे। गांधी की तरह वे भी एकांत रूप से आस्तिक थे और हिन्दू धर्म में उनकी निष्कम्प आस्था थी; परन्तु दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर यह था कि गांधी की अपेक्षा राजेन्द्र बाबू की आस्तिक भावना में सगुण-तत्त्व अधिक था। गांधी की आस्तिकता जहां

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निर्गुण संतों की भक्ति-पद्धति के निकट थी, वहां राजेन्द्र बाबू में सगुण-भाव का प्राधान्य था। अतः इनकी आस्तिकता में हिन्दू-धर्म के आचार-पक्ष की स्वीकृति अधिक और संत मार्ग की निवृत्ति-भावना अपेक्षाकृत कम थी। दोनों में वस्तुतः एक सर्वोदयी संत और सर्वोदयी गृहस्थ के जीवन-दर्शन का भेद था।

दस वर्ष तक राष्ट्रपति पद को अलंकृत करने के उपरान्त फ़रवरी, १९६२ में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने अवकाश ग्रहण किया। राजधानी में भारत के सर्वप्रथम और सर्वप्रिय राष्ट्रपति को विदा देने के लिए एक विराट् समारोह किया गया। सभी दलों के प्रतिनिधि नेताओं ने पूर्ण हार्दिकता के साथ उनके अनवद्य गुणों का स्तवन किया। इसके बाद स्वर्गीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू खड़े हुए। राष्ट्रपति के कार्यकाल के उत्तरार्ध में कुछ ऐसी धारणा फैल गयी थी कि प्रधानमंत्री और उनके बीच मतभेद बढ़ गया है, अतः लोग अनायास ही सोचने लगे कि देखें जवाहरलालजी आज क्या कहते हैं। इतने ही में प्रधानमंत्री की भावगद्गद वाणी सुनाई पड़ने लगी : "आज़ादी मिलने के बाद से अब तक स्वतंत्र भारत का नेतृत्व करने के बाद राजेन्द्र बाबू अब हमसे विदा होने वाले हैं। हमारे देश ने इस ज़माने में बहुत बड़ी मंज़िल तय की है और हर क्षेत्र में कामयाबी हासिल की है।...यह ज़माना भारत के इतिहास में राजेन्द्रप्रसाद का युग कहलाएगा।" अंत में, राष्ट्रपति ने अत्यंत विनीत भाव से सब के प्रति आभार प्रकट किया और प्रधानमंत्री को सम्बोधित करते हुए बोले : "यह आपकी उदारता है कि आपने इस युग के साथ मेरे नाम का सम्बन्ध जोड़ दिया है—आज हमें जो भी सफलता प्राप्त हुई है, उसका श्रेय वास्तव में आपको ही है; मैं तो निमित्त मात्र रहा हूं...।"

समारोह समाप्त हुआ और जब राजेन्द्र बाबू तथा जवाहरलाल एक-दूसरे से विदा लेने के लिए खड़े हुए तो अपार जन-समुदाय ने "राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ज़िन्दाबाद!"—"प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ज़िन्दाबाद!" के नारों से दोनों नेताओं का जयजयकार किया। भाव-विभोर जनता ने देखा मानो भारत की आत्मा का 'तेज' अपने अनुशासक 'शील' को सादर विदा दे रहा हो।

मुझे लगता है कि तेज और शील के वियोग का यह अभिशाप आज भी देश में यथावत् व्याप्त है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दद्दा : महान् व्यक्तित्व

(एक विश्लेषण)

दद्दा निश्चय ही महान् व्यक्ति थे—प्राय: उसी अर्थ में और उसी अनुपात में जिसमें कि मैथिलीशरण गुप्त महान् कवि थे। कवि के माहात्म्य और व्यक्ति के माहात्म्य का सम्बन्ध अनिवार्य है या नहीं—यह प्रश्न विवादास्पद है। कवि-मानस के व्याख्याताओं का एक वर्ग जहां महान् कविता को अनिवार्यत: महान् आत्मा का उद्गीथ मानता है वहां दूसरा वर्ग अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण देकर इस स्थापना का उतने ही विश्वास के साथ खण्डन करता है। इस वर्ग का तर्क यह है कि कविता आत्माभिव्यक्ति नहीं है वरन् कला-सृष्टि है, अत: कवि के व्यक्तिगत जीवन के गुण-दोषों का प्रतिबिम्ब उसकी कविता में ढूंढ़ना संगत नहीं है। वास्तव में दोनों ही मान्यताओं में सत्य का अंश विद्यमान है—और दोनों प्रकार के उदाहरण भी अनायास मिल जाते हैं। परन्तु यदि शब्दों की जाली को हटाकर उनके मूल अर्थ का विचार करें तो उपर्युक्त दोनों मान्यताएं एक-दूसरे का खण्डन नहीं करतीं। कला-सृष्टि भी आत्म की अभिव्यक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकती—मनुष्य की सृष्टि में मनुष्य का व्यक्तित्व किसी-न-किसी रूप में प्रतिफलित होता है। आत्म से पलायन भी आत्म की अभिव्यक्ति का ही परोक्ष रूप है। जिन कवियों या कलाकारों के व्यक्तिगत जीवन की उनकी कला की भव्यता के साथ सीधी संगति नहीं बैठती, उनके संदर्भ में भी व्यक्तित्व और कला के सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि कला की भव्यता में वहां भी व्यक्तित्व की अपूर्णता का आदर्श-कल्पना के प्रति समर्पण-भाव ही प्रतिफलित होता है। दद्दा के संदर्भ में ये सम्बन्ध-सूत्र प्राय: स्पष्ट-से ही हैं और उन्हें ढूंढ़ निकालने के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता।

दद्दा के व्यक्तित्व की पहली विशेषता थी उनकी सहज आत्मीयता, जो सम्पर्क में आने वाले किसी भी व्यक्ति को तत्काल आकृष्ट और प्रभावित करती थी। मुझसे सम्बद्ध अनेक अपरिचित व्यक्ति—बड़े और छोटे, बुद्धिप्रवण और भावुक, मेरे माध्यम से, दद्दा के सम्पर्क में आये। दद्दा के सामने जाने से पूर्व, मैं देखता था, वे सभी एक विशेष प्रकार की मानसिक भूमिका बनाते थे—एक ऐसे कवि से मिलने के लिए मन को तैयार करते थे जिसने पूरे युग को प्रभावित किया है। परन्तु दद्दा के सामने जाते ही उन्हें तुरन्त अनुभव होता था कि वह सब तैयारी बेकार थी और उन्हें यह आभास भी नहीं होता था कि उनकी वह मानसिक भूमिका कब अपने-आप ही भंग हो गयी। यहां किसी उपचार, किसी अल्क़ाब-आदाब की ज़रूरत नहीं थी। दद्दा अनायास ही अपरिचित व्यक्ति का उठकर स्वागत करते : "आइए महाराज, आपने बड़ी कृपा की।" वर्तमान जीवन के संदर्भ में इस प्रकार के स्वागत-वाक्य को अनेक रूपों में ग्रहण किया जा सकता है। यह एक बड़े आदमी की गौरवमयी शिष्टता है या यह विशिष्ट अर्थ से रहित आज के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शिष्टाचार का व्यंजक सामान्य उपचार-वाक्य है या एक बड़ा आदमी किसी छोटे को बहुमान दे रहा है। परन्तु दद्दा के प्रसंग में इनमें से एक भी व्याख्या सही नहीं बैठती थी। उनके भीतर का मानव अपने किसी भी प्रतिरूप को भेंटने के लिए अत्यन्त सहज भाव से ललक उठता था और इस ललक में अपनी और आगन्तुक की या विभिन्न आगन्तुकों की आपस की छोटाई-बड़ाई की माप के लिए अवकाश नहीं रहता था। सभी वर्गों के साहित्यकारों के अतिरिक्त उनके यहां मंत्री आते थे, राजनेता, संसद्-सदस्य आते थे, उद्योगपति और हाकिम-हुक्काम आते थे, प्रोफ़ेसर और छात्र आते थे, सभी क्षेत्रों के कर्मचारी आते थे, गांव के व्यापारी और किसान आते थे, साधु-संन्यासी आते थे, छद्मवेश में क्रांतिकारी और कभी-कभी अंगरेज़ी राज्य में सी० आई० डी० भी आते थे, महिलाएं, बच्चे, युवा, वृद्ध, सभी का आना-जाना लगा रहता था। हो सकता है दो-चार बार अपराधी वृत्ति के लोग भी आते रहे हों; पर दद्दा प्रायः उसी सहज भाव से सबका स्वागत करते थे। मानव-प्राणी की संघवृत्ति या संगवृत्ति की ऐसी प्रबल और अतर्क्य अभिव्यक्ति कम ही देखने में आती है। बड़ी जल्दी और अलक्ष्यक्रम से प्रत्येक आगन्तुक उनके परिवार का अंग बन जाता था। अनेक मित्रों ने दद्दा के दरबार की चर्चा की है : मैं समझता हूं कि उनके संदर्भ में 'दरबार' से अधिक निरर्थक शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। कहां दद्दा की बैठक का सहज आत्मीय वातावरण और कहां दरबार की वह औपचारिकता ! दद्दा दरबार लगाने के लिए परिचित-अपरिचित को नहीं अपनाते थे—उनके मुक्त स्नेह की छाया में एक परिवार अपने-आप बस जाता था।

इस सहज आत्मीयता के दो स्पष्ट कारण थे। एक तो आतिथेय की दृष्टि छोटे और बड़े में कम-से-कम भेद करती थी—एकदम नहीं करती थी, यह कहना तो अत्युक्ति होगी और शायद विवेकी व्यक्ति के लिए असम्भव भी, परन्तु यह भेद प्रायः नगण्य ही रहता था। छोटों को बिना आयास के मान देने और अपनी गुरुता को सरल भाव से वहन करने की शक्ति उनमें प्रायः वैसी ही थी जैसी राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद में। दूसरा रहस्य यह था कि वे प्रत्येक आगन्तुक से स्वभावतः उसकी ही मनोभूमिका पर उतरकर बातचीत करते थे। आकाशवाणी के वर्तमान महानिदेशक श्री बलवन्त भट्ट ने पहली मुलाक़ात में ही चमत्कृत होकर कहा था—दि ओल्ड मैन मीट्स यू ऑन योर ओन ग्राउण्ड्स—बुज़ुर्गवार हर-एक से उसके ही मुआफ़िक़ बात करते हैं। और, यह बात सोलह आने सच थी। सामान्यतः उनके जैसे वृद्ध पुरुष के लिए, जिसने अपने जीवन का अधिकांश एक विशेष प्रकार के वातावरण में व्यतीत किया था और जिसने साहित्य से बाहर किसी अन्य क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं किया था, वास्तव में यह अत्यंत दुष्कर कार्य था। किन्तु दद्दा के व्यवहार का यह अनिवार्य अंग बन गया था और साथ ही इसमें दूसरे को समझने, वरन् उससे भी आगे, दूसरे को सराहने की ऐसी सहज वृत्ति का योग रहता था कि हर आदमी अनायास ही उनके अत्यन्त निकट आ जाता था। प्राध्यापक उनसे बात कर यह अनुभव करता कि उसका कार्य ही सर्वश्रेष्ठ है, पत्रकार यह सोचता कि उससे अधिक दायित्वपूर्ण व्यवसाय और किसी का नहीं है, टेलीफ़ोन की परिचारिकाएं समझतीं कि सबसे कठिन काम उन्हीं का है और बिजली वाला समझता कि यदि वह न होता तो सारी दिल्ली का कारबार ठप्प हो जाता। लेकिन यह सब एक मर्यादा के भीतर ही होता था और अपने दृष्टिकोण से समझौता किये बिना ही होता था। गंगाबाबू (श्री गंगाशरणसिंह) के चारित्र्य एवं विवेक के वे बड़े क़ायल थे और उनके विचारों की बड़ी क़द्र करते थे, परन्तु यह कभी सम्भव नहीं था कि उनके दल के दृष्टि-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कोण को वे भूल से भी स्वीकार कर लें। जहां कहीं गंगाबाबू की बातचीत का रुख़ कांग्रेस के विरुद्ध जाता, दद्दा तुरन्त ही हँसकर कह उठते—"देखिए, आप तो विरोधी लोग हैं; कहिए आप कुछ भी, जीत तो हमारी (कांग्रेस की) ही होगी।"

दद्दा के व्यक्तित्व में रागतत्त्व का प्राधान्य था। अपने काव्य में उन्होंने निवृत्ति मार्ग के विरुद्ध प्रवृत्ति धर्म की जो बार-बार और आग्रहपूर्वक प्रतिष्ठा की है, उसके मूल में उनके स्वभाव की ही प्रेरणा थी। उनकी रुचि और अरुचि सर्वथा स्पष्ट थीं। वे प्रायः अपनी रुचि के अनुकूल ही कार्य करते थे—भोजन, वस्त्र, अध्ययन आदि में उनकी रुचि प्रखर रूप से व्यक्त होती थी। भोजन में जो पदार्थ उन्हें अच्छे नहीं लगते थे, उन्हें वे स्वयं तो बचा ही जाते थे, अपने प्रिय व्यक्तियों से भी यह अपेक्षा करते थे कि वे उन्हें छोड़कर दूसरे अधिक स्वादिष्ट या गुणकर पदार्थ ही ग्रहण करें। मुझे याद है कि मेरे पितामह चाहते थे कि मैं वही खाऊं और उसी तरह कुछ चीजों को मिलाकर खाऊं जैसे वे खाते थे और जब मेरी और उनकी रुचि में व्यतिरेक हो जाता तो उन्हें निराशा होती थी क्योंकि अकसर वे अपना खाना छोड़ मुझे ही खिलाने में तल्लीन हो जाते थे। दद्दा के साथ या उनके सामने बैठकर खाने में—उनका आग्रह और झिड़कियां सुनकर—चालीस वर्ष पहले की ये मधुर स्मृतियां सजग हो उठती थीं। उनके दिल्ली-प्रवास में इस अनुभव की निरन्तर आवृत्ति के कारण, रात के खाने के समय विचित्र प्रकार का सूनापन महसूस होता है और आज भी मेरा मन एक स्निग्ध-करुण भावना से भींग उठता है। (सामान्यतः हमारी तरफ़ 'भीगना' शब्द का ही प्रयोग होता है, पर दद्दा 'भींगना' का प्रयोग करते थे और 'भींगा' आदमी उन्हें विशेष रूप से प्रिय था।)—क्षमा कीजिए : मैं भूल गया कि मैं संस्मरण नहीं लिख रहा, वरन् विश्लेषण कर रहा हूं।—हां, तो प्रवृत्ति-धर्म में दद्दा की जन्मजात आस्था थी और वह उनके स्वभाव-संस्कार का अनिवार्य अंग थी। अपने और अपने स्वजनों के दारुण शोक-प्रसंगों से यह प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गयी थी और किसी का दुःख देखकर वे प्रत्यक्ष रूप से विगलित हो उठते थे। विदा-प्रसंगों में उनके कण्ठ का अवरोध तो मामूली बात थी—प्रायः उनकी आँखों में भी आँसू आ जाते थे। यही प्रबल रागतत्त्व उनकी आत्मा की ऊर्जा से, जो इतनी ही प्रबल थी, मिलकर आवेग का रूप धारण कर लेता था और दद्दा का व्यक्तित्व निश्चित रूप से अत्यन्त आवेगमय बन गया था। सहज विनय और सरल स्नेह उनके व्यवहार के अनिवार्य अंग थे, परन्तु मर्यादा-भंग होने पर या किसी प्रकार की अनुचित अथवा अप्रिय घटना घटित होने पर उनके प्राणों का आवेग निर्बन्ध होकर फूट उठता था। और, यहां भी छोटे-बड़े का भेद नहीं रहता था : सामान्य परिजन हो या भारतीय शासन का स्तम्भ वरिष्ठ केन्द्रीय मंत्री, अकिंचन ग्रामवासी हो या महान् उद्योगपति—दद्दा का प्रज्वलित स्वाभिमान समान रूप से बरस पड़ता था। इस प्रकार की अनेक घटनाएं उनके विषय में प्रसिद्ध हैं : उनका विश्लेषण करने पर एक बात तुरन्त ही स्पष्ट हो जाती है कि प्रायः प्रत्येक स्थिति में उनके आवेग का सम्बन्ध व्यक्ति से न होकर सिद्धान्त या आदर्श से ही होता था—अपने व्यक्तित्व के मानापमान की अपेक्षा अपने किसी आदर्श या सिद्धान्त का अपमान ही उसके मूल में रहता था। जीवन के अन्तिम चरण में हिन्दी के प्रश्न को लेकर वे अत्यन्त विक्षुब्ध हो जाया करते थे और कभी-कभी बड़े ही नजदीकी लोगों पर भी गरम हो उठते थे। यह प्रबल राग और प्राणों की ऊर्जा से संवलित इसकी वह आवेगमयी परिणति दद्दा के व्यक्ति-गौरव और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-वैभव का प्रमुख आधार थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस चिरप्रबुद्ध स्वाभिमान ने दद्दा को एक अपूर्व आत्मविश्वास से मंडित कर दिया था। उनका अन्तर्वासी ब्रह्म सदा इतना प्रदीप्त रहता था कि पद या वैभव का प्रखर-से-प्रखर आलोक उनको हतप्रभ नहीं कर सकता था। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के व्यक्तित्व के प्रति उनके मन में बड़ी श्रद्धा थी, पर राष्ट्रपति-भवन में उनके ठीक बराबर बैठने में उन्हें किसी प्रकार की द्विविधा नहीं होती थी। पं० जवाहरलाल नेहरू के तेजस्वी व्यक्तित्व के प्रति उनके मन में एक आनन्दपूर्ण सम्भ्रम का भाव था, पर उनका अभिमानी कवि झुककर बात करना नहीं जानता था। सहज शील और विनय की रक्षा करते हुए वे उनके कंधे पर हाथ रखकर बात कर सकते थे। अपार तेज से मण्डित राष्ट्रनायक का प्रताप कवि की प्रतिभा के प्रकाश को मन्द नहीं कर सकता था। और, यह निर्भीक व्यवहार मृत्यु के सम्मुख भी यथावत् बना रहा। अपने जीवन में कई बार कवि का मृत्यु से साक्षात्कार हो चुका था। सन् १९५९ में तो मैं प्रत्यक्ष ही देख चुका था; उससे पूर्व की कुछेक घटनाओं और चरम घटना का विवरण भी अनेक प्रत्यक्षदर्शियों से सुन चुका हूं। सन् '५९ में, अस्पताल में मैंने देखा कि नित्य व्यवहार में किसी मित्र की मोटर देर से पहुँचने पर जो बालक के समान अधीर हो उठते थे वे ही दद्दा मृत्यु के सामने सर्वथा अविचल थे। अंतिम क्षणों में एक अद्भुत धैर्य भावना से उन्होंने मरण का वरण किया : "डॉक्टर, आप अपना काम कीजिए (इंजेक्शन लगाइए या जो चाहे कीजिए); हमें अपना काम करने दीजिए (राम-नाम का स्मरण करने दीजिए)।" × × × × "दद्दा ! कोई आज्ञा ?"—"नहीं बेटा, तुम सब मेरे सामने रहो : बस; मुझे किसी से कुछ नहीं कहना है।"—इस प्रकार मन के भीतर की वह ब्रह्मज्योति न जीवन में किसी के सामने मन्द पड़ी और न मृत्यु के समय यमराज के सामने। आज जब मैं इस तथ्य पर विचार करता हूं तो आश्चर्य से विभोर हो उठता हूं—क्योंकि मैं अपने और दूसरों के अनुभव से जानता हूं कि जो व्यक्ति जितना ही भावुक और कल्पनाशील होता है प्राय: उतना ही मृत्यु-भीरु भी होता है। किन्तु अपने युग का अधिकतम भावप्रवण और कल्पनाशील यह पुरुष इसका विचित्र अपवाद था।

रागी व्यक्तित्व प्राय: उदार होता है और दद्दा के चरित्र में उदारता के अनेक रूप विद्यमान थे। वैयक्तिक धरातल पर उनकी उदारता का उज्ज्वल प्रमाण है गुप्त-परिवार का सम्पत्ति-विभाजन जिसमें पुत्र और भ्रातृव्य में किसी प्रकार का भेद नहीं किया गया। यह तथ्य आज सर्वविदित है कि उक्त सम्पत्ति का अर्जन प्रकाशन-व्यवसाय के द्वारा ही हुआ था। इस प्रकाशन-व्यवसाय का आधार थीं दद्दा की रचनाएं, और आज भी बहुत-कुछ ऐसी ही स्थिति है। दद्दा के मन में यह बात आ सकती थी—शायद कुछ मित्रों ने इसका संकेत भी किया हो। किन्तु विभाजन में सभी को बराबर हिस्सा मिला : 'अर्जन और विसर्जन' का यह अपूर्व नहीं तो असाधारण उदाहरण अवश्य था। साहित्यिक धरातल पर उनकी उदारता का प्रमाण यह था कि वे सदा ही कटु-से-कटु आलोचना को बिना प्रतिवाद किये झेलते रहे। शायद एक बार गांधीजी के आक्षेपों का उत्तर दिया था—बस। इतना ही नहीं, इस प्रकार की विषाक्त घटनाओं की कटु स्मृतियां भी उनके मन में प्राय: शेष नहीं थीं। मुझे याद है कि कभी-कभी जब साहित्यिक मित्र इस प्रकार की आलोचनाओं की चर्चा करते थे तो या तो वे कहते, "हमें याद नहीं—शायद लिखा था", या यह कहकर चुप हो जाते—"ठीक है, उन्होंने अपना काम किया, हमने अपना।" कई बार आगे चलकर ऐसे व्यक्ति दद्दा के यहां अपनी सिफ़ारिश कराने भी आते और दद्दा उसी सद्भाव एवं सौजन्य के साथ उनकी सहायता करते थे। यह कठिन काम है : अकारण द्वेषी के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मर्म-प्रहार को सह लेने के लिए उदार हृदय और अभिजात संस्कारों की अपेक्षा होती है। इस उदारता का एक दूसरा पहलू भी था। स्तवन का भी लोभ उन्हें नहीं था—अपने विषय में किसी प्रकार के प्रचार-प्रसार के आयोजन का तो प्रश्न ही नहीं था, प्रशंसकों के सहज अभिनन्दन एवं स्तवन से भी वे प्रायः बचते थे और उनका यह संकोच सर्वथा स्वभावगत था, उपचार मात्र नहीं था। उपचार का झीना पर्दा देर तक स्वभाव का आवरण नहीं बन सकता; अंतरंग व्यक्तियों के साथ उपचार का प्रश्न ही क्या उठता था—और वैसे भी उनकी प्रकृति इतनी गोपनशील कभी नहीं थी कि अपने घर के भीतर भी पूरा लिबास पहने रहें। दद्दा के व्यक्ति की उदारता का यह अपूर्व निदर्शन था जो प्रायः आज के युग में दुर्लभ है। साहित्यिक उदारता का एक दूसरा पक्ष भी होता है: अपने सहकर्मियों और समानधर्माओं की उपलब्धियों की सहज-मुक्त स्वीकृति। बहुमत यही था कि दद्दा का यह पक्ष दुर्बल है; अपने अनुभवों के आधार पर भी इस विषय में मेरे मन में द्विविधा अवश्य है। यह बात नहीं थी कि दद्दा अपने समसामयिक कवि-लेखकों की प्रतिभा के प्रशंसक नहीं थे: जैनेन्द्र, पंत, अज्ञेय, दिनकर की प्रतिभा की वे बराबर दाद देते थे; भगवतीबाबू, यशपाल, वृन्दावनलाल वर्मा के वे प्रशंसक थे। उदीयमान लेखक उनके आशीर्वाद के सहज अधिकारी बन जाते थे। अपने अग्रजों में रविबाबू, माइकेल मधुसूदन दत्त और शरत् को तो वे सदा ही बहुमान देते रहे; परन्तु मेरी स्मृति में अनेक घटनाएं आज भी विद्यमान हैं जो यह संदेह उत्पन्न करती हैं कि वे जिस मुक्त भाव से व्यक्ति को स्वीकार कर लेते थे, उसी मुक्त भाव से कृति को स्वीकार करने में शायद उन्हें कठिनाई होती थी। अनेक मित्र उनकी इस दुर्बलता से परिचित थे और प्रायः इस संदर्भ को लेकर उनकी कटु आलोचना भी हो जाया करती थी। परन्तु जैसा कि कुछ मित्र समझते थे, इस अभाव के मूल में मात्सर्य दोष नहीं था। इसका एक स्पष्ट कारण तो यह था कि उनके समसामयिक—कम-से-कम वे साहित्यकार जो जीवन के उत्तरार्ध में उनके सहवर्ती थे—प्रायः उनके अनुवर्ती ही रहे: दद्दा के और उनके बीच एक पीढ़ी और उसी के साथ एक श्रेणी का अन्तर इतिहास-सिद्ध हो चुका था, अतः किसी प्रकार की स्पर्धा के भाव के लिए विशेष अवकाश नहीं था। दूसरे, वह स्वभाव ही मत्सरी नहीं था। वास्तव में दद्दा की काव्य के विषय में एक विशेष प्रकार की रुचि बन गयी थी—और चूंकि वे काव्य का अध्ययन आलोचक की दृष्टि से नहीं वरन् कवि की दृष्टि से—वरन् अपनी ही कवि-रुचि के अनुसार करते थे, अतः अनेक नये काव्यों को, जो उनके संस्कारों से मेल नहीं खाते थे, मुक्त भाव से स्वीकार करना उनके लिए कठिन हो जाता था। फिर भी मेरी अपनी धारणा यह है कि इस क्षेत्र में दद्दा की उदारता उतनी मुक्त और निर्बन्ध नहीं थी जितनी कि अन्य क्षेत्रों में।

रागी व्यक्ति सामान्यतः अन्तर्मुख भी हो जाता है; परन्तु दद्दा की प्रबुद्ध युग-चेतना उन्हें अपने परिवेश के प्रति सदा सजग रखती थी। रागतत्त्व का प्राधान्य होने पर भी उनकी विवेक-शक्ति असाधारण रूप से जाग्रत थी। प्रवासभीरु होने के कारण विभिन्न स्थानों और परिस्थितियों का निरीक्षण करने का उत्साह तो उनमें नहीं था, परन्तु समाचार-पत्र पढ़कर या प्रत्यक्षदर्शी मित्रों से विवरण सुनकर वे यह कमी पूरी कर लेते थे। आकाशवाणी के समाचारों से उन्हें इतना मोह था कि यदि कभी किसी कारण समय निकल जाता तो वे एकदम क्षुब्ध हो जाते थे। अपने आस-पास की घटनाओं के पूरे विवरण सुने बिना उन्हें संतोष नहीं होता था और प्रायः सभी के विषय में उनकी प्रतिक्रिया बड़ी स्पष्ट—कभी-कभी बड़ी प्रखर भी—होती

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

थी। उन्होंने मध्ययुग के ही संस्कार विरासत में पाये थे, परन्तु आधुनिक जीवन की गतिविधि को आत्मसात् करने के लिए उनके मन की स्फूर्ति अंत तक बनी रही। खाने में जूठे-सकरे का ध्यान उन्हें अंत तक रहा—पर जाति और वर्ण की क्षुद्र भेदभावना से वे सर्वथा मुक्त हो चुके थे। रहन-सहन पर पुराने संस्कारों की छाप बराबर बनी रही, किन्तु नये क़ायदे-क़रीने अपनाने का चाव भी कम नहीं था। भावनावश हाथ का खद्दर पहनते थे और इस व्रत का आजीवन निर्वाह करते रहे, पर मशीन के प्रति अबाध आकर्षण था। संस्कार तो पुराण-युग में रमते थे, पर विवेक की दृष्टि वर्तमान पर केन्द्रित थी : परिणामतः उनकी कल्पना और भावना जब-जब मध्ययुग के इतिहास या उससे भी पूर्व के पुराण-युग या और भी धुँधले महाभारत-रामायण-काल में विचरण करने जाती थी तो कवि का अपना देश-काल सदा साथ चलता था। चीनी आक्रमण के समय वे अत्यन्त उद्विग्न हो जाते थे और नेहरू के नेतृत्व में अटल आस्था रखने पर भी सरकार की त्रुटियों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया अत्यन्त आवेगदीप्त हो उठी थी। यही हिन्दी के प्रश्न को लेकर होता था। उस समय उन्हें छेड़ना ख़तरे से खाली नहीं था। अगर किसी के मुँह से एक भी शब्द राजभाषा-विधेयक के समर्थन में निकल जाता तो वे बरस पड़ते थे। इस प्रकार अतीत के प्रति प्रबल आकर्षण होने के साथ-साथ वर्तमान के साथ उनका पूर्ण तादात्म्य था और अपने युग का—भारत के जागरण-सुधार-युग का—वे पूर्ण प्रतिनिधित्व करते थे। इसीलिए अतिशय भाव-प्रवण होने पर भी नैतिक मूल्यों में उनका अटूट विश्वास था और सदाचार की मर्यादाओं में अपूर्व निष्ठा थी, यद्यपि दूसरों के प्रति उन्होंने कभी सुधारक का दृष्टिकोण नहीं अपनाया। नैतिक मूल्यों से जहां उनका रागतत्त्व पुष्ट हुआ था, वहां राग के प्रभाव से उनके नैतिक दृष्टिकोण में निषेध की अपेक्षा विधिपक्ष ही प्रबल हो गया था और उसमें एक प्रकार की सरस व्यापकता आ गयी थी जो सुधार-युग में दुर्लभ थी।

प्रायः हमारे नैतिक मानदण्ड अपने सन्दर्भ में सरल और दूसरे के सन्दर्भ में कठिन होते हैं; परन्तु दद्दा इसके अपवाद थे। उनके मानक अपने लिए कठोर और दूसरे के लिए उदार रहते थे। जिस चारित्रिक विनिपात की वे अपने सन्दर्भ में कल्पना भी नहीं कर सकते थे और जिसके लिए अपने परिवार के किसी भी जन को क्षमा करना उनके लिए असम्भव था, उन्हें ही दूसरों के सन्दर्भ में वे बड़े ही सहज भाव से सह लेते थे। नैतिक मूल्यों के प्रति यह मानवीय दृष्टिकोण उनके व्यक्ति-गौरव का एक मूल कारण था।

दद्दा को हिन्दी-जगत् राम के अनन्य भक्त के रूप में जानता है और इसमें सन्देह नहीं कि उनके काव्य में राम के प्रति अनन्य निष्ठा सर्वत्र ही व्यक्त हुई है :

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूं, ईश्वर क्षमा करे ;
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे !

—'साकेत'

पर पूजा-उपासना आदि दद्दा के जीवन का अंग नहीं थीं। एक आचारवादी पंडित ने कभी चिढ़कर कहा भी था : "काहे के भक्त ? कभी पूजा भी नहीं करते हैं !" बात ठीक थी। वैष्णव-परिवार की नियमित पूजाचर्या उनके जीवन में नहीं थी—सामान्य गृहस्थ-धर्म के अनुसार विशेष पर्वों पर ही वे पूजा-उपचार में भाग लेते थे। वैसे वे नियमतः रामानन्दी श्री-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सम्प्रदाय में दीक्षित थे—आजन्म कण्ठी धारण किये रहे और तिलक लगाते रहे। उनके पिता श्रीराम की माधुर्यभाव से उपासना करते थे और 'कनकलता' नाम से मधुराभक्ति के पदों का रचना-गान करते थे। दद्दा ने भी दीक्षा वही ली थी, किन्तु उनका सहज पुरुष-स्वभाव और सुधार-युग के शिक्षा-संस्कार मन से कभी उस भाव को स्वीकार नहीं कर सके। उन्होंने व्यापक रूप में राम के आश्रय से मर्यादावादी वैष्णव धर्म को ही ग्रहण कर गांधी-युग के संस्कारों से देश-काल के अनुरूप उसमें अभीष्ट संशोधन कर लिया था। फिर भी जिस प्रार्थना पर गांधीजी की वैष्णव-भावना इतना बल देती थी, उसकी ओर से दद्दा, कम-से-कम बाह्य व्यवहार में, उदासीन ही थे। उधर प्रत्यक्ष के लिए क्या प्रमाण ? जिस सहज निष्ठा और तन्मय भाव से वे अन्त समय में राम का नाम लेते हुए इष्ट में लीन हुए, वह क्या बिना जीवन-व्यापी अभ्यास के सम्भव था ? अतः इस समस्या का समाधान मेरे पास यही है कि दद्दा की रामभक्ति पूजा-प्रार्थना में सीमित न होकर कदाचित् उनकी चेतना में—विचार और भावना में—व्याप्त हो गयी थी और अब इसके लिए उन्हें आचार की आवश्यकता नहीं रह गयी थी।

दद्दा के सात्त्विक जीवन में कोई विशेष व्यसन नहीं था; अपने समय के मामूली शौक—पान, सिगरेट, तम्बाकू आदि को वे यथासुविधा ओढ़ते-छोड़ते रहते थे। धीरे-धीरे सभी शौक छूट चुके थे, एकाध चीज़ गांधी के बलिदान पर छोड़ दी और पान सियाराम के मरने के बाद। स्वान्तःसुखाय वे उपन्यास पढ़ा करते थे और समय काटने के लिए ताशों का पेशेंस खेल खेलते थे जिसे अकेले भी खेलने की सुविधा रहती है। उनको अगर शौक था तो बैठक का। अपने थोड़े-से अन्तरंग मित्रों के साथ बैठकर वार्त्ता-विनोद करने में उन्हें वास्तव में रस आता था। इस गोष्ठी में सभी रसों के व्यंजन रहते थे—अत्यन्त परिष्कृत काव्य-चर्चा होती थी जो कहीं से भी शुरू होकर उनके प्रिय कवि कालिदास पर ही आकर समाप्त होती थी, ज्वलन्त राजनीतिक प्रश्नों को लेकर गरमागरम बहस हो सकती थी, अनेक प्रकार के करुण, मधुर या हास्य-व्यंग्यमय संस्मरण सुनाये जाते थे, चुटकुले और फब्तियां होती थीं, इधर-उधर के साहित्यिक आयोजनों की तरल भाव से समीक्षा चलती थी और कभी-कभी दुर्भाग्य से उस तरल भाव में ही व्यक्तियों से सम्बद्ध अन्तरंग प्रसंग भी लपेट में आ जाते थे। असल बात यह थी कि इस गोष्ठी में हर तरह के आदमी रहते थे जिनमें प्रकृति, रुचि, बौद्धिक और सामाजिक स्तर तथा जीवन-दृष्टि का अत्यन्त वैचित्र्य होता था। इसलिए कभी-कभी लोग बहक भी जाते थे और उस तरंग में दद्दा का अवधान भी भंग हो जाता था। दो-चार ऐसे व्यक्ति, जो दद्दा के सहज स्वभाव को समझने में असमर्थ रहे, बुरा मानकर उनसे सदा के लिए कट भी गये। परन्तु यह गोष्ठी-विनोद दद्दा के जीवन का अनिवार्य अंग बन गया था जिसके अभाव में उनके तन और मन के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता था। उनके मित्र इसीलिए और भी उन्हें दिल्ली में रखने का आग्रह करते थे क्योंकि चिरगाँव की रही-सही बैठक भी सियारामशरण के मरने के बाद बिलकुल टूट चुकी थी। जिस प्रकार से कोई वृक्ष अपने वातावरण से रस ग्रहण कर फिर फल-फूल और छाया के रूप में उसका प्रतिदान करता है, इसी प्रकार इन गोष्ठियों से जीवन का रस ग्रहण कर दद्दा स्नेह, स्फूर्ति और कवित्व का वितरण करते रहे।

सब मिलाकर दद्दा का व्यक्तित्व एक भरा-पूरा और समृद्ध व्यक्तित्व था। सम्पन्न सामन्तीय परिवार का आभिजात्य—स्वाभिमान, विनय और औदार्य जिसके सहज अलंकार थे—उन्हें उत्तराधिकार में मिला था। पिता की रसमयी वैष्णव-भावना ने इस आभिजात्य को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मानव-हृदय के सहज माधुर्य से मण्डित कर दिया था और गांधी-युग के राष्ट्रीय-नैतिक आदर्शों ने उसमें प्राणों की ऊर्जा तथा चरित्र की गरिमा भर दी थी। उनका यह सहज और समृद्ध मानव-चरित्र ही उनकी सर्वप्रियता का रहस्य था। संयोग से उनकी मृत्यु ऐसे वर्ष में हुई जो देश के सर्वाधिक लोकप्रिय राष्ट्र-पुरुष की मृत्यु का भी वर्ष था। फिर भी राष्ट्रनायक के निधन का वह शोक मैथिलीशरण गुप्त के मृत्यु-शोक को निमग्न नहीं कर सका। कुछ समय के लिए उत्तर भारत के स्मृति-पटल पर जवाहरलाल नेहरू के चित्र के स्थान पर मैथिलीशरण गुप्त का वह चित्र—जिसके केन्द्रबिन्दु थे, भीगी आँखें और चमकते दाँत—अनायास ही स्थापित हो गया। दद्दा या किसी भी व्यक्ति की लोकप्रियता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दादा—स्वर्गीय पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

मेरे किशोर मन में जैसे-जैसे साहित्यिक चेतना का विकास होता गया, वैसे ही स्वदेश-विदेश के कलाकारों के कल्पना-धूमिल रोमानी चित्र मेरे मन में बनने लगे और उनके साथ एक विशेष प्रकार का रागात्मक संबंध स्थापित होने लगा। कालांतर में प्रसाद और प्रेमचन्द को छोड़कर इस युग के प्रायः सभी मूर्धन्य लेखकों से परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मेरे साहित्यिक संबंध क्रमशः दो वर्गों में विभक्त हो गये। पहला वर्ग तो ऐसे लेखकों का है जिनके साथ मेरा कवि-सहृदय-संबंध ही अधिक है—इस संबंध में संसर्गजन्य सहज आत्मीय भाव की अपेक्षा बुद्धि और कल्पना से संस्पृष्ट एक प्रकार की अप्रत्यक्ष श्रद्धा ही रहती है। दूसरे वर्ग के कवि-लेखकों के साथ साहचर्य का भी सुयोग मिलने से कल्पना-तत्त्व क्षीण और भाव-तत्त्व अनायास ही प्रगाढ़ हो गया है। यह कहना आज कठिन है कि इस नैकट्य से केवल लाभ ही लाभ हुआ : वैयक्तिक संबंध के विकास के साथ-साथ साहित्यिक संबंध का ह्रास अवश्यंभावी था और जहां व्यक्ति की गरिमा इस क्षतिपूर्ति में असफल रही वहां तो हानि ही अधिक हाथ लगी है।

नवीनजी इस दूसरे वर्ग में ही आते थे। पिछले सात-आठ वर्षों से पूज्य दद्दा—राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के माध्यम से उनके साथ पारिवारिक संबंध-सा हो गया था; वे केवल कवि नवीन न रहकर दादा नवीन बन गये थे। फिर भी उनके साथ वैयक्तिक संबंध की स्थापना से साहित्यिक संबंध की विशेष क्षति नहीं हुई थी। इसके दो कारण थे : एक तो यह कि उनका अधिकांश साहित्य अप्रकाशित ही था, इसलिए व्यक्तिगत परिचय से पूर्व काव्य का परिचय भी अधिक घनिष्ठ नहीं था; अतः प्रत्यक्ष संपर्क से उनके कवि-रूप का साक्षात्कार भी बढ़ा ही। दूसरे, उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता थी कि उनका आकर्षण दूरी में नहीं वरन् सामीप्य में ही निखरता था। आज वे इस संसार में नहीं हैं—दिल्ली की साहित्य-सभाओं में, दद्दा के घर की सांध्य-गोष्ठियों में उनका अभाव मन में एक हूक-सी पैदा करता है। कई बार उनके विषय में लिखने की प्रेरणा हुई—बाहर से भी और भीतर से भी, किन्तु अभी तक उनकी मृत्यु का शोक मनोवेग की स्थिति पार कर स्थायी भाव नहीं बन पाया। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति के निष्फल प्रयास से मैं बचता रहा, किन्तु अब उनके प्रति भावांजलि अर्पित करना अनिवार्य हो गया है। शास्त्र में जहां अनेक प्रकार के ऋणों की चर्चा है वहां न जाने भावना के ऋण की उपेक्षा क्यों कर दी गयी है? मुझे लगता है कि आत्मा के वैशद्य के लिए अन्य ऋणों की अपेक्षा भावना के ऋण से मुक्ति पाना अधिक आवश्यक है। आज इस संस्मरण के द्वारा जब मैं उस ऋण-मोक्ष का पहला प्रयत्न कर रहा हूं तो मेरी कल्पना में नवीनजी के तीन चित्र क्रमशः उभरकर आते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

१. (कानपुर, १९४५)

अपने शोध-कार्य के संबंध में सामग्री-संकलन करता हुआ मैं स्वर्गीय पं० कृष्णविहारी मिश्र के ग्राम गंधौली से कानपुर लौटा था। पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' उन दिनों वहीं थे। दूसरे दिन प्रातःकाल ही मैं प्रताप-कार्यालय में उनके दर्शन करने पहुँच गया। वे मुख्य कार्यालय के भीतर ही एक छोटे-से कमरे में बैठे थे—शायद उसमें ही वे रहते भी थे। उन्होंने अत्यन्त सहज भाव से मेरा स्वागत किया। उस समय तक उनका नाम साहित्य-जगत् में प्रसिद्ध हो चुका था—राष्ट्रीय कवियों की पंक्ति में वे अग्रणी थे। किन्तु उनका केवल एक ही काव्य-संग्रह 'कुम-कुम' प्रकाशित हुआ था—उसका अध्ययन तो मैं कर चुका था, किन्तु उसके आगे मेरा उनके कृतित्व और व्यक्तित्व से परिचय नहीं था क्योंकि मैं न तो 'प्रताप' का ही पाठक था और न नवीनजी की कर्मभूमि कानपुर अथवा मध्यप्रान्त से ही मेरा कोई संबंध था। हिन्दी के एक विशिष्ट कवि के प्रति जिस प्रकार की श्रद्धा और सम्भ्रम की भावना अपेक्षित थी, मेरे मन में वह विद्यमान थी। साहित्य में उस समय तक मेरा भी प्रवेश हो चुका था; मेरी प्रथम चार आलोचना-पुस्तकें—'सुमित्रानन्दन पंत' से लेकर 'विचार और अनुभूति' तक—प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः नवीनजी के लिए मैं भी सर्वथा अपरिचित नहीं था। हिन्दी कविता के इतिहास में यह वह समय था जब छायावाद का ज्वार उतर चुका था और उसके प्रति एक प्रकार का मुखर विद्रोह बल पकड़ रहा था। जीवन और साहित्य के सूक्ष्म-अधिमानसिक मूल्यों के विरुद्ध बहिर्मुखी राष्ट्रीय-सामाजिक प्रवृत्तियां उभर कर सामने आ रही थीं। इस आंदोलन के पीछे यद्यपि वामपंथी विचारधारा की प्रेरणा प्रमुख थी, किन्तु राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को भी अप्रत्यक्ष रूप में इससे बल मिला। 'नवीन' जैसे उग्र राष्ट्रवादी कवि की क्रांतिमयी वाणी, जो छायावाद के सौरभ-श्लथ रेशमी परिवेश में कुछ असामयिक-सी प्रतीत होने लगती थी, इस उत्तेजित वातावरण में फिर से हुंकार उठी। इस प्रकार यह 'नवीन' की कविता का पुनर्जीवन-काल था। नये मूल्यों का प्रचार करने वाले आलोचक उनकी रचनाओं के प्रचुर उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि कर रहे थे। मैं इस प्रचार-आंदोलन के पक्ष में नहीं था—काव्य के सुस्थिर मूल्यों में विश्वास होने के कारण उस प्रचारात्मक या प्रचार-प्रेरित साहित्य के प्रति मेरे मन में एक प्रकार का अनादर-भाव था। परन्तु नवीनजी की कविताओं ने मुझे अनायास ही आकृष्ट कर लिया क्योंकि उनका उत्साह और उनकी उत्क्रांति सहज अनुभूत और जीवन्त थी। भारत के युग-जीवन में प्रवाहित विद्युत्-धारा का उनको ज्वलन्त अनुभव था। अतः चाहे वे गांधी का प्रशस्ति-गान करें या उनकी पराजय-नीति के विरुद्ध आक्रोश की अभिव्यक्ति या उद्दाम शृंगार का उद्गीथ, उनकी वाणी अनिवार्यतः प्राण-रस से अभिषिक्त रहती थी। इस प्रकार उनका काव्य सहज रसमय काव्य था—कोरा सिद्धान्तवाद नहीं।

अपने सचेत आलोचक मन में कुछ इसी प्रकार की धारणाएं लेकर मैं अलमस्त यौवन के उस कवि का व्यक्ति-दर्शन करने गया। उस समय तक मैं पंत के अन्तर्बाह्य-एक सौम्य-मधुर व्यक्तित्व के कोमल सम्पर्क में आ चुका था, निराला की मुक्तकुन्तल विराट् पुरुष-मूर्ति के अभिभूत करने वाले प्रभाव को आत्मसात् कर चुका था, महादेवी की कविता के रसभीने रंगों और उनके व्यक्तित्व एवं वेशभूषा की सादगी के बीच सामंजस्य स्थापित कर चुका था, अपनी सहज सामान्यता में असामान्य गुप्त-बन्धुओं के व्यक्ति-भेद को मन और बुद्धि की आँखों से अलग-अलग कर देख चुका था। पर आज मैं इन सबसे भिन्न कवि के सामने बैठा था। इस कवि की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शरीर-सम्पत्ति आकर्षक थी, उसे देखकर अनायास ही 'कामायनी' की पंक्तियों का स्मरण हो आया—

'अवयव की दृढ़ मांस-पेशियां ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिराएं, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार'

ऐसा नहीं था कि वे अपनी इस शरीर-सम्पत्ति से अवगत न हों—किन्तु उनके मन की मस्ती इतनी प्रबल थी कि सचेत होने पर भी वे उसके प्रति विशेष ध्यान देने में असमर्थ थे। उनके शुभ्र अलक-जाल की सँवारी हुई बंकिमा जहां इस बात का आभास देती थी कि वह स्वरति की भावना से सर्वथा मुक्त नहीं है वहां उनका घुटनों तक का जांघिया इस रहस्य का उद्घाटन कर रहा था कि अन्ततः जीत उनके फक्कड़पन की ही होती है। सुरुचि के अलंकारों से वे अपरिचित नहीं हैं परन्तु मस्ती का सुख उन्हें उन सबकी उपेक्षा के लिए लाचार कर देता है। उनके व्यक्तित्व में सामान्यता नहीं थी, किन्तु सहजता भरपूर थी। मैं काफ़ी देर तक नवीनजी से बात करता रहा—हिन्दी कविता के विषय में और स्वयं उनकी कविता के विषय में भी। जहां तक मुझे स्मरण है वे सुनते ही अधिक रहे, बोले कम। मैं उनके काव्य से प्रभावित था, उसमें अभिव्यक्त तारुण्य का प्रवेग—शृंगार और वीर दोनों रूपों में—मुझे सहज आकृष्ट करता था। किन्तु छायावादी कला का अभ्यस्त मेरा मन उनकी अभिव्यंजना से संतुष्ट नहीं था। उसमें शक्ति और ओज था पर उसको सँवारने वाला कलात्मक संयम कदाचित् अभीष्ट मात्रा में नहीं था—मैंने अपना मन्तव्य बिना किसी दुराव-छिपाव के उनके सामने व्यक्त कर दिया। बोले : हां भई, यह है—तुम जैसे तरुण आलोचकों को इस दिशा में मार्ग-दर्शन करना चाहिए। मैंने तुरन्त ही सजग होकर उनकी मुखाकृति की ओर देखा कि कहीं मेरी उस अनवसर आलोचना पर उन्होंने व्यंग्य तो नहीं किया—किन्तु उस मुक्त दृष्टि में कहीं भी वक्रता नहीं थी।

फिर मैंने उनसे कविता-पाठ के लिए निवेदन किया। उन्होंने कुछ शृंगार के गीत और कुछ राष्ट्रीय कविताएं मुझे सुनाईं। उस स्वर में अपूर्व आकर्षण था—काव्य-पाठ करते समय उनका व्यक्तित्व एक विशेष रस-दीप्ति से मंडित हो उठता था। उनका स्वर-संधान जहां हृदय के कवित्व का बाहर की ओर संप्रेषण करता था, वहां अर्धनिमीलित आँखें उस बहिर्गत रस को फिर से प्राणों की ओर खींचने का प्रयास-सा करती थीं। काव्य का शब्दार्थ जैसे दूसरी बार प्राणों के रस से अभिषिक्त हो उठता था। उनके उस तन्मय काव्य-पाठ को देख-सुनकर अनायास ही संस्कृत काव्यशास्त्र की इस मान्यता का खण्डन हो जाता था कि 'कविः करोति काव्यानि रसं जानाति पण्डितः।' जिस प्रकार नदी का उन्मद प्रवाह कुछ कंकड़-पत्थरों को भी सहज रूप में बहा ले जाता है, उसी प्रकार उनकी स्फीत वाग्धारा में दो-चार अनगढ़ शब्द अलक्षित ही बह जाते थे। मैं कवित्व के मूर्त और अमूर्त रूप का साक्षात्कार कर आत्म-विभोर हो गया और प्रणाम कर लौट आया। अपने युग में नवीनजी का काव्य-पाठ वास्तव में अप्रतिम था। संगीत का भी उन्हें ज्ञान था और क्रमशः वे उसकी ओर बढ़ने लगे थे। बाद में आकर उनका काव्य दर्शन से और काव्य-पाठ संगीत से बोझिल होने लगा था—एक में प्राणों की मस्ती और दूसरे में वाणी का मुक्त प्रसार बँधने लगा था। मैंने कई बार उनके पूर्व रूप को उद्बुद्ध करने की चेष्टा भी की, किन्तु उस समय तक दर्शन और संगीत के मोह ने उनके मन और वाणी को काफ़ी जकड़ लिया था, इसलिए कोई लाभ नहीं हुआ। उनके काव्य-रसिकों को मेरी ही तरह इससे निराशा होती थी, किन्तु वे अपनी ऊर्जस्वित रचनाओं को भी आग्रहपूर्वक गाकर ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पढ़ते। और, अन्त में तो दैव के विपाक से केवल अंतरसंगीत ही शेष रह गया—वाणी का ओज और प्रसार दोनों ही कुण्ठित हो गये।

२. (दिल्ली, १९५९)

दूसरा चित्र दिल्ली के साहित्यिक जीवन की एक करुण-मधुर घटना से संबद्ध है। ८ दिसम्बर, १९५९ को दिल्ली के साहित्यकारों की ओर से नवीनजी की तिरेसठवीं वर्षगाँठ मनाने का आयोजन किया गया। व्यवस्था का भार प्रान्तीय सम्मेलन के प्रधानमन्त्री श्री गोपालप्रसाद व्यास ने सँभाला और गांधी-उद्यान में कवि के गौरव के अनुरूप अभिनन्दन-समारोह रचा गया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त सभापति थे और दिल्ली के प्रायः सभी साहित्यकार उपस्थित थे। कार्यक्रम लम्बा और श्रद्धालुओं की सूची बहुत बड़ी थी। नवीनजी का स्वास्थ्य तब तक काफ़ी बिगड़ चुका था—वाणी सर्वथा कुण्ठित हो चुकी थी, शरीर और हृदय दुर्बल हो गये थे, देर तक बैठने के लिए डॉक्टरों की अनुमति नहीं थी। इसलिए कार्यक्रम के संचालन का दायित्व मैंने अपने ऊपर ले लिया। इस अभिनन्दन में उल्लास का वातावरण नहीं था—एक विषाद की छाया, मैं कहना चाहूंगा कि आसन्न मृत्यु की छाया, सर्वत्र विद्यमान थी। मुझे भय था कि कार्यक्रम का स्वरूप कहीं भावात्मक से अभावात्मक न हो जाए अर्थात्—अभिनन्दन और मंगल-कामना के स्थान पर अमंगल के निवारण की कामना ही कहीं प्रमुख न हो जाए। हुआ भी वही, और प्रयत्न करने पर भी मैं सत्य पर आवरण न डाल सका। वास्तव में कवि की स्थिति उस समय ऐसी थी कि उसे देखते हुए शतायु की कामना आत्म-प्रवंचना मात्र होती!

नवीनजी श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास मसनद के सहारे क़ालीन पर बैठे हुए थे। उनके आस-पास अनेक वरिष्ठ जन आसीन थे। वेश आदि भी उनका वही चिर-परिचित था: शरीर पर सुन्दर सिली हुई शेरवानी और सिर पर वही, बंकिमा के साथ धारण की हुई, गांधी टोपी जिसमें से दोनों ओर उनके शुभ्र केश-गुच्छ अलग दिखाई दे रहे थे। वे सामान्यतः प्रसन्न थे, फिर भी लगता था मानो उनकी आत्मा का चैतन्य प्रकाश विलीन हो गया है—उस पुरुष-शरीर की रूपरेखा तो पूर्ववत् स्पष्ट थी किन्तु रंग जैसे रीत चुका था। उनकी वह तेजोदीप्त दृष्टि अन्तर्मुख हो गयी थी और मन के भावों की निखिल व्यंजना केवल 'हरे राम' में सिमटकर रह गयी थी। कवि दिनकर ने अभिनंदन-पत्र पढ़ा जिसमें कवि, योद्धा और मनीषी का एकत्र स्तवन था। दिनकर की ओजस्वी वाणी से वातावरण कुछ बदला—अभिनन्दन के अनुरूप ओज का संचार हुआ, किन्तु जिस समय वे अभिनन्दन-पत्र समर्पित कर चरण-स्पर्श के लिए झुके, नवीनजी की अवरुद्ध भावुकता सहसा द्रवीभूत हो गयी। इस घटना का प्रभाव दुर्निवार था—सभी की आँखें छलछला उठीं: दद्दा—श्री मैथिलीशरण गुप्त अपने आपको न सँभाल सके, अन्य वरिष्ठ जन भी विचलित हो उठे। हिन्दी के साहित्यिक जीवन में यह एक अपूर्व घटना थी। हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य की तीन विकास-रेखाएं मानो एक भाव-बिन्दु पर आकर अनायास ही मिल गयी थीं। दिनकर के बाद अनेक वक्ताओं ने श्रद्धांजलियां अर्पित कीं—किन्तु करुणा का वह झीना पट हट नहीं सका वरन् और भी गाढ़ा हो गया जबकि स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने आवेश में आकर यह प्रार्थना की कि भगवान् उनकी आयु का कुछ अंश नवीनजी को प्रदान कर दे। भगवान् ने कदाचित् उनकी प्रार्थना का पूर्वार्ध ही सुना—और आचार्यजी की आयु सचमुच नवीनजी से पूर्व ही निश्शेष हो गयी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

३. (महायात्रा)

अन्त में है कवि की महायात्रा का करुण दृश्य। जैसा कि श्री दिनकर ने अपने मार्मिक संस्मरण में लिखा है, नवीनजी के जीवन के अन्तिम तीन वर्ष मृत्यु के साथ निरन्तर संघर्ष में बीते। अनेक भीषण रोगों ने मिलकर उन पर प्रहार किये—हृद्‌रोग, रक्तचाप, पक्षाघात, और अन्त में कदाचित् फेफड़े का कैन्सर। आरम्भ के प्रहारों को तो उन्होंने अपने सहज युयुत्सु-भाव से झेला किन्तु पक्षाघात ने जब उनकी वाणी को कुण्ठित कर दिया तो मुझे लगा कि उनका मन भी हारने लगा। वाणी और अर्थ का कितना अविच्छिन्न सम्बन्ध है, मन ही वाणी को प्रभावित नहीं करता, वाणी भी मन पर अनिवार्य प्रभाव डालती है। काव्यशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में मेरा यह अपना विषय रहा है; स्वदेश-विदेश के अनेक आचार्यों ने गंभीर तर्कों के द्वारा इस तथ्य की प्रामाणिक स्थापना की है। बुद्धि द्वारा गृहीत यह सत्य नवीनजी को देखकर अनायास ही मेरे घट में उतर गया। अभिव्यक्ति का अभाव उनके मन में एक विचित्र प्रकार की घुमड़न और कुंठा पैदा करने लगा और जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि वाणी अब नहीं लौटेगी तो पहली बार उस योद्धा ने जैसे मृत्यु के सामने हथियार डाल दिये। रोग के तीसरे आक्रमण के बाद मित्रों के कुशल-प्रश्नों के उत्तर में फिर वे यही कहते थे—"हां भाई, कुछ है नहीं।" हिन्दी संसार में नवीनजी को वाणी का अपूर्व वरदान प्राप्त था—वैसी वाग्मिता, वह स्वर-संपदा, कंठ की वह ऊर्जा अन्यत्र दुर्लभ थी। मैंने एक बार एक विराट् सभा में हिन्दी की गरिमा पर उनका भाषण सुना था—प्रधानमंत्री के कुछ वाक्यों से सहसा वे उत्तेजित हो उठे थे। ऐसा लगता था जैसे पाटलिपुत्र की जाह्नवी में बाढ़ आ गयी हो। इस प्रकार के और भी कई चित्र मेरी स्मृति में भास्वर थे। ऐसी भूमिका में जब मैं उन्हें असहाय होकर शब्दों के साथ जूझकर बार-बार हारते देखता था तो मन को बड़ी चोट लगती थी। उनका मन रखने के लिए हम लोग भी कभी-कभी उसी प्रकार बोलने का अभिनय करते थे तो वे बड़े ज़ोर से हँस पड़ते थे। एक बार 'भारती-संगम' की विचार-गोष्ठी में 'साहित्यिक' की परिभाषा के विषय में कुछ विवाद हो गया। मैंने अपने मत को कुछ अधिक उग्रता के साथ व्यक्त करते हुए कहा—'मुझे संदेह है कि विनोबाजी की रचनाएं भी शुद्ध साहित्य की परिधि में आ सकेंगी या नहीं?' यह सुनकर वे एकदम भड़क उठे और बोले—'तुम···तुम सु···क्या बक···ते हो।' अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में, अभिव्यक्ति के अभाव में, आवेश की मात्रा उनमें और भी बढ़ गयी थी—कभी-कभी वे दद्दा पर भी, जिनका कि वे आते-जाते नियमित रूप से चरण-स्पर्श करते थे, बिना किसी कारण के नाराज़ हो जाते थे। परन्तु उनका यह क्रोध रौद्र का स्थायी न रहकर तब तक करुण का संचारी बन चुका था और हम सभी ने उनसे विवाद न करने का संकल्प कर लिया था। धीरे-धीरे हमारी प्रतिक्रिया उनके आवेश को देखकर बहुत-कुछ वैसी होने लगी थी जैसी कि बालक के आवेश को देखकर उसके परिजनों के मन में होती है। गोष्ठी में उनकी आवेश-रुद्ध वाणी को सुनकर हम सब लोग हँस पड़े और वे भी यह कहते हुए बैठ गये—'यह बड़ा बेव···कूफ़ है।'

रोग का अन्तिम आक्रमण उनको लेकर ही गया। वे कई महीने विलिंग्डन अस्पताल में रहे। हम लोग नियमित रूप से उनके पास आते-जाते रहते थे। बीच में वे कुछ ठीक भी हुए परन्तु प्रयत्न करने पर भी अस्पताल से बाहर नहीं आये। कोई एक महीने से उनकी हालत ज़्यादा बिगड़ने लगी और मुख तथा शरीर के अन्य अंगों पर शोथ के लक्षण प्रकट हो गये। एक दिन रात को जब मैं गया तो बोले कि अब तो चल-चलाव के दिन हैं। मैंने अपने और उनके मन को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ढाढ़स देने का निष्फल प्रयत्न किया और कुछ देर बाद लौट आया। उस दिन रात को मुझे नींद नहीं आयी। उनके जीवन से संबद्ध अनेक स्मृति-चित्र, अपने परिवार के कुछ उसी प्रकार के करुण दृश्य, एकाध परिजन के स्वास्थ्य के विषय में अनेक आशंकाएं तरह-तरह के भयावह रूप धारण कर मेरी चेतना को त्रास देती रहीं। फिर मैं अस्पताल नहीं गया—२६ अप्रैल, '६० को अपराह्न में उनके घर ही पहुँचा—नवीनजी के नहीं, नवीनजी के शव के दर्शन करने के लिए। उनका शव ५, विन्डसर प्लेस में उनके चिरपरिचित निवास-स्थान के बरामदे में रखा था। देश के मूर्धन्य नेता अपने उस अभिन्न सहकर्मी के प्रति श्रद्धांजलि भेंट करने के लिए आ-जा रहे थे—राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, गृहमंत्री आये। कुछ देर तक अवसन्न मुद्रा में शव के सामने खड़े होकर फिर उनके संस्कार के विषय में आवश्यक निर्णय करने के लिए घर के भीतर चले गये। बड़े लोग जब हट गये तो श्री जगदीशचंद्र माथुर के साथ मैं आगे बढ़ा। प्रयत्न करने पर मैंने नवीनजी का चरण-स्पर्श तो कर लिया किन्तु उनके मुख की ओर देखने का मेरा साहस न हुआ। सामान्यतः मुझे अपने सुख-दुःख की सार्वजनिक अभिव्यक्ति अच्छी नहीं लगती और मैं ऐसे अवसर को या तो बचा जाता हूं या संयम से काम लेता हूं। किन्तु इस समय मेरे लिए इन दोनों में से कोई भी विकल्प संभव नहीं था और मैंने अपने मन में कहा कि मानव होकर मानव-दुर्बलता की स्वीकृति से क्या डरना।

कुछ समय में ही यह निर्णय कर लिया गया कि नवीनजी का अन्तिम संस्कार उनकी कर्मभूमि कानपुर में होगा। इस विषय में कदाचित् कुछ मतभेद था जो परिजनों की परिधि से बाहर निकलकर मित्र-मंडल तक फैल गया था। मेरी अपनी धारणा थी कि यह आन्तरिक प्रश्न है जिसका समाधान नवीनजी के परिवार को ही करना चाहिए किन्तु कुछ मित्रों का आग्रह था कि नवीनजी का व्यक्तित्व सार्वजनिक है इसलिए उनके अन्तिम संस्कार के प्रश्न का समाधान भी सार्वजनिक होना चाहिए। स्थिति को देखते हुए मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था; तभी, सौभाग्य से, समर्थ व्यक्तियों ने शीघ्र ही निर्णय कर यह घोषणा कर दी कि रात को आठ बजे की गाड़ी से कवि का शव कानपुर के लिए प्रस्थान करेगा। अपने को अनधिकारी मानते हुए भी मेरे मन ने कहा कि निर्णय ठीक ही हुआ और मैं ६, नार्थ ऐवेन्यू चला गया। गुप्तजी इसके कुछ पहले ही भीषण रोगग्रस्त हो चुके थे। उस समय स्वयं रुग्ण होते हुए भी नवीनजी ने उनकी परिचर्या में बड़ी भाग-दौड़ की थी। डॉक्टरों का अब भी यही आदेश था कि जहां तक हो उन्हें शरीर और मन के श्रम से बचाया जाए। इसलिए अनेक मित्रों और स्वजनों की राय थी कि दद्दा स्टेशन न जाएं। मुझको भी उनके स्वास्थ्य की चिन्ता किसी से कम नहीं थी, किन्तु फिर भी यह बात मेरे मन में नहीं बैठती थी कि नवीनजी की उस अन्तिम विदा-वेला में मैथिलीशरण गुप्त उपस्थित न हों। मेरे अतिरिक्त एक व्यक्ति और था जो मेरी ही तरह सोच रहा था पर कह नहीं पा रहा था—वह था गुप्तजी का आत्मज चिरंजीव उर्मिलाचरण, जिसका नवीनजी के प्रति अगाध अनुराग था। उसने तुरन्त ही अलग ले जाकर मुझसे कहा—'डॉक्टर साहब, क्या यह ठीक है?' उसके इस प्रश्न से मेरे मन की दुविधा एक क्षण में विलीन हो गयी और मैंने आश्वस्त होकर उत्तर दिया—'नहीं, दद्दा को वहां चलना चाहिए।' दद्दा बेचारे बेवस होकर मित्रों का वह सत्परामर्श सुन रहे थे। ज्योंही मैंने अपना मत व्यक्त किया, फड़ककर बोले—'बिलकुल ठीक है—हमें जाना चाहिए और हम जाएंगे।' सात बजे हम लोग स्टेशन पहुँच गये। दिल्ली का अपार जन-समुदाय स्टेशन पर उमड़ पड़ा था। छोटे-बड़े सभी साहित्यकार, हिन्दी-सेवी अनेक राज-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुरुष और राजनीतिक नेता आदि तो थे ही, इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक अनजाने व्यक्ति भी वहां खड़े रो रहे थे जिनका न साहित्य से संबंध था, न संस्कृति से, न राजनीति से—जो केवल मानव होने के नाते नवीनजी के आत्मीय बन गये थे। फूलों से लदा नवीनजी का अस्थि-शेष शरीर गाड़ी के डिब्बे में रख दिया गया। समवेत जन एक-एक कर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने लगे और जब गाड़ी के चलने में थोड़ी देर रह गयी तो हम लोगों ने सहारा देकर गुप्तजी को डिब्बे में चढ़ाया। वे दो क्षण मौन हुए—कदाचित् उसी समय उनकी कवि-चेतना में निम्न-लिखित पंक्तियों का मूल-भाव स्फुरित हो गया था—

कहां आज वह बंधु हमारा,
जिसके मानस की रस-धारा,
आप्लावित करती थी हमको।
उससे श्रद्धांजलि की आशा
रखती थी मेरी अभिलाषा
अनहोनी ही प्रिय है यम को!

हम लोगों ने भी अन्तिम बार उनकी पद-वंदना की और कुछ ही देर में गाड़ी पटरी पर रेंग उठी। सारा प्लेटफ़ार्म नवीनजी के जय-जयकार से गूंज उठा।

नवीनजी आज कीर्ति-शेष रह गये हैं। समय ने उनके विरह का घाव भी बहुत कुछ पूर दिया है। अभी कुछ दिन पहले उनके विषय में चर्चा हो रही थी। एक भावुक मित्र ने उनके जीवन-काल में ही कहीं लिखा था कि वे महामानव थे। इस पर एक तथ्य-दर्शी आलोचक ने सव्यंग्य प्रश्न किया कि क्या मानव-चरित्र के एक भी दोष से वे मुक्त थे? आज मैं सोचता हूं कि वस्तुसत्य क्या है और मेरा हृदय ही नहीं बुद्धि भी यह उत्तर देती है कि इन दोषों के अभाव में तो वे मानव ही न रहते। चिन्मय आत्मा के सम्पूर्ण गुणों के साथ मृण्मय प्रकृति के समस्त दोषों के समवाय का नाम है मानव—और यदि महामानव का अस्तित्व इस संसार में है तो वह सर्वांग मानव का बृहत्तर या महत्तर रूप ही हो सकता है, दोष-मुक्त अपूर्ण मानव का नहीं। मैं महामानव का इससे अधिक शुद्ध लक्षण नहीं कर सकता—और ऐसे व्यक्ति मैंने अपने जीवन में कम ही देखे हैं, जिन पर यह लक्षण नवीनजी की अपेक्षा अधिक सटीक बैठता हो!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

श्रीमती महादेवी वर्मा

सन् १९३२-३३ तक, जब कि मैं सैंटजॉन्स कॉलेज, आगरा में बी० ए० के प्रथम वर्ष में पढ़ता था, हिन्दी-कविता से मेरा घनिष्ठ परिचय हो चुका था। मेरा यह अध्ययन केवल स्वान्तः-सुखाय ही न होकर एक विशेष क्रम से योजनाबद्ध रूप में चल रहा था—और उस समय तक मैं हिन्दी के प्रायः समस्त नये-पुराने प्रतिनिधि कवियों के प्रमुख ग्रंथों का विधिवत् अवलोकन कर चुका था। चूंकि मेरा लक्ष्य हिन्दी के (साथ ही अंगरेज़ी तथा संस्कृत के भी) अभिजात काव्य का विधिवत् अध्ययन करना था, अतः मेरे मन में अति-नवीन काव्य के प्रति कोई विशेष आग्रह नहीं था। आगरा का साहित्य-रत्न-भण्डार हमारे छात्रावास के पास ही था जहां मैं नियमित रूप से जाकर नयी पुस्तकें देखता और खरीदता था। प्राचीन ग्रंथों के संस्करण जहां भोंडे और सस्ते होते थे, वहां नये काव्यग्रंथ बाह्य रूपसज्जा की दृष्टि से अत्यंत आकर्षक होते थे—उनका मुद्रण और मुखपृष्ठ कलापूर्ण होते थे और जिल्द प्रायः रेशमी रहती थी, परन्तु अभिजात (क्लासिक) काव्य की शोध में प्रवृत्त मेरा किशोर मन अनायास की इस बाह्य आकर्षण का संवरण कर प्रायः प्राचीन ग्रंथों के संग्रह को ही प्राथमिकता देता था। अतः जब एक दिन विक्रेता ने 'रसराज' और 'नीहार' दोनों एक साथ मेरे सामने रखे तो मैंने 'रसराज' खरीदना ही आवश्यक समझा—क्योंकि मेरे अध्ययन-क्रम में 'रसराज' का तो अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान था पर एक उदीयमान कवि की प्रथम रचना होने के कारण 'नीहार' का कोई महत्त्व नहीं था।

यह प्रबंध धीरे-धीरे शिथिल होने लगा, प्राचीन काव्य के साथ-साथ नवीन काव्य की ओर मेरा आकर्षण बढ़ने लगा और चूंकि मैं स्वयं भी कुछ रोमानी कविता लिखता था, इसलिए छायावाद के कवियों के साथ मैं एक विशेष तादात्म्य का अनुभव करने लगा। 'परिमल', 'पल्लव' और 'ग्रंथि' के साथ 'नीहार' भी एक वर्ष के भीतर मेरे पुस्तकालय का अलंकार बन गया। तब तक 'नीहार' की अनेक पंक्तियां मुझे कण्ठस्थ हो चुकी थीं।—'जो तुम आ जाते एक बार!' को मैं प्रगती काव्य का अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण मानता था। अतः 'रश्मि' के प्रकाशित होते ही मैं तुरन्त उसे खरीद लाया—और एक दिन जब कोई फेरीवाला होस्टल में आया तो मैंने संगमरमर का एक छोटा-सा फ्रेम लेकर 'रश्मि' में संकलित महादेवी का चित्र उसमें लगाकर पढ़ने की मेज पर रख लिया। कुछ समय के बाद हिन्दी के एक स्थानीय कवि मेरे पास आये और उस चित्र को देखकर अचानक पूछ बैठे : यह आपकी बड़ी बहन की तस्वीर है? उनके इस अनुमान के लिए कोई विशेष आधार तो नहीं था और मन ही मन उनके अल्पबोध का उपहास करते हुए मैंने तुरन्त इसका प्रतिवाद भी कर दिया। परन्तु इस गौरवमय संबंध की एक विचित्र महत्त्वाकांक्षा मेरी चेतना में जग गयी जो वर्षों के बाद एक दिन महादेवीजी का स्नेह पाकर अनायास फल-वती हुई।

महादेवीजी के दर्शन मैंने पहली बार शायद १९३९-४० के आसपास किये। उस समय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तक 'नीरजा' प्रकाशित हो चुकी थी और वे हिन्दी के आधुनिक कवियों की प्रथम पंक्ति में प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। उधर मैं भी 'सुमित्रानन्दन पंत' तथा 'साकेत : एक अध्ययन' लिख चुका था और वे मुझे नाम से जानती थीं। मैंने एक मित्र के माध्यम से उनसे भेंट करने की योजना बनाई और कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मुझे अपने स्थान पर लौटने का अवसर न मिला। मैं यों ही शहर में घूमने निकल पड़ा था और जब मित्र ने तुरन्त ही महादेवीजी के पास चलने का प्रस्ताव कर दिया तो मैं कुछ द्विविधा में पड़ गया। मुझे लगा जैसे मेरी वस्त्रभूषा में उन-जैसी गौरवास्पदा महिला के पास जाने लायक़ संजीदगी नहीं थी। मैं शायद जर्सी या बुशशर्ट पहने हुए था। मैंने सुन रखा था कि वे लोगों से प्रायः कम ही मिलती हैं—और मर्यादा की बड़ी क़ायल हैं। अतः मेरे मन में बार-बार कालिदास की वह उक्ति गूँजने लगी—'विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि।'—और मैं सहसा हतप्रभ-सा हो गया। परन्तु अपने मन की इस द्विविधा को मित्र के सामने व्यक्त करने की मेरी हिम्मत नहीं पड़ी और उधर मित्र ने भी मुझे इसका अवसर नहीं दिया।—हम लोग एलगिन रोड पर स्थित उनके आवास की ओर चल दिये।

रास्ते में आते हुए 'छायावाद की मीरा' के व्यक्तित्व के बारे में तरह-तरह की कल्पनाएं मेरे मन में उठने लगीं। एक क्षीण कल्पना-धूमिल चित्र मेरी आँखों के सामने आने लगा और मैं बार-बार अपने उस अकाव्यमय अविनीत वेश के प्रति सचेत-सा होने लगा। ऐसी ही विचित्र कल्पनाओं और धारणाओं को लेकर मैंने महादेवीजी के वार्त्ताकक्ष में प्रवेश किया। उस कमरे की साज-सज्जा अत्यंत कलापूर्ण थी।—दीवारों पर अजन्ता-शैली के भव्य चित्र अंकित थे—एक कोने में कृष्ण की सुन्दर मूर्ति खड़ी हुई थी; फ़र्श पर क़ालीन बिछे हुए थे और कुर्सियों तथा आसन्दियों पर रेशम की गद्दियां थीं: सम्पूर्ण कक्ष में कला का वातावरण व्याप्त था जिसमें छायावाद का रंग-वैभव तो यथावत् था, परन्तु मुझे लगा जैसे इसकी व्यंजनाएं कुछ अधिक मूर्त थीं। मैं बड़े ध्यान से भित्तिचित्र आदि को देख रहा था कि इतने में महादेवीजी ने प्रवेश किया। हम लोगों ने उठकर विनयपूर्वक अभिवादन किया और अत्यंत सम्भ्रम के साथ अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। महादेवीजी शुभ्र खादी के वस्त्र धारण किये हुए थीं जो कमरे में विकीर्ण रंग-वैभव से सर्वथा भिन्न होते हुए भी उसमें विसंगति उत्पन्न नहीं करते थे जैसे शारदा की श्वेत प्रतिमा रंग-विरंगे फूलों के बीच किसी प्रकार असंगत प्रतीत नहीं होती। कक्ष का वातावरण कुछ औपचारिक-सा होने लगा था—परन्तु महादेवीजी ने तुरन्त अपने मुक्त हास्य और उसी के अनुरूप सहज व्यवहार से उसे भंग कर दिया। मुझे देखकर सहसा कह उठीं—'अरे, तुम हो नगेन्द्र : तुम्हारे लेख पढ़कर तो मैं समझती थी कि कोई भारी-भरकम आदमी होगे।' मैंने कहा : 'नहीं—मैंने अभी दो वर्ष पूर्व ही एम० ए० किया है।' मित्र बोले : 'क्या उम्र है आपकी ?' मैंने कहा : '२४ वर्ष।' इस पर तुरन्त ही महादेवीजी बोल उठीं : 'तब तो हम तुम्हारी बड़ी दीदी हैं।' मैंने इस अयाचित स्नेह के लिए आभार व्यक्त किया और लगभग ६-७ वर्ष पहले घटित होस्टल की वह घटना अनायास ही मेरी स्मृति में मूर्तित हो गयी।—हम लोग कोई घंटा-डेढ़-घंटा बातचीत करते रहे। थोड़ी देर वे मेरे घरबार के बारे में बातें करती रहीं जो सहज आत्मीयता से भीगी हुई थीं। बीच में प्रगतिवाद की चर्चा चल पड़ी : मैंने देखा कि उनकी वाणी सहसा उद्दीप्त हो उठी और छायावाद-विरोधी तर्कों का वे अपूर्व दृढ़ता से खण्डन करने लगीं। इतने में ही चाय आ गयी और उनके स्वर में फिर वही सहज मार्दव आ गया : जैसे किसी साहित्यिक मंच को छोड़कर वे तुरन्त ही परिवार के सहज स्निग्ध वातावरण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में लौट आयी हों। चाय पीकर अत्यंत कृतज्ञ भाव से मैंने उनसे विदा ली और मित्र के साथ अपने आवास की ओर चल दिया। रास्ते में स्वभावत: मैं महादेवीजी के विषय में ही सोचता आ रहा था—मुझे लगता था कि मैंने 'अतीत के चलचित्र' की ममतामयी विधात्री के दर्शन तो कर लिये —'शृंखला की कड़ियां' की लेखिका का तेजस्वी रूप भी देख लिया: परन्तु छायावाद की जिस विरह-दग्ध कवयित्री को देखने मैं गया था वह अपने साधना-कक्ष से बाहर नहीं आयी।

—और, महादेवीजी के विषय में आज भी यही सत्य है। उनके व्यक्तित्व के तीन रूप है: एक—ममतामयी भारतीय महिला का जो बड़ों से छोटी बहन और छोटों से बड़ी बहन की तरह व्यवहार करती हैं, दूसरा—राष्ट्र की जाग्रत मेधाविनी नारी का जिसके विचारों में दृढ़ता और वाणी में अपूर्व तेज है, और तीसरा—रहस्यकल्पनाओं की भावप्रवण कवयित्री का जिसने मधुरतम छायावादी गीतों की सृष्टि की है। इनमें पहला उनका पारिवारिक रूप है जो साहित्यिक बन्धुओं के सीमित वृत्त में प्रकट होता है, दूसरा सामाजिक रूप है जो सार्वजनिक मंचों पर दीप्त हो उठता है और तीसरा काव्य की मधुर-साधना में लीन ऐकान्तिक रूप है जो सामने नहीं आता।

२

इस स्नेहाश्वासन के बाद मैं महादेवीजी के प्रति एक श्रद्धामय नैकट्य का अनुभव करने लगा और इलाहाबाद जाने पर नियमित रूप से उनसे मिलता। सन् १९४० में उनकी प्रसिद्ध कृति 'दीप-शिखा' प्रकाशित हुई और मैंने पूर्ण मनोयोग के साथ उसकी समीक्षा लिखकर 'आकाशवाणी' से प्रसारित की जो बाद में प्रकाशित भी हुई। उन दिनों हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद का आन्दोलन जोर पर था। जैसा कि आज नवलेखन के सूत्रधार कर रहे हैं, उसी तरह सन् १९४० के आसपास साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित लेखक भी संगठन बनाकर सिद्धान्तों का व्यवसाय कर रहे थे और उन्होने भी नये लेखकों की तरह अपनी सीमा की रक्षा करने के लिए कुछ छोटे-बड़े प्रहरी छोड़ रखे थे जो उनकी अपनी चौहद्दी से बाहर चलने वालों पर अकारण ही झपटते रहते थे। सांस्कृतिक परंपरा के प्राय: सभी कवि-लेखक उनके शिकार बन चुके थे। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों की दृष्टि से प्रगतिवाद के आन्दोलन के प्रति मेरे मन में आस्था नहीं थी—मुझे लगता था, और आज भी लगता है कि कोई भी जीवन-दृष्टि जैसे-जैसे वह आन्दोलन का सहारा लेती है, साहित्य से दूर हटने लगती है। इस प्रकार के आन्दोलनवादी साहित्य में भौतिक सिद्धियां प्रमुख हो जाती हैं और कला की साधना गौण। फिर भी, एक हल्ला तो मच ही गया था। पंतजी की काव्य-कल्पना जीवन में मूलभूत साम्य का अनुसंधान करती हुई मार्क्स के सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट हो गयी थी और वे अपनी प्रख्या को सायास उधर मोड़ रहे थे। प्रगतिवाद को इससे बड़ा बल मिल रहा था और उसके प्रचारक पंतजी की मूल दृष्टि को न पकड़कर उनकी बाह्य अभिव्यंजनाओं में आत्म-समर्थन ढूंढ़ते हुए 'ग्राम-युवती' या 'कहारों का नृत्य' को कविता के आदर्शरूप में विज्ञापित कर रहे थे। इधर निराला की उत्तम कविताओं की उपेक्षा कर वे ऐसी रचनाओं को फ़तवे दे रहे थे जिनमें, उनकी दृष्टि से, शोषण के विरुद्ध क्रांति का स्वर प्रमुख था। मैं काव्य के क्षेत्र में बढ़ती हुई इस अराजकता पर क्षुब्ध था। तभी 'दीप-शिखा' का प्रकाशन हुआ और मैंने मुक्त हृदय से उसका अभिनन्दन करते हुए लिखा:

"इस युग में 'दीप-शिखा' का प्रकाशन एक घटना है। महादेवीजी के ही शब्द उधार लेकर हम कहेंगे कि जीवन और मरण के इन तूफ़ानी दिनों में रची हुई यह कविता ठीक ऐसी ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है जैसे झंझा और प्रलय के बीच में स्थित मन्दिर में जलने वाली निष्कम्प दीप-शिखा।

इस पुस्तक का महत्त्व एक और दृष्टि से भी है। आज छह-सात वर्षों के बाद महादेवीजी के साधना-मन्दिर का द्वार खुला है और करुणा के स्नेह से जलती हुई इस दीपक की लौ को अब भी एकाकीपन में तन्मय और विश्वास में मुसकराती हुई देखकर हिन्दी के विद्यार्थी का सशंक मन उत्फुल्ल हो उठा है।"

परन्तु आगे 'दीप-शिखा' के प्रगीत तत्त्व का विश्लेषण करते हुए मैंने निराशा व्यक्त की :

"अब हमें यह देखना है कि 'दीप-शिखा' को जिस अनुभूति से प्रेरणा मिली है, उसमें कितनी तीव्रता है।

इस दृष्टि से हमें निराश होना पड़ेगा। कारण स्पष्ट है। इस अनुभूति के मूल में जो काम का स्पन्दन है, उसके ऊपर कवि ने चिन्तन और कल्पना के इतने आवरण चढ़ा रखे हैं कि स्वभावतः उनकी तीव्रता दब गयी है और उसको टटोलने पर बहुत नीचे गहरे में एक हल्की-सी धड़कन मिलती है। साथ ही अनुभूति को पुंजीभूत होने का अवसर नहीं मिला। उसका वितरण प्रयत्नपूर्वक किया गया है, इसलिए वह तीव्र न रहकर हल्की-हल्की बिखर गयी है। स्पष्ट शब्दों में इन गीतों में लोकगीतों की जैसी मांस की उष्ण गन्ध प्रायः निःशेष हो गयी है। दूसरी ओर बुद्धिजीवी महादेवीजी में सन्त या भक्त कवियों का-सा विश्वास और समर्पण भी सम्भव नहीं हो सका। इसलिए उनके हृदय में अज्ञात के प्रति भी जिज्ञासा ही उत्पन्न हो सकी है, पीड़ा नहीं। कुल मिलाकर यह कहना होगा कि 'दीप-शिखा' की प्रेरक अनुभूति छांह-सी सूक्ष्म और मोम-सी मृदुल तो है, परन्तु हूक-सी तीव्र नहीं।"

मैंने अपनी धारणा पूरी ईमानदारी और उतने ही आदर के साथ व्यक्त की थी और महादेवीजी पर भी मेरी भावना अव्यक्त नहीं रही थी, फिर भी उक्त वक्तव्य में ऐसा कुछ अवश्य था जो उनको ग्राह्य नहीं हो सकता था। अगली बार जब मैं उनसे मिला तो यह बात मेरे मन में थी। उन्होंने सहज स्नेह से मेरा स्वागत किया और घर की—बाहर की—बहुत-सी बातें करती रहीं। तभी मेरे मना करने पर भी भगतिन चाय ले आयीं और यद्यपि मैं सवेरे अच्छी तरह खा-पीकर निकला था, फिर भी मुझे दीदी के आदेश का पालन करना पड़ा। भूख एकदम न होने से मैंने एकाध चीज़ लेकर तश्तरी सामने से हटा दी। इस पर उन्हें मौक़ा मिल गया—शायद वे उसकी तलाश में ही थीं, और बोलीं, "बात करते हो कविता में भी मांस की, मुँह में सेब तक नहीं चलते।" मैं इसके लिए तैयार था, पर यह झिड़की इतने स्निग्ध रूप में मिलेगी, ऐसी आशा नहीं थी। मैंने बात को टालते हुए कहा, "भोजन में, दीदी, मैं पूरा आर्यसमाजी हूं।" फिर भी, उस स्नेहसिक्त व्यंग्य ने मुझे अपने निर्णय पर पुर्नविचार करने के लिए बाधित किया और यह प्रश्न आज भी मेरे सामने है कि क्या महादेवी की या सामान्यतः छायावाद की कविता का इस आधार पर अवमूल्यन किया जा सकता है कि वह मांसल नहीं है?

वास्तव में अपने अध्ययन और चिंतन-मनन के आधार पर मेरी यह निर्भ्रांत धारणा बन गयी है कि काव्य का प्राणतत्त्व रागात्मक अनुभूति है—और परिणामतः काव्य के मूल्यांकन का आधार भी मैं अनुभूति को ही मानता हूं। अनुभूति के अतिरिक्त मानव-चेतना की एक और प्रमुख वृत्ति है कल्पना जो जीवन के समस्त क्षेत्रों में—विशेषकर काव्य में—सक्रिय रहती है। काव्य में अनुभूति को रूपायित करने का सबसे प्रमुख साधन कल्पना ही है। इन दोनों वृत्तियों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का यों तो अविच्छिन्न सम्बन्ध है, फिर भी स्थूल रूप से दोनों में कल्पना की अपेक्षा अनुभूति सत्य के अधिक निकट है—अतएव सामान्यतः अनुभूति मानव-मन के लिए अपेक्षाकृत सहजग्राह्य होती है। इस तर्क से, जिस कविता में अनुभूति का तत्त्व अधिक है—अर्थात् जिसका अर्थ (संवेद्य) हमारी इन्द्रियों और उनके माध्यम से मन को अधिक प्रभावित करता है, वह अधिक मूल्यवान् है। उक्त तथ्य का अनेक बार और अनेक रूपों में प्रतिपादन हो चुका है: भारतीय रस-सिद्धान्त में इसकी स्पष्ट स्वीकृति है, मिल्टन की बहुमान्य परिभाषा का भी सार यही है—कविता सरल, ऐन्द्रिय और संवेगप्रवण होती है; वर्ड्सवर्थ ने इसी आधार पर कविता को प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन माना है—आदि, आदि। छायावाद की कविता पर, विशेषकर महादेवी और पंत की कविता पर, यह परिभाषा अपेक्षाकृत कम घटित होती है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इस तर्क का प्रतिवाद भी कठिन नहीं है और छायावाद की ओर से वही प्रस्तुत किया जा सकता है: कविता जीवन के सामान्य ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभवों की वाणी नहीं है—परिष्कृत अर्थात् रागद्वेष तथा ऐन्द्रिय विकारों से युक्त शुद्ध अनुभवों की अभिव्यक्ति है। अतः अनुभूति की मांसलता नहीं वरन् मांसल तत्त्व की परिष्कृति ही कविता की सिद्धि है और छायावाद की कविता में मानव-अनुभूतियों के मृण्मय तत्त्व की अपेक्षा इसी चिन्मय तत्त्व का उन्मेष अधिक है। जीवन में सहजता अर्थात् प्रकृत आवेग और अन्तःस्फूर्ति का महत्त्व निश्चय ही है, परन्तु परिष्कृति के प्रति भी मानव-चेतना की प्रवृत्ति न नयी है और न अस्वाभाविक। स्वस्थ मानव-मन के लिए जीवन के मांसल उपभोग में प्रवृत्त होना सर्वथा स्वाभाविक है परन्तु उससे ऊपर उठने की स्पृहा भी कम स्वाभाविक नहीं है। प्रकृत जीवनवादियों का यह तर्क सही है कि आदमी केवल फूल सूँघकर नहीं रह सकता, परन्तु यह भी कम सही नहीं है कि आदमी को फूल सूँघने की आवश्यकता भी जीवन में निरंतर बनी रहती है। महादेवीजी आज मेरे इस वक्तव्य को पढ़कर हँसकर कहेंगी कि अब आये रास्ते पर, बच्चू!—मैं रास्ते पर कहां तक आया हूं, यह तो इस समय नहीं बताऊंगा, परन्तु इतना अवश्य है कि छायावाद के मूल्यांकन के संदर्भ में यह एक अत्यन्त सार्थक प्रश्न है जो आज हमारे सामने उपस्थित है।

इसी प्रकार नया कवि महादेवीजी के काव्य-शिल्प के विरुद्ध भी एक विशेष आक्षेप करता है और वह यह कि उनकी बिम्ब-योजना का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है: उनके उपमान और प्रतीकों में वैचित्र्य एवं वैविध्य नहीं है। यह आक्षेप ग़लत नहीं है कि जीवन और जगत् के अत्यन्त सीमित क्षेत्र से महादेवीजी अपने उपमानों और प्रतीकों का चयन करती हैं परन्तु उनकी संयोजनाओं में अपूर्व वैचित्र्य है। कहीं भी महादेवी अपने बिम्ब या चित्र की पुनरावृत्ति नहीं करतीं, उपकरण प्रायः समान ही रहते हैं परन्तु उनका प्रयोग सर्वथा भिन्न होता है। इसलिए महादेवीजी की कला में विस्तार तो नहीं है परन्तु सूक्ष्म विन्यास अद्भुत है। यहां फिर एक मौलिक प्रश्न उठता है कि क्या उपमानों और प्रतीकों का वैविध्य-वैचित्र्य मात्र कला के मूल्यांकन का आधार हो सकता है: कला का रहस्य सामग्री के संग्रह में निहित है या उसके प्रयोग में? छायावाद के प्रसंग में यह प्रश्न भी उतना ही सार्थक है।

३

सन् १९५० के बाद महादेवीजी की प्रख्या ने एक प्रकार से उपराम ले लिया। पिछले दो दशकों में उनकी केवल दो ही कृतियां सामने आईं: एक 'सप्तपर्णा' जिसमें संस्कृत की कुछ चुनी हुई रचनाओं के पद्यानुवाद संकलित हैं और दूसरी 'पथ के साथी' जो कवयित्री के सम-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सामयिक कलाकारों के मार्मिक व्यक्ति-चित्रों का संकलन है। यह वास्तव में उनके सार्वजनिक जीवन का युग है। १९५० के बाद उनकी प्रतिभा साहित्यिक संगठन के कार्यों में प्रवृत्त हो चली थी। इस अवधि में उन्हें अनेक प्रकार के कड़वे-मीठे अनुभव हुए। हिन्दी की जनता से उन्हें फूल भी मिले और शूल भी परन्तु इसी बीच वर्तमान युग के तीन महान् व्यक्तित्व उनके जीवन में आये—राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और महाप्राण कवि निराला। मेरा विश्वास है कि इन तीनों ने ही महादेवीजी के प्रबल और समृद्ध व्यक्तित्व के विकास में, अन्वय-व्यतिरेक पद्धति से, योगदान किया। संयोगवश अथवा हो सकता है कि अपने स्वभाव की असार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रच्छन्न प्रभाव से इस अवधि में महादेवीजी के साथ मेरा सम्पर्क प्रायः नहीं रहा। परन्तु मेरे प्रति उनके वत्सल भाव में कोई कमी नहीं आयी और इसका प्रमाण मुझे मिला 'मैथिलीशरण गुप्त अभिभाषणमाला' के संदर्भ में जिसका आयोजन अभी कुछ मास पूर्व दिवंगत राष्ट्रकवि के जन्म-दिवस पर हमारे विभाग की ओर से किया गया था।

यह प्रसंग भी अपने-आप में बड़ा ही रोचक और स्मरणीय है। दद्दा के स्वर्गवास के उपरान्त हमारे विभाग ने श्यामलाल ट्रस्ट के अनुदान से 'मैथिलीशरण गुप्त अभिभाषणमाला' के आयोजन का निर्णय किया और अपने उपकुलपति डॉ० देशमुख के सामने प्रथम वक्ता के रूप में श्रीमती महादेवी वर्मा को आमन्त्रित करने का प्रस्ताव रखा। डॉ० देशमुख ने बड़े उत्साह के साथ उनके नाम का अनुमोदन किया और कहा कि वास्तव में महादेवीजी के आने से एक भव्य परम्परा का सूत्रपात होगा। यह सब तो आसानी से हो गया, परन्तु महादेवीजी को बुला लेना अपने-आप में एक असाध्य-साधना थी। मैं समस्या के हर पहलू को जानता था, इसलिए मैंने पूरी सावधानी से योजना बनाई। सबसे पहले तो उनकी स्वीकृति प्राप्त करने का ही सवाल था, क्योंकि जब से मुझे मालूम है कि प्रयाग के डाक विभाग से महादेवीजी की कोई ख़ास दुश्मनी चली आ रही है—न जाने क्यों दूसरों के पत्र उनको नहीं मिलते और उनके पत्र भी यथास्थान नहीं पहुँच पाते। इसका हल मैंने यह निकाला कि सरकार के भरे-पूरे डाक-विभाग का एकदम अविश्वास कर व्यक्तियों को पत्राचार का माध्यम बनाया। जिन दिनों यह योजना बन रही थी, तभी भाग्य से महिला विद्यापीठ के कर्म-सचिव अपने किसी आवश्यक कार्य से महादेवीजी का पत्र लेकर मेरे पास आये। मैंने कहा—'आपके कार्य में कतिपय वैधानिक बाधाएं हैं, परन्तु मैं निश्चय ही प्रयत्न करूंगा।' वे बेचारे बड़े कृतज्ञ हुए और धन्यवाद देकर जाने लगे। उसी वक्त मैंने अपना मतलब उनसे कहा और महादेवीजी के नाम आमन्त्रण-पत्र सौंपकर तुरंत ही उसकी स्वीकृति भिजवाने का वचन ले लिया। परन्तु पूरी सावधानी के बावजूद पहला प्रयास विफल गया—उत्तर नहीं आया—न नकारात्मक और न स्वीकारात्मक, यद्यपि वे सज्जन वादा कर गये थे कि देवीजी को यदि कोई कठिनाई हुई तो भी वे मुझे तुरन्त सूचना दे देंगे। मैंने जल्दी ही दूसरा उपाय किया और अब की बार एक ऐसे सज्जन को माध्यम बनाया जो विनीत और निष्ठावान् होने के साथ-साथ अपने दायित्व के प्रति भी अत्यन्त सजग थे। तब भी मैंने उन्हें पूरी तरह सतर्क कर दिया था। वे पूर्ण संकल्प के साथ आगे बढ़े और नाना प्रकार की बाधाएं पार कर अन्त में महादेवीजी की स्वीकृति प्राप्त करने में सफल हो गये। उसी दिन उन्होंने मुझे तार से सूचना दी कि देवीजी ने सहर्ष हमारा आमन्त्रण स्वीकार कर लिया है। यद्यपि मेरे पास सन्देह का कोई विशेष कारण नहीं था क्योंकि एक तो यह दद्दा के सारस्वत श्राद्ध का पुनीत अवसर था और दूसरे मेरा भी यह पहला निमन्त्रण था जिसमें मैंने अपनी ओर से सभी प्रकार के विकल्प

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देकर अस्वीकृति के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ा था, फिर भी मैं आश्वस्त नहीं था और उधर उनकी 'तात्कालिक स्वीकृति' मेरे सन्देह में और भी वृद्धि कर रही थी। निमन्त्रण चूंकि औपचारिक था अतः उसकी औपचारिक स्वीकृति भी अपेक्षित थी— यहां से दूसरी समस्या आरम्भ हुई। मैं पूरे बुद्धिबल से काम लेता हुआ, दोहरे साधनों का प्रयोग कर रहा था—एक ओर सीधे रजिस्ट्री पत्र और तार भेजता, दूसरी ओर मित्र के माध्यम से उनकी प्रतिलिपियां। अन्त में, दीदी के सहज स्नेह से अभिषिक्त व्यक्तिगत पत्र के साथ औपचारिक स्वीकृति तो मुझे मिल गयी, परन्तु तिथियों का प्रश्न अब भी हल नहीं हुआ। अतः तिथियों के निर्णय के लिए फिर मोर्चा लगाया गया, और महीनों के बाद यह फ़ैसला हुआ कि अगस्त में दद्दा के जन्मदिवस पर ही भाषणमाला का श्रीगणेश हो। अगस्त का महीना आया और विभाग की ओर से, समय पर, अवसर एवं वक्ता की गरिमा के अनुरूप विधिवत् आयोजन किया गया। प्रयाग से आने की गाड़ी आदि का निश्चय हो गया और यह भी तय हो गया कि महादेवीजी को चूंकि नयी दिल्ली में कुछ आवश्यक कार्य हैं अतः वहीं श्री दिनकर के यहां ठहरने में उन्हें अधिक सुविधा रहेगी। समारोह से एक दिन पूर्व तार आया कि वे अपर इंडिया से आ रही हैं। हम लोगों ने आराम की साँस ली। पर कुछ ही घंटे बाद एक तार और आया—मेरा माथा ठनका और मैंने समझा कि बस कोई न कोई बाधा आ गयी। परन्तु इस तार का भी मज़मून वही था कि महादेवीजी अपर इंडिया से पहुँच रही हैं—मुझे लगा जैसे आतिथेय की व्यग्रता का संक्रमण अब अतिथि पर हो गया है। दूसरे दिन पता लगा कि अपर इंडिया लेट है—यों तो लेट होने की उसकी आदत पुरानी है पर उस दिन वह तीन घंटे लेट थी। खैर, तीन घंटे भी कब तक पूरे न होते और गाड़ी आ गयी।

परिचित वेशभूषा में महादेवीजी अपनी सहायिका के साथ डिब्बे से उतरीं। उनका स्वागत करने के लिए विभाग के अनेक सदस्य आये थे पर वे अपने-अपने काम पर लौट चुके थे —मैं भी घर जाकर दोबारा आया था। अतः उस समय मैं और मेरे साहित्य-सहायक ही स्टेशन पर रह गये थे। मैंने सप्रणाम माल्यार्पण द्वारा उनका स्वागत किया और कहा : "इतने विलम्ब से आएंगी तो फीका ही स्वागत होगा।' बोलीं : "हम क्या करें, अँधेरे के कारण स्टेशन कुछ पहले चले आये थे— वहां आकर पता चला कि गाड़ी डेढ़ घंटा लेट है, फिर वह और लेट होती गयी और १० की जगह १ बजे रात को जंकशन से छूटी। कई दिन से हमें ज्वर था, पर डॉक्टर से प्रार्थना की कि कैसे ही इंजेक्शन देकर इसे दबाइए नहीं तो नगेन्द्र का हार्ट फ़ेल हो जाएगा। ज्वर तो जैसे-तैसे दब गया, पर तीन घंटे तक स्टेशन पर बैठे रहने से फिर हरारत बढ़ आयी है।" और, सचमुच उन्हें १००° से ऊपर बुख़ार था। मेरे मन ने कृतज्ञता और क्लेश दोनों का एक साथ अनुभव किया।

नियत समय पर मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व और कृतित्व पर महादेवीजी के दो भाषण हुए। विश्वविद्यालय का सबसे बड़ा हॉल नवदीक्षान्त-भवन खचाखच भरा हुआ था : दिल्ली की साहित्यिक और हिन्दी-प्रेमी जनता भारतवर्ष की सर्वाधिक प्रतिभाशालिनी नारी के दर्शन के लिए उमड़ पड़ी थी परन्तु वह अपार भीड़ एक विशेष सम्भ्रम की भावना से अनुशासित थी। स्वागत-भाषण में जब गार्गी और मैत्रेयी की परम्परा के प्रतिनिधि-रूप में महादेवीजी का अभिनन्दन किया गया तो वाणी तथा व्यवहार में अत्यंत संयत डॉ० देशमुख ने बड़े आदर के साथ करतल-ध्वनि से उसका समर्थन किया। महादेवीजी ने अपने पहले भाषण में दद्दा के व्यक्तित्व का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मार्मिक विश्लेषण किया। प्रतिभा से दीपित उनकी वाणी अत्यन्त शान्त-स्निग्ध रूप में प्रवाहित हो रही थी: हृदय से उद्भूत भाव सहज रूप में बिम्बों पर आरूढ़ होकर वाग्धारा पर तैरते चले आते थे। तूलिका के बड़े ही सरस-कोमल स्पर्शों से उन्होंने स्वर्गीय कवि के जीवन के मार्मिक चित्र अंकित किए: लगा श्रवण-चक्षुओं के सामने दद्दा के जीवन का सुन्दर एलबम खुलता जा रहा हो और वह अपार श्रोता-समूह मन्त्रमुग्ध होकर उसे कानों से देख रहा हो। सभापति—डॉ० देशमुख के चेहरे पर गर्वमिश्रित संतोष का भाव था और जब मैं धन्यवाद-प्रस्ताव करने के लिए उठा, तो उन्होंने धीरे-से कहा: "यह ज़रूर कहना कि रुग्ण होने पर भी हमारा आमन्त्रण स्वीकार कर इन्होंने हमें विशेष रूप से उपकृत किया है।"—और, फिर, अपने पास बैठे हुए बंगला के प्रोफ़ेसर से अंगरेज़ी में बोले: "वैरी सेन्सिटिवली पेण्टेड—बड़ा ही मार्मिक चित्रण था।"—भाषण समाप्त होने के बाद एक मित्र ने कहा: "कैसा अद्भुत प्रवाह था, लगता था जैसे पूनम की चाँदनी से झलमल गंगा की धारा बह रही हो।" मैंने उत्तर दिया: "आपकी यह उत्प्रेक्षा सुन्दर होने पर भी अपूर्ण रही; इसमें शुभ्र स्नेह और स्फीत वाग्धारा के उपमान तो हैं, परन्तु वाणी के साथ सहज रूप से गुम्फित बिम्बावली का उल्लेख नहीं है; यह कहिए कि जैसे पूनम की चाँदनी में झलमल गंगा की धारा फूलों से भरी घाटियों में होकर बह रही हो।"

दूसरा भाषण मैथिलीशरण गुप्त के कृतित्व पर हुआ—अध्यक्ष थे विश्वविद्यालय के वर्तमान उपकुलपति डॉ० गांगुलि। इस भाषण में भी शब्द और अर्थ का वैसा ही अपूर्व समारोह था और हम सभी के मन में बार-बार यह विचार आ रहा था कि कवि के श्रद्धापर्व की इससे सुन्दर परिणति सम्भव नहीं थी। इतने में ही अपने अध्यक्षीय वक्तव्य का उपसंहार करते हुए डॉ० गांगुलि ने कहा: "हमारे धर्म में भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के पूजन की अलग-अलग विधियां हैं। इनमें गंगा के पूजन की पद्धति सबसे विलक्षण है। उसमें बाहर से कोई सामग्री लाने की आवश्यकता नहीं होती; गंगाजल से ही गंगा का अभिषेक कर दिया जाता है। हमने भी वही किया है: स्वर्गीय राष्ट्रकवि की वाणी का अर्चन आज हमने उन्हीं के समतुल्य एक दूसरे कवि की वाणी के द्वारा किया है।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कवि सियारामशरण गुप्त के अन्तिम दिन

कल की-सी बात है। अब से ठीक बारह वर्ष पहले सन् १९५२ की गर्मियों में—शायद अप्रैल या मई के महीने में, जब मैं एक दिन आकाशवाणी-भवन से डेढ़ बजे का बुलेटिन समाप्त कर लौट रहा था, अचानक ही सिकन्दरा रोड के मोड़ पर एक तांगे में मुझे श्री सियारामशरण गुप्त दिखाई दिये। मैंने गाड़ी मोड़ी और तांगे के पास जाकर देखा कि दद्दा—श्री मैथिलीशरण गुप्त और रायसाहब—श्रीयुत राय कृष्णदास—भी उसमें बैठे हैं। एक स्वजन को तांगे में सामान के साथ छोड़ दद्दा, रायसाहब और सियारामजी मेरे साथ मोटर में आकर बैठ गये। रास्ते में मालूम हुआ कि दद्दा राज्यसभा के ग्रीष्म-अधिवेशन में भाग लेने के लिए आये हुए हैं और नॉर्थ एवेन्यू में १७९ नम्बर का मकान उनके लिए नियत किया गया है। १९५२ से १९६४ तक पूरे बारह वर्ष तक दद्दा दिल्ली में रहे—उनका यह दिल्ली-प्रवास राजधानी के सारस्वत इतिहास का अत्यन्त मधुर परिच्छेद है।

दद्दा के साथ कोई-न-कोई स्वजन सदा दिल्ली में रहता था। सियारामजी भी वर्ष में एक-दो बार आकर अवश्य रहते। उन दिनों दद्दा के निवास-स्थान का वातावरण और भी अधिक साहित्यिक बन जाता था। बाद में स्वास्थ्य गिर जाने से उनका आना कुछ कम हो गया और उन्हें बुलाने के लिए हम लोगों को आग्रह करना पड़ता था। सन् १९६३ के बजट-अधिवेशन में मेरे और दद्दा के बार-बार आग्रह करने पर वे २५ फ़रवरी को दिल्ली आये। इस बार उनका स्वास्थ्य अधिक गिरा हुआ था : बाहर से देखने पर भी रोग बढ़ा हुआ लगता था—चेहरे पर और हाथ-पैरों पर शोथ था; किन्तु भीतर से उनका मन और भी अधिक उद्विग्न था। चिरगाँव से चलते समय उन्होंने चि० सुमित्रानन्दन गुप्त से कहा था कि देखो लौटकर आते हैं या नहीं। दिल्ली में वे प्रायः मित्रों से यही कहते थे कि इस बार हम अपने को अत्यन्त रुग्ण अनुभव करते हैं। बात साफ़ थी—जल्दी ही उनके विश्वस्त चिकित्सक डॉक्टर विजयकुमार दीवान से सम्पर्क स्थापित कर सिटी क्लीनिक में विधिवत् परीक्षण कराया गया। डॉक्टर ने विशेष चिन्ता का कोई कारण नहीं बताया—कहा कि दमा के निरन्तर आक्रमण से इस आयु में हृदय पर असर पड़ना स्वाभाविक ही है, शोथ उसी के कारण है। निदान के उपरान्त औषध दी गयी और उससे लाभ हुआ—सूजन बहुत कम हो गयी, हृदय की आन्तरिक स्थिति में भी सुधार हुआ। फिर भी जाने क्यों वे बार-बार कहते थे कि मेरी तबीयत बड़ी खराब है। रोग उनके लिए नया नहीं था—लगभग पचास वर्ष से वे रोग से लड़ते आ रहे थे। इस लड़ाई में दोनों ही जर्जर हो चुके थे—रोग ने तो रोगी के शरीर को तोड़ ही दिया था, परन्तु रोगी के आत्मबल ने भी रोग के आतंक पर विजय प्राप्त कर ली थी। ऐसी स्थिति में उनके स्वर की निराशा से मुझे कुछ निराशा होने लगी। डॉ० दीवान के साथ मैं बराबर सम्पर्क बनाये हुए था और जहां तक मैं समझ सका, चिन्ता का कोई कारण नहीं था। फिर भी बापू आश्वस्त नहीं थे और कई बार एकान्त में मुझसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कह चुके थे कि आपसे कुछ आवश्यक बात करनी है। यद्यपि उन्होंने मुझे यह नहीं बताया कि बात क्या है, फिर भी सन्दर्भ से मुझे उसका अनुमान होने लगा था। कोई तीन-चार वर्ष पूर्व ६, नॉर्थ एवेन्यू में आकर वे दद्दा की अनुपस्थिति में रहे थे। उस समय उनका मन कुछ क्षुब्ध था—शायद परिवार के लड़कों में कुछ तनाव पैदा हो गया था जिसका प्रभाव उनके मन पर भी पड़ा था और किसी लड़के का एकाध वाक्य उन्हें चुभ गया था। सामान्य बातचीत में ऐसा मुझे अनायास ही मालूम हो गया—न उन्होंने मुझसे कोई शिकायत की थी और न मैंने ही अन्तरंग बातों को जानने का प्रयास किया था। पिछले बारह वर्षों से दद्दा और उनके स्वजनों के साथ मेरा अत्यन्त घनिष्ठ संबंध रहा है—उतना ही जितना कि अपने परिवार के साथ। किन्तु सिद्धान्ततः मैं उनके परिवार के अन्तरंग प्रश्नों से प्रायः तटस्थ ही रहा हूं। अनेक बार एकान्त में दद्दा के साथ—बापू, कक्का, भाई श्रीनिवास के साथ पारस्परिक सुख-दुःख की बातें हुई हैं—उधर लड़कों का भी—चिरंजीव सुमित्रानन्दन, उर्मिल और कंठ जी का भी मुझमें विश्वास रहा है। अतः अन्तरंग प्रश्नों की चर्चा से बचना तो संभव नहीं हुआ, परन्तु मेरा प्रयास यही रहा है कि दद्दा के परिवार का सम भंग न हो। लगभग २५ वर्ष पूर्व चिरगाँव की 'बखरी' में एकाध दिन रहकर मेरे किशोर मन पर दद्दा के उस कृतकृत्य बहुजन-परिवार की जो मधुर छाप पड़ चुकी थी, उसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम मुझे प्रिय नहीं था। 'साकेत' का अध्ययन और समीक्षण करते समय दद्दा के गार्हस्थ्य-वर्णन से मैं सर्वाधिक प्रभावित हुआ था और चिरगाँव के उस समंजित गृहस्थ-जीवन को प्रत्यक्ष देखकर उनकी सफलता का रहस्य भी मेरे मन में अनायास स्पष्ट हो गया था। 'साकेत' की सूक्ति—'होता है कृतकृत्य सहज बहुजन-गृही' उस परिवार में मानो सहज ही चरितार्थ होती थी। अतः अपनी किशोर-कल्पना के उस मनोरम चित्र को यथावत् बनाये रखना मेरे लिए कर्तव्य से अधिक एक प्रकार की रागात्मक विवशता बन गयी थी। बापू के क्षोभ का कारण समझना मेरे लिए अत्यन्त सरल था—मर्यादा के जिस वातावरण में उनका जीवन बीता था, जिस मर्यादा का पालन वे मृत्यु-पर्यन्त पूर्ण निष्ठा के साथ करते रहे थे, अपने संदर्भ में उसकी अवहेलना उनके लिए अत्यन्त कष्टप्रद थी। और, मैंने अनुभव किया कि वे किसी मार्मिक आघात से विचलित थे। परन्तु क्षोभ के कारण को मैं जितनी आसानी से समझ रहा था, उतनी ही कठिनाई मुझे उसके परिणाम को स्वीकार करने में हो रही थी। वे अपने रिक्थपत्र में संशोधन करना चाहते थे और उसमें किसी स्थानीय वकील की सहायता अपेक्षित थी। मुझसे जब उन्होंने इस विषय में चर्चा की तो मैंने संदर्भ के अनुसार उसका यह अर्थ लिया कि कदाचित् वे क्षोभवश किसी का नाम रिक्थपत्र से हटाना चाहते हैं। यह संपूर्ण प्रसंग मुझे अत्यन्त अप्रिय लगा—विशेषकर इसलिए कि मेरे मन में जो उनकी सहज क्षमाशील अहिंसामयी मूर्ति अंकित थी उसके साथ इस विचार की विसंगति सर्वथा स्पष्ट थी। इसलिए मैंने एक-दो बार तो बात को टाल दिया और फिर एक दिन खुलकर इस विचार का प्रतिवाद किया। उस समय आदरणीय कक्का—श्रीयुत चारुशीलाशरण भी उपस्थित थे और मैंने जान-बूझकर उनकी उपस्थिति में ही यह प्रतिवाद किया था। तब तो, जहां तक मुझे स्मरण है, बापू को मेरे तर्क यथावत् स्वीकार्य नहीं हुए, यद्यपि कक्का ने मेरा समर्थन किया था; किन्तु इसका परिणाम ठीक ही निकला और उन्होंने इस प्रसंग को स्थगित कर दिया।

यह घटना अब तक आयी-गयी हो चुकी थी पर जब-जब अनाश्वस्त स्वर में सियाराम जी मुझसे कहते कि तुमसे कुछ बात करनी है, मेरे मन में बरबस ही यही घटना ताज़ा हो जाती

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और मैं उस दुगुनी अप्रिय कल्पना से आतंकित-सा होकर रह जाता। यह कल्पना मेरे लिए दुगुनी अप्रिय इसलिए थी कि एक तो वे अपना अन्त निकट समझने लगे थे और दूसरे रिक्थपत्र के संशोधन का विचार मेरी दृष्टि में सर्वथा अनुचित था। इसीलिए मैं आरंभ में तो बार-बार टालता रहा और फिर एकान्त में बात करना संभव ही नहीं हुआ।

एक दिन शाम को ३५, मीनाबाग़ जाकर मुझे पता चला कि बापू की तबीयत अचानक गिर गयी और उन्हें डॉ० दीवान के परामर्श के अनुसार सर गंगाराम नर्सिंग होम, पूर्वी मार्ग, में दाखिल कर दिया गया है। तुरन्त ही मैं वहां पहुँचा। वे होश में थे। डॉक्टर से बातचीत करने पर मालूम हुआ कि उन्हें दिल का दौरा हुआ है; सामान्यतः हालत अच्छी थी, उपचार से लाभ ही हो रहा था परन्तु डाक्टर ने व्यावसायिक सावधानी के स्वर में कहा कि ७२ घंटे से पहले हृद्रोग में किसी को खतरे से बाहर घोषित करना सही नहीं है। ७२ घंटे भी बीत गये। दद्दा को एक आवश्यक कार्य से झाँसी जाना था—किन्तु उन्होंने अपना कार्यक्रम स्थगित कर दिया। तीसरे दिन उनकी तबीयत इतनी सँभल गयी कि डॉक्टर दीवान ने दद्दा से कह दिया कि आप बेशक चले जाएं—और दद्दा चले गये। बापू काफ़ी स्वस्थ दीखते थे—पेट जो शुरू में फूल गया था, अब साफ़ हो चुका था; साँस की गति स्थिर हो चुकी थी और नर्सिंग होम के उस कमरे में अन्तर्वाह्य शान्ति का प्रसार था। पर यह दशा शायद एक-डेढ़ दिन तक ही रही: उनके दो पुराने रोगों—हर्निया और दमा के उभर आने से एकदम बेचैनी बढ़ गयी; आँतों में गुज्झर पड़ जाने से उनकी क्रिया में अवरोध उत्पन्न हो गया और श्वास का कष्ट भी बहुत था। ऑक्सीजन की व्यवस्था हुई और आन्त्रिक अवरोध को भी दूर करने के लिए ओषधियां दी गयीं। किन्तु उनसे लाभ नहीं हुआ और वे बेहोश हो गये। बेहोशी की हालत में भी या बीच में संज्ञा प्राप्त करने पर उन्होंने दो बार कहा—डॉक्टर नगेन्द्र को बुलाओ। मुझे फ़ोन किया गया और मैं कोई आध घंटे में पहुँच गया, लेकिन तब तक वे फिर बेहोश हो गये थे। यह मूर्च्छा फिर नहीं टूटी: हृदय की स्थिति अब भी बुरी नहीं थी—नाड़ी की गति अच्छी थी, किन्तु अवरोध और श्वास-कष्ट बढ़ता जा रहा था। डॉक्टर दीवान अब विचलित प्रतीत होते थे। यद्यपि अपने निदान और उपचार के विषय में उन्हें किसी प्रकार का संशय नहीं था, फिर भी हम लोगों के आश्वा-सन के लिए उन्होंने दिल्ली के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० मोहनलाल शर्मा को परामर्श के लिए बुला लिया। डा० शर्मा आये; पूरी परीक्षा करने के उपरान्त वे भी उसी परिणाम पर पहुँचे और मेरे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने भी डॉ० दीवान के ही उत्तर की प्रायः पुनरावृत्ति कर दी। दवाइयां कारगर नहीं हुईं; रोग बढ़ता ही गया और रात को डॉक्टर ने जवाब दे दिया।

बापू की बीमारी का समाचार नगर में फैल चुका था, उनके मित्र और श्रद्धालु निरन्तर आते रहते थे। उस रात को मैं काफ़ी देर से लौटा था—आकर मैंने कुछ ऐसे मित्रों को, जिनका उनके प्रति विशेष अनुराग था, फ़ोन किया कि बापू जा रहे हैं: रात शायद न काट पाएं। वही हुआ। २९ मार्च को प्रातः ५ बजे के लगभग भाई श्रीनिवास का फ़ोन आया कि बापू नहीं रहे। यद्यपि बुद्धि इस दुस्संवाद के लिए तैयार हो चुकी थी, फिर भी मन एक साथ चीत्कार कर उठा। तैयार होने में मुझे थोड़ी देर लगती है: पर चि० सुमित्रानन्दन गुप्त ने मुझसे कह दिया था कि कक्का (आदरणीय श्री चारुशीलाशरण) मेरे पहुँचने के बाद ही बापू को लेकर दिल्ली से रवाना होंगे। अतः मैं अपनी तरफ़ से जल्दी-से-जल्दी तैयार होकर कुछ सहयोगियों के साथ सर गंगाराम अस्पताल पहुँचा। किन्तु वे लोग तब तक दद्दा के दिल्ली-आवास ३५, मीनाबाग़

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जा चुके थे। हम लोग भी पन्द्रह मिनट में वहां पहुँच गये। देखा कि वे केवल मेरे लिए ही रुके हुए हैं। बापू का शव गाड़ी में रखा जा चुका था—पीछे की सीट पर अपने भैया के सिर को गोद में लेकर कक्का बैठे थे—पैर कक्की ने अपने हाथ में लिए हुए थे। आगे की सीट पर चि० सुमित्रानन्दन और चि० श्रीकंठ थे—ह्वील पर थे चि० उर्मिलाचरण। मुझे देखकर कक्का बोले—डॉक्टर साहब, हम आपके ही लिए रुके हुए थे। मैं पूरी शक्ति लगाकर स्थिति को सँभालने का प्रयत्न कर रहा था—वे लोग तो सभी जैसे हतज्ञान हो चुके थे। कक्का के लिए 'भैया' अग्रज, अभिभावक, गुरु और मित्र सब-कुछ थे। ऐसा लगता था मानो अपनी संपूर्ण भावना के साथ-साथ विचारणा भी वे भैया को समर्पित कर चुके थे। जीवन में चिररुग्ण भैया के लिए कर्म का पूरा दायित्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया था और बदले में विचार का संपूर्ण दायित्व उन्हें सौंपकर वे निश्चिन्त हो गये थे। इसलिए भैया के न रहने पर वे एकदम असहाय-से हो रहे थे और उस समुदाय में सबसे बड़े होने पर भी अपने स्वभाव और अभ्यास के कारण वे व्यवस्था आदि के लिए आदेश देने की अपेक्षा आदेश पाने की प्रतीक्षा करते रहते थे। अन्त में उन्होंने कह दिया कि जैसा डॉ० नगेन्द्र कहें वैसा ही किया जाए। करना ही क्या था—करने को रह ही क्या गया था? घर की मरकरी फ़ोर्ड गाड़ी जो शायद एक-डेढ़ वर्ष पूर्व बापू के ही प्रस्ताव पर खरीदी गयी थी, शव-यात्रा की शिविका बनी—साथ में एक टैक्सी कर दी गयी जिसमें शेष परिवार-जन—भाई रघुवीरशरण, भाई श्रीनिवास, परिवारभुक्त वैद्य मुंशी देशराज आदि बैठ गये। प्रस्थान का दृश्य अत्यन्त कारुणिक था—गाड़ियां चलते ही सभी लोग ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे। अपने जीवन में इतने असंयत भाव से मैं कभी नहीं रोया। मेरे मन में यह भावना रहती है कि प्रत्येक मनुष्य के राग-द्वेष और हर्ष-विषाद उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियां हैं—सार्वजनिक रूप में उनकी अभिव्यक्ति प्रदर्शन बन जाती है जो किसी भी रूप में वांछनीय नहीं हो सकती। इसीलिए अपने राग की अप्रच्छन्न अभिव्यक्ति में भी मुझे उतनी ही लज्जा और संकोच का अनुभव होता है जितना कि द्वेष और मत्सर की मुक्त अभिव्यक्ति में। न जाने क्यों मेरे मन से यह सामन्तीय संस्कार अब भी नहीं निकल पाता कि पुरुष को नहीं रोना चाहिए। इसलिए मैं ऐसे अवसरों को, जबकि भावना का नियंत्रण करने की सम्भावना नहीं होती, बचाने का प्रयत्न करता हूं और जहां यह नहीं हो पाता वहां मुझे बाद में मन-ही-मन लज्जा का अनुभव करना पड़ता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में ये सभी मनोवैज्ञानिक प्रतिबन्ध टूट गये—मीनाबाग़ का प्रांगण अनेक प्रौढ़ जनों के क्रन्दन से भर गया: श्रीनिवास, उर्मिल और मैं ज़ोर-ज़ोर से रो उठे—कक्का, सुमित्रा आदि का रुदन नीरव था। बापू को लेकर गाड़ी चल दी; तभी मुझे याद आया कि राजघाट के दर्शन कर उनकी आत्मा को विश्रांति मिलेगी। इसीलिए मैंने भागते-भागते उर्मिलजी से कह दिया कि गाड़ी को राजघाट के सामने से होकर ले जाना।

मरकरी फ़ोर्ड भरभराकर चली गयी। ६०-६५ मील की रफ़्तार से चलकर दो बजे तक बापू का शवयान चिरगाँव पहुँच गया और उसके एक घंटे पीछे टैक्सी भी शेष परिजनों को लेकर पहुँच गयी। २६ मार्च, १९६३ को संध्या के सात बजे चिरगाँव में ही कनकने वंश की परम्परागत श्मशान-भूमि में बापू के पार्थिव अवशेष अग्नि को समर्पित कर दिये गये और २ अप्रैल को श्री चारुशीलाशरण एवं चि० सुमित्रानन्दन गुप्त, चि० उर्मिलजी तथा कण्ठ जी उनके फूलों को श्री अयोध्याजी एवं प्रयाग जाकर विसर्जित कर आये। बापू की सौम्य मुखाकृति और उसमें से झाँकती हुई स्नेह-सिक्त आँखें मेरे सामने निरन्तर घूमती रहीं। कई बार इच्छा हुई कि चिरगाँव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाकर अन्तिम संस्कारों में भाग लूं, पर चेतना इतनी शिथिल हो गयी थी कि कुछ करने का साहस ही नहीं हुआ।

चित्त बड़ा उदास रहा। बार-बार मन में आता था कि बापू न जाने क्या कहना चाहते थे। कभी-कभी यह ग्लानि होती थी कि मैं उनकी अन्तिम आज्ञा नहीं सुन सका, पर साथ ही यह सन्देह भी हो आता था कि न जाने वह मुझे स्वीकार्य होती या नहीं, क्योंकि घूम-फिरकर वही रिक्थपत्र में संशोधन की बात मेरे मन में आ जाती थी। इसी तरह उस उदासी में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क मेरे मन में उठते रहते थे। धीरे-धीरे समय बीता। शुद्धि के बाद रिक्थ-पत्र खोला गया—उसमें केवल एक संशोधन किया गया था : बड़े भैया श्री रघुवीरशरण[1] का नाम, जो मूल प्रारूप में नहीं था, उत्तराधिकारियों में जोड़ दिया गया था। इस प्रकार अन्त में समदृष्टि की ही विजय हुई और पारिवारिक सद्भाव का वृत्त पूरा हुआ। यद्यपि उनके इस अंतरंग पारिवारिक प्रश्न से मेरा किसी प्रकार का संबंध नहीं था और नीति की दृष्टि से भी मैं आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना सर्वथा अनुचित समझता था, फिर भी मुझे इस तथ्य के उद्घाटन से बड़ा संतोष हुआ। और, इसका कारण स्पष्ट है : बापू का जो चित्र मेरे मन में अंकित था, वह इस घटना से और भी भास्वर हो गया। रिक्थपत्र में २००००) रु० की राशि एक पुरस्कार के लिए नियोजित की गयी थी; पुरस्कार का नामकरण दद्दा के नाम पर किया गया था और उसके चार न्यासियों में मेरा भी नाम था। इस दूसरे तथ्य के उद्घाटन से मेरी कल्पना को भी विराम मिला : कदाचित् इसी संदर्भ में वे मुझे बार-बार याद कर रहे थे।

सियारामशरणजी चले गये ! जिसका जाना निश्चित हो उसे कौन रोक सकता है ! फिर भी मनुष्य अपनी आदत से मजबूर है। मृत्यु के बाद भी मानव-मन वैचारिक पोस्टमार्टम करता रहता है। तर्क-वितर्क का वह क्रम अभी टूटा नहीं है। अभी कुछ समय पहले हम लोग झाँसी में ही थे। वैद्य देशराजजी और कक्का हमें छोड़ने स्टेशन आये हुए थे। स्वभावतः बापू के निधन का प्रसंग छिड़ गया। मैंने कहा—मेरे मन में बार-बार यह आता है कि चिकित्सा में थोड़ी-बहुत त्रुटि हो गयी। डॉक्टर ने पूरे ओषधि-बल से हृदय-रोग पर आक्रमण कर उसे तो वश में कर लिया, किन्तु वे शायद भूल गये कि जिस शरीर पर वे उन तीव्र औषधियों का प्रयोग कर रहे हैं वह अनेक रोगों के निरन्तर प्रहार से जर्जर हो चुका है। परिणाम यह हुआ कि नया रोग तो क़ाबू में आ गया पर पुराने रोग पूरे वेग से उभर आये और अन्त में आंत्रिक अवरोध ही उनकी मृत्यु का कारण बना। मेरा यह विश्लेषण एक सामान्य जन का विश्लेषण मात्र है—शायद एकदम ग़लत भी है—और यद्यपि हम सबकी ही डॉ० दीवान में पूर्ण आस्था रही है, फिर भी मेरे मन से यह बात नहीं जाती : अतिस्नेहः पापशंकी। उस दिन भी मैंने यही बात कही। यद्यपि वैद्यजी ने मेरे विचार के साथ कुछ सहमति प्रकट की, पर कक्का ने कहा—कुछ भी हो, भैया आगे जी नहीं सकते थे। और फिर, अलग ले जाकर बोले, "मृत्यु से कुछ समय पूर्व भैया ने मुझसे पूछा था कि तुम्हारी भाभी किस दिन गयी थीं ? ऐसा प्रश्न उन्होंने जीवन में पहली बार किया था और मेरा मन एक अतर्क्य विषाद से भर गया था। इसके अतिरिक्त एक कारण मेरे इस विश्वास का और भी है। जिन दिनों भैया 'गोपिका' के अंतिम अंश लिख रहे थे, उनकी मनःस्थिति कभी-कभी ऐसी हो जाती थी कि मुझे अनायास ही यह भान होने लगता था मानो

१. दद्दा के ज्येष्ठ भ्राता स्वर्गीय सेठ महारामदासजी के पुत्र जो कुछ वर्ष से सम्मिलित परिवार के अंग नहीं रहे थे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'गोपिका' पूरी करने के बाद वे नहीं रहेंगे—और मन यहीं चाहता था किसी-न-किसी बहाने से 'गोपिका' समाप्त न हो।"

ये दोनों ही कारण तर्क-सम्मत नहीं थे और सामान्यतः मेरा विवेक उन्हें स्वीकार न करता; परन्तु मेरी अन्तरात्मा उनका प्रतिवाद न कर सकी—मन-वचन से भैया के साथ पूर्ण ऐकात्म्य स्थापित कर लेने वाले अनुज की प्रतीति को झुठलाने का साहस मुझे नहीं हुआ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रेडियो में पंतजी का आगमन

उन दिनों हिन्दी में भी आकाशवाणी का नाम ऑल इंडिया रेडियो ही था—अधिकारियों का तर्क था कि ऑल इंडिया रेडियो व्यक्तिवाचक संज्ञा है और उसका अनुवाद उसी तरह नहीं किया जा सकता जिस तरह किसी व्यक्ति के नाम का। भारत को स्वतंत्र हुए दो वर्ष हो चुके थे किन्तु हिन्दी को अभी तक उचित स्थान प्राप्त नहीं हो सका था—अतः हिन्दी-लेखकों की ओर से रेडियो-विरोधी आंदोलन चल रहा था; तभी हिन्दी के परिचित कवि श्री बालकृष्ण राव की उप-महानिदेशक के रूप में नियुक्त हुई। श्री राव का मेरा व्यक्तिगत परिचय नहीं था—मैंने उनकी कुछ कविताएं पढ़ी थीं और उन्होंने कदाचित् मेरे कुछ लेख देखे-पढ़े थे। रेडियो में भी मेरा-उनका सीधा सम्पर्क नहीं था, क्योंकि हिन्दी का कार्य औपचारिक रूप से पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी सँभालते थे—और वे भी शीघ्र ही अवकाश ग्रहण करने वाले थे। एक दिन सहसा अपराह्न में राव साहब ने टेलीफ़ोन कर मुझे बुलाया और कहा कि आपसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गोपनीय विषय पर परामर्श करना है। सेक्रेटरी चाहते हैं कि हिन्दी-कार्यक्रम का संचालन करने के लिए किसी चोटी के कलाकार को लाया जाय—आप कुछ नाम बताइए। मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था, फिर भी दो-चार मिनट सोचने के बाद मैंने उत्तर दिया, "हिन्दी के कलाकारों में आदर्श नाम तो पंतजी का है, किन्तु उनको राज़ी करना सरल नहीं होगा—हो सकता है संभव ही न हो—और दूसरा नाम हो सकता है···"

"दूसरे नाम की आवश्यकता नहीं है; पंतजी से ही श्रीगणेश किया जाय। आप कल ही इलाहाबाद चले जाइए···और देखिए, इस सम्पूर्ण प्रसंग को अपने तक ही रखिए। यदि इस प्रयत्न में सफलता मिल जाती है तो यह हिन्दी और रेडियो दोनों की बड़ी सेवा होगी।"

अगले दिन रात की गाड़ी से चलकर मैं तीसरे दिन इलाहाबाद पहुँचा। पंतजी उन दिनों टैगोर टाउन में रहते थे—उनकी ममेरी बहन कल्याणीया शांता जोशी भी साथ में थीं। मैं कई वर्ष बाद पंतजी से मिला था: वही सौम्य-स्निग्ध दृष्टि—कुछ चकित-सी; परिचित वेशभूषा से युक्त रमणीय कवि-रूप; ऐसा लगता था जैसे कैशोर्य यौवन के द्वार से ही लौटकर प्रौढ़ि में प्रवेश कर चुका हो; प्रगतिवाद के रुक्ष प्रभाव से कवि का अन्तर्बाह्य मुक्त हो चुका था।

सामान्य कुशल-प्रश्नादि के बाद पंतजी बोले—इलाहाबाद कैसे आये हैं? मैंने कहा—आपके ही पास आया हूं और ऐसे काम से आया हूं जिसका अनुमान आप लगा नहीं सकते। इतना कहकर मैं थोड़ा झिझका—मैं शायद पंतजी के जीवन में पहली बार नौकरी का प्रस्ताव करने जा रहा था। उसके औचित्य पर मुझे संदेह होने लगा, मानो मैं कोई अभद्रता कर रहा हूं। उधर, पंत जी की सहज-चकित दृष्टि में कुतूहल का भाव सहसा स्पष्ट हो आया। मैंने कहा—पंतजी, मुझे ऑल इंडिया रेडियो के डिप्टी डायरेक्टर जनरल श्री बालकृष्ण राव ने भेजा है। रेडियो पर हिन्दी के कार्यक्रम का संगठन और विकास करने के लिए उनकी और हम सबकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इच्छा है कि आप इस दायित्व को स्वीकार कर लें। मुझे पूर्ण आशंका थी कि पंतजी तुरन्त ही इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देंगे—और मैं इसके लिए तैयार था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ—पंतजी इस प्रसंग में कुछ प्रश्न करने लगे और मैं एक प्रकार के सुखद आश्चर्य के साथ उत्साह-पूर्वक उनका उत्तर देने लगा। फिर बोले—अच्छा मुझे आज रात को सोचने का समय दीजिए, मैं कल आपको उत्तर दूंगा। कल आप जल्दी आ जाइए, चाय यहीं पीजिए।

दूसरे दिन मैं लगभग ९ बजे पंतजी के बंगले पर पहुँच गया। पहुँचने के कुछ समय बाद ही वे बोले—ठीक है, मैं इस कार्य को कर लूंगा। मेरी पहली प्रतिक्रिया स्वभावतः कृतकार्यता की ही थी—अन्य तर्क-वितर्कों के लिए उत्तेजना की उस स्थिति में विशेष अवकाश ही नहीं था। पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार मैं रेडियो स्टेशन से श्री राव को टेलीफ़ोन करने चल दिया। यद्यपि इस समय भी प्रसन्नता का भाव ही सर्वोपरि था, फिर भी मेरे चिंताशील मन में कुछ संदेह उठने लगे—क्या रेडियो के अधिकारी पंतजी का उचित गौरव समझ सकेंगे! वहां की जड़ औपचारिकता से कहीं पंतजी के अतिशय संस्कृत मन को आघात न पहुँचे? सामान्यतः रेडियो के अधिकारी शिष्टाचार में त्रुटि नहीं करते थे—मेरा अपना अनुभव बुरा नहीं था। फिर भी मैं अपने मानकों का उपयोग पंतजी जैसे अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति के लिए कैसे कर सकता था? और क्या पंतजी रेडियो के उलझे हुए काम को सँभाल सकेंगे—उन्होंने तो कभी इस प्रकार का काम नहीं किया? इन्हीं विचारों में निमग्न मैं रेडियो स्टेशन आ पहुँचा। उन दिनों श्री मूर्ति वहां के स्टेशन-डायरेक्टर थे—मैं और वे एक-दूसरे को केवल नाम से जानते थे—साक्षात्कार के बाद ही मैंने उनसे कहा कि मैं एक गोपनीय कार्य से इलाहाबाद आया हूं और श्री सी० बी० राव को तुरन्त ही ट्रंक कॉल करना चाहता हूं। कॉल बुक की गयी। पर मेरे सामने एक नयी उलझन आ गयी—श्री मूर्ति के सामने मैं राव साहब से गोपनीय वार्ता कैसे कर सकूंगा: उनके ही कमरे में उनसे यह कहना कि आप थोड़ी देर के लिए बाहर चले जाइए बड़ी हिमाक़त होती। साथ ही उनको विश्वास में लेने का मुझे अधिकार प्राप्त नहीं था। और, न मैं स्वयं ही इस विषय में आश्वस्त था कि उनका हिन्दी के विषय में क्या रुख़ है। इतने ही में कॉल मिल गयी। ख़ैर, मैंने बड़ी सावधानी के साथ सर्वनामों का प्रयोग करते हुए श्री राव को स्थिति से अवगत करा दिया। स्वभावतः वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले—बड़ा काम किया आपने। वहां का काम तो हो गया किन्तु इधर मेरे मन में ग्लानि हो रही थी क्योंकि श्री मूर्ति जैसे सदाशय अधिकारी के प्रति प्रत्यक्ष रूप से अविश्वास व्यक्त कर मैंने निश्चय ही अभद्रता की थी। फिर भी उस समय मैंने उनसे क्षमा-याचना नहीं की क्योंकि उससे तो स्थिति और भी बिगड़ जाती—थोड़ी देर इधर-उधर की बातें कर लौट आया।

दिल्ली आकर मैंने अपनी वार्ता का पूरा विवरण बालकृष्णजी को दिया—तब तक वे सेक्रेटरी श्री पी० सी० चौधरी से विचार-विनिमय कर चुके थे। श्री चौधरी के मन में भारतीय संस्कृति और संस्कृत साहित्य के प्रति असीम अनुराग था—हिन्दी के प्रति एक प्रकार के ममत्व की भावना उन्हें अपनी स्वर्गीया माता श्रीमती हेमन्तकुमार चौधुरानी से संस्कार रूप में प्राप्त थी। तात्कालिक परिस्थिति के कारण उनकी अपनी परिसीमाएं थीं, परन्तु वे निश्चय ही हिन्दी के प्रचार के लिए प्रयत्नशील थे। पंतजी की स्वीकृति मिलने पर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। प्रसन्नता के इस वातावरण में न जाने क्यों मेरे मन में अब भी यह शंका हो उठती थी कि कहीं पंतजी मना न कर दें। अंततः वही हुआ—दूसरे दिन ही मेरे पास उनका पत्र आया जिसमें लिखा था कि उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पं० अमरनाथ झा से परामर्श किया था और झा साहब ने उन्हें सरकारी नौकरी की सलाह नहीं दी—उनकी अपनी भी आरम्भ से ही अनिच्छा-सी थी। मैं तुरन्त ही राव साहब के पास वह पत्र लेकर पहुँचा। स्वभावत: ही वे खिन्न हुए और तत्काल सेक्रेटरी महोदय से टेलीफ़ोन पर बात करने लगे। उनके वार्त्तालाप के कुछ अंश मैं स्पष्टत: सुन सकता था—सेक्रेटरी के मन में एक प्रकार की निराशा और खीझ का भाव था : खीझ में उनके मुँह से निकल गया—स्ट्रेन्ज मैन! ही रिफ़्यूज़ेज़ बिकॉज़ पंडित झा सेज़ 'नो'। यद्यपि उनकी खीझ अस्वाभाविक नहीं थी, फिर भी यह वाक्य मुझे अच्छा नहीं लगा और मैं सोचने लगा कि पंतजी का निर्णय ठीक ही है। परन्तु राव साहब हताश नहीं हुए। उन्होंने तभी श्री मूर्ति के माध्यम से पंतजी के साथ सम्पर्क स्थापित किया, उनकी काफ़ी शंकाओं का समाधान तो फ़ोन पर ही कर दिया और आगे विचार-विनिमय के लिए पंतजी को दिल्ली बुला लिया। पंतजी दो-तीन दिन बाद सवेरे दिल्ली पहुँचे। मैं रेडियो की ओर से उनको लिवाने स्टेशन गया—कई बार गाड़ी इधर से उधर देख ली पर पंतजी नहीं मिले और मैंने लौटकर श्री राव को उनके न आने की सूचना दे दी। पर कुछ ही देर में उनका टेलीफ़ोन आया कि पंतजी आ गये हैं और सुश्री निर्मला जोशी के यहां ठहरे हैं। मुझे हैरानी हुई—शाम को जब श्री राव के यहां हम मिले तो पता लगा कि गाड़ी और गाड़ी के बाहर भीड़ अधिक थी और धूल भी कुछ ज़्यादा थी, इसलिए पंतजी पन्द्रह-बीस मिनट अपना डिब्बा बन्द किये गाड़ी में ही बैठ रहे। उस संभाषण में पंतजी की सभी शंकाओं का समाधान हो गया—वे प्रयाग ही रहेंगे, दिल्ली वर्ष में ४-६ बार आ जाया करेंगे, दिन में घर पर ही रहकर कार्य की देखभाल कर लेंगे—केवल अपराह्ण में रेडियो-स्टेशन जाना पर्याप्त होगा। उनके साथ कार्य करने के लिए एक सहायक की भी नियुक्ति हो जाएगी—रचना-कार्य में कोई बाधा नहीं होगी अर्थात् अनुमति आदि का प्रतिबंध नहीं होगा, आदि-आदि। एकाध बार हल्के स्वर में वेतन का भी प्रश्न उठाया गया, किन्तु पंतजी ने उसमें कोई रुचि नहीं दिखाई।

दूसरे दिन अपराह्ण में महानिदेशक श्री लक्ष्मणन से भेंट की व्यवस्था की गयी। श्री राव पहले से ही वहीं थे, मैं पंतजी को लेकर तीसरी मंज़िल पर पहुँचा। कमरे में घुसते ही श्री लक्ष्मणन ने उठकर फ़ौजी तपाक से पंतज़ी से हाथ मिलाया। यह भेंट अपने-आप में एक रोचक घटना थी। पंतजी ने शायद लक्ष्मणन जैसे आदमी को और श्री लक्ष्मणन ने पंतजी जैसे आदमी को जीवन में पहली बार देखा था—आकृति-प्रकृति का जितना भी वैपरीत्य संभव था, वह यहां प्रत्यक्ष हो उठा था। श्री लक्ष्मणन ने अपनी सहज नाटकीय शैली में[1] पंतजी से बड़े स्नेह और सौजन्य के साथ औपचारिक बातचीत की। कुछ देर बाद मैं पंतजी के साथ उठकर आने लगा—मैं आगे दरवाज़ा खोलकर बाहर पहुँच चुका था, पंतजी मेरे पीछे थे। इतने में श्री लक्ष्मणन की फ़ौजी हँसी के साथ यह वाक्य हमारे कानों में पड़ा—'ही इज़ ए चाइल्ड'।

बाहर निकलकर मैंने पंतजी से पूछा—यहां का वातावरण आपको कैसा लगा? डी० जी० कैसे लगे? पंतजी बोले—जबर्दस्त आदमी है। जब मुझसे हाथ मिलाया तो मुझे लगा कि बस अब मेरा हाथ वापस नहीं आयेगा।...लेकिन इन्होंने यह क्यों कहा—'ही इज़ ए चाइल्ड।' मैंने उत्तर दिया कि वह तो आपकी प्रशंसा में कहा था—आपके निश्छल और सौम्य व्यक्तित्व की

---

१. नाटकीय शब्द का प्रयोग मैं बुरे अर्थ में नहीं कर रहा किंतु उनकी शैली के लिए मेरे पास कोई दूसरा हिंदी-शब्द नहीं है, अंगरेज़ी का 'लाउड' शब्द कुछ अधिक निकट होगा: खुदा बख्शे बहुत-सी खूबियां थीं मरने वाले में।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सराहना कर रहे थे। और, वस्तुतः बात भी यही थी—फिर भी न जाने पंतजी के मन में यह प्रश्न क्यों उठा ? शाम हो आयी थी और मैं कार में पंतजी को लेकर डॉ० जोशी की कोठी के लिए रवाना हो गया। आते समय मैं रास्ता भूल चुका था, इसलिए वापसी में मार्ग-दर्शन का दायित्व पंतजी ने अपने ऊपर ले लिया। मुझे सामान्यतः इसे स्वीकार नहीं करना चाहिए था—परन्तु अपने मार्ग-ज्ञान के प्रति अतिशय अविश्वास और पंतजी के आश्वस्त स्वर के कारण मैं उनके निर्देशन पर चल दिया। परिणाम जो होना चाहिए था वही हुआ—ईदगाह के ढाल और रोहतक रोड के बीच मैं भटक गया। पंतजी हर बार विश्वास के साथ कहते—नहीं-नहीं, अबकी बार ठीक है, यही रास्ता है, आप चलिए भी। इसी आवर्तन में अँधेरा हो आया और शायद बैटरी का कनेक्शन ढीला हो जाने से मेरी गाड़ी ढाल पर रुक गयी। बड़ी परेशानी हुई—मुझे बार-बार झुँझलाहट होती कि मैंने पंतजी की बात क्यों मानी; बिना मशीन का थोड़ा-सा काम जाने मैं गाड़ी चलाने की बेवकूफ़ी क्यों करता हूं ! कई बार मैंने कुछ राहगीरों की सहायता से गाड़ी को ढाल पर ले जाकर स्टार्ट करने की कोशिश की। पंतजी को कष्ट हो रहा था, इसकी मुझे चिन्ता थी—वे बेचारे सहायता भी क्या करते : मैंने उनसे कहा कि आप एक ओर खड़े हो जाइए, मैं किसी ड्राइवर की सहायता से गाड़ी अभी चालू कर लूंगा और मैं इधर-उधर किसी जानकार आदमी की खोज करने लगा। इतने ही में पंतजी ने आवाज़ दी—डॉक्टर नगेन्द्र, आप यहां आइए, मैं बताऊं। मैंने समझा पंतजी ने गाड़ियों का काफ़ी प्रयोग किया है, सम्भवतः मशीन के बारे में थोड़ा-बहुत जानते हों। मैं आशा के साथ उनकी ओर बढ़ा तो कहने लगे—"देखिए, आप इस गाड़ी को बेच दीजिए और नयी ले लीजिए। फिर कभी गड़बड़ नहीं होगी।" मैं काफ़ी परेशान हो चुका था, इस नेक सलाह को सुनकर खीझ उठा। मुझे लगा कि पंतजी को बेवक़्त यह क्या मज़ाक सूझा। पर वास्तव में पंतजी के चेहरे पर हँसी का कोई निशान ही नहीं था। मुझे ही हँसी आ गयी और मैं मन-ही-मन कहने लगा—'ही इज़ ए चाइल्ड'।

× × ×

रेडियो में पंतजी ने अपने जीवन के कतिपय वर्षों में इस मधुर सत्य का उत्साहपूर्वक निषेध किया। उनके व्यक्तित्व की इसी 'अबोध पावनता' के कारण अनेक मित्र अत्यन्त सद्भावपूर्वक यह शंका करते थे कि यह निर्वाचन ठीक नहीं हुआ। किन्तु विगत दशक में भारतीय प्रसारण का इतिहास साक्षी है कि यह शंका सर्वथा निर्मूल थी : पंतजी के ज्योति-स्पर्श से रेडियो का वायुमण्डल एक स्निग्ध-स्वर्णिम प्रकाश से दीपित हो उठा। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम के साथ आकाशवाणी के कार्यक्रम का संस्कार-परिष्कार किया और उसे भारतीय संस्कृति का उपयुक्त माध्यम बनाने में अपूर्व योगदान किया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रोफ़ेसर सी० वी० महाजन

अगस्त, १९३२ में मैं प्रयाग विश्वविद्यालय छोड़कर आगरा आया था। उन दिनों अलीगढ़ ज़िले के छात्रों के लिए आगरा कॉलेज उच्चतर शिक्षा का सर्वाधिक अनुकूल केन्द्र था—पर जिनके मन में अथवा यों कहिए कि जिनके अभिभावकों के मन में कुछ आगे बढ़ने की महत्त्वाकांक्षा रहती थी, उनका तीर्थ था प्रयाग। प्रयाग विश्वविद्यालय की, वास्तव में, बड़ी महिमा थी—शिक्षा-जगत् की अनेक विभूतियां वहां एकत्र थीं जिनकी गौरव-गाथा से आज भी वह अपनी रिक्तता को भरने का प्रयास करता रहता है। मेरे अभिभावकों के मन में भी थोड़ी-बहुत आकांक्षा अवश्य थी, अतः मुझे भी बी० ए० फ़र्स्ट ईयर में वहीं दाख़िल किया गया। किन्तु वहां जाने पर मुझे मालूम हुआ कि तीन साहित्य-विषयों को लेकर मैं बी०ए० नहीं कर सकता। कुछ दिनों मन में संघर्ष रहा, किन्तु अन्त में पिता के जागरूक विवेक का सम्बल पाकर मैंने संस्कृत छोड़ने की अपेक्षा विश्वविद्यालय छोड़ने का ही निर्णय किया और आगरा कॉलेज में प्रवेश प्राप्त करने की कामना से आगरा आ गया।

यहां आने पर पता चला कि आगरा कॉलेज में दाख़िला बन्द हो चुका है। मेरे पिता ने कॉलेज के प्रिंसिपल स्वर्गीय फ़ील्डन से मुलाक़ात कर सविनय अनुरोध किया कि लड़का पढ़ने में अच्छा है और आगरा कॉलेज में दाख़िल होने की इसकी बड़ी इच्छा है। परन्तु उन्होंने अपने स्वभाव के प्रतिकूल रुखाई से उत्तर दिया कि तब अगले वर्ष तक प्रतीक्षा करे। स्वाभिमानी पिता को इस प्रकार प्रार्थी बनने का अभ्यास नहीं था, यह मैं जानता था—और इस घटना से मुझे बड़ा क्लेश हुआ। आवास पर लौटकर जब विकल्पों पर विचार किया गया तो कानपुर, मेरठ आदि के कॉलेजों की बात अवश्य हुई पर आगरा कॉलेज से केवल एक फ़र्लांग की दूरी पर स्थित सेंट जॉन्स कॉलेज की ओर ध्यान भी नहीं गया—कदाचित् इसलिए कि आर्यसमाजी होने के कारण सेंट जॉन्स के मसीही वातावरण के विरुद्ध हमारे मन में एक प्रकार का पूर्वग्रह विद्यमान था। अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प के बाद थका हुआ मन, एक वरिष्ठ परिजन के परामर्श पर, इसके लिए राज़ी हो गया कि अभी सेंट जॉन्स में ही प्रवेश प्राप्त कर लिया जाए—समय आते ही, या अधिक-से-अधिक बी० ए० के बाद, आगरा कॉलेज या कहीं और दाखिला ले लिया जाएगा। और, दूसरे दिन सेंट जॉन्स में जाकर फ़ार्म भर दिया। दफ़्तर के बाबू ने इशारा किया कि बराबर के कमरे में आप स्वयं जाकर बर्सर साहब से दस्तख़त करा लीजिए। मैं थोड़ा-सा ठिठका, फिर हिम्मत करके अन्दर चला गया। एक छोटे-से कमरे में, जो बिलकुल सादा और साफ़ था, बर्सर साहब बैठे हुए थे: उनकी चतुर-गम्भीर आकृति, जिसका आकर्षक अवयव थी लम्बी नुकीली नाक, और ऑक्सफ़र्ड शैली की निहायत चुस्त-दुरुस्त पोशाक विद्यार्थी के मन पर बरबस प्रभाव डालती थी। मुझे मुश्किल से अन्दर एक मिनट लगा होगा। एक क्षण के लिए अधिकारी की आँख ऊपर उठी:[1] "संस्कृत के लिए तो आपको आगरा कॉलेज जाना

१. अंगरेज़ी वाक्यों का अनुवाद। प्रश्नोत्तर अंगरेज़ी में ही हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होगा।" —"जी, मैं इसके लिए तैयार हूं।" ···बिना आँख उठाए फ़ार्म के ऊपर अंकित कर दिया गया : "एडमिट — सी० एम०।"

बाद में कार्यक्रम के प्रभारी अध्यापक ने माथे का पसीना पोंछते हुए कहा : "अरे भई, टाइम-टेबिल में कोई फेर-बदल नहीं हो सकती।" पर, मुझे बताया गया कि 'एडमिट—सी० एम०' के अन्यथाकरण की शक्ति किसी में नहीं है। और, वही हुआ : मैं सेंट जॉन्स में दाखिल हो गया।

बी० ए० के पहले वर्ष में महाजन साहब का कोई घंटा नहीं था, अतः उनके साथ सम्पर्क का कोई विशेष अवसर नहीं आया। परन्तु—उनका आकर्षक व्यक्तित्व प्रायः चर्चा का विषय रहता था। उनके रहन-सहन, अध्यापन, प्रशासन-कौशल, प्रभाव आदि के विषय में छात्रों में अनेक कहानियां प्रचलित थीं। मैं बड़े कुतूहल से सुनता था कि महाजन साहब ने अमुक अंगरेज़ प्रिंसिपल को डाँट दिया था; अनेक विदेशी महिलाएं किस प्रकार उन पर मुग्ध हो गयी थीं; —वे आडम्बर में विश्वास नहीं करते थे—इच्छा-अनिच्छा से चर्च जाने में उनकी आस्था नहीं थी : कॉलेज का प्रशासन उनके ही बल पर चलता था। वे जहां होकर निकल जाते थे एकदम खामोशी छा जाती थी; उनकी अध्यापन-शैली बड़ी स्वच्छ और विशद थी, प्रत्येक शब्द को वे स्पष्ट करते चलते थे जिससे कि पाठ को दोहराने की आवश्यकता नहीं रहती थी; परन्तु अनुशासनप्रिय होते हुए भी वे स्वभाव से अत्यन्त मृदु थे—विद्यार्थियों के कष्ट सुनकर उनकी आँखें प्रायः गीली हो जाती थीं—आदि-आदि।

एक वर्ष के बाद—बी० ए० फ़ाइनल में महाजन साहब ने हमें पढ़ाना शुरू कर दिया था : पाठ्यग्रंथ था मेरेडिथ का उपन्यास 'ईवन हैरिंगटन'। क्लास में उपन्यास पढ़ाना थोड़ा कठिन होता है—उपन्यास भी बड़ा था और पूरे-का-पूरा पाठ्यक्रम में था। इसलिए महाजन साहब के जिन गुणों की प्रशंसा 'मैकबैथ' आदि के सन्दर्भ में सुनते आये थे, वे हमारी कक्षा में चरितार्थ नहीं हो सके। फिर भी, मैंने अनुभव किया कि कठिन स्थलों को स्पष्ट करने की कला में तो वे सिद्धहस्त थे ही, उपन्यास के पात्रों के साथ अपना और विद्यार्थी का तादात्म्य स्थापित करने का भी वे सफल प्रयास करते थे। आडम्बर के प्रति उनकी सहज वितृष्णा कक्षा में प्रायः मुखरित हो उठती थी। धीरे-धीरे वे उपन्यास के प्रसिद्ध पात्र 'काउन्टेस डी सालदार' से प्रायः उतने ही चिढ़ने लगे थे जितने कि कॉलेज के कुछ पाखण्डी व्यक्तियों से अपने वास्तविक जीवन में चिढ़ते थे। काउन्टेस के प्रसंग में मूल वाक्यों को पढ़ते-पढ़ते वे अकसर कुछ विद्रूप वाक्य अपनी ओर से भी अनायास जोड़ देते थे और जब हम लोग पुस्तक में उन्हें न पाकर वक्ता की ओर देखने लगते तो वे व्यंग्यपूर्वक हँसते थे। कुल मिलाकर, उनकी इस कक्षा में मुझे प्रत्याशित रस नहीं मिला। आज स्वयं भी एक अभ्यस्त अध्यापक होने के नाते मैं इसका रहस्य जानता हूं। एक तो अध्यापन-कला काव्य के सन्दर्भ में ही अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त करती है—गद्य में, विशेषकर कथा-साहित्य में, अध्यापक के मन और वाणी का ओज व्यक्त नहीं हो पाता। दूसरे, किसी भी ग्रंथ का प्रथम वाचन उतना प्रभावपूर्ण नहीं बन पाता : एकाध बार पढ़ा लेने के बाद ही किताब 'रवां' होती है। —फिर भी, मुझे यह स्पष्ट हो गया था कि मेरे वरिष्ठ सहपाठियों की वह मुक्त प्रशंसा असत्य नहीं थी, और इसका प्रमाण एक वर्ष बाद मुझे मिल गया जबकि महाजन साहब से एम० ए० के पूर्वार्घ में हमें लैंगलैण्ड की अमर काव्यकृति पढ़ने का अवसर मिला। उनका वाचन सर्वथा स्पष्ट और प्रभावी होता था और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्याख्यान-शैली अत्यन्त स्वच्छ तथा अनाविल थी। उनके उच्चारण में स्थिरता रहती थी, उच्छ्‌वास नहीं—वे वाक्यों का विच्छेद कर काव्य की सूक्तियों का भाष्य करते थे। इस प्रकार, उनके अध्यापन की सफलता का रहस्य अनुक्रम और स्पष्टता में ही निहित था: छात्र-श्रोता के मन को आवेग से संकुल या सौन्दर्य से दीपित करने की अपेक्षा उनका व्याख्यान प्राय: अर्थ के वैशद्य पर ही अधिक बल देता था।

तीन-चार वर्ष के सान्निध्य से प्रोफ़ेसर महाजन के गुण श्रव्य न रहकर दृश्य बन चुके थे। रहन-सहन में एकदम अंगरेज़ होने पर भी वे हृदय से सर्वथा भारतीय थे। उस समय ऑक्सफ़र्ड से जो अंगरेज़ प्राध्यापक कॉलेज में आते थे वे सामान्यत: अत्यन्त भद्र ही होते थे, फिर भी उनमें से अनेक साम्राज्यवादी भावना से मुक्त नहीं रह पाते थे। महाजन साहब की अहंकार-मयी कठोर मुद्रा उनके इस रोग का उपचार थी। कुछ ही दिनों में आगन्तुक अंगरेज़ की मनो-ग्रन्थि खुल जाती थी और उसे यह अनुभव करना पड़ता था कि वह भी दूसरों की भाँति एक अधीनस्थ अध्यापक है। इस प्रकार, भारतीय अध्यापकों के स्वाभिमान की रक्षा अनायास ही हो जाती थी क्योंकि कॉलेज के अधिकारी-वर्ग में एक ऐसा भारतीय भी था जिसके स्वभाव में शासित के हीनभाव के स्थान पर शासक का अहंकार सहज रूप से विद्यमान था।

मिशन कॉलेज होने के कारण सेंट जॉन्स में एक प्रकार का धार्मिक वातावरण व्याप्त था। वहां ऐसे कुछ प्राध्यापक सदा ही रहते थे जो वृत्ति से धर्म-गुरु होते थे। ये सभी वाणी और व्यवहार में अत्यन्त मधुर-कोमल होते थे; किन्तु धार्मिक विश्वासों के स्तर पर उनका दृष्टिकोण बड़ा कट्टर था। सभी धर्म-प्रचारकों के समान इनका भी यही विश्वास था कि ईसा-मसीह के धर्म में दीक्षित होने से ही मानव की मुक्ति सम्भव है। हमारे छात्रावास—लॉयड होस्टल—के अधीक्षक रेवरेंड मिलफ़र्ड भी इसी प्रकार के धर्मप्राण प्राध्यापक थे। उनकी मुझ पर कृपा थी और उनके स्नेहानुरोध पर मैं कभी-कभी उनके घर जाया करता था। बी० ए० फ़ाइनल की त्रैमासिक परीक्षा के लिए उचित तैयारी न होने के कारण एक दिन मैं उनके पास गया और निवेदन किया कि मेरी मनोदशा अस्त-व्यस्त है, अत: मैं परीक्षा से मुक्ति के लिए आवेदन-पत्र देना चाहता हूं। मिलफ़र्ड साहब गम्भीर हो गये; तुरन्त सीने पर हाथ रखा और मुझे सामने खड़ा कर अतर्क्य विश्वास के साथ मेरी मन:शान्ति के लिए प्रभु ईसा से प्रार्थना करने लगे। आर्यसमाजी संस्कारों के कारण इस प्रकार के उपचार में मेरा कोई विश्वास नहीं था—और फिर मेरी समस्या का समाधान ईसा मसीह की अपेक्षा मिलफ़र्ड साहब की कृपा पर अधिक निर्भर करता था; अत: मैं निराश होकर ही लौटा। महाजन साहब का इन सब बातों में विश्वास नहीं था। उनका दृष्टिकोण एक प्रकार से धर्म-निरपेक्ष ही था। अपनी आस्था और इच्छा के प्रतिकूल गिरजाघर जाना भी उनको रुचिकर नहीं था। जीवन-क्रम भिन्न होने के कारण वे देर से सोते थे और देर से उठते थे, इसलिए भी उन्हें प्रात:काल गिरजाघर पहुँचने में कष्ट होता था। कुछ वर्षों तक तो शायद उन्होंने रीति-निर्वाह का प्रयत्न किया, पर बाद में इस उपचार से एकदम मुक्त हो गये। उनका यह व्यवहार स्वभावत: मसीही अधिकारियों को अत्यन्त अप्रिय था और उनके विरुद्ध इसे लेकर काफ़ी प्रचार भी किया गया। परन्तु, तब तक उनका प्रभाव इतना व्यापक हो गया था कि वे कॉलेज के आश्रित नहीं रहे थे वरन् कॉलेज ही उन पर आश्रित हो गया था। यह कटुता बढ़ती गयी और अन्त में ईसाई धर्म से ही उन्हें वितृष्णा हो गयी। सुनते हैं—शायद धर्म-परिवर्तन किये बिना ही वे अपने रिक्थ-पत्र में यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिख गये थे कि उनका अन्तिम संस्कार हिन्दू-रीति से किया जाए।

इस विचित्र घटना के विषय में तीन प्रवाद प्रचलित हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि अपने हिन्दू दत्तक पुत्र के प्रेम के कारण वे हिन्दू हो गये थे। महाजन साहब ने उनका विवाह शुद्ध हिन्दू-पद्धति से कराया था—जिस समय वे तिलक लगाकर वेदी पर बैठे थे तो मित्रों को कुतूहल हुआ था और आलोचकों को उनकी अधार्मिकता का एक और प्रमाण मिल गया था। दूसरा मत यह है कि विधिवत् धर्म-परिवर्तन उन्होंने नहीं किया था, किन्तु अपने इस नये हिन्दू-परिवार की सुविधा की दृष्टि से वे इस प्रकार की वसीयत कर गये थे। तीसरा अनुमान यह भी है कि अपने स्वधर्मियों की आलोचना से रुष्ट होकर धर्म-परिवर्तन किये बिना ही वे दाहकर्म के लिए लिख गये थे। मैं जितना उनको समझ पाया हूं, उसके आधार पर मेरी धारणा दूसरे विकल्प के पक्ष में ही है—जिसमें तीसरे विकल्प का भी अन्तर्वेश किया जा सकता है। वास्तव में, उनका दृष्टिकोण अन्त तक धर्म-निरपेक्ष ही बना रहा, अतः यह कल्पना संगत नहीं है कि उन्होंने किसी भी कारण से धर्म-परिवर्तन किया था : जिसकी धर्म में ही कोई विशेष रुचि न हो वह एक धर्म और दूसरे में क्यों भेद करेगा—या यह क्यों मानेगा कि शरीर की मुक्ति के लिए दाहकर्म श्रेयस्कर है?

महाजन साहब के व्यक्तित्व में रागतत्त्व प्रधान था—बाहर से वे जितने कठोर और अनुशासन-प्रिय लगते थे, मन से वे उतने ही भाव-प्रवण थे। अध्यापक-जीवन में वे अत्यन्त शिष्य-वत्सल थे। विद्यार्थी उनके सामने नहीं पड़ते थे—पेशी होने पर बड़े-बड़े दुस्साहसी भी एक बार काँप जाते थे। परन्तु, उनके सम्पर्क में आने पर एक सुखद अनुभव होता था।—वे बहुत कम बात करते थे, प्रायः सुनते ही रहते थे। किन्तु उनके दो-एक वाक्य भी अत्यन्त सार्थक होते थे जिनसे विद्यार्थी अनायास ही आश्वस्त हो जाता था। विद्यार्थी की कठिनाइयों को वे दूर करने का प्रयत्न करते थे और कुछ-एक निर्धन युवकों को आर्थिक सहायता भी देते थे। उनके विषय में यह प्रसिद्ध था कि किसी भी प्रार्थी को नकारात्मक उत्तर देने में उन्हें कठिनाई होती थी—और यह बात ठीक थी। प्रार्थी के कष्ट को सुनकर कभी-कभी वे नियम की भी परवाह नहीं करते थे—उनकी यह कमज़ोरी ज़ाहिर हो गयी थी जिसका दुरुपयोग होता था और आलोचना भी। वास्तव में कठिन मुद्रा या अनुशासन की भंगिमा उनके लिए एक प्रकार का कवच थी जिसके भीतर वे मन के तारल्य को समाहित रखने का प्रयत्न करते रहते थे।

उनका जीवन एकाकी था। आरम्भ में शायद पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता से प्रभावित होकर उन्होंने अविवाहित रहकर स्वतन्त्र जीवन बिताने का निश्चय कर लिया था। उस समय शिक्षित वर्ग में यह प्रवृत्ति बढ़ रही थी। दूसरे—विशेषकर अपने किसी श्रद्धास्पद व्यक्ति—के अन्तरंग जीवन पर टिप्पणी करना अनधिकार चेष्टा है—फिर भी, प्रस्तुत प्रसंग में मैं यह कहने का लोभ-संवरण नहीं कर सकता कि यह निश्चय बड़ा ग़लत सिद्ध हुआ क्योंकि यह उनके स्वभाव के प्रतिकूल पड़ा। युवावस्था तो अधिकार और ऐश्वर्य के नशे में कट गयी पर प्रौढ़ि में प्रवेश करते-करते अभुक्त राग की धाराएं एकाकी मन के बांध को काटने लगीं। भाई के परिवार का सहारा लिया, पर उनकी अकाल मृत्यु सूनेपन में विषाद भरकर एकाकीपन को और भी दूभर कर गयी। उम्र के साथ रागात्मक सम्बल की आवश्यकता भी बढ़ने लगी और उसकी परिणति हुई दत्तक-ग्रहण में। परिवार के जिस दायित्व से बचने के लिए उन्होंने एकाकी जीवन का वरण किया था, वृद्धावस्था में पहुँचकर उसे ही विवश होकर—अस्वाभाविक रीति से—अंगीकार करना पड़ा! यह एक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विडम्बना ही थी, पर रागी मन के लिए यह विडम्बना प्रायः अनिवार्य हो जाती है।

आगरा छोड़ने के बाद भी महाजन साहब से मेरा सम्पर्क बराबर बना रहा। शोध-कार्य के दिनों में उनका प्रोत्साहन और सहानुभूति मुझे सहज प्राप्त थे। उसके बाद जब मैं आकाशवाणी से दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में आ गया, तब तो यह सम्पर्क और भी बढ़ गया। आगरा विश्वविद्यालय की शोध-समिति में पहले कला-संकाय के अधिष्ठाता (डीन) होने के नाते वे भाग लेते थे——फिर उपकुलपति बन जाने पर उनके निर्देशन की परिधि और विस्तृत हो गयी थी। वे कभी-कभी अलग बुलाकर शोध के स्तर आदि के विषय में मुझे संकेत कर दिया करते थे और कह देते थे कि अब वे इस विषय में आश्वस्त हैं। उनके इसी विश्वास की रक्षा के लिए मैं भी, जब तक वे विश्वविद्यालय में रहे, शोध-समिति की हरेक बैठक में भाग लेता रहा। आगरा से फिर वे केन्द्रीय लोक-सेवा-आयोग के सदस्य होकर दिल्ली में आ गये जहां सलाहकार के रूप में मैं अकसर जाया करता था। आयोग की उन बैठकों में, जिनकी वे अध्यक्षता करते थे, उनके प्रति सहज सम्मान के कारण, अपने विचारों की अभिव्यक्ति में मुझे अतिरिक्त संयम से काम लेना पड़ता था। एक दिन एक सहयोगी सदस्य ने ज्यों ही महाजन साहब से मेरा परिचय कराने का उपक्रम किया, मेरे मुँह से अनायास ही निकल गया : "ये तो मेरे गुरु हैं; पूरे चार वर्ष तक इनके चरणों में बैठकर मैंने विद्यार्जन किया है।" इस पर वे हँसकर बोले : "यह पुरानी चाल का लड़का है, आज का विद्यार्थी होता तो कहता कि मैंने इनके सिर पर बैठकर विद्याध्ययन किया है।" इसी प्रकार, एक दिन किसी अन्य अतिथि-सदस्य ने बड़े ही जिज्ञासु भाव से पूछा : "इस आयोग में डॉ० महाजनि भी तो हैं——महाजन और महाजनि में क्या भेद है ?" इन सज्जन का विचार था कि शायद महाजन साहब उनके प्रश्न का कोई भाषावैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्रीय समाधान प्रस्तुत करेंगे। परन्तु महाजन साहब ने बड़े ही सहज भाव से उत्तर दिया : "केवल एक मात्रा का।" यह वाक्य एक ओर जहां उस विनोद-वृत्ति का परिचायक था जो उनकी गम्भीर मुद्रा में प्रायः दबी रहती थी, वहां जाति, वर्ण आदि के प्रति उनके उपेक्षा-भाव को भी व्यक्त करता था। तथ्य शायद यह है कि महाजन और महाजनि शब्दों का मूल एक है और डॉ० महाजनि की भाँति महाजन साहब भी मूलतः महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ही थे। परन्तु जाति, गोत्र आदि के विषय में इस प्रकार की उधेड़-बुन उन्हें सर्वथा अरुचिकर थी——यद्यपि उनके कुछ सहयोगियों के विचार में महाजन साहब के ब्राह्मण-संस्कार इतने प्रबल थे कि विद्यार्थी एक बार चरणस्पर्श कर किसी भी अपराध के लिए अभयदान पा जाता था।

दिल्ली में महाजन साहब के अनेक विद्यार्थी अच्छे-अच्छे पदों पर थे। उनके लोकसेवा आयोग में आते ही सेंट जॉन्स के पूर्व-छात्रों का संघ बनाने का प्रस्ताव हुआ——शायद महाजन साहब के स्वागत में समारोह भी हुआ था। पर यह क्रम चला नहीं; दिल्ली के व्यस्त जीवन में इनके लिए कम ही गुंजाइश रहती है। आयोग से अवकाश ग्रहण करने पर भी महाजन साहब के सम्मान में विदा-समारोह नहीं हुआ——कम-से-कम मुझे कोई सूचना नहीं मिली। महीनों बाद मालूम हुआ कि वे दिल्ली से चले गये हैं। पूछने पर किसी ने कहा कि अपने दत्तक पुत्र के पास चण्डीगढ़ में हैं। फिर सुना कि अब वे आगरा में ही अपने मकान में एकाकी जीवन बिता रहे हैं——वही चिर-एकाकी जीवन जिसकी रिक्तता को भरने का अपनी आयु के उत्तरार्ध में वे निरन्तर विफल प्रयत्न करते रहे थे। सोचा कि कभी आगरा जाकर उनसे मिलूंगा। पर वह सुयोग नहीं आया और एक दिन अखबार में पढ़ा——"प्रो० महाजन का निधन : हृदय की गति सहसा बन्द

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हो गयी।" मन एक विचित्र करुणा और विषाद से भर आया। अभी कुछ दिन पहले आगरा की एक गोष्ठी में उनकी चर्चा छिड़ गयी। मेरे प्रश्न के उत्तर में एक मित्र ने गम्भीर होकर कहा—"कैसा आदमी था और कैसी असहाय मौत मरा ?" दूसरे की आँखें चमक उठीं, बोले : "कितनी ईर्ष्यास्पद थी उनकी मृत्यु—दो मिनट में, बिना किसी रोग-शोक के आत्मा मुक्त हो गयी। किसी का आसरा नहीं लिया।"

शायद, ये दोनों ही बातें ठीक थीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बीबी

(स्वर्गीया बहन होमवती देवी)

१ फ़रवरी को मेरठ से तार आया : होमवतीजी की स्थिति असाध्य हो गयी है और कई मित्रों के साथ मुझे भी बुलाया है। बीबी का स्वास्थ्य काफ़ी दिनों से खराब था, पर असाध्य स्थिति की कल्पना मैंने नहीं की थी। पिछले दो-एक वर्ष से उनकी बातचीत और पत्र आदि में इस दुर्घटना का बार-बार आभास मिलता था, पर मन अनिष्ट की अप्रिय कल्पना से सदा बचनेका प्रयत्न किया करता है, और मैंने कभी इस शंका को बद्धमूल नहीं होने दिया। फिर भी अनिष्ट हो ही गया। २ और ३ के बीच की रात को बीबी इस संसार से चली गयीं और हम लोग उनका शव उठ जाने के लगभग पन्द्रह-बीस मिनट बाद 'पर्णकुटी' पहुँचे। बीबी के बिना पर्णकुटी की कल्पना मेरे लिए संभव नहीं थी। उनका वह कमरा, जहां जीवन की वे एकान्त साधिका सोती-बैठती थीं, उनका पूजा-गृह, जहां वे तल्लीन होकर भगवान कृष्ण की मूर्ति और उनके पास रखे हुए डॉक्टर साहब के चित्र की एक भाव से आराधना किया करती थीं, उनका वह रसोईघर, जहां वे साक्षात् अन्नपूर्णा के सदृश स्वयं बैठकर अपने बन्धु-बान्धवों के लिए रसोई का प्रबन्ध करती थीं, उनका वह बड़ा कमरा, जो अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन-स्थान रह चुका था—सभी जैसे उनके व्यक्तित्व से आपूर्ण थे। मैं घर के भीतर जान-बूझकर नहीं गया, जा ही नहीं सकता था। बीबी को क्या कभी सह्य था कि मैं आकर थोड़ी देर भी बाहर खड़ा रहूं! बीबी तुरन्त ही बाहर आकर अन्दर बुला ले जाती थीं—क्या परदेशी की तरह यहीं खड़े रहोगे? तुम्हारे स्वागत के लिए भी बाहर आना पड़ेगा? आज बीबी नहीं आयीं। आज वे मुझसे नाराज़ हो गयी थीं! मैं कितनी देर में पहुँचा था! पन्द्रह-बीस मिनट का अन्तर! यह पन्द्रह-बीस मिनट का अन्तर एक संसार और दूसरे संसार के बीच का अन्तर था, जीवन के प्रकाश और मृत्यु के अन्धकार के बीच का दुर्लंघ्य अन्तर था! मेरा मन एक घोर विषाद से भर गया। मैं चलते समय बीबी के चरणों का स्पर्श भी न कर पाया! क्या वे मुझे क्षमा कर देंगी? इस ग्लानि को लेकर मैं दिल्ली लौट आया। एक-एक करके अनेक स्निग्ध-दग्ध चित्र मेरे मन की आँखों के आगे घूम गये।

मैंने बीबी को आज से बारह-तेरह वर्ष पूर्व मेरठ के एक कवि-सम्मेलन में देखा था; देखा भी शायद अच्छी तरह नहीं था। उनकी एक कविता भाई कृष्णचन्द्र ने पढ़कर सुनाई थी। उसी समय मैंने महिला-कक्ष की ओर दृष्टि डाली भी; परन्तु उस समय मेरे मन में एक कवयित्री के स्वरूप की जो धारणा थी, उसके अनुकूल उन महिलाओं में कोई नहीं थी। इसके उपरान्त दूसरी बार मेरठ की ही कवि-गोष्ठी में उनसे साक्षात्कार हुआ। मैं कॉलेज से तभी बाहर आया था, और दिल्ली में आकर अध्यापक हुआ था। अंगरेज़ी की रोमाण्टिक कविता और हिन्दी के छायावाद

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के रंग में रँगा हुआ था। अतएव कवि के व्यक्तित्व का भी मेरे मन में एक अत्यन्त कल्पनामय चित्र था, कवयित्री की तो बात ही क्या थी! बीबी में वैसा कुछ नहीं था; पश्चिमी उत्तरप्रदेश की सद्गृहस्थ हिन्दू महिला-मूर्ति, एकान्त गार्हस्थिक—जिस प्रकार की महिला-मूर्तियों से मैं अतरौली (अपनी जन्मभूमि) में अपने परिवार में बाल्यकाल से ही परिचित था। अर्थात् मेरे मन के कल्पित कवि या कवयित्री के बाह्य अलंकार का, शरीर, वेशभूषा, रहन-सहन, बोलचाल आदि का बीबी में सर्वथा अभाव था, गहरे रंग का साधारण बिचौला शरीर, नियमित रूप से सिर पर से ओढ़ी हुई मामूली सफ़ेद धोती और उसके ऊपर उत्तरप्रदेश की सवर्ण स्त्रियों की वस्त्रभूषा का अनिवार्य अंग चादर, उज्ज्वल ललाट और उसके नीचे चिर-ममत्व से स्निग्ध आँखें, दुःख ने जिन्हें एक चिरन्तन करुणार्द्र ज्योति प्रदान कर दी थी, और उधर जीवन का व्यावहारिक संघर्ष जिनमें एक संकल्पमय स्थिरता छोड़ गया था—यह है संक्षेप में बीबी का चित्र, जो मेरे मन पर आज भी वैसा ही गहरा अंकित है, जैसा कि पहली भेंट के दिन था। इस चित्र में कुछ ऐसी स्थिरता थी; जो आयु और स्वास्थ्य के परिवर्तन को चुनौती देती हुई सदा एक-रस रही और जीवन-पर्यन्त रहेगी।

बीबी के साथ मैं लगातार काफ़ी दिनों तक कभी नहीं रहा; परन्तु हमारे संसर्ग में विस्तार न होकर, घनता थी। दो-एक दिन जितने समय भी मेरठ रहता, पूरे समय उन्हीं के पास रहता, और कहीं नहीं जाता था। यदि किसी कार्यवश जाता भी तो बीबी को अच्छा नहीं लगता था, और वे कहतीं : तुम न जाने किस चक्कर में घूम रहे हो भैया, बीबी के पास तो नाम करने आये हो। दो-एक बार के इस उपालम्भ का परिणाम यह हुआ कि मैं जब उनके पास जाता था तो और सभी काम-काज, मिला-भेंटी से मुक्त होकर ही जाता था। इस एकाध दिन में बीबी को घर-बाहर की अनेक बातों की तफ़सील देनी होती थी, अनेक उपदेश ग्रहण करने होते थे, एकाध बार भर्त्सना की भी नौबत आ जाती थी। इन बातों में बीबी का दृष्टिकोण इतना हार्दिक और उन्मुक्त रहता था कि प्रयत्न करने पर भी कुछ छिपाने की सम्भावना नहीं थी। उस तरफ़ दुराव-छिपाव का इतना पूर्ण त्याग था कि मेरी तरफ़ से भी किसी प्रकार के दुराव-छिपाव की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। इस बातचीत का कोई क्रम नहीं था। इसमें पढ़ाई-लिखाई, साहित्य-चर्चा से लेकर मेरी और उनकी घर-गृहस्थी की समस्याएं, नौकरी और आय से लेकर जीवन-दर्शन के अनेक पहलू, नित्यप्रति के खाने-पीने की बात से लगाकर अंतरंग मित्रों और परिचितों की कड़वी-मीठी चर्चा तक न जाने क्या-क्या आ जाता था। एकाध दिन रहकर जब मैं चलने लगता, और कुछ तो गाड़ी छूट जाने के डर से और कुछ आदत से मजबूर होकर हड़बड़ी करता तो वे सदा यह वाक्य कहा करती थीं—मैं तभी तो तुमसे कहूं हूं कि एकाध महीना मेरे पास आकर रह जाओ; तुम्हारी ये सारी हड़बड़ी की आदतें ठीक हो जाएंगी। यह सुनकर किशन [भाई कृष्णचन्द्र] और रामअवतार, जैसे किसी पूर्व-निर्णीत तथ्य का संकेत करके हँस देते।

बीबी के चरित्र की प्रमुख विशेषता स्पष्टतः ही उनकी स्नेहशीलता थी। यह एक ऐसा प्रत्यक्ष और सहज गुण था कि उनके साथ एक बार का ही सम्पर्क व्यक्ति के मन पर गहरा प्रभाव छोड़ जाता था और कहीं बाहर भेंट करने वाला व्यक्ति उनसे घर पर मिलने के लिए और घर पर मिलने वाला व्यक्ति उनके साथ एक-दो दिन रहने के लिए लालायित हो उठता था। अपने समवयस्क और छोटों को वे अनायास ही भैया शब्द से सम्बोधित कर उठती थीं। यह उनका स्वभाव बन गया था; उनको इसके प्रयोग के लिए पात्र-अपात्र, परिचित-अपरिचित का भेद नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करना पड़ता था। उनका यह सहज सिद्धान्त था [जिसे जहां तक मुझे स्मरण है, उन्होंने कभी भी दार्शनिक रूप में व्यक्त नहीं किया] कि इस जीवन में जो भी मिले, उसे सहज आत्मीयता का भागीदार बनाना श्रेयस्कर ही होता है। अतएव उनसे भेंट करने वाला कोई भी व्यक्ति सहज ही उनकी आत्मीयता का अधिकारी, बहुत-कुछ हद तक 'भैया'—बन जाता था, यद्यपि उनकी प्रतिक्रियाएं सदैव ही अत्यन्त प्रबल होती थीं और बाद में अनुकूल-प्रतिकूल, अपने-पराये का निर्णय करने में उन्हें देर नहीं लगती थी। परन्तु उनकी पहली प्रतिक्रिया अनिवार्य रूप से आत्मीयता की होती थी। यह विशेषता निस्संदेह ही सहज मानव-गुण पर आधृत है; और इसमें सन्देह नहीं कि होमवतीजी के व्यक्तित्व का मूलाधार यही सहज मानव-गुण था। परन्तु इसके आगे यह कहना ठीक नहीं होगा [जैसा कि श्री वात्स्यायन ने लिखा है] कि उनका स्नेह अपने सहज रूप में शुद्ध मानव-स्नेह था, जो व्यक्ति और परिवार-सम्बन्ध आदि की सीमा से मुक्त था।

उनके स्नेह में अत्यन्त प्रबल वैयक्तिकता थी। जिसकी आत्मीयता में उन्हें विश्वास हो जाता था, उसको बीबी का स्नेह चारों ओर से घेर लेता था। उनका स्नेह वृक्ष की छाया नहीं था, जिसके नीचे कुछ देर तक विश्राम करके आप अपना रास्ता लें। उसकी उपमा एक पुराने हिन्दू-परिवार के घर से दी जा सकती है, जिसमें आप पूर्ण प्राचुर्य और ममत्व का उपभोग करते हुए रहें; और यदि बाहर जाएं तो आज्ञा लेकर जाएं। उनका यह स्नेह-आग्रह स्वार्थ, ईर्ष्या-द्वेष आदि से सर्वथा मुक्त था, परन्तु उनके स्नेह का यह स्वभाव था कि किसी प्रकार प्रतिदान न चाहते हुए भी अपने अधिकार में किसी प्रकार की बाधा सहन नहीं कर सकता था। मुझे इस प्रसंग में एक घटना का स्मरण है। मेरठ में साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर मैं वहीं ठहरा था। मेरी एक महिला-मित्र ने कुछ साहित्यकार बन्धुओं को अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रित किया था। उनका अनुरोध था कि मैं भी अवश्य आऊं, और मेरी भी इच्छा थी ही। परन्तु बीबी की अनुमति कैसे ली जाए! मैंने उस महिला से कहा कि आप ही कहिए। उन बेचारी ने सानुनय बीबी से मेरे लिए अनुमति माँगी। परन्तु बीबी ने तुरन्त ही उन्हें कोरा जवाब दे दिया—'ना बीबी, यहां तो ये कभी-कभी एकाध दिन के लिए आते हैं, इन्हें यहीं रहने दो।' और मेरी ओर एक कठोर दृष्टि डालते हुए कहा—'बाकी इनसे पूछ लो, ये चाहते हों तो चले जाएं।' मेरे जाने का सवाल ही नहीं था। जब वे महिला जाने लगीं तो मैं कुछ दूर तक उनके साथ गया और अत्यन्त प्रार्थी स्वर में उनसे क्षमा माँगने लगा। उन्होंने कहा, 'यह तो कोई बात नहीं है; पर मुझे आश्चर्य होता है कि आप यहां रह कैसे लेते हैं? मेरा तो दम घुटने लगता है! मुझे तो ऐसा लगता है कि इनके साथ अपने व्यक्तित्व का लोप करके ही रहा जा सकता है।' इस हद तक तो नहीं, पर बात कुछ-कुछ ऐसी अवश्य थी। मैंने कहा : हां, इनका स्नेह इतना आग्रही है कि उसके साथ प्रतिवाद या प्रतिरोध करके चला नहीं जा सकता। पहले तो मुझे भी यह व्यवहार बहुत अखरता था और मैं कभी व्यक्त रूप से और कभी वैसे ही बच निकलता था, परन्तु एक विशिष्ट घटना ने मुझे सर्वथा निरस्त्र कर दिया। वह घटना इस प्रकार है : हिन्दी साहित्य परिषद्, मेरठ, का पिछला अधिवेशन समाप्त हो जाने पर उसमें पढ़े गये निबन्धों के प्रकाशन की व्यवस्था की गयी। इस अधिवेशन का व्यवस्था-भार बीबी ने मेरे ही ऊपर डाल दिया था। निदान इस संग्रह के सम्पादन आदि का कार्य भी मुझे ही सौंपा गया। कार्य जब लगभग समाप्त हो चुका था, तो किसी बात पर भाई कृष्णचन्द्र और मुझमें थोड़ी ग़लतफ़हमी हो गयी। बीबी इस बीच में पड़ीं; पर उन्हें भी शायद वही भ्रम हुआ और उन्होंने अपने पत्र में मेरे ऊपर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कुछ हल्के-से व्यंग्य कस दिये। वैसे, कोई विशेष बात नहीं थी, पर उस प्रसंग में मुझे यह बहुत बुरा लगा; क्योंकि उन्होंने और कृष्णचन्द्र दोनों ने मेरा आशय ग़लत समझा था और वे उलटे मुझ पर ही व्यंग्य कस रहे थे। अतएव मैंने भी उसका कठोर-सा उत्तर उन्हें लिख दिया। मेरे इस निर्मम उत्तर ने बीबी के मन की वेदना को गहरे में जाकर छू दिया और उन्होंने एक लम्बा पत्र मुझे लिखा जिसकी मार्मिकता शब्दातीत थी। साहित्य और जीवन के बहुत ही कम पत्र ऐसे हैं जिनका मेरे मन पर उतना गहरा प्रभाव पड़ा हो। उस पत्र ने मुझे सर्वथा निरस्त्र कर दिया, और मैं, बौद्धिक दृष्टि से अपने को निर्दोष मानता हुआ भी, एक विचित्र ग्लानि का अनुभव करने लगा। अंत में, अपने पक्ष का पूर्ण समर्पण कर पत्र द्वारा चरणस्पर्श-पूर्वक क्षमा-याचना करके ही मैं उस ग्लानि से मुक्त हो सका। उस घटना के बाद मैं उनका प्रतिवाद नहीं करता था। सोचता : दो-एक दिन तो उनके पास रहना ही होता है, उसमें भी क्यों व्यर्थ ही प्रतिवाद किया जाए!

यह बीबी के व्यक्तित्व का एक पक्ष था। हृदय-पक्ष के साथ उनका विवेक-पक्ष भी अत्यन्त पुष्ट था। वे बौद्धिक नहीं थीं; वर्तमान युग की बौद्धिकता से उन्हें घृणा थी। जीवन के किसी भी क्षेत्र में संस्कार की अवहेलना उन्हें अप्रिय थी, और आधुनिक बौद्धिकता में प्रायः संस्कार का निषेध ही रहता है। वे परिवार में, और परिवार से बाहर समाज में, सर्वत्र मर्यादा की क़ायल थीं। गहरी चारित्रिक मर्यादा के अतिरिक्त व्यावहारिक मर्यादा के प्रति भी उन्हें उतना ही आग्रह था। लड़कियों को सिर उघाड़े देखकर वे प्रायः खीझ उठती थीं। चापल्य के प्रति वे कठोर थीं और उसकी भर्त्सना में कभी-कभी अत्यन्त निर्मम हो जाती थीं। इसी प्रकार प्रदर्शन और दम्भ उन्हें असह्य था। दम्भ के साथ उनका निर्वाह एक दिन भी सम्भव नहीं था। उनके साथ हार्दिकता के स्तर पर ही मिला जा सकता था। जीवन के तीव्र अनुभवों ने उनकी प्रतिभा को माँज दिया था और उन्हें समझने और परखने की विचित्र शक्ति प्राप्त हो गयी थी। व्यक्ति और स्थिति को समझने में उन्हें देर नहीं लगती थी। इसीलिए क्या गृहस्थ के छोटे आंगन में, और क्या समाज के विस्तृत क्षेत्र में, वे अद्भुत आत्म-विश्वास और कुशलता के साथ व्यवहार करती थीं। अपने गृहस्थ का सारा प्रबन्ध अंत तक उनके ही हाथ में पूरी तरह रहा और, विवरण में जाने की आवश्यकता नहीं, जिस दक्षता से वे अन्त तक सीमित आय में परिवार की गरिमा बनाये रहीं, उसको देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता था। उनकी व्यवस्था में अद्भुत क्रम और स्वच्छता थी, अपने विवेक की सहायता से वे किसी भी कार्यक्रम की एक अत्यन्त स्वच्छ रूपरेखा निश्चित कर लेती थीं और अपनी इच्छा-शक्ति एवं आत्म-विश्वास से उसके परिपालन पर वे अधिकतर नियन्त्रण रखती थीं। गार्हस्थिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में उनकी प्रबन्ध-पटुता का यही रहस्य था।

राग-विराग का यही सम्बल और उससे निर्मित इन्हीं जीवन-तत्त्वों को लेकर उन्होंने साहित्य में प्रवेश किया था। उच्च मध्य-वर्ग की गार्हस्थिक गरिमा और संस्कार, भाग्य की विडम्बना और उससे उद्भूत जीवन-व्यापी पीड़ा, अतिशय द्रवणशीलता तथा ममत्व, जीवन के तीव्र अनुभव और उनसे प्राप्त स्थिर विवेक तथा व्यक्ति और स्थिति को परखने वाली आत्म-विश्वासमयी दृष्टि—बीबी के व्यक्तित्व के ये ही मूल तत्त्व थे। वे बहुत अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थीं, हिन्दी के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा का ज्ञान उन्हें नहीं था, और आधुनिक अर्थ में उन्हें विदुषी नहीं कहा जा सकता था; पर इस कारण न तो उन्होंने किसी हीन भाव का अनुभव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किया और न इस अभाव को कभी अपनी आत्माभिव्यक्ति में बाधक ही होने दिया। वैसे उन्होंने काफ़ी स्वाध्याय किया था; हिन्दी कथा-साहित्य और काव्य का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। उनकी अपनी चेतना का धरातल गार्हस्थिक ही था; पर वे सामाजिक और थोड़ी-बहुत राजनीतिक समस्याओं को अच्छी तरह समझती थीं, और इन विषयों पर उनकी प्रतिक्रिया काफ़ी जीवन्त होती थी, क्योंकि वह पुस्तक-ज्ञान से नहीं, जीवनानुभूति से प्रेरित रहती थी। मनोविज्ञान की सिद्धान्त-चर्चा में उन्हें बड़ी रुचि थी; मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों और उनकी सिद्धान्त-शृंखलाओं से अनभिज्ञ होती हुई भी वे मनोविज्ञान के मूल सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझती थीं। उपर्युक्त गुणों के कारण ही उनकी कुछ कहानियां बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। जटिलताओं से मुक्त उनका ऋजु-सरल मनोविज्ञान, जो तीव्र अनुभूति से प्रेरित और स्वच्छ विवेक से नियन्त्रित है, किसके मन पर सहज प्रभाव नहीं डालता!

आज बीबी केवल कीर्ति-शेष हैं। इस लेख को लिखते-लिखते अनेक बार उनकी वह स्नेहार्द्र मुद्रा मेरे सामने आ खड़ी हुई है और मेरे लिए लिखना कठिन हो गया है। वे न जाने कहां होंगी, कौन बता सकता है! फिर भी मेरा स्नेहविश्वासी मन कहता है कि वे कहीं भी हों, अपने स्नेह-भाजनों की अश्रुपूर्ण श्रद्धांजलि को अस्वीकार नहीं करेंगी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन

मुझ-जैसे लेखक का, जिसने राजकीय सेवा के अनेक प्रलोभनों को छोड़ साग्रह अध्यापकीय वृत्ति ग्रहण की है, इस विषय में दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। आज से लगभग सात वर्ष पूर्व आकाशवाणी में नियुक्ति के समय, उज्ज्वल भविष्य का आकर्षण होते हुए भी, मेरा मन एक विचित्र शंका से उद्विग्न हो उठा था : साहित्यिक कार्य वहां कैसे निभेगा! एम० ए० पास करने के उपरांत अपनी अकिंचन शक्ति के अनुसार सीमित परिधि के भीतर जिस साहित्य की साधना मैं इतने मनोयोग तथा अध्यवसाय के साथ कर रहा था—जिससे समर्थ राष्ट्रभाषा की सेवा चाहे हुई हो या न हुई हो, पर आत्म-कल्याण अवश्य हुआ था—उसका मोह मुझे आर्थिक प्रलोभनों की अपेक्षा कम नहीं था। परन्तु जिन गुण-ग्राहक अधिकारी ने आग्रहपूर्वक मेरी सभी शर्तों को क्रमशः स्वीकार करते हुए मुझे अपने कृपा-भाव से लाचार कर दिया था, उन्होंने मुझे यह आश्वासन भी दिया कि यहां तुम्हारी साहित्य-साधना में कोई बाधा न पड़ेगी; मैं तो इसको प्रोत्साहित करता हूं। इस आश्वासन का अवलम्ब लेकर मैं राजकीय सेवा में प्रविष्ट हुआ। आकाशवाणी का वातावरण अधिक अनुकूल नहीं था। मुझे जो काम सौंपा गया वह असाहित्यिक नहीं था; वह भी राष्ट्रीय महत्त्व का रचनात्मक कार्य था। परन्तु रचनात्मक साहित्य और सृजनात्मक साहित्य में अन्तर है। रचना अथवा निर्माण एक योजना-बद्ध, बुद्धि-सम्मत प्रक्रिया है जिसके पीछे बहिर्मुखी वृत्ति की प्रेरणा रहती है; सृजन आत्म-साक्षात्कार के क्षणों की अनिवार्य प्रक्रिया है जिसमें वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। निर्माण का लक्ष्य है कल्याण; सृजन का लक्ष्य है आनन्द। आप इसे दोष मानिए या गुण, मेरी अंतर्मुखी प्रकृति आनन्द से बढ़कर आत्म-कल्याण अथवा लोक-कल्याण की कल्पना करने में असमर्थ है। वैसे अपने नये जीवन-क्रम में राष्ट्र-सेवा अथवा लोक-सेवा के महदनुष्ठान से कुछ समय बचाकर मैंने नैतिक संकल्प के साथ साहित्य-साधना आरम्भ कर दी थी और सरस्वती सर्वथा मूक नहीं हुई थी; फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि दफ़्तरी शिकंजे में मेरी अंतर्वृत्तियां कसती जा रही हैं और लीक पर पड़ा हुआ जीवन तेली का बैल बनता जा रहा है। तत्त्व-दृष्टि से मेरा दायित्व था, रेडियो की भाषा का निर्माण। यह काम अपने-आप में बहुत बड़ा था और मैं पहले दो-तीन वर्षों तक अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा बौद्धिक साधनों के साथ उर्दू-निष्ठ हिन्दुस्तानी को हिन्दी-रूप देने में जुटा रहा। यह भी एक विचित्र अनुभव था; उसकी अनेक स्मृतियां मेरे मन में आज गुदगुदी उत्पन्न कर देती हैं। रेडियो की भाषा का वह ब्रह्म-सूत्र 'सर्वाधिक सुबोधता' (Maximum intelligibility) जिसमें शब्द की अभिधा-शक्ति निःशेष हो चुकी थी, और शुद्ध व्यंजना-मात्र रह गयी थी, सभी अपने मतानुकूल जिसका अर्थ कर सकते थे, उस समय मेरे लिए दृष्टकूट से भी अधिक था। कुछ समय तक इसकी उत्तेजना रही, परन्तु धीरे-धीरे वह भी समाप्त हो गयी, और शेष रह गया अनुवाद-कार्य का निरीक्षण। यह अनुवाद खण्ड-खण्ड होकर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मेरे सामने आता था। मंत्रिमंडल के सदस्यों और विशेषकर प्रधान मंत्री आदि के राजनीतिक भाषणादि होने पर समाचार-कक्ष में एक अजीब हलचल या भगदड़-सी मच जाती थी; देवताओं को भी आकाशवाणी के स्वर्ग-खण्ड से उतरकर स्टूडियो के पाताल-खण्ड में आना पड़ता था। उस समय काली पंक्तियों से अंकित सफ़ेद कागज़ की ये धज्जियां केंचुल-वेष्टित सर्पों के समान फुंकारने लगती थीं। इसके बाद मैं सोचता, आख़िर इस स्नायविक उत्तेजना से क्या लाभ! मैंने काव्यशास्त्र में पढ़ा था कि वासना-रूप स्थायी भाव की चरम उत्तेजना ही रस है। परन्तु आप विश्वास कीजिए, यह उत्तेजना रस नहीं थी; भरत से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक इसका उल्लेख नहीं था। रात को कभी-कभी इस दौड़-धूप के सपने भी आते थे, और अत्यन्त क्षुब्ध होकर मैं देखता कि महाजन ने अनुवाद तो ठीक किया था पर 'स्टैण्ड-बाई' से क्रम-संख्या लगाने में भूल हो गयी और देवकीनन्दन पांडे की स्फीत वाग्धारा में उस महत्त्वपूर्ण वक्तव्य का वह छोटा-सा टुकड़ा तिनके के समान वैसे ही बहता चला गया। सुस्थिर होकर मैं रसवती भूमिका की उस पर-प्रत्यक्ष स्थिति का ध्यान करता जहां वस्तु, संबंधी और संबंध का ज्ञान नष्ट हो जाता है और सोचता कि भूमा में यह थोड़ा-सा संख्या-व्यतिक्रम क्या अर्थ रखता है! मेरा दूसरा कर्तव्य-कर्म था अंगरेज़ी के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी-पर्याय बनाना। एक दिन 'डीज़ल आइल' पत्रक में आ गया। एक बुज़ुर्ग ने लाख मना करने पर भी बड़ा ज़ोर लगाकर उसका भी अनुवाद कर डाला—'मोटा खनिज तेल'। बाद में किसी ने कहा कि यह न मोटा होता है और न खनिज। चित्त को बड़ी ग्लानि हुई और प्रसादजी के चाणक्य के ये शब्द मेरी अन्तःसंज्ञा में गूँजने लगे: "मैं ब्राह्मण हूं, आनन्द-समुद्र में शांति-द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण; चन्द्र-सूर्य, नक्षत्र मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्य-श्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शैया थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी ब्राह्मण की जन्मभूमि को छोड़कर कहां आ गया!" मैंने संकल्प किया। भगवान् की कृपा से अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ, आकाशवाणी के अनेक अधिकारियों ने निश्छल मन से आग्रह किया, कुछ बड़े प्रलोभन भी सामने आये, बाहर भी हितैषियों ने इस भावुकता के विरुद्ध चेतावनी दी; किन्तु मैंने एक बार जो रस्सा तुड़ाया तो पीछे मुड़कर नहीं देखा और सीधे विश्वविद्यालय में आकर साँस ली।

विश्वविद्यालय के मुक्त वातावरण में आकर मेरा मन स्वस्थ हो गया। पहला भाषण 'साहित्य की परिभाषा और स्वरूप' और दूसरा 'कामायनी' पर हुआ। मुझे लगा कि भगवती सरस्वती की प्रेरणा से एक दिन ही में जैसे 'मोटे खनिज तेल' और 'रासायनिक' खाद की उस दुनिया से 'कामायनी' के इस 'आनन्द-लोक' में आ गया हूं। आनन्दवर्धन, कुन्तक, शुक्ल और प्रसाद की स्वर्गिक प्रतिभाओं ने आशीर्वादमयी प्रेरणा दी, प्रमाता छात्र-छात्राओं की विनम्र जिज्ञासा ने अभिनन्दन किया, मेरे मन पर लगी हुई दफ़्तरी मशीन की वह कालोंच अपने-आप ही बह गयी।

व्यवसाय और साहित्य-सृजन का परस्पर क्या संबंध है, पहले थोड़ा विचार इस संबंध में कर लेना अप्रासंगिक न होगा। मध्य-युग में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह प्रश्न ही प्रायः नहीं उठता था। कवि का केवल एक व्यवसाय था काव्य-रचना; उसी के द्वारा किसी राजा या श्रीमन्त का आश्रय पाकर वृत्ति की समस्या हल हो जाती थी। व्यवसाय की दृष्टि से कवियों के रीतिकाल में दो मुख्य वर्ग मिलते हैं—राजा-कवि और राजाश्रित कवि। अर्थात्, कविता या तो राजा कर सकता था या ऐसा व्यक्ति कर सकता था जिसकी आजीविका का दायित्व किसी राजा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ने ले लिया हो। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्य-युग के हिन्दी साहित्यकार का व्यवसाय और साहित्य-कर्म पृथक् नहीं थे। साहित्यकार, जो कवि ही होता था, या तो संत या भक्त था या श्रीमन्त था या राजाश्रित। इस प्रकार साहित्य या काव्य-सृजन के अतिरिक्त उसका अन्य कोई व्यवसाय नहीं था। आधुनिक युग में साहित्य के द्वारा जीविका की सिद्धि प्रायः संभव न हो सकी। बहुत ही कम वास्तविक साहित्यकार ऐसे सौभाग्यशाली हुए हैं जिन्हें जीविका के लिए किसी व्यवसाय का आश्रय न लेना पड़ा हो। इस देश में अर्थ-व्यवस्था भी बड़ी अस्तव्यस्त-सी रही है, अतएव साहित्यकार को बड़े विचित्र-विचित्र व्यवसायों की शरण लेनी पड़ी है। सिनेमा की नौकरी, रेडियो की नौकरी तक तो ठीक है, परन्तु उस बेचारे को राजनीतिक उखाड़-पछाड़, वकालत, रजिस्ट्रारी, क्लर्की, सुंघनी की दुकान आदि न जाने क्या-क्या करना पड़ा। किन्तु इन व्यवसायों का भी साहित्य-सृजन से अप्रत्यक्ष संबंध है। साहित्य इनकी शरण-भूमि है, जहां आकर ये साहित्यकार अपने व्यवसाय की क्लान्ति मिटाते हैं। विज्ञान साक्षी है कि अभावात्मक प्रभाव भावात्मक प्रभाव से कम प्रबल नहीं होता; अतएव इनकी भी सृजन-प्रेरणा किसी प्रकार कम बलवती नहीं है।

मेरा व्यवसाय इस दृष्टि से अधिक सौभाग्यशाली है। अध्यापन का, विशेषकर उच्चस्तर के अध्यापन का, साहित्य के अन्य अंगों के सृजन से सहज संबंध न हो, परन्तु आलोचना से उसका प्रत्यक्ष संबंध है। वैसे अध्यापक का व्यवसाय साहित्य के प्रायः सभी रूपों के सृजन के अनुकूल पड़ सकता है; क्योंकि उसमें सभी प्रकार की अनुकूल परिस्थितियां विद्यमान हैं—शांतिमय वातावरण, अनावश्यक संघर्ष तथा स्नायविक उत्तेजना का अभाव, महान् प्रतिभाओं के साथ आध्यात्मिक संपर्क, कम-से-कम—वाणी द्वारा आत्माभिव्यक्ति। ये सभी परिस्थितियां सृजन के अनुकूल हैं; फिर भी कुछ साहित्य-रूप ऐसे हैं जो कदाचित् अधिक अनुभव-विस्तार तथा गहरे जीवन-मंथन की अपेक्षा करते हैं। उदाहरण के लिए, उपन्यास या नाटक के लिए अध्यापक-जीवन की शांति और सीमित परिधि अधिक उपयोगी नहीं हैं, और इसका एक स्थूल प्रमाण यह है कि देश-विदेश का कोई बिरला ही उपन्यासकार अध्यापक रहा हो। किन्तु आलोचना के विषय में यह शंका नहीं हो सकती; आलोचना और अध्यापन का उपकार्य-उपकारक संबंध है। उच्च स्तर के अध्यापन से तो आलोचना का पोषण होता है। और, इसका भी एक प्रमाण यह है कि देश-विदेश के अधिकांश आलोचक अध्यापक हैं, रहे हैं, या बन गये हैं। यह स्वाभाविक भी है। आलोचक के मूलतः कर्तव्य-कर्म हैं: (१) रस ग्रहण करना, (२) गृहीत रस को अपने व्याख्यान-विवेचन के द्वारा सभी सहृदयों के लिए सुलभ करना या उसमें सहायता देना, (३) इसके आगे सत्-असत् का निर्णय कर जिज्ञासु-समाज का मार्गदर्शन करना, और अन्त में (४) साहित्य की गतिविधि का अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण तथा संचालन करना। इनमें से पहले दो अधिक सहज एवं मूलगत हैं; क्योंकि काव्य का पूर्ण आस्वादन तो प्राथमिक आवश्यकता है और वह अपने-आप में सिद्धि भी है। यदि प्रमाता उतने ही पर रुक जाए तब भी उसे सफल-काम मान लेना चाहिए। रसास्वादन या संवेद्य अनुभूति का समग्र ग्रहण काव्य की सबसे सफल आलोचना है। ऐसा प्रमाता बिना कुछ लिखे भी काव्य का मूक आलोचक होता है। सत् आलोचना का पहला सोपान यही मूक आलोचना है। अध्यापक के लिए यह सहज-सुलभ है: श्रेष्ठ काव्यों का अध्ययन—महान् प्रतिभाओं के साथ मानसिक साहचर्य उसका नैत्यिक कर्म है। अन्य व्यवसाय के साहित्यकार को जहां इसके लिए भी समय निकालना पड़ेगा, वहां अध्यापक का तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यवसाय ही यही है। दूसरा सोपान है, इस आस्वाद को सहृदयों के लिए सुलभ करना। अध्यापक वृत्तितः व्याख्याता और विवेचक होता है। ऊँची श्रेणी के विद्यार्थियों और अनुसंधाता को काव्य का मर्म समझाना उसका व्यावसायिक कर्तव्य-कर्म है। लेखक का अपने पाठक के साथ संबंध जहां परोक्ष होता है, वहां अध्यापक का प्रत्यक्ष होता है। काव्य का एक मूल उद्देश्य है सम्प्रेरित करना; सफल अध्यापक का भी यही पहला गुण है। काव्य के संवेद्य-सार को काव्य से खींचकर अपनी आत्मा में भर लेना और फिर उसे अपनी आत्मा के रस में पागकर ग्रहणशील छात्र-वर्ग की आत्मा में भरकर उसकी अन्तश्चेतना को स्फूर्त कर देना अध्यापक की सिद्धि है। और मेरा विश्वास है कि आलोचक भी इससे बड़ी किसी सिद्धि की कामना नहीं कर सकता। 'कामायनी' आदि की क्लास लेने के बाद मेरे मन में प्रायः यह आता है कि अध्यापक भी साधारणीकरण का एक समर्थ साधन है। अध्यापक के इस रूप का निश्चय ही आलोचक के साथ घनिष्ठ आत्मीय संबंध है। आलोचक के कर्तव्य-कर्म की चरम परिणति यही है। इसके आगे सत्-असत् का निर्णय भी उसका धर्म है। स्वतः निर्णय और छात्र-वर्ग की निर्णय-शक्ति का विकास अध्यापक के धर्म की परिधि में भी आते हैं। साहित्य का असाहित्य से भेद करना और कराना सफल अध्यापक का भी उतना ही आवश्यक कर्तव्य है जितना आलोचक का। अपनी सीमित परिधि में अध्यापक भी काव्य-जिज्ञासुओं की रुचि का संस्कार तथा निर्माण कर आलोचना की पूर्वपीठिका तैयार करता है। अन्त में, साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण तथा संचालन आलोचक का उच्चतम लक्ष्य माना गया है। इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि अप्रत्यक्ष रूप से कोई-कोई अत्यन्त समर्थ आलोचक ही ऐसा कर सकता है। सामान्यतः यह संभव नहीं होता और साहित्य के लिए यह शुभ लक्षण भी नहीं है। साहित्य की गतिविधि का संचालन स्रष्टा कलाकार की अदम्य प्रतिभा द्वारा ही संभव है। आलोचक उसका आख्यान कर, उसके काव्य-सौन्दर्य को सुलभ कर, उसके संवेद्य के साधारणीकरण में योग देकर, लोक-मत, या काव्य की शब्दावली में सहृदय-मत, जगाता है। इससे अधिक का गर्व आलोचक के लिए उचित नहीं है। अध्यापक भी अपनी छोटी-सी परिधि में इसका दावा कर सकता है। मैंने अनेक साहित्यकारों को यह कहते सुना है कि आप अध्यापक लोग जिसको चढ़ा दें, वही महाकवि है। उनकी यह शिकायत अध्यापक के महत्त्व की अप्रत्यक्ष स्वीकृति है। इस प्रकार अध्यापक अपने क्षेत्र में आलोचक के कर्तव्य का निर्वाह करता है।

यह तो हुआ उज्ज्वल पक्ष। साहित्य-सृजन के लिए अध्यापन-वृत्ति की कुछ बाधाएं भी हैं। अध्यापक के लिए एक बड़ा खतरा यह है कि कहीं वह सिद्धान्त की बात करते-करते शास्त्राभ्यासजड़ न बन जाए। साहित्य-सृजन की सबसे बड़ी बाधा है यह। यह जैसे उसकी आस्वाद-वृत्तियों को कुण्ठित कर सृजन-शक्ति का नाश कर देती है। अध्यापक सिद्धान्त के रूढ़ि-जाल में जकड़ जाता है; उसका व्याख्यान-विवेचन अपनी स्फूर्ति खो बैठता है। ऐसे अध्यापक को एक प्रकार के छद्म रस के प्रति रुचि हो जाती है और वह शास्त्र के माध्यम से काव्य का मनन करता हुआ उसके वास्तविक रस से अपने को वंचित कर लेता है। ऐसे अध्यापक की आलोचना स्वभावतः ही छद्म-आलोचना होगी। एक दूसरा बड़ा खतरा परीक्षा का है। कोई भी ईमानदार अध्यापक परीक्षा की एकान्त उपेक्षा नहीं कर सकता; ऐसा करना अपने व्यवसाय के प्रति बेईमानी होगी। परीक्षा साहित्य-शिक्षण का निकृष्टतम किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से अनिवार्य अंग है। आज की शिक्षा-व्यवस्था में उसका महत्त्व सर्वाधिक है, इसमें सन्देह नहीं। इसलिए कोई भी अध्यापक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ने ले लिया हो। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्य-युग के हिन्दी साहित्यकार का व्यवसाय और साहित्य-कर्म पृथक् नहीं थे। साहित्यकार, जो कवि ही होता था, या तो संत या भक्त था या श्रीमन्त था या राजाश्रित। इस प्रकार साहित्य या काव्य-सृजन के अतिरिक्त उसका अन्य कोई व्यवसाय नहीं था। आधुनिक युग में साहित्य के द्वारा जीविका की सिद्धि प्रायः संभव न हो सकी। बहुत ही कम वास्तविक साहित्यकार ऐसे सौभाग्यशाली हुए हैं जिन्हें जीविका के लिए किसी व्यवसाय का आश्रय न लेना पड़ा हो। इस देश में अर्थ-व्यवस्था भी बड़ी अस्तव्यस्त-सी रही है, अतएव साहित्यकार को बड़े विचित्र-विचित्र व्यवसायों की शरण लेनी पड़ी है। सिनेमा की नौकरी, रेडियो की नौकरी तक तो ठीक है, परन्तु उस बेचारे को राजनीतिक उखाड़-पछाड़, वकालत, रजिस्ट्रारी, क्लर्की, सुंघनी की दुकान आदि न जाने क्या-क्या करना पड़ा। किन्तु इन व्यवसायों का भी साहित्य-सृजन से अप्रत्यक्ष संबंध है। साहित्य इनकी शरण-भूमि है, जहां आकर ये साहित्यकार अपने व्यवसाय की क्लान्ति मिटाते हैं। विज्ञान साक्षी है कि अभावात्मक प्रभाव भावात्मक प्रभाव से कम प्रबल नहीं होता; अतएव इनकी भी सृजन-प्रेरणा किसी प्रकार कम बलवती नहीं है।

मेरा व्यवसाय इस दृष्टि से अधिक सौभाग्यशाली है। अध्यापन का, विशेषकर उच्चस्तर के अध्यापन का, साहित्य के अन्य अंगों के सृजन से सहज संबंध न हो, परन्तु आलोचना से उसका प्रत्यक्ष संबंध है। वैसे अध्यापक का व्यवसाय साहित्य के प्रायः सभी रूपों के सृजन के अनुकूल पड़ सकता है; क्योंकि उसमें सभी प्रकार की अनुकूल परिस्थितियां विद्यमान हैं—शांतिमय वातावरण, अनावश्यक संघर्ष तथा स्नायविक उत्तेजना का अभाव, महान् प्रतिभाओं के साथ आध्यात्मिक संपर्क, कम-से-कम—वाणी द्वारा आत्माभिव्यक्ति। ये सभी परिस्थितियां सृजन के अनुकूल हैं; फिर भी कुछ साहित्य-रूप ऐसे हैं जो कदाचित् अधिक अनुभव-विस्तार तथा गहरे जीवन-मंथन की अपेक्षा करते हैं। उदाहरण के लिए, उपन्यास या नाटक के लिए अध्यापक-जीवन की शांति और सीमित परिधि अधिक उपयोगी नहीं हैं, और इसका एक स्थूल प्रमाण यह है कि देश-विदेश का कोई विरला ही उपन्यासकार अध्यापक रहा हो। किन्तु आलोचना के विषय में यह शंका नहीं हो सकती; आलोचना और अध्यापन का उपकार्य-उपकारक संबंध है। उच्च स्तर के अध्यापन से तो आलोचना का पोषण होता है। और, इसका भी एक प्रमाण यह है कि देश-विदेश के अधिकांश आलोचक अध्यापक हैं, रहे हैं, या बन गये हैं। यह स्वाभाविक भी है। आलोचक के मूलतः कर्तव्य-कर्म हैं : (१) रस ग्रहण करना, (२) गृहीत रस को अपने व्याख्यान-विवेचन के द्वारा सभी सहृदयों के लिए सुलभ करना या उसमें सहायता देना, (३) इसके आगे सत्-असत् का निर्णय कर जिज्ञासु-समाज का मार्गदर्शन करना, और अन्त में (४) साहित्य की गतिविधि का अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण तथा संचालन करना। इनमें से पहले दो अधिक सहज एवं मूलगत हैं; क्योंकि काव्य का पूर्ण आस्वादन तो प्राथमिक आवश्यकता है और वह अपने-आप में सिद्धि भी है। यदि प्रमाता उतने ही पर रुक जाए तब भी उसे सफल-काम मान लेना चाहिए। रसास्वादन या संवेद्य अनुभूति का समग्र ग्रहण काव्य की सबसे सफल आलोचना है। ऐसा प्रमाता बिना कुछ लिखे भी काव्य का मूक आलोचक होता है। सत् आलोचना का पहला सोपान यही मूक आलोचना है। अध्यापक के लिए यह सहज-सुलभ है : श्रेष्ठ काव्यों का अध्ययन—महान् प्रतिभाओं के साथ मानसिक साहचर्य उसका नैत्यिक कर्म है। अन्य व्यवसाय के साहित्यकार को जहां इसके लिए भी समय निकालना पड़ेगा, वहां अध्यापक का तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यवसाय ही यही है। दूसरा सोपान है, इस आस्वाद को सहृदयों के लिए सुलभ करना। अध्यापक वृत्तितः व्याख्याता और विवेचक होता है। ऊँची श्रेणी के विद्यार्थियों और अनुसंधाता को काव्य का मर्म समझाना उसका व्यावसायिक कर्तव्य-कर्म है। लेखक का अपने पाठक के साथ संबंध जहां परोक्ष होता है, वहां अध्यापक का प्रत्यक्ष होता है। काव्य का एक मूल उद्देश्य है सम्प्रेरित करना; सफल अध्यापक का भी यही पहला गुण है। काव्य के संवेद्य-सार को काव्य से खींचकर अपनी आत्मा में भर लेना और फिर उसे अपनी आत्मा के रस में पागकर ग्रहणशील छात्र-वर्ग की आत्मा में भरकर उसकी अन्तश्चेतना को स्फूर्त कर देना अध्यापक की सिद्धि है। और मेरा विश्वास है कि आलोचक भी इससे बड़ी किसी सिद्धि की कामना नहीं कर सकता। 'कामायनी' आदि की क्लास लेने के बाद मेरे मन में प्रायः यह आता है कि अध्यापक भी साधारणीकरण का एक समर्थ साधन है। अध्यापक के इस रूप का निश्चय ही आलोचक के साथ घनिष्ठ आत्मीय संबंध है। आलोचक के कर्तव्य-कर्म की चरम परिणति यही है। इसके आगे सत्-असत् का निर्णय भी उसका धर्म है। स्वतः निर्णय और छात्र-वर्ग की निर्णय-शक्ति का विकास अध्यापक के धर्म की परिधि में भी आते हैं। साहित्य का असाहित्य से भेद करना और कराना सफल अध्यापक का भी उतना ही आवश्यक कर्तव्य है जितना आलोचक का। अपनी सीमित परिधि में अध्यापक भी काव्य-जिज्ञासुओं की रुचि का संस्कार तथा निर्माण कर आलोचना की पूर्वपीठिका तैयार करता है। अन्त में, साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण तथा संचालन आलोचक का उच्चतम लक्ष्य माना गया है। इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि अप्रत्यक्ष रूप से कोई-कोई अत्यन्त समर्थ आलोचक ही ऐसा कर सकता है। सामान्यतः यह संभव नहीं होता और साहित्य के लिए यह शुभ लक्षण भी नहीं है। साहित्य की गतिविधि का संचालन स्रष्टा कलाकार की अदम्य प्रतिभा द्वारा ही संभव है। आलोचक उसका आख्यान कर, उसके काव्य-सौन्दर्य को सुलभ कर, उसके सवेद्य के साधारणीकरण में योग देकर, लोक-मत, या काव्य की शब्दावली में सहृदय-मत, जगाता है। इससे अधिक का गर्व आलोचक के लिए उचित नहीं है। अध्यापक भी अपनी छोटी-सी परिधि में इसका दावा कर सकता है। मैंने अनेक साहित्यकारों को यह कहते सुना है कि आप अध्यापक लोग जिसको चढ़ा दें, वही महाकवि है। उनकी यह शिकायत अध्यापक के महत्त्व की अप्रत्यक्ष स्वीकृति है। इस प्रकार अध्यापक अपने क्षेत्र में आलोचक के कर्तव्य का निर्वाह करता है।

यह तो हुआ उज्ज्वल पक्ष। साहित्य-सृजन के लिए अध्यापन-वृत्ति की कुछ बाधाएं भी हैं। अध्यापक के लिए एक बड़ा खतरा यह है कि कहीं वह सिद्धान्त की बात करते-करते शास्त्राभ्यासजड़ न बन जाए। साहित्य-सृजन की सबसे बड़ी बाधा है यह। यह जैसे उसकी आस्वाद-वृत्तियों को कुण्ठित कर सृजन-शक्ति का नाश कर देती है। अध्यापक सिद्धान्त के रूढ़ि-जाल में जकड़ जाता है; उसका व्याख्यान-विवेचन अपनी स्फूर्ति खो बैठता है। ऐसे अध्यापक को एक प्रकार के छद्म रस के प्रति रुचि हो जाती है और वह शास्त्र के माध्यम से काव्य का मनन करता हुआ उसके वास्तविक रस से अपने को वंचित कर लेता है। ऐसे अध्यापक की आलोचना स्वभावतः ही छद्म-आलोचना होगी। एक दूसरा बड़ा खतरा परीक्षा का है। कोई भी ईमानदार अध्यापक परीक्षा की एकान्त उपेक्षा नहीं कर सकता; ऐसा करना अपने व्यवसाय के प्रति बेईमानी होगी। परीक्षा साहित्य-शिक्षण का निकृष्टतम किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से अनिवार्य अंग है। आज की शिक्षा-व्यवस्था में उसका महत्त्व सर्वाधिक है, इसमें सन्देह नहीं। इसलिए कोई भी अध्यापक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परीक्षा से सर्वथा पराङ्मुख होने का दम्भ नहीं कर सकता; उसका विद्यार्थी ऐसा करने भी नहीं देगा। अध्यापक-आलोचक को चाहिए कि साहित्य-सृजन और अपने व्यवसाय के इस अंग में किसी प्रकार की मैत्री न होने दे; अन्यथा आलोचना में 'सुगम-बोध' की गन्ध आने लगेगी। इस व्यवसाय का यह ख़तरा भी बहुत बड़ा है। तीसरा ख़तरा है शिक्षक-वृत्ति का विकास। काव्य के आस्वादन के लिए कवि और काव्य के प्रति श्रद्धा-भाव अनिवार्य है। कवि के समक्ष प्रमाता को विद्यार्थी रूप में जाना चाहिए। विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते अध्यापक का यह दृष्टिकोण कुण्ठित हो जाता है। वह कवि के सामने भी शिक्षक के रूप में जाता है। आलोचक की यह घोर विफलता है और अध्यापक-वृत्ति इस दृष्टिकोण को दुरुत्साहित कर आलोचना के सृजन में बाधक होती है। अध्यापक-आलोचक को इन बाधाओं के प्रति अत्यन्त सशंक रहना चाहिए। उसे नासिख़ का यह शेर गुरु-मन्त्र के समान सदा याद रखना चाहिए कि :

इश्क़ को दिल में दे जगह नासिख़;
इल्म से शायरी नहीं आती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आत्म-विश्लेषण

(शिकायत है नगेन्द्र को डॉ० नगेन्द्र से)

श्रीयुत डॉक्टर साहब !

यह सम्बोधन इसलिए है कि 'डॉक्टर साहब' अब आपकी उपाधि न रहकर नाम ही बन गया है। आपके घर के बच्चे आपका सही नाम ही नहीं जानते; अभी उसी दिन तो भाई के पूछने पर कि नाना का नाम क्या है, अतिमा ने आश्वस्त भाव से जवाब दिया था—डॉक्टर साहब। आपको स्वयं ही फ़ोन पर कहना पड़ता है कि मैं डॉक्टर नगेन्द्र बोल रहा हूं; क्योंकि नगेन्द्र कहने पर सुननेवाला कभी-कभी पहचानने में देर कर सकता है या शायद वह न भी करे, पर आपको डर रहता है कि उपाधि-विरहित आपका नाम सुनकर वह आपके प्रति आवश्यक विनयाचार करने में चूक जाए !—पर यह तो केवल प्रस्तावना है, अब सुनिए : मैं आपका चेतन मन हूं, और, अधिक नहीं तो कम-से-कम पच्चीस वर्ष से, जब से आपका सामाजिक अहं प्रबुद्ध हुआ है, आपसे अर्थात् आपके अंतर्मन से (क्योंकि फ्रॉयड के अनुसार अंतर्मन ही तो व्यक्तित्व का प्रमुख अंश है) परेशान हूं।

यों तो मुझे आपके लेखक से भी कई-एक शिकायतें हैं, पर मेरी ख़ास परेशानी आपके व्यक्ति से है। आपके स्वभाव की दो प्रमुख विशेषताएं हैं : अहंकार और भावुकता। सीमा के भीतर ये दोनों गुण ही मानी जा सकती हैं, परन्तु सीमा से बाहर जाकर ये दोष बन जाती हैं—और आपके विषय में प्रायः यही हुआ है।

आपके अहंकार का एक स्पष्ट दुष्परिणाम यह है कि आप प्रत्येक कार्य अपनी इच्छा के अनुसार करना चाहते हैं। सामाजिक दृष्टि से यह प्रवृत्ति बहुत काम्य नहीं है क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा की पूर्ति सदा नहीं कर सकता। समाज वस्तुतः सामंजस्य पर आधृत है जिसमें व्यष्टि की इच्छाओं का नहीं वरन् समष्टि के हितों का विधान ही मुख्य है। इच्छा और हित भी पर्याय नहीं हैं। स्वयं व्यक्ति की ही इच्छा उसके विपरीत पड़ सकती है; फिर समाज में तो अनेक व्यक्तियों के हित समन्वित रहते हैं। अतः कोई व्यक्ति सदा अपनी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं कर सकता—व्यवहार में, जितनी इच्छाएं पूरी होती हैं उनसे कहीं अधिक अपूर्ण रह जाती हैं या बाधित हो जाती हैं। यह जीवन की अनिवार्य व्यवस्था है जिसे समझ लेने के बाद आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी इच्छाओं का विवेक द्वारा अनुशासन करें—यह मानकर चलें कि प्रत्येक इच्छा की पूर्ति न सम्भव है और न हितकर। परन्तु यह जाग्रत विवेक और पैनी तर्क-बुद्धि आपके अंतर्मन के सामने सर्वथा विफल हो जाते हैं। आप प्रत्येक कार्य अपनी इच्छा के अनुकूल करना ही नहीं चाहते, बल्कि प्रत्येक कार्य का अपनी इच्छा के अनुसार होना भी चाहते हैं, यानी आप चाहते हैं कि हर काम वैसे ही हो जैसे आप ठीक समझते हैं। आपके प्रति अन्याय न हो जाए,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसलिए एक बात साफ़ कर दूं कि आप स्वार्थ के लिए ऐसा नहीं करते, प्रायः स्वार्थ का त्याग करके भी आप यह सब चाहते हैं। अहंकार का स्वार्थ से विशेष सौहार्द नहीं है, अहंकार में स्वार्थ की उपेक्षा ही नहीं प्रायः विस्मृति भी निहित रहती है। फिर भी, इसके दुष्परिणाम तो स्पष्ट ही हैं और वे मुझे अक्सर भोगने पड़ते हैं। ऐसी घटनाएं प्रायः हो जाती हैं जो वस्तु-दृष्टि से अत्यन्त सामान्य होने पर भी आपके लिए अनावश्यक तूल ग्रहण कर लेती हैं।—आपको जाड़ा औसत आदमी से अधिक लगता है, इसलिए आप चाहते हैं कि आपके घर के बच्चे ज़्यादा कपड़े पहनें। दो-चार बार धमकाने से आपकी आज्ञा का पालन हो जाता है पर बच्चे तो अपनी मर्ज़ी और सुविधा के अनुसार कपड़े पहनते हैं। आपका चित्त यह देखकर अत्यन्त खिन्न हो उठता है कि घर के वयस्क व्यक्ति और नौकर बच्चों के सुख-स्वास्थ्य के प्रति कितने उदासीन हैं—सभी अपने स्वार्थ में लीन हैं—हमारे बच्चे वास्तव में कितने दुःखी रहते हैं! आपका मन एक विचित्र आत्मकरुणा से भर जाता है। अन्तरंग वृत्त के भीतर आप अपने प्रियजन और परिजन से यह अपेक्षा करते हैं कि आपकी पसन्द ही उनकी पसन्द हो जबकि उनमें से अधिकांश को आपकी रुचि पर विश्वास नहीं है। आपका प्रिय लाल रंग अधिकतर लोगों को नापसन्द है। आप चाहते हैं कि कमरे के सोफ़े, क़ालीन लाल रंग के हों और यदि कोई हलके रंग के परदे या क़ालीन ख़रीद कर लाता है तो लगता है कि रुपया बेकार गया। परन्तु आपका उपदेश व्यर्थ जाता है और आपकी कल्पना तुरन्त दौड़ने लगती है—दो-चार महीनों में ये सभी भदरंग हो जाएंगे, फिर हज़ार रुपये का खर्चा सिर पड़ेगा और घर की अर्थ-व्यवस्था अकारण ही गड़बड़ हो जाएगी। आपकी बात नहीं मानी गयी, इस पर आपको क्रोध आता है और बाद में चलकर इससे हानि होगी—यह सोच कर आपके मन पर भार पड़ता है। उधर, जिसके संदर्भ में यह सब हो रहा है, वह प्रसन्न है अपनी रुचि की सफलता पर।

सार्वजनिक जीवन के बृहत्तर परिवेश में भी स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आता। सौभाग्य या दुर्भाग्य से आपका सार्वजनिक जीवन भी काफ़ी सक्रिय है। आवश्यकता से अधिक संस्थाओं से आपका बहुविध सम्बन्ध है और वयःक्रम तथा परिवेश के औसत आदमी से कहीं अधिक आप व्यस्त हैं। इन संस्थाओं की गोष्ठियों में, विशेषकर निर्वाचन-समिति में, स्वभावतः आपकी सम्मति का आदर होता है—कदाचित् आपके स्पष्ट विचार और निर्भीक अभिव्यक्ति के कारण। आपकी सफ़ाई में फिर कह दूं कि अपने वयःक्रम और परिवेश के औसत आदमी की अपेक्षा आपके मन में इन संस्थाओं के प्रति काफ़ी कम लोभ की भावना है और इसमें संदेह नहीं कि आप यथासम्भव अपने प्रति ईमानदार रहने और दूसरे के प्रति न्याय करने का ही प्रयत्न करते हैं। लेकिन समिति का कार्य आरम्भ होते ही आप सहजक्रम से यह भूल जाते हैं कि जनाब को सलाह देने के लिए बुलाया गया है, निर्णय देने के लिए नहीं—सलाहकार की भूमिका से आप अनायास ही निर्णायक के आसन पर जा बैठते हैं। ऐसा करने में मन और बुद्धि दोनों पर अनावश्यक भार पड़ता है और कभी-कभी (यद्यपि सौभाग्य से ऐसा कम ही होता है) विपरीत निर्णय होने पर आपको अकारण क्लेश भी होता है। दुर्घटना यह होती है कि अलक्ष्यक्रम से संपूर्ण विवेक-बल को विफल करता हुआ आपका अहंकार, परिस्थिति के साथ संलिप्त हो जाता है; और कोई भी ऐसा प्रश्न, जिसके साथ आपका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, जनाब के लिए व्यक्तिगत मानापमान का प्रश्न बन जाता है। ज़ाहिर है कि सार्वजनिक जीवन के लिए इस प्रकार का दृष्टिकोण एकदम ग़लत है। आयु के साथ आपका कार्यक्षेत्र और दायित्व भी निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं, परन्तु

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दुर्भाग्य से आपकी इस मनोवृत्ति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो रहा। आपको याद होगा कि अभी कुछ समय पूर्व आपने अपने एक वयोवृद्ध मित्र के सामने यह समस्या रखी थी, जिसका उन्होंने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया था। उनका कहना था कि जब समस्या सामने होती है तब तो हम पूरे बुद्धि-बल से उसके साथ जूझते हैं, पर बाद में मन की रासें एकदम छोड़ देते हैं जैसे साइकिल-सवार शुरू में पूरे ज़ोर से पैडल मारकर बाद में कुछ देर के लिए पैर चलाना छोड़ देता है। उनकी यह सीख आपको कितनी भली लगी थी और चाहा था कि गाँठ बाँध लें। किन्तु जब-जब मौक़ा आया, आपने आदत के अनुसार पैडल तो पूरे ज़ोर से घुमाये, पर उन्हें छोड़ने की बात आपको याद न रही; आपके पैरों का ज़ोर तभी कम हुआ जब या तो मंज़िल पार हो गयी या साइकिल की चेन ही टूट गयी। मंज़िल पार हो जाने पर उल्लास की अपेक्षा थकान का अनुभव अधिक हुआ और चैन टूटने पर तो ग्लानि अनिवार्य ही थी।

अहंकारी व्यक्ति प्रायः आत्मलिप्त और अभावुक होता है। परन्तु आपमें अहंकार के साथ राग-तत्त्व का भी प्राबल्य है। अहंकार में भी एक पीड़ा निहित रहती है, पर वह आत्मनिष्ठ होती है। अहंकारी पुरुष जहां आत्मनिर्भर होता है, वहां रागी व्यक्ति अपने सुख-दुःख में दूसरों पर अत्यधिक निर्भर करता है। परेशानी तब होती है जब अहंकार आपको किसी स्वजन के प्रति कठोर होने के लिए प्रेरित करता है और भावना की ऊष्मा उस काठिन्य को भीतर-ही-भीतर द्रवित कर देती है। यह आपके लिए अग्निपरीक्षा की घड़ी होती है और दुर्भाग्य से ऐसी स्थितियां आपके नैतिक जीवन में अनायास—प्रायः अकारण ही, उपस्थित होती रहती हैं। विडम्बना यह है कि इस द्वंद्वमयी स्थिति की आपके स्वीकृत जीवन-दर्शन आनन्दवाद के साथ किसी तरह भी संगति नहीं बैठती। इसे समाहित कर लेने की आतुरता आपके मन में बराबर रहती है क्योंकि आपका यह विश्वास अटूट है कि द्वंद्व विकृति मात्र है, अतः क्षणिक और असत् है। इस प्रकार आपके मन के भीतर एक ओर अहंकार और राग का अन्तर्द्वन्द्व चलता है, दूसरी ओर इस अन्तर्द्वन्द्व को अविलम्ब ही समाहित करने की अधीरता भी इतनी ही तीव्र हो जाती है।

बात यहीं समाप्त हो जाती, तब भी ग़नीमत थी। पर आपके साथ एक और मुसीबत है, और वह यह कि आप दूसरों के सामने अपने मनोविचारों की मुक्त अभिव्यक्ति से बचने का दुष्प्रयास करते हैं। आपकी विनोद-वृत्ति काफ़ी प्रबुद्ध है, पर दूसरों के सामने खुलकर हँसने में आपको बाधा पड़ती है। आप अपने विषाद को ही नहीं, उल्लास को भी व्यक्त करने में हेठी समझने लगे हैं। कारण शायद यह है कि आपका सामाजिक वृत्त बहुत छोटा हो गया है। उसमें कुछ लोग आपसे बड़े हैं जिनके साथ आपका मन इसलिए संलग्न है कि उसे विनम्र होने का सुख मिलता है; पर अधिकांश आपसे छोटे हैं. जिनके सामने अपने मन के विकारों को—चाहे वे सुखमय हों या दुःखमय—अनावृत करना आपको प्रायः सह्य नहीं होता। आपके बराबर के लोग, जिनके साथ (वयःक्रम की) ऊँचाई और नीचाई का व्यक्त या अव्यक्त अनुभव न हो, आपके जीवन-वृत्त से धीरे-धीरे हटते चले जा रहे हैं। समता के अभाव में एक प्रकार का अभ्यास-लब्ध गाम्भीर्य आपने समय से बहुत पहले ही ओढ़ लिया है। मन के असंयमों को संयम के उपचार में अथवा आन्तरिक द्वन्द्व को बाह्य अद्वन्द्व की मुद्रा में बाँधना अपने-आप में कृच्छ्र साधना है—और इसका परिणाम होता है चेतना का अनवरत श्रम, जिसकी छाया आपकी मुखाकृति पर स्थायी रूप से अंकित होती जा रही है।

इस प्रकार, मेरे अभियोग प्रायः आपके व्यक्ति से ही सम्बद्ध हैं। आपका लेखक व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से कहीं अधिक समझदार है। कारण यह है कि भावों या विचारों का जितना भी उद्वेग होता है उसे आपका व्यक्ति पहले ही झेल लेता है और शब्दों में रूपायित होने तक उद्वेलन बहुत कुछ शांत-सा हो जाता है। फलतः आपका लेखक आपके स्वभाव के अधिकांश दोषों से मुक्त हो जाता है। उसमें न तो अहंकार और भावुकता का अन्तर्द्वन्द्व मिलता है और न इस अन्तर्द्वन्द्व को समाहित करने की कृच्छ्र साधना। व्यावहारिक जीवन में प्रतिपक्षी के विरुद्ध जो सहज आक्रोश आपके मन में रहता है वह भी यहां अभिव्यक्ति की सौन्दर्य-रक्षा के लिए संयत हो जाता है—क्योंकि, आपका यह निर्भ्रान्त मत है कि अभिव्यक्ति भाव या विचार का उद्गार नहीं, वरन् उद्गीथ-रूप ही होती है। साहित्य-कर्म के प्रति यह शुभ्र धारणा अनगढ़ विचार तथा असंयत आक्रोश के फूहड़पन से आपके लेखन की रक्षा करती है।

फिर भी निर्दोष तो आपका लेखक भी नहीं है—हो ही कैसे सकता है! अभी कुछ समय पूर्व एक समादृत बन्धु ने आपके नये ग्रंथ 'रस-सिद्धान्त' के पहले ही परिच्छेद में न जाने कितने ऐसे प्रयोगों की गणना कर शिकायत की थी कि आप अपने लेखन में 'ही' शब्द का प्रयोग बहुत ज्यादा करते हैं। उनके विचार से, 'ही' का अतिशय प्रयोग इस बात का द्योतक है कि आप अपने मत के विकल्पों को एकदम अग्राह्य मानकर चलते हैं। सभी कुछ ऐसा ही नहीं है जैसा कि आप मानते या सोचते हैं—बहुत-कुछ वैसा भी हो सकता है और है। बात लटकेदार ज़रूर थी, पर उसमें सार तो है ही। आपने मित्र से हँसकर कहा था—पंडितजी, आपके 'भी' से हमारा 'ही' शायद अच्छा है। उनका तर्क था कि 'भी' जहां विचार की उदारता का द्योतक है, वहां 'ही' में असहिष्णुता की गन्ध आती है। आप कदाचित् यह कहना चाहेंगे कि 'भी' के अतिरिक्त प्रयोग में आत्मविश्वास की कमी या तथ्य की निर्भ्रान्त अनुभूति तथा निर्भीक अभिव्यक्ति का आलस्य निहित रहता है। बात आपकी भी ग़लत नहीं है : 'भी' के सावधान प्रयोग से, हो सकता है कि, आपकी शैली का ओज क्षीण हो जाए और उसकी कमी भाव के अलंकार तथा वाणी के उच्छ्वास से पूरी करनी पड़े—जो शायद आपकी चिन्तन-पद्धति के अनुकूल न हो। परन्तु मेरी सलाह फिर भी यही है कि विचार की उदारता अपने-आप में बड़ा गुण है और, आत्म-संकल्प को शिथिल किये बिना, उसका अर्जन कर लेना लाभकर ही हो सकता है।

यदि आपके मर्म पर आघात न हो तो एक और दोष की ओर भी संकेत कर दूं। आप अपने विवेचन में पाठक के बुद्धि-विवेक का कभी-कभी अवमूल्यन करने लगते हैं। आपका आग्रही स्वभाव अपने विचार को पाठक के घट में उतारने के लिए इतना अधिक सतर्क रहता है कि आप किसी प्रकार का ख़तरा मोल लेना नहीं चाहते। बात कुछ हद तक ठीक है; पर यह क्यों भूल जाते हैं कि आपका पाठक भी प्रबुद्ध है! यदि आपकी बात वह न भी माने तो क्या आफ़त आ जाएगी? उसके भी तो अपने विचार और विश्वास हैं जो आपके विचारों से लाभान्वित हुए बिना भी पल्लवित होना चाहते हैं! इधर, अध्यापक-वृत्ति ने इस आदत को और भी खराब कर दिया है : आप जाने-अनजाने अपने विवेचन-क्रम में झट-से अध्यापक के मंच पर आ बैठते हैं; पाठक आपकी कल्पना में प्रबुद्ध और तार्किक श्रोता न रहकर विनीत और जिज्ञासु विद्यार्थी बन जाता है।

अभी कुछ और भी तीर मेरे तरकश में हैं। पर उनका प्रयोग मैं आज नहीं करूंगा। कारण दो हैं : एक तो आपके विरोधी मेरे अभियोगों को 'प्रामाणिक' मानकर उनका दुरुपयोग कर सकते हैं; दूसरे, आप स्वयं तैश में आकर मेरे इस पत्र को रद्दी की टोकरी में फेंक सकते हैं।

अप्रिय कथन के लिए क्षमा करेंगे!

अभिन्न,

नगेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(ख) समस्याएं

साहित्य की शिक्षा
(अभिभाषण—१[1])

कलकत्ता-विश्वविद्यालय के सौजन्य से भारतीय हिन्दी-परिषद् का उन्नीसवां वार्षिक अधिवेशन आज यहां हो रहा है। कलकत्ता जहां हमारी भौतिक समृद्धि और सांस्कृतिक सम्पदा का अपूर्व संगम-स्थल है, वहां आधुनिक भारतीय साहित्य की उर्वरा विकास-भूमि के रूप में भी इसका माहात्म्य कम नहीं है। आधुनिक युग में बंगला-साहित्य की महान् प्रतिभाओं की लीला-भूमि तो यह रहा ही है, वर्तमान हिन्दी ने भी अपनी प्राथमिक शिक्षा इसी नगर में आरम्भ की थी। हमारा सौभाग्य है कि भारतीय हिन्दी-परिषद् का यह अधिवेशन रवीन्द्र-शताब्दी के गौरव-गान से अनुगुंजित वातावरण में हो रहा है। रवीन्द्र-काव्य के मांगलिक स्वर आशीर्वाद की तरह आज भी हमारे ऊपर आकाश में छाये हुए हैं और हमें विश्वास है कि उनकी पुण्य प्रेरणा से यह अधिवेशन निश्चय ही सफलकाम होगा।

योग में 'निर्विषयं मनः' की साधना का बड़ा महत्त्व है और सुनते हैं कि सिद्ध पुरुषों को निर्विषयक चिन्तन का सहज अभ्यास हो जाता है। निर्विषयक भाषण कदाचित् उससे भी कठिन साधना है; उसके लिए और भी ऊँची मनोभूमिका की आवश्यकता होती है। किसी व्यापक संस्था के वार्षिक अधिवेशन के सभापति के लिए प्रायः इन दोनों सिद्धियों की आवश्यकता होती है : निश्चित विषय के अभाव में उसे न केवल निर्विषयक चिन्तन, वरन् निर्विषयक भाषण भी करना होता है। दुर्भाग्य से मैं इन दोनों सिद्धियों से वंचित हूं। अतएव मुझे अनुमति प्रदान कीजिए कि मैं दो-एक आवश्यक प्रसंग लेकर कुछ व्यावहारिक विचार आपके सामने प्रस्तुत कर सकूं।

सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है परिषद् के स्वरूप-निर्धारण तथा विकास-योजना का। आज पूरे उन्नीस वर्षों से परिषद् कार्य कर रही है : उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता इस बात का प्रमाण है कि इस प्रकार की संस्था की आवश्यकता एवं उपादेयता है। अतः आज यह आवश्यक हो गया है कि उसकी स्थिति-रक्षा और समुचित उन्नति के प्रश्नों पर विचार किया जाए। परन्तु इससे पूर्व यह भी अनिवार्य है कि उसके स्वरूप और प्रयोजन के विषय में हमारी धारणा स्पष्ट हो जाए। उपलब्ध साहित्य तथा अब तक की गतिविधि का अध्ययन करने के उपरांत इस विषय में कोई भ्रांति नहीं हो सकती कि परिषद् का स्वरूप मूलतः शैक्षिक-साहित्यिक है। शिक्षा का क्षेत्र जितना व्यापक है, साहित्य का भी उतना ही, कदाचित् उसकी अपेक्षा और भी अधिक, व्यापक है। अतः परिषद् ने अपने कर्तव्य-कर्म को केन्द्रित करने के लिए शिक्षा और साहित्य के समन्वित रूप को ही मुख्यतः ग्रहण किया है—अर्थात् मूल रूप से परिषद् साहित्य की शिक्षा को ही अपना मुख्य विषय मानकर चलती है : साहित्य के अन्तर्गत भाषा एवं

१. भारतीय हिन्दी-परिषद्, कलकत्ता-अधिवेशन, के अध्यक्ष-पद से वाचित।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भाषा-विज्ञान और शिक्षा के अन्तर्गत माध्यम का प्रश्न भी स्वभावत: निहित है। उधर अधिकार-क्षेत्र की दृष्टि से उसकी एक सीमा हिन्दी है और दूसरी सीमा विश्वविद्यालय तथा सम्बद्ध महाविद्यालय हैं। इस प्रकार भारतीय हिन्दी-परिषद् भारतीय विश्वविद्यालयों तथा सम्बद्ध महाविद्यालयों की परिधि के भीतर हिन्दी-साहित्य के शिक्षण तथा अनुसंधान और उधर हिन्दी-माध्यम से अन्य विषयों की शिक्षा की समस्याओं को भी लेकर संगठित हुई है और उसी दिशा में कार्य कर रही है। साहित्य के क्षेत्र में इसकी गतिविधि हिन्दी-साहित्य और भाषा-विषयक अनुसंधान, अध्ययन-अध्यापन तथा उससे संबंधित सामग्री के सम्पादन आदि तक सीमित है और शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी-माध्यम के प्रश्न तक। इसी उद्देश्य से इसकी सक्रिय सदस्यता मूलत: विश्वविद्यालयों तथा सम्बद्ध महाविद्यालयों के हिन्दी-प्राध्यापकों तक ही सीमित रखी गयी है। अर्थात् भारतीय हिन्दी-परिषद् के स्वरूप के दो पहलू हैं—एक ओर यह हिन्दी भाषा तथा साहित्य की उच्चतर शैक्षिक संस्था है और दूसरी ओर हिन्दी-शिक्षकों की साहित्यिक कर्मभूमि। इन्हीं दो पहलुओं के आधार पर इसके दो प्रयोजन सामने आते हैं : एक हिन्दी-भाषा तथा साहित्य की उच्चतर शिक्षा-समस्याओं का सामूहिक विचार एवं समाधान और दूसरा विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध हिन्दी-प्राध्यापकों का रागात्मक बौद्धिक संगठन। इन्हीं दो प्रयोजनों के प्रकाश में हमें अपनी उपलब्धि का मूल्यांकन और भावी विकास की रूपरेखा का निश्चय करना है।

साहित्य की शिक्षा

साहित्य की शिक्षा का प्रश्न अन्य विषयों की शिक्षा की अपेक्षा अधिक जटिल और सूक्ष्म है। अन्य विषयों में जहां ज्ञान के संप्रेषण तथा बुद्धि के विकास के साथ उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है, वहां साहित्य की शिक्षा के लिए इन दोनों के अतिरिक्त एक अन्य भव्यतर सिद्धि भी आवश्यक होती है और वह है रागात्मक चेतना का परिष्कार। भौतिक विज्ञान अथवा सामाजिन विज्ञान के आधारतत्त्व तथ्य एवं धारणारूप होते हैं किन्तु साहित्य में ये दोनों ही गौण हैं, उसका व्यापार बिम्ब और अनुभूति पर आश्रित है। तथ्यों का संकलन और प्रसारण सरल है; धारणा का संप्रेषण भी ग्रहणशील विद्यार्थी के प्रति बहुत कठिन नहीं होता—बौद्धिक अभ्यास से धारणाएं भी सुबोध हो जाती हैं; किन्तु बिम्ब के पुन:सृजन, कल्पना की उद्दीप्ति तथा अनुभूति के संचार द्वारा रसात्मक बोध की प्रेरणा अपेक्षाकृत कहीं दुष्कर है। साहित्य का शिक्षक इसी दुष्कर कार्य को सिद्ध करने का प्रयास करता है, अत: उसकी उपलब्धि का अपेक्षाकृत अधिक मूल्य होना चाहिए। हिन्दी-साहित्य के प्राध्यापक को अपनी साधना और सिद्धि दोनों के प्रति जागरूक रहना है। इस क्षेत्र में उसकी उपलब्धि का इतिहास प्रमाण है कि वह अपने कर्तव्य से अवगत है और उसके सम्यक् निर्वाह के लिए सचेष्ट भी।

यहां पर स्वभावत: ही यह प्रश्न उठता है कि साहित्य की शिक्षा और सर्जना में परस्पर क्या संबंध है? क्या साहित्य के शिक्षक का कर्तव्य साहित्य के प्रचार और प्रसार तक ही सीमित है अथवा वह उसके विकास में भी योगदान कर सकता है? इस प्रश्न पर बड़ी सतर्कता से और पूरे दायित्व के साथ विचार करने की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में हमारे सामने दो परस्पर-विरोधी उदाहरण हैं। एक ओर परम्परानिष्ठ विश्वविद्यालयों का दृष्टिकोण है : वह इस बात पर बल देता है कि साहित्य का शिक्षक मूलत: तटस्थ व्याख्याता है जो वैज्ञानिक शैली

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से साहित्य के मूल तत्त्वों का उद्घाटन, उसकी विकास-परम्परा का आकलन तथा प्रवृत्तियों का विवेचन कर साहित्य के ज्ञान का प्रसार करता है। साहित्यिक प्रक्रिया के वस्तुतः चार अंग हैं—१. साहित्य का बोध, २. साहित्य का आस्वाद, ३. साहित्य का मूल्यांकन, और ४. साहित्य का सृजन। पुरातनवादी शिक्षा-विधान इनमें से केवल साहित्य के बोध पर ही बल देता रहा। इसके अनुसार साहित्य का आचार्य ज्ञान-गरिमा-सम्पन्न, अतिशय गम्भीर, वस्तुनिष्ठ व्याख्याता मात्र होता है। इसके विपरीत है अत्याधुनिक दृष्टिकोण, जो साहित्य के बोध, आस्वाद और मूल्यांकन तक ही अपनी कर्तव्य-परिधि को सीमित नहीं रखता वरन् साहित्य की सर्जना को भी शिक्षा का विषय मानकर चलता है। अमरीका के विश्वविद्यालयों में साहित्यिक अभ्यास-केन्द्रों (लिटरेरी वर्कशॉप्स) की व्यवस्था प्रायः नियमित रूप से होने लगी है और इधर भारत में भी उसका अनुकरण आरम्भ हो गया है। इन दोनों अतिवादों के बीच आज हमें अपना दृष्टिकोण स्थिर करना है। क्या हमें केवल साहित्य के शास्त्रीय व्याख्यान तक ही अपने कर्तव्य का प्रसार मानना होगा या हम साहित्य-सर्जना की भी शिक्षा दे सकते हैं? मेरी अपनी धारणा है कि एक में जहां हमारी क्षमता का अनावश्यक परिसीमन है, वहां दूसरे में हम एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करने का दुःसाहस करते हैं जो शिक्षा का ही विषय नहीं है।

साहित्य निश्चय ही केवल बोध का विषय नहीं है; जिसमें बोध की प्रधानता रहती है उसे साहित्य के मर्मज्ञों ने ज्ञान का साहित्य कहा है जो शुद्ध साहित्य की परिधि से बाहर पड़ता है। फिर भी मैं यह मानने को तैयार नहीं हूं कि साहित्य-शिक्षा में ज्ञान का कोई स्थान नहीं है। ज्ञान से यहां अभिप्राय है तथ्य और धारणाओं के समूह का। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य में इन दोनों का स्थान गौण है किन्तु इनकी उपेक्षा भी सम्भव नहीं। बुद्धि के विषय होने के कारण तथ्य और धारणा, शिक्षा के तंत्र में, कल्पना तथा भावना की अपेक्षा आसानी से बैठ जाते हैं और इसीलिए साहित्य की शिक्षा में जाने-अनजाने इनका महत्त्व यहां तक बढ़ गया है कि अनेक विद्वान् इन्हें ही साहित्य-शिक्षा का सर्वस्व मानने लगे हैं। इस विषय में विवाद के लिए स्थान नहीं है कि न साहित्य का मूल प्रयोजन ज्ञानवर्धन है और न साहित्य-शिक्षा का प्रयोजन ज्ञान के संप्रेषण तक सीमित हो सकता है। साहित्य का मूल प्रयोजन है सौन्दर्यबोध या रसास्वाद और साहित्य-शिक्षा का मुख्य प्रयोजन भी उससे बहुत भिन्न नहीं हो सकता। यह आस्वाद ही अन्ततः मूल्यांकन का आधार बन जाता है और साहित्य-शिक्षा की परिधि में मूल्यांकन का शिक्षण भी स्वतः ही अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार साहित्य का अध्यापक अपने छात्र के प्रति तीन बातों के लिए उत्तरदायी है: १. संबद्ध ज्ञान के संप्रेषण के लिए, २. सौंदर्य-बोध की उद्दीप्ति के लिए, और ३. मूल्यांकन की शक्ति के विकास के लिए। मैं समझता हूं कि साहित्य-शिक्षा का लक्ष्य वस्तुतः यहीं समाप्त हो जाता है—इसके आगे यदि कोई अध्यापक साहित्य-स्रष्टा भी है और उसकी सत्प्रेरणा से यदि कोई छात्र अपनी सर्जना-शक्ति का भी विकास कर लेता है तो मैं उसे आकस्मिक अथवा आनुषंगिक उपलब्धि ही मानूंगा। साहित्य-सर्जना की शिक्षा अर्थात् काव्य, नाटक, उपन्यास या कहानी-कला की शिक्षा तथा अभ्यास साहित्य-शिक्षा का अंग नहीं बन सकता और इस प्रकार अर्जित अनुकरणमूलक शिल्प से साहित्य के कारीगर ही पैदा हो सकते हैं, कलाकार नहीं। इसीलिए अभी कुछ दिन पहले नयी कविता में छन्द, बिम्ब तथा अभिव्यंजना की विकृतियों को देखकर जब हमारे एक वयोवृद्ध सहयोगी ने यह तर्क दिया कि हिन्दी-काव्य के स्तर में सुधार करने के लिए पाठ्यक्रम में छन्द, अलंकार और व्याकरण पर अधिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बल देना आवश्यक हो गया है तो मुझे उर्दू का एक शेर याद आ गया—

इश्क़ को दिल में दे जगह नासिख़,
इल्म से शायरी नहीं आती ।

अतः साहित्य का अध्यापक व्यावसायिक रूप से साहित्य के केवल एक ही अंग के विकास में योगदान कर सकता है और वह है आलोचना, क्योंकि उसके व्यावसायिक कर्म और आलोचना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। केवल हिन्दी के ही नहीं, अन्य समृद्ध भाषाओं के भी आलोचना-साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके विकास में गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से अध्यापक-वर्ग का ही योगदान अधिक रहा है। विश्व के महान् आलोचक प्रायः अध्यापक ही हुए हैं या बाद में चलकर अध्यापक बन गये हैं। इसलिए जब कुछ क्षेत्रों से यह आवाज़ आती है कि हिन्दी की आलोचना अध्यापकीय आलोचना बन गयी है तो मुझे लगता है कि कदाचित् ये लोग कहीं अनजाने अध्यापन-कर्म की व्याजस्तुति तो नहीं कर रहे। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-आलोचना के संवर्धन में सबसे अधिक सक्रिय और ठोस योगदान अध्यापक का ही रहा है और आज तो इस दिशा में हिन्दी का अध्यापक पहले से भी अधिक सक्रिय है। परन्तु यह चिन्ता की नहीं, गर्व की ही बात हो सकती है कि आजकल हिन्दी-आलोचना की विकास-भूमि विश्वविद्यालय ही हैं। केवल एक ख़तरे से सावधान रहना होगा और वह यह कि कहीं हमारी आलोचना शास्त्राभ्यास-जड़ न हो जाए—वास्तव में 'अध्यापकीय' विशेषण में इसी तथ्य की ओर व्यंग्य है। इस ख़तरे का सामना करने का सीधा तरीक़ा यह है कि हम अपने अध्ययन-कक्ष की खिड़कियां और दरवाज़े खुले रखें जिससे कि मुक्त वातावरण की ताज़ा हवा भीतर आ-जा सके और जीवन्त साहित्य से हमारा सम्पर्क टूटने न पाये। नये साहित्य से अध्यापक का सम्बन्ध स्वभावतः ही कम होता है क्योंकि उसके पाठ्यक्रम में अमर ग्रंथों का ही प्रायः समावेश रहता है। अमर ग्रन्थों का दृढ़ आधार भी आलोचना के मूल्य स्थिर करने में परमावश्यक है और जो इससे वंचित हैं उनका काव्य-विवेक कच्चा ही रहता है। परन्तु केवल अमर साहित्य पर आश्रित रहने से भी जीवन्त मूल्यों की प्राणधारा से वंचित हो जाने की आशंका रहती है। इसलिए अध्यापक-आलोचक को इस विषय में सतर्क रहना चाहिए कि हिन्दी की आलोचना अध्यापक-वर्ग के प्रभाव से कहीं शास्त्र-बोझिल तो नहीं हो रही—उसकी पद्धति में एकरस जड़ता तो नहीं आती जा रही ! मेरा उत्तर है—नहीं; और प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की क्या आवश्यकता ? विश्वविद्यालय के क्षेत्र में या उसके प्रभाव में जो आलोचक आज क्रियाशील हैं उनके दृष्टिकोण का विस्तार और वैविध्य इसका प्रमाण है : हमारे बीच यदि पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के परम्परारूढ़ शास्त्रवादी दृष्टिकोण का सम्मान है तो स्वर्गीय नलिनविलोचन शर्मा की अत्याधुनिक दृष्टि की चमक भी हमको आकृष्ट करती है; एक ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्यापक मानवतावाद है तो दूसरी ओर प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी का कला और संस्कृति के समन्वय पर आधृत सौष्ठववाद भी है : इसी प्रकार डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और डॉ० माताप्रसाद की तथ्य-केन्द्रित प्रामाणिक विधि का अपना महत्त्व है और उधर शुभश्री महादेवी वर्मा की (वे भी अध्यापक ही हैं) आत्मपरक साहित्य-चिन्तना का गौरव भी अक्षय है। कुछ नयी प्रतिभाओं में ताज़गी की भी कमी नहीं है। इसलिए जड़ता का आरोप न्याय्य नहीं है, परन्तु ख़तरा तो है ही। अतः सामूहिक रूप में हमारा ध्यान इधर भी रहना चाहिए क्योंकि जड़ता का नाम ही मृत्यु है।

हमारी साहित्य-शिक्षा के दो प्रमुख अंग हैं—पाठ्यक्रम और अनुसंधान। इन दोनों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का आयोजन भी उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही होना चाहिए। परिषद् ने आरम्भ से ही इन दोनों विषयों की ओर ध्यान दिया है और उसके तत्त्वावधान में इनके विभिन्न पहलुओं पर अनेक गोष्ठियों में विचार किया जा चुका है। हमारा पाठ्यक्रम संतुलित होना चाहिए जिसमें शास्त्रीय परम्परा और स्वतन्त्र चिन्ता, विज्ञान और कला, विचार और अनुभूति—स्थिर और गत्यात्मक साहित्य का उचित सामंजस्य हो। हिन्दी-शिक्षा के प्रसार के साथ अब यह भी आवश्यक हो गया है कि स्तर की एकरूपता की रक्षा के लिए पाठ्यक्रम में भी एक विशेष सीमा के भीतर एकरूपता हो। अभी अक्तूबर मास में आयोजित एक विशेष गोष्ठी में परिषद् इस प्रसंग पर विस्तार से विचार कर चुकी है और उसके निष्कर्ष आप लोगों के विचारार्थ वर्तमान अधिवेशन में ही प्रस्तुत किए जाएंगे। अनुसंधान का प्रश्न और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है; उससे सम्बद्ध अनेक ज्वलन्त समस्याएं हैं : जैसे वर्धमान संख्या, पुनरावृत्ति की संभावना से मुक्त विषयों का निर्वाचन, स्तर का संरक्षण, उचित निर्देशन की व्यवस्था, आदि-आदि, जो तत्कालिक समाधान चाहती हैं। इन प्रसंगों पर मैं अपने विचार एक-दो बार इस परिषद् के मंच से व्यक्त कर चुका हूं, अतः उनकी आवृत्ति अनावश्यक है।

अनुसंधान के प्रसंग में मैं आपके सामने कुछ सुझाव रखना चाहता हूं। इस समय मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि आप इन पर विचार प्रारम्भ कर दें जिससे कि तत्सम्बन्धी अनेक समस्याओं के उचित समाधान के लिए मार्ग प्रशस्त हो सके। एक तो यह कि अनुसंधान के सम्बन्ध में कोई अखिल भारतीय संस्थान होना चाहिए जहां विभिन्न विश्वविद्यालयों के वरिष्ठ प्राध्यापक वर्ष में एक-दो बार मिलकर आवश्यक विषयों पर विचार-विनिमय कर सकें। विचारणीय विषयों में सबसे प्रमुख है स्थान-स्थान पर स्वीकृत विषयों का एकत्र संकलन और समन्वय जिससे यथासंभव निरर्थक पुनरावृत्ति का परिहार किया जा सके, हिन्दी के उदीयमान अनुसंधाताओं की शक्तियों का उचित संगठन और विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्ध सामग्री का संग्रह एवं उपयोग हो सके ताकि हिन्दी का वर्धमान शोध-कार्य सुचारु रूप से संयोजित किया जा सके। जब तक इस प्रकार के संस्थान का विधिवत् निर्माण न हो, तब तक परिषद् की एक तदर्थ समिति इस दिशा में कार्य करती रहे। यह समिति दो प्रकार के कार्य करे—(१) सूचना-संग्रह, अर्थात् इस विषय में तथ्यों का संकलन करे कि अब तक कितने शोध-प्रबन्धों पर उपाधियां मिल चुकी हैं, कितने विषयों पर कार्य हो रहा है, किन-किन दिशाओं में शोधकार्य की सम्भावनाएं हैं, किस विषय के लिए कहां सामग्री प्राप्त हो सकती है और कौन-कौन अधिकारी विद्वान् सहायता कर सकते हैं—आदि-आदि; और (२) प्रतिवर्ष विचार-विमर्श तथा संयोजन की दृष्टि से विशिष्ट संगोष्ठी की आयोजना। एक-दो वर्ष नियमित कार्य करने के उपरान्त हम परिषद् के तत्त्वावधान में इस प्रकार के संस्थान का प्रस्ताव शिक्षा-मन्त्रालय तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से कर सकते हैं। इस आवश्यकता का अनुभव सर्वत्र किया जा रहा है और इस दिशा में वांछित सहयोग आसानी से मिल सकता है। परन्तु इसके लिए हमें कुछ आधार-भूमि तैयार करनी होगी।

दूसरी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है साहित्येतर पाठ्यक्रमों के लिए हिन्दी में उपयुक्त वाङ्मय की उपलब्धि। कई वर्ष पहले परिषद् के तत्त्वावधान में इस कार्य का संपादन करने के लिए एक समिति बनाई गयी थी जिसके संयोजक थे डॉ० माताप्रसाद गुप्त। इस समिति ने वास्तव में बड़ा काम किया था और उस विवरण का आज भी मूल्य है; किन्तु वह कार्य वहीं रुका पड़ा है। आज इस क्षेत्र में भारतीय शिक्षा-मन्त्रालय में और उसकी प्रेरणा से अनेक संस्थाओं में निरन्तर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उद्योग हो रहा है। ऐसी स्थिति में परिषद् का भी प्रयत्न जारी रहना चाहिए और एक तदर्थ समिति स्थायी रूप से इस दिशा में क्रियाशील रहनी चाहिए। यह कार्य जितना विस्तृत है उतना ही महत्त्वपूर्ण भी। यह केवल माँग नहीं है, ललकार भी है और हमें उसी रूप में इसे स्वीकार करना चाहिए।

इस कार्यक्रम के दो पक्ष हैं—एक संकलन और दूसरा निर्माण। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी का यह अंग गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से अभी तक अपूर्ण है; फिर भी आज पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है जिसका संकलन, चयन, आलोचनात्मक मूल्यांकन और यथावश्यक निर्देशन एकदम ज़रूरी हो गया है। अधिकांश विषयों पर मौलिक और अनूदित ग्रन्थ हिन्दी की प्रकाशन-संस्थाओं के उद्यम से आज उपलब्ध हैं और उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। किन्तु अधिकारी विशेषज्ञों की सहायता से प्रत्येक विषय की सामग्री का परीक्षण नितान्त आवश्यक हो गया है। इसके लिए हमें आलोचनात्मक सर्वेक्षण और विवरण तैयार करना चाहिए जिसका प्रतिवर्ष संवर्धन तथा संशोधन भी उतना ही ज़रूरी है। इस प्रकार के विवरण के द्वारा एक ओर हम हिन्दी के उन विरोधियों को निरुत्तर कर सकेंगे जो इधर-उधर से सुनकर, अधिकृत सूचना के अभाव में, केवल आलोचना ही नहीं करते वरन् उसके आगे यह भी प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं कि हिन्दी उच्चतर शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकती। दूसरी ओर, उसका उपयोग विभिन्न विश्वविद्यालयों और सम्बद्ध महाविद्यालयों के लाभार्थ भी किया जा सकता है। प्रस्तुत कार्यक्रम का दूसरा पक्ष है सम्बन्धित साहित्य के निर्माण में योगदान। मैं निर्माण का नहीं, केवल निर्माण में योगदान का ही प्रस्ताव कर रहा हूं; क्योंकि स्वतन्त्र निर्माण की किसी भी योजना के लिए जितने पुष्कल साधन अपेक्षित हैं उनकी संभावना तो अभी वर्षों तक नहीं हो सकती। अतः वर्तमान परिस्थिति में हमें केन्द्रीय शासन अथवा राज्यों द्वारा प्रवर्तित योजनाओं में सक्रिय सहयोग देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा। इससे दुगुना लाभ होगा। एक तो परिषद् के माध्यम से अधिकारी विद्वानों की सेवाएं इस कार्य के लिए अधिक सरलता से प्राप्त की जा सकेंगी और दूसरे परिषद् की अपनी आर्थिक स्थिति भी दृढ़ हो सकेगी। और फिर, हिन्दी की सेवा तो है ही—जो शासन का, परिषद् का और हम सबका समान लक्ष्य है।

रचनात्मक कार्यक्रम के विस्तार की तीसरी दिशा है विभिन्न भारतीय भाषाओं के साथ सक्रिय सहयोग। यह सहयोग वस्तुतः बहुत पहले आरंभ हो जाना चाहिए था किन्तु पराधीन भारत में इस प्रकार के प्रयत्नों को संवर्धना नहीं मिली। तब अंगरेज़ी के साथ सम्पर्क काफ़ी समझा जाता था, किन्तु अब तो न यह सम्भव है और न समीचीन ही : आज देश की समृद्ध भाषाओं का पारस्परिक सहयोग प्रत्येक दृष्टि से आवश्यक हो गया है। हमारे लिए पाठ्यक्रम की दृष्टि से, अनुसंधान की दृष्टि से, शैक्षिक स्तर के संरक्षण और विकास की दृष्टि से, यदि सभी के साथ नहीं तो कुछ भाषाओं के साथ—जैसे बंगला, मराठी, गुजराती और दक्षिण की दो-एक भाषाओं के साथ घनिष्ठ एवं निकट सम्पर्क सर्वथा वांछनीय है। इस सम्पर्क-सहयोग के द्वारा अनेक प्रकार की भ्रांतियां दूर हो सकेंगी और साहित्य तथा शिक्षा दोनों में नये क्षेत्रों का उद्घाटन होगा, अनेक समान समस्याओं के समाधान में सहायता मिलेगी, दृष्टिकोण का विस्तार होगा और हमें राष्ट्रीय स्तर पर सोचने और कार्य करने का अभ्यास होगा। अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में स्थित विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों की सहायता से परिषद् के लिए इस दिशा में प्रगति करना सहज सम्भव है और अहिन्दी क्षेत्रों में परिषद् के अधिवेशनों का आयोजन इसी दिशा में सही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क़दम है। इन सम्बन्धों को सींचते रहना आवश्यक है और परिषद् को इसके लिए भी कोई-न-कोई स्थायी व्यवस्था करनी होगी।

मैं समझता हूं, इन या इस प्रकार के प्रस्तावों का औचित्य प्रायः स्वयंसिद्ध ही है; आवश्यकता इस बात की है कि हमारा दृष्टिकोण सर्वथा अनाविल तथा निर्भ्रान्त रहे। केन्द्रीय शासन हो या प्रादेशिक, अन्य सहकर्मी हिन्दी-संस्थाएं हों या भारतीय भाषाएं, सभी के प्रति हमारा सौहार्द और सभी के साथ हमारा सहयोग रहे—शर्तें दो हैं : एक तो, हिन्दी के आत्म-सम्मान की किसी प्रकार क्षति न हो; और दूसरे, सम्बन्धों का आधार साहित्यिक ही रहे, वहां राजनीति का प्रवेश या प्रभाव न हो।

परिषद् का दूसरा प्रमुख प्रयोजन है हिन्दी-प्राध्यापकों का रागात्मक एवं बौद्धिक संगठन। भारतीय समाज के विभिन्न तत्त्वों तथा वर्गों की भाँति प्राध्यापक का भी एक विशिष्ट वर्ग है और इस बृहत्तर वर्ग के भीतर हिन्दी प्राध्यापक की अपनी विशिष्ट स्थिति है—अर्थात् उसके अपने दायित्व और अधिकार हैं जिनका संरक्षण तथा विकास अपने व्यवसाय के हिताहित की दृष्टि से आवश्यक है। पर, परिषद् की रचना व्यवसाय-संघ (ट्रेड यूनियन) के रूप में नहीं हुई और वह हमारा क्षेत्र नहीं है। इस विषय में सम्भव है कुछ सदस्यों का मतभेद हो; परन्तु मैं सर्वथा आश्वस्त हूं कि परिषद् का यह रूप न है और न होना चाहिए। हमारा क्षेत्र साहित्यिक अर्थात् रागात्मक तथा बौद्धिक ही रहना चाहिए : साहित्य तथा शिक्षा की परिधि के भीतर ही सामूहिक विकास का प्रयत्न करना अधिक व्यावहारिक और अन्ततः अधिक कल्याणकर होगा। रागात्मक संगठन से मेरा अभिप्राय यह है कि हिन्दी के प्राध्यापक-वर्ग की कल्पना हम एक वृहत् परिवार के रूप में करें—उनकी साहित्यिक समस्याओं को हम अपनी समस्याएं समझें और पाठ्यक्रम, अनुसंधान, निर्देशन, सामग्री-संकलन, रचनात्मक साहित्य-साधना, ग्रन्थ-प्रकाशन आदि में परस्पर सहयोग प्रदान करें : वरिष्ठ प्राध्यापक अपने कनिष्ठ सहयोगियों की यथाशक्ति सहायता एवं मार्गदर्शन करें। परिषद् के अन्तर्गत इस प्रकार का कार्य करने के लिए एक सूचना-केन्द्र की स्थापना प्रस्तुत दिशा में एक ठोस क़दम होगा।

हिन्दी-प्राध्यापक के सामने सम्मान-रक्षा का प्रश्न भी आज कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। विश्वविद्यालय के क्षेत्र में अन्य विषयों के अध्यापकों के साथ संघर्ष है और बाहर अन्य साहित्यिक वर्ग भी उससे प्रसन्न नहीं हैं। विश्वविद्यालय के क्षेत्र में अन्य विषयों के प्राध्यापक उसके प्रति हीन-भावना रखते हैं, उसके विकास के प्रति उनके मन में ईर्ष्या और विरोध का स्पष्ट भाव है। संस्कृत को भय है कि हिन्दी के विकास में उसका ह्रास निहित है; अन्य भाषाओं का दृष्टिकोण हिन्दी के प्रति अभी सद्भावपूर्ण नहीं बन पाया; सामाजिक विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक हिन्दी से इसलिए नाराज़ हैं कि माध्यम के रूप में उसे ग्रहण करने की माँग बार-बार की जा रही है। परिणाम यह है कि हिन्दी का प्राध्यापक विश्वविद्यालय के क्षेत्र में ऐसे तत्त्वों से घिरा हुआ है जो किसी-न-किसी कारण से उससे अप्रसन्न या शंकित हैं—अपने संस्कारों के कारण वे अभी यह नहीं पचा पाये हैं कि हिन्दी भी स्वतन्त्र भारत के शिक्षाक्रम का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है—उसमें भी शिक्षा व अनुसंधान का स्तर ऊँचा हो सकता है और है। अतः हिन्दी के प्रति उनमें बाहर से उपहास और हीनता का भाव है और भीतर-ही-भीतर भय तथा ईर्ष्या का। किन्तु इस प्रसंग में विशेष चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। एक तो इस प्रकार का विरोध विशेष कारगर नहीं है। भारतवर्ष में इस समय लगभग तीस विश्वविद्यालयों में एम० ए०

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उद्योग हो रहा है। ऐसी स्थिति में परिषद् का भी प्रयत्न जारी रहना चाहिए और एक तदर्थ समिति स्थायी रूप से इस दिशा में क्रियाशील रहनी चाहिए। यह कार्य जितना विस्तृत है उतना ही महत्त्वपूर्ण भी। यह केवल माँग नहीं है, ललकार भी है और हमें उसी रूप में इसे स्वीकार करना चाहिए।

इस कार्यक्रम के दो पक्ष हैं—एक संकलन और दूसरा निर्माण। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी का यह अंग गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से अभी तक अपूर्ण है; फिर भी आज पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है जिसका संकलन, चयन, आलोचनात्मक मूल्यांकन और यथावश्यक निर्देशन एकदम ज़रूरी हो गया है। अधिकांश विषयों पर मौलिक और अनूदित ग्रन्थ हिन्दी की प्रकाशन-संस्थाओं के उद्यम से आज उपलब्ध हैं और उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। किन्तु अधिकारी विशेषज्ञों की सहायता से प्रत्येक विषय की सामग्री का परीक्षण नितान्त आवश्यक हो गया है। इसके लिए हमें आलोचनात्मक सर्वेक्षण और विवरण तैयार करना चाहिए जिसका प्रतिवर्ष संवर्धन तथा संशोधन भी उतना ही ज़रूरी है। इस प्रकार के विवरण के द्वारा एक ओर हम हिन्दी के उन विरोधियों को निरुत्तर कर सकेंगे जो इधर-उधर से सुनकर, अधिकृत सूचना के अभाव में, केवल आलोचना ही नहीं करते वरन् उसके आगे यह भी प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं कि हिन्दी उच्चतर शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकती। दूसरी ओर, उसका उपयोग विभिन्न विश्वविद्यालयों और सम्बद्ध महाविद्यालयों के लाभार्थ भी किया जा सकता है। प्रस्तुत कार्यक्रम का दूसरा पक्ष है सम्बन्धित साहित्य के निर्माण में योगदान। मैं निर्माण का नहीं, केवल निर्माण में योगदान का ही प्रस्ताव कर रहा हूं; क्योंकि स्वतन्त्र निर्माण की किसी भी योजना के लिए जितने पुष्कल साधन अपेक्षित हैं उनकी संभावना तो अभी वर्षों तक नहीं हो सकती। अतः वर्तमान परिस्थिति में हमें केन्द्रीय शासन अथवा राज्यों द्वारा प्रवर्तित योजनाओं में सक्रिय सहयोग देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा। इससे दुगुना लाभ होगा। एक तो परिषद् के माध्यम से अधिकारी विद्वानों की सेवाएं इस कार्य के लिए अधिक सरलता से प्राप्त की जा सकेंगी और दूसरे परिषद् की अपनी आर्थिक स्थिति भी दृढ़ हो सकेगी। और फिर, हिन्दी की सेवा तो है ही—जो शासन का, परिषद् का और हम सबका समान लक्ष्य है।

रचनात्मक कार्यक्रम के विस्तार की तीसरी दिशा है विभिन्न भारतीय भाषाओं के साथ सक्रिय सहयोग। यह सहयोग वस्तुतः बहुत पहले आरंभ हो जाना चाहिए था किन्तु पराधीन भारत में इस प्रकार के प्रयत्नों को संवर्धना नहीं मिली। तब अंगरेज़ी के साथ सम्पर्क काफ़ी समझा जाता था, किन्तु अब तो न यह सम्भव है और न समीचीन ही : आज देश की समृद्ध भाषाओं का पारस्परिक सहयोग प्रत्येक दृष्टि से आवश्यक हो गया है। हमारे लिए पाठ्यक्रम की दृष्टि से, अनुसंधान की दृष्टि से, शैक्षिक स्तर के संरक्षण और विकास की दृष्टि से, यदि सभी के साथ नहीं तो कुछ भाषाओं के साथ—जैसे बंगला, मराठी, गुजराती और दक्षिण की दो-एक भाषाओं के साथ घनिष्ठ एवं निकट सम्पर्क सर्वथा वांछनीय है। इस सम्पर्क-सहयोग के द्वारा अनेक प्रकार की भ्रांतियां दूर हो सकेंगी और साहित्य तथा शिक्षा दोनों में नये क्षेत्रों का उद्घाटन होगा, अनेक समान समस्याओं के समाधान में सहायता मिलेगी, दृष्टिकोण का विस्तार होगा और हमें राष्ट्रीय स्तर पर सोचने और कार्य करने का अभ्यास होगा। अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में स्थित विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों की सहायता से परिषद् के लिए इस दिशा में प्रगति करना सहज सम्भव है और अहिन्दी क्षेत्रों में परिषद् के अधिवेशनों का आयोजन इसी दिशा में सही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क़दम है। इन सम्बन्धों को सींचते रहना ग्रावश्यक है ग्रौर परिषद् को इसके लिए भी कोई-न-कोई स्थायी व्यवस्था करनी होगी।

मैं समझता हूं, इन या इस प्रकार के प्रस्तावों का ग्रौचित्य प्राय: स्वयंसिद्ध ही है; ग्रावश्यकता इस बात की है कि हमारा दृष्टिकोण सर्वथा ग्रनाविल तथा निर्भ्रान्ति रहे। केन्द्रीय शासन हो या प्रादेशिक, ग्रन्य सहकर्मी हिन्दी-संस्थाएं हों या भारतीय भाषाएं, सभी के प्रति हमारा सौहार्द ग्रौर सभी के साथ हमारा सहयोग रहे—शर्तें दो हैं : एक तो, हिन्दी के आत्म-सम्मान की किसी प्रकार क्षति न हो; ग्रौर दूसरे, सम्बन्धों का ग्राधार साहित्यिक ही रहे, वहां राजनीति का प्रवेश या प्रभाव न हो।

परिषद् का दूसरा प्रमुख प्रयोजन है हिन्दी-प्राध्यापकों का रागात्मक एवं बौद्धिक संगठन। भारतीय समाज के विभिन्न तत्त्वों तथा वर्गों की भाँति प्राध्यापक का भी एक विशिष्ट वर्ग है ग्रौर इस वृहत्तर वर्ग के भीतर हिन्दी प्राध्यापक की ग्रपनी विशिष्ट स्थिति है—ग्रर्थात् उसके ग्रपने दायित्व ग्रौर अधिकार हैं जिनका संरक्षण तथा विकास ग्रपने व्यवसाय के हिताहित की दृष्टि से ग्रावश्यक है। पर, परिषद् की रचना व्यवसाय-संघ (ट्रेड यूनियन) के रूप में नहीं हुई ग्रौर वह हमारा क्षेत्र नहीं है। इस विषय में सम्भव है कुछ सदस्यों का मतभेद हो; परन्तु मैं सर्वथा ग्राश्वस्त हूं कि परिषद् का यह रूप न है ग्रौर न होना चाहिए। हमारा क्षेत्र साहित्यिक ग्रर्थात् रागात्मक तथा बौद्धिक ही रहना चाहिए : साहित्य तथा शिक्षा की परिधि के भीतर ही सामूहिक विकास का प्रयत्न करना ग्रधिक व्यावहारिक ग्रौर ग्रन्ततः ग्रधिक कल्याणकर होगा। रागात्मक संगठन से मेरा ग्रभिप्राय यह है कि हिन्दी के प्राध्यापक-वर्ग की कल्पना हम एक वृहत् परिवार के रूप में करें—उनकी साहित्यिक समस्याग्रों को हम ग्रपनी समस्याएं समझें ग्रौर पाठ्यक्रम, ग्रनुसंधान, निर्देशन, सामग्री-संकलन, रचनात्मक साहित्य-साधना, ग्रन्थ-प्रकाशन ग्रादि में परस्पर सहयोग प्रदान करें : वरिष्ठ प्राध्यापक ग्रपने कनिष्ठ सहयोगियों की यथाशक्ति सहायता एवं मार्गदर्शन करें। परिषद् के ग्रन्तर्गत इस प्रकार का कार्य करने के लिए एक सूचना-केन्द्र की स्थापना प्रस्तुत दिशा में एक ठोस क़दम होगा।

हिन्दी-प्राध्यापक के सामने सम्मान-रक्षा का प्रश्न भी ग्राज कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। विश्वविद्यालय के क्षेत्र में ग्रन्य विषयों के ग्रध्यापकों के साथ संघर्ष है ग्रौर वाहर ग्रन्य साहित्यिक वर्ग भी उससे प्रसन्न नहीं हैं। विश्वविद्यालय के क्षेत्र में ग्रन्य विषयों के प्राध्यापक उसके प्रति हीन-भावना रखते हैं, उसके विकास के प्रति उनके मन में ईर्ष्या ग्रौर विरोध का स्पष्ट भाव है। संस्कृत को भय है कि हिन्दी के विकास में उसका ह्रास निहित है; ग्रन्य भाषाग्रों का दृष्टिकोण हिन्दी के प्रति अभी सद्भावपूर्ण नहीं वन पाया; सामाजिक विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक हिन्दी से इसलिए नाराज़ हैं कि माध्यम के रूप में उसे ग्रहण करने की माँग बार-बार की जा रही है। परिणाम यह है कि हिन्दी का प्राध्यापक विश्वविद्यालय के क्षेत्र में ऐसे तत्त्वों से घिरा हुग्रा है जो किसी-न-किसी कारण से उससे ग्रप्रसन्न या शंकित हैं—ग्रपने संस्कारों के कारण वे ग्रभी यह नहीं पचा पाये हैं कि हिन्दी भी स्वतन्त्र भारत के शिक्षाक्रम का ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है—उसमें भी शिक्षा व ग्रनुसंधान का स्तर ऊँचा हो सकता है ग्रौर है। ग्रतः हिन्दी के प्रति उनमें बाहर से उपहास ग्रौर हीनता का भाव है ग्रौर भीतर-ही-भीतर भय तथा ईर्ष्या का। किन्तु इस प्रसंग में विशेष चिन्ता की ग्रावश्यकता नहीं है। एक तो इस प्रकार का विरोध विशेष कारगर नहीं है। भारतवर्ष में इस समय लगभग तीस विश्वविद्यालयों में एम० ए०

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की शिक्षा और अनुसंधान का क्रम चल रहा है: चौदह-पन्द्रह आचार्य (यूनिवर्सिटी प्रोफ़ेसर), लगभग तीस उपाचार्य (रीडर) और सैकड़ों प्राध्यापक कार्य कर रहे हैं। संख्या-बल की दृष्टि से भी अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी-विभाग ही अग्रणी है और कई बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में प्रशासन के क्षेत्र में भी हिन्दी के प्राध्यापक मूर्धन्य स्थानों पर आसीन हैं। परिषद् का सत्रहवां अधिवेशन जिस वर्ष हुआ था उस सत्र में उत्तर भारत के चार प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में हिन्दी के प्राध्यापक ही कला-संकायों के अधिष्ठाता (डीन फ़ैकल्टी ऑफ़ आर्ट्स) थे। कुछ लोगों पर उप-कुलपति पद के लिए भी प्रस्ताव आ चुके हैं और आ रहे हैं और समय आने पर उस दायित्व का निर्वाह भी कठिन नहीं होगा।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य अवरोध रहते हुए भी हिन्दी-विभाग और उसके प्राध्यापक अपने प्राप्तव्य से वंचित नहीं किये जा सकते। इसके लिए आवश्यकता यह है कि हमारे विभागों का आन्तरिक संगठन दृढ़ हो अर्थात् प्रत्येक हिन्दी-विभाग के प्राध्यापकों में परस्पर सौहार्द और सद्भाव हो : हितों का संघर्ष भी यदि कहीं हो जाए तो भी आन्तरिक एकता खण्डित न होने पाए। उधर, विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों में प्रादेशिक स्तर पर और फिर अखिल भारतीय स्तर पर केवल सौहार्द-सहयोग ही नहीं, लक्ष्य की एकता से प्रेरित एकान्विति की दृढ़ भावना भी होनी चाहिए। मैं अपने अनुभव के आधार पर आपको यह विश्वास दिला सकता हूं कि इस दृष्टि से हमारी स्थिति औरों से कमज़ोर नहीं और इसका पर्याप्त श्रेय भारतीय हिन्दी-परिषद् तथा उसके संस्थापकों को है। किन्तु यह तो एक पक्ष हुआ; दूसरा पक्ष यह भी है कि शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में पद और अधिकार-बल का स्थान गौण ही मानना होगा। आत्मरक्षा तथा व्यावसायिक विकास के लिए इनकी आवश्यकता है और हमें मर्यादा के भीतर इनका समुचित उपयोग भी करना चाहिए, इसमें सन्देह नहीं। कल्याण का मार्ग, परन्तु, दूसरा ही है। प्राध्यापक का वास्तविक उत्कर्ष उसका साहित्यिक-बौद्धिक उत्कर्ष ही है : उसकी सिद्धि ज्ञान की वृद्धि तथा साहित्य-सर्जना में ही केन्द्रित है। अतः आत्म-कल्याण की दृष्टि से प्राध्यापक को पद और अधिकार के आकर्षण के प्रति उसी प्रकार सचेत रहना चाहिए जिस प्रकार सच्चा साधक भौतिक प्रलोभनों के प्रति रहता है। दायित्व के निर्वाह के लिए अधिकार का उपभोग आवश्यक है और भारतीय शिक्षा की वर्तमान भूमिका में हिन्दी प्राध्यापक को शिक्षा के सभी क्षेत्रों में अपनी योग्यता का प्रमाण देना है, किन्तु मूल लक्ष्य आंख से ओझल न हो जाए—विशिष्ट समितियों की अध्यक्षता करते-करते हम विद्वत्समिति की सदस्यता से ही कहीं हाथ न धो बैठें—यह ध्यान बराबर रहना चाहिए। क्योंकि, अध्यापक की मुक्ति ज्ञान से ही संभव है, शक्ति से नहीं।

साहित्य के क्षेत्र में भी हमारे मित्रों की संख्या अधिक नहीं है। एक ओर हिन्दी का पत्रकार वर्ग है जो हमारी शास्त्रीयता से चिढ़ा हुआ है और दूसरी ओर है स्रष्टा कलाकार जो हमारी ज्ञानमन्यता से रुष्ट है। ये दोनों अपने-अपने मंच से और कभी-कभी एक ही मंच से विश्वविद्यालयों पर अनेक रूपों में प्रहार करते हैं। इनकी दृष्टि में हमारी शिक्षण-पद्धति जीवन-हीन और हमारा अनुसंधान सारहीन है, हमारी दृष्टि सीमित और रचना-प्रणाली रूढ़िबद्ध है : साहित्य के जीवन्त उद्गम-स्रोत से विच्छिन्न होकर हम किताबी शिक्षा की रूढ़ियों में जकड़े हुए हैं। मेरा विश्वास है कि इन अथवा इस प्रकार के अन्य आक्षेपों से आप अनभिज्ञ नहीं हैं,

१. वह समय आ चुका है—आज ३-४ विश्वविद्यालयों में हिन्दी के विद्वान् उपकुलपति-पद पर अधिष्ठित हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और ये आक्षेप व्यक्ति के प्रति नहीं हैं, वर्ग और व्यवसाय के प्रति हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षक और सर्जक—खल्वाट ज्ञानी और सुकेशी कलाकार का यह वैमनस्य नया नहीं है; प्रत्येक देश और युग के साहित्य के अन्तर्गत किसी-न-किसी रूप में यह विद्यमान रहा है। किन्तु आज जिस उग्रता के साथ और योजना बनाकर यह विरोध बढ़ रहा है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में भी हमारा दृष्टिकोण निर्भ्रान्त और कर्तव्य-पथ स्पष्ट रहना चाहिए। जैसा कि मैंने साहित्य-शिक्षा का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए अभी कहा है, साहित्य-शिक्षा और साहित्य-सर्जना के बीच प्राण का सम्बन्ध है और हिन्दी के अध्यापक के लिए जीवन्त साहित्य के साथ निरन्तर सम्बन्ध रखना अनिवार्य है। फिर भी उसे पत्रकार के प्रचार-धर्म और कलाकार के कल्पना-विलास से मुक्त रहना है। मैं यहां कलाकार अथवा पत्रकार की अवमानना नहीं कर रहा : कलाकार हमारी साहित्य-सम्पदा के स्रष्टा और पत्रकार उसके सजग प्रहरी हैं—तो भी अपने सहज रूप में अध्यापक न पत्रकार है और न कलाकार। दोनों के आक्षेप उसे आत्म-निरीक्षण का अवसर देते हैं और इस आत्म-निरीक्षण के फलस्वरूप वह अपनी वृत्ति के जड़ तत्त्वों का परिहार तथा चैतन्य तत्त्वों का परिष्कार कर सकता है। किन्तु हीनता का अनुभव करने के लिए यहां भी कोई कारण नहीं, क्योंकि ये आक्षेप भी सर्वथा शुद्ध मन से अथवा एकान्त सद्भाव से नहीं किये जा रहे। इनके पीछे भी थोड़ी बहुत ईर्ष्या विद्यमान है—अध्यापक का विस्तृत अधिकार-क्षेत्र और उससे प्रभावित अन्य साहित्य-वर्गों के हिताहित के प्रश्न इससे संलग्न हैं। कुछ वर्ष पूर्व इसी प्रकार की चर्चा के समय एक अत्यन्त प्रतिष्ठित साहित्यकार ने रोष और कुंठा के भाव से व्यंग्यपूर्वक मुझसे कहा—"आप अध्यापक लोग, जिस ग्रन्थ को चाहें—अपने पाठ्यक्रम में निर्धारित कर, अमर बना सकते हैं।" इस व्यंग्य के पीछे साहित्यकार के मन की तकलीफ़ साफ़ झाँक रही थी। मैंने उत्तर दिया : यह अध्यापक की अभिरुचि की निन्दा है—या उसकी शक्ति का स्तवन ? वास्तव में प्रस्तुत प्रश्न पर हमें इसी दृष्टि से विचार करना है। हमारे ऊपर साहित्य के मूल्यांकन का दायित्व है—हमारा अधिकार-क्षेत्र विस्तृत है, असंख्य विद्यार्थियों के माध्यम से हमारी प्रभाव-शक्ति व्यापक है। इस दायित्व का और इस प्रभाव का दुरुपयोग न हो, अतः हमारी अभिरुचि अत्यन्त परिष्कृत तथा हमारी दृष्टि सर्वथा स्वच्छ रहनी चाहिए। और, इसके लिए आवश्यकता है निरन्तर ज्ञान-साधना की।

साहित्य-शिक्षा के संदर्भ में अनेक प्रश्न उठाकर और उनके यत्किंचित् समाधान का भी इंगित कर मैंने आपका ध्यान इस विन्दु पर केन्द्रित करने का प्रयास किया है कि हिन्दी में अध्यापन-व्यवसाय की प्रगति के साथ-साथ भारतीय हिन्दी-परिषद् जैसी संस्था का महत्त्व बढ़ता जा रहा है और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि उसकी स्थिति दृढ़ हो, जिससे कि वह उपरिनिर्दिष्ट कार्यों में सफलतापूर्वक अग्रसर हो सके। मुझे विश्वास है कि आवश्यकता का अनुभव करने के उपरान्त अब हम लोग उसके स्थायी विकास के लिए सामूहिक प्रयत्न का संकल्प कर सकेंगे। हमारे देश में आज साधन की कमी नहीं है, संगठित प्रयत्न और केन्द्रित कार्य-प्रणाली की कमी है।

आप मुझे क्षमा करेंगे कि मेरे भाषण का स्वर साहित्यिक कम और व्यावसायिक अधिक रहा है। व्यवसाय से अध्यापक होने के साथ-साथ मैं आलोचक भी हूं और हिन्दी-साहित्य के ज्वलन्त प्रश्नों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना मेरे लिए बहुत कठिन नहीं था। परन्तु, मैंने प्रसंग एवं परिस्थिति की अनुकूलता को ध्यान में रखते हुए इस लोभ का संवरण किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की शिक्षा और अनुसंधान का क्रम चल रहा है: चौदह-पन्द्रह आचार्य (यूनिवर्सिटी प्रोफ़ेसर), लगभग तीस उपाचार्य (रीडर) और सैकड़ों प्राध्यापक कार्य कर रहे हैं। संख्या-बल की दृष्टि से भी अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी-विभाग ही अग्रणी है और कई बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में प्रशासन के क्षेत्र में भी हिन्दी के प्राध्यापक मूर्धन्य स्थानों पर आसीन हैं। परिषद् का सत्रहवां अधिवेशन जिस वर्ष हुआ था उस सत्र में उत्तर भारत के चार प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में हिन्दी के प्राध्यापक ही कला-संकायों के अधिष्ठाता (डीन फ़ैकल्टी ऑफ़ आर्ट्स) थे। कुछ लोगों पर उप-कुलपति पद के लिए भी प्रस्ताव आ चुके हैं और आ रहे हैं और समय आने पर उस दायित्व का निर्वाह भी कठिन नहीं होगा।[१] कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य अवरोध रहते हुए भी हिन्दी-विभाग और उसके प्राध्यापक अपने प्राप्तव्य से वंचित नहीं किये जा सकते। इसके लिए आवश्यकता यह है कि हमारे विभागों का आन्तरिक संगठन दृढ़ हो अर्थात् प्रत्येक हिन्दी-विभाग के प्राध्यापकों में परस्पर सौहार्द और सद्भाव हो: हितों का संघर्ष भी यदि कहीं हो जाए तो भी आन्तरिक एकता खण्डित न होने पाए। उधर, विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों में प्रादेशिक स्तर पर और फिर अखिल भारतीय स्तर पर केवल सौहार्द-सहयोग ही नहीं, लक्ष्य की एकता से प्रेरित एकान्विति की दृढ़ भावना भी होनी चाहिए। मैं अपने अनुभव के आधार पर आपको यह विश्वास दिला सकता हूं कि इस दृष्टि से हमारी स्थिति औरों से कमज़ोर नहीं और इसका पर्याप्त श्रेय भारतीय हिन्दी-परिषद् तथा उसके संस्थापकों को है। किन्तु यह तो एक पक्ष हुआ; दूसरा पक्ष यह भी है कि शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में पद और अधिकार-बल का स्थान गौण ही मानना होगा। आत्मरक्षा तथा व्यावसायिक विकास के लिए इनकी आवश्यकता है और हमें मर्यादा के भीतर इनका समुचित उपयोग भी करना चाहिए, इसमें सन्देह नहीं। कल्याण का मार्ग, परन्तु, दूसरा ही है। प्राध्यापक का वास्तविक उत्कर्ष उसका साहित्यिक-बौद्धिक उत्कर्ष ही है: उसकी सिद्धि ज्ञान की वृद्धि तथा साहित्य-सर्जना में ही केन्द्रित है। अतः आत्म-कल्याण की दृष्टि से प्राध्यापक को पद और अधिकार के आकर्षण के प्रति उसी प्रकार सचेत रहना चाहिए जिस प्रकार सच्चा साधक भौतिक प्रलोभनों के प्रति रहता है। दायित्व के निर्वाह के लिए अधिकार का उपभोग आवश्यक है और भारतीय शिक्षा की वर्तमान भूमिका में हिन्दी प्राध्यापक को शिक्षा के सभी क्षेत्रों में अपनी योग्यता का प्रमाण देना है, किन्तु मूल लक्ष्य आँख से ओझल न हो जाए—विशिष्ट समितियों की अध्यक्षता करते-करते हम विद्वत्समिति की सदस्यता से ही कहीं हाथ न धो बैठें—यह ध्यान बराबर रहना चाहिए। क्योंकि, अध्यापक की मुक्ति ज्ञान से ही संभव है, शक्ति से नहीं।

साहित्य के क्षेत्र में भी हमारे मित्रों की संख्या अधिक नहीं है। एक ओर हिन्दी का पत्रकार वर्ग है जो हमारी शास्त्रीयता से चिढ़ा हुआ है और दूसरी ओर है स्रष्टा कलाकार जो हमारी ज्ञानमन्यता से रुष्ट है। ये दोनों अपने-अपने मंच से और कभी-कभी एक ही मंच से विश्वविद्यालयों पर अनेक रूपों में प्रहार करते हैं। इनकी दृष्टि में हमारी शिक्षण-पद्धति जीवन-हीन और हमारा अनुसंधान सारहीन है, हमारी दृष्टि सीमित और रचना-प्रणाली रूढ़िबद्ध है: साहित्य के जीवन्त उद्गम-स्रोत से विच्छिन्न होकर हम किताबी शिक्षा की रूढ़ियों में जकड़े हुए हैं। मेरा विश्वास है कि इन अथवा इस प्रकार के अन्य आक्षेपों से आप अनभिज्ञ नहीं हैं,

१. वह समय आ चुका है—आज ३-४ विश्वविद्यालयों में हिन्दी के विद्वान् उपकुलपति-पद पर अधिष्ठित हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और ये आक्षेप व्यक्ति के प्रति नहीं हैं, वर्ग और व्यवसाय के प्रति हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षक और सर्जक—खल्वाट ज्ञानी और सुकेशी कलाकार का यह वैमनस्य नया नहीं है; प्रत्येक देश और युग के साहित्य के अन्तर्गत किसी-न-किसी रूप में यह विद्यमान रहा है। किन्तु आज जिस उग्रता के साथ और योजना बनाकर यह विरोध बढ़ रहा है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में भी हमारा दृष्टिकोण निर्भ्रान्त और कर्तव्य-पथ स्पष्ट रहना चाहिए। जैसा कि मैंने साहित्य-शिक्षा का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए अभी कहा है, साहित्य-शिक्षा और साहित्य-सर्जना के बीच प्राण का सम्बन्ध है और हिन्दी के अध्यापक के लिए जीवन्त साहित्य के साथ निरन्तर सम्बन्ध रखना अनिवार्य है। फिर भी उसे पत्रकार के प्रचार-धर्म और कलाकार के कल्पना-विलास से मुक्त रहना है। मैं यहां कलाकार अथवा पत्रकार की अवमानना नहीं कर रहा : कलाकार हमारी साहित्य-सम्पदा के स्रष्टा और पत्रकार उसके सजग प्रहरी हैं—तो भी अपने सहज रूप में अध्यापक न पत्रकार है और न कलाकार। दोनों के आक्षेप उसे आत्म-निरीक्षण का अवसर देते हैं और इस आत्म-निरीक्षण के फलस्वरूप वह अपनी वृत्ति के जड़ तत्त्वों का परिहार तथा चैतन्य तत्त्वों का परिष्कार कर सकता है। किन्तु हीनता का अनुभव करने के लिए यहां भी कोई कारण नहीं, क्योंकि ये आक्षेप भी सर्वथा शुद्ध मन से अथवा एकान्त सद्भाव से नहीं किये जा रहे। इनके पीछे भी थोड़ी बहुत ईर्ष्या विद्यमान है—अध्यापक का विस्तृत अधिकार-क्षेत्र और उससे प्रभावित अन्य साहित्य-वर्गों के हिताहित के प्रश्न इससे संलग्न हैं। कुछ वर्ष पूर्व इसी प्रकार की चर्चा के समय एक अत्यन्त प्रतिष्ठित साहित्यकार ने रोष और कुंठा के भाव से व्यंग्यपूर्वक मुझसे कहा—"आप अध्यापक लोग, जिस ग्रन्थ को चाहें—अपने पाठ्यक्रम में निर्धारित कर, अमर बना सकते हैं।" इस व्यंग्य के पीछे साहित्यकार के मन की तकलीफ़ साफ़ झाँक रही थी। मैंने उत्तर दिया : यह अध्यापक की अभिरुचि की निन्दा है—या उसकी शक्ति का स्तवन ? वास्तव में प्रस्तुत प्रश्न पर हमें इसी दृष्टि से विचार करना है। हमारे ऊपर साहित्य के मूल्यांकन का दायित्व है—हमारा अधिकार-क्षेत्र विस्तृत है, असंख्य विद्यार्थियों के माध्यम से हमारी प्रभाव-शक्ति व्यापक है। इस दायित्व का और इस प्रभाव का दुरुपयोग न हो, अतः हमारी अभिरुचि अत्यन्त परिष्कृत तथा हमारी दृष्टि सर्वथा स्वच्छ रहनी चाहिए। और, इसके लिए आवश्यकता है निरन्तर ज्ञान-साधना की।

साहित्य-शिक्षा के संदर्भ में अनेक प्रश्न उठाकर और उनके यत्किंचित् समाधान का भी इंगित कर मैंने आपका ध्यान इस विन्दु पर केन्द्रित करने का प्रयास किया है कि हिन्दी में अध्यापन-व्यवसाय की प्रगति के साथ-साथ भारतीय हिन्दी-परिषद् जैसी संस्था का महत्त्व बढ़ता जा रहा है और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि उसकी स्थिति दृढ़ हो, जिससे कि वह उपरिनिर्दिष्ट कार्यों में सफलतापूर्वक अग्रसर हो सके। मुझे विश्वास है कि आवश्यकता का अनुभव करने के उपरान्त अब हम लोग उसके स्थायी विकास के लिए सामूहिक प्रयत्न का संकल्प कर सकेंगे। हमारे देश में आज साधन की कमी नहीं है, संगठित प्रयत्न और केन्द्रित कार्य-प्रणाली की कमी है।

आप मुझे क्षमा करेंगे कि मेरे भाषण का स्वर साहित्यिक कम और व्यावसायिक अधिक रहा है। व्यवसाय से अध्यापक होने के साथ-साथ मैं आलोचक भी हूं और हिन्दी-साहित्य के ज्वलन्त प्रश्नों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना मेरे लिए बहुत कठिन नहीं था। परन्तु, मैंने प्रसंग एवं परिस्थिति की अनुकूलता को ध्यान में रखते हुए इस लोभ का संवरण किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य का अध्यापक मूलतः उस अर्थ में साहित्य-स्रष्टा नहीं है जिस अर्थ में कवि या उपन्यास-कार; साहित्य के आलोचक के निकट होते हुए भी वह उससे अभिन्न नहीं है; वह साहित्य का प्रसारक है और अपनी सीमाओं के भीतर उसका संरक्षक भी। इस दृष्टि से यदि यह संक्षिप्त वक्तव्य वर्तमान अधिवेशन में समवेत सहयोगियों के मन में अपने अधिकार और दायित्व के प्रति किसी प्रकार भी आस्तिक बुद्धि उत्पन्न कर सका, तो मेरी कृतकार्यता असंदिग्ध है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

राष्ट्रीय संकट और साहित्य : शासन और हिन्दी (अभिभाषण--२[1])

अलीगढ़ मेरा घर है और आपने घर के इस जोगी को सिद्ध का सम्मान देकर वास्तव में अतिरिक्त उदारता का परिचय दिया है। स्वतन्त्र भारत में अलीगढ़-विश्वविद्यालय का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यह हमारी सामाजिक संस्कृति का विकासशील केन्द्र है। इस्लामी संस्कृति-सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान का अनुसंधान तो इसका वैशिष्ट्य ही है, परन्तु उसके साथ आर्य संस्कृति, दर्शन और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की भी यहां सम्यक् व्यवस्था है। परिणामतः यहां का हिन्दी-संस्कृत विभाग जहां अपने-आप में पूर्णतः विकसित है, वहां उसे एक विशेष परिवेश में कार्य करने का सुयोग भी प्राप्त है। विश्वविद्यालय के आकर्षण के अतिरिक्त अलीगढ़ नगर और जनपद का भी अपना आकर्षण कम नहीं है। यह ब्रज का केन्द्र नहीं तो सीमान्त अवश्य है और सीमान्त का महत्त्व राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, सांस्कृतिक क्षेत्र में भी कम नहीं होता। यहीं ब्रज की सरल-कोमल संस्कृति और बोली का कुरुप्रदेश की दृढ़-कठोर संस्कृति और बोली के साथ प्रथम संसर्ग होता है—अतः संस्कृति-विज्ञान और भाषा-विज्ञान के अध्येताओं के लिए यहां की भूमि निश्चय ही रत्नगर्भा है। अलीगढ़ के साहित्यिक महत्त्व का भी अवमूल्यन नहीं किया जा सकता—द्विवेदी-युग की अनेक विभूतियों की कर्मभूमि यही है। इसी प्रान्त में खड़ी बोली की कविता ने कविता-कामिनी-कान्त पं० नाथूराम 'शंकर' का स्वयंवरण किया था। अतः इस संस्कृति-संगम का विचित्र आकर्षण है और भारतीय हिन्दी-परिषद् के इस अधिदेशन का अपना महत्त्व है। इस सुयोग के लिए मैं अपने आतिथेय विश्वविद्यालय, उसके यशस्वी उपकुलपति और स्वागत-समिति के अधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूं।

वर्तमान अधिवेशन राष्ट्रीय संकट की भूमिका में हो रहा है। यद्यपि आक्रामक का उन्माद और उसी क्रम से भारतीय चित्त का उद्वेलन बहुत कुछ शान्त हो गया है, फिर भी आपात-स्थिति तो अभी बनी ही हुई है और आज की इस साहित्यिक-बौद्धिक परिषद् में हमारा ध्यान अनायास ही उसकी ओर चला जाता है। वर्तमान परिस्थिति में साहित्य के रचयिता और व्याख्याता का क्या दायित्व है ?—पहला प्रश्न यह है। यह परिषद् साहित्य के प्राध्यापकों की संस्था है और प्राध्यापक केवल साहित्य के आधारभूत मूल्यों का व्याख्याता ही नहीं, प्रसारक और संरक्षक भी है। अतएव हिन्दी का बुद्धिजीवी स्वभावतः ही उससे इस प्रश्न के समाधान की माँग कर सकता है। भारतीय साहित्यकार के सामने यह प्रश्न शायद पहली बार उपस्थित हुआ है। इससे पहले भी भारत दो भयंकर विश्व-युद्ध देख चुका है, लेकिन उन दोनों युद्धों के साथ हमारा परोक्ष सम्बन्ध था। हम उनके प्रायः द्रष्टा मात्र थे, भोक्ता नहीं। इधर पराधीन भारत का स्वतन्त्रता-

१. भारतीय हिन्दी-परिषद् के बीसवें वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से वाचित : अलीगढ़ विश्वविद्यालय, दिनांक २६-५-१९६३।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संग्राम केवल उपचार से ही संग्राम था। वह विदेशी सत्ता के विरुद्ध प्रबुद्ध राष्ट्र का अहिंसात्मक संघर्ष था, जिसका दर्शन और जिसका स्वरूप दोनों ही भिन्न थे। प्रेरक भावना दोनों की एक ही है—आत्म-रक्षा अर्थात् अपने स्वत्व और गौरव की रक्षा का उत्साह। फिर भी, दोनों का स्वरूप एक नहीं है। वह वीर रस जहां करुणा से पोषित था, वहां आज का वीररस रौद्र से पुष्ट है।

समाज के प्रत्येक वर्ग ने इस चुनौती को स्वीकार किया है और अपने सम्पूर्ण साधन-बल से वह आत्मरक्षा के इस महान् यज्ञ में आहुति दे रहा है। साहित्यकार समाज का सामान्य अंग नहीं है—विशिष्ट अंग है, अतः उसे अपने योगदान के द्वारा इस वैशिष्ट्य की रक्षा भी करनी है। उसका योगदान दो प्रकार का हो सकता है : तात्कालिक तथा स्थायी। तात्कालिक योगदान है वर्तमान संकट का सामना करने के लिए अपनी कारयित्री प्रतिभा का सद्यः उपयोग—ऐसे साहित्य की सृष्टि करना जो देश के शौर्य को उद्दीप्त करे, सैनिक के आत्मबल को प्रबुद्ध करे, समाज में बलिदान और स्वरक्षा की भावना जगाये, राष्ट्रीय शक्ति तथा साधन का समंजन करे और इन सबके द्वारा स्थायी विजय का मार्ग प्रशस्त करे। आज की भूमिका में हमारे कवि का कर्तव्य है देश के प्राणों में संचित आग को प्रज्वलित करना; कथाकार का कर्तव्य है शत्रु की क्रूरता एवं पामरता तथा भारतीय वीरों के दिव्य शौर्य और बलिदान की कहानी कहना; नाटककार का कर्तव्य है वंचक मित्र के पाप और भारत के पुण्य के द्वन्द्व को तोलना और आलोचक का दायित्व है भ्रांतियों का खंडन कर भारत की न्याय-नीति का समर्थन करना। स्पष्टतः यह साहित्य गुण की दृष्टि से अधिक काम्य नहीं होगा, परन्तु इसका मूल्यांकन साधन के रूप में ही करना चाहिए, सिद्धि के रूप में नहीं। यह साहित्यकार के युगधर्म की पूर्ति है और इसके बिना उसका निस्तार नहीं—राष्ट्र की स्वाधीनता उसका सबसे बड़ा गौरव है, उसके अभाव में गुलाम देश के साहित्य का क्या मूल्य रहेगा? और फिर यह जाग्रति, यह उद्बोध केवल क्षणिक उपलब्धि ही नहीं है। जीवन में उत्साह से अधिक उदात्त कोई भाव नहीं और आत्म-रक्षा से महत्तर न कोई स्वार्थ है, न कोई धर्म। अतः आत्म-रक्षा के प्रति उत्साह जीवन की सबसे मौलिक एवं उदात्त भावना है। चीन के आक्रमण से आज राष्ट्र की चेतना में उसी का अनायास उदय हो गया है। भारत के साहित्यकार को इस सहज-प्राप्त पूंजी का अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिए। युद्ध की स्थिति अस्थायी है—परन्तु युद्ध के आह्वान से राष्ट्र की आत्मा का जो भव्यतम रूप निखरकर सामने आ गया है वह हमारे कलाकार के लिए एक स्थायी वरदान है। जिस प्रकार हमारे राष्ट्रीय जीवन में विघटनकारी तत्त्वों का अपने-आप ही तिरोभाव हो जाने से देश की रागात्मक एकता अनायास ही दृढ़ हो गयी है, इसी प्रकार हमारे साहित्य में भी पिछले दो दशकों से जो अभारतीय तत्त्व उसकी आत्मा को विकृत कर रहे थे—खोखली बौद्धिकता के कारण कल्पना और भाव-जगत् में कुण्ठाओं का जो विष फैलता जा रहा था, उन सबका आज सहसा शमन हो गया है और जीवन के उदात्त मूल्य फिर उभरकर सामने आ गये हैं। इस अमूल्य भाव-निधि के बल पर वह आज भी अमर साहित्य की सृष्टि कर सकता है—और आज यदि उसे इतना अवकाश नहीं है तो भविष्य के लिए संस्कार रूप में इसे संजोकर रख सकता है। आज की 'भारत-भारती' शीघ्र ही भविष्य के 'साकेत' के लिए उर्वरा भूमि तैयार कर सकेगी। इस प्रकार वस्तुतः आज साहित्य के युग-धर्म और सहज धर्म में कोई विरोध नहीं उठ खड़ा हुआ है—युग-धर्म भी शाश्वत धर्म का ही साधक होता है; सहज धर्म की रक्षा के लिए ही तो मनुष्य आपद्धर्म का वरण करता है।—भारत के साहित्यकार को आज की चुनौती को इसी रूप में स्वीकार करना है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किन्तु, यह चित्र का एक पहलू है। स्वाभिमानी राष्ट्र का वंचक आक्रामक के प्रति आक्रोश जितना स्वाभाविक है, उतना ही श्लाघ्य भी। भारत का क्षात्र तेज, जो प्रायः इतिहास बनकर रह गया था, सहसा फिर प्रदीप्त हो उठा है और देशभक्ति की आग, जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त विश्व-मैत्री तथा पंचशील के शीतल वातावरण में मन्द पड़ गयी थी, फिर से भड़क उठी है। प्राणों का यह उद्वेलन और मस्तिष्क का यह आन्दोलन अपने-आप में बड़ा मूल्यवान् है—इसमें सन्देह नहीं। साहित्य की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है और भारतीय साहित्य को इसके कुछ सद्यःफल प्राप्त भी हो चुके हैं। किन्तु एक गम्भीर तथ्य पर हमें स्वस्थ मन से विचार करना होगा। आप कह सकते हैं कि युद्ध में स्वस्थ मन की बात करना अस्वाभाविक है। फिर भी, जीवन के मूल्यों का निर्धारण तो स्वस्थ मन ही कर सकेगा। आज नहीं तो कल, जब भी आप इन मूल्यों का निश्चय करने बैठेंगे, मन को स्वस्थ करना ही होगा। मौलिक प्रश्न यह है कि जीवन की सिद्धि शान्ति है या युद्ध ? युद्ध जीवन का अनिवार्य अंग है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता—परन्तु जीवन की सिद्धि शान्ति ही है—वही आनन्द की भूमिका है। युद्ध प्रायः शान्ति का बाधक होता है। साथ ही, वह शान्ति का साधक भी हो सकता है और होता है। युद्ध की भावना सर्वथा निरानन्द भी नहीं है। वीर सैनिकों के उल्लास को देखकर युद्ध-रस का अनुमान लगाना भी कठिन नहीं है। परन्तु सब मिलाकर युद्ध साधन ही रहेगा, साध्य नहीं हो सकता। युयुत्सा में उत्तेजना है, स्फूर्ति है, और इनका अनुभव कभी-कभी प्रीतिकर भी होता है, परन्तु ये सभी साधक प्रक्रिया मात्र हैं—लक्ष्य तो आत्म-विश्रान्ति ही है। आनन्द वास्तव में उसी का नाम है। अतः जीवन के चरम मूल्यों का निर्धारण इसी लक्ष्य के संदर्भ में करना होगा। और, यदि यह तर्क ठीक है तो युद्ध के वातावरण में भी गांधी-दर्शन को दफ़नाया नहीं जा सकता। आज चिन्तन के क्षेत्र में यह ख़तरा पैदा हो गया है कि इस सामयिक विक्षोभ में हम कहीं जीवन के शाश्वत मूल्यों का निषेध न कर बैठें। उत्तर हो सकता है कि युद्ध भी तो शाश्वत धर्म है। इसका प्रत्युत्तर यह है कि हिंसात्मक युद्ध जिसका उद्देश्य संहार एवं विनाश है, और जिसका प्रेरक भाव क्रोध एवं घृणा है, शाश्वत धर्म नहीं हो सकता—वह अधिक-से-अधिक आपद्धर्म ही हो सकता है। मैं अहिंसावादी नहीं हूं—व्यक्तिगत जीवन में स्वत्व की रक्षा, स्वाभिमान की रक्षा और न्याय की रक्षा के लिए संघर्ष तथा शक्ति-प्रयोग अनिवार्य हो जाता है, परन्तु इसमें आत्मा को विश्रांति नहीं मिलती। मन ऐसी स्थिति की कामना करता है जिसमें द्वेष, क्रोध और संघर्ष से निर्मुक्त पूर्ण सद्भाव हो। मानव-प्रकृति मूलतः रचनात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। भारतीय साहित्य और साहित्यशास्त्र इसका साक्षी है। यहां नाटक अथवा महाकाव्य के अंगी रस के रूप में रचनात्मक भावों पर आश्रित शृंगार, वीर और शान्त को ही स्वीकृति प्रदान की गयी है—क्रोधमूलक रौद्र का स्थान सर्वथा गौण है। वीर और रौद्र का भेद करते हुए भारतीय आचार्य ने उत्साह का आस्वाद प्रीतिकर और क्रोध का क्लेशकर माना है। अतः क्रोध जीवन का गौण या सहायक भाव है जबकि उत्साह जिजीविषा का प्राण है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि क्रोध का भी अपना महत्त्व है—किन्तु यह जीवन और साहित्य का अंगी भाव नहीं बन सकता—वेद में भी मन्यु की कामना संचारी भाव के रूप में ही की गयी, स्थायी के रूप में नहीं। ऐसी स्थिति में आपात या आपत्काल में भी इस बात का ध्यान रखना होगा कि आक्रोश और उत्तेजना के वशीभूत होकर हम मानसिक संतुलन न खो बैठें—गांधी या उनके समसामयिक द्रष्टाओं ने युग-जीवन का मन्थन कर जिन अमृत-मूल्यों की प्राप्ति एवं प्रतिष्ठा की है वे भारतीय जीवन तथा चिंतन-परम्परा के अक्षय फल हैं :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सामयिक आवश्यकताओं के पूरक उपाय मात्र नहीं हैं। एक धक्के में ही यदि यह ज्योति-मन्दिर टूटकर धराशायी हो गया तो यह इस ज्ञान-गुरु राष्ट्र की घोर आत्मिक पराजय होगी, जो किसी भी राजनीतिक पराजय से अधिक दारुण तथा स्थायी हो सकती है। शौर्य और उत्साह की उद्‌बुद्धि, शक्ति और ऊर्जा का संचार साहित्यकार का कर्तव्य है—किन्तु आक्रोश और घृणा के द्वारा उत्तेजना की स्थिति का पोषण करना, जीवन-मूल्यों में अराजकता उत्पन्न कर देना, अन्ततः घातक सिद्ध होगा।

यह तो रही सीमा की बात—देश की स्वराष्ट्र-नीति के अन्तर्गत भी हाल ही में एक ऐसी घटना घटी है जिसकी उत्तेजना अभी शांत नहीं हुई। सरकार ने राजभाषा-विधेयक पारित कर यह व्यवस्था दी है कि सन् १९६५ के बाद भी अंगरेज़ी भारत की राजभाषा बनी रहेगी। चूँकि परिषद् का वर्तमान अधिवेशन इस घटना की छाया में हो रहा है और हिन्दी के विकास एवं प्रसार पर इसका प्रभाव अवश्यम्भावी है, इसलिए दो शब्द इस विधेयक और उससे उत्पन्न स्थिति के विषय में भी कहना असंगत न होगा। इसमें सन्देह नहीं कि जो कुछ हुआ है वह अत्यन्त अप्रिय है। जैसा कि अपने किसी वक्तव्य में श्री दिनकर ने कहा था, हिन्दी केवल राजभाषा या राष्ट्रभाषा ही नहीं है, वह देश की बहुसंख्यक जनता की मातृभाषा भी है। जिनकी वह मातृभाषा है उनके मन में सहज ही यह भाव आता है कि हमने तो किसी से इसे राजभाषा का गौरव देने का आग्रह नहीं किया था। जैसी भी अच्छी या बुरी यह थी, हम इसके माध्यम से अपने सुख-दुःख, राग-विराग, आशा-आकांक्षाओं को व्यक्त करते आ रहे थे। भारत के राष्ट्रपिता और राष्ट्रनायकों ने ही सर्वहित में यह अनुभव किया कि अंगरेज़ी शासन, संस्कृति, सभ्यता आदि से मुक्ति पाने के लिए अंगरेज़ी भाषा का भी त्याग आवश्यक है। उन्हीं ने यह निर्णय भी किया कि अंगरेज़ी का स्थान हिन्दी ले—स्वतन्त्र भारत के संविधान ने इसको निर्भ्रान्त शब्दों में अंकित भी किया, और यह सब राजनीतिज्ञों के मत से हुआ—सियारामशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत या धीरेन्द्र वर्मा के वोट से नहीं। राष्ट्र के उन्हीं कर्णधारों के विचार में आज हिन्दी असमर्थ भाषा है—उसमें सभी प्रकार के दोष हैं—देश की न जाने कौन-कौन-सी भाषाएं उससे अधिक समृद्ध हैं। पराधीन भारत में हिन्दी के सबसे प्रबल समर्थक दाक्षिणात्य नेता को आज सहसा इल्हाम हुआ है कि हिन्दी राष्ट्रीय एकता को खण्डित कर देगी। यह घोर अन्याय है। जिन्होंने पहले हिन्दी के लिए राजकीय सम्मान की भीख नहीं माँगी थी, स्वभावतः वे इसके लिए भी तैयार नहीं हैं कि उनकी मातृभाषा का अकारण ही अपमान किया जाए। पर यह सब हुआ और संविधान का भी उल्लंघन हुआ : यदि इसका प्रतिरोध किया गया तो दो तर्कों के द्वारा हिन्दी के समर्थकों का मुंह बन्द कर दिया गया—(१) हिन्दी देश पर उसकी मर्ज़ी के खिलाफ़ लादी नहीं जा सकती। और (२) हिन्दी में अभी उचित क्षमता का अभाव है। इन तर्कों में कितनी विडम्बना है! हिन्दी देश पर उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ लादी नहीं जा सकती, मानो बीस करोड़ हिन्दी-जनता देश का अंग नहीं है जिसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ देश पर अंगरेज़ी लादी जा रही है! हिन्दी में उचित क्षमता का अभाव है — जैसे कि सभी राजकीय कार्यों में उसका परीक्षण किया जा चुका है और वह अक्षम सिद्ध हो चुकी है! ··· प्रश्न यह है कि अब क्या किया जाए? हमारे सामने तीन विकल्प हैं—असहयोग, संघर्ष और सहयोग। असहयोग का अर्थ यह है कि शासन से अत्यन्त विनयपूर्वक निवेदन किया जाए कि राजभाषा का पद हिन्दी के लिए बड़ा महँगा पड़ रहा है, उसे अब इस गौरव-भार से मुक्त किया जाए। इस विकल्प का प्रमुख दोष यह है कि ऐसे असहयोग से एक प्रकार का गतिरोध उत्पन्न हो जाएगा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिसका पूरा लाभ अंगरेज़ी को मिलेगा। हिन्दी के स्थान पर तमिल या बंगला या कोई भी भारतीय भाषा सामने आती तब तो बात बन जाती, किन्तु प्रतिस्पर्धा तो अंगरेज़ी से है जो पहले से विद्यमान है—अतः हिन्दी के खाते में जितना भी नफ़ा होगा वह सब अंगरेज़ी के खाते में जमा हो जाएगा। —संघर्ष का अर्थ गांधी का यह सत्याग्रही देश अच्छी तरह जानता है। किन्तु, इस मार्ग के खतरे और भी बड़े हैं। एक तो आपात-स्थिति अभी बनी हुई है, इसलिए यह समय शक्ति-समन्वय तथा शक्ति-संचय का है और अन्तःसंघर्ष में, चाहे वह कितना भी न्याय्य एवं शान्तिमय क्यों न हो, राष्ट्र-शक्ति का ह्रास अनिवार्य है। दूसरे, संघर्ष का रूप—आप चाहे लाख प्रयत्न करें—राजनीतिक हुए बिना रह नहीं सकता और हिन्दी का प्रश्न दलगत राजनीति के दलदल में अगर एक बार भी फँस गया तो फिर उसका उद्धार नहीं हो सकता। हिन्दी की राष्ट्रीय परम्पराएं अत्यन्त उज्ज्वल और निष्कलंक रही हैं, आक्रोश या प्रतिशोध की भावना के वशीभूत होकर हमें कोई कार्य ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे उन पर धब्बा लगे। तीसरा विकल्प है सहयोग, जिसका अर्थ यह है कि उत्तेजना और आक्रोश को त्याग विवेकपूर्वक रचनात्मक पद्धति का अवलम्बन किया जाए—अर्थात् अतीत की विफलताओं का विश्लेषण और उनके लिए उत्तरदायी व्यक्तियों अथवा अभिकरणों की छानबीन करने के स्थान पर वर्तमान तथा भावी विकास-योजनाओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाए। इसके लिए यह विश्वास करना होगा कि शासन वास्तव में आगामी दस-बारह वर्षों में हिन्दी के लिए सम्यक् उद्योग करना चाहता है और हमें भी उसके आश्वासनों का उसी आग्रह के साथ लाभ उठाना होगा जिस आग्रह के साथ हिन्दी के विरोधियों ने अंगरेज़ी-विषयक आश्वासन का लाभ उठाया है। मैं समझता हूं कि वर्तमान स्थिति में सक्रिय सहयोग का यह मार्ग बुरा नहीं रहेगा—कम-से-कम एक बार आज़माने में कोई हर्ज नहीं है। मेरी अपनी धारणा है कि शासन ने जहां—सही या ग़लत ढंग से—यह अनुभव किया है कि अभी देश हिन्दी को एकमात्र राजभाषा के रूप में ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं है, वहां उसे इस बात का भी विश्वास हो गया है कि हिन्दी के विकास के लिए उचित व्यवस्था नहीं हुई और अब इस दोष का परिमार्जन करना ही होगा। हमें शासन की इस मनःस्थिति का लाभ उठाना चाहिए और जनता तथा शासन दोनों के सहयोग से आगामी दस-बारह वर्षों में योजना-बद्ध कार्य करना चाहिए : राजकीय योजनाओं में सक्रिय योगदान करना चाहिए और उधर जनता के सहयोग तथा सार्वजनिक संस्थाओं के माध्यम से अपनी योजनाएं तैयार कर शासन का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। इससे निश्चय ही लाभ होगा—आज की परिस्थिति को देखते हुए यही मार्ग सर्वश्रेष्ठ है।

आपकी अनुमति हो तो अब प्रकृत भूमि पर उतरकर कुछ अपने काम की बात की जाए—मेरा अभिप्राय साहित्य, शिक्षा और अनुसंधान-विषयक चर्चा से है। सन् १९६२ का वर्ष, जो काल के अनन्त प्रवाह में अपनी पूरी शक्ति से जीकर इतिहास का अंग बन गया, हिन्दी-साहित्य को क्या वरदान दे गया ?—परिषद् के साहित्यिक मंच से हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। सर्जनात्मक साहित्य की दृष्टि से यह वर्ष कदाचित् अधिक सम्पन्न नहीं माना जा सकता। कविता के क्षेत्र में दो-तीन पुस्तकें ही ऐसी हैं जिनके नामों का उल्लेख किया जा सकता है : भगवती बाबू की कृति 'रंगों से मोह', बच्चन का कविता-संग्रह 'चार खेमे : चौंसठ खूंटे', और नरेश मेहता की दो रचनाएं—'बोलने दो चीड़ को' तथा 'संशय की एक रात'। इनसे अधिक आकर्षक है 'वृत्र-संहार', जो बंगला कवि हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय के प्रसिद्ध काव्य का छन्दोबद्ध अनुवाद है। अनुवादक हैं 'मधुप' छद्मनामधारी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त। इस ग्रंथ में पुराने जादूगर की कला का चम-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

त्कार एक बार फिर देखने को मिलता है। कवि दिनकर की ओजस्वी रचना 'परशुराम की प्रतीक्षा' का प्रकाशन यद्यपि सन् '६२ से एकाध सप्ताह बाद हुआ, फिर भी वर्तमान स्थिति से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध होने के कारण प्रस्तुत सन्दर्भ में उसका उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय काव्य में, अकारण आक्रमण से उत्पन्न आक्रोश की कदाचित् यह प्रबलतम अभिव्यक्ति है। इसके प्रतिपाद्य से किसी का मतभेद हो सकता है—सम्भवतः शान्ति के क्षणों में स्वयं कवि को ही उसमें संशोधन करना पड़े, किन्तु इस बात से इन्कार करना कठिन होगा कि दिनकर की यह रचना वर्तमान युद्ध-काव्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण के रूप में अथवा यों कहें कि वर्तमान आक्रोश के काव्यात्मक आलेख के रूप में अमर रहेगी।

कथा-साहित्य में सक्रियता तो रही, किन्तु उपलब्धि विशेष नहीं हुई—वरिष्ठ लेखकों के कतिपय उपन्यास जैसे चतुरसेन शास्त्री-कृत 'शुभदा', भगवतीचरण वर्मा के 'सामर्थ्य और सीमा', भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'टूटा टी-सेट' और 'दूखन लागे नैन' आदि में कला का अभ्यास मात्र मिलता है। इनकी अपेक्षा नरेश मेहता के 'यह पथबन्धु था' शीर्षक उपन्यास में चेतना के जीवन्त स्पर्श अधिक हैं। कहानी के क्षेत्र में 'नयी'-'पुरानी' कहानी का विवाद उभरकर सामने आया—वरिष्ठ लेखकों में यशपाल का संग्रह 'सच बोलने की भूल', और इधर उसको चुनौती देते हुए दो संकलन 'एक और ज़िन्दगी' तथा 'छोटे-छोटे ताजमहल' प्रकाशित हुए।

निबन्ध तथा संस्मरण यों भी कम लिखे जाते हैं और इस वर्ष भी उनकी संख्या कम ही है। परन्तु गुण की दृष्टि से उनका मूल्य कम नहीं है—'समय के पाँव' में संकलित माखनलालजी के निबन्धों में उनकी वक्र शैली का चमत्कार यथावत् विद्यमान है—साथ ही, विषय अधिक मूर्त होने से बिम्ब अधिक स्पष्ट हैं। 'आँगन का पंछी और बनजारा मन' के निबन्धों की कला में कड़वी-मीठी अनुभूति और अभिव्यक्ति का स्वाद है। 'समय और हम' में सामाजिक समस्याओं पर जैनेन्द्रजी के विचार हैं : सर्वोदयी चिन्ताधारा की परिधि में जैनेन्द्रजी का मौलिक चिन्तन इन लेखों में स्पष्ट है और गांधीवादी साहित्य में इस ग्रंथ का अपना स्थान रहेगा। विषय और उसके निर्मुक्त प्रतिपादन की दृष्टि से 'कलम का सिपाही' एक विशिष्ट कृति है। अमृतराय की यह रचना हिन्दी के जीवनी-साहित्य की अमर उपलब्धि है : शिवरानीजी द्वारा रचित संस्मरण-ग्रंथ 'प्रेमचन्द—घर में' की सापेक्षता में इस ग्रंथ का मूल्य और भी बढ़ जाता है : पत्नी ने जहां पति के चित्र को अपने व्यक्तित्व के परिवेश में लपेटकर प्रस्तुत किया है, वहां बेटे का भाव बाप के प्रति अत्यन्त तटस्थ और मुक्त रहा है। पत्नी की आत्मीयता में भी संरक्षण की भावना छिपी है और बेटे की तटस्थता में भी दृढ़ आस्था तथा सम्मान निहित है।

हिन्दी की आलोचना की धारा आजकल अनुसंधान से मिल गयी है। शोध-प्रबन्धों का संख्या-बल प्रतिवर्ष स्वतन्त्र आलोचना-ग्रंथों पर छा जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। अनुसंधान सामान्यतः जहां योजनाबद्ध निर्माण के कार्यक्रम के अन्तर्गत आता है, वहां आलोचना के लिए सर्जनात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है। अतः निर्माण-कार्य स्वभावतः ही परिमाण में अधिक होगा। स्वतन्त्र आलोचना के क्षेत्र में श्रीमती महादेवी वर्मा के संग्रह 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध' और डॉ० रामविलास के लेख-संकलन 'आस्था और सौन्दर्य' का उल्लेख किया जा सकता है। महादेवी के साहित्य-सम्बन्धी विचार प्रौढ़ चिन्तन और गम्भीर अनुभूति से पुष्ट हैं; वे साहित्य के आस्तिक मूल्यों के अमर आख्यान हैं। यद्यपि इस संग्रह के अधिकांश लेख पुराने हैं, फिर भी उनका मूल्य आज भी यथावत् बना हुआ है। इस वर्ष दो इतिहास-ग्रंथ भी प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुए हैं—परिषद् का 'हिन्दी-साहित्य, भाग—१' और 'पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास' ---लेखक चन्द्रकान्त बाली। परिषद् का इतिहास अनेक विशेषज्ञों का समवेत प्रयास है। इस प्रकार के इतिहासों की परम्परा नयी नहीं है—अनेक प्रसिद्ध राजनीतिक इतिहास भी इस प्रकार आयोजित हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। इनमें अखण्ड इतिहास-दृष्टि की आशा करना तो व्यर्थ है, किन्तु दृष्टिकोण के वैविध्य और सामग्री-संकलन का भी अपना महत्त्व होता है। सामग्री की दृष्टि से श्री बाली का इतिहास और भी मूल्यवान् है। यह भावी इतिहासकारों और अनुसंधाताओं के लिए संदर्भ-ग्रंथ का काम देगा। जिस कार्यक्रम की ओर मेरे इस भाषण में आगे चलकर संकेत किया गया है, यह ग्रंथ वास्तव में उसका दिशा-निर्देश करता है। इस वर्ष लगभग बीस शोध-ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इनमें डॉ० रामदत्त भारद्वाज का प्रबन्ध 'गोस्वामी तुलसीदास' डी० लिट्० के लिए स्वीकृत है, शेष पी-एच० डी० के लिए। यद्यपि इन प्रबन्धों के विषयों में पर्याप्त वैचित्र्य है, फिर भी यह स्पष्ट है कि अब अनुसंधाता की प्रवृत्ति आधुनिक साहित्य की ओर बढ़ रही है और इसका कारण समझना कठिन नहीं है। दुर्भाग्यवश हमारे विद्यार्थी का सम्पर्क धीरे-धीरे प्राचीन रूपों—राजस्थानी, ब्रज, अवधी आदि—से टूटता जा रहा है। जो इस क्षेत्र में समर्थ भी हैं वे भी प्राचीन ग्रंथागारों की अव्यवस्था के कारण उस दिशा में प्रवृत्त होने का साहस कम करते हैं। परिणाम स्पष्ट है—एक हज़ार वर्ष के साहित्य से सम्बद्ध शोध-प्रबन्धों की संख्या केवल छह है और विगत अस्सी वर्षों के हिन्दी-साहित्य पर दस शोध-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इन सभी का स्तर एक-सा नहीं है। अनेक में पिष्टपेषण काफ़ी है, फिर भी दस हज़ार पृष्ठों की यह सामग्री निस्सार नहीं है। इनमें से कई-एक अनुसंधाता प्रतिभा-सम्पन्न हैं—उनकी शोध-दृष्टि स्वच्छ है और साहित्य में उनकी गहरी पैठ है। हमारा अनुमान है कि भारत की सभी भाषाओं में प्रकाशित शोध-कार्य, गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से, इससे कम ही बैठेगा।

विगत अधिवेशन में हमने दो महत्त्वपूर्ण विषयों का उल्लेख किया था—(१) अनुसंधान-योजनाओं का समन्वय, और (२) हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान के साहित्य का निर्माण। आप पूछ सकते हैं कि इन दिशाओं में क्या प्रगति हुई है? जहां तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, एक सम्बद्ध योजना तैयार की गयी थी और उसके विषय में शिक्षा-मन्त्रालय—कम-से-कम शिक्षा-मन्त्री महोदय का रुख भी काफ़ी अच्छा था, किन्तु आपात-स्थिति के कारण उसे स्थगित कर देना पड़ा। अनुसंधान के विस्तार और विकास के साथ इस समन्वय की आवश्यकता निरन्तर बढ़ती जा रही है, इसमें सन्देह नहीं—और प्रायः सभी विश्वविद्यालय तथा उनके वरिष्ठ प्राध्यापक इस विषय में चिन्तित हो रहे हैं। उनके सामने तीन ज्वलन्त प्रश्न हैं—(क) उपयुक्त विषयों का निर्वाचन, (ख) स्तर की रक्षा, (ग) शोधार्थियों की वर्धमान संख्या के लिए उचित निर्देशन आदि की व्यवस्था। यों सभी विश्वविद्यालय मूलतः स्वायत्त हैं और उन्हें अपने-अपने ढंग से कार्य करने का पूर्ण अधिकार है, किन्तु ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका समाधान अन्तःविश्वविद्यालय-स्तर पर ही सम्भव है। अतः इस दिशा में परिषद् को ही प्रयत्नशील होना पड़ेगा। यह भी ठीक है कि ये समस्याएं केवल बौद्धिक या शैक्षिक नहीं हैं—इनमें मानवीय तत्त्व भी मिले हुए हैं जिनके कारण समाधान कठिन हो जाता है; फिर भी इसका निषेध नहीं किया जा सकता कि सामूहिक विचार-विनिमय से कम-से-कम बौद्धिक एवं शैक्षिक पहलू बहुत कुछ स्पष्ट हो जाते हैं। इसके लिए जब तक कोई स्थायी प्रबन्ध नहीं हो जाता, मेरा सुझाव है कि वर्ष में एक संगोष्ठी का आयोजन अवश्य होना चाहिए जिसके उद्देश्य और कार्यक्रम शुद्ध व्यावसायिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एवं व्यावहारिक हों। अन्तिम निर्णय प्रत्येक विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि स्वयं ही करेंगे, किन्तु सामूहिक रूप में पर्यवेक्षण हो जाने से दिशा-निर्देश का लाभ तो सभी ले सकते हैं। इस दिशा में एक और महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसकी ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। हम सभी यह अनुभव कर रहे हैं कि धीरे-धीरे शोध-विषय कम पड़ते जा रहे हैं। इस कमी को दूर करने के कतिपय सार्थक उपायों में से एक यह भी है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय अपने-अपने क्षेत्र के पुस्तक-भण्डारों में उपलब्ध सामग्री के प्रकाशन की व्यवस्था करे। हमने अभी इस विषय में थोड़ा-सा प्रयास किया है जिससे यह स्पष्ट हो गया है कि इस क्षेत्र की सम्भावनाएं वास्तव में असीम हैं। राजस्थान के भण्डारों का तो कहना ही क्या? पंजाब, गुजरात और अवध में ऐसे अनेक केन्द्र हैं जहां अपरिमेय सामग्री भरी पड़ी है। कुछ वर्ष पूर्व केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय ने इस कार्य को भी अपने हाथ में लिया था, किन्तु अनेक कारणों से उसकी नीति में परिवर्तन हो गया और यह कार्यक्रम 'तात्कालिक महत्त्व की योजनाओं' की अपेक्षा में त्याग दिया गया। मैं समझता हूं कि अब विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों को यह कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए। एक-एक राज्य में कई-कई विश्वविद्यालय हैं जिनके हिन्दी-विभागों में अनेक समर्थ प्राध्यापक और अनुसंधाता शोध-साधना कर रहे हैं। यदि सम्यक् रूप से कार्य-विभाजन कर हमारे हिन्दी-विभाग इन ग्रंथों की—या इनमें से आवश्यक ग्रन्थों की लिपियां ही तैयार कर लें तो यह भी बहुत बड़ी सिद्धि होगी। फिर भारतीय हिन्दी-परिषद् या उसके किसी अभिकरण के माध्यम से इनका एक केन्द्रीय भण्डार तैयार किया जा सकता है—और तब केन्द्रीय स्तर पर तथा पृथक् रूप से भी इनके योजनाबद्ध प्रकाशन की व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रकार अनेक शोधकर्ताओं को नवीन विषय उपलब्ध होंगे, उपाधि-प्राप्त विद्वानों को अपनी-अपनी उपलब्धियों में संशोधन-परिवर्धन का अवसर मिलेगा। दर-दर भटकते हुए अनुसंधाता निश्चित स्थान या स्थानों पर अभीष्ट सामग्री प्राप्त कर सकेंगे और हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि होगी। मेरे कुछ सहयोगी पंजाब के केन्द्रों में होकर आये हैं—उनका मत है कि इन केन्द्रों में संकलित सामग्री का प्रकाशन होने पर हिन्दी-साहित्य के मध्य युग का नक़्शा ही बदल जाएगा—गद्य के उद्भव और विकास की धारणाओं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना पड़ जाएगा—गुजरात को ही लीजिए—वहां के अनन्त भण्डार से प्राप्त एक नाटक 'गोविन्द हुलास' ने हिन्दी-नाटक के पूर्ववृत्त को नया मोड़ दिया है। इन तथ्यों के आधार पर आप कल्पना कर सकते हैं कि यह कार्य निश्चय ही गुरु-गम्भीर है और हमारे हिन्दी-विभाग इसको मिल-बाँटकर आसानी से पूरा कर सकते हैं।

हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों के साहित्य का प्रश्न भी अभी हल नहीं हुआ। कुछ दिनों से शिक्षा-मन्त्रालय अपनी पूरी शक्ति के साथ इस प्रश्न के साथ जूझ रहा है, पर अभी तक अभीष्ट सिद्धि नहीं हुई। अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करने के लिए उसने अब कतिपय विश्वविद्यालयों और शिक्षा-केन्द्रों में ऐसे प्रतिष्ठान खोलने का निश्चय किया है जो अनुवाद, रूपान्तर तथा मौलिक लेखन के द्वारा राष्ट्र के इस विराट् अनुष्ठान में योगदान करेंगे। परिषद् भी गत वर्ष से इसमें अपना सहयोग दे रही है। आशा है इन केन्द्रों के स्थापित हो जाने से उसे और भी अधिक सक्रिय योगदान करने का अवसर मिलेगा। विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभाग परिषद् के माध्यम से या चाहें तो स्वतन्त्र रूप से ही, अपने-अपने क्षेत्र के ऐसे विद्वानों की सूची तैयार कर सकते हैं जो इस प्रकार का कार्य करने में दक्ष हों। वे अपने-अपने विश्वविद्यालयों में ऐसे केन्द्र स्थापित कर सकते हैं जहां हिन्दी के माध्यम से शिक्षा देने वाले उत्साही अध्यापकों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभीष्ट सामग्री और सहायता मिल सके।

हिन्दी की बहुविध सेवा का विशाल क्षेत्र हमारे सामने खुला हुआ है और ऐसा नहीं कि इससे केवल परमार्थ और परार्थ की ही सिद्धि हो, स्वार्थ की नहीं। हिन्दी के विद्वानों और लेखकों के सामने जितने अवसर आज हैं, उतने कभी नहीं रहे। किन्तु, मुझे खेद है कि उनका पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा। न जाने कितनी योजनाएं हैं जिनमें हमारे लिए अर्थ-लाभ की भी अनन्त संभावनाएं निहित हैं, परन्तु प्रयोजकों को शिकायत है कि आदमी नहीं मिलते, और, इधर हमारे युवा सहयोगियों को शिकायत है कि काम नहीं मिलता। वास्तविकता यह है कि काम जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हो रहा है। इच्छा है, साधन और योग्यता की कमी नहीं है, पर विकास की गति मन्थर है। यह अपने-आप में एक भीषण रोग है जिसका निदान और उपचार समय रहते ही कर लेना चाहिए। मेरे विचार में इस अगति का कारण यह है कि उपयुक्त व्यक्तियों का निर्वाचन नहीं हो रहा। उपयुक्त से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि निर्वाचित व्यक्तियों में योग्यता की कमी है; कमी वास्तव में समय की है। इस क्षेत्र में राजकीय, अर्धराजकीय अथवा व्यावसायिक जितने भी अभिकरण कार्यलग्न हैं उन सभी की दृष्टि प्रथम पंक्ति के विद्वानों पर जाती है—मैंने 'श्रेणी' शब्द को बचाकर 'पंक्ति' शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया है क्योंकि श्रेणी जहां गुणवाचक है वहां पंक्ति मात्र स्थानवाचक है। ये विद्वान् ऐसे हैं जिन पर किसी भी देश को या भाषा को गर्व हो सकता है, किन्तु इनकी शक्तियां सीमित हैं और इनके पास समय का अभाव है। ऐसी स्थिति में हमारी दृष्टि अधिक यथार्थपरक होनी चाहिए और केवल योग्यता को पर्याप्त न मानकर क्षमता का विचार भी करना चाहिए। सौभाग्य या दुर्भाग्य से कई वर्षों से मेरा सम्बन्ध अनेक विकास-योजनाओं के साथ रहा है, और मुझे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहा कि केवल ख़लीफ़ाओं से काम नहीं चल सकता—हमको तो ऐसे पहलवान चाहिए जिनमें शक्ति और उत्साह हो। उनके लिए हमें दूसरी पंक्ति, और आवश्यकता पड़ने पर तीसरी पंक्ति, से भी सक्षम कार्यकर्ताओं का चुनाव करना पड़ेगा। आज हमारी अधिकांश योजनाएं इसीलिए अधूरी पड़ी हैं कि उनके लिए कार्यकर्ताओं का चुनाव केवल गुण और पद के आधार पर किया जाता है, निर्वाचित व्यक्तियों की क्षमता और अवकाश का एकदम ध्यान नहीं रखा जाता। इसलिए हिन्दी के वरिष्ठ विद्वानों को चाहिए कि वे तरुण प्रतिभाओं को आगे बढ़ाएं और तरुण विद्वानों को चाहिए कि आभारपूर्वक उनका मार्ग-दर्शन स्वीकार करें।

यह डेढ़ वर्ष हिन्दी के लिए अत्यन्त अमंगलमय रहा है। महामहिम डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और राजर्षि टंडन के साथ हिन्दी के महान् संरक्षक गये; पंडित रामनरेश त्रिपाठी, आचार्य शिवपूजनसहाय, कवि सियारामशरण गुप्त, डॉ० गुलाबराय, महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डॉ० रघुवीर जैसे हिन्दी के महारथी आपात-काल में हमें छोड़ गये; तरुण साहित्यकारों में डॉ० रांगेय राघव और अल्हड़ गीतकार 'नेपाली' का असामयिक निधन हुआ। यदि मैं निराशाग्रस्त नियतिवादी होता तो यह मान लेता कि ज्योतिषियों ने जिस अष्टग्रही योग की सूचना दी थी उसका दुष्प्रभाव अन्यत्र चाहे पड़ा हो या न पड़ा हो, परन्तु हिन्दी पर जाते-जाते वह अपनी छाया अवश्य छोड़ गया। किन्तु मेरा आस्तिक मन पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं है। मुझे विश्वास है कि जीवन-भर हिन्दी की सेवा करने के उपरान्त अब ये पुण्यात्माएं स्वर्ग से उसकी कल्याण-कामना कर रही हैं। उनकी अमृतवाणी अब भी हमारे लिए अजस्र आशीर्वाद की वर्षा कर रही है।

CC-0. In Public Domain. Funded by

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

GPS-1283/71-5000.

DATE SLIP

This book was taken from the Library on the date last stamped. A fine of (a) 00.05 paise per book volume for the first 20 days of delay per day. (b) 00 20 paise per book volume per day, of delay thereafter which shall be realised from the defaulters before a new book is issued to him/her.

19/4/77 12/5/77			

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

H 80.9 K13A 34727

11575.19.4.93

A book borrowed must be returned within one month of its issue, it may be reissued for fifteen days, if not requisitioned by another member. Members residing outside Srinagar may return books within forty days of their issue.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE